विषय-सूची

१. हमारी योजना

२. साक्षात्कार

३. **पहला अध्याय : उपन्यास की शिल्पविधि** १-६८

शिल्पविधि की परिभाषा—उपन्यास की परिभाषा—उपन्यास और साहित्य की अन्य विधाएँ—उपन्यास और महाकाव्य—उपन्यास और रोमांस—उपन्यास और कविता—उपन्यास और नाटक—उपन्यास और कहानी—उपन्यास तथा कथा-आख्यायिका—उपन्यास और संगीत—उपन्यास और इतिहास।

४. **दूसरा अध्याय : उत्तर-प्रेमचन्द उपन्यास-शिल्प** ६९-१२०

पूर्व-प्रेमचन्द-युग—उपन्यास की यथार्थोन्मुखता—उपन्यास तथा अन्य साहित्य-कला-रूप—नई परिस्थितियाँ-उपन्यास की नई व्याख्याएँ—अन्य नई प्रवृत्तियाँ—शिल्प-परिवर्तन : संक्षिप्त विकासेतिहास—नामकरण—उद्देश्य—कथानक—चरित्र-चित्रण—कथोपकथन—देशकाल—शैली।

५. **तीसरा अध्याय : वर्गीकरण** १२१-१२३

उपन्यास-तत्वों के सामान्य आधार पर।

६. **चौथा अध्याय : कथानक-प्रधान उपन्यास** १२४-२०२

सामान्य विशेषताएँ—मनुष्य के रूप—चलते-चलते—सागर लहरें और मनुष्य।

७. **पाँचवाँ अध्याय : अन्तरंग चरित्र-प्रधान उपन्यास** २०३-३४१

सामान्य विशेषताएँ—सुनीता—शेखर : एक जीवनी—संन्यासी।

८. **छठा अध्याय : बहिरंग चरित्र-प्रधान उपन्यास** ३४२-४०७

सामान्य विशेषताएँ—त्यागपत्र—बिल्लेसुर बकरिहा—गिरती दीवारें—सेठ बाँकेमल

९. **सातवाँ अध्याय : उद्देश्य-प्रधान उपन्यास**

सामान्य विशेषताएँ—चित्रलेखा—बया का घोंसला और साँप-की खोज—जहाज का पंछी—बूँद और समुद्र।

१०. आठवां अध्याय : देश-प्रधान उपन्यास (आँचलिक) ५५६-६२७
सामान्य विशेषताएँ—बलचनमा—मैला आँचल—परती : परिकथा
बहती गंगा—बाबा बटेसरनाथ।

११. नवाँ अध्याय : देशकाल-प्रधान उपन्यास (ऐतिहासिक) ६२८-७८६
सामान्य विशेषताएँ—झाँसी की रानी—वैशाली की नगरवधू—बाणभट्ट की 'आत्मकथा'—दिव्या—मधुर स्वप्न—मृगनयनी—मुर्दों का टीला।

१२. दसवां अध्याय : शिल्प-प्रधान उपन्यास ७८७-९०७
सामान्य विशेषताएँ—परन्तु—नदी के द्वीप—सूरज का सातवां घोड़ा—काठ का उल्लू और कबूतर—डूबते मस्तूल—चाँदनी के खण्डहर—सोया हुआ जल।

१३. उपसंहार ९०८-९१५

१४. परिशिष्ट : १ : पुस्तक-सूची ९१६-९२३

१५. परिशिष्ट : २ : अनुक्रमणिका ९२४-९४४

पहला अध्याय

उपन्यास की शिल्पविधि

शिल्प-विधि अंग्रेजी के 'टेकनीक' शब्द का हिन्दी रूप है। इसका तात्पर्य रचना-पद्धति से है। रचना पद्धति का कोई नियम नहीं रहा। रचयिताओं की अनुभूतियों ने अपने अभिव्यक्तिकरण में अनेक साहित्य रूपों को जन्म दिया है और एक-एक रूप के भीतर भी भिन्न-भिन्न रचना पद्धतियों का आश्रय लिया जाता रहा है। यह क्रम अब भी गतिशील है और आगे भी परिवर्तनशील रहेगा; क्योंकि जीवन के मौलिक सिद्धान्त भले स्थिर रहें, किन्तु रचना-प्रक्रिया तथा रूपाकार (form) साहित्य-परम्परा या रूढ़ सिद्धान्त (tradition) नहीं, युग-युग पीढ़ी-दर-पीढ़ी परिवर्तित होने वाले हैं।[1] यह सही है कि प्रत्येक कला-रूप की कुछ न कुछ रूढ़ियां (conventions) होती हैं किन्तु महान कलाकार की नई अनुभूति इनमें कभी नहीं बंधती, वह अपनी नई परम्पराओं का निर्माण करती है। इसलिए तॉल्स्टॉय ने कहा है कि प्रत्येक कलाकार अनिवार्यतः अपने फार्म की भी सर्जना करता है।[2] फ्रांसुआ मोरियाक[3] तथा फार्स्टर ने इस महान निर्माण की भी आवश्यकता नहीं समझी और वे कहते हैं कि "कलाकार सदैव नई तकनीक की खोज करते हैं और उनका यह प्रयत्न तब तक जारी रहेगा जब तक उनका कार्य उनको उद्दीप्त (excite) करता रहेगा।"[4]

१. अ. E. M. Forster, "Art for Arts Sake", 'Two Cheers for Democracy', p. 103

"Form is not tradition. It alters from generation to generation."

ब. जैनेन्द्र कुमार 'साहित्य का श्रेय और प्रेय', पृ० ३६८.

"साहित्य का रूप तो समयानुसार बदलेगा ही पर उसकी आत्मा वही एक और चिरंतन है।"

२. See "Novelist on The Novels", p. 265.

"I think that every great artist necessarily creates his own form also."

३. "Every novelist ought to invent his own technique, that is the fact of the matter." Malcolm Cowley (ed.) "Writers at Work."

४. "Two Cheers for Democracy", p. 103.

"Artists always seek a new technique and will contin[illegible] so as long as their work excites them."

स्टीवेनसन मानो इसमें और योग देते हुए कहते हैं कि "सच्चा कलाकार प्रत्येक नए विषय के साथ अपनी विधि को अन्यविध (vary) करता जाएगा"।[१]

ये उक्तियाँ सभी कलारूपों की अपेक्षा उस 'नावेल' पर सर्वाधिक चरितार्थ होती हैं जिसमें आधुनिक युग-जीवन के त्वरित परिवर्तनों के यथार्थ को पकड़ने के लिए नित्य नूतन होते जाने की लचीली स्वच्छन्दता है; जिसकी स्वच्छन्दता का उद्घोष उपन्यास के इतिहास के प्रारम्भिक दिनों में ही 'टामजोन्स' में फील्डिंग ने यह कहकर किया था कि—"I am at liberty to make what laws I please therein"[२] यह नई यथार्थवादी कला के प्रारम्भिक प्रवर्तकों में से एक उपन्यासकार के रूढ़ि-विरोध का उद्घोष था। उपन्यास के इतिहास में आगे सभी प्रसिद्ध उपन्यास-कार इस प्रवृत्ति में कुछ न कुछ योग अवश्य देते रहे हैं। वस्तुत:, जैसा कि स्काट जेम्स का मत है, मनोयोगिता से लिखा प्रत्येक उपन्यास विधि और प्रविधि (method and technique) में अपनी पृथक् समस्या उपस्थित करता है;[३] और फ्रांसुआ मोरियाक का भी यही मत है कि प्रत्येक उपन्यास—यदि वह उपन्यास नाम का अधिकारी है—अपने पृथक् नियम रखता है, वैसे ही जैसे छोटा या बड़ा ग्रह अपनी वनस्पति तथा अपना प्राणी-समूह रखता है[४]। अतएव किसी बने-बनाये निश्चित फारमूले के आधार पर इनका सामान्यीकरण नहींकिया जा सकता।

यह तो सही है कि उपन्यासकार अपने काव्य-रूप की स्वच्छन्दता का उपयोग नित्य नूतन तकनीकों की खोज में करता और आलोचकों के लिए 'समस्या' प्रस्तुत करता रहता है। परन्तु क्यों ? ऊपर इसके चार कारण ध्वनित हुए हैं (१) रूपा-कारों की अपेक्षाकृत परम्परामुक्तता; (२) महान लेखकों, यानी प्रतिभावान कला-कारों, की नवनवोन्मेषिणी शक्ति तथा अपना-अपना स्वभाव;[५] (३) नए परिवर्तित

१. Robert Louis Stevenson, "A Humble Remonstrance" (1884) quoted from 'Novelist on The Novels', p. 82.
"...With each new subject...the true artist will vary his method..."

२. "The History of Tom Jones," p. 69.

३. "The Making of Literature," p. 37.
"Every carefully written novel presents its own separate problem in method and technique."

४. Every novel worthy of the name is like another planet, whether large or small, which has its own laws just as it has its own flora and fauna."—"Writers at work," p. 37.

५. (क) Walter Allen, "Reading a Novel", p. 16.
'French novelists defined literature as "Life seen through a temperament" and a man's approach to literature is plainly conditioned by his temperament.'
(ख) Francois Mauriac "A novelist spontaneously works out the technique that fits his own nature.. I simply restored to the teehniques that my instinct suggested to me."
—"Writers at Work", p. 38.

विषय का प्रोद्दीपन तथा उसके सुचारु निर्वाह की सहज प्रयत्नशीलता[1]; (४) युग-धर्मी उपन्यास की यथार्थोन्मुखता। ये सभी कारण एक-दूसरे से मिलते-से, एक-दूसरे का स्वयसिद्ध परिणाम (corollary) हैं; किन्तु इनका विश्लेपित पार्थक्य उपन्यास में नई-नई तकनीकों के विनियोग को भिन्न-भिन्न कोणों से देखने की दृष्टि को स्पष्ट करता है। ये चार हैं—पहले कारण का केन्द्र रूपाकार है, दूसरे का लेखक, तीसरे का विषय, और चौथे का केन्द्र परिवर्तनशील युग है। और पाँचवाँ केन्द्र है पाठक जो कलाकृतियों की नव्यता के आश्चर्य-तत्व या आकर्षण से प्रभावित होता है और बासी नहीं, सदैव ताज़ा वस्तुओं की माँग करता रहता है; इस सम्बन्ध में डा० रूथ का मत उद्धरणीय है—"कला को निरन्तर नवीकृत होते रहना चाहिए। उसका रचनात्मक प्रभाव आश्चर्य-तत्व पर निर्भर करता है। एक बार जब उपस्थापन की सद्यता या नव्यता फीकी पड़ी कि पाठक उससे विमुख होकर अपने दैनिक कार्यों में व्यस्त हो जाता है"।[2]

कुछ आलोचकों ने लेखक की सृजन-प्रतिभा की दृष्टि से प्रत्येक उपन्यास की पृथक्-पृथक् तकनीक का स्पष्टीकरण तो किया है किन्तु उनमें तकनीक के महत्व के सम्बन्ध में अनैक्य है। सुप्रसिद्ध कथाकार जैनेन्द्र के अनुसार—"मुझे ख्याल होता है कि कहीं ऐसा तो नहीं कि कहानी कला या शिल्प हो ही नहीं, बल्कि सृष्टि हो। हर शिशु अपना बनाव और अपना स्वभाव लेकर जनमता है। दो प्राणी कभी एक से हो नहीं सकते। कारण, वे सृष्ट होते हैं, बनते नहीं हैं। एक माता-पिता की सन्तति समान नहीं हो पाती। क्योंकि···प्रत्येक सृष्टि पृथक् गर्भ का फल है। यानी अपना पृथक् आनन्द, पृथक् वेदना। एक फार्मूले और एक युक्ति में से जब जितनी चाहें एक नमूने की वस्तु निकाली जा सकती है और इस काम में शायद कुछ हुनर भी दरकार हो। पर कहानी लिखने में ठीक वैसा सुभीता होता है, यह मेरा अनुभव नहीं है"।[3]

---

१. (क) John Wain, "Essays on Literature & Ideas", p. 3.
"If he has something to say that has not been said before, it is very unlikely that he will find, ready for use, exactly the right form and content in step."
(ख) A. Walton Litz, "The Art of James Joyce", p. 53.
"A revolution in sensibility demands new techniques. When traditional ways of knowing the world collapse traditional forms of expression are invalidated."

२. Dr. H. V. Routh, "English Literature and Ideas in the Twentieth Century", p. 2.
"Art must always be renewed. Its creative influence depends on surprise. When once the freshness of the presentment has faded, the reader relapses into his daily habits."

३. 'साहित्य का श्रेय और प्रेय,' पृ० ३५४-५५।

इसलिए 'जैनेन्द्र शिल्प आवश्यक है' न कहकर 'शिल्प अनावश्यक नहीं है' कहते हैं। 'कारीगरी' (तकनीक) को वे 'किसी तरह छोटी चीज नहीं समझते' लेकिन उसमें किनारे बनते हैं, नदी का पानी नहीं बनता।[१] तात्पर्य यह है कि उनके अनुसार कला (हुनर या शिल्प) कहानी को शरीर तो दे सकती है किन्तु 'जान' नहीं, जिससे उसमें 'धड़कन' आती है।[२] इसके ठीक विपरीत मेंडिलोव हैं जो यही नहीं मानते कि उपन्यास की विषय-वस्तु बिना तकनीक के घटित नहीं हो सकती प्रत्युत उपन्यास का कलात्मक मूल्य इस बात पर अधिक अवलम्बित है कि उसे उस प्रविधि-विशेष में रूपबद्ध किया जाए, जो प्रविधि उसके लिए अपरिहार्य हो; क्योंकि दूसरी तकनीक उस उपन्यास को कुछ और ही बना देती—अनुभूति की एक सर्वथा विभिन्न समष्टि। प्रत्येक श्रेष्ठ उपन्यास-रचना—जैसाकि कोलरिज की दृष्टि में प्रत्येक श्रेष्ठ कविता—इस प्रकार होनी चाहिए कि उसके रूप-विशेष का कारण-तत्व उसी में निहित हो। यह अप्रतिरूपता का सिद्धान्त (principle of uniqueness) यह ध्वनित करता है कि प्रत्येक कला-रचना सृष्ट होती है और उसकी परीक्षा उसके अपने नियमों से ही करनी चाहिए; वह अवश्य अपने अनोखे रूपाकार में ऐसे प्रस्फुटित हो जैसे घोंघा अपने खोल से बाहर निकलता है, वैसे नहीं जैसे केकड़ा जो किसी दूसरे जीव के परिपूर्ण या सम्पन्न खोल में अपने को ढाल लेता है।[3] प्रभाव की दृष्टि से मेंडिलोव का यह सिद्धांत कोलरिज के उस आलोचनात्मक सिद्धांत का विस्तार है जिसमें उसने कहा है कि जितनी भी पंक्तियों का अनुवाद उसी भाषा के अन्य शब्दों में अभिधार्थ तथा भाव की क्षति के बिना हो सके, वे सभी पंक्तियाँ उस सीमा तक अपनी शब्द-योजना में निकृष्ट हैं। इस व्यापक अर्थ में मेंडिलोव के लिए तकनीक सब कुछ हो जाती है। उसमें वह सारा-कुछ अन्तर्भूत हो जाता है जो उपन्यास की निर्मिति में लगता है, और उनका निष्कर्ष है कि 'जितने जीवंत उपन्यास (living novels) विद्यमान हैं, तदनुसार उतनी ही प्रविधियाँ हैं। वस्तुतः एक आलोचक को उपन्यास की प्रविधि (technique) की नहीं, उपन्यासों की प्रविधियों (techniques) की चर्चा करनी चाहिए[४]।

उपन्यास में तकनीक को सब-कुछ—यानी साध्य, साधन नहीं'—समझने

---

१. "साहित्य का श्रेय और प्रेय", पृ० ३५५। २. वही, पृ० ३५५।
३. Mendilow, "Time and the Novel", p. 234-35.
४. वही, पृ० २३५।
"There are thus as many techniques as there are living novels. Indeed, one should not talk of the technique of the novel, but of techniques of novels."
५. "Time and the Novel', p. 234.
"The time has long passed when technique could be taken simply to mean the ways in which a given body of experience may be organised and manipulated to the best advantage."

प्रेरणा (motive) मानी गई है।[1] आरनोल्ड बैनेट ने भी विषय (theme) पर बल दिया है।[2] लब्बक[3] तथा बीच ने भी तकनीक को साधन (means)[4] मानते हुए उद्देश्य या आशय (intention) के संदर्भ में ही तकनीक का निर्णीत होना आवश्यक माना है।[5] लेग्गेट महोदय ने फार्म को सारी रचना का महत्व-निर्देशक[6] मानते हुए भी विषय-वस्तु (substance)—उसमें भी आशय-आदर्शों के संघट्ट-- को अधिक महत्व दिया है[7]। वे 'आकार' (shape) और फार्म में अन्तर करते हैं।[8] आरनॉल्ड केटल ने भी तकनीक का महत्व यथार्थ-जीवन के अंकन तथा जीवन-दृष्टिकोण की अभिव्यक्ति में माना है।[9] और लीवेस मानते हैं कि विरचन की निपुणता समृद्ध सामग्री के बिना हो ही नहीं सकती[10]।

---

१. "The Making of Literature," p. 244.
"The true power of a poem consists in the situation in the Motive (Goethe). it should be inscribed on a monument more lasting than bronze."

२. वही, पृ० २४४.
Arnold Bennett, "Every novel should have a main theme that can be stated in ten words."

३. Percy Lubbock, "The Craft of the Fiction", p. 12.
"The form of the book depends on it (the intention of the novelists) and until it is known there is nothing to be said of form."

४. "The Twentieth-Century Novel", p. 2.
"...technique is the means by which he does realize them (intentions)."

५. वही, पृ० ११।
"...technique must be judged by reference to intention."

६. H. W. Legget, "The Idea in Fiction", p. 22.
"The form of a novel prescribes not only what shall be included and what excluded, but the significance of the whole work."

७. वही, पृ० १ .
"Form cannot exist without substance; and a subject, an "idea", is substance to which form has been given..."

८. द्रष्टव्य, वही, पृ० २१-२४ ।

९. Arnold Kettle, "An Introduction to the English Novel", P. 16.
"...'Form' is important only in so far as it enhances significance and it will enhance significance just in so far as it bears a real relation to...the aspect of life...the central core of novel is what it has to say about life."

१०. F. R. Leavis, "The Great Tradition", P. 4.
"There can't be subtlety of organization without richer matter to organize."

सारांश यह है कि दूसरे वर्ग के आलोचक तकनीक को लेखक की मूल प्रेरणा या दृष्टि, दृष्टिकोण, आशय, उद्देश्य, आदर्श, विषय—कुल मिलाकर विषय-वस्तु—की अभिव्यक्ति का साधन मानते हैं किन्तु तकनीक किसी से अवहेलित नहीं हुई। तात्पर्य यह है कि पहले वर्ग के आलोचकों ने जैसे तकनीक को ही सर्वस्व मान लिया और उसी में और सब कुछ अन्तर्भुक्त कर लिया, वैसे यहां विषय के अन्तर्गत ही सब कुछ नहीं मान लिया गया, केवल उसे अधिक महत्व दिया गया है या तकनीक को विषय के समतुल्य धरातल पर रखा गया है।

इन विरोधी मतों में से मार्ग निकालना कठिन है, क्योंकि जैसा कि हैनरी जेम्स ने कहा है "उपन्यास एक जीवित वस्तु है, प्रत्येक प्राणधारी रचना के समान अपृथक्-करणीय अप्रतिहत इकाई। उसके प्रत्येक अंग में अन्य अंगों का यत्किंचित् अंश अवश्य निहित रहता है। अतएव, ऐसा आलोचक जो उसके बाह्य गठित विन्यास के आधार पर भौगोलिक रेखाएं बनाने का दम भरता है वह कुछ ऐसे सीमा-चिन्ह बनाता है जो बनावटी होते हैं[1]। कलारूपों की ऐसी अविभाज्यता, अविच्छिन्नता की स्थिति में किसी एक ही तत्व विषय या शिल्प के आधार पर वस्तु-स्थिति स्पष्ट करने वाले आलोचक सत्य के निकट हो सकते हैं किन्तु उनमें से किस तत्व को प्रधान माना जाए? उपन्यासकार विषय और उसकी संरचना दोनों को इस कोटि तक सतत अविभाज्य सामने रखते हैं कि आलोचक उनकी आपसी प्रधानता-अप्रधानता तथा प्राथमिकता का बोध कदापि नहीं पा सकता[2]। ऐसी स्थिति में इलियट-जैसे कवि-आलोचक कविता की शिल्पविधि को परिभाषित करने में असमर्थता का अनुभव करते हैं; क्योंकि यह नहीं कहा जा सकता कि तकनीक कहाँ से आरम्भ होती है या कहाँ उसका अन्त होता है[3]।

वस्तुतः कलारूप की संश्लिष्टता, तथा तत्सम्बन्धी प्रश्नों की अनुत्तरित या सदैव प्रश्न बनी रहने वाली दार्शनिकता चाहे हमें इस प्रश्न के समाधान से विमुख

१. Henry James, "The Art of Fiction", 'The Great Critics', p. 661. "A novel is a living thing, all one and continuous like any other organism, and in proportion as it lives will be found, I think, that in each of the parts there is something of each of the other parts. The critics who over the close texture of a finished work shall pretend to trace a geography of items will mark some frontiers as artificial..."

२. Allen Tate, "On the Limits of Poetry", p. 130. "The novelist keeps before him constantly the structure and substance of his fiction as a whole to a degree to which the critic can never apprehend it."

३. T. S. Eliot, Preface to 1928 edition "The Sacred Wood", p. ix-x "...We observe that we cannot define the technique of verse; we, cannot say at what point 'technique' begins or ends."

प्रेरणा (motive) मानी गई है ।[1] आरनोल्ड बैनेट ने भी विषय (theme) पर बल दिया है ।[2] लब्बक[3] तथा बीच ने भी तकनीक को साधन (means)[4] मानते हुए उद्देश्य या आशय (intention) के संदर्भ में ही तकनीक का निर्णीत होना आवश्यक माना है ।[5] लेग्गेट महोदय ने फार्म को सारी रचना का महत्व-निर्देशक[6] मानते हुए भी विषय-वस्तु (substance)—उसमें भी आशय-आदर्शों के संघट्ट को अधिक महत्व दिया है[7] । वे 'आकार' (shape) और फार्म में अन्तर करते हैं ।[8] आरनाल्ड केटल ने भी तकनीक का महत्व यथार्थ-जीवन के अंकन तथा जीवन-दृष्टिकोण की अभिव्यक्ति में माना है ।[9] और लीवेस मानते हैं कि विरचन की निपुणता समृद्ध सामग्री के बिना हो ही नहीं सकती[10] ।

---

१. "The Making of Literature," p. 244.
"The true power of a poem consists in the situation in the Motive (Goethe). it should be inscribed on a monument more lasting than bronze."

२. वही, पृ० २४४.
Arnold Bennett, "Every novel should have a main theme that can be stated in ten words."

३. Percy Lubbock, "The Craft of the Fiction", p. 12.
"The form of the book depends on it (the intention of the novelists) and until it is known there is nothing to be said of form."

४. "The Twentieth-Century Novel", p. 2.
"...technique is the means by which he does realize them (intentions)."

५. वही, पृ० ११ ।
"...technique must be judged by reference to intention."

६. H. W. Legget, "The Idea in Fiction", p. 22.
"The form of a novel prescribes not only what shall be included and what excluded, but the significance of the whole work."

७. वही, पृ० १ .
"Form cannot exist without substance; and a subject, an "idea", is substance to which form has been given..."

८. द्रष्टव्य, वही, पृ० २१-२४ ।

९. Arnold Kettle, "An Introduction to the English Novel", P. 16.
"...'Form' is important only in so far as it enhances significance and it will enhance significance just in so far as it bears a real relation to ..the aspect of life...the central core of novel is what it has to say about life."

१०. F. R. Leavis, "The Great Tradition", P. 4.
"There can't be subtlety of organization without richer matter to organize."

सारांश यह है कि दूसरे वर्ग के आलोचक तकनीक को लेखक की मूल प्रेरणा या दृष्टि, दृष्टिकोण, आशय, उद्देश्य, आदर्श, विषय—कुल मिलाकर विषय-वस्तु—की अभिव्यक्ति का साधन मानते हैं किन्तु तकनीक किसी से अवहेलित नहीं हुई। तात्पर्य यह है कि पहले वर्ग के आलोचकों ने जैसे तकनीक को ही सर्वस्व मान लिया और उसी में और सब कुछ अन्तर्भूत कर लिया, वैसे यहाँ विषय के अन्तर्गत ही सब कुछ नहीं मान लिया गया, केवल उसे अधिक महत्व दिया गया है या तकनीक को विषय के समतुल्य धरातल पर रखा गया है।

इन विरोधी मतों में से मार्ग निकालना कठिन है, क्योंकि जैसा कि हैनरी जेम्स ने कहा है "उपन्यास एक जीवित वस्तु है, प्रत्येक प्राणधारी रचना के समान अपृथक्-करणीय अप्रतिहत इकाई। उसके प्रत्येक अंग में अन्य अंगों का यत्किंचित् अंश अवश्य निहित रहता है। अतएव, ऐसा आलोचक जो उसके बाह्य गठित विन्यास के आधार पर भौगोलिक रेखाएँ बनाने का दम भरता है वह कुछ ऐसे सीमा-चिन्ह बनाता है जो बनावटी होते हैं[1]। कलारूपों की ऐसी अविभाज्यता, अविच्छिन्नता की स्थिति में किसी एक ही तत्व विषय या शिल्प के आधार पर वस्तु-स्थिति स्पष्ट करने वाले आलोचक सत्य के निकट हो सकते हैं किन्तु उनमें से किस तत्व को प्रधान माना जाए? [उपन्यासकार विषय और उसकी संरचना दोनों को इस कोटि तक सतत अविभाज्य सामने रखते हैं कि आलोचक उनकी आपसी प्रधानता-अप्रधानता तथा प्राथमिकता का बोध कदापि नहीं पा सकता[2]। ऐसी स्थिति में इलियट-जैसे कवि-आलोचक कविता की शिल्पविधि को परिभाषित करने में असमर्थता का अनुभव करते हैं; क्योंकि यह नहीं कहा जा सकता कि तकनीक कहाँ से आरम्भ होती है या कहाँ उसका अन्त होता है[3]।

वस्तुतः कलारूप की संश्लिष्टता, तथा तत्सम्बन्धी प्रश्नों की अनुत्तरित या सदैव प्रश्न बनी रहने वाली दार्शनिकता चाहे हमें इस प्रश्न के समाधान से विमुख

---

१. Henry James, "The Art of Fiction", 'The Great Critics', p. 661. "A novel is a living thing, all one and continuous like any other organism, and in proportion as it lives will be found, I think, that in each of the parts there is something of each of the other parts. The critics who over the close texture of a finished work shall pretend to trace a geography of items will mark some frontiers as artificial..."

२. Allen Tate, "On the Limits of Poetry", p. 130. "The novelist keeps before him constantly the structure and substance of his fiction as a whole to a degree to which the critic can never apprehend it."

३. T. S. Eliot, Preface to 1928 edition "The Sacred Wood", p. ix-x "...We observe that we cannot define the technique of verse; we, cannot say at what point 'technique' begins or ends."

करेगी किन्तु आलोचक को कठिनाई होते हुए भी विश्लेषण करना है; टायनबी का यह कथन इसी दिशा की ओर इंगित करता है—"यह तो सर्वविदित है कि रचना-विधि और उसके पीछे काम करने वाले तत्व अविभेद्य हैं, किन्तु यदि हम आलोचक हैं तो इस अविभेद्यता की जानकारी के बावजूद हमें दोनों में अन्तर अवश्य करना चाहिए[१]।" वैसे भी आलोचकों के दोनों उपर्युक्त वर्गों में एक या दूसरे तत्व पर बल देने और उस बल की मात्रा के अनुसार कम या अधिक अन्तर आया है, अन्यथा विषय-वस्तु और फार्म को दोनों स्वीकार करते हैं। प्रमाणतया, तकनीक को लगभग सभी कुछ मानने वाले मार्क शोरर कोरी विषय-वस्तु या अनुभूति तथा विधायित विषय-वस्तु या कला के आपसी अन्तर को ही तकनीक मान सके[२] हैं। और ग्रेवो महोदय न-दृष्टिकोण को मूलभूत तत्व—अन्य तत्वों को नियत करने वाला तत्व माना है फिर चाहे इसे उन्होंने तकनीक का ही सिद्धान्त मान लिया है। यह इन दोनों की मध्यवर्ती स्थिति है। इसके अतिरिक्त एक प्राणधारी की तरह विषय एवं रूप की अविच्छेद्यता तथा एकता का हेनरी जेम्स कथित सिद्धान्त दार्शनिक के लिए जैसा सिद्ध है, वैसा कलाकार के लिए सुलभ नहीं।[3] वस्तुतः यह कला-रचना का आदर्श है, यथार्थ नहीं— यथार्थ में तो प्रायः अनेक कलाकारों के विषय और शिल्प में विसदृशता तथा तनातनी बनी रहती है जो भलीभाँति विवेचित की जा सकती है[४]। अतएव ऐसी वस्तुस्थिति में विश्लेषण की माँग के लिए इस अन्तर तथा दोनों के समतुल्य महत्व को स्वीकार करते हुए, हम यह कह सकते हैं कि विषय-वस्तु को कलारूप में ढालने (या उसके ढल जाने) की प्रक्रिया को शिल्पविधि कहते हैं। यहाँ मूलवस्तु से हमारा तात्पर्य विभिन्न उपर्युक्त विद्वानों द्वारा कथित उद्देश्य, मूल संवेदना या प्रेरणा, आदर्श, जीवन-

१. Phillip Toynbee, 'London Magazine', May 1956.
" We know all about the inseparability of method from those other elements which lie behind it, but if we are critics we had better beware of knowing too much about it."

२. "Technique as Discovery", 'Forms of Modern Fiction', p. 9.
"The difference between content, or experience, and achieved content or art is technique."

३. Joyce Cary, "Art and Reality", p. 96.
"We are always told that they (content and form) are inseparable but this is true only in the art of philosophy. For the writer the situation is very much more complex."

४. Liddell, "Some Principles of Fiction"; p. 42-43.
"It is often objected, and with reason that criticism which speak of Form and Content...is vicious...for it is putting as under what God has joined;...But only too often the single process, which is characteristic of the satisfactory work of art has not taken place—the fatal split between two parts of what should have been a single process can only too often be discerned."

दृष्टिकोण, विषयवस्तु आदि तत्वों (intention, motive, idea, point of view, situation, theme, etc.) की समष्टि से है—वह अनुभूति या जीवन जो अभी सृजनात्मक कल्पना से अविधायित (unprocessed) है। इस कोरे वस्तु तत्व को विभिन्न पद्धतियों में ढाल दिए जाने के बाद जब आस्वाद्य स्वरूप मिल जाता है तब वह कलारूप बन जाता है और इस स्वरूप तक पहुँचाने की प्रक्रिया—इसमें प्रयुक्त विभिन्न उपकरणों के अन्तरावलम्बित विविध उपस्थापन—ही शिल्पविधि हैं[१]। 'ढल जाने या ढालने' की बात यह इंगित करती है कि तकनीक का मूल संवेदनानुभूति से सहज प्रस्फुटन भी हो सकता है, जैसा कि वाल्टर ऐलन का मत है कि जो श्रेष्ठ उपन्यास के उद्भव को गर्भस्थ शिशु के स्वतन्त्र विकास से उपमित करते हुए उपन्यासकार के सजग नियन्त्रण (conscious control) को झुठलाते हैं[२] और वह सजग प्रयत्नज भी हो सकती है[३] या दोनों का मिला-जुला स्वरूप भी; और यह लेखक की प्रातिभ शक्ति पर निर्भर है या विभिन्न सर्जनात्मक दशाओं पर। फिर भी, यह उल्लेखनीय है कि उपन्यास का विस्तार स्वयं प्रमाणित करता है कि वह गीतिकाव्य की तरह एक ही भाव-दशा का सहजोच्छ्वसित विस्फोट नहीं हो सकता और न उसमें उतनी अन्तःस्फूर्ति ही रह सकती है, किसी न किसी पूर्वयोजना को हमें स्वीकार करना पड़ता है। किसी न किसी प्रकार के पूर्वचिंतन, परिकल्पना या मनोरचना (premeditation) के बिना उपन्यासकार कृतकार्य नहीं हो सकता है। जायस केरी ने कम से कम पात्रों के चुनाव और उनकी योजना के सम्बन्ध में लेखक की एक सामान्य पूर्व-धारणा को आवश्यक माना है[४]। चेखव तो ऐसे कलाकार

१. Wright Morris, "The Territory Ahead," 'The Living Novel,' edited by Gram Ville Hicks, p. 121.
"Technique and raw material are essential to both the study and the laboratory. By raw material I mean that comparatively crude ore that has not been processed by the imagination—what we refer to as life, or as experience, in contrast to art. By technique I mean the way that the artist smelts this material down for human consumption."

२. Vide Walter Allen's "Reading a Novel", p. 22.

३. Sean O'Faolain, ' The Vanishing Hero", p. 196.
"In literature the descent can come from pure genius, a lightening - flash of intuition when we see into the souls of things, or it can come, more painfully, through a combination of inteliigence and sensibility when an artist winds his way into the heart of his subject."

४. Joyce Cary, "Art and Reality," p. 96.
'He asks himself to start with ' what characters shall I need? What kind of leading charaters? What background? What general scheme?" Even if he does not design a plot to begin with, he forms, and has to form, a general idea of the working out in action of his choice of characters."

को विक्षिप्त या उन्मत्त कहते हैं जो बिना किसी परिकल्पित प्ररचन (design) किन्तु ईश्वरीय प्रेरणा से ही कहानी-लेखन की डींग मारता है[1]। यद्यपि चेखव के इस मत को सीमाओं में ही स्वीकार किया जा सकता है—क्योंकि उपन्यासकार, कहानीकार या नाटककार की तरह अपेक्षतया अधिक निश्चित योजना बनाकर नहीं चलता और उसका कार्य खोज सम्बन्धी यात्राओं का-सा अनिश्चित एवं जोखिमपूर्ण है—तथापि उपन्यास के आरम्भ से पूर्व किन्हीं योजनाओं—फिर चाहे वह कच्ची क्यों न हों—के बिना वह नहीं चल सकता[2]। इस सम्बन्ध में फास्टर ने अपनी सृजन-प्रक्रिया का सामान्यीकरण करते हुए जो मत दिया है वह वस्तु-स्थिति को भलीभांति स्पष्ट कर देता है। वे कहते हैं—"उपन्यास के आरम्भ से पूर्व उपन्यासकार को यह तै करके चलना चाहिए कि क्या होने वाला है, उसकी प्रधान घटना कौनसी होगी, फिर चाहे पहुँचते पहुँचते वह इस घटना में परिवर्तन कर दे।···उपन्यासारम्भ के पूर्व की मूल धारणा के कथानकगत विकास के सभी महत् सोपान निश्चित नहीं होते परन्तु वहाँ कुछ न कुछ होना चाहिए—वह प्रधान प्रयोजन जिसे लेखक ने सिद्ध करना हो[3]।" अतएव टायनबी का यह कहना उचित ही है कि 'किसी गम्भीर लेखक के मस्तिष्क में "कोई कार्य कैसे किया जाय" का प्रश्न "क्या किया जाए" और "क्यों किया जाए" के अधीनस्थ होना चाहिए[4]।'

उपन्यास-रचना में जिस प्रक्रिया से लक्ष्य तथा संवेदनानुभूति उसके तत्वों—कथानक, पात्र, वातावरण आदि—में परिणत हो औपन्यासिक रूप का निर्माण करते हैं, वही उसकी शिल्पविधि है। दृष्टिकोण तथा मूल अनुभूति शिल्प को नियत करते हैं और शिल्प से ही वे ध्वनित होते हैं[5]—अतएव दोनों को समतुल्य महत्व प्राप्त

---

१. Anton Chekhov's letter to A. S. Sonvorin (27 October, 1888). quoted from "Novelist on The Novels", p. 99.
"...if an artist boasted to me of having written a story without a previously settled design, but by inspiration, I should call him a lunatic"

२. "The dramatist like the short story writer, has to know where he is going and how he will get there, scene by scene, whereas all the novelists interviewed by 'The Paris Review' are accustomed to making voyages of exploration with only roughest of maps."
— "Writers at work"

३. वही, पृष्ठ २६.

४. Phillip Toynbee..."London Magazine", May 1956.
"...'how to do something' must be subordinate in serious writer's mind to the 'what to do' and the 'why to do',"

५. Joyce Cary, "your form is your meaning, and your meaning dictates the form." —"Writers at Work", p. 51.

है। साथ ही वस्तु तथा रूपाकार दोनों निष्क्रिय वस्तुएँ नहीं[1]। वस्तु यदि रूप को निश्चित करती है तो वह उससे प्रभावित भी होती है।

उपन्यास की शिल्पविधि के विश्लेषण के लिए जहाँ यह आवश्यक है कि लेखक के दृष्टिकोण (point of view) को या मूल संवेदना को जाना जाए, क्योंकि उसी से सभी तत्व नियत होते हैं[2], वहाँ उसके मूल्यांकन के लिए लेखक के उद्देश्य-अभिप्राय को जानना भी आवश्यक है[3], क्योंकि शिल्प की सार्थकता विषय के अधिक से अधिक अनुकूल होकर उसकी प्रभावपूर्ण प्रेषणीयता में निहित है। विषय को उसकी स्वाभाविक अनुकूल तकनीक मिली है या नहीं, इस बात की जाँच इस प्रकार हो सकती है : क्या पढ़ने के बाद आलोच्य उपन्यास की कल्पना किसी और प्रकार से की जा सकती है, या, आपकी कल्पना पूर्णतया परितृप्त हो गई है और आपको उपन्यास का वही रूप पूर्ण तथा अन्तिम लगता है। इसीलिए लब्बक ने कहा है कि उत्कृष्ट फार्म वही है जो विषय का अधिकतम उपयोग करता है[4]। किन्तु यहाँ एक विरोधाभास भी है; जिस उद्देश्य या दृष्टिकोण को जानने की बात हम कह रहे हैं, उसे शिल्पविधि ही व्यंजित करती है। अतएव शिल्प के विवेचन में विषय और प्रविधि की एकता-विषमता को पहचानने तथा विश्लेषित करने में समीक्षक की सफलता निहित है। अनेक उपन्यासों में ऐसा होता है कि लेखक स्वयं जो बार-बार कहता या पात्रों से कहलाता है, वही कथा या पात्रों के चरित्र की अन्तिम परिणति से व्यंजित नहीं होता। स्कॉट जेम्स की इस उक्ति में यही तथ्य संकेतित है — हो सकता है कि कलाकार कथ्य को पहचान ले किन्तु वह अपने कथ्य को कह न सके[5]। "इस लिए कहा गया है कि उद्देश्य वह नहीं होता जो लेखक समाविष्ट करता है, किन्तु वह होता है जो पाठक ग्रहण करता है। ऐसे ही उपन्यासों में विषय तथा शिल्प की आपसी विषमता अधिक उभर कर सामने आती है। इस दोष की दृष्टि से हिन्दी के प्रायः श्रेष्ठ कहे जाने वाले उपन्यासों — [illegible], चित्रलेखा, सागर लहरें और मनुष्य — को देखा जा सकता है। वास्तव में सुविन्यस्त उपन्यास की पहचान यही है कि सारा शिल्प विषयाभि-

१. Ralph Fox, "The Novel and The People", p. 79.
"... neither form nor content are separate and passive entities."

२. इसके लिए पूर्वोद्धृत [illegible] का कथन देखिए।

३. इसके लिए पूर्वोद्धृत लब्बक तथा बीच के कथन देखिए।

४. "The Craft of Fiction", p. 50.
"The best form is that which makes the most of its subject ... there is no other definition of the meaning of form in fiction."

५. "The Making of Literature", p. 329.
"The artist may see what he likes but he must not say what he likes."

व्यंजन करे और सारा विषय शिल्पित हो जाए[१]। इससे न शिल्प से अधिक विषय रहेगा, न विषय से अधिक शिल्प और यही दोनों की अविच्छिन्न एकता की स्थिति है। वस्तुतः यह स्थिति सभी विधाओं की सौन्दर्यबोधात्मक दृष्टि (aesthetic attitude) के लिए आवश्यक है।[२] इसी बात को दृष्टि में रखकर हम किसी नई तकनीक को भी गौरव दे सकते हैं। प्रायोगिक नव्यता की समस्या अभीप्सित प्रयोजन और प्रभाव-सृष्टि को लेकर है। अतएव नई प्रविधि का आविष्कार तकनीक के क्षेत्र में समुत्कर्ष तब तक नहीं माना जा सकता जब तक कि उससे विषयोत्कर्ष न हो क्योंकि एक ही नई प्रविधि एक विषय को ऊपर उठा सकती है और दूसरे को नीचे गिरा सकती है —या उसकी विचित्रता से जनित रोचकता विषय को रंजक न बना दे; या उसका अपना सौन्दर्यबोधात्मक आनन्द इतना न बढ़ जाए कि पाठक के लिए वही विषय न हो जाए[3]।

औपन्यासिक तकनीक के क्षेत्र में नवीनता क्यों आती है और क्यों आती रहनी चाहिए इसका विश्लेषण पहले किया जा चुका है। यहाँ इतना और उल्लेख कर देना आवश्यक है कि नई-नई शिल्पविधियों की निरन्तर सर्जना उपन्यास की अपनी प्रकृति की—उस पर डाले गए उत्तरदायित्व की—माँग भी है। जिस उपन्यास के लिए विषय के औचित्यानुचित्य के प्रश्न को अवहेलित कर यह कहा जाता है कि सभी कुछ उसका उपयुक्त विषय है[४], वह उपन्यास नई-नई सबल प्रविधियों के आहरण से ही व्यापक-विविध जीवन के भार के संवहन की क्षमता पा सकता है। वस्तुतः जीवन का अतिनैकट्य उपन्यास की शक्ति भी है और उसके लिए जोखिम भी; और इस जोखिम का स्वागत उसने अपने लचीले उदर में अन्य साहित्य-रूपों को भी आत्मसात करते हुए निरन्तर अपनी कला-शक्ति को संवर्धित करते रहने से किया है! इसलिए उपन्यास रूढ़िमुक्त निर्बंध होते हुए भी अत्यधिक ग्रंथियुक्त (articulate) कला है—आज के

१. Percy Lubbock "The Craft of the Fiction", p. 40.
"The well made book is...in which the matter is all used up in the form, in which the form expresses all the matter."

२. Bernard Bosanquet, "Three Lectures on Aesthetics," 'A Modern Book of Aesthetics' edited by Malvin Rader, p. 244.
"The point of aesthetic attitude lies in the adequate fusion of body and soul, where soul is a feeling, and the body its expression without residue on either side."

३. द्रष्टव्य, "नदी के द्वीप"।

४. Virginia Woolf, "Modern Fiction," 'The Common Reader', p.189. "The proper stuff of fiction does not exist, everything is the proper stuff of fiction."

की सबसे उत्तम परिभाषा उपन्यास का अशेष इतिहास ही होगा ।[१] प्रमाणतया, हिन्दी में ही देखें तो उपन्यास के विकासेतिहास के विभिन्न युगों में अपने-अपने युग के प्रतिनिधि या मुख्य उपन्यासकारों द्वारा दी गई परिभाषाओं के स्वरूप में अन्तर आता रहा है जो युगानुरूप उपन्यास की परिवर्तनशीलता की परिचायक है । पहले युग में यदि किशोरीलाल गोस्वामी ने "उत्तरोत्तर आश्चर्यजनक एवं कुछ छिपी हुई कथा" के "क्रमशः समाप्ति में स्फुटित[२] होने की बात कह कर तत्कालीन घटना-प्रधान उपन्यासों की प्रबलता की सूचना दी, तो दूसरे युग में प्रेमचन्द ने उपन्यास को "मानव चरित्र का चित्र मात्र"[३] कहकर उपन्यासकार के बदल जाने वाले दृष्टि-केन्द्र को व्यक्त किया । आगे युग के विकासक्रम को देखकर प्रेमचंद ने "भावी उपन्यास" के "जीवन चरित्र"[४] होने का पूर्वानुमान किया और 'अज्ञेय' ने इसे अपने कार्य से साकार,[५] तथा कथन से स्वीकार किया, किन्तु कुछ अपने योगदान के साथ - "अपने उपन्यास में मैं स्वयं हूं और उसमें विश्लेषण अपने ही व्यक्ति विकास का विश्लेषणात्मक सिंहावलोकन है ।[६] इस तरह 'अज्ञेय' के रूप में उपन्यासकार आत्मविश्लेषक हो उठा किन्तु इसके विपरीत यशपाल में "समाजधारा और विचारधारा के आधार में तारतम्य को प्रकट करना"[७] ही उपन्यासकार का 'अभिप्राय' हो गया है । विषय, शिल्प तथा आकार की दृष्टि से भी हिन्दी-उपन्यास ध्रुवांतों को छू रहा है — एक ओर चन्द्रकांता और उसकी बढ़ती रहने वाली 'संतति' देखिए और दूसरी ओर पचास छोटे पृष्ठों का 'सोया हुआ जल' । उपन्यास की परिभाषा को इन सब को समेटना है जो असंभव नहीं तो अत्यन्त कठिन अवश्य है । वस्तुतः उपन्यास के विभिन्न परिभाषाकार अपने-अपने युग से प्रभावित होकर स्वकीय दृष्टिकोण से उपन्यास के भिन्न-भिन्न पक्षों पर बल देते रहे हैं और उन परिभाषाओं में उन्होंने यह प्रयत्न भी किया है कि उपन्यास के असीम लचीले विस्तार में सिमट आने वाले दूसरे काव्य-रूपों से उसका अन्तर भी व्यंजित हो सके । अतएव निरपवाद परिभाषा देने की अपेक्षा विभिन्न परिभाषाओं में प्रायः सर्वमान्य विशेषताओं को देख लेना अधिक सुलभ-संगत होगा; और वे ये हैं

१. उपन्यास का माध्यम गद्य है — यह उसे काव्य से पृथक् करता है ।

---

१. Edwerd Wagenknecht, "Cavalcade of the English Novel", 'Introduction', p. xx. "The only quite accurate definition of the novel, is the history of the novel".

२. "प्रणयिनी परिणय" का 'उपोद्घात', पृ० १ । ३. कुछ विचार पृ० ८० । ४. वही, पृ० ६६ । ५. द्रष्टव्य, "शेखर : एक जीवनी" । ६. द्रष्टव्य, प्रो० दशरथ ओझा कृत "समीक्षा शास्त्र", पृ० १५३ ।

७. "साहित्य सन्देश", "आधुनिक उपन्यास अंक", जुलाई-अगस्त १९५६, पृ० ७८ ।

२. उपन्यास अपेक्षतया बड़े आकार का होता है—यह उसे कहानी से पृथक् करता है[१]।

३. उपन्यास में कल्पित कथा होती है—यह तत्व उसे इतिहास, जीवनी, आत्म कथा, पत्रकारिता आदि से पृथक् करता है तथा उसकी रोचकता का मुख्य आधार है।[२]

४. उपन्यास का दृष्टिकोण यथार्थोन्मुखी[3] है—यह उसे रोमांस से पृथक् करता है और उस काव्य से भी जो इसकी उपेक्षा भी कर सकता है। उपन्यास का उदय भी यथार्थ दृष्टिकोण से हुआ और उसका विकासेतिहास भी उसकी निरन्तर यथार्थोन्मुखता—काव्य के अपेक्षतया स्थाई जीवन के विपरीत नित्य परिवर्तित जीवन की अंकन-क्षमता[४]—को ध्वनित करता है। [illegible] जीवन के यथार्थ को पकड़ने के लिए नए-नए शिल्प का आश्रय भी इसी का परिणाम है।[५]

५. उपन्यास में पात्रों का चरित्रांकन अनिवार्य है—चरित्रांकन करने वाली

---

१. यद्यपि दोनों का मूल अन्तर शिल्पगत है, फिर भी कहानीकार थोड़े में अधिक कहने की बात सदैव ध्यान में रखता है और उपन्यासकार पर ऐसा कोई प्रतिबन्ध नहीं।

२. John Wain, "Essays on Literature and Ideas", p.39.
"...the one feature that sets it apart from journalism or biography—the fact that it offers an account of events that did not in fact take place..."

३. Idid, p. 36.
"Novels have always come in many shapes and sizes, but only a very slender minority of them have been anything but real-stic..."

४. Caudwell, "Illusion and Reality", p. 207.
"Poetry is the product of a tribe where life flows without much change between youth and age; the novel belongs to a restless age where things are always happening to people and people therefore are always altering."

५. हजारीप्रसाद द्विवेदी, "कहानी और उपन्यास", 'हिन्दी उपन्यास : सिद्धांत और विवेचन', पृ० ४४।
"साहित्य में यथार्थवाद वह धारावाहिक प्रयत्न है जो साहित्यिक शिल्प-विधान और जीवन की बदलती हुई परिस्थितियों के बीच सामंजस्य स्थापित करने का प्रयत्न करता है। अन्यान्य साहित्यांगों की अपेक्षा उपन्यास और कहानियों का साहित्य इस सामंजस्य विधान का शायद सर्वोत्तम वाहन है।"

उपन्यास वैयक्तिक दृष्टि से वास्तवाभासी कल्पित कथा-पात्रों को लेकर जीवन के एकांगी या बहुरंगी गतिशील यथार्थ को अंकित करने में नित्य नवल रूप धारण करने में समर्थ, अपेक्षतया बड़े आकार का, रोचक वर्णनात्मक गद्यरूप है।

उपन्यास की परिभाषा के आधारभूत तत्वों या उसके पृथक् अस्तित्व एवं वैशिष्ट्य को स्पष्ट करने के लिए उसका अन्य साहित्य-विधाओं, कलाओं तथा साहित्येतर प्रकारों से सम्बन्ध स्पष्ट करना आवश्यक है। इसके कारण दो हैं—एक, उपन्यास अपेक्षाकृत आधुनिक साहित्यांग है, अतएव अपने उद्भव से यह अन्य साहित्य अगों के तत्व लेकर चला है; दूसरे, उसकी लोचपूर्णता में दूसरे साहित्य-कला-रूपों की अपनी-अपनी शक्तियों से लाभ उठाने की अतुल क्षमता है। आगे इन दोनों तथ्यों को ध्यान में रखकर उपन्यास का अन्य रूपों से सम्बन्ध स्पष्ट किया गया है:—

उपन्यास और महाकाव्य

उपन्यास का उदय प्रबन्ध-काव्य से हुआ।[1] जब कोई उसे काव्य की संतान[2] कहता है तो उसका अभिप्राय मुक्तक कविता से न होकर, प्रबन्ध काव्य से ही होता है। यों सीधे वह महाकाव्य का उत्तराधिकारी भी है।[3] उपन्यास के विकास का इतिहास एक ओर वीराख्यान (heroic legend) को छूता है और दूसरी ओर आधुनिक पत्रकारिता को।[४] अतएव उपन्यास के उद्भव के साथ ही प्रारम्भिक (अठारहवीं शताब्दी के) उपन्यासकार महाकाव्य तथा रोमांस से उसकी तुलना में बड़े उलझे रहे हैं।[५] इसका कारण यह था कि एक ओर वह परिवर्तित युगानुरूप अपने उपन्यासों को सम्भाव्य यथार्थता देने के प्रति बड़े सजग थे और दूसरी ओर वे महाकाव्य-रोमांस के 'कौतुकाकर्षण' (appeal to wonder) से अभिभूत थे।[६] इन दोनों में से भी उन्होंने अपने उपन्यासों का मान बढ़ाने के लिए रोमांस के प्रति तिरस्कार-प्रवणता तथा महाकाव्य के प्रति प्रायः श्रद्धा-भावना का परिचय दिया—यों महाकाव्यों या वीरकाव्यों की तात्कालिक प्रासंगिकता (relevance) के प्रति उनकी शंका-दृष्टि भी बहुत कुछ बनी हुई थी।[७] उदाहरणतया, रिचर्डसन ने अपने

१. Baker, "The History of English Novel", p. 298.
"Prose fiction had its rise in poetry".

२. Richard Church, "The growth of the English Novel", p. 126.
"...the novel is the child of poetry...".

३. Ralph Fox, "The Novel and the People", p. 61.
"novel...the successor to the epic."

४. Joseph T. Shipley, "Dictionery of World Literary Terms", p. 283.

५. इस विषय पर मिरियम एलट ने सविस्तर प्रकाश डाला है, द्रष्टव्य—
"Novelists on the Novel", p. 3-20.

६. द्रष्टव्य, वही, पृ० १७। ७. वही, वही, पृ० ७।

उपन्यास सर चार्ल्स ग्रैण्डिसन के इतिहास (१७५४)—में एक पात्र के मुख से महाकाव्य के 'बर्बर रुझान' (savage spirit) तथा उस अमित शरारत (infinite mischief) का प्रकटन किया है जो उसने युग-युग तक की है।[1] दूसरी ओर जोजेफ एनड्रूज़' (१७४२) के प्राक्कथन में फील्डिंग ने सगर्व अपने इस उपन्यास को होमर की 'ओदीसी' की श्रेणी में रखते हुए उसे 'गद्य में लिखित सुखांत महाकाव्य' (comic epic poem in prose) कहा है क्योंकि उसके अनुसार छन्द-बन्धन को छोड़कर अरस्तु-गणित महाकाव्य की अन्य सभी विशेषताएँ उसमें मिलती हैं। साथ ही उसने सप्रयोजन अनेक रोमांसों का नाम गिनाते हुए अपनी रचना को उनमें न मिलाने की बात कही है।[2] इसके अतिरिक्त फील्डिंग ने 'टाम जोन्स' के प्राक्कथनात्मक प्रकरणों में आधुनिक उपन्यास की महाकाव्यगत वंश-परम्परा तथा कार्यों की घोषणा भी की है। १८१० में एन्ना बरबाल्ड ने 'अच्छे' उपन्यास को गद्यमय महाकाव्य (Epic in prose) कहा—ऐसा महाकाव्य जिसमें पात्रों की बहुलता और अति-मानवीयता कम (आधुनिक उपन्यासों में वह भी नहीं) हो गई हो।[3] रेल्फफाक्स ने उपन्यास को आधुनिक, बुर्जुआ समाज का महाकाव्य कहा है।[4] और हिन्दी के कुछ आलोचकों ने तो उपन्यास को 'गद्यमय महाकाव्य' तथा महाकाव्यों को 'पद्यमय उपन्यास' कहकर मानो दोनों का समीकरण ही कर दिया है।[5] आगे हम इसकी विवेचना करेंगे। इस परीक्षा के लिए भारतीय महाकाव्य के लक्षणों को ध्यान में रखा जा सकता है—और यहाँ कुछ रखा भी गया है—किन्तु हिन्दी उपन्यास आधुनिक युग की देन है, अतएव पाश्चात्य तथा आधुनिक महाकाव्यों को भी दृष्टि में रखना आवश्यक हो जाता है। डा० शम्भूनाथ सिंह ने भिन्न-युगीन तथा भिन्न-देशीय महाकाव्यों को दृष्टि में रखकर 'मोटे तौर पर' महाकाव्य के निम्नस्थ अवयव गिनाए हैं—१. महदुद्देश्य, महत्प्रेरणा और महती काव्य-प्रतिभा; २. गुरुत्व, गाम्भीर्य और महत्व; ३. महत्कार्य और युग जीवन का समग्र चित्रण; ४. सुसंगठित जीवन्त कथानक; ५. महत्वपूर्ण नायक तथा अन्य पात्र; ६. गरिमामयी उदात्त शैली; ७. तीव्र प्रभावान्विति और गम्भीर रस-व्यंजना; ८. अनवरुद्ध जीवनी-शक्ति और सशक्त प्राणवत्ता[6]।

---

१. वही, वही, पृ० ६-७। २. वही, वही, पृ० ५९-६०।

३. Anna Lactite Barbauld, "On the Origin and Progress of Novel-writing", 'The British Novelists' Vol. 1; Quoted from 'The Novelists on the Novel', p. 48.

४. 'The Novel and the People', p. 80.
"The novel is the epic art form of our modern, bourgeois, society."

५. शिवनारायण श्रीवास्तव, "हिन्दी उपन्यास", पृ० ४३९-४०।

६. 'हिन्दी साहित्य कोश', पृ० ५७९।

स्थूल दृष्टि से देखा जाए तो दोनों में कुछ समानताएँ हैं, जैसे महाकाव्य आकार की दृष्टि से काव्य का सर्वाधिक बृहत् प्रकार है, वैसे ही उपन्यास गद्य की सबसे बड़ी विधा। मानव जीवन की अधिकाधिक अभिव्यक्ति तथा कथा-गाथा के आधार की दृष्टि से भी इनमें सतही समता है। दोनों में लेखक को अपने विपुल अनुभवों के समावेश करने तथा कल्पना की ऊँची उड़ान लेने की गुंजाइश भी रहती है। महान उपन्यास और महाकाव्य दोनों 'महदुद्देश्य', 'महत्प्रेरणा', 'गाम्भीर्य और महत्व' की दृष्टि से भी एक हैं दोनों के रचयिता दार्शनिक गाम्भीर्य का आश्रय लेते रहे हैं।[१] उपन्यास की महत्ता के लिए दर्शन से उसके विघटन को उचित नहीं माना गया।[२] और, जैसा कि उल्लेख किया जा चुका है उपन्यास की बहुत-कुछ महाकाव्य-गत वंश-परम्परा, अठारहवीं शताब्दी के उपन्यासकारों का अद्भुत के प्रति आकर्षण तथा किंचित अतिमानवीय तत्वों का समावेश भी दोनों के नैकट्य का द्योतक रहा है। दोनों अपने-अपने युग की अभिव्यक्ति में पर्याप्त सफल रहे हैं महाकाव्य सामंतीय युग की तथा उपन्यास आधुनिक पूँजीवादी युग की। किन्तु इस युग-परिवर्तन या परिस्थितियों के परिवर्तन ने ही महाकाव्य को प्रायः समाप्त और उपन्यास को सफल बनाया है; क्योंकि 'महाकाव्यों का उद्भव वीर-युग में होता है, सामन्त युग उन्हें विकसित करता है और पूँजीवाद के वैज्ञानिक युग में उनका विकास रुक जाता है।[३] इस तरह महाकाव्य के लिए जो प्रतिकूल परिस्थिति है, वही उपन्यास के लिए अनुकूल परिस्थिति है।

सामंतवादी युग के सरल, संतुलित, निर्दिष्ट एवं विश्वासी युग के अनुकूल बन्धनमय, बेलोच महाकाव्य तथा आज के पूँजीवादी युग के जटिल, विशृंखलित तथा शंकालु युग के अनुकूल निर्बन्ध-लचीले उपन्यास का आगमन हुआ। यदि महाकाव्य सामंतीय ऐश्वर्य-समृद्धि तथा दृढ़ समाज-विधान के शिल्प में सर्वाधिक

---

१. (क) Ralph Fox, "The Novel as Epic", 'The Novel & the People', p. 91-92. "It is true that novel-writing is a philosophical occupation. The great novels of the world are great precisely because they have the quality of thought behind them, because they are highly imaginative, inspired. If you like, offer commentaries on life. It is this quality which distinguishes the first-rate from the second-rate in fiction."

(ख) Coleridge, "Biographia Literaria", Chap. XVIII. "No man has ever yet been a great poet without being at the same time a profound philosopher."

२. D. H. Lawrence, "Selected Literary Criticism", (Edited by Anthony Beal), p. 117. "It seems to me it was the greatest pity in the world when philosophy and fiction got split."

३. डा० शम्भूनाथ सिंह, "महाकाव्य के उद्भव की सामाजिक व्याख्या", 'आलोचना' संख्या ८, पृ० २०।

सशक्त कला है तो उपन्यास आज के अयुक्तिक (irrational) युग के निर्वाह में समर्थ सर्वाधिक युक्तिक (rational) कला।[1] न महाकाव्य आज के जीवन की द्रुतगामी वास्तविकता[2] तथा अणुवीक्षणीय सूक्ष्मता को व्यक्त करने में समर्थ हो सकता है—जो उपन्यास का देय है, उसकी व्यक्तिपरक यथार्थवादी कला का वैशिष्ट्य —और न ही उपन्यास तत्कालीन जीवन की सम्पूर्णता और विराटता के उरेहण में समर्थ हो सकता है—जो महाकाव्य के युग-सुलभ प्रतिनिधि चरित्रों तथा आदर्शवादी कला का व्यक्तित्व है। रैल्फ फाक्स ने सही लिखा है कि "महाकाव्य द्वारा समाज की, विशेष रूप में, जैसी पूर्ण अभिव्यक्ति हुई है, वैसी उपन्यास द्वारा न तो कभी हुई और नहीं हो सकती है। महाकाव्य के पात्रों तथा उस समाज के मध्य, जिसमें कि वे रहते थे, एक संतुलन था, जो अब लुप्त हो चुका है। इसमें सन्देह नहीं कि इलियद अपने पात्रों में से किसी एक का उतना नहीं, जितना कि सम्पूर्ण समाज का चित्र प्रस्तुत करता है। एक ऐसे समाज का चित्र जिसमें व्यक्ति न समुदाय के प्रति और न प्रकृति के प्रति ही विरोध का अनुभव करता है। वह समाज का अंग है, और कभी-कभी प्रकृति का भी अंग जैसा लगता है अथवा उससे अभिभूत प्रतीत होता है। किन्तु प्रकृति के साथ उसके द्वन्द्व का या प्रकृति पर उसके प्रभुत्व का कहीं पता नहीं चलता।"[3] सारांश यह कि महाकाव्य में मुख्यतः प्रतिनिधि प्रतीक-पात्रों का चित्रण हुआ है। सज्जन-स्तुति या दुर्जन-निन्दा का पूर्वनिर्दिष्ट आदर्शवादी स्वरूप, नायक-प्रतिनायक पद्धति, नायक का धीरोदात्तत्व आदि सिद्धांत सब पात्रों के प्रातिनिधिक स्वरूप को पुष्ट करते हैं और महाकाव्य की उदात्तता का संवर्धन; इसके विपरीत उपन्यास में ऐसे कोई पूर्व-निश्चित प्रतिबन्ध नहीं हैं। उसमें धीरोदात्त-धीरोद्धत नायक-प्रतिनायक हो भी सकते हैं, नहीं भी; फिर भी, एक तो उपन्यास में इनके गुण-दोष निश्चित नहीं होते—ये प्रतीक के साथ व्यक्ति या केवल व्यक्ति होते हैं—दूसरे समाज की विषमता के अनुकूल आज अनेक उपन्यासों में व्यक्ति की बजाय समाज ही प्रतिनायक बन गया है, और लघुता की ओर दृष्टिपात करने वाले यथार्थवाद के कारण साधारण दुर्बल व्यक्ति ही नायक। महाकाव्य में महान् पात्रों का चित्रण होता है तो उपन्यास में साधारण पात्रों के भीतर की महानता या असाधारणता का उद्घाटन होता है। इससे भी आगे आज उपन्यास का प्रधान पात्र समाज या

१. Ralph Ellision, "Society, Morality and the Novel", 'The Living Novel', p. 65.

२. W. L. George, "A Novelist on Novels", p. 4.
"the novel is important because, low as its status may be, it does day by day express mankind, and mankind in making."

३. "Novel and the People", p. 81-82.

किसी व्यक्ति से न लड़, अपने से ही लड़ता नजर आता है। चेतन-अचेतन मन का संघर्ष ही प्रमुख हो उठा है। इस रूप में महाकाव्यात्मक नायक की मृत्यु हो गई है, और थैकरे, रैल्फ फाक्स आदि ने इसकी घोषणा भी कर दी है।[1] थैकरे ने मानो महाकाव्यादि की नायक-पूजा (Hero-worship) की आदर्शवादी धारणा के विरोध में उपन्यास की यथार्थवादी धारणा की स्थापना के लिए ही अपने उपन्यास में नायक-विहीनता का सगर्व उद्घोष किया।[2] विस्तृत ज्ञान व मनोवैज्ञानिक अन्वेषण की प्रक्रिया ने हमें नायक की मानसिकता के गोपनीय लोक में उसके अन्तस्तल का अनावरण कर उसके नायकत्व को समाप्त कर दिया है। इसीलिए डेविड डेचिस कहते हैं कि "अपने नौकर या मनोविश्लेषक के लिए कोई व्यक्ति नायक नहीं है"।[3] किन्तु यह उल्लेखनीय है कि आज मनोवैज्ञानिक ज्ञान के आलोक में यदि नायक नहीं रहा तो खलनायक भी नहीं बचा। उसकी खलता भी मानवीय हो गई है, वह तथाकथित शैतान की नहीं रही। इससे आज के मानव की सहानुभूति एवं दृष्टि का कम से कम बौद्धिक धरातल पर अवश्य विस्तार हुआ है। इस तरह उपन्यास का विषय है व्यक्ति, समाज नहीं; उसकी मुख्य कला है विश्लेषणात्मक, (महाकाव्य की तरह) संश्लेषणात्मक नहीं; और उसका विश्लेषणाधार है चरित्र, महाकाव्य का व्यक्तित्व नहीं, और तदनुसार उपन्यास महाकाव्य से अधिक अन्तर्मुखी है, बहिर्मुखी नहीं।

व्यक्ति और समाज के संघर्ष की दृष्टि से भी उपन्यास में व्यक्ति सामने आता है। रैल्फ फाक्स ने लिखा है—"उपन्यास का विषय है व्यक्ति। वह समाज के विरुद्ध, प्रकृति के विरुद्ध संघर्ष का महाकाव्य है। और यह केवल उसी समाज में विकसित हो सकता था जिसमें व्यक्ति और समाज के बीच सन्तुलन विलुप्त हो चुका हो और उसमें मानव का अपने सहजीवी साथियों अथवा प्रकृति से युद्ध ठना हो। पूँजीवादी समाज ऐसा ही समाज है।"[4] रैल्फ फाक्स उपन्यास को महाकाव्य के निकट क्यों रखते हैं—उनकी यह धारणा सामान्य आलोचकों से भिन्न है। फिर भी आज व्यक्ति के उपर्युक्त संघर्ष को गरिमा देने वाले कितने उपन्यास हैं ? बहुत कम और इस कमी को उपर्युक्त आलोचक ने भी अनुभव किया। अतएव उसने नायक की मृत्यु की घोषणा की। इसलिए आज उपन्यास को आधुनिक युग का महाकाव्य न

१. "Novel and the People" p. 122. "Human personality has disappeared from the contemporary novel, and with it the 'hero'."

२. थैकरे ने "वैनिटीफेयर" उपन्यास के उपशीर्षक के रूप में लिखा 'एक नायक विहीन उपन्यास'।

३. "The Present Age", p. 108.
"No man is a hero to his valet—or to his psychoanalyst."

४. "Novel and the People", p. 82.

कहना अधिक संगत होगा। प्रमाणतया, रैल्फ फाक्स का उपन्यास को महाकाव्य मानना उनके भीतर की स्वस्थ कामना का जितना द्योतक है—या अठारहवीं-उन्नीसवीं शती के कुछ ही उपन्यासों को दृष्टि में रखने का जितना द्योतक है—उतना तथ्यों पर आधृत नहीं; अन्यथा उनको परिस्थितियों को बदलने, उन पर काबू पाने, और अपने भाग्य का खुद मालिक बनने वाले मानव के चित्रण के आधार पर वीरत्व का, और वीरत्व के साथ-साथ महाकाव्योचित गुणों के पुनरागमन का, आह्वान न करना पड़ता।[1] हिन्दी में हमें ऐसे गुणों का आभास फणीश्वरनाथ 'रेणु' के 'परती : परिकथा' तथा अमृतलाल नागर के "बूंद और समुद्र' में अवश्य मिलता है। फिर भी ये अपवाद ही माने जाएंगे। समाज की विषम व रोधक परिस्थितियों की यथार्थता के अनुकूल आज महाकाव्य के सशक्त नायक के विपरीत उपन्यास के दुर्बल नायक को एक तो प्राय: फल-प्राप्ति होती ही नहीं; दूसरे, जीवन की यथार्थानुकारिता का दृष्टिकोण होने से, जीवन की अपूर्णता के अनुकूल, आज औपन्यासिक कथानक की पूर्णता भी आवश्यक नहीं मानी गई; तीसरे, महाकाव्य की कुछ अलौकिक घटनाओं के स्थान पर जीवन की कटु वास्तविकता तथा सूक्ष्म यथार्थ की द्योतक क्षुद्र घटनाओं, या मनोवैज्ञानिक यथार्थ के अनुकूल जीवन के साधारण से साधारण गतिलेशों को महत्व मिलता है महाकाव्य की अपेक्षा उपन्यास की कला अधिक अचयनात्मक है—अतएव महाकाव्य की 'तीव्र प्रभावान्विति या गम्भीर रस-व्यंजना' उपन्यास में सम्भव हो ही नहीं सकती। उपन्यास के प्राय: काल्पनिक कथानक के स्थान पर महाकाव्य के 'इतिहासोद्भवं वृत्त' तथा गद्य के स्थान पर छन्दोबद्धता, भी महाकाव्य की रस-सृष्टि के अनुकूल है। वस्तुत: महाकाव्य रसवादी है, उपन्यास उद्देश्यवादी। उपन्यास रस के स्थान पर रोचकता से काम चलाता है। काव्य की भावमयता के कारण महाकाव्य संवेदना-प्रधान है, उपन्यास गद्य-प्रवाह से युक्त कथा के कारण कौतूहल-प्रधान।

महाकाव्य अमिश्र काव्य-रूप है, उपन्यास मिश्र काव्य-रूप। जीवन के बहुविध यथार्थ के चित्रांकन के लिए उपन्यास ने अनेक काव्य-विधाओं को आत्मसात कर लिया है।[2] न उपन्यास वैचारिक क्षेत्र में किन्हीं रूढ़ियों से बंधता है, और स्वभावत: न ही उनके

१. "Novel and the People" p. 133. "The new realism it is our task to create must take up the task where bourgeois realism laid it down. It must show man not merely critical, or man at hopeless war with a society...but man in harmony with the course of history and able to become the lord of his own destiny. This means that the heroic must come back to the novel and with the heroic its epic character."

२. Joseph T. Shipley, "Dictionery of World Literary Terms", p. 283. "At various stages of its development it has assimilated the characteristics of other ways of writing."

अभिव्यक्ति-साधनों से । यह निर्बन्धता महाकाव्य से उसका बहुत बड़ा अन्तर है । निरन्तर रूढ़ियों का विरोध करने के कारण ही महाकाव्य की उदात्त अभिव्यंजना के विपरीत उपन्यास में प्रच्छन्न या स्पष्ट व्यंग्य-कला का विशेष विकास मिलता है । रिचर्डसन से लेकर आधुनिक उपन्यासों तक में यह बात देखी जा सकती है । वस्तुत: उपन्यासकार किन्हीं रूढ़ियों से बंधने की बजाय, समयानुसार गतिमान पाठक से बंधता है, अतएव पाठक और लेखक के मध्य जैसा अनौपचारिक निजी सम्बन्ध उपन्यास में मिलता है, वैसा महाकाव्य या किसी अन्य साहित्यांग में नहीं । इससे उपन्यासकार की अनुभूतियों की विश्वसनीय प्रेषण-क्षमता बढ़ जाती है ।[1]

महाकाव्यों की परम्परा की दो मुख्य धाराओं में एक है प्राकृत या विकसनशील महाकाव्य (Authentic Epic or Epic of growth) । इसके अन्तर्गत "अनेकानेक अज्ञात कवियों की प्रतिभा के योग से कण्ठानुकण्ठ विकसित होने वाले महाकाव्य[2] आते हैं । इनका कवि या तो अज्ञात रहता है, या अनेक कवि मिलकर एक हो जाते हैं । महाकाव्यकारों की अपने महाकाव्यों में ही खो जाने की प्रवृत्ति के विपरीत आज का उपन्यासकार स्वयं में लीन, आत्मविश्लेषक, ही हो उठा है ।[3] लेखक की दृष्टि से भी उपन्यास की कला महाकाव्य से कहीं अधिक वैयक्तिक है वह स्वेच्छित विधि से संसार को काम में लाता है; इसलिए गेटे ने उपन्यास को आत्मपरक महाकाव्य (subjective epic) कह दिया है ।[4]

महाकाव्य उपन्यास से गुरुतर तथा पढ़ने में धैर्य-साध्य है । अतएव वह उपन्यास-जैसी लोकतन्त्रीय साहित्य-विधा के भिन्न-स्तरीय बहुसंख्य पाठकों का आह्वान नहीं कर सकता ।[5]

सारांश में, उपन्यास और महाकाव्य की तुलना एक-दूसरे के स्पष्टीकरण में सहायक हो सकती है, वैसे उपन्यास को गद्यमय महाकाव्य या महाकाव्य को पद्यमय

---

१. "Dictionery of World Literary Terms," p. 283.

"Since in contradiction to more conventional forms, the novel based upon a more private relationship between reader and writer, it opens up wider possibilities for the direct communication of experience."

२ डा० शम्भूनाथसिंह, "हिन्दी साहित्य कोश", पृ० ५७६ ।

३. Phillip Henderson, "The Novel Today", p. 14.

"Novel itself has come to be regarded as primarily a form of self-analysis."

४. Vide Roy Pascal's "Forewerd" to "The German Novel", p. viii.

५. William Phelps, 'The Advance of the English Novel', p. 5.

"The novel is the most democratic form of literature easily adaptable to minds of high, low and no intelligence."

उपन्यास कहना अधिक उचित नहीं ।[1] फिर भी, यदि कोई साहित्य-रूप महाकाव्य की सामर्थ्य व शक्ति को सिद्ध कर सकता है या कर सका है तो वह उपन्यास ही है, क्योंकि उसमें काव्यमय साधनों के प्रचुर उपयोग की शक्ति है । समाज के व्यापक चित्रफलक पर, विराट भूमिका में युग का चित्रण किया गया है और किया जा सकता है । उनका सामूहिक प्रभाव भी महाकाव्य-सा है । तोल्स्तोय का 'युद्ध और शांति' इसका प्रमाण है । हिन्दी में अमृतलाल नागर का 'बूंद और समुद्र' महाकाव्यात्मक प्रभाव के अधिक निकट है । यह अवश्य है कि ऐसे उपन्यास गिने-चुने हैं और यह उपन्यास की सामान्य विशेषता नहीं । फिर भी, अद्‌भुत-उदात्त के प्रति मानव का स्वाभाविक आकर्षण, जीवन के महत् तत्त्वों के प्रति मानव की श्रद्धा-भावना, असामाजिक शक्तियों पर मानव की विजय-कामना की शौर्य-प्रवणता उसे उपन्यास को—उसकी अपनी स्वरूप-रक्षा के साथ—किन्हीं महाकाव्यात्मक गुणों से मण्डित कर उपन्यास में आ रही एकांगिता को दूर करने के लिए प्रेरित करती रहेगी और इसलिए उपन्यास और महाकाव्य की तुलना भी होती रहेगी ।

उपन्यास और रोमांस

अपने प्रारम्भिक दिनों में उपन्यास रोमांस का सजातीय था । इनके सजातित्व का अनुमान इसी से हो सकता है कि १७८५ में यूफ्रेज़िया के माध्यम से बोलते हुए क्लेरारीव ने कहा है कि सभी भाषाओं में 'नावेल' का अर्थ है कुछ नया । पहले इसका प्रयोग (नूतन अद्‌भुत) औपन्यासिक रचनाओं के रोमांस से प्रभेद प्रकटन के लिए किया गया, वैसे अनतिपूर्वतः दोनों साथ-साथ प्रयुक्त होकर एक-दूसरे के लिए मिथ्यानिर्णीत (mistaken) होते रहे हैं ।[2] रोमांस शब्द 'रोमन' से निकला,

---

१. (क) डा० रामरतन भटनागर, "साहित्य-संदेश", मार्च १९६० ।
"उपन्यास ने न कभी महाकाव्य का स्थान लिया है, न भविष्यत् में वह कभी महाकाव्य का स्थान ले सकेगा ।"
(ख) डा० रणवीर रांग्रा भी चरित्र-चित्रण के आधार पर महाकाव्य और उपन्यास में समता नहीं मानते । द्रष्टव्य, "हिन्दी उपन्यास में चरित्र-चित्रण का विकास", पृ० ३१-३३ ।

२. "The Progress of Romance", Quoted from "Novelists on the Novel", p. 47.
"The word Novel in all languages signifies something new. It was first used to distinguish these works from Romance, though they have lately been confounded together and are frequently mistaken for each other."

जिसका अर्थ है असाधारण। अंग्रेजी से इतर भाषाओं में इसी 'रोमन' शब्द ने 'नावेल' का नामोद्दिशन (designation) किया और यह उसकी मध्ययुगीन रोमांस से दूरवर्ती उद्भूति की ओर इंगित करता है ।[1]

रोमांस सामंतवाद का अयथार्थिक अभिजातवर्गीय साहित्य था ।[2] ये उच्चवर्गीय पात्रों को लेकर उच्चवर्गीयों के लिए ही लिखा जाता था । इसके पात्र और विषय-क्षेत्र दोनों परिसीमित थे । इस दृष्टि से इसकी उपन्यास से कोई तुलना नहीं हो सकती । राजा, रईस, जागीरदार, सेनानायक, दस्यु-सरदार, (ईसाई) धर्मशासक, (ईसाई) महंत, पादरी और असीम सुन्दरियां इसकेपात्र थे । इनमें से कुछ अलौकिक या शक्तियों से सम्पन्न पात्र होते थे । सामान्य जनता की झलक विरल थी और वह दूर पार्श्व में रह जाती थी, (उपन्यास में यही सन्मुख रहती है) क्योंकि न सामान्य जनता रोमांसकारों का विषय थी, न उसके लिए लेखन इनका लक्ष्य । यही नहीं, साधारण समाज के लिए इन रोमांसों के जो कलाविहीन-गंवारू (rude) संस्करण प्रकाशित होते थे, उनका नायकत्व भी उपर्युक्त अभिजात्यों को मिलता था ।[3] वस्तुतः, शौर्य-शृंगाराश्रित (love & chivalry) प्रचण्ड-बर्बर साहसिक कार्यों (wild adventures),[4] अद्भुत-विचित्र घटनाओं, नारी-प्रेरित तथा नारी-उद्धारार्थ युद्धों, तथा कामोत्तेजक प्रसंगों से युक्त कहानियों से अवकाशयुक्त-शून्यमना

---

१. (क) Shipley, "Dictionery of World Literary Terms", p. 283.
"The word that designates the novel in other languages than English, roman, points to its remote origins in medieval romance."
(ख) Richard Church, "The Growth of the English Novel", p. 5.
"Greece produced the first prose romances, and was thus the seed-bed of the European novel."

२. Arnold Kettle, "An Introduction to the English Novel", p. 3o.
"Romance was the non-realistic aristocratic literature of feudalism."

३. Baker, "History of the English Novel", p. 259.
"Of the common people there was rarely a glimpse; they stood in very distant background. For the romancers were not writing about them for them but for the pleasure of court and castle. Even in the rude versions which seem to have been prepared for humble circles the heroes were still kings, barons and knights and the heroines ladies of race or of fairy land."

४. Dr. Johnson's definition of Romance is : "a military fable of the middle ages ; a tale of wild adventures in love and chivalry." Quoted from the "Novelists on the Novel", p. 49.

(vacant minds)[१] उच्चवर्गीयों को गुदगुदाना[२], सामान्य जनता को भुलावा देकर बहलाना, और इस तरह अपनी रोजी कमाना[३] ही इन रोमांस लेखकों का लक्ष्य था। वे मनोरंजन के साथ किन्हीं आदर्शोपदेशों को भी सम्बन्धित कर देते थे। किन्तु उनका नैतिक उपदेश अधिकतर वैसा ही स्वांग होता था जैसा असम्भाव्य या असम्भव कथाओं को यथार्थाभास देने के लिए उनका पाठकों को परिपूर्ण प्रमाणिक स्रोतों से सामग्री जुटाने का ऊपरी आश्वासन।[४]

उपन्यास का उदय, उस रोमांस के प्रति यथार्थवादी प्रतिक्रिया के रूप में हुआ है।[५] आरनल्ड केटल ने उपन्यास (या गद्य साहित्य) में उस यथार्थवाद के प्रवर्तन को सामन्तवाद के ध्वंस तथा उस क्रान्ति का अनिवार्य अंग बताया है जिसने सामंतीय समाज को रूपान्तरित कर दिया। उपन्यास का विकास उस रूपांतर के फल-स्वरूप नए विकसित मध्यवर्ग के साथ हुआ अभिजात-वर्गीय संरक्षण-पोषण से नहीं, व्यापारिक प्रकाशन के आधार पर, नए शक्तिशाली वाणिज्यिक पूँजीजीविवर्ग (commercial bourgeoisie) के द्वारा तथा उसी के लिए लिखा जाकर।[६] आरनल्ड केटल ने रोमांस के ह्रास, उपन्यास के उदय तथा सामन्तवाद के विध्वंस को एक-दूसरे से ऐसे सम्बन्धित बताया है कि उसने प्रमाणरूप में सरवेनटीज के Don Quisote (१६०५) के अन्तिम शब्दों का उल्लेख करने से पहले कहा है 'सरवैनटीज बखूबी जानता था कि दुनिया को सामन्तवाद के लौह-बंधनों से मुक्त कराने के लिए रोमांस का विनाश अपरिहार्य कार्य है। और सरवैनटीज ने अपनी पुस्तक का अन्त इन शब्दों के साथ किया "As for me, I must esteem myself

१. Baker, "History of the English Novel", p. 300.
"... chiefly as pastime for vacant minds."

२. Arnold Kettle, "An Introduction to the English Novel, p. 33.
"Closely connected with, indeed inseparable from, the escapis nature is its function as a form of titillation that has had a profound influence on the modern novel."

३. Baker, "History of the English Novel", p. 300.
"The public wanted stories, the romancers had stories to tell—and their living to get."

४. Ibid, p. 300.
"Often enough the moral was mere sham, and worth exactly as much as the romancer's formal assurance that he had got hi matter from the best authorities."

५. Arnold Kettle, "An Introduction to the English Novel", p. 30.
"The Novel....arose as a realistic reaction to the medieva romance."

६. Ibid, p. 25-30.

happy, to have been the first that render'd those fabulous, nonsensical stories of Knight-Errantry, the object of the public aversion. They are already going down, and I do not doubt but they will drop and fall together in good earnest, never to rise again. Adieu." एक ओर कैटल महोदय ने उपन्यासोदय में उपर्युक्त सामाजिक कारणों को देखा है तो दूसरी ओर इयनवाट महोदय ने सत्रहवीं शताब्दी के दार्शनिकों—मुख्यत: डेस्कार्टेज़ एवं लॉक—के यथार्थवाद को। इन दार्शनिक प्रभावों से सत्य की खोज एक वैयक्तिक विषय हो गया; इससे जीवन और साहित्य में एक ऐसा स्थित्य-न्तरण (shift) आया कि प्राचीन-परिनिष्ठित, वस्तुपरक, सामाजिक तथा सार्वलौकिक दिशामान (orientation), आत्मपरक, व्यक्तिवादीय तथा अन्तरंग हो उठे।[1] सारांश यह है कि वैयक्तिक दृष्टिकोण के प्रबल आग्रह तथा समाज-विधानीय परिवर्तनों के फलस्वरूप उदीयमान यथार्थवाद की रोमांस के प्रति सम्मिलित प्रतिक्रिया में उपन्यास का उदय हुआ। यथार्थवाद ने उसे जीवन की गतिशील वास्तविकता के अनुकूल होते रहने की विशेषता दी और उपन्यासकार के प्रबल वैयक्तिक मत ने उसे स्थायित्व प्रदान कर मात्र पत्रकार बनने से ऊपर उठा दिया। रोमांसकार केवल मनोरंजन करते थे, उनका अपना मत नहीं रहता था या नितांत गौण रहता था। किन्तु उपन्यासकार का यही व्यक्तित्व है और उसके अस्तित्व का रक्षक।[2]

अठारहवीं शताब्दी के संक्रमणकाल में उदीयमान उपन्यासकारों ने सजग निष्ठा से यथार्थ की प्रवृत्ति को अपनाने का प्रयास किया और अपने नए कलारूप के पूर्ववर्ती साहित्य रूपों से पार्थक्य-प्रकटन के लिए रोमांस और उपन्यास में अन्तर भी स्पष्ट किया। उदाहरणतया रिचर्डसन के कुमारी मुलसो को अपने एक पत्र में लिखा—"क्या तुम सोचती हो कि मैं रोमांस लिख रहा हूं? क्या तुम नहीं देखतीं कि मैं प्रकृति की अनुकृति कर रहा हूं..."[3] निस्सन्देह रोमांस और उपन्यास में

---

१. "The Rise of the Novel", p. 176.

२. हजारी प्रसाद द्विवेदी, 'आधुनिक हिन्दी साहित्य पर विचार", पृ० १०६।
"उपन्यास इसलिए स्थायी साहित्य नहीं है कि वह उपन्यास है, बल्कि इसलिए कि उसके लेखक का अपना एक जबर्दस्त मत है जिसकी सचाई के विषय में उसे पूरा विश्वास है।"

३. Quoted from "Novelists on the Novel", p. 41.

यथार्थानुभूति को लेकर ही मूल अन्तर आ गया है—इसी दृष्टिकोण ने उनके शिल्प में रूपान्तर उपस्थित किया है। फील्डिंग ने 'टाम जोन्स' में रोमांस के अतिमानवीय तत्व के विरुद्ध चेतावनी दी है। यह उल्लेखनीय है कि वह संक्रांतिकाल था अतएव रोमांस के विरुद्ध सैद्धान्तिक आधार पर जितना आक्रोश मिलता है उतना व्यवहार में नहीं; फिर भी रोमांस के ग्रहणीय तत्वों को यथार्थ की सुलभ-सम्भाव्य सीमाओं के बन्धन के साथ ग्रहण करने की उन्होंने वकालत की है। अतएव टाम जोन्स में ही अन्यत्र फील्डिंग ने उपन्यासकार को रोमांस के अद्भुत (wonderful) तत्व के व्यवहार की स्वेच्छानुसार छूट दी है किन्तु इस शर्त पर कि उसके पात्रों के व्यापार मानवीय क्रिया-शक्ति की परिधि में हों। इस तरह उसने विश्वास्य (credible) तथा विस्मयकारी (surprising) के सुन्दर समन्वय पर बल दिया है।[१] वाल्टर स्काट ने रोमांस और उपन्यास की अपनी परिभाषाओं में रोमांस के आश्चर्यंकर या पूर्णतया असम्भव (marvellous) तथा असाधारण (uncommon) घटनाओं की रुचि के विरोध में उपन्यास में नित्यप्रति की साधारण (ordinary) तथा समाज की आधुनिक स्थिति से सम्बन्धित घटनाओं को आलोकित किया है। इसके अतिरिक्त वे रोमांस को 'गद्य या पद्य' दोनों मानते हैं।[२] टामस हालक्राफ्ट ने 'एल्विन' के प्राक्कथन में रोमांस और उपन्यास के क्षेत्र में अन्तर को देखा है। उसने उपन्यास के कार्य को रोमांस से कठिन बताया है क्योंकि उसमें प्रबन्ध की एकता-संश्लिष्टता (unity of design) अनिवार्य है जिसका रोमांस में अभाव मिलता है।[३]

रोमांस और उपन्यास के अन्तर को इन सबसे अधिक क्लारा रीव ने स्पष्ट किया है; वे लिखती हैं—"रोमांस एक शौर्यमय काल्पनिक तथा अलौकिक कथा है, जो अविश्वास्य पात्रों तथा उपकरणों का प्रयोग करती है। उपन्यास वास्तविक जीवन और व्यवहार, तथा जिस काल में वह लिखा गया, का एक चित्र है। रोमांस उन्नत-अतिरंजित भाषा में उन सबका वर्णन करता है जो न कभी घटित हुआ है और न जिसके घटने की सम्भावना है। उपन्यास उन परिचित वस्तुओं का वर्णन करता है, जो प्रतिदिन हमारे सम्मुख होती रहती हैं या हमारे या मित्रों के अनुभवों की हैं और उसकी पूर्णता इसी में है कि वह प्रत्येक दृश्य का ऐसे सरल और स्वाभाविक रूप में करे कि वह पूर्णतः सम्भाव्य हो जाय और हमें (कम से कम उपन्यास पढ़ते समय) यथार्थ की प्रतीति या भ्रम होने लगे, जब तक कि हम सोचने लगें कि उपन्यासों के पात्रों के हर्ष-विषाद हमारे ही हैं।[४]

१. "The History of Tom Jones", p. 326.
२. "Novelists on the Novel", p. 49.
३. Ibid, p. 46-47.
४. Ibid, p. 47

सारांश में दोनों का मूल अन्तर इसमें है कि उपन्यास का क्षेत्र सम्भाव्य तक है और रोमांस का असम्भाव्य तथा असम्भव तक; एक का आधार साधारण लौकिक जगत् है दूसरे का असाधारण अलौकिक। जैसाकि हैनरी जेम्स ने (दी अमेरिकन १८७० के प्राक्कथन में) इंगित किया है कि दोनों के पार्थक्य की पहचान मूल अनुभूति के स्वरूप से हो सकती है। उसने एक गुब्बारे के रूपक से स्थिति स्पष्ट की है। हमारी अनुभूति विस्तृत कल्पना के गुब्बारे में बैठी आकाश में विचर रही हो परन्तु एक पतली सी डोर —चाहे वह बड़ी लम्बी हो—इस धरती से बन्धी हो तब हमें इस डोर से ही पता चलता है कि हम किस स्थान पर हैं—उपन्यास के क्षेत्र में हैं या रोमांस के—परन्तु इसके कटते ही हम असम्बन्धित-उन्मुक्त होकर धरती से दूर डोलने लगते हैं। यदि इस डोर को कोई ऐसी ऐन्द्रजालिक सफाई से काटे कि हम इसे भाँप ही न सकें तो यह रोमांस का क्षेत्र हो जाता है।[1] तात्पर्य यह है कि रोमांस भी कला है चाहे इसका क्षेत्र उपन्यास से भिन्न है। उपन्यास में अनुभूति-कल्पना लम्बी उड़ान भर कर भी यथार्थ से बंधी रहती है और रोमांस में यह निर्बाध-स्वच्छन्द हो जाती है। इस यथार्थ-अयथार्थ दृष्टिकोण के अन्तर से ही अन्य अंतर आ जाते हैं। अन्यथा दोनों एक दूसरे के क्षेत्र में आते-जाते रहते हैं। यथार्थ की डोर से बंधा रहकर उपन्यास रोमांस के कथाकर्षण, अद्भुत तथा गुदगुदाने वाले तत्व, शौर्य-जीवटमय कर्मों सभी से अपनी रचना को अधिक रमणीय बना सकता है और बनाता रहता है। यह अवश्य है कि वह अपने पात्रों को परिसीमित क्षेत्र से लेकर वर्गीय ही नहीं बनाए रख सकता क्योंकि यह उसके यथार्थवाद और वैयक्तिक प्रवृत्ति के विरुद्ध है। इसके अतिरिक्त रोमांस की कल्पना-स्वच्छन्दता काव्य के अधिक अनुकूल है—वहाँ गद्य-पद्य का बंधन भी नहीं। उपन्यास में गद्य की अनिवार्यता उसकी भिन्न हार्द को स्पष्ट करती है।

ऐतिहासिक उपन्यासों में ऐतिहासिक रोमांस नाम से एक पृथक भेद है। और वाल्टर स्काट के अनुसार ऐतिहासिक रोमांस अद्भुत ('Marvellous') तथा सम्भाव्य ('Probable') का संयुक्तक है। सामान्य उपन्यासकारों की अपेक्षा ऐतिहासिक उपन्यासकारों को अतीत के वातावरण-विधान के लिए रोमांस तत्वों के विनियोग की अधिक गुंजाइश रहती है।

इतिहासेतर उपन्यासों में भी रोमांस के तत्वों का उपयोग होता है, अतएव उपन्यास के अन्य प्रकारों से अन्तर स्पष्ट करने के लिए रोमांस-तत्व के अपेक्षाकृत आधिक्य के आधार पर रोमांसिक उपन्यास का एक भेद भी हो सकता है और डा० सत्येन्द्र,[2]

---

१. "Novelist on the Novel", p. 56.

२. द्रष्टव्य, 'समीक्षा के सिद्धांत', पृ० १५१।

डा० देवराज उपाध्याय[1] आदि ने यह किया भी है। वस्तुतः, अपने रूढ़ रूप में रोमांस का आधुनिक उपन्यास-क्षेत्र में स्थान विरल है, किन्तु वैसे यह प्रवृत्ति कभी समप्त नहीं हुई, आधुनिक यथार्थवादी क्षेत्र में भी किन्हीं सीमाओं एवं प्रेम, आदर्श आदि के किन्ही रूपों में यह प्रकट होती ही रहती है।[2]

उपन्यास और कविता

उपन्यास का कविता से जन्मजात नाता है और अपने अद्यावधि विकास में उसकी सजातीयता और भी सिद्ध हुई है।[3] यहाँ तक कि विर्जीनिया वूल्फ ने भावी उपन्यास की काव्यात्मक भवितव्यता की घोषणा भी कर दी है।[4]

कविता और उपन्यास दोनों भाव, विचार और कल्पना-तत्वों का उपयोग करते हैं। दोनों में रचयिता की वैयक्तिकता निहित रहती है।[5] वैयक्तिक अनुभूति की अभिव्यक्ति के आधार पर ही वाल्टर एलन ने उपन्यास को काव्य की शाखा माना है।[6] फिर भी इनमें समता कम है, अन्तर अधिक। कविता अति प्राचीन साहित्य-विधा है, उपन्यास आधुनिक साहित्य-प्रकार। कविता युग-युगांतर से विद्यमान है, और उपन्यास इस वैज्ञानिक यन्त्र-युग की उपज है। अतएव दोनों की दृष्टि में भेद और उनके प्रयुक्त उपकरणों में अन्तर आ गया है। उपन्यास और कविता का मौलिक अन्तर इसमें है कि उपन्यासकार प्रायः युग-सापेक्ष होता है और कवि प्रायः युग-निरपेक्ष। उपन्यासकार वर्तमान का विस्मरण नहीं कर सकता, कवि उसे सर्वथा

---

१. वही, "हिन्दी साहित्य कोश", पृ० १५३।

२. द्रष्टव्य, यशपाल के उपन्यास।

३. Baker, "The History of English Novel" p. 298-99.
"Prose fiction had its rise in poetry : it has reasserted its kinship to poetry. Its history is not a broken but a continuous curve."

४. Edel, "The Psychological Novel", p. 135.
"...She argued that the future of novel inevitably had to be poetic."

५. Richard Chirch, "The growth of the English Novel", p. 126.
"The novel like the poem, is after all a flower of the individual personality."

६. "Reading a Novel", p. 21-22 :"The Novel is a branch of poetry. A good novel is always the revelation of the novelists own self-discovery."

भूल कर भी भविष्य की मधुर कल्पनाओं में विचर सकता है।[1] 'जहाँ रवि नहीं पहुँचता वहाँ कवि पहुँच सकता है' किन्तु उपन्यासकार नहीं; वह यथार्थ जगत् का प्राणी है, कल्पना-लोक का निवासी नहीं। तात्पर्य यह है कि उपन्यास में यथार्थ-प्रवणता का आधिक्य है, कवि में कल्पित आदर्शों का प्रामुख्य। इसलिए उपन्यास का उदय रोमांस के प्रति यथार्थवादी प्रतिक्रिया के रूप में हुआ। यही सही है कि उपन्यासकार और कवि दोनों देशकाल से प्रभावित होते हैं। किन्तु विशेष को छोड़ यदि सामान्य सत्य की बात कही जाए तो कहा जा सकता है कि उपन्यासकार की दृष्टि क्षण-क्षण परिवर्तित देश से अधिक बँधी रहती है और कवि की दृष्टि काल-प्रवाह के नैरन्तर्य को अधिक देखती है। दूसरे शब्दों में उपन्यासकार का संदर्भ समाज और और उसका जीवन-विस्तार होता है, कवि का संदर्भ जीवन और उसकी गहराई। एक के लिए बहिर्जगत को लेकर चलना आवश्यक होता है, इसलिए कि वह वस्तु-निष्ठ है और दूसरा उसे छोड़ भी सकता है, क्योंकि वह आत्म निष्ठ है।[2] अतएव विशुद्ध उपन्यास असम्भव है, पर विशुद्ध कविता सम्भव है। तदनुकूल कथा और पात्र, उनकी घटनात्मक-संवादात्मक अभिव्यक्ति, और उनका पारिवेशिक जगत उपन्यासानुभूति के मूर्तीकरण के साधन हैं, किन्तु कवि की निरपेक्ष संकल्पात्मक अनुभूति, स्वयं में पूर्ण, केवल भावों से ही फूट पड़ने की सामर्थ्य रखती है उसके लिए न कथा आवश्यक है, न पात्र, न घटनाएँ और न संवाद। इसलिए उपन्यास कथा-साहित्य के अन्तर्गत है और कविता के लिए कथा अनिवार्य नहीं। इसके अतिरिक्त कथा और कविता के प्रभावाकर्षण में भी भेद है। कथा हमारे औत्सुक्य को जगाती और कौतूहल को बढ़ाती रहती है तथा कविता हमें रमाती, आत्मविभोर करती और अपने में लीन करती है। एक में हम 'क्या हुआ' और 'क्यों हुआ' की जिज्ञासा से निरन्तर अग्रसर होते रहने के यथार्थ जादू से बँधे रहते हैं और दूसरे में हम बार-बार उन्हीं पंक्तियों को दुहराने का रस पा सकते हैं। कथा में हमें तनिक उलझन अच्छी नहीं लगती और हम अर्थ जानकर ही आगे बढ़ते हैं किन्तु कविता में ऐसा भी हो सकता है कि बिना अर्थ जाने हम उसके शब्दों की नाद-झंकार को ही सुनते रहें, और बाद में अर्थ जानने का प्रयत्न करें। इस रमण-वृत्ति में, कविता की उपन्यास की अपेक्षा कहीं अधिक आकारगत संक्षिप्तता भी सहायक रही है। उदाहरण के लिए एक ओर प्रेमचन्द के उपन्यास लीजिए और दूसरी ओर

---

१. हजारीप्रसाद द्विवेदी, "उपन्यास और काव्य में यह मौलिक अन्तर है कि उपन्यास मौजूदा हालत को भुला कर भविष्य की कल्पना नहीं कर सकता; पर काव्य वर्तमान परिस्थिति की सम्पूर्ण उपेक्षा करके अपने आदर्श गढ़ सकता है।"
'हिन्दी उपन्यास, सिद्धांत और विवेचन', पृ० १।

२. Christopher Caudwell, "Illusion and Reality," p. 206-7.

मीरा-महादेवी के गीत । इससे उपर्युक्त सभी अन्तर स्वयमेव स्पष्ट हो जाते हैं । उपन्यास में समाज की नब्ज़ टटोल सकते हैं और कविता में कवि के हृत्स्पन्दनों को सुन सकते हैं । साहित्यमात्र की मूल प्रकृति वैयक्तिक है और उपन्यास एवं कविता की भी । किन्तु उपन्यास में "मैंने मैं शैली अपनाई" देखा दुखी एकनिज भाई" होता है और कविता में "मैं रोया तुम कहते हो गाना मैं फूट पड़ा तुम कहते छंद बनाना ।" एक अपेक्षतया वहिर्मुखी होता है दूसरा अन्तर्मुखी । एक में मुख्यतः विचार प्रधान है, दूसरे में भाव । बुद्धि गतिशील होती है और विभेदक, भाव सनातन होते हैं और सार्वभौमिक । अतएव उपन्यास अपेक्षतया सामयिक होता है, कविता अपेक्षतया शाश्वत ।[1] अतएव एक को हम अपने राग-द्वेष से बंध कर ग्रहण करते हैं दूसरे को मुक्त भाव से । इसलिए बेकर महोदय ने सही कहा है कि अंग्रेज़ी में अनूदित एक हिन्दू अथवा जापानी कविता उसी सफाई तथा उसी भाषा से अनूदित उपन्यास की अपेक्षा अधिक संतोषप्रद होती है । रवीन्द्रनाथ टैगोर का कृतित्व इस तथ्य को विवृत कर सकता है ।[2] वस्तुतः उपन्यास मुख्यतः व्याख्यात्मक विश्लेषणात्मक होता है, कविता मुख्यतः सर्जनात्मक-संश्लेषणात्मक ।[3] उपन्यास में जीवन की प्रत्यक्ष-व्याख्या आलोचना होती है कविता में परोक्ष[4]; और उपन्यास उद्देश्य प्रधान है, कविता रस-प्रधान; अतएव उपन्यासकार हमें शिक्षा अधिक देता है, कवि गति अधिक । कविता का पाठक कवि से तत्काल तादात्म्यानुभूति करता है, उपन्यास के पाठक को उपन्यासकार से मेल करने में देरी लगती है । इसका कारण यह है कि कविता हृदय का उच्छ्वसित उत्स है और उसका माध्यम है । कवि के भावभीने शब्द जो पाठकों को सीधे प्रभावित

---

१. (क) Caudwell, "Illusion and Reality, p. 208. "the technical differences of poe'ry and the novel the difference between changelessness and change, space and time."

(ख) Baker, The History of the English Novel", p. 18.
"...the kingdom of poetry is not the world but the spirit; it is not of temporal but of time less things . . ."

२. वही, पृ० २१ ।
"A Hindu or Japanese poem in English is a rule more satisfactory then a novel equally well translated from the same language. The works of Rabindra Nath Tagore may illustrate the point."

३. "The History of the English Novel", p. 18.
"Poetry is creative, the novel analytical."

४. "Poetry is only indirectly criticism of life ... The novel on the other hand is a direct interpretation."

करने की शक्ति रखते हैं; किन्तु उपन्यासकार अपनी अनुभूति को हृदयंगम कराने के लिए घटना-पात्रों के अपेक्षाकृत अवैयक्तिक संसार की रचना करता है जिसकी प्रतीति के बाद ही पाठक उपन्यासकार से तादात्म्य कर सकते हैं।[1] दोनों की प्रभावोत्पादकता में एक दूसरा अन्तर भी है। "कविता कुछ क्षणों के लिए अपने पाठकों को प्रभावित कर सकती है; क्षीणतर होते हुए भी उसका प्रभाव पाठक के मन पर कुछ दिनों तक बना रह सकता है। परन्तु उसके बाद उसके व्यापक प्रभाव में कोई गहराई नहीं होती। इसके विपरीत एक उपन्यास अपने पाठक के चेतन तथा अचेतन मन पर इतने गहरे संस्कार छोड़ जाता है, जो कि उसके मन में एक सर्वथा नवीन जीवन-दर्शन को जगह दे सकते हैं। उपन्यास के प्रभावों में अपेक्षाकृत स्थिरता रहती है।"

कविता का भावनिष्ठ स्वरूप उपन्यास की अपेक्षा उसके विषय-चयन को परिसीमित कर देता है। महादेवी ने उचित ही कहा है कि "रामायण की गीति वीणा पर गाई जा सकती है किन्तु इस दृष्टि से न तो वह गीति की सीमा में आयेगी, न गीति की कोटि में। "युग की गति-प्रगति को उसकी सम्पूर्ण सूक्ष्मता-जटिलता में उरेहित करने की जितनी क्षमता लचीले उपन्यास में है उतनी काव्य-रूढ़ियों तथा छन्द-बंधनों में अपेक्षाकृत अधिक ग्रस्त कविता में नहीं। जैसा कि रैल्फ फॉक्स ने कहा है—"उपन्यास केवल मात्र कथात्मक गद्य नहीं है, वह मानव के जीवन का गद्य है—ऐसी पहली कला है, जो सम्पूर्ण मानव को लेकर उसे अभिव्यक्ति प्रदान करने की चेष्टा करती है। ई० एम० फॉस्टर ने बताया है कि उपन्यास को अन्य कलाओं से पृथक् करने वाली महान विशेषता यह है कि उसमें गुप्त जीवन को प्रत्यक्ष करने की शक्ति है। इस प्रकार यह कला कविता से यथार्थ का एक भिन्न दृश्य प्रस्तुत करती है।"[2]

उपन्यास की गतिधर्मिता प्रसिद्ध है—कविता की अपेक्षा उपन्यास प्रगामी (progressive) विचारों को अपनाने में कहीं अधिक तत्पर रहता है।[3] इसका एक बड़ा कारण यह है कि उपन्यास की निर्बन्ध प्रकृति को आधुनिक युग की द्रुतगामिता को पकड़ने के लिए नई-नई तकनीकों का आश्रय लेने की क्षमता कहीं कम है।[4] दूसरे

१. Caudwell, "Illusion and Reaility", p. 242-3.
२. "The Novel and the People", p 62.
३. Lionel Trilling "The Observer" Sept. 29, 1957.
'.. tendency to scout or ignore "progressive" ideas is much more strongly marked in the poets than in the novelists.'
४. Allen Tate, "On the limits of Poetry", p. 129.
"There must be many techniques of fiction, but how many ?

'राइट रायल' है, साधारण स्तरीय दुखों तथा अपकृत्यों से ऊपर।[1] इसके विपरीत रेल्फ फॉक्स ने उपन्यास को 'हमारी सभ्यता की महान लोककला वह माना है।[2] कविता की व्यंजना-प्रधानता की अपेक्षा उपन्यास की अभिधात्मक प्रवृत्ति, कविता की गुरुता की अपेक्षा उपन्यास की सरलता, और साथ ही कथा की सुलभ रंजकता, तथा गद्य की लोकतन्त्री प्रयोग-क्षमता-सब ने मिलकर उसे कविता से कहीं अधिक लोकप्रिय होने में सहायता दी है।

सारांश में, उपन्यास और कविता में अन्तराधिक्य स्पष्ट है किन्तु, जैसाकि लिखा जा चुका है, उपन्यास की लचीली प्रकृति में कविता को भी आत्मसात् कर लेने की शक्ति है किन्तु कविता में उपन्यास को नहीं जैसे उपन्यास की मिश्र प्रकृति ने अन्य साहित्य-विधाओं से अपनी शक्ति का संवर्धन किया है, उसी प्रकार उसने कविता के प्रभावी उपकरणों का कुशल उपयोग किया है और इसलिए आज उपन्यास कविता के निकट आ गया है।

उपन्यास में यह काव्य-प्रभाव उपन्यास की सामान्य अभिव्यंजना[3], उपन्यास के शीर्षकों[4] एवं विभिन्न परिच्छेदों के उपशीर्षकों[5]; लेखक की आत्माभिव्यक्ति तथा पात्रों की उद्धरण-पद्धति[6], वातावरण के ऐन्द्रिय-विषय-युक्त बिम्ब-विधान;[7] पात्रों की

१. Trilling, "The Observer" Sept. 29, 1957.
"The one (Prose) is an aristocratic, the other a republican faculty. The principal of poetry is a very antilevelling principal. It aims at affect it exists by contrasts ... It is everything by excess. It rises above the ordinary standard of sufferings and crime. It presents a dazzling appearance .. Poetry is right royal."

२. "The Novel and the People", p. 61.
"It (Novel) is the great folk art of our civilization."

३. द्रष्टव्य, किशोरीलाल गोस्वामी के उपन्यास।

४. द्रष्टव्य, 'शेखर", "नदी के द्वीप।"

५. "नदी के द्वीप", 'बया का घोंसला और सांप", 'सोया हुआ जल' आदि प्रतीकात्मक शीर्षक हैं।

६. द्रष्टव्य, "बहती गंगा" की विभिन्न कहानियों के शीर्षक, या किशोरीलाल गोस्वामी के "राजकुमारी" उपन्यास के परिच्छेदों के नाम—'बालेपन की लागी लगन,' 'प्रीत की रीत निराली देखी' 'नैनन के दोऊ तारे'

७. द्रष्टव्य, "शेखर" एवं "नदी के द्वीप" "परन्तु।"

८. द्रष्टव्य, "मैला आंचल" तथा "परती : परिकथा।"

अन्तरंगी चित्रण में प्रयुक्त चेतना-प्रवाह-पद्धति; अन्तर्जीवन के सूक्ष्म यथार्थ के अंकन में प्रयुक्त प्रतिबिम्बवाद (imagism),[१] 'प्रभाववाद'[२] (impressionism) आदि पद्धतियों, कथानक की तर्कसंगति की बजाए भाव-संगति[३] के उपयोग तथा कथा को भावमय संवेदक बनाने के लिए सर्जित विशेष स्थलों में लक्षित किया जा सकता है।[४] कहीं-कहीं विशेष उद्देश्य के लिए भी काव्य-तत्व का प्राचुर्य मिलता है।[५] ऐतिहासिक वातावरण के सजीव पुनर्निर्माण में ऐतिहासिक उपन्यासकारों को काव्यमयी अभिव्यंजना अधिक सहायक रही है।[६] प्रेमचन्द-पूर्व के उपन्यासकारों ने चमत्कार चातुर्य के लिए काव्य-तत्व का उपयोग किया है।[७]

वस्तुतः उपन्यास क्या कोई भी साहित्य-विधा प्रभाव-सृष्टि तथा अपनी चिर-जीविका के लिए काव्यमय उपकरणों का आश्रय लिए बिना नहीं रह सकती। उपन्यास जनतान्त्रिक गद्य का आश्रय अवश्य लेता है किन्तु साहित्यिक प्रभविष्णुता से पूर्ण करने के लिए उसे काव्यमय प्रसाधनों का आश्रय लेना पड़ता है। वस्तुतः सारे गद्य का एक कवित्वमय पक्ष भी होता है; जैसाकि क्रोचे ने लिखा है—"गद्य के बिना कविता तो मिलती है, किन्तु कविता के बिना गद्य नहीं।"[८] उदाहरणतया, हिन्दी-उपन्यास के जितने भी शैलीकार हैं उनमें इस सचाई की परख की जा सकती। अज्ञेय के विरोधी भी उनकी शैली की प्रशंसा अवश्य करते हैं। नन्ददुलारे वाजपेयी शैली के आधार पर अज्ञेय की कृतियों के दीर्घजीवी होने की बात कहते हैं।[९] और यह बात प्राउस्ट

---

१. द्रष्टव्य, कुमारी डारोथी रिचर्डसन पर बीच महोदय की आलोचना; पृ० ३८५-८६।

२. Ibid, p. 384.
"The Twentieth Century Novel", "Lawrence, in poetry and the novel, is an impressionist because he is not concerned with dramatic shape of the thing but the living "Feel" of it."

३. द्रष्टव्य, "बहती गंगा"। इसका वस्तु-विन्यास अधिकतः भावान्विति पर आश्रित है।

४. इसकी झलक "चांदनी के खंडहर" में मिलती है।

५. द्रष्टव्य, "बया का घोंसला और सांप।"

६. द्रष्टव्य, हजारीप्रसाद द्विवेदी कृत "बाणभट्ट की आत्मकथा"।

७. द्रष्टव्य, दिव्या", "इरावती"।

८. Baker "The history of English Novel", p. 19.
"There exists poetry without prose, but not prose without poetry."

९. द्रष्टव्य. 'आलोचना' संख्या २४, पृष्ठ ५।

'राइट रायल' है, साधारण स्तरीय दुखों तथा अपकृत्यों से ऊपर।[1] इसके विपरीत रेल्फ फॉक्स ने उपन्यास को 'हमारी सभ्यता की महान लोककला वह माना है।[2] कविता की व्यंजना-प्रधानता की अपेक्षा उपन्यास की अभिधात्मक प्रवृत्ति, कविता की गुरुता की अपेक्षा उपन्यास की सरलता, और साथ ही कथा की सुलभ रंजकता, तथा गद्य की लोकतन्त्री प्रेषण-क्षमता-सब ने मिलकर उसे कविता से कहीं अधिक लोकप्रिय होने में सहायता दी है।

सारांश में, उपन्यास और कविता में अन्तराधिक्य स्पष्ट है किन्तु, जैसाकि लिखा जा चुका है, उपन्यास की लचीली प्रकृति में कविता को भी आत्मसात् कर लेने की शक्ति है किन्तु कविता में उपन्यास को नहीं जैसे उपन्यास की मिश्र प्रकृति ने अन्य साहित्य-विधाओं से अपनी शक्ति का संवधन किया है, उसी प्रकार उसने कविता के प्रभावी उपकरणों का कुशल उपयोग किया है और इसलिए आज उपन्यास कविता के निकट आ गया है।

उपन्यास में यह काव्य-प्रभाव उपन्यास की सामान्य अभिव्यंजना[3], उपन्यास के शीर्षकों[4] एवं विभिन्न परिच्छेदों के उपशीर्षकों[5]; लेखक की आत्माभिव्यक्ति तथा पात्रों की उद्धरण-पद्धति[6], वातावरण के ऐन्द्रिय-विषय-युक्त बिम्ब-विधान;[7] पात्रों की

---

१. Trilling, "The Observer" Sept. 29, 1957.
"The one (Prose) is an aristocratic, the other a republican faculty. The principal of poetry is a very antilevelling principal. It aims at affect it exists by contrasts ... It is everything by excess. It rises above the ordinary standard of sufferings and crime. It presents a dazzling appearance .. Poetry is right royal."

२. "The Novel and the People", p. 61.
"It (Novel) is the great folk art of our civilization."

३. द्रष्टव्य, किशोरीलाल गोस्वामी के उपन्यास।

४. द्रष्टव्य, 'शेखर", "नदी के द्वीप।"

५. "नदी के द्वीप", 'बया का घोंसला और सांप", 'सोया हुआ जल' आदि प्रतीकात्मक शीर्षक हैं।

६. द्रष्टव्य, "बहती गंगा" की विभिन्न कहानियों के शीर्षक, या किशोरीलाल गोस्वामी के "राजकुमारी" उपन्यास के परिच्छेदों के नाम—'बालेपन की लागी लगन,' 'प्रीत की रीत निराली देखी' 'नैनन के दोऊ तारे'

७. द्रष्टव्य, "शेखर" एवं "नदी के द्वीप" "परन्तु।"

८. द्रष्टव्य, "मैला आंचल" तथा "परती : परिकथा।"

अन्तरंगी चित्रण में प्रयुक्त चेतना-प्रवाह-पद्धति; अन्तर्जीवन के सूक्ष्म यथार्थ के अंकन में प्रयुक्त प्रतिबिम्बवाद (imagism),[१] 'प्रभाववाद'[२] (impressionism) आदि पद्धतियों, कथानक की तर्कसंगति की बजाए भाव-संगति[३] के उपयोग तथा कथा को भावमय संवेदक बनाने के लिए सर्जित विशेष स्थलों में लक्षित किया जा सकता है।[४] कहीं-कहीं विशेष उद्देश्य के लिए भी काव्य-तत्व का प्राचुर्य मिलता है।[५] ऐतिहासिक वातावरण के सजीव पुनर्निर्माण में ऐतिहासिक उपन्यासकारों को काव्यमयी अभिव्यंजना अधिक सहायक रही है।[६] प्रेमचन्द-पूर्व के उपन्यासकारों ने चमत्कार चातुर्य के लिए काव्य-तत्व का उपयोग किया है।[७]

वस्तुतः उपन्यास क्या कोई भी साहित्य-विधा प्रभाव-सृष्टि तथा अपनी चिर-जीविका के लिए काव्यमय उपकरणों का आश्रय लिए बिना नहीं रह सकती। उपन्यास जननान्त्रिक गद्य का आश्रय अवश्य लेता है किन्तु साहित्यिक प्रभविष्णुता से पूर्ण करने के लिए उसे काव्यमय प्रसाधनों का आश्रय लेना पड़ता है। वस्तुतः सारे गद्य का एक कवित्वमय पक्ष भी होता है; जैसाकि क्रोचे ने लिखा है—"गद्य के बिना कविता तो मिलती है, किन्तु कविता के बिना गद्य नहीं।"[८] उदाहरणतः हिन्दी-उपन्यास के जितने भी शैलीकार हैं उनमें इस सचाई की परख की जा सकती। अज्ञेय के विरोधी भी उनकी शैली की प्रशंसा अवश्य करते हैं। नन्ददुलारे वाजपेयी शैली के आधार पर अज्ञेय की कृतियों के दीर्घजीवी होने की बात कहते हैं।[९] और यह बात प्राउस्ट

---

१. द्रष्टव्य, कुमारी डारोथी रिचर्डसन पर बीच महोदय की आलोचना; पृ० ३८५-८६।

२. Ibid, p. 384.
"The Twentieth Century Novel", "Lawrence, in poetry and the novel, is an impressionist because he is not concerned with dramatic shape of the thing but the living "Feel" of it."

३. द्रष्टव्य, "बहती गंगा"। इसका वस्तु-विन्यास अधिकतः भावान्विति पर आश्रित है।

४. इसकी झलक "चांदनी के खंडहर" में मिलती है।

५. द्रष्टव्य, "बया का घोंसला और सांप।"

६. द्रष्टव्य, हजारीप्रसाद द्विवेदी कृत "बाणभट्ट की आत्मकथा"।

७. द्रष्टव्य, दिव्या", "इरावती"।

८. Baker "The history of English Novel", p. 19.
"There exists poetry without prose, but not prose without poetry."

९. द्रष्टव्य. 'आलोचना' संख्या २४, पृष्ठ ५।

महोदय के इस कथन का स्मरण दिलाती है कि "केवल लक्षणा ही शैली को इस प्रकार की चिरन्तनता दे सकती है ।"[1]

उपन्यास की कविता के निकट आने की विशेषताओं में पाश्चात्य उपन्यासों की चेतना-प्रवाह-पद्धति का बड़ा हाथ है । हिन्दी में चेतना-प्रवाह-पद्धति के उपन्यास नहीं लिखे गए । इस पद्धति में लेखक पात्र के मन के भीतर चलने वाले असम्बद्ध भावनाओं के निरन्तर प्रवाह को यथातथ्य रूप में उतारने का प्रयत्न करता है और पाठक लेखक की 'रिपोर्टिंग' के बिना उनका सीधा साक्षात्कार करता है । इस निरन्तर भाव-विचारों, चित्रों तथा प्रभावों में बहते मानव-मन की भ्रांति उत्पन्न करने के कठिन कार्य में लेखक को प्रतीकात्मक कवि हो जाना पड़ता है[2] क्योंकि साधारण भाषा से काम चल ही नहीं सकता । उपन्यासकार को जीवन का पुनर्निर्माण करना होता है, प्रलेखीय उपस्थापन (documentation) नहीं;[3] उसे प्रभाव देना होता है, अवबोध नहीं । यही कारण है कि औपन्यासिक प्रणयन में उसके लिए काव्य-तत्त्व का विनियोग आवश्यक हो जाता है ।

आज की 'नई कविता' भी अपने ढंग से उपन्यास की यथार्थवादिता को विशेष आग्रह से अपनाने का लक्ष्य रखती है । एक तो 'इस नई कविता का विश्वास आधुनिकता में है; दूसरे···वह क्षण के दायित्व और नितांत समसामयिकता के दायित्व को स्वीकार करती है । आधुनिकता का अर्थ विकृतियों से न होकर उस वैज्ञानिक दृष्टिकोण के समर्थन में है, जो विवेचना और विवेक के बल पर हमें प्रत्येक वस्तु के प्रति एक मानवीय दृष्टि, यथार्थ की दृष्टि देती है ।'[4]

इस तरह आज कविता और उपन्यास के सजातित्व की व्यवस्था अपनी अखंडता का प्रमाण प्रस्तुत कर रही है । फिर भी यह उल्लेखनीय है कि एक दूसरे के उपकरणों के उपभोग से उनका विशेष पक्षों में घानिष्ट्य स्पष्ट होता है और पूर्व-चर्चित अन्तर से इस घनिष्ठता की सीमाएँ; और इन सीमाओं के सुरक्षात्व में ही दोनों की अस्तित्व-रक्षा का प्रश्न सम्बद्ध है । इसलिए कहा गया है कि जब कोई

---

१. Edel, "The Psychological Novel", p. 126.
"Mataphor alone can give a sort of eternity to style,"

२. Ibid, p. 125.
"The writer attempting to create the illusion of a mind flowing with thought and image and impressions turns to the symbolists poet."

३. Ibid, p. 123.

४. "हिन्दी साहित्य कोश", पृ० ३६६ ।

कविता लिख रहा हो तो उपन्यासकार की बजाए कवि होना वांछित है और जब कोई उपन्यास लिख रहा हो तो कवि की बजाए उपन्यासकार होना वांछित है।[७]

उपन्यास और नाटक

नाटक अति प्राचीन काव्य-विधा है और उपन्यास एक आधुनिक साहित्य-रूप। फिर भी, अपने उद्भव में उपन्यास जैसे महाकाव्य, रोमांस आदि की प्रविधि से प्रभावित हुआ है, वैसे ही नाटकों से भी।[१] कुछ विद्वान अन्य साहित्य विधाओं की अपेक्षा उपन्यास पर नाटक के प्रारम्भिक प्रभाव को अधिक महत्त्व देते हैं; जैसे लिडेल महोदय के अनुसार (अंग्रेजी की दृष्टि से) 'नाटक का इतिहास, उपन्यास का पूर्वेतिहास है।[२] हिन्दी के पहले उपन्यासकार श्रीनिवासदास ने उपन्यास तो केवल एक ही लिखा किन्तु नाटक तीन लिखे थे---मूलतः वह नाटककार थे—अतएव उनके उपन्यास 'परीक्षा-गुरु' पर नाट्य-कला का विशेष प्रभाव है। डॉ० श्रीकृष्णलाल ने हिन्दी के कुछ अन्य उपन्यासों के आधार पर लिखा है—'नाटकों के रूप में उपन्यास रचना आधुनिक हिन्दी साहित्य का एक नया और अद्भुत आविष्कार था और इससे उपन्यास के विकास में बहुत सहायता मिली।[३] 'नाटकीय उपन्यास' (dramatic novel) नाम से उपन्यासों का एक भेद भी मिलता है। वैसे भी नाट्य-कला उपन्यास को आज तक प्रभावित करती आ रही है, अतएव इस विषय में हमें बहुत-कुछ कहना होगा।

प्रकटतः उपन्यास और नाटक दोनों बहुत-कुछ समान उपकरणों का उपयोग करते हैं- कथानक, पात्र, कथोपकथन, वातावरण आदि तत्त्व दोनों में समान हैं—किन्तु पृथक्-पृथक् स्थितियों में कार्य करने के कारण इन तत्त्वों की विनियोग-विधि में भिन्नता आ जाती है और इन दोनों में बड़ा अन्तर। यह अन्तर मूलतः इस बात को लेकर है कि नाटक दृश्य-काव्य है और उपन्यास पाठ्य-काव्य। यद्यपि पाठ्य-नाटक भी लिखे गए हैं—और रङ्गमंचीय नाटक भी पठन-सुलभ हैं- तथापि इनका वास्तविक आनंद रङ्गमंच पर अभिनीत होने में ही है। इस दृष्टि से उपन्यास स्वयं में पूर्ण कला है; किन्तु नाटक अपूर्ण कला—उपन्यास की परिधि में वह सब सामग्री

---

७. Liddell, "A Treatise on the Novel", p. 24.

१. Mendilow, "Time and the Novel", p. 53.
"...the writers of the earlier romances and novels took over much of the techniques of the epic and the drama."

२. "A Treastise of the Novel", p. 17.

३. "आधुनिक हिन्दी साहित्य का विकास", पृ० २७८-७९ ।

रहती है जिसे लेखक अपनी रचना की अवधारणा एवं अभिनन्दन के लिए आवश्यक समझता है किन्तु उपन्यास के समान ही मात्र मुद्रित नाटक को अपने को पूर्ण अवधारणीय एवं स्मरणीय बनाने के लिए बाह्य उपकरणों, व्यवस्थित रङ्गमंच तथा कुशल अभिनेताओं—के सहयोग की अपेक्षा रहती है। उपन्यास का रङ्गमंच उसी के भीतर है—क्राफोर्ड के शब्दों में वह जेबी रङ्गालय (pocket theatre) है—किन्तु नाटक में उन वर्णनों-विवरणों का अभाव रहता है, जिनके बल पर उपन्यासकार रचनागत दृश्यों को मूर्त कर लेता है। तात्पर्य यह कि नाटक विषयगत (objective) साहित्य रूप है, उपन्यास विषयीगत। एक में लेखक अज्ञेय रहता है, दूसरे में विज्ञेय। यदि नाटककार अपनी रचना में आ भी सकता है तो पात्रों के माध्यम से परोक्ष रूप में ही आ सकता है, उपन्यासकार के समान प्रत्यक्ष रूप में नहीं। इसके अतिरिक्त नाटककार स्थान-समय की रङ्गमंचीय निषेध-सीमाओं से बद्ध है। रङ्गमंचीय आवश्यकताओं तथा दर्शकों की ग्राहक-क्षमता के अनुकूल उसकी रचना का आकार परिमित तथा दृश्य चयनित रहते हैं। इससे नाटक की कला घनता एवं चुस्ती की सिद्धि करती है। उपन्यास की आकार एवं चयन-सीमा पर कोई स्थूल प्रतिबन्ध नहीं है क्योंकि उपन्यास का क्षेत्र बड़ा विस्तृत है। ऐसा होते हुए भी उपन्यास नाटक की सुसम्बद्ध एवं मितव्ययी प्रकृति से अनर्गल सामग्री के लोचन की कला सीख सकता है।[४] और उस संक्षेपण एवं संघनन से प्रभाव को बढ़ा सकता है। यदि नाटक के प्राच्य-पाश्चात्य प्राचीन लक्षणों—संकलन त्रय, नायक-प्रतिनायक पद्धति, 'स्थान वृत्त' आदि को दृष्टि में रखा जाए तो उसके रूढ़ि-बन्धन और भी बढ़ जाते हैं। वस्तुतः नाटक साहित्य का अतिशय आबद्ध रूप है और उपन्यास निर्बन्धतम है। उपन्यास ने कभी किसी काल में भी संख्या तथा प्रबलता में इतनी रूढ़ियों का उपयोग नहीं किया है, जितनी नाटक ने अपेक्षाकृत अपने रूपहीन युगों में भी, आलोचकों को प्रस्तुत की है। उपन्यास में स्यात उतनी ही अधिक प्रविधियां सम्भव है जितनी ही उसकी रूढ़ियां न्यून हैं।[१] वस्तुतः उपन्यास नाटक से अधिक यथार्थवादी तथा गति-धर्मा है। अतएव समय के परिवर्तन के साथ परिवर्तित यथार्थ को पकड़ने के लिए उपन्यास

---

१. Angus Wilson. "One learns a great dead about what can be omitted, even from a novel because the play is such a compact form." —"Writers at work" p. 237

२. Allen Tate. "On the limits of poetry", p. 31
"The novel has no time enjoyed anything like the number and the intensity of objective conventions which the drama even in its comparatively formless periods, has offered to the critic. The number of techniques possible in the novel are probably as many as its conventions are few"

ने जितनी पद्धतियों का आरहण किया है उतनी नाटक क्या, किसी भी साहित्यांग ने नहीं। इससे एक और अन्तर सामने आता है। नाटक स्वयंपूर्णता की वदयता में मिश्रित कलारूप है—संगीत, चित्र, नृत्य, स्थापत्य आदि सभी कलाओं का सहयोग उसे प्राप्त है—तो उपन्यास स्वयंपूर्ण होते हुए भी अपने गतिधर्मत्व के निर्वाह में मिश्र काव्य-रूप हो उठता है—वह नाटक, कहानी, पत्र, संस्मरण, रेखाचित्र, रिपोतार्ज, निबन्ध आदि का आवश्यकतानुकूल उपयोग कर लेता है। 'अश्क' के 'गिरती दीवारें' उपन्यास में तो 'अनारकली' नाटक का पर्याप्त अंश भी आ गया है और कुछ लिखित अभिनय भी हुआ है।

नाटककार के प्रतिबन्ध तथा उपन्यासकार की स्वच्छंदता इनके दर्शकों को निश्चित समय और निश्चित स्थान पर जाने की मजबूरी है और उपन्यास को पढ़ने के लिए पाठकों को पूरी मन-मरज़ी। दर्शकों की इस मजबूरी का लिहाज़ नाटककार को रखना पड़ता है। इसका तात्पर्य यह नहीं कि दर्शक उसे अधिप्रेरित (dictate) करते रहते हैं और वह उनके आज्ञापन (dictation) से बंधा रहता है किन्तु यह भी सत्य है कि दृश्यकाव्य अपने अस्तित्व ही में दर्शकों को भी अन्तर्भूत किए हैं; अतएव एक अज्ञात चेतना से चाहे-अनचाहे, बाध्य होकर वह सीमित समय में अपने नाटक को औत्सुक्यपूर्ण तथा रमणीय बनाने पर दृष्टि अवश्य रखता है, अन्यथा वह कृतकार्य नहीं हो सकता। अतएव उसकी प्रकृति चयनात्मक तथा मितव्ययी होती है। इस प्रदान में वह आदान का भी आकांक्षी रहता है—कम से कम गम्भीर नाटककार को शिक्षित-विकसित सुरुचिसम्पन्न दर्शकों के सहयोग की अपेक्षा रहती है, जैसे कि प्रसाद जी ने अपने नाटकों के लिए की थी। दूसरी ओर रूढ़ि-बन्धनों से अपेक्षाकृत मुक्त उपन्यासकार भी पाठकों के रन्जन की अपेक्षा प्रायः नहीं कर सकता। इसलिए उसे कुछ कहानी भी कहनी पड़ती हैं और उसमें स्पष्टता का ध्यान भी रखना पड़ता है। मनोवैज्ञानिक विशेषज्ञों के समान अन्तर्मन के रहस्यों को खोलने वाले नूतन-प्रयोगी उपन्यासकारों को पाठकों पर दृष्टि रखने का दायित्व और भी बढ़ जाता है क्योंकि उनके ये सिद्धांत समुचित व्याख्या-विवेचन के अभाव में प्रायः समझदार पाठकों के लिए भी दुरूह हो जाते हैं। उनको मितव्ययिता महंगी पड़ती है। इसलिए हाफमैन ने ऐसे लेखकों के लिए व्याख्या-निवृत्ति या टीका-टिप्पणियां अपरिहार्य बताई हैं।[1] मानो पाठकों पर दृष्टि रखने का इंगित किया है। दूसरी ओर उपन्यासकार भी

१. "Freuadianism and the Literary Mind", p. 132,
"It may be that interpretation and comment are indespensable accompanists of experimental writing, atleast until the means of such interpretations becomes a part of the reader's own mental equipment."

पाठकों से नाटक के दर्शकों के समान प्रत्यक्ष सुपरिचिति तो नहीं किन्तु सहकारिता अवश्य चाहता है— एक विपुल पाठक समाज जो उपन्यास की प्रचलित रूढ़ियों से मेल बिठा सके।[1] यही नहीं जोसेफ फ्रैंक की तरह वह उपन्यासों के पुनः पठन की मांग भी कर सकता है।[2] सारांश में नाटककार-उपन्यासकार तथा दर्शक-पाठक दोनों के मध्य सहकारिता का नाता होता है चाहे वह अपने-अपने ढंग से प्रत्यक्ष तथा परोक्षता का अन्तर लिए हुए है।

उपन्यासकार जीवन की विविधता-व्यापकता तथा जटिलता का जैसा निर्वाह कर सकता है, व्याख्या-विवरण आदि के बल पर जैसे जीवन रहस्यों को खोल सकता और दार्शनिकता आदि का समावेश कर सकता है वैसा नाटक के लिए सम्भव नहीं। इस रूप में सही है कि उपन्यास दार्शनिक रचना है और उद्देश्य-प्रधान है। इसके विपरीत, शास्त्रीय लक्षणों के अनुसार, नाटक रस-प्रधान है। यह रस न भी दे सके तब भी उसकी शिल्प-विधि रस-निष्पत्ति के अधिक अनुकूल है। इसका कारण यह है कि उपन्यास जीवन का सीधा प्रभाव दे सकता है, जीवन का प्रत्यक्ष प्रतिरूप नहीं; जो नाटक की रंगशाला ही देती है।[3] दूसरे, विषयाधिक्य या व्यापक मांसलता उसे बाधा भी पहुंचाती है। अतएव नाटक अपनी संयत कलात्मकता, प्रभावना तथा जीवंतता से जितनी कलात्मकता का आह्वान कर सकता है उतना उपन्यास नहीं। तीसरे, नाटक स्थान-समय-कार्य के एकत्व या इस संकलनत्रय की शर्त का पालन कर, तथा विषय-संकोचन, एकाग्रता तथा 'पंच-संधि समन्वितम्' के सिद्धांत के अधूरे या पूरे पालन से विषय का जैसा सुविन्यस्त, संगठित, तथा सघन शिल्प दे सकता है

१. Neill, "A Short History of English Novel". p. 7.
"A novel, admittedly obeys few laws but it must be a story written to be read in silence, the silent communioun of author and reader. It demands the existence of large reading public attuned to its contemporary conventions."

२. Edel, "The Psychological Novel" p, 72.
...he observed that a stream of conciousness novel cannot be "read" in the usual sense—it can only be re-read.

३. Allen Tate, "On the Limits of Poetry", p. 144.
'James said that the work of fiction must be a "direct impression of life", a very general requirement;—not direct representation" which only the stage can give us.'

४. E. M. Forster, "Aspects of the Novel", p. 210.
" . . the novel is not capable of as much artistic development as the drama : its humanity or the grossness of its material (use whatever phrase you like) hinder it."

वैसा उपन्यास नहीं । उपन्यास में वर्णन चित्रण कथा-गति-रोधक होकर उसकी तीव्रता में बाधक हो सकते हैं किन्तु नाटक में उनका अभाव कथानक के गति-वेग की शक्ति बन जाता है । प्राचीन शास्त्रीय लक्षणों के अनुसार नाटक की कथा अधूरी भी नहीं छोड़ी जाती और नायक की फल-प्राप्ति से उचित रसास्वादन के लिए पूरी की जाती है । किन्तु उपन्यास का आलोचक वस्तुसंगठन को रंगमंचीय सीमाओं की उपज मानता तथा उसमें नाटकीय कथा की कृत्रिमता को लक्षित कर उसे औपन्यासिक जीवन के व्यापक तथा स्वाभाविक चित्रण के ठीक-ठीक विपरीत पाता है । फॉस्टर महोदय के शब्दों में वह मांग कर सकता है कि क्या उपन्यास किसी ऐसे ढांचे का निर्माण नहीं कर सकता, जो नाटक की तरह सुदृढ़ न होते हुए भी उपन्यासकार की स्वाभाविक प्रतिभा का प्रादुर्भाव हो ? उपन्यास का कथानक सुन्दर और प्रोद्दीपक हो सकता है किन्तु वह जादूगरों तथा नाटक की स्थान-विषयक सीमाओं की उपज नहीं होता ।'[1] 'पनोरमिक' या जीवन का व्यापक चित्रण करने वाले उपन्यासों में अपेक्षाकृत शिथिल वस्तु-विन्यास ही उनके स्वाभाविक-यथार्थ सौन्दर्य तथा शक्ति-संवर्धन का कारण बन जाता है । जीवन के अन्तरंगी तथा बहिरंगी चित्रण की बारीकियां, उपन्यासकार को नाटक की अपेक्षा शिथिल विन्यस्त किन्तु अधिक स्वाभाविक कथानक की योजना के लिए प्रेरित करती रही हैं । फॉस्टर महोदय ने जीवन की स्वाभाविकता की दृष्टि से कथानक की पूर्णता भी आवश्यक नहीं मानी, किन्तु वह अपूर्णता भी कलात्मक प्रभाव छोड़ सकती है—लटका हुआ अन्त भी कलाकार की असमर्थता नहीं, कुशलता को प्रकट कर सकता है; जैसाकि 'बिल्लेसुर बकरिहा' की भूमिका में निराला जी का अपने उपन्यास के सम्बन्ध में मत है । वास्तव में कथा का स्वाभाविक प्रवाह वर्णन-विवरण की अनिवार्य मांग करता है क्योंकि इसी से कथानक के गतिशील प्रवाह का अटूट क्रम पूरा हो सकता है । नाटक में तो केवल आनुक्रमिक पृथक्-पृथक् दृश्य ही रहते हैं। उसकी कथा-पद्धति एकांत दृश्यात्मक होती है—उपन्यास की मुख्यतः वर्णनात्मक । इसलिए उपन्यास विशेष रूप से जैसे कथासाहित्य का अंग है, वैसे नाटक नहीं, जिसमें कथा होते हुए भी काव्य-प्रधान है ।[2] और इसी से एक रोचकता देता है, दूसरा रस ।

१. Ibid, p. 130.

२. डा० सत्येन्द्र, 'समीक्षा के सिद्धांत', पृ० १८८ ।

'यों तो नाटकों में कथानक होता है, जिससे नाटक भी कथा साहित्य के अन्तर्गत आ सकते हैं, पर नाटकों में कथा वस्तु का तो आधार-पात्र होता है, मुख्य वस्तु तो मनुष्य चरित्र है'''नाटक में ऐसे मनुष्य-चरित्रों की आन्तरिक मनोभिव्यक्ति का काव्य ही प्रधान होता है ।...''काव्य-भाव'' की अपेक्षा ''कथा-भाव'' बल पकड़ने लगता है, तब उपन्यास तथा कहानी जन्म ग्रहण करते हैं ।'

नाटक में वर्णनों के एकांत अभाव से केवल संलाप से ही सारे कार्य-सम्पन्न होते हैं—नाटक का सारा शरीर इसी से निर्मित है अतएव भारतीय आचार्यों को वस्तु-नेता-रस के साथ इसके पृथक् उल्लेख की आवश्यकता नहीं हुई। इसके विपरीत उपन्यास में जीवन की वास्तविकता, नाटकीय वर्तमानता की आवृत्ति तथा नाटकीय-चरित्र-व्यंजना के लिए वर्णन-विवरण आदि के साथ इसका आनुपातिक समावेश होता है। यदि किसी उपन्यास में इस तत्व की मात्रा बहुत अधिक बढ़ जाती है या वह मात्रा कथोपकथनात्मक हो जाता है तो वह नाटक हो जाएगा।[१] अतएव वार्तालाप दोनों की पार्थक्य-सीमा को अंकित करने वाला बहुत-कुछ निर्णायक तत्व भी है। नाटक की कथा वर्तमान में चलती है, उपन्यास की कथा भूतकाल में। नाटक की मात्र वार्तालापात्मक प्रकृति इस वर्तमान कला का अनिवार्य अंग है। सामाजिक भी नाटकीय वर्तमानता की मनोभूमि में रम कर सब-कुछ का सीधा-जीवंत साक्षात्कार करता रहता है—पात्रों से सामाजिकों की सायुज्य-स्थापना की यह सुलभ भूमि है। किन्तु उपन्यास की भूतकालीन कला से एक तो पाठक वैसे ही पात्रों से दूर हो जाता है; दूसरे नाटक के दर्शक के समान, बिना किसी अन्तर्वर्ती (intervening), माध्यस्थ्य (mediation) के वह अपनी बोधेन्द्रियों से विषय का सीधा साक्षात्कार नहीं कर सकता। उपन्यास पूर्णतया भाषा के उस प्रतीकात्मक माध्यम पर आश्रित है, जो दृष्टिगोचर करने वाले पाठक (perceiver) तथा प्रतीकीकृत इन्द्रियग्राह्य विषय (symbolised percept) के मध्य आ खड़ा होता है।[२] इसलिए उपन्यास में ऐसी प्रविधियों का उपयोग करना पड़ता है जिससे नाटकीय वर्तमानता (dramatic presence)[३] की सिद्धि की जाती है और पाठक औपन्यासिक भूत (fictional past) के कल्पित वर्तमान (fictive present) में पहुँच जाता है। इससे पाठक को पढ़ते समय बातें हो गई नहीं, होती हुई दीखने लगती है। इस परिणाम को निकालने के लिए उपन्यासकारों को अपनी घटनाओं को ऐसे व्यतिक्रमित करना, तथा उनके प्रवेग (tempo) को ऐसे घटाना-बढ़ाना पड़ता है कि वह पाठकों में स्थगनानुभूति (feeling of suspense)[३] उत्पन्न कर देता है। इसी के लिए वह काल-विपर्यय, स्मृतत्यवलोकन एवं चेतना-प्रवाह-पद्धति आदि अनेक कालिक

१. Mendilow, "Time and the Novel", p. 112.
"Novel can hardly be wholly or even mainly in dialogue without losing much of its flexibility. Such a novel would so in fact approximate so closely to a play as to lose its character as a novel."
२. Mendilow, "Time and the Novel", p. 236.
३. Beach, "The Twentieth Century-Novel", p. 156-62.

कौशलों (temporal devices) का आश्रय लेता है।[1] इनसे पाठक का पात्रों के मानस से सीधा सम्बन्ध हो जाता है और लेखक की रिपोर्ट्स की आवश्यकता नहीं पड़ती। इसके अतिरिक्त उपन्यासकार भी नाटककार की तरह दृश्य-विधान शैली (scene-style)[2] का उपयोग करता है, जिससे पाठकों को नाटकों के दर्शकों की तरह पात्रों-घटनाओं का प्रत्यक्षीकरण-सा होने लगता है। इसके लिए वह सार्थकतम प्रसंगों या विभेदित अवसरों (discriminated occasions) का उपयोग कर गौण प्रसंगों का संक्षिप्त विवरण (summary) ही देता चलता है। बीच महोदय के अनुसार नाटकीय वर्तमानता के लिए ही उपन्यासकार सीमित अभिरुचि-केन्द्र, सीमित दृष्टिकोण, सीमित स्थान, सीमित समय आदि के आधार पर अपने उपन्यासों का विधान करता है।[3]

नाटककार को तटस्थता बहुत-कुछ स्वयं प्राप्त होती है किन्तु उपन्यासकार के लिए यह प्रयत्न-साध्य है। आज के मनोवैज्ञानिक उपन्यासकार ने नाटकीय तटस्थता की सिद्धि के लिए विशेष प्रयत्न किया है और स्मृत्यवलोकन, एवं चेतना-प्रवाह पद्धतियों में पाठकों और पात्रों का परस्पर सीधा सम्बन्ध जोड़कर वह औपन्यासिक रंगमंच से नाटककार की तरह अदृश्य हो जाता है।[3] यों भी कलात्मकता के लिए तटस्थता अपेक्षित है[4] और आज के महान उपन्यासकारों ने इसे चरितार्थ किया है। उपर्युक्त सभी प्रविधियों का समाहार 'शेखर : एक जीवनी' में विशेष कला पटुता से हुआ है। आधुनिक नाटककार उपन्यासकार के वर्णन-विवरणों का समावेश दीर्घ रंगमंचीय संकेतों द्वारा करता है।

चरित्र-चित्रण की दृष्टि से, नाटकों में सीमित समयानुकूल सीमित संख्या में ही पात्रों का विधान अपेक्षित होता है—पात्रों की भरमार अच्छी नहीं मानी जाती। इसके विपरीत उपन्यासों में प्रधान पात्रों की जीवन-गति के क्रमिक विकास या आँचलिक उपन्यासों में समूह-मानव के चित्रांकन के लिए बहुसंख्य तथा बहुविध्य पात्रों को स्वाभाविक रूप में स्थान मिल जाता है।

---

१. Mendilow : "Time and the Novel", p. 236-37.

२. Liddell : "Some principles of Fiction", p. 67.
"Scene is the part of the novel in which the novelist makes things happen under the readers eyes. Summary is that part of a novel in which the novelist says things are happening, or that they have happened."

३. "The Twentieth Century Novel", p. 156-62.

४. Edel : "The Psychological Novel", p. 138.
"In the Psychological novel the author is no where in sight."

५. द्रष्टव्य, अज्ञेय का "शेखर : एक जीवनी" की भूमिका।

नाटक में उपन्यास की अपेक्षा पात्र अधिक सजीव रूप में आ सकता है किन्तु उसकी सीमाएं और भी स्पष्ट हैं। नार्मन कालिन के मतानुसार नाटककार के समक्ष जो जीवन क्षेत्र प्रकाशित होता है वह पुराने ढंग की छोटी दूरबीन से देखे गए जीवन से अधिक नहीं होता। वह पूर्ण आत्म-विश्वास से अपने पात्रों के सम्बन्ध में सारी स्थूल जानकारी दे सकता है। किन्तु यथार्थ में उपन्यास यह प्रदर्शित करने की क्षमता रखता है कि मनुष्य क्या-क्या है।[1] वस्तुतः नाटककार पात्रों के बाह्याकार को जैसे मूर्तिमान कर सकता है, वैसे अन्तर्मन को नहीं, जो उपन्यास का क्षेत्र है और जब हम मन का साक्षात्कार कर लेते हैं, मानव के गुप्त रहस्यों को जान लेते हैं तब उसके बहिरंग की स्थूलता तो विकर्षित करने वाली ही सिद्ध हो सकती है।[2] यह आवश्यक नहीं कि मनुष्य की सुख-दुखात्मक अनुभूतियां बाह्य क्रियाओं में व्यक्त हों, अधिकतः ये हमारे गुप्त और निजी जीवन का अंग होती है। ये गुप्त बातें गुप्त ही होती हैं, और उनका पात्रों की बाह्य क्रियाओं से प्रमाण नहीं मिलता। अतएव वह नाटककार की पकड़ से बाहर रह जाती है;[3] नाटककार पात्रों की स्वगतोक्तियों से उनके मनोमंथन को चित्रित करता है। वह हैमलेट को शेक्सपीयर की तरह केवल ६६ पंक्तियों में ही स्वगत भाषण की स्थिति में नहीं, अपनी इच्छा से उसे एक पूरे परिच्छेद या दो-तीन परिच्छेदों या सारे उपन्यास तक में वैसे ही रख सकता है। नाटक में तो इससे अस्वाभाविकता आ जाती है किन्तु उपन्यास में विशिष्टता। इसके अतिरिक्त उपन्यास का विषय प्रायः अपने आप में ही, पात्रों के चरित्र का उत्तरोत्तर विवरन (gradual formation) होता है या विशिष्ट वियोजन (disintegration); चरित्रांकन की यह क्रमिक प्रक्रिया नाटककार के वश की बात नहीं। इसलिए उसे पात्रों के चरित्र-परिवर्तन में महत्वपूर्ण निर्णायक घटनाओं पर अधिकार करना पड़ता है या आकस्मिक चमत्कारों पर।[4]

नाटक का देशकाल रंग-संकेतों या रंगमंचीय व्यवस्था से व्यंजित होता है, उपन्यास में यह वर्णित होता है या पात्रों-प्रसंगों से व्यंजित। दूसरे, नाटक में यह रंगशाला के अनुकूल सीमित ही हो सकता है, उपन्यास में लेखक की इच्छानुसार इसमें विस्तार की गुंजायश रहती है। तीसरे, इसी रंगशाला की वश्यता के कारण नाटक का देश वैसा परिवर्तित नहीं हो सकता जैसा कि उपन्यास का। स्वाभाविकता की दृष्टि से नाटककार अधिक लम्बे काल की घटनाएं भी न ले सकता।

१. Norman Collin, "The Facts of Fiction", p 158-59.
२ Ibid, p. 158
"Indeed when it (fiction) comes to understanding the mind, it is mere distriction to see the body"
३. E.M Forster, "The Aspects of the Novel", p. 113-14.
४. Liddell, "Some Principles of Fiction", p. 58.

नाटक की भाषा में भाव और अर्थ का अभेद उतना अनिवार्य नहीं जितना उपन्यास में। भाव तक पहुंचने के लिए वहां अन्य-काम की सुविधा है। अभिनय के माध्यम से नाटक का भाव अतिरिक्त बल से पूर्ण होता है अतएव यह सम्भाव्य है कि अभिनय के अभाव में मात्र भाषा से नाटक के मूल भाव का प्रत्यक्षीकरण न भी हो, परन्तु उपन्यास में भाषा केवल अर्थ देकर सार्थक नहीं हो सकती। भाव को भी उसे युगपत् निश्चित तथा जागृत करना अभीष्ट है।[1]

सारांश में नाटक और उपन्यास की शिल्पविधि की अपनी-अपनी सीमाएं हैं किन्तु उपन्यास की लोचपूर्णता नाटकीय विशेषताओं को आत्मसात करने में जैसे समर्थ हो जाती है वैसे नाटक के लिए यह सम्भव नहीं। आधुनिक उपन्यास-कला नाटक में परिपूर्ण प्रवेश पा चुकी है और ऐसे उपन्यास भी लिखे जाने लगे हैं जिसके सम्बन्ध में यह वाद-विवाद प्रचलित है कि वह रूपक है या रूपकात्मक उपन्यास।[2] यों नाटकीय उपन्यासों का भेद तो पूर्व-प्रचलित है।

उपन्यास और कहानी

उपन्यास और कहानी दोनों कथा-साहित्य के अंग हैं और दोनों गद्य की विधाएं भी। इन दोनों में कथानक, पात्र, कथोपकथन, देशकाल, शैली और उद्देश्य की तात्त्विक समानता है। इतना ही नहीं आधुनिक रूप में दोनों की धारा का मूल स्रोत भी समान रूप से पश्चिम को ही बताया गया है[3] और दोनों "आधुनिक युग की उपज" माने गए हैं।[4] दोनों यथार्थ-प्रवण गतिधर्मा हैं। उनमें समय की गति-प्रगति के अनुकूल रूपान्तरण की अपूर्व क्षमता है। आज की द्रुतगामी वास्तविकता की अंकन-वश्यता ने दोनों को नई साहित्य-विधाओं को आत्मसात् करते जाने की लचीली प्रकृति भी दे दी है। उपन्यास की तरह कहानी ने भी पत्र, रेखाचित्र रिपोर्ताज, आदि साहित्य-रूपों का उपयोग किया है।[5] परन्तु उपन्यास का उदर कहानी से कहीं विशाल है, उसकी पाचन-शक्ति इतनी प्रबल है कि स्वयं कहानी भी उसमें समा जाती है।

१. द्रष्टव्य, जैनेन्द्र का "साहित्य का श्रेय और प्रेय", पृ० १५६।

२. द्रष्टव्य, सर्वेश्वरदयाल सक्सेना का "सोया हुआ जल"।

३. प्रेमचन्द : "कुछ विचार", पृ० ३४। "हमें यह स्वीकार कर लेने में संकोच न होना चाहिए कि उपन्यासों ही की तरह आख्यायिका की कला भी हमने पच्छिम से ली है, — कम से कम इसका आज का विकसित रूप तो पच्छिम का ही है।"

४. हजारीप्रसाद द्विवेदी : "कहानी और उपन्यास", 'हिन्दी उपन्यास : सिद्धांत और विवेचन', पृ० ४४।'

यद्यपि उपन्यास के रूप में कहानी-लेखन असम्भव है किन्तु कहानियों के रूप में उपन्यास लिखे गए हैं; जैसे, शिवप्रसाद मिश्र 'रूद्र' का 'बहती गंगा' और धर्मवीर भारती का 'सूरज का सातवां घोड़ा'। इनकी विशेषता इसमें भी है कि विभिन्न कहानियाँ लगभग अपने में पूर्ण भी हैं और सब मिलकर उपन्यास भी —इन दोनों में उपन्यास के विभिन्न परिच्छेद ही मानों एक-एक कहानी हैं। हमारा यह तात्पर्य नहीं कि उपन्यास के विभिन्न परिच्छेद लघु-लघु कहानियाँ होते हैं— अधिकांश उपन्यासों में यह बात नहीं — परन्तु दोनों की तुलना आज जिन नई दिशाओं की ओर बढ़ सकती है, विशेषतया उपन्यास की लचीली प्रकृति जिन नई सीमाओं का निर्माण कर रही है, उन्हीं की ओर इंगित करना हमारा लक्ष्य है।

उपन्यास और कहानी का सतही अन्तर आकार-सीमा को लेकर है। पहला विशेषणों से मुक्त है तो दूसरा लघु (short) विशेषण से युक्त। कहानी को एक बैठक में या सीमित समय में पढ़े जाने या सीमित शब्दों में लिखे जाने की विशेताओं के आधार पर उसे परिभाषित करने तथा उपन्यास से उसके अन्तर को स्थिर करने के प्रयत्न-हुए हैं किन्तु आज लम्बी कहानी और लघु-उपन्यास में न समय की दृष्टि से और न आकार की दृष्टि से ही कोई अन्तर रह गया है। सर्वेश्वरदयाल सक्सेना ने अपने उपन्यास को 'सम्पूर्ण लघु-उपन्यास' कहा—वह केवल पचास छोटे पृष्ठों का उपन्यास है, मानों लघु-लघु कहानी की तरह लघु-लघु उपन्यास—और पाठकों को शैल्पिक नव्यता से झकझोरने के लिए ही पहले 'पठन-समय' दे दिया है— एक घण्टा दस मिनट। यह उपन्यास तो अधुनातन है, परन्तु सन् १९३७ में प्रकाशित ८० पृष्ठों के 'त्यागपत्र' को लेकर नन्ददुलारे वाजपेयी ने लिखा था कि यह प्रश्न हो सकता है कि वह उपन्यास है या कहानी।[३] 'त्याग-पत्र' में इस प्रश्न की ओर ध्यान इसीलिए जाता है क्योंकि उसमें आकार की अतनुता ही नहीं, पात्र वातावरण की स्वल्पता भी है। फिर भी, वह उपन्यास है क्योंकि उसमें मृणाल नामक पात्र की सम्पूर्ण जीवनी तथा उद्देश्य की सम्पन्नता है।

वंस्तुतः आज के संघर्ष-संकुल युग में बहुधंधी-निरवकाशी मानव अल्प समय में

---

१. द्रष्टव्य, डॉ० लक्ष्मीनारायण लाल-कृत "हिन्दी कहानियों की शिल्पविधि का उद्भव और विकास", पृ० २८८, २९४।

२. "हिन्दी साहित्य कोश", पृ० २१३। "कहानी का आकार २५०० शब्दों से १०००० शब्दों तक हो सकता है। २५०० से कम शब्दों की कहानी छोटी या कहानी या लघु कथा (short-short storey) तथा १०००० से अधिक शब्दों की बड़ी कहानी (long short story) कही जाएगी।

३. "आधुनिक साहित्य", पृ० १६४।

अधिक से अधिक उपयोगी मनोरंजन कर लेना चाहता है, इसीलिए कहानी अपनी आकारगत लघिमा में उपन्यास से भी अधिक लोकप्रिय हो गई है और उपन्यासों में भी लघु-उपन्यासों का प्राचुर्य होता जा रहा है। परन्तु बड़े उपन्यासों की तो बात ही नहीं, लघु-उपन्यास भी कहानी नहीं कहे जा सकते। इसका कारण यह है कि दोनों का वास्तविक अन्तर महज़ छोटे-बड़े आकार का नहीं, कहानी या उपन्यास के चिंतन और परिकल्पना का है जिसके कारण दोनों की रचना-पद्धति में अन्तर आ जाता है। दोनों की रचना-प्रक्रिया के अन्तर को भी लक्षित किया गया है। विभिन्न कहानीकारों से उनकी रचना-प्रक्रिया सम्बन्धी प्रश्नों के उत्तर में जो निष्कर्ष निकले हैं उनके आधार पर कहा जा सकता है कि प्रायः कहानी-रचना की चार मंज़िलें स्पष्ट हैं। पहले कहानी के बीच मिलने की अवस्था आती है, फिर अल्पाधिक मनन-चिंतन की अवधि रहती है, तत्पश्चात त्वरित लिखित प्रथम प्रारूप (draft) की, और अन्ततः धीमे पुनः पठन से इसके संशोधन की; जो शब्दों के हेर-फेर तक सीमित भी रह सकता है और अनेक प्रारूप लिखने तक भी बढ़ सकता है। इस तरह कहानीकार के लिए अल्पाधिक रूप में सब कुछ उसके अपने समीचीन क्रम में होने की सम्भावना रहती है, किन्तु उपन्यासकार के लिए विकास की ये स्थितियां प्रायः उलझी हुई होती हैं। उपन्यास में प्रत्येक नए प्रासंगिक वृत्त के लिए चिंतन-मनन की पुनरावृत्ति करनी पड़ सकती है। एक परिच्छेद का दोहराव-सुधार दूसरे परिच्छेद के प्रथम प्रारूप का पुनः सरण कर सकता है।[1] वस्तुतः उपन्यासकारों की क्रम-व्यवस्था एक साहसिक अभियान की अन्वेषणा के अधिष्ठाताओं की सी होती है। उन्हें यह पता होता है कि इस अभियान में उनके कौन-कौन से साथी हैं (और उनके बारे में वे और अधिक जानकारी प्राप्त करते रहते हैं), उन्हें पता होता है कि आगे किस दिन या सप्ताह में उन्हें कौन से प्रदेश को पार करना है; उन्हें अभियान के सामान्य उद्देश्य का ज्ञान होता है---किस पहाड़ तक पहुंचने का वे प्रयत्न कर रहे हैं और किस नदी के स्रोत की खोज उन्हें अभीष्ट है। परन्तु उन्हें यह पता नहीं होता कि उनका निश्चित मार्ग क्या होगा, या मार्ग में उन्हें किन संकटों-जोखिमों का सामना करना पड़ेगा, या सीमा तक पहुँचने में उनके साथी कैसे कार्य करेंगे। उन्हें यह भी पता नहीं होता कि उनका उद्दिष्ट क्षेत्र किसी बाहरी देश में है या स्वयं उनके भीतर ही विद्यमान है। और जैसाकि सिमेनन का मत है उपन्यासकार पात्रों और अपने सम्पूर्ण लेखन के द्वारा आत्मन्वेषणा के कार्य में प्रयत्नशील रहता है। कहानीकार अपने खोज के अभियानों से लौट कर अपनी उपलब्धियों के प्रयोजन पर चिंतन-मनन कर सकते हैं, और पाठकों के लिए अपनी कहानियों को अन्तिम रूप दे सकते हैं।

---

१. Malcolm Cowley ; "Writers at Work", p. 10-15.

सारांश में कहानी सम्प्रकाशन (exposition) है और उपन्यास प्रायः —शायद अपने सर्वोत्कृष्ट रूप में—उपन्यासकार के मन की अज्ञात गहराइयों का अन्वेषण परीक्षण (inquisition) है।[1]

अपने मूल रूप में कहानीकार को समाहार-सीमा की ओर उपन्यासकार को स्वच्छन्दता की चेतना बनी रहती है। संक्षिप्तता कहानी का वैशिष्ट्य है अतएव कहानीकार की मूलसंवेदना या मनोदशा उपन्यासकार से भिन्न होकर एक पृथक रूप-विधान की सर्जना करती है। कहानी को थोड़े में बहुत देना है अतएव उसका चित्र-फलक सीमित होता है, उपन्यास इस दृष्टि से निर्बन्ध है अतएव उसकी परिधि अपरिमित होती है—साहित्य की सभी विधाओं से विस्तृत।[2] कहानीकार जीवनांश या जीवन की झांकी से अधिकाधिक जीवन के ध्वनन का लक्ष्य रखता है, उपन्यासकार को जीवन के वैविध्य-विस्तार के अभिव्यंजन की सुविधा रहती है। कहानी और उपन्यास में 'एक' और 'अनेक' का अन्तर है; कहानी में एक घटना, मानव-चरित्र का एक पक्ष, तथा अभिरूचि केन्द्र, एक उद्देश्य तथा एक भाव का एकान्वित प्रभाव-विस्तार रहता है—एकध्येयता तथा प्रभावान्विति उसके प्राण तत्व हैं— किन्तु उपन्यास में इन सबको बहुविधता है।[3] कलात्मक प्रभाव के लिए एकता उपन्यास में भी वांछित है परन्तु वह अनेकता के भीतर से आती है, इसलिए वह समृद्ध सम्पन्नता बन जाती है जो कहानी में सम्भव नहीं। कहानी की वस्तु सरल-एकांगी है - अवांतर कथाओं से रहित एक ही मुख्य कथानक से युक्त—परन्तु उपन्यास की वस्तु जटिल एवं सर्वांगी है—अनेक प्रसंगिक या अन्तर्कथाओं से परिपुष्ट कथानक से सम्पन्न। हुमायूं कबीर के अनुसार "कहानी जहां द्वि-आयामी होती है वहां उपन्यास त्रिआयामी, कहानी में

---

१. Malcolm Cowley : "Writers at work", p. 17.
"The short story is an exposition; the novel is often and perhaps at its best an equisition into the unknown depths of the novelist's mind."

२. (a) Henry James : "Henry Jame's Selected Literary Criticism", p. 182.
"The novel is of all pictures the most comprehensive and the most elastic."
(b) J. B. Priestley : "The English Novel", p. 5.
"It (Novel) is a large mirror of life, and has far greater range then any other from of literature."

३. प्रेमचन्द : "कुछ विचार," पृ० २८। "उपन्यास घटनाओं, पात्रों और चरित्रों का समूह है; आख्यायिका केवल एक घटना है—अन्य बातें सब उसी घटना के अन्तर्गत होती है।"

एक परिस्थिति को लिया जाता है, उपन्यास एक तरह की विभिन्न परिस्थितियों का सिलसिला है ।[१] कहानी में पात्र गिने-चुने तथा प्रायः प्रमुख ही होते हैं, किन्तु उपन्यास में जीवन का भरा-पूरा चित्र प्रस्तुत करने के लिए पात्राधिक्य तथा प्रमुख-गौण-पूरक सभी प्रकार के पात्र रहते हैं । मानव-जीवन की बहुविध प्रेरणाओं तथा अन्तर्बाह्य परिस्थितियों के नानात्व के भीतर से पात्रों के क्रमिक विकास-प्रदर्शन की गुंजायश कहानी में नहीं होती । वहां पात्रों का एक ही घटना की चोट से चरित्र-परिवर्तन हो जाता है और उसका एक पक्षी चरित्र ही सामने आता है । प्रायः पूर्वयोजित-से पात्रों का सजीव चरित्रोद्घाटन होता है, विकास नहीं । इसके विपरीत उपन्यास में मानव के क्रमबद्ध तथा परिपूर्ण चरित्र-विकास तथा विश्लेषण का वैशिष्ट्य है । प्रेमचन्द की यह परिभाषा इसी ओर इंगित करती है—"मैं उपन्यास को मानव चरित्र का चित्र मात्र समझता हूं । मानव चरित्र पर प्रकाश डालना और उसके रहस्य को खोलना ही उपन्यास का मूल तत्व है ।[४] कहानी में व्याख्या-विश्लेषण का स्थान गौण है[२]—वह संश्लेषणात्मक है, उपन्यास विश्लेषणात्मक अतएव पात्रों की प्रदीप्त झांकी का वहां प्रामुख्य रहता है ।

प्रायः नाटकीय आकस्मिकता की झकझोर से पात्रों का चरित्र-परिवर्तन हो जाता है । इसलिए डॉ० श्यामसुन्दर दास ने कहानी को नाटकीय आख्यान कहा है ।[३] डॉ० जगन्नाथप्रसाद शर्मा ने भी केवल प्रभावान्विति के आधार पर कहानी और नाटक को एक ही वर्ग का माना है ।[४] वस्तुतः तात्विक दृष्टि से कहानी उपन्यास के समशील है किन्तु तत्वों के उपयोग तथा विनियोग की दृष्टि से नाटक के निकट । जैसे नाटक को समय का बंधन होता है, वैसे ही कहानी को भी । इसलिए इसमें नाटकीय मितव्ययिता (Dramatic economy) का पूरा ध्यान रखा जाता है । यहाँ कोई पात्र कोई वर्णन और कोई भी गतिलेश व्यर्थ नहीं होता । एकध्येयोन्मुख कहानी को तीर की तरह अपने लक्ष्य तक बढ़ना होता है—इधर-उधर डोलने की कहानी-कार को गुंजायश नहीं होती । इसलिए कहानी की कथा में उपन्यास की अपेक्षा

१. चन्द्रगुप्त विद्यालंकार-कृत "हिन्दी कथा साहित्य में पंजाब का अनुदान," पृ० ६ से उद्धृत ।
४. "कुछ विचार", पृ० ४७
३. वही, पृ० ३७ "चरित्र-प्रधान कहानी का पद ऊंचा समझा जाता है, मगर कहानी में बहुत विस्तृत विश्लेषण की गुंजायश नहीं होती ।"
४. "साहित्यालोचन," पृ० १७८ "आख्यायिका एक निश्चित लक्ष्य या प्रभाव को लेकर नाटकीय आख्यान है ।"
५. "कहानी का रचना-विधान", पृ० २३

अधिक गति-त्वरा होती है लघु आकार में अधिकाधिक कहने की आवश्यकतावश कहानी में लाघव की कला अपेक्षित है इसलिए उसकी प्रकृति उपन्यास की अपेक्षा अधिक चयनात्मक है जो नाटक के अनुकूल है। इसके अतिरिक्त कहानी अपने वर्णन-विवरण को सांकेतिकता से पूर्ण करती है। वह उपन्यास की अपेक्षा अधिक व्यंजना-पूर्ण है।[1] कहानी का अन्त प्रायः व्यंजनापूर्ण होता है। यही अवस्था जीवन के सातत्य की दृष्टि देने के चित्रण में हैं। उपन्यासकार सन्तत जीवन (Continuing life) के बोध करता है कि सर्जना करता है और कहानीकार के लिए यह मुख्य समस्या रही अतएव वह इसकी केवल व्यंजना। सारांश में कहानी की कला समास प्रधान है उपन्यास की कला व्यासप्रधान।

ओ'कोनोर ने बहुविध परिस्थितियों के ज्ञान की दृष्टि से भी दोनों में अन्तर माना है। उन्होंने उपन्यास के लिए कहानी से कही अधिक तर्क-संगति एवं परिस्थितियों के ज्ञान की आवश्यकता बताई है क्योंकि कहानी में परिस्थितियों से गीतिकाव्य की सी तटस्थता का निर्वाह किया जा सकता है।[2]

उपन्यास कहानी की अपेक्षा अधिक दार्शनिक होता है। विश्व के सभी महान उपन्यासकारों ने विपुल विचार दिए हैं और अपने युग की समस्याओं के समाधान भी दिए हैं। इसलिए यह प्रसिद्ध है कि उपन्यास से जिज्ञासा शांत होती है और कहानी से बढ़ती है—कहानी की व्यंजना-कला की सिद्धि इसी में है। वस्तुतः जैसाकि डॉ० जगन्नाथप्रसाद शर्मा का मत है--- उपन्यासकार अपने पाठक से किसी प्रकार की आकांक्षा-याचना नही करता। जो कुछ ज्ञातव्य है उसे स्वयं इस प्रकार उपस्थित कर देता है कि पाठक को अपनी ओर से कल्पना और अनुमान करने को कुछ बचता ही नहीं; इसके ठीक विरुद्ध कहानीकार अपनी ओर से तो देने को देता कम है पर पाठक से प्राप्त करना चाहता है, बहुत अधिक। वह थोड़ी दूर पाठकों के साथ दौड़कर चलता है, और दौड़ की गति के तीव्रतम होते ही अपने स्वयं रुक जाता है और पाठक दौड़ता असीम तक चला जाता है। उपन्यास में पाठक का ध्यान पीछे की ओर

---

१. जैनेन्द्रकुमार : "साहित्य का श्रेय और प्रेय", पृ० ३९८।
"कहानी जो कहती है, व्यंग्य से ही कहती है, सीधे रूप तो वह कहती ही नहीं।"

2. Frank O' Connor : "creating in the novel or sense of continuing life is a thing. We don't have the problem in the short story, where you merely suggest continuing life."
—"writers at work", p. 149.

जाता है, वह पीछे मुड़कर देख लेता है कि कहाँ क्या-क्या और कैसा देखा जा चुका है और वह समझ लेता है कि उसके सामने सम्पूर्ण ज्ञातव्य स्पष्ट है। वह जो कुछ चाहता था सब पा गया है। उसके मस्तिष्क में सब कुछ उपस्थित रहता है। कहानीकार के साथ स्थिति भिन्न होती है, वह अपने पाठक की बुद्धि को कहानी के भीतर से उछाल देता है—स्वच्छन्द खुले मैदान में। वह कथा को यथार्थ वस्तुभूमि में से उचकाकर उसे अनुमान की हवा में छोड़ देता है। इस प्रकार भी कहानी और उपन्यास में तात्विक अन्तर है।[1] डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने रूढ़ियों को तोड़ने के लिए अपनाए गए व्यंग्य के अस्त्र की दृष्टि से भी दोनों में अन्तर स्पष्ट किया है। उनके अनुसार "यद्यपि रूढ़ियों पर चोट करने में वह (कहानीकार) पीछे नहीं रहता, पर अधिक भड़कीले रंग में वक्तव्य को रंगने की न तो उसे फ़ुरसत है और न बहुत उत्साह।[2] स्पष्ट ही उपन्यास में इसकी कहीं अधिक गुंजायश है और आलोचनात्मक सामाजिक उपन्यासों में व्यंगास्त्र का भरपूर उपयोग हुआ है। यह कहानी की अपेक्षा उपन्यास की अधिक उद्देश्य-मुखरता का अंग है।

आज के बहुव्यस्त मानव की माँग के अनुकूल सभी कलारूप अल्पकाय होते होते जा रहे हैं और उपन्यासों में भी ऐसे लघु-उपन्यासों का प्रचलन बढ़ गया है जिन्होंने कहानी-कला की समास-प्रधान हार्द का अपने अनुकूल सदुपयोग किया है। यही नहीं, उपन्यास के लोचपूर्ण रूप की यह विशेषता है कि उसने अपनी औपन्यासिकता को स्थिर रखते हुए लगभग अपने में पूर्ण कहानियों को भी आत्मसात् कर लिया है—और ऐसा बड़े उपन्यासों ने ही नहीं लघु उपन्यासों ने भी किया है।[4]

---

१. डॉ० जगन्नाथ प्रसाद शर्मा : "कहानी का रचना-विधान", पृ० २१।

२. "कहानी और उपन्यास", "हिन्दी उपन्यास : सिद्धांत और विवेचन", पृ० ४५।

३. द्रष्टव्य, धर्मवीर भारती का "सूरज का सातवां घोड़ा" तथा शिवप्रसाद मिश्र "रुद्र" का "बहती गंगा"।

४. Frank O' Connor : "A novel actually requires far more logic and far more knowledge of circumstances, whereas a short story can have the sort of detachment from circumstances that lyrical poetry has."—"writers at work", p. 148.

उपन्यास तथा कथा-आख्यायिका

हिन्दी उपन्यास के उद्भव की खोज का प्रश्न विद्वानों को उपन्यास और आख्यायिका-कथाओं की तुलना की ओर प्रेरित करता रहा है। इस प्रेरणा में यह कारण-तथ्य भी बड़ा प्रबल है कि संस्कृत की मुख्य कथा 'कादम्बरी' मराठी में उपन्यास की पर्याय है। हिन्दी के प्रारम्भिक उपन्यासकार किशोरीलाल गोस्वामी ने भी लिखा था—'उपन्यास भी प्राचीन काल से भारतवर्ष में प्रचलित है। और दशकुमार चरित्र, वासवत्ता, श्री हर्षचरित्र, कादम्बरी आदि उपन्यास इसकी प्राचीनता में जाज्वल्यमान प्रमाण है।[1]

गोस्वामी जी द्वारा उल्लिखित कृतियों में दशकुमार चरित्र गद्य-पद्यात्मक नीति-कथा माना जाता है तथा शेष तीनों ग्रंथ गद्य-काव्य माने जाते हैं। नीतिकथाओं में हम 'हितोपदेश', 'पंचतन्त्र', 'कथासरित्सागर' वृहत् कथा मंजरी शुकसप्तति आदि को भी ध्यान में रख सकते हैं। गद्यकाव्यों में बाण का हर्षचरित शास्त्रीय अर्थ में आख्यायिका है और उसी की कादम्बरी कथा। अमरकोश के अनुसार जिसका विषय ज्ञात या सत्य हो वह आख्यायिका (आख्यायिकोपलब्धार्था) तथा जिसका विषय काल्पनिक हो, सत्य जिसमें अल्प ही हो, वह कथा (प्रबन्धकल्पना कथा) है।[2] 'साहित्यदर्पण' आदि परवर्ती साहित्य-शास्त्रों में प्राप्त होने वाले लक्षण इन्हीं दोनों काव्यों की रचना-शैली को दृष्टि में रखकर दिए गए है। साहित्यदर्पण में आख्यायिका का लक्षण इस प्रकार किया गया है 'आख्यायिका कथावत स्यात् कवेंर्वंशादिकीर्तनम्। अस्यामन्यकवीनाँच वृत्तं पद्यं क्वचित्॥ कथांशानां व्यवच्छेद आश्वास इति बध्यते। आर्यावक्त्रापवक्त्राणां छन्दसा येन केनचित्॥ अन्यापदेशनाश्वासमुखे भाव्यर्थसूचनम्।" कथा का लक्षण इस प्रकार किया गया है—"कथायां सरसं वस्तु गद्यैरेव विनिर्मितम्। क्वचिदत्र भवेदार्या क्वचिद् वक्त्रायवक्त्रके। आदौ पद्यैर्नमस्कारः खलादेर्वृत्तकीर्तनम्।" परन्तु पूर्ववर्ती आचार्य दण्डी ने इन दोनों को एक हीं माना है, केवल नामतः भिन्न बताया है...। इतना ही नहीं, 'हर्षचरित' तथा 'कादम्बरी' जैसे गद्य काव्य तथा 'पंच-तन्त्र' 'हितोपदेश' इत्यादि गद्य-पद्यात्मक कहानियों के संग्रहों में भी काव्यादर्शकार कोई भेद करते नहीं जान पड़ते।[3] तात्पर्य यह कि स्थूल रूप में हम सामूहिक रूप से भी इनके उपन्यास से अन्तर को देख सकते हैं; वैसे हम पृथक्-पृथक् दृष्टि भी रखेंगे।

---

१. 'प्रणयिनी परिणय' का उपोद्घात, पृ० १।

२. द्रष्टव्य, "हिन्दी साहित्य कोश", पृष्ठ ८७-८८।

३. वही, पृष्ठ ८८।

उपन्यास और 'कथा'—'आख्यायिकाओं' का पहला अन्तर काव्यात्मक वातावरण को लेकर है। उपन्यास के गद्य के विपरीत वे गद्य-काव्य हैं। गद्य के लिए संस्कृत में एक उक्ति है : गद्यं कवीनां निकषं वदन्ति अर्थात् गद्य भाषा कवियों के कवित्व की कसौटी है।[१] इस उक्ति को लक्ष्य में रखने के कारण "परिणाम यह हुआ कि आत्मश्लाघा एवं काव्य-कौशल के लिए कवियों ने ऐसे गद्य का निर्माण किया जो समासबहुल, अतिदुरूह और पाण्डित्य-प्रदर्शन से भरपूर था। हम देखते हैं कि एक छोटी सी कथा को, विभिन्न प्रसंगों में उलझा कर, इतना जटिल बना दिया गया कि मुख्य कथा को समझना ही दुष्कर हो गया।[२] इससे आगे बढ़कर डॉ० डे ने तो इन गद्य-काव्यकारों की निरर्थक अलंकृत तथा अनवरत विलम्बित वाक्यों से बनी अभिनव्ययी शैली की जटिलता के करण वर्णनात्मक-कथात्मक प्रवृत्ति में आ गई आकर्षण-शून्यता पर और भी बल दिया है[३]—मानों उन्हें आश्चर्य होता है कि अनुकूल गुणों से शून्य होकर भी ये 'कथा' या 'नैरिटिव' के नाम से अभिहित होती हैं।[४] डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी के अनुसार "हिन्दी में ब्रजनंदनसहाय के उपन्यास तथा श्री हृदयेश की कहानियाँ उसी (कादम्बरी) रीति पर अर्थात् शब्दों में झंकार देकर गद्यकाव्य बनाने का उद्देश्य लेकर लिखी गयी थीं, पर शीघ्र ही सर्वत्र (हिन्दी-इतर प्रांतीय भाषा के उपन्यासों में भी) यह भ्रम टूट गया। झंकार कविता का प्राण हो सकता है पर यह उपन्यास का प्राण नहीं हो सकता। वह शुद्ध गद्य-युग की उपज है और उसकी प्रकृति में गद्य का सहज स्वभाविक प्रभाव है।"[५] संस्कृत की गद्य-पद्यात्मक नीतिकथाओं की यह स्थिति नहीं—वहां बीच-बीच में ही पद्य आए हैं—किन्तु उनमें भी यत्किंचित् शब्दाडम्बर पूर्ण तत्त्व विद्यमान हैं; जो किन्हीं कथाओं में, पद्यों की बहुमात्रा के साथ आकर गद्य-कथा के विकास को बड़ी बाधा पहुंचाने वाले बन गए हैं।[६]

---

१. वाचस्पति गैरोला : "संस्कृत साहित्य का इतिहास" पृ० ६२६।

२. वाचस्पति गैरोला, "संस्कृत साहित्य का इतिहास" पृ० ६२८।

३. Dr. Sushil Kumar De : "History of Sanskrit Literature", p. 419. ...the simple ends of story are sacrificed to anormous complexities of extravagent diction."
"It is...impossibly mannered in expression and deliberatly devoid of all interest in pure narrative."

४. Ibid p. 419 "...entirely lacking in narrative quality yet went by the name of Katha or narrative."

५. "उपन्यास" : "हिन्दी उपन्यास सिद्धांत और विवेचन" (सम्पदक—महेन्द्र—मक्खनलाल शर्मा), पृष्ठ १।

६. Dr. A. A. Macdonell : "A History of Sanskrit Literature", p. 374
"The setentious element in here (in Hitopdaesh) much more

इस तरह तत्कालीन गद्यकाव्यकारों तथा कुछ कथाकारों का काव्याकर्षण किंवा काव्य-मोह—उपन्यास की कथात्मक प्रकृति के विपरीत सिद्ध होता है। डॉ० डे ने संस्कृत गद्यकाव्य को रोमांतिक कहा है जिसमें परम्परागत काव्योपकरण ही थे, किसी नई रीति का प्रवर्तन नहीं था[१]—क्योंकि कोई नया दृष्टिकोण भी नहीं था। इसलिए उन गद्यकाव्यों की कथाओं के अशक्त ताने बाने-रंगबिरंगे चमत्कार-पूर्ण दृश्यों, अतिप्राकृतिक घटनाओं तथा अद्भुत-असंगत साहसिक कार्यों में बने गए हैं[२] और यह यथार्थवादी उपन्यास के विपरीत है। सारतः कादम्बरी आदि काव्य रोमांस हो सकते हैं, उपन्यास नहीं। जैसाकि डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने लिखा है—"मौलिक अन्तर जो कथा-आख्यायिका जातीय साहित्य से नवीन साहित्यांग का है वह है आदर्शगत। यंत्र युग की विशेष देन वैयक्तिक स्वाधीनता उपन्यास का आदर्श है। और काव्य-काल का पूर्वनिर्धारित और परम्परासमर्पित सदाचार कथा-आख्यायिका का आदर्श है। उपन्यास में दुनिया जैसी है वैसी चित्रित करने का प्रयास रहता है। कुछ थोड़े से ऐतिहासिक और जासूसी आदि श्रेणी के उपन्यास समाज की वर्तमान अवस्था से दूर हट सकते हैं; परन्तु वे भी इतिहास और जासूसी की वर्तमान पहुंच की सहायता पर से ही कल्पना को दौड़ाते हैं। कथा और आख्यायिका में कवि कल्पना के बल पर अपनी वास्तविक दुनिया से भिन्न एकदम नयी दुनिया बना सकता है।'[३] इसलिए अन्यत्र उनका निष्कर्ष है कि उपन्यास और कहानी का साहित्य विशुद्ध आधुनिक युग की उपज है और संस्कृत में लिखे गए कथा, आख्यायिका और चम्पू श्रेणी के काव्य के साथ इसका दूर का सम्बन्ध होते हुए भी उनसे भिन्न है।'[४] यह मत उन अनेक प्रेमाख्यानों—'मृगावती', 'मधुमालती', 'लक्ष्मणसेन पद्मावती' आदि—के सम्बन्ध में दिया जा सकता है जो बहुत-कुछ रोमानी प्रकृति के मनोरंजक तत्वों से निर्मित काव्य हैं और उनमें एवं उपन्यासों में केवल पद्य-गद्य का ही अन्तर नहीं, दृष्टिकोण-शिल्प का अन्तर भी है।

काव्यात्मक कथाओं के पुराने रोमानी तथा अपेक्षाकृत कृत्रिम वातावरण की अपेक्षा 'पंचतन्त्र', 'कथासरितसागर,' 'सिंहासन द्वात्रिंशिका', 'शुक सप्तति', 'बैताल-पंचविंशतिका' आदि नीति कथाओं में लोक-परम्परा (fock tradition) तथा सामा-

---

prominent than in Panchtantra, and the number of verses introduced in often so great as to seriously impede the progress of prose narrative."

१. "History of Sanskrit Literature", p 429.

२. Ibid. p. 430.

३. "हिन्दी उपन्यास : सिद्धांत और विवेचन", पृ० १।

४. वही, पृ० ४४।

न्यानुभूतियों की नूतनता, सरलता तथा अकृत्रिमता अधिक है।[1] यह अपेक्षतया उपन्यास की हार्द के अनुकूल है। इनमें मानवीय कुप्रवृत्तियों का उद्घाटन करने वाले हास्य-व्यंग्य के तत्व भी है; जैसे, पंचतन्त्र में ब्राह्मणों के दम्भ, मिथ्याभिमान तथा लोलुपता, नारियों के विश्वासघात, तथा दरबारियों के उपजापक चारित्र्य का उद्घाटन किया गया है। जीवन के प्रति एक स्वस्थ संतुलित दृष्टिकोण यहाँ व्याप्त है।[2] यह अवश्य है कि इन विभिन्न कहानी-ग्रन्थों में से अनेक में पशु-पक्षी कहानियां कहते हैं और किन्हीं में जड़ पात्र भी हैं। पुराण और जादू (myth and magic) भी यहां है। इनमें अनेक के कथा-शिल्प की एक विशिष्टता इसमें है कि एक ही कथा के भीतर से अनेक पृथक्-पृथक् कहानियां निकलती रहती हैं।[3] इनकी लोककथा पद्धति में अपना सौन्दर्य है। इस दृष्टि से डॉ० डे ने "वैताल पंचविंशति' के लोक-कथा की परिपूर्ण हार्द में सन्निबंधन का विशेषोल्लेख किया है।[4] आधुनिक हिन्दी उपन्यासकार शिल्प के नए-नए साधनों की खोज में पश्चिम ही नहीं गया, उसने संस्कृत की इस नीति-संपादक वाली लोक-कथात्मक परम्परा का भी कुशल रूपांतर किया है। इस शैली की प्रतीकात्मक आत्मीयता अनूठी है। लोक कथात्मक शैली का उपयोग करने वाले उपन्यासों में 'सूरज का सातवां घोड़ा,' 'काठ का उल्लू और कबूतर', 'बहती गंगा' आदि का नाम लिया जा सकता है।

उपन्यास और संगीत

उपन्यास की नई-नई पद्धतियों के विकास में, उसकी प्रभाव-समानता का संधान करते हुए, आधुनिक उपन्यासकार ने संगीत में उसके निकटतम सादृश्य को

---

१. Dr. De : "History of Sanskrit Literature", p. 419-20.

२. Macdonell : "A History of Sanskrit Literature", p 372

३. Macdonell : "A History of Sanskrit Literature", p. 368.

४. Dr. De : "History of Sanskrit Literature", p 422.
"There can be no doubt, however that the Vetala Panchvimsati is one of the most interesting collection of shrwed and well-toled tales in Sanskrit. The frame story, in which the twenty five inset tales are emboxed, is simply and cleverly concieved quite in the sprit of the folk-tale."

खोज निकाला है।[१] आन्द्रेज़ीद,[२] फास्टर, आल्डस हक्सले,[३] अलबर्तो मोरावियो[४] आदि ने उपन्यास के संगीतीकरण पर बल दिया है—बोधेन्द्रिय या अनुभूति को ध्वनि के आधीन करके नहीं, व्यापक धरातल पर संगीतात्मक अनुबन्धों को अपना कर। यद्यपि संगीत पात्रों एवं उनकी घटनाओं[५] का उपयोग नहीं करता, सुस्पष्ट विवरणयुक्त तात्पर्य को दे नहीं सकता[६] और वह गहन-जटिल नियमों से शासित विशुद्ध कलारूप है—और इस दृष्टि से उपन्यास की स्वच्छन्द एवं मिश्र[७] प्रकृति के विपरीत है—फिर भी, उसके सौन्दर्यात्मक प्रभाव के साधनभूत स्वरात्मक सामंजस्य के विविध अनुबन्धों को उपन्यास अपनी विधि से स्वायत्त करने का प्रयास करता है।

उपन्यास और संगीत की सदृशता का मूलाधार इसमें निहित है कि दोनों काल-कला (time art) हैं, मूर्ति-चित्र आदि के समान स्थान-कलाएं (space arts) नहीं। लैसिंग महोदय ने अपने 'लौकून' में कलाओं को दो वर्गों में बांटा था—एक, जो स्थान के सहास्तित्व पर आवृत हैं और दूसरी जो समय के क्रमानुगत सातत्य पर।

---

१. E. M. Forster : Aspects of the Novel", Chapter vii, p 212.
"... in music fiction is likely to find its nearest parallel."

२. Andre Gide Les Fause Monnayeurs (1925), part II, chapter III, transl Dorothy Bussy, 1952 (Quoted from 'Novelists on the Novels', p 240.)
"What I should like to do in something like the art of fague writing. And I can't see why what was possible in music should be impossible in literature"

३. Alduous Huxley : "Point Counter Point" p. 408.
"The musicalization of fiction"

४ Alberto Moravia : "I view the novel, a single novel as well as a writers entire corpus, as a musical composition in which the charecters are themes, from variation to variation completing an entire parabola of similarly for the themes themselves"
—"Writers at Work" p 201.

५ Joyce Cary : "Art and Reality", p 149.
"Music, sculpture .. are not concerned with events.

६. (क) Alex Comfort : "The Novel and Our Time", p. 80.
"Our from (Novel) has many of the characters of symphonic music with the added property of explicit meaning .."
(ख) Joyce Cary : "Art and Reality", p. 121
"Symphony . has uo factual or conceptual meanings".

७. John Wain : "Essays on Literature and Ideas", p 50.
"There is no such thing as 'pure' novel form as there in 'pure' ... musical form."

इनमें से उपन्यास, मूर्ति तथा चित्र-कला के समान नहीं जो मुख्यत: एकदम हमारे सामने आकर अपने पूर्ण अस्तित्व से हमारे मानस पर प्रभाव अंकित करती हैं, वह उस संगीत के सदृश्य है जिसकी स्वरलहरियां लय-ताल के स्वर-सामंजस्य में बंधी, एक के बाद एक, समय के साथ प्रवाहमय क्रम से विकसित होती हुई अपनी कम्पन या गूँज से हमें प्रभावित करती है।[१] उपन्यास के कथा-पात्र तथा आशय भी समन्वित क्रम से निरन्तर धीरे-धीरे खुलते, विकसते तथा पूर्णता को प्राप्त होते हैं। तात्पर्य यह है कि उपन्यास और संगीत दोनों अपने खुलने-फैलने में समय के क्रम पर निर्भर करते हैं। रूप और माध्यम की दृष्टि से उपन्यास संगीत के समान समय के निम्न तीन सामान्य सिद्धान्त के आधीन है – सातत्य (consecutiveness), अस्थायित्व (transience) तथा अपरिवर्त्तन (irreversibility)। सिम्फनी या उपन्यासों के आरम्भ, मध्य और अन्त अवश्य होते हैं; उनकी इकाइयां (units)—चाहे वे शब्दों या घटना-व्यापारों की हों या मूर्छना-स्वरों की···अवश्य किसी विशेष अनुक्रम से शृंखलित-घटित होती हैं; तथा उन्हें पीछे की ओर नहीं, सदैव आगे की ओर ही पढ़ा या खेला जा सकता है। फिर भी, उपन्यास संगीत से इस अर्थ में भिन्न है कि वह वर्णन या चित्रण सम्बन्धी (representational) काल-कला है।[२] उपन्यास में ध्वनि प्रतीक (sound symbols) या शब्द किसी बाह्य यथार्थ के द्योतक घटना-पात्रों का निरूपण करते हैं और संगीत में ध्वनि-प्रतीक किन्हीं वस्तुओं का निर्देश नहीं करते क्योंकि वे स्वयं संवेदना का विषय होते हैं।[३]

उपन्यासकार को चरित्रों की पर्याप्तता तथा समानान्तर कथानकों—मिलकर बजते हुए स्वरों, या गमक की स्वर-संगति की तरह गूंजने वाले कथानकों···की आवश्यकता होती है।[४] उपन्यासकार स्वर-सामंजस्य के उतार-चढ़ावों, वादी-संक्रमणों तथा मूर्च्छनाओं की सिद्धि स्थितियों, पात्रों, भावनाओं शब्दावली, आदि की पुनरावृत्ति करके करता है। इस तरह यह पुनरावृत्ति के द्वारा सम्पूर्णता की, व्याप्ति की,

---

१ Liddell : "Some Principles of Fiction", p. 57
"A novel is not, like a statue or a picture or a building or a short lyric poem, all there at once—it is an experience that unfolds in time, like a play or a musical composition."

२. Vide A A. Mendilow's : "Time and Ths Novel", p, 236.

३, Caudwell, "Illusion and Reality", p. 243.
"In music the sounds do not refer to objects. They themselves are the objects of sense."

४. Huxley : "Point Counter Point" (1928), p. 408.
"All you need is sufficiency of characters and parallel, contrapuntal plots."

सिद्धि है। वह अनेक विसदृश पात्रों से एक ही समस्या को विभिन्न विधियों से सुलझाता दिखाता है या विपरीतत: सदृश पात्रों को असमान समस्याओं का सामना कराता है।[१] वह मानों संगीत के स्वर-संक्रमों के नानात्व से अपने विषय को घनीभूत सम्पन्नता से उभारता है। ई० एम० फॉस्टर को उपन्यासांत में भी 'सिम्फनिक' प्रभावों की सिद्धि अभीष्ट है। जिस तरह 'सिम्फनी' की समाप्ति पर भी उसकी स्वरलहरियों के स्वतन्त्र प्रसार से जनित अनुगूंज की अनुभूति होती रहती है, वैसे ही उन्हें ऐसा उपन्यासांत अभीष्ट है जो समाप्ति की नहीं, खुलकर प्रसरण की अनुभूति दे। उन्होंने तोल्स्तोय के 'वार एण्ड पीस' में इसी की अनुभूति की है।[२] अन्यत्र उन्होंने प्रूस्त के उपन्यासों में लयात्मक (rhytmic) अनुबन्धों का संधान किया है। दिमित्रोव की कहानी की चर्चा के प्रसंग में रेल्फ फॉक्स ने भी उपन्यास के अन्त में सिम्फनी की प्रभविष्णुता की आंकाक्षा की है··· 'अपने इस "वातावरण" को उपन्यासकार को ऐसी परिपूर्ण कुशलता से नियत्रित करना होगा कि पुस्तक का अन्त एकांत स्वाभाविक गति से, बीथोवन की नवीं सिम्फनी की भांति गूंजने वाला हो। मानव को मुक्त करने वाली आवाज़ों से जीवन का वह विजयी संगीत प्रवाहित हो कि अदालत तथा जेल की भित्तियां भरभरा कर धराशायी हो जाएं।[३]

उपन्यासकार संगीतकार के प्रवेग (tempo) नियन्त्रण को अपनी विधि से सिद्धि करता है। कोई नाटककार या संगीतकार अपनी रचनाओं के प्रदर्शन की गति को नियंत्रण करता है, कम से कम अपनी वांछित गति को दर्शा सकता है···वांछित विरामों या गति-वेग का यथास्थान उल्लेख कर सकता है। किन्तु उपन्यासकार अपनी रचना सामूहिक प्रदर्शन आदि के लिए नहीं, अपितु एकांत पाठ के लिए प्रस्तुत करता है और उसकी गति पाठक की स्वेच्छानुसार कुछ भी हो सकती है। ऐसी अवस्था

---

१. Huxley : "Point Couuter Point" p. 408.
"A novelists modulates by re-reduplicating situations and characters. He shows several people falling in love, or dying, or praying in different ways—dissimilars solving the same problem. Or, vice versa, similar people confronted with dissimilar problems."

२. E. M. Forster : "Aspects of the novel", Chapter VII, p 213
"Expansion That is the idea the novelist must cling to Not compfetion. Not rounding off but opening out. When the symphony is over we feel that the note, and tunes composing it have been freedom, Cannot be the Novel like that ? '

३. The Novel and the People", p, 160.

में उपन्यासकार को यह समझने का कोई कारण नहीं दिखाई देता कि किसी अध्याय का अन्त पाठकों को अपने आकर्षण में बांध लेगा। अतएव उपन्यासकार शैल्पिक साधनों के वर्णन-विवरण के प्रेग (tempo) को नियंत्रित करने की (सजगत: या सहजत:) सावधानी दिखाता है...क्योंकि किसी भी ऐसी कला में जो तुरन्त प्रभाव नहीं डाल सकती, प्रेग (tempo) नियन्त्रण महत्वपूर्ण हो जाता है.[1] इसलिए उपन्यासकार कहीं दृश्य-शिल्प का आश्रय लेते हैं, कहीं वर्णन-विवरण का; और औपन्यासिक पात्रों के जीवन के समय और पाठकों के मानसिक समय के मध्य संतुलन लाता है जो प्रेग-नियंत्रण का ध्येय है। हिन्दी में संगीतात्मक प्रभावों को गिरिधर गोपाल के "चाँदनी के खंडहर' में विशेष रूप से देखा जा सकता है, जहाँ समान स्थितियों तथा शब्दावली की सार्थक पुनरावृत्ति की गई है।

उपन्यास और इतिहास

उपन्यास और इतिहास के परस्पर सम्बन्ध का प्रश्न उपन्यास के इतिहास पर आधारित प्रकार-विशेष अर्थात ऐतिहासिक उपन्यास की दृष्टि से उठता है। दोनों एक-दूसरे के मूलभूत तत्वों का उपयोग करते हैं—उपन्यासकार इतिहास की वास्तविकता का तथा इतिहासकार उपन्यास की वैयक्तिकता एवं कल्पना का।[2] उपन्यासकार अपनी काल्पनिक सर्जना की वास्तविकता का आभास देने के लिए जिन यथार्थानुकारी साधनों का उपयोग करता है उनमें इतिहास--इति+ह+आस (यह ऐसा हुआ)—की प्रामाणिक यथातथ्यता या वास्तविकता विशेष सहायक हो सकती है। ऐतिहासिक उपन्यासकार इतिहास के बल पर पहले ही पाठक का विश्वास प्राप्त कर लेता है जिसको प्राप्त करने के लिए सामान्य उपन्यासकार को उद्यम करना पड़ता है। वह इतिहास-प्रसिद्ध घटनाओं तथा व्यक्तियों के प्रति पाठकों के आकर्षण तथा पूर्व-अर्जित संस्कारों की बनी बनाई मनोभूमि का लाभ उठा अपने काल्पनिक प्रदेय को निर्विरोध सुविधा से पाठकों के मन में उतारने में सफल होता है। प्रमाणतया, अंग्रेजी उपन्यासेतिहास के प्रारम्भिक दिनों में जब उपन्यास के प्रति पाठकों की अच्छी धारणा न थी तब अंग्रेजी उपन्यासकारों ने इतिहास के आश्रय[3] से या इतिहास

१. Liddell : ' Some Principles of Fiction", p. 57.
2. Morris R. Cohen : "The meaning of Human History", p. 31.
   " .. history oscillates between poetry as a product of imegination and the desire to know what actually happened."
३. द्रष्टव्य—वाल्टर स्काट के उपन्यास। इस सम्बन्ध में मिरियम एलट का मत उल्लेखनीय है—

के छद्म आवरण[1] में अपनी रोमांतिक तथा काल्पनिक सृष्टियों को पठन सम्भव बनाया।

दूसरी ओर ऐतिहासिक दर्शन—मुख्यतया उसकी भाववादी या आदर्शवादी (idealistic) धारा—के अनेक विद्वानों ने इतिहास में विज्ञान की विशुद्ध वस्तुपरकता की अपेक्षा साहित्यकार की वैयक्तिकता समीक्षित की है। हैलेटकार के अनुसार इतिहास के तथ्य नितांत निर्वैयक्तिक नहीं हो सकते क्योंकि इतिहासकार की मान्यता सार्थकता के बल पर ही ये इतिहास के तथ्य बनते हैं।[2] वाल्श महोदय का दृढ़ मत है कि निष्पक्ष इतिहास आदर्श तो हो सकता है किन्तु वैसे वह एकांत असम्भव है;

"Many novelists other than the Gethic romancers came to feel that their best means of reconciling "the uncommon and the ordinary' was to set their stories in the past. Scott explains his choice of the reign of James I as a setting for "The Fortunes of Nigel" (1822) on the grounds that this period seemed distant enough in time to allow him to introduce incidents which are "marvellous and improbable" but was also near enough to the present for the behaviour of his characters to carry conviction for his modern readers."—"Novelists on the Novel", Introduction, p. 4.

१. (क) फील्डिंग और रिचर्डसन दोनों ने अपने उपन्यासों को इतिहास कहा है—
Henry Fielding—(i) "The history of the Adventures of Joseph Andrews" (1742).
(ii) "The History of Tom Jones", (1749).
Samuel Richardson—(i) "Clarissa or the History of a Young lady" (1947-48).
(ii) "The History of Sir Charles Grandison" (1754).

(ख) Baker : "History of the English Novel", Vol. I, p. 299.
"The history of the modern novel begins with Defoe, in home spun narratives that decked out history with fiction or disguised fiction as matter of facts."

(ग) Percy Lubbock : "The Craft of Fiction", p. 62.
"Defoe produced it by the assertion of the historic truthfulness of his stories."

2. Edward Hallet Carr : "What is History", p. 114.
"The facts of history cannot be purely objective, since they become facts of history only in virtue of the significance attached to them by the historians."

क्योंकि प्रत्येक इतिहासकार अपने निर्दिष्ट दृष्टिकोण से अतीत को देखता है। यही नहीं, ऐतिहासिक मतभेद अपने तल में सत्य-असत्य से सम्बन्धित नहीं, वरन् 'क्या है और क्या नहीं होना चाहिए' से सम्बन्ध रखते हैं और तदनुसार मौलिक ऐतिहासिक निर्णय नितांत परिज्ञानशील (ज्ञान-सम्बन्धी) न होकर मनोभावात्मक होते हैं।[1] वस्तुतः, इतिहासकार और इतिहास के तथ्य एक-दूसरे के लिए आवश्यक हैं। इतिहासकार बिना ऐतिहासिक तथ्यों के निर्मूल तथा विस्तार है, और तथ्य बिना इतिहासकार के मृत तथा निरर्थक। और इसी तथ्य पर इतिहास को परिभाषित करते हुए हैलेटकार कहते हैं—"इतिहास, इतिहासकार तथा उसके ऐतिहासिक तथ्यों के मध्य एक-दूसरे को प्रभावित करने की संतत प्रक्रिया है, वर्तमान तथा अतीत के मध्य अन्तहीन वार्तालाप है।[2] इस कथन के उत्तरांश का स्पष्टीकरण इस दूसरी उक्ति से हो सकता है—"मनुष्य का अपने आवेष्टन से जो सम्बन्ध है, वही इतिहास-लेखक का उसके विषय से है।[3] "इतिहास के प्रति हमारी दृष्टि समाज के प्रति हमारी दृष्टि को प्रतिबिम्बित करती है।[4] वस्तुतः इतिहास-लेखन के समय इतिहासकार के मन में एक ऐसा पाठक-समाज रहता है जिसकी अतीत के प्रति उत्सुकता बहुत कुछ वर्तमान से उसकी तुलना तथा मूल्यांकन की इच्छा से प्रेरित रहती है।[5] इन उक्तियों तथा धारणाओं के आलोक में एक ऐतिहासिक उपन्यासकार के ऐतिहासिक उपन्यास में भी वैयक्तिक तथा समसामयिक युग से प्रभावित मत के सहज समावेश की मनोवृत्ति की संगति को भली-भांति समझा जा सकता है।

इसके अतिरिक्त इतिहास के विविध तथ्य विभिन्न धागों में पिरोए हुए दृढ़ मनके नहीं होते ताकि प्रत्येक तथ्य अपने आगे-पीछे अन्य तथ्यों को लिए हुए हो और इतिहासकार का काम केवल उनकी पहचान करना, सूचना देना, उनका क्रम तथा परस्पर सम्बन्ध ढूंढना ही हो। सचाई यह है कि इतिहास के तथा कथित तथ्य

---

१. W. H. walsh : "An Introduction to Philosophy of History", p. 20-21.

2. "What is History", p. 24.
"What is History ?, is that it is a continuous process of interaction between the history and his facts, an unending dialogue between the present and the past."

३. वही।

४. वही, पृ० १२७।
"Our view of history reflects our view of society."

५. W. H. Walsh : "An Introduction to Philosophy of History", p. 171.

जगत् की चिरन्तन परिवर्तन प्रक्रिया के विशृंखलित अंश हैं, इन अंशों की सीमाओं का निर्धारण इतिहासकार की नाना प्रकार की मानवीय प्रवृत्तियों तथा पूर्व कल्पनाओं (predisposition), या कला-कौशल (artistry) पर आश्रित है।[1] तात्पर्य यह है कि इतिहासकार के लिए 'यह ऐसा हुआ' की इतिहास-तथ्यता के साथ 'यों हुआ' की कला-संगति भी अनिवार्य है, अन्यथा बिना विस्तृत इकाइयों का अंश हुए खण्डित तथ्य निरर्थक हैं। और यह बात "इतिहासकार को लगभग अगोच्य प्रलोभन देती है कि वह काल्पनिक तत्वों के समावेश से अतीत-तथ्यों को एकता में ढाल कर मनोहारी कहानी कहे और तब यह तर्क बखूबी दिया जा सकता है कि इस संयोजन प्रक्रिया में इतिहासकार उपन्यासकार या नाटककार से मिलते-जुलते आदर्शों से प्रेरित रहा है।[2] इस दृष्टि से इतिहास और उपन्यास परस्पर निकट आ जाते हैं और यह भी स्पष्ट हो जाता है कि ऐतिहासिक उपन्यासकार के लिए व्यापक सत्यों की उपलब्धि तथा पाठकों के कलात्मक रंजन के लिए कल्पनात्मक तत्वों के उपयोग की पर्याप्त गुंजायश है—यही नहीं कल्पनात्मक तत्वों का प्रयोग अनिवार्य है नहीं तो ऐतिहासिक तथातथ्यता से शुष्क यांत्रिकता आ जाने की आशंका हो सकती है। भारत में भी इतिहास को केवल विद्वानों का विषय न रखकर जन-साधारण के उपयोग की वस्तु बनाने के लिए उनको पुराणादि के रूप में रोचक बनाने का प्रयत्न किया गया है। राम, बुद्ध, कृष्ण आदि को दैवी शक्ति के आरोप में पौराणिक रूप दिला दे तो उदयन, विक्रमादित्य आदि के जीवन को काल्पनिक रोमांस के आश्रय से निजंधरी कथाओं का स्वरूप, कर्म-फल, दुर्भाग्य-सौभाग्य, तथा मनुष्य की अपूर्व शक्ति में दृढ़ विश्वास होने से यहाँ इतिहास का भाववादी स्वरूप ही अधिक सामने आया है।

ऐतिहासिक दर्शन के उपर्युक्त विद्वानों ने यद्यपि मुख्यतः आइडियलिस्ट विचारधारा के अनुसार इतिहास को विज्ञानान्तर्गत नहीं रखा किन्तु एक दूसरा

---

१. Cohen : "The meaning of Human History", p. 44.

२. (क) वही, पृ० ३२।

(ख) आज की वस्तु स्थिति को देखकर डेविड डैचिस ने खूब कहा है—
"Today, indeed people are more likely to write history as fiction than to write fiction as history"—"The Present Age", 1958, p. 88.

३. (क) द्रष्टव्य, गुरुदत्त कृत, "इतिहास में भारतीय परम्परा" का प्राक्कथन, पृ० ख.

(ख) द्रष्टव्य,, हजारीप्रसाद द्विवेदी कृत "हिन्दी साहित्य का आदिकाल", पृ० ७७.

"पाजिटिविस्ट" वर्ग भी है जो इतिहास-लेखन में वैज्ञानिक तटस्थता की वकालत करता है। यही नहीं उक्त विद्वान भी इतिहास की साहित्य के प्रति सम्मान-भावना की सीमाओं से पूर्णतया अवगत है और इनके तद्सूचक मन्तव्यों में इतिहास और उपन्यास का अन्तर भी स्पष्ट हो गया है। यथा, कोहेन महोदय ने अपने निम्न कथन में इतिहास को वैज्ञानिकता तथा काल्पनिकता के समतोलित धरातल पर निष्कर्षित कर दिया है—"अतीत के कल्पनात्मक पुर्नानिर्माण का आदर्श जो अपने निर्णयनों (determinations) में वैज्ञानिक तथा व्यवस्थापन (formulation) में कलात्मक है, एक ऐसा आदर्श है जिसके लिए बड़े से बड़े इतिहासकार सदैव अभिकांक्षी रहे हैं।[1] इस उक्ति के संदर्भ में स्पष्ट किया जा सकता है कि ऐतिहासिक उपन्यासकार अपने निर्णयों या अंतिम परिणाम में वैज्ञानिक बने रहने के प्रतिबन्ध को स्वीकार नहीं करता—वह प्रायः शिवं-भावना या साहित्यकार की न्याय-बुद्धि (poetic justice) से प्रेरित रहता है; वह इतिहास के विशेष-सत्यों के स्थान पर विश्वव्यापी सामान्य सत्यों की स्थापना करता है और सानुकूल किन्हीं तथ्यों को परिवर्तित या कल्पित करने की छूट लिए रहता है। वह द्रष्टा ही नहीं, स्रष्टा भी है; वह बिम्ब नहीं, प्रतिबिम्ब देता है; उसका कार्य 'रिकॉर्ड' करना नहीं, सृजन करना है।[2] अतएव यह छूट उसकी दृष्टि (vision) के अनुकूल निर्मित नमूने (pattern) की संगति के लिए आवश्यक हो जाती है। इसके अतिरिक्त, इतिहासकार के सामने एक रंजनकारी कथा-कथन का प्रलोभन-मात्र रहता है किन्तु उपन्यासकार के लिए यह अनिवार्य है—वह ऐतिहासिक तथ्यों की सरसता का ही अपेक्षी हो सकता है, शुष्कता का नहीं। अतएव वह इतिहासेतर तथ्यों की परिकल्पना से अपनी रचना के सौन्दर्य को अक्षुण्ण बनाता है या ऐतिहासिक तथ्यों को अपनी सुन्दरं की भावना के अनुकूल काट-छांट लेता है। इसलिए इतिहासकार में ऐतिहासिक तथ्यों के चयन की क्रिया अचेतन (unconscious) हो सकती है किन्तु उपन्यासकार के लिए यह सचेतन है और इसमें पर्याप्त निपुणता अपेक्षित है।

अतीत के कल्पनात्मक पुनर्निर्माण के व्यवस्थापन या संविन्यास में भी इतिहास तथा उपन्यास के कल्पना-उपयोग की विधि में अन्तर है। इतिहास कल्पना को सन्नि-हित करता है किन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं कि वह स्वच्छन्द है। इतना ही नहीं कि इतिहास तथ्यापेक्षी है, वह सक्रिय तथ्यान्वेषी भी है; और यह खोज-प्रक्रिया वैज्ञानिक अन्वेषणा (scientific investigation) तथा वैज्ञानिक प्रमाणन (scientific

---

१. "The Meaning of Human History", p. 34.
२. Forster : "Aspects of the Novel", p. 67.
" . . the historians record where as the novelist must create."

verification) को भी अन्तर्ग्रस्त कर लेती है।[1] उपन्यासकार के लिए इनमें उलझना उसकी सरसता के लिए घातक होगा। वह भूमिकाओं में चाहे जो स्पष्ट कर ले, मूल रचना में इनसे दूर ही रहता है। इसलिए इतिहासकार जहाँ एक तिथि निश्चित करने के लिए अनेक पृष्ठों का उपयोग कर सकता है वहां उपन्यासकार के लिए इनका उल्लेख भी आवश्यक नहीं। नए तथ्यों के अनुसंधान में पूर्वेतिहास व्यर्थ हो जाता है, किन्तु ऐतिहासिक उपन्यास अपने भाव सत्यों तथा कलात्मक सम्मोहन के बल पर सप्रभ रहता है। प्रसिद्ध फ्रांसीसी लेखक जीन काकटी ने फिलिप टायनबी को इन्टरव्यू देते हुए कहा—"What is history after all ? History is facts which become lies in the end. Legends are lies which become history in the end.[2]

ऐतिहासिक उपन्यास की कला इतिहास की तरह ज्ञान-बोधात्मक नहीं, चित्रात्मक है; वह जानकारी नहीं देती, बिम्बात्मक अनुभूति कराती है और इसके लिए उसे पात्रों तथा अतीत का सजीव पुनर्निर्माण करना होता है—वह स्थूल ऐतिहासिक तथ्यों से बच भी सकता है किन्तु ऐतिहासिक वातावरण के जीवन निर्माण के प्रतिबन्ध से नहीं बच सकता।[3] उपन्यासकार चाहे कितनी ही तिथियां तथा वंशावलियां दे वह सफल नहीं हो सकता जब तक वह पाठकों को अतीत में विचरने की अनुभूति न करा दे। और यह बहुविध परिस्थितियों के सामूहिक तथा अन्वित प्रभाव पर आश्रित है। इस वातावरण के बिना न तो उसके पात्र और न ही उसका कथानक विश्वास उत्पन्न करता है। इस वातावरण-निर्माण में इतिहास के सही तथ्य पोषक होते हैं, और तथ्यों की विकृति विपरीत प्रभावकारी बन जाती है। इसी के लिए उपन्यासकार राजनीतिक क्षेत्र की बड़ी-बड़ी विभूतियों से नीचे उतर कर सामान्य जनता के हृदय को टटोलने लगता है तथा लोक-चित्रण के लिए लोक उपकरणों का आश्रय लेता है। वृन्दावनलाल वर्मा की स्थानीय रंगत तथा लोकोपकरणों की उपयोगिता यहीं मूर्त होती है। आधुनिकता की उड़ान भी यहां ऐतिहासिक यथार्थ से बंध जाती है अन्यथा

---

१. Cohen : "The Meaning of Human History", p. 32.

२. Sunday Observer, September 22, 1957

३. (क) पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी : "हिन्दी कथा साहित्य" पृ० २२७। "ऐतिहासिक उपन्यासों में लेखकों की सबसे बड़ी कुशलता ऐतिहासिक वातावरण उपस्थित करने में है।"

(ख) प्रेमचन्द : "साहित्य का उद्देश्य", पृ० २५। "साहित्य ही सच्चा इतिहास है क्योंकि उसमें अपने देश और काल का जैसा चित्र है वैसा कोरे इतिहास में नहीं हो सकता।"

वातावरण में कृत्रिमता तथा नवीन-प्राचीन के बिम्ब-वैषम्य से प्रभाव शिथिलता आ जाती है। इतिहास के साथ स्वतन्त्रता लेने का प्रश्न यहीं चिन्तन-बाध्य करता तथा मर्यादा-पालन की ओर प्रवृत्त करता है।

वातावरण के अंकन की दृष्टि से इतिहास और उपन्यास में अभिव्यंजना सम्बन्धी अन्तर भी आ जाता है। इतिहासकार के लिए शक्तिशाली अभिव्यंजना की बात उठ सकती है किन्तु ऐतिहासिक उपन्यासकार को ऐसी अभिव्यंजना अभीष्ट होती है जो प्रभावी होने के अतिरिक्त वातावरण विधायिनी भी हो—हज़ारीप्रसाद द्विवेदी, यशपाल, जयशंकरप्रसाद आदि के अपने-अपने उपन्यासों में प्रचलित शब्दों के आश्रय की सार्थकता इसी से है।

अब हम वातावरण की दृष्टि से पात्रों को देखेंगे। ऐतिहासिक उपन्यास में पात्रों में ही समाज का प्रतिनिधित्व होता है। अतएव उपन्यास में चित्रणीय युगानुसार ही पात्रों के चरित्रांकन के प्रतिबन्ध को स्वीकार करना होगा। इस दृष्टि से भी इतिहास और उपन्यास के पात्रों में बड़ा अन्तर है। पहला अन्तर उपन्यासकार की वैयक्तिकता को लेकर है। इतिहास में इतिहासकार के वैयक्तिक दृष्टिकोण की सीमाओं में स्वीकार करते हुए भी यह नहीं कहा जा सकता कि इतिहास में पात्र इतिहासकार की सृष्टि हैं किन्तु यह असंदिग्ध रूप से कहा जा सकता है कि ऐतिहासिक उपन्यास में पात्र उपन्यासकार के कल्पना-पुत्र होते हैं। यदि उपन्यास में कोई पात्र बिलकुल महारानी विक्टोरिया लगता है, तब वह महारानी विक्टोरिया ही है और इस रूप में वह जीवन-चरित्र (memoir) हो जाता है और 'मैमॉयर' इतिहास है। उपन्यासकार का स्वभाव या व्यक्तित्व का संश्लेष ही उसे संशोधित तथा परिवर्तित कर उपन्यास का पात्र बना सकता है।[1] वस्तुतः लेखक के अपने दृष्टिकोण या व्यक्तित्व के अभाव में ऐतिहासिक उपन्यास का अस्तित्व ही सम्भव नहीं। इसलिए एक आलोचक शान-ओ-फॉलिन ने तो इतिहास के प्रतिबन्धों के फलस्वरूप व्यक्तित्व के अपेक्षतया अभाव हो जाने के कारण वास्तविक ऐतिहासिक उपन्यास के अस्तित्व का ही निषेध कर दिया है। यही कारण है कि इतिहास का एक ही पात्र विभिन्न इतिहासों में लगभग एक ही रहता है किन्तु वही भिन्न-भिन्न उपन्यासों में पर्याप्त

१. Sean O' Faolain : "The vanishing Hero", P. 34.
"...incidentally and relevantly, there is, properly speaking no such thing as historical fiction, since history lays obvious limitation on a writer's personal choice of types and above all on his autonomy in deploying them towards what he, with his view of life, considers their fitting behaviour and fate."

रूपांतरित हुआ मिलता है। विशाखदत्त, 'प्रसाद', डी० एल० राय, तथा मुन्शी का चाणक्य इतिहास से अधिक उनके अपने-अपने व्यक्तित्व का चाणक्य है, अतएव एक-दूसरे से भिन्न-भिन्न भी। इतिहास और उपन्यासकार के पात्रों का दूसरा अन्तर कला की चयन-प्रवृत्ति को लेकर है। इतिहास में, इतिहास की विभूतियों के जन्म और मरण के उल्लेख का खोजपूर्ण आश्रय लिया जाता है, और इस बीच उनके कार्यों का संक्षेप भी मिल जाता है। इस दृष्टि से इतिहास जीवनी-लेखक के निकट है। किन्तु उपन्यास में—जब तक जीवनीमूलक उपन्यास लिखा ही न जाए—प्रायः पात्रों का आंशिक जीवन आता है; दूसरे, वह अपने औपन्यासिक चित्र के अनुकूल उनके जीवन की घटनाओं को चुन लेता है जो प्रायः औत्सुक्यपूर्ण होती है। इसी प्रकार इन पात्रों के जन्म-मरण के रस्मी उल्लेख से उसका कोई प्रयोजन नहीं, जब तक उनकी कोई औपन्यासिक उपयोगिता न हो। तीसरा अन्तर मनोवैज्ञानिक दृष्टि से है। इतिहास के पात्रों का बहिर्जीवन ही सामने आता है और उनका अन्तर्लोक अव्यक्त ही रह जाता है किन्तु उपन्यास के पात्रों का गुह्य जीवन भी व्यक्त हो जाता है।[1] इसलिए जहां इतिहास के पात्र हमारे लिए पहेली बने रहते हैं, वहां उपन्यास के पात्रों को हम अपने परिचित व्यक्तियों से भी अधिक जान लेते हैं। पात्रों के मानसिक विकारों से परिचित हो जाने के कारण इतिहास की विभूतियां भी उपन्यासकार के लिए सामान्य मानव बन जाती है क्योंकि मानव मन की मौलिक वृत्तियों की दृष्टि से सभी मानवों में अभेद है।

पात्रों के मात्र बहिर्जीवन तक सीमित रह जाने के कारण, इतिहासकार उनके विकास की समुचित व्याख्या करने में असमर्थ रहता है और इसलिए उनके चरित्र की व्याख्या में उसे भाग्यवाद का आश्रय लेने पर बाध्य होना पड़ता है। किन्तु उपन्यास में भाग्यवाद का नाम नहीं रहता; वहां सब कुछ का आधार मनुष्य का स्वभाव होता है और सब कुछ साभिप्राय—आवेश, अपराध और दुर्गति तक।[1]

---

१. Forster : "Aspects of the Novel", p. 65.
2. Ibid, p 66.
३. Allain : "Systeme des Beaux", p. 314-15. Quoted from E. M, Forster's "Aspects of the Novel", p. 67.

दूसरा अध्याय

उत्तर-प्रेमचन्द उपन्यास-शिल्प : सामान्य विशेषताएँ

पूर्व-प्रेमचन्द युग

प्रेमचन्द-पूर्व युग में उपन्यास-भवन के भिन्न-भिन्न सारे भाग—कुछ कच्चे (चरित्र-चित्रण) और कुछ पक्के (कथा-भाषा-शैली)—निर्मित हो चुके थे; किन्तु एक तो ये यथार्थ के ठोस धरातल पर प्रतिष्ठित नहीं थे, दूसरे समन्वित सह-सत्ता के अभाव में ये एक सुनिश्चित कलारूप नहीं बन पाये थे। उस समय उपन्यास के तत्वों को यथार्थोन्मुखी एकल दृष्टि से संयुक्त उस आनुभूतिक उष्मा की प्रतीक्षा थी, जिसमें वे गल-ढलकर एकरूप हो सकते। और यहीं प्रेमचन्द का आगमन हुआ।

प्रेमचन्द-युग ने सभी औपन्यासिक तत्वों के समन्वय, तथा रंजन की रक्षा करते हुए प्रयोजन की प्रतिष्ठा से हमें शब्द के वास्तविक अर्थ में उपन्यास दिया। यही नहीं, हिन्दी का सर्वमान्य सर्वश्रेष्ठ उपन्य स 'गोदान' भी दिया। प्रेमचन्द के जीवन-चित्र की व्यापकता, (प्रायः उपन्यासांत के पूर्व) चित्रण की यथार्थता, प्रत्यक्ष अनुभूतिगत चित्रों की आत्मवत्ता एवं आत्मीयता, तथा मानव-प्रेम की असीम प्रवणता परवर्ती नवदिशान्वेषियों के लिए मापमान बन गई है। प्रेमचन्द की साहित्यिक जन-भाषा भी उनकी विशेष देन है। फिर भी, इस युग की बहिर्मुखता की प्रवृत्ति के आधिक्य में, हम समाज, व्यक्ति और परिस्थिति के परस्पर संघर्ष को जितना समझ सकते हैं, व्यक्ति को उतना नहीं। प्रेमचन्द-युग ने मनोविज्ञान दिया किन्तु उसका आधार मनोविज्ञान नहीं। कला की दृष्टि से भी यह युग अभिधा से लक्षणा की ओर तो बढ़ा किन्तु व्यंजना के सूक्ष्म सौन्दर्य को वह आयत्त नहीं कर सका। भाषा-शैली संवादों, चरित्रांकन, कथावस्तु आदि सब में व्यंजकता की कला तथा लेखक की तटस्थता की सिद्धि अपेक्षित थी। कथा-पात्रों के नियमन-प्रयत्न में इस युग के लेखकों की प्रयास-सिद्धता अखरने वाली है। आदर्श और यथार्थ का कलात्सक समन्वय जैसा 'गोदान' में हुआ है, वैसा अन्य उपन्यासों में नहीं हो सका। प्रायः आदर्शवादिता का पार्थक्य बना रह गया है। इसके अतिरिक्त वैचारिक क्षेत्र में प्रश्नीकरण की चिंतनोदबोधक कला के साथ भाव-विकास की घनता भी अपेक्षित थी। कुछ भी हो

प्रेमचन्द-युग ने कुछ मापमानों के साथ आगामी युग के उपन्यास के लिए एक ठोस भूमिका प्रस्तुत की।

उपन्यास की यथार्थोन्मुखता

उपन्यास आज के अयुक्तिक जीवन की अभिव्यक्ति में समर्थ सर्वाधिक युक्तिक कला है। उपन्यास की यह सामर्थ्य उसकी निरन्तर यथार्थोन्मुखता तथा लोचपूर्ण रूपांतरणीय क्षमता में निहित है। 'नॉवेल' शब्द में ये दोनों विशेषताएं अन्तर्भूत हैं। स्थूल रूप में 'न्यूज' का पर्याय होने से 'नॉवेल' अपने नव्य और सत्य दोनों अर्थों को व्यंजित करता रहा है। अपने विकासेतिहास में उसने अपनी इन दोनों विशेषताओं को प्रमाणित कर दिया है। उसका जन्म ही महाकाव्य-रोमांस के प्रति यथार्थोन्मुखी प्रतिक्रिया के रूप में हुआ। आगे भी वह सदैव परिवर्तित परिस्थितियों के प्रति सच्चा रहा है और इस सच्चाई के निर्वाह के लिए वह स्वयं भी परिवर्तित-रूपांतरित होता रहा है। दूसरे शब्दों में वह सदैव यथार्थोन्मुखी रहा है और जीवन के गतिशील यथार्थ को पकड़ने के लिए वह नई-नई शिल्प-विधियों का आहरण करता रहा है। उपन्यास की लोचपूर्णता साहित्य के अन्य रूपों में भी अपने लिए प्रचुर शिल्प-साधनों को जुटाती रही है। वस्तुतः पुरातनता के निर्मोक को उपन्यास की प्रकृति कदापि सहन नहीं कर सकती क्योंकि जीवन की तरह, नूतन होते रहने में उसके जीवन की सुरक्षा निहित है। अपने आद्यन्त विकास में उसकी नवलता मानों अपनी प्राण-शक्ति का प्रमाण देती रही है। सारांश में, उपन्यास का इतिहास वह धारावाहिक प्रयत्न है जो उसने जीवन के गतिशील यथार्थ को पकड़ने के लिए, नई-नई प्रविधियों के माध्यम से सिद्ध किया है। दूसरे शब्दों में औपन्यासिक क्षेत्र में यथार्थोन्मुखता वह अविरत प्रयत्नशीलता है, जो उपन्यास की प्रविधियों तथा जीवन की परिवर्तित परिस्थितियों में सामंजस्य-स्थापना के कार्य में संलग्न रही है।

उपन्यास तथा अन्य साहित्य-कला-रूप

युग के परिवर्तन के साथ, नए-नए यथार्थ क्षेत्रों को स्वीकार करने के प्रयत्न में, उपन्यास की असीम लोचपूर्ण रूपांतरणीय क्षमता का, उसके अन्य साहित्यांगों के स्वयं में सविलय की अद्‌भुत सामर्थ्य का, परिचय विगत युगों में नहीं, प्रेमचन्दोत्तर युग में मिला। स्वरूप-गठन की दृष्टि से,पहला युग मुख्यतः रोमांस का था; दूसरा— अपने निश्चित प्रयोजनयुक्त आदि, मध्य, अन्त वाले सुगठित कथानकों के कारण— मुख्यतः नाटक का था, किन्तु तीसरा, आलोच्य युग, किसी एक साहित्यांग का न रहा, वह सबका हो गया और फिर भी अपने अस्तित्व की इयत्ता को बनाए रख सका।

वस्तुतः आधुनिक उपन्यास को डार्विन, फ्रायड, मार्क्स, सार्त्र, कामू, काफ्का, आदि विद्वानों द्वारा उद्घाटित यथार्थ के नए-नए क्षेत्रों और बढ़ती हुई वैज्ञानिकता, बौद्धिकता, जटिलता, विशृंखलता आदि से उत्पन्न नई-नई विविध-विचित्र स्थितियों का सामना करना था और इस प्रयत्न में वह अपनी आवश्यकता एवं शक्ति-संवर्धन के अनुकूल अन्य साहित्यांगों को उदरस्थ करता गया। यद्यपि अन्य साहित्य-रूपों में प्रवेश के क्रम में औपन्यासिक कलारूप की इयत्ता या मर्यादा को लेकर समय-समय पर शंकाएँ की गई हैं तथापि ध्रुवांतों को छूने वाला औपन्यासिक रूपांतरण का इतिहास स्वयं ही सबका निराकरण करता गया है। प्रमाणतया, यह प्रश्न उठा कि 'त्यागपत्र' कहानी है या उपन्यास। इसी तरह 'परन्तु', 'शेखर', 'मैला आंचल', 'परती : परिकथा', 'सोया हुआ जल' आदि को लेकर अपने-अपने ढंग की शंकाएँ की गई हैं।

प्रेमचदोत्तर उपन्यास ने साहित्य-कला के अन्य रूपों में प्रवेश कर जिन नई-नई प्रविधियों का आहरण किया है, उसका अनुमान अधोलिखित तालिका से किया जा सकता है :—

१. जीवनी-मूलक—'झांसी की रानी' (वृंदावनलाल वर्मा)
'यशोधरा जीत गई', 'लोई का ताना' (रांगेय राघव)
२. रेखाचित्रात्मक—'बिल्लेसुर बकरिहा' ('निराला'), 'दिगम्बर' (शांतिप्रिय द्विवेदी)
३. आत्मसंस्मरणात्मक—'शेखर' (अज्ञेय), 'सुखदा' (जैनेन्द्र)
४. दैनंदिनीपरक या डायरीपरक—'जयवर्धन' (जैनेन्द्र), 'अजय की डायरी' (देवराज) 'शह और मात' (राजेन्द्र यादव), 'एक और अजनबी' (सुरेश सिनहा)
५. रूपकात्मक-प्रतीकात्मक—'सोया हुआ जल' (सर्वेश्वरदयाल सक्सेना)
६. आलोचनात्मक—'कथा-चक्र' (पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी), 'सूरज का सातवां घोड़ा' (धर्मवीर भारती), 'अमृत और विष' (अमृतलाल नागर)
७. आत्मकथात्मक—'संन्यासी' (इलाचन्द्र जोशी), 'वह जो मैंने देखा' (उदयशंकर भट्ट), 'सुबह अँधेरे पथ पर', (सुरेश सिनहा) 'वे दिन' (निर्मल वर्मा)
८. कथा-आख्यायिकात्मक—'बाणभट्ट की आत्मकथा' (हजारीप्रसाद द्विवेदी)
९. कहानी-मूलक—'बहती गंगा' (शिवप्रसाद मिश्र), 'सूरज का सातवां घोड़ा' (धर्मवीर भारती), 'अन्धा रास्ता' (रांगेय राघव)।

१०. उपाख्यानात्मक—'जहाज़ का पंछी' (इलाचन्द्र जोशी)
११. यात्रात्मक—'मधुर स्वप्न' (राहुल साँकृत्यायन)
१२. संगीतीकृत—'चाँदनी के खंडहर' (गिरिधर गोपाल)
१३. लोककथात्मक—'काठ का उल्लू और कबूतर' (केशवचन्द्र वर्मा), 'बाबा बटेसरनाथ' (नागार्जुन)
१४. महाकाव्यात्मक—'बूंद और समुद्र' (अमृतलाल नागर)
१५. मिश्रपत्रात्मक—'नदी के द्वीप' (अज्ञेय), छोटी-सी बात (रांगेय राघव), 'अँधेरे बंद कमरे' (राकेश)
१६. चेतना प्रवाहात्मक तथा उद्धरणात्मक—'परन्तु' (माचवे)
१७. इण्टरव्यूपरक या समालापात्मक— 'ये कोठेवालियाँ' (अमृतलाल नागर)
१८. उपन्यास दर उपन्यास पद्धति—'अमृत और विष' (अमृतलाल नागर ने उपन्यास के भीतर उपन्यास लिखकर यह नया प्रयोग किया है)।

रिपोर्ताज का प्रभाव नागार्जुन के 'बाबा बटेसरनाथ' तथा नरेश मेहता के 'यह पथ बंधु था' में मिलता है। 'रेणु' के 'मैला आँचल' तथा 'परती : परिकथा' में चलचित्रात्मक दृश्य-पद्धति के अतिरिक्त रिपोर्ताज, रेखाचित्र, गद्यकाव्य, डायरी आदि अनेक तकनीकों का मिश्रण मिलता है। रांगेय राघव के 'धरती मेरा घर' के अंतिम पृष्ठों में संवेदनामयी मुक्त कविताएँ मिलती हैं। सरयू पंडा गौड़ के हास्य-उपन्यास 'मिस्टर तिवारी का टेलीफोन' में कथा का विन्यास बीस टेलीफोन वार्ताओं पर आधृत है।

सह-लेखन के आयोजन के आधार पर 'बारह खम्भा', 'ग्यारह सपनों का देश' तथा 'एक इन्च मुस्कान' जैसे प्रयोग भी हुए हैं। इस अन्तिम उपन्यास के लेखक एक दम्पत्ति युगल (राजेन्द्र यादव तथा मन्नू भण्डारी) हैं और पहले दोनों के पृथक्-पृथक् लेखक समुदाय।

नई परिस्थितियाँ : उपन्यास की नई व्याख्याएँ

दूसरे साहित्य-कला-प्रकारों से सम्बन्ध के आधार पर उपन्यास के जो नए रूपांतर हुए उसकी संक्षिप्त गणना ऊपर की गई है। इसके अतिरिक्त उपन्यास के शिल्प में, उसके सभी तत्वों के अनुपात तथा आपसी सहास्तित्व में जो अनेक परिवर्तन हुए उनकी चर्चा यथास्थान होगी। इन सबसे यही निष्कर्ष निकलता है कि शिल्प-परिवर्तन के कारण प्रेमचन्दोत्तर युग के उपन्यास में पूर्ववर्ती युगों से बड़ा अन्तर आ गया है। तकनीक में यह प्रगति प्रायः जीवन-जगत् के नए-नए यथार्थों की अंकन-वश्यता, तथा उपन्यासकार के अनुभूतिगत नए आयामों की अभिव्यक्ति-आकुलता

का परिणाम है। प्रमाणतया, हम इस युग के शिल्प एवं दृष्टिकोण के सम्बन्ध में दो भिन्न-क्षेत्रीय अग्रणी उपन्यासकारों की परिभाषाओं को देख सकते हैं, जो पूर्वचर्चित किशोरीलाल गोस्वामी तथा प्रेमचन्द की परिभाषाओं से ही एकांत भिन्न नहीं, स्वयं में भी विपरीत दृष्टिकोणात्मक हैं—

यशपाल : "उपन्यास से मेरा अभिप्राय है समाज-धारा और विचाराधारा के आधार में तारतम्य को प्रकट करना।[1]

अज्ञेय : "अपने उपन्यासों में मैं स्वयं हूँ और उनमें विश्लेषण अपने ही व्यक्ति विकास का विश्लेषणात्मक सिंहावलोकन है।[2]

यशपाल व्यक्ति की विचारधारा को उसके "जीवन की परिस्थितियों का परिणाम" मानते हैं और "सामाजिक घटनाओं" से विचारों के जन्म के क्रम को प्रकट करते हैं। इसे वह 'भौतिकवाद' कहते हैं।[3] वस्तुतः यह मार्क्सवादी दृष्टिकोण, है।[4] ऐंजिल्स ने लिखा है कि 'इतिहास का भौतिकवादी दृष्टिकोण, इतिहास का निर्णायक तत्व, अन्ततः वास्तविक जीवन में उत्पादन और प्रत्युत्पादन है।[5] इसी के अनुसार ही यशपाल ने अपने उपन्यासों में पात्रों के रूपांतर में उनकी आर्थिक दशाओं के परिवर्तन पर अपेक्षनया— एक मात्र नहीं— अधिक बल दिया है।[6]

दूसरी ओर अज्ञेय का केन्द्र समाज नहीं, व्यक्ति है; तथा वे भौतिकवादी धारणा से नहीं, मनोवैज्ञानिक नियतिवाद -जीवन की मनोविज्ञान-संगत कार्य-कारण परम्परा[7]— से व्यक्ति का विश्लेषण या आत्म-विश्लेषण और आत्मसमीक्षण करते हैं। उनके अनुसार इसी से व्यक्ति स्वयं को समझ सकता है; जीवन की सिद्धि पा सकता है और आत्मोपलब्धि कर सकता है।[8] यह दृष्टि, फ्रायड के मनोविश्लेषण—और

१. "साहित्य-संदेश", 'उपन्यास विशेषांक' (जुलाई-अगस्त १९५६), पृ० ७४-७५।
२. डा० दशरथ ओझा कृत 'समीक्षा शास्त्र', पृ० १५३ से उद्धृत।
३. 'साहित्य-संदेश', (जुलाई-अगस्त १९५६) पृ० ७५।
४. Ralph Fox : "Marxism and Literature", 'The Novel and The People', p. 70. ".. social existence determines their (mens) consciousness.. Marx.. certainly believed that the material mode of life in the end determined the intellectual."
५. Marx-Engels : "Selected Correspondence," p. 475.
६. यशपाल : "देशद्रोही" की भूमिका, पृ० ५, तीसरा संस्करण, १९५६।
७. द्रष्टव्य, 'शेखर : एक जीवनी' (पहला भाग) की भूमिका, पृ० ख।
८. द्रष्टव्य, वही पृ० क, २१-२२ तथा (दूसरा भाग), पृ० २१०।

अन्य मनोवैज्ञानिकों एडलर, युंग, हैवलाक एलिस आदि की मान्यताओं—से प्रभावित है।

प्रेमचन्दोत्तर युग के उपन्यास को इन्हीं उपर्युक्त दोनों दृष्टियों · मार्क्सवाद या समाजवादी यथार्थवाद, तथा मनोविश्लेषणवाद या मनोवैज्ञानिक यथार्थवाद—ने विशेष प्रभावित किया है। पहली बहिर्मुखी दृष्टि है, दूसरी अन्तर्मुखी। पहली पहले भी थी—फिर चाहे वह मानवतावादी थी, मतवादी नहीं—किन्तु दूसरी पहले नहीं थी। अतएव इसने औपन्यासिक शिल्प में विशेष परिवर्तन उपस्थित किया। व्यक्ति की महत्ता स्वीकृत हुई। व्यक्ति स्वातन्त्र्य की भावना तथा व्यक्तियों की परस्पर विच्छिन्नता परम्परित प्रविधियों के प्रति विद्रोह के रूप में प्रकट हुई और नई-नई प्रविधियों को प्रश्रय मिला। अन्तर्लोक के अंकन प्रयत्न तथा आत्म की अभिव्यक्ति ने शिल्प में सूक्ष्मता तथा सजावट को बढ़ावा दिया। उपन्यास की अनेक नूतन प्रविधियां व्यक्ति के मनोवैज्ञानिक यथार्थ को चित्रित करने के लिए आईं। आगे चलकर स्वातन्त्र्योत्तर-युग में आंचलिक उपन्यासों द्वारा अवश्य ही बहिर्मुखी उपन्यासों में भी शिल्प-परिवर्तन हुआ।

अन्य नई प्रवृत्तियाँ

प्रेमचन्दोत्तर काल में व्यक्ति-चित्रण और समाज-चित्रण दोनों में वैज्ञानिकता, तज्जनित विश्लेषण दृष्टि, बौद्धिकता, तथा सिद्धांतवादिता का समावेश हुआ। और इससे उपन्यास का शिल्प भी प्रभावित हुए बिना न रह सका। वैज्ञानिक की तटस्थता प्रसिद्ध है। सिद्धांत-प्रेरित कृतित्व से विकलात्मकता आ जाने का खतरा हो सकता था अतएव इस युग के लेखक ने अपने लिए कलात्मक तटस्थता की सिद्धि आवश्यक मानी।[१] उसने ऐसे कौशलों का आश्रय लिया जिसमें पाठक का उपन्यास के पात्रों, तथा विषयादि से सीधा सम्बन्ध हो सके और सृष्टिकर्ता की तरह लेखक अपनी सृष्टि में विद्यमान रहता हुआ भी अविद्यमानता की प्रतीति करा सके। दूसरे शब्दों में उसने अपनी वैयक्तिकता के निर्वैयक्तिकरण की कला-सिद्धि की। इसके अतिरिक्त इस अणु-युग की वैज्ञानिक दृष्टि ने उपन्यासकार को व्यापकता से गहराई, और स्थूलता से सूक्ष्मता की ओर उन्मुख किया। गहराई में जाने के लिए उपन्यासकार ने भी विशेषज्ञ के दृष्टिकोण को अपना लिया। जिससे प्रत्येक क्षेत्र में प्रायः सर्वांगीणता की बजाए एकांगिता आ गई। विषय, स्थान, काल, सबमें संकोचन की प्रवृत्ति को प्रश्रय मिला। वस्तुतः इस संकोचन तथा पूर्वचर्चित तटस्थता की प्रवृत्ति ने उपन्यास-कला को नाट्य कला से प्रभाव-ग्रहण के लिए प्रेरित किया। प्रेमचन्द-युग में नाटक का प्रभाव सुगठित कथानकों तक सीमित था किन्तु इस युग में स्वाभाविकता तथा विश्लेषण की

---

१. द्रष्टव्य, जैनेन्द्र कृत "सुनीता" की प्रस्तावना तथा अज्ञेय कृत "शेखर" की भूमिका।

बहु-प्रवृत्ति के कारण नाटक के इस स्थूल प्रभाव का तो ह्रास हुआ किन्तु उसके सूक्ष्म प्रभावों का विशेष विकास हुआ। नाटकीय तटस्थता, नाटकीय मितव्ययिता, विभेदित मूर्त दृश्य-योजना, दृश्यात्मक कथा-विन्यास, स्थान-समय-कार्य का एकलन, नाटकीय वर्तमानता, वार्तालाप-बहुलता आदि उपन्यासों के नाटकीय कला से प्रभाव-ग्रहण के लक्षण हैं।

आज की संघर्ष-जटिलता ने भी उपन्यासों को प्रभावित किया है। संघर्ष-ग्रस्त निरवकाश मना मानव के लिए सभी साहित्य-रूपों में लघुता-प्रतनुता की प्रवृत्ति बढ़ी है अतएव उपन्यासों में भी लघु-उपन्यासों का विशेष प्रचलन हुआ है। उपन्यासों की लघुता-प्रवृत्ति का एक कारण यह भी है कि पूर्ववर्ती उपन्यासों ने रचना के बहुपरिमाण से जो प्राप्त करना चाहा वह नए उपन्यासकारों ने प्रकाशन ध्येय (focus) की तीव्रता (sharpness) से सिद्ध किया।

सारांश में, आधुनिक युग की वैज्ञानिकता, बौद्धिकता, विश्लिष्टता, तटस्थता, वैयक्तिकता, द्रुत परिवर्तनशीलता तथा संघर्षमयता ने समवेतरूप से उपन्यास की तकनीक को प्रभावित किया है। आगे हम इन्हीं के आलोक में उपन्यास के विभिन्न पक्षों एवं तत्वों में तकनीक के विकास का विश्लेषण करेंगे।

शिल्प-परिवर्तन : संक्षिप्त विकासेतिहास

प्रेमचन्द-युग के परम्परित शिल्प में सर्वप्रथम 'अज्ञेय' ने अपने 'शेखर' (१९४०) से विशेष परिवर्तन उपस्थित किया। यों मनोवैज्ञानिक आग्रह से कथा-पात्रों के प्रति लेखक के दृष्टिकोण में परिवर्तन प्रेमचन्द-युग में लिखे जैनेन्द्र के 'परख' (१९२९) से आरम्भ हो गया था। उसकी भूमिका इसकी परिचायक है। इसमें लेखक ने जगह-जगह कहानी के तार की कड़ियां तोड़ने, साधारण भाव को वर्णन से फुलाने, कहीं बारीकी से काम लेने, कहीं लापरवाही से, कहीं हल्की-धीमी कलम से और कहीं तीक्ष्ण और भागती से काम लेने की बात कही है। और यह सब कुछ चित्र में "खूबी और असलियत लाने के लिए" किया गया है। व्यक्ति के अन्तरंग चित्रण—मानस द्वन्द्वों के पहले की अपेक्षा अधिक अंकन तथा मुखांकित भावों के अध्ययन—की दृष्टि से उसके बाद भगवतीचरण वर्मा के 'चित्रलेखा' (१९३४) का स्थान है। किन्तु वास्तविक मनोविश्लेषणात्मक उपन्यास का आरम्भ जैनेन्द्र की 'सुनीता' (१९३५) से हुआ। इसके तीनों प्रमुख पात्रों का चरित्रांकन अचेतन प्रेरणाओं के अनुसार हुआ है। यहां पात्रों के लघु-लघु संकेतात्मक कर्मों (symptomatic acts) को पहली बार महत्व मिला है। इसलिए मनोवैज्ञानिक प्रतीक-दृश्यों की सृष्टि भी हुई है। कथा में परिवर्तन कम हुआ, फिर भी, यहां कथा-विकास की अपेक्षा क्रमिक भाव-विकास पर

अधिक दृष्टि दी गई—उपन्यासकार कथा-वहन करने की अपेक्षा भाव-वहन करने लगा। इसके अतिरिक्त इसमें वातावरण-विधान अत्यल्प हुआ। जैनेन्द्र जी का 'त्यागपत्र' (१९३७) यद्यपि मनोविश्लेषणात्मक उपन्यास नहीं तथापि शिल्प की दृष्टि से उसमें पहली बार लघु-उपन्यास का ऐसा स्वरूप प्रकट हुआ कि उसकी दृष्टि से कहानी और उपन्यास के पार्थक्य को समझने की आवश्यकता पड़ी। दूसरे, कथा में पहली बार संकेत-शैली का उपयोग हुआ। तीसरे, कथा की सत्यता प्रमाणित करने के साहित्यिक छल के लिए उपन्यास के आरम्भ में वक्तव्य लिखा गया। तदुपरांत १९४० में अज्ञेय के 'शेखर' (प्रथम भाग) से हिन्दी उपन्यास में प्रायोगिक परिवर्तन उपस्थित हुआ। इसमें नायक के स्मृत्यवलोकन या प्रत्यवलोकन-विश्लेषण (analysis of recollection) के आग्रह से परम्परित कथा-विधान के स्थान पर पात्र की स्मृति-तरंगों की सूचक दृश्य-शैली (scene style) तथा काल-विपर्यय (time shift) से कथात्रमांच्छेदक पद्धति (chronological looping method) का प्रयोग हुआ। इसी से उसकी औपन्यासिकता पर शंका की गई। 'शेखर' में सीमित अभिरूचि केन्द्र, सीमित दृष्टिकोण, स्थान-समय-कार्य के आकलन आदि की दृष्टि से नाटकीय वर्तमानता लाने की कला में भी अनोखा विकास हुआ। जोशी जी का 'पर्दे की रानी' (१९४१) भी शिल्प की दृष्टि से इस रूप में विकास है कि यहां उपन्यासों को खंडों में विभाजित कर दो प्रमुख पात्रों के सीमित दृष्टिकोण (restricted point of view) की नई विधि से कथा कही गई और आत्मकथात्मक रूप में इनका आत्मविश्लेषण हुआ है। आगे 'अज्ञेय' के 'नदी के द्वीप' तथा लक्ष्मीनारायण लाल के 'काले फूल का पौधा' में तनिक अन्तर के साथ इसका और भी सुन्दर उपयोग हुआ है। ऐतिहासिक कथा की प्रामाणिकता का भ्रमोत्पन्न करने की दृष्टि से राहुल के 'सिंह सेनापति' (१९४२) की भूमिका भी उल्लेखनीय है किन्तु इस कौशल का वास्तविक उत्कर्ष हजारीप्रसाद द्विवेदी के 'बाणभट्ट की आत्मकथा' (१९४६) में मिलता है। यहां उपन्यास के 'कथामुख' से ही नहीं सम्पूर्ण उपन्यास के शिल्प से बाण की 'आत्मकथा' होने का सफल भ्रम उत्पन्न किया गया है। अतएव ऐतिहासिक उपन्यासों में यह अभिनव प्रयोग की दृष्टि से महत्व रखता है। तदुपरांत विभिन्न शिल्प-साधनों के सम्मिश्रित रूप में सौन्दर्यबोधात्मक आनन्द की उपलब्धि कराने वाला 'अज्ञेय' के 'नदी के द्वीप' (१९५१) का स्थान आता है। १९५२ में कहानी-रूप में दो उपन्यास लिखे गए—धर्मवीर भारती का 'सूरज का सातवां घोड़ा' तथा तथा शिवप्रसाद मिश्र 'रूद्र' की 'बहती गंगा'। फिर भी, वस्तु-संगठन की दृष्टि से दोनों परस्पर बहुत भिन्न हैं। 'सूरज का सातवां घोड़ा' में एक ही कहानी के अन्तर्गत अन्य कहानियां हैं और 'बहती गंगा' में पृथक्-पृथक् कहानियों को अंचल-विशेष के आधार पर संगठित किया गया है। आंचलिक उपन्यासों की प्रायोगिक नव्यता 'बहती

गंगा' से आरम्भ होती है क्योंकि यहाँ पात्र के बजाय स्थान को नायकत्व प्राप्त हुआ। पात्र की दृष्टि से यह नायक-विहीन उपन्यास है। परम्परागत अर्थ में तो यह कथा-रहित उपन्यास भी है। इसके अतिरिक्त इसमें काशी के दो सौ वर्ष के जीवन की झांकियाँ हैं—और अपने प्रभाव में वे प्रधानतया सामाजिक हैं, ऐतिहासिक नहीं—अतएव यह आंचलिक के साथ हिन्दी का पहला कालिक उपन्यास भी है। 'सूरज का का सातवां घोड़ा' आलोचनात्मक उपन्यास भी है क्योंकि इसमें, प्रमुख पात्र-द्वारा, उपन्यास के समग्र शिल्प की साथ-साथ आलोचना की गई है। १९५२ में ही प्रकाशित नागार्जुन का 'बलचनमा' भी इस दृष्टि से नव्य प्रयोग है कि अंचलीय वातावरण-विधान में समर्थ आंचलिक या लोक-भाषा का सर्वाधिक प्रयोग सर्वप्रथम इस उपन्यास में हुआ। बहिर्मुखी उपन्यासों के शिल्प में युगांतर प्रस्तुत करने वाला 'मैला आंचल' (१९५४) है। यह भी नायक-रहित उपन्यास है। यह चलचित्रात्मक द्रुत परिवर्तनकारी दृश्यों की पद्धति में लिखा गया है। यहां कथा प्रायः ग्रामीण पात्रों के दृष्टिकोण से—मानो सामूहिक शैली में कही गई है। समूह-पात्र का बिम्बात्मक विश्लिष्ट चित्रण इसका वैशिष्ट्य है। गिरिधर गोपाल के 'चाँदनी के खण्डहर' (१९५४) में एक दिन-रात के केवल २४ घण्टे की कथा कहने का समय सीमा सम्बन्धी अभिनव प्रयोग किया गया है। इसके साथ ही यह हिन्दी का पहला सिम्फनिक या संगीतिकृत उपन्यास भी कहा जा सकता है। इसमें विभिन्न पात्रों को एक ही समस्या से ग्रस्त दिखाया गया है, तथा प्रसंगों एवं पंक्ति-विशेष की बार-बार आवृत्ति की गई हैं। इसमें प्रवेग (tempo) नियंत्रण पर विशेष दृष्टि रखी गई है। स्मरणीय पात्र से बद्ध कहानियों एवं समय-स्थान-कार्य के नाटकीय एकलन के समन्वित शिल्प पर प्रतिष्ठित अमृतलाल नागर का 'सेठ बांकेमल' (१९५५) भी अभिनव प्रयोग है। इसमें एक वटवृक्ष का सजीव मानवीकरण किया गया है। सजीव मानवीकरण करने वाले नए प्रयोगों की परम्परा में लक्ष्मीकांत वर्मा का 'खाली कुर्सी की आत्मा' तथा रांगेय राघव का 'हुजूर' भी उल्लेखनीय हैं। पहले में समाज के अन्तर्विरोधों पर तीखे व्यंग्य हैं तो दूसरे में समाज के विभिन्न वर्गों पर। समय एवं स्थान-सीमा सम्बन्धी प्रयोग का चरम रूप सर्वेश्वरदयाल के 'सोया हुआ जल' में मिलता है जिसकी काल-सीमा केवल छः घण्टे है और स्थान केवल यात्रिशाला। यह प्रतीकात्मक, कथा-नायक-रहित तथा सिनेरियो तकनीक में लिखा गया उपन्यास है। इसे रूपकात्मक उपन्यास भी कहा जा सकता है। यह पूर्णतया दृश्यात्मक उपन्यास (scenic novel) है। सिनेरियो तकनीक के अनुसार एक ही व्यक्ति या विभिन्न व्यक्तियों के समकालवर्ती भावों, विचारों और कार्यों का चित्रण किया गया है।[1] बाह्य परिस्थितियों के अंकन के एकांत अभाव की दृष्टि से

---

१. श्री ब्रजविलास श्रीवास्तव : "आलोचना" संख्या १७।

यह पूर्णतया देश-काल-रहित उपन्यास भी है। इसके अतिरिक्त यह 'सम्पूर्ण लघु-उपन्यास' केवल ५० छोटे पृष्ठों का है। पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी का कथावक्र (१६५७) भी आलोचनात्मक उपन्यास है किन्तु यह 'सूरज का सातवां घोड़ा' की आलोचनात्मक प्रवृत्ति से भिन्न प्रकार का है। इसकी कथा का विकास जीवित-मृत उपन्यासकारों की रचनाओं के उद्धरणों के आधार पर किया गया है। इस तरह यह उद्धरणात्मक एवं आलोचनात्मक उपन्यास है। नागर जी 'अमृत और विष' (१६६६) में आलोचना-तत्व एक उपन्यासकार की विशेषतया उनकी अपनी रचना-प्रक्रिया स्पष्ट करने के रूप में आया है। यह लक्ष्य-सिद्धि उपन्यास के भीतर उपन्यास लिखने के नए प्रयोग से की गई है।

नामकरण

आलोच्य युग के उपन्यासों में वैविध्य-वैचित्र्य आया, तो उनके तद्सूचक उपन्यास के नामों में भी। सीधे उद्देश्य-बोधक तथा स्थूल-चरित्र-परिचायक नाम कम हो गए हैं और इनमें लाक्षणिक चमत्कार तथा व्यंजक सूक्ष्मता आ गई है। ये विशेष अर्थ-गर्भित हो गए हैं। इनकी प्रकृति तता विभिन्न प्रयोजनों का आभास इस स्थूल वर्गीकरण से मिल जाएगा:—

१. विरोधाभास के चमत्कार से आकृष्ट करने वाले—शेष अशेष; झूठा-सच; प्रेत बोलते हैं; दिन के तारे; शहर था, शहर नहीं था; प्यासा पानी; गुनाहों का देवता; दो एकांत।

२. प्रसंग-गर्भित—जहाज़ का पंछी; बेकसी का मज़ार; समुद्र में डूबा हुआ आदमी।

३. प्रतीकात्मक—सोया हुआ जल; नदी के द्वीप; काले फूल का पौधा; बया का घोंसला और सांप; सूरज का सातवां घोड़ा; बूंद और समुद्र; चढ़ती धूप; मशाल; ओस और माटी; कांपता दरिया; अंधेरे बन्द कमरे; अनदेखे अनजान पुल; आग की कलियां; जुलूस; सेमल के फूल; सुबह अँधेरे पथ पर।

४. व्यंग्यात्मक—हाथी के दांत; चांदी का जूता।

५. अंचल-सूचक—मैला आंचल; परती : परिकथा; ब्रह्मपुत्र; बहती गंगा।

६. पात्रों के नाम-वैशिष्ट्य से आकर्षित तथा उपन्यास की प्रकृति को व्यंजित करने वाले—सेठ बांकेमल; बलचनमा; बिल्लेसुर बकरिहा; बाबा बटेसरनाथ।

७. शिल्प-सूचक वैशिष्ट्य से चौंकाने एवं आकर्षित करने वाले—शेखर : एक जीवनी; बाणभट्ट की आत्म-कथा; कथा-चक्र; शहर में घूमता आईना; खाला कुर्सी की आत्मा।

८. राजनैतिक मत सूचक—दादा कॉमरेड; पार्टी कॉमरेड।

९. हास्य-सूचक—मुहब्बत, दाढ़ी और मूंछ; नवाब लटकन।

१०. विधेय के साथ विधान का भी अभिन्न अंग—परन्तु; सुहाग के नूपुर।

११. सहलेखन व्यंजक—बारह खम्भा; ग्यारह सपनों का देश।

दसवीं विशेषता का किंचित स्पष्टीकरण अपेक्षित है। उपन्यास के प्रत्येक परिच्छेद के अन्त में आने वाला 'परन्तु' शब्द सामाजिक तथा वैयक्तिक गतिरोध की व्यंजना तथा सप्रश्नता से पाठकों को कुछ धक्के से चिन्तन-बाध्य ही नहीं करता, उपन्यास के विश्रृंखलित से परिच्छेदों को उद्देश्य-ऐक्य के आधार पर श्रृंखलित भी करता है। 'परन्तु' शब्द की पुनरावृत्ति से एकध्येयता के प्रभाव को उत्तरोत्तर घनीभूत करने का प्रयास भी किया गया है। इस तरह 'परन्तु' औपन्यासिक विधान का अपरिहार्य, एवं स्वयं में उसको उत्कर्ष देने वाला अंग हो गया है। इसको हटा लेने से उपन्यास समाप्तप्राय हो जाएगा। यही विशेषता आज के शिल्प-विशिष्ट अन्य उपन्यासों के नामों में भी मिलती है। 'सुहाग के नूपुर' नाम की अनेक बार[1] सप्रयोजन आवृत्ति हुई है, प्रसंगानुसार अनेक अर्थों का द्योतन करने के कारण यह नाम बड़ा व्यंजक हो गया है। यह उपन्यास की अनेक घटनाओं, मुख्य संघर्ष तथा मूल समस्या का एक साथ आधार है, इससे यह उपन्यास के विष और विधान की एकता की अद्भुत सिद्धि कर सका है। 'एक और अजनबी' तथा 'शतरंज के मोहरे' के नामों में भी यही आवृत्ति लक्षित होती है। 'नदी के द्वीप' नाम की बार-बार पुनरावृत्ति से एक ऐसे विस्तरणशील प्रतीक (elobarating symbol) का आभास मिलता है जिससे व्यक्तिवादी जीवन दर्शन के विभिन्न पक्षों के स्पष्टीकरण तथा उपन्यास की विचारात्मक एकता की सिद्धि की गई है। 'बया का घोंसला और सांप' उद्देश्य-बोधात्मक व्यंजना में ही योग नहीं देता, औपन्यासिक वातावरण, उपन्यास की स्वप्न-श्रृंखला तथा पात्रों के चिंतन का अंग भी है। उपन्यास की करुण हार्द के अनुकूल उदास संवेदनामय वातावरण की सर्जना में इस शीर्षक का योग स्पष्ट है। 'काले फूल का पौधा' तुलसी के बिरवा का प्रतीक है जो अपने प्रतीकार्थ के अतिरिक्त उपन्यास के समस्त वातावरण को पूत-मांगलिक सुगंधि से प्लावित करने में समर्थ हुआ है। 'बेकसी का मज़ार' बहादुरशाह ज़फर की

---

१. द्रष्टव्य—"सुहाग के नूपुर" पृ० १३, ३१, ४८, ७३, ८५, ८६, ८७, ९०, ९१, ९५, १५८, १६०, १६१, १८७, १९७, १९९, २०१, २०९, २१६, २२०, २२२, २२३, २२४, २३५, २३९, २४२, २४३, २५१, २५३, २५९, २६५, २६७।

करुणा के पंजीपन में सहायक हुआ है और अपनी संदर्भ-गर्भित व्यंजना की व्यापकता से जितना सम्प्रेषित करने में समर्थ हुआ है उतना कोई और शीर्षक कदापि न होता। शीर्षक के सही चुनाव ने उपन्यास में जैसी मर्मस्पर्शिता ला दी है, वह उसके अन्य अनेक कौशलों से भी नहीं आई।

उद्देश्य

प्रेमचन्द-युग अपेक्षतया विश्वासों का युग था, प्रेमचन्दोत्तर युग में प्रश्नीकरण की प्रवृत्ति का प्राधान्य हो गया है। यों जीवन के टेढ़े-मेढ़े रास्तों में 'सीधे-सादे रास्ते' यहां भी खोजे गए हैं परन्तु मुख्य स्वर 'पथ की खोज' का रहा है। प्रेमचन्द-युग में पहले नग्न यथार्थवादियों, तदुपरांत 'प्रसाद' ने समाज की परम्परित मान्यताओं एवं विधान के 'कंकाल' को अनावृत किया था किन्तु पहले-पहल सर्वप्रथम 'चित्रलेखा' ने पाप-पुण्य, वासना-प्रेम, व्यक्ति-समाज की स्थिर-स्थापित नैतिक धारणाओं के पुन-निर्धारण की समस्या को लेकर प्रेमचन्द-युग में ही परवर्ती युग के प्रवर्तन का पूर्वाभास दिया। फिर भी, 'चित्रलेखा' के अन्त में—चाहे आरोपित हो, समाधान मिलता है। यहां प्रश्नता की प्रवृत्ति का विशेष प्रारम्भ हुआ और आगे 'सुनीता' प्रश्नांत रचना बनकर आई। इस तरह इस युग में उपन्यास समाधानों से प्रश्नता की ओर बढ़ा। मानो उपन्यासकार पाठक से कह उठा—"तुम्हारे प्रश्न मानो मेरे ही अन्तर के प्रश्नों की प्रतिध्वनि हैं। साथ बैठकर सोचा जा सकता है, इसके अतिरिक्त किसी समाधान की आशा न करना"।[1] उपन्यासकार के लिए 'जिज्ञासा', 'तपस्या' हो गई - वह जिज्ञासा जो जीवन की तरह दुर्निवार है, जो 'घूंट' नहीं, 'कूलहीना नदी' है।[2] समाधान और उत्तर दिए भी गए तो प्रश्न-शंकाओं को जगाकर दिए गए। इस तरह उपन्यासकार पाठकों को 'धक्के' की गति[3] से नहीं, 'चैतन्य' गति से आगे बढ़ाने का आग्रही हो गया। उसने उद्घोष किया कि "मैं तो ज्ञानी उसे कहता हूँ जिसमें जानने की इच्छा हो; जब तक यह इच्छा है तभी तक वह ज्ञानी है। इसके बाद लाइब्रेरी की किताब और उसमें कोई अन्तर नहीं।"[4] इस प्रश्नता-प्रवणता का बीज 'चित्रलेखा' में, विकास 'सुनीता' और 'शेखर' में तथा उत्कर्ष 'पथ की खोज' में हुआ है। इससे

---

१. डा० देवराज : "पथ की खोज" (पहला खण्ड), चन्द्रनाथ का साधना को लिखा पत्र, पृ० ६७।
२. अज्ञेय : "शेखर : एक जीवनी", दूसरा भाग, पृ० ८६-८७।
३. जैनेन्द्रकुमार : "साहित्य का श्रेय और प्रेय" पृ० १३३।
४. राजेन्द्र यादव : "सारा‍क आशा" पृ० १५४।

उपन्यास जीवन के चित्रण से जीवन के चिंतन की ओर, जीवन के कर्म से जीवन के तत्व (दर्शन) की ओर, तथा जीवन की व्यापकता से जीवन की गहराई की ओर बढ़ा। उपन्यास में बौद्धिक घनता का प्राधान्य हो गया है।

आलोच्य युग में उपन्यास में बौद्धिकता का प्राधान्य एक और दिशा में भी हुआ। प्रेमचन्द मानवतावादी थे, इस युग में अपेक्षतया मतवाद प्रबल हो उठा। मानवता से सहज सहानुभूति की अपेक्षा सिद्धांत-प्रियता बढ़ गई। इस सिद्धांतवादिता का आरम्भ, लेबल लगे उपन्यासों—'दादा कॉमरेड', 'पार्टी कॉमरेड', 'जीने के लिए' से हुआ। इसलिए साम्यवादी उपन्यासों में प्रायः समाधान मिलते हैं परन्तु समाज-विधान के प्रति संदेह वृत्ति के रूप में यत्किंचित् प्रश्नता के साथ। जैसा कि ऐंजेल्स ने कहा है—"मेरी राय में वास्तविक सामाजिक सम्बन्धों का वर्णन कर, बुर्जुआ जगत् की आशावादिता को उलट-पुलट कर, वर्तमान समाज-व्यवस्था की चिरन्तनता में सन्देह के बीज बोकर, समाजवादी उद्देश्यपरक उपन्यास अपना उद्देश्य पूर्णतया प्राप्त कर लेता है, यद्यपि ऐसा करते समय लेखक कोई सुनिश्चित समाधान नहीं देता, और कभी-कभी तो इस या उस पक्ष का समर्थन तक नहीं करता"[१]—आलोच्य युग के समाजवादी उपन्यासों में इस कथन का पालन प्रायः नहीं हुआ। फिर भी, समाज के विधान और प्रचलित व्यवस्था के प्रति अनास्था से जनित विरोध-भावना यहाँ और भी अधिक है। इसलिए यहाँ भी समाज के चित्रण की अपेक्षा समाज की आलोचना तथा सिद्धाँत-प्रचारण का प्रामुख्य है। मनोविश्लेषणवादियों की जिज्ञासा का स्थान यहाँ आलोचना को मिल गया है। अतएव दोनों ही स्थितियों में उपन्यास में बौद्धिकता का प्राबल्य हुआ। इस मतवादिता या सिद्धांतवादिता के अग्रणी उपन्यासकार पहले यशपाल और राहुल रहे, बाद में नागार्जुन, अंचल, अमृतराय, भैरवप्रसाद गुप्त आदि भी इनसे मिल गए। इनमें सबसे अधिक प्रचार की सीमा तक पहुँची हुई सिद्धान्त-मुखरता राहुल के सामाजिक-ऐतिहासिक उपन्यासों में है। साम्यवादी सिद्धान्तों के विरोध में, हिन्दू—जिसे सीमाओं में 'भारतीय' भी कहा जा सकता है—राष्ट्रवाद के प्रसार की मतवादिता से प्रेरित उपन्यासकारों में गुरुदत्त अग्रणी हैं। इनमें परम्परा के स्वीकार के साथ आधुनिक समाज की प्रखर आलोचना भी है। प्रचारात्मक विकलात्मकता उपर्युक्त प्रवृत्ति सभी उपन्यासकारों की सामान्य विशेषता है।

प्रेमचन्द-युग से आलोच्य युग के बहिर्मुखी अन्तर्मुखी तथा बहिरन्तरमुखी—रांगेय-राघव, अमृतलाल नागर—उपन्यासों में समग्र की प्रगति तथा वैज्ञानिक अनुसंधानों के कारण अनुभवों तथा ज्ञान का विस्तार हुआ किन्तु अनुभूति तथा सहानुभूति का प्रायः नहीं। अतएव औपन्यासिक रस को क्षति पहुँची है।

---

१. Ralph Fox : "The Novel and the People", p. 140-41.

समाज की आलोचना की प्रमुखता के कारण उद्देश्याभिव्यक्ति में व्यंग्य के अस्त्र का विशेष उपयोग हुआ है। यशपाल, नागार्जुन तथा अमृतराय में व्यंग्य के कटु-आघातक स्वरूप का विशेष विनियोग हुआ है।

प्रेमचन्द के देहात-चित्रण की कला में भी विशेष विकास हुआ है। इसमें सर्वप्रथम नाम 'निराला' के 'बिल्लेसुर बकरिहा' का है। तदुपरांत 'रतिनाथ की चाची', 'बलचनमा' से आरम्भ होने वाले नागार्जुन के उपन्यासों तथा लक्ष्मीनारायण लाल के 'बया का घोंसला और साँप' का है। आगे इसी परम्परा में 'रेणु' के 'मैला आंचल' तथा 'परती : परिकथा' मिलते हैं। विशेषीकरण तथा गहराई की प्रवृत्यानुसार इस क्षेत्र में भी व्यापकता से स्थानिकता की ओर विकास हुआ जिससे उपन्यास के ग्राम-चित्रण तथा तदनुकूल शिल्प में भी अभूतपूर्व परिवर्तन उपस्थित हुए। प्रेमचन्द में ग्राम-जीवन का संश्लिष्ट चित्रण है किन्तु रेणु के उपन्यासों में सूक्ष्म-विश्लिष्ट चित्रण हुआ है। वैसे भी चाहे व्यक्ति के अन्तर्लोक का मनोवैज्ञानिक चित्रण हो, चाहे समाज का मार्क्सवादी चित्रण, प्रेमचन्दोत्तर युग संश्लेषण से सूक्ष्म विश्लेषण की ओर ही बढ़ा है।

उद्देश्य-व्यंजना की तटस्थता का आरम्भ यों तो जैनेन्द्र के उपन्यासों से हुआ किन्तु उनकी दार्शनिकता एवं औपन्यासिक विधान की कुछ पूर्वयोजना इस ताटस्थ्य वृत्ति के विपरीत हैं। अतएव इस तटस्थता का वास्तविक विकास 'शेखर' में हुआ। बहिर्मुखी उपन्यास में पहला नाम निराला के 'बिल्लेसुर बकरिहा' का है, दूसरा 'अश्क' के 'गिरती दीवारें' का तथा उसके बाद 'रेणु' के 'मैला आंचल' एवं 'परती : परिकथा' का। यह तटस्थता इन सामाजिक उपन्यासों के कलात्मक हास्य-व्यंग्य में भी परिलक्षित होती है। सर्वप्रथम 'बिल्लेसुर बकरिहा' में इस कौशल का उन्नत एवं उज्ज्वल रूप परिलक्षित होता है। धर्मवीर भारती के 'सूरज का सातवां घोड़ा' की भी यही स्थिति है। 'रेणु' के उपन्यासो में उद्देश्य-व्यंजना का यह प्रधान कलात्मक उपकरण है। निराला, अश्क, भारती और रेणु का व्यंग्य नागार्जुन एवं यशपाल से तटस्थता के कारण ही भिन्न हो गया है। इसमें आक्रोश के स्थान पर परिहास है। यह उल्लेखनीय है कि प्रेमचन्द के उपन्यासों—जहाँ वे यथार्थ चित्रण तक सीमित हैं—में भी तटस्थता प्रायः उन्नत रूप में मिलती है। वे मानो 'रंगभूमि' के सूरदास की खिलाड़ी की सी भावना से सबका चित्रण करते हैं। किन्तु 'गोदान', 'निर्मला' को छोड़कर वे प्रायः अन्त तक पहुँचते-पहुँचते इस कलात्मक भूमि का त्याग कर देते हैं। यही बात 'मैला आँचल' में 'रेणु' ने की है।

मनोविश्लेषणात्मक यथार्थवाद ने व्यक्ति को केन्द्र माना समाज को नहीं, और प्रेमचन्दोत्तर युग की यह भूमि विगत युग से एकांत भिन्न थी। सामाजिक

दृष्टि को मनोवैज्ञानिक उपन्यासकारो ने 'गलत' नहीं माना किन्तु वे इसे 'निर्णायक' भी नहीं मानते[1]; क्योकि व्यक्ति को दबा कर, उसकी सहजात वृत्तियो तथा अचेतन प्रेरणाओं को समझे बिना, जो निर्णय किए जाएंगे वे व्यर्थ तथा हानिकारक हो सकते हैं। इन्होने व्यक्ति के व्यक्तिगत तथा सामाजिक जीवन को समझने के लिए उसके 'अनन्त अव्यक्त' जीवन या 'अज्ञात चेतना के गहरे स्तरो में प्रवेश' किया, उनका विश्लेषण किया, ताकि मनुष्य अपने मैले-घौले को स्वीकार, और शनैः शनैः उनसे रिक्त[2] होकर स्वस्थ बन सके; या भीतर की अंध-कारा में बद्ध पशु-प्रवृत्तियों का नियमित प्रस्फुटन हो सके, 'विध्वंसक विस्फोट' न हो।[3] वस्तुतः फ्रायड के मनो-विश्लेषण-उपचार का सार इसीमें है कि व्यक्ति की मानस-ग्रंथियों को उसके अतीत जीवन की उन स्मृतियों में परिवर्तित कर दिया जाए, जिनके कारण वे ग्रंथियाँ उद्भूत हैं; क्योकि ग़लत दृष्टिकोण के जन्मदाता कारणों की भिज्ञता ग़लती को दूर कर देती है। व्यक्ति की आदत उसकी स्मृति में घुल जाती है।[4] 'सुनीता' का हरि-प्रसन्न 'सुनीता' के व्यवहार से इसी आधार पर ग्रंथिमुक्त होकर भाग खड़ा होता है। वह अपने हिंसक आचरणों के मूल को जान जाता है। शेखर का स्मृत्यवलोकन भी उसके आत्मसाक्षात्कार के लिए, स्वयं को पा लेने के लिए है। इस तरह प्रेमचन्द युग में हमने समाज को ही समझा था, इस युग में हमने व्यक्ति को भी समझा—और सही शब्दों में अपने आपको समझा। इस तरह प्रेमचन्दोत्तर-युग व्यक्ति की ओर, और उसके अभ्यन्तर की ओर बढ़ा। दूसरे शब्दों में वह स्थूलता से सूक्ष्मता की ओर गतिशील हुआ। वह बहिर्जीवन के क्रिया-कलापों से जीवन के तत्व की ओर बढ़ा।

कथानक

प्रेमचन्दोत्तर युग में कथा का ह्रास हुआ है। यही नहीं, 'कथा-रहित' उपन्यास भी लिखे गए हैं; जैसे—'सोया हुआ जल', 'मैला आंचल', 'रोड़े और पत्थर', इस

---

१. "नदी के द्वीप" : भुवन के शब्द, पृ० २०६-७।

२. जैनेन्द्रकुमार, : "साहित्य का श्रेय और प्रेय" पृ० १२।

३. "प्रेत और छाया" की भूमिका, "विवेचना", पृ० १७१।

४. R. Dalbeize : "Psycho analytical Method and the Doctrine of Freud," p, 206-8.
"The essence of analytical cure consists in resolving morbid habits by reducing them to the memory of events from which they sprang." "Apprehensions of causes of error frees from error. Habits dissolve in memory."

कथा-ह्रास के कारणों के विश्लेषण से आधुनिक कथानक का स्वरूप भी स्पष्ट हो सकेगा। इस युग में कहानी सुनाना लेखक का उद्देश्य नहीं है—आलोच्य-युग की प्रवर्तक कथा-कृति 'सुनीता' की 'प्रस्तावना' में ही इसकी घोषणा कर दी गई थी।[१] आधुनिक उपन्यासकार प्रसादन से अधिक प्रयोजन पर दृष्टि रखता है। वह "मूल्य देना चाहता है, कथा का रस नहीं। ये मूल्य समस्त साहित्य के केन्द्र मानव के लिए होते हैं और मानवीय समस्याओं के निरीक्षण-परीक्षण तथा व्याख्या-विश्लेषण से ही प्राप्त किए जा सकते हैं, अतएव उसकी दृष्टि चरित्र पर जाती है, कथा पर नहीं।" इसलिए आज औपन्यासिक शिल्प का केन्द्र कथा के स्थान पर चरित्र हो गया है।

मनोवैज्ञानिक उपन्यासकारों में प्रधान पात्र की जीवन-गति या मनोगति कथा का स्वरूप नियत करती है। चरित्र की अन्तर्यात्रा कथा को स्वरूप देती है, कथा की गति चरित्र को नहीं। कथा पात्रों के भीतर से विकसित होकर चरित्र-कथा बन गई है। कहना चाहें तो कह सकते हैं कि आलोच्यकालीन उपन्यासों ने जीवन का विशाल धरातल छोड़कर मानस का संकीर्ण धरातल ग्रहण किया। अतएव ऐसे उपन्यासों में प्रेमचन्द-युग के बहिर्लोक की स्थूल घटनाएँ अन्तर्लोक की सूक्ष्म घटनाएँ बन गई हैं; वे मानसिक होकर आती हैं। अन्तर्यात्रा क्योंकि बहिर्यात्रा की तरह निश्चित रूप-रेखा बनाकर क्रमानुसार विकसित नहीं होती—विगत, वर्तमान और भावी में जहाँ-कहीं चल सकती है—इसीलिए कथा भी विशृंखलित-क्रमोच्छेदित हो गई है। आदि, मध्य, अन्त वाली, क्रमानुसार उत्तरोत्तर विकसित होने वाली कथा अब काल-विपर्यय-पद्धति (time shift) से मध्य, अन्त, जहाँ-कहीं से आरम्भ की जा सकती है। जीवन के प्रसंग विच्छिन्न-विपर्यस्त होकर कथा में कहीं भी स्थान पा सकते हैं।[२] इस तरह कथा का मनोवैज्ञानिक अनुबन्धन होता है। आगे बढ़ता हुआ पात्र जहाँ-कहीं स्वतः स्फूर्त होता है, या कोई बाह्य उद्दीपन उसे प्रेरित करता है, वहीं "पिछली गड़ी बातें अंगड़ाई लेती उखड़ती सी", उसकी स्मृतियों के रूप में, वर्तमान का बाना धारण कर सामने आने लगती हैं; विगत क्षण पुनरुज्जीवित हो उठते हैं, और पाठक लेखक की वर्णन-व्याख्या के बिना उनका सीधा जीवंत साक्षात्कार करता जाता है। यही पूर्वदीप्ति (flash back) पद्धति है।[३] इससे मनोवैज्ञानिक स्वाभाविकता के साथ-साथ नाटकीय वर्तमानता की भी सिद्धि होती है।[४]

---

१. "सुनीता", पृ० ३-४।

२. "शेखर", "नदी के द्वीप", "गिरती दीवारें।"

३. "शेखर।"

४. Leon Edel : "The Psychological Novel", p. 29.

"In the mind past and present merge : we suddenly call up a

आधुनिक उपन्यासों में कथा की शृंखला कुछ अन्य शिल्प-कौशलों के कारण भी विच्छिन्न हुई है। 'पर्दे की रानी', 'नदी के द्वीप', 'काले फूल का पौधा' आदि उपन्यासों में विभिन्न पात्रों के दृष्टिकोण से कथा का व्यक्तीकरण हुआ है। हेनरी जेम्स ने कथोद्घाटन की इस विधि को 'Point of view method' कहा है।[१] इसके लिए उपन्यासों को परस्पर पूरक लघु-लघु खण्डों में विभक्त कर दिया जाता है। विभिन्न मुख्य पात्रों के आत्मकथनों या उनके दृष्टिकोण से कथा-कथन के लिए पृथक्-पृथक् अनेक[२] खण्ड नियत कर दिये जाते हैं (जैसे, 'पर्दे की रानी' और 'नदी के द्वीप' में) या सभी प्रधान पात्र कम-से-कम एक बार एक खण्ड में अपनी कथा कहते हैं (जैसे, 'काले फूल का पौधा' में)। कथा का यह श्रम-साध्य विधान चरित्र-चित्रण के लिए भी है क्योंकि इसमें एक पात्र दूसरे पात्र के दृष्टिकोण से प्रकाशित होता है;' और कथा के लिये भी है क्योंकि पात्रों का चरित्र और कथा के रहस्य धीरे-धीरे खुलते हैं जिससे पाठकों की उत्सुकता बनी रहती है। ऐसे सभी उपन्यासों में कथा को एकसूत्रित तथा संयोजित करने का कार्य लेखक को नहीं, ग्रहणशील प्रबुद्ध पाठकों को करना पड़ता है। इस तरह लेखक तटस्थता की सिद्धि करता है, क्योंकि यह भी एक प्रकार की नाटकीय विधि है।[३] दूसरे, इस विधि में पाठकों एवं पात्रों का तादात्म्यीकरण अधिक सहज हो जाता है, क्योंकि जीवन में लोगों की प्रतिक्रिया की विधि से इसकी समता है। वास्तविक जीवन में हम स्वयं को दूसरों के दृष्टिकोण से नहीं समझते। हम स्वयं को तो लगभग एक सर्वज्ञ की तरह भीतर से बहुत कुछ जानते हैं, किन्तु दूसरों के चरित्र का अनुमान करने में हम केवल दर्शक रह जाते हैं—अधिक से अधिक हम उन्हें उनके प्रत्यक्ष क्रिया-व्यवहारों से ही जान सकते हैं; उनके भीतर

---

memory of childhood that is chronologically of the distant past; but in it memory becomes instantly vivid and is relived for the moment that is recalled .. the novelist is catching and recording the present moment—and no other."

१. Ibid. p. 36.
"James called this particular method of revelation of the story, that is illumination of the situation and characters through one or several minds, the point of view."

२. "नदी के द्वीप" में प्रत्येक पात्र को दो-दो परिच्छेद मिले हैं। "पर्दे की रानी" में नायिका को २२ परिच्छेद मिले हैं।

३ Leon Edel : "The Psychological Novel", p. 36.
"It is the method of the drama, the unravelling of an exposition as we get it on the stage, but with much greater subtelty which a novel permits."

को जानने का हमारे पास कोई प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं हो सकता।[१] यही सीमित दृष्टि-कोण से कही कथा में होता है।

उपर्युक्त शैली एक प्रकार से उपन्यास की सर्वज्ञता वाली इतिहास-शैली तथा आत्म-कथात्मक शैली के मध्य समझौते की शैली है। इससे लेखक का स्थान कुछ पात्रों को मिल जाता है और आत्मकथात्मक शैली की अलोचपूर्णता भी समाप्त हो जाती है।[२]

आधुनिक उपन्यासकार आत्मविश्लेषक हो उठा है अतएव आलोच्य युग में आत्म-कथा शैली को विशेष प्रश्रय मिला है। इसके भी दो रूप हैं—एक में आख्याता मुख्य पात्र होता है और दूसरे में गौण या नाम-पात्र का। पहले के उदाहरण हैं 'संन्यासी', 'बलचनमा', 'बांणभट्ट की आत्मकथा' आदि और दूसरे के 'कल्याणी', 'सेठ बांकेमल' आदि। इनमें से 'शेखर' में एक और वैचित्र्य है। इसमें आत्मकथात्मक शैली के मध्य इतिहास शैली भी है, क्योंकि शेखर स्वयं को प्रथम और अन्य पुरुष में बांट कर लिख रहा है। आश्रय शेखर कभी आलम्बन शेखर की कथा कहता है और कभी दोनों मिलकर एक हो जाते हैं। इस तरह आत्मपरकता तथा वस्तुपरकता का यहाँ अनोखा समन्वय हुआ है। 'अमृत और विष' में जहाँ उपन्यास के भीतर उपन्यास लिखा गया है, वहाँ आख्याता से सम्बन्धित उपन्यास आत्मकथा का भ्रमोत्पन्न करने के लिए आत्मकथा-शैली में लिखा गया है और दूसरा उपन्यास इतिहास-शैली में।

अन्तर्मन की अन्वेषणा करने वाले अनेक उपन्यासों में अभिव्यक्ति के निजी प्रकारों—पत्रों और डायरी—का प्रचलन भी बढ़ गया है। ये सब नाटकीय विधियाँ हैं। इनमें कथा पात्रों के मन में बनती है, उपन्यास में बनी बनाई नहीं मिलती। प्रेमचन्द-युग के उपन्यासों को पाठक जिस प्रसन्न भाव से पढ़ जाते हैं, वैसा यहाँ नहीं हो सकता। यहाँ पाठकों से तथ्यों के संकलन के लिए अतिरिक्त तत्परता, छूटे

---

१. Mendilow : "Time and the Novel", p. 114.
"The use of restricted point of view not only renders the reader-character indentification more easy,.. because it resembles the way people react in real life. We do not see ourselves as others see us. .. we know ourselves from the inside, we are to a greater or lesser extent omniscient about ourselves. As regard others however, we are mere spectators.."

२. Mendilow : "Time and the Novel", p, 114.
"This method is by way of a compromise between the omniscient and the autobiographical methods."

वर्णनों के अनुभव करने की सजग कल्पना, तथा मनोवैज्ञानिक व्यंजनाओं को समझने के लिए शिक्षित चेतना की अपेक्षा की जाती है, क्योंकि लेखक की 'रिपोर्ट्स' कम मिलती हैं। इससे उन्हें अपनी कमाई स्वयं खाने का रस मिलता है।[१] किन्तु कहीं-कहीं अभीष्ट स्पष्टता के अभाव में पाठकों को हानि भी उठानी पड़ती है।[२]

प्रेमचन्द-युग अभिधा से लक्षणा की ओर बढ़ा था और आलोच्य युग में अपेक्षतया व्यंजना प्रधान हो गई है। कथानकों में संकेत-शैली,[३] प्रतीक-शैली,[४] प्रतीकात्मक दृश्यों[५], पात्रों के सांकेतिक कर्मों (symptomatry acts) का विनियोग व्यंजना-प्रधानता के प्रमाण हैं। अतएव पाठकों को ऐसी कथाओं को समझना आयास-साध्य हो गया है। पात्रों के अचेतन के अनावरण के लिए स्वप्न-दृश्यों[६] की योजना की गई है, किन्तु उपन्यासकार प्रायः इनको स्पष्ट नहीं करते। इस तरह इन सब साधनों से कथा और भी सूक्ष्म हो गई है। इसका परिणाम यह हुआ है कि आज विशिष्ट उपन्यासों को समझने के लिए औपन्यासिक रूढ़ियों में प्रशिक्षित पाठकों की आवश्यकता है।

कथा की धारावाहिकता आज एक अन्य शैली से भी सप्रयोजन खंडित की गई है। वह है दृश्य-विधान की शैली। नाटक में दर्शक को समूर्त प्रत्यक्षीकरण का आनंद मिलता है। उपन्यासकार अपनी इस कमी को नाटकवत् विभेदित मूर्त दृश्यों की योजना द्वारा पूरा करता है, और वर्णन-विवरणों की कमी कर देता है। प्रेमचन्द-युग में दृश्यों का विधान कम हुआ है। किन्तु इस युग में वहिर्मुखी एवं अन्तर्मुखी सभी उपन्यासकारों ने दृश्यों की योजना की है। 'झांसी की रानी', 'दिव्या', 'नदी के

---

१. Edel : "The Psychological Novel", p. 139.
"From being listeners once removed from the scene, we have become actual participants, The effect is to make us use our eyes to see—and to feel what we have seen—rather than to rely upon someone else's report of what he has seen",

२. प्रभाकर माचवे का "परन्तु", जैनेन्द्र का "जयवर्धन", अज्ञेय का "अपने-अपने अजनबी", रघुवंश का "तन्तुजाल"।

३. "सुनीता", "व्यतीत", "बया का घोंसला और सांप", "सूरज का सातवाँ घोड़ा"

४. "सोया हुआ जल", "नदी के द्वीप", "सूरज का सातवाँ घोड़ा"।

५. "सोया हुआ जल", "सुनीता", "दो एकांत"।

६. "शेखर" "नदी के द्वीप", "बया का घोंसला और सांप", "सोया हुआ जल" "सूरज का सातवाँ घोड़ा", "बूँद और समुद्र", "संन्यासी", "जहाज़ का पंछी।

द्वीप', 'सुखदा', 'तट के बंधन', 'कठपुतली', 'यथार्थ के आगे', 'चित्रलेखा', 'नये मोड़' 'रोड़े और पत्थर', आदि में दृश्यों और विवरणों का संतुलित विनियोग हुआ है। सर्वप्रथम 'शेखर' के प्रथम भाग में इसका विपुल उपयोग हुआ, तदुपरांत 'मैला आंचल' तथा 'परती : परिकथा' में इसकी विशेष उन्नति हुई और 'सोया हुआ जल' तो सम्पूर्ण दृश्यात्मक उपन्यास ही है।

वस्तु-विन्यास के क्षेत्र में नए-नए प्रयोग हुए हैं और इन मे भी प्रायः कथा की धारावाहिकता टूटी है। इन प्रयोगों में वे उपन्यास प्रमुख हैं, जहां कहानी-रूप का विशेष आश्रय लिया गया है। प्रमाणतया 'सूरज का सातवां घोड़ा' में धर्मवीर भारती का अनेक कहानियों में एक कहानी कहने का आग्रह रहा है और 'बहती-गंगा' मे शिवप्रसाद मिश्र 'रुद्र' को परस्पर स्वतन्त्र, किन्तु धारा-तरंग-न्याय से बंधी सत्रह तरंगों (कहानियों) के बहाने का।

इन उपन्यासों में विगत युग की भारी भरकम घटनाओं के स्थान पर घटनाभासों, या स्थितियों या जीवन के क्षुद्र गति-लेशों, को महत्व मिला है।[1] क्योंकि इनसे, "मनुष्य की यथार्थ प्रकृति का वास्तविक परिचय प्राप्त होता है। बड़ी बातों से मानव-चरित्र की ऊपरी सतह का परिचय मिलता है और छोटी बातें उसके मर्म में छिपी हुई विशेषताओं को प्रकाश में लाती हैं।"[2] इस दृष्टि से इलाचन्द्र जोशी और जैनेन्द्र के उपन्यास देखे जा सकते हैं। बहिर्मुखी उपन्यासों में भी जीवन की क्षुद्रातिक्षुद्र नगण्य बातों को महत्व मिला है, किन्तु प्रायः चरित्राध्ययन के लिए नहीं, जीवन की यथातथ्यता का आभास देने के लिए। इसके लिए 'अश्क' जी का यह मन्तव्य पर्याप्त होगा—"नन्हीं-नन्हीं निरर्थक तफ़सीलों और उन छोटे-छोटे अकिंचन अति हेय पात्रों को—जिनसे हमारा जीवन-पथ अटा पड़ा है, और जिन्हें आसमान में लगी हमारी दृष्टि देखकर भी नहीं देख पाती--उस दैनिक जीवन की दलदल से निकाल, बना-संवार अपनी अन्यमनस्क, उदासीन आंखों के सामने इस प्रकार रखना कि आप उन्हें बरबस देखने और उनका नोटिस लेने को विवश हो जाएँ, कम कष्टसाध्य नहीं। सूर्य की भव्यता का दिग्दर्शन कराने वाली दूरबीन के मुकाबले में नन्हें-नन्हें अदृश्य, अकिंचिन कीटाणुओं को दिखाने वाली खुर्दबीन कम महत्वपूर्ण और उपादेय नहीं।"[3]

---

१. नरेश मेहता अपने "दो एकांत" उपन्यास के आरम्भ में लिखते हैं—"इस उपन्यास के चरित्र घटनाओं में नहीं, स्थितियों में खड़े हैं तथा अन्त में पहुंचते भी हैं। आपके जीवन में सामान्यतः घटनाएँ नहीं घटती बल्कि स्थितियां उत्पन्न होती हैं।"

२. इलाचन्द्र जोशी के "संन्यासी" में नंदकिशोर के शब्द, पृ० ३६२।

३. "गिरती दीवारें" की भूमिका।

'अश्क' स्टेण्डल की उस उक्ति में विश्वास करते हैं जिसमें उपन्यास की तुलना किसी राज-मार्ग पर स्वतः अग्रसर होते हुए ऐसे विशाल आईने से की गई है जिसमें आकाश की नीलिमा तथा रास्ते की कर्दमता की छाया प्रतिक्षण पड़ती रहती है।[1] इस उक्ति को उन्होंने अपने एक उपन्यास के नामकरण 'शहर में घूमता आईना' तक में चरितार्थ किया है। यथार्थवादी तथा प्रकृतिवादी कल्पित कथानक, या जीवनवत् कथानक नहीं, जीवन ही देने का प्रयास करते हैं[2] और वह भी 'खुर्दबीन' से देखा हुआ—जिससे कथा की एकता, रोचकता तथा रागात्मक प्रभाव-क्षमता को विशेष क्षति पहुंची है। ऐसे उपन्यासों में परिपार्श्व के सूक्ष्म पर्यवेक्षण तथा प्रणयन की प्रत्ययोत्पत्ति तो होती है, किन्तु कला का समानुपात-बोध कुण्ठित तथा कला का चयन-सिद्धांत अवहेलित हो जाने से उजागरीय पक्ष उभर कर सामने नहीं आते।[3]

आलोच्य युग के मनोवैज्ञानिक उपन्यासों में मूल कथा विगत युगों से प्रायः छोटी और अल्प-कालिक होती है, किन्तु पात्रों की विभिन्न स्थितियों तथा कर्म-प्रेरणाओं की व्याख्या तथा विश्लेषण में वह बढ़ जाती है। इससे कथा-गति प्रायः मंथर हो गई है।[4] प्रेमचन्द-युग में कथावस्तु की विपुलता घटना-प्रधानता के कारण थी व्याख्या-विश्लेषण के कारण नहीं; और वहां कथा-गति अपेक्षतया तीव्र थी।

इन अल्पसूत्री कथाओं को एक और तत्व ने भी दीर्घायित किया है। वह है दार्शनिकता तथा मतवादी सिद्धांत-मुखरता। पूर्ववर्ती-युग की चेतना कर्म-प्रधान थी, और इस युग की चेतना उसके मूल की खोज में, अथवा सत्यान्वेषण में तत्व-बहुल अथवा दर्शन-प्रधान हो गई है। इससे कथा शिथिल तथा रस क्षीण हो गया है।[5]

---

१. "शहर में घूमता आईना" के प्रारम्भ में अंग्रेजी में उद्धृत स्टेण्डल की यह उक्ति—
"My novel is a mirror of life and it reflects while it journeys down the high way, the blue of skies and the mire in the road below."

२. नागार्जुन ने अपने उपन्यासों में पात्रों के दिशा फराकत जाने या लघुशंका-निवृत्ति का बार-बार उल्लेख किया है। यशपाल ने पात्रों की गालियों को रिक्त स्थानों से व्यक्त किया है।

३. "अश्क" का "गिरती दीवारें", "शहर में घूमता आईना", तथा 'रेणु' का "मैला आंचल"।

४. इलाचन्द्र जोशी के उपन्यास, "शेखर", "पथ की खोज", "नदी के द्वीप"।

५. "पथ की खोज", "जयवर्धन", "बीज", "बूंद और समुद्र", "अर्थहीन", "अपने अपने अजनबी"।

किसी नई शिल्प पद्धति का अनावश्यक चमत्कार दिखाने के फेर में भी कुछ उपन्यासों का कथारस विलुप्त हुआ है।[1] इस युग में ऐसे भी उपन्यास मिलते हैं जिनमें कथा की प्रसन्न प्रवहमानता है तथा नूतन प्रयोगपरकता या घटनाओं के वैचित्र्य से जनित रोचकता भी, किन्तु उपन्यास के चरित्रांकन या मूल उद्देश्य को प्रायः क्षतिग्रस्त करने के कारण यह सिद्धि महंगी पड़ी है। सागर लहरें और मनुष्य, चलते-चलते, टूटा-टी-सेट मनुष्य के रूप, डूबते मस्तूल, चौदह फेरे, चारु-चन्द्रलेख, असंतुलन, सरहदों के बीच, जहाज़ का पंछी आदि उपन्यासों में रोचकता के साधनों और उनके उद्देश्य की प्रकृति में विरोध है। इनमें प्रायः संयोग या भाग्य के आकस्मिक एवं नाटकीय चमत्कारों का आश्रय लिया गया है। भगवतीचरण वर्मा भी भाग्य के चमत्कारों से कथा को रोचक बनाते हैं और भाग्यवाद उनका मुख्य उद्देश्य भी है। मनुष्य की 'सामर्थ्य' को उन्होंने सदा भाग्य की 'सीमा' से परिसीमित किया है--अतएव उन पर सही-स्वस्थ दृष्टिकोण न अपनाने की आपत्ति तो की जा सकती है किन्तु शिल्पविधि की दृष्टि से आपत्ति कम ही की जा सकती है। यह अवश्य है कि उनके उपन्यासों की कथानकगत रोचकता का कारण पूर्व-योजना की कृत्रिमता भी है, किन्तु उनकी पूर्वयोजना और भाग्यवाद की पार्थक्य सीमा को चीन्ह पाना कठिन हो जाता है। उपर्युक्त उपन्यासों की अपेक्षा ऐसे उपन्यास कम हैं, जिनमें उद्देश्य की गम्भीरता तथा कथा का सामंजस्य हो सका है; इनमें दिव्या, बाणभट्ट की आत्मकथा, मुसाहिबजू, सुहाग के नूपुर, शतरंज के मोहरे, संन्यासी, पर्दे की रानी, स्वाधीनता के पथ पर, पत्थर-अलपत्थर, बाहर-भीतर आदि-उपन्यासों के नाम लिए जा सकते हैं।

प्रेमचन्द-पूर्व युग के किशोरीलाल गोस्वामी ने अपनी विचित्र कथाओं की वास्तविकता की भ्रमोत्पत्ति के लिए कुछ उपन्यासों के मुख-पृष्ठ पर 'सत्य-घटना-मूलक'[2] लिखा था। इस स्थूल साधन के विपरीत आधुनिक उपन्यासकारों ने अधिक कलात्मक साधनों का आश्रय लिया है। जैनेन्द्र ने असाधारण पात्रों के अन्तरंगी वैचित्र्य को वास्तविक बनाने तथा स्वयं को तटस्थ दिखाने के साहित्यिक छल के लिए उपन्यासों के पहले कौशलपूर्ण प्रारम्भिक[3] लिखे हैं। इसी तरह धर्मवीर भारती ने माणिकमुल्ला की कथाओं को केवल प्रस्तुत किया है, स्वयं नहीं लिखा। राहुल ने सिंह सेनापति और हजारीप्रसाद द्विवेदी ने बाणभट्ट की आत्मकथा में अपने-अपने ढंग से ऐसी

---

१. रघुवंश का "तन्तुजाल", जिसमें चेतनाप्रवाह पद्धति का आश्रय लिया गया है।

२. किशोरीलाल गोस्वामी के "अँगूठी का नगीना" उपन्यास के शीर्षक के नीचे लिखे शब्द।

३. "त्यागपत्र", "कल्याणी", "जयवर्धन"।

कुशलता का उपयोग किया है। सुरेश सिनहा ने भी एक और अजनबी में मानों जैनेन्द्रीय प्रारम्भिक को विस्तार देकर अपने मित्र की डायरी को 'प्रस्तुत' किया है और स्वयं केवल सम्पादक बने रहकर तटस्थता की कला-सिद्धि की।[1] 'रेणु' ने दीर्घतपा उपन्यास के अन्त में "लेखक की स्वीकारोक्ति"[2] नामक परिच्छेद लिखकर अपने "उपन्यास को अप्रत्याशित ढंग से असफल" बनाने का उत्तरदायित्व उपन्यास की नायिका बेला गुप्ता पर ही डाल दिया है; और इस तरह परोक्ष रूप में अनोखी विधि से किसी वास्तविक वृतांत को लिख डालने की भ्रमोत्पत्ति करने का प्रयास किया है, जिसमें किन्हीं अन्य दुर्बलताओं के कारण वह असफल रहा है। भैरवप्रसाद गुप्त ने अन्तिम अध्याय उपन्यास में एक नए फिल्मी तरीके से वास्तविकता का निषेद्ध कर उपन्यास को वास्तविक बनाने का कौशलपूर्ण प्रयत्न किया है, देखिए— 'यह उपन्यास है। इसमें आये सभी पात्र और घटनाएँ कल्पित हैं। यदि किसी जीवित या मृत व्यक्ति से इस उपन्यास के किसी भी पात्र या उसके जीवन की किसी भी घटना की कोई समानता मिले तो उसे आकस्मिक तथा एक संयोग ही समझना चाहिए। यही ध्वनि अमृतलाल नागर के अमृत और विष के 'कथनीय' में मिलती है—"अन्त में यह सफाई देना भी आवश्यक है कि उपन्यास के सभी पात्र यथार्थ के प्रतीक होते हुए भी काल्पनिक हैं।"

आलोच्य युग के उपन्यासों के मुख पृष्ठ या आरम्भ के पृष्ठों पर देशी-विदेशी (और प्रायः अंग्रेज़ी में) कविताएँ देने की प्रथा भी चल पड़ी है। ये कविताएँ उपन्यास के प्रेरणा-स्रोत की ओर इंगित करती हैं या उपन्यास के प्रयोजन का संकेत देती हैं[3]।

कथा की प्रबन्ध-क्षमता मानवमात्र की एकता के आधार भावमय मर्मस्पर्शी स्थलों के समनुपातशील उपयोग में है। आधुनिक उपन्यासकारों में प्रेमचन्द की अपेक्षा सहानुभूति उत्पन्न करने की कमी बताई जाती है—और हमें भी यह सीमाओं में (अधिक नहीं) मान्य है—परन्तु यह ऐसी उपेक्षित भी नहीं है कि पाठक आज के अपेक्षतया श्रेष्ठ चिंतन-बहुल उपन्यासों के किन्हीं स्थलों पर भीग ही न सके। इसके प्रमाण में शेखर, बूंद और समुद्र, पथ की खोज, मुर्दों का टीला, दिव्या, बाणभट्ट की आत्मकथा, संन्यासी, तथा चित्रलेखा देखे जा सकते हैं। जैनेन्द्र के प्रारम्भिक लघु-

---

१. "एक और अजनबी," पृष्ठ १-३।

२. "दीर्घतपा," पृष्ठ १६१।

३. "यह पथ बन्धु था," "सूरज का सातवाँ घोड़ा", "वे दिन", "एक और अजनबी" "सुबह अँधेरे पथ पर," "एक और सब" तथा "नदी यशस्वी है।"

उपन्यासों—सुनीता, त्यागपत्र, कल्याणी—में भी संवेदनात्मक धरातल या भावों का क्रमबद्ध विकास दर्शनीय है। परिपुष्ट संवेदनात्मक धरातल की दृष्टि से सूरज का सातवां घोड़ा, चाँदनी के खंडहर, बहती गंगा, एक सड़क सत्तावन गालियाँ, समुद्र में डूबा हुआ आदमी, (कमलेश्वर) आदि उपन्यास भी उल्लेखनीय हैं। वृहत् या मध्यमकाय उपन्यासों में बया का घोंसला और सांप, कब तक पुकारूं, तट के बंधन, भूले बिसरे, चित्र, यह पथ बन्धु था, सुबह अँधेरे पथ पर तथा मृगनयनी आदि भी उल्लेखनीय हैं।

पूर्ववर्ती युगों से प्रेमचन्दोत्तर युग में कथा-संगठन शिथिल हुआ है, अतएव शिथिल वस्तु-गठित उपन्यास अधिक लिखे गए हैं। फिर भी, चौंकाने वाला गठन-शैथिल्य अभी नहीं आया। आलोच्य युग में औपन्यासिक गठन के आधार ये हैं:—१. शृंखलित कथा, २. प्रधान पात्र, ३. विशिष्ट समस्या या विशिष्ट उद्देश्य, ४. स्थान। इनमें से स्थान का उपादान ही नूतन है, जो पहले नहीं मिलता। नूतन आंचलिक उपन्यास प्रायः स्थान-विशेष-केन्द्रित होते हैं और ये देश-प्रधान उपन्यास हैं; जैसे मैला आंचल, परती: परिकथा, बहती गंगा आदि।

आलोच्य युग में कथानकों के आरम्भ-अन्त की कलात्मकता पर भी दृष्टि दी गई है। कुछ उदाहरणों से इनकी विविधता तथा सार्थकता का स्पष्टीकरण हो सकेगा। 'सुनीता' का आरम्भ सतही दृष्टि से देखने पर परम्परित लगेगा क्योंकि लेखक ने अभिधात्मक विधि से दो पात्रों का परिचय दिया है। किन्तु वास्तव में लेखक ने उसमें हरिप्रसन्न के चरित्र में विरोध का चमत्कार रखा है, जो पाठकों को उत्सुक बनाता है। यह चारित्रिक रहस्यमयता का उदाहरण है, जो सुनीता की प्रकृति का मूल है। इसका अन्त दाम्पत्य जीवन की सरसता से हुआ है। त्यागपत्र के करुणार्द्र आरम्भ से ही अन्त की झलक मिल जाती है और उसका अन्त तो और भी करुण-मार्मिक है। इसी तरह 'संन्यासी' के आरम्भ-अन्त में भी तारतम्य है। शेखर का आरम्भ, अन्त से ही नहीं हुआ, उत्सुक बना देने वाली आसन्न फांसी की घटना के प्रोन्नत धरातल से हुआ है। विशिष्ट मनःस्थिति में पात्र के दीर्घ स्मृत्यव-लोकन को इस कुशल आरम्भ ने ही स्वाभाविक सार्थकता दी है। इसका समापन काव्यात्मक भावोष्णता से प्रभावी बन गया है। सोया हुआ जल का आरम्भ-अन्त कौशलपूर्ण है। अन्त में प्रतीकात्मक कविता है और आरम्भ उपन्यास की प्रकृति के अनुकूल भिन्न व्यक्तियों की भीतर की कुण्ठाओं के परिचायक वार्तालाप से हुआ है। चांदनी के खंडहर के आरम्भ और अन्त में कलात्मक वैषम्य है—आरम्भ जितना ही हर्षोल्लास में बहाने वाला है, अन्त उतना ही रूलाने वाला। काठ का उल्लू और कबूतर में आरम्भ-अन्त के तारतम्य के आधार पर उपन्यास को शृंखलित करने तथा उपन्यास के सम्पूर्ण समय की कुशल व्यंजना की गई। 'अश्क' के 'पत्थर-अल पत्थर' का आरम्भ-अन्त भी इसी कौशल से हुआ है। 'बलचनमा' का आरम्भ अपनी

आत्मीय सादगी से प्रभावित करने वाला तथा अन्त अपनी अपूर्णता से चिन्तन को उद्बुद्ध करने वाला है। 'बिल्लेसुर बकरिहा' का अन्त सप्रयोजन लटका हुआ रखा गया है। इसी तरह बाणभट्ट की आत्मकथा का अन्त अपने उद्देश्य के अनुकूल सप्रयोजन अधूरा रहने दिया गया और फिर भी वह टीस छोड़ने वाला है। 'झांसी की रानी' का अन्त करूण-मार्मिक है। 'सुहाग के नूपुर' का समापन समग्र उपन्यास के विचार-सार को मार्मिक रूप से प्रस्तुत करता है। बूंद और समुद्र के अन्त में महिपाल की आत्महत्या मार्मिक एवं विचारोद्बोधक है किन्तु [illegible] की प्रगति के सम्बन्ध में लेखक का अभिधात्मक कथन विकलात्मक है। अमृत और विष का निष्कर्षांत समापन भी खटकता है। 'जहाज़ का पंछी' का आरम्भ ऐसा हुआ है जैसे कथा पहले ही चल रही हो किन्तु अन्त अप्रभावी है। टेढ़े मेढ़े रास्ते, चित्रलेखा, सागर लहरें और मनुष्य, चलते-चलते तथा मनुष्य के रूप के अन्त दुर्बल हैं। सही अन्त के अभाव में अन्तिम चारों रचनाओं को विशेष क्षति पहुंची है। इनसे उपन्यास के सुचिंतित तथा स्वाभाविक पर्यवसान करने की आवश्यकता उभरकर सामने आती है। इन उपन्यासों का समष्टि प्रभाव कुंठित हुआ है क्योंकि उपन्यास के समापन और मध्य की मूल हार्द में विरोध है। 'मृगनयनी' का अन्त वैचारिक तथा विधानगत असंगति का मुखर परिचायक है। रेणु के 'दीर्घतपा' का अन्त अपने अप्रत्याशित तत्व से चौंकाता है परन्तु आधारभूत पात्री बेलागुप्ता के चरित्रांकन की रेखाएँ क्षीण होने से अस्वाभाविक हो गया है।

कुछ उपन्यासों में कथानक का विभाजन-कौशल भी लक्षित होता है। उपन्यास के भिन्न-भिन्न प्रमुख पात्रों के आधार पर परिच्छेदीकरण परन्तु, पर्दे की रानी, नदी के द्वीप, काले फूल का पौधा में देखा जा सकता है। इनमें से परवर्ती तीनों उपन्यासों में कथा पात्र-सीमित दृष्टि से कही गई है और इससे चरित्रांकन कौशल में वृद्धि हुई है। 'शेखर' के दोनों भागों को प्रवेश के अतिरिक्त आठ खण्डों में बाँटकर लिखा गया है। इन खण्डों को शेखर के शील-विकास के आधार पर ऐसे प्रतीकात्मक नाम दिए गए हैं कि एक व्यक्ति-विशेष का विकास मानव-सामान्य के चरित्र-विकास की भी व्यंजना कर सका है, जिसमें शेखर के उद्देश्य एवं प्रभाव की व्यापकता को सिद्ध किया गया है। राजेन्द्र यादव ने 'सारा आकाश' को नायक के विकासानुकूल दो भागों में विभक्त कर तदनुकूल नाम दिए हैं—पूर्वार्द्ध, जिसका शीर्षक है 'सांझ' और नीचे लिखा है—बिना उत्तर वाली दस दिशाएं और उत्तरार्द्ध, जिसका शीर्षक है 'सुबह' और नीचे है—प्रश्न-पीड़ित दस दिशाएँ। उपन्यास का अन्त स्थूल तथा सांकेतिक दोनों अर्थों में

---

१. "शेखर", "नदी के द्वीप", "बूँद और समुद्र" आदि।

'सुबह' में हुआ है—नायक के तीव्र अन्तर्द्वन्द्वात्मक नए चिन्तन में प्रश्नों के जागरण में ही उसकी सुबह का प्रतिभास मिलता है। लक्ष्मीनारायण लाल के उपन्यास रूपाजीवा में शीर्षकानुकूल ही उसके परिच्छेदों का नामकरण बड़ा रूपया, छोटा रूपया तथा पीली दुअन्नी हुआ है। इनसे वह गतिशील काल-प्रवाह की व्यंजना कर सका है। यह पथ बंधु था में भी तीन सार्थक शीर्षकों में कथानक को संगुफित किया गया है।

चरित्र-चित्रण

आलोच्य युग में सर्वाधिक परिवर्तन मनोवैज्ञानिक उपन्यासों से अ. . . प्रेमचन्द-युग घटना-प्रधान था, या चरित्र और घटनाएँ साथ-साथ थीं; अब चरित्र ही केन्द्र में प्रतिष्ठित हो गया और शेष उपादान उसके चतुर्दिक चक्कर लगाने लगे। समष्टि-केन्द्रित उपन्यास अब व्यष्टि-केन्द्रित हो गया और व्यक्ति-चरित्र की प्रतिष्ठा हुई। समाज उपेक्षित नहीं हुआ, किन्तु वह नियामक भी न रहा और व्यक्ति वाह्य-समाज से नहीं, अपने भीतर से संचालित होने लगा। यहां वर्ग और वर्ग का नहीं, व्यक्ति का समाज से नहीं, व्यक्ति का व्यक्ति से भी नहीं, व्यक्ति का अपने आप से, अपने भीतर के बहुमुखी व्यक्तित्वों से संघर्ष प्रधान हो गया। इस तरह उपन्यास बहिर्जगत् से आभ्यन्तरिकता की ओर अभिमुख हुआ और वाह्य संघर्षों का स्थान अन्तः संघर्षों ने ले लिया। बहिर्जीवन की बहुरंगी व्यापकता एवं विविधता अन्तर्जगत की एकांगी अगाधता एवं रहस्यमयी विचित्रता में सिमट गई। प्रेमचन्द-युग के पात्रों में मन था, परन्तु अब अन्तर्मन का अन्वेषण हुआ। ऐसा नहीं कि पहले पात्रों में अन्तर्द्वन्द्व नहीं होते थे किन्तु एक तो उनकी मात्रा बहुत कम थी, दूसरे वे चेतन स्तर पर थे, अब उनकी मात्रा तो बहुत अधिक बढ़ी ही, अचेतन संघर्ष भी प्रधान हो गया। उपन्यास अन्तर्द्वन्द्वों से अन्तर्विवादों की ओर बढ़ा, क्योंकि व्यावहारिक मनोविज्ञान के स्थान पर मनोविश्लेषणवाद की प्रतिष्ठा हुई। पूर्ववर्ती लेखक अपनी संवेदना-क्षमता से मनोविज्ञान का चारित्रिक संगति के लिए व्यावहारिक उपयोग करते थे, किन्तु अब वही आधार हो गया। पात्रों के व्यक्त सार्वजनिक जीवन के स्थान पर उनके अव्यक्त निजी जीवन का अंकन हुआ और रहस्यावृत अतल गह्वरों में पैठने का प्रयत्न भी। पात्रों की क्रिया-प्रतिक्रियाओं के स्थान पर उनके मानस-उत्स का, उनकी अन्तःप्रेरणाओं, किंवा अचेतन प्रेरणाओं का अंकन प्रधान हो गया। इन प्रेरणाओं में भौतिक अथवा आर्थिक प्रेरणाओं की अपेक्षा उसकी सहजात वृत्तियों—मानव की जन्मजात प्रवृत्तियों—तथा संस्कारों को अधिक महत्व मिला। यह कहा गया कि व्यक्तित्व-निर्माण के मूल उपकरण स्वयं उत्पन्न होते हैं, समाज केवल उन्हें गति और दिशा देकर अच्छा या बुरा बनाने का उत्तरदायी हो सकता है—"मूर्ति का निर्माण हो सकता है, मृत्तिका का नहीं। उसी मिट्टी से अच्छी प्रतिमा भी

स्थापित की जा सकती है, बुरी भी, पर जहाँ मिट्टी ही न हो, वहाँ कितने भी प्रकार से, कितनी भी शिक्षा से, कितने भी जाज्वल्यमान बलिदान से मूर्ति नहीं बन सकती। दूसरी ओर जैसे मृत्तिका को कला की वस्तु बनाने के लिए कलाकार के स्पर्श की आवश्यकता होती है उसी प्रकार व्यक्ति के विकास के लिए विशेष परिस्थितियों की"।[1] इन्हीं संस्कारों या मूल प्रेरणाओं को समझने के लिए ही पात्रों के बाल-जीवन[2] के प्रत्यक्ष अथव परोक्ष चित्रण को विशेष महत्व मिला, और कथा में उसके सीधे उपस्थापन की कठिनाई के कारण तथा मनोवैज्ञानिक स्वाभाविकता—पात्रों को विशेष मानसिक स्थिति में लाकर उनके पूर्व जीवन के वृत्तों के उद्घाटन की वश्यता से मनोविश्लेषकों की पूर्व-वृत्तात्मक प्रणाली[3] (case history method) के विनियोग का विशेष प्रचलन हुआ है। इन प्रेरणाओं में काम और अहं का बहु-प्रसार मिलता है। किन्तु यह उल्लेखनीय है कि अपनी अन्तिम परिणतियों या मूल लक्ष्य में इनके समाज-पोषक स्वरूप को ही महत्व मिला है, समाज-शोषक या समाजघातक रूप को नहीं। उदाहरणार्थ जोशी जी ने व्यक्ति के अहं पर निर्मम प्रहार कर उसके उदात्तीकरण की ओर इंगित किया है; अज्ञेय ने अहं के संस्कार से आत्मविश्वास में उसको परिणति दी है; और जैनेन्द्र ने बहुधा अहं अथवा स्पर्धा को गला-घुलाकर समपर्ण में उसे नियोजित किया है। नन्दकिशोर, जैनेन्द्र की नायिकाएं, तथा शेखर का चरित्र इसके प्रमाण हैं। दमित काम भी प्रायः उदात्तीकृत होकर पात्रों के उन्नतोन्मुख होने का कारण बना है। हरिप्रसन्न, नन्दकिशोर, महीप (निर्वासित), राजीव (मुक्तिपथ), शेखर के चरित्र इसके उदाहरण हैं। पूर्व युग के बहिर्मुखी पात्रों के स्थान पर यहाँ अन्तर्मुखी पात्र लिए गए हैं शरीर-प्रधान पात्रों के स्थान पर मानस-प्रधान, क्रियारत मानवों के स्थान पर चिंतनरत, साधारण के स्थान पर असाधारण, सरल के स्थान पर जटिल, स्पष्ट के स्थान पर रहस्यमय, सर्वांगी के स्थान पर एकांगी, स्वस्थ मना के स्थान पर विकृत्त चित्त (neurotic) और सबल के स्थान पर प्रायः दुर्बल पात्र लिए गए हैं। पात्रों की भरमार यहां प्रायः तीन-चार पात्रों में परिसीमित हो गई है। और यह सब सप्रयोजन हुआ है। जैसे, पात्रों की एकांगिता तथा स्वल्पता अधिक गहराई में उतरने के लिए है, अपने प्रयोजन के अनुकूल उनके अचेतन के अंधकूप में डुबकी लगा कर उनकी कुछ-एक पशु-प्रवृत्तियों के उद्घाटन के लिए, या कुछ-एक मनोविकृत्तियों के अध्ययन के लिए है। विकृत

१. "शेखर : एक जीवनी" (प्रथम भाग), पृ० ३५-३६।
२. "शेखर," "संन्यासी', "पथ की खोज", "गिरती दीवारें", "धूमकेतु : एक श्रुति", "उसका बचपन", "नदी यशस्वी है" तथा "सूखा पत्ता"।
३. "गिरती दीवारें", "संन्यासी", "जहाज़ का पंछी", "बूँद और समुद्र"।

पात्रों का चुनाव उन्हें स्वस्थ बनाने के लिए है, उनके भीतर के 'मैले' को निकाल उनको धौला बनाने के लिए है। तात्पर्य यह है कि प्रायः अस्वस्थ पात्रों का स्वस्थ चित्रण तथा स्वस्थ प्रभावोत्पादन हुआ है। इनके पात्रों की दुर्बलता अपने भीतर की ग्रंथियों से परिचालित होने में है। इसलिए जैनेन्द्र के क्रांतिकारी पात्रों की उग्रता उभरती नही, और यदि उभरती भी है तो काम में विगलित होने लगती है। ये पात्र जो करना चाहते हैं वह हो नहीं पाता, और जो नहीं करना चाहते वह हो जाता है। शेखर जैसा अहं-प्रबल पात्र भी अन्तर्बाह्य परिस्थितियों से बाध्य होकर आत्महत्या का प्रयास करता है। आदर्शवादी, विचारक, तथा शिक्षक होकर भी चन्द्रनाथ (पथ की खोज) वेश्या के पास जाता है। समाज की विराट शक्तियों से संघर्ष के स्थान पर ये भीतर से ही संघर्ष करके रह जाते हैं। इस तरह प्रेमचन्दीय सूरदास का औदात्य यहाँ नहीं मिल सकता। जोशी ने तो उद्घोष किया है कि "वीर नायकों की गाथा लिखने वाले उपन्यासकारों की कमी नही है पर दुर्बल स्वभाव व्यक्तियों को कथानायक बनाने का सौभाग्य अकेले मुझे ही प्राप्त है"। वस्तुतः आज के मनोवैज्ञानिक अवबोधन की प्रक्रिया ने हमें नायक की मानसिकता के सन्निकट लाकर---उसके अन्तरतम का अनावरण कर ---उसके नायकत्व को समाप्त कर दिया है क्योंकि नौकर या मनोविश्लेषक के लिए कोई व्यक्ति नायक नहीं रह जाता।[१] दूसरी ओर समाजवादी प्रवृत्ति ने भी तथाकथित उच्च-आभिजात्य नायक को समाप्त कर दिया। प्रेमचन्द-युग में ऐसे पात्रों का चित्रण हो चुका था किन्तु इस युग में उसको विशेष आग्रह से गौरव दिया गया है---लघुता में महत्व की स्थापना की गई है---चतुरी चमार, बिल्लेसुर बकरिहा, बलचनमा आदि इसके प्रमाण हैं। फिर भी, हिन्दी के अन्तर्मुखी-बहिर्मुखी दोनों उपन्यासों में एक विशिष्ट अर्थ में, नायकत्व निःशेष कभी नहीं हुआ---कम अवश्य हो गया है। संघर्ष-परायण तथा संकल्प-दृढ़ पात्रों की सर्जना होती रही है--- शेखर, जितेन (परती: परिकथा), रत्ना (सागर लहरें और मनुष्य), बलचनमा, बिल्लेसुर बकरिहा, बसंत (चाँदनी के खंडहर), सज्जन, कर्नल, बाबाराम (बूँद और समुद्र), श्रीधर (यह पथ बन्धु था), परमात्मा बाबू (सुबह अँधेरे पथ पर) आदि ऐसे ही पात्र हैं। 'अमृत और विष' का आख्याता तो अर्नेस्ट हेमिंग्वे के 'बूढ़ा मछेरा और समुद्र' के मछेरे नायक से आद्यन्त स्फुरित[२]

---

१. David Daiches : "The present age", p 108. "No man is a hero to his valet—or to his psychoanalyst "

२. "अमृत और विष ", पृ० ६६, ७१६, इसका नायक आख्याता उपन्यास के अन्त में कहता है---"इन अज्ञान के प्रतीकों से जूझे बिना ही रह जाऊं, विश्राम करूं या मर जाऊं? तब तो मैं हेमिंग्वे के बूढ़े मछेरे से हार जाऊंगा।···मुझे जीना ही होगा। कर्म करना ही होगा।"

होकर कर्मशील बने रहने का प्रयास करता है। ऊपर हमने एक विशिष्ट अर्थ में नायकत्व के निःशेष न होने की बात इसलिए कही है क्योंकि ओ'फॉओलेन बलशाली पुरुष की धारणा और नायकत्व की धारणा को दो भिन्न चीज़ें मानते हैं।[1] उनके अनुसार एक तो बदमाश भी बलशाली हो सकता है अतएव एक व्यक्ति के कार्यों के प्रेरणा-उद्देश्य के जाने बिना नायकत्व की बात नहीं कही जा सकती।[2] तदनुसार हमने ऊपर जिन नायकों के नाम गिनाए हैं उनमें से सभी उच्चाशयों से प्रेरित रहे हैं। दूसरे ओ'फॉओलेन मानते हैं कि आज साम्बोधिक (conceptual) 'हीरो' का स्थान 'एंटीहीरो' ने लिया है। उनके अनुसार उपर्युक्त विशिष्ट चरित्र समाज की नहीं, स्वयं अपनी सृष्टि है, यानी लेखक की व्यक्तिगत सृष्टि। उन्होंने इसकी दो-तीन प्रधान विशेषताएँ लिखी हैं। यह पात्र सदैव समाज से परे अपने व्यक्तिगत विधानों को स्थापित करने में लगा रहता है। यह अपने स्रष्टा लेखक की तरह समाज में कदापि कोई नमूना नहीं देख सकता और अपना लक्ष्य विरल ही देख पाता है।[3] उपर्युक्त गिनाए गए नायकों में से कुछ में ये बातें भी यत्किंचित लक्षित की जा सकती हैं। यह भी उल्लेखनीय है कि आज मनोवैज्ञानिक आलोक में यदि व्यक्ति के दौर्बल्य को जान लेने से नायकत्व का प्रायः समापन हुआ है तो खलनायक भी नहीं बचा—उसकी खलता भी मानवीय हो गई है, वह तथाकथित शैतान नहीं रहा। इससे आज के मानव की सहानुभूति एवं दृष्टि का—कम-से-कम बौद्धिक धरातल पर—अवश्य विस्तार हुआ है।

इन दुर्बल पात्रों का भी अपेक्षतया सबल चित्रण हुआ है। प्रेमचन्द मानव की नैतिक दुर्बलताओं के चित्रण से बचते थे, नग्न यथार्थवादियों ने चित्रण किया भी तो रस लिया, किन्तु इन मनोवैज्ञानिक उपन्यासकारों ने पात्रों के नैतिक स्खलन की स्थितियों के अंकन से न तो बचाव किया, और प्रायः न ही उनमें रस लिया। इस जोखिम का सामना या तो उन्होंने अपनी कलात्मक तटस्थता की निरासक्त अंकन-क्षमता[4] से किया, या उन्हें कलात्मक सौन्दर्य-बोध[5] और व्यंजना के झीने आवरणों में लपेट कर प्रस्तुत किया।

प्रेमचन्दोत्तर युग के मनोवैज्ञानिक उपन्यासों के पात्र असाधारण हैं। यह असाधारणता

---

१. Sean O'faolain : "The vanishing Hero" p 16. "...the concept of hero and the fact of the brave man are two different things."
२. Ibid., p. 154.
३. Ibid , p. 16-17.
४. "शेखर", "पथ की खोज", "सुनीता", "ग्राम-सेविका", "वे दिन"।
५. "नदी के द्वीप"।

उनके शक्ति-पौरुष की नहीं, चित्तविकृतियों या मनोग्रंथियों से प्रेरित होकर असामान्य व्यवहारकी है, उनके अन्तर्बाह्य भिन्न दोहरे व्यक्तित्व की है; उनके भासमान सामाजिक स्वरूप की है,[१] उनके चेतन प्रयत्नों तथा अचेतन प्रेरकों के वैषम्य की विडम्बना की है। उदाहरणार्थ, नन्दकिशोर (संन्यासी) जयंती से विवाह काम-तृप्ति, या प्रेम-भावना, या घर वालों के कहने से बाध्य होकर नहीं करता, अपितु उसके गर्व-ध्वंस की प्रतिहिंसापूर्ण भावना से करता है। सुनीता का श्रीकाँत पुरुषोचित ईर्ष्या-भावना से मुक्त होकर अपनी पत्नी सुनीता को हरिप्रसन्न के प्रति समर्पित होने की प्रेरणा तथा अवसर देता है, और इसी उपलक्ष्य से सुनीता को पाने का लक्ष्य पूरा करता है। सुनीता को 'समूची' चाहने वाला हरिप्रसन्न उसके निरावृत होते ही उससे विरत हो जाता है। पथ की खोज के चन्द्रनाथ और साधना 'भैया-बहिन-प्रेम' के अन्तर्गत काम को पालते रहते हैं। कामोत्तेजना के चरम पर पहुंची हुई साधना स्वयं ही तृप्ति-कामना के लिए माँग प्रस्तुत करती है और स्वयं ही उससे विरत हो जाती है। इस तरह पात्रों के चेतन-अचेतन की द्वन्द्व-स्थितियाँ पात्रों के वैचित्र्य तथा अप्रत्याशित किन्तु मनोविज्ञान-सम्मत आचरणों में व्यक्त होती रहती हैं और प्रेमचन्दोत्तर कथा-क्षीण उपन्यासों की रोचकता का यही प्रधान आधार है। स्वयं में विरोध पालने वाले इन पात्रों के दोहरे व्यक्तित्वों के आचरण की मनोविज्ञान-सँगत विविध संभावनाएँ स्वयं में औत्सुक्य-कौतूहल के तत्व लिए रहती हैं।

इन असाधारण पात्रों से पाठकों के तादात्म्य का प्रश्न भी उठ सकता है। प्रेमचन्द के पात्रों की कलात्मक साधारणता से जिस सहज भाव से हमारा तादात्म्य होता था वैसे यहाँ नहीं होता। वस्तुत: यहाँ पात्रों से तादात्म्य इतना नहीं होता, जितना पाठक अपने प्रति सजग हो उठता है।[२] पात्रों के अन्त:विश्लेषण से प्रेरित होकर हम आत्मविश्लेषण करने लगते हैं। 'अज्ञेय' ने इसी तथ्य की ओर इंगित किया है—"शेखर मानवता के संचित अनुभव के प्रकाश में ईमानदारी से अपने पहचानने की कोशिश कर रहा है।···और कौन जाने, आज के युग में जब हम-आप सभी संश्लिष्ट चरित्र हैं, तब आप मापे कि आप के भीतर भी कहीं पर एक शेखर है, घोर ईमानदार।"[३] इसी में इन उपन्यासों के चरित्रांकन की सिद्धि है।

---

१. Edwin Muir : "The structure of the Novel", p. 47.

२. लिडेल के मत से तुलनीय —

While we know the characters of Miss Austen as we know our friends (if we are abnormally observant), we know Mrs. Woolf's characters as we know ourselves"—"A Treatise on the Novel", p. 93.

३. "शेखर : एक जीवनी" (प्रथम भाग) की भूमिका।

इन विरोधी आचरणों की संगति के लिए विश्लेषणका आश्रय लेना पड़ता है। यों भी पात्रों की विचित्र मनोगतियों को, मनोगुम्फों की विचित्र जटिलताओं को, स्पष्ट करने के लिए विश्लेषण का आश्रय लेना पड़ता है। इस तरह आलोच्य युग चरित्रांकन से चरित्र-विश्लेषण की ओर बढ़ा है। पात्रों के अचेतन के उद्घाटन के लिए इस युग के उपन्यासकार को अनेक अनोखे साधनों से काम लेना पड़ा है। अचेतन को उसके यथातथ्य अचेतन के रूप में ही व्यक्त नहीं किया जा सकता क्योंकि स्पष्टतया वह अचेतन जो है।[१] अतएव लेखक मनोविश्लेषकों के स्वप्न-विश्लेषण, शब्द सहस्मृति-परीक्षा,[२] स्मृत्यवलोकन-विश्लेषण, वाणी-स्खलन[३] तथा पूर्ववृतात्मक प्रणाली आदि अनेक साधनों का उपयोग करता है।

पात्रों के अनुभावों—मुखांकित भावों तथा कायिक मुद्राओं—के चित्रण की दृष्टि से भी मनोवैज्ञानिक उपन्यासों में विशेष विकास परिलक्षित होता है। प्रेमचन्द ने भी पात्रों के अनुभावो का उपयोग किया है किन्तु वहाँ पात्रों की वाह्य क्रियाएँ, घटनाएँ आदि ही प्रधान हैं। मनोवैज्ञानिक उपन्यासों के मानसप्रधान, अन्तर्मुखी तथा अन्तर्बाह्य—भिन्न पात्रों के वास्तविक आन्तरिक भावों तक पहुँचने के लिए इन अनुभावों के सुचयनित अंकन से कुशल सहायता ली गई है। प्रेमचन्द-युग की सीमा में लिखे चित्रलेखा से ही मुखांकित भावों के अध्ययन का विशेष प्राचुर्य आरम्भ हो जाता है। यह मनोविज्ञान के प्रभाव-वार्धक्य का सूचक है। अब इन अनुभावों का प्रयोग इतना बढ़ गया है कि विशेष अवसरों पर पात्रों के आनुभाविक मूक रहःसंलाप ही उनके आंतरिक भावों का परस्पर आदान-प्रदान करते हैं। इससे चरित्रांकन की स्वाभाविकता तथा मार्मिकता विशेष बढ़ गई तथा साथ-साथ पात्रों की अन्तर्व्यंजना भी होती रहती है। इन अनुभवों के भ्रामक या सही अध्ययन से कथा में मोड़ों तक की सर्जना की गई है।[४] यही नहीं अनुभावों के द्वारा पात्रों के गतिशील जीवन का इतिहास दिया गया है।[५] इन अनुभावों में विभिन्न उपन्यासकारों ने सर्वाधिक मुख[६]

---

१. Leon Edel : "The Psychological Novel", p. 55.

२. "जहाज़ का पंछी", "नदी के द्वीप"।

३. "बूँद और समुद्र।"

४. "बाणभट्ट की आत्मकथा।"

५. "बया का घोंसला और साँप।"

६. (क) अज्ञेय : "अपने अपने अजनबी" पृ० २०—"चेहरे की हर रेखा में इतिहास होता है।"

(ख) देवराज : "अजय की डायरी", पृ० १००—"उसके (हेम के) व्यंजक चेहरे के रंगमंच पर मानो प्रत्येक आंतरिक भावना का अभिनय होता है।"

का, और उसमें भी नयनों का, विशेष चित्रण किया है क्योंकि नेत्र भाव-वैविध्य की सर्वाधिक सम्प्रेषण-क्षमता रखते हैं। इसके बाद हाथ के उपयोग का स्थान आता है। पात्रों के अन्तस् की आनुभाविक व्यंजनाओं की कुशलता की दृष्टि से शेखर, नदी के द्वीप मृगनयनी, बूँद और समुद्र, सुहाग के नूपुर, इलाचन्द्र जोशी के प्रायः सभी उपन्यास, बाणभट्ट की आत्मकथा तथा चित्रलेखा आदि उपन्यास दर्शनीय हैं।

अन्तर्मुखी उपन्यासों की अपेक्षा यदि बहिर्मुखी या बहिरन्तरमुखी उपन्यासों की दृष्टि से देखा जाए तो प्रेमचन्द युगीन पात्र-प्राचुर्य तथा वैविध्य यहाँ और भी बढ़ा हुआ मिलता है। इनमें बूँद और समुद्र, अमृत और विष, मैला आँचल परती : परिकथा, भूले बिसरे चित्र, झूठा-सच विशेष उल्लेखनीय उपन्यास हैं, जिनमें साधारण से साधारण मनुष्य के स्पंदनों को सहानुभूति से सुना गया है। यही नहीं मानवेतर पात्रों को भी लिया गया है। इस दृष्टि से अंग्रेजी में हार्डी के उपन्यास विशेष चर्चा का विषय रहे हैं।[1] हिन्दी में बूँद और समुद में बिल्लियों के बाह्य चित्रण तथा स्वभाव का सुन्दर चित्रण हुआ है और इनका उपयोग ताई जैसे स्मरणीय पात्र की सर्जना में किया गया है। ताई के अन्तर्निहित अगाध वात्सल्य का अनावरण इन्हीं से हुआ है और इनके कारण भी उपन्यास में कुछ मर्मस्पर्शी रागपूर्ण स्थलों की सृष्टि हुई है। दुखी बैल के प्रति बलचनमा की द्रावक संवेदनशीलता उसकी सहृदयता पर मुहर लगा देती है।[2] 'रेणु' ने परती:परिकथा में कुत्ते (मीत) और घोड़े (मूंगा) के भाव-प्रदर्शक व्यवहारों का कुशल अंकन किया है। मानवीय संवेदना के विस्तार के साथ इन दोनों की मृत्यु उपन्यास में करुण मार्मिकता की सृष्टि करती है। इन्हीं के 'कई चौराहे' में एक कुत्ते और एक नेवले के आधार पर कुछ पात्रों का शील-प्रकाशन हुआ है।[3] यज्ञदत्त शर्मा के भुनिया की शादी में भैंस और कटिया की प्रकृति का पर्यवेक्षण मिलता है। काठ का उल्लू और कबूतर के पात्र उसके नाम से ही स्पष्ट हैं। रांगेय राघव के व्यंग्यात्मक उपन्यास हुजूर का आख्याता एक कुत्ता है। किन्तु सर्वाधिक सफल सृष्टि नागार्जुन के मानवीकृत वटवृक्ष के रूप में हुई है। नागार्जुन के देहात के अपार अनुभवों और आनुभूतिक सजीवता ने वटवृक्ष के रूप में, वृक्ष की स्वाभाविक प्रकृति की रक्षा करते हुए, एक ऐसे संवेदनशील पात्र की सृष्टि की है कि इसी के कारण यह उपन्यास अमर रहेगा। इसमें वनस्पति-विज्ञान से सम्मत वटवृक्ष की जन्म से मरण तक की सम्पूर्ण जीवनी आ गई है।

---

१. Duffin's : "Thomas Hardy", p. 131-37.

२. "बलचनमा", पृ० १८६।

३. "कई चौराहे", पृ० १०६, १०८-६।

आंचलिक उपन्यासों में समूह-पात्र के चित्रण का पृथक् वैशिष्ट्य मिलता है। 'रेणु' के उपन्यासों में इस चित्रण की सफलता का आधार नूतन सामूहिक शैली भी है, जिसमें कथा का विकास, कुछ मनोवैज्ञानिक उसन्यासों की तरह ग्रामीण पात्रों के दृष्टिकोण से किया गया है। इस शैली से जहाँ ग्रामकथा का विकास होता है, वहाँ पात्रों का चरित्राँकन भी साथ-साथ होता जाता है। मनोवैज्ञानिकता की दृष्टि से प्रेमचन्दोत्तर युग की अपेक्षतया बाह्योन्मुखी उपन्यासों में भी मनोवैज्ञानिकता का विशेष विकास हुआ है। इनके पात्रों में अन्तर्वाह्य प्रेरणाओं दोनों का योग मिलता है। इस दृष्टि से अमृतलाल नागर, रांगेय राघव, भगवतीचरण वर्मा, उपेन्द्रनाथ अश्क के उपन्यास देखे जा सकते हैं। इनके उपन्यासों में दोनों के कला-तत्वों के सार्थक समन्वय का प्रयत्न सफल होता दिखाई दे रहा है।

चरित्राभिव्यक्ति की दृष्टि से आज आत्मकथात्मक पद्धति, अन्य नाटकीय पद्धतियों— पत्र, डायरी—तथा पात्रों की आपसी टीका-टिप्पणियों का विशेष विकास हुआ है। आत्मकथात्मक पद्धति का प्रयोग-प्राचुर्य आत्मविश्लेषण-प्रवणता का परिणाम है और अन्य नाटकीय पद्धतियों का अवलम्बन लेखकों की तटस्थता-सिद्धि का। यों आत्मकथात्मक पद्धति में भी लेखक का लोप होता है। चरित्रोद्घाटन तथा चरित्राध्ययन में आज जिन अन्य पद्धतियों का आश्रय लिया गया है, वे हैं—

१. **उद्धरण-शैली**—इस शैली में पात्रों की तात्कालिक मनःस्थिति की व्यंजना होती है, क्योंकि इसमें उन्हें असामाजिक-अकथनीय भावनाओं की परोक्ष अभिव्यक्ति–दूसरों के शब्दों में निःशंक आत्माभिव्यक्ति—की सुविधा रहती है। उद्धरणों से पात्र अपने व्यक्तिगत भावों को किंचित् अवैयक्तिक बनाकर प्रस्तुत कर सकते हैं। यह शैली पात्रों की अभिव्यक्ति की पूर्णता में भी सहायक रहती है, क्योंकि उद्धरणों पर प्रायः महान व्यक्तियों की मुहर लगी रहती है। द्रष्टव्य—शेखर, नदी के द्वीप, बूँद और समुद्र, परन्तु, द्वाभा, सांचा, दिगम्बर, लोई का ताना, चलते-चलते, अपने-खिलौने आदि। चलते-चलते में भ्रामक उद्धरण-शैली का भी उपयोग किया गया है। इसमें पात्र अपनी बात को किसी के उद्धरण-चिन्हों में रख देते हैं।

२. **परिवेश-पर्यवेक्षण**—जिस स्थान या कमरे में कोई रहता है वहाँ की सज्जा सुरुचि, तथा वस्तुओं की प्रकृति एवं व्यवस्था आदि से उसका चरित्राध्ययन किया जा सकता है; क्योंकि एक व्यक्ति का घर स्वयं उसी का विस्तार है[१]। द्रष्टव्य—

---

१. Austin Warren and Rene' Wellek : "Theory of Literature", p. 229.
"A man's house is an extention of himself Describe it and you have described him."

परन्तु, बाणभट्ट की आत्मकथा, जहाज़ का पंछी, चलते-चलते, चलचनमा, एक और अजनबी (५-६-७)

३. सृजन-कार्य[1]—विश्लेषण, या (मनोवैज्ञानिकों के अनुसार) 'Style Analysis'[2]—पात्रों के चित्रों, कविताओं, उपन्यास-कहानियों आदि से चरित्र-व्यंजना । द्रष्टव्य—सुनीता, गिरती दीवारें, पथ की खोज, बूँद और समुद्र, दिगम्बर ।

४. पात्रों के सुलेख[3] से—'सुनीता' (पृ० ३३) तथा पुस्तक के विभिन्न पृष्ठों पर पात्रों द्वारा लगाए चिन्हों से—'अजय की डायरी' (पृ० ३०३) ।

५. पात्रों के क्रीत वस्तुओं के चुनाव की प्रवृत्ति से अजय की डायरी (पृ० १५६, १६८) ।

६. समाचार पत्रों की कतरनों के उपयोग से—परन्तु ।

७. गीत—पर प्रेरणा या स्वयं-प्रेरणा से गाए गीतों से । (द्रष्टव्य—नदी के द्वीप)

कथोपकथन

आलोच्य युग में चरित्र-चित्रण को महत्व मिलने के कारण कथोपकथन के तत्व को भी पूर्ववर्ती-युगों से अधिक महत्व मिला है । उपन्यासकारों ने पात्रों के चरित्रांकन, कथा के उपस्थापन तथा विचारों के प्रतिपादन में नाटकीय पद्धतियों का अधिक अवलम्बन किया है, क्योंकि कलात्मक तटस्थता की सिद्धि इन्हीं के माध्यम से सम्भव थी । वार्तालाप का प्रयोग-प्राचुर्य इस नाटकीय विधि का महत्वपूर्ण तत्व है और पाठकों में वर्तमानता तथा व्यवधान-शून्यत्व या अपरोक्षत्व की अभ्युत्पत्ति का

---

१. Hoffman : "Freudianism and the Literary Mind," p. 193.
"The artist is for a Freud a 'neurotic' who seeks and finds tn art a substitutive qualification of his thwarted desires."

२. J W. Allport : "A Survey of metho ds", 'Personality: A Psychological Interpretation', p. 379.
"Style Analysis refers to the study of all types of creative activity of a person. Among the accessible products of creative effort are prose and poetic writings, musical composition, dress ornamentation, room furnishing, drawing..."

३. J. W. Allport, "Expressive behavior," 'Personality : A Psychological Interpretation," p. 488.
"Many thoughtful students of personality and not professional graphologists alone. consider the analysis of handwriting to offer the best of all channels for psychodiagnostics. They argue handwriting is after all "brain writing."

स्यात् यह सर्वाधिक सुगम-स्पष्ट साधन है[1]। और यही विशेषता आलोच्य-युग के—विशेषतया मनोवैज्ञानिक—उपन्यासों में देखी जा सकती है। सोया हुआ जल तो लगभग कथोपकथनात्मक उपन्यास ही है।

आलोच्य युग के संवादों में प्रायः नाटकीयता की वृद्धि हुई है। इसके लक्षण हैं—लघुता, सजीवता, चुस्ती, प्रवाह, लोक-सुलभ सहज व्याकरण-व्यवस्था, अधूरे-टूटे कथन, व्यावहारिक शब्दावली, कहीं-कहीं आकस्मिकता, अभिनयोचित स्वाभाविक चांचल्य तथा वक्तव्य से सहचरित भंगिमा। अन्तरंग चरित्र-प्रधान उपन्यासों के वार्तालाप में विशेष व्यंजकता है। प्रेमचन्द के वार्तालाप में यह गुण समुचित मात्रा में नहीं। इन उपन्यासों में ये पात्रों के मन से बंधे हुए आते हैं। वे जैसे खोए-से, अपने अंतस् में बहुत कुछ दबाए से पात्रों के संवाद हैं। वे अपनी 'अयं' 'ऊं'—निरर्थक ध्वनियों—की शैली में चौंक-चौंक कर बात करते हैं। पात्र प्रायः अधूरे खुलते हैं, और खुलते भी हैं तो थोड़े ही शब्दों में खुलते हैं। इनकी असामाजिक स्थितियों का दुराव-छिपाव कहीं शब्दों-वाक्यों की आवृत्ति करता, कहीं बिन बोले बात करता, कहीं अन्तरालों में लड़खड़ाता, कहीं अधूरे-टूटे वाक्यों में बोलता, और प्रायः व्याकरण-विपर्यस्त वाक्य-विन्यास में अपनी अभिव्यक्ति करता है। "शब्द अधूरे हैं क्योंकि उच्चारण माँगते हैं"[2] अतएव शब्दों के अन्तराल, पदों-वाक्यांशों की यति एवं आवृत्ति, स्फुट कथनों आदि से अर्थों को सम्पूर्णता दी जाती है। इन मनोवैज्ञानिक उपन्यासों में शब्द-चयन की दृष्टि से पात्रानुसारिणी भाषा अत्यन्त कम है, किन्तु पात्रों की मनःस्थिति, परिस्थिति तथा उनकी शील-प्रकृति की व्यंजना का वैशिष्ट्य अवश्य है। इसका कारण यह भी है कि प्रायः ये सभी प्रशिक्षित होते हैं। उपर्युक्त विशेषताएँ अज्ञेय, जैनेन्द्र के उपन्यासों में पूर्णतया, तथा इलाचन्द्र जोशी के उपन्यासों में कुछ ही सीमा तक देखी जा सकती हैं। इस दृष्टि से नरेश मेहता के धूमकेतु : एक श्रुति तथा नदी यशस्वी है उपन्यास भी द्रष्टव्य हैं।

वार्तालाप के क्षेत्र में दूसरा उल्लेखनीय विकास अमृतलाल नागर, भगवती-चरण वर्मा, 'रेणु,' वृन्दावनलाल वर्मा आदि के उपन्यासों में मिलता है। इनमें, विशेषतया अमृतलाल नागर के बूँद और समुद्र में प्रत्येक पात्र को उसकी पृथक्-पृथक् बोली देने की अद्भुत क्षमता का परिचय दिया गया है। तात्पर्य यह है कि प्रेमचन्द के पात्रानुसारिणी भाषा-विनियोग की परम्परा में भी प्रभूत विकास हुआ है। पात्रों की शिक्षा-संस्कृति, वर्ग तथा स्वभाव की व्यंजना में 'रेणु' तथा नागर

---

१. Mendilow : "Time and the Novel", p. 112.

२. "नदी के द्वीप", गौरा के शब्द।

दोनों सफल रहे हैं। परन्तु 'रेणु' में स्थानिकता की व्यंजना अधिक होती है, तो नागर के पात्रों में उनकी निजता की। पात्रों की भाषा-शैली का प्रभूत वैविध्य, हास्य-विनोद-व्यंग्य, वाग्वैदग्ध्य, प्रत्युत्पन्न मतित्व, मार्मिकता, उद्धरणात्मकता, रसोक्तियाँ नागर, भगवतीचरण वर्मा, भगवतीप्रसाद वाजपेयी रांगेय राघव, और कहीं-कहीं यशपाल के उपन्यासों की सामान्य विशेषताएँ हैं। इनमें भी अमृतलाल नागर अधिक सफल हैं।

प्रेमचन्दोत्तर उपन्यासों के संवादों की कलात्मकता का आधार नानारूपी औचित्य भी है। मनःस्थिति-परिस्थिति-विशेष में किसी पात्र के कथन की मात्रा, भंगिमा, शैली, तथा प्रतिपात्रानुकूलता का औचित्य-निर्वाह श्रेष्ठ उपन्यासों में अवश्य हुआ है।

वार्तालापों में वाक्-संयम, वाक्-कौशल तथा व्यंजकता की वृद्धि हुई है तो सिद्धांतवादिता के कारण या दर्शन-बहुलता के कारण भाषणबाज़ी से विकृति भी आई है। इससे पात्र नेता बन जाते हैं या 'हिज मास्टर्ज़ वॉयस' और अपने साधारणत्व को खोकर वे पाठकों से दूर हो जाते हैं। इस दृष्टि से इलाचन्द्र जोशी, राहुल सांकृत्यायन, देवराज, नागार्जुन, भगवतीप्रसाद वाजपेयी, अमृतराय, अंचल आदि के उपन्यास देखे जा सकते हैं।

इस युग में कुछ नूतन संवाद-प्रकार भी आविर्भूत हुए हैं; इनमें समवेत, माध्यमिक, सांतराय, लिखित, दूरभाषीय (telephonic) स्फुट-प्रतीकात्मक, एकपक्षीय, तथा सामूहिक संवादों का नाम लिया जा सकता है। आगे इनकी संक्षिप्त व्याख्या द्रष्टव्य है।

समवेत संवाद—ऐसे संवादों में लेखक गुमनाम पात्रों के विभिन्न कथनों को उद्धरण चिन्हों में न रखकर, समवेत रूप में देता चलता है और भीड़ या समूह का 'गुलगपाड़ा'[1] सामने आ जाता है। तात्पर्य यह है कि यह समूह-पात्र के चित्रण में उपयोगी है। एक ही विषय या प्रसंग पर भिन्न-भिन्न प्रतिक्रियाओं के कथनों-प्रश्नोत्तरों से समाज की मनोवृत्ति का रोचक मूर्तीकरण इसकी विशेषता है।

माध्यमिक संवाद—इसमें एक-दूसरे की भाषा न समझने वाले दो (भिन्न-प्रांतीय) पात्रों की भाषा द्विभाषिए पात्र के माध्यम से चलती है। किन्तु द्विभाषिए का कार्य करने वाला पात्र-विशेष अपनी मनःस्थिति तथा स्वार्थ के अनुकूल कांट-छांट

---

१. "चलते-चलते", पृ० २४, २३६-३७; "बूँद और समुद्र", पृ०१३; "सुबह अंधेरे पथ पर", पृ० ३४२-४३।

कर दोनों ओर के कथन प्रस्तुत करता है। इस तरह मध्यस्थ पात्र का शील-प्रकाशन होता है।[१] अपने स्थूल रूप में यह संवाद-प्रकार मध्यस्थ पात्र का उपयोग तो करता है, किन्तु उसका चरित्र-प्रकाशन नहीं करता।[२]

सांतराय संवाद (इन्टरमिटेंट टाक)—इसमें संवाद-क्रम सतत् नहीं, अन्तरालों में चलता है। उदाहरणनर्थ, रेल के सफ़र में दो भिन्न डिब्बों में बैठे यात्री, गाड़ी के रुकते ही प्रत्येक स्टेशन पर आकर प्रायः एक ही विषय पर बात-चीत करते हैं। एक तो बीच-बीच के ब्रेक इन्हे अपने-आप में तटस्थता दे देते हैं; दूसरे इन्हें विचाराधीन विषय पर चिंतन का अवसर भी मिल जाता है। इस तरह यह वार्ता (नायक-नायिका) के आत्म-प्रकाशन को सहज बना देती है। इस तरह यह विरामी विधि का वार्तालाप है, या सांतराय संवाद।

लिखित संवाद—इस संवाद-शैली में परिस्थितिवश पात्र एक-दूसरे से लिखकर बातचीत करते हैं।[४]

दूरभाषीय संवाद—इसमें पात्र फोन से बातचीत करते हैं। इसमें पाठक के सामने एक ही पात्र रहता है। लेखक उसके कथनों को, अन्तरालचिन्हों के साथ इस रूप में सामने रखता है कि पाठक प्रतिपात्र के कथनों का अनुमान लगाता जाता है।[५]

स्फुट-प्रतीकात्मक अथवा सांकेतिक संवाद—इस संवाद में एक तो अधूरी बातों के टुकड़े रहते हैं, अतएव इन्हें स्फुट कहा गया है; दूसरे परस्पर असम्बद्ध विभिन्न गुमनाम व्यक्तियों से भाषित होते हुए भी ये सब मिलकर अपने स्थूल अभिप्रायों से भिन्न किसी सूक्ष्म अभिप्राय को संकेतित करते हैं, अतएव ये प्रतीकात्मक महत्व रखते हैं। स्वप्नों में आए संवाद भी प्रतीकात्मक हैं। उनकी सार्थकता स्थूल वाच्यर्थ में नहीं, सूक्ष्म प्रतीकार्थ में होती।[६] वे पात्रों के अचेतन के अनावरण के लिए है।

एकपक्षीय वर्णनात्मक वार्ता–संवाद के दो पक्षों में से इसमें (मुख्यतः, पूर्णतया नहीं) एक पक्ष सामने आता है और दूसरे की व्यंजना होती रहती है। इससे प्रवाह

---

१. "शेखर", पृ० १७२-७४।
२. "वे दिन" (निर्मल वर्मा), पृ० १८८।
३. "नदी के द्वीप", पृ० २३-२८।
४. "नदी के दीप", पृ० ११४-१५।
५. "दीर्घतपा", पृ० १८-१९, १५३-५५; "वे दिन", पृ० १०, ८८-८९।
६. "सोया हुआ जल"।

भी बना रहता है और वार्ता का आनंद भी मिल जाता है। यह वर्णन और वार्ता दोनों के बीच की विधि है।[1] जिन उपन्यासों में या जिन स्थलों पर पात्रों के सीमित दृष्टिकोण से कथा कही जाती है, वहाँ प्रायः ऐसी वार्ताविधि का आश्रय लिया जाता है।[2]

सामूहिक संवाद— इसमें लेखक पात्रों का नाम लिए बिना विभिन्न पात्रों के संवादों को ऐसे देता जाता है, जैसे उनका निजी महत्व नहीं और समूह-पात्र के अंग-रूप में ही उनका महत्व हो। इन संवादों का लक्ष्य समूह-पात्र का चरित्रांकन रहता है। आंचलिक उपन्यासों में इनका उपयोग हुआ है।[3]

एक से अधिक कामों के समकालवर्तित्व को दिखाने में संवाद में नया चमत्कार उत्पन्न हो जाता है; जैसे, 'अमृत और विष' में आख्याता के "कान सुन रहे हैं, आँखें पत्र पढ़ रही हैं।"[5]

देशकाल

प्रेमचन्दोत्तर युग में देश-काल के अंकन की दो विषम दिशाएं स्पष्ट हैं। एक ओर अन्तर्मुखी उपन्यासों में यह उपेक्षित उपकरण बन गया है, दूसरी ओर समाजवादी, एवं प्रकृतवादी उपन्यासों में इसे विशेष महत्व मिला है, और आंचलिक उपन्यास में वातावरण ही केन्द्र में प्रतिष्ठित हो गया है। इन सभी रूपों में यह उपन्यास के शाब्दिक नमूने का अभिन्न अंग बन गया है, हिन्दी के प्रारम्भिक उपन्यासों की तरह प्रायः सज्जा का साधन-मात्र नहीं।

अन्तर्मुखी उपन्यासों में व्यक्ति के अन्तर्लोक एवं निरपेक्ष-चिन्तन भाव-लोक को महत्व देने, तथा व्यक्तिवादिता के आग्रह के कारण बाह्य परिस्थितियों का चित्रण गौण या नगण्य है। उदाहरणार्थ 'नदी के द्वीप' को लीजिए। यों तो इसका प्रधान पात्र भुवन द्वितीय विश्वयुद्ध के 'वर्मा फ्रंट' पर भाग भी लेता है, किन्तु मूलतः वह अपने 'हृदय-

---

१. "नदी के द्वीप", पृ० ७२।

२. Merdilow : "Time and the Novel", p. 112.
There is intermediate form between dialogue and narrative, represented speech... This is compromise of direct and reported dialogue.."

३. "नदी के द्वीप", पृ० ४५, २१४; "चलते-चलते", पृ० ४३७-३८; "अजय की डायरी", पृ० ३०९-३२६।

४. "मैला आंचल"।

५. "अमृत और विष", पृ० ११३।

फ्रंट' पर ही रहता है। भुवन अपनी किसी आत्मग्लानि के कारण अपनी प्रेमिकाओं और अपने-आप से भागा फिरता है, और यह बर्मा-फ्रंट पर जाना उसी पलायन प्रवृत्ति का परिणाम है। केन्द्र उसके भावों की हलचल ही है। ऐसा प्रतीत होता है कि विस्फोटक परिस्थितियों का काल लेखक ने जानकर चुना है। इससे वह स्पष्ट करना चाहता है कि भीतर का भाव-विस्फोट इससे कितना निरपेक्ष, कितना अस्पृश्य, और कितना चिरंतन है। इस सम्बन्ध में लेखक ने चन्द्रमाधव तथा गौरा के पत्र-व्यवहार के माध्यम से जिस स्वकीय दृष्टिकोण का ध्वनन किया है उसे अन्तर्निष्ठ उपन्यासों का प्रतिनिधि दृष्टिकोण कहा जा सकता है और यह प्रेमचन्द-युग से एकांत भिन्न भूमि है। चन्द्रमाधव गौरा को पत्र में लिखता है कि क्या विश्व की इस संकटापन्न (द्वितीय विश्वयुद्ध के आसन्न संकट की स्थिति) में उसे संगीत की साधना पर्याप्त जान पड़ती है। उत्तर में गौरा लिखती है— "...मेरी समझ में तो एक विश्व-संकट यह भी है कि साधना आज इतनी नगण्य हो गई है कि हमारा साध्य जीवन का आनन्द न रह कर जीवन की सुविधाएँ रह गया है, यानी जीवन की हमारी परिभाषा ही बदल गई है; वह जीवन का नहीं, जीवन की क्रियाओं का नाम हो गया है। इसलिए आज हम जीवन की शोध की नहीं, जीवन की दौड़ की बात कहने लगे हैं; जीवन का बाह्यीकरण करते-करते हमने उसका बहिष्कार ही कर दिया है"।[1] स्वाधीनता को भी गौरा केवल सामाजिक गुण नहीं, एक दृष्टिकोण मानती है, व्यक्ति के मानस की एक प्रवृत्ति। स्वाधीनता के लिए मन की 'ट्रेनिंग' जरूरी है क्योंकि व्यक्ति ही समाज को बनाता है।[2] इस तरह जहाँ लक्ष्य जीवन का आनन्द और जीवन की शोध हो, और वह जीवन भीतर का सत्य हो—मन की प्रवृत्ति, मन की निरपेक्ष साधना और व्यक्ति का अन्तरंग भावलोक—वहाँ बहिर्लोक को महत्व देना, मात्र बाहर से थिगली लगाना होगा—तब और भी जब अज्ञेय जैसे अन्तर्निष्ट कलाकार पात्रों के भाव-लोक का प्रत्यक्षीकरण कराने एवं पाठकों को उनके अनोखे संसार में, रागपूर्ण स्थितियों में, लीन रखने की सामर्थ्य रखते हों। उक्त उपन्यासों में बाह्य जगत आएगा भी तो साक्षात् चित्रण के रूप में नहीं, व्यंग्य रूप में ही; और वह भी भीतर के निरपेक्ष महत्व को उजागर करने के लिए, जैसाकि 'नदी के द्वीप, में हुआ है। यही स्थिति 'सुनीता' में भी है जहाँ भाव का क्रमबद्ध विकास दिखाया गया है और जहाँ तीनों पात्र अपनी-अपनी ग्रंथियों में ग्रस्त हैं। वहाँ भारत की स्वाधीनता की समस्या, दरिद्रता-दुख आदि की बातें आई हैं किन्तु पात्रों के विचारों के रूप में, और वह भी मुख्यतः युक्तिकरण की मानसिक क्रिया-विधि का अंग बनकर,

---

१, "नदी के द्वीप", पृ० ७२।

२. वही, पृ० १८१।

बाहर-भीतर का भेद दिखाने के लिए। पारिवारिक जीवन का अंकन अवश्य कुछ हुआ है किन्तु वह भी उपलक्ष्य है, लक्ष्य लघु-लघु कार्यों के माध्यम से अन्तरंग का उद्घाटन ही है। 'त्यागपत्र' मनोविश्लेषणात्मक उपन्यास नहीं। वहाँ सामाजिक समस्या प्रमुख है, इसलिए कुछ बाह्य चित्रण भी है, परन्तु सामाजिकता की चिरन्तन दार्शनिक प्रश्नों में परिणति होने के कारण वहाँ भी यह अधिक नहीं - मानों सामयिकता में उलझा कर उपन्यासकार चिरन्तन प्रश्नों से हमारा अवधान विकेन्द्रित नहीं करना चाहता। अतएव एम० दयाल ने हस्ताक्षर के साथ काल—सूचक तिथि दी भी है तो लेखक ने उसे काट दिया है; क्योंकि इसके बिना वह काम चला सकता है और यह उसने सिद्ध भी कर दिया है। जैसे उपन्यासकार देश-काल के चित्रण से कथानक-पात्रों को यथार्थ बनाने का प्रयत्न करते हैं, यहाँ उसे बचाकर, बलात् काटकर यथार्थ बनाने का प्रयत्न किया गया है। वस्तुतः 'त्यागपत्र' के 'प्रारम्भिक' के ये शब्द कि "ऐहिक वर्णन अनिवार्य न होने के कारण बदल या कम कर दिये हैं" उपन्यासकार के जहाँ साहित्यिक छल के द्योतक हैं, वहाँ इन उपन्यासकारों के देश-काल की उपेक्षा करने और साथ ही उनको बचाकर उपन्यासों को बहुत-कुछ (पूर्णतया नहीं) सम्प्रत्यात्मक बना सकने की सामर्थ्य को भी प्रकट करते हैं। यह अवश्य है कि इससे उपन्यासों में कुछ असाधारणता बढ़ गई है। इलाचन्द्र जोशी के 'सुबह के भूले' तथा 'मुक्ति-पथ' में भी देश-काल की न्यूनता है क्योंकि केन्द्र पात्रों की मनोगति, भाव-स्थितियाँ, तथा उनकी अन्तर्प्रेरणाएँ हैं। उक्त उपन्यासों में तो वातावरण की न्यूनता है, किन्तु 'सोया हुआ जल' अचेतनोद्घाटन के लक्ष्य, तथा स्थान के रूप में केवल यात्रिशाला होने के कारण—बाह्य परिस्थितियों की दृष्टि से वातावरण-शून्य उपन्यास बन गया है, और इससे उसमें कोई त्रुटि नहीं आई।

बाह्य परिस्थितियों का चित्रण चाहे न हो किन्तु प्राकृतिक दृश्य-चित्रण के रूप में वातावरण-अंकन अवश्य हुआ है। 'सुनीता', 'सोया हुआ जल', इसका प्रमाण हैं। 'सुनीता' में लेखक ने हरिप्रसन्न को सुनीता के प्रति कामासक्त करने के लिए एकांत एवं रात की अनुकूल परिस्थिति के साथ नशीली प्रकृति के उद्दीपन का मधुर उपकरण भी दिए हैं। 'नदी के द्वीप' में नौकुछिया, तुलियन तथा दिल्ली के प्रसंगों में प्रकृति के सुरुचिपूर्ण चित्र अंकित हुए हैं। वे कहीं पात्रों की मनोभूमि के अंग हैं और कहीं स्वतन्त्र भी हैं—केवल कलाकुशलता से सौन्दर्यबोधात्मक आनन्द देने के लिए।[1] 'सोया हुआ जल' में रात और प्रभात के वातावरण का प्रतीकात्मक उपयोग भी हुआ है और पात्रों की छटपटाहट के अनुकूल रात की 'भयावह', 'मुर्दा खामोशी' का कुशल सांकेतिक चित्रण एवं सामंजस्य भी।

---

१. निर्मल वर्मा के "वे दिन" में भी प्रकृति के अनेक लघु-लघु चित्र स्वतन्त्र से हैं।

बहिर्मुखी उपन्यासों में वातावरण का अंकन प्रेमचन्द से भी बढ़ गया है। ऐसे उपन्यासों का दृष्टिकोण उपर्युक्त अन्तर्निष्ठ उपन्यासकारों से भिन्न है। अंचल के अनुसार—"मनुष्य का सामाजिक अस्तित्व उसकी चेतना को निर्धारित करता है; और यह कहना कि मानव-चेतना उसकी जीवन-सत्ता को निरूपित करती है, ग़लत है।"[1] साम्यवादी या मार्क्सवादी धारणाओं को लेकर चलने वाले उपन्यासों में इसलिए बाह्य परिस्थितियों का पर्याप्त चित्रण हुआ है। यशपाल, भैरवप्रसाद गुप्त, नागार्जुन आदि के उपन्यास इसके उदाहरण हैं। ये परिस्थितियों के अनुसार मनुष्य के रूपांतर प्रस्तुत करते हैं और अपने सिद्धांतों को सिद्ध करते हैं। ये सम्यवादी आदर्शवाद को लेकर चलते हैं।

तटस्थ रूप में सामाजिक परिपार्श्व का सूक्ष्म एवं व्यापक प्रतिरूपण, तथा तदनुकूल पात्र का उत्तरोत्तर विकास दिखाने में 'अश्क' का 'गिरती दीवारें' विशेष उल्लेखनीय है। इसके अतिरिक्त इसमें पात्र के संस्कारों की भी उपेक्षा नहीं हुई। इसी दिशा में अमृतलाल नागर का 'बूँद और समुद्र' भी अतीव सफल रहा है। और इसका चरम रूप यशपाल के 'झूठा-सच' में मिलता है जिसकी रंगभूमि अत्यन्त विशाल है।

भारत की राजनीतिक परिस्थितियों की प्रत्येक महत् घटना को केन्द्र बनाकर लिखने वालों में गुरुदत्त का नाम विशेष उल्लेखनीय है। उनके विभिन्न उपन्यास सब मिलकर मानों भारत के राजनीतिक जीवन का क्रमवद्ध इतिहास प्रस्तुत कर देते हैं। 'स्वाधीनता के पथ पर', 'विकृत छाया', 'स्वाराज्य दान', 'भावुकता का मूल्य', 'विश्वासघात' इसके प्रमाण हैं। इस दिशा में भगवतीचरण वर्मा, अश्क, नागार्जुन, रमानाथ त्रिपाठी, बलवन्तसिंह, यज्ञदत्त शर्मा, मन्मथनाथ गुप्त आदि के नाम भी उल्लेखनीय हैं। सेठ गोविंददास ने तो 'इन्दुमती' में कांग्रेस आंदोलन का साहित्यिक इतिहास ही प्रस्तुत कर दिया है। 'अश्क' का 'बड़ी-बड़ी आँखें' प्रतीकात्मक राजनीतिक उपन्यास है। देवनगर भारत देश का प्रतीक है और स्वप्नलोक में मग्न रहने वाले देवाजी से नेहरूजी के संकेत मिलते है। मनहर चौहान की 'सीमाएँ' एक युद्ध-उपन्यास है जिसमें पहली बार १९६५ के भारत-पाक के युद्ध-संदर्भ को यत्किंचित् सफलता से उपन्यस्त किया गया है।

वातावरण को पृष्ठभूमि से पुरोभूमि तक पहुँचाने वाले हैं आंचलिक उपन्यास। यहाँ देश ही नायक हो उठा है। यहाँ अंचल के बहुरंगी जीवन का प्रतिरूपण ही

---

१. "चढ़ती धूप" की "भूमिका", पृ० ४।

प्रधान है, शेष सभी तत्व, सभी पात्र उसी में सहायक हैं। 'रेणु' के उपन्यासों में जीवन का प्रतिबिम्ब नहीं बिम्ब ही देने का प्रयत्न किया गया है। क्षेत्र-विशेष का सूक्ष्म-विश्लिष्ट चित्रण इनका वैशिष्ट्य है। इनमें सीमित स्थानीय जीवन के मूर्त्ती-करण से व्यापकता की व्यंजना की गई है। ऐसे उपन्यासों में वातावरण केन्द्र में ही नहीं प्रतिष्ठित हुआ, उसमें स्थानीय रंगत उतारने के लिए विभिन्न लोकोपकरणों को पहली बार इतना महत्व मिला है। इस तरह भारतवर्ष की विभिन्न आंचलिक इकाइयों को उनके सभी ऐन्द्रिय संस्पर्शों—रूप, रस, गंध में साकार करने के विशेषित (specialised) प्रयत्न हुए हैं। इस दिशा में नागार्जुन, रांगेय राघव, देवेन्द्र सत्यार्थी, उदयशंकर भट्ट, राजेन्द्र अवस्थी, शैलेश मटियानी, यादवेन्द्र चन्द्र जैन, रामदरश मिश्र आदि के नाम उल्लेखनीय हैं।

आंचलिक उपन्यासों के साथ कालिक उपन्यासों का प्रवर्तन भी हुआ है। ये उपन्यास एक दीर्घ काल-खण्ड के युग-जीवन के प्रकाशन-ध्येय की दृष्टि से लिखे गए हैं। इनमें काल-खण्ड का अस्तित्व सामाजिक है, ऐतिहासिक नहीं। ऐसे उपन्यासों का प्रवर्तक भी आंचलिक उपन्यास 'बहती गंगा' है, जो साथ ही कालिक भी है—इसमें काशी के दो सौ वर्षों की झाँकियाँ प्रस्तुत की गई हैं। इस दिशा में भगवतीचरण वर्मा का 'भूले बिसरे चित्र' विशेष महत्वपूर्ण है। इसमें एक मध्यवर्गीय परिवार की चार पीढ़ियों के माध्यम से लगभग विगत अर्ध शती से ऊपर के जीवन के सामाजिक इतिहास को कथाबद्ध किया गया है।

एक ओर स्थानीय जीवन को लेकर उपन्यास लिखे गए हैं तो दूसरी ओर अन्तर्राष्ट्रीय देशकाल को लेकर भी उपन्यास सामने आए हैं। नरेश मेहता ने 'डूबते मस्तूल' की कथा को हालैंड देश में घुमाया है और वहाँ का वातावरण भी अंकित किया है। इस वातावरण के वैविध्य से कथा-रोचकता का वर्धन हुआ है। डॉ० देवराज के 'अजय की डायरी' की प्रकाशकीय विज्ञप्ति में यह उद्घोष है कि वह हिन्दी का पहला अन्तर्राष्ट्रीय उपन्यास है। यहाँ कथा भारत के अतिरिक्त अमरीका में भी विचरती है। प्रभाकर माचवे के 'जो' में एक अमेरिकी-नीग्रो के संघर्षरत जीवन की करुण कहानी कही गई है जिसका आधार भारत की अछूत समस्या के संदर्भ में अमरीका की नीग्रो समस्या का चित्रण है। निर्मल वर्मा के 'वे दिन' का केन्द्रीय स्थान चेकोस्लोवाकिया का प्राग नगर है। 'अपने अपने अजनबी' भी विदेशाधारित है।

एक ओर देश-काल की इतनी दीर्घता है तो दूसरी ओर देश और काल दोनों का अतिशय संकोचन भी हुआ है। आंचलिक उपन्यास तो प्रायः एकग्राम-केन्द्रित होते ही हैं किन्तु कुछ उपन्यासों में स्थान सिमिट कर एक कमरा, एक दूकान या एक

यात्रिशाला रह गए हैं। 'डूबते मस्तूल' की कथा हालैंड में घूमी है, किन्तु स्थान प्रधानतया केवल नायिका का कक्ष है, जहाँ वह अपनी जीवन-कथा सुनाती है। 'सेठ बांकेमल' में स्थान-सीमा केवल दूकान है। वहाँ सेठ जी अपने विगत अनुभवों को सुनाते हैं और दूकान का कार्य-व्यापार भी चलता रहता है। फिर भी, ये स्थान-सीमा सम्बन्धी वास्तविक प्रयोग नहीं हैं, क्योंकि मूल कथा दोनों में बड़ी दूर-दूर घूमी है। किन्तु 'सोया हुआ जल' में स्थान-संकोचन का वास्तविक अभिनव प्रयोग हुआ है। वहाँ सारा कार्य-व्यापार, एक नाटक के सीमित रंगमंच के समान, यात्रिशाला में परिसीमित हो गया है। अज्ञेय के 'अपने-अपने अजनबी' में भी कथानक का अधिकांश भाग एकांत सीमित स्थान—बरफ़दबे काठघर—में केन्द्रस्थ हो गया है। इस अतिशयत-अतिरंजित स्थिति (extreme situation) का चुनाव सप्रयोजन हुआ है, चमत्कार के लिए नहीं। अस्तित्ववादी मृत्यु-साक्षात् के सूक्ष्म क्षण का विश्लेषण करते हैं क्योंकि यही क्षण ही चरम जीवन-बोध का क्षण है और बरफ़दबे काठघर में यही मरण-सम्भव परिस्थिति है। किन्तु अज्ञेय ने मृत्यु-साक्षात् के क्षण को नहीं, अवस्था को, कालव्यापी परिस्थिति को अन्य सब परिस्थितियों से पृथक् करके एकाँत भाव से देखने-दिखाने के प्रयत्न में आसाधारण परिस्थिति का चुनाव किया है।[१] रमेश बख्शी के 'आठारह सूरज के पौधे' का वातावरण रेलगाड़ी से सम्बद्ध है—यह एक रेलवे कर्मचारी के पठानकोट से बम्बई तक की यात्रा में स्मृत्यवलोकन या प्रत्यवलोकन की कहानी है। नायक का जीवन अपने जन्म से लेकर (क्योंकि नायक का जन्म रेलयात्रा में हुआ) आगे तक—गलत गाड़ी में बैठने के कारण अपनी प्रेमिका से छूटने की-सी परिस्थितियों तक—इस तरह रेलयात्रा से सम्बद्ध है कि इस रेलयात्रा में प्रतीकात्मक अर्थ गर्भित हो गया है। रेल की एकदम यांत्रिक ज़िंदगी और पूर्वनिर्धारित नियति—"कहीं कोई झगड़ा नहीं, सबके डिब्बे निश्चित, सबकी जगहें निश्चित, सब कुछ इतना तय, इतना अधिक निश्चित, इतना अधिक पटरी पर कि दूर से देखने पर आदमी आदमी नहीं मशीन लगता है।" स्थान-सीमा के समान काल-सीमा में भी क्रांति हुई है। गिरिधर गोपाल के 'चाँदनी के खंडहर' में केवल एक दिन-रात की कथा है तो 'सोया हुआ जल' में रात से प्रभात तक के छः-सात घण्टों की। और इन दोनों उपन्यासों में प्रयोग, प्रयोग के लिए नहीं हैं, इनकी अपनी सार्थकता है। 'सोया हुआ जल' ने सिद्ध कर दिया है कि सीमित समय में जीवन के खंड-विशेष को अंतर्भेदिनी तथा अणुवीक्षणीय दृष्टि से देखकर ऐसा चित्रित किया जा सकता है कि सम्पूर्ण वास्तविकता की व्यंजना हो सके। 'चांदनी के खंडहर' में सीमित काल के शिल्प के

१. अज्ञेय कृत "एक बूँद सहसा उछली" पृ० २५८, लेखक का परोक्ष स्पष्टीकरण।

कारण ही मध्यवर्गीय जीवन-वैषम्य के चित्र में अपूर्व घनता एवं नायक के अंतस्संघर्ष में परिपूर्ण तीव्रता लाकर सिम्फनिक प्रभविष्णुता की सिद्धि की जा सकी है। इस तरह हिन्दी-उपन्यास ने स्थान-सीमा सम्बन्धी प्रयोगों से गहराई की ओर प्रयाण किया है। ये प्रयोग लघु-उपन्यासों में हुए हैं जिनकी भावाभिव्यक्ति तथा प्रभावान्विति में इनसे निश्चित योग मिला है।

सारांश में, प्रेमचन्दोत्तर युग ने देशकाल-चित्रण के उपयोग-अनुपयोग, विस्तृति-परिमिति, प्रसार और संकोचन में ध्रुवान्त सीमाओं का निर्माण किया है।

शैली

प्रेमचन्दोत्तर-युग में विषयों में बहुरूपता आई, अनेक वैशिष्ट्यवान उपन्यास लिखे गए और अनेक व्यक्तित्व सम्पन्न उपन्यासकार हुए अतएव तदनुकूल शैली-वैविध्य तथा शैली-वैशिष्ट्य भी आया। उदाहरणार्थ, पूर्ववर्ती युग से अन्तर्निष्ठ मनोवैज्ञानिक उपन्यास एकांत भिन्न हैं अतएव पहला शैली-परिवर्तन इनसे आया। 'परख' और उससे भी बढ़कर 'सुनीता' इसके प्रमाण हैं। इस मनोवैज्ञानिक धारा की भाषा-शैली सम्बन्धी कुछ सामान्य विशेषताएँ हो सकती हैं किन्तु इसके अग्रणी तीनों उपन्यासकारों—जैनेन्द्र, इलाचन्द्र जोशी तथा 'अज्ञेय' का अपना-अपना विशिष्ट व्यक्तित्व है अतएव इनकी शैली भी एक-दूसरे से एकान्त भिन्न हो गई है। अतएव शैली का निर्धारण विषय से कहीं अधिक व्यक्तित्व से सम्बद्ध है। यही बात बहिर्निष्ठ समाजवादी उपन्यासों के सम्बन्धों में कही जा सकती है। यशपाल, राहुल, नागार्जुन, अंचल सभी की शैली एक-दूसरे से पृथक् है। यों कहना चाहें तो स्थूल रूप में कहा जा सकता है कि जितने उपन्यासकार हैं, उतनी ही उनकी भाषा-शैलियाँ हैं; किन्तु जैसे अनेक मनुष्यों में से हमें कोई कोई ही आकर्षित कर सकता है, और समूह में हम किसी-किसी के व्यक्तित्व की ही पृथक् पहचान कर सकते हैं, वैसे ही शैली की भी स्थिति है। सभी लेखकों की भाषा के गुण उस शैली-स्तर तक नहीं पहुँचते जहाँ वह उभर कर दूसरे लेखकों की भाषा से अपने निजत्व के पार्थक्य की पहचान करा सकें। उदाहरणार्थ प्रेमचन्द-युग में यों तो अनेक लिखते थे किन्तु शैली-वैशिष्ट्य की दृष्टि से प्रेमचन्द, 'प्रसाद', 'उग्र', 'हृदयेश', चतुरसेन शास्त्री आदि ही अधिक उजागर हो सके। इस युग में यह संख्या पाँच-छै तक सीमित नहीं, अधिक विस्तृत है। जैनेन्द्र, इलाचन्द्र जोशी, अज्ञेय, भगवतीचरण वर्मा, अश्क, यशपाल, अमृतलाल नागर, नागार्जुन, वृन्दावनलाल वर्मा, राहुल, हजारीप्रसाद द्विवेदी, 'रेणु' शिवप्रसाद मिश्र 'रुद्र', धर्मवीर भारती, नरेश मेहता आदि में अपना-अपना शैली-वैशिष्ट्य है।

प्रेमचन्द-युग से गद्य-शैली की चौंकाने वाली भिन्नता एवं नव्यता के प्रतिष्ठापयिता की दृष्टि से अग्र-गण्य नाम जैनेन्द्र का है। उन्होंने अपनी दार्शनिक रुचि, चिंतनरत मानस-प्रधान पात्रों, तथा मनोवैज्ञानिक विषय के निर्वहन के लिए एक विशिष्ट शैली निर्मित की है। सरल भाषा में लाक्षणिक वक्रता तथा व्यंजकता—सारतः सरल वक्रता—जैनेन्द्रीय शैली का वैशिष्ट्य है। बात साधारण हो चाहे गम्भीर, व्यावहारिक हो चाहे दार्शनिक, वे शब्द-चयन की दृष्टि से सरल भाषा का ही प्रयोग करते हैं; परन्तु विशेषता यही है कि वह अपनी विदग्धता, बानगी, सूत्रात्मकता और लोच से आकर्षित करती है—भाषा सरल होते हुए भी प्रायः रीतियित (stylized) होती है। लघु-लघु वाक्य जैनेन्द्र की विशेषता हैं। इनमें अन्तर्द्वन्द्वों के अंकन, चिंतनभार के संवहन तथा भावावेगों के संतुलन की प्रभावी क्षमता है। यह आत्म-विकास की, चिंतन की, मन की भाषा है, अतएव धारा-वाहिक प्रवाह से नहीं अपितु रुक-रुक कर, पाठकों की चिंतन-परतों को कुरेदती हुई, आगे बढ़ती है। इस भाषा का दूसरा पक्ष लेखक की उस स्वतन्त्र रुचि में है जो शब्दों को जुटाने, बनाने और बिगाड़ने तथा व्याकरण की दृष्टि से असंख्य चिन्त्य प्रयोग करने में कोई बंधन नहीं मानती। इसका कारण एक तो उनकी स्वभावज लापरवाही है, दूसरे अंग्रेज़ी की अतिरिक्त प्रभावशीलता।[1] इस तरह जहाँ जैनेन्द्र ने यह सिद्ध कर दिया है कि प्रभावी गद्य-लेखन के लिए भाषा का व्याकरण-व्यवस्थित या परिमार्जित होना अनिवार्य नहीं,[2] वहाँ यह भी कि सामाजिक अभिव्यक्ति के सुलभ साधन भाषा को सुबोध बनाए रखने के लिए व्याकरण की इस सीमा तक अवहेलना कदापि उचित नहीं। इसके अतिरिक्त जैनेन्द्र अपनी भाषा तथा पात्रों की भाषा में अन्तर नहीं ला पाते—यह उनकी भाषा-सामर्थ्य की सीमा है।

इलाचन्द्र जोशी की शैली जैनेन्द्र से एकांत भिन्न है। जैनेन्द्र यदि सरल बात

---

१. (क) डॉ० जगन्नाथप्रसाद शर्मा : "हिन्दी की गद्य-शैली का विकास", पृ० १७४।

"जैनेन्द्र की भाषा में अत्यधिक अंग्रेज़ीपन है। शब्दों के प्रयोगों और वाक्यों के विस्तार दोनों में वही बात है।"

(ख) डॉ० विनयमोहन शर्मा : "साहित्य, शोध, समीक्षा", पृ० २३।

"जैनेन्द्र का गद्य अज्ञेय के समान ही अंग्रेज़ी चिंतन का रूपांतर होता है :"

२. इस सम्बन्ध में मिरियम ऐलट का मत द्रष्टव्य है :—

"It must be said at once that this does not mean that in order to be a good novelist it is necessary to be an accurate stylist."
—"Novelist on the Novel", p. 218.

को कुछ वक्रता से कहते हैं तो जोशी जी कुछ दबदबे से । उनकी संस्कृत-निष्ठता का अतिरेक तथा शब्द-चयन की बोझिलता इसके प्रमाण हैं । इसलिए उनमें जैनेन्द्र की भाषा-जैसी लोच और अदायगी नहीं । यह जैनेन्द्र से अधिक कवित्वमय है । इस काव्यमयता का सौन्दर्य प्रायः प्राकृतिक चित्रणों में मिलता है जहाँ भाषा के वेग, ओज तथा औदात्य की संयुक्त प्रभविष्णुता मिलती है—उसमें ये समास-संधि-युक्त शब्द-स्फीतता अपनी उपयोगिता सिद्ध करती है किन्तु अन्यत्र प्रायः यही आक्रांत करती है।

विषयानुरूप परिवर्तनशीलता इनमें जैनेन्द्र से अधिक है। अपनी और पात्रों की भाषा में भेद भी अपेक्षतया अधिक है। इनकी भाषा का जैनेन्द्र की भाषा की अपेक्षा अधिक विकास हुआ है। 'जयवर्धन' और 'जहाज़ का पंछी' के तुलनात्मक अध्ययन से इसका प्रमाण मिल सकता है । इलाचन्द्र जोशी की पृथक् विशेषता वैज्ञानिक क्षेत्र से उपमाएँ जुटाने में भी है।

'अज्ञेय' इन दोनों से भिन्न हैं। प्रेमचन्द यदि व्यावहारिक जनभाषा के उन्नायक थे तो अज्ञेय अभिजात भाषा के। इनके विशिष्ट क्षेत्र से लिए हुए असा-धारण एवं प्रशिक्षित पात्र, विशेष प्रकार की जीवन-स्थितियों का चयन तथा लेखक का स्वकीय स्वभाव भी इस भाषा-आभिजात्य के लिए उत्तरदायी हैं। "शेखर" की भाषा में शेखर के अहं तथा विद्रोहशक्ति (will to revolution)[1] की गाथा कहने की हार्द के अनुकूल ओजस्वी दीप्ति है। 'अन्तः कथा' तथा 'अन्तर्वेदना' की अभि-व्यक्ति के लिए आत्मविवाद की शैली का यहाँ भी प्राचुर्य है। विश्लेषणार्थ तथा प्रभाव-वर्द्धन के लिए तीखी भिन्नता वाले तथा एक-दूसरे के अर्थ को स्पष्ट-पुष्ट करते हुए भावार्थ को घनता-व्यापकता देने वाले शब्द-पर्यायों का एक-साथ प्रयोग अज्ञेय की शैली की सामान्य विशेषता है। भाषा-शक्ति को बढ़ाने के लिए इनका कवि इनके साथ रहा है। इसलिए 'शेखर' में प्रसंगानुकूल कहीं रेखाचित्रात्मक, कहीं गद्यकाव्यात्मक और कहीं प्रतीकात्मक शैलियों का आश्रय लिया गया है। 'नदी के द्वीप' की भाषा-शैली में निश्चित विकास हुआ है। यह अपूर्व शिल्पित है। इसमें स्वाभाविक परिष्कृति, अभिजात सादगी, मंजी कांति तथा सुन्दर-सधे वाक्यों के संतुलित प्रवाह का सम्मोहन है। प्रत्येक शब्द कटा-छंटा सुगढ़ित है तथा वाक्यों में प्रभावी सार्थकता एवं लयात्मक माधुर्य से अनुक्रमित। इस भाषाशिल्प का अपना सौन्दर्य बोधात्मक आनंद है तथा इसके ध्वन्यात्मक प्रभाव ने उपन्यास के समस्त वाता-वरण को एक अपूर्व माधुर्य से आपूर्ण कर दिया है। 'नदी के द्वीप' की कथा क्योंकि विभिन्न पात्रों के दृष्टिकोण से कथित है अतएव इसमें यह आवश्यक था कि विभिन्न

१. "शेखर" (पहला भाग), पृ० ४३-४४।

परिच्छेदों में भाषा का परिवर्तन लक्षित हो। कलात्मक स्तर को स्थिर रखते हुए यह परिवर्तन यहाँ अधिक नहीं किन्तु मिलता अवश्य है। अभिजात भाषा के सौन्दर्य और व्यंजनाओं के लिए मोहन राकेश का 'अंधेरे बन्द कमरे', नरेश मेहता का 'यह पथ बंधु था' और निर्मल वर्मा का 'वे दिन' भी उल्लेखनीय हैं। इसी संदर्भ में धर्मवीर भारती के 'सूरज का सातवाँ घोड़ा' का नाम भी लिया जा सकता है। यह उल्लेख दो विशिष्टताओं की दृष्टि से किया गया है। विभिन्न कहानियों में उपन्यास-लेखन का प्रयोग तब ही सफल हो सकता था जब कहानियों के अपने-अपने विषय एवं वातावरण के अनुकूल उनकी भाषा-शैली का परिवर्तन भी उनमें योग दे और इसमें भारती सफल रहे हैं। उदाहरणार्थ तीसरी कहानी के समय यह सही आलोचनात्मक मंतव्य मिलता है "यहाँ पर मैं साफ कह दूँ कि या तो कहानी के विषय-वस्तु के कारण हो, या उस दिन की सर्वग्रासी उमस के कारण, लेकिन उस दिन माणिक मुल्ला की कथा-शैली में वह चटपटापन नहीं था जो पिछली दो कहानियों में था। अजब ढंग से नीरस शैली में वे विवरण देते चले जा रहे थे और हम लोग भी किसी तरह ध्यान लगाने की कोशिश कर रहे थे। उमस बहुत थी, कहानी में भी कमरे में भी।"[1] दूसरी विशेषता इस उपन्यास के प्रच्छन्न हास्य-व्यंग्य में है—ऐसे हास्य में जो विषयानुरूप अधिक तकलीफ भी देता है और प्रसादन भी करता है। यह सब लेखक के अद्‌भुत भाषाधिकार तथा कलात्मक तटस्थता से सम्भव हो सका है। विभिन्न कहानियों में कहीं भाषा सरल-सादी है, कहीं चटकीली-रंगीन, कहीं नाट्यात्मक, और कहीं प्रतीकात्मक।

ऊपर हम ने विषय के साथ एकात्म हुए हास्य-व्यंग्य की चर्चा की है। यह प्रेमचन्दोत्तर उपन्यासों की नई उपलब्धि है। निराला के 'बिल्लेसुर बकरिहा' में भी परिहास-तत्व का कुशल विनियोग हुआ है। रेणु के उपन्यासों में इसका चरमोत्कर्ष मिलता है। प्रसादन और प्रयोजन के सहास्तित्व में इस तटस्थ व्यंग्य-परिहास की सार्थकता है।

प्रेमचन्द की जनभाषा को अपने-अपने व्यक्तित्व का योग-दान देने वालों में भगवतीचरण वर्मा, 'अश्क', यशपाल, लक्ष्मीनारायण लाल, राजेन्द्र यादव (विशेषतया 'शह और मात' में) तथा विशेष रूप से अमृतलाल नागर का नाम उल्लेखनीय है। 'अश्क' के सर्वाधिक प्रसिद्ध उपन्यास 'गिरती दीवारें' में सामाजिक चित्रण में ही नहीं भाषा में भी यथातथ्यवादी प्रभाव स्पष्टतया परिलक्षित होता है। एक स्थान पर नायक के पत्र को अननूदित रूप में अंग्रेज़ी में ही दे दिया गया है।

---

१. "सूरज का सातवाँ घोड़ा", पृ० ६५।

अन्यत्र उर्दू के 'अनारकली' नाटक के उद्धरण उसी भाषा में दिए गए हैं और स्पष्टता के लिए फुटनोट में अर्थ दिए गए हैं। पंजाबी होने के कारण नहीं, पंजाब के वातावरण के कारण भी पंजाबी के शब्द आए हैं। यशपाल की भी यही स्थिति है। ये वातावरण तथा पात्रों की यथार्थता का अंग है। 'अश्क' और यशपाल दोनों में शब्द-चयन तथा प्रवाह की दृष्टि से प्रेमचन्द के व्यावहारिक दृष्टिकोण का स्वरूप सुरक्षित है किन्तु 'अश्क' में काव्यमय प्रभाव यशपाल से अधिक है अतएव माधुर्य भी। वातावरण के सूक्ष्म विधान में भी 'अश्क' ने यशपाल से अधिक सामर्थ्य का परिचय दिया है। 'अश्क' में व्यंग्य का तटस्थ-संयत रूप है, यशपाल में मतवादिता के कारण यह अधिक आघातकारी है। प्रेमचन्द में वाद-मुक्तता के कारण व्यंग्य की तीक्ष्णता नहीं थी। यशपाल की शैली में परुष अनगढ़ता का वैशिष्ट्य है। उनके दृश्य-चित्रणों में भी स्थूल-उपकरणों का उपयोग अधिक होता है। अमृतलाल नागर इन दोनों से अधिक सफल हैं। उनमें भाव-वैविध्य भी अधिक है और तदनुरूप कोमल तथा परुष शैलियों की प्रौढ़ी भी। वहाँ भाषा-क्षमता उभर कर सामने आती है। प्रत्येक पात्र को उनकी पृथक-पृथक वाणी देने के अतिरिक्त वे अपनी भाषा का अन्तर भी बनाए रखते है। उपमाओं का क्षेत्र भी उनका पर्याप्त विस्तृत है। हास्य-व्यंग्य के समावेश में वे विशेष दक्ष हैं। लोक-शब्दों के प्रयोग से भी इन्होंने भाषा को समृद्ध किया है। वस्तुतः इस युग के अभिजात भाषा या अपनी रूचि की भाषा लिखने वाले भी लोक-शब्दों के माधुर्य में नहीं बच पाए। अज्ञेय तथा जैनेन्द्र ने भी कतिपय लोकशब्दों से अपनी भाषा को माधुर्य दिया है। किन्तु इनका विपुल उपयोग आंचलिक उपन्यासों में हुआ है। 'मैला आंचल' का प्रमुख पात्र प्रशांत कहता है—"अपभ्रंश शब्द भी कितने मधुर लगते हैं।"[1] और अल्पाधिक रूप में ये सभी आंचलिक उपन्यासों के लिए सत्य है।

विशिष्ट स्थानीय रंगों को उभारने, अन्य अंचलों से पृथक् पहचान कराने, तथा इनके माधुर्य से लाभ उठाने के लिए इन लोक-शब्दों का खुला प्रयोग किया गया है। लोक-शब्दों के प्रयोग से उपन्यास की भाव-सम्पत्ति को समृद्ध किया गया है। यही नहीं भाषा को अन्य लोकोपकरणों—मुहावरों, लोकोक्तियों, लोकगीतों—से भी मण्डित किया गया है। इसके अतिरिक्त, विशेषतया 'रेणु' के उपन्यासों में, लोकोच्चारणों का भी प्राचुर्य है। 'रेणु' ने क्योंकि ग्रामीण पात्रों के दृष्टिकोणों से कथा कही है, अतएव इनका उपयोग-बाहुल्य खटकता नहीं। यह विशेषता पात्रों के शील-प्रकाशन तथा अंचलीय यथार्थ के अनुकूल तो है ही, हास्य की विपुल सामग्री भी देती है।

---

१. "मैला आंचल", पृ० १०९।

अंचल के बहुविध यथार्थ का अविकल बिम्ब देने के लिए 'रेणु' की भाषा ने ध्वनिवाचक देशज शब्दों तथा गद्यकाव्यात्मक रेखाचित्रमयी शैलियों का विपुल विनियोग किया है।

ध्वनि, गंध तथा वर्ण-चित्रों से अंचल एक सजीव पात्र के रूप में साकार हो उठा है। ध्वनि एवं गंध-चित्रों में 'रेणु' तथा वर्ण-चित्रों में अज्ञेय अद्वितीय है।

रेखाचित्रात्मक शैली का कुशल उपयोग निराला, अश्क, भगवतीचरण वर्मा, नागर, देवेन्द्र सत्यार्थी आदि ने भी किया है। मनहर चौहान के 'सीमाएं' उपन्यास में आज की नई कविता की-सी शैली-विशिष्टता का उपयोग गद्य-क्षेत्र में किया गया है।

आंचलिक उपन्यासों में 'बहती गंगा' की भाषा-शैली का विशेषोल्लेख आवश्यक है। इसमें 'रुद्र जी' काशी के मस्तीमय वातावरण, तथा अलमस्त पात्रों से तादात्म्य कराने में इसलिए सफल हो सके हैं कि उन्होंने काव्यमयी शैली की चटक-रंगीनी का विशेष आश्रय लिया है। कहानी के शीर्षक भी काव्य-पंक्तियाँ हैं। कहानियों के अन्त में विशेष रूप से भावमयी शैली का प्रयोग है। सम्पूर्ण उपन्यास भावान्विति के आधार पर संगठित है जिसमें अभिव्यक्ति ने अधिकाधिक योग दिया है।

पात्र अथवा किसी आँदोलन का इतिहास प्रस्तुत करने के लिए प्रायः आँचलिक उपन्यासों में रिपोतार्ज शैली का उपयोग भी हुआ है। इस दृष्टि से 'बाबा बटेसरनाथ', 'रेणु' के पहले दोनों उपन्यास तथा शैलेश मटियानी के उपन्यास देखे जा सकने हैं। इनमें समाचार पत्रों की विवरणात्मक कुशलता मिलती है। यहाँ विस्तार नहीं होता—चुनी हुई घटनाओं का गति-त्वरा से विवरण दिया जाता है।

आलोच्य युग के ऐतिहासिक उपन्यासों में 'अतीत के रंग-रूप की रक्षा' के लिए, तत्कालीन समय की सूचक, वातावरण विधायिनी अप्रचलित-असाधारण शब्दावली पर विशेष दृष्टि रखी गई है। इसका आरम्भ जयशंकर प्रसाद 'इरावती' में सफलता से कर गए थे। निस्संदेह बहुत-कुछ विशिष्ट शैली के बल पर ही 'दिव्या', 'मुर्दों का टीला', 'बाणभट्ट की 'आत्मकथा', 'चारुचन्द्र लेख' तथा राहुल के उपन्यासों में ऐतिहासिक वातावरण का प्रत्यंकन हो सका है। 'बाणभट्ट की आत्मकथा' का प्रयोग इसीलिए सफल रहा है कि लेखक बाण की समासगुम्फित शैली का सफल

अनुसरण कर सका है। वृन्दावनलाल वर्मा ने स्थानीय रंगत पर अधिक दृष्टि रखी है, अतएव उन्होंने अपने क्षेत्र के अनुकूल स्थानीय बुन्देलखंडी शब्दों का अवलम्ब लिया है। मुग़लिया दरबारों के वातावरण के लिए अरबी-फारसी की शब्दावली का प्रयोग किया गया है।

भाषा की अभिव्यक्ति-शक्ति के बल पर पाठक को घटनाओं तथा पात्रों की आँदोलित स्थिति के वेग के साथ बहा ले जाने के लिए प्रवेग (tempo)-नियंत्रण के उपाय भी हुए हैं। इसमें पाठक की मनोदशा और पात्र या लेखक की मनोदशा में साम्य स्थापित हो जाता है। 'मैला आंचल' (कालीचरण के जेल से भागने की घटना का विवरण), 'शेखर', 'चलते-चलते' तथा 'चाँदनी के खंडहर' में इस दिशा में सजग प्रयत्न हुए हैं।

प्रसंगों के साथ वाक्यों की आवृत्ति से भी संगीतमय प्रभावों की सिद्धि की गई है। इस दृष्टि से गिरिधर गोपाल का 'चाँदनी के खंडहर' पठनीय है।

आलोच्य युग के अनेक उपन्यासकारों ने विभिन्न उद्देश्यों से संकेत-शैली या प्रतीकात्मक शैली का उपयोग किया है। यहाँ अभिव्यक्ति स्थूल वाच्यार्थ के अतिरिक्त सूक्ष्म संकेतार्थ को भी लिए रहती है। इसका प्रयोग निम्नस्थ प्रयोजनों से हुआ है—

१. मनोविश्लेषणात्मक तथ्यों के उद्घाटन के लिए।[२]
२. मतामत की परोक्ष अभिव्यक्ति के लिए।[३]
३. दार्शनिक रहस्यों की सुगम अभिव्यक्ति के लिए।[४]
४. पात्रों के साधारण कार्यों एवं अभिव्यक्ति को संकेतात्मक बनाने के लिए।[५]
५. कथा को सांकेतिक बना किंचित् रहस्यगुम्फन के लिए।[६]
६. परोक्ष अभिव्यक्ति या साधारण अभिव्यक्ति को व्यंजक बनाने के लिए।[७]

---

१. उदाहरण इन उपन्यासों के विशेष विवेचन में देखिए।
२. "सोया हुआ जल", "सुनीता", "सूरज का सातवाँ घोड़ा"।
३. "काठ का उल्लू और कबूतर"।
४. "शेखर" (दूसरा भाग), प्रतीक-कथा।
५. "सुनीता", "नदी के द्वीप"।
६. "त्यागपत्र"।
७, "जहाज़ का पंछी"।

सोया हुआ जल तो प्रतीकात्मक उपन्यास ही है।

चेताना-प्रवाहात्मक उपन्यासों में उपन्यासकार मनुष्य के अन्तस् में प्रवाहित असम्बद्ध भावनाओं को यथातथ्य रूप में, अव्यवस्थित ही उतारने का प्रयत्न करता है, अतएव भाषा का स्वाभाविक स्वरूप वहाँ नहीं मिल सकता। वहाँ भीतर की भावनाओं की तरह वाक्य संकुचित, स्फुट और असम्बद्ध होंगे। प्रभाकर माचवे के परन्तु सांचा,[१] भगवती प्रसाद वाजपेयी के चलते-चलते[२] आदि में यह शैली देखी जा सकती है। सुरेश सिनहा के एक और अजनबी का नायक अंग्रेजी में चिंतन करते हुए विविध स्तरों पर इस शैली का उपयोग करता है।[३]

कहीं-कहीं इतिहास शैली वाले उपन्यासों में दृश्यांकन के लिए वर्तमान शैली का उपयोग किया गया है। दृश्यों के प्रत्यक्षीकरण के लिए यह उपयोगी सिद्ध होता है।[४]

उपर्युक्त चर्चित विभिन्न प्रकार के अनेक शैली-वैचित्र्य भगवतीप्रसाद वाजपेयी के चलते-चलते में एकत्र मिल जाते हैं। किन्तु यह अवश्य है कि वहाँ यह वैचित्र्य चामत्कारिक मनोरंजन ही अधिक कर पाया है, सार्थक स्वल्प ही हो सका है।

आंचलिक उपन्यासों के बहु प्रचलन से अनेक लोक-शब्दों का प्रयोग हो रहा है। हो सकता है कि इनमें से कुछ हिन्दी भाषा की अभिव्यक्ति का स्थायी अंग बन जाएँ। कुछ उपन्यासकारों ने हिन्दी को अन्य बोलियों के निकट लाने के लिए शैली में भी कुछ प्रयोग किए हैं। इस दृष्टि से नरेश मेहता का 'डूबते मस्तूल' द्रष्टव्य है। लेखक ने प्रारम्भ में यह स्पष्टीकरण दिया है : "एक शब्द भाषा के बारे में कह दूँ कि

---

१. "सांचा", पृ० १५६-१५७। "काश्मीर की झीलों पर शिकारे जकड़े होंगे—सब और मुरदनगी—सफेदी फैल गयी होगी—सिमेटरी कफ़न धवलिमा इस सफेद पर काला दाग़—वेश्या—श्वेतकमल पर भृंग—चांदमारी—काग़ज़—के बड़े बड़े गत्ते पर एक छेद—दीमक—दीमक हो तुम लोक को नेई है। तुम शोब पागल है—पागल। फेल कर गई सेरेनेरल हेडक्वार्टर्स में हड़ताल है।"

२. "चलते-चलते", पृ० १५७, १६६।

३. "एक और अजनबी", पृ० १०१-१०२।

४ "चलते-चलते", पृ० २२; "रूपाजीवा", पृ० २७१, २७५; "अजय की डायरी", पृ १६६, २६६-६८, ३१३-१४; "रोड़े और पत्थर", पृ० ५२ ५५, ७२।

उत्तरार्द्ध में 'सप्तमी' के प्रयोग किये गये हैं। संस्कृतप्रियता के कारण नहीं बल्कि बोलियों में सप्तमी, नामधातु आदि होते हैं और हिन्दी में अनेक प्रभावों के कारण यह प्रक्रिया लुप्त सी हो गई है। अवधी में जैसे 'अवधेस के द्वारे सकारे गयी' या मालवी से 'शनीवारे राते' आदि के रूप मिलते हैं इसलिए हिन्दी बोलियों के अधिक निकट इसी प्रकार के प्रयोगों द्वारा जा सकती है। यह न माना जाये कि चौंका देने के लिए ऐसा कुछ किया गया है।'' हिन्दी की व्यापकता और विस्तार को दृष्टिगत रखते हुए नरेश मेहता का यह दृष्टिकोण विचारोद्‌बोधक है।

तीसरा अध्याय

वर्गीकरण

लारेंस महोदय ने कहा है कि निर्माण के सभी नियम केवल उन उपन्यासों पर लागू होते हैं जो दूसरों की नकल हैं।[1] तात्पर्य यह है कि प्रत्येक श्रेष्ठ उपन्यास अपने नियम स्वयं लेकर आता है। ऐसी अवस्था में उपन्यास के इतने प्रकार हो जाते हैं कि उनकी प्रभेद-सीमाओं को निश्चित करना अत्यन्त कठिन है। इसलिए हेनरी-जेम्स वर्गीकरण के विरुद्ध हैं। वह घटना-प्रधान और चरित्र-प्रधान उपन्यासों की पार्थक्य-सीमा को व्यर्थ बताते हैं क्योंकि चरित्र घटनाओं से निर्णीत होते हैं और घटनाएँ चरित्र की उदाहरण मात्र हैं।[2] इसलिए वे दो ही प्रकार के उपन्यास मान सके हैं—उत्कृष्ट उपन्यास तथा निकृष्ट उपन्यास अथवा रोचक तथा अरोचक उपन्यास। लिडेल ने उपन्यासों के मुख्य भेद दो ही माने हैं[3]—(क) वे उपन्यास जो गम्भीर आलोचना के योग्य हैं। (ख) वे उपन्यास जो गम्भीर आलोचना के अयोग्य हैं।

वर्गीकरण के उपर्युक्त दो उदाहरण इसलिए दिए गए हैं कि वर्गीकरण की कठिनाई की सीमा को समझा जा सके। वस्तुतः औपन्यासिक क्षेत्र में वर्णीकरण पूर्ण तथा वैज्ञानिक नहीं हो सकते। फिर भी, विश्लेषण-ध्येय की सिद्धि के लिए वर्गीकरण के जोखिम को स्वीकार करना पड़ता है।

उपन्यास की शिल्पविधि को दृष्टि में रखकर अभी तक अधूरे वर्गीकरण ही हुए हैं। हिन्दी में, प्रायः घटना-प्रधान, चरित्र-प्रधान, नाटकीय उपन्यास आदि भेदों को स्वीकार किया गया। अधिक-से-अधिक दो और भेद ऐतिहासिक और आँचलिक भी स्वीकार किए गए हैं। उपन्यास के तत्त्वों के सामान्य आधार पर अपेक्षतया अधिक पूर्ण वर्गीकरण इस प्रकार हो सकता है :—

(१) कथानक-प्रधान। (२) अन्तरंग चरित्र-प्रधान। (३) बहिरंग चरित्र-

---

१. Liddell : "Some Principles of Fiction," p. 11.
"All rules of construction only hold good for novels that are copies of other novels."

२. "The Art of Fiction", 'Great Critics', p. 661.

३. "A Treatise on the Novel", p. 20.

प्रधान। (४) देश-प्रधान। (५) देशकाल-प्रधान। (६) उद्देश्य-प्रधान। (७) शिल्प-प्रधान। चरित्र-प्रधान उपन्यासों के दो भेद इसलिए किए गए हैं क्योंकि बहिरंग चरित्र-प्रधान उपन्यास में चरित्रों से सामाजिक जीवन की व्यंजना होती है, या सामाजिक प्रेरणा से उनका परिवर्तन होता है, और अन्तरंग चरित्र-प्रधान में मूल प्रेरणा भीतरी रहती है। इसमें मनोवैज्ञानिक उपन्यास आते हैं। आंचलिक उपन्यास, देश-प्रधान और ऐतिहासिक उपन्यास देशकाल-प्रधान के अन्तर्गत आते हैं। समस्या-मूलक, अभिप्राय-प्रधान, विचार-प्रधान और मतवादी जोश से लिखे गए प्रचार-प्रधान उपन्यास उद्देश्य-प्रधान वर्ग में आते हैं। शिल्प-प्रधान वर्ग उपन्यास के किसी तत्व के आधार पर नहीं, अतएव यह ऊपर के अन्य उपन्यासों के भेद के सामान्य आधार से भिन्न है। यह भेद अपेक्षतया परम्परा-भिन्न नए प्रयोगों के समाहार के लिए किया गया है। इसमें वस्तुतत्त्व क्षीण हो भी सकता है, नहीं भी, किन्तु अभिव्यंजना की नव्यता का विशेष आकर्षण, सौष्ठव, अथवा चौंकाने वाली परम्परा-मुक्तता अवश्य होगी। इस तरह शिल्प-प्रधान उपन्यासों को अभिव्यंजनात्मक (Expressionistic) भी कहा जा सकता है।

विभिन्न औपन्यासिक भेदों की सीमा-रेखाएं एकांत स्थिर तथा सुदृढ़ नहीं हो सकतीं। जब उपन्यास के तत्व ही सजीव प्राणी के विभिन्न अंगों की तरह एक-दूसरे से पृथक नहीं किए जा सकते, तब उनके आधार पर किए गए विभिन्न वर्गों में परस्पर अन्तर्वर्तित्व होना स्वाभाविक है। फिर भी, हमारा दावा केवल इतना है कि उपन्यासों के प्रचलित वर्गीकरणों की अपेक्षा उपर्युक्त वर्गीकरण अधिक संगत हो सकता है—कम-से-कम इसमें उपन्यासों के केन्द्रीय तत्त्व को खोजा जा सकता है।

प्रस्तुत लेखक ने जहाँ-कहीं यह अनुभव किया है कि कोई उपन्यास एक से अधिक वर्गों की विशेषताओं से युक्त है, वहाँ उसने प्रधानता के विचार से उस उपन्यास को किसी निश्चित वर्ग में स्थान देते हुए भी दूसरे वर्ग की विशेषताओं की अवहेलना नहीं की, और उसका निर्देश भी कर दिया है।

कुछ उपन्यास ऐसे हैं, जो एकाधिक वर्ग में आ सकते हैं। उदाहरणार्थ, आंचलिक उपन्यास प्रायः नए प्रयोग भी हैं, परन्तु वहाँ यह प्रयोगिक नव्यता अंचल-चित्रण की वश्यता का परिणाम है। समग्र-शिल्प का प्रकाशन-केन्द्र अंचल ही है अतएव उन्हें आंचलिक उपन्यास कहा गया है। इसी तरह बाणभट्ट की आत्मकथा ऐतिहासिक उपन्यास भी है तथा प्रायोगिक भी। किन्तु किसी विगत युग एवं विशिष्ट काल को मूर्त्त करने के लिए उसमें प्रायोगिक कौशल का आश्रय लिया गया है, इसलिए उसे ऐतिहासिक में ही रखा गया है। 'शेखर' और 'सेठ बांकेमल' भी नए प्रयोग हैं। परन्तु, पहले को अन्तरंग चरित्र-प्रधान उपन्यासों में रखा गया और दूसरे को बहिरंग

में, क्योंकि वहाँ मुख्य आकर्षण चरित्र-चित्रण का है। पात्रों को उभारने के लि नए प्रयोग किए गए हैं। अन्य शिल्प-प्रधान उपन्यासों में पहले शिल्प का आकर्ष सामने आता है फिर चाहे शिल्प से विषयोत्कर्ष भी हो।

यद्यपि ऐसे उपन्यास भी हो सकते हैं, जिनमें सभी औपन्यासिक तत्वों क समानुपातिक समावेश किया गया हो, फिर भी, वहां भी केन्द्रीय तत्व खोजा जा सकत है। इसका प्रमाण 'दिव्या' है।

इन विभिन्न वर्गों की पृथक्-पृथक् विशेषताओं का विशेष स्पष्टीकरण आग किया गया है।

चौथा अध्याय :

कथानक-प्रधान उपन्यासों की विशेषताएँ

कथानक-प्रधान उपन्यासों का आकर्षण-केन्द्र कौतूहलवाही सहसा परिवर्ती घटना-चक्र पर आधृत होता है। अतएव ऐसे उपन्यास स्वभावतया घटनात्मक होते हैं। इस घटनात्मकता का लक्षण घटना-बहुलता में भी है। वस्तुतः यही इनका प्रधान लक्षण है। यह घटना-स्वतन्त्रता वहाँ कही जाएगी जहाँ घटनाएँ चरित्रोद्भूत तथा चरित्रों का उदाहरण न होकर लेखक की मनमरजी का परिणाम, या दैव अथवा संयोग का चमत्कार जान पड़ें। इस संयोग-तत्व का प्रयोग घटनाओं के विधान में ही नहीं, पात्रों के पारस्परिक सम्बन्धों को नियत करने में भी किया जाता है। लेखक की इच्छानुसार या संयोगवशात् पात्र मिलते-बिछुड़ते, बनते-बिगड़ते तथा यथासमय, यथास्थान आते-जाते और सहसा एकत्र हो जाते हैं। ऐसे उपन्यासों में घटनाएँ, पात्रों के चरित्र की कार्य-कारण परम्परा का सहज प्रतिफल होने, या तर्क-संगति का परिणाम नहीं होतीं, भाग्य या लेखक का विधान होती हैं। पाठक सोचता कुछ है और हो कुछ जाता है। इसी से ऐसे उपन्यासों में वैचित्र्य तथा अप्रत्याशित तत्वों का समावेश होता रहता है। लेखक पाठकों के अनुमान या अपेक्षा के विरुद्ध घटना-प्रवाह को गति तथा कथानक को अंतिम परिणति देकर तज्जन्य रंजन प्रदान करता है। इसके लिए वह आकस्मिकता से झकझोरने वाले नाटकीय कौशलों का आश्रय भी लेता है।

घटना-स्वतन्त्रता का अर्थ चरित्र तथा प्रयोजन-निरपेक्षता भी है। कथानक-प्रधान उपन्यासों में घटनाएँ घटनाओं के लिए भी होती हैं—पात्रों के शील-प्रकाशन या लेखक की प्रयोजन-प्रतिष्ठा में योग देने की अपेक्षा वे अपने वैविध्य-वैचित्र्य से पाठकों का रंजन अधिक करती हैं। वस्तुतः, ऐसे उपन्यासकारों में रंजन-तत्व प्रयोजन को सुग्राह्य बनाने की अपेक्षा स्वयं में अधिक प्रधान हो उठता है। यह भी हो सकता है कि उसका आकर्षण पाठक को मूलोद्देश्य से विकेन्द्रित करने का कारण बन जाए।

कथानक-प्रधान उपन्यासों में घटनाओं की प्रकृति प्रायः स्थूल रहती है। यह भारी-भरकम, सनसनीदार, रोमांचकारी तथा विलक्षण होती हैं, क्योंकि इनमें पाठकों के कौतूहलोद्बोधन की विशेष क्षमता होती है। इसलिए ऐसे उपन्यासों में हत्या, आत्महत्या, मारकाट, बलात्कार आदि दुर्घटनाओं की बहुलता रहती है।

घटनाओं का अधिकाधिक समावेश करने के लिए ऐसे उपन्यासों में कथानक का बहुसूत्री विस्तार रहता है। और इसका विन्यास ऐसे किया जाता है कि पाठक की उत्सुकता स्थिर रहे। इसके लिए लेखक रहस्य-तत्व का विनियोग करता है, नाटकीय व्यंग्य एवं भावी घटनाओं के पूर्वाभास देने वाले संकेतों का उपयोग करता है ताकि पाठक उत्कंठित होकर उनकी घटना की प्रतीक्षा करता रहे। एक प्रसंग को अपूर्ण या असमाप्त रखकर दूसरा आरम्भ करता जाता है ताकि पाठक पहले के सम्बन्ध में ही सोचता रह जाए। इसके अतिरिक्त कथानक-प्रधान उपन्यासकार कथा के गति-प्रवाह पर भी दृष्टि रखते हैं, ताकि पाठक बिना अवरोध तथा उलझन के, आराम से उपन्यास पढ़ जाएँ।

मनोरंजन पर अपेक्षतया अधिक दृष्टि रहने से ऐसे उपन्यासकार उद्देश्य-बाह्य रंजक प्रसंगों तथा रंजक साधनों का उपयोग भी करते हैं।

कथानक-प्रधान उपन्यासों में कथा को अधूरा नहीं छोड़ा जाता, उसे पूर्णता तक पहुंचा कर पाठकों को पूरा संतोष देने का प्रयास किया जाता है। किन्तु कथानक का अन्त पात्रों के स्वाभाविक विकास का परिणाम नहीं, संयोग या नाटकीय चमत्कार का फल होता है—यह स्वाभाविक उपलब्धि (discovery) नहीं, आविष्कार (invention) के चमत्कार का प्रभावोत्पन्न करता है।

यह उल्लेखनीय है कि कथानक-प्रधान उपन्यासों की उपरिलिखित विशेषताएँ देते हुए हमारी दृष्टि कथा-प्रधानता का 'लेबल' लगे तिलस्मी, ऐयारी तथा साहसिक उपन्यासों पर नहीं, प्रेमचन्दोत्तर युग के उन उपन्यासकारों पर रही है जो सप्रयोजन लिखते हैं, कथा के साथ अन्य तत्त्वों के समावेश का भी ध्यान रखते हैं, और असम्भव-असम्भाव्य तत्त्वों के समावेश से प्रायः बचते हैं। यदि हम चाहते तो राहुल जी का शैतान की आँख या ओमप्रकाश शर्मा के उपन्यास, तथा आधुनिक युग में भी प्रचलित जासूसी उपन्यासों को ले सकते थे, किन्तु यह सब इस युग की मूल हार्द के विपरीत होता। अतएव हमने ऐसे तीन उपन्यासों को लिया है जो स्पष्टतया सोद्देश्य लिखे गए हैं, किन्तु कथानक-प्रधान उपन्यासों की विशेषताओं का अपेक्षतया अधिक उपयोग कर बैठे हैं। इसी से ये उपन्यास वह नहीं दे सके जो उनका अभीष्ट था। ये तीन उपन्यास हैं—यशपाल का मनुष्य के रूप, भगवती प्रसाद वाजपेयी का चलते-चलते तथा उदयशंकर भट्ट का सागर लहरें और मनुष्य। ये तीनों अपने उद्देश्यों अतएव तदनुसार शिल्प में भी भिन्न-भिन्न हैं। फिर भी, कथानक-प्रधानता की दृष्टि से एक हैं। कथानक-प्रधान उपन्यासों की उपर्युक्त सारी विशेषताएँ एक-एक उपन्यास में एकत्र नहीं मिलतीं, तीनों में समग्रतः अवश्य मिलती हैं। सागर लहरें और मनुष्य बहुत कुछ वाद-मुक्त है, मनुष्य के रूप वाद-

युक्त है, और 'चलते-चलते' में चलते-चलते भाग्यवाद से लेकर प्रगतिवाद, मनोविश्लेषणवाद आदि सब कुछ आ गया है। पारस्परिक तुलना की दृष्टि से पहले में आँचलिक तत्व प्रधान हैं, दूसरे में सिद्धांत-प्रेरित तत्व और तीसरे में वैचित्र्य-तत्व।

मनुष्य के रूप

यशपाल ने 'दादा कॉमरेड' (१९४१), 'देशद्रोही' (१९४३), 'दिव्या' (१९४५) और 'पार्टी कॉमरेड' (१९४६) के बाद 'मनुष्य के रूप' (१९४७) उपन्यास लिखा। यह आकार की दृष्टि से इन चारों उपन्यासों से बड़ा, ३४३ लम्बे पृष्ठों का है। 'मनुष्य के रूप' में यशपाल के पूर्व-रचित उपन्यासों की सभी प्रवृत्तियां सिमट आई है। साम्यवादी सिद्धांतों से प्रेरित औपन्यासिक तत्वों का नियोजन, व्यक्ति और समाज की प्रवृत्ति और गति का चित्रण, सेक्स पर आधृत रंजक स्थलों की योजना, बाह्य परिस्थित्यनुसार पात्रों की परिवर्तनशीलता, राजनीति तथा रोमांस आदि की सामान्य प्रवृत्तियां जैसे पूर्ववर्ती उपन्यासों में मिलती हैं, वैसे ही इस उपन्यास में भी।

'मनुष्य के रूप' को आलोचकों ने या तो चरित्र-प्रधान उपन्यासों के वर्ग में रखा है या कथानक-प्रधान उपन्यासों के वर्ग में। डॉ० देवराज उपाध्याय परिस्थितियों के अनुसार सोमा के चरित्र-परिवर्तन के आधार पर इसे चरित्र-प्रधान उपन्यासों के अन्तर्गत रखते है[1]। प्रकाशचन्द्र गुप्त इसे 'देशद्रोही' के समान ही 'घटनाप्रधान' मानते हुए इसकी कथा को 'आकर्षक' बताते हैं।[2] उपेन्द्रनाथ 'अश्क' भी इसे 'कथानक प्रधान' कहते और इसमें 'अनावश्यक नाटकीयता' मानते है।[3] डॉ० भगवतशरण उपाध्याय के अनुसार 'देशद्रोही' और 'मनुष्य के रूप' दोनों का आधार राग है, दोनों में वह राग इतना गहरा हो गया है कि उद्देश्य और लक्ष्य निरन्तर दूर हटते चले गए हैं, और 'मनुष्य के रूप' में तो इष्ट का यदि वह 'राग' से परे है, कहीं पता नहीं लगता।[4] सनसनीपूर्ण घटना-बहुलता, कथा के अलक्ष्य विस्तार, अपने उद्देश्य के विपरीत संयोग-तत्व से जनित नाटकीय चमत्कारों तथा रंजन के लिए यौनाकर्षक स्थलों की विशेष योजना के कारण 'मनुष्य के रूप' को कथानक-प्रधान उपन्यासों के वर्ग में रखना ही उचित प्रतीत होता है।

---

१. "हिन्दी साहित्य कोश", पृ० १५० ।
२. "यशपाल के उपन्यास", 'आलोचना' सं० २१, पृ० ८५ ।
३. "यशपाल (के संस्मरण)", 'रेखाएं और चित्र', पृ० १७० ।
४. "साहित्य और कला", पृ० ३० ।

'मनुष्य के रूप' की रचना उस भौतिकवादी या मार्क्सवादी दृष्टिकोण के प्रतिपादन के लक्ष्य को लेकर हुई है जो परिस्थितियों के अनुसार मनुष्य की चेतना एवं विचारधारा में परिवर्तन तथा तदनुकूल उसके रूपांतरित होते जाने में विश्वास प्रकट करता है।[१] इस दृष्टि से 'मनुष्य के रूप' और 'दिव्या' में समता है। इन दोनों उपन्यासों को ध्यान में रखकर यशपाल ने उपन्यास के सम्बन्ध में अपने 'अभिप्राय' को स्पष्ट करते हुए उपर्युक्त उद्देश्य की वकालत इस प्रकार की है—"उपन्यास से मेरा अभिप्राय है समाज-धारा और विचारधारा के आधार में तारतम्य को प्रकट करना।···सामाजिक घटनाओं को उपन्यास के परीक्षण पात्र में रखकर दिखाने का अभिप्राय यही रहता है कि इन घटनाओं से विचारों के जन्म के क्रम को प्रकट किया जाय। इसे हम भौतिकवाद कहते हैं।···हमारी विचारधारा हमारे जीवन की परिस्थितियों में पलने के कारण भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण से जीवन में सफलता समझाती हैं"।[२] 'मनुष्य के रूप' में अपने उपर्युक्त विचारकोण को लेखक ने उपन्यासकार की स्वतन्त्रता का उपयोग कर निबन्ध-तत्व के समावेश से प्रचारित नहीं किया, वरन् सोमा और मनोरमा (मुख्यतः सोमा) की जीवन-गाथा से ध्वनित किया है। परिस्थितियों के वात्याचक्र से, मात्र पांच-छह वर्ष के भीतर, निर्धन निस्सहाय विधवा सोमा कुलीन घर की संचालिका और फिर फिल्म जगत् की प्रसिद्ध अभिनेत्री 'पहाड़न' हो जाती है। इस आश्चर्यजनक कथा से उद्बुद्ध होने वाले पाठक के स्वाभाविक चिन्तन को लेखक अपने विचारों के रूप में स्वकथनों से नहीं कहता, बल्कि सोमा-सम्पृक्त प्रमुख पात्रों के मानसिक चिन्तन तथा संवादों के रूप में कलात्मक विधि से व्यक्त करता है; मनोरमा से तादात्म्य कर पाठक सोचने लगता है—"सोमा ही पहाड़न है इतना परिवर्तन सम्भव है? आदमी क्या है, और उसके कितने रूप हो सकते हैं? एक दिन 'धर्मशाला' में भूषण सोमा को कुत्तों के भय से कांपती हुई बकरी की-सी अवस्था में उस के यहाँ लाया था। वह धनसिंह के लिए जान दे देना चाहती थी। पुलिस के भय से उसका गर्भपात, उसका बाजार जाने से डरना! भैया की उस पर ज्यादती। बड़ी भाभी का अन्याय, आज वह दुनिया को अंगूठा दिखा

---

१. Ralph Fox : "Marxism and literature", 'The Novel and the People', p. 70.

"...Social existence determines their (mens) conciousness. ... Marx, ... certainly believed that the material mode of life in the end determined the intellectual."

२. "साहित्य सन्देश", "आधुनिक उपन्यास अंक" (जुलाई-अगस्त, १९५६), पृ० ७४-७५। आकाशवाणी की एक गोष्ठी में भगवतीचरण वर्मा के प्रश्न पर यशपाल का उत्तर।

रही है। अपना बदला ले रही है"[१]...और विस्मित भूषण के समान ही पाठक कह सकता है—"आदमी क्या है; उसके कितने रूप हो सकते हैं, कोई नहीं कह सकता।"[२] इस केन्द्रीय विषय के आधार पर ही उपन्यास का नामकरण हुआ है। उपन्यास का केन्द्रीय पात्र भी सोमा है और उसी के विविध रूपों या चरित्र-विकास की अन्तिम परिणति आश्चर्य में डालती है। दूसरे प्रमुख पात्रों में उतना रूप-परिवर्तन नहीं होता। धनसिंह में अवश्य है—वह घरेलू नौकर से क्लीनर ड्राइवर, सत्याग्रही देशभक्त, सामान्य सैनिक, आज़ाद हिन्द फौज का देशभक्त सैनिक और अन्त में बेकार बनकर रह जाता है—फिर भी, यह सारा परिवर्तन उसकी आजीविका में है, उसके अन्तर में उल्लेखनीय परिवर्तन नहीं आता। भूषण में किंचित् विकास दिखाई देता है किन्तु मूल रूप में वह भी स्थिर ही रहता है। मनोरमा भी परिस्थिति-विशेष में एक को अपनाती है और परिस्थिति-परिवर्तन पर दूसरे की ओर उन्मुख होती है। लेखक का लक्ष्य यही था कि वह मानव के परिस्थिति-जन्य विविध रूप प्रदर्शित कर सके, इसीलिए जीवन के भरण-पोषण तथा रक्षण में जिसकी स्थिति जितनी अनिश्चित रही, वह उतना ही परिवर्तित होता रहा। वस्तुतः मार्क्सवादी प्रेरणा से लेखक का ध्यान परिवर्तन की कारणभूत परिस्थितियों पर अधिक रहा है, ताकि दूषित समाज-व्यवस्था के विरुद्ध संवेदना जागृत की जा सके। उदाहरणतया, सोमा सदैव अपने शरण पाने का मूल्य चुकाती रही है—उसके पिता ने उसे चार सौ रुपए में बेच कर धन कमाया; पति के मर जाने पर ससुराल वाले, रोटी देने के ऐवज़ में काम लेकर और मार-मार कर उसकी हड्डियाँ तोड़ते रहे, पर इससे भी जब उन्हें संतोष न हुआ और वह उसे किसी के हाथ बेचने की तैयारी करने लगे तो धनसिंह ड्राइवर को 'भलालोक' समझकर सोमा उसका आश्रय-ग्रहण करने के लिए उसके साथ भाग खड़ी हुई। धनसिंह की फरारी के बाद वह बैरिस्टर साहब को आश्रय का मूल्य चुकाती है। तदुपरान्त यही शरण का मूल्य वह बरकत को देती है। वेश्या बनने तक को तैयार हो जाती है और अन्त में सुतलीवाला से धोखा खाती है। सोमा की इस जीवन-गाथा द्वारा लेखक ने स्पष्ट किया है कि सामान्य भारतीय नारी अपनी परात्म निर्भरता में किसी न किसी का आश्रय अवश्य चाहती है—या तो वह पत्नी बन कर रह सकती है या वेश्या। दूसरे वह पुरुष के उपभोग का उपकरण मात्र है या स्पन्दन-शून्य जड़ विक्रेय वस्तु। लेखक का सोमा के शील-परिवर्तन की कारण-भूत सामाजिक व्यवस्था के प्रति व्यंग्यात्मक दृष्टिकोण रहा है और यही उसकी सोद्देश्यता है: अन्यथा उसने

१. "मनुष्य के रूप", पृ० २६१।
२. वही, पृ० २६५।

न तो नारी-उद्देश्य का कहीं अतिरंजित चित्रण करते हुए पाठकों की सहानुभूति को उभारने का प्रयास किया है और न नारी-अधिकारी के सम्बन्ध में चर्चाएँ ही कराई हैं। दूसरे, सोमा के विविध रूप सिद्ध कर देते हैं कि अनुकूल परिस्थितियाँ और अवसर पाकर मनुष्य क्या नहीं हो सकता। वह केवल इसलिए गंवार थी कि उसे उचित वातावरण न मिला। अनुकूल वातावरण मिलने पर वह भी उसी प्रकार बन जाती है जिस प्रकार अन्य नागरिक रमणियाँ। और अवसर मिलने पर वह फिल्मी नायिका भी बन जाती है। निस्सन्देह परिस्थितियाँ और अवसर मिलने की सुविधा की महत्व-व्यंजना भी सोमा के चरित्र-द्वारा हुई है किन्तु दूषित समाज-व्यवस्था की अपेक्षाकृत अधिक। इसका कारण यह है कि सोमा अपनी अन्तिम परिणति में चाहे अपने पूर्व परिचितों तथा समाज को अंगूठा दिखा सकी किन्तु उसके जीवन की भी कोई स्पृहा नहीं कर सकता। लेखक ने अन्त में पूंजीपति सुतलीवाला जैसे नपुंसक तथा छली व्यक्ति से उसके सम्बन्ध की सम्भावना दिखाकर उसके विडम्बनापूर्ण जीवन को और भी करुण बना दिया है—उसका जीवन सम्पन्नता-सफलता के बावजूद सुरक्षित न हो सका और न प्रेम ही पा सका।

सोमा एवं मनोरमा की अपनी-अपनी कथा बहुत-कुछ प्रेम-कथा है। इसके प्रेम की लेखक ने अपने उद्देश्य के अनुकूल भौतिक व्याख्या की है। लेखक की धारणा है कि परिस्थितियों के अनुसार मनुष्य का प्रेम और नैतिक धारणाएँ परिवर्तित होती हैं। उसके सामने मूल समस्या जीवन-रक्षा तथा उसके सुविधापूर्वक निर्वाह की रहती है और यही जीवन का सबसे बड़ा यथार्थ है जिसके सामने मनुष्य अपने आदर्शों को बदलता रहता है। लेखक के निकटतम प्रतिनिधि पात्र, साम्यवादी भूषण के द्वारा प्रेम और नीति की व्याख्या हुई है और सोमा और मनोरमा की अपनी-अपनी प्रेम-कथाओं के द्वारा यह उदाहृत हुई है। सोमा की विगत गाथा के आधार पर उसके भावी आचरण के अनुमान के लिए जब भूषण-मनोरमा में प्रेम के सम्बन्ध में चर्चा चलती है—जिसमें मनोरमा की अपनी ग्रंथि भी है और इसलिए यह चर्चा स्वाभाविक है— तब भूषण का स्पष्ट मत है कि "सब चीज़ों की तरह जीवन में प्रेम की गति भी द्वन्द्वात्मक है। प्रेम जीवन की सफलता और सहायता के लिए है...[१] आगे चलकर वह और स्पष्ट करता है—"प्रेम जीवन में शरीर की अनुभूति और आवश्यकता से पृथक क्या वस्तु है?[२] सारांश में प्रेम 'भौतिक अवलम्ब" है। यदि सोमा का पति जिन्दा होता, तो धनसिंह से उसका प्रेम कभी न हो पाता। यदि सोमा अत्यन्त

१. "मनुष्य के रूप", पृ० ८६।
२. वही, पृ० ८७।

कष्ट में न होती और धनसिंह की सान्त्वना उसकी असहाय अवस्था में एकमात्र अवलम्बन होती, तो वह धनसिंह से कदापि प्रेम न करती। यदि धनसिंह फरार न होता, और बैरिस्टर के आश्रय में सोमा की जीवन-रक्षा का सुविधाजनक प्रबन्ध न होता तो वह बैरिस्टर से गुप्त प्रेम क्यों करती ? आगे उसकी निस्सहाय अवस्था में, घृणास्पद बरकत—उसका अवलम्ब होने के कारण—प्रेम का अधिकारी हो जाता है। अन्त में सुतलीवाला उम्मीदवार बन कर आता है। किन्तु सोमा एवं सुतलीवाला सम्बन्ध के पहले ही बेकार धनसिंह सोमा को खोजता-खोजता आ पहुंचता है। उस समय धनसिंह सोमा के पास जाना चाहता है किन्तु लेखक अपने प्रतिनिधि पात्र साम्यवादी भूषण के द्वारा अपने उद्देश्य को मुखरित करता हुआ उसे समझाता है—"तुम उसे छोड़ गये थे, तो उस के लिए कोई सहारा नहीं था उन लोगों ने उसे बदनाम करके घर से निकाल दिया था। तुम जानते हो, ज्वान औरत को सहारा न हो तो दुनिया उसके पीछे पड़ जाती है। तुम थे तभी उसे लोग परेशान करते थे। तुम्हारे पीछे क्या हालत हुई होगी ? रोटी कपड़े की परेशानी, रहने की जगह नहीं, दर-दर ठोकरें खाती रहती, जने-जने के हाथ बिकती फिरती। उसने अब यह काम कर लिया है। बहुत नाम है। सुना है, एक लखपती से उसका ब्याह हो रहा है। तुम सोचो, जाओगे तो उसकी क्या हालत होगी ? वह बेचारी अब कर भी क्या सकती है ? उसे तुम्हारा कभी कोई समाचार नहीं मिला। तुम ने भी कभी चिट्ठी तक नहीं लिखी जो उसे कोई आशा होती ! करती क्या दोष दे ?" सारांश यह कि सोमा की परिस्थितियों में परिवर्तन के साथ उसके प्रेम और आदर्श में परिवर्तन आ जाता है और वह धनसिंह के अटल प्रेम को अपनाने में व्यर्थ में प्रतिगामी नहीं बन सकी। सुतलीवाला से तलाक लेकर और भूषण की ओर उन्मुख होने वाली मनोरमा का आचरण भी प्रेम-नीति की परिवर्तनशीलता को सिद्ध करता है। इस प्रसंग में लेखक ने एक अन्य पात्र साम्यवादी नारी कॉमरेड नीता के माध्यम से भी अपने नारी सम्बन्धी क्रांतिकारी दृष्टिकोण को अभिव्यक्त किया है। सारतः लेखक ने प्रेम-नीतिक आदि को अटल-शाश्वत न मानकर भौतिक परिस्थितियों के अनुसार परिवर्तित होने वाला पदर्शित किया है। इससे यही सिद्ध होता है कि मुख्यतः सोमा तथा गौणतः मनोरमा के चरित्र-चित्रण के द्वारा आदर्शवादी दृष्टिकोण के स्थान पर साम्यवादी दृष्टिकोण की स्थापना ही लेखक का लक्ष्य है।

'मनुष्य के रूप' मुख्यतः सामाजिक उपन्यास है। उपन्यास की केन्द्र-बिन्दु सोमा की कथा पारिवारिक क्रूरता, पुरूष के लोलुप नारी-शोषण, विधवा-विवाह, प्रेम आदि सामाजिक समस्याओं को ध्वनित करती है। मनोरमा की कथा भी प्रेम, स्वेच्छित विवाह, तलाक आदि सामाजिक समस्याओं से सम्बद्ध है। धनसिंह की जीवन-कहानी का आरम्भ भी जाति-पांति की हीनता-ग्रंथि की सामाजिक समस्या से होता है किन्तु

आगे चलकर लेखक ने धनसिंह की जीवन-गति में अधिक-से-अधिक युगीन राजनैतिक परिस्थितियों का समाहार करने का प्रयास किया गया है। वह विविध राजनैतिक दलों के व्यक्तियों से सम्पृक्त होता है और उनके प्रति व्यंग्यात्मक दृष्टिकोण रखकर लेखक को अपने राजनैतिक मत के स्पष्टीकरण का अवसर मिल गया है। फिर भी उपन्यास में आए ये विस्तृत राजनैतिक प्रसंग व्यर्थ हैं क्योंकि न तो इनसे धनसिंह का चरित्र-विकास हुआ है और न इनसे सोमा-मनोरमा की अपनी-अपनी कथा ही प्रभावित हुई है। आगे चलकर मनोरमा-भूषण की कथा के साथ कम्यूनिस्ट पार्टी के दफ़्तर की गति-विधि के जो विस्तृत वर्णन हुए हैं उनके साथ भी इन प्रसंगों का कोई सम्बन्ध नहीं। अतएव यहाँ स्पष्ट ही राजनीति लेखक की अभिरुचि के कारण आयी हुई बाह्यारोपित है। आलोचक प्रकाशचन्द्र गुप्त ने सही लिखा है :—"राजनैतिक उपन्यास होने का यह उपक्रम भी नहीं करता, यद्यपि सिनेमा के पृष्ठ-भूमि के संगीत के समान राजनीति ऊपरी तौर पर बीच-बीच में आ जाती है।[1]

सारांश में, शिल्प की दृष्टि से, लेखक की लक्ष्याभिव्यक्ति का सर्वप्रमुख साधन है सोमा-मनोरमा की कथा के यथार्थवादी विकास से उद्देश्य की व्यंजना। दूसरा साधन है परिस्थितियों के परिवर्तन के साथ-साथ पात्र-विशेष से अपने विशिष्ट विचारकोण को दोहराते रहना। यह स्वाभाविकता से हो सका है क्योंकि इस पात्र को लेखक ने अपना प्रतिनिधि बनाने के लिए साम्यवादी चित्रित किया है। इसके अतिरिक्त वह सामाजिक कार्यकर्ता तथा सोमा-मनोरमा के जीवन से घनिष्ठ सम्बन्धित भी है। मनोरमा उससे प्रेम करती है और इसलिए आवश्यक बातों पर विवाद भी। इसके अतिरिक्त मनोरमा प्रेम के सम्बन्ध में आदर्शवादी विचार रखती है, इसलिए विपक्ष को रख सकने से पक्ष की संतुलित अभिव्यक्ति में अधिक सहायक हो सकी है। तीसरा प्रमुख साधन पात्रों के मानसिक चिन्तन के रूप में विचारों को देना है। स्वयं लेखक विचारक के रूप में कम से कम आया है।

अपने उद्देश्य को प्रभावपूर्ण बनाने के लिए लेखक ने उपन्यास को दुःखांतकी बना दिया है। भूषण की हत्या हो जाती है और मनोरमा मरणासन्न। धनसिंह हत्या करने के अपराध को स्वीकार कर लेता है। प्रश्न उठता है कि लेखक ने यह सब कहाँ तक उचित किया? न तो यह अन्त किसी साहित्यिक न्याय की माँग की पूर्ति करता है—शायद यथार्थवादी होने से लेखक को इसकी आवश्यकता नहीं हुई—और न किसी आदर्श को प्रस्तुत। समाज-व्यवस्था की विकृति को सामने लाने के लिए धनसिंह को पकड़वा देना और सोमा का अन्त तक छला जाना पर्याप्त था। भूषण

---

१. "आधुनिक हिन्दी साहित्य: एक दृष्टि", पृ० १५६।

और मनोरमा की दुर्दशा को किसी प्रकार उचित नहीं कहा जा सकता। इससे लेखक के उद्देश्य के विरूद्ध प्रभाव पड़ता है कि मनुष्य स्वयं कुछ नहीं कर सकता -- वह परिस्थितियों की कठपुतली है, निर्माता नहीं। भूषण की मृत्यु और मनोरमा की दुर्दशा में तो बाह्य परिस्थितियाँ भी नहीं, संयोग या भाग्य-तत्व ही प्रधान है, जो लेखक के उद्देश्य के और भी विरुद्ध है।

सामाजिक सोद्देश्यता की अपेक्षा 'मनुष्य के रूप' में रंजन-तत्व प्रबल है। यह रंजन का गुण उपन्यास के उद्देश्य को सुग्राह्य बनाने में विशेष सहायता दे सकता है किन्तु केवल उस स्थिति में जब इसके लाए जाने वाले साधनों का स्वरूप उद्देश्य की प्रकृति से मेल रखते हुए कलात्मक रीति से उत्पन्न हो। इस कसौटी पर 'मनुष्य के रूप' की सफलता-सीमाओं का विवेचन आवश्यक है। इसकी कथावस्तु रोचक है। रोचकता का सर्वप्रमुख कारण इस उपन्यास के उद्देश्य के उस विशिष्ट स्वरूप में है, जिसमें एक ही मनुष्य के अनेक रूप दिखाने वाली सीमा की परिवर्तनशीलता पाठकों की उत्सुकता को सतत् सजग रखती है। कथानक विविध मोड़ों से युक्त चक्करदार बन गया है, जिससे कथा के विकास का अनुमान पहले से ही नहीं हो पाता और उत्सुकता स्थिर रहती है। इस दृष्टि से उपन्यास का उद्देश्य और रंजन अभिन्न है। किन्तु पात्रों को विभिन्न परिस्थितियों में डालने के लिए लेखक को जिस कौतूहलोत्पादक घटनाचक्र की सृष्टि करनी पड़ी है, उसका स्वरूप गम्भीर नहीं बन सका। उनमें से अनेक घटनाओं का स्वरूप सामाजिक नहीं कौतूहल सृष्टि करते हुए कथा-गति में सहायता देना इनका मुख्य लक्ष्य है। इन घटनाओं में चमत्कार है, किन्तु भावोद्वेलन की शक्ति क्षीण है। उपन्यास का उत्तरार्द्ध इसका प्रमाण है, जिसमें प्रारम्भिक सामाजिक भूमि फिल्मी जगत् की विचित्रता में खोती दिखाई देती है। कथा का अन्त नाटकीय है, जिसमें संयोग तत्व का चमत्कार-मात्र है। यही अवस्था उपन्यासारम्भ की है। इसी तत्व की ओर लक्षित करते हुए पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी लिखते हैं :—"एक दिन बैजनाथ से नौ मील दूर धर्नसिंह की गाड़ी के सामने दो छोटे-छोटे मेंमने कूद आये और उनके ऊपर छाया की तरह एक औरत आ गिरी। पर उसका परिणाम यह हुआ कि बम्बई में जगदीश के जीवन में अशान्ति की आँधी आ गई। बरकत के हाथ से भूषण की मृत्यु हुई और मनोरमा मृतप्राय हो गई। यह संयोग की बात है अथवा विधि का विधान है, इसे कौन कहेगा?" इसलिए बख्शी जी ने 'मनुष्य के रूप' में 'अलक्षित शक्ति की कथा' मानी है।[1] कुल मिलाकर 'मनुष्य के रूप' की कथा अपने सनसनीपूर्ण स्वरूप से रंजन की अपेक्षा गम्भीर प्रभाव डालती है।

---

१. "हिन्दी कथा-साहित्य", पृ० १६६।

चारित्रिक रूपान्तरजन्य औत्सुक्य के अतिरिक्त कथा-रोचकता शृंगारिक कथाओं का आधार लेने से भी है। अपने जीवन-यापन के भौतिक अवलम्ब के लिए सोमा को प्रेम के नाम पर शरीर का सौदाकर बार-बार अपने नारीत्व को बेचना पड़ता है। नारी की यह निरीह करुणा प्रेम-कथा को और भी मार्मिक बना सकती थी—कहीं-कहीं बनाती भी है—किन्तु नारी की वासनोत्तेजक स्थितियों के चित्रण तथा कामुक पुरुषों की कुचेष्टाओं के ब्यौरेवार वर्णनों से यशपाल इसे भी शिथिल कर देते हैं। प्रकृतवादियों के-से यौनाकर्षक स्थलों को बार-बार लाकर पाठकों की रुचि के प्रसादन का प्रयास यशपाल की कला के सतही मनोरंजन का दुर्बल साधन है और उपन्यास की सामाजिक गम्भीरता से पाठकों को विकर्षित करता है।

उपन्यास का वस्तु-संगठन भी प्रभाव की अन्विति के अनुकूल नहीं हो सका। आधिकारिक कथा सोमा एवं धनसिंह की है, जिसका आरम्भ काँगड़े के एक पहाड़ी गाँव के पास से होता है। प्रणय-सम्बन्ध के लिए दोनों के भागने, पकड़े जाने और धनसिंह के जेल काटकर सोमा से पुनर्मिलन के बाद कथा का क्षेत्र धर्मशाला हो जाता है। धनसिंह-सोमा की पूर्वकथा लेखक ने बड़ी कुशलता से, ठीक अवसरों पर मुख्य कथा के बीच, पात्रों की विशेष मनःस्थिति में स्मृति के रूप में स्वयं कही है या एक पात्र का दूसरे की 'स्थिति का सूत्र पाने' की जिज्ञासा-शांति के रूप में पात्र-द्वारा कहलाई है।[२] धर्मशाला में कुछ घटनाओं के पश्चात् धनसिंह कातिल के रूप में फरार हो जाता है और उसका सूत्र सोमा से अलग हो जाता है। इस तरह सोमा-धनसिंह का प्रारम्भिक प्रेम-कथा-सूत्र लगभग समाप्त हो जाता है। आगे सोमा का सूत्र मूल कथा के रूप में, अनेक व्यक्तियों के सम्पर्क से विकसित होता है और तब इसका क्षेत्र धर्मशाला से लाहौर और लाहौर से बम्बई हो जाता है। यह उल्लेखनीय है कि शृंगारिक दृष्टि से सोमा के नए-नए व्यक्तियों के सम्पर्क के आधार पर, उपर्युक्त तीनों क्षेत्रों में परस्पर स्वतन्त्र प्रेम-कथाएँ हैं किन्तु इस केन्द्रीय पात्र के चरित्र-विकास की दृष्टि से ये सभी एक हो जाती हैं और इसीलिए हमने सोमा की कथा को मूल कथा कहा है। धर्मशाला में ही सामाजिक कार्यकर्ता भूषण की सहायता से सोमा जिस परिवार में आश्रय पाती है, उसी की सदस्या मनोरमा और भूषण की आपसी प्रेमकथा चलती है और ये दोनों सोमा-धनसिंह की कथा के आलोचक भी बने रहते हैं। आगे चलकर सोमा की कथा के साथ मनोरमा-भूषण की कथा भी लाहौर पहुँची है। वहीं मनोरमा भूषण से अलग होकर बम्बई के सुतलीवाला से विवाह कर लेती है और

१. "मनुष्य के रूप" : धनसिंह की पूर्वकथा, पृ० २१-२६।

२. वही, सोमा की पूर्वकथा, पृ० १७-१९।

संयोगवश सभी पात्रों के कथासूत्र बम्बई पहुँचते हैं—भूषण अपनी पार्टी का काम करने बम्बई आ जाता है और अन्त में फरार धनसिंह भी सोमा को खोजता-खोजता बम्बई पहुँचता है। इस तरह ये सभी कथा सूत्र फिर एक बार मिलते हैं। सुतलीवाला, सोमा पहाड़न से शादी को अधिक उपयोगी समझ, मनोरमा से अपना सम्बन्ध-विच्छेद कर लेता है और मनोरमा भूषण की ओर झुक जाती है। भूषण धनसिंह की सोमा से भेंट कराने के प्रयत्न में मारा जाता है और कथा का चामत्कारिक अन्त हो जाता है। यह स्पष्ट है कि मनोरमा की प्रासंगिक कथा ने मुख्य कथा के विकास में विशेष योग दिया है। प्रारम्भिक समाप्तप्राय धनसिंह का सूत्र भी अन्त में मिल गया है। फिर भी, 'मनुष्य के रूप' का वस्तु-गठन शिथिल तथा बिखरा हुआ है, क्योंकि धर्मशाला के बाद फरार धनसिंह का सूत्र दिल्ली, कानपुर, असम की पहाड़ियों तथा बर्मा तक व्यर्थ में लम्बा किया गया है। यह स्पष्ट किया जा चुका है कि लेखक ने जिस राजनैतिक आग्रह से अनेक पात्रों तथा घटनाओं की सृष्टि इस सूत्र में की है, उसका न तो मुख्य कथा में कोई योग है और न धनसिंह के चरित्र-विकास में। यदि लेखक सोमा की तरह धनसिंह का भी रूपांतर कर सकता तो उद्देश्य की अन्विति की दृष्टि से यह पृथक् सूत्र भी विच्छिन्नता का प्रभाव न डालता राजनैतिक आग्रह के अतिरिक्त इस सूत्र को लम्बा करने में लेखक की यथातथ्यवादी चित्रण-पद्धति का भी हाथ है; जैसे, धनसिंह के धर्मशाला से दिल्ली पहुँचने के तथ्य का उल्लेख ही नहीं, सविस्तर चित्रण भी हुआ है, जिसमें प्रकृति-चित्रण तथा प्रासंगिक विचारों का समावेश भी हो गया है। यही अवस्था युद्ध-क्षेत्र की है, जहाँ लेखक ने अपनी बहुज्ञता का प्रदर्शन किया है। किन्तु धनसिंह की कथा को लम्बा करने का सर्वप्रमुख कारण है रंजन-तत्व के समावेश का अतिरिक्त आग्रह। अतएव यह उल्लेखनीय है कि मुख्य कथा उद्देश्य के अन्वित प्रभाव-विस्तार में बाधक होकर भी धनसिंह की कथा अपनी क्षेत्र-विविधता तथा नई-नई घटनाओं की भरमार से पाठकों का पर्याप्त मनोरंजन कर सकी है। यहाँ भी लेखक वासनोत्तेजक स्थलों की सृष्टि करता रहा है।

लेखक अपने उद्देश्य को पात्रों तथा घटनावली से चरितार्थ करता है और वह इनका जितना ही विश्वसनीय विकास करता है, उतना ही उद्देश्य को प्रभावपूर्ण बनाता है। 'मनुष्य के रूप' की कथावस्तु तथा पात्रों के विकास की स्वाभाविकता पर सहज में अनेक स्थलों पर आपत्ति की जा सकती है, जिससे उद्देश्य की प्रभविष्णुता में शिथिलता आई है। पात्रों तथा कथा के विकास में तार्किक संगति दुर्बल है—पात्रों का विकास जितना लेखक की इच्छा के अनुकूल हुआ प्रतीत होता है, उतना "परिस्थितियों के अकाट्य तर्क से नहीं।"[1] इससे यशपाल पर "सोद्देश्यताजनित

---

१. प्रकाशचन्द्र गुप्त : "आधुनिक हिन्दी साहित्य : एक दृष्टि", पृ० १५१।

यांत्रिकता' का आरोप लगाया गया है—"सोद्देश्यता यशपाल के और उपन्यासों में भी वर्तमान है, पर इस उपन्यास में वह सबसे अधिक है। परिस्थितियों को गढ़कर उसमें पात्रों को उलझा दिया गया है।...सोमा पहाड़ों से निकलती है और उसके बाद उसे परिस्थितियों में फिट कर दिया गया है; इसी प्रकार धनसिंह के जीवन में भी उसकी मृत्यु के तमाम उचित अवसर आए, पर धीरे-धीरे बचाते हुए उसे उपन्यास के अन्त तक घसीटा गया।"[1] तर्क किया जा सकता है कि अन्त में सोमा की धनसिंह के प्रति विपरीत प्रतिक्रिया के आधार पर ही सोमा के परिवर्तन से मनुष्य के रूपांतर का लक्ष्य सिद्ध किया जा सकता था, इसलिए धनसिंह की अन्त तक रक्षा की गई। इस पर यह प्रश्न उपस्थित होता है कि सोमा की तरह धनसिंह भी विविध परिस्थितियों तथा घटना-चक्र से ग्रस्त रहा किन्तु लेखक उसके स्वभाव-संस्कार को क्यों स्थिर रख सका और उसमें कोई रूपांतर क्यों न आया? क्या कथा के विशेष प्रकार के अन्त के लिए यह आवश्यक था कि एक पात्र सोमा, का रूपांतर तो दिखाया जाए परन्तु दूसरे पात्र धनसिंह का नहीं? वस्तुतः सोमा की तुलना में धनसिंह की जीवन-गति लेखक के उद्देश्य के विरुद्ध प्रभाव डालती है। सोमा के चरित्र-विकास पर प्रकाशचन्द्र गुप्त ने दो उचित आपत्तियाँ की हैं। पहली है—"क्या सोमा कुलटा है, जो चाहे जिस पुरुष के साथ चल देती है? वह साधारण भारतीय नारी शुरू में सभी के प्रति लज्जा और संकोच प्रदर्शित करती है, लेकिन बाद में एक अनबूझ ढंग से आत्मसमर्पण कर देती है। इसे यशपाल जी शरण का मूल्य चुकाना कहते हैं! भारतीय समाज में नारी के जीवन में जो कुण्ठा है, उसे देखते हुए यह वर्णन बहुत-कुछ अस्वाभाविक लगता है। सोमा के चरित्र का स्वाभाविक विकास तो यह नहीं ही लगता।"[2] यदि लेखक सोमा के परिवर्तन की कला वधि बढ़ा देता तथा भारतीय नारी के सतीत्व की कुण्ठा से जनित अन्तर्द्वन्द्वों का अधिक चित्रण करता, तो सोमा का रूपांतर अधिक स्वाभाविक लगता। सोमा का चरित्र-विकास लेखक के उद्देश्य के विपरीत, सामान्य सत्य की अपेक्षा व्यक्ति-सत्य का प्रभाव डालता है। इसलिए प्रकाशचन्द्र गुप्त ने दूसरी आपत्ति उद्देश्य और चरित्र की विषमता पर की है—'मनुष्य के रूप' में सामाजिक और आर्थिक ढांचे पर कठोर प्रहार है, किन्तु मूल कथा यह है कि एक गरीब, निराधार लड़की, जिसे मनुष्य की वासना निरन्तर खा जाना चाहती है, फिल्मी 'हीरोइन' बन जाती है। ऐसी घटनाएँ कभी-कभी सच भी हो सकती हैं, किन्तु उन्हें जीवन का प्रतिनिधि चित्र नहीं कहा जा सकता। भारतीय जीवन का प्रतिनिधि सत्य यह है कि सोमा के समान असंख्य लड़कियाँ जीवन

---

१. सुरेशचन्द्र तिवारी : "यशपाल और हिन्दी कथा साहित्य", पृ० ११० ।
२. प्रकाशचन्द्र गुप्त : "आधुनिक हिन्दी साहित्य : एक दृष्टि", पृ० १६०-६१ ।

में घुट-घुटकर यों ही मर जाती हैं और फिल्मी दुनिया उनके लिए कल्पना का प्रासाद-मात्र रहती है। असंख्य भारतीय सोमाओं का प्रतिनिधित्व 'मनुष्य के रूप' की सोमा नहीं करती, वह अकेली, असामान्य और अ-प्रतिनिधि है।"[१] इसके अतिरिक्त फिल्मी जगत् में एक पर-प्रेरित तथा नव-प्रविष्ट लड़की का केवल दो-तीन वर्षों में इतनी प्रसिद्धि तथा सम्पत्ति का पाना भी सामान्यतः सम्भव नहीं कहा जा सकता। वस्तुतः कोई उपन्यास, जो समाज की आलोचना को ध्येय बनाकर चले या समाज में मनुष्य के भाग्याभाग्य का निरूपण करे, उसके लिए समाज के ऐसे प्रतिनिधि चरित्र का अंकन अपरिहार्य है जो सम्प्रत्यात्मक हो; जो हमें यह अनुभव करा सके कि वह उस समाज का स्थानापन्न है जिसकी आलोचना की जा रही है[२], और यही 'मनुष्य के रूप में' नहीं हो सका।

लेखक ने सोमा के भावी विकास के सम्बन्ध में बार-बार भूषण -- और एक स्थल पर बरकत—से जो अनुमान-सूचक मन्तव्य दिलाए हैं, वे पूर्वाभास-पद्धति से कथा-संगति लाने की बजाए लेखक के पूर्वाग्रह लगते हैं और उसकी सोद्देश्य यांत्रिकता के प्रमाण। ऐसा आभास होता है, जैसे लेखक सब कुछ पूर्वयोजित तथा निश्चित करके चलता है। उदाहरणतया, अन्त में मनोरमा और सोमा को परस्पर न मिलने देने में भी लेखक की जबरदस्ती दिखाई देती है। सोमा ने --मनोरमा से अपने पूर्व-सम्पर्क के आधार पर—मनोरमा का जो चित्र अपने मन में अंकित किया था, वह सुतलीवाला के बताए चित्र से बिल्कुल भिन्न था। ऐसी अवस्था में उसे सुतलीवाला के मनोरम किन्तु परस्पर विरोधी कथनों पर शंका होनी चाहिए थी या लेखक शंका-निवारण के लिए कोई और परिस्थिति पैदा करता। जिस ढंग से मनोरमा ने सोमा से मिलने का विफल प्रयत्न किया है, वह और भी अस्वाभाविक है। क्या मनोरमा विवेक-शून्य थी, जो वह अपने जाने-पहचाने धोखेबाज़ व्यक्ति सुतलीवाला से उसके नए शिकार सोमा से मिलाने की प्रार्थना करती है? और सुतलीवाला से अनुकूल उत्तर पाकर जैसे वह अपमानित अनुभव करने लगती है, वह और भी हास्यास्पद है। इसका भी कारण समझ में नहीं आता कि बनवारी ने हाथ आती सोमा को क्यों ठुकराया और वह भी उसे सुतलीवाला—जैसे व्यक्ति से तनिक भी सचेत न कर सका।

उपर्युक्त सभी असंगतियों का परिणाम यह हुआ है कि 'मनुष्य के रूप' की

---

१. "आलोचना" २१, पृ० ८५।

२. Walter Allen : "The Novel Today", p. 27. "Any novel that sets out to criticize society, or mans fate in society, must contain a representation of society that is convincing that we feel can stand for the actual society that is being criticized"

कथा, उद्देश्य को व्यंजित करने की अपेक्षा रंजनकारी प्रभाव अधिक प्रेषित कर सकी है। इसको कथानक-प्रधान कहने का औचित्य इसी में है।

यशपाल ने अपने पूर्ववर्ती उपन्यासों की अपेक्षा इसमें वहुसंख्यक, तथा विविध व्यवसाय-वर्ग के, पात्र लिए हैं :—घरेलू-अशिक्षित विधवा, आधुनिकतम शिक्षिता नारी, पुलिस वर्ग, विभिन्न राजनैतिक संस्थाओं के कार्यकर्ता, नेता, विलायत से लौटे बैरिस्टर नागरिक सेठ-परिवार, ग्रामीण साहूकार, फिल्मी जगत् के निर्देशक-डिस्ट्रीब्यूटर-ऐक्टर, ड्राइवर, सैनिक, आज़ाद हिन्द फौज के देशभक्त सैनिक आदि। इनमें धनसिंह-सोमा निम्नवर्गीय, भूषण निम्न मध्यवर्गीय, सुतलीवाला तथा सरोला-मनोरमा बहुत-कुछ उच्च मध्यवर्गीय हैं। यह पात्रों का विपुल चुनाव-वैविध्य लेखक के विविध क्षेत्र-परिस्थितियों—तथा तत्सम्बन्धित पात्रों—के सम्पर्क से सोमा-धनसिंह के रूपांतर या विकास दिखाने के लक्ष्यानुकूल है। परिस्थिति-सापेक्षता में मनुष्य के (विविध) रूप प्रस्तुत करने के हेतु लेखक ने गत्यात्मक पात्र अधिक लिए हैं, स्थिर कम। इनमें केन्द्रीय पात्र सोमा का विकास विशेष चमत्कारी है। धनसिंह के जीवन की गति-विधि में जो रूपांतर आते रहते हैं, वे सोमा से कम नहीं, किन्तु उसकी मनोगति स्थिर रही है—वह संघर्षशील पात्र है, विकासशील नहीं। भूषण में भी गति की अपेक्षा स्थिरता अधिक है। उसे लेखक की विचाराभिव्यक्ति का निकटतम प्रतिनिधि बनना था, इसलिए उसमें विचारधारागत दृढ़ता प्रदर्शित की गई है। मनोरमा के प्रति, उसके व्यवहार-परिवर्तन में यद्यपि उसकी अपनी सफ़ाई यह है "कि कोई भी व्यक्ति समझा-समझाया पैदा नहीं होता"—और इस रूप में उसका शील-विकास अपने अनुभवों से यह सीखने में है कि जीवन केवल संघर्ष ही नहीं—तथापि वस्तुस्थिति यह है कि मनोरमा का अपने वर्ग से नीचे आना ही भूषण के मनोरमानुकूल होने का कारण है। इस दृष्टि से यह कहना अधिक उचित होगा कि मनोरमा परिवर्तित हुई, भूषण नहीं।

पात्रों के चरित्र-विकास में लेखक ने जिस कारण-तत्व का सर्वाधिक उपयोग किया है, वह है बाह्य परिस्थिति, जो लेखक के बहिर्मुखी दृष्टिकोण का परिचायक है। यह परिस्थिति भी भौतिकवादी दृष्टि के अनुकूल अर्थ और काम-जन्य है। इन दोनों तत्वों को समतुल्य महत्व मिला है। फिर भी जीवन-रक्षा पहली आवश्यकता होने से अर्थ को प्राथमिकता मिलती है। सोमा के जीवन-विकास में ये दोनों तत्व एक-दूसरे को पुष्ट करते रहे हैं। सोमा के सामने पहली कठिनाई आश्रय-पाने या जीवन-रक्षा की रही है। और जीवन में स्थिरता पाते ही, काम-प्रेरणा से उसके व्यवहार निरूपित होने लगते हैं। धनसिंह, सरोला तथा अन्त में सुतलीवाला के प्रति उसके आचरणों के क्रमिक विकास में उपर्युक्त तथ्य को देखा जा सकता है। यह सही है

कि वह शरण पाने का मूल्य चुकाती रहती है, किन्तु सुख-सुविधा के वातावरण में उसकी अपनी काम-प्रेरणा भी जागृत होती रही है। मनोरमा-सुतलीवाला के सम्बन्ध विच्छेद में काम-प्रेरणा विशेष स्पष्ट है; जैसे, नपुंसक पति के आधार पर युवती मनोरमा के इस यथार्थ चिंतन को देखिए :—"...क्वारे जीवन में वह कौन अभाव था जो अब पूरा हो रहा है? सुतलीवाला ने उससे विवाह का प्रस्ताव क्यों किया? दूसरी लड़कियाँ विवाह के बाद कैसी हँसी भरी, गुदगुदाई सी जान पड़ती हैं?[1] भूषण का मनोरमा के प्रति व्यवहार-विकार वर्ग-प्रेरणा (आर्थिक धारणा) से नियंत्रित रहा है।[2] अर्थ-काम के अतिरिक्त लेखक ने संस्कारों को भी कुछ महत्व दिया है। धनसिंह में हीन-जाति—'धिर्थ' होने—की ग्रंथि है।[3] मनोरमा भी अनमेल पति से तलाक लेने में एक भारतीय पत्नी के संस्कारों से आंदोलित होती है। बार-बार परिस्थितिवश सोमा के नारीत्व पर आघात होने से उसके लज्जा-संकोच के शालीन संस्कार कम हो जाते हैं। मनोरमा, सरोला को छोड़ उसके घर के अन्य सदस्यों, तथा अपरिवर्तित पहली सोमा के व्यवहार में आपसी अन्तर भी शिक्षा-संस्कारों के कारण है; जैसे अशिक्षित तथा रूढ़ संस्कारबद्ध विधवा सोमा को मुसलमान से विवाह होने का भय है, किन्तु शिक्षित तथा विचार-स्वातंत्र्य की हामी मनोरमा, घरवालों के रुष्ट होने पर भी, एक पारसी से विवाह कर लेती है। इसके अतिरिक्त विपत्ति-तत्व का उपयोग भी लेखक ने किया है। मनोरमा घर की स्थिति से विक्षिप्त होकर ही सुतलीवाला से विवाह कर लेती है, खाई में गिरने के डर से भागती है कि कुयें में गिर पड़ती है।[4]

वर्ग के अतिरिक्त व्यवसाय के अनुकूल भी लेखक ने चरित्र-चित्रण किया है। धनसिंह तथा अन्य ड्राइवरों का गालीवाद, उनका दिनभर की थकावट को अश्लील मज़ाकों तथा मदिरापान में भुलाने का प्रयत्न, घर से बाहर रहने के कारण नारी की वफ़ादारी के प्रति सशंक दृष्टिकोण आदि व्यावसायिक विशेषताएँ हैं।

'मनुष्य के रूप' में सिने-संसार के विभिन्न पात्र, पुलिस-वर्ग, सैनिक-वर्ग, राजनैतिक संस्थाओं के कार्यकर्ता, नेता आदि अपने-अपने वर्ग के प्रतिनिधि हैं। इनमें बरकत और सुतलीवाला का चित्रण यथार्थ और सफल है; यथा, बरकत—जैसे अनेक व्यक्ति असहाय-विवश लड़कियों से रोज़ी कमाते रहते हैं और अपनी गुण्डागर्दी से उनपर नियंत्रण रखते हैं। बरकत की फिल्मी रुचि, पहरावा—बहिरंग चित्रण—

१. "मनुष्य के रूप", पृ० १६१-६२।
२. वही, पृ० २१०-११।
३. वही, पृ० ३१।
४. वही, पृ० २०१।

प्रारम्भिक असफलता सब संगत है। सुतलीवाला के माध्यम से लेखक ने फिल्म जगत् के छल-बल तथा अनैतिकता का व्यंग्यात्मक चित्रण किया है। गौण पात्रों में से, कॉमरेड नीता की सजीव झांकी मिलती है। बनवारी के चरित्र का भी अपना सजीव व्यक्तित्व और मनुष्यता के नाते महत्व भी है। किन्तु, अन्त में सोमा के प्रति उसका आचरण अस्पष्ट रह गया है—यहाँ भी लेखक की इच्छा प्रबल हो गई है। भूषण भी वर्गगत पात्र है। उसका अन्तरंग हमारे से अदृश्य रहा है। उसके किंचित् परिवर्तन का भी चित्रण नहीं, उल्लेखमात्र है। केवल उसीके द्वारा परिस्थिति से ऊपर उठकर, कुछ कर सकने का किंचित् प्रयास लक्षित होता है, किन्तु उपन्यास में उसके चरित्र को अपेक्षित विस्तार-विकास नहीं मिल सका। यदि धनसिंह के कथा-विस्तार का कुछ अंश भूषण को मिल जाता, तो लेखक मनुष्य की हीनता के एकांगी-चित्रण की असंतुलित स्थिति से भी बचता तथा उपन्यास का प्रभाव भी बढ़ता। लेखक उसकी मृत्यु के लिए गौरवास्पद स्थिति उत्पन्न करने में भी चूक गया है।

मनोरमा के चित्रण में वर्गगत तथा व्यक्तिगत विशेषताओं का समन्वय हुआ है, किन्तु सोमा के चरित्र में यह प्रारम्भिक समन्वय-भूमि उसके त्वरित विकास की उत्तरोत्तर विचित्रता में खो गई है। भूषण मुख्यतः वर्ग-प्रतिनिधि है, किन्तु उसके व्यक्ति-वैशिष्ट्य का भी कुछ आभास मिला है। वर्गीय दृष्टिकोण के कारण वह मनोरमा और उसकी 'श्रेणी' से संघर्ष करता है, किन्तु साथ ही वह "व्यक्तिगत रूप से उसे धोखा नहीं देना चाहता।"

धनसिंह, सोमा और मनोरमा आदि प्रमुख पात्रों का, व्यावहारिक मनोविज्ञान के अनुकूल, अन्तरंग चित्रण लेखक स्थान-स्थान पर करता रहा है। कहीं-कहीं पात्रों का वाह्य चित्रण भी सोद्देश्य हुआ है; जैसे इन पंक्तियों में लेखक एक ही परिवार के विभिन्न सदस्यों के शिक्षा-संस्कारों को वेश-भूषा से स्पष्ट कर रहा है—"मनोरमा, मनोरमा की माँ और उसकी भाभी बाज़ार में एक साथ निकलतीं तो सामाजिक परिवर्तन की तीन पीढ़ियाँ एक साथ दिखाई देती थीं। माँजी काले रेशम का भारी लहंगा पहने, सिर पर मलमल के दो दुपट्टे जोड़कर ओढ़ और आधे बालिस्त का घूंघट खींचे, पांव में स्लीपर पहने चलतीं। ज्वालासहाय जी के बैरिस्टर पुत्र की पत्नी रेशमी साड़ी का आंचल सिर पर रखती परन्तु बिना घूंघट और नीची एड़ी का जूता पहनती। लड़की मनोरमा नंगे सिर, गर्दन पर भारी जूड़ा सम्भाले, ढीली पतलून पहने और कन्धे पर बटुआ लटकाए दिखाई देती।[1]

कुल मिलाकर लेखक चरित्र-चित्रण में पात्रों को महत्वानुसार विस्तार नहीं

---

१. "मनुष्य के रूप", पृ० ७४-७५।

दे सका तथा किसी स्मरणीय पात्र की सृष्टि नहीं कर सका। वस्तुतः उसका ध्यान जितना घटना-चमत्कार तथा कथा के घुमाव-फिराव पर रहा है, उतना चरित्र-चित्रण पर नहीं। दूसरे, यह चित्रण जितना सिद्धांत-प्रेरित लगता है, उतना वास्तविक जीवन की संगति की प्रतीति नहीं करा पाता।

'मनुष्य के रूप' में पात्रों की जीवन-गति के चित्रण की वास्तविकता में कमी है किन्तु इनके क्रिया-कलाप के समय-स्थान का चित्रण सजीव तथा विश्वसनीय है। बाह्य परिस्थितियों पर बल देने वाले उपन्यास के लिए यह आवश्यक भी था। 'मनुष्य के रूप' की पटभूमि यशपाल के अन्य उपन्यासों से विस्तृत है कांगड़ा से बम्बई तथा आसाम तक। लेखक ने विशेष रूप से द्वितीय महायुद्ध के काल तथा कुछ युद्धोत्तर समय का चित्रण किया है। उसने काल का स्पष्ट उल्लेख किया है; जैसे, वह लिखता है—"रेलगाड़ी में १९४४ की लड़ाई के जमाने की भीड़ थी।"[1] यह समय उपन्यास की नायिका सोमा से सम्बद्ध है—उसका पति इस युद्ध में मारा गया और वह निस्सहाय विधवा बनकर रह गई। इस तरह पृष्ठभूमि कथा को अग्रसर करने में सहायक है। लेखक ने समय का उल्लेखमात्र नहीं किया, चित्रण किया है। यह चित्रण फरार धनसिंह की जीवनगति से सम्बद्ध कर दिया गया है। इसमें लेखक तत्कालीन राजनैतिक गतिविधि, सन् ४२ के आन्दोलन, सत्याग्रह, जेल, अंग्रेजी जापानी युद्ध, आज़ाद हिन्द सेना, इन सैनिकों पर युद्धोत्तर मुकदमा, आदि के प्रसंगों को समेट सका है। लेखक ने स्थूल आंदोलनों तथा युद्ध का ही वर्णन नहीं किया, सम्बन्धित राजनैतिक कार्यकर्ताओं तथा सैनिकों की मनोवृत्ति का भी विशेष चित्रण किया है। ये वर्णन वैसे ही रोचक हैं तथा अपेक्षाकृत अज्ञात क्षेत्रों का ज्ञान कराने से और भी रोचक हो गए हैं। किन्तु उद्देश्य-बाह्य होने से ये सार्थक नहीं कहे जा सकते। भूषण एवं मनोरमा-जैसे पात्रों की गति-विधि से सम्बद्ध रूप में लेखक ने कम्यूनिस्ट पार्टी की कार्य-विधि तथा कार्यालय के वर्णन का अवसर निकाल लिया है। किन्तु इसका अवांछित विस्तार हो गया है। यदि लेखक इस संस्था के उद्देश्य को उपन्यास से कुछ अधिक सम्बद्ध कर सकता तो यह आपत्ति नहीं उठाई जा सकती थी। इस युद्ध में अनेक व्यक्ति भ्रष्टाचार आदि से कैसे पूंजीपति बन गए, वह बैरिस्टर सरोला के वकील से ठेकेदार बन जाने के माध्यम से चित्रित हुआ है। इसके अतिरिक्त लेखक पात्रों की सामान्य गतिविधि तथा कार्य-व्यापार को भी युद्धकालीन पृष्ठभूमि देता रहा है; जैसे, "१९४४ का साल था। शत्रु के हवाई जहाज़ रात में पृथ्वी पर रोशनी देख कर, जगहें पहचान कर बम न फेंक जायें, इसलिये बम्बई में 'ब्लैक-आउट' रहता था। बिजली

---

१. "मनुष्य के रूप", पृ० १९० तथा २३६।

की बत्तियाँ सड़कों पर से हटा दी गई थीं.. बरकत सोमा के लिए सूनी, अंधेरी सड़क पर टैक्सी की तलाश में आगे बढ़ता जा रहा था।"[1] अथवा "युद्ध के दिन थे। बम्बई में राशनकार्ड के बिना आटा-दाल भी न मिल सकता था.. बम्बई में महीम की राशन की दूकानों के सामने फर्लांग-फर्लांग लाइनें लगती थीं। एक-एक कदम सरकते-सरकते सोमा को घण्टे बीत जाते थे। मन में सोचती, इस राशन से तो आदमी महंगा खरीद ले, या बिना खाये रह जाये।.."[2]

काल के साथ विभिन्न स्थलों (देश) के लेखक ने यथार्थ ब्योरेवार चित्रण किया है। इस सम्बन्ध में उपन्यास के प्रारम्भिक परिच्छेदों में कांगड़े के पहाड़ी प्रदेश का चित्रण उल्लेखनीय है जिसमें लेखक ने गांव-नगरों के भूगौलिक संकेत, यातायात, प्राकृतिक दृश्य, पहाड़ी लोगों के खान-पान, असन-वसन, शील-शिष्टाचार, उपज, लोक गीतों आदि के वर्णन से वहाँ का सजीव साक्षात्कार करा दिया है। पहाड़ी प्रदेश की उन्मुक्त प्रकृति का चित्रण विशेष चिताकर्ष क है।

अन्य नगरों—बम्बई-कानपुर—के वर्णन में लेखक ने वहाँ के स्थानों-पथों के सही-सही नाम दे कर तथा ऊंची अट्टालिकाओं में रहने वाले सेठों तथा छोटी-छोटी खोली (कोठरी) में रहने वाले निम्नवर्गीयों[3] की विषमता का यथार्थ चित्रांकन किया है। देशकाल के सही-सटीक चित्रण से लेखक ने सामाजिक उद्देश्य एवं पात्रों के क्रियाकलाप को संगति, तथा कथानक की वास्तविकता में योग देने का सफल प्रयत्न किया है। फिर भी, लेखक पर यह आपत्ति तो की जा सकती है कि उस ने अपने अतिरिक्त राजनैतिक आग्रह के कारण देश की राजनीतिक दशाओं के चित्रण का व्यर्थ विस्तार किया है।

'मनुष्य के रूप' के संवाद पात्रानुकूल हैं। पहाड़ी प्रदेश के पात्रों की भाषा में आंचलिक शब्दों[4] (मर्द-जणास, दुजका-उजका, पठोरी, रांघड़) के प्रयोग से यथार्थवाद का कलात्मक पुट दिया गया है। रोहतक का भूरेसिंह हरियाणी बोली बोलता है,[5] देहाती अपनी बोली में,[6] तथा शिक्षित वर्ग की भाषा में प्रचलित अंग्रेज़ी शब्दों का प्रयोग हुआ है। शिक्षा-सभ्यता तथा व्यवसाय के अनुकूल भी पात्रों की भाषा में स्पष्ट अन्तर है; कुंदनसिंह एवं बरकत-जैसे ड्राइवरों, तथा भूषण एवं मनोरमा-जैसे शिक्षित पात्रों की भाषा का आपसी अन्तर इसका प्रमाण है। पात्रों के स्वभाव-संस्कार भी संवादों में मुखरित हैं; कट्टर गांधीवादी सोम बाबू तथा (जेलरों की) मार-पीट के

---

१. "मनुष्य के रूप", पृ० २३६।
२. वही, पृ० २२९।
३. वही, पृ० २२८-२९।
४. वही, पृ० ६०-६१, ६३-६४।
५. वही, पृ० १२१।
६. वही, पृ० १३३-३४।

समर्थक राधे चौधरी के संवाद में क्रमशः कोमलता और उग्रता देखी जा सकती है।' अधिकारों के लिए लड़ते हुए ड्राइवर लीडरों तथा कामरेड नीता के क्रांतिकारी विचारों को खरी-खड़ी तथा तीखी शैली उनकी संघर्ष-दृढ़ता तथा स्वभाव-उग्रता के अनुकूल है। मुनलीवाला-जैसे चालाक की वाणी शिष्टाचारिक मिठास, सौजन्यता, व्यवहारकुशलता को व्यक्त करती है।[१] पात्रानुकूलता की दृष्टि से, 'मनुष्य के रूप' में खटकने वाली विशेपता है गालियाँ जो अनेक पात्रों के मुख से स्थान-स्थान पर झरती रहती हैं और जिन्हें लेखक ने आधे रूप में स्थान-रिक्त करके लिखा है। यदि एक-दो पात्र कहीं-कहीं स्वाभावानुकूल इनका सीमाओं में प्रयोग कर जाते तो यथार्थवादिता के नाम पर चल सकता था किन्तु यहाँ तो गालीवाद ही चल पड़ा है। सभी ड्राइवर, सभी सैनिक गालियों का भरपूर व्यवहार करते हैं और असंख्य स्थलों पर ये गालियाँ भौंडेपन की जिस सीमा तक पहुँची हैं, उसके लिए एक लघु उदाहरण पर्याप्त होगा—"बरकत क्रोध की झल्लाहट में बकता जा रहा था--हरामजादी, वहाँ उस साहब के बच्चे के सामने टुकड़ों पर टांगें फैलाती थी तो शरम नहीं आती थी, यहाँ···में दही जमा के बैठी है। मादर···चली है पारसा बनने, दया दिखाने···सौ घाट का पानी पीकर। साली की···चीर डालूँगा···"[२] निस्सन्देह जड़ कल पुर्जों या हथियारों से सम्बन्ध रखने वाले, असामाजिक-अशिक्षित ड्राइवरों-सैनिकों से ऐसी गालियाँ अस्वाभाविक-असंगत नहीं किन्तु इस गोपनीय यथार्थता का चित्रण अनावश्यक है। गलियों का गंदलापन पात्रों की यथार्थता बढ़ा सकता है किन्तु साहित्यिक सुरुचि के विपरीत होने से सामाजिक उद्देश्य के सत्प्रभाव में बाधक है।

'मनुष्य के रूप' में यशपाल की भाषा-शैली सरल, स्पष्ट, चलती, व्यावहारिक तथा सामान्य सुन्दर है। शैली-सौन्दर्य की दृष्टि से उल्लेखनीय स्थल कम हैं। उपन्यास का आरम्भ आकर्षक वातावरण से ही नहीं, आकर्षक शली में भी हुआ है। यह शैली का आकर्षण उत्तरोत्तर कम होता गया है। यशपाल के दृश्य-चित्रों में स्थूल उपकरणों का अधिक उपयोग हुआ है। यशपाल के गद्य की उल्लेखनीय विशेषता व्यंग्य की योजना में है जो उनके पाखंड-फोड़क तथा रूढ़ि-तोड़क विचारों के अनुकूल है। प्रायः यह व्यंग्य किसी एक वाक्य या शब्द में नहीं होता, समस्त प्रसंग में होता है। मूलतः यह विषयगत या चरित्रगत होता है और शैली इसमें योग देकर विषय को उठा देती है; जैसे यह प्रच्छन्न व्यंग्य देखिए—"सिपाही छावनी में जाकर बूट और वर्दी पहनेंगे, मोटर पर

१. "मनुष्य के रूप", पृ० १२६-२८।
२. वही, पृ० १७१, १९०, २७८-८१।
३. वही, पृ० २३७।

सवार हो कर बन्दूक और मशीनगन चलायेंगे लेकिन मिट्टी और फसल का मोह और मैल-पसीने घी-दूध से गंधाते बीवी बच्चों का मोह उनके कदमों को शिथिल कर रहा था। उनके गाँव में दीन जीवन था, सेना में रोबदार मौत का भय था। उस भय के बावजूद वे लोग छावनी में लौटने के लिए विवश थे। घर में जीवन रक्षा के लिए मौत की नौकरी आवश्यक थी। उन्हें रुपया चाहिए था जो उनके खेतों की ज़मीनें नहीं दे सकती थीं, सेना की नौकरी देती थी।"

सारांशतः 'मनुष्य के रूप' परिस्थिति की सापेक्ष्यता में मनुष्य के अनेक रूप प्रस्तुत करने वाला कथानक-प्रधान उपन्यास है। किन्हीं घटनाओं के संयोगाश्रित स्वरूप, पात्र-विशेष (धनसिंह) के कथानक के निरपेक्ष विस्तार, तथा मनोरंजन-तत्व एवं सिद्धांत-स्थापना के उद्देश्य में असामंजस्य से 'मनुष्य के रूप' वह व्यंजित करने में असमर्थ रहा है जो लेखक का अभीष्ट था। इसका सर्वाधिक प्रभावित करने वाला तत्व कथानक-जन्य मनोरंजन है।

चलते-चलते

'चलते-चलते' भगवतीप्रसाद वाजपेयी के स्वातन्त्र्योत्तर बृहद् उपन्यासों (पृ० सं० ५२५) में से है इसका प्रकाशन सन् १९५१ में हुआ। वाजपेयी जी प्रेमचन्द-युग के उत्तरार्द्ध सन् १९२६ से उपन्यास लिखते आ रहे हैं और अब भी सवेग गतिशील हैं। यह उल्लेख करने की आवश्यकता इसलिए हुई कि 'चलते-चलते' की उपन्यास-कला में अनेक प्रभावों का मिश्रित स्वरूप मिलता है। इसके लिए उनकी कालानु-सरण की क्षमता उत्तरदायी है। पूर्व-प्रेमचन्द-युग का रहस्य-गर्भित कथा-विकास, संयोग-चमत्कार तथा घटना-विलक्षणता; प्रेमचन्द का कथा-विस्तार, संगठन, निर्णय-निरूपण तथा बहुपात्रता; प्रसाद की काव्यमयता; अज्ञेय एवं जैनेन्द्र की मनोविश्लेषणा-त्मक शैली तथा चारित्रिक द्वान्द्वात्मकता; तथा प्रगतिवादियों की व्यंग्यात्मकता के योग से 'चलते-चलते' में विचित्र विधान की सृष्टि हुई है। विभिन्न प्रभावों के स्वरूप से स्पष्ट है कि इसमें एक या दो ही तत्वों की प्रधानता नहीं। ऐसी अवस्था में इसके तात्विक वर्गीकरण की कठिनाई बढ़ जाती है। स्वयं लेखक ने मुखपृष्ठ पर इसे "आत्मकथा के रूप में लिखित मौलिक सामाजिक उपन्यास" कहा है। लेखक ने उपन्यास की 'प्रेरणा' में भी उसके उद्देश्य-तत्व पर अधिक बल दिया है। डॉ० सुषमा धवन ने 'सामाजिक उपन्यास' के विपरीत इसे व्यक्तिवादी उपन्यासों के वर्ग में रखा है। डॉ० ब्रजमोहन गुप्त ने इसे चरित्र-प्रधान उपन्यास माना है। परन्तु हमारे विचार में बहुसूत्री कथानक, घटना-बहुलता, घटना-विलक्षणता, रहस्यगर्भित

---

१. "हिन्दी उपन्यास", पृ० ११२-१३।

कथा-विकास, सायोगिकता एवं आकस्मिकता के प्राचुर्य, तथा कथानक को परिपूर्ण बनाने की विशेषता के अनुसार इसे अपेक्षाकृत कथाप्रधान उपन्यासों के वर्ग में रखना अधिक समीचीन होगा। इस सम्बन्ध में पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी का मत भी उल्लेखनीय है - 'चलते-चलते' को चलते-चलते पढ़ डालना सम्भव नहीं है। जैसा विलक्षण उसका नाम है, वैसी ही रहस्यमयी उसकी भूमिका है और इन दोनों से अधिक असाधारण उसकी कथावस्तु है। पात्रों में कोई असाधारणता नहीं है। उनके कार्यों में भी कोई असाधारणता नहीं है। परन्तु सारा उपन्यास पढ़ जाने के बाद पाठकों को ऐसा जान पड़ता है कि हम ने किसी असाधारण जगत् की यात्रा की है।'[1]

लेखक के अनुसार यह "मौलिक सामाजिक उपन्यास है।"[3] इसका सामाजिक धरातल मुख्यतः उच्च-मध्यवर्गीय समाज के रूढ़ आदर्शों-संस्कारों तथा बढ़ती हुई यौन-अतृप्ति के आपसी संघर्षों से उत्पन्न समस्याओं एवं पूंजीवादी अनैतिकता के चित्रण में है। इस उद्देश्य के लिए लेखक ने अनुकूल वातावरण की सृष्टि की है। एक तो उसने सभी पात्रों को सम्पन्न वर्ग से लेकर आर्थिक चिंताओं से मुक्ति दे दी है—मध्यवर्ग की आर्थिक विषमताओं का चित्रण यहाँ नहीं हुआ - जिससे उनको प्रेम-विलास की भावनाओं से खुल-खेलने का पूर्ण अवकाश मिल गया है; और दूसरे, उसने उपन्यास की कथा का विकास पारिवारिक परिवेश के भीतर से किया है—अनेक पात्र निकट या दूर के रिश्तेदार हैं—जिससे उनको आपस में सहज-मिलने और सम्बन्ध बढ़ाने का अवसर मिलता रहता है। दो-तीन अप्रमुख पात्रों को छोड़कर शेष सभी पात्र यौन-अतृप्ति से ग्रस्त हैं। उपन्यास की अधिकांश प्रमुख घटनाएँ भी इसी पर आधारित हैं। इस तरह उपन्यास के कथानक का निर्माण यौन-समस्या-सम्बद्ध-घटनाओं से हुआ है। यौन-अतृप्ति के विभिन्न पक्षों के उद्घाटनार्थ तथा तज्जन्य बहुविध समस्याओं को दृष्टि में रखकर ही लेखक को कथानक का अनेक सूत्री विस्तार तथा तदनुकूल पात्रों की भरमार करनी पड़ी है। इस दृष्टि को ध्यान में न रखने से अनेक पात्रों तथा कथा-सूत्रों की औपन्यासिक उपयोगिता को समझने में भ्रांति हो सकती है। इसलिए आगे हम कथा के विभिन्न सूत्रों के स्पष्टीकरण तथा उनमें आए विभिन्न पात्रों के चित्रण के आधार पर लेखक के उद्देश्य-तत्व की कुशल-अकुशल प्रतिपादन-पद्धति—अन्तर्भूत या बाह्यारोपित प्रकृति—पर प्रकाश डालेंगे।

---

१. "चलते-चलते—एक मोहक उपन्यास", 'साहित्यकार पं० भगवतीप्रसाद वाजपेयी' (अभिनंदन ग्रंथ), पृ० १७१।

२. "हिन्दी कथा-साहित्य", पृ० १२४।

३. 'चलते-चलते" का मुख पृष्ठ।

'चलते-चलते' में बहुपात्रता तथा उनसे सम्बन्धित अनेक घटनाएँ हैं। यह जटिल कथानक का उपन्यास है—अन्य अनेक आत्मकथात्मक उपन्यासों—'शेखर : एक जीवनी', 'त्यागपत्र'—की तरह यहाँ एक-सूत्री कथानक नहीं, पाँच-छह कथा-सूत्र हैं। इन सबकी एकता का आधार आत्मकथा-वक्ता राजेन्द्र है, जो जैनेन्द्रकुमार के 'कल्याणी' उपन्यास के विपरीत वक्ता-पात्र ही नहीं स्वयं भी प्रमुख पात्र, नायक, है। कथानक के दो-तीन सूत्रों से, इसका प्रमुख या प्रमुखतम पात्र की दृष्टि से घनिष्ठ सम्बन्ध है और शेष सूत्रों का वह द्रष्टा है। वहाँ भी यह मात्र द्रष्टा ही नहीं, यत्किंचित योग-दाता भी है। ये सूत्र नायक के आधार पर परस्पर सम्बद्ध होने के अतिरिक्त कुछ अन्य पात्रों से भी शृंखलित हो गए हैं—एक-एक पात्र, एक ही सूत्र से सम्बन्धित नहीं, किसी दूसरे का साझीदार भी है। इस तरह 'चलते-चलते' का कथानक पर्याप्त शृंखलित हो गया है। इससे यौन-तृप्ति से सम्बद्ध मिलती-जुलती समस्याओं को प्रभावपूर्ण रीति से सामने लाने में योग मिला है।

कथानक का पहला सूत्र मुख्यतः तीन पात्रों को लेकर बना है—राजेन्द्र के पिता पाण्डेयजी, उसकी माता तथा उसकी 'चाची जी'—जो पड़ोसिन होने के नाते ही राजेन्द्र की चाची है, रिश्ते में नहीं। गौण पात्रों में हैं—स्वयं राजेन्द्र, चाची की पहले पति की संतान लाली तथा प्रेमी (पाण्डेयजी) की सन्तान उपेन्द्र। इस सूत्र की पहली समस्या दाम्पत्य-जीवन के स्वाभाविक निर्वाह की है। पाण्डेयजी अपनी पत्नी के साथ इसलिए संतुष्ट न रह सके कि वह अपने तीन बच्चों में से एक की मृत्यु के बाद स्त्रियोचित साज-शृंगार से विरत हो गई और विरक्त-सी होकर जीवन व्यतीत करने लगी। पति के समझाने पर भी वह अपने नारी-धर्म का निर्वाह न कर सकी। इसलिए पाण्डेयजी को अपनी वासना-तृप्ति के लिए विधवा पड़ोसिन से सम्बन्ध जोड़ने पड़े। यह दाम्पत्य समस्या बड़ी यथार्थ है—प्रायः देखा जाता है कि दो-तीन बच्चों की माँ होने के बाद पत्नी, स्वयं से अपेक्षाकृत अधिक स्वस्थ, अपने पति को आकृष्ट करने का ध्यान ही नहीं करती (या असमर्थ रहती है) जिससे पुरुष की अनैतिकता को प्रोत्साहन मिलता है। दूसरी समस्या व्यक्ति की नैतिक-स्वतन्त्रता तथा समाज के परम्परागत आदर्शों या 'रूढ़िवाद' के संघर्ष"[1] की है जो पहली समस्या का सहज प्रतिफल है। समाज के प्रचलित नीति-नियमों के आदर्शा-नुसार पाण्डेय जी घर में ही पत्नी के साथ अपनी प्रेमिका को ससम्मान नहीं रख सकते थे। उनमें इतना साहस भी नहीं था कि वह समाज-भय का सामना कर सकते। वस्तुतः उनके अचेतन मन में भय स्वीकृत था।[2] इसलिए उन्होंने पलायन का मार्ग

---

१. "चलते-चलते", पृ० ४२४।

२. वही, पृ० ४२६।

एवं गोपन की विधि अपनाई और अपनी प्रेमिका को लेकर अलग घर बसा लिया। इस तरह पत्नी परित्यक्ता बन गई, विधवा सधवा हो गई और संतान पिता से वात्सल्य-प्यार पाने से वंचित हो गई। इस समाज-भय का सामना न कर सकने की प्रवृत्ति ने छल-प्रपंच को जन्म दिया और उन्हें घोर स्वार्थी बना दिया। चाची की दृष्टि से सोचने पर एक विधवा की यौन-अतृप्ति की समस्या भी सामने आती है। वह अपनी दो-दो संतानों—एक विवाहित लड़के और दूसरी विधवा लड़की—को छोड़कर भी प्रेमी के साथ लुके-छिपे घर बसाकर रहती है। और यह वह वर्षों तीर्थ-यात्रा का पुण्य लूटने की आड़ लेकर करती रहती है। इस तरह धार्मिक पाखंड का संकेत मिलता है। यही नहीं, अपनी ही विधवा लड़की लाली के इलाज और विवाह की उनको चिन्ता नहीं— क्योंकि समाज के रूढ़ आदर्श बाधक हैं, यह युक्ति बनी बनाई है—इसलिए उसके गहने और लाली को उसके जेठ से मिलने वाले बीमे के रुपए लेकर वह तीर्थ-यात्रा के धर्म-कार्य के लिए चल पड़ती है। इस तरह यह स्थिति सामने लाई गई है कि उच्च मध्यवर्ग का मानव अपनी यौन-तृष्णाओं के लिए कितना स्वार्थी और छली बन गया है। अपने लड़के राजेन्द्र से संयोगवश मिलने के बाद उसके सामने पाण्डेय जी समाज की कटु आलोचना करते हैं किन्तु एकांत में रोते भी हैं—उसकी माँ से किए अपने अन्याय को स्वीकार करते हैं।[1] अपने पिता के हृदय-परिवर्तन की प्रतिक्रिया में राजेन्द्र (लेखक) का चिन्तन-निष्कर्ष है—"तात्पर्य यह है कि उस समय पिताजी को अभाव, अतृप्ति और असंतोष उस जीवन में दिखाई देता था, अब इस जीवन में दिखाई देता है। तो जीवन की प्रत्येक स्थिति अपूर्ण है। कहीं गति नहीं है—कहीं तृप्ति नहीं है। सब अधूरा है।"[2] इस सूत्र का लेखक ने सुखद अन्त किया है। राजेन्द्र प्यार और जायदाद दोनों नातों से उपेन्द्र को अपना छोटा भाई स्वीकार कर लेता है"[3] इसके अतिरिक्त —"पिता जी पुनः घर आ गये और मां ने फिर हाथों में लाल-लाल लाख की चूड़ियाँ पहनी थीं।...छोटी माँ दिल्ली से नहीं लौटीं—न उपेन्द्र। लेकिन उन्हें लाना तो पड़ेगा ही।[4] इस तरह लेखक ने कथानक के प्रथम सूत्र के विकास के माध्यम से उच्च वर्ग की ह्रासोन्मुख स्थिति को प्रदर्शित करते हुए नैतिक उदारता की आदर्श-व्यंजना भी की है और अन्य सामाजिक कर्त्तव्य-कर्मों की उपेक्षा करते हुए,—मानों समाज से नाता तोड़ कर—मात्र वासना तृप्ति में शांति खोजने की व्यर्थता भी सिद्ध की है।

कथानक का दूसरा सूत्र—प्रधानतम सूत्र—मुख्यतः नायक राजेन्द्र, उसके

---

१. "चलते-चलते", पृ० ४२७-२८।
२. वही, पृ० ४२८।
३. वही, पृ० ४४८-४६।
४. वही, पृ० ५२३।

मौसेरे भाई वंशी, वंशी की दो पत्नियों—राजेन्द्र की 'छोटी भाभी' रानी और 'बड़ी भाभी' विमला—तथा रामलाल—जिसके सगे नाना की लड़की बड़ी भाभी है[1]—और उनसे सम्बद्ध घटनाओं को लेकर विकसित हुआ है। वंशी जौहरी स्वयं-अर्जित लाखों की सम्पत्ति में खेलने वाला, पूंजीपतियों के गुणावगुणों का प्रतीक-चित्र है। उसके माध्यम से पूंजीपतियों के व्यभिचार को प्रश्रय देने वाला अभिशाप सामने आता है। वह दो-दो पत्नियों के होते हुए भी विधवा लाली को फांसने और अर्चना पर डोरे डालने में नहीं चूकता —नारी-पात्र मानों पूंजीपतियों की लम्पटता का उपकरण है। रामलाल वंशी बाबू की पहली पत्नी विमला से, उसके विवाह से पूर्व प्यार करता था किन्तु वंशी से बाज़ी हार जाने के बाद, वह रिश्ते की आड़ में विवाहोपरांत भी उसे फांसे हुए है। इसीके बल पर वह वंशी के बीस हज़ार रुपए भी ग़बन करने में सफल होता है। विमला ऊपर से सती-साध्वी पत्नी है, भीतर से धोखा देने वाली व्यभिचारिणी[2]। निस्सन्तान होने के कारण वह अपने पति का वंश चलाने के लिए दूसरा विवाह कराती है[3]—और पति तो मानों पहले से तैयार बैठा था[4]—किन्तु उसकी मूल लालसा पति का ध्यान दूसरी की ओर लगाकर अपने प्रेमी रामलाल से खुलकर विहार करने की रहती है।[5] सौत रानी को अपने से अधिक रूप-सम्पन्न पाकर वह उससे जलती है—इस प्रकार बहु विवाह के दोषों की ओर संकेत भी मिल जाता है। रामलाल से गर्भवती होकर वह पति को सौत के और भी विरुद्ध करने का प्रयत्न करती है। इस प्रकार सभी पात्र अनैतिकता तथा छल-प्रपंच के शिकार हैं। केवल रानी और राजेन्द्र इनसे मुक्त हैं। 'छोटी भाभी' रानी को कदाचित यह बतलाया भी नहीं गया था कि वह ब्याह कर जहाँ जा रही है, वहाँ एक सौत पहले से विद्यमान है। इसका परिणाम यह हुआ कि उसे [illegible] ने ग्रस लिया।[6] वंशी स्वीकार करता है कि उसने रानी के साथ अन्याय किया।[7] इस तरह सौत और पति की अनैतिकता तथा उपेक्षा से भीतर ही भीतर घुलने वाली रानी उपन्यास की नायिका है और वह अवसर और सुविधा पाकर नायक राजेन्द्र की ओर प्रवृत्त हो जाती है। वह उच्च संस्कारशीला है, अतएव एक आदर्श संस्कारी युवक पर मन न्योछावर करती है। दूसरी ओर नायक, विशेष आदर्श परायण है किन्तु रूप यौवन की ओर उसमें सहजाकुल आकर्षण की दुर्बलता भी है। इसके अतिरिक्त इस छोटी-भाभी के गुणों—त्याग सेवा, कार्य-तत्परता, शालीनता, संवेदन-शीलता, अन्तर्दृष्टि—से वह अभिभूत भी है।

---

१. "चलते-चलते", पृ० ५१३। २. वही, पृ० ५१९।
३. वही, पृ० ५१९। ४. वही, पृ० २१२।
५. वही, पृ० ५१९। ६. वही, पृ० २९४।
७. वही, पृ० ५२१।

इसलिए रानी उसके मन में 'श्रद्धा, निमंत्रण और प्रलोभन के तूफान' उठा सकी है।[१] इस तरह दोनों की एक दूसरे की ओर प्रवृत्ति की शृंगारिक कथा से कथानक का मुख्य भाग बना है और इसीके माध्यम से समाज के परम्परागत आदर्शों-संस्कारों तथा आधुनिक व्यक्तियों की स्वच्छन्द शृंगारिक वृत्तियों के आधार पर नूतन वांछित आदर्शों के संघर्ष का मुख्य उद्देश्य सामने आता है। रानी राजेन्द्र से विचारों में ही अधिक क्रांतिकारिणी नहीं, अपने विचारों को कर्म में प्रवृत्त करने का संकल्प भी करती है किन्तु नायक की आदर्शवादिता - समाज-भय किंवा आत्म-ग्लानि (विवेक-बुद्धि)[२]—उसे नूतन मार्ग नहीं बनाने देती। रानी की इन पंक्तियों में 'चलते-चलते' की मूल समस्या ही सामने नहीं आ गई, नायक और नायिका का चरित्र भी—"तुम उस आदर्श के उपासक हो, जो आज तक होता आया है। कैसा हुआ है, यह बात दूसरी है। तुम में इतना साहस ही कहाँ है, जो मुंह पर साफ-साफ कह सको कि जो अब तक होता आया है, वही सत्य और उपादेय नहीं है, जो नहीं हुआ है, लेकिन होना ही चाहिए, वह भी उत्तम और उपयोगी है।"[३] वह अनेक बार रोती है, उसके 'प्राण अधूरे घुटेंगे'[४] का वास्ता भी देती है, और 'मुझे प्राप्त कर लो' की विनम्र प्रार्थना भी करती है; वह नायक को यह भी कहती जान पड़ती है—"आँख मूँद लो ...मर्यादा में डूबे बल्कि उसके हाथ बिके अपने समाज से और अपने भले-बुरे उन संस्कारों से, जिनका मुंह ही केवल तथाकथित पुरातन है, पर लोम-लोम जिनका आज के औसत नागरिक की भांति भूखा, प्यासा, क्षुब्ध, अतृप्त और नंगा है।"[५] परन्तु नायक प्रायः भीतर-ही-भीतर और कभी प्रत्यक्ष रोते हुए भी 'आदर्श की दुंदभि'[६] बजाता रहता है। समाज के बीच प्रतिष्ठा खोकर शरीर और मन की जलन बुझाने वालों को वह सुखी नहीं पाता[७] और इसलिए अपना संतोष भी उसमें नहीं देखता। नायिका को भी ऐसे लोगों को अधिक सुखी मानने का आग्रह नहीं, फिर भी वह नायक-जैसे आत्मरति-ग्रस्त, निरन्तर आहों, विश्वासों और अनदेखे स्वप्नों पर बहस करने वाले लोगों की अपेक्षा आग में कूद जाने वाले इन लोगों के प्रयत्न को अधिक मानवीय मानती है।[८] लेखक ने इस रानी और राजेन्द्र की कथा में भावात्मक तथा वैचारिक संघर्ष को पर्याप्त स्थान दिया है, इसलिए स्पष्ट रूप में अपना मत न देते हुए भी वह दोनों पक्षों को समतुल्य धरातल पर सामने लाने में सफल हुआ है। अन्त में, जो नायक-नायिका अपने प्रयत्नों से आत्मिक मिलन तक ही सीमित रह जाते

---

१. "चलते-चलते", पृ० ४१५।
२. वही, पृ० ११४।
३. वही, पृ० ३९३।
४. वही, पृ० ४०१।
५. वही, पृ० ४१३।
६. वही, पृ० ४१६।
७. वही, पृ० ४१५।
८. वही, पृ० ४१५।

हैं, वे संयोग से—वंशी की मृत्यु और उसकी इच्छानुसार—विवाह-बंधन में सफल हो जाते हैं। अपनी दोनों पत्नियों के अपने-अपने ढंग के विश्वासघातों, और विमला के बल पर उसको बेवकूफ बनाने की रामलाल की चालों, से मन-ही-मन आहत होकर वह आत्महत्या सी कर लेता है किन्तु उसका हृदय-परिवर्तन भी हो जाता है। उसके निष्कर्ष से लेखक ने आज की विषम तथा ह्रासोन्मुख स्थिति को पुंजीभूत करने का प्रयास किया है—"विधि की यह कैसी विडम्बना है कि सच्चा और आडम्बरहीन व्यक्ति इस दुनिया के लिए बेवकूफ़ है। क्षमाशील, निष्कपट और निर्मल व्यक्ति अयोग्य और असफल है—और आचारहीन व्यक्ति राजनीतिज्ञ।'[1] वह अपनी पहली पत्नी विमला के अन्याय को जानता हुआ भी उसके निर्वाह के लिए ५०० रुपए की व्यवस्था कर जाता है। शेष सम्पत्ति वह नायक के नाम कर जाता है। और नायक-नायिका इस अपार सम्पत्ति से दुखी मानवता के "उद्धार और पुनर्निर्माण"[2] की योजनाओं में तल्लीन हो जाते हैं। अन्त में दो कुटिल पात्रों के हृदय-परिवर्तन की सांकेतिक सूचना भी दी गई है। रामलाल को चाहे अन्त में लापता बताया गया है, किन्तु वंशी की मृत्यु पर वह खूब रोया भी है और उसकी ग़बन की हुई रक़म भी जमा पाई गई मिलती है। विमला रामलाल को देखना क्या, उसका नाम भी नहीं सुनना चाहती। वह उसके लिए नासूर बन जाता है। इस तरह इस प्रधान-कथा के आधार पर उपन्यास का सुखात्मक अन्त हुआ है।

तीसरा कथा-सूत्र मुख्यतः विधवा लाली, नायक, वंशी और उनसे सम्बद्ध घटनाचक्र को लेकर बना है। यह दूसरे कथा-सूत्र का अंग भी कहा जा सकता है किन्तु नायक एवं लाली के सम्बन्धों में, भाभी कहीं भी त्रिकोण नहीं बना पाती। दूसरे इस सूत्र की उपेक्षा भी नहीं हो सकती क्योंकि इसने भी उपन्यास के पर्याप्त पृष्ठ लिए हैं और यह समाप्ति की सीमा तक पहुंचा है। लाली के माध्यम से भारतीय विधवा की असहाय पीड़ित अवस्था को मूर्तिमान किया गया है। उसके विधवा बनने के बाद, उसका भाई सोनेलाल अपना दूसरा विवाह करता है किन्तु अपनी युवा बहिन की चिन्ता नहीं करता—पुरुषों पर यह कैसा व्यंग्य है! उसकी माँ (राजेन्द्र की चाची) स्वयं विधवा होने पर भी, उससे सहानुभूति रखना दूर, कपट तथा चरम स्वार्थान्धता का व्यवहार करती है। उसका इलाज न कर वह मानो उसे मार डालना चाहती है, और अपनी विलास-लालसा के लिए उसके गहने और जेठ के भेजे बीमे का रुपए आदि लेकर, अपनी प्रेमी के पास चली जाती है। लाली रूप-यौवन की विशेष धनी है और नायक राजेन्द्र उसकी ओर देखते ही आकर्षित भी होता है;

---

१. "चलते-चलते", पृ० ५२०। २. वही, पृ० ५२२।

फिर भी, उसका विवेक उसे सम्भाल लेता है।[1] लाली भी राजेन्द्र को अपना सर्वस्व मानने लगती है और उसे अपने घर के रहस्य तक बताने में तत्पर रहता है। एक ऐसे ही समय राजेन्द्र का तिरस्कार उसे आत्महत्या के लिए बाध्य कर देता है। उसे बचाने में राजेन्द्र ही काम आता है। उसका यह समर्पण-भाव नायक के मन में घर कर जाता है, इसलिए अपनी 'छोटी भाभी' के बाद, नारियों में वह सर्वाधिक लाली की ओर ही प्रवृत्त होता है। अपनी विवाहिता छोटी भाभी से चरम सम्बन्ध बनाने के लिए उसे अपने आदर्शों का अधिक भय हो सकता था, किन्तु लाली से विवाह कर वह क्रान्तिकारी वीर बन जाता । वह विधवा-विवाह की वकालत करता है परन्तु उसमें क्रांति की क्रियात्मक शक्ति नहीं।[2] एक विजातीय विधवा से उसके विवाह में उसकी माँ के रूढ़ संस्कार, उसके अपने संस्कारों से, अधिक बाधक थे। इसलिए उसकी माँ, छोटी-भाभी और लाली दोनों के साथ उसके घनिष्ठ होते हुए सम्बन्धों पर परोक्षतः आपत्ति भी उठाती है।[3] इसी कारण से नायक जानकर उससे उदासीन हो जाता है। इस तरह युवा विधवा 'श्यामा गैया' बनकर परिवार और समाज की चोटें सहती रहती है किन्तु उसकी अपनी चोटों एवं घुटती लालसाओं को कोई नहीं देखता। फिर भी, एक स्थल पर लाली की निरावरण यौवन-सम्पदा पर दृष्टि पड़ जाने से राजेन्द्र का बुरा हाल हो जाता है और वह होटल के एकांत कमरे में उससे कहता भी है "तुम ब्याह करोगी लाली ?" परन्तु राजेन्द्र के आदर्श उसे शिथिल ही बनाए रखते हैं। सब ओर से निराश होकर लाली आत्म-निर्भर बनने के लिए शिक्षा-प्राप्ति का उपक्रम करती है, किन्तु बंशी के रूप में पूंजीपति समाज उसके यौवन को खरीदने आ पहुंचता है। वह चारों ओर से निराश और अपने देह-धर्म के निर्वाह की आकुलता से बाध्य, बंशी को समर्पित होकर गर्भवती हो जाती है। बंशी की मृत्यु पर उसका बुरा हाल हो जाता है। पर अन्त में जैसे लेखक ने उसका भी हृदय-परिवर्तन कर दिया है—"एक दिन तुमने मेरे विवाह के लिए कहा था—मैं भी सोचती थी देह-धर्म तो निभाना ही पड़ता है। लेकिन अब मैं सोचती हूं, आत्मा का धर्म ही श्रेष्ठ है। देह कुछ नहीं है—कुछ नहीं है। मुझे भी ले चलना।···माँ के साथ मेरा रहना ? नहीं—नहीं, मैं वैसी नहीं बनूंगी।"[4]—इस तरह लेखक ने एक बार की भूल[5] के बाद उसे पूर्णतया आदर्शवादी बना दिया है।

कथानक का चौथा सूत्र लाला सांवरे, उसकी लड़की जमुना, जमुना के पति राय चन्द्रनाथ, और राजहंस को लेकर बना है। कुछ न कुछ योग नायक का भी

---

१. "चलते-चलते", पृ० ८३।
२. वही, पृ० २०८।
३. वही, पृ० ३३०।
४. वही, पृ० ५२२।
५. वही, पृ० ५२३।

है। लाला सांवरे ने अपनी लड़की के विवाह में लड़के (राय चन्द्रनाथ) का धन देखा, सभ्यता[1] और आवश्यक गुण न देखे, इसलिए उसे धोखा खाना पड़ा। राय चन्द्रनाथ नपुंसक है, इसलिए सिनेमा देखने की शौकीन जमुना सिने-तारिका बनने के लोभ में चार सौ बीस मुरली मनोहर उर्फ राजहंस के चंगुल में फंस कर भाग जाती है। बाद में वह उसके बलात्कार के प्रयत्न पर, उसे चलती-गाड़ी से नीचे गिरा देती है। आगे यौन-अतृप्ति के कारण जमुना पागल हो जाती है। इस स्थल पर लाला जी की प्रतिक्रिया में लेखक का मत मुखरित हो उठता है—"मैं चाहता हूं किसी तरह जमना की सेहत ठीक हो जाय, उसके बाद तो मैं उसे हर तरह से सुखी देखने की कोशिश करूँगा। समाज का डर पाल और कोरे आदर्शवाद का खोल अब मुझसे न पहना जायगा![2] अन्त में डॉक्टर के इलाज से जमुना और उसके पति को ठीक होते दिखाया गया है, जिससे लाला जी को किसी क्रांतिकारी कदम उठाने की आवश्यकता नहीं पड़ती और इस सूत्र का भी सुखद अन्त हो जाता है। इस तरह लेखक ने जमुना के माध्यम से उन अनेक कारणों पर प्रकाश डाला है, जो एक लड़की के घर से भागने के उत्तरदायी हो सकते हैं। इस दृष्टि से जमुना का वर्गगत चित्रण किया गया है।

कथानक का पांचवाँ सूत्र उपर्युक्त मुरलीमनोहर, उसकी पत्नी अर्चना, कलिका, मिस हीरामानिक आदि को लेकर बना है। मुरलीमनोहर, आधुनिक शरीफ बदमाशों का प्रतिनिधि है। उसके ख़्याल में विवाह एक बेड़ी है, जो इन्सान को क़ैद में डाल देता है, इसलिए अपनी दूर की बहिन अर्चना का 'पति कहलाता है'[3]—पति है नहीं, क्योंकि उसने उससे विधिवत विवाह नहीं किया, फिर भी अर्चना भारतीय नारी के समान उसे पति मानती ही नहीं, समय पर उसकी सब बातों को भूलकर, सहायता भी करती है। अर्चना अध्यापिका है इसलिए वह रुपयों के लिए उससे बनाता-बिगाड़ता रहता है। अर्चना बुद्धू नहीं, वह उसका मुख्य कार्य खूब समझती है—"चिकनी चुपड़ी बातें बना-बना कर फुलसाने और मौके पर दस-पांच रुपये खर्चकर डालने मात्र से अगर दसवें-पन्द्रहवें दिन कोई-न-कोई मछली जाल में आ जाती हो, तो स्त्री के साथ समझौता करना मूर्खता ही न समझी जायगी।[4] जमना को वह एक्ट्रेस बनाने का लोभ देकर फंसाता है और मैट्रिक में फेल होने वाली कलिका को बहन बनाकर, पास कराने का लालच देकर। कलिका से लेखक ने सिद्ध

---

१. "चलते-चलते", पृ० ४४६।
२. वही, पृ० ४९७।
३. वही, पृ० १८४।
४. वही, पृ० १८५।

किया है कि नैतिक स्तर की एक सीढ़ी से फिसलने वाले व्यक्ति को एकदम नीचे पहुंचे बिना त्राण नहीं मिलता क्योंकि उसे पाप को छिपाने के लिए और पाप करने पड़ते हैं।[1] हीरा मानिक बच जाती है क्योंकि समय पर राजहंस की कलई खुल जाती है। इस मुरली मनोहर उर्फ राजहंस के चरित्र का प्रतिनिधिकरण करते हुए लेखक ने आज की आकुल-प्रकुल वासनाओं की, तृष्णा और अतृप्ति के सार्वत्रिक हाहाकार के नाम पर आ रही नैतिक गिरावट की भर्त्सना की है।

कथानक का छठा क्षीण तथा अपूर्ण सूत्र नायक राजेन्द्र, उसके बहनोई दीक्षितजी, दीक्षित की बहिन वैशाली आदि को लेकर निर्मित हुआ है। वैशाली में आधुनिक पढ़ी-लिखी नागरिक लड़कियों का वेश-वैचित्र्य, चपलता, निस्संकोचता, आत्माभिमान, तार्किकता, बुद्धिमत्ता तथा पुरुषों को आकर्षित करने के हाव-भावों की कुशलता मिलती है। वह नायक के प्रति पूर्णतया समर्पित है--मिलने पर वह नायक को हर समय घेरे रहने और पत्रों में 'मेरे देवता' लिखने से बाज नहीं आती। राजेन्द्र भी उसकी रूप-बुद्धि के प्रति किंचित् आन्दोलित होता है किन्तु उसका विवेक सर्वत्र उसका साथ देता है।[2] राजेन्द्र से प्रोत्साहन न पाकर भी वैशाली अपने प्रेम-संकल्प को नहीं छोड़ पाती --यौनतृप्ति के उन्माद से वह जैसे पागल-सी हुई फिरती है। राजेन्द्र उसके उन्माद को कम करने के लिए उसे बहिन कहता और मानता है किन्तु वैशाली उससे कहती है—"विवाह होने से पूर्व जो व्यक्ति भाई होता है, वही विवाह के बाद पति बन जाता है। इस तरह कभी भाई और कभी पति बनने वाला व्यक्ति नहीं बदलता, उसका मनोभाव मात्र बदलता है···" वैशाली के उपर्युक्त विचार नई पनपने वाली पाश्चात्य सभ्यता की देन हैं और आज इसकी प्रधानता होती जाती है। वैशाली की औपन्यासिक उपयोगिता इसी पक्ष को प्रस्तुत करने में निहित है। लेखक ने नायक के माध्यम से इसका तीखा उत्तर दिया है--"सभ्यता की आंखें फूट जायंगी वैशाली, यदि मनुष्य की भावना मर जायगी। तर्क उस समय अन्धे साधु की-सी लकड़ी टेक-टेक कर चलेगा। अनुभव की आंखों से देखो, तो तुम्हें पता चलेगा कि हमारे सामाजिक संस्कार सहोदर भाई को ही नहीं, अन्य भाइयों को भी जीवन भर भाई ही बनाए रखते हैं। पति बन जाने वाले भाई उनकी छाया में नहीं आ सकते। क्योंकि अन्धे व्यक्ति की दृष्टि छाया और प्रकाश के भेदाभेद से परे होती है।"[4] वैशाली के सूत्र को लेखक ने अपूर्ण ही छोड़ दिया है।

फोटोग्राफर मिस्टर मोदी, बहिन हीरा मानिक और नायक के पारस्परिक

---

१. "चलते-चलते", पृ० १८७। २. वही, पृ० २११।

३. वही, पृ० ४६५। ४. वही, पृ० ४८४-८५।

आकर्षण में एक अन्य सूत्र की सम्भावना निहित थी, किन्तु इसका विकास भी नहीं हुआ। इसलिए ये पात्र अनावश्यक लगते हैं। फिर भी, नायक के प्रति मोदी के व्यवहार से आधुनिक नैतिक उदारता के एक पक्ष का उद्घाटन अवश्य हुआ है। मिस्टर मोदी की दुकान पर खड़ी विभिन्न लड़कियों की प्रासंगिक आलोचना में नायक अनजाने में मोदी की बहिन हीरा के प्रति अपने आकर्षण की बात कह जाता है, किन्तु मोदी बुरा मानने की बजाए, सहजभाव से उसे अपने और हीरा के भाई-बहन-सम्बन्ध का ज्ञान ही नहीं कराता, घर पर निमन्त्रित भी करता है।[1]

गौरीशंकर और पहले सूत्रों में आए, रामलाल के संघर्ष के आधार पर उपन्यास के सामाजिक उद्देश्य को व्यापक बनाने और राजनैतिक परिस्थितियों के समावेश का प्रयास भी किया गया है, जो असफल रहा है। रामलाल आज के तिकड़मी नेताओं का वर्ग-प्रतिनिधि है और गौरीशंकर अन्तर्बाह्य एक निस्वार्थ देशभक्तों —'नई पौध'[2]—का। रामलाल गांधीवादी होकर भी पिस्तौल बाँधकर घूमने वाला, डकेत, जालसाज़ तथा खाने-पहरावे में शौकीन व्यक्ति है। गौरी बाबू सत्य को दुनिया में सबसे बड़ी चीज़ मानने वाला और रामलाल जैसे मक्कारों का डट कर मुकाबला करने वाला निर्भीक-निश्छल नेता है।[3] उपन्यास के प्रारम्भ में गाँव में फौजदारी की घटना के आधार पर यह सूत्र पर्याप्त प्रबल दिखाई देता है किन्तु बाद में लेखक इसे भूल जाता है—रामलाल के आधार पर, अधिक से अधिक इसकी शृंगारिक परिणति ही सामने आती है। इस उपन्यास के पात्र—विशेष रूप से लालजी और नायक—स्थान-स्थान पर, मौके-बेमौके, स्वातन्त्र्योत्तर भारत के कांग्रेसी शासन के भ्रष्टाचार, अनाचार तथा स्वार्थांधता पर भाषण झाड़ते; नेताओं की चरित्र-हीनता तथा व्यावसायिक देश-भक्ति पर व्यंग्य-विद्रूप करते तथा पूंजीवाद के विरोध में सर्वहारा क्रांति तक की सम्भावनाओं को प्रकट करते हैं, किन्तु ये अपार विचार बाह्यरोपित है, अन्तर्भूत नहीं—इन्हें न तो घटनाओं का बल मिला है, न पात्रों का—इसलिए प्रभावहीन हो गए हैं। ये अपनी बोझिलता से पाठकों को उपन्यास के मूल उद्देश्य से विरत तथा कथा-गति को शिथिल करते हैं। इन विचारों के समावेश की गुंजायश यहाँ हो सकती थी, यदि रामलाल और गौरीशंकर के संघर्ष-सूत्र को विकसित तथा गौरीशंकर-जैसे पात्र को अधिक स्थान दिया जाता। प्रारम्भिक परिच्छेदों को छोड़कर आगे हम विभिन्न अवसरों पर गौरीशंकर की झलक-मात्र पाकर रह जाते हैं। एक यही युवक पात्र है, जो यौन-कुण्ठाओं से मुक्त है, किन्तु उद्देश्य के अनुकूल इसका समुचित उपयोग नहीं किया जा सका।

---

१. "चलते-चलते", पृ० ५३-५५। २. वही, पृ० ३८६।
३. वही, पृ० ७१।

निष्कर्ष-रूप में कहा जा सकता है कि आधुनिक परिस्थिति-प्रसूत नूतन आदर्शों तथा समाज के पूर्व-प्रचलित रूढ़-आदर्शों के पारस्परिक संघर्ष; अथवा यौन-अतृप्ति जन्य समस्याओं के विविध पक्षों तथा तज्जन्य समाज के नैतिक ह्रास के चित्रण में लेखक पर्याप्त सफल रहा है। फिर भी लेखक 'चलते-चलते' को प्रभावपूर्ण नहीं बना सका। इसका एक बड़ा कारण इस उपन्यास का अन्त है। लेखक यदि यथार्थ चित्रण तक ही सीमित रहता और उपन्यास की अनेक घटनाओं की प्रतिक्रिया को पूर्णतया प्रदर्शित करता, तो इस रचना का प्रभाव बढ़ जाता। आगे हम लेखक की इस कलात्मक कमी का विवेचन करेंगे।

नायक-नायिका का मिलन उनके चरित्र-चित्रण की मनोविज्ञान-संगत कार्य-कारण-परम्परा का परिणाम नहीं, बंशी की मृत्यु की घटना के संयोग-चमत्कार का फल है। अतएव न तो यह किसी आदर्श की स्थापना कर सका है, न पाठकों को द्रावक चिन्तन में लीन। वस्तुतः नायक की तरह पाठक को भी यह सब 'स्वप्न'[1] ही लगता है, यथार्थ नहीं। कल्पना कीजिए कि स्वाभाविक कथा तथा चरित्र-संगति के अनुकूल, छोटी भाभी के अपने कथानुसार, यदि उसके प्राण घुटते-घुटते समाप्त हो जाते, तब इस वर्तमान समाज के व्यक्ति-स्वातन्त्र्य तथा रूढ़ आदर्शों की विषमता पर पाठक द्रवित होकर सोचने पर बाध्य हो जाता। दूसरी सम्भावना यह भी हो सकती थी कि उसकी दुरावस्था की स्थिति बनी रहती और मृत्यु न भी होती, तब भी कार्य-कारण परम्परा के अनुकूल होने के कारण प्रभाव अकुण्ठित रहता। एक तीसरी सम्भावना हो सकती थी कि नायक का हृदय-परिवर्तन हो जाता और दोनों क्रांतिकारी कदम उठाकर समाज की उपेक्षा कर देते। किन्तु लेखक ने उपर्युक्त सभी यथार्थ सम्भावनाओं की अपेक्षा कर संयोग-तत्व के आधार पर चामत्कारिक अन्त किया है।

विधवा लाली के चरित्र का और भी असंगत अन्त हुआ है। बीस वर्ष की युवा विधवा गर्भवती होने की भूल करने के बाद देह धर्म को 'कुछ नहीं' और आत्मा के धर्म को ही जैसे श्रेष्ठ बताने लगती है, वह हास्यास्पद है—आदर्श की दृष्टि से नहीं, कला की दृष्टि से। लाली का यह आदर्श-निष्कर्ष लेखक के अपने ही चित्रण—समाज की बहुविध अनैतिकता के मूल कारणों के चित्रण—तथा नायक के विधवा-विवाह की वकालत में दिए गए अपने ही वक्तव्य के विरुद्ध जाता है। यदि लेखक भारतीय विधवा के त्याग-तपस्या के आदर्शों के सफल निर्वाह की चर्चा या चित्रण करता, तब भी उपर्युक्त निष्कर्ष में कुछ संगति देखी जा सकती थी, किन्तु उसने भारतीय विधवा-जीवन के इस पक्ष का कहीं स्पर्श नहीं किया। इसके विपरीत उसने

१. "चलते-चलते", पृ० ५२३।

नायक के 'ब्रह्मचर्य, इन्द्रिय-निग्रह और कठोर साधना' को 'कोरा आदर्शवाद' मानकर, इनका प्रचार करने वालों को 'समाज और देश को गुमराह करने वाले, प्रतिक्रियावादी और धूर्त' कहा है।[1] लाली के चरित्र-चित्रण और लेखक के समग्रचित्रण के आधार पर लाली की अन्तिम परिणति या तो उसका विवाह हो सकती थी या आदर्शवादी बात कहने से पूर्व की स्थिति—लेखक यथार्थ चित्रण तक ही सीमित रह जाता और उसे निष्कर्षात्मक परिणति न देता। वैशाली की कथा को अपूर्ण छोड़ा जा सकता है, तो इन पात्रों—राजेन्द्र, रानी, लाली—की कथा को पूर्ण करने का असंगत आग्रह क्यों? वैशाली की कथा को कुछ सीमा तक और विकसित करना स्वाभाविक होता। पाठक यह समझने में असमर्थ रहता है कि उसके घर वाले—विशेष रूप से विजातीय विवाह के समर्थक, उदार नैतिकता के हामी तथा 'मानवधर्म' को श्रेष्ठ मानने वाले दीक्षित जी—वैशाली के विवाह के लिए सोचते क्यों नहीं? नायक को वह इस बात का कोई संकेत नहीं देते और नायक भी उनको कोई मार्ग नहीं सुझाता। वैसे तो वैशाली के लचीले चरित्र में इतना गुण तथा बुद्धि है कि वह नायक के विरूद्ध कोई प्रतिक्रिया कर सकती और अपना नया मार्ग चुन सकती, किन्तु लेखक ने इन सम्भावनाओं का उपयोग नहीं किया।

लेखक ने कुछ घटनाओं की प्रतिक्रिया अतिरंजित रूप में दिखाई है और कुछ को यों ही छोड़ दिया है। वंशी की मृत्यु के बाद एक-साथ कितने परिवर्तन आते हैं—लाली, रामलाल, विमला का चरित्र-परिवर्तित हो जाता है और नायक-नायिका विवाहित होकर पुनर्निर्माण के कार्य में लग जाते हैं। वंशी की घटना भी एक विस्फोट, एक चमत्कार के रूप में अधिक और चरित्र-संगति के परिणाम के रूप में कमही आती है। इतने परिवर्तनों के लिए उपन्यास में उसके चरित्र को समुचित स्थान नहीं मिल सका। इसलिए उसकी मृत्यु के प्रभाव को जितना व्यक्त किया गया है, पाठक उतना ग्रहण नहीं कर पाता। वंशी की मृत्यु के विपरीत, लेखक ने मुरलीमनोहर जैसे खलपात्र की मृत्यु की सूचना भर दी है, इस पर होंने वाली सामाजिक प्रतिक्रिया का उपयोग नहीं किया। यही अवस्था दूसरे खल पात्र रामलाल की है—उसे 'लापता' दिखा दिया गया है। यही अवस्था कथानक के पहले सूत्र की है। पाण्डेय जी के घर लौट-आने और चाची और उपेन्द्र को 'लाना तो पड़ेगा ही' की सूचना तो दे दी गई है, किन्तु इसके विरूद्ध पाण्डेय जी के घर तथा समाज में होने वाली प्रतिक्रिया का चित्रण नहीं किया जा सका। ये प्रश्न भी उठे बिना नहीं रहते—क्या वहाँ बहुविवाह का दोष दूर हो जाएगा? कपटाचारिणी चाची तथा नायक की सरल माँ में निर्वाह

---

१. "चलते-चलते", पृ० ८६।

हो सकेगा ? वस्तुतः, अन्त में लेखक ने पहले के बहु कथा-प्रसार को एक-साथ समेटने का प्रयास किया है, जिसमें सफलता नहीं मिल सकी। इससे तो यही अच्छा था कि वह समेटने से पूर्व की स्थिति बनी रहने देता और कथा को पूर्ण करने की चिंता में बाह्यारोपित-समाधान-सूचक और सुखात्मक अन्त करने का प्रयास न करता। लगता है, जैसे उसने अपने ही नामकरण का विरोध किया है क्योंकि 'चलते-चलते' से तो यही व्यंजित होता है कि इस जीवन-यात्रा का अन्त नहीं है। कथानायक का विचार भी यही है- "हमारे समक्ष एक ऐसा अनन्त पथ है, जिस पर हम निरन्तर चल रहे हैं। जैसे इस यात्रा का अन्त नहीं है, वैसे ही इस पथ का अन्त नहीं है.."[१] और इसी के अनुरूप उपन्यास का अन्त भी जरूरी नहीं है। नूतन औपन्यासिक दृष्टिकोण तो स्पष्ट कहता है—"उपन्यास रूप-रेखा लेकर चले ही क्यों ?.. वह समाप्त हो ही क्यों? क्या वह खुला नहीं रह सकता ?[२] फॉस्टर के निम्नस्थ निष्कर्ष को 'चलते-चलते' जैसे उपनयास प्रमाणित करते हैं---"प्रायः सभी उपन्यास अन्त में शिथिल होते हैं क्योंकि अन्त में उपन्यास के कथानक को समेटना पड़ता है।[३]

'चलते-चलते' उपन्यास में एक विचित्र असंगति इस बात में मिलती है कि एक ओर तो इसे मनोविश्लेषणात्मक शैलियों के प्रयोग से चरित्र-चित्रण पर आग्रह है और वह कथानक की विभिन्न स्थितियों के संयोजन में तर्क-संगति की अपेक्षा संयोग तथा आकस्मिकता के चमत्कार-चातुर्य के सस्ते-सतही साधनों का अधिक उपयोग करने लगता है। राजेन्द्र के पिता पाण्डेयजी का नया घर बसाने की कहानी इसका प्रमाण है। वह स्वयं स्पष्ट करते हैं—'इसमें सबसे अधिक सहायता पहुंचाई भगवान की इस विचित्र माया ने, जिसके कारण मैंने उस दिन नया जीवन पाया। हम लोग तो अक्सर अब भी इस बात पर हँसा करते हैं कि जैसे हम को सदा को मिला देने के लिए ही भगवान ने पहले मेरी मृत्यु की रचना रची, वैसे ही फिर मेरे जीवन और तदनन्तर उन संयोगों की सृष्टि की, जिनसे मैंने तुम्हारी चाची को उस अवस्था में अपने निकट पाया।[४] पाण्डेय जी की मरने-जीने की घटना तिलस्मी प्रभाव-सा डालती है। इस घटना की पृष्ठ-भूमि के रूप में आतंकोत्पादक प्राकृतिक वातावरण की सृष्टि अवश्य ही कलात्मक है। ईश्वरीय माया को पूर्ण बनाने में इस वातावरण का कथागत उपयोग भी हुआ है—आँधी से लैम्प बुझता है तथा बरसात से लाश में चेतना आती है। उपन्यास के आरम्भ में ही इस घटना का न्यास कथा के रहस्यमय

१. "चलते-चलते", पृ० ३५६।
२. E.M. Forster: "Aspects of the Novel", p. 129.
३. वही, पृ० १२६-२७।
४. वही, पृ० ४२५।

उत्सुकतापूर्ण आरम्भ के लिए किया गया है। पाण्डेयजी की इस संयोग-कथा के मायावी रूप को पूर्ण बनाने के लिए लेखक को इस अस्वाभाविकता की भी सृष्टि करनी पड़ी कि उसका विचारक, बुद्धिमान तथा आदर्शवादी लड़का अपने पिता की खोज के लिए कोई प्रयत्न करता नहीं दिखाया गया—वैज्ञानिक प्रगति के इस युग में भी जिसमें सभी प्रकार के साधन उपलब्ध हैं। आगे 'चाची' से संकेत भी मिलते रहते हैं और उसकी रहस्यमयी तीर्थयात्राएँ शंका को बढ़ाती भी हैं, किन्तु फिर भी नायक खोज करने का कोई प्रयत्न करता नहीं दिखाया गया। अन्त में नायक का अपने पिता से मिलना पुनः संयोग का ही चमत्कार है—मानवीय प्रयत्नों का नहीं। आश्चर्य होता है कि दिल्ली के प्रसिद्ध स्थान कनॉट प्लेस के ओडियन सिनेमा के पास एक बड़ा कैफ़े चलाते हुए और उसी नाम से रहते हुए भी, उन्हें इतने वर्षों तक कोई मित्र या रिश्तेदार मिल ही नहीं पाता, जबकि उनकी अपनी लड़की मधु करौलबाग में ही विवाहित है, और वंशी यहीं सैर-सपाटे और मनोरंजन के लिए आता-जाता रहता है। नायक कथा-संगति के लिए कहता है—'इस दुनिया की रचना ही कुछ ऐसी अद्भुत हुई है कि यहाँ सर्वथा सरल, स्वाभाविक और अत्यन्त अद्भुत बिलकुल पास-ही-पास बैठता और रहता है।"[1] लेखक के इसी दृष्टिकोण के अनुकूल संसार ही 'माया नगर' नहीं, उपन्यास में भी इस मायात्मक वातावरण की सृष्टि हो गई है। उपर्युक्त कहानी के अतिरिक्त इन प्रसंगों में भी संयोग-तत्व का उपयोग हुआ है :—

१. हीरा मानिक के घर राजहंस और नायका मिलन।[२]

२. स्टेशन पर आते हुए नायक का रास्ते में पागल जमुना को देख लेना और उसका दिल्ली में ही रुक जाना।

३. छोटी-बड़ी भाभी का गाड़ी से रह जाना।

४. नायक की लाली की चिंता में कैफ़े से बाहर निकलना और बड़ी भाभी और लाली का मिल जाना।[३]

५. नायक का जमुना की खोज के लिए उधेड़बुन में होना कि उसका वहीं मिल जाना।[४]

६. नायक और लालाजी को होटल के दूसरे कमरे में जमुना और मुरली मनोहर को आपस में बातें करते हुए मिल जाना।[५]

७. नायक का मोदी से अनेक लड़कियों में से एक लड़की के प्रति आकर्षण की बात कहना और उस लड़की का मोदी की बहिन निकलना।[६]

१. "चलते-चलते", पृ० ४१६।
२. वही, पृ० १६०।
३. वही, पृ० ५५४।
४. वही, पृ० ४५७।
५. वही, पृ० ३८६।
६. वही, पृ० ५३-५४।

८. दिल्ली में मधु वैशाली के घर कथानाय को अर्चना का मिलना।

९. मुरलीमनोहर के मांगने पर राजेन्द्र उसे रुपए न देने का निश्चय करता है कि संयोगवश सहसा उसकी दृष्टि उस कागज़ पर पड़ती है, जिसमें पान लिपटकर आए थे और जिस पर रहीम का प्रसिद्ध दोहा लिखा होता है : 'रहिमन वे नर मर चुके जेकहुं मांगन जांहि'''इस पर वह उसे रुपए दे देता है।'[1]

पात्रों के सहसा प्रवेश या आकस्मिकता की झकझोर का नाटकीय चमत्कार भी अनेक स्थलों पर मिलता है। गौरीशंकर नायक से रामलाल की बुराई कर रहा है कि रामलाल सहसा प्रवेश करता है[2] और रामलाल नायक से गौरी की बुराई कर रहा है कि वह आ जाता है।[3] जमुना नायक को अपनी दिलेरी की कथा-सुनाने का अभिनय कर रही है कि पहले लाला जी फिर चन्द्रमा और अन्त में मुरली बाबू कहानी के सभी सम्बन्धित पात्र—सहसा प्रवेश करते जाते हैं।[4] इलाहाबाद स्टेशन से गाड़ी तेज़ी से चलती है कि छोटी-बड़ी भाभी के डिब्बे में रामलाल अकस्मात् आकर चढ़ जाता है। जमुना नायक को बनाने का अभिनय करती है, पाठकों को इसका चामत्कारिक विधि से बाद में पता चलता है। वंशी एवं छोटी भाभी के साथ ट्रेन में दिल्ली आता हुआ नायक फ़ीरोज़ाबाद स्टेशन पर यकायक दरवाज़े पर कुट-कुट होती सुनता है और सौराष्ट्रीय वेश-भूषा में अपने मकान के नीचे रहने वाली लाली को समुपस्थित पाकर 'हे भगवान, त्राहिमाम!' कह उठता है।[5] जमुना, मुरली मनोहर तथा चन्द्रनाथ के व्यवहार 'नाटकीय पट-परिवर्तन'[6] जैसे हैं। वंशी का लाली को फंसा लेने की[7] और वंशी की मृत्यु की सूचना भी चौंकाने वाली है। अपनी स्त्री और विद्यार्थियों के संघर्ष पर मूक बने रहने वाले बंगाली महाशय का अन्त में सहसा पिस्तौल निकाल लेना भी नाटकीय प्रभावपूर्ण है।

इस संयोग तथा आकस्मिकता की प्रचुर विलक्षणता को सम्भालने के लिए लेखक ने कथानक को वास्तविकता का वातावरण देने के लिए भी कुछ प्रयत्न किए हैं। एक तो उसने कथानक के विकास की आधारभूमि—इलाहाबाद और दिल्ली—के स्थानों-पथों आदि के सही-सही नाम दिए हैं। दूसरे, किसी समसामयिक बड़े व्यक्ति के नाम लेने से बचने के लिए लेखक ने रिक्त स्थान छोड़कर वास्तविकता का भ्रमोत्पन्न किया है:—'उन्होंने श्री'''महोदय से अपनी भेंट की बात'[8]'''तीसरे, उसने यथार्थवादियों की-सी वर्णन सूक्ष्मता से चौंकाया है; यह वर्णन लीजिए:—

१. "चलते-चलते", पृ० २२६।
२. वही, पृ० ७२।
३. वही, पृ० ९७।
४. वही, पृ० ३५८-५९।
५. वही, पृ० ४१८।
६. वही, पृ० ३९०।
७. वही, पृ० ४१८।
८. वही, पृ० ७७।

"...द्वार पर दोनों ओर मेहराबदार परदा पड़ा हुआ है, जिसके बीच में गाँठ है और कोनों पर पतली-पतली लटों के फुंदने लटक रहे हैं। सामने एक बड़ा सोफ़ा-सेट है, इधर-उधर कई गद्देदार कुर्सियाँ, जिसमें एक पर पिछले दो पैरों के बल बैठी हुई एक चुहिया अपने अगले पैरों से सम्भाले हुए बिस्कुट के एक टुकड़े को इतमिनान से कुतर रही है। फ़र्श पर नीली दरी बिछी हुई है, जिसके बीच का भाग चारों ओर से हल्का पड़ता है और एक गोलाई बनाता हुआ श्वेत हो गया है।[१]

चौथे, कथानक के विकासक्रम में, उससे असम्बद्ध किन्तु दैनन्दिन की वास्तविकता से युक्त, लघु-लघु विवरण देने की अनोखी शैली अपनाई गई है। कथानक के सहज-प्रभाव तथा विषय की गम्भीरता की दृष्टि से ये घातक हैं, किन्तु इनका प्रयोजन वास्तविक वातावरण की सृष्टि ही रही है। इसका एक चरम उदाहरण वहाँ मिलता है, जहाँ वंश की शव-यात्रा के वर्णन में लेखक उसकी मृत्यु के प्रभावों का चित्रण करते-करते और तत्सम्बन्धी गम्भीर प्रश्न सोचते-सोचते यकायक कह उठता है—"अरे हँडेवाले ज़रा बत्ती ठीक करो।" मेरा इतना कहना था कि आठ-दस आदमियों ने अनेक स्वरों में कहना शुरू कर दिया—"यह हंडेवाला कहाँ मर गया?—आप नहीं जानते ये लोग बड़े पाजी होते हैं जी! अरे साहब, जब हमको ज़रूरत पड़ती है, तब कभी ये चरस की दम लगाते मिलते हैं और कभी फ़लास खेलते हुए!" खैर वहाँ जो हंडेवाला था, वह कैप्स्टन-सिगरेट के कश-पर-कश झाड़ रहा था। चख़-चख़ सुनकर तुरन्त दौड़ा।[२] एक अन्य स्थल पर वह पात्रों के संवाद के क्रम में बिल्ली और बिल्ले के आकर म्याऊं-म्याऊं करने का उल्लेख करता है।[३] अन्यत्र चिन्तापूर्ण स्थल पर लिखा गया है:—"घड़ी ने टनटन कर चार बजाए "ताँगे वाले ने टीप लगाई—"नैना बड़े जुलमी!"[४] कथानायक का चिन्तन अपनी निकट की वास्तविकता से प्रायः प्रभावित होता रहता है। जीवन-क्रम में चलते-चलते आने वाले पशु-पक्षी तथा वस्तुएँ उसके लिए प्रतीक बन जाती हैं।[५] "संसार की हर एक बात का श्लेषात्मक भाव" निकालना नायक का स्वभाव है।[६] इसी आधार पर लाली 'श्यामा गाय' बन जाती है और चाय की केतली का तापमान भी मानवीय तापमान हो उठता है।[७] इसी प्रकार लाला सांवरे के साथ उनकी गाड़ी में लौटते हुए रास्ते में एक आदमी के दोने पर चील के झपटने तथा माल के सूंड और कुत्तों के पल्ले पड़ने की चर्चा कर

१. 'चलते-चलते," पृ० १५८। २. वही, पृ० ५०५-५०६।
३. वही, ३७८-७९। ४. वही, पृ० ४२८।
५. वही, पृ० ९९-१००। ६. वही, पृ० ३१६।
७. वही पृ० १९८।

वह उससे अपना अर्थ-ग्रहण कर लेता है।[1] वस्तुतः यह वातावरण-सापेक्ष शैली कथा की वास्तविकता तथा विचारात्मक अभिव्यक्ति दोनों में सहायक हो रही है।

लेखक ने कथानक का रहस्य-गर्भित विकास किया है, जिससे पाठकों की उत्सुकता सजग रहती है। उपन्यास के कथानक में इसकी गुंजाइश भी थी—क्योंकि अनेक सूत्रों में से जब एक सूत्र चल रहा है, तो उसे अकस्मात् छोड़कर लेखक दूसरा आरम्भ कर देता है। इसके अतिरिक्त लेखक ने जानकर भी रहस्य-तत्व का प्रचुर मात्रा में समावेश किया है। इसके लिए लालाजी और नायक की निम्न वार्ता में लेखक की कथा-खोलने की प्रक्रिया समझ में आ जाती है :

अवसर पाकर लाला जी बोल उठे—"इस आदमी (चन्द्रनाथ) को समझने में बड़ी भूल मुझसे हो गई है कि मुझे जीवन भर पछताना पड़ेगा !"

मैंने कहा—"पता नहीं किस सम्बन्ध में आपको इतनी भूल का अनुभव हो रहा है।" तब हाथ लटकाए हुए सेक्टर को कन्धे पर रखते हुए लालाजी बोले—"यह तो फुरसत में बतलाने की चीज है राजेन। यहाँ इस वक्त कैसे···!"[2]

इस तरह लेखक प्रायः फुरसत में आगे जाकर, रहस्यों को खोलता और पाठकों को चौंकाकर मनोरंजन करता रहता है। कथानक के पहले सूत्र का उदाहरण दिया जा चुका है। इसके अतिरिक्त वंशी-विमला-रामलाल तथा जमुना-चन्द्रनाथ-मुरलीमनोहर आदि के सूत्रों में भी रहस्य-तत्व का विशेष विनियोग हुआ है। वंशी का पत्र इसीलिए चमत्कारपूर्ण बन गया है।

इस रहस्य-तत्व के समावेश को स्वाभाविक बनाने तथा कथा-संगति के लिए लेखक ने कहीं-कहीं कथानक के भावी विकास के सांकेतिक पूर्वाभास भी दिए हैं; जैसे, नायक की घड़ी का कुछ समय बंद रहकर फिर अपने आप चलने वाली बात का उसके पिताजी के मरने-जीने की घटना के साथ तथा कापी के फटे पन्ने के सम्बन्ध में 'छोटी भाभी' की व्याख्या का उनके एकांत नूतन जीवन-बिताने की बात के साथ सम्बन्ध जोड़ा गया है।[3] वंशी मरने से कुछ दिन पहले नायक को कोई चीज देना चाहता है, किन्तु बाद में कह देता है :—"मगर उसे मैं तुम्हें दूंगा क्या ? वह तो तुम्हारी हो ही चुकी है।"[4] इस तरह छोटी भाभी का नाम लिए बिना नायक-नायिका के मिलन का कुछ पूर्वाभास मिल जाता है।

पाठकों की रागात्मक भावनाओं को उद्वेलित करने वाले मार्मिक स्थलों की सर्जना पर लेखक का कम ध्यान रहा है। छोटी भाभी और नायक के प्रेम-प्रसंगों में

---

१. "चलते-चलते", पृ० १८८।　　२. वही, पृ० ४८६।
३. वही, पृ० ४२५।　　४. वही, पृ० ४४३।

भाभी की उक्तियों से ऐसे कुछ स्थलों की सृष्टि अवश्य हुई है।[1] इसी प्रकार पाण्डेयजी का अपनी पत्नी के प्रति अपने अन्याय के पश्चाताप में रुदन या वंशी की मृत्यु भी किंचित् मार्मिक स्थल कहे जा सकते हैं।

सारांश यह है कि कथानक के चामत्कारिक विन्यास से ही पाठकों का अधिक मनोरंजन किया गया है, गम्भीर साधनों से कम। इस सम्बन्ध में यह उल्लेखनीय है कि कथानक भी हमारा अधिक मनोरंजन नहीं कर सका क्योंकि इसकी गति बड़ी धीमी है। इस गत्वरता की कमी का कारण हम पहले बता चुके हैं। इसके अतिरिक्त पात्र दार्शनिकों की-सी चर्चाएँ बहुत करते हैं किन्तु वे वैसे हैं नहीं। इसलिए एक तो वे अस्वाभाविक-से हो जाते हैं। दूसरे, उनके विचार कथा-गतिरोधक भी हैं। एक स्थान पर लाला जी कथानायक को 'फिलॉसफ़र साहब' कहते हैं[2]—हमें इसमें सच्चाई की अपेक्षा व्यंग्य की गंध ही अधिक मिलती है।

कथानायक के माध्यम से लेखक का दृष्टिकोण है—"जीवन में जो घटनाएँ प्रायः हुआ करती हैं, उनमें हमारे कार्य-कलाप का योग बिल्कुल नहीं होता, ऐसी मेरी मान्यता नहीं है। इसलिए जिन घटनाओं के साथ मेरा थोड़ा भी सम्बन्ध नहीं, वे मेरे साथ जुड़ी क्यों और उनका फल मुझे भोगना क्यों पड़ा, यह प्रश्न कभी-कभी मेरे मन में उठा और उभरा है।"[3] वस्तुतः यह प्रश्न इसलिए उठा-उभरा है क्योंकि लेखक घटनाओं और पात्रों की चारित्रिक विशेषताओं के अनिवार्य सम्बन्ध को प्रदर्शित करने का उत्तरदायी नहीं बना। और जैसाकि प्रमाणित किया जा चुका है, वह संयोग पर पर्याप्त निर्भर करता है। इसीलिए यह आवश्यक नहीं कि वह पात्रों के पारस्परिक द्वन्द्व या उनके अन्तर्द्वन्दों के भीतर से घटनाओं का विकास करे। जैसे, नायक-नायिका का विवाह उनके भीतरी या आपसी द्वन्द्व का परिणाम तो न हुआ, बल्कि नायिका के पति की मृत्यु का एक कारण यह भी था कि उसको नायक-नायिका के आत्मिक मिलन का पता चल चुका था। किन्तु हमें यह भी पता है कि उसकी मृत्यु का मूल कारण विमला-रामलाल के अनुचित सम्बन्ध रहे हैं। रुपयों के ग़बन और विमला के गर्भवती होने की घटना ने उसे और भी उद्वेलित कर दिया। इस तरह नायक-नायिका के जीवन की जो घटना उनके अपने प्रयत्नों, अपनी चारित्रिक विशेषताओं, के बल पर न हो सकी वह मुख्यतः संयोग के कारण हो गई। जो लाली यौन-तृष्णा तथा समाज की उपेक्षा से पीड़ित अपने अन्तर्द्वन्द्वों के कारण यह कहती रही कि उसकी चोटों को देखने वाला कौन है, वह भी वंशी की मृत्यु से—जिसका कारण वह स्वयं बिल्कुल नहीं—एकदम बदल गई। इसलिए उपर्युक्त

१. "चलते-चलते", पृ० ४१०-११। २. वही, पृ० १८२।
३. वही, पृ० ४६८।

तथा इसी तरह के अन्य प्रमाणों तथा कथागत विशेषताओं के विवेचन के आधार पर हम इसे चरित्र-प्रधान उपन्यास नहीं मान सके, बल्कि कथा-प्रधान उपन्यास कहना ही उचित समझा है।

विभिन्न कथा-सूत्रों के विवेचन में हम विभिन्न पात्रों की झाँकी देख चुके हैं। यह स्पष्ट हो गया है कि लेखक ने अपने उद्देश्यानुकूल प्राय वर्ग-प्रतिनिधि तथा गतिशील पात्रों को लिया है। इसके अतिरिक्त उसने पूर्णतया दुर्गुणी या सद्गुणी कोई पात्र नहीं लिया-- इसके अपवाद स्वरूप क्रमश. मुरलीमनोहर तथा गोरी बाबू का ही नाम लिया जा सकता है। रामलाल में भी परिवर्तन लक्षित हो ही जाता है—'शैतान' भी रो पड़ता है।[1] ये पात्र वर्गगत होते हुए भी अपने-अपने वर्गों के निर्जीव प्रतिनिधि नहीं—इनमें विभिन्न परिस्थितियों के अनुसार प्रतिक्रिया करने की ऐसी क्षमता है, जिसमें इनकी उस विशिष्टता की झलक भी मिल जाती है, जो कलात्मक चरित्र-चित्रण की पहली माँग है। इस सम्बन्ध में रामलाल का निम्न कथन उल्लेखनीय है, जो उसने अन्तिम पृष्ठों में नायक के यह पूछने पर दिया है कि भला-बुरा वह जो कुछ भी बन गया है, उससे उसको क्या पूरा संतोष हुआ है ? —न हो पूरा संतोष। मैं कहता हूँ अधूरा ही सही; पर है तो वह अपनी जगह पर संतोष ही। क्योंकि कुछ भी हो, मैं तो सम्पूर्ण जीवन को—उसके क्षण-के उतार-चढ़ाव को—किसी न किसी महत्वाकांक्षा से मिलने वाली असफलता की प्रतिक्रिया मानता हूँ।" यह कथन ही उसकी सजीवता का पर्याप्त प्रमाण है।

दूसरा उदाहरण अर्चना का लीजिए, जिसमें विशिष्टता अपेक्षाकृत अधिक है। वह अपने पति मुरली बाबू के अनैतिक आचरणों तथा छल-छद्म से क्षुब्ध रहती है। पतिव्रता होते हुए भी वह उसके विरुद्ध अदालत में बयान देने जाती है। किन्तु वही स्त्रियोचित अनुभूति से प्रेरित होकर जुर्माने का १०० रुपया जमा करा देती है। और इस पर आश्चर्यान्वित लाला सांवरे से वह कहती है कि उसकी लड़ाई तो सिद्धांतों की है। यह चरित्रगत रहस्यमयता का उदाहरण है। फिर भी, 'चलते-चलते' में ऐसे उदाहरण अधिक नहीं, कथागत रहस्यमयता ही प्रधान है।

जैसाकि लिखा जा चुका है, 'चलते-चलते' के पात्र प्रायः निर्जीव वर्ग-प्रतिनिधि नहीं और समय स्थित्यनुसार अपनी व्यक्तिगत प्रतिक्रियाएँ व्यक्त करने में भी समर्थ हैं; फिर भी, कहीं-कहीं ये प्रतिक्रियाएँ अतिरंजित अस्वाभाविकता उत्पन्न कर देती हैं या इनका अभाव खटकने लगता है। उपेन्द्र और उसकी माँ (चाची) क्रमशः इसके उदाहरण हैं। क्षणिक सम्पर्क के आधार पर जिस तरह उपेन्द्र अपने भाई कथानायक

---

१. "चलते-चलते", पृ० ५०७।

को 'देवता' तथा पिता के साथ आगे अपना निर्वाह 'मुश्किल' बताने लगता है[1] वह पूर्वयोजित तथा अस्वाभाविक दिखाई देता है। चाची की अपनी पुत्री लाली से कठोरतम व्यवहारों में नितान्त प्रतिक्रिया-शून्य तथा हृदयहीन दिखा दिया गया है।

अन्य पात्रों के विपरीत कथानायक का चरित्र स्थिर-सा है। वह अनेक नारियों के सम्पर्क से आंदोलित होता है, अनेक सामाजिक विषमताओं से आलोड़ित, किन्तु उसके सामाजिक मापमानों के निर्वाह की मूल मान्यता में अन्तर नहीं आता और उसीके अनुकूल क्रियात्मक रूप में भी वह यथातथ्य बना रहता है। उसके चरित्र का सार यही है कि वह शेखर के समान विद्रोही (defiant) नहीं, अनुकूली (adaptive) है; असाधारण नहीं, साधारण व्यक्ति है। वह अपनी माँ से सम्पूर्ण प्रभावित है, पिता से नहीं—

(क) "मैं उसे मनुष्य नहीं श्वान मानता हूँ जो माँ का एक आँसू भी देखकर चुप रहता है। मैं प्रायः सोचा करता हूँ कि अगर माँ की आँखों में आँसू है, तो उसका पुत्र जीवित क्यों है?"[2]

(ख) "चाहे मेरा प्राण चला जाय, पर तेरे आदर्श-रक्षा की मेरी कर्तव्यनिष्ठा को कभी आंच न आये।"[3]

(ग) "इधर कुछ दिनों से मैंने पूज्य पिताजी के सम्बन्ध में सोचना छोड़ दिया था। हो सकता है इसका एक कारण यह भी हो कि जीवन में पिता मिलने का सुख होता कैसा है, यह जानने का सुअवसर मुझे मिला ही नहीं।

"माँ की ओर आकर्षित पुत्र और पिता की ओर आकर्षित कन्या साधारणता की ओर, सामान्यता की ओर जाते हैं और पिता की ओर आकृष्ट पुत्र, माता की ओर आकृष्ट कन्या असाधारण होते हैं। पहली श्रेणी में मिलेंगे सीधे-सादे शान्त आदमी, सामान्य स्त्रियाँ, जिसमें कोई खास बुराई नहीं है, जो साधारणतया प्रसन्न और सन्तुष्ट हैं; जो जीते हैं, रहते हैं और मर जाते हैं; दूसरी में मिलेंगे प्रतिभावान लेखक और कवि, देश और संसार को बदल देने वाले सुधारक, क्रांतिकारी, डाकू, जुआरी, पतित, मानवता के प्रति···अच्छे या बुरे, उनके लिए साधारणता नहीं; वे सुलग नहीं सकते, फट ही सकते हैं"[5]···पाल स्किलडर का भी लगभग यही मत है।[6] इस उक्ति के आलोक में कथानायक का चरित्र समझ सकते हैं। वह छोटी

१. "चलते-चलते" पृ० ४४८-४६। २. वही पृ० २३०। ३. वही, पृ० २०६।
४. वही, पृ० १। ५. "शेखर: एक जीवनी", प्रथम भाग, पृ० १३२
६. "The attitude towards the father, ... is one of the factors which determines whether the individual is strong supporter of the present society or a revolutionary and founder of a future society (Fedren).—"Problems of Crime", 'Psychoanalysis Today, p. 351-52.

भाभी के प्रेम में सुलगता रहता है, फटता नहीं। वह प्रगति की अनेक बातें करता हुआ भी साफ शब्दों में कहता है-- "आज हमारे समाज की जैसी स्थिति है, उससे उद्धार का एक ही मार्ग है - नैतिक मानों का निर्वाह"।[1] वह किसी युवती से इसीलिए सीमाओं से आगे नहीं बढ़ पाता। वस्तुतः प्यार के संघर्ष में एक विशेष मात्रा में विद्रोह वृत्ति चाहिए,[2] जो उसके पास नहीं...यदि वह इस ओर बढ़ता नज़र आता भी है, तो उसकी माँ की चेतावनी उसे एकदम सम्भाल लेती है। दूसरे भाभी के 'प्राण पोषक प्यार' को पाकर भी वह एकाग्र नहीं हो पाता और किसी भी सुन्दरी को देखते ही आंदोलित हो उठता है। उसमें उस साधना-साध्य संयम का अभाव है, जो मानसिक स्वास्थ्य से मानव को प्राणवंत बना देता है। छोटी भाभी इसलिए तो उस जैसे आत्म-रति-ग्रस्त तथा भीतर-भीतर ही आहें-निश्वासें भरते रहने वाले प्राणी से आग में कूद जाने वाले अनैतिक व्यक्तियों के प्रयत्न को अधिक मानवीय मानती है। उसकी माँ भी उसके मानसिक अस्वास्थ्य को लक्षित कर लेती है जिसके कारण वह यह सोचती है कि छोटी भाभी के चले जाने के बाद उसका क्या बनेगा। और रूढ़िवादी होते हुए भी उसे छोटी भाभी से यह कहना पड़ता है कि इसी जीवन में अगर कभी अगले जीवन की आशाएँ पूरी किये बिना प्राण न बचते हों, तो यह घर भी उसका है।[4]

इसके अतिरिक्त, डॉ० ब्रजमोहन गुप्त ने उसके चरित्र की एक अन्य विशेषता की ओर ध्यान आकृष्ट किया है, जो कला की दृष्टि से समतुल्य महत्व की है— "मानवीय दुर्बलता के विरुद्ध मन के उस संघर्ष और पूर्ण आत्मदान या विवश पराजय का भी उनके जीवन में अभाव है, जो शरत की रचनाओं में नायक को पाठकों की सहानुभूति और उसके माध्यम से स्नेह का पात्र बना देती है।"[5] यदि ध्यान से देखें, तो वैचारिक धरातल पर भी नायक में परस्पर असंगत या विरोधी बातें मिल जाती हैं। इससे नायक के चरित्र के प्रति एक झुंझलाहट उत्पन्न होती है और उपन्यास के प्रभाव को क्षति। नीचे हम उसकी दो उक्तियाँ देते हैं, जो स्पष्ट ही परस्पर विरोधी हैं :—

१. "...मानव चेतना सदा गतिशील रही है। इसलिए मानव-धर्म भी अचल नहीं हो सकता। जीवन बदलेगा, तो जीवन के मान भी बदलेंगे। इसके लिए हम क्या कर सकते हैं और कोई भी क्या कर सकता है ?"[6]

---

१. "चलते-चलते", पृ० ३१३।
२. A.A. Brill : "A certain amount of agression is necessary in the struggle for hunger and love". —"Sexuality and its role in the Neuroses". 'Paychoanalysis Today', p. 181.
३. "चलते-चलते", पृ० ३६५। ४. वही, पृ० ४१७।
५. "साहित्यकार पं० भगवतीप्रसाद वाजपेयी" (अभिनन्दन-ग्रंथ), पृ० १६८।
६. "चलते-चलते", पृ० ३०७।

२. "आज हमारे समाज की जैसी स्थिति है उसके उद्धार का एक ही मार्ग है—नैतिक मानों का निर्वाह ।"[1]

नायिका—राजेन्द्र की छोटी भाभी—ही कुछ स्मरणीय पात्र बन पाई है। उसका अन्तःसंघर्ष, संवेदनशीलता तथा क्रांतिकारिता सभी मार्मिक हैं। वह वर्गीय से अधिक व्यक्ति-पात्र है। नायक को स्वानुकूल बनाने में असमर्थ होकर भी अन्त में वह पचास हज़ार रुपया उसके नाम कर देती हैं—यह उसके प्रेम की अनन्यता की पराकाष्ठा है। उसका अन्त जिस टाइपराइटर के साथ किया गया है, वह नायक को मिलना उचित था। उसे तो लेखक को चलते दिखाना उचित था। लेखक उसके प्रारम्भिक जीवन के सम्बन्ध में मौन रहा है, अतएव उसके जीवन के संस्कारों तथा मूल प्रेरणाओं को स्पष्टता से नहीं समझा जा सकता। आत्मकथात्मक उपन्यासों के लिए—जिनमें आत्मकथा वक्ता नायक भी हो—दूसरे पात्रों के चरित्र को उनके जीवन के प्रारम्भिक संस्कारों तक ले जाना वैसे ही कठिन होता है—क्योंकि औपन्यासिक रंगमंच पर सदैव नायक रहता है—और बहुसंख्य पात्रों को लेकर तो यह और भी कठिन हो जाता है। इससे विभिन्न पात्रों के जीवन के कुछ पक्ष ही सामने आते हैं। इसलिए ऐसे उपन्यासों में पात्रों के परिवर्तन नाटकीय आकस्मिकता का प्रभाव डालकर रह जाते हैं—गहरा प्रभाव नहीं छोड़ पाते। वंशी की मृत्यु इसका प्रमाण है।

'चलते-चलते' में गौण पात्रों का चरित्र केवल चित्रण तक ही सीमित है और प्रमुख पात्रों का किंचित् विश्लेषण भी हुआ है। किन्तु यह विश्लेषण भी मनो-विश्लेपणात्मक उपन्यासों का नहीं। यहाँ पात्रों के प्रारम्भिक संस्कारों तथा मूल प्रेरणाओं के आधार पर उनका विश्लेषण तो दूर, जीवन में होने वाली असामान्य घटनाओं से पात्रों के अन्तर्मन में उत्पन्न हो जाने वाली ग्रंथियों का परिचय भी नहीं दिया गया। यद्यपि नायक के पिता काम-तृष्णाओं के कारण छिपकर रहे, फिर भी इस बात की प्रभाव-प्रतिक्रिया का उनकी लड़की या पत्नी की दृष्टि से कोई चित्रण नहीं हुआ। यही नहीं, उनके जीवित होने का पता चल जाने पर भी किसी प्रतिक्रिया का चित्रण नहीं हुआ। इस तरह यहाँ इस घटना का कोई [illegible] महत्व नहीं। इसी प्रकार चार सौ बीस मुरली मनोहर कभी किसी कुमारी (अर्चना) को उसकी इच्छानुकूल और कभी उस (कलिका) की इच्छा के विरुद्ध अपनाता-बिगाड़ना है और कभी किसी विवाहिता (जमुना) को भगाता है, परन्तु इससे उसके मन पर क्या प्रभाव पड़ता है या उसके कार्य-व्यवहार किन ग्रंथियों या छिपे भावों के परिणाम हैं, इन सबका परिचय कहीं नहीं मिलता। कल्पना कीजिए कि यही कथावस्तु यदि

---

१. "चलते-चलते", पृ० ३१३।

इलाचन्द्र जोशी के हाथ में होती, तो यहाँ मनोविश्लेषण की भरमार हो जाती। इस प्रकार यह मनोविश्लेषणात्मक उपन्यास नहीं, किन्तु यह आगे स्पष्ट हो जाएगा कि यहाँ मनोविश्लेषणात्मक शैलियों का प्रयोग अवश्य हुआ है।

'चलते-चलते' में पात्रों के भीतर-बाहर दोनों का चित्रण हुआ है। अन्तर्द्वन्द्वों का अंकन केवल प्रमुख पात्रों --नायक-नायिका का हुआ है किन्तु बाह्य चित्रण नायक को छोड़ लगभग सभी पात्रों का, उपन्यास में उनके प्रवेश के साथ ही, हुआ है।[1] नायक के बाह्य चित्रण की आवश्यकता इसलिए नहीं पड़ी क्योंकि वह आत्म-कथावक्ता तथा प्रमुख पात्र होने के कारण पाठकों के सामने सदा रहता है। दूसरे, अपनी विशेषताओं के कारण भी दूसरों से पृथक् पहचाना जा सकता है। अन्य पात्रों के बाह्य चित्रण में लेखक की निम्नस्थ लक्ष्य रहे हैं :—

(क) नायक रूप-सौन्दर्य को मदिरा से भी अधिक नशीली वस्तु मानता है और विनयपूर्वक यह स्वीकार भी करता है कि सौन्दर्य उसकी सबसे बड़ी दुर्बलता है।[2] 'अज्ञेय' के 'शेखर' के समान 'चलते-चलते' के कथानायक को अपनी तटस्थता का दावा नहीं, वह तो समय-समय पर अपने मन पर पड़ी प्रतिक्रियाओं से उत्पन्न राग-द्वेष को साथ लेकर कथा कह रहा है।[3] अतएव वृद्धाओं को छोड़कर, वह लगभग सभी नारी पात्रों के रूप एवं वेश-सज्जा का चित्रण करता है। इस चित्रण में उसकी दृष्टि नयनों[4] तथा उत्तेजक अवयवों पर अधिक रहती है। इससे उसके चित्रण में कुछ-न-कुछ मांसलता या उसके प्रभाव की द्योतक स्थूल शब्दावली भी आ गई है। इससे नायक की अपनी मनोवृत्ति भी प्रकट होती है तथा कुछ वर्ग के पाठकों का मनोरंजन भी हो जाता है; जैसे हीरा मानिक का चित्रण देखिए :—

"...फाउन्टेनपेन का क्लिप...ब्लाउज़ में उस स्थल पर नत्थी किया हुआ हुआ है, जहाँ से यौवन की आँधियों के आक्रमण होते हैं।"[5]

"...पंखे की हवा से उसकी साड़ी का पल्ला कुछ धृष्टता दिखला रहा है। ए-ए-ए ये गिरा। बांह की मांसलता, गौरवर्णन का सलोनापन, लोमहीन अनावृत स्कन्धमूल, श्वास-प्रश्वास के मंद-मंद आरोह-अवरोह का प्रभाव, यह वक्षोजाम्बुजद्वय का दुर्द्धर्ष ज्वार। तूफ़ान और किसे कहते हैं?"[6]

पात्रों के मूर्तीकरण के अतिरिक्त नायक को आंदोलित करने में इनका कथागत उपयोग भी हुआ है। लाली की निरावरण यौवन सम्पदा को देखकर नायक का बुरा हाल हो जाता है।

---

१. "चलते-चलते", प्रथम परिच्छेद।
२. वही, पृ० १५७।
३. वही, पृ० २।
४. वही, पृ० ५४, ७३, ८७।
५. वही, पृ० १५९।
६. वही, पृ० १६०।

(ख) 'चलते-चलते' में पात्रों की भरमार है, अतएव गौण पात्रों को कुछ ही झलकों में मूर्त करने के लिए बाह्य चित्रण की अपनी उपयोगिता है।

(ग) अनेक पात्र वर्गगत हैं, अतएव उनको निश्चित वेश-भूषा में पहचाना जा सकता है। यथा शरीफ बदमाश राजहंस की वेष-भूषा व्यंग्यात्मक प्रभाव छोड़ती है—"ये राजहंस महाशय खादी का एक साफ़ सूट धारण किए हुए हैं और जूते आधे सफ़ेद, आधे ब्रॉउन। मुंह से धीरे-धीरे सुलगता और धुवां उगलता हुआ एक पाइप लटक रहा है।"[1]

लेखक ने 'चलते-चलते' में कथानायक के अचेतन तथा अन्तर के चित्रण में अनेक मनोविश्लेषणात्मक विधियों का प्रयोग किया है। इसमें एक है स्वप्न-विश्लेषण की प्रणाली। राजेन्द्र 'छोटी भाभी' की कल्पनाओं में खोया-खोया, कुछ विकार-ग्रस्त-सा सो जाता है। तब वह भाभी का ही स्वप्न देखता है, जिसमें पात्रों की दमित भावनाओं के अध्ययन में, स्वप्न-विश्लेषण के उपयोग का सैद्धांतिक विवेचन भी हो गया है। यथा स्वप्न के भीतर नायक की स्थिति का यह स्थल देखिए :—

"एक बार मन में आया कि क्यों न आँखें खोलकर देख लूँ। यह है कौन? ...पर फिर स्वतः मेरे ही मन में एक मोह उत्पन्न हो गया—यदि यह स्वप्न भी हो, तो इसे स्वप्न की ही स्थिति में क्यों न रहने दूँ।...वास्तविक जीवन में तो असम्भव कभी सम्भव बना नहीं, बन सकता भी नहीं। तब वास्तविक तक चले आये सम्भव-असम्भव को भी स्वप्न के ही रूप में क्यों रुक जाने दूँ। जो बात जीवन में सम्भव नहीं है, क्या यह आवश्यक है कि मनुष्य उसे कल्पना और स्वप्न में भी देखना पसन्द न करे?..."[2] इस तरह समाज-भय से उसकी घुट रही अचेतन लालसा इस स्वप्न में अनावृत हो रही है। इसके स्पष्टीकरण में नायक कहता है—"रात में बहुत अंशों में मनुष्य व्यक्ति रहता है। तब मैं भी व्यक्ति मात्र था। मेरी ये कल्पनाएँ, सम्भावनाएँ और अनुभूतियाँ व्यक्तिगत थीं। अब मैं व्यक्ति नहीं हूँ। समाज के समक्ष मैं उत्तरदायी हूँ। व्यक्ति होकर भी मैं समाज हूँ।"[3]

इस स्वप्न के सम्बन्ध में यह स्पष्ट कर देना जरूरी है कि इसमें स्वप्न का दर्शन तो है, किन्तु वैसे ये 'अज्ञेय' के उपन्यासों की तरह शास्त्रीय अर्थ में स्वप्न नहीं। इसमें भावनाएँ अविकृत रूप में, काव्यमयी कल्पनाओं के साथ ऐसी आई हैं कि मानों नायक स्वप्न नहीं देख रहा, जाग रहा है।[4]

राजेन्द्र के व्यक्त आचरणों के चेतन-बाह्य कारणों को अनावृत करने में लेखक ने उसके अनकहे और किसी के भी अनसुने [illegible] [illegible] की प्रणाली—का

---

१. "चलते-चलते", पृ० १५६।
२. वही, पृ० ४१।
३. वही, पृ० ४३।
४. वही, पृ० ४०-४३।

उपयोग अनेक स्थलों पर किया है। इस प्रणाली में पाठक उसके मानसिक उद्वेलन का सीधा साक्षात्कार कर लेता है :–

"—देखता हूँ, लाली पर मेरी डांट की क्या प्रतिक्रिया होती है।

—जब प्रतिक्रिया हो जाएगी, तब! तब तुम देखोगे क्या ?

– मुझे देखना नहीं है, मैं फिजूल की झंझटों में नहीं पड़ता। इतना सस्ता मैं नहीं हूँ। मुझे बहुत से काम करने हैं।

—जिन में से एक काम यह भी है कि जो अपने से मिलने आए, उसे जली-कटी सुनाकर गेटग्राउट कर दिया जाय !

—कोई भी हो न्याय तो उसके साथ करना ही पड़ता है। दुनिया कुछ भी कहा करे।

—अच्छा, ऐसे समय अगर लाली को बुलाया जाए, तो कैसे हो ? लेकिन कोई सुन्दर सभ्य तरीका भी तो होना चाहिए।

—ग़लत काम का सुन्दर तरीका सोच लेने में अपने राम किसी नेता से कम नहीं हैं !"[1]

उपर्युक्त उदाहरण में कुछ क्रम है, किन्तु निम्न उद्धरण में नायक के मन की चेतना उन्मुक्त-अक्रमिक प्रवाहित है —यहाँ चेतना-प्रवाह प्रणाली का लगभग पूर्ण स्वरूप है :—

.."ऐसी बातें सुनने का मैं आदी हो गया हूँ।.. चाय का कप मुंह से लगा है।.. संसार के सभी दुखी, पीड़ित, व्याकुल और असहाय प्राणियों की निरन्तर देखभाल करने का ठेका मैंने नहीं लिया।.. चाय वैसे ठीक है मगर वह बात कहाँ !.. ठेका न कोई लेता है —न देता है। फिर भी कबीर और बुद्ध की आँखों के आँसू जगत् के इतिहास और साहित्य की मरूभूमि के लिए सावन की गंगा बन जाते हैं।.. भाभी भला पत्र मुझे क्यों लिखने लगीं! और मैं ? हुश।.. इस कमबख्त आँधी ने भी मजा पैदा कर दिया। लाली से वह आकस्मिक टकराहट ! वह मुलायम केश राशि !.. फिर भाभी की याद आ रही है। स्वप्न के अन्दर उसके रेशम के लच्छों जैसे उड़ते केशों की वह बौछार कि–"यहाँ कोई डाक्टर नहीं है पड़ोस में ? राजेन–ऐ राजन।" वह माँ बोल रही है।'[2] इस तरह माँ की बुलाहट से यह चेतना-प्रवाह टूट जाता है।

अब एक ऐसा उदाहरण लीजिए जो अपने-आप में अकेला है—स्यात् अन्यत्र दुर्लभ है। नायक को रिश्तेदार वंशी (भाई साहब) की विस्फोटक मृत्यु की अकस्मात् सूचना मिली है। वह भावोन्माद की स्थिति में, सूचना देने वाली पात्र (अर्चना) के साथ कार में मृतक के घर चल पड़ा है। उस स्थिति में (यात्रा तथा क्रियाओं का)

१. "चलते-चलते", पृ०२५३। २. वही, पृ० १९९।

वर्णन, (पात्रों का चरित्र) विश्लेषण, चिन्तन तथा वार्ता सब कथानायक के चेतन के अदम्य प्रवाह में मिल कर एक हो गए हैं और उसकी अभिव्यक्ति भी भावतीव्रता के साथ क्रमशः गद्य से कविता की ओर बढ़ती गई है। इसमें लेखक एक फैले वर्णन के घनीकरण और बाह्य क्रियाओं को भी भावनामय रूप देने में सफल हो गया है। इसके अतिरिक्त पात्र के भाव-वेग तथा पाठकों के भाव-वेग में साम्य के आधार पर प्रवेग (tempo) तीव्रता का सफल आभास दिया गया है। इसमें भाववेग को व्यंजित करने वाले लघु-लघु वाक्य तथा अन्त की काव्यमयता भी सहायक रही हैं। इसमें यह स्वाभाविकता भी है कि कथानायक पर घटना की प्रतिक्रिया की प्रखरता (intensity) व्यक्त हो गई है—"तुम ठीक कहती हो अर्चना। बहिन की कोई बात, उनकी कोई भी आशा कोई भी भाई अधूरी नहीं रखता। रात के पलक झपकते और खुलते हैं—दिन के पंख उड़ते और जुड़ते हैं—खेतों में चलते बैलों की पूंछ उठती और गिरती है—भैंसा ठेला खींचता हुआ अपनी जीभ निकालता, हांफता और पीठ पर डंडे सहता है। भैंसें बैठी-बैठी जुगाली करती हैं। सारसों की जोड़ी है; एक का सिर आसमान की शोभा की ओर ताक रहा है—दूसरा कीड़े खा रहा है। लेकिन इन सब बातों से मानवता का एक अलग रास्ता है। भाई साहब चाहे जितने पापी रहे हों, पर उन्होंने किसी के साथ—मेरा खयाल है—कभी कोई जोर-ज़बरदस्ती या अत्याचार नहीं किया। उनके पास पैसा था, वे पैसे का लोभ-मोह रखते थे और रूप तथा रूपवाली दुनिया के लिए उसे दांव-पेच के रूप में पेश करते रहते थे। पर वे चोरी, डाका, लूट, बेईमानी और हत्या से कोसों दूर थे।.. अरे, ड्राइवर, ये छोटे-छोटे मेमने हैं इन्हें···बकरियाँ हैं इन्हें,. और ये मोटे-ताज़े बकरे भी तो हैं। इनका उपयोग सभ्य भोजन का एक अंग जो हो गया है।.. हटो जाने भी दो। चलो बढ़ाओ।.. लो, ताँगा सामने आ गया। जिसमें सरदार जी सपरिवार बैठे हैं।.. ठहरो यह बुढ़िया बेचारी, यह अन्धा भिखारी! चलो अब तो बढ़ो आगे।... वह वह आया बिअर्डरोड और यह आया भाई साहब का प्रवास गृह।.. हटो, निकलने दो। कहां हैं भाई साहब? ओः सो रहे हैं। सोओ-सोओ; लेकिन ठहरो, पहले चरण छू लूं। बस, अब सोओ। लो सब लोग चुपचाप बैठे हैं। क्या किसी के पास कुछ कहने को है ही नहीं?.. अरे इतने जोर से इनका बदन मत कसो रामलाल कि सांस लेने में भी असुविधा हो! मैं प्रसाद भला किया करूंगा। मैंने सब देखा है। ओ अन्तरिक्ष के देवगण, तुम साक्षी हो। और पृथ्वी जल अग्नि, वायु, आकाश—तुम्हें तो मेरे पिता जी की जीवन-कथा का पूरा ज्ञान है।.. हाँ लाओ, लाओ, फूल चढ़ाओ, मालाएँ पहनाओ.. इत्र है? लाओ, सौरभ के अनन्य पारखी राजकुमार पर इत्रदान खतम करो। बस, उठाओ, इस विमान को। हृदय के टुकड़े, ठहरो। भावना के निर्झर रुको। आँसुओं के बूँद तुम आज मानवी सम्वेदना का मूक गान गाओ!

आ गयी छोटी भाभी ! जियो मेरी कल्पना ! आओ, साथियो, उठाओ अब इस विमान को। वाह ! स्वर्ग का राज-पथ कितना प्रशस्त है ! देवगण कहाँ छिपे हो ! सत्य के पावन अन्वेषण में जिसने इस हरी भरी दुनिया से विदा ली है, वह हमारा पूज्य भाई है अर्चना अर्चना, करो भाई साहब की। कन्धा लगाओ। बोलो—"लोभ-मोह-अहंकार—द्वेष-दम्भ-छल अपार —क्रोध-शोक-अनाचार—आज नहीं अस्वीकार—आज नहीं अस्वीकार !.. मैं न कहीं आस हूँ—मैं न कहीं पास हूँ—हृदय से निकाल दो—हौसले निकाल लो—तुम मुझे बुरा कहो—तुम मुझे भला कहो मान दो कि तिरस्कार—आज नहीं अस्वीकार—आज नहीं अस्वीकार।"

सब लोग 'आज नहीं अस्वीकार' को दोहरा रहे हैं।

रामलाल कहो—'मैं न देखता कहीं—मैं न रोकता कहीं—आज खुली छूट है—दिन दहाड़े लूट है—बना रहे चमत्कार—बना रहे अन्धकार—आज नहीं अस्वीकार—आज नहीं अस्वीकार !'

रामलाल चुप है, लेकिन स्वर बढ़ता जा रहा है।

'अरे गौरीशंकर तुम ! तुम यहाँ कहाँ ? अच्छा, आओ आओ, कन्धा लगाओ, कहो—'तुम सदा जीयो जगो—तुम सदा सुखी रहो—पर विवाद मत करो—मुझे याद मत करो - हटो बचो आने दो—मुझे निकल जाने दो मौत के तराने दो—ज़िन्दगी को गाने दो - दोस्त मेहरबां रहें—हर खुशनुमा रहें हरन बेवफ़ा रहे—खुश रहे, खफ़ा रहे—आज नहीं अस्वीकार—आज नहीं अस्वीकार !'

स्वर दूर निकल गया है। धीरे-धीरे मन्द होता जान पड़ता है। मैं अर्थी के साथ तो हूँ—पर दूर खड़ा पीछे से भी सुनता हूँ।"[1]

'चलते-चलते' में नायक के चेतना-प्रवाह का एक और रूप लीजिए जिसमें मन के भिन्न-भिन्न या एकाधिक स्तरों पर एक साथ चलती रहने वाली भाव-धाराओं का चित्रण हुआ है :—

"अब यद्यपि हम लोग अपनी-अपनी सब्जी खरीदने में लगे थे पर मोदी साहब बराबर कुछ-न-कुछ कहते ही जा रहे थे।—इतनी जल्दी अपने इरादों को बदल देना, मैं नहीं समझता कि कोई अच्छी बात है।···यह देखो सड़ा हुआ आलू है। निकालो इसको।···बल्कि मैं तो यही समझता हूं कि आदमी के हर इरादे की कीमत है। ये छीमी ही आधा सेर और देना । अरबी नहीं चाहिए।···अपनी जगह पर आदमी का हर एक इरादा एक सिगनीफिकेन्स रखता है।···अठन्नी ठीक है। न चले तो लौटा देना।"[2]

'चलते-चलते' में 'शेखर' और 'नदी के द्वीप' के समान उद्धरण-पद्धति का

---

१. "चलते-चलते", पृ० ५०२-५०४।　　　२. वही, पृ० १५७।

प्रयोग भी हुआ है, पर ये इन दोनों उपन्यासों से मात्रा में बहुत कम तथा गौण महत की है। फिर भी इसमें अपनी न्यूनता भी है। ये उद्धरण हिन्दी—खड़ी वोली, अवध —उर्दू, अँग्रेज़ी तथा संस्कृत के हैं। ये उद्धरण जिन विभिन्न प्रसंगों में आए है उनमें से कुछ के आधार पर इनके मुख्य प्रयोजनों का अनुमान हो सकता है। कह ये उद्धरण किसी पात्र की चरित्र-संगति के लिए, लेखक के अपने जीवनादर्श को ध्वनि करता आया है; जैसे, बंशी की मृत्यु पर कथानायक को स्मरण हो आया :—

जब इस जीवन से पूर्ण न हो, जीवन की तृष्णा नवल-नवल,
तब क्यों न आजीवन ही पाकर मैं निज को कर जाऊँ अविकल।[1]

कहीं किसी प्रसंग-परिस्थिति पर पात्रों की सहज प्रतिक्रिया के रूप में 'निकला या 'स्मरण हो आया' उद्धरण उनकी मनःस्थिति को व्यंजित करता है;[2] कहीं यह पात्र की आत्मश्लाघा होकर भी उसका चरित्र-सार होता है :—

जगत आज कह दे कि मैंने किसी के नयन का कभी अंगूर चीखा।
धनंजय न कह दे कि मैंने दिगंचल कभी ज़ो छुआ हो किसी उर्वशी का॥[3]

कहीं यह ठीक अवसर पर आकर यह वक्ता पात्र की बहुज्ञता को दर्शाता हुआ उसकी प्रशस्ति का कारण बन जाता है।[4] और कहीं यह पात्रों की परोक्ष आलोचन का माध्यम बनकर आया है; जैसे, वेशभूषा से अपनी बढ़ती हुई अवस्था के चिह्न— श्वेत केशों, झुरियों आदि—को कम करने के प्रयास में, शीशा देखते हुए अपने भा साहब वंशी से नायक कहता है :—

देखते क्या हैं वे अपने को,
सत्य को या कि मेरे सपने को।[5]

साराँश में यह उद्धरण-पद्धति पात्रों की शील-व्यंजना का रोचक माध्यम बन कर आई है। एक स्थान पर लिखित-भ्रामक उद्धरण-पद्धति भी मिलती है। छोट भाभी नायक को, विचित्र ढंग से, अपने कथन को, किसी के कथन—उद्धरण—के रूप में लिखकर छोड़ देती है और इस तरह उद्धरण के बहाने से अपनी उस इच्छा क कह पाती है, जो प्रत्यक्षतः कहनी कठिन होती। इससे पात्रों की गोपनीय असामाजिव भावनाओं—प्रायः शृंगारिक इच्छाओं—की परोक्ष व्यंजना में उद्धरणों की उपयोगित स्पष्ट हो जाती है। इस भ्रामक उद्धरण-पद्धति की प्रयोग-विधि और भी विचित्र रोचक है—'लेकिन पान उठाते समय तश्तरी के नीचे दबा हुआ, विवाह के निमन्त्रण

---

१. "चलते-चलते", पृ० ५०७। २. वही, पृ० ५३-३२५।
३. वही, पृ० ३२३। ४. वही, पृ० १२६।
५. वही, पृ० ३९५।

पत्र के लिफ़ाफ़े का, एक रंगीन टुकड़ा देख पड़ा । तब पान मुंह में दबाने से पहले उस टुकड़े को पढ़ लेना आवश्यक हो गया । उसमें लिखा था—'अगर मेरा बोलना तुम को अच्छा न लगता हो, तो साफ़ कह दो न मैं चली जाऊंगी । मैंने देखा तुम्हारे सिवा यहाँ कोई ऐसा है नहीं, जिससे बात करने में अच्छा लगे । इसलिए...

"फिर मिलना" (उपन्यास) पृ० ९७ ।

पढ़कर मैं विचार में पड़ गया । पंक्तियाँ मेरे मतलब की हैं, सम्बन्ध उनका मुझसे है और वे उद्धृत होती हैं किसी अन्य उपन्यास से । इसका मतलब? किसका लिखा हुआ है, कब की रचना है...! और मुझको जो नहीं मालूम, तो इसका अर्थ ? तब ध्यान आ गया, भोली से भोली लड़की भी उस समय झूठ बोलने, बात बनाने और भेद छिपाने में निपुण हो जाती है, जब प्रश्न का सम्बन्ध उसकी प्रेम लीला से होता है ।

"और तब भाभी की इस रचना पर सचमुच मैं चकित हो उठा कि यह कागज अगर पकड़ भी लिया जाय तो बेकार है । क्योंकि उस समय के लिए रक्षा का यह उपाय कितना बड़ा है कि यह तो रद्दी का टुकड़ा है । पता नहीं, कहाँ से आ गया !'[1] नायक और छोटी भाभी की प्रेम-लीला के प्रसंगों में, एक दूसरे के व्यवहारों पर विनोदमयी आलोचना करने के लिए, आस-पास बज रहे रिकार्ड की गायन पंक्तियों—'हिरना, समझ-समझ बन चरना' तथा 'तुम प्यार की बतियाँ क्या जानो'—का रोचक उपयोग हुआ है ।[2] अन्यत्र 'क्यों तुमने याद दिला दी' से भी एक सरस प्रसंग की सृष्टि की गई है ।[3] चरित्र-चित्रण की दृष्टि से इनका महत्व यह है कि इनमें पात्रों की तात्कालिक मनोदशा व्यंजित हो जाती है ।

एक स्थान पर चरित्राभिव्यक्ति में पात्र की स्वनिर्मित कविता का उपयोग भी हुआ है । वैशाली ने अपने इच्छित पात्र नायक को एक कविता लिखी, जिसमें उसने पशु-पक्षी के प्रासंगिक प्रतीकों द्वारा सांकेतिक रूप में अपना प्रेम-निवेदन किया है ।[4] इसी पात्र ने अपने प्रेम-निवेदन में पत्र-शैली का उपयोग भी किया है । पत्र में कविता के अतिरिक्त और कुछ नहीं लिखा गया, किन्तु उसका प्रारम्भिक सम्बोधन—'मेरे मन के देवता'—तथा अन्तिम पंक्ति – सदा आपकी, वैशाली—ही इतना कह देते हैं जितना सारा पत्र न कह पाता ।[5] वैशाली और नायक के उपहारों के आपसी आदान-प्रदान तथा इस अवसर पर उनके अन्तर्व्यंजक अनुभावों से उनकी मूल भावनाओं का प्रकाशन हो जाता है । नायक वैशाली को सहज स्नेह से फाउंटेनपेन की भेंट देता है और वैशाली उसे 'गुलाबी होठों का स्पर्श' देकर 'ब्लाउज़ में

---

१. "चलते-चलते" पृ० ६९-७० ।   २. वही, पृ० ३४, ३५, ३६ ।
३. वही, पृ० १६८-६९ ।   ४. वही, पृ० २१७-१८ ।
५. वही, पृ० २१६-१७ ।

खोंस' लेती है । वैशाली प्रत्योपहार के रूप में एक सुन्दर लेदरबाउंड नोटबुक यह लिखकर देती है—

'इस पर आप जो चाहें सो लिख सकते हैं। केवल आपकी इस स्वच्छन्द रुचि के नाम पर—
'वैशाली'

किन्तु नायक उसकी उपर्युक्त क्रिया के कारण ही इसका आदर करने की बजाए, नोटबुक ट्रेन से फेंक देता है। इस तरह मानों एक ने प्रेम-निवेदन किया है और दूसरे ने उसको अस्वीकार कर दिया।

कहीं-कहीं पात्रों का व्यंग्य-चित्र अंकित करने के लिए उनके आवेष्टन का साभिप्रायः विवरण दिया गया है। कंट्रोल के ज़माने में नायक को चीनी दिलाने का वायदा करने वाले 'चाचा जी' की व्यंग्यात्मक चरित्र-झाँकी में परिवेश के इन विवरणों का उपयोग किया गया है :—'पन्द्रह फुट के वर्गाकार कमरे में तख़्त के ऊपर गद्दा, गद्दे पर सफ़ेद खादी की चादर, सिरहाने दो मसनदें, दायीं ओर महात्मा गांधी का चित्र, बायीं ओर पंडित नेहरू का। बाहर ख़स की टट्टियों पर पानी छिड़का जा रहा है, भीतर पंखा चल रहा है। चाचा जी मसनद पर सिर टिकाए अखबार पढ़ रहे हैं। दाँये ओर एक तश्तरी में छिले-कटे आम के टुकड़े रक्खे हैं, दूसरी में लखनऊ के सफेद ख़रबूज़ों की आठ-दस फाँकें और पीपल की डाल से कौवे का कांव कांव स्वर सुनाई दे रहा है। और पड़ोस के दरवाज़े से कुत्तों के विचार-विनिमय की सुखद आवाज़ आ रही है।"[1]

उपर्युक्त अनेक साधनों के अतिरिक्त पात्रों के चरित्र-प्रकाशन में प्रचलित साधनों—उनकी क्रियाओं तथा संवादों—से भी सहायता ली गई है।

'चलते-चलते' में वर्णन-विश्लेषण, चिंतन, तथा संवादों की सानुपातिक योजना हुई है। यहाँ संवाद समुचित मात्रा में आए हैं किन्तु फिर भी ये अपने मूल दोनों प्रयोजनों—चरित्र-चित्रण तथा कथा-अग्रसरण—की गौण पूर्ति ही करते हैं। यह विचित्र असंगति है कि एक ओर तो लेखक को मनोविश्लेषणात्मक शैलियों का आग्रह है, दूसरी ओर संवाद पात्रों के अन्तस के उद्‌घाटन का कार्य प्रायः नहीं करते। इनका मुख्य कार्य है विचार-प्रकाशन। यह कार्य भी यथा-स्थान, स्वाभाविक रूप से नहीं होता। जहाँ-कहीं देखो पात्र कांग्रेस-शासन की आलोचना, नूतन-पुरातन आदर्शादि की चर्चा आरम्भ कर देते हैं; और एक-दो नहीं सभी पात्र इस क्षेत्र में गति रखते हैं, फिर चाहे उनकी शिक्षा-दीक्षा कैसी हो, या व्यवसाय कोई भी हो। लेखक के आग्रह के कारण पात्र बातूनी प्रकृति के बन गए हैं।[2] उनमें बात करने के संयत सौष्ठव की कमी है।

---

१. "चलते-चलते", पृ० २६। २. वही, पृ० ६०-६१, ७४।

इसलिए 'चलते-चलते' के संवाद प्रायः लम्बे हो गए हैं—उनमें भाषण बन जाने की प्रकृति है। इसलिए ये कथा-गति-रोधक और बोझिल भी हो गए हैं। दूसरे, स्थान-स्थान पर बात बढ़ाते रहने से उपन्यास का कलेवर व्यर्थ में बढ़ गया है। ये विचारपूर्ण संवाद इसलिए भी खटकते हैं क्योंकि सभी पात्र एक निश्चित बंधी-सधी भाषा में बहस करते हैं। उदाहरणतया, सुनार गोनेलाल भी रूपकों में बोलने लगता है,[1] और उसकी चेतना हिन्दू कोडबिल तक पहुंच जाती है।[2] 'नाची' धाराप्रवाह भाषण देकर रो पड़ती है किन्तु उसकी आविष्ट स्थिति उसकी कथन-शैली में, व्याकरण-व्यवस्थित भाषा में, कहीं व्यक्त नहीं होती।[3] और नायक तो प्रतिपात्र तथा परिस्थिति का विचार किए बिना दर्शन या ज्ञान बघारता रहता है।[4] रामलाल फौजदारी की घटना सुनाने के लिए व्याकुल है, पाठक भी यही सुनने को उत्सुक है, किन्तु नायक राजेन्द्र को समाजालोचना तथा बहस करने की लत है। इस तरह घटनाओं का प्रभाव कम हो जाता है।[5]

बंधी-सधी भाषा के अतिरिक्त लेखक के कवित्व-मोह के कारण भी संवादों में कृत्रिमता आई है और शैली-प्रदर्शन से भी। नीचे हम दो उदाहरण देते हैं, जिसमें पात्र की मनःस्थिति तथा प्रकृति से अधिक शैली का चमत्कार प्रमुख हो गया है। नायक की माँ समाज-भय के कारण उसे लाली तथा छोटी भाभी आदि के साथ खुला टहलने-घूमने से वर्जित करती है। तब नायक के उत्तर का उत्तरार्द्ध देखिए, "और खोट मुझ में है, तो मैं अपने को देख लूंगा। मैं छोड़ूंगा नहीं अपने आप को भी। अब मेरा जन्म-दिवस न मनाया जाए, मैं स्पष्ट कहे देता हूं। मेरी शुभ-कामनाओं पर कोई भी मंगल गान न हो, मैं सावधान किए देता हूँ। मेरे घर अब किसी की दावत न हो, मैं ऐलान किए देता हूँ। मेरे घर के खान-पान में कोई मामूली सा भी परिवर्तन न हो; यह मेरा स्पष्ट आदेश है।"[6]

इस प्रकार पागल जमुना का यह 'प्रलाप' देखिए—"कहिए आप क्या चाहते हैं? किस तरह चाहते हैं? भला चाहते हैं कि बुरा चाहते हैं? तन चाहते हैं कि मन चाहते हैं? फूल चाहते हैं कि चमन चाहते हैं? शरबत चाहते हैं कि लेमन चाहते हैं कि जामुन चाहते हैं? चूरन चाहते हैं कि चटनी चाहते हैं? चाय चाहते कि काफी चाहते हैं? खास चाहते हैं कि आम चाहते हैं? अकेला चाहते हैं कि मेला चाहते हैं? अरे कुछ तो बोलिए कि आप क्या चाहते हैं?"[7] इस तरह उपर्युक्त संवाद

---

१. "चलते-चलते", पृ० ८६। २. वही, पृ० ३६७।
३. वही, पृ० ८३-८८। ४. वही, पृ० ८६, ६०।
५. वही, तीसरा परिच्छेद। ६. वही, पृ० ३३२।
७. वही, पृ० ४५८।

शैलियों का चमत्कार चौंकाता तथा हमारा रंजन करता है, पात्र तथा उसकी परिस्थितियों में लीन नहीं करता।

'चलते-चलते' में लेखक की रुचि संवादों में विभिन्न प्रकार के आकर्षक शैली-प्रयोगों की योजना पर रही है। आगे के कुछ चुने हुए उदाहरणों से हमारी बात स्पष्ट हो जायगी। राजेन्द्र की बहिन की शादी पर जब बारात आती है तो वह 'गुल गपाड़ा' मचता है कि कई आवाज़ें एक साथ गूँज उठती हैं और बात सुनना कठिन हो जाता है। उस समय का यह समवेत वार्ता-वर्णन कितना यथार्थ तथा रोचक है—नायक जो सुनता है वही लिख देता है और सम्पूर्ण दृश्य तथा समूह-चरित्र सामने आ जाता है :—"लो आ गई बरात।···दूल्हा पालकी में बैठा है। वह, जिसके सिर पर मोर रक्खा है।···बैंड तो बड़े नशे का है कि एक रेला इधर से उधर—चल हट, यह कौन आगे आ गया। भैया तो कहते थे—वे कांग्रेस पंथी हैं, आतिशबाज़ी नहीं छुड़वायेंगे।···हूँ, बड़े कहने वाले। आतिशबाज़ी के बिना कहीं ब्याह होता है। अरे ठीक तरह से ठाढ़ी रहो बिट्टो। उचको मत बहुत। सबको देखने दो। अकेली देखेगी, तो आँखों में मिरचें लग जायंगी। फिर सन्-सन्-सन्न-न्-न्। फौवारा छूटा। फिर बम के गोलों से गगन भेदी स्वर। यह आई पालकी। अलग हटो तो यहाँ से बड़ी···। फिर सन्-सन्-सन्न-न्-न् फौवारा छूटा। आइए आचार्य जी।···लेकिन एक मिनट। मुझे अपना केमरा फिट करना है।···आप यह चंवर डुलाना ज़रा रोक तो दीजिए।···आप भी थोड़ा-सा हटिए। हाँ, बस।···बड़ी कृपा होगी, यदि आप थोड़ा-सा मुस्करा दें।···यस्, यस्, रेडी।···एक क्षण को तेज़ लाइट। थैंक्स।···हाँ आचार्य जी, अब आप शुरू कीजिए अपना गोरखधंधा।... मंगलम् भगवान विष्णु, मंगलम् गरुड़ ध्वज।···तनि माधवी क्यार भाग तौ द्याखौ दिद्दा, दुल्हा असनीक लागत है, जैसे हमारे राजा साहब क छोटका बेटवा होय। जौन सात समुन्द्र चौदह नदियाँ पार करिके पढ़िके लडटतै खन कलहर हुइ गवा रहा।"[१] अन्यत्र नायक नुमाइश में किसी से बात कर रहा है। उसके कानों को प्रतिपात्र के अतिरिक्त और लोगों की विविध विषयक चर्चा भी सुनाई देती है और लेखक उसका यथातथ्य वर्णन कर देता है।[२] अब एक उदाहरण ऐसा लीजिए जहाँ एक पक्षीय वार्तालाप मिलता है—संवाद में दो पक्ष होते हैं किन्तु यहाँ एक ही पक्ष सामने आता हैं। दूसरे, एक ही पात्र के विभिन्न प्रतिपक्षियों की व्यंजना होती रहती है और कथन में प्रवाह बना रहता है। बड़ी भाभी अपने पति वंशी के बाहर से आने पर कहनें लगीं—"मैं जानती थी, तुम अब रानी को लाए बिना न मानोगे। मगर रामलाल कहता था—दो लाख तक की ज़मानत भी अगर माँगी जाती, तो वह भी दिलवाई

१. "चलते-चलते", पृ० २४। २. वही, पृ० २३६-२३७।

जा सकती थी। साठ हजार क्या चीज है ! केस फौजदारी चल ही नहीं सकता। मैंने पहले ही कह दिया था।...थके हुए बहुत होंगे, यह तो चेहरे से मालूम पड़ता है। मगर चाय बनने में इतनी देर क्यों ? खैर आई तो। लल्ला, तुम्हीं बना दो एक कप मेरे लिए। चीनी ज़रा कम छोड़ना मगर, ज्यादा मिठास मेरे लिए कड़वाहट हो जाती है !...लो, रानी मुस्करा रही है। अरे मैं कहती हूँ, मिठाई-विठाई क्या चीज़ है ! जो स्वाद नमकीन में है वह...। रतनी रानी को थोड़ा और परोसना। पसन्द आएगी।...परांठा बिल्कुल खस्ता है...तुम यह ले लो मुझसे, खूब खरा सिका है—कुरकुरा-मुरमुरा।"[1] संवाद की गत्यात्मक प्रकृति के कारण स्थिति-विशेष के वार्तात्मक वर्णन का प्रभाव पड़ता है। एक अन्य उदाहरण में भी एकपक्षीय वार्ता है, किन्तु यहाँ प्रतिपक्षियों के उत्तर की व्यंजना भी होती रहती है। बड़ी भाभी छोटी से बोलीं—"आ गयीं रानी।...स्वास्थ्य तो अब पहले से, जान पड़ता है, ठीक है। मौसी के यहां खाने-पीने में कभी कोई खास कमी नहीं रहती। जाओ, जाओ, अभी पाइप आ रहा है...। लेकिन ठहरो, मैं पानी गरम करवाए देती हूं।...हां यह भी ठीक है। पहले चाय पी लो। आओ फिर वहीं चलें।...इस मिश्री की डली का क्या नाम बताया ?—ओ लाली। अच्छा तो है। आओ लाली, तुम्हारा भी साथ हमारे यहाँ निभ जायेगा। यहाँ किसी चीज़ की कमी नहीं है। बस, उनको एक बात से चिढ़ है। ज़रा उसी का ख्याल रखना। किसी काम के लिए कभी ना न करना। बाकी फिर डांट फिकर। आओ आओ, शरमाओ मत।"[2] इस वार्ता में प्रच्छन्न व्यंग्य का सौन्दर्य भी है।

संवादों में शैली-वैचित्र्य के अतिरिक्त लेखक का मन प्रेम-क्षेत्र की नोंक-झोंक, या विनोद-व्यंग-वार्ता में रमा है। इनमें पात्रों की वाक्पटुता, प्रत्युत्पन्नमति, साधारण बातों के श्लिष्ट अर्थग्रहण की प्रकृति आदि विशेषतायें देखने को मिलती हैं।[3]

'चलते-चलते' में विभिन्न पात्रों के कथनों में अपनी-अपनी स्वभाव-संस्कृति के अनुसार विशेषता कम मिलती है, किन्तु कुछ गौणतम पात्रों में भाषागत अन्तर के प्रदर्शन का विशेष प्रयत्न किया गया है। हीरा की माँ गुजराती,[4] हेरिया[5] और ब्राह्मणी[6] आदि स्थानीय, बंगला महिला बंगाली,[7] अन्य बंगाली सज्जन बिगड़ी हिन्दी[8] बोलते हैं और पहाड़ी आदमी 'स' का 'श' उच्चारण करता है।[9] शराब पिए हुए

---

१. 'चलते-चलते', पृ० ४३८। २. वही, पृ० ४३७-३८।
३. वही, पृ० ५२-५३, ६६-६६, २६०, ४३६, ४४१, ४६०।
४. वही, पृ० २३८। ५. वही, पृ० २८२।
६. वही, पृ० २६०। ७. वही, पृ० २६७।
८. वही, पृ० २६७। वही, पृ० ४८३।

पात्र अंग्रेज़ी वार्ता करते हैं। यों स्थान-स्थान पर अन्य पात्र भी कुछ कथन अंग्रेज़ी के बोलते रहते हैं।[1]

'चलते-चलते' की भाषा-शैली सुन्दर है और कुछ चटकीली। अनेक स्थलों पर साधारण वर्णन भी चमत्कार पूर्ण है; देखिए :—

(क) "सावन का गीत, नयमों की भाषा में, अब भी मेरे प्राणों के ऊपर ध्वनित हो रहा था—टप-टप-टप"।[2]

(ख) "ज्येष्ठ मास की नंगी भूखी दुपहर थी"।[3]

(ग) "इसी समय वैशाखी...चाय और उसके रिश्ते की सामग्री लिये इस कक्ष में आ पहुँची"।[4]

(घ) "मैं क्या करूँ—क्या न करूँ! नयनहीन को राह दिखा प्रभु..."[5]

तुल्योगिता अलंकार तथा विरोध से भी लेखक ने अनेक पंक्तियों को चमत्कार-पूर्ण बना दिया है; देखिए :—

१. "हम खोजते रहते हैं लक्ष्मी को, धन को, खोये हुए मन को, बिछुड़े हुए प्राण को, छूटे साथी को, बहन और बराती को, दूल्हा को, दुलहिन को"।[6]

२. "थाने के अन्दर मार पड़ने पर चोर और गिरहकट रोते हैं; कान खींचे जाने पर विद्यार्थी और स्थान खींचे जाने पर शरणार्थी रोता है"।[7]

३. "पिता की पुकार का स्वर धीरे-धीरे मन्द पड़ता जाता था। लेकिन गति के मेरे कदम उत्तरोत्तर आगे बढ़ते जाते थे"।[8]

४. "संसार ज्ञानी को खोजता है पर मैं आजकल पगली को खोजता हूँ"।[9]

इस तरह साधारण वर्णनों को भी चमत्कारपूर्ण बनाने में लेखक की कवि-प्रवृत्ति सहायक रही है। और इसी के बल पर लेखक ने विभिन्न प्रसंगों में शैली-वैचित्र्य की सृष्टि की है; यथा यह रूप-सज्जा का अनोखा रेखाचित्रात्मक वर्णन देखिए :—"लो छल्ले उछालती हुई वैशाली आ पहुंची। यह जो बाटलग्रीन कलर होता है न, इसी का गरम मुलायम चेस्टर है। साड़ी सफ़ेद है, जिसके शुरू के बोल हैं—कलफ़ की सरसराहट से उठते हुए। चप्पल हरी ज़मीन पर लाल पट्टी वाले।" लाली नखों पर चमकती "और ओठों पर विहँसती हुई। अंगुलियाँ पतली-पतली ककड़ियों के बचपन की शोखी लिये।" यहाँ शैली प्रत्यक्ष सम्बोधनात्मक है—मानो

---

१. "चलते-चलते", पृ० २७०।
२. वही, पृ० १३३।
३. वही, पृ० २४।
४. वही, पृ० ४६५।
५. वही, पृ० ४६२।
६. वही, पृ० ४४६।
७. वही, पृ० २२६।
८. वही, पृ० ४३४।
९. वही, पृ० ४५७।

सामने बैठे दर्शक को कोई दृश्य दिखा रहा हो। 'लो', 'होना है न' आदि शब्द तथा वाक्यांश यही सूचित करते हैं। कहीं-कहीं लेखक ने लाक्षणिक मूर्तिमत्ता के आश्रय से नाटकीय वर्तमान शैली में रमणीय दृश्य-स्वरूप अंकित किया है : "यह लग्न-मंडप है। इसकी पावन भूमि के कण-कण पर आज वे जो नाना प्रकार के स्वर गूंज रहे हैं, उनमें कितना उन्माद, कैसी उमंग, कितना आह्वान और आकर्षण है। नयन हैं जो यत्र-तत्र झांकते, नचते और डोलते हैं। वाणी है, जो फलती, खिलती और संकोच-विचार और व्यवहार का रूप प्राप्त कर अन्तरिक्ष में मिल जाती है। मुद्राएँ और भंगिमाएँ हैं, जो मन पर पानी की भांति पड़कर कभी लहर उठती और कभी तन के कुंतल पर आरतियों के छन्द बन जाती हैं।...यह मेरे घर का द्वार है। यह बन्दनवार, मंगलकलश, यह रोचना की थाली, ये आरती के दीप, ये पुष्पों के दल, कलियों और नन्हीं-नन्हीं पत्तियों के अंकुर, आशीर्वचनों के अक्षत, इन नवयुवतियों और प्रौढ़-नर-नारियों का मन्द-मुखर कुतूहल"[1]...इस तरह वातावरण अंकित करने में यह शैली सफल है।

एक और उदाहरण लीजिए जिसमें शब्दों के नादात्मक प्रभाव से किसी की पदचाप ही सुनाई पड़ने लगती है : "फिर ऐसा जान पड़ा, धीरे-धीरे, रुक रुक कर, पग ध्वनि मन्द, मन्दतम करता हुआ कोई मेरे शयन-कक्ष में आ रहा है।...यह आ रहा है, यह...यह..."।[2] कहीं-कहीं एक ही शब्द की अनेक बार आवृत्ति से भावात्मक वातावरण की सृष्टि की गई है।[3]

वाजपेयी के कवि-रूप ने उनकी भाषा को सुन्दर बनाया है किन्तु उनमें शैली-प्रदर्शन का मोह कम नहीं उत्पन्न किया। इसमें अनेक स्थलों पर व्यर्थ में उपन्यास की कलेवर-वृद्धि हुई है। इस दृष्टि से हम डॉ० ब्रजमोहन गुप्त से सहमत हैं कि "वाजपेयी का कवि उनके उपन्यासकार की गर्दन पर सदा सवार रहा है। यदि कवि उपन्यास में उपन्यासकार का अनुगामी होकर चल पाता तो अधिक अच्छा होता। जिन कवित्वपूर्ण, सरस, मधुर उक्तियों की अमूल्य निधि उपन्यास में जहाँ-तहाँ छिटकी पड़ी है उनमें से काफी उपन्यास की दृष्टि से अनावश्यक हैं"।[4] यह एक ही उदाहरण इसके लिए पर्याप्त होगा—"एक बार मेरे मन में आया, वे (छोटी भाभी) मेरे पीछे चली आयेंगी, उन्मद-मन्द्र झंझावात-सी, विकल-व्याकुल यामिनी-सी, दिवाकर के पीछे हाँफती-हँसती, शैल-शृंग पर अंचल पसारती-फहराती सुरभित धूप-सी, महासागर के उच्छल ज्वार-सी।

१. "चलते-चलते", पृ० २२। २. वही, पृ० ४०-४१।
३. वही, पृ० २०८-९।
४. साहित्यकार पं० भगवतीप्रसाद वाजपेयी (अभिनन्दन ग्रंथ), पृ० १७२।

"एक बार सोचा, वे मुझे जाने से रोकेंगी; जैसे आषाढ़ मास की प्रतिपदा निदाघ के समक्ष आकर उसका पथ रोक दे; कुछ भी कहे न कहे, तो भी जान पड़े, हाथ फैलाकर कह रही है—देखती हूँ, कैसे आगे बढ़ती हो।

"जैसे गुलाब की खिलती हुई कली पास उड़ते गुन-गुन गाते हुए भ्रमर का निकलना रोक दे। कहने को चाहे एक शब्द भी न कहे—अधर-भर खोल दे"[1]। यह शैली अपने में उलझाती है, विषय में लीन नहीं करती। कथानक की भावनाओं से अधिक हम शैली का चमत्कार देखते रह जाते हैं।

'चलते-चलते' की शैली में विनोद-व्यंग्य का पर्याप्त पुट है। प्रेम-क्षेत्र में विनोद का स्थान है तथा समाज की कुरीतियों, तथा शासनाधिकारियों के अनाचारों के खंडन में व्यंग्य के अस्त्र का प्रयोग हुआ है। कहीं-कहीं यह व्यंग्य काफी तीखा हो गया है :—"लेकिन किसे इस (नर-कंकाल) की ओर देखने का अवकाश है ? कार के भीतर बैठी हुइ परम पावन शुभ गांधी टोपियाँ इसे देखेंगी कि एरोप्लेन के अन्दर बनने वाले कार्यक्रमों के बीच विंशत वर्षीय होस्टेसेज के नयन-कटोरों पर जा पड़ने वाली आँखें"।[2]

स्थान-स्थान पर आए सारगर्भित वाक्य भी 'चलते-चलते' की भाषा-शैली की उल्लेखनीय विशेषता हैं।

समग्र आलोचना के बाद, यह कहा जा सकता है कि 'चलते-चलते' मनोवैज्ञानिक शैली-वैचित्र्य से ह्रासोन्मुख उच्च मध्यवर्गीय समाज का चित्रण करने वाला लगभग कथा-प्रधान उपन्यास है। इसमें लेखक ने बहिर्मुखी तथा अन्तर्मुखी दोनों उपन्यासकारों की विभिन्न विशेषताओं के संचय का प्रयास किया है किन्तु ये सभी एक-दूसरे की अनिवार्य माँग को पूरा करने की विवशता से नहीं आईं—ये उपन्यासकार के अपने आग्रह या उस पर पड़े विभिन्न प्रभावों की परिचायक हैं। अतएव 'चलते-चलते' में एक समन्वित विधान की अपेक्षा, एक विचित्र विधान की सृष्टि होकर रह गई है। इसमें सार्थकता से अधिक चमत्कार है। वस्तुतः वाजपेयी जी विभिन्न प्रभावों के चौराहे पर अपना मार्ग देखते हुए खड़े हैं, किन्तु अभी उस पर अधिकार नहीं कर पाए।

सागर लहरें और मनुष्य

'वह जो मैंने देखा' (१९४५) तथा 'नये मोड़' (१९५४) के बाद 'सागर लहरें और मनुष्य' उदयशंकर भट्ट का तीसरा उपन्यास है। इसका प्रकाशन सन्

१. "चलते-चलते", पृ० ४०। इस दृष्टि से पृ० ५४, २२९-३०, ३३३ भी दर्शनीय हैं।
२. वही, पृ० १९।

१९५५ में हुआ। वर्गीकरण की दृष्टि से यह रचना विवादास्पद है। अनेक आलोचकों —बाबू गुलाब राय,[1] डॉ० गणेशन[2], महेन्द्र चतुर्वेदी,[3] डॉ० विश्वम्भरनाथ उपाध्याय[4]— ने इसे आँचलिक उपन्यास माना है। नंददुलारे वाजपेयी (नागार्जुन तथा 'रेणु' की तुलना में) भट्ट जी को 'सीमित अर्थ में' ही आँचलिक उपन्यासों का स्रष्टा कह सके हैं क्योंकि वाजपेयी जी के अनुसार "उनकी कृतियों से हिन्दी-उपन्यास के वस्तुतथ्य अथवा रचना-शिल्प में कोई बड़े परिवर्तन उपस्थित नहीं हुए।"[5] शिवदानसिंह चौहान के अनुसार "कहने को तो कहा जा सकता है कि (यह) बम्बई के मछुओं की कहानी है (यानी आँचलिक उपन्यास है)[6] लेकिन वास्तव में यह उस लड़की रत्ना की कहानी है जो पढ़-लिख कर परम्परागत मछुआ जीवन की विषमताओं और कुत्सताओं से विरक्त होकर सभ्य जीवन बिताने के लिए संघर्ष करती है"।[7] हमारे विचार में यद्यपि इसमें अंचल-विशेष का पर्याप्त यथार्थ तथा सम्पन्न चित्रण किया गया है तथापि इसमें अंचल-निरपेक्ष सामाजिक उद्देश्य की प्रमुखता है। इसलिए कथानक भी अंचल-केन्द्रित नहीं, यह उस कथानायिका रत्ना को लेकर चला है जिसके आधार पर नारी-दुर्दशा तथा नारी-स्वावलम्बन का सामाजिक उद्देश्य प्रस्तुत किया गया है। ये सामाजिक तथा आँचलिक उद्देश्य परस्पर असम्बद्ध ही रह गए हैं। इसके अतिरिक्त उपन्यास का आधे से अधिक भाग अंचलेतर क्षेत्र में घटित हुआ है और उपन्यास का अन्त भी अंचलेतर कथा के साथ हुआ है। इसलिए इसे आँचलिक उपन्यास नहीं कहा जा सकता। उपन्यास के प्रायः उद्देश्य-बाह्य घटना-वैचित्र्य के आगे सामाजिक उद्देश्य भी फीका पड़ गया है अतएव 'सागर लहरें और मनुष्य' को कथानक-प्रधान उपन्यासों के वर्ग में रखना ही अधिक उचित दिखाई देता है।

इस उपन्यास में भट्ट जी विचारक के रूप में कम-से-कम आए हैं। विचार-तत्व का समावेश जहाँ-कहीं भी हुआ है, अधिकांशतः पात्रों-द्वारा परोक्षतः हुआ है। यह विशेषता उन्हें उद्देश्य-प्रधान उपन्यासों से दूर ले जाती है और कथागत रोचकता में सहायक रही है। यहाँ उद्देश्य-व्यंजना का मुख्य आधार पात्रों तथा कथा का विकास है।

---

१. "काव्य के रूप", पृ० १९७-९८।
२. "हिन्दी उपन्यास साहित्य का अध्ययन", पृ० ४०७।
३. "हिन्दी उपन्यास : एक सर्वेक्षण", पृ० २१३।
४. "साहित्य सन्देश", प्रगति विशेषांक, जनवरी-फरवरी १९५८, पृ० ३६१।
५. "आलोचना" सं० २४, पृ० ७।
६. ये कोष्ठबद्ध शब्द हमारे हैं।
७. "आलोचना के मान", पृ० १५७।

इस उपन्यास के कथानक का विभाजन इन चार पात्राधारित परिच्छेदों में हुआ है -- 'रत्ना', 'माणिक', 'रत्ना और माणिक' तथा 'यशवन्त'। यह विभाजन चरित्र-प्रधान ('पर्दे की रानी' जैसे) उपन्यासों की तरह का है, आँचलिक उपन्यासों के समान नहीं जहाँ समग्र क्षेत्र की कथा होती है, विशिष्ट पात्रों की नहीं। परन्तु वास्तव में यह चरित्र-प्रधान उपन्यास भी नहीं—केवल दूसरे परिच्छेद को छोड़कर कथा प्रायः उस रत्ना के साथ चली है जिसके माध्यम से लेखक उद्देश्य-आदर्श देना चाहता है किन्तु हमें मिलता है घटना-वैचित्र्य से जनित मनोरंजन। उदाहरणतया, यह आश्चर्य की बात है कि लेखक के आग्रह से रत्ना—उपर्युक्त परिच्छेदों में आए—प्रमुख पात्रों में से न तो माणिक की होती है, न यशवन्त की; वह अपनाती है या अपनाई जाती है उस डाक्टर पांडुरंग के द्वारा जो उपन्यास के अन्तिम पृष्ठों में ही आया है।

उपन्यास के आरम्भ तथा यशवन्त के आधार पर इस उपन्यास का आंचलिक उद्देश्य सामने आता है तथा रत्ना की जीवन-गति के आधार पर सामाजिक। पहला उद्देश्य केवल 'रत्ना' और 'यशवन्त' परिच्छेदों के आधे भाग में है, और दूसरा मध्य-वर्गीय नारी-समस्या का सामाजिक उद्देश्य प्रायः सर्वत्र है।

'सागर लहरें और मनुष्य' का आरम्भिक परिच्छेद एक आँचलिक उपन्यास के शिल्प का प्रभाव डालता है। प्रथम परिच्छेद 'रत्ना' में कथानायिका रत्ना से सम्बद्ध बम्बई के पश्चिमी समुद्र तट के बरसोवा अंचल की जीवन-गति का अनुभूत्यात्मक बहुविध चित्रण हुआ है। इस चित्रण से स्पष्ट होता है कि मछली मारना-बेचना ही इनका व्यवसाय है और मछली ही इनका प्रमुख खाद्य। तात्पर्य यह है कि अपनी रोज़ी-रोटी के लिए यह एकाँत समुद्र पर निर्भर हैं—यही इनका जीवनदाता है। दूसरे, अपनी मोहक प्राकृतिक छटा के कारण यह सुन्दर भी है—लेखक ने इसके अनेक रम्य-चित्र अंकित किए हैं। इसलिए बरसोवा निवासियों का समुद्र के प्रति विशेष अनुराग चित्रित हुआ है। रत्ना को नगर में भी इसकी बार-बार याद आती है। रत्ना को नींद में जो जीवन-स्वप्न आते हैं वे भी समुद्र और मछलियों से सम्बद्ध हैं।[1] यही नहीं महाभारत की कथा सुनकर वह 'मछलीमारों की दादी मत्स्यगंधा' से सर्वाधिक प्रेरित हुई।[2] इस तरह समुद्र और उसकी मछलियाँ इनके जीवन में रमे हुए हैं। यहाँ के उत्सव-त्योहार (नारियल पूर्णिमा)[3], देवता (खंडाला, खण्डोवा, 'मल्हार मार्तण्ड'), पूजा-आराधना, लोक-गीत, लोक-नृत्य सब समुद्र सम्बन्धित हैं।[4] समुद्र-पूजा और भी स्वाभाविक है

१. "सागर लहरें और मनुष्य", पृ० २६। २. वही, पृ० २३।
३. "सागर लहरें और मनुष्य", पृ० ३४। ४. वही, पृ० ४६।

तरह के खाद्य और पेय में कंश्री (शराब) दी गई। बाडला, उसकी स्त्री और कई लोग सत्कार कर रहे थे। झुण्ड के-झुण्ड नंगे-धड़ंगे बच्चे आँगन में लोट लगाते खेल रहे थे। बीड़ियों के बंडल, पान, गोपी की थालियों में सजे थे। ताड़ी के दौर के साथ एक पार्टी नाचने को तैयार हुई। एक तरफ से आदमी और दूसरी तरफ से औरतों ने नाचना शुरू किया। स्त्रियाँ पानी में नाचतीं, तो आदमी नाचते-नाचते जाल डालकर उन्हें पकड़ते, औरतें घूम-घूम कर जाल में फंसती तो आदमी खुशी मानकर मस्त हो जाते। कभी-कभी स्त्री और पुरुष एक हो जाते फिर अलग हो जाते।। बाजों पर गाने वाले मछुओं का गीत गा रहे थे। स्त्रियाँ स्वर और ताल पर गाती हुई प्रश्न करतीं तो आदमी उत्तर देते। गीतों द्वारा प्रश्न करते तो स्त्रियाँ गीतों में उत्तर देतीं। लोग नशे में झूम रहे थे। रात बढ़ रही थी। समुद्र का गर्जन मानो उस गाने में सहयोग दे रहा था। लोगों ने मस्त होकर आवाज़ लगाई—"बाडला ओ सोमा" दूसरी तरफ से आवाज़ आई "वशी और विट्ठल"।

लोग उठे और चारों को पकड़ कर नाचने के लिए खड़ा कर दिया। फिर एक सामूहिक गान हुआ—

"ए रे भोला सर्वना बाला बाला रे···"[1]

होली-उत्सव का भी लोक-तत्व के संयोग से यथार्थ वर्णन हुआ है।[2]

लेखक ने इस गाँव के इतने लोगों का चित्रण किया है कि इस गाँव की लगभग सम्पूर्ण झाँकी मिल सके। इनके पारस्परिक रागात्मक सम्बन्धों, नैतिक स्तर तथा सामाजिक रीति-रिवाज आदि के सूचक कुछ प्रसंग हैं और पारस्परिक ईर्ष्या-द्वेष-जन्य संघर्ष की घटनाएँ भी। विभिन्न वर्णनों तथा प्रसंगों से यह प्रतीति होती है कि लेखक अंचल-जीवन के विभिन्न पक्षों को सामने लाना चाहता है। एक प्रसंग निकाल कर—नागरिक सारिका को उसकी अंचलीय सखी रत्ना के माध्यम से—उसने समुद्र में एक साथ अधिक मात्रा में मछली पकड़ने की सविस्तर जानकारी दी है।[3] दूसरे में एक ईसाई पादरी के एक छोकरी को उड़ाने के प्रसंगोल्लेख से गाँव की निर्धन जनता को मिशनरियों द्वारा ईसाई बनाने के कार्यक्रम को व्यक्त किया गया है।[4] एक अन्य चित्र के द्वारा गाँव के सामान्य जीवन की झाँकी दी गई है; देखिए :—"बाहर यशवन्त जाल लिए किनारे की ओर जा रहा है—बनियान पहने, रूमाल बाँधे, अपने काले शरीर से जाल उठाए। उधर से इट्ठा मछलियों का टोकरा सिर पर उठाए आ रही थी। सामने की झोंपड़ी में बैठी बुढ़िया चावल बीन रही थी। नंगे-धड़ंगे दो बच्चे उसी बुढ़िया के पास बैठे बाँस के टुकड़ों की नावें बना

१. "सागर लहरें और मनुष्य", पृ० ४५-४६। २. वही, पृ० २२१-२२।
३. वही, पृ० २८-२९। ४. वही, पृ० ६४-६५।

क्योंकि समुद्र जीवन-[illegible] के [illegible] जाता है। इस उपन्यास का आरम्भ [illegible] और सामुद्रिक तूफान के बाद [illegible] कथा हुई; [illegible] भी पूरी हुई।"[1]

बरसोवा का अपना नाम, [illegible] निवासियों की जातियाँ, जातिगत पेशे, रहन-सहन, [illegible] तथा आभूषणों आदि का पूरा परिचय दिया गया है।[2] लेखक ने स्पष्ट किया है कि देश की महँगाई का असर यहाँ भी पड़ा है और ये लोग उससे परेशान हैं। इसका कारण एक और भी है। अन्य गाँवों की तुलना में बरसोवा के आस पास के समुद्र से बड़ी मछलियाँ अधिक नहीं मिलतीं जिससे यहाँ का धंधा खराब हो रहा है।[3] इसीलिए ये अपने-स्तर में उन्नति नहीं कर पा रहे। सम्पन्न घर कम हैं, इनकी सम्पन्नता का स्वरूप देखिए—"विट्ठल बरसोवा का एक सम्पन्न कोली है। एक दो नौकर, दो बड़ी होड़ी और एक छोटी होड़ी (नाव)"। तात्पर्य यह कि नौकर मालिक की वर्गीय स्थिति यहाँ भी है। यहाँ की कोली जाति में 'स्त्री राज' है।[4] नारी ओरत निडर होती है और अपने पति को भी भी अपने काबू में रखती है। एक स्थान पर वंशी अपनी पुत्री से कहती है—"कोली औरत कू इतना डरने नहीं पाहिजे। क्या रत्ना, कभी माणिक कू मारा नई?"[5] औरतें मछली के व्यवसाय व्यापार में पूरा योग देती हैं। कोली लोगों की स्त्रियों का रूप-रंग भी दिया है—प्रायः "साँवला रंग, बड़ी आँखें, मोटे होंठ, सुता शरीर, गठीला बदन।"[6]

अपने उद्यमी कार्य के अनुकूल यहाँ स्त्री-पुरुष दोनों ताड़ी शराब का सेवन करते हैं। बीड़ी भी दोनों पीते हैं। रात्रि को मछेरे नाच-गान और नशे में थकावट को भुलाते हैं। निम्नांकित चित्रण में अंचल विशेष के लोक-उपन्यास का स्वरूप अपने समस्त लोक-उपकरणों तथा वातावरण-विधान के साथ मूर्तिमान हो रहा है— "उन दिनों एक रात बाइला के यहाँ नाचने-गाने का आयोजन था। सभी लोगों को उसने न्यौता भेजकर बुलाया। विट्ठल और वंशी को भी बुलाया। ([illegible] तथा [illegible] दोनों गाँव के सम्पन्न घराने हैं) स्त्री-पुरुष इकट्ठे हुए। भजन, गजल, हारमोनियम पर राग अलापे जाने लगे। मशालें जलीं। [illegible], भाजया, कई

१. वही, पृ० ६-७।
२. वही, पृ० १०।
३. वही पृ० ६।
४. वही, पृ० २३२, वंशी के शब्द।
५. वही, पृ० २०३।
६. वही, पृ० ६७।

तरह के खाद्य और पेय में कंत्री (शराब) दी गई। बाडला, उसकी स्त्री और कई लोग सत्कार कर रहे थे। झुण्ड के-झुण्ड नंगे-धड़ंगे बच्चे आँगन में लोट लगाते खेल रहे थे। बीड़ियों के बंडल, पान, सीपी की थालियों में सजे थे। ताड़ी के दौर के साथ एक पार्टी नाचने को तैयार हुई। एक तरफ से आदमी और दूसरी तरफ से औरतों ने नाचना शुरू किया। स्त्रियाँ पानी में नाचतीं, तो आदमी नाचते-नाचते जाल डालकर उन्हें पकड़ते, औरतें घूम-घूम कर जाल में फँसती तो आदमी खुशी मानकर मस्त हो जाते। कभी-कभी स्त्री और पुरुष एक हो जाते फिर अलग हो जाते।। बाजों पर गाने वाले मछुओं का गीत गा रहे थे। स्त्रियाँ स्वर और ताल पर गाती हुई प्रश्न करतीं तो आदमी उत्तर देते। गीतों द्वारा प्रश्न करते तो स्त्रियाँ गीतों में उत्तर देतीं। लोग नशे में झूम रहे थे। रात बढ़ रही थी। समुद्र का गर्जन मानो उस गाने में सहयोग दे रहा था। लोगों ने मस्त होकर आवाज़ लगाई— "वाडला ओ सोमा" दूसरी तरफ से आवाज़ आई "वशी और विट्ठल"।

लोग उठे और चारों को पकड़ कर नाचने के लिए खड़ा कर दिया। फिर एक सामूहिक गान हुआ—

"ए रे भोला सर्वना बाला बाला रे···"[1]

होली-उत्सव का भी लोक-तत्व के संयोग से यथार्थ वर्णन हुआ है।[2]

लेखक ने इस गांव के इतने लोगों का चित्रण किया है कि इस गाँव की लगभग सम्पूर्ण झाँकी मिल सके। इनके पारस्परिक रागात्मक सम्बन्धों, नैतिक स्तर तथा सामाजिक रीति-रिवाज आदि के सूचक कुछ प्रसंग हैं और पारस्परिक ईर्ष्या-द्वेष-जन्य संघर्ष की घटनाएँ भी। विभिन्न वर्णनों तथा प्रसंगों से यह प्रतीति होती है कि लेखक अंचल-जीवन के विभिन्न पक्षों को सामने लाना चाहता है। एक प्रसंग निकाल कर—नागरिक सारिका को उसकी अंचलीय सखी रत्ना के माध्यम से—उसने समुद्र में एक साथ अधिक मात्रा में मछली पकड़ने की सविस्तर जानकारी दी है।[3] दूसरे में एक ईसाई पादरी के एक छोकरी को उड़ाने के प्रसंगोल्लेख से गाँव की निर्धन जनता को मिशनरियों द्वारा ईसाई बनाने के कार्यक्रम को व्यक्त किया गया है।[4] एक अन्य चित्र के द्वारा गाँव के सामान्य जीवन की झाँकी दी गई है; देखिए :—"बाहर यशवन्त जाल लिए किनारे की ओर जा रहा है—बनियान पहने, रूमाल बाँधे, अपने काले शरीर से जाल उठाए। उधर से इट्ठा मछलियों का टोकरा सिर पर उठाए आ रही थी। सामने की झोंपड़ी में बैठी बुढ़िया चावल बीन रही थी। नंगे-धड़ंगे दो बच्चे उसी बुढ़िया के पास बैठे बाँस के टुकड़ों की नावें बना

---

१. "सागर लहरें और मनुष्य", पृ० ४५-४६। २. वही, पृ० २२१-२२।
३. वही, पृ० २८-२९। ४. वही, पृ० ९४-९५।

मन में इतना नहीं था जितना इस मोहमयी नगरी के सौन्दर्य का प्रलोभन। उसे लगा केवल माणिक के साथ ब्याह होने पर ही वह नया अज्ञात सुख पा सकेगी"।[1] और माणिक से विवाह के साथ ही रत्ना की कथा अंचलेतर क्षेत्र में विचरने लगती है जिससे किन्हीं अन्य उद्देश्यों की सिद्धि हुई है। रत्ना की यह शादी यशवन्त पर विशेष प्रभाव डालती है। पहले वह वेदनाग्रस्त रहता है और अपने कार्यों से उदासीन। धीरे-धीरे उसकी वेदना चेतना बन जाती है। वह शिक्षा प्राप्त करता है और उससे और जागरूक होकर वह अंचल के उद्धार में तत्पर रहने लगता है। अन्ततः उसकी वेदना का पूर्ण उदात्तीकरण लोकसेवा में हो जाता है—मानो "लोक की सेवा से" ही वह शादी कर लेता है।

इसी यशवन्त तथा अन्य दो पात्रों के माध्यम से लेखक ने बरसोवा पर नए युग के प्रभाव को प्रदर्शित किया है। निस्सन्देह इस प्रभाव को चित्रित किए बिना एक अत्यन्त बड़े नगर के 'सबर्ब' का चित्रण अधूरा ही कहा जाता।

वंशी-विट्ठल दम्पति सम्पन्न मछलीमार हैं और जागला उनका नौकर। "जागला उन आदमियों में है जो शरीर की क्रिया के अलावा और कुछ नहीं होते। मशीन की तरह दिन-भर काम करते हैं और काम करने की ताकत बनाए रखने के लिए खाते हैं। कोई खास इच्छा होती है उनमें न कामना"।[2] वंशी के चतुर मन ने ऐसे काम के आदमी को निरन्तर अपने पास बनाए रखने के लिए नौकर के समान उसे अपनी अभिलाषा की तृप्ति का एक साधन भी बना लिया था। आठ-दस वर्षों से वह वंशी के स्वार्थ-जाल में फंसा हुआ था। उसे केवल इतना ही मानने का मौका मिला था कि जब खाने को मिल जाता है और कभी-कभी मानसिक तृप्ति भी मिल जाती है तो अधिक उसे और क्या चाहिए। इसलिए न तो यह कोई पधार लेना था न शादी आदि कर अपना घर बनाने की अभिलाषा करता। भट्ट जी ने ऐसे बुद्धि-हीन व्यक्ति में भी धीरे-धीरे चेतना जगाई है। इट्ठा को देखकर शादी करने की लालसा के साथ ही उसकी अधिकार-भावना को भी जागृत किया गया है। वह भिखारी बनकर रोटी-पाने की अपेक्षा, अधिकारी बनकर रोटी-पाने की कामना करने लगा। पर मालिक इसके लिए तैयार नहीं होते। विट्ठल जागला को मारता है और जागला इनका काम छोड़कर चल देता है। किन्तु चालाक वंशी सब कुछ जाता देख जागला और इट्ठा का विवाह करा देती है और एक नहीं दोनों को अपने स्वार्थ-जाल में फंसा लेती है। वंशी के मकान के पास ही एक छप्पर में रहकर अब दोनों वंशी के कृतज्ञ बने हुए दोहरा काम करने लगे। पहले एक नौकर था अब दो हो गए। एक

---

१. "सागर लहरें और मनुष्य", पृ० १०६।

२. वही, पृ० ६२।

रहे थे, पर नाव किसी तरह बन नहीं पा रही थी। गली में चिउड़ा, भजिया बेचने वाला एक आदमी चिल्ला रहा था। उसके खोमचे में एक बूढ़े की लकड़ी लग गई थी। इसके साथ कुछ लोग भीड़ में दोनों का बीच-बचाव कर रहे थे। दूर किनारे की नावों पर मछुए गुट बनाकर बैठे थे।''[1] अन्यत्र दो प्रसंगों में गाँव के अपेक्षाकृत सम्पन्न घराने में भी रहन-सहन के हीन स्तर तथा गंदगी के सांकेतिक चित्र हैं। दोनों प्रसंग कथा-नायिका रत्ना के घर से सम्बन्धित हैं। बम्बई की सैर से लौटी, वैभव-स्वप्नों में खोई-खोई रत्ना जब अपने घर के लोक में आई तो देखा ''वही छोटा पुराना कमरा है···। चटाई टूटी हुई, झूला गंदा मैला, पुरानी रस्सियों का, मिट्टी, लोहे चीनी के बरतन, सब-कुछ उबकाई ला देने वाला। माँ वही पुरानी मैली साड़ी पहने है। साँवला रंग, चिपटी नाक, पिचके गाल, पीलापन लिये मुंह, कान में सोने की गाँठें, वही पुरानी बेढंगी बातें।[2] रत्ना की सखी सारिका को इसलिए ऐसे घर में चाय पीने से ग्लानि हुई।[3] गाँव की इस हीनस्थिति का कथावस्तु में उपयोग हुआ है—इस गाँव के लोग अशिक्षित हैं। यहीं के रहने वाले अशिक्षित-अविकसित लोगों को गाँव की हीन-स्थिति खटकती है पर कम। किन्तु आधुनिक शिक्षा पाने वाले अल्पशिक्षित लोगों विशेषकर जिनको बम्बई-जैसी 'मोहमयी' तथा वैभव-वलित नगरी के आस्वादन का अवसर मिला हो- को यह आक्रान्त कर लेती है और ग्रंथि बन जाती है। कथानायिका रत्ना इन्हीं में से है। इस गाँव में वही ऐसी लड़की है जो कालेज तक जा सकी है। वह एफ० ए० में पढ़ती है। बम्बई घूम आने के बाद उसे लगा :—''बरसोवा का जीवन, वहाँ के निवासी जैसे जंगल के रहने वाले हों। विज्ञान के इस चमत्कार में भी हम लोग आदिम रूप से आगे नहीं बढ़े हैं। वही पुराना मछली मारने का काम। वही पुराना रहने का ढंग। पुराने मकान, पुराने विचार, पुरानी बातें। उसने इतना पढ़ा है तो क्या। माँ की तरह मछली मारकर मार्कीट में जाकर बेचने के लिए···''[4] इसलिए वह अपने पुराने 'गाँवड़ा' से निकलकर किसी-न-किसी तरह बम्बई पहुँचने का निश्चय करती है। वह अपने उत्कट प्रेमी यशवन्त से उसके अशिक्षित होने के कारण ही विवाह नहीं करती। शरीरतः सबल, मन से निश्छल, अपने मछली मारने के व्यवसाय में सर्वथा कुशल तथा सर्वस्व न्यौछावर की कर्मण्यता में सफल उत्कट प्रेमी यशवन्त को भी रत्ना इसलिए ठुकरा देती है क्योंकि वह अशिक्षित-असभ्य है तथा बम्बई के वैभव-विलास के उपभोग का साधन नहीं बन सकता। यशवन्त को छोड़कर उसने माणिक—नहीं, माणिक की चटक-मटक, सभ्यता के ऊपरी दिखावे—से शादी की :—''माणिक उसके

---

१. ''सागर लहरें और मनुष्य'', पृ० १०६। २. वही, पृ० १०७-८।
३. वही, पृ० ११३-१४। ४. वही, पृ० १०६।

मन में इतना नहीं था जितना इस मोहमयी नगरी के सौन्दर्य का प्रलोभन। उसे लगा केवल माणिक के साथ ब्याह होने पर ही वह नया अज्ञात सुख पा सकेगी"।[1] और माणिक से विवाह के साथ ही रत्ना की कथा अंचलेतर क्षेत्र में विचरने लगती है जिससे किन्हीं अन्य उद्देश्यों की सिद्धि हुई है। रत्ना की यह शादी यशवन्त पर विशेष प्रभाव डालती है। पहले वह वेदनाग्रस्त रहता है और अपने कार्यों से उदासीन। धीरे-धीरे उसकी वेदना चेतना बन जाती है। वह शिक्षा प्राप्त करता है और उससे और जागरूक होकर वह अंचल के उद्धार में तत्पर रहने लगता है। अन्ततः उसकी वेदना का पूर्ण उदात्तीकरण लोकसेवा में हो जाता है—मानो "लोक की सेवा से" ही वह शादी कर लेता है।

इसी यशवन्त तथा अन्य दो पात्रों के माध्यम से लेखक ने बरसोवा पर नए युग के प्रभाव को प्रदर्शित किया है। निस्सन्देह इस प्रभाव को चित्रित किए बिना एक अत्यन्त बड़े नगर के 'सबर्ब' का चित्रण अधूरा ही कहा जाता।

वंशी-विट्ठल दम्पति सम्पन्न मछलीमार हैं और जागला उनका नौकर। "जागला उन आदमियों में है जो शरीर की क्रिया के अलावा और कुछ नहीं होते। मशीन की तरह दिन-भर काम करते हैं और काम करने की ताकत बनाए रखने के लिए खाते हैं। कोई खास इच्छा होती है उनमें न कामना"।[2] वंशी के चतुर मन ने ऐसे काम के आदमी को निरन्तर अपने पास बनाए रखने के लिए नौकर के समान उसे अपनी अभिलाषा की तृप्ति का एक साधन भी बना लिया था। आठ-दस वर्षों से वह वंशी के स्वार्थ-जाल में फंसा हुआ था। उसे केवल इतना ही मानने का मौका मिला था कि जब खाने को मिल जाता है और कभी-कभी मानसिक तृप्ति भी मिल जाती है तो अधिक उसे और क्या चाहिए। इसलिए न तो यह कोई पधार लेता था न शादी आदि कर अपना घर बनाने की अभिलाषा करता। भट्ट जी ने ऐसे बुद्धि-हीन व्यक्ति में भी धीरे-धीरे चेतना जगाई है। इट्ठा को देखकर शादी करने की लालसा के साथ ही उसकी अधिकार-भावना को भी जागृत किया गया है। वह भिखारी बनकर रोटी-पाने की अपेक्षा, अधिकारी बनकर रोटी-पाने की कामना करने लगा। पर मालिक इसके लिए तैयार नहीं होते। विट्ठल जागला को मारता है और जागला इनका काम छोड़कर चल देता है। किन्तु चालाक वंशी सब कुछ जाता देख जागला और इट्ठा का विवाह करा देती है और एक नहीं दोनों को अपने स्वार्थ-जाल में फंसा लेती है। वंशी के मकान के पास ही एक छप्पर में रहकर अब दोनों वंशी के कृतज्ञ बने हुए दोहरा काम करने लगे। पहले एक नौकर था अब दो हो गए। एक

१. "सागर लहरें और मनुष्य", पृ० १०६।

२. वही, पृ० ६७।

दिन जागता, वंशी को गाँव में मछलीमारों की सभा होने, और यूनियन का 'मिम्बर' बनने के लिए प्रोत्साहित किए जाने, की बात कहता है। उस समय की पारस्परिक चर्चा से यह आभास मिल जाता है कि निम्नवर्गीयों की अधिकार-भावना कुछ जग रही है—वह अपने लिए कुछ निश्चित पगार-पाने और कुछ अच्छा खाने-पहनने की दबी मांग प्रस्तुत कर रहा है—किन्तु मालिकों की शोषण-प्रक्रिया और चतुराई उनको दबाने में और भी तत्पर दिखा रही है[1]। आगामी [illegible] की इस अधिकार-चेतना का आगे कहीं पता नहीं चलता। इस तरह एक-दो प्रसंग-विशेष में लेखक निम्नवर्गीय चेतना का संकेत देकर रह गया है—स्यात् उसकी कला-यथार्थता इससे आगे बढ़ने की इजाजत नहीं देती।

अंचल की अन्य प्रगति की दृष्टि से लेखक ने यशवन्त के चरित्र-विकास के स्पष्टीकरण के स्वाभाविक क्रम में अंचल के सुधार-कार्यक्रमों को प्रस्तुत किया है। ये सुधार-कार्यक्रम उतने उतने ही दिए हैं, जितने यशवन्त-जैसे पात्र की शक्ति-सीमाओं में आ सकते थे। तात्पर्य यह कि वादी बनने की अपेक्षा उसने चरित्रानुमोदन का ध्यान रखा है। इससे भट्ट जी प्रचारक-शिक्षक नहीं, कलाकार बने रह सके हैं।

अंचलोद्धार के कार्य की दृष्टि से मछलीमार 'सहकार-समिति' की स्थापना उल्लेखनीय है, जिससे संयुक्त रूप से बम्बई में मछली ले जाकर बेचने की व्यवस्था हुई। यशवन्त ने अपने अथक परिश्रम से इस समिति की सेवा की और गाँव में व्यवसाय से अधिक रुपया मिलने से 'खुशहाली' आई।[2] यशवन्त के ही प्रयत्न से, लोगों से चन्दा लेकर बच्चों की शिक्षा के लिए प्राइमरी स्कूल की स्थापना हुई।[3] गाँव की जागृति के लिए, उसने बाहर व्यक्तियों से भाषण दिलवाए और स्वयं भी दिए, जिनका सार यही था कि अपनी विषम स्थिति से छुटकारा पाने के लिए वह तत्पर हो सकें। एक स्थान पर उसने कहा:—"हमारे बरसोवा की हालत देखकर क्या कोई कह सकता है कि यह बम्बई का एक टुकड़ा है जहाँ सड़कें चाँदी-सी चमकती हैं। एक तरफ बम्बई है और एक तरफ यह बरसोवा[4]।

"अपने गाँव में उसने कोलियों की सभा स्थापित की। कुछ लोग जब-तब इकट्ठे होते, तो नई-नई बातें बताई जातीं। सब के ज्ञान के लिए अखबार भी सुनाए जाते"[5] लोगों के विरोध करने पर भी उसने नारियल पूर्णिमा के उत्सव का सुधार किया। उसे प्रेम और नवमिलन का उत्सव बना दिया गया जिससे पारस्परिक बैर-भाव धुले और आनन्द की लहर दौड़ गई।[6] कुछ लड़कों को अपना सहयोगी

---

१. 'सागर लहरें और मनुष्य', पृ० ८४-८६। २. वही, पृ० २३३-३४।
३. वही, पृ० २३५। ४. वही, पृ० २३५-३६।
५. वही, पृ० २३६। ६. वही, पृ० २३६-३७।

बनाकर उसने श्रमदान से गाँव के गड्ढे भरकर मच्छर दूर करने का प्रयास किया। लेखक ने उन कठिनाइयों का उल्लेख भी किया है, जो उसे समाज से मिली। अन्त में यशवन्त और उसके साथियों को यह स्पष्ट हो गया कि बिना नाली आदि की व्यवस्था के गाँव की गंदगी और कीचड़ को दूर नहीं किया जा सकता। इसके लिए वह कुछ साथियों को लेकर अपने क्षेत्र के कार्पोरेशन के सदस्य से मिला। वह सदस्य हैरान हुआ कि इन अनजान कोलियों में कुछ माँग करने की हिम्मत कहाँ से आ गई। उसने यही समझा कि यह 'युग का प्रभाव' है।[1] पटवर्धन को अपनी कुर्सी हिलने का खतरा पैदा हो गया। उसने इन्हें हतोत्साहित किया। यशवन्त के साथियों में प्रेरणा लुप्त होने लगी और फूट पड़ गई "यशवन्त के जी में आया कि वह सत्याग्रह करे पर साथ देने को कोई तैयार न था। लोगों में यशवन्त के प्रति धारणा बनी कि वह व्यर्थ ही आसमान के तारे तोड़ना चाहता है।"[2] सारतः लेखक ने स्पष्ट किया कि "यशवन्त के प्रयत्न से जो चेतना की लहर बरसोवा में उठी वह और कहीं से बल न पाकर वहीं समाप्त हो गई।" कहा जा सकता है कि लेखक ने साँकेतिक विधि से सहकारी व्यवस्था और जनता के असहयोग-अशिक्षा दोनों को दोषी ठहराया है। फिर भी सेवा-कार्य के व्यक्तिगत प्रयत्नों की उसने आंशिक उपयोगिता सिद्ध की है। अन्त में यशवन्त कई घरानों के हृदय-परिवर्तन में सफल दिखाया गया है। दूसरे सहकार समिति से लोगों को कुछ लाभ होते रहने का उल्लेख भी हुआ है।[3]

सारांश में लेखक ने न समाधान देने का प्रयत्न किया है, न उसने किसी पर व्यंग्य-विद्रूप ही किया है। वह किसी वाद की गरमी में विश्वास नहीं करता। इस दृष्टि से भी यह उपन्यास 'रेणु' और नागार्जुन के उपन्यासों से भिन्नता रखता है। उसने ईमानदारी से यथार्थ चित्रण किया है और पाठकों को संकेत-ग्रहण करने की स्वतन्त्रता दी है। बरसोवा के यथार्थ-चित्रण में ही लेखक के अंचल-चित्रण की सफलता का रहस्य निहित है।

भट्ट जी ने बरसोवा अंचल के चित्रण के आधार पर बड़े शहरों के सबर्ब का प्रतिनिधि चित्र प्रस्तुत किया है, इस दृष्टि से कारपोरेशन के सदस्य का निम्न कथन उल्लेखनीय है—"कार्पोरेशन को अपने पास के रुपये को भी देखना होगा। बजट में गुंजाइश होगी तो यह करेगा। फिर (एक बरसोवा ही तो नहीं) बम्बई के किनारे के सभी 'सबर्ब' ऐसे हैं जहाँ पक्की सड़कें, गलियाँ, नालियाँ बनाने की ज़रूरत है"[4]। उद्देश्य की व्यापकता की दृष्टि से प्रतिनिधि चित्रण की ओर संकेत ज़रूरी था और उपर्युक्त कथन से यही किया गया है।

---

१. "सागर लहरें और मनुष्य", पृ० २३६-३७।
२. वही, पृ० २४०।
३. वही, पृ० २४०।
४. वही, पृ० २३९।

अब हम अंचलेतर शिल्प पर विचार करेंगे। ऊपर यह लिखा जा चुका है कि रत्ना ने माणिक से विवाह किन प्रेरणाओं से किया। स्पष्ट ही वे मध्यवर्गीय छलनामयी प्रेरणाएं थीं। वह अपनी सखी सारिका से कहती है—"जहां मैं बड़ी बन कर रह सकूं। मोटर, गाड़ी, मकान हो। ठाठबाट हो। मैं भी शाम को मैरीन-ड्राइव पर घूम सकूं। मालाबार हिल जा सकूं। सिनेमा देख सकूं। नौकर चाकर हों।"[1] रत्ना गांव की दृष्टि से सम्पन्न किन्तु नगर की दृष्टि से मध्यवर्गीय बन जाती है। सारिका मध्यवर्गीय है। रत्ना अल्पशिक्षित किन्तु सारिका शिक्षित है। इन दोनों विशेषताओं के आधार पर लेखक ने सारिका का उपयोग मध्यवर्गीय यथार्थ-स्थिति के स्पष्टीकरण के लिए किया है। यह उसने दो प्रकार से किया है—उसके मध्यवर्गीय घर की दुरवस्था को स्पष्ट कर तथा रत्ना की मध्यवर्गीय आकांक्षाओं के प्रति उसकी वैचारिक प्रतिक्रिया से। माणिक से विवाह-पूर्व ही सारिका अपनी सखी को सचेत करने के लिए अपने मध्यवर्गीय परिवार की विडम्बनापूर्ण अपनी स्थिति को स्पष्ट करती हुई कहती है :—"हम लोग पिस रहे है, रत्ना। तुम लोग अच्छे हो, मेहनत-मज़दूरी करते हो, खाने लायक काम करते हो। थोड़ा खर्च, रहन-सहन सादा। हम लोगों की मुसीबत है। अच्छे कपड़े न पहनें, ठीक मकान न हो, लोगों का सत्कार न करें तो समाज में बदनामी होती है।" और उस (रत्ना) को लगा यह क्या कह रही है। सचमुच इन लोगों में दिखावा-ही-दिखावा है। असलियत कुछ और ही है।[2] परन्तु इस 'असलियत' का रत्ना पर कोई असर नही होता क्योंकि उसे मध्यवर्गीय मनोवृत्ति वाले उस माणिक का सहयोग प्राप्त था जिसने अपना स्वार्थ सिद्ध करने के लिए उसे बम्बई के मायावी सैर-सपाटे कराए थे। —"वह उन लोगों में था, जो वैभव के छोटे रूप को अपना कर खुश होते हैं। उसी से वह अपने को बड़ा मानते हैं। बस में ठसक से बैठ कर मोटर वाले लोगों से होड़ करते है। अल्प-ज्ञान-पण्डित माणिक अपने को किसी से कम नहीं मानता था। सिनेमा जिसके आनन्द-वैभव की चरम सीमा है, साधारण धुले कपड़े पहन और गले में गजरा और सिर में तिली का तेल लगाकर ब्रिलियेण्टाइन से होड़ करते हैं"।[3] माणिक से विवाहोपरांत रत्ना को माणिक के धोखे का ज्ञान ही नहीं हुआ, कटु वास्तविकता के अनुभव भी करने पड़े। तब उसके विद्रोही मन ने अपनी उमंगें पूरी करने के लिए कहीं नौकरी कर लेने की कामना की। सारिका ने उसे पुनः सचेत किया कि वह नौकरी के फेर में न पड़े और अपने घर के पैतृक काम को अपना ले। लेखक मानों उसके शब्दों में कहता है—"यह हमारी शिक्षा का दोष है कि वह हमें अपने काम से हटा

---

१. "सागर लहरें और मनुष्य", पृ० ११३। २. वही, पृ० १११।
३. वही, पृ० १७५।

देती है और मामूली नौकरी करने पर मजबूर करती है। किसान का लड़का पढ़कर किसनई नहीं करना चाहता, बल्कि पचास रुपये का क्लर्क बनना चाहता है"[1]। पर संस्कार-हीन अल्पशिक्षित रत्ना का वही पुराना उत्तर है—"तू नहीं जानती सारिका मेरे भीतर कितनी उमंग भरी है। मैं चाहती हूँ कि मेरे भी एक कोठी हो, मोटर, नौकर-चाकर हों।" रत्ना की एक दूसरी हताश स्थिति में लेखक ने सारिका के चिंतन के रूप में निष्कर्ष दिया है कि "रत्ना पढ़ी-लिखी होने पर भी विकसित नहीं है। यह चाहती है बड़ा बनना। पर भीतर न उतनी शक्ति है न सामर्थ्य···हम मध्यवर्ग के लोग जो संघर्ष करते हैं, अपनी शक्ति से ही लड़ते हैं। रत्ना में संस्कारों का अभाव है।"[2] मध्यवर्गीय 'असलीयत' को समझने वाली सारिका ने अपनी सीमाओं को समझा, अपने ही स्तर के भाटेटकर से विवाह करके सुख प्राप्त किया। और रत्ना की वैभव-लालसाओं को पारसी वकील की विलास-लालसा का शिकार होना पड़ा।

इस मध्यवर्गीय समस्या के साथ लगी-लिपटी नारी की समस्या सामने आई है। सारिका ने दो स्थलों पर इस बात का उल्लेख किया है कि लड़कों की माँग के अनुसार दहेज न दे सकने के कारण मध्यवर्गीय लड़कियों की शादी में कठिनाई पड़ती है। उन्हें प्रायः नौकरी करनी पड़ती है। "सारे महाराष्ट्र में यह बीमारी है।"[3] किन्तु कोली जाति में स्त्री-राज होने से वहाँ लड़के वालों को लड़की वालों को रुपया देना होता है। अतएव रत्ना के लिए यह समस्या नहीं आई, किन्तु उसे अनेक अवसरों पर पुरुष के छल तथा अनैतिक अत्याचारों का सामना करना पड़ा है। अपने दिखावों में असफल माणिक इतना गिर गया कि उसने रत्ना को अपने होटल के पार्टनर के साथ भेज कर अनैतिक व्यवहार से रुपया कमाने का प्रयत्न किया, किन्तु रत्ना ने उसकी अच्छी तरह खबर ले कर अपनी रक्षा की। घर आकर उसने माणिक का भी अच्छी तरह सत्कार किया। अन्त में जब रत्ना माणिक को सदैव के लिए छोड़ देती है तब नारी के स्वावलम्बन की समस्या सामने आती है। रत्ना तब तक बरसोवा नहीं जाना चाहती, जब तक वह अपने पैरों पर खड़ी न हो जाए। किन्तु पहले की तरह सारिका उसे वास्तविकता की अवगति दे कर सचेत करती है कि "अकेला रहना बड़ा मुश्किल है रत्ना! लोग उंगली उठायेंगे, बदनीयती से देखेंगे, तेरी खूबसूरती को एक्सप्लायट करने की कोशिश करेंगे।···आजकल अपने को बचा कर रखना बड़ा मुश्किल है"।[4] यह नहीं समझना चाहिए कि सारिका नारी के स्वावलम्बन में विश्वास नहीं करती; वह तो स्पष्ट शब्दों में लेखक के विश्वास को प्रकट करती है—'आज

---

१. "सागर लहरें और मनुष्य", पृ० १८२। २. वही, पृ० १८६।
३. वही, पृ० ११२ तथा १८०। ४. वही, पृ० २५०-५१।

की नारी के लिए इतना जानना (कि वह नौकरी के योग्य हो सके) ज़रूरी है जिससे ज़रूरत पड़ने पर वह पराधीन न रहे और दुख न भोगे'।[1] इसी के अनुसार वह नौकरी करती है किन्तु वह कार्य उसने अकेले नहीं, परिवार में रहकर किया। इसलिए सारिका, रत्ना को सचेत करती है। किन्तु रत्ना फिर भी 'अपने पैरों पर खड़े होने'[2] के संघर्ष-पथ पर स्थिर रहने का निश्चय करती है। परिणामस्वरूप अपना खर्चा चलाने के लिए जिस परिवार में उसने नौकरी करने का प्रयत्न किया, वहाँ उसे अपनी मान रक्षा में उग्र रूप धारण करना पड़ा।[3] इन घटनाओं में उसकी हिम्मत बढ़ी और "उसे लगा स्त्री यदि हिम्मत करे तो क्या नहीं कर सकती।"[4] तात्पर्य यह कि लेखक ने रत्ना के माध्यम से नारी को आत्मबल देने के सांकेतिक उद्देश्य से ही पुरुष के अनाचार की घटनाओं को अधिक स्थान दिया है। इन घटनाओं के बाद उसे सारिका से सूचना मिलती है कि उसकी माँ बंसी उसे ढूंढ रही थी। तब सारिका के समझाने पर वह अपने निश्चय को फिर दोहराती है कि वह मछली-मार नहीं बन सकती; वह कहती है—"मुझे एक ही तरह का घिसा-पिटा जीवन पसन्द नहीं है। मैं जीवन के रंग, उसके उतार-चढ़ाव देखना चाहती हूं, सारिका। दुख देखना चाहती हूं तो सुख भी।"[5] और अपना रास्ता स्वयं बनाने की फिकर में वह पहले की तरह फिर भटक जाती है। इस बार वह एक पारसी वकील के छल-जाल में फंसती है और वैभव की लालसा में, नशे की स्थिति के दुर्बल क्षणों में—वह अपने नारीत्व के वैभव को ही खो बैठती है। जब एक बुढ़िया से उसे वकील के असली रूप का पता चलता है, तब भी वह हिम्मत नहीं हारती और सोचती है—"बुढ़िया जलन के मारे मुझे बहका गई हो। मुझे हिम्मत करनी चाहिए। आखिर कोली हूँ। कोली औरत फिकर करना नहीं जानती। वह समय से लड़ती है। समुद्र से लड़ती है। फिर मैं क्यों घबराऊँ।"[6] और लेखक ने अन्त में फिर रत्ना द्वारा वकील को बुरी तरह से पीटने और घायल करने का वर्णन किया है।[7] इस तरह लेखक कुल मिलाकर पाँच-छह बार पुरुष को पीटने के प्रसंग लाया है। स्यात् इनमें वह नारी को आत्म-रक्षा के लिए आत्मबल देने में ही संलग्न रहा है। रत्ना की इस कथा में पुरुष-द्वारा नारी की पीड़न गाथा भी कही गई है। लेखक ने इस उद्देश्य को अन्यत्र भी चरितार्थ किया है। उपन्यास के चार परिच्छेदों में से एक पूरे परिच्छेद में माणिक और दुर्गा की कहानी के माध्यम से नारी-दुर्दशा को ही मूर्तिमान किया गया है। दुर्गा जैसे माणिक

---

१. "सागर लहरें और मनुष्य", पृ० २६८।
२. वही, पृ० २७१।
३. वही, पृ० १८१।
४. वही, पृ० २५१।
५. वही, पृ० २५५-५६।
६. वही, पृ० २६०।
७. वही, पृ० २८३।

के अत्याचारों से पागल होकर मरती है, वह नारी की परवशता तथा घोर दुखांतकी को सामने लाते हैं। लेखक ने एक अन्य प्रसंग में माणिक, रत्ना तथा निम्नवर्गीयों के निवासस्थान 'चाल' के चित्रण से भी पुरुष-अत्याचार तथा नारी की दरुण दुरावस्था को भी स्पष्ट किया है। वहाँ भी यह संकेत मिलता है कि लेखक नारी को 'हिम्मत' देना चाहता है[1]। इस तरह लेखक ने अंचल की कथा के अतिरिक्त उपन्यास का आधे से अधिक भाग नारी-दुर्दशा के चित्रण, उसे पुरुष के अन्याय के प्रतिकार में आत्मबल देने तथा शिक्षा पाकर स्वावलम्बी बनाने में खर्च किया है।

रत्ना वकील से पतित होने के बाद भी वरसोवा नहीं जाती। तब वह बम्बई में एक डॉक्टर के यहाँ नर्स बनकर सेवा के मार्ग को अपना लेती है। अपनी सेवा से डॉक्टर को इतना अभिभूत करती है कि डॉक्टर उसके गुणों पर रीझकर,—यह जानते हुए भी कि वह गर्भवती है—उससे शादी कर लेता है। इस अन्तिम प्रसंग के द्वारा जहाँ मानव को हिम्मत न हारने का संकेत मिलता है, वहाँ यह सिद्ध किया गया है कि जो पाप स्वीकार कर लेता है, वह पापी नहीं होता।[2] यह कथन भी डॉक्टर ने कहा है, लेखक ने नहीं। तात्पर्य यह कि लेखक ने प्रायः सर्वत्र उद्देश्य की सांकेतिक अभिव्यक्ति की है। इसी प्रसंग में उसने रत्ना के चरित्र के आधार पर डॉक्टर का नारी-आदर्श के सम्बन्ध में यह चिन्तन-निष्कर्ष भी दिया है कि "स्त्री का जहाँ तक बाहरी रूप है वह धोखा दे सकता है, पर मन की निर्मलता, सहृदयता ही उसका असली रूप है।[3] कथा को पूर्णतया सुखान्त बनाने के लिए लेखक वंशी को पुनः रत्ना से मिला देता है और अंचलोद्धारक तथा उसके उत्कट प्रेमी यशवन्त को रत्ना का भाई बना देता है। चार-पाँच पंक्तियों में विट्ठल बम्बई-स्थित रत्ना को अंचल के कुछ व्यक्तियों की स्थिति भी बता देता है—मानो दोनों कथाओं को पूर्णता तक पहुंचाने के लिए आवश्यक था। कथा को अन्त में इस प्रकार त्वरित गति से समेटना तथा आदर्शवादी परिणति देना त्रिकल्पात्मक है। यह उपन्यास की करुण हार्द के विरुद्ध है।

इस समग्र विवेचन से यह सिद्ध होता है कि लेखक आँचलिक तथा सामाजिक दो पृथक् उद्देश्यों को लेकर चला है और अन्त में उन्हें समन्वित नहीं कर पाया। इस विषयैक्य में व्याघात से प्रभावान्विति को आघात पहुंचा है और उपन्यास का शिल्प अभीष्ट प्रभाव उत्पन्न करने में असफल सिद्ध हुआ है। एक बात और, रत्ना की कथा अन्त में अपने सामाजिक धरातल को छोड़कर व्यक्तिगत हो गई है। डॉक्टर-जैसे, अपनी प्रेमिका से प्रवंचित, आदर्शवादी पात्र विरल-विशेष हैं। इस तरह सामाजिक

---

१. "सागर और लहरें" पृ० १८६-६०। २. वही, पृ० ३०६।
३. वही, पृ० ३०१।

कथा को बरबस सुखांतकी तथा व्यष्टिपरक बना देने में सामाजिक विषय के भीतर भी एकता का अभाव होने से उपन्यास का प्रभाव कुण्ठित हुआ है।

लेखक पर एक और आपत्ति भी सहज ही की जा सकती है। उपन्यास के प्रारम्भ से अन्त तक बढ़ते हुए, पाठक की आशा तथा लेखक के आग्रह में विरोध पैदा होता गया है। लेखक स्पष्ट कर चुका है कि आधुनिक शिक्षा का यह दोष है कि वह मनुष्य को अपने मूल व्यवसाय से विमुख कर मामूली नौकरी या बाबूगिरी की ओर उन्मुख करती है। नायिका अन्त तक रत्ना को यह कहती भी रही है कि वह बरसोवा जा कर अपने पैतृक व्यवसाय को सम्भाले और नौकरी के फेर में न पड़े। और इसी आधार पर पाठक भी यह सोचता रहा है कि रत्ना अपने नूतन कटु अनुभवों के आधार पर गाँव में वापस जाकर अपने काम को ही नहीं सम्भालेगी बल्कि अपनी शिक्षा का ठीक उपयोग कर वह गाँव के व्यवसाय, शिक्षा तथा रहन-सहन के स्तर को भी उन्नत करेगी। किन्तु अन्त में लेखक ने मानों अपने ही उद्देश्य का उपयोग नहीं किया और रत्ना को नर्स बना कर छोड़ा। इस रूप में वह पाठकों के अनुमान के विरुद्ध चलकर कथा-वैचित्र्य दिखाने के फेर में पड़ गया है। कुछ अन्य कारण भी सहज ही दिए जा सकते हैं, जिनसे यह सिद्ध होता है कि रत्ना की कथा को आंचलीय कथा की ओर अग्रसर होना चाहिए था। रत्ना में वैभव-लालसा के साथ काम-ग्रंथि की प्रबलता का प्रारम्भ से ही उल्लेख होता रहा है। वह यही चाहती रही है कि उसे साधु से चिर यौवन का वरदान मिल जाए। आगे माणिक से विवाह में उसे शारीरिक संतुष्टि नहीं मिलती[1]। लेखक ने मनोवैज्ञानिक यथार्थता के लिए ऐसे प्रसंग प्रदर्शित किए हैं, जिसमें उसकी काम-ग्रंथि उभरकर सामने आई है। उसके अन्तर में सुगठित शरीर वाले गुण्डे शंकर और अंचलीय यशवन्त के चेहरे घूमते रहते हैं।[2] शंकर का यह वाक्य "यह भरपूर जवानी यों ही खोने के लिए नहीं है, मेरी जान।" तो उसके लिए उन्माद बन जाता है और वह शीशे के सामने नग्न होकर अपनी उमड़ती जवानी को देखती है।[3] पूछा जा सकता है कि माणिक को छोड़ने के बाद, लेखक ने रत्ना के दिशा-परिचालन में इस काम-ग्रंथि का उपयोग क्यों नहीं किया? यह ग्रन्थि तो उसे यशवन्त की ओर ही ले जा सकती थी। आगे वैभव-लालसा से प्रेरित होकर जिस वकील से विवाह-सम्बन्ध-जोड़ने का रत्ना ने प्रयत्न किया है, वह नितांत अस्वाभाविक लगता है। यदि लेखक ने रत्ना को वकील की ओर आकर्षित करना ही था, तो कम-से-कम उसका यह हास्यास्पद व्यक्तित्व तो प्रदर्शित न करता :—"धीरूवाला की उम्र लगभग चालीस के होगी। मशीन से सफ़ाचट खलवाँ

---

१. "सागर लहरें और मनुष्य", पृ० १६२। २. वही, पृ० १६४।
३. वही, पृ० १६५-६६।

सिर जिसमें काले-भूरे बालों की गंगा-जमुना थी। छोटा माथा। भौहों के घने बाल। नाक मुंह के आकार से बड़ी। लगता था लम्बे खम्बे पर किसी ने मैला चूना थोप दिया हो। आँखें भीतर को घसी हुई छोटी, होंठ चौड़े, जिसमें दाँतों की पंक्ति आधे से ज़्यादा बात करते चमक-चमक जाती थी"[1]। इस आकृति के साथ उसके कंजूसाना आचरण तो उसे कार्टून बना देते हैं।[2] समझ नहीं आता यहाँ भी रत्ना की काम-ग्रन्थि को क्यों लुप्त कर दिया गया और वह यशवन्त-जैसे भरपूर नौजवान को छोड़-कर ४० वर्षीय वकील के प्रति क्यों आकर्षित हुई। यह सही है कि वंशी ने रत्ना को कहलाया था कि वह उसका मुंह भी नहीं देखना चाहती किन्तु वही वंशी इन सब बातों को छोड़ कर दो बार रत्ना को ढूँढ़ती-ढूँढ़ती सारिका तक पहुंची। वस्तुतः कथा को आगे तक खींच ले जाने की आवश्यकता ही नहीं थी। माणिक को छोड़ने के बाद और वकील से मिलने से पहले भी रत्ना को पुरुष-समाज की अनैतिकता तथा समाज में एकाकी नारी की विडम्बनापूर्ण स्थिति का पर्याप्त अनुभव हो चुका था। नारी-दुर्दशा भी लेखक दिखा चुका था और नारी की अपनी मान-रक्षा के साहसी प्रयत्नों को भी। अतएव कथा को और आगे बढ़ाकर रत्ना को पतित कराने की आवश्यकता नहीं थी। यह ज़रूरी नहीं था कि बरसोवा की बजाय, उसे डाक्टर के प्रसंग में ही सेवामार्गी बनाया जाता। तब उसे शायद, इस नए युग में भी, यशवन्त के माध्यम से चिर-कुमार रहने का कृत्रिम अति-आदर्श न खड़ा करना पड़ता। सारतः दोनों कथाओं तथा उद्देश्यों को असम्बद्ध करने में प्रभाव में कमी भी आई है और पात्रों तथा कथा में अस्वाभाविकता भी।

इस उपन्यास का शीर्षक जहाँ अपनी आँचलिक प्रकृति का सूचक है वहाँ यह प्रतीकात्मक भी है—इससे एक व्यापक उद्देश्य की ओर संकेत मिलता है। इस संसार-सागर में मनुष्य को अपनी जीवन-नैया को खेने के लिए अनेक परिस्थिति-लहरों से संघर्ष करना पड़ता है। केवल हिम्मत वाले ही अपने लक्ष्य तक पहुंच सकते हैं। यह अर्थ-संकेत कथा-नायिका रत्ना के इन मनोमंथनमय दो अवतरणों से अनुमोदित होता है—"उसे लगा स्त्री यदि हिम्मत करे तो क्या नहीं कर सकती। उसे अभी ऐसे ही रहना चाहिए। जब नहीं चलेगा तो माँ है। बरसोवा तो है ही।

"हाँ, तो वह कहीं नहीं जायगी। एक बार ज़िन्दगी को अपने प्रवाह में बहने देगी। वह नहीं जायगी। देखेगी नाव कहाँ किनारे जाकर लगती है"।[3]

"मुझे हिम्मत करनी चाहिए। आखिर कोली हूँ। कोली औरत फिकर

---

१. "सागर लहरें और मनुष्य", पृ० २६६। २. वही, पृ० २६६-६७।
३. वही, पृ० २६०।

करना नहीं जानती। वह समय से लड़ती है। समुद्र से लड़ती है। फिर मैं क्यों घबराऊँ"[1]।

लेखक ने मानों प्रदर्शित किया है कि कथानायिका हिम्मत करती है और अन्ततः सफल होती है। अशिक्षित यशवन्त भी हिम्मत और लगन से आगे बढ़ जाता है। सफलता की प्रतीक्षा करते-करते जिस डाक्टर की 'आँखें पथरा' जाती हैं वह भी प्रगति में विश्वास नहीं खोता। पर माणिक लेखक के इस उद्देश्य पर भी प्रश्नचिन्ह लगा सकता है। माणिक ने उपर्युक्त पात्रों से कम संघर्ष नहीं किया·· उसको तो जन्म से ही एकाकी संघर्ष करना पड़ा। फिर वह सफल क्यों न हुआ? कहा जा सकता है कि वह क्षुद्र स्वार्थमय संसार में पला-बढ़ा। उसे उचित संस्कार न मिल सके अतएव उसने बाद में छल-कपट, चोरी-अनीति से काम लिया। फिर भी, उसे प्रकृति ने अनेक अनुभव दिए और सुधरने का अवसर दिया, अतएव क्यों उसने दुर्गा की कहानी को रत्ना के साथ दुहराना चाहा? इस दृष्टि से माणिक को लेखक की सहानुभूति नहीं मिल सकी। इससे उसकी लम्बी अनुभवगाथा, अनुभवों के उपयोग के बिना, निरर्थक ही कही जाएगी। फिर भी, नाना घटना-वैचित्र्य के क्रोड़ में पली होने के कारण यह सार्थक से कहीं अधिक रोचक है।

'भट्ट' जी ने कथावस्तु को रोचक बनाने का विशेष ध्यान रखा है। इस दृष्टि से उपन्यास के विषय, कथा-स्वरूप तथा कथा-विन्यास सभी सहायक सिद्ध हुए हैं।

अचीन्हे अंचल का चित्रण अपने-आप में जिज्ञासा का विषय होता है—मछेरों के जीवन पर तो स्यात् यह पहला ही उपन्यास है। शृंगारिक प्रसंगों की अपनी सरसता भी यहाँ पर्याप्त है। भाटकेकर की गपबाज़ी[1] कांतिलाल की नकलों तथा धीरूवाला की कंजूसी से कुछ सस्ते हास्य का समावेश भी हुआ है। इसके अतिरिक्त यह उपन्यास घटनाप्रधान है। एक के बाद एक, बदलती हुई अनेक घटनाएँ कौतूहलोद्बोधक तथा चमत्कारपूर्ण हैं। कुछ घटनाएँ निम्नलिखित हैं—

१. उपन्यासारंभ में समुद्री तुफान का आना।

२. रत्ना-यशवन्त तथा इट्ठा-बर्लीकर दोनों युग्मों के पारस्परिक संघर्ष की घटना।

३. माणिक के डूबने-बचने तथा बहादुरी की रोमांचकारी घटनापरक कहानी।

४. रत्ना को विष देने की सनसनीपूर्ण घटना।

५. जागला का बाउला को मारना।

६. विट्ठल की जागला को मार-पीट। उनका प्रस्थान, इट्ठा की चोरी, और वंशी का जागला को राज़ी कर इट्ठा से अचानक शादी करा देना।

७. यशवन्त का वर्लीलर को मारना।

८. माणिक का गर्भिणी दुर्गा को लात मारना।

९. दुर्गा का हैज़ाग्रस्त होना।

१०. दुर्गा का अपने पति और अपनी माँ के आपसी अनैतिक सम्बन्धों पर सन्देह प्रकट करना।

११. माणिक का दुर्गा-काँतिलाल-सम्बन्ध पर शक करना।

१२. दुर्गा-काँतिलाल को जेल तथा माणिक का पुनः शक करना।

१३. दुर्गा के पागल होने और अन्ततः मरण की मार्मिक घटना।

१४. रत्ना पर लक्ष्मण तथा काशीनाथ के बलात्कार का प्रयास और उनकी खातिरदारी।

१५. रत्ना की माणिक को मार-पीट।

१६. 'चाल' क्षेत्र की घटनाएँ[१]—कुमारी लड़की को गर्भ।

१७. रूठे यशवन्त से रत्ना का मार्मिक मिलन।

१८. रंगनाथ का माणिक की वास्तविकता का भंडाफोड़ करना।[२]

१९. रामू-छंगामल का बलात्कार-प्रयास और रत्ना का सत्कार'[३]।

२०. रत्ना की धीरूवाला की गत बनाना।[४]

२१. रत्ना-वंशी के संयोग-मिलन की घटना।

ये घटनाएँ मिलकर उपन्यास में पर्याप्त रोचकता लाती हैं किन्तु प्रायः गम्भीर प्रभाव नहीं डालतीं। इसका कारण यह है कि इनमें मानव-मन को उद्वेलित करने या विचारोद्बोधन की शक्ति कम है। फिर भी पात्रों के शील-विकास में इनका यत्किंचित् योग है और मुख्यतः ये कथा को अग्रसर करती हैं।

इस उपन्यास को पात्रों के आधार पर चार परिच्छेदों में विभक्त किया गया है। किन्तु यह विभाजन स्थूल है; जैसे, 'यशवन्त' परिच्छेद में यशवन्त से अधिक, और उससे नितांत असम्बद्ध, रत्ना-डाक्टर का प्रसंग है। वस्तुतः इस विभाजन का मूल लक्ष्य कथा-संयोजन की सुविधा तथा कुशलता की सिद्धि में है। जैसे, 'रत्ना' परिच्छेद में रत्ना और माणिक के सम्बन्ध को पर्याप्त बढ़ा कर अपूर्ण रहने दिया गया है और दूसरे परिच्छेद 'माणिक' का आरम्भ हो जाता है। तात्पर्य यह है कि

---

१. "सागर लहरें और मनुष्य", पृ० १८७-८९। २. वही, पृ० २२८।
३. वही, पृ० २५५-५६। ४. वही, पृ० २८३।

पूर्व-प्रचलित प्रसंग के सम्बन्ध में पाठक की उत्सुकता को स्थिर रखते हुए दूसरे प्रसंग को आरम्भ कर दिया गया है। 'माणिक' परिच्छेद में कथा-काल-विपर्यय-पद्धति से माणिक की रत्ना-मिलन से पूर्व की दीर्घ कहानी को कुशलता से ग्रथित किया गया है। तीसरे परिच्छेद में रत्ना-माणिक के प्रसंग को असमाप्त रख—और इस प्रकार पाठकों की उत्सुकता-सजग रखते हुए—यशवन्त के माध्यम से अंचल-कथा का आरम्भ कर दिया गया है। चौथे परिच्छेद में रत्ना-धीरूवाला प्रसंग की समाप्ति के बाद, रत्ना और कथा में नए मोड़ की सूचना, कहानी के तार की कड़ी तोड़ कर अंतराल-चिन्हों से दे दी गई है और रत्ना-डाक्टर के नूतन प्रसंग का आरम्भ, बिना किसी भूमिका के, वार्तालापात्मक नाटकीय रोचकता से किया गया है[1]। दोनों के सम्बन्ध का भूमिका-भाग आगे काल-विपर्यय से दे दिया है। इसी प्रसंग में रत्ना की कथा को अंचल-कथा से संयुक्त करने के लिए लेखक ने संयोग-तत्व से काम लिया है—रत्ना जिस चिकित्सालय में काम करती है, उसकी माँ वंशी भी उपचार के लिए वहीं आती है और उसके साथ गाँव के अन्य लोग भी। इस प्रकार सबका संयोग-मिलन होता है। लेखक ने कथा में पहले भी कुछ स्थलों पर संयोग-तत्व का उपयोग किया है।[2]

कथा-गति को तीव्र रखने में लेखक की दृष्टि सतत रही है। एक तो निबन्ध तत्व के अभाव तथा वर्णन-व्यर्थता के बचाव से इसकी सिद्धि हुई है; दूसरे, अनेक घटनाओं को साक्षात घटित होने हुए नहीं दिखाया गया, बल्कि सम्बन्धित पात्रों के द्वारा इन्हें वर्णित कर दिया गया है; जैसे, यशवन्त-बर्लीकर, रत्ना-लक्षमण, तथा रत्ना-धीरूवाला के संघर्ष की घटनाएँ यशवन्त या रत्ना द्वारा समुचित ब्योरों से सुना दी गई हैं। इससे, एक बार घटित करने तथा दूसरी बार सुनाने की, पुनरुक्ति भी नहीं होने पाती और श्रोता पात्रों की प्रतिक्रियाओं का पता भी चलता रहता है। कथा का उपसंहार करते हुए लेखक ने आँचलिक कथा को पूर्णता देने के लिए एक-साथ अनेक पूर्वघटित बातों की सूचना दे दी है। यह कुछ स्वाभाविकता से इस रूप में हो सका है कि विट्ठल अपनी लड़की से बहुत दिनों बाद मिला था और उसे अपने गाँव-घर के विभिन्न समाचार देने थे[3]। फिर भी कथा-संयोजन का यह प्रभावी साधन नहीं कहा जा सकता।

'भट्ट' जी ने कथावस्तु में कहीं-कहीं रहस्य-तत्व के कुशल विनियोग से भी

---

१. "सागर लहरें और मनुष्य", पृ० २८५।

२. जैसे दूसरी बार दुर्गा को कांतिलाल का मिलना तथा रंगनाथ का माणिक को।

३. "सागर लहरें और मनुष्य", पृ० ३१०।

रोचकता लाने का प्रयत्न किया है। उपन्यास के अन्तिम प्रसंग में यह देखा जा सकता है। रत्ना और वंशी को मिलाने में नाटकीय व्यंग्य की झलक भी मिलती है।

कथाकार कथा-संगति या चरित्र-संगति के लिए आगे या अन्त की बातों का पूर्वाभास दिया करते हैं। 'भट्ट' जी ने भी रत्ना के नर्स बनने का पूर्वाभास देने के लिए ही एक विशेष प्रसंग में उससे इट्ठा की नर्सवत् सेवा कराई है और अस्पताल की एक नर्स से कहलाया है—"रत्ना, यू केन ए वेरी गुड नर्स"[१]।

भट्ट जी ने चरित्र-चित्रण पर पर्याप्त ध्यान दिया है परन्तु इसमें उनको सीमित सफलता ही मिली है। सागर-लहरों से संघर्षरत मानव की कहानी कहने के लिए पात्रों में जैसी सजीवता वाँछित हो सकती है, वह इन पात्रों में पर्याप्त है। भट्टजी यथार्थ से आदर्श की ओर बढ़े हैं तथा उन्होंने अपनी आत्माभिव्यक्ति के लिए किसी सर्वगुण-सम्पन्न पात्र की योजना नहीं की, इसलिए उन्होंने अधिकाँशतः गतिशील पात्रों को लिया है। सारिका अवश्य स्थिर पात्री है और रत्ना की सचेतक तथा उससे तुलना का आधार भी। लेखक ने उसके माध्यम से अनेक स्थलों पर आत्माभिव्यक्ति की है। माणिक को परिस्थितियों के प्रभाव से अच्छे-बुरेपन के 'फिट्स' आते रहते हैं।[२] लेखक ने संगति देने के लिए उसके विकास-क्रम को जन्म से स्पष्ट किया है, ताकि उसकी मूल प्रेरक शक्तियों का पता चल सके। संस्कारों की गहराई के अभाव में वह कभी दृढ़ नहीं रहता। बचपन से ही माँ-बाप के प्यार से वंचित तथा घोर अभावों में पलने के कारण वह मूलतः स्वार्थी, असामाजिक और रुपया-प्रेमी बन गया है।[३] उसके चटक-मटक से रहने की मध्यवर्गीय मनोवृत्ति ने रुपए की आवश्यकता को और भी बढ़ा दिया है। इसलिए कमाई के लिए वह कमीनगी की सीमा का अतिक्रमण करता है···अपनी स्त्री के रूप से भी वह पैसा कमाने का प्रयत्न करता है। खेद की बात यह है कि लेखक ने उसे अपने जीवन के दीर्घ अनुभवों से सीखने में कोई सहायता नहीं दी। इसलिए एक तो अपने अनुभवों से सीखने वाले दूसरे पात्रों की तुलना में उसका चारित्रिक अन्तर स्पष्ट नहीं हो पाया। दूसरे, उसके जीवन को

---

१. "सागर लहरें और मनुष्य", पृ० ५५। २. वही, पृ० २४७।

३. एडलर के इस मत के आलोक में उसके चरित्र को समझा जा सकता है—

"One can state as a fundamental law that children who come into the world with organ inferiorities become involved at an early age in a bitter struggle for existence which results only too often in the strangulation of their social feelings. Instead of interesting themselves in an adjustment to their fellows, they are continually preoccupied with themselves and with the impression which they make on others."—"Understanding human nature", trans. by Waltev Beran Wolfe.

अनेक घटनाएँ, केवल घटनाओं के लिए होने का प्रतिभास देती है। डॉक्टर पांडुरंग का पूर्ववृत्त इसलिए दिया गया, ताकि पतित रत्ना को स्वीकार करने की उसकी आदर्शवादिता स्पष्ट हो सके। वह स्वयं उसी छलमय प्रेम का शिकार हो चुका था, जिनसे रत्ना को गुज़रना पड़ा। सफलता के लिए उसे भी संघर्ष करना पड़ा और उसने भी मानों नई जिन्दगी में कदम रखा था। इसीलिए वह रत्ना को सहानुभूति दे सका और क्रमशः उसे अपना सका। प्रमुख पात्री रत्ना के शील-विराग के गति-क्रम के विश्लेषण में लेखक ने कारण-तत्वों का विशेष उल्लेख किया है। पुरुषों पर शासनाधिकार की वृत्ति, निडरता तथा उग्रता आदि के आत्मरक्षक तथा अनाचार-विरोधक गुण उसका—कोली स्त्री होने के नाते- -जातीय स्वभाव है तथा सागरवत् संघर्षों से जूझने की हिम्मत अंचलीय विशिष्टता। वैभव-विलास-लालसा, बड़प्पन-प्रियता और जीवट माँ से अर्जित संस्कार हैं। संगति-सम्पर्क (माणिक तथा बम्बई) ने इन्हें बढ़ावा दिया। अल्पशिक्षा, अविकसित मानसिक स्तर तथा सुसंस्कारों के अभाव ने उसे वास्तविकता से अनभिज्ञ रखकर मूल व्यवसाय एवं अंचल से विरत किया। विपत्तियों ने उसे धीरे-धीरे सेवा की सम्पत्ति तथा संघर्ष की हिम्मत दी। फिर भी रत्ना के चरित्र-चित्रण की कमी का विस्मरण नहीं किया जा सकता। लेखक ने पहले उसकी काम-भावना को प्रदर्शित करने के लिए अनेक प्रसंगों की सृष्टि की है और बाद में उन्हीं का उपयोग नहीं किया --चरित्रांकन में योग न देकर घटनाएँ स्वतन्त्र रह गई हैं। रत्ना को अंचल से विरत रखकर डॉक्टर की ओर प्रेरित करने में रत्ना के अपने अनुभवों का नहीं, लेखक का हाथ है। वंशी को उसकी व्यवहार-कुशलता ने अंचल में सम्मान दिया, कार्य-कुशलता ने समृद्ध किया, उसकी विलास-लालसा तथा अपार वात्सल्य ने इकलौती रत्ना को बिगाड़ा, उसकी वैभव-लालसा तथा अहंकार ने रत्ना को माणिक से शादी की अनुमति दी, वियोग-वात्सल्य तथा (यशवन्त जैसे) अच्छे जंवाई को खोने और (माणिक-जैसे) बुरे को पाने के पश्चात्ताप ने संवेदनशील बनाया और अन्त में संस्कृति-सम्पर्क (यशवन्त के सेवा-सदाचार) ने उसे सेवा की ओर उन्मुख कर यशवन्त को अपना लड़का बनाने की प्रेरणा दी। कहा जा सकता है कि यशवन्त के रत्ना-प्रेम का नशा ही उसकी उत्कट सेवा में उदात्तीकृत हुआ है। किन्तु लेखक ने बरसोवा अंचल के नैतिक स्तर का जैसा चित्रण किया है, यशवन्त के चिर अविवाहित रहने की चरित्र-परिणति उसके विपरीत है। इस दृष्टि से उसमें अंचलीय विशेषता से कहीं अधिक व्यक्तिगत विशिष्टता आ गई है। दूसरे अनेक नारियों को आकर्षित करने वाली उसकी भरपूर जवानी तथा तगड़ा डील-डौल भी लेखक के आरोपित आदर्श के कारण कुण्ठित हो गया है। अतएव उसका चरित्र-विकास कृत्रिम ही कहा जा सकता है।

प्रमुख पात्रों—रत्ना, यशवन्त—के चरित्र-विकास में यद्यपि लेखक मनोवैज्ञानिक

संगति का समुचित निर्वाह नहीं कर सका तथापि कुछ गौण पात्रों का चित्रण-विश्लेषण अच्छा हुआ है। उदाहरणतया भट्ट जी ने पात्रों के स्वभाव-विपरीत या अनहोने कर्मों की प्रेरणाओं का व्यावहारिक मनोविज्ञान-सम्मत विश्लेषण किया हैं; यथा, झगड़े के कारण वंशी-रत्ना का बाउला-बर्लीकर-सोमा से तथा इनकी समर्थिका इट्ठा से वैर-विरोध है, किन्तु विपत्ति के समय दोनों इट्ठा की सेवा करने लगती हैं। इस विपरीत आचरण के मूल में निहित मनोभावों का विश्लेषण इस प्रकार हुआ है—"इट्ठा को अच्छा करने में जहाँ उस (वंशी) के मन की दयालुता और यश पाने की इच्छा थी, वहाँ बर्लीकर-बाउला और सोमा को वह यह भी दिखाना चाहती थी कि वंशी महान् औरत है। फिर उससे बोला की हार भी होती है कि चाहने पर भी बाउला बर्लीकर से इट्ठा की शादी नहीं कर सका।...उसके मन में सोमा से बदला लेने का यह भाव ज़ोर पकड़ रहा था।...फिर उसके जी में आया कि उसके चाहने पर ही जागला इट्ठा से शादी कर सकता है, यह कितना बड़ा अधिकार है उसका! वह गर्व से फूल उठी"[1]। (हम अंचल की कहानी में स्पष्ट कर चुके हैं कि) जागला-जैसे जड़वत् पात्र – "जो शरीर की क्रिया के अलावा और कुछ नहीं होते"—में भी लेखक ने वांछित अन्तर्द्वन्द्व[2] तथा नई चेतना की लहर से प्रभावित होने का समुचित परिचय दिया है। इस तरह लेखक ने पात्रों को सजीव बनाने का यत्न किया है।

धीरूवाला का चरित्र-चित्रण अतिरंजित तथा अनुपयुक्त है। माटकेकर की जो झांकी दी गई है, वह भ्रम में डालने वाली है। सारिका-जैसी समझदार तथा माटकेकर-जैसे चलते-पुरज़े पात्र धीरूवाला की असलीयत को जाँचे-परखे बिना ही रत्ना और धीरूवाला के पारस्परिक परिचय में जैसे सहायक होते हैं, वह भी अनुचित है। कम से कम वे धीरूवाला पर कुछ सन्देह का संकेत तो दे ही सकते थे। आख़िर सारिका रत्ना की एक मात्र सखी है। माटकेकर की औपन्यासिक सार्थकता ही क्या है? उसकी पहली झांकी से जो विशेषताएँ झलकती हैं, उनका बाद में कुछ उपयोग नहीं हुआ। सारिका के जीवन के चरित्रांकन की रेखाएँ कुछ अधिक होतीं, तो उसकी सार्थकता में और सौदर्न्य आता तथा मध्यवर्गीय समस्या के प्रतिपादन में अधिक गहराई। माणिक और कांतिलाल के आपसी सम्बन्धों में अपेक्षित स्पष्टता नहीं आ सकी।

लेखक ने प्रमुख ही नहीं, अनेक गौण पात्रों का बाह्य चरित्र-चित्रण भी किया है। कथा में यह बड़े उपयुक्त अवसरों पर किया गया है और यह रस्मी ही नहीं इसकी औपन्यासिक सार्थकता है। अशिक्षित तथा मज़दूर लोगों के लिए शारीरिक बल का अपेक्षाकृत अधिक महत्व होता है—कायिक कार्य तथा काम-तृप्ति दोनों के लिए।

१. "सागर लहरें और मनुष्य", पृ० ६२। २. वही, पृ० ६२-६३, ६६-६७।

इसलिए यशवन्त का विभिन्न अवसरों पर छह-सात बार बाह्य चित्रण किया है।[1] और उसकी भरपूर जवानी ने कितनों में स्वाभाविक अन्तर्द्वन्द्व की सृष्टि की है। रत्ना को माणिक के हाथ सौंपते हुए, वंशी के विचलित होने का सर्वप्रमुख कारण यशवन्त का डील-डौल है। रत्ना के चरित्र-विकास की अस्वाभाविकता इसी से और भी बढ़ जाती है।

'सागर लहरें और मनुष्य' में वर्णन और वार्तालाप का सानुपातिक संयोग है। लेखक की सामान्य वर्णन-शैली व्यावहारिक है, किन्तु प्रकृति के दृश्य-चित्रणों में काव्योचित सौन्दर्य उल्लेखनीय है। वर्णन से वार्तालाप में सौन्दर्य अधिक है। वार्तालाप की स्वाभाविकता तथा विशिष्टता अंचलीय रंगत में है। यह रंगत भाषागत ही नहीं, व्यवसाय-वातावरण के अनुकूल शब्द-चयन, उपमाओं, उदाहरणों में सर्वत्र देखी जा सकती है। यह स्वाभाविक है कि पात्र अपने अनुभव-क्षेत्र—व्यवसाय तथा आवेष्टन—की शब्दावली में सोचें-समझाएँ। यहाँ अँचल-विशेष के पात्र मछली मारने के व्यवसाय तथा समुद्र-सम्बन्धित शब्दावली तथा परम्पराओं में बात करते हैं। कुछ उदाहरणों से हमारी बात स्पष्ट हो जाएगी। यशवन्त कुछ शिक्षा प्राप्त कर पहली बार जैसा भाषण देने खड़ा होता है, उसका स्वरूप देखिए—हमें अपने व्यापार को बढ़ाना चाहिए। हमारा व्यापार सोने का व्यापार है। जब अर्जुन ने राजा द्रुपद की सभा में मछली को बींधा, उसे द्रौपदी जैसी सुन्दर कन्या मिली, लक्ष्मी मिली, यश मिला। इस तरह हम भी समुद्र के भीतर बसने वाली मछली को ठीक-ठीक ढंग से पकड़कर बेंध सकें तो लक्ष्मी हमारे पास होगी। मछली बहुत शुभ शकुन माना गया है।..."[2] मछली-मारने की पृष्ठभूमि पर भाषागत आँचलिकता के साथ, यशवन्त एवं रत्ना की निम्न शृंगारिक नोक-झोंक पठनीय है—

रत्ना ने पूछा—"क्या आज समुद्र नई जायेंगा यशवन्त ?"

"केवल डूबने कू जा सकेंगा रत्ना, जर तू बोले तो।"

रत्ना हँसी के मूड में थी, बोली—

"डूबने का पाड़ी आवे से पहले कोई तुजकू बांध लेयेंगा यशवन्त।"

"जर बाँधने वाला खुद ई कोई और के चक्कर में होयेंगा तो"

"तूई पहले जाल डाल न यशवन्त" इट्ठा ने रुककर कहा।

"कदाच हमारा जाल का डोरी कच्चा हे इट्ठा।"

"कच्चा डोरी चलने वाला हमेशा धोखा खाताय। पन जाल में नाका मगर नई आता। बड़ा ह्वेल बी नई।" रत्ना ने कहा।

---

१. "सागर लहरें और मनुष्य", पृ० ७७, ७८, ९७, १०३ आदि।

२. वही, पृ० २३५

इट्टा बोली, "रत्ना टांगरा नई है, व्हेल हे व्हेल।"

"उसके लिए कोई जाल नई है हमारा पास।"[१]

शृंगारिक क्षेत्र के संवाद आपसी नोंक-झोंक की सरलता लिए हैं।[२] मनःस्थिति तथा स्वभाव के अनुकूल इट्टा-जागला के संवाद सुन्दर हैं।[३] लेखक की अपनी भाषा में आँचलिकता नहीं, किन्तु पात्र सर्वत्र अंचलीय भाषा में बात करते हैं। अंचलेतर पात्रों में भी सर्वत्र भाषागत स्वाभाविकता है। धीरूबाला अंग्रेज़ी शब्दों तथा वाक्यों का प्रयोग अधिक—कहीं-कहीं अनुचित सीमा तक—करता है। पठान जमादार को जब यह कहा जाता है कि वह गाली क्यों देता है तो वह आदत के मुताबिक अपने आपको गाली देकर उत्तर देता है।[४] गुंडे शंकर की भाषा शोख़ है।[५] शिक्षित सारिका की भाषा शुद्ध हिन्दी है। रत्ना जब अपने गांव वालों से बोलती है, तो अंचलीय भाषा में, किन्तु नागरिक सारिका के साथ शुद्ध हिन्दी में। सारांशतः इस उपन्यास के संवाद वातावरण-विधायक, शील-प्रकाशक तथा कथा-अग्रसरक हैं। ये प्रायः संक्षिप्त हैं, अतएव कथा की सहज गति में ये कहीं बाधक नहीं हुए।

विनयमोहन शर्मा ने इस उपन्यास की आंचलिक भाषा पर एक आपत्ति की है। उनके अनुसार "क्षेत्रीय-भाषा के प्रयोग में लेखक को भ्रांति हो गई है। उपन्यास में उसने बम्बई के समुद्री किनारे पर रहने वाले मछुओं के जीवन का चित्रण किया है और मछुओं से आपस में विकृत हिन्दी—बम्बइया हिन्दी—का प्रयोग कराया है। वास्तव में वहाँ के मछुओं की भाषा मराठी है, वे आपस में मराठी ही बोलते हैं, जब मराठीतर भाषी से बातचीत करते हैं तब अवश्य बम्बइया हिन्दी का प्रयोग करते हैं। लेखक ने मछुओं से आपस में विकृत हिन्दी का प्रयोग करवाया है, जिससे उसमें अस्वाभाविकता आ गई है।"[६] वस्तुतः इस अस्वाभाविकता का सम्बन्ध उस क्षेत्र के जानकार लोगों के लिए हो सकता है, सामान्य पाठकों को इसका अनुभव नहीं होता।

लेखक ने कुछ आँचलिक शब्दों के कोष्ठ में अर्थ दिए हैं, किन्तु अनेक ऐसे ही रह गए हैं और उनका अर्थ जानने में कठिनाई हो सकती है; जैसे 'माहेती', 'पू',

---

१. "सागर लहरें और मनुष्य", पृ० १०२।

२. वही, पृ० १००-१०२-२२०-२१।   ३. वही, पृ० ६४-६५।

४. वही, पृ० १४८।   ५. वही, पृ० १९४-९५।

६. "शिल्प की दृष्टि से कतिपय आधुनिकतम उपन्यास", 'साहित्य शोध और समीक्षा', पृ० १४२।

इसलिए यशवन्त का विभिन्न अवसरों पर छह-सात बार बाह्य चित्रण किया है।[1] और उसकी भरपूर जवानी ने कितनों में स्वाभाविक अन्तर्द्वन्द्व की सृष्टि की है। रत्ना को माणिक के हाथ सौंपते हुए, वंशी के विचलित होने का सर्वप्रमुख कारण यशवन्त का डील-डौल है। रत्ना के चरित्र-विकास की अस्वाभाविकता इसी से और भी बढ़ जाती है।

'सागर लहरें और मनुष्य' में वर्णन और वार्तालाप का सानुपातिक संयोग है। लेखक की सामान्य वर्णन-शैली व्यावहारिक है, किन्तु प्रकृति के दृश्य-चित्रणों में काव्योचित सौन्दर्य उल्लेखनीय है। वर्णन से वार्तालाप में सौन्दर्य अधिक है। वार्तालाप की स्वाभाविकता तथा विशिष्टता अंचलीय रंगत में है। यह रंगत भाषागत ही नहीं, व्यवसाय-वातावरण के अनुकूल शब्द-चयन, उपमाओं, उदाहरणों में सर्वत्र देखी जा सकती है। यह स्वाभाविक है कि पात्र अपने अनुभव-क्षेत्र—व्यवसाय तथा आवेष्टन—की शब्दावली में सोचें-समझाएँ। यहाँ अँचल-विशेष के पात्र मछली मारने के व्यवसाय तथा समुद्र-सम्बन्धित शब्दावली तथा परम्पराओं में बात करते हैं। कुछ उदाहरणों से हमारी बात स्पष्ट हो जाएगी। यशवन्त कुछ शिक्षा प्राप्त कर पहली बार जैसा भाषण देने खड़ा होता है, उसका स्वरूप देखिए—हमें अपने व्यापार को बढ़ाना चाहिए। हमारा व्यापार सोने का व्यापार है। जब अर्जुन ने राजा द्रुपद की सभा में मछली को बींधा, उसे द्रौपदी जैसी सुन्दर कन्या मिली, लक्ष्मी मिली, यश मिला। इस तरह हम भी समुद्र के भीतर बसने वाली मछली को ठीक-ठीक ढंग से पकड़कर बेंध सकें तो लक्ष्मी हमारे पास होगी। मछली बहुत शुभ शकुन माना गया है।...''[2] मछली-मारने की पृष्ठभूमि पर भाषागत आँचलिकता के साथ, यशवन्त एवं रत्ना की निम्न शृंगारिक नोक-झोंक पठनीय है—

रत्ना ने पूछा—''क्या आज समुद्र नई जायेंगा यशवन्त ?''

''केवल डूबने कू जा सकेंगा रत्ना, जर तू बोले तो।''

रत्ना हँसी के मूड में थी, बोली—

''डूबने का पाड़ी आवे से पहले कोई तुजकू बांध लेयेंगा यशवन्त।''

''जर बाँधने वाला खुद ई कोई और के चक्कर में होयेंगा तो''

''तूई पहले जाल डाल न यशवन्त'' इट्ठा ने रुककर कहा।

''कदाच हमारा जाल का डोरी कच्चा हे इट्ठा।''

''कच्चा डोरी चलने वाला हमेशा धोखा खाताय। पन जाल में नाका मगर नई आता। बड़ा ह्वेल बी नई।'' रत्ना ने कहा।

---

१. ''सागर लहरें और मनुष्य'', पृ० ७७, ७८, ९७, १०३ आदि।

२. वही, पृ० २३५

इट्टा बोली, "रत्ना टांगरा नई है, ह्वेल हे ह्वेल।"

"उसके लिए कोई जाल नई है हमारा पास।"[१]

शृंगारिक क्षेत्र के संवाद आपसी नोंक-झोंक की सरलता लिए हैं।[२] मनःस्थिति तथा स्वभाव के अनुकूल इट्टा-जागला के संवाद सुन्दर हैं।[३] लेखक की अपनी भाषा में आँचलिकता नहीं, किन्तु पात्र सर्वत्र अंचलीय भाषा में बात करते हैं। अंचलेतर पात्रों में भी सर्वत्र भाषागत स्वाभाविकता है। धीरूबाला अंग्रेज़ी शब्दों तथा वाक्यों का प्रयोग अधिक—कहीं-कहीं अनुचित सीमा तक—करता है। पठान जमादार को जब यह कहा जाता है कि वह गाली क्यों देता है तो वह आदत के मुताबिक अपने आपको गाली देकर उत्तर देता है।[४] गुंडे शंकर की भाषा शोख़ है।[५] शिक्षित सारिका की भाषा शुद्ध हिन्दी है। रत्ना जब अपने गांव वालों से बोलती है, तो अंचलीय भाषा में, किन्तु नागरिक सारिका के साथ शुद्ध हिन्दी में। सारांशतः इस उपन्यास के संवाद वातावरण-विधायक, शील-प्रकाशक तथा कथा-अग्रसरक हैं। ये प्रायः संक्षिप्त हैं, अतएव कथा की सहज गति में ये कहीं बाधक नहीं हुए।

विनयमोहन शर्मा ने इस उपन्यास की आंचलिक भाषा पर एक आपत्ति की है। उनके अनुसार "क्षेत्रीय-भाषा के प्रयोग में लेखक को भ्रांति हो गई है। उपन्यास में उसने बम्बई के समुद्री किनारे पर रहने वाले मछुओं के जीवन का चित्रण किया है और मछुओं से आपस में विकृत हिन्दी—बम्बइया हिन्दी—का प्रयोग कराया है। वास्तव में वहाँ के मछुओं की भाषा मराठी है, वे आपस में मराठी ही बोलते हैं, जब मराठीतर भाषी से बातचीत करते हैं तब अवश्य बम्बइया हिन्दी का प्रयोग करते हैं। लेखक ने मछुओं से आपस में विकृत हिन्दी का प्रयोग करवाया है, जिससे उसमें अस्वाभाविकता आ गई है।"[६] वस्तुतः इस अस्वाभाविकता का सम्बन्ध उस क्षेत्र के जानकार लोगों के लिए हो सकता है, सामान्य पाठकों को इसका अनुभव नहीं होता।

लेखक ने कुछ आँचलिक शब्दों के कोष्ठ में अर्थ दिए हैं, किन्तु अनेक ऐसे ही रह गए हैं और उनका अर्थ जानने में कठिनाई हो सकती है; जैसे 'माहेती', 'पू',

---

१. "सागर लहरें और मनुष्य", पृ० १०२।

२. वही, पृ० १००-१०२-२२०-२१। ३. वही, पृ० ६४-६५।

४. वही, पृ० १४८। ५. वही, पृ० १६४-६५।

६. "शिल्प की दृष्टि से कतिपय आधुनिकतम उपन्यास", 'साहित्य शोध और समीक्षा', पृ० १४२।

'पाटी', 'माच', 'पाहिजे', 'लुकन ठेली', 'नक्की', 'बध्धा' । फिर भी, कठिन शब्दों का प्रसंग से यत्किंचित् अर्थ-संकेत मिल जाता है ।

समग्रालोचन के बाद कहा जा सकता है कि 'सागर लहरें और मनुष्य' कथानक-प्रधान अंशतः आँचलिक एवं सामाजिक उपन्यास है । प्रमुख उद्देश्यों के असमन्वित विनियोग, आरोपित अन्त तथा मुख्य पात्रों की चारित्रिक असंगति ने उपन्यास के प्रभाव को परिसीमित कर दिया है । इसकी मुख्य सफलता घटना वैचित्र्यजन्य मनोरंजन तथा कथानक के आँचलिक भाग के सूक्ष्म-यथार्थ चित्रण में है ।

पांचवाँ अध्याय

अन्तरंग चरित्र-प्रधान उपन्यास : सामान्य विशेषताएँ

सामान्य चरित्र-प्रधान

जहाँ उपन्यास के आकर्षण, उद्देश्य तथा विधान का केन्द्र चरित्र होते हैं, उसे चरित्र-प्रधान उपन्यास कहते हैं। चरित्र-प्रधान उपन्यास में उपन्यास के अन्य सभी तत्व चरित्रों के निमित्त या उन्हीं के अधीन होते हैं। सभी परिस्थितियाँ तथा सभी घटनाएँ चरित्रांकन में योग देती हैं। कथा का महत्व यहाँ नहीं होता, जिस चरित्र की कथा कही जाती है उसी का महत्व होता है।[1] यहाँ कथा चरित्रों को नहीं, चरित्र कथा का सर्जन करते हैं, अतएव कथा गौण होती है। पात्रों की जीवन-गति कथा को स्वरूप देती है। अतएव कथानक समनुगत (coherent)[2] नहीं रह पाता और प्राय: शिथिल तथा सरल होता है।[3] कथागत कौतूहल का स्थान पात्रों की मनोविज्ञान-सम्मत विविध सम्भावनाओं, या उनके अन्तर की रहस्यमयी प्रकृति को मिल जाता है; अथवा कथागत आकर्षण पात्रों के जीवंत सामाजिक संघर्ष, या उनकी संघर्ष से जनित करुण विफलता, या अनोखे व्यक्तित्व में अन्तर्भूत रहता है। संवाद भी कथा की अपेक्षा चरित्र को खोलते हैं। परिपार्श्व-चित्रण भी चरित्रों के निर्माण तथा अध्ययन के लिए होता है। उद्देश्य की सत्ता भी स्वतन्त्र नहीं रहती, वह चरित्रांकन से व्यंजित होता है। यों भी चरित्र-प्रधान उपन्यासकार अन्य उपन्यासकारों से तटस्थता की कला का अधिक ध्यान रखते हैं क्योंकि चारित्रिक प्रामाणिकता की सिद्धि में यह सहायक होती है। ये सभी विशेषताएँ अन्तरंग एवं बहिरंग चरित्र-प्रधान उपन्यासों की सामान्य विशेषताएँ हैं।

---

१. "शेखर : एक जीवनी", दूसरा भाग, पृ० २५३।

२. Stevenson : "The novel of character has this difference from all others : that it requires no coherency of plot."—Quoted from "Novelists on the Novel", p. 83.

३. Edwin Muir : "The structure of the Novel", p. 27.

अन्तरंग चरित्र-प्रधान

जिस उपन्यास में पात्रों के व्यक्त आचरणों की कारणभूत मूल-प्रेरणाओं की खोज बाह्य परिस्थिति में नही, उनके अन्तर्जीवन में की जाती है, उसे अन्तरंग चरित्र-प्रधान उपन्यास कहा जाता है। यहाँ पात्रों के बाह्य क्रिया-प्रतिक्रियाओं के व्यक्त यथार्थ के स्थान पर उनके अन्तर्लोक के अव्यक्त यथार्थ को महत्व दिया जाता है। उनके दृष्टिगोचर वास्तविक जीवन का नहीं, उस जीवन की संचालक मानसिक शक्तियों का उद्घाटन किया जाता है। यहाँ व्यक्ति और व्यक्ति के मध्य, या व्यक्ति और समाज के मध्य संघर्ष की अपेक्षा व्यक्ति का अपने आप से, अपने भीतर से बहुमुखी व्यक्तित्वों से संघर्ष मिलता है—ये बाह्य संघर्ष-प्रधान नहीं, अन्तःसंघर्ष-प्रधान उपन्यास होते है।

रहस्यमयी कथा के स्थान पर यहाँ पात्र रहस्यमय होते हैं। उनके भासमान व्यक्तित्व तथा वास्तविक व्यक्तित्व में, उनके सामाजिक व्यक्त स्वरूप तथा वैयक्तिक अव्यक्त स्वरूप में एक भेद-विशेष या वैषम्य रहता है।[१] वे इसी विरोध-विषमता के कारण वह कार्य नहीं कर पाते, जो उन्हें अभीष्ट होता है, और बहुधा वह कर बैठते हैं, जो अनेच्छित ही नहीं, कल्पनातीत भी होता है। मनोवैज्ञानिक शब्दावली में ये पात्रों के चेतन प्रयत्नों तथा अचेतन प्रेरकों के वैषम्य की विडम्बना है, जो उनके जीवन को ही अशांत नही रखती, समाज के लिए भी घातक सिद्ध हो सकती है। क्योंकि इस अचेतन में हमारी वे समग्र—अधिकांशतः बाल्यावस्था की—इच्छा-लालसाएँ परिसुप्त रहती हैं, जो सामाजिक अस्वीकृति एवं अमान्यता के कारण अपरितुष्ट रह जाती हैं। ये लालसाएँ प्रच्छन रूप में अपने निकास का मार्ग खोजती रहती हैं, किन्तु सामाजिक अवमानना के कारण दमित होकर व्यक्ति में अनेक कुंठाओं तथा अन्तर्मन के उन संघर्षों को जन्म देती है, जो व्यक्ति के संतुलन-स्वास्थ्य को विनष्ट किए रहते हैं। ये ग्रंथियाँ उनके असंगत आचरणों की कारण बनती हैं। इस तरह मनुष्य वह नहीं, जो ऊपर है, बहुत-कुछ वह है, जो वह भीतर है। अंतरंग चरित्र-प्रधान उपन्यासों में प्रायः वह मनुष्य के इसी अव्यक्त रूप एवं अचेतन प्रेरणाओं का मनोविश्लेषणात्मक अध्ययन किया जाता है। और इस अध्ययन में यह व्यंजना भी रहती है कि मनुष्य के अचेतन संस्कारों तथा उसकी सहजात वृत्तियों के तिरस्कार में नहीं, स्वीकार एवं परिष्कार में; दमन में नहीं, उन्नयन में; विध्वंसक विस्फोट में नहीं, नियमित प्रस्फुटन में

१. Edwin Muir : "The Structure of the Novel", p. 47.

"The novel of character brings out the contrast between appearance and reality, between people as they present themselves to the society and as they are."

व्यक्ति एवं समाज का कल्याण एवं निर्माण निहित है । इसलिए इन उपन्यासों के अन्त में प्रायः ग्रन्थिग्रस्त पात्र अपनी असंगतियों के मूल कारणों से परिचित—और मानों स्वस्थ—हो जाते हैं और पाठक भी उनसे तादात्म्य करने की अपेक्षा अपने प्रति सजग हो उठते हैं ।

यहाँ मुख्यतः व्यक्ति-पात्रों को लिया जाता है । उनके माध्यम से वैयक्तिक ही नहीं, सामाजिक समस्याओं का भी अध्ययन किया जाता है । वस्तुतः यहाँ सामाजिक चित्रण या सामाजिक समस्याओं की अपेक्षा नहीं होती, केवल दृष्टि-केन्द्र तथा मार्ग बदल जाता है—यहाँ व्यक्ति पर बल रहता है तथा उसके भीतर से समाज को समझने का प्रयास । जैसाकि इलाचन्द्र जोशी का मत है—"[illegible] ही संसार के महान् राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक चक्रों के बीज-रूप—बल्कि मूलगत प्रतीक और आधारभूत सिद्धान्त—हैं । जब तक आप इन व्यक्तिगत समस्याओं के भीतर निहित रूपों में विश्व के विराट् बाह्य जीवन-चक्र की समस्याओं को देखने की दृष्टि नहीं रखेंगे तब तक आप न तो यथार्थ प्रगति के रूप से परिचित हो सकते हैं, न साहित्य-कला के मूल प्राणों का विकास आप के आगे भासित हो सकता है[1] ।"

पात्रों के अचेतन के उद्घाटन के लिए मनोवैज्ञानिक उपन्यासकार अनेक साधनों का उपयोग करते हैं । अचेतन को उसके यथातथ्य अचेतन रूप में ही व्यक्त नहीं किया जा सकता है क्योंकि स्पष्टतया वह अज्ञात या अचेतन जो है । अतएव यही हो सकता है कि व्यक्ति की चेतन अभिव्यक्ति में उमगने या उभरने वाले प्रतीकों से उसका अनुमान लगाया जाए ।[2] इनमें संस्मृत स्वप्नों, वाणी[3] या लेखनी-स्खलन, या इसी प्रकार की नगण्य-सी छोटी-छोटी बातों, संकेतात्मक कर्मों[4] तथा बाह्य कार्यों को नियन्त्रित करने वाली मानसिक क्रिया-विधियों—उदात्तीकरण, युक्तिकरण (Rationalisation), स्थानान्तरण (transference) आदि का स्थान हो सकता है । इसके अतिरिक्त मनोवैज्ञानिक उपन्यासकार पात्रों के अचेतन के अनावरण में

---

१. "विवेचना", पृ० १७२ ।

२. Leon Edel : "The Psychologilcal Novel", p. 55.

"...the unconscious cannot be expressed in its own unconscious form, since obviously this is unconscious We can only infer it from symbols emerging in the conscious expression of the person, such as remembered dreams, fantasies, or slips of the tongue or of the pen."

३. इसके उदाहरण के लिए "बूँद और समुद्र" देखिए ।

४. Freud : "symptomatic & Chance Actions", "Psychopathology of Everyday life", p. 151-174.

मनोविश्लेषकों द्वारा प्रयुक्त अन्य अनेक विधियों—स्मृत्यवलोकन-विश्लेषण, शब्द-सहस्मृति परीक्षा (Word association test), पूर्ववृत्तात्मक प्रणाली आदि का उपन्यास की प्रकृति के अनुकूल रूपांतरित उपयोग करता है और पात्रों के विचित्र रहस्यमय कार्यों को संगति-स्पष्टता देता है। तात्पर्य यह है कि यहाँ चरित्र-चित्रण से अधिक चरित्र-विश्लेषण होता है और जटिल, अन्तर्मुखी, तथा अन्तर्द्वन्द्वों-अन्तर्विवादों से ग्रस्त, चिंतनरत मनःप्रधान पात्रों का प्रत्यक्षीकरण होता रहता है। इन उपन्यासों में पात्र स्वल्प लिए जाते हैं क्योंकि इनका विषय परिसीमित होता है—मुख्यतः अन्तर्लोक का उरेहण और उसमें भी किन्हीं विशिष्ट मानसिक पक्षों का विश्लेषण ही प्रमुख होता है। दूसरे, यहाँ सर्वांगीणता पर नहीं, गहराई तथा सूक्ष्मता पर दृष्टि रहती है और गहराई स्वल्प पात्रों को लेकर ही आ सकती है। जिन उपन्यासों में चरित्रांकन के साथ युग-जीवन का प्रतिबिम्ब दिया जाता है, वहाँ पात्रों की संख्या अवश्य बढ़ जाती है, किन्तु प्रधान पात्र एक या दो ही रहते हैं और वही सारे उपन्यास का केन्द्र होते हैं।

इन पात्रों में कोई न कोई मनोविश्लेषक या मनोविज्ञान की विशेष जानकारी रखने वाला पात्र अवश्य होता है। और लेखक नहीं, प्रायः वही विश्लेषण का कार्य करता है। इससे उस पात्र में असाधारणता बढ़ जाती है, किन्तु लेखक को तटस्थता की सिद्धि भी होती है। विश्लेषण को प्रत्योत्पादक बनाने के लिए तथा वैयक्तिक विषय के आग्रहवश यहाँ प्रायः आत्मकथात्मक शैली का आश्रय लिया जाता है। इस तरह प्रायः प्रधान-पात्र आत्मविश्लेषक होता है। और उसीके परिसीमित दृष्टिकोण से सारी कथा कही जाती है। इस तरह विषय के साथ प्रायः दृष्टिकोण का परिसीमन भी हो जाता है।

मूलकथा प्रायः छोटी होती है, किन्तु विश्लेषण-व्याख्या के कारण उसका कलेवर बढ़ जाता है। स्थूल घटनाएँ तथा संयोग-चमत्कार नहीं, मार्मिक अन्तर्द्वन्द्व, भाव-व्यवस्था, मार्मिक विश्लेषण तथा पात्रों के चरित्र-विकास की मनोवैज्ञानिक विविध सम्भावनाएँ ही ऐसे उपन्यासों की रोचकता का मुख्य आधार होती हैं। घटनाओं की अपेक्षा यहाँ घटनाभासों या स्थितियों तथा जीवन के साधारण एवं व्यंजक गति-लेशों का प्राधान्य रहता है।

इन उपन्यासों में पात्रों की मानसिकता से बँधे हुए व्यंजक संवादों का समुचित विनियोग रहता है। ऐसे उपन्यासों की भाषा-शैली का वैशिष्ट्य बौद्धिक सूक्ष्मता तथा व्यंजक क्षमता में है।

इस वर्ग में यहाँ तीन उपन्यास लिए गए हैं—'सुनीता', 'शेखर' तथा 'सन्यासी'। सभी मनोविश्लेषणात्मक हैं। 'सुनीता' परम्परित इतिहास-शैली में लिखा हुआ है,

'सन्यासी' आत्मविश्लेषणात्मक है तथा 'शेखर' आत्मसंस्मरणात्मक - जिसमें स्मृतियों के आधार पर आत्मविश्लेषण है। 'सन्यासी' में ग्रंथिग्रस्त मानव के समाजघाती रूप का अंकन, तथा कुछ सामाजिक आलोचना का समावेश है; 'सुनीता' में ग्रंथियुक्त पात्रों की युक्तिकरण प्रक्रिया के दार्शनिक पक्ष तथा प्रश्नता का प्राधान्य है तथा 'शेखर' में शास्त्र-सम्मत मनोवैज्ञानिकता के आलोक में गतिशील पात्र के क्रमिक चरित्र-विकास का निदर्शन अपने आप में सिद्धि है—यहाँ आत्मनिरीक्षण तथा आत्म-समीक्षण द्वारा आत्मोपलब्धि का प्रयत्न है। 'शेखर' में गत्यात्मक चरित्र के उत्तरोत्तर विरचन (gradual formation) का सौन्दर्य है तो 'सुनीता' में अपेक्षतया स्थिर पात्रों के विश्लिष्ट वियोजन (disintegration) का सौन्दर्य। 'सुनीता' में पूर्ववर्ती हिन्दी-उपन्यास-परम्परा की दृष्टि से कथा, चरित्रांकन, सप्रश्नता एवं भाव-विकास की दृष्टि से नव्यता है, तो 'शेखर' में अभिनव शिल्म-विधान का परिपूर्ण स्वरूप है। 'सन्यासी' के शिल्प में पूर्वपरम्परा के संस्कार सर्वाधिक हैं। इसमें कथानक के आत्म-विश्लेषण द्वारा उसके चरित्र का क्रमिक उद्घाटन है, उत्तरोत्तर विकास नहीं; फिर भी उसकी अन्तिम परिणति विकास की सूचक है।

सुनीता

'परख' (१९२९) के साथ जैनेन्द्र कुमार हिन्दी उपन्यास-जगत् में प्रवेश कर चुके थे, किन्तु उनकी ख्याति का आदि आधार १९३४ में प्रकाशित दूसरा उपन्यास 'सुनीता' है। पूर्ववर्ती औपन्यासिक परम्परा से विषय-चयन तथा शिल्प दोनों में नूतनता इसे युगप्रवर्त्तनकारी उपन्यास बना देती है। यह विचित्र संयोग था कि 'सुनीता' के रचना-काल (१९३५) के पास (१९३६ में) ही हिन्दी के महत्वपूर्ण उपन्यास 'गोदान' की रचना भी हुई, जिससे विषय-शिल्प में इसकी नूतनता अपनी तुलनात्मक विषमता में और भी सामने आ सकी। यह स्पष्ट हो गया कि बहिर्मुखी, सामाजिक, व्यावहारिक घटना-कथा-प्रधान, स्थूल-वर्णनात्मक शैली तथा विस्तृत भूमि से युक्त वृहद् उपन्यासों के स्थान पर अन्तर्मुखी, वैयक्तिक, मनोवैज्ञानिक, पात्र-प्रधान, (चरित्र-प्रधान) सूक्ष्म-सांकेतिक शैली तथा संकुचित पट-भूमि वाले लघु-उपन्यासों का श्रीगणेश हो रहा है। परम्परागत उपन्यासों के विषय-शिल्प में अभ्यस्त पाठकों-आलोचकों को इन नए उपन्यासों के समझने तथा मूल्यांकन में कठिनाई तथा भ्रांति हो सकती थी, इसलिए जैनेन्द्र जी को अपने नूतन विषय-शिल्प के स्पष्टीकरण में प्रस्तावनाएँ[1], प्रश्नोत्तर, निबन्ध[2] आदि लिखकर आलोचक का कार्य भी करना

१. "परख" और "सुनीता" की प्रस्तावना।
२. जैनेन्द्र : "साहित्य का श्रेय और प्रेय"।

मनोविश्लेषकों द्वारा प्रयुक्त अन्य अनेक विधियों—स्मृत्यवलोकन-विश्लेषण, शब्द-सहस्मृति परीक्षा (Word association test), पूर्ववृत्तात्मक प्रणाली आदि का उपन्यास की प्रकृति के अनुकूल रूपांतरित उपयोग करता है और पात्रों के विचित्र रहस्यमय कार्यों को संगति-स्पष्टता देता है। तात्पर्य यह है कि यहाँ चरित्र-चित्रण से अधिक चरित्र-विश्लेषण होता है और जटिल, अन्तर्मुखी, तथा अन्तर्द्वन्द्वों-अन्तर्विवादों से ग्रस्त, चिंतनरत मन:प्रधान पात्रों का प्रत्यक्षीकरण होता रहता है। इन उपन्यासों में पात्र स्वल्प लिए जाते हैं क्योंकि इनका विषय परिसीमित होता है—मुख्यतः अन्तर्लोक का उरेहण और उसमें भी किन्हीं विशिष्ट मानसिक पक्षों का विश्लेषण ही प्रमुख होता है। दूसरे, यहां सर्वांगीणता पर नहीं, गहराई तथा सूक्ष्मता पर दृष्टि रहती है और गहराई स्वल्प पात्रों को लेकर ही आ सकती है। जिन उपन्यासों में चरित्रांकन के साथ युग-जीवन का प्रतिबिम्ब दिया जाता है, वहाँ पात्रों की संख्या अवश्य बढ़ जाती है, किन्तु प्रधान पात्र एक या दो ही रहते हैं और वही सारे उपन्यास का केन्द्र होते हैं।

इन पात्रों में कोई न कोई मनोविश्लेषक या मनोविज्ञान की विशेष जानकारी रखने वाला पात्र अवश्य होता है। और लेखक नहीं, प्रायः वही विश्लेषण का कार्य करता है। इससे उस पात्र में असाधारणता बढ़ जाती है, किन्तु लेखक को तटस्थता की सिद्धि भी होती है। विश्लेषण को प्रत्ययोत्पादक बनाने के लिए तथा वैयक्तिक विषय के आग्रहवश यहाँ प्रायः आत्मकथात्मक शैली का आश्रय लिया जाता है। इस तरह प्रायः प्रधान-पात्र आत्मविश्लेषक होता है। और उसीके परिसीमित दृष्टिकोण से सारी कथा कही जाती है। इस तरह विषय के साथ प्रायः दृष्टिकोण का परिसीमन भी हो जाता है।

मूलकथा प्रायः छोटी होती है, किन्तु विश्लेषण-व्याख्या के कारण उसका कलेवर बढ़ जाता है। स्थूल घटनाएँ तथा संयोग-चमत्कार नहीं, मार्मिक अन्तर्द्वन्द्व, भाव-व्यवस्था, मार्मिक विश्लेषण तथा पात्रों के चरित्र-विकास की मनोवैज्ञानिक विविध सम्भावनाएँ ही ऐसे उपन्यासों की रोचकता का मुख्य आधार होती हैं। घटनाओं की अपेक्षा यहाँ घटनाभासों या स्थितियों तथा जीवन के साधारण एवं व्यंजक गति-लेशों का प्राधान्य रहता है।

इन उपन्यासों में पात्रों की मानसिकता से बँधे हुए व्यंजक संवादों का समुचित विनियोग रहता है। ऐसे उपन्यासों की भाषा-शैली का वैशिष्ट्य बौद्धिक सूक्ष्मता तथा व्यंजक क्षमता में है।

इस वर्ग में यहाँ तीन उपन्यास लिए गए हैं—'सुनीता', 'शेखर' तथा 'सन्यासी'। सभी मनोविश्लेषणात्मक हैं। 'सुनीता' परम्परित इतिहास-शैली में लिखा हुआ है,

'सन्यासी' आत्मविश्लेषणात्मक है तथा 'शेखर' आत्मसंस्मरणात्मक—जिसमें सहस्मृतियों के आधार पर आत्मविश्लेषण है। 'सन्यासी' में ग्रंथिग्रस्त मानव के समाजघाती रूप का अंकन, तथा कुछ सामाजिक आलोचना का समावेश है; 'सुनीता' में ग्रंथियुक्त पात्रों की युक्तिकरण प्रक्रिया के दार्शनिक पक्ष तथा प्रश्नता का प्राधान्य है तथा 'शेखर' में शास्त्र-सम्मत मनोवैज्ञानिकता के आलोक में गतिशील पात्र के क्रमिक चरित्र-विकास का निदर्शन अपने आप में सिद्धि है—यहाँ आत्मनिरीक्षण तथा आत्म-समीक्षण द्वारा आत्मोपलब्धि का प्रयत्न है। 'शेखर' में गत्यात्मक चरित्र के उत्तरोत्तर विरचन (gradual formation) का सौन्दर्य है तो 'सुनीता' में अपेक्षतया स्थिर पात्रों के विश्लिष्ट वियोजन (disintegration) का सौन्दर्य। 'सुनीता' में पूर्ववर्ती हिन्दी-उपन्यास-परम्परा की दृष्टि से कथा, चरित्रांकन, सप्रश्नता एवं भाव-विकास की दृष्टि से नव्यता है, तो 'शेखर' में अभिनव शिल्म-विधान का परिपूर्ण स्वरूप है। 'सन्यासी' के शिल्प में पूर्वपरम्परा के संस्कार सर्वाधिक हैं। इसमें कथानक के आत्म-विश्लेषण द्वारा उसके चरित्र का क्रमिक उद्घाटन है, उत्तरोत्तर विकास नहीं; फिर भी उसकी अन्तिम परिणति विकास की सूचक है।

सुनीता

'परख' (१९२९) के साथ जैनेन्द्र कुमार हिन्दी उपन्यास-जगत् में प्रवेश कर चुके थे, किन्तु उनकी ख्याति का आदि आधार १९३४ में प्रकाशित दूसरा उपन्यास 'सुनीता' है। पूर्ववर्ती औपन्यासिक परम्परा से विषय-चयन तथा शिल्प दोनों में नूतनता इसे युगप्रवर्त्तनकारी उपन्यास बना देती है। यह विचित्र संयोग था कि 'सुनीता' के रचना-काल (१९३५) के पास (१९३६ में) ही हिन्दी के महत्वपूर्ण उपन्यास 'गोदान' की रचना भी हुई, जिससे विषय-शिल्प में इसकी नूतनता अपनी तुलनात्मक विषमता में और भी सामने आ सकी। यह स्पष्ट हो गया कि बहिर्मुखी, सामाजिक, व्यावहारिक घटना-कथा-प्रधान, स्थूल-वर्णनात्मक शैली तथा विस्तृत भूमि से युक्त वृहद् उपन्यासों के स्थान पर अन्तर्मुखी, वैयक्तिक, मनोवैज्ञानिक, पात्र-प्रधान, (चरित्र-प्रधान) सूक्ष्म-साँकेतिक शैली तथा संकुचित पट-भूमि वाले लघु-उपन्यासों का श्रीगणेश हो रहा है। परम्परागत उपन्यासों के विषय-शिल्प में अभ्यस्त पाठकों-आलोचकों को इन नए उपन्यासों के समझने तथा मूल्यांकन में कठिनाई तथा भ्रांति हो सकती थी, इसलिए जैनेन्द्र जी को अपने नूतन विषय-शिल्प के स्पष्टीकरण में प्रस्तावनाएँ[1], प्रश्नोत्तर, निबन्ध[2] आदि लिखकर आलोचक का कार्य भी करना

१. "परख" और "सुनीता" की प्रस्तावना।

२. जैनेन्द्र : "साहित्य का श्रेय और प्रेय"।

पड़ा। यह उल्लेखनीय है कि अपनी कृतियों में हिन्दी-आलोचना-जगत् में बहुविवेचित 'सुनीता' के सम्बन्ध में उन्हें सर्वाधिक लिखना पड़ा। 'सुनीता' को पात्राधारित अभिधा देकर लेखक ने इस उपन्यास की चरित्र-प्रधानता की ओर इंगित कर दिया है। आलोचकों में भी इस उपन्यास को चरित्र-प्रधान उपन्यासों के वर्ग में रखने पर मतैक्य है।[1] एक विशेष लक्ष्यानुसार किन्हीं सीमित पात्रों का चरित्राध्ययन ही 'सुनीता' का लक्ष्य है। 'सुनीता' में सुनीता, श्रीकांत तथा हरिप्रसन्न के व्यक्तिगत जीवन की अपनी-अपनी ग्रंथियाँ हैं, अतएव इन्हीं के मनोविश्लेषणात्मक चरित्राध्ययन को लेकर 'सुनीता' का मुख्य मनोवैज्ञानिक उद्देश्य व्यंजित होता है।

'सुनीता' का एक दार्शनिक उद्देश्य भी है, जो कुछ ऊपरी है। पाठकों को पहले वही सामने दृष्टिगत होता है, अतएव पहले हम उसी के आधार पर पात्राध्ययन करेंगे।

जैनेन्द्र जी ने अपने साहित्य का लक्ष्य 'बुद्धि दुश्मनी' बताते हुए उसका स्पष्टीकरण इस प्रकार किया है—"बुद्धि द्वैत पर चलती है। इसलिए मेरे साहित्य का परम श्रेय तो हो रहता है अखंड और अद्वैत सत्य। उसी का व्यावहारिक रूप है समस्त चराचर जगत् के प्रति प्रेम, अनुकम्पा : यानी अहिंसा।"[2] 'सुनीता' की 'प्रस्तावना' में भी इस अद्वैत दर्शन का उल्लेख हुआ है[3] और अहिंसावादी दर्शन का प्रतिपादन इस उपन्यास का एक प्रमुख लक्ष्य भी है। सर्वप्रथम लेखक ने प्रमुख पात्रों का चुनाव इसी लक्ष्यानुकूल किया है; जैसे, एक पात्र (श्रीकांत) इस दर्शन का प्रतिनिधि तथा प्रयोगकर्ता है, दूसरा हिंसा में विश्वास रखने वाला प्रयोगीय क्रांतिकारी (हरिप्रसन्न) है और तीसरा (सुनीता) इस प्रयोग का साधन है। चौथा पात्र (सत्या) भी बहुत-कुछ प्रयोग का साधन है। 'सुनीता' की कथा, इन्हीं हिंसा-अहिंसा के प्रतिनिधियों के व्यावहारिक द्वन्द्व पर आधारित है, जिसमें

---

१. क. रामचन्द्र शुक्ल : "हिन्दी-साहित्य का इतिहास", पृ० ४७०।
   ख. डॉ० सत्येन्द्र : "समीक्षा के सिद्धांत", पृ० १४६।
   ग. डॉ० लक्ष्मीनारायण लाल : "आलोचना" संख्या ११, पृ० १५८।
   घ. डॉ० शिवनाथ : "आलोचना" संख्या ११, पृ० ११०।
   ङ. रघुनाथसरन झलानी : "जैनेन्द्र और उनके उपन्यास", पृ० ११६।
   च. डॉ० शिवनारायण श्रीवास्तव: "हिन्दी उपन्यास", पृ० २२५।
२. "साहित्य का श्रेय और प्रेय", पृ० १५।
३. "इस विश्व के छोटे-छोटे खण्ड को लेकर हम अपना चित्र बना सकते है और उसमें सत्य के दर्शन पा सकते हैं।...जो ब्रह्माण्ड में है, वह पिण्ड मे भी है।"—"सुनीता", पृ० ३-४।

हिंसक पात्र धीरे-धीरे अवरोध के अभाव, प्रेम की पुकार तथा अन्त में समर्पण के सत्कार से पराजित सा होता दिखाया गया है; यथा, लेखक स्पष्ट करता है—"श्रीकांत अपने मित्र की सुविधा की चिंता रखता है; वह सुनीता, श्रीकांत की पत्नी है, उसका बराबर ख्याल रखती है; यह लड़की सत्या थी तो धीरे-धीरे इसके निकट आकर मानो उसकी प्रसन्नता में योग-दान करती है; उस हरिप्रसन्न को यह सब शूल-सा चुभता है। अब तक जिन्दगी में मानों आग्रहपूर्वक वह अपने लिए जगत् से सब लेता, पाता और भोगता रहा है। जो लिया, उसे उसने कभी जग का ऋण न माना; अपना स्वत्व ही माना है। लेकिन कभी वह झुका नहीं है। उसका उपयोग करके वह बलिष्ट ही हुआ है। लेकिन इस घर के लोगों पर उसका स्वत्वभाव तो मानों आदि दिन से ही स्वीकृत है, उसके प्रति इस घर में तनिक भी तो रुकाव, अवरोध नहीं पाया है। तब किसके विरोध में उसकी आग्रही-वृत्ति टिके? इसलिए यहाँ आकर उसके स्वभाव की तेजस्विता मानों पुचकारी हुई-सी बैठती है। उसका आग्रह मन्द पड़ जाता है।..."[1] इस अन्तर्द्वन्द्व तथा कथा की अन्तिम परिणति में हिंसा की अहंमन्य प्रकृति पर अहिंसा की विजय ध्वनित होती है—हरिप्रसन्न की उद्दण्डता-कठोरता श्रीकांत की नियोजित पात्रा सुनीता के नग्न आत्मसमर्पण से पिघल जाती है। अन्तिम परिणति की उपर्युक्त चरम घटना के पहले ऐसे प्रसंग लाए गए हैं जिनमें पात्र अपनी विचार-प्रतिक्रियाओं तथा सूक्ष्म व्यवहारों से अपने-अपने प्रतिनिधि-पक्ष का उद्घाटन करते रहते हैं और लेखक के उद्देश्य को ध्वनित। उदाहरणतया, हरिप्रसन्न को पैसे की आवश्यकता होती है और श्रीकान्त की अपरिग्रह प्रवृत्ति पहले ही उसे देने के लिए तैयार रहती है। श्रीकान्त का विचार है—"पैसा कब इस लायक है कि उसको देखकर आदमी भी अपने को दानी माने, या उसे लेकर कोई अपने को दीन समझे। ज़रूरत पैसे को इधर-उधर करती है। जरूरतों को रफा करने के लिए ही वह है। उससे आगे उसका महत्व नहीं है, महत्व मत दो...।"[2] एक अवसर ऐसा भी आता है जब हरिप्रसन्न को श्रीकांत एवं सुनीता से रुपया पाना कठिन दिखाई देता है और तब उसकी अहमन्य हिंसा फुफकारने को होती है कि श्रीकांत के 'निपट-अबोध' तथा सरल-निश्छल व्यवहार उसे शान्त कर देते हैं और उस मनःस्थिति के विश्लेषण में लेखक ने अहिंसात्मक आचरण की विजय लिखी है—"सबको अवकाश देने के लिए उद्यत वायु के प्रति क्या तलवार की धार में स्पर्धा हो सकती है। वह धार हवा को कैसे काटे? उसका पैनपान उस जैसी वस्तु के आगे तो मानों व्यर्थ ही हो जाता है। जो तीखी धार सब कुछ काट देगी, स्वच्छ तरलता को वही किस

---

१. पृ० ११९-२०। २. पृ० २४।

पड़ा। यह उल्लेखनीय है कि अपनी कृतियों में हिन्दी-आलोचना-जगत् में बहुविवेचित 'सुनीता' के सम्बन्ध में उन्हें सर्वाधिक लिखना पड़ा। 'सुनीता' को पात्राधारित अभिधा देकर लेखक ने इस उपन्यास की चरित्र-प्रधानता की ओर इंगित कर दिया है। आलोचकों में भी इस उपन्यास को चरित्र-प्रधान उपन्यासों के वर्ग में रखने पर मतैक्य है।[1] एक विशेष लक्ष्यानुसार किन्हीं सीमित पात्रों का चरित्राध्ययन ही 'सुनीता' का लक्ष्य है। 'सुनीता' में सुनीता, श्रीकांत तथा हरिप्रसन्न के व्यक्तिगत जीवन की अपनी-अपनी ग्रंथियाँ हैं, अतएव इन्हीं के मनोविश्लेषणात्मक चरित्राध्ययन को लेकर 'सुनीता' का मुख्य मनोवैज्ञानिक उद्देश्य व्यंजित होता है।

'सुनीता' का एक दार्शनिक उद्देश्य भी है, जो कुछ ऊपरी है। पाठकों को पहले वही सामने दृष्टिगत होता है, अतएव पहले हम उसी के आधार पर पात्राध्ययन करेंगे।

जैनेन्द्र जी ने अपने साहित्य का लक्ष्य 'बुद्धि दुश्मनी' बताते हुए उसका स्पष्टीकरण इस प्रकार किया है—"बुद्धि द्वैत पर चलती है। इसलिए मेरे साहित्य का परम श्रेय तो हो रहता है अखंड और अद्वैत सत्य। उसी का व्यावहारिक रूप है समस्त चराचर जगत् के प्रति प्रेम, अनुकम्पा : यानी अहिंसा।"[2] 'सुनीता' की 'प्रस्तावना' में भी इस अद्वैत दर्शन का उल्लेख हुआ है[3] और अहिंसावादी दर्शन का प्रतिपादन इस उपन्यास का एक प्रमुख लक्ष्य भी है। सर्वप्रथम लेखक ने प्रमुख पात्रों का चुनाव इसी लक्ष्यानुकूल किया है; जैसे, एक पात्र (श्रीकांत) इस दर्शन का प्रतिनिधि तथा प्रयोगकर्ता है, दूसरा हिंसा में विश्वास रखने वाला प्रयोगीय क्रांतिकारी (हरिप्रसन्न) है और तीसरा (सुनीता) इस प्रयोग का साधन है। चौथा पात्र (सत्या) भी बहुत-कुछ प्रयोग का साधन है। 'सुनीता' की कथा, इन्हीं हिंसा-अहिंसा के प्रतिनिधियों के व्यावहारिक द्वन्द्व पर आधारित है, जिसमें

---

१. क. रामचन्द्र शुक्ल : "हिन्दी-साहित्य का इतिहास", पृ० ४७०।
 ख. डॉ० सत्येन्द्र : "समीक्षा के सिद्धांत", पृ० १४६।
 ग. डॉ० लक्ष्मीनारायण लाल : "आलोचना" संख्या ११, पृ० १५८।
 घ. डॉ० शिवनाथ : "आलोचना" संख्या ११, पृ० ११०।
 ङ. रघुनाथसरन झलानी : "जैनेन्द्र और उनके उपन्यास", पृ० ११६।
 च. डॉ० शिवनारायण श्रीवास्तव: "हिन्दी उपन्यास", पृ० २२५।
२. "साहित्य का श्रेय और प्रेय", पृ० १५।
३. "इस विश्व के छोटे-छोटे खण्ड को लेकर हम अपना चित्र बना सकते हैं और उसमें सत्य के दर्शन पा सकते हैं।...जो ब्रह्माण्ड में है, वह पिण्ड में भी है "सुनीता", पृ० ३-४।

हिंसक पात्र धीरे-धीरे अवरोध के अभाव, प्रेम की पुकार तथा अन्त में समर्पण के सत्कार से पराजित सा होता दिखाया गया है; यथा, लेखक स्पष्ट करता है—"श्रीकांत अपने मित्र की सुविधा की चिंता रखता है; वह सुनीता, श्रीकांत की पत्नी है, उसका बराबर ख्याल रखती है; यह लड़की सत्या थी तो धीरे-धीरे इसके निकट आकर मानो उसकी प्रसन्नता में योग-दान करती है; उस हरिप्रसन्न की यह सब शूल-सा चुभता है। अब तक जिन्दगी में मानों आग्रहपूर्वक वह अपने लिए जगत् से सब लेता, पाता और भोगता रहा है। जो लिया, उसे उसने कभी जग का ऋण न माना; अपना स्वत्व ही माना है। लेकिन कभी वह झुका नहीं है। उसका उपयोग करके वह बलिष्ट ही हुआ है। लेकिन इस घर के लोगों पर उसका स्वत्वभाव तो मानों आदि दिन से ही स्वीकृत है, उसके प्रति इस घर में तनिक भी तो रुकाव, अवरोध नहीं पाया है। तब किसके विरोध में उसकी आग्रही-वृत्ति टिके? इसलिए यहाँ आकर उसके स्वभाव की तेजस्विता मानों पुचकारी हुई-सी बैठती है। उसका आग्रह मन्द पड़ जाता है।..."[1] इस अन्तर्द्वन्द्व तथा कथा की अन्तिम परिणति में हिंसा की अहंमन्य प्रकृति पर अहिंसा की विजय ध्वनित होती है—हरिप्रसन्न की उद्दण्डता-कठोरता श्रीकांत की नियोजित पात्रा सुनीता के नग्न आत्मसमर्पण से पिघल जाती है। अन्तिम परिणति की उपर्युक्त चरम घटना के पहले ऐसे प्रसंग लाए गए हैं जिनमें पात्र अपनी विचार-प्रतिक्रियाओं तथा सूक्ष्म व्यवहारों से अपने-अपने प्रतिनिधि-पक्ष का उद्घाटन करते रहते हैं और लेखक के उद्देश्य को ध्वनित। उदाहरणतया, हरिप्रसन्न को पैसे की आवश्यकता होती है और श्रीकान्त की अपरिग्रह प्रवृत्ति पहले ही उसे देने के लिए तैयार रहती है। श्रीकान्त का विचार है—"पैसा कब इस लायक है कि उसको देखकर आदमी भी अपने को दानी माने, या उसे लेकर कोई अपने को दीन समझे। जरूरत पैसे को इधर-उधर करती है। जरूरतों को रफा करने के लिए ही वह है। उससे आगे उसका महत्व नहीं है, महत्व मत दो...।"[2] एक अवसर ऐसा भी आता है जब हरिप्रसन्न को श्रीकांत एवं सुनीता से रुपया पाना कठिन दिखाई देता है और तब उसकी अहमन्य हिंसा फुफकारने को होती है कि श्रीकांत के 'निपट-अबोध' तथा सरल-निश्छल व्यवहार उसे शान्त कर देते हैं और उस मनःस्थिति के विश्लेषण में लेखक ने अहिंसात्मक आचरण की विजय लिखी है—"सबको अवकाश देने के लिए उद्यत वायु के प्रति क्या तलवार की धार में स्पर्धा हो सकती है। वह धार हवा को कैसे काटे? उसका पैनपान उस जैसी वस्तु के आगे तो मानों व्यर्थ ही हो जाता है। जो तीखी धार सब कुछ काट देगी, स्वच्छ तरलता को वहीं किस

---

१. पृ० ११६-२०। २. पृ० २४।

दाँत से काट सकती है ? तीखे की, पैने की स्पर्धा यहीं कुण्ठित होती है..." ।[१] अन्य प्रसंग क्राँतिकारी हरिप्रसन्न के रिवाल्वर रखने-छिपाने को लेकर है जिसमें श्रीकांत-सुनीता को अहिंसा-दर्शन के प्रतिपादन का अवसर मिलता है ।[२] श्रीकांत अपने पत्र में समाज सुधार के हिंसात्मक साधनों की व्यर्थता के बारे में विशेष रूप से लिखकर उसे हिंसा-विरल करने का प्रयत्न करता है[३]—स्पष्ट करता है कि उससे रोगी को दूर किया जा सकता है, रोग को नहीं । अन्त में अपनी पत्नी को नग्न किन्तु अनासक्त समर्पण के लिए सुविधा तथा प्रेरणा देकर वह अहिंसा का चरम व्यवहार करता है । श्रीकान्त की सरलता-निश्छलता यदि भोलापन होती तो वह अहिंसा-दर्शन का प्रतिनिधि न बन पाता और यह उद्देश्य भी ध्वनित न हो सकता । इसलिये लेखक ने हरिप्रसन्न की प्रतिक्रियाओं से स्पष्ट किया है कि श्रीकांत की सरलता साधना-साध्य है, 'तपस्या' है, जीवन के प्रति विशेष दृष्टिकोण का परिणाम है । उसके आत्म-समर्पणात्मक आचरण दौर्बल्य-द्योतक तथा नासमझी नहीं, 'सामर्थ्य' से सार्थक, स्वेच्छित है ।[४]

अहिंसा में अहंकार का उत्सर्ग करना और बुद्धि को श्रद्धा के अंकुश में रख कर चलना होता है । अहंकार की उद्दण्डता के स्थान पर प्रेम की विनम्रता होती है । अहंकार में ही टूटने की विशेषता हो सकती है और विरोध के अभाव में प्रेम के टूटने का प्रश्न ही नहीं उठता । इसके विपरीत प्रेम की विनम्रता अहंकार को पुचकार कर शांत कर देती है । हरिप्रसन्न और सुनीता के तार्किक क्रम में, हरिप्रसन्न के कार्य-व्यवहार को लक्षित कर, लेखक इसी प्रकार के विचार व्यक्त करता रहा है ।[५]

अन्यत्र भी लेखक ने हरिप्रसन्न को परोक्षतः 'अहम्' की ग्रंथि से ग्रस्त, सोच-विचार की पोट बाँधे हुए चलने वाला व्यक्ति कहा है जिससे उसके व्यवहार सरल नहीं रहे । बुद्धि, भेद की सृष्टि करती है इसलिए हरिप्रसन्न अपने झमेलों को सुलझाने के यत्न में उलझा तथा बेचैन रहता है । इसके विपरीत सुनीता को लेखक ने 'जीवन-व्यापार की पद्धति' का अनुयायी बताया है, जो "सहज-भाव से रहना, सोच-विचार के साथ अपनी खातिर महत्व न रखना और परिग्रह के प्रति असंलग्न रहे चलना" सिखाती है । लेखक के अनुसार उसे यही पद्धति प्रिय है ।[६] सुनीता के साथ श्रीकांत को भी लेखक ने इसी पक्ष में रखा है । इस रूप में 'सुनीता' के हिंसा

---

१. पृ० ९६-९७ । २. पृ० ७७ । ३. पृ० १४१ ।
४. पृ० १३२-३३ । ५. पृ० १३१ । ६. पृ० १०३-४ ।

अहिंसा का द्वन्द्व बुद्धिबोध और भाव-बोध का द्वन्द्व भी हो जाता है, जिसमें लेखक भाव-बोध की ही विजय प्रदर्शित करता है।

हरिप्रसन्न के हिंसक आचरणों के मूल की, मानव-उत्स की, खोज करते-करते इस उपन्यास के दार्शनिक उद्देश्य के मूल में निहित मनोवैज्ञानिक उद्देश्य तक भी पहुँचा जा सकता है। वस्तुतः 'सुनीता' के पात्र अहिंसा-दर्शन के प्रतिपादन के ही प्रतीक नहीं, मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से भी उनकी यही स्थिति है—वे दोहरे प्रतीक हैं। इस दृष्टि से अहिंसा-दर्शन का प्रतीक श्रीकांत मनोविश्लेषक प्रयोगकर्ता बन जाता है, हरिप्रसन्न ग्रंथिग्रस्त मानव तथा सुनीता पूर्ववत् मनोविश्लेषक के प्रयत्नों—ग्रंथि-निकालने तथा रेचन-कार्य करने—का साधन।

क्रांतिकारी हिंस्र मार्गों के अवलम्बन में विश्वस्त, हरिप्रसन्न की अहमन्य उद्दण्डता उसके अतृप्त काम का परिणाम है। हरिप्रसन्न बाहर जितना सक्रिय है, भीतर उतना ही बेचैन। उसकी 'कर्मण्यता में रसबोध नहीं'[१], अभावों की घुमड़न है। वह जीवन का सुखद उपयोग नहीं करता, काटता है।[२] अन्तस्थ अभाव उसे बेखूंटे घुमाता-भरमाता है।[३] एकाकीपन के कारण वह अहंकारी है।[४] वह अपने अभावों से भागता है, उनका संतुलित उपयोग नहीं कर पाता। विवाहित श्रीकांत प्रारम्भ से ही हरिप्रसन्न की कुण्ठा को समझता है। इसलिए वह उसे घर में लाकर सुनीता के माध्यम से ग्रंथि-मुक्त करना चाहता है। वह उसकी पीड़ा के प्रति करुण-कातर है[५] और धीरे-धीरे सुनीता को भी उसके प्रति करुण बना लेता है। श्रीकाँत के माध्यम से लेखक ने स्पष्ट किया है कि एक से दो होने की आवश्यकता, मनुष्य के भीतर तक व्याप्त है।[६] किसी के प्रति समर्पित हुए बिना आदमी चैन नहीं पा सकता।[७] सुनीता भी सोचती है कि प्रेम के अभाव में 'महाप्रकृति को वन्ध्या', दुनिया को रेगिस्तान नहीं बनाया जा सकता[८] और गृहस्थ हरिप्रसन्न समाज के लिए अधिक उपयोगी होगा।[९] श्रीकांत भी समझता है कि हरिप्रसन्न 'युवती रमणी तथा निर्मल शिशु' वाली दुनिया को इन्कार कर 'स्वराज्य' की बात नहीं कह सकता।[११] सारतः लेखक ने काम को जीवन की मूल वृत्ति माना है जिसकी उपेक्षा सम्भव नहीं। इस वृत्ति के दमन से नहीं, स्वीकरण तथा सही दिशा में नियोजन से व्यक्ति और समाज का कल्याण-निर्माण सम्भव है। लेखक ने श्रीकांत-प्रेषित पत्र-लेखों, पात्रों के चिनन,

१. पृ० ८६। २. पृ० ८६-८७। ३. पृ० ६६।
४. पृ० १०। ५. पृ० ८६। ६. पृ० ९।
७. पृ० १०। ८. पृ० ६७। ९. पृ० ६६। १०. पृ० ९।

उनके पारस्परिक वार्तालाप, उनके जीवन के लघु-लघु व्यवहारिक संकेतों, तथा इन व्यवहारों की व्याख्या-समीक्षा—इन सभी साधनों से उपर्युक्त विचारों को कुशल अभिव्यक्ति दी है। इनसे भी महत्वपूर्ण 'सुनीता' की चरित्र-कथा का आरम्भ, विकास तथा अन्त है जो काम-सिद्धाँत को कहीं साँकेतिक तथा कहीं मुखर निष्कर्षात्मक अभिव्यक्ति देता है। 'सुनीता' की कथा की रोचक विशेषता इसमें है कि हरिप्रसन्न का आदर्शवाद अत्यन्त क्रमिक रूप से काम में विलीन होता प्रदर्शित किया गया है और मनोवैज्ञानिको की तरह पात्रों के छोटे से छोटे, निरर्थक-से प्रतीत होने वाले, कार्य-व्यवहारों तथा गति-लेशों से साँकेतिक लक्ष्य-सिद्धि की गई है। यहाँ इनका स्पष्टीकरण आवश्यक दिखाई देता है।

हरिप्रसन्न एवं सुनीता की कामकथा का आरम्भ एक ऐसे प्रतीक-दृश्य से होता है जिससे समग्र कहानी तथा उसके प्रयोजन का पूर्व-संकेत मिल जाता है। श्रीकांत, हरिप्रसन्न को जब पहली बार घर में लाता है तब सुनीता स्टूल पर खड़ी हो झाड़ू से मकड़ी के जाले साफ़ कर रही होती है। स्टूल से उतरने के प्रयत्न में उसकी साड़ी फट जाती है और तब वह फेंट देकर अपनी कमर कस लेती है मानों किसी को परास्त करना हो। ऐसी अवस्था में मित्र अतिथि को लिए हुए पति के अकस्मात् आ जाने से जब सुनीता काम को अधूरा छोड़ कर जाने लगती है, तब श्रीकांत कहता है—"ठहरो जाती कहाँ हो? पूरा अभी साफ कहाँ हुआ है?—और यह हरिप्रसन्न है"।[1] संकेतार्थ यह है कि मकड़ी के जाले की तरह हरिप्रसन्न की काम-ग्रंथि का नारी, सुनीता, को रेचन करना है। इस प्रयत्न में उसके सतीत्व का अंचल कुछ फट जाता है। और सुनीता के अनावृत हो जाने वाली घटना का पूर्व-संकेत मिल जाता है।

हरिप्रसन्न के चरित्र की काम-ग्रंथि का साँकेतिक परिचायक एक वह स्थल भी है जिसमें सुनीता एवं श्रीकांत के स्टडी रूम में उनकी पुस्तकों पर 'सुनीता-श्रीकांत'—लिखा हुआ देखकर 'कुण्ठित' होता है, जैसे, वह एकदम—वंचित रखा जा रहा हो।"[2] बड़े परिश्रम से तैयार 'ओतू' वाला चित्र भी हरिप्रसन्न के 'चित्त की गाँठ'—चिरन्तन नारी की खोज—का प्रतीक-विधान है। इसी को लक्षित कर, अन्त में, श्रीकांत सुनीता से निष्कर्ष-रूप में कहता है—"हिरन के पेट में जो गाँठ होती है, उसे कस्तूरी कहते हैं। उसके लिए वह भ्रमता रहता है, बेचैन रहता है। उसके लिए वह शाप है। कस्तूरी हमारे लिए है, उसके लिए वह गाँठ है।...यह चित्र, सुनीता, हरिप्रसन्न के चित्त की गाँठ है। यह वह है जिसे हम आर्ट कहेंगे और बहुमूल्य बनायेंगे। इसलिए तो इसमें बंधा है...वह प्रश्न,—वह जिज्ञासा, वह आकाँक्षा जो हरिप्रसन्न के

---

१. पृ० २८ २. पृ० ३३-३४।

जीवन का जीवन थी, जिसने उसे सदा यों भटकाये रक्खा। आज क्या मैं नहीं जानता कि यह गाँठ उसके भीतर से खींच निकालने में उपलक्ष्य तुम बनी ?... मैं उसके लिए तुम्हारा चिर-कृतज्ञ हूँ, सुनीता। दुनिया जब यह जानेगी, वह भी तुम्हारी कृतज्ञ बनेगी"।[1] यह निष्कर्ष देकर लेखक ने (फ्रायड के अनुसार) जीवन की मुख्य परिचालिका शक्ति 'लिबिडो' के उदात्तीकृत स्वरूप को एक कल्याणी शक्ति के रूप में चित्रित किया है। इन्हीं विचारों को अपने पत्र में लिखकर श्रीकांत ने सुनीता को आत्मसमर्पण के लिए प्रेरित किया था—"कलाकार भटकता न रहे, उद्‌भ्रांत न रहे, किसी प्रयोजन में नियोजित कर दिया जाय, तो वह बड़ी शक्ति बन जाता है। नहीं तो वह अपने को ही खाता है।...इसलिए मैं सोचता हूँ कि उसको मार्ग देने के लिए हम झुक भी जायें, हट भी जायें तो हर्ज नहीं है।...मैं उस दिन की प्रतीक्षा करना चाहता हूँ जब हरिप्रसन्न जीवन में कुछ प्रयोजन-सम्पन्न करने आगे बढ़े, आइडिया दे, और वह आइडिया समाज में उगता हुआ और फलता हुआ दीखे। हरिप्रसन्न की प्रतिमा में वह बीज है, लेकिन वह सहानुभूति से सिंचे, तब न"।[2] इस व्यापक उद्देश्य के लिए सुनीता आत्मसमर्पण करती है और उसकी नग्नता इस काम-गाँठ को "खींच निकालने" के लिए है। ग्रंथि-मुक्त व्यक्ति में—यहाँ हरिप्रसन्न में—ही संतुलन-जन्य आत्म-समन्विति (self harmony) की सम्भावना हो सकती है।

उपर्युक्त दार्शनिक तथा मनोवैज्ञानिक दोनों उद्देश्य संयुक्त हैं। समस्त चराचर जगत् के प्रति प्रेमभाव, यानी अहिंसा का मार्ग, प्रवृत्ति मार्ग पर आधारित है जिसमें काम-भावना की स्वीकृति है। घर इसी काम-तत्व का संयत-सीमित स्वरूप है। घर को अस्वीकार करके राष्ट्र-कल्याण की बात नहीं कही जा सकती। घर की बात न भी कहें तब भी मनुष्य नितान्त एकाकी स्वाधीन होकर कभी सुख नहीं पा सकता। आदमी को किसी के प्रति समर्पित होना होगा। ताड़ के पेड़ की तरह ऊँचा तन कर, अहंमन्य बने अकेले खड़े रह सकने में, आदमी की सिद्धि नहीं।[3] युवती रमणी और निर्मल शिशु की दुनिया को 'इन्कार' कर स्वराज्य नहीं लिया जा सकता।[4] उसे अपने स्नेह को स्त्री या शिशु के प्रति बाँट कर चलना होता है। और यह स्नेह खर्च होकर बढ़ता है।[5] समाज-सेवा इसी का व्यापक रूप है—घर या किसी से प्रेम करके इसका अभ्यास हो सकता है। दूसरे शब्दों में मनुष्य अपने कर्मों को व्यापक बना सकता है किन्तु अधिक सजीव और संवेदनशील होकर, अपने को मार कर नहीं। अन्त में सुनीता चाहे हरिप्रसन्न को शादी के लिए या घर बसाने के लिए बाध्य नहीं कर सकी, फिर भी हरिप्रसन्न से यह मनवा सकी है कि वह अपने

---

१. पृ० १६०-६१। २. पृ० १४०-४१।
३. पृ० ६-१०। ४. पृ० ६-१०। ५. पृ० १७।

को मारेगा नहीं ।[1] हरिप्रसन्न के रिवाल्वर (मानों हिंसक कर्म के प्रतीक) में उसके मन की गाँठ ही मूर्तिमान थी। जो जीवन की लम्बी राह से बचने के लिए एक शार्ट-कट था ।[2] अतएव अन्त में अपने आपको न मारने की प्रतिज्ञा करके मानों वह अपने ग्रंथिमुक्त होने तथा प्रेम से जीवन की लम्बी राह को सुगम बनाने की परोक्ष स्वीकृति दे देता है ।

इस प्रकार 'सुनीता' में अहिंसा-धर्म (गाँधीवाद) का मनोवैज्ञानिक विधि से साहित्यिक प्रतिपादन किया गया है। अन्त की घटना दोनों उद्देश्यों की संयुक्त भूमि है। सुनीता का नग्न आत्मसमर्पण जहाँ अहिंसक-अनासक्त आचरण का चरम उदाहरण है वहाँ हरिप्रसन्न की आकुल ग्रंथि की माँग भी। फिर भी, हिंसा पर अहिंसा की विजय प्रदर्शित करने के लिए लेखक ने जिस नग्न प्रकृति की घटना का आश्रय लिया है वह इस (गाँधी) दर्शन के सात्विक प्रभाव को ग्रहण नहीं करने देती। यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि नारी की नग्नता के साथ हमारे संस्कारों का जो नाता है, मुख्यतः वही सात्विक प्रभाव के ग्रहण में बाधक है—इसलिए ऐसी घटना का चुनाव करने में लेखक की गलती कही जा सकती है—अन्यथा लेखक ने हरिप्रसन्न की काम-कथा का सरस विकास करते हुए भी, कम से कम घटना के स्थल-विशेष पर, सुनीता की अनासक्ति को ही मूर्तिमान किया है। उदाहरणतया, सुनीता की स्त्रियोचित संकोच-लज्जा से नितांत रहित अविचलित वाणी, उसकी आंतरिक अनासक्ति तथा वासना की शून्यता का प्रमाण है। वहाँ सप्रयोजन लिखा गया है कि "सुनीता की वाणी में न व्यंग्य मालूम हुआ, न झल्लाहट।"—यह सुनीता के अनासक्ति-जन्य संतुलन की वह विशेषता है जो हरिप्रसन्न की अधिकार-भावना को तनिक भी चुनौती नहीं दे सकती। तात्पर्य यह है कि हरिप्रसन्न की काम-भावना तथा अधिकार-भावना दोनों को किसी प्रकार का प्रतिचार (response) नहीं मिल पाता अब अनावरण-क्रिया की चरम-सीमा पर उसको अपने आदर्शवाद के भीतर की वास्तविकता के अनावरण की ठोकर से आत्मग्लानि होने लगती है, केवल तब सुनीता के कथन के साथ एक अनुभाव—तनिक स्मिति—से व्यंग्य किया गया है जो हरिप्रसन्न के लिए अचूक चोट सिद्ध होता है और वह भाग खड़ा होता है।[3] सांकेतिक कला में सिद्ध लेखक चाहता तो ऐसी घटना की मात्र सूचना देकर चल सकता था, किन्तु अनासक्त चित्रण की चुनौती को उसने स्वीकार किया और यह उसकी कला की विजय है। इस तरह लेखक की गलती ऐसी प्रकृति की घटना के चुनाव में है, चित्रण में न ।

---

१. पृ० १८७ । २. पृ० १४३ । ३. पृ० १८४-८५ ।

सात्विक प्रभाव-ग्रहण न कर सकने के लिए यह घटना ही उत्तरदायी नहीं, दोनों उद्देश्यों को चरितार्थ करने की समवेत भूमि भी उत्तरदायी है। तीनों पात्र दोनों उद्देश्यों को सिद्ध करने के एक-साथ प्रतीक हैं। 'सुनीता' में एक ही आधिकारिक कथानक है। केवल स्पष्टीकरण के लिए उसके दो सूत्र किए जा सकते हैं—वैचारिक सूत्र, जो हिंसा-अहिंसा के द्वन्द्व को लेकर चला है, और भाव-सूत्र जो काम-भावनाओं का फल है। ये दोनों सूत्र भी समान पात्रों से सम्बन्धित होने के कारण एक है। इससे गाँधी जी के अहिंसा-दर्शन का प्रतिपादन काम-कथा की शृंगारिक-सरसता से हतप्रभ होने लगता है।

इन दोनों सूत्रों की समवेत भूमि से यह लाभ अवश्य हुआ है कि 'सुनीता' के विभिन्न पात्र किसी दार्शनिक उद्देश्य को सिद्ध करने के प्रतिनिधि यंत्र बन कर नहीं रह गए, उनकी अपनी कामनाएँ-वासनाएँ भी सामने आ जाती हैं। इससे उनकी—और मानव-मात्र की मूल प्रेरणाओं का वैयक्तिक धरातल सामने आ जाता है। 'सुनीता' के अन्य उद्देश्यों के स्पष्टीकरण से यह धरातल और स्पष्ट हो सकेगा। सुनीता और श्रीकांत की अपनी-अपनी ग्रन्थियों की जब व्याख्या हो जाएगी तब स्पष्ट हो जाएगा कि यह दार्शनिक उद्देश्य बहुत-कुछ ऊपरी खोल है, मनोवैज्ञानिक शब्दावलि में आत्मप्रवंचक पात्रों की युक्तिकरण (Rationalization) प्रक्रिया है जिसके अनुसार मनुष्य अपने अचेतन की क्षुद्र वासनाओं से सम्बद्ध व्यवहारों को शिष्ट विचारों एवं तर्कों की रंगत दे देता है। वस्तुतः युक्तिकरण की प्रक्रिया के फलस्वरूप पात्रों के हिंसा-अहिंसा सम्बन्धी विचारों (और किंचित् आचरणों) ने पर्याप्त स्थान घेरा है और पाठकों पर अनिवार्यतः इन्हीं का पहला प्रभाव पड़ता है। जैसे कोई बनावटी या झूठी बात भी बार-बार स्वाभाविक विधि से (यहाँ साहित्य में कलात्मक रूप से) कहता जाए तो उसका प्रभाव पड़ता है, वैसा ही प्रभाव इस दार्शनिक उद्देश्य का भी समझना चाहिए। इसमें मुख्यतः लेखक की कला की विजय है। दूसरे, इन पात्रों की मूल ग्रन्थियों के अतिरिक्त गौण रूप में किन्हीं अन्य संस्कारों को भी स्वीकार करना होगा अन्यथा मनुष्य की जटिलता की एकांगी व्याख्या होगी। इन संस्कारों में पात्रों के दार्शनिक विचारों का मूल भी खोजा जा सकता है। इस सम्बन्ध में हरिप्रसन्न की देश-भक्ति, क्रांतिकारिता आदि की भीतरी वास्तविकता स्पष्ट की जा चुकी है, फिर भी, इसका प्रमाण एक अन्य प्रतीक-चित्र से भी देना आवश्यक होगा। 'ओतू !' वाले चित्र को बनाने से पहले "उसने दो तीन रंगीन बेलबूटों की ड्राइंग बनाई। बीच-बीच में उनमें नागरी के अक्षर लिखे जो ठीक चीह्न न पड़ते थे; न जिनका क्रम और अर्थ कुछ समझ में आता था। एक मोटो बनाया—'जननी जन्म-भूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी'। अक्षर अति दृढ़, वलयाकर, उभारदार बनाए, जैसे चुनौती उनमें भरी हो। और उस वाक्य के चरणतल में ऊपर की ओर देखता हुआ

एक नन्हा-सा प्रश्नवाचक लाल रंग में टाँक दिया। वह शंका-चिह्न···गरिमामय वाक्य के मूल में स्थान बनाकर बैठ रहा। मानों वही मुख्य है···मानों आत्मा उस प्रश्न में ही है; शेष तो शरीर है—मर भी सकता है। उसको लेकर ही मानों सब सजीव है, नही तो सब व्यर्थ है; भ्रम है"।[1] इस चित्र में हरिप्रसन्न ने अपने देश-प्यार —और इस प्यार के समर्थन मे हिंसावादी तर्कों आदि— के लक्ष्य पर स्वयं ही शंका उठाई है और शंका को ही महत्व दिया है। निरर्थक अक्षर उसके उस अज्ञात अभाव के प्रमाण है जो भीतर की वास्तविकता है—यही उसकी ग्रन्थि है। हम भी यही समझते हैं कि 'सुनीता' का हिंसा-अहिंसा का द्वन्द्व और सम्बन्धित अन्य विचार जैसे 'शरीर' मात्र है—ऊपर का खोल—आत्मा निहित अभाव ही है। जैसे व्यक्ति के सम्पर्क में आने पर प्रथम प्रभाव उसके शरीर का पड़ता है और बाद में असलीयत समझ में आने पर इसका महत्व गौण हो जाता है वैसे ही सुनीता के दार्शनिक उद्देश्य की स्थिति है। 'सुनीता' के शरीर का चेतन दार्शनिक है, अचेनन मनोवैज्ञानिक।

गाँधी-दर्शन के प्रतिपादन तथा ग्रन्थि-मुक्त मानव की आत्म-समन्विति के उक्त निष्कर्ष 'सुनीता' से लिए जा सकते हैं किन्तु मूलत. यह निष्कर्षान्त नहीं, प्रश्नांत रचना है। यह सप्रश्नता मुख्यतः सुनीता को लेकर है। हरिप्रसन्न में ही दमित काम-तत्व नहीं, सुनीता में भी है। और इस रूप में सुनीता को बड़ी सतर्क कलात्मक विधि से हरिप्रसन्न की ओर आकर्षित होते दिखाया गया है। सुनीता के चरित्र की दृष्टि से यह कथा पति-प्रेम तथा प्रेमी से प्रेम के संघर्ष—वैवाहिक बंधन के मजबूरन निर्वाह तथा स्वच्छन्द प्रेम, अथवा समाज की स्वीकृत मान्यताओं तथा व्यक्ति-स्वातन्त्र्य के संघर्ष—की कथा हो जाती है। समस्या के इस सामाजिक रूप के भीतर से भी एक शाश्वत प्रश्न—नारी को समझने का प्रश्न—उभरता दिखाई देता है। अन्ततः यह सामाजिक धरातल भी लुप्त-सा हो जाता है और रह जाती है मानव की चिर जिज्ञासा —नारी क्या है? स्पष्टीकरण के लिए, हमें प्रारम्भ में यह सूचना दे दी गई है कि श्रीकांत और सुनीता की गृहस्थी ऐसे चल रही है, जिसमें स्फूर्ति नहीं, रस नहीं। श्रीकात सुनीता को रिझा नही पाया। उनके जीवन में एक फीकापन-सा, एक रीता-पन-सा आ चला था[2]। एक नए विषय या व्यक्ति के प्रवेश से श्रीकांत अपने वैवाहिक जीवन में ताजगी लाना चाहता है। घर के काम या अपने में बन्द रहने वाली सुनीता; काम न हो, तब भी काम को ढूढ़कर उसमें लग जाने वाली और बार-बार भरी साँस लेने वाली सुनीता[4] में भी कुछ दमित है। उसने अपने में से कुछ ऐसा 'खो' दिया है है कि वह "फूल-सी खिल नहीं पाती"।[5] "उसके जी में बहुत है कि यह जो उसके

---

१. पृ० ६१। २. पृ० ६-११ ३. पृ० ४४।
४. पृ० ७। ५. पृ० १२।

बाहर होकर दुनिया फैली है वह यह सब कुछ देखे, सभी कुछ देख डाले। किन्तु पति के सम्बन्ध में पाती रही है कि कर्तव्य-परायणता और जीवन में भय नियमादि पालन ही उनके लिए सब कुछ है, विश्व का चित्र-वैचित्र्य उनके लिए कुछ भी नहीं है। उस नारी के मन ने तो अब तक कभी यह कहना छोड़ा नहीं कि विश्व भी दीखे। पर पति के अनु-गमन में वह भी विश्व की ओर से मुंह फेर कर अन्तर्मुखी होने की महत्ता पर चित्त लगाती रही है"।[1] अपने मन की इन कुण्ठित लालसाओं को सुनीता प्रत्यक्षतः अपने पति से नहीं कह पाती किन्तु एक फिल्म पर विचार-प्रकट करने के रूप में परोक्षतः वह अपना दिल खोलकर रख देती है। 'राजरानी मीराँ' फिल्म के रूप में एक ऐसे व्यंजक प्रतीक-दृश्य की योजना की गई है कि साँकेतिक रूप में सुनीता की सारी स्थिति का पूर्वाभास मिल जाता है। फिल्म में अनुमानतः मीराँ अपने पति राणा को छोड़कर साँवलिया से प्यार करती है और राणा उस पर निर्दयता से व्यवहार करता है। इसी प्रसंग को लेकर श्रीकात और सुनीता में वाद-विवाद होता है। वहाँ यह संकेत मिल जाता है कि वाद-विवाद का कुछ वैयक्तिक धरातल भी है—मानों श्रीकांत राणा है, हरिप्रसन्न साँवलिया और सुनीता मीराँ।[2] सुनीता मीराँ को 'खण्डिता', 'लांछिता' जानकर भी उसे समझना, उससे कोई 'चेतावनी' लेना चाहती है। वह श्रीकांत से कहती है—"मैं तो राणा के साथ रो ही सकती हूँ, पर मीराँ के साथ भी, मुझे इजाजत दो कि मैं रोना चाह लूँ। मीराँ के मन को जानने पर मीराँ के दण्ड देने योग्य जी नहीं रक्खा जाएगा।[3] इस फिल्म के मध्य ही हरिप्रसन्न का सुनीता से पहला आँगिक परिचय होता है जो आगे अनेक दृश्यों में बढ़ता जाता है। हरिप्रसन्न सुनीता को झेल नहीं सकता और वह बार-बार पलायन करने का प्रयत्न करता है किन्तु सुनीता के 'बिना अधिकार के अधिकार' के आगे उसकी एक नहीं चलती। वह विमुग्ध-वशीभूत सा फिल्म देखता रहता है और सुनीता से उसको नारी की विचित्र वास्तविकता के सम्बन्ध में सुनना पड़ता है—"देखो हरिबाबू, तुम बड़े हो, लेकिन हम लोग स्त्री हैं। हमारा यह काम है कि हम पुरुष को सामने भगावें। जब तक वह सामने भागता है, हम पीछे-पीछे हैं, जब वह पीठ की ओर भागना चाहे, तब हम सामने हो जाती है। हम से पार होकर वह नहीं जा सकेगा। स्त्री यह न सहेगी कि पुरुष उनके आगे मार्ग स्पष्ट न करता जाय। पुरुष इस दायित्व से भागना चाहेगा तो पीछे स्त्री में गिरफ्तार होकर फिर उसे आगे-आगे चलना होगा। पुरुषों के इस अधिकार के आगे स्त्री-कृतज्ञ है। किन्तु स्त्री का भी यह अधिकार है कि पुरुष को भी पदच्युत न होने दे"।[4] तदुपरांत रात्रि को सोते समय

१. पृ० ४६-४७।
२. अठारहवाँ परिच्छेद।
३. पृ० ६०।
४. पृ० ६२।

हरिप्रसन्न के सामने अनेक प्रश्न नाचने लगे, "वह सोचने लगा कि स्त्री क्या है, पुरुष क्या है ? इस जीवन में चलकर पहुंचना कहाँ है ? किससे भागना है, और किसकी ओर भागना है ? नाते क्या हैं और विवाह क्या है ? और यह कमबख्त क्या चीज है जिसको प्रेम का नाम देकर आदमी ने चाहा, बाँध दे, पर जो वैसे ही न बँध सका जैसे वृक्ष से आँधी नहीं बँध सकती।···वह क्या है, कौन है ?"[१] इससे पहले, एक अन्य अवसर पर भी वह नारी की पराधीनता से कुण्ठित होता है; सुनीता की पुस्तक पर 'सुनीता-श्रीकांत, लिखा देखकर उसके मन में उठा "कि विवाह और पत्नीत्व ऐसी क्या वस्तु हैं कि स्त्री अपना नाम भी खो दे और अमुक एक पुरुष के नाम को अपने ऊपर छत्र भी भाँति लेकर उसके नीचे उसकी सम्पत्ति हो रहे ?"[२] अन्यत्र वह सुनीता से स्पष्ट कहता है—"व्याह को तुम क्या चीज़ मानती हो ? उससे आगे होकर क्या कोई कर्तव्य नहीं है ? जो हो, क्या उसमें तुम जीवन की सिद्धि समझती हो ? मैं कहना चाहता हूँ भाभी, कि तुम भूल में हो"।[३] जहाँ तक सुनीता और श्रीकांत का सम्बन्ध है, "दोनों सम्मत हैं कि विवाह निबाहने योग्य संस्था है। समाज कैसे चले, नागरिकता कैसे चले, यदि जीवन परीक्षण के लिए समझ लिया जाए और कानून तोड़ने के लिए"[४] फिर भी दोनों भीतर ही भीतर शंकित-से, विचलित-से हैं। इसलिए एक स्थल पर सुनीता-श्रीकांत से प्रश्न करती है—"क्या विवाह लौकिक नीति ही है ? क्या वह धर्म भी नहीं है ? क्या वह आदमी के मनोभाव पर ही निर्भर है?" पति के आदेश-पालन तथा प्रेमी हरिप्रसन्न के इच्छानुकूल होने के एक तीव्र द्वन्द्वमय स्थल पर, उसका चिंतन है—"और वह पत्नी है, फिर भी नारी है ? कौन अपने आप में पूर्ण है ? कौन विमुखता में, नकार में पूर्ण होना चाहता है ? और उसकी उम्र अभी है ही कितनी ? उसमें क्या जगत् के प्रति उत्सुकता सर्वथा शान्त हो गई है ? वह कब वैचित्र्य के प्रति जिज्ञासु और सामर्थ्य के प्रति उन्मुख नहीं रही है ? वह क्या हाड़-माँस की नहीं है ? वह पत्नी है, पर नारी है। वह पति में ही नहीं, स्वयं भी है।···"

इन्हीं विचारों के आलोक में यह सोचना पड़ता है कि 'सुनीता' अपने पति की योजना और आदर्श—मानों पति-निष्ठा की सांस्कारिक भावना—से प्रेरित होकर हरिप्रसन्न की ओर आकर्षित-समर्पित हुई या अपनी ही वासना-शांति की छिपी लालसा से चालित होती गई ? या अपने स्त्रीत्व को सार्थक करने की भावना एवं दर्शन से लाचार बनी—मानों परम-पुरुष के अभीष्ट को पूरा करने, महा-प्रकृति के बन्ध्यत्व को छुड़ाने की प्रेरणा से—पुरुष को प्रयोजन-दान में नियोजित करने के लिए

---

१. पृ० ६५। २. पृ० ३४। ३. पृ० १३७
४. पृ० १६०।

समर्पित हुई ?[1] कभी वह हरिप्रसन्न के आश्रय से उसकी जाँघ पर लेटकर, उसकी 'कृतज्ञ' बनती है और कभी उसी के साथ जाने के लिए पति के चित्र से अनासक्ति की शक्ति के लिए बल माँगती है। इसी तरह यह प्रश्न भी उठता है कि अन्त में सुनीता नग्न होकर पतिता हो गई या पति की आज्ञा का चरम अनासक्त पालन करके पति-परायणा ? एक ओर वह घर को छोड़कर जाते हुए परास्त हरि की पदरज लेती है और दूसरी ओर श्रीकांत से 'नाथ हमें छोड़कर जाना मत' की पुकार भी वही मचाती है। पर-पुरुष के सामने नंगी लेट जाने वाली तथा अन्त में अपने पति से ही लजाने—व्याजव्रीड़ा से 'हटो-हटो' कहने—वाली सुनीता में विरोध है या विरोधाभास? या दोनों नहीं, क्योंकि वह 'छलना' है।

सुनीता की इसी विचित्रता—पत्नीत्व और स्त्रीत्व के निर्वाह की समतुल्य स्थिति—को लक्षित कर श्रीकांत उपन्यास के अन्त में कहता है—"उस तस्वीर में जिसको चिर-जिज्ञासा में हरिप्रसन्न ने 'तु !' से सम्बोधन किया है वह पीछे कुछ और है, पहले नारी है। मैं, भी क्या तुमसे कहूँ कि अरी ओ छलनामयी ! अरी ओ तू !" श्रीकांत ने नारी, सुनीता, को 'छलनामयी' कहा है और हरिप्रसन्न उसे 'मायामयी' कहता रहा है।[2]

इस तरह 'सुनीता' उपन्यास प्रश्नों की जि[illegible] समाप्त होता है। इसका मूलाधार है सुनीत्व। इसलिए उपन्यास का नामकरण भी इसी पर है।

नारी के उपर्युक्त स्वरूप के समर्थन में, तथा नारी-पुरुष की समतुल्य-सापेक्ष स्थिति के स्पष्टीकरण में, लेखक ने 'प्रस्तावना' में कही अपनी तटस्थता की नीति को भी त्यागकर एक स्थान पर संक्षिप्त निबन्ध ही लिख दिया है। इससे 'सुनीता' में मानव-चरित्र की वह शाश्वत समस्या सामने आती है जो अन्त में सुनीता एवं हरिप्रसन्न के आचरण से भी अनुमोदित हुई है; देखिए—"हमने हरिप्रसन्न और सुनीता नाम दिए हैं। वे नाम झूठ नहीं हैं, पर नाम ही हैं। सुनीता स्त्री है, हरिप्रसन्न पुरुष है। उन नामों के बहुत नीचे जाकर उन दोनों में एक केवल स्त्री रह जाती है; दूसरा पुरुष रह जाता है···हम कहते हैं पति और पत्नी, प्रेमी और प्रेयसी, माता और पुत्र, बहिन और भाई। वह सब ठीक है। वे तो स्त्री-पुरुष के मध्य परस्पर योगायोग के मार्ग से बने नाना सम्बन्धों के लिए हमारे नियोजित नामकरण हैं। किन्तु सर्वत्र कुछ बात तो सम-भाव से व्यापी है। सब जगह स्त्री-पुरुष इन दोनों में परस्पर दीखता है आँशिक समर्पण, आँशिक स्पर्धा।···एक में दूसरे पर विजय की भूख है, किन्तु एक को दूसरे हाथों पराजय की भी चाहना है ही। एक दूसरे को जीतेगा भी, किन्तु उसके लिए

१. पृ० ६७।   २. पृ० १५३।

मिटेगा भी कैसे नहीं ? दोनों में परस्पर के लिए उत्सर्ग पोने की कांक्षा। वे दोनों विरोधी भाव स्त्री-पुरुष के बीच में समतोल हैं। समतोल इसलिए नहीं कि वे बँटे हुए हैं, प्रत्युत इसलिए कि वे दोनों ही वहाँ अपनी-अपनी पूर्णता में हैं। जहाँ इन दोनों का विरोध भी सिद्ध है और समन्वित ऐक्य भी, उस विस्फोटक महा तत्व के लिए, अरे क्या शब्द है ? उसे किस संज्ञा के सहारे निर्देश करके हम भौंचक रह जाते हैं ?"[1] सुनीता ने नग्न समर्पण से हरिप्रसन्न को परास्त किया और उससे अपने को न मारने की प्रतिज्ञा करवाई किन्तु साथ ही सुनीता की इच्छानुसार विवाह कर लेने की बात न मानकर हरिप्रसन्न की विजय भी रही। यही नहीं सुनीता को उसकी पदरज भी लेनी पड़ी। इस अवसर पर गुप्त जी की ये पंक्तियाँ स्मरण हो आती हैं—

प्रेमियों का प्रेम गीतातीत है,
हार में भी परस्पर जीत है।

'विरोध और समन्वित ऐक्य' की समान स्थिति गीतातीत ही हो सकती है—प्रश्न ही बनी रह सकती है।

हरिप्रसन्न और सुनीता के बाद, श्रीकांत के चरित्र का विश्लेषण करने पर किन्हीं अन्य मनोवैज्ञानिक तथ्यों का उद्घाटन होता है। श्रीकांत की दृष्टि से 'सुनीता' की कथा [illegible] जीवन की निरानंद अनुभूति के साथ[2] और अन्त आनंद-प्राप्ति के साथ होता है।[3] प्रारम्भ से ही यह स्पष्ट हो जाता है कि श्रीकांत को अपने मित्र हरीप्रसन्न की याद सताती रहती है, उसके साथ बिताए हुए विद्यार्थी-जीवन का वह स्मृत्यवलोकन करता है और उसे बुलाने के लिए पत्र लिखता है। उसमें श्रीकांत अपना हृदय खोलकर रख देता है। वह स्वीकार करता है कि उसकी पत्नी अत्यन्त सुन्दर है, फिर भी वह उसे "रिझा नहीं सकता दीखता"—उन दोनों का आन्तरिक मेल नहीं, इसलिए जहाँ वह हरिप्रसन्न के जीवन को, काम की स्वीकृति से, संतुलित करने के लिए उसे बुलाता है वहाँ इससे भी अधिक अपने घर में नई वायु लाने के लिए आमंत्रित करता है। हरिप्रसन्न के बद्ध काम-भाव को वह अपनी पत्नी सुनीता से खोलना चाहता है, इसलिए उसकी एक फोटो भी उसे भेजता है। यहाँ यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि श्रीकांत में ऐसी कौन सी दुर्बलता-मजबूरी है जो उसे सुनीता को वैवाहिक-जीवन के प्रारम्भिक वर्षों में भी, पूर्णतया पाने नहीं देती, वह आहें भर कर रह जाता है और इसके लिए पर-पुरुष—फिर चाहे वह मित्र ही क्यों न हो—का आश्रय लेना आवश्यक हो जाता। लेखक ने इसे रहस्य ही रहने दिया है और इसका कोई कारण नहीं दिया। केवल यही लिखा है कि श्रीकांत और

---

१. पृ० १०४-५।   २. पृ० ७।   ३. पृ० १८६, १९१।

हरिप्रसन्न का स्वभाव नहीं मिलता, फिर भी श्रीकांत, दृढ़ होते हुए भी, 'स्फूर्ति के लिए मानों हरि की अपेक्षा रखता" है ।[1] अतएव यहाँ श्रीकांत की 'इस विचित्र दुर्लभ प्रकृति' के लिए मनोविश्लेषणात्मक विधि अनेक सम्भावनाएँ उठा सकती है। "कालेज में वह (हरि) मिला था। मिला कि वह श्रीकांत के जीव में बस चला" ।[2] —प्रथम परिचय में ही ऐसा तीव्राकर्षण क्यों ? क्या श्रीकांत स्वभाव-वैषम्य के कारण हरि की ओर आकृष्ट है ? क्या वह नपुंसक है जो सुनीता को रिझा नहीं सकता ? —परन्तु वह तो पुष्ट देह का है। क्यों वह सुनीता से भी अधिक अपने मित्र की ओर आकृष्ट है ? क्यों वह घर आने पर उसके सुख-दुख के लिए बेचैन है ? "हरी-प्रसन्न जो भी है, और जो भी होता है, श्रीकांत को तो वही स्वीकार है" —ऐसा क्यों ?[3] वह उसके सुधार के लिए, बिना-हिचक अपनी पत्नी की इज्जत को भी दाँव पर लगाना चाहता है ? यह कैसी बात है कि एक ओर तो वह सुनीता को निषिद्ध की उपेक्षा करके भी हरी को संतुष्ट करने का आदेश देता है और दूसरी ओर हरि-प्रसन्न को न झुकने, निर्मम रहने और बढ़ते रहने का प्रोत्साहन, आश्वासन ।[4] ऐसी पूर्व-योजना क्यों ? यह सीमा मित्रता का अतिक्रमण कर यह सम्भावना उपस्थित कर देती है कि क्या वह हरिप्रसन्न के प्रति समलिंगी कामभावना[5] से प्रेरित तो नहीं ? और हरिप्रसन्न के जाने के बाद, यही स्थानान्तरीकरण की प्रक्रिया से सुनीता की और तो नहीं हो जाती ? (यह मन की वह छिपी प्रक्रिया है जो एक व्यक्ति से सम्बद्ध द्वेष या प्रेमादि की प्रवृत्ति को किसी दूसरे पर आरोपित कर देती है। प्रमाणस्वरूप, हरिप्रसन्न के चले जाने और किसी प्रकार भी रोके न जा सकने की बात सुनीता से सुनकर वह उसे आवेश में ऊपर उठाकर आलिंगन में बाँध लेना चाहता है।[6] उस समय सुनीता के चेहरे पर आ गया नव-वधू जैसा भाव मानों यही कहता जान पड़ता है—"मैं तो सदा तुम्हारी हूँ फिर छिः छिः। मेरे लिए यह प्रेम का आवेश कैसा ? और ऐसा धीरज क्यों खोते हो ?" यह उल्लेखनीय है कि श्रीकांत

---

१. पृ० ६। २. पृ० ३। ३. पृ० ७६। ४. पृ० १४४ तथा १३३।

५. Freud : "The neuroses : Man's sexuality", 'Introductory lectures on Psycho-Analysis', trans. Joan Rivirere, p. 256.

"In these people, only the same sex as their own can rouse sexual desire; the other sex .. has absolutely no sexual attraction for them, can even in extreme cases be an object of abhorrence to them...Such Persons are called homosexuals or inverts."

६. "सुनीता", पृ० १८६।

की सुनीता के प्रति यह आवेशपूर्ण प्रेम-याचना[1] उपन्यास में पहली बार ही सामने आयी है, और अभी उसे मन-ही-मन यह विश्वास भी नहीं हुआ कि हरिप्रसन्न की ग्रंथि निकली भी है या नहीं; अन्यथा एक बार पुनः प्रसंगारम्भ करते हुए उसे सुनीता से यह पूछने की आवश्यकता न रहती –"अब भी क्या हरिप्रसन्न में ग्रंथि अवशिष्ट है ? उसे क्या फिर बुलाने का साधन नहीं हो सकेगा ?"[2] इसका उत्तर जो मिलता है वह भी अनिश्चयात्मक है—"मैं तुम से सच कहती हूँ कि मैंने उनसे यही कहा कि वह जावें नहीं, रुकें। सच कहती हूँ, मैंने अपने को नहीं बचाया। जाने वह कहाँ गये हैं। मुझे लगता है..."

सुनीता ने अपने को नहीं बचाया, इससे यही अर्थ कैसे निकल सकता है कि हरि की ग्रथि निकल गई ? यदि इससे ग्रंथि निकलने की व्यंजना-ग्रहण कर भी ली जाए तब भी आगे का कथन उसकी आशंकाशीलता का द्योतक है जो श्रोता को भी संशय में डाल देता है; उससे तो विपरीत मत ही अधिक ध्वनित होता है। बात को बीच में ही काट कर श्रीकांत इसका जो उत्तर देता है, उससे हमारी बात का समर्थन हो जाएगा; वह कहता है—"देखना होगा, कहाँ गया है। बट आवर क्वीन कैन डू नो राँग।" —इस कथन का पहला वाक्य हरिप्रसन्न की स्थिति से सम्बन्धित है। पहला वाक्य स्पष्ट ही अनिश्च्यात्मक है और दूसरा निश्चयात्मक है। इस पूरे कथन से श्रीकांत सुनीता को मानों यह कहता जान पड़ा है—"उनकी ग्रंथि चाहे निकली है या नहीं, किन्तु तुमने कोई त्रुटि नहीं की।" इस प्रकार अपने मित्र की गाँठ खुलने के सम्बन्ध में विश्वस्त हुए बिना ही श्रीकाँत सुनीता से प्रेम का अनुभव करने लगा फिर चाहे अपने आदेश का पालन समझकर, चाहे उदारतावश या जाने-अनजाने भोला बनकर वह उसे कहता है कि तुम गलती नहीं कर सकतीं। वस्तुतः ऐसा कहना उसके स्थानान्तरित उद्‌बुद्ध प्यार का ही परिचायक है। अतएव उसका यह प्रेमावेग सुनीता के मित्रोपकार करने की कृतज्ञता नहीं कहा जा सकता। उपन्यास का अन्त भी पारस्परिक प्रेममयी भावनाओं के साथ हुआ है—मानों उनका जीवन आनंदमय हो उठा हो।[3] इस तरह श्रीकांत का जीवन अहिंसा-दर्शन का प्रतिनिधि होता हुआ भी, मूलतः अपनी एक वैयक्तिक-मनोवैज्ञानिक समस्या रखता है।

कुल मिलाकर, सारांश में, 'सुनीता' में लेखक ने एक दार्शनिक उद्देश्य की

---

१. Freud : "transference", 'Introductory lectures on Psycho-Analysis', p. 369.

"The transference can express itself as passionate petitioning for love, or it can take less extreme forms; . ."

२. "सुनीता", पृ० १६१। ३. पृ० १६१।

अपेक्षा नर-नारी विषयक नैसर्गिक प्रश्नों तथा उनके अचेतन रहस्यों के प्रति पाठकों को जिज्ञासोन्मुख करने तथा चौंकाने में अधिक सफलता प्राप्त की है। यद्यपि लेखक ने आलोचकों द्वारा 'सुनीता' पर रवीन्द्रनाथ के 'घर-बाहर' उपन्यास के प्रभाव के आरोप के उत्तर में, इन दोनों उपन्यासों के पारस्परिक अन्तर को स्पष्ट करते हुए, 'सुनीता' में घर और बाहर की अभेदानुभूति के दार्शनिक उद्देश्य को महत्व दिया है[1] तथापि इसको पाठक अत्यल्प ही ग्रहण कर पाता है।

'सुनीता' के उद्देश्य के सम्बन्ध में आलोचकों-पाठकों के निर्णयों में जो बहु मतभेद रहा है, उसका कारण एक तो 'विरोध भी और समन्विति ऐक्य भी' की अव्याख्येय-प्रवृत्ति, द्विमुखी सम्भावनाएँ, प्रश्नता या समस्यापरकता रही है। पाठक प्रायः दो टूक निर्णय चाहता है जो लेखक कम देता है। वह चिंतन को गति देता है, सीधी दिशा नहीं—ऐसी 'चैतन्य गति' जिसमें पाठक स्वयं ही दिशा-दर्शन कर सके। फिर भी यह कहना ही पड़ता है कि लेखक ने कहीं-कहीं जानकर पाठक को व्यर्थ में अनिश्चय में रखा है। उदाहरणतया, श्रीकांत सुनीता से अपने मित्र की ग्रंथि निकालने के लिए कृतज्ञता-प्रकाशन कर चुका है, किन्तु पुनः यह प्रश्न पूछता है कि उसकी ग्रंथि निकली या नहीं। इसका उसे निश्चयात्मक उत्तर नहीं दिया गया—यह स्पष्ट किया जा चुका है। इससे पाठकों को भी व्यर्थ में संशय में डाल दिया गया है। स्पष्ट ही यह स्थिति प्रभाव की पूर्णता में बाधक है।

दूसरा कारण असाधारण पात्र हैं जो हमें अपने रहस्य-व्यवहारों से चौंकाते अधिक हैं, पाठकों से तादात्म्य की भूमि कम प्रस्तुत करते हैं; इसका सजग प्रमाण स्वलिंगी काम-ग्रस्त श्रीकांत है। वह पुरुषोचित ईर्ष्या तक से रहित है। मीराँ फिल्म के अवसर पर उसमें किंचित् द्वन्द्व का परिचय दिया गया है किन्तु आगे उसका विकास नहीं किया गया और यह अस्वाभाविक है।

तीसरा कारण यह है कि छोटे से कलेवर और कुछ ही पात्रों में वह अनेक प्रश्न उठा देता है। एक ही पात्र एकाधिक, और परस्पर विषम से पक्षों का प्रतिनिधि बन जाता है। एक-एक पात्र परस्पर निरपेक्ष प्रेरणाओं से संचालित होता है। प्रमाणतया, श्रीकांत को मनोवैज्ञानिक ग्रंथि से चालित मानें या लेखक के कथनानुसार आध्यात्मिक साधन से प्रेरित ? ये दोनों प्रेरणाएँ उलझ कर रह जाती हैं, सुलझ नहीं पातीं। और इस उलझन में लेखक की कहीं विकलात्मक मुखरता और कहीं अवांछित तटस्थता दोनों साधक हुई हैं। उसने 'प्रस्तावना' में अपनी तटस्थता का दावा करते हुए लिखा है—"पाठक पुस्तक में मुझे मुश्किल से पाएगा। यह नहीं कि मैं उसके प्रत्येक शब्द में नहीं हूँ, लेकिन पुस्तक के जिन पात्रों के माध्यम से मैं पाठकों को

---

१. "साहित्य का श्रेय और प्रेय", "आलोचक के प्रति", पृ० ११७-१२२।

प्राप्त होता हूँ, प्रत्येक स्थान पर उन पात्रों के अनुरूप मेरा रूप विकृत हो जाता है। उन्हें सामने करके मैं ओट में हो जाता हूँ।

"सृष्टि सृष्टा को छिपाए है। मुझे भी इन पात्रों के पीछे छिपा मानें; पर सृष्टि सृष्टा को ही व्यक्त करती है, और यह पुस्तक मुझे व्यक्त करने को बनी है। फिर भी सृष्टि ही तो दीखती है, सृष्टा नहीं दीखता है?" यह कथन मुख्यतः चरित्र-चित्रण को लेकर है गौणतः समग्र विधान को लेकर। निस्सन्देह लेखक पात्रों के मुख से बोला है और खूब बोला है किन्तु प्रत्यक्षतः उसने निबन्ध-तत्व का समावेश दो स्थलों पर ही किया है। वहाँ उसने स्पष्ट लिख दिया है कि उसे जीवन-व्यापार की कौनसी प्रणाली प्रिय लगती है और कौन-सी नहीं। इन दोनों में सुनीता और हरिप्रसन्न को सम्बन्धित भी कर दिया है।[1] एक ओर उपन्यास का प्रश्नांत स्वरूप है और दूसरी ओर ऐसी सिद्धांत-मुखरता है—वह स्वयं निर्णय देता भी है और शिल्प से वही व्यंजित करना चाहता नहीं, या कर पाता नहीं—अतएव अस्पष्टता की सम्भावना ही हो सकती है। एक दूसरे स्थल पर उसके विचार कुछ बढ़कर कथा-गति में बाधक हो रहे थे, इसलिए उस क्रम को तोड़ते हुए वह लिखता है—"लेकिन हम कहानी कहें"—और वह कहानी लिखने लगता है।[2] श्रीकांत को उसने प्रारम्भ में ही स्पष्ट सहानुभूति दे दी है; उसके विचारों में वह विशेष मुखरित है। इस पात्र ने जैसा योजनाबद्ध प्रयोग किया है, वह भी लेखक को स्पष्ट कर देता है। अतएव लेखक ने जितनी मात्रा में तटस्थता का दावा किया है उससे हम सहमत नहीं।

प्रेमचन्द के एक-दो उपन्यासों में, और उसके पूर्ववर्ती अनेक उपन्यासों में, कथा-कथन की वह स्थूल शैली मिलती है जिसमें लेखक पाठकों को साक्षात् सम्बोधित करने लगता है और कृति से उसकी उपस्थिति का निरन्तर आभास मिलता रहता है। 'सुनीता' में भी यह स्थूल प्रवृत्ति दो-तीन स्थलों पर लक्षित होती है।[3] 'लेकिन हम कहानी कहें', 'हमने हरिप्रसन्न और सुनीता नाम दिए हैं' तथा 'किन्तु यहाँ एक चोरी की बात कहनी होगी', तक तो चल सकता था किन्तु सत्या का चरित्र-चित्रण करते हुए वह पाठकों को समझाने लगता है—"पर अठारह बरस की लड़की को अभी आप अनजान मत समझ लीजिएगा। नहीं तो खतरा खाइएगा।...सत्या को भली तो कह लीजिए, पर किसी और भरोसे आप मत रहिएगा।...सो ऐसी निर्बोध वह नहीं है। जी हाँ, वह उसमें अर्थ भी देखती है..."।[4] इस दृष्टि से लेखक अपने युग से पीछे गया है। वस्तुतः लेखक अपनी तटस्थता का उपयोग वहाँ करता है जहाँ वह अनेक स्थलों पर द्विमुखी सम्भावनाओं को बने रहने देता है और अपना पक्ष

---

१. पृ० १०३-४।
२. पृ० १०४-५।
३. पृ० १०४, १०५, १०८।
४. पृ० १६०-६१।

स्पष्ट नहीं करता; अथवा 'सिरजनहार' की तरह जहाँ उसकी सृष्टि का वैचित्र्य समझने में आभास करना पड़ता है। पात्रों के अन्तर्बाह्य भेदों में उनकी गहन अचेतन ग्रंथियों, अतिवादी पात्रों के असामान्य व्यवहारों, उनकी जीवनगत लघु-सूक्ष्म गतियों कथागत अंतरालों, प्रतीक-दृश्यों आदि से जिस विचित्र रहस्यमय वातावरण की सृष्टि होती है, उसे लेखक की तटस्थ नीति कम ही स्पष्ट करती है। इससे जहाँ दुरूहता आती है वहाँ पाठकों को पहेलीवत् रहस्यों को सुलझाने का आनन्द भी मिलता है।

इस प्रकार का आनन्द लेने के लिए 'सुनीता' उपन्यास प्रबुद्ध पाठकों तथा अपने पुनःपठन की माँग कर सकता है। यह दुरूहता पहले उपन्यास के प्रभाव को कम करती है किन्तु दूर होने पर चमत्कृत भी करती है। फिर भी, यह मानना होगा कि यदि लेखक पात्रों के (विशेषतया श्रीकांत के) अचेतन रहस्यों को खोलने के लिए मनोविश्लेषण के सूत्रों की ओर इंगित करता, आवश्यकता से अधिक सांकेतिकता का उपयोग न करता, तो उपन्यास की दुरूहता में कमी आ जाती।

'सुनीता' में मनोवैज्ञानिक उद्देश्य के अनुकूल मनोवैज्ञानिक उपन्यासों के शिल्प की अधिकांश विशेषताएँ मिल जाती हैं। इस सम्बन्ध में 'प्रस्तावना' में लेखक ने अपने दृष्टिकोण को स्पष्ट कर दिया है—"पुस्तक में मैंने कहानी कोई लम्बी-चौड़ी नहीं कही है। कहानी सुनाना मेरा उद्देश्य भी नहीं है। अतः तीन-चार व्यक्तियों से ही मेरा काम चल गया है। इस विश्व के छोटे से छोटे खण्ड को लेकर हम अपना चित्र बना सकते हैं और उसमें सत्य के दर्शन पा सकते हैं। उसके द्वारा हम सत्य के दर्शन करा भी सकते हैं। जो ब्रह्माण्ड में है, वही पिण्ड में भी है। इसलिए अपने चित्र के लिए बड़े कन्वास की ज़रूरत मुझे नहीं लगी। थोड़े में समग्रता क्यों न दिखाई जा सके?"[1] लेखक का यह दार्शनिक मन्तव्य शिल्प के मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से भिन्न नहीं। अचेतन के रहस्यों में रत मनोवैज्ञानिक उपन्यासकार के लिए तीन-चार पात्र ही पर्याप्त हो सकते हैं क्योंकि उनमें गहरे उतरा जा सकता है। इनके द्वारा वह समग्र मानवता में व्याप्त मानव की मूल भावनाओं तक पहुँच सकता है अतएव सत्य के दर्शन पा-करा सकता है। इसके अतिरिक्त पात्र अपनी प्रमुखता प्राप्त कर लेते है, उनके छोटे-छोटे व्यवहार इतने सार्थक हो उठते हैं, तथा उनकी जटिल रहस्यात्मकता अपने-आप में उत्सुकता-कौतूहल के ऐसे तत्व जुटा लेती है कि उनसे पृथक् कहानी-तत्व का भान ही नहीं होता—कथा-पात्रों के भीतर से विकसित होकर चरित्र-कथा बन जाती है। आंतरिक प्रेरणाओं को महत्व मिलने से बाह्य परिस्थितियों का प्रभाव गौण हो जाता है और उपन्यास का कन्वास छोटा।

'सुनीता' में उपर्युक्त सभी विशेषताएँ मिलती हैं। इसमें प्रासंगिक कथाओं से शून्य एक ही अविच्छिन्न तथा एकमुखी कथा है, जो केवल एक-दो वर्षों के गृह-जीवन को लेकर चली है।

'सुनीता' में वर्णन-प्रधान कथानक की बजाए मानसप्रधान कथानक है। पात्रों का अचेतन नाना प्रकार के रहस्यों से भरा हुआ है। 'सुनीता' में भी अन्तर्जीवन के रहस्यों को समझने की उत्सुकता है, परम्परागत घटना-चमत्कार-जन्य कौतूहल के तत्व गौण हैं। तीनों प्रमुख पात्रों—प्रतीक होते हुए भी व्यक्ति-वैचित्र्य-सम्पन्न कुण्ठाग्रस्त पात्रों—के विवेचन से हमारी बात स्पष्ट हो गई होगी, फिर भी उस सम्बन्ध में कुछ और स्पष्टीकरण उचित होगा।

'सुनीता' का आरम्भ दो प्रमुख पात्रों के चरित्र के साथ हुआ है जो एक चरित्र-प्रधान उपन्यास के अनुरूप है। मनोवैज्ञानिक उपन्यासों में प्रायः चरित्र स्वतः खुलते हैं किन्तु यहाँ लेखक ने पात्रों को अपनी धारणा स्वयं बनाने का अवसर नहीं दिया है—पहले ही दोनों के चरित्र का सार-संक्षेप दे दिया है। किन्तु लेखक ने यह सप्रयोजन किया है। कुछ उपन्यासकार उपन्यासारम्भ में कथागत कौतूहल या किसी और रोचकता का आश्रय लेने का कौशल दिखाते हैं; यहाँ लेखक ने चरित्रगत उत्सुकता का आधार लिया है। विरोध के झटकों से हरिप्रसन्न के विचित्र चरित्र को ऐसे सामने लाया गया है कि उससे विषम स्वभाव वाले उसके मित्र श्रीकान्त के लिए जैसे वह सदा 'अज्ञेय' तथा अपेक्षित रहा है, वैसे ही पाठक के मन में भी अपने लिए किंचित् उत्सुकता जगा देता है। वस्तुतः इन दोनों का जो चरित्र-सार दिया गया है वह इन्हें पाठकों को स्पष्ट नहीं कर देता बल्कि और अधिक जानने को उत्सुक बनाता है। यथा, श्रीकात की सापेक्षता में हरिप्रसन्न के चरित्र की कुछ रेखाएँ द्रष्टव्य हैं :—"खूब चतुर, खूब कर्मण्य, खूब सप्राण और एकदम अज्ञेय—ऐसा वह (हरि) था। सबके सब काम आता था। सदा व्यस्त रहता था। किन्तु उसके बारे में ज्यादा जानकारी किसी के पास न थी।

"श्रीकान्त आधा मन देना नहीं जानता। पर हरि की थाह का पता न मिलता था। परिणाम यह था कि यद्यपि श्रीकान्त अवस्था में और श्रेणी में बड़ा था और उसके खर्च का भी अधिकांश बोझ उठाता था, फिर भी आपसी सम्बन्धों की अपेक्षा, श्रीकान्त कुछ अनुप्रार्थी और अनुगृहीत प्रतीत होता था, हरिप्रसन्न प्रधान और अपेक्षणीय।···हरिप्रसन्न का चेहरा कुछ नुकीला और काया स्वल्प थी। छुटपन से वह अपने को पिता के घर से तोड़कर भाग आया था और जहाँ हो, जब हो, अपने लिए जगह बना लेने के बारे में वह बेफ़िक्र रहता था। वह वृत्ति से कुछ संदेहशील,

चतुर, कर्मकुशल, तीक्ष्ण बुद्धि, और परिस्थिति से सम्पन्न था। वह अत्यन्त परार्थतत्पर था, पर स्वयं खटाई में न पड़ता था। जीवन के सम्बन्ध में वह हिसाबी था पर स्थूल हिसाब पर न चलता था। वह अपने दिए पैसे और लिए पैसे भूलता नहीं था, पर ऐसी बात कभी मुँह पर न लाता था। और कोई सिद्धांत उसके निकट ऐसा अन्तिम और ऐसा अपना न था कि उसको लेकर किसी से उलझने की धुन उसमें चढ़े"।[१] अतएव किसी बाह्यत. भरे-पूरे, कर्म-निष्ठ किन्तु मूलत: 'अज्ञेय' की 'थाह'-पाने की उत्सुकता-तत्परता से श्रीकांत और पाठक चलने हैं। दूसरे परिच्छेद में पता चलता है कि श्रीकांत को 'विरलों में विरल', पत्नी मिली है परंतु फिर भी वह आनंदित नहीं—अतएव एक नूतन उत्सुकता जागृत होती है—और हरिप्रसन्न की याद उसका और तीव्रता से पीछा करती है। "तब (श्रीकांत की) पिछली गड़ी बाते अंगड़ाई लेती उखड़ती-सी है" और पूर्वदीप्ति पद्धति के प्रयोग से, षड्यन्त्रों तथा असहयोग आंदोलनों में भाग लेने, बार-बार बंदी होने और मौत के विचार से हेल-मेल बढ़ाने किन्तु सांसारिकता को हेय दृष्टि से देखने वाले हरिप्रसन्न की कुछ झलक मिलती है।[२] यह झलक हमें और उत्सुक बनाती है। श्रीकान्त हरिप्रसन्न को सांसारिकता में लगाने के लिए, मानों संतुलित करने के लिए, अपने घर में आमंत्रित करता है। किन्तु आमंत्रित करने के लिए जिस साधन—अपनी पत्नी की फोटो भेजने—से वह हरि-प्रसन्न के बद्धकाम को उद्‌बुद्ध करता है, वह प्रचलित नैतिकता के विरुद्ध विचित्र-असाधारण होने से हमें चौंकाकर श्रीकान्त को समझने के लिए भी उत्सुक बना देता है। सारांश यह कि बाह्य घटनाएँ नहीं, पात्रों की जटिल रहस्यमता तथा उनके अप्रचलित-असामान्य व्यवहार हमें उत्सुक बनाते रहते हैं। यह कितना विचित्र है कि श्रीकान्त हरिप्रसन्न के निमित्त से सुनीता को, अपनी पत्नी को ही, प्राप्त करना चाहता है। यह वैचित्र्य और बढ़ जाता है जब श्रीकान्त उस योजना को हरिप्रसन्न को बता देता है और हरिप्रसन्न इस बात का अर्थ-खोजने के लिए घूमने लगता है।[३] हरिप्रसन्न के लिए यह रहस्य पाठक के लिए भी है। इसी प्रकार निम्न पंक्तियों में सुनीता की हरिप्रसन्न के रहस्य को पा लेने की साध, पाठकों की भी है—"उसका हृदय उसे बताता था कि यह आदमी हरिप्रसन्न जितना है, उतना ही नहीं है। साहसिक हो, पर भीरू भी है। निश्चिन्त दीखता है, पर वेदना से अछूता भी नहीं है। उसमें वेदना है···सुनीता का मन उसे दोहरा-दोहरा कर मानो यह सूचना देता था। किसको लेकर यह वेदना है ?—इस बारे में भी जैसे उसके मन के भीतर कुछ पता था फिर भी मानों उसका पूरी तरह लेखा-जोखा वह खोज लेना चाहती थी।"

इसी प्रकार श्रीकान्त भी उलझन में पड़ा दीखता है—"हरि की आत्मा में कहाँ गाँठ पड़ी है कि यह अतर्क्य होता जाता है, कुछ भी समझ में नहीं आता। वह तो जैसे अपने भीतर भेद को पाल रहा है, यों तो कब वह विचित्र न था; पर यह एकदम दुर्गम दुर्ज्ञेय हो उठने जैसी बात नहीं थी"।[1]

अन्त में जब हरिप्रसन्न के रहस्य का निरावरण हो जाता है तथा श्रीकान्त भी सुनीता को पा लेता है तब सुनीता की कथा भी समाप्त हो जाती है।

श्रीकान्त हरिप्रसन्न के साथ सुनीता के पत्नीत्व और नारीत्व के द्वन्द्व को लकर भी उत्सुकता बनी रहती है। एक सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक शृंगारिक त्रिकोण की स्थिति से कथा में सरसता भी आ गयी है। यह त्रिकोण पति और प्रेमी को लेकर चलने वाला परम्परागत त्रिकोण नहीं, पत्नीत्व और नारीत्व को, संस्कार और वासना को लेकर चलने वाला मनोवैज्ञानिक त्रिकोण है। सुनीता का हरिप्रसन्न और हरिप्रसन्न का सुनीता के प्रति आकर्षण तथा स्पर्षण, आदर्शों की आड़ लेकर, तीव्र मार्मिक अन्तर्द्वन्द्वों के साथ, जैसे धीरे-धीरे उत्तरोत्तर बढ़ता चला जाकर नग्न आत्मसमर्पण के घटना-विस्फोट में परिणत होता और पुनः नाटकीय प्रत्यावर्तन पाता है, वह लेखक की औतसुक्यवर्द्धक कला-कुशलता का परिचायक है। दोनों के क्रमबद्ध भाव-विकास से यह लगता ही नहीं कि लेखक कहानी नहीं कहना चाहता। यह अवश्य है कि परम्परागत घटनाप्रधान कथानक का निर्माण उसका लक्ष्य नहीं फिर भी उपन्यास के अन्तिम पृष्ठों में संयोग-तत्व के आधार पर उत्सुकता, रोचकता के तत्वों का समावेश भी हुआ है। ये तत्व निम्नस्थ प्रसंगों के आधार पर हैं—

१. जिस रात हरिप्रसन्न और सुनीता बाहर जाते हैं उसी रात श्रीकान्त बाहर से लौट आता है।

२. उसी रात श्रीकान्त हरिप्रसन्न की कार के नीचे आते-आते बचता है।[2]

३. हरिप्रसन्न अपने क्रांतिकारियों साथियों को स्फूर्ति देने के लिए, सुनीता को जंगल में लेजा रहा होता है कि क्रांतिकारियों के पकड़े जाने या खतरे की सूचक लाल रोशनी दीखने लगती है।

४. सुनीता के बाहर जाने की रात उसके मायके लखनऊ से खरबूजे आते हैं और उसकी माँ नौकर के हाथ उन्हें सुनीता के घर भेजना चाहती है। इससे सुनीता के रात बाहर रहने के राज़ खुलने का खतरा हो जाता है। सत्या को इसके लिए विचित्र संघर्ष करना पड़ता है। उस रात सत्या श्रीकान्त को भी घर जाने से रोकने

---

१. पृ० ७८। २. पृ० १७२।

का प्रयत्न करती है। वस्तुतः सत्या-सम्बद्ध ४० वें परिच्छेद की सृष्टि ही औत्सुक्य-वर्द्धन के लिए की गई है।

उपर्युक्त प्रसंग गिने जा सकते हैं क्योंकि इनकी बहुलता नहीं है। वस्तुतः 'सुनीता' के कथानक में पात्रों के दैनन्दिन के लघु-लघु तथा सामान्य से प्रतीत होने वाले व्यापार प्रमुख हैं जो उनकी [illegible] के द्योतक हैं। पात्रों के अधिकांश कथन, अनुभाव, साधारण क्रियाएँ, चितन, अन्तर्द्वन्द्व, तर्क-वितर्क उनके अभ्यन्तर का किसी न किसी रूप मे उद्घाटन करते रहते है। लगता है जैसे सभी पात्र भावों से भरे हुए हैं और इसलिए उनके क्रिया-व्यापार अन्तर के सूचक या प्रतीक बनकर आते हैं। कुछ उदाहरण हमारी बात को स्पष्ट करेंगे। हरिप्रसन्न ने (सुनीता के आग्रह से) घर में निश्चित समय पर खाना-खाना स्वीकार किया है, किन्तु वह नही आता। सुनीता सारी तैयारी करके उसकी प्रतीक्षा करती है। वह नहीं आता तो वह उस सितार को लेकर बैठ जाती है जिस पर उसने आज तक धूल चढ़ने दी थी। सत्या सुनीता की सितार के स्वरों से आनंदित होने की बजाए, घबराने लगती है क्योंकि उनमें गूँज से अधिक चीख थी। स्वरों का चरम-सीमा पर चढाकर ही वह खाना खा पाती है। यह और कुछ नहीं उसके आहत विक्षुब्ध काम-भाव की व्याकुल वेदना है।[1] इसी तरह हरिप्रसन्न अपने अभाव को चित्रों में कील देता है। अन्यत्र वह झाड़ू दे देकर घर को पूरी तरह साफ़ करता है क्योंकि वह सुनीता श्रीकान्त के प्रति अपने कृतज्ञता के बोझ को किसी न किसी रूप में हल्का करना चाहता है। हरिप्रसन्न अपने पहरावे तथा साज-सज्जा के प्रति कभी सजग नहीं रहा किन्तु क्रांतिकारी साथियों के लिए सुनीता को स्फूर्ति की देवी के रूप में बाहर ले जाते हुए वह उसे अच्छे से अच्छे कपड़े पहनने के लिए कहता है—यह उसके अन्तर में विकसित काम-भाव के कारण है।[2] इसी तरह सिनेमा देखने की गर्हणा करने वाला—पहली बार भी विशेष अनुरोध पर सिनेमा जाने वाला—अब सुनीता को स्वयं ही सिनेमा लेकर चल देता है और उसके भीतर की वासना—उसकी युक्तिकरण की प्रक्रिया के बावजूद—लक्षित होती जाती है।[3] पात्रों की मनोदशा तथा चारित्र्य के परिचायक प्रतीक-दृश्यों का विवेचन पहले किया जा चका है।

'सुनीता' की कथा का विकास निरन्तर घरेलु वातावरण की यथार्थता-सजीवता के भीतर से हुआ है। चौका-बुहारी, खाना-पीना, सोना-उठना आदि पात्रों को कुछ न कुछ लगा ही रहता है किन्तु ये सभी पात्रों की मानसिकता को इंगित करते रहते हैं। साथ ही इनसे उपन्यास के चिंतन-भार में किंचित् हलकापन भी आता

---

१. २१ वाँ परिच्छेद। २. पृ० १७५। ३. पृ० १७६-७७।

रहता है। इसके अतिरिक्त वातावरण की वास्तविकता भी बनी रहती है। किन्तु वास्तविकता के लिए, अतिरिक्त वातावरण-तत्व का समावेश यहां नहीं हुआ।

अब पात्रों की वास्तविकता को देखें। यह आलोचित किया जा चुका है कि 'सुनीता' के पात्र व्यक्ति-पात्र हैं। यहां कला की दृष्टि से यह उल्लेख कर देना आवश्यक प्रतीत होता है कि व्यक्ति-पात्रों में भी ऐसी वर्गीय या साधारण विशेषताओं का मेल अपेक्षित होता है जिनसे पात्रों से एकात्मीकरण के लिए समुचित भाव-भूमि तैयार हो सके। इन तीनों पात्रों में से सुनीता पाठकों के निकट है क्योंकि उसके अन्तःसंघर्षों में भारतीय नारी के संस्कारों का पर्याप्त परिचय दिया गया है। उसकी निर्लज्जता भी पति का आश्रय लेकर चलती है। इसलिए विचित्र प्रयोग का साधन बनी सुनीता से हम दूर रहते हुए भी उसके अन्तर्द्वन्द्वों से प्रभावित होते हैं। हरिप्रसन्न-जैसे पात्र भी हमसे अधिक दूर नहीं रहते किन्तु श्रीकांत तो विरल-विशेष ही बना दिया गया है। एक असामान्य एवं विचित्र पात्र को भी अपनी यथार्थतः-जनित सफलता के लिए जितनी सार्विकता अनिवार्य है उतनी श्रीकांत के चरित्र में नहीं।[१] वैसे भी उसके चित्रण की रेखाएँ स्वल्प तथा अपर्याप्त हैं।

यहाँ स्थिर पात्र केवल एक ही है सुनीता। वह पर्याप्त आगे बढ़कर प्रत्यावर्तित होती है। श्रीकांत में गतिशीलता उसके प्यार के स्थानांतीकरण में है। हरिप्रसन्न को अपनी कुण्ठा तथा व्यर्थ की असाधारणता का रोग समझ में आ जाता है, अतएव वह स्पष्ट ही गतिशील है।

पात्रों के अन्तरंग चित्रण के रूप में उनके चारित्र्य विकास के प्रेरक कारण-तत्वों या उनकी कर्म-प्रेरणाओं की संक्षेप में गणना हो सकती है। इन तत्वों में सर्व-प्रमुख है काम जो तीनों पात्रों में व्याप्त है। हरिप्रसन्न में अहं भी संयुक्त है। सुनीता में काम के अतिरिक्त संस्कारों का भी पर्याप्त योग है। ये संस्कार उसकी विवेक-बुद्धि के भी द्योतक हैं। पति से प्रेमी के प्रति उन्मुखता का आश्वासन पाकर भी वह अपनी विवेक-बुद्धि—अचेतन संस्कारों—के कारण ही अपनी काम-प्रवृत्ति से संघर्षरत रहती है। पत्नीत्व से अलग होकर नारीत्व के धरातल पर सोचने में सुनीता की अहं-वृत्ति का बोध भी होता है। इसके अतिरिक्त ये सभी पात्र नियतिवादी भी हैं।

पात्रों के अन्तर्द्वन्द्वों का यहाँ पर्याप्त चित्रण हुआ है। केवल श्रीकांत इनसे

---

१. Christropher Lafarge : "Fiction: Some personal beliefs", 'The writers Book', p. 175.

"Characterisation to be successfully real must border forever on universality. Even the most peculiar unusual character must have some qualities of the universal kind."

मुक्त है। इन अन्तर्द्वन्द्वों का सीधा साक्षात्कार नहीं होता, लेखक की व्याख्या के रूप में ही पाठक इन्हें पाता है। फिर भी, कुछ गिने-चुने स्थलों पर, विशेषतया सुनीता के दीर्घ अन्तर्द्वन्द्वों में, स्फुट अन्तर्विवादों का स्वरूप भी मिल जाता है क्योंकि वहाँ लेखक पाठकों और पात्रों के सीधे सम्बन्ध को कुछ छूट देकर आता है। यथा निम्नस्थ उद्धरण में लेखक प्रथम पंक्ति में आकर अपने को पृथक् कर लेता है और पाठक पात्र के मानस से सीधा सम्बन्धित हो जाता है—"वह सोचने लगी कि अगली रात तक ही मानो उसका यह जन्म है। क्या अगली रात पुनर्जन्म ही नहीं ले लेना होगा ?—वे लोग कौन हैं ? वे क्या चाहते है ?···किन्तु सच, परिवार ही क्या व्यक्तित्व की परिधि है ? क्या मैं इसी में बीतूँ ? क्या इसे तोड़कर नाँघकर, एक बड़े हित में खो जाने को मै न बढ़ू ? उस विस्तृत हित के लिए जीऊँ, उसी के लिए मरूँ तो क्या यह अयुक्त है, अधर्म है···और मेरे स्वामी, तुम कहाँ हो ? कहाँ हो ?··· कल रात···वह क्या जीवन है ? वहाँ उत्सर्ग ही व्यक्ति का लक्ष्य बनता है, संचय से व्यक्ति वहाँ पराङ्मुख होता है। मैं इनसे इन्कार कर सकती हूँ? मैं सच, कैसे इन्कार कर सकती हूँ लेकिन कल रात मुझे कहाँ जाना होगा ?···ओ स्वामी तुम कहाँ हो? कहाँ हो···"लेखक के तनिक हस्तक्षेप के पश्चात् सुनीता का 'भाव-प्रवाह' लगभग एक पृष्ठ तक गतिशील रहता है किन्तु अन्त में लेखक 'इसी तरह की बातें उसके मन में उठने लगीं' कहकर पाठकों और पात्रों के सीधे-भाव-सूत्र को झटक देता है। सुनीता का यह अन्तर्विवाद लगभग युक्तियुक्त रूप में, अनुक्रमित है अतएव यह पूर्ण अन्तर्विवाद नहीं कहा जा सकता। 'सुनीता' में प्रायः परोक्ष अन्तर्विवाद ही अधिक हैं।

'सुनीता' में पात्रों के चरित्र-चित्रण की एक ऐसी विशेषता मिलती है जो प्रायः बहिर्मुखी उपन्यासकारों की है, मनोविश्लेषणात्मक अन्तर्मुखी उपन्यासकारों की नहीं; वह है पात्रों के बाह्य चरित्र-चित्रण की। फिर भी हम देखेंगे कि यह सप्रयोजन है और प्रायः पात्रों के अभ्यन्तर के उद्घाटन में सहायक। 'सुनीता' में पात्रों की आकृति-वेशभूषा का चित्रण विभिन्न स्थलों पर कहीं तो स्पष्ट रूप से और कहीं संवाद-क्रम में सांकेतिक विधि से हुआ है। दुसरे, यह कहीं पूर्ण ब्योरेवार है, कहीं अपूर्ण तथा कहीं एकांगी मात्र। विभिन्न स्थलों पर बाह्य चित्रण के निम्न उद्देश्य लक्षित किए जा सकते हैं :—

क. पात्रों को पाठकों के समक्ष साकार करने के लिए; जैसे प्रारम्भ में श्रीकांत और हरिप्रसन्न का चरित्र-सार देते समय लिखा गया है – "श्रीकांत खुले मन, पुष्ट देह, सुन्दर वर्ण···का पुरुष था। हरिप्रसन्न का चेहरा कुछ नुकीला और काया स्वल्प थी"।[1]

---

१. पृ० ६।

ख. पात्रों की विचित्रता-विशिष्टता को मूर्तिमान करने के लिए; जैसे, हरिप्रसन्न की बढ़ी हुइ दाढ़ी, बड़े-बड़े बालों, खद्दर के लम्बे कुरते, गले की चादर, तथा ऊँची धोती से उसकी चारित्रिक विचित्रता पर मुहर लगाई गई है।[1] उसकी बढ़ी हुई दाढ़ी मानों उसकी सांसारिकता की उपेक्षा-वृत्ति की परिचायक बन जाती है। इसलिए उसे सांसारिकता में प्रवृत्त करते के लिए सुनीता उसकी दाढ़ी को साफ़ कराना आवश्यक समझती है।

ग. सुनीता के विशिष्ट उद्देश्य के साधन-रूप-में —विरक्त-से हरिप्रसन्न के बद्ध काम-भाव की गाँठ खोलने के लिए उसे स्थान-स्थान पर सुनीता के सौन्दर्य से प्रभावित किया गया है। इस सौन्दर्य-वर्णन की सार्थकता का तो एक क्रमिक इतिहास है। पहले-पहल श्रीकांत हरिप्रसन्न को अपने घर में आमन्त्रित करने के लिए उसे किसी के प्रति उत्सुक बनाना चाहता है। अतएव पत्र के साथ सुनीता की फ़ोटो भी भेजता है; लिखता है—"अपनी भाभी की तस्वीर देखो, और कहो, तुम्हें स्त्री से छुट्टी चाहिए? उनकी आँखें मुझे बहुत तंग करती है, तुम जानते हो, परवश होना मुझे कभी नहीं भाया। पर जहाँ वश न चले वहाँ क्या हो"?[2] तदुपरांत जब हरिप्रसन्न पहले-पहल घर में प्रविष्ट होता है तो उसे कार्य में व्यस्त सुनीता के स्वाभाविक सौन्दर्य—'अरे ठहरना मैं तैयार नहीं हूँ!' वाली अस्त-व्यस्त स्थिति के सौन्दर्य—से मुग्ध किया गया है; देखिए—"सुनीता उस समय बड़ी मनोमुग्धकर जान पड़ती थी, काम की लाली थी, शेष विश्व के प्रति अनजान लापरवाही, खुला सिर, अस्तव्यस्त बाल।"[3] तब हरिप्रसन्न का सुनीता के घर पहली बार खाना खाने का समय आता है। सुनीता के सौन्दर्य को झेलने में कठिनाई होने के कारण वह चौके में खाना बनाती हुई सुनीता को न देखकर बरबस नीचे ही देखता रहता है। पर जब 'जरा थाली आगे कीजिए' को सुनकर उसे सहसा लज्जित-सा होने पर सामने देखना पड़ा तो उसे "एक बाँह, गोरी-गोरी बाँह" दिखाई देती है। पुनः देखने पर, उसे मिलता है—"सुनीता मुस्करा रही थी। उसे ध्यान न था कि बालों की लट बिखरी भी हो सकती है" और इस पर हरिप्रसन्न का मन जाने कैसे हो जाता है। इसके बाद सिनेमा जाने का कार्यक्रम है। अतएव, सुनीता ने धानी रेशमी साड़ी पहन ली, "चोटी ठीक कर ली, माथे पर बिन्दी बैठा ली, चेहरे को एक निगाह ठीक देखकर पास कर लिया"।[4] और हरिप्रसन्न इस साज-शृंगार के प्रभाव से बच न सका। "उसकी रेशमी साड़ी की धानी आभा···काँपती हुई झलमल-झलमल हरिप्रसन्न की आँखों में रह गई। और उसके कानों में साड़ी की तरल पर्तों को छूकर जाती हुई समीर की सर-

१. पृ० १९। २. पृ० १०। ३. पृ० २७। ४. पृ० ४८।

सराहट भरने लगी। मानों कुछ हौले-हौले बज रहा हो, कुछ भीना-भीना बरस रहा हो और भीतर से उसे भिजो रहा हो"।[1] अन्त में हरिप्रसन्न जब सुनीता को स्फूर्ति की देवी बनाकर बाहर ले जाना चाहता है तब भी वह उसे 'रेशमी' कपड़े पहने देखना चाहता है। वह देवी चौधरानी को सौन्दर्य की देवी भी बनाना चाहता है। उस समय हरिप्रसन्न ने सौन्दर्य के प्रभाव-सार को इस प्रकार प्रकट किया है— "सौन्दर्य ईश्वर के ऐश्वर्य का एक रूप है भाभी, सौन्दर्य शक्ति है, सौन्दर्य-आदर्श है। वह स्फूर्ति देता है, पवित्रता देता है, जो असुन्दर है वह सत्य भी कैसे है ?" सुनीता जब सज-धज के सामने आती है तो वह सोचता है कि "वस्त्र क्या व्यक्ति में इतनी प्रभा डाल सकते हैं ?" उस समय हरिप्रसन्न के मन में हुआ कि कहे, "भाभी, मुझे क्षमा करो। इन कपड़ों को मत पहनो। वह बहुत हैं, मुझसे झिलेंगे कैसे" ?[2] हरिप्रसन्न के इस कथन से सुनीता के प्रारम्भिक साक्षात्कार के समय, उसके सम्बन्ध में कही गई लेखक की निम्न पंक्तियों की सांकेतिक सार्थकता सिद्ध हो जाती है—"एक फेंट देकर उसे कमर में कस लिया।···कमर पर कसी धोती का फेंटा जैसे कहता था कि कोई अवश्य परास्त होगा"।[3] इस प्रकार पात्रों की आकृति तथा सज्जा के चित्रण ने 'सुनीता' के उद्देश्य में विशेष योग दिया है।

पात्रों का चरित्र-चित्रण कुछ तो लेखकीय मन्तव्यों से सीधे हुआ है और कुछ उनके लघु-लघु कार्यों से संकेतित हुआ है; इसके अतिरिक्त श्रीकांत और हरिप्रसन्न के चित्रण में क्रमशः पत्र-पद्धति तथा कला-सर्जना की मनोवैज्ञानिक शैली का उपयोग भी हुआ है। फ्रायड के अनुसार कलाकार वह व्यक्ति है जो अपनी अतृप्त कामनाओं की संतुष्टि के लिए कला का निर्माण करता है और उस निर्माण में संतुष्टि पाता है।[4] हरिप्रसन्न के चित्र में भी उसकी काम-कुण्ठा व्यक्त हुई है—अभाव-पूर्ति की विफलता में यह जिन्दगी के 'क्रूसीफिक्शन' का चित्र है।[5]

पात्रों तथा कथा की पृष्ठभूमि के रूप में देशकाल के चित्रण का अपना महत्व होता है किन्तु 'सुनीता' में देश-काल उपेक्षित उपकरण है। इसका कारण यह है कि वह अभ्यन्तर के कलाकार हैं, उनका दृष्टिकोण अन्तर्मुखी है और वह मानव के चरित्र-विकास में मानव की मूल वृत्तियों तथा संस्कारों को महत्व देते हैं, बाह्य परिस्थितियों को नहीं। इसके अतिरिक्त उन्होंने सामयिक समस्याएँ भी नहीं लीं जो

---

१. पृ० ५०। २. पृ० १७५। ३. पृ० २७।

४. Hoffman : "Freudianism and the Literary Mind", p. 96.

५. "सुनीता", पृ० १३७।

बाह्य प्रसार के चित्रण की माँग करतीं, अतएव 'सुनीता' में कहीं भी देशकाल का प्रत्यक्ष वर्णन नहीं हुआ। देशकाल का जो रूप यहाँ है, वह सारा व्यंग्य है। तीन-चार स्थलों पर १९३२ का काल संकेतित है।[1] क्रांतिकारी पात्र की गति-विधि तथा भाषणों में पराधीन भारत की स्वाधीनता का प्रश्न तथा उसके लिए किए जाने वाले हिंसक-अहिंसक उपायों का आभास भी मिलता रहा है। भारत की आर्थिक विक्रांति, दरिद्रता-दुख[2] आदि भी व्यंजित हैं परन्तु कथा-चरित्र-विकास, या उनको वास्तविक धरातल पर प्रतिष्ठित करने के उद्देश्य की दृष्टि से इन व्यंजित परिस्थितियों का महत्व गौण है। उपन्यास में दिल्ली, हरिद्वार आदि के नाम अवश्य आए हैं, अधिकांश कार्यव्यापार भी दिल्ली में ही हुआ है, किन्तु यह काम इनके उल्लेख के बिना भी चल सकता था; क्योंकि उनका वातावरण प्रस्तुत नहीं हुआ। लेखक की विशिष्टता इसमें है कि वह देशकाल के चित्रण की उपेक्षा से अपना गुज़ारा सफलता से चला सका है और लघु-उपन्यास की प्रभावान्विति की दृष्टि से वह इधर-उधर बहका नहीं।

प्रकृति-चित्रण केवल एक स्थल पर है। जहाँ हुआ है, वहाँ यह सुन्दर तथा आवश्यक प्रतीत होता है। लेखक ने हरिप्रसन्न को सुनीता के प्रति कामासक्त करने के लिए एकांत और रात की अनुकूल परिस्थिति ही नहीं दी, नशीली प्रकृति के उद्दीपन का मधुर उपकरण भी दिया है।[3]

'सुनीता' में वर्णन, विश्लेषण, चिंतन तथा वार्तालाप का सामंजस्य है। यहाँ वार्तालाप यथेष्ट हैं और कहीं-कहीं वर्णन भी वार्तालाप की रंगत से रोचक हो गया है; देखिए—"हरिप्रसन्न ने स्त्रियों को कम देखा है? नहीं, कम नहीं देखा है। कम सुन्दर स्त्रियों को देखा है? नहीं, अतीव सौन्दर्य-शालिनियों को भी देखा है। किन्तु सबको ठीक-ठीक अपेक्षणीय रूप में ही देखा है। 'हाँ, मैं तैयार हूँ' वेशभूषा की ओर से जब वे इस स्थिति में रही हैं, तभी हरिप्रसन्न उसके साथ मिला, बोला, अथवा हंसा है। 'अरे ठहरना, मैं तैयार नहीं हूँ।' स्त्री की ऐसी हालत में तो उसके सामने वह कभी नहीं पड़ पाया है।"

'सुनीता' की योजनामय तथा चरित्र-प्रधान प्रकृति के अनुरूप कथोपकथन कथा-विकास की अपेक्षा उद्देश्य तथा चरित्र-चित्रण में कहीं अधिक सहायक हैं। इनके मानस-प्रधान अन्तर्मुखी पात्र कम बोलते हैं, परन्तु थोड़े में बहुत बोलते हैं—इनके कथोपकथन सार्थक तथा व्यंजक हैं। छोटे-छोटे वाक्यों वाले सरल-साधारण तथा निरर्थक से प्रतीत होने वाले वार्तालाप सम्पूर्ण औपन्यासिक संदर्भ अथवा आगे

१. पृ० ४३, ३४। २. पृ० १३७-३८। ३. पृ० १८१-८२।

चलकर सम्बद्ध संदर्भ में विशेष सार्थक हो जाते हैं। उदाहरणतया, नवें परिच्छेद में श्रीकांत हरिप्रसन्न को 'चले आओ' का आदेश देते हुए जब पहली बार घर में लाता है तब वह कमरे के जाले साफ़ करने का कार्य बीच में ही छोड़ती सुनीता से कहता है—"क्यों, सब साफ हो गया ?—अभी तो वह कोना बचा है?" किन्तु सुनीता नए मेहमान के सामने अपनी अस्त-व्यस्त स्थिति को बचाने की फिकर में है। इसलिए बिना उत्तर दिए चले जाने लगती है। इस पर श्रीकांत फिर कहता है..."ठहरो जाती कहाँ हो ? पूरा अभी साफ कहाँ हुआ है ?—और यह हरिप्रसन्न है।"

सुनीता असमंजस में पड़ी चली भी न जा सकी। इतने में श्रीकान्त वह झाड़ू का बाँस ले आकर देते हुए बोला—"लो, उस कोने को भी खतम कर डालो।"

"भला देखो इन्हें ! "सुनीता बिना कहे यह कहकर साड़ी के पल्ले को माथे के आगे जरा सरका कर कमरे से बाहर हो गई।'[1] यहाँ जाले साफ कराने की धुन के संदर्भ में श्रीकांत का सुनीता को अपने मित्र का नाम लेकर चलता परिचय कराना कितना निरर्थक है किन्तु प्रतीकार्थ व्यंजना में कितना सार्थक—कमरे के नहीं हरिप्रसन्न के मन के जाले को साफ करने में सुनीता को उपलक्ष्य बनना है। अस्त-व्यस्त दशा में किसी पुरुष मेहमान के अकस्मात आगमन से हड़बड़ाई सुनीता को जाले साफ करते रहना का दुराग्रह किया जाना उसे असमंजस में डाल देता है अतएव उस परिस्थिति-विशेष में उसका अनबोले बोलना कितना सार्थक है और लाज से कपड़ा आगे कर चलते बनना कितना मर्यादित एवं आकर्षक। यह स्पष्ट है कि श्रीकांत के कथनों के संकेतार्थ का सौन्दर्य एकदम स्पष्ट नहीं होता, उपन्यास को पढ़ते-पढ़ते ही पता चलता है। इसी से कुछ रहस्य-सृष्टि भी होती है।

डॉ० देवराज उपाध्याय ने जैनेन्द्र के उपन्यासों के प्रसंग में लिखा है कि जो मनोवैज्ञानिक कथाकार होगा उसमें 'कथोपकथन की अधिकता होगी पर ये कथोपकथन वार्तालाप शैली (conversational style) में होंगे मानों कोई भरे दिल से बातें कर रहा हो, उसकी बातों की जड़ दिल की गहराई में हो, वे दिल की गहराई से उखाड़ कर रखे गये हों और उखाड़ते समय उनकी कोमल मिट्टी और जड़ की शिरायें भी लगी चली आई हों। जो वर्णनात्मक उपन्यास होते हैं मानों उसमें एक वृक्ष की ऊपरी शिरायें शाखायें काट-काट कर हमारे सामने रख दी गई होती हैं उनमें मोटे-मोटे तने और शाखायें होती हैं जो ऊँचाई का आभास भले ही देती हों पर गहराई की अतल व्यापी गम्भीरता की झलक उपस्थित नहीं करती"।[2] यह कथन 'सुनीता' के लिए भी सत्य है। उदाहरणतया, सुनीता की अनुपस्थिति में खाना

---

१. पृ० २८। २. "आधुनिक हिन्दी कथा साहित्य और मनोविज्ञान", पृ० १४४।

बाह्य प्रसार के चित्रण की मांग करती, अतएव 'सुनीता' में कहीं भी देशकाल का प्रत्यक्ष वर्णन नहीं हुआ। देशकाल का जो रूप यहाँ है, वह सारा व्यंग्य है। तीन-चार स्थलों पर १९३२ का काल संकेतित है।[1] क्रांतिकारी पात्र की गति-विधि तथा भाषणों से पराधीन भारत की स्वाधीनता का प्रश्न तथा उसके लिए किए जाने वाले हिंसक-अहिंसक उपायों का आभास भी मिलता रहा है। भारत की आर्थिक विकृति, दरिद्रता-दुख[2] आदि भी व्यंजित हैं परन्तु कथा-चरित्र-विकास, या उनको वास्तविक धरातल पर प्रतिष्ठित करने के उद्देश्य की दृष्टि से इन व्यंजित परिस्थितियों का महत्व गौण है। उपन्यास में दिल्ली, हरिद्वार आदि के नाम अवश्य आए हैं, अधिकांश कार्यव्यापार भी दिल्ली में ही हुआ है, किन्तु यह काम इनके उल्लेख के बिना भी चल सकता था; क्योंकि उनका वातावरण प्रस्तुत नहीं हुआ। लेखक की विशिष्टता इसमें है कि वह देशकाल के चित्रण की उपेक्षा से अपना गुजारा सफलता से चला सका है और लघु-उपन्यास की प्रभावान्विति की दृष्टि से वह इधर-उधर बहका नहीं।

प्रकृति-चित्रण केवल एक स्थल पर है। जहाँ हुआ है, वहाँ यह सुन्दर तथा आवश्यक प्रतीत होता है। लेखक ने हरिप्रसन्न को सुनीता के प्रति कामासक्त करने के लिए एकांत और रात की अनुकूल परिस्थिति ही नहीं दी, नशीली प्रकृति के उद्दीपन का मधुर उपकरण भी दिया है।[3]

'सुनीता' में वर्णन, विश्लेषण, चिंतन तथा वार्तालाप का सामंजस्य है। यहाँ वार्तालाप यथेष्ट हैं और कहीं-कहीं वर्णन भी वार्तालाप की रंगत से रोचक हो गया है; देखिए—"हरिप्रसन्न ने स्त्रियों को कम देखा है? नहीं, कम नहीं देखा है। कम सुन्दर स्त्रियों को देखा है? नहीं, अतीव सौन्दर्य-शालिनियों को भी देखा है। किन्तु सबको ठीक-ठीक अपेक्षणीय रूप में ही देखा है। 'हाँ, मैं तैयार हूँ' वेशभूषा की ओर से जब वे इस स्थिति में रही हैं, तभी हरिप्रसन्न उसके साथ मिला, बोला, अथवा हंसा है। 'अरे ठहरना, मैं तैयार नहीं हूँ।' स्त्री की ऐसी हालत में तो उसके सामने वह कभी नहीं पड़ पाया है।"

'सुनीता' की योजनामय तथा चरित्र-प्रधान प्रकृति के अनुरूप कथोपकथन कथा-विकास की अपेक्षा उद्देश्य तथा चरित्र-चित्रण में कहीं अधिक सहायक हैं। इनके मानस-प्रधान अन्तर्मुखी पात्र कम बोलते हैं, परन्तु थोड़े में बहुत बोलते हैं—इनके कथोपकथन सार्थक तथा व्यंजक हैं। छोटे-छोटे वाक्यों वाले सरल-साधारण तथा निरर्थक से प्रतीत होने वाले वार्तालाप सम्पूर्ण औपन्यासिक संदर्भ अथवा आगे

१. पृ० ४३, ३४। २. पृ० १३७-३८। ३. पृ० १८१-८२।

चलकर सम्बद्ध संदर्भ में विशेष सार्थक हो जाते हैं। उदाहरणतया, नवें परिच्छेद में श्रीकांत हरिप्रसन्न को 'चले आओ' का आदेश देते हुए जब पहली बार घर में लाता है तब वह कमरे के जाले साफ़ करने का कार्य बीच में ही छोड़ती सुनीता से कहता है—"क्यों, सब साफ हो गया ?—अभी तो यह कोना बचा है?" किन्तु सुनीता नए मेहमान के सामने अपनी अस्त-व्यस्त स्थिति को बचाने की फिकर में है। इसलिए बिना उत्तर दिए चले जाने लगती है। इस पर श्रीकांत फिर कहता है..."ठहरो जाती कहाँ हो ? पूरा अभी साफ कहाँ हुआ है ?—और यह हरिप्रसन्न हैं।"

सुनीता असमंजस में पड़ी चली भी न जा सकी। इतने में श्रीकान्त वह झाड़ू का बाँस ले आकर देते हुए बोला—"लो, उस कोने को भी खतम कर डालो।"

"भला देखो इन्हें ! "सुनीता बिना कहे यह कहकर साड़ी के पल्ले को माथे के आगे जरा सरका कर कमरे से बाहर हो गई।[1] यहाँ जाले साफ कराने की धुन के संदर्भ में श्रीकांत का सुनीता को अपने मित्र का नाम लेकर चलता परिचय कराना कितना निरर्थक है किन्तु प्रतीकार्थ व्यंजना में कितना सार्थक—कमरे के नहीं हरिप्रसन्न के मन के जाले को साफ करने में सुनीता को उपलक्ष्य बनना है। अस्त-व्यस्त दशा में किसी पुरुष मेहमान के अकस्मात आगमन से हड़बड़ाई सुनीता को जाले साफ करते रहना का दुराग्रह किया जाना उसे असमंजस में डाल देता है अतएव उस परिस्थिति-विशेष में उसका अनबोले बोलना कितना सार्थक है और लाज से कपड़ा आगे कर चलते बनना कितना मर्यादित एवं आकर्षक। यह स्पष्ट है कि श्रीकांत के कथनों के संकेतार्थ का सौन्दर्य एकदम स्पष्ट नहीं होता, उपन्यास को पढ़ते-पढ़ते ही पता चलता है। इसी से कुछ रहस्य-सृष्टि भी होती है।

डॉ० देवराज उपाध्याय ने जैनेन्द्र के उपन्यासों के प्रसंग में लिखा है कि जो मनोवैज्ञानिक कथाकार होगा उसमें 'कथोपकथन की अधिकता होगी पर ये कथोपकथन वार्तालाप शैली (conversational style) में होंगे मानों कोई भरे दिल से बातें कर रहा हो, उसकी बातों की जड़ दिल की गहराई में हो, वे दिल की गहराई से उखाड़ कर रखे गये हों और उखाड़ते समय उनकी कोमल मिट्टी और जड़ की शिरायें भी लगी चली आई हों। जो वर्णनात्मक उपन्यास होते हैं मानों उसमें एक वृक्ष की ऊपरी शिरायें शाखायें काट-काट कर हमारे सामने रख दी गई होती हैं उनमें मोटे-मोटे तने और शाखायें होती हैं जो ऊँचाई का आभास भले ही देती हों पर गहराई की अतल व्यापी गम्भीरता की झलक उपस्थित नहीं करती"।[2] यह कथन 'सुनीता' के लिए भी सत्य है। उदाहरणतया, सुनीता की अनुपस्थिति में खाना

---

१. पृ० २८। २. "आधुनिक हिन्दी कथा साहित्य और मनोविज्ञान", पृ० १४४।

बनाने के आयोजन में हरिप्रसन्न और श्रीकांत में हल्की-फुलकी बातें होती हैं और पहले कुछ लगता है कि ये व्यर्थ हैं किन्तु धीरे-धीरे श्रीकांत का निश्छल व्यक्तित्व स्पष्ट हो जाता है और उसकी सार्थकता भी सामने आ जाती है --श्रीकांत के 'निपट अबोध व्याहार' की सूचक खुली बातों से हरिप्रसन्न का सारा काठिन्य काफ़ूर हो जाता है ।[1] उपर्युक्त प्रसंग की तरह १०-१३ परिच्छेद भी दर्शनीय हैं जहाँ विनोद का पुट लिये हुए साधारण बातें भी रोचक तथा व्यंजक हैं ।

पात्रों के स्वभावानुकूल प्रायः श्रीकांत के कथनों में सरलता, हरिप्रसन्न में उद्दण्डता तथा सुनीता में विदग्धता मिलती है । सुनीता अपनी विदग्धता से हरिप्रसन्न को अनेक स्थलों पर निरुत्तर कर देती है और हरिप्रसन्न परास्त होता रहता है ।[2] सुनीता का चारित्रिक आकर्षण उसके वार्तालाप में व्यक्त है और यह इसकी बड़ी औपन्यासिक उपयोगिता है । उसके कथन प्रायः बड़े संयत हैं और अध-खुले; और खुलने पर उनमें अनेकार्थ की सम्भावना रहती है । यह उसके रहस्यमय व्यक्तित्व के अनुकूल है ।

'सुनीता' के संवाद प्रायः नाटकीय हैं । अनुभाव-विधान के चयनित चित्रण (कहीं-कहीं कोष्ठबद्ध उल्लेख) के साथ लघुता, सजीवता, प्रवाह, अधूरे-टूटे कथन, व्यावहारिक शब्दावली और कहीं-कहीं आकस्मिकता से इनमें अभिनयोचित स्वाभाविकता आ गई है । इस दृष्टि से 'सुनीता' का ३२ वाँ परिच्छेद आदर्श है । इसका कुछ अंश उद्धरणीय है जिसमें नाटकीयता के साथ पात्रों की आन्तरिकता भी स्पष्ट हो रही है--

श्रीकांत ने सुनीता की पीठ धीरे-धीरे थपकते हुए कहा, "मेरी सुनीता, मेरी रानी ! मैं तो तुम्हारा हूँ ।"

सुनीता स्वामी से अलग हो गई, पूछा, "तुम मेरे हो ? मेरे ही हो ? तो मुझे कहो, कि 'तुम मेरी हो' ।"

श्रीकांत—सुनीता !

सुनीता—कहो, मैं तुम्हारी हूँ । कहो, मैं तुम्हारी ही हूँ ।

श्रीकान्त—सुनीता !

सुनीता—कहो, कहो !

श्रीकान्त—मैं तुम्हारा हूँ, सुनीता !

सुनीता - 'और मैं तुम्हारी हूँ'— कहो

---

१. ६२ वाँ परिच्छेद । २. पृ० ११७-१८, २८, ३१, ३३ वाँ परिच्छेद ।

श्रीकान्त—और तुम मेरी हो।

सुनीता ने मानों भर पाया...

सुनीता ने कहा, "जाओगे—परसों ?"

श्रीकान्त—अगर कल नहीं, तो अवश्य परसों।

सुनीता—दूध ले आऊँ ?

श्रीकान्त ले आओ लेकिन—

सुनीता—ला रही हूँ।

दूध का गिलास लेकर जब लौटी तो श्रीकांत ने गिलास लेकर कहा, "और हरिप्रसन्न को दे दिया ?"

सुनीता मानों कहीं ऊँचे से टूट कर गिरी, बोली, "नहीं तो—"

श्रीकान्त—"पहले उसे देकर आओ !"

और श्रीकान्त अपने हाथ का गिलास वापिस करने लगा। सुनीता का मन कड़वा हो आया। बोली, "तो उन्हें कब नही देती ?"

श्रीकान्त—(गिलास अपने पास रहने देकर) सुनीता, हरिप्रसन्न को यों भूला न करो।

सुनीता ने बेहद खीझ कर कहा, "तो दिये तो आ रही हूँ।"

श्रीकान्त ने इस समय तनिक सदय भाव से कहा, "सुनो सुनीता, ऐसा है तो मुझे सचमुच सोचना चाहिए कि हरिप्रसन्न का अलहदा बन्दोबस्त क्या ज्यादा ठीक नहीं होगा।"

सुनीता—(जाते जाते) हाँ, वह ठीक रहेगा।

श्रीकान्त—(आविष्ट स्वर में) सुनीता !

सुनीता चली गई।[1]

लगता है लेखक रंगमंचीय निर्देश दे रहा हो। कहीं-कहीं नाटकीय परिस्थितियों ने बड़े व्यंजक तथा पैने वार्तालाप की सृष्टि की है; जैसे—

"भाभी, चुप होओ। बताओ तुम कहती हो, न जाऊँ ?"

मैं नहीं कहती। मैं कहती हूँ कि जाओ भले, पर भागो मत।...सच कहो, क्या मुझ से भागते हो ?—"

"तुमसे ?—हाँ—"

सुनीता कुछ मुस्कराई—"तो मैं भी तुमसे भागूँ ?"

"तुम ही कहती हो, भागो मत। मैं तो हाँ, कहता हूँ, भाग जाओ। वक्त रहे, तब तक भाग जाओ। मुझें भी कहो, मैं भाग जाऊँ। भाभी, नहीं तो—"

---

१. पृ० १२७-२८।

सुनीता ने व्यंग्य और विनोद भरे शब्दों में कहा, "नहीं तो प्रलय होगी, यही न कहते थे ? अच्छी बात है, मैं भागे जाती हूँ।"

कहकर वह उठ खड़ी हुई। तभी बाहर से आती हुई श्रीकान्त की आवाज़ सुन पड़ी—'हरिप्रसन्न !'

सुनीता खड़ी-होते होते बैठ गई, धीमे से बोली 'लो, मैं तो भाग चली थी पर भागने का तो द्वार ही रक्षक से घिर गया है।'[1] 'सुनीता' का अन्तिम पृष्ठ भी दर्शनीय है।

कहीं-कहीं नाटकीयता शब्द-विन्यास में व्यक्त है; जैसे, पात्र बोलते हैं :—"क्या-आ' या 'क्या-आ-आ', 'ए-एक'।

हम कथोपकथन के पहले प्रसंग में स्पष्ट कर चुके हैं कि किस प्रकार सुनीता ने अनबोले उत्तर दिया था। यह भी नाटकीयता का एक लक्षण है। अन्यत्र भी लेखक ने पात्रों की मुद्रा,[2] दृष्टि,[3] क्रियासंकेतों,[4] तथा इशारों[5] से बातें कही हैं जो परिस्थिति-विशेष में एक पात्र की सार्थक वार्ता-विधि है। मौनवार्ता का एक उदाहरण द्रष्टव्य है—

श्रीकांत ने (हरिप्रसन्न से) कहा चलो जी, चलो। (सुनीता से) लेकिन सुनो तो, यह दाढ़ी नहीं छोड़ना चाहते।"

सुनीता ने जाते-जाते हरिप्रसन्न की ओर देखा, बस देखा ही। हरिप्रसन्न झेंप सा-गया।[6]

अनेक स्थलों पर लेखक ने पात्रों के सार्थक मौन से उनके सम्भावित कथन को अनुमानित कर उत्प्रेक्षा-वाचक 'मानो' शब्द से लिख दिया है; यह जैसे मुद्रा-संवाद है; देखिए:—(हरिप्रसन्न के घर से चले जाने के कारणों की मीमांसा में द्वन्द्व-ग्रस्त) एकाएक श्रीकांत रुका। क्या वह ठिठका ? शायद ; किन्तु तभी वेग से बढ़कर उसने दोनों हाथों से सुनीता को उठा लिया, और वहीं आलिंगन में बाँध लेना चाहा।

सुनीता ने कहा, 'हैं देखो, क्या करते हो !"

और वह अलग होकर फिर बुहारी में लग गई।

इस 'व्यापार' में सुनीता के चेहरे पर मानो नव-वधू जैसा भाव आ गया। मानो कहती हो—"मैं तो सदा तुम्हारी हूँ। फिर छिः छिः। मेरे लिए यह प्रेम का

---

१. पृ० १३१। २. पृ० १४६। ३. पृ० ३६।
४. पृ० ३७। ५. पृ० ३६। ६. पृ० ३६।

आवेग कैसा ? और ऐसा धीरज क्यों खोते हो ? मुझे तनिक संभलने भी तो दो।" और वह बुहारी से आंगन बुहारने में ही लगी हो।' एक स्थल पर लेखक ने प्रत्यक्ष कथन तथा 'भाव-भंगिमा' से परिव्यक्त भाव से अन्तर्विरोध को स्पष्ट किया है।[2]

'सुनीता' की प्रकृति प्रश्नता-प्रधान है। यह उपन्यास युक्तिकरण की प्रक्रिया में सिद्ध दार्शनिक उक्तियाँ कहने वाले पात्रों को लेकर चला है। इसके अतिरिक्त लेखक ने विचार-प्रतिपादन के लिए अपने निबन्ध-तत्व की अपेक्षा पात्रों के संवादों का आश्रय लिया है, अतएव कुछ स्थलों पर संवादों का तार्किक हो जाना स्वाभाविक है और कहीं-कहीं आवेग-प्रधान पात्र (प्रायः हरिप्रसन्न) आवेग में व्याख्यान भी दे लेते हैं जो मनःस्थिति-विशेष में अनुचित नहीं।[3] फिर भी, कहीं-कहीं ये विचारात्मक व्याख्यान अनुचित रूप से लम्बे हो गए है और अवसर के अनुपयुक्त भी;[4] श्रीकांत को "बहुत दिनों के बिछुड़ने के बाद मिला हरि अचानक संसार भर के आर्थिक तथा मूल्य सम्बन्धी प्रश्नों का पचड़ा छेड़ देता है। यहाँ तक कि Unproductive skill का 'अनुत्पादक चालाकियों' के रूप में शारीरिक रूपान्तर भी कर देता है, अनुवाद भी नहीं करता। समाचार-पत्र के संवाददाता और परिस्थिति तथा शील की मर्यादा से अनुशासित पात्र में जो भेद है, वह भुला दिया जाता है। स्थूलता का एक और नमूना देखिए—हरि बोलता है—"शारीरिक श्रम का दान करने से श्रमियों के वर्ग का भला न होगा और प्रचलित मूल्यों में एक साथ गड़बड़ हो जाएगी।"—लगता है जैसे हम लोग उपन्यास नहीं पढ़ रहे है, हरिप्रसन्न किताब पढ़ रहा है।[5]

पात्रानुकलता की दृष्टि से, लेखक ने पात्रों के स्वभाव, मनःस्थिति आदि का ध्यान रखा है किन्तु भाषागत वैयक्तिकता उनमे नहीं—सभी लेखक की भाषा बोलते हैं। जैनेन्द्र जी विभिन्न पात्रों के विचारों-कार्यों में व्यक्त हैं या तटस्थ—यह विवाद हो सकता है किन्तु यह निश्चित है कि पात्रों की भाषा पर जैनेन्द्र जी छाए हुए हैं। वे अपने को बचा नहीं पाए, अतएव पात्रों को उनकी वाणी भी नही दे सके। शब्द-प्रयोग, वाक्य-रचना की प्रकृति तथा स्तर में न तो विभिन्न पात्रों में भेद है, न लेखक की शैली में।

शिक्षित तथा अधीत होने के कारण पात्रों की भाषा में विदेशी शब्दों तथा वाक्यों का खुलकर प्रयोग हुआ है। ये कहीं आवश्यकतावश, कहीं अवसरानुकूल विशेष सार्थकता लिए और कहीं यों ही आ गए है। अन्तिम पृष्ठ के श्रीकान्त-कथित 'बट अवर क्वीन कैन डू नो राँग' का आनंद प्रसंग के साथ ही लिया जा सकता है।

---

१. पृ० १८९। २. पृ० ७३। ३. पृ० २१-२४। ४. पृ० २१-२२

५. जगदीश पाण्डेय : 'शील निरूपण : सिद्धान्त और विनियोग', "सुनीता" खण्ड, पृ० ३९।

सुनीता ने व्यंग्य और विनोद भरे शब्दों में कहा, "नहीं तो प्रलय होगी, यही न कहते थे ? अच्छी बात है, मैं भागे जाती हूं।"

कहकर वह उठ खड़ी हुई। तभी बाहर से आती हुई श्रीकान्त की आवाज़ सुन पड़ी—'हरिप्रसन्न !'

सुनीता खड़ी-होते होते बैठ गई, धीमे से बोली 'लो, मैं तो भाग चली थी पर भागने का तो द्वार ही रक्षक से घिर गया है।'[1] 'सुनीता' का अन्तिम पृष्ठ भी दर्शनीय है।

कहीं-कहीं नाटकीयता शब्द-विन्यास में व्यक्त है; जैसे, पात्र बोलते है :—"क्या-आ' या 'क्या-आ-आ', 'ए-एक'।

हम कथोपकथन के पहले प्रसंग में स्पष्ट कर चुके हैं कि किस प्रकार सुनीता ने अनबोले उत्तर दिया था। यह भी नाटकीयता का एक लक्षण है। अन्यत्र भी लेखक ने पात्रो की मुद्रा,[2] दृष्टि,[3] क्रियासंकेतों,[4] तथा इशारों[5] से बातें कहीं है जो परिस्थिति-विशेष में एक पात्र की सार्थक वार्ता-विधि है। मौनवार्ता का एक उदाहरण द्रष्टव्य है—

श्रीकांत ने (हरिप्रसन्न से) कहा चलो जी, चलो। (सुनीता से) लेकिन सुनो तो, यह दाढ़ी नहीं छोड़ना चाहते।"

सुनीता ने जाते-जाते हरिप्रसन्न की ओर देखा, बस देखा ही। हरिप्रसन्न झेंप सा-गया।[6]

अनेक स्थलों पर लेखक ने पात्रों के सार्थक मौन से उनके सम्भावित कथन को अनुमानित कर उत्प्रेक्षा-वाचक 'मानो' शब्द से लिख दिया है; यह जैसे मुद्रा-संवाद है; देखिए—(हरिप्रसन्न के घर से चले जाने के कारणों की मीमांसा में द्वन्द्व-ग्रस्त) एकाएक श्रीकांत रुका। क्या वह ठिठका ? शायद ; किन्तु तभी वेग से बढ़कर उसने दोनों हाथों से सुनीता को उठा लिया, और वहीं आलिंगन में बांध लेना चाहा।

सुनीता ने कहा, 'हैं देखो, क्या करते हो !"

और वह अलग होकर फिर बुहारी में लग गई।

इस 'व्यापार' में सुनीता के चेहरे पर मानों नव-वधू जैसा भाव आ गया। मानो कहती हो—"मैं तो सदा तुम्हारी हूं। फिर छि: छि:। मेरे लिए यह प्रेम का

१. पृ० १३१। २. पृ० १४६। ३. पृ० ३९।
४. पृ० ३७। ५. पृ० ३६। ६. पृ० ३६।

आवेग कैसा ? और ऐसा धीरज क्यों खोते हो ? मुझे तनिक संभलने भी तो दो।" और वह बुहारी से आंगन बुहारने में ही लगी हो।' एक स्थल पर लेखक ने प्रत्यक्ष कथन तथा 'भाव-भंगिमा' से परिव्यक्त भाव से अन्तर्विरोध को स्पष्ट किया है।[२]

'सुनीता' की प्रकृति प्रश्नता-प्रधान है। यह उपन्यास युक्तिकरण की प्रक्रिया में सिद्ध दार्शनिक उक्तियाँ कहने वाले पात्रों को लेकर चला है। इसके अतिरिक्त लेखक ने विचार-प्रतिपादन के लिए अपने निबन्ध-तत्व की अपेक्षा पात्रों के संवादों का आश्रय लिया है, अतएव कुछ स्थलों पर संवादों का तार्किक हो जाना स्वाभाविक है और कहीं-कहीं आवेग-प्रधान पात्र (प्रायः हरिप्रसन्न) आवेश में व्याख्यान भी दे लेते हैं जो मनःस्थिति-विशेष में अनुचित नहीं।[३] फिर भी, कहीं-कहीं ये विचारात्मक व्याख्यान अनुचित रूप से लम्बे हो गए है और अवसर के अनुपयुक्त भी;[४] श्रीकांत को "बहुत दिनों के बिछुड़ने के बाद मिला हरि अचानक संसार भर के आर्थिक तथा मूल्य सम्बन्धी प्रश्नों का पचड़ा छेड़ देता है। यहाँ तक कि Unproductive skill का 'अनुत्पादक चालाकियों' के रूप में शारीरिक रूपान्तर भी कर देता है, अनुवाद भी नहीं करता। समाचार-पत्र के संवाददाता और परिस्थिति तथा शील की मर्यादा से अनुशासित पात्र में जो भेद है, वह भुला दिया जाता है। स्थूलता का एक और नमूना देखिए—हरि बोलता है—"शारीरिक श्रम का दान करने से श्रमियों के वर्ग का भला न होगा और प्रचलित मूल्यों में एक साथ गड़बड़ हो जाएगी।"—लगता है जैसे हम लोग उपन्यास नहीं पढ़ रहे हैं, हरिप्रसन्न किताब पढ़ रहा है।[५]

पात्रानुकलता की दृष्टि से, लेखक ने पात्रों के स्वभाव, मनःस्थिति आदि का ध्यान रखा है किन्तु भाषागत वैयक्तिकता उनमें नहीं—सभी लेखक की भाषा बोलते हैं। जैनेन्द्र जी विभिन्न पात्रों के विचारों-कार्यों में व्यक्त हैं या तटस्थ—यह विवाद हो सकता है किन्तु यह निश्चित है कि पात्रों की भाषा पर जैनेन्द्र जी छाए हुए हैं। वे अपने को बचा नहीं पाए, अतएव पात्रों को उनकी वाणी भी नहीं दे सके। शब्द-प्रयोग, वाक्य-रचना की प्रकृति तथा स्तर में न तो विभिन्न पात्रों में भेद है, न लेखक की शैली में।

शिक्षित तथा अधीत होने के कारण पात्रों की भाषा में विदेशी शब्दों तथा वाक्यों का खुलकर प्रयोग हुआ है। ये कहीं आवश्यकतावश, कहीं अवसरानुकूल विशेष सार्थकता लिए और कहीं यों ही आ गए हैं। अन्तिम पृष्ठ के श्रीकान्त-कथित 'बट अवर क्वीन कैन डू नो राँग' का आनंद प्रसंग के साथ ही लिया जा सकता है।

---

१. पृ० १८९। २. पृ० ७३। ३. पृ० २१-२८। ४. पृ० २१-२२

५. जगदीश पाण्डेय : 'शील निरूपण : सिद्धान्त और विनियोग', "सुनीता" खण्ड, पृ० ३९।

कहीं-कहीं पात्रों ने बोलचाल की स्वाभाविकता या व्यंग्य के लिए[1] शब्दों के अशिक्षित उच्चारण किए हैं। कहीं-कहीं प्रान्तीय शब्दों—तैंने, बिथा आदि···का प्रयोग भी किया है। लेखक के समान पात्रों ने भी शब्दों को बनाने-बिगाड़ने में स्वतन्त्र रुचि का परिचय दिया है।

लेखक की तरह पात्रों में भी क्रियापदों के प्रति विशेष रुचि है। इस सम्बन्ध में जगदीश पाण्डेय की सम्मति उल्लेखनीय है—"जैनेद्र जी की शैली जहाँ जैनेन्द्र उपन्यासकार की न होकर खास उनकी हो जाती है वहाँ वह एक लत-सी लगती है।

"जैनेन्द्र जी की इस दिशा में बस एक विशेषता है जो न तो अर्थ की मौलिकता-सी लगती न शब्द के कला-विलास की तरह लगता है जैसे उन्हे क्रिया-पदों का एक मोह हो। नमूना देखिए। कहीं तो यह मोह काम कर जाता है। हरिप्रसन्न को रुपये नहीं देगी ऐसा बहाना सुनीता करती है तो वह कहताहै ——

"तुम अपने प्रति अन्याय नहीं करोगी, भाभी, तुम कठिन नहीं होगी। कठिन तुम्हें नहीं होने दिया जायेगा। कठिन होने के लिए तुम भाभी नहीं हो।"

कितनी बातें हैं इसमें ? सुनीता की साधुता में हरि का विश्वास, उसकी तरलता में दयनीय आस्था, साथ ही हरि के संकल्प की एक बेढंगी धमकी। विन्यास की विचित्रता सनीता के प्रति हरि की भाव-मुद्रा का द्योतन करती है। गद्य में फिर लय है। लेकिन "तुम अपने प्रति अन्याय नहीं करोगी, तुम्हें कठिन नहीं होने दिया जायेगा।" क्रिया-पदों का कौतुक हठात् पात्र से ध्यान हटा लेता है। चरम वेला में सुनीता हरि से कहती है—"मेरी ओर देख कर तुम यह भी क्यों न कह सको हरि की जिससे मैं कहूँगी उससे शादी कर लोगे ?"

फिर वही बात—"तुम भी क्यों न कह सको।" क्रिया-पद की मौलिकता कहें या एक ऐसी लत जो लग गयी है तो लग गई है।

सोचिए तो यदि कोई कहे "तुम यह भी क्यों न कह सकना सको !" यह दूसरा नमूना देखिए—"मैं कह चुका हूँ कि ऐसी कोई बात नहीं है, नौकर रख लो, ज़रूर रख लो। पर हठ पकड़े पर किसकी चले ?"

"हठ पकड़े पर के की चले है" कह देने से तो शायद बोल-चाल की भाषा और निराली हो जाती" ![2]

'सुनीता' की भाषा-शैली अपनी नूतनता से चौंकाने वाली है। कह सकते हैं कि जैनेन्द्र की अपनी शैली है जिसको अनेक लेखकों में भी पृथक्-पहचाना जाना सहज है। मनोवैज्ञानिक उपन्यासों के प्रवर्तक जैनेन्द जी को अपनी नई शैली की

---

१. "सुनीता", पृ० ५१।

२. 'शील निरूपण : सिद्धान्त और विनियोग', "सुनीता" खण्ड, पृ० ४१।

आवश्यकता पड़ी। पात्रों में मनोमंथन के अंकन, उनके पारस्परिक भेद की सूक्ष्मताओं को पकड़ने तथा प्रतीक दृश्यों की सृष्टि करने के लिए उन्होने अभिव्यंजना को सूक्ष्म-सांकेतिक बनाया। पात्रों के रहस्य-जल-भरे काँच के मनोगिलास में उनकी शैली का (विज्ञान के Refraction सिद्धाँतानुसार) वक्र हो जाना स्वाभाविक है, किन्तु ऊपर से सरल-सीधी बने रहना भी। जैनेन्द्र जी की शैली की यह वक्र सरलता या सांकेतिक सादगी प्रसिद्ध है।

उनकी व्यास शैली है, जिसमें न तो समासों की भारी भरकमता या दुरूहता है, न संश्लिष्ट प्रकृति की जटिल वाक्य-रचना। उनकी शब्दावली भी सरलहै जिसके लिए पाठकों को कोश की आवश्यकता नहीं होती। यही नहीं, साधारण स्थलों के समान, दर्शन के गम्भीर स्थलों पर भी सरल-प्रचलित शब्दों का व्यवहार उनकी विशिष्टता है।

उनकी भाषा मूर्त जगत की न होकर अमूर्त मानस की भाषा है। उनके पात्र स्थान-स्थान पर चिंतन-लीन या अन्तर्द्वन्द्वों से आलोड़ित रहते हैं। अतएव लेखक की शैली भी तदनुकल स्वविवाद की शैली बन गई है। वह अपनी बात का सीधा ही वर्णन न कर प्रश्नों के रूप में रखता है और स्वंय ही उत्तर भी देता जाता है। लगता है विश्लेषण के हेतु वह अपने से ही विवाद कर रहा हो या कोई प्रतिपात्र या पाठक-श्रोता सामने बैठा हो और उसे उनके प्रश्नों के उत्तर देने हों। अधोलिखित अवतरण से हमारी बात स्पष्ट हो जाएगी; दूसरे परिच्छेद का आरम्भ हुआ है:—"अब जब पक्की सड़क की राह चलते-चलते श्रीकांत गृहस्थ वकील बन गया है तब सोचता है कि अरे, वह हरिप्रसन्न कहाँ है? वह भला है कि गृहस्थी में नही है, और वकालत में नहीं है। क्या अब भी वह जीवन के साथ परीक्षण करने में वैसा ही उदात्त है? वैसा ही उद्यत है? मैं तो ज़िम्मेदार नागरिक बन गया हूँ। परीक्षण हमारे लिए नहीं है। कानून सम्मत नागरिकता हमारे लिए है।

"पत्नी सुनीता हल्की पढ़ी लिखी नहीं है, और दोनों सम्मत हैं कि विवाह निबाहने योग्य संस्था है। समाज कैसे चले, नागरिकता कैसे चले, यदि जीवन परीक्षण के लिए ही समझ लिया जाय और कानून तोड़ने के लिए? क्या, सच मानवता वहीं कायम है उस रूढ़-संस्था के सहारे जिसे 'कुटुम्ब' कहते है और जो विवाह पर टिकी है?

"श्रीकाँत जानता है कि वह इससे सहमत है। फिर भी मानों अपने से पूछता है, 'हाँ?' पूछता है, और कुछ देर बाद उत्तर मे जैसे भीतर ही भीतर 'क्यों नही' दोहराता हुआ वह असंगत भाव से उठ पड़ता है, और तेज चाल से अपने कमरे मे चलने लगता है।

"सुनीता? वह उच्च शिक्षिता है। वह तनिक भी इस तरह नही रहती कि लोग न समझें कि उच्च शिक्षिता नहीं है।...

"विवाह को तीन वर्ष हुए हैं, कुल तीन वर्ष। और कैसी पत्नी उसे मिली है ? विरलों में विरल। क्या वह नहीं जानता है। ...किन्तु कभी-कभी संध्या की बेला में जब अंधियारा फीका होता है, और चौके में से सुनीता के बासन माँजने की आवाज़ बिना सुने सुनाई देती है, तब पिछली गड़ी बातें अँगड़ाई लेतीं उखड़ती-सी हैं और श्रीकांत को होता है—'अरे, यह क्या है ? क्या है ?' बहुत कुछ, सब कुछ उसे याद आता है...।"[1]

इसी तरह नवें परिच्छेद का प्रारम्भ इस प्रकार होता है -"हरिप्रसन्न ने स्त्रियों को कम देखा है ? नहीं, कम नहीं देखा है। कम सुन्दर स्त्रियों को देखा है ? नहीं अतीव सौन्दर्य-शालिनियों को भी देखा है। किन्तु सब को ठीक-ठीक उपेक्षणीय रूप से ही देखा है...।"[2] इस तरह स्वविवादात्मक शैली में लेखक प्रश्नों से चौंकाता चलता है; बार-बार प्रश्नों से रोक कर चारित्रिक भेद की सूक्ष्मताओं या पात्रगत विशेषताओं पर बल देता है या उनके अन्तर की टोह लेता है।

उपर्युक्त उद्धरणों से यह भी स्पष्ट है कि इस शैली के लघु-लघु वाक्य, या लम्बे वाक्यों का लघु-खण्डों में विभाजन, 'अरे' का तकिया कलाम, एक ही बात को एक ही वाक्य में दुहराना (विवाह को तीन वर्ष हुए, केवल तीन वर्ष) तथा प्रश्नचिन्हों की प्रचुरता, सब मिलकर किसी कल्पित प्रतिपक्षी से बातचीत का-सा आभास देते हैं।

इस शैली का एक लक्षण यह भी है कि लेखक अनेक स्थलों पर भूतकाल की भूमि से वर्तमान के धरातल पर आ जाता है। कहीं-कहीं तो नाटक की-सी साक्षात् दृश्य-शैली मिलती है।[3]

सरल-सुबोध भाषा में लाक्षणिक वक्रता जैनेन्द्र जी की सामान्य विशेषता है। इससे वे अपने कथनों को अर्थपूर्ण, सजीव तथा मूर्त करते है। साधारण बात को भी अदा से कहते हैं और इस अदायगी में व्यंजना भी साथ देती है; यथा, कुछ साधारण प्रसंगांश द्रष्टव्य हैं—

(क) "यह खत तुम्हें पा जा जाय, तो फौरन मुझे अपने हालचाल लिखना। यों मुझे उम्मीद नही कि तुम मेरे खत के हाथ आने वाले हो।"[4]

(ख) "मैं एक नहीं, अब हम दो हैं। ऐसा मालूम होता है, अगर आरम्भ से व्यक्ति अपने साथ जोर-जबरदस्ती न करे तो समय आता है और वह अपने को दे पाता है।"[5]

(ग) "चौका बासन भी करती है। हारमोनियम और वाइलिन पर धूल चढ़ने देती है। और पुस्तकों को भी अलमारियों में चुप लेटे रहने देती है।"[6]

---

१. पृ० ६-७। २. पृ० २७। ३. पृ० २६।
४. पृ० ६। ५. पृ० ६। ६. पृ० ७।

कहीं "जिज्ञासा पंख उठाती, है", कहीं "पिछली बातें अँगड़ाई लेती उखड़ती-सी" हैं, कहीं "बयार में गुलाबी सर्दी" और (चाँदनी से) हंसता आसमान सम्मोहित करता है। इस लाक्षणिक कवित्व ने जैनेन्द्र की शैली को कुछ-न-कुछ सरसता दी है।

प्रतीकात्मक स्थलों में जैनेन्द्र की सूक्ष्म व्यंजनाएँ देखी जा सकती हैं। अभिधा-व्यंजना के दोहरे प्रयोग का सौन्दर्य भी देखा जा सकता है—मार्ग में हरिप्रसन्न के साथ चलते-चलते और बहस करते हुए लिखा गया है:—"यह कहकर सीधे जाते हुए हरि-प्रसन्न को श्रीकांत ने ठीक सड़क पर मोड़ा।"[1]

कहीं-कहीं जैनेन्द्र जी विरोध के चमत्कार से चौंकाकर शैली को प्रभावी बनाते हैं; यथा ये पंक्तियाँ देखिए:—

"यह मुखड़ा विनिद्रित, सम्पुटित कैसा प्यारा लग रहा है! कैसा प्यारा और कैसा ज़हर![2] "खूब चतुर, खूब कर्मण्य, खूब सप्राण और एकदम अज्ञेय।[3]

पात्रों की चारित्रिक जटिलता के चित्रण में यह विरोध-शैली बड़ी सहायक रही है। जटिल पात्रों के चरित्र को रहस्यमय बनाकर, पाठकों को उसके प्रति उत्सुक बनाने में इस शैली का कितना हाथ हो सकता है, यह निम्न उद्धरण से स्पष्ट हो जायगा—"वह (हरिप्रसन्न) अत्यन्त परार्थ-तत्पर था, पर स्वयं खटाई में न पड़ता था। जीवन के सम्बन्ध में वह हिसाबी था पर स्थूल हिसाब पर न चलता था। वह अपने दिए पैसे और लिए पैसे भूलता नहीं था, पर ऐसी बात कभी मुंह पर नहीं लाता था। वह किसी से लड़ नहीं सकता था, क्योंकि सबसे बना सकता था। और कोई सिद्धान्त उसके निकट ऐसा अन्तिम और ऐसा अपना न था कि उसको लेकर किसी से उलझने की धुन उसमें चढ़े।"[4]

उपर्युक्त उद्धरण से जैनेन्द्र जी की शैली-क्षमता का एक और गुण सामने आता हैं। उनमें पात्रों के चरित्र, प्रतीक या परिस्थिति का 'सार-संक्षेप'[5] देने का अद्भुत भाषाधिकार है।

जैनेन्द्र जी में पयर्या-शब्दों या मिलते-जुलते अधिक समर्थ शब्दों से पंक्ति के प्रभाव को क्रमशः बढ़ाने का गुण भी है; यथा:—

"तब श्रीहत, गततेज, कटे वृक्ष की भाँति हरिप्रसन्न धम से गिर पड़ा।"[7]

"एकाएक हरिप्रसन्न में एक दुर्जेय भाव उठा, दुर्गम, दुर्द्धर्ष।"[8]

---

१. पृ० २४। २. पृ० ५। ३. पृ० १८३।
४. पृ० ६। ५. 'ओ तू' का चित्रण।
६. जगदीश पाण्डेय ने इस विशेषता का विशेष उल्लेख किया है। द्रष्टव्य, 'शील निरुपण: सिद्धाँत और विनियोग', "सुनीता" खण्ड, पृ० ४१।
७. "सुनीता" पृ० १०७ ८. पृ० १०६।

'सुनीता' की भाषा संस्कृत-बहुल है किन्तु अँग्रेज़ी, अरबी-फ़ारसी तथा स्थानीय प्रान्तीय शब्दों का इनमें खुलकर प्रयोग हुआ है। इस दृष्टि से मानों वह कोई बन्धन नहीं मानते। कुछ स्थानीय प्रयोग ये हैं —बेला, बिथा, भिजो, गेह, तिसपर, तई, निबाहने, छिक, चहुँ ओर, नाई, चीन्ह।

जैनेन्द्र जी की भाषा का उपर्युक्त विवेचन नितांत अधूरा रह जाए यदि यह उल्लेख न किया जाए कि छायावादी कवियों की तरह वह भी भाषा के सम्बन्ध में अपनी स्वतंत्र रुचि रखते हैं और उन्होंने इस सम्बन्ध में अनेक प्रयोग किए हैं। इस सम्बन्ध में पहली उल्लेखनीय विशेषता यह है कि उन्होंने कुछ शब्दों का प्रयोग उनके प्रचलित अर्थ में नहीं किया, प्रत्युत नए संदर्भ में प्रयोग कर उनसे नया अर्थ ध्वनित किया है; जैसे—

"बातचीत में वह घाटे में नहीं रहता, पर जहाँ किसी विशेष विषय की चर्चा ही नहीं हो, किसी प्रकार के बुद्धि और चातुर्य-प्रयोग का अवकाश ही न हो, अर्थात् विद्वान् मण्डली न होकर घरेलू मण्डली हो, वहाँ वह **ऋण** न हो रहे तो क्या हो?"[1] ('भार' के अर्थ में)

"जिन को निम्न कहा जाता है उनमें उनसे अपने को **तोड़कर** में भद्रवर्गीय बनूँ, यह मुझे स्वीकार नहीं।[2] ('अलग' के अर्थ में)

"श्रीकान्त की थपथपाहट के प्रति व्यग्रता और व्यस्तता उसे हठात् अप्रीतिकर लगती है। उसका मन उस पर **कठिन** होता आता है।"[3]

"**बद्ध परिणाम**, एक ही ढंग से रहने में नई समस्याएँ कहाँ से उठेंगी।"[4] (नपे-तुले, एकरस जीवन के लिए)

"जीवन के सम्बन्ध में वह हिसाबी था...।"[5] (व्यावहारिक के लिए)

"सो मौका आ जाय तो सत्या हरि बाबू को ऐसा **व्यर्थ** करे, ऐसा छकाएँ..."[6]

"सत्या **अचूक** समझ गई कि कुछ बात ज़रूर है।"[7] (बिल्कुल)

इस सम्बन्ध में दूसरी विशेषता शब्दों के [illegible] रूप-परिवर्तन की है; जैसे :—

"वहाँ मनुष्य की **असंख्यता** के अतिरिक्त...और कुछ न चीन्ह पड़ता था।"[8]

"ऐसा आदमी जो एक-सी **उद्यतता** और योग्यता के साथ इन धन्धों में से किसी में भी जा बैठ सकता है...।"[9]

---

१. पृ० ५२। २. पृ० २१। ३. पृ० ३०। ४. पृ० १२। ५. पृ० ६।
६. पृ०१६२। ७. पृ० १६२। ८. पृ० १६। ९. पृ० १८-१९।

"**अस्वीकरण** और **अङ्गीकरण** दोनों की क्षमता अपने में जगानी होगी।"[१]

"सुनीता ने फिर भी सशक्त मन पाया है। सशक्त अर्थात् सृजनशील—कल्पनाशील। उस **कल्पक** स्वभाव के सहारे..."[२]

"परस्पर की दाम्पत्य **परिचित**..."[३]

यहाँ असंख्यता, उद्यतता, अस्वीकरण, कल्पक, तथा परिचित रूप-परिवर्तित शब्द है और अप्रचलित, प्रचलित नियमानुसार इनका निर्माण भी नहीं हुआ। 'असवारी', 'असमाई' के लिए वे 'अनसवारी' तथा 'अनसमाई' लिखते हैं। वस्तुतः विपरीतार्थक बनाने के लिए शब्दों के पहले 'अन' और अभाव के लिए 'अ' लगाकर शब्द गढ़ लेना उनकी सामान्य रुचि है; जैसे, अकृत्रिम बोली के लिए 'अनबनी बोली'[४], मित्र के अभाव के लिए 'अमित्र'[५] शब्द का प्रयोग हुआ है। कहीं-कहीं उर्दू व्याकरण के आधार पर विपरीतार्थक या अभाववाचक शब्द 'बे' लगा कर बना लिए गए है; जैसे—'बेठीक ठोकर,[६] 'बे-पैसे सुखी रहना'।[७]

लेखक ने कुछ प्रचलित शब्दों के लिए अपने नए शब्द भी दिए हैं; जैसे. बेकार के लिए. 'निर्धन्धा'[८] राष्ट्रीय कार्यकर्ता के लिए 'राष्ट्रकर्मी'।[९]

कथोपकथन के प्रसंग में उनके क्रिया-पदों के प्रति विशेष मोह के सम्बन्ध में चर्चा हो चुकी है। जैनेन्द्रजी की एक अन्य विचित्र आदत भी निम्न पंक्तियों से स्पष्ट हो जाएगी—

"हरिप्रसन्न उसके निकट...अधिक दूर ही बनता था, स्पष्ट नहीं बनता था।[१०]

"सुनीता...अतिशयपूर्वक ज्ञात हो पड़ने लगी।"[११]

"...ऐसी हालत में...कभी नहीं पड़ पाया है।"[१२]

"सुनीता चुप पड़ गई।"[१३]

"श्रीकान्त हठात् मुस्करा आया।"[१४]

"जिसको लेकर यह अवस्था हो पड़ी है।[१५]

"...श्रीकान्त रुक पड़ा।"[१६]

"हठात् मुस्करा आया' का प्रयोग मुस्कराहट की प्रक्रिया को ध्वनित करता है, इसलिए सार्थक है किन्तु अन्य अप्रचलित प्रयोगों के आगे प्रश्न-चिन्ह लगाना ही पड़ता है।

---

१. पृ० १२। २. पृ० १७। ३. पृ० १९। ४. पृ० १६१। ५. पृ० १७। ६. पृ० ९७। ७. पृ० २२। ८. पृ० १९। ९. पृ० २५। १०. पृ० १६। ११. पृ० १९। १२. पृ० २७। १३. पृ० ८०। १४. पृ० ८२। १५. पृ० १५८। १६. पृ० ९७।

जैनेन्द्र जी की स्वतन्त्र रुचि भाषा की सहजता के नाम पर काफ़ी बढ़ी-चढ़ी है। इसलिए 'सुनीता' की भाषा में गुण हैं तो दोष भी कम नहीं। इसके लिए लेखक का यह दृष्टिकोण उत्तरदायी है—"जहाँ तक मेरा सम्बन्ध है मैं अपने लिखने में स्वैराचार के दोष से मुक्त नहीं हूँ। जो शब्द आया मैंने स्वीकार किया है और वाक्य जैसे बना, बनने दिया है।"[१] भाषा भावों की सहजाभिव्यक्ति में सहायक हो, यह तो ठीक है, किन्तु सहजता और लापरवाही के अन्तर को ध्यान में रखना भी ज़रूरी है। 'सुनीता' में ऐसे अनेक सदोष तथा शिथिल प्रयोग मिल जाते हैं, जिनके बचाव की वकालत भाषा की सहजता के आधार पर नहीं की जा सकती; ये या तो लेखक की लापरवाही का परिणाम है या लाइलमी का; यथा :—

"श्रीकान्त ने अनिवार्य बी० ए० किया"[२] (शुद्ध—अनिवार्यतः)

"लेकिन तुम्हें ख्याल है कि पन्द्रह रुपये मुझे अभी चाहेंगे।"[३] (शुद्ध—चाहिए)

"वह लहरें उठ लहरीं"[४]

"पर हठ पकड़े पर किसकी चले।"[५] (शुद्ध—पकड़ने)

"सुनीता को कुछ पकड़ न मिल रहा था।"[६] (शुद्ध—पकड़े)

"ऐसा नही होने देना होगा।"[७] (शुद्ध—ऐसे)

"वह दाढ़ी अब उसे अरुचिकर ही लगी, हास्यकर होकर तनिक भी नहीं लगी।[८]

"एक कोने में तबला का भी उसे सन्देह हुआ।"[९] (शुद्ध—तबले)

"सितार एक ओर सहारा लिए लिहाफ में बन्द लेटा है।"[१०] (मानवीकरण सुन्दर है)

"उसने तुम्हें ज़रूर देख पाया होगा।"[११]

"उसका मन गड़बड़ हो आया।"[१२]

"सूख जाने पर उसने शेली की पोथी को बन्द कर अलमारी में जहाँ से ली थी वहाँ ही रख दी।"[१३]

"और भी किताबें उस अलमारी में से निकालीं।"[१४]

"क्योंकि दुनिया को रेगिस्तान नहीं होना है, क्योंकि उसको लहलहाकर हरियाली हो उठना है।"[१५] (लिंग-दोष। शुद्ध—हरयाला)

---

१. 'साहित्य का श्रेय और प्रेय' पृ० ३५६। २. "सुनीता", पृ० ५।
३. पृ० ३६। ४. पृ० ४४। ५. पृ० ३५। ६. पृ० ६१।
२. पृ० १०१। ३. पृ० ५३। ४. पृ० ३४। ५. पृ० ३४।
६. पृ० १४। ७. ३३। ८. पृ० ३३। ९. पृ० ३३। १०. पृ० ६७।

"सुनहरे हरूफ़ों में..."[१] (शुद्ध—हरूफ)

"दोनों सम्मत हैं कि विवाह निबाहने योग्य संस्था है।"[२] (शुद्ध—सहमत)

"...उस व्यक्ति को...समझना चाहती है, जो विपदाओं को सामने रखकर उनमें भटकने को बढ़ गया है, और आराम को किनारा ही देता रहा है।"[३]

"...कइयों के साथ उसके सम्बन्ध घने होते गए हैं, और उनमें कुछ मिठास भी उठा-सा है..."[४]

"यह उनकी क्या बात झूठ है कि स्त्री को अपने घर में ही बहुत कुछ है...।"[५]

"सुनीता इतनी गई रात आकर भी सोई नहीं।"[६]

"साधूपन में निरा रेत ही रेत है।"[७]

"चमेली के फूल-सी मालूम लगती है।"[८] (व्यर्थ प्रयोग)

"अपनी अनाड़ी हाथों से...।"[९]

एक ही शब्द का विन्यास कहीं शुद्ध है, कहीं विकृत—न लेखक शुद्धता का विचार रख सका है, न अपनी स्वतन्त्र रुचि पर स्थिर; जैसे, गृहस्थी, गिरिस्ती, गिरिस्तन।[१०] अनेक शब्दों की वर्तनी में भी मनमानी की गई है; यथा—उजेला, अमनस्क, कारबारी, वलयाकर, पहिचानना, 'साधूपन' समंदर, अन्वयार्थ।

सदोष प्रयोगों को मौलिक कहकर टाला नहीं जा सकता। भाषा सामाजिक अभिव्यक्ति का सुलभ-सुगम साधन है, अतएव उसे सुबोध बनाए रखने वाले व्याकरण की ऐसी अवहेलना नहीं की जा सकती, जैसी 'सुनीता' में मिलती है। इससे भाषा कहीं-कहीं व्यर्थ में दुर्बोध तथा प्रवाहहीन हो गई है। फिर भी दोषों के बावजूद जैनेन्द्र जी की शैली अपनी विदग्ध विचित्रता तथा विशिष्टता से प्रभावित करती है। अपने नए विषय के कुशल निर्वहन में यह पूर्ण समर्थ सिद्ध हुई है।

पूर्ण विवेचन के पश्चात् निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि 'सुनीता' मनोविश्लेषणात्मक चरित्र-प्रधान सांकेतिक लघु-उपन्यास है। आत्मस्थ पात्रों की तीव्र अन्तर्द्वन्द्वना औत्सुक्यवर्द्धक क्रमबद्ध भाव-विकास, विचारोत्तेजक प्रश्नता, एकोन्मुखी शिल्प-घनत्व तथा मौलिक अभिव्यंजना 'सुनीता' को आकर्षक प्रभविष्णुता दे देते हैं। पात्रों के साथ पाठकों की सायुज्यता की क्षीणता, अस्पष्टता तथा किंचित् योजनाबद्ध विन्यास की कृत्रिमता इसके प्रभाव को सीमित कर देते हैं।

१. पृ० ३२। २. पृ० ७। ३. पृ० १४। ४. पृ० २५। ५. पृ० २६। ६. पृ० १४७। ७. पृ० १४। ८. पृ० ५१। ९. पृ० ८६। १०. पृ० ५, ६, १७।

शेखर : एक जीवनी

'शेखर: एक जीवनी' दो भागों में असमाप्त बृहद् उपन्यास है। इसका प्रथम भाग सन् १९४० और द्वितीय भाग १९४४ में प्रकाशित हुआ। प्रथम भाग की 'भूमिका' में ही लेखक ने यह घोषित कर दिया था कि यह उपन्यास तीन भागों में विभक्त है—'तीनों भाग एक ही कथासूत्र में गुंथे होकर भी अलग-अलग भी प्राय: सम्पूर्ण हैं। कहा जा सकता है कि 'जीवनी' वास्तव में तीन स्वतन्त्र उपन्यासों का अनुक्रम है। ऐसा न भी होता, तब भी उन्हें अलग-अलग छापा जा सकता था; ऐसा होने पर तो विशेष सफ़ाई देने की ज़रूरत नहीं है। जो एक भाग पढ़ने के बाद दूसरा पढ़ना नहीं चाहेंगे, उनको यह सोचने की आवश्यकता नहीं है कि उन्होंने अधूरी कहानी पर वक्त बरबाद किया, वे एक को ही पूरा उपन्यास मान सकते हैं और उसी पर अपनी राय भी कायम कर सकते हैं···" इस कथन के आलोक में 'शेखर' पर प्रचुर आलोचना-साहित्य प्रकाशित हुआ, जिसमें इसका मूल्यांकन भी हो गया है। फिर भी, लेखक को यही अभीष्ट है 'निर्णेता का हौसला' करने वाला पहले पूरा 'पढ़ने की उदारता भी दिखाए। 'अभिप्राय' या 'संदेश' की दृष्टि से 'शेखर' के तीनों भागों में एकान्तता है···इनमें लेखक का 'अभिप्रेत', 'कथ्य' का एक तन्तु है, जो एक है, अविभाज्य है, उसकी ओर से 'जीवन की आलोचना और जीवन का दर्शन है'।[1] स्पष्ट है कि शिल्प की दृष्टि से इसमें अन्तर की सम्भावना नहीं है और जैसाकि डॉ० नगेन्द्र ने कहा है तीसरे (और शायद चौथे भी ?...) भाग का अभाव शेखर की गरिमा और सौंदर्य को ग्रहण करने में विशेष बाधक नहीं होता।[2]

'शेखर' अन्तरंग चरित्र-प्रधान उपन्यासों के वर्ग में आता है। प्राय: सभी आलोचक प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से इसे स्वीकार करते हैं। स्वयं लेखक के अनुसार सामाजिक वस्तु के रहते हुए भी 'शेखर' साधारणतया जीवनीमूलक उपन्यास है, एक व्यक्ति-चित्र है।[3] यह मानों इस उपन्यास के नामकरण की व्याख्या है जिसके अनुसार यह एक व्यक्ति शेखर की जीवनी है। जीवनी में पात्र वास्तविक जगत् का होता है, किन्तु उपन्यास में कल्पित। यह अवश्य है कि कल्पित होते हुए भी वह अन्ततः वास्तविक बन जाता है।[4] लेखक ने भूमिका में स्पष्ट कर दिया है कि यह उपन्यास

१. "भूमिका", 'शेखर : एक जीवनी'', (पहला भाग) पृ० 'ढ'।

२. "विचार और अनुभूति", पृ० १४५।

३. "प्रेमचन्द और परवर्ती हिन्दी उपन्यास", 'सिद्धान्त और समीक्षा', (निबन्ध-संकलन), पृ० १०५।

४. Williem E, Barret: "The living character" 'The Writers Hand Book', P. 120. "A good piece of fiction is the

उसकी 'आत्म-जीवनी' नहीं—उसने काल्पनिक पात्र लिया है वास्तविक नहीं—फिर भी यह स्वीकार है कि शिशु मानस के चित्रण की सचाई के लिए उसने 'शेखर' के आरम्भ के खण्डों में घटनास्थल अपने ही जीवन से चुने है।[१] डॉ० नगेन्द्र तो इस उपन्यास में अज्ञेय के अपने ही जीवन का प्रत्यवलोकन विवेचित करते हैं[२] और चन्द्रगुप्त विद्यालंकार इसे 'प्रधानतः आत्म-चरितात्मक'[३] मानते हैं। उपन्यास के प्रथम भाग में कथानक का विकास भी उप[illegible] [illegible]त्मक है। दूसरे, जन्म से लेकर मृत्यु की सम्भावित [illegible] भी है अतएव यह 'जीवनी-मूलक' तो है किन्तु इसकी औपन्यासिकता पर सन्देह नहीं किया जा सकता, जैसाकि इलाचन्द्र जोशी का मत है।[४] वस्तुतः जो विशेषता इसे जीवनी से पृथक् करती है वह इसे अन्तरंग चरित्र-प्रधान भी बना देती है"'औपन्यासिक पात्रों का गुप्त जीवन भी व्यक्त होता है या समय आने पर व्यक्त हो जाता है, परन्तु इतिहास और जीवनी के पात्रों का गुप्त जीवन अव्यक्त ही रहता है।[५] डॉ० लक्ष्मीनारायण लाल,[६] तथा विश्वम्भर 'मानव'[७] ने भी इसमें चरित्र-प्रधानता मानी है क्योंकि शिल्प-विधान के सभी उपकरण, उपन्यास के सभी तत्व, चरित्र-विशेष के चारों ओर घूमते मिलते है।

'शेखर: एक जीवनी' में एक प्राणवान क्रांतिकारी नायक अपनी 'जीवन-यात्रा के अन्तिम पड़ाव' की स्थिति—फाँसी की छाया—में, अपने विगत-जीवन का इसीलिए 'प्रत्यवलोकन' करता है कि वह अपने तथा समाज के लिए जीवन की सिद्धि या अर्थ को पा सके[८]—आत्मोपलब्धि के लिए आत्मनिरीक्षण कर सके 'आत्म-

---

biography of an imaginery person—and when the biography is complete, the person is no longer imaginery..."

१. "शेखर : एक जीवनी", (पहला भाग), पृ० ग, घ।
२. "विचार और अनुभूति", पृ० १४६।
३. "हिन्दी कथा साहित्य में पंजाब का अनुदान", पृ० २१।
४. "विवेचना", पृ० १२२।
५. E. M. Forster: "Aspects of the Novel", p. 62.

"Fictional characters are those whose secret lives are visible or might be visible, but people in history or biography are those whose secret lives are invisible."

६. "आलोचना" संख्या १३, पृ० १५८।
७. वही, पृ० ९८।
८. "शेखर : एक जीवनी" की भूमिका, पृ० क तथा पृ० २१-२२।

साक्षात्कार' के लिए अपने को खोल सके ।[१] यह आत्मनिरीक्षण मानवता के संचित अनुभवों के प्रकाश में ईमानदारी से,[२] आत्मानुभूत तथा किंचित् आत्मघटित जीवन-तथ्यों के अनासक्त अंकन के आधार पर किया गया है ।[३] दूसरे शब्दों में यह निरीक्षण वैज्ञानिक है और जीवन का वैज्ञानिक निरीक्षण उसकी कार्य-कारण-परम्परा के अध्ययन में है । यह क्रांतिकारियों की मनोवृत्ति के अनुकूल है । इसका स्पष्टीकरण लेखक के शब्दों में इस प्रकार किया जा सकता है –"......क्रांतिकारी अन्ततोगत्वा एक प्रकार के नियतिवादी होते हैं । लेकिन यह नियतिवाद उन्हें अक्षम और निकम्मा बनानेवाला कोरा भाग्यवाद नहीं होता ? वह उन्हें अधिक निर्मम होकर कार्य करने की प्रेरणा देता है ।...यदि यों कहा जाय कि क्रांतिकारी का नियतिवाद अटल नियति की स्वीकृति न होकर, जीवन की विज्ञान-संगत कार्य-कारण-परम्परा पर गहरा (यद्यपि स्पष्ट) विश्वास होता है, तो शायद सचाई के अधिक निकट होगा । मेरा ख्याल है कि आज के अधिकांश वैज्ञानिक भी कुछ इसी प्रकार के नियतिवादी हैं ।

तो शेखर एक जीवनी' के क्रांतिकारी-नायक ने अपने जीवन में इसी नियति के सूत्र को पहचानने का प्रयत्न किया है—क्योंकि उसे पहचान लेना ही जीवन को समझ लेना है, उसकी पूर्ति पा लेना है ।...[४] इस प्रकार विज्ञान-संगत कार्य-कारण-परम्परा के रूप में आत्म-विश्लेषण तथा आत्म-समीक्षण करते हुए व्यक्तित्व का क्रमशः विकास दिखाना—वह अब जैसे है, वैसे क्यों-कैसे हुआ का विश्लेषण करना...'शेखर : एक जीवनी' का मुख्य विषय है और इसी के द्वारा उसके जीवन के अर्थ-अभिप्राय, और निष्पत्ति सिद्धि को खोजना मूल लक्ष्य ।[५]

'शेखर : एक जीवनी' में, जैसा कि उसके नाम ही से स्पष्ट है, इस विश्लेषण और खोज का आधारभूत पात्र है शेखर । उसी की जन्म से लेकर जीवनांत की आसन्न स्थिति तक, विश्लिष्ट जीवनी यहाँ कही गई है । इसलिए यह एकपात्र-प्रधान तथा चरित्र-प्रधान उपन्यास है । यही उपन्यास के सभी तत्वों का केन्द्र तथा समग्र शिल्प विधान का आधार है । कथा का महत्व यहाँ नहीं है । जिस चरित्र की कथा कही गई है, उसीका महत्व है ।[६] समाज और युग का प्रतिबिम्ब यहाँ पर्याप्त है, किन्तु इस नायक की गतिविधि एवं संघर्ष के अनिवार्य अंग और विचारों के रूप में ही । अन्य पात्र — व्यक्तित्व-सम्पन्न पात्र—भी यहाँ आए हैं, किन्तु नायक के निमित्त—उसके अनुभवों को बढ़ाने, जीवन को गति और दिशा देने के लिए—और उसी के दृष्टिकोण से ही । उद्देश्य-तत्व भी मुख्यतः उस—तथा उसको प्रभावित करने वाले

---

१. "शेखर : एक जीवनी" (दूसरा भाग), पृ० २१० । २. वही, भूमिका, पृ० ङ । ३. वही, पृ० ग, घ । ४. वही, पृ० ख । ५. वही, (दूसरा भाग) पृ० १९० । ६. वही, (दूसरा भाग), पृ० २५३ ।

पात्रों—के चित्रण, विकास तथा परिस्थिति-प्रसूत चिंतन से व्यंजित हुआ है। इसके अतिरिक्त विभिन्न जीवन-स्थितियों की विश्लिष्ट व्याख्याओं, निबन्धों तथा कुछ एक भाषणों एवं अवसरानुकूल तार्किक संवादों का उपयोग भी यहाँ हुआ है। इस तरह उपन्यास के एक ही महत्वपूर्ण साध्य-तत्व—चरित्र-चित्रण—के साधन-रूप में अन्य सभी तत्वों के विनियोग से समन्वित प्रभविष्णुता आ गई है। आगे हम 'शेखर' के चरित्र-चित्रण पर दृष्टि रखते हुए उपर्युक्त समन्वित विधान का स्पष्टीकरण करेंगे।

जैसा कि लिखा जा चुका है, कार्य-कारण-परम्परा के रूप में जीवन का विज्ञान-संगत आत्मनिरीक्षण – प्रेरणाओं सहित व्यक्तित्व का क्रमिक विकास-निदर्शन —'शेखर' का मुख्य विषय है। व्यक्तित्व के क्रमिक विकास को समझने के लिए उसके बाल-जीवन का चित्रण मूल महत्व रखता है। इसलिए 'जीवनी' के प्रथम भाग में बालक शेखर का सूक्ष्म अध्ययन किया गया है जो उसके जीवन की छोटी-छोटी घटनाओं की जाँच तक विस्तृत है। इस अध्ययन को वैज्ञानिक बनाने के लिए उस मनोविज्ञान से प्रचुर सहायता लीं गई है, जो बाल-जीवन को जीवन की आत्मा के निर्माण का मूलाधार मानता है।[१] इसी में इस उपन्यास की एक महत् मौलिकता निहित है—हिन्दी उपन्यास-साहित्य में सर्वप्रथम 'शेखर' में शिशु तथा बाल-मानस की सूक्ष्म तरंगों, कौतूहल और जिज्ञासाओं, सहजात प्रवृत्तियों, उस पर पड़ने वाले प्राणी-प्रकृतिगत परिवेश के सूक्ष्म प्रभावों और माँ-बाप, शिक्षकों आदि के अमनोवैज्ञानिक दुर्व्यवहारों से उत्पन्न विकारों का मनोविज्ञान-सम्मत सूक्ष्म अध्ययन प्रस्तुत किया गया है।

डॉ० देवराज उपाध्याय ने 'कट्टर फ्रायडवादी' मनोवैज्ञानिक क्लीन द्वारा निरीक्षित एक बालक फ्रिटज़ की 'केस-हिस्ट्री' को संक्षेप में देते हुए उससे शेखर के शिशुकालीन व्यवहारों तथा क्रियाओं में समानता प्रदर्शित की है और इसी आधार पर 'शेखर : एक जीवनी' के बाल-जीवन के विवेचन को शास्त्र-सम्मत—मनोविश्लेषण शास्त्र से संगत—बताया है।[२] यह शास्त्रीयता भी स्वाभाविक रूप से सामने आई है—बाल-जीवन के चित्रण में शेखर की जिज्ञासाओं-व्यवहारों आदि का

---

१. Alfred Adler : "Introduction", 'Understanding Human Nature', p. 5 & 7.
"The first great discovery was this : the most important determinants of the structure of the soul life are generated in the earliest days of child-hood." and "The examination of the soul life of the child thus became the fulcrum of our science and a great many researches, were dedicated to the study of first years of life."

२. 'आधुनिक हिन्दी कथा-साहित्य और मनोविज्ञान', पृ० १५६-६७।

वर्णन फ्रिटज् का अनुकरण मात्र नहीं, उसकी अपनी परिस्थितियों का परिणाम है। उदाहरणतया, बच्चों के जन्म के सम्बन्ध में वह प्रश्न उठाता है क्योंकि उसके घर में भाई-बहन का जन्म होता है।[१] इसी तरह उसकी मृत्यु सम्बन्धी जिज्ञासा उसके अपने डूबते-डूबते बचने, युद्ध में अपने मामा की मृत्यु और इसलिए अनेक सैनिकों की मृत्यु की चर्चा आदि से उत्पन्न होती है।[२] जब उसकी बाल-सुलभ सहज जिज्ञासाओं का सही-सही उत्तर देने की बजाय, ईश्वर के आधार पर उनको टालने या निरादृत करने का प्रयत्न होता है तब वह ईश्वर के अस्तित्व-अनस्तित्व सम्बन्धी प्रश्नों की झड़ी लगाता रहता है। और इन सभी जिज्ञासाओं के उत्तर में जब विभिन्न व्यक्ति झूठ बोलते, बहाने बनाते और उसकी जिज्ञासावृत्ति को टालते तथा दबाते हैं, तो उस में भी विकार आ जाते हैं—वह भी भेद रखकर चोरी करने लगता है और 'चुगल-खोर' बना जाता है।[३] इसी प्रकार प्रकृति-पर्यवेक्षण, माँ-बाप के पारस्परिक व्यवहार, पिता के अनैतिक आचरणों आदि से उठी शेखर की सेक्स सम्बन्धी जिज्ञासाओं को दबाया जाता है, जिसके परिणाम-स्वरूप वह वही बातें चोरी-छिपे करता है, जिसे उस की मनाही होती है—वह उन सभी वर्जित पुस्तकों को पढ़ डालता है, जो गोपनीय समझ कर अलमारी में बंद रखी जाती हैं। बच्चे की काम-समस्याएँ, उसके सामाजिक रवैये तथा माता-पिता के प्रति उसकी संवेदनाओं से घनिष्ठ रूप में सम्बद्ध हैं, यह उसके माँ-बाप नहीं समझते।[४]

शेखर का नायक एक साधारण पात्र है—वह व्यक्ति है, टाइप नहीं; 'मूल रचना है', किसी की 'प्रतिलिपि' नहीं।[५] उसकी इस असाधारणता के बीज उसके बाल्यजीवन में प्रदर्शित किए गये हैं—बाद के विद्रोही क्रांतिकारी की मूल-प्रेरणाओं का विश्लेषण यहीं हुआ है। लेखक ने मानव-जीवन का अनुशासन करने वाली तीन

---

१. 'शेखर : एक जीवनी' (पहला भाग) पृ० ९९-१००, १४०-४२।

२. वही, पृ० ८८-९१।
३. वही, पृ० १४२-४४।

४. C. P. Oberndorf: "The most important stipulation for wholesome parent-child relationship through psychoanalytic study of conditions developing as a result of family discord are a recognition that the child's sex problems are closely associated with his social attitudes and reactions to his parents—"Child-Parent Relation-ship", 'Psychonalysis Today', p 87. edited by Sandor Lorand.

५. "शेखर : एक जीवनी" (प्रथम भाग), पृ० ५९।

महती प्रेरणाएँ मानी है—ग्रहंता, भय ग्रौर सेक्स।[१] ये तीनों सहजात या मूल प्रवृत्तियाँ हैं—"मानव इन्हें ग्रपनी मानवता के साथ ही पाता है, बाद की परिस्थिति या व्यवहार से नहीं।"[२] इसलिए ग्रागे इन्हें मात्र तीन वर्षीय[३] शिशु नायक से उदाहृत किया गया है। ऊँचे लेटरबक्स पर बैठकर दूसरों को साभिमान चिढ़ाना तथा डाकिये के उस पर से उतरने के लिए कहने पर उसके पाँव की उँगलियों को कुचलते हुए—मानो विजेता बनकर—भाग खड़ा होना उसकी ग्रहंता को व्यक्त करता है। ग्रजायबघर के नकली बाघ से भागना भय की प्रेरणा को निदर्शित करता है ग्रौर किसी ग्रनुचित-वर्जित दृश्य को देखकर वैसी ही भावना का ग्रनुभव करना उसकी काम-प्रेरणा को।[४] उपर्युक्त वृत्तियों में से उसकी भय-वृत्ति का निराकरण शीघ्र ही हो जाता है ग्रौर यह घर में ग्राए इसी प्रकार के नकली बाघ पर—ग्रपने बड़े भाइयों की देख-देखी—चढ़ बैठने तथा बाद में उसकी चाकू से चीर-फाड़ करने से हुग्रा है। इससे शिशु शेखर ने जान लिया कि "डर डरने से होता है। संसार की सब भयानक वस्तुएँ हैं केवल एक घास-फूँस से भरा निर्जीव चाम, जिससे डरना मूर्खता है"।[५] इस भय-प्रेरणा की परिचायक घटना ने उसके ग्रागामी तथा वर्तमान जीवन को जैसे प्रभावित किया, उस का विश्लेषण करते हुए शेखर कहता है :—"···यही उसका विश्वास ग्रब भी है कि जब कभी कोई भयानक वस्तु देखो, तब डरो मत, उसका वाह्य चाम काट डालो, उसके भीतर भरी हुई घास-फूस निकाल कर बिखरा दो, ग्रौर हँसो! इसने उसे उद्धत बनाया है, लोग कहते है कि विध्वंसक ग्रौर हिंस्र भी बना दिया है, पर वह जानता है······

"उस चाम को फाड़ देने पर, उसे दण्ड मिला था। ग्रौर उसके बाद, कई बार ऐसे मिथ्या डर का नाश करने पर उसे दण्ड मिला, क्योंकि डर के बिना समाज का ग्रस्तित्व नहीं ठहर सकता। ग्रौर ग्राज, वह एक ऐसे भीमकाय डर का भीतरी खोखलापन दिखाने के ग्रपराध में पकड़ा गया है, ग्रौर दण्ड की प्रतीक्षा में है। ग्रौर, क्योंकि उसने संसार के सबसे बड़े डर—शासन के डर—पर ग्राघात किया है,

---

१. "It seems certain that the new born child brings with it the germs of sexual feelings"—"The basic writings of Sigmund Frued" trans. & edited by Dr. A. A Brill, p. 583.
२. "शेखर : एक जीवनी", (प्रथम भाग), पृ० ५५।
३. "The Sexual life of the child mostly manifests itself in the third or fourth year in some form accessible to observation." "The basic writings of Sigmund Frued" trans & edited Dr. A.A. **Brill,** p. 583.
४. "शेखर : एक जीवनी", (प्रथम भाग) पृ० ५६-५८।
५. वही, पृ० ५७-५८।

इसलिए उसका अपराध सबसे कठोर दण्ड मांगता है···किन्तु वह हँसता है, क्योंकि उसने विजय पाई है।"[1] भय मूलवृत्ति है, इसलिए इसका समूल उत्पाटन सम्भव नहीं। इसलिए उपर्युक्त बाहरी भय के निराकरण की बात केवल एक पक्षीय है। वस्तुतः बच्चे में यही बाहरी भय-वृत्ति भीतर की अपराधानुभूति को उकसाती है। जब उससे कोई वर्जित कार्य होता है तो यह अपराधानुभूति उस बाहरी भय का तात्कालिक स्वरूप बनकर प्रकट हो जाती है। इसलिए विवेक-बुद्धि के निर्माण के पूर्व की अवस्था में यह भय की अन्तर्प्रेरणा बच्चे को अनेक सहज वृत्तियों को पूरा करने से रोकती है।[2] इसी तथ्य के अनुसार उपर्युक्त अनुचित-वर्जित दृश्य को देखकर शेखर में जो वासना उठती है, उसका निराकरण वह किसी 'बाह्य रुकावट' से नहीं, 'एक आन्तरिक, स्वतः उत्पन्न ग्लानि' से कर लेता है।[3] इन तीनों सहजात वृत्तियों को शेखर के जीवन से निदर्शित करके, लेखक ने निष्कर्ष रूप में बताया है कि जीवन उनका नहीं, जो (बाहर से) नियमानुसार चलने के सरल मार्ग को अपनाते तथा उनसे बँधते हैं अपितु उन्हीं का है, जो नियमों की मूल प्रेरणा को समझकर अपना नियम स्वयं बनाते हैं।[4] इस तरह वह शेखर के 'अन्तः प्रेरित' या 'स्वयंचालित'[5] होने का परोक्ष संकेत देता है। इसलिए लेखक ने उसमें सहज बुद्धि की कमी नहीं देखी। "किन्तु उस बुद्धि की प्रवाह-गति का निर्देश करने वाली शक्ति संसार में नहीं थी। वह बुद्धि उसकी थी, उसके उपयोग के लिए थी, वह उसका मनचाहा उपयोग करता था। और वह जानता था, जहाँ उसने अपनी सहज बुद्धि की प्रेरणा मानी, वहाँ उसने उचित किया और जहाँ उसकी बुद्धि को दूसरों ने प्रेरित किया वहीं वह लड़खड़ाया..." शेखर के शिक्षण-कार्यक्रमों से उसकी सहज बुद्धि को पुष्ट किया गया है तथा उसकी अहंता को विकसित। धनी माँ-बाप का पुत्र होने के कारण वह कान्वेंट स्कूल में प्रवेश पाता है। उस पर शरारती होने का इल्ज़ाम लगता है

१. "शेखर : एक जीवनी", (प्रथम भाग), पृ० ५८।

२. Paul Schilder : "Problems of Crime", 'Psychoanalysis Today' p. 343-44—"This outward force and fear of punishment provoke, sooner or later the feeling of guilt. When a forbidden action takes place, the feeling of guilt is then the immediate expression of fear of that outer authority······In the child the fear is therefore the motive which forces it to renounce the attempt to satisfy many of its instincts···With the development of the oedipus complex the child starts to identify itself with the father with the mother and with the nurses, the superego is formed".

३. "शेखर : एक जीवनी", (प्रथम भाग) पृ० ५८। ४. वही, पृ० ५८।

५. वही, पृ० ३४।

किन्तु उसकी न्याय बुद्धि इसे स्वीकार नहीं करती—क्योंकि उसने लड़कों को मारा ही नहीं, मार खाई भी। अतएव वह स्कूल जाने से इंकार कर देता है। उसे पढ़ने के लिए कहने पर वह विद्रोह करता है किन्तु अपनी स्वाभाविक जिज्ञासा से वह स्वयं ही बाध्य हो जाता है। मास्टर से घर में पढ़ता हुआ उसका बड़ा भाई अपना पाठ नहीं सुना पाता, किन्तु मात्र जिज्ञासा के लिए रोज़ उसके पास खड़ा रहने वाला बालक शेखर उस दिन का ही नहीं, उसके पहले दिनों का पाठ भी जबानी सुना देता है। इसके पुरस्कार-स्वरूप उसे भी घर में मास्टरों से पढ़ना पड़ता है, किन्तु शेखर के सामने कोई भी टिक नहीं पाता—कुछ अपनी दुर्बलताओं के कारण, कुछ शेखर की उद्धतता के कारण। सरांश यह है कि शेखर सामान्य बालकों के समान 'स्कूल' में न पढ़ सका। इससे उसके चरित्र में त्रुटियाँ अनेक रह गई, लेकिन एक शक्ति भी उसने पाई, जो स्कूलों में कम मिलती है, उसने अकेले होने की सामर्थ्य पाई। 'स्कूलों' में 'टाइप' बनते हैं, वह बना व्यक्ति।[२]

माँ-बाप के प्रति बालक के रुख, उस पर पड़े अनमेल स्वभाव वाले माता-पिता के विषम पारिवारिक वातावरण के प्रभाव-संस्कारों, उनसे मिलने वाली डाँट-फटकार तथा अविश्वास-भावना आदि के आधार पर भी शेखर की असाधारणता, विद्रोह-भावना, क्राँतिकारिता, आत्मनिर्भरता, उद्धतता, दृढ़ता आदि को संगति दी गई है। उदाहरणतया, पिता के प्रभाव के आधार पर उसे असाधारण बताकर उसके विद्रोह-बीज को इन संस्कारों में भी देखा गया है—"माँ की ओर आकर्षित पुत्र और पिता की ओर आकर्षित कन्या साधारणता की ओर, सामान्यता की ओर जाते है और पिता की ओर आकृष्ट पुत्र, माता की ओर आकृष्ट कन्या, असाधारण होते हैं। पहली श्रेणी में मिलेंगे सीधे-सादे शान्त आदमी, सामान्य स्त्रियाँ, जिनमें कोई खास बुराई नहीं है, जो साधारणतया प्रसन्न और सन्तुष्ट हैं; जो जीते हैं, रहते हैं और मर जाते हैं; दूसरी में मिलेंगे प्रतिभावान लेखक और कवि, देश और संसार को बदल देने वाले सुधारक, क्राँतिकारी, डाकू, जुआरी, पतित से पतित, मानवता के प्रति अच्छे या बुरे, उनके लिए साधारणता नहीं है; वे सुलग नहीं सकते, फट ही सकते हैं। ...शेखर साधारण नहीं था, और अपने पिता[३] का उपासक था।"[४] माँ-बाप की एक-

१. "शेखर : एक जीवनी", पृ० ६३। २. वही, पृ० १०२।

३. Paul Schilder : "Problems of Crime", 'Psychoanalysis Today'. p 351-52

"The attitude towards the father, coming out of the deep layers of the id, is one of the factors which determines whether the individual is strong supporter of the present society or a revolutionary and founder of a future society. (Fedren).

४. "शेखर : एक जीवनी" (प्रथम भाग), पृ० १३२।

दूसरे से भिन्न प्रकृति और आपसी संघर्ष ने भी शेखर की विद्रोह-वृति को प्रोत्साहित किया है ।[१] शेखर अपनी माँ और बाप दोनों से अनेक बार पिटता है । बाप की मार प्रायः सकारण होने से शेखर के मन में विपरीत प्रतिक्रिया को उद्‌बुद्ध नहीं करती... वह मार के बाद पिता से मिल जाता है, "पिटकर भी उन्हें पूजता है" और पिता भी स्वभावानुकूल, उदारता से, उसे सहज स्वीकार कर लेते हैं[२] । किन्तु माँ की मार अनेक बार बहुत-कुछ उसके स्वभाव या ज़िद या व्यर्थ सन्देह के कारण होती है ।[३] वह अन्य पुत्रों के दुर्व्यवहार से शेखर पर भी अकारण अविश्वास प्रकट करती है ।[४] अतएव शेखर की अनुदार माँ के प्रति पिता से भिन्न प्रतिक्रिया होती है—वह उससे घोर घृणा करने लगता है ।[५] निरन्तर चोटों से शेखर का अहं स्फूर्त और विद्रोह प्रबल होता जाता है ।[६] डॉ० नगेन्द्र ने माँ-बाप के प्रति शेखर की उपर्युक्त भिन्न प्रतिक्रियाओं का विश्लेषण शेखर की अहंकार-भावना के आधार पर किया है—"पिता की कठोरता को भी उसने जो एक भव्य-रूप दिया है, उसका एकमात्र कारण यही है कि उनकी अपनी गौरव-भावना और कठोरता के नीचे ऐसा कुछ उसे अवश्य मिल जाता है, जो बड़े अभिमान से उसके अहं को दुलराता है । माँ को उसके प्रति स्नेह नहीं था, यह नहीं कहा जा सकता । परन्तु वे बेचारी उसकी यह माँग पूरी करने में असमर्थ रहीं । इसलिए उसने जीवनभर उन्हें क्षमा नहीं किया । इस विषय में वह इतना निर्मम है कि माँ को घृणा का पहला पाठ पढ़ाने का श्रेय भी वह नहीं दे सकता" ।[७] साराँश में माँ-बाप के व्यवहार अपने-अपने ढंग से उसके अहं को प्रबुद्ध कर उसमें

---

१. वही, पृ० १३० । २. वही, पृ० १२२-१३० । ३. वही, पृ० १४५-१४८ ।
४. वही, पृ० ३०-३१, १९० । ५. वही, पृ० ३१-३२,-१९१-९२ ।

इस सम्बन्ध में Thaddeus H. Ames का मत उल्लेखनीय है—

In receiving rewards and punishments, children are apt to be more keen and accurate judges of their elders' motives than they advertise. They know whether parents bestow favours just because they happen to be in a good mood. or whether they punish just because they are cross at something else...children welcome both reward and punishment that is timely and meritorious and respect the donors; they do not respect the donors of unwarranted merits and demerits. Punishment or reward that is deserved is accepted at full value and the normal reaction is one of friendliness and a desire to cooperate."

"Mental disease in childhood", 'Psychoanalysis Today, p. 95

६. "शेखर : एक जीवनी", पृ० १९२ । ७. "विचार और अनुभूति", पृ० १४८ ।

विद्रोह और घृणा-भावना को प्रबल बनाते रहते हैं।[१] वस्तुतः उसका प्रबल अहं ही उसके सर्वपक्षी—परिवार, समाज तथा शासन के प्रति—विद्रोह का कारण है।[२] इसलिए एक आलोचक अदम्य अहंकार की शक्ति को शेखर की (मूल) शक्ति मानता है,[३] तो दूसरा प्रकारान्तर से उसमें विद्रोह-भावना को ही "अन्तिम भावना" के रूप में देखता है।[४] वस्तुतः जैसे अहं सहजात वृत्ति है वैसे ही "विद्रोह बुद्धि"[५]; वह परिस्थितियों से संघर्ष की सामर्थ्य, जीवन की क्रियाओं से या परिस्थितियों के घातप्रतिघात से नहीं निर्मित होती, वह आत्मा का कृत्रिम परिवेष्ठन नहीं, उसका अभिन्नतम अंग है। इस तरह "विद्रोही बनते नहीं उत्पन्न होते हैं"[६] और शेखर भी ऐसे ही था। विद्रोह-सामर्थ्य उत्पन्न नहीं की जा सकती, उसका संचय तथा पथ-निर्देशन अवश्य किया जा सकता है[७]। विभिन्न परिस्थिति-पात्रों की प्रभाव-प्रतिक्रियाओं से शेखर को भी "गति" तथा "दिशा" मिलती है।[८] यह स्पष्ट हो चुका है कि शेखर की सहजात प्रवृत्तियों में से भय-प्रवृत्ति के निराकरण से अहं तथा विद्रोह-भावना का पोषण हुआ है। उसकी दूसरी प्रवृत्ति काम भी मानों शेखर के अहं का अंग बनकर रह जाती है। वह अपने सम्पर्क में आने वाले सभी पुरुषों से सम्मान चाहता है, तो सभी तरुणियों

---

१. John Cohen : "Humanistic Psychology", p 46.
"The rejected child repeatedly experiences disapproval and a time may come when these unpleasant incidents precipitate a sudden 'malevolent transformation' in which the 'good-me' dramatically gives way to the 'bad-me' with its flood of hate and aggressiveness The child feels he is surrounded by a hostile world of persons and things."

२ Paul Schilder : "Problems of Crime", 'Psychonalysis Today', p 345.
"When we act against law we act with conciousness It is the ego which is responsible for the action"

३. डॉ० नगेन्द्र : "विचार और अनुभूति", पृ० १४६-४७।

४. विश्वम्भर 'मानव' : "आलोचना" १३ (उपन्यास विशेषांक), पृ० १०५।

५. Joan Reviere : "Love, Hate & Reparation", Klein & Rivere, P. 4.
"An instinct of aggression, at any rate for defence, is generally recognized as innate in man and most animals. It seems clear too, that aggressive impulses are a radical and basic element in human psychology."

६. "शेखर : एक जीवनी", पृ० ३३। ७. वही, पृ० ३३।

८. वही, पृ० ६८।

से प्यार। और सम्मान-प्यार की प्राप्ति में भी वह आदान का आकांक्षी रहता है, प्रदान का उत्तरदायी नहीं—"मुझे मूर्ति उतनी नहीं चाहिए, मुझे मूर्ति-पूजक चाहिए। मुझे कोई पैसा उतना नहीं चाहिए जिसकी ओर मैं देखूँ, मुझे वह चाहिए जो मेरी ओर देखे। यह नहीं कि मुझे आदर्श पुरुष नहीं चाहिए, पर उन्हें मैं स्वयं बना सकता हूँ। मुझे चाहिए आदर्श का उपासक, क्योंकि वह मैं नहीं बना सकता। अपने लिए ईश्वर रचना मेरे बस में है लेकिन मेरी ईश्वरता का पुजारी—वह नहीं...।"[1] इसलिए (बड़ी बहिन) सरस्वती, शीला, शारदा, शान्ति उसे प्यार देती हैं किन्तु "जो कुछ पाती हैं वह अधिक-से-अधिक एक हल्का-सा आत्म-द्रव ही होता है: उसमें वह सम्पूर्ण आत्म-प्रगति नहीं होती, वह आत्मोत्सर्ग नहीं होता जिसे प्यार का पूरा नाम दिया जा सके[2]।" कॉलेज-जीवन में प्रवेश पाते ही अपने से एक वर्ष बड़े सहपाठी मित्र कुमार के प्रति उसकी काम-भावना जाग्रत होती है[3] और उससे भी वह कहता है—"...बताओ, तुम मुझे अपने से बड़े क्यों नहीं लगते? मुझे क्यों लगता है कि तुम छोटे हो, और मैं जैसे तुम्हारा संरक्षक तुम्हारा गार्डियन एंजेल (देवी रक्षक) हूँ, और तुम मुझ पर निर्भर करते हो[4]?" और इसके भी आगे बढ़कर वह जो कहता है, वह शेखर के अहं तथा विद्रोह-वृत्ति का चरम प्रमाण है—"कुमार, यदि मेरे अतिरिक्त तुम और किसी के हुए, तो मैं तुम्हारा गला घोट दूँगा।"[5]

विद्रोह के उपकरणों के विवेचन में "लेखक ने क्रांतिकारी के लिए दो शक्तियों—"विराट् व्यापक प्रेम की सामर्थ्य" तथा "एक तटस्थ सात्विक घृणा की क्षमता"—को विशेष महत्व दिया है।[6] और ये प्रेम और घृणा "अलग नहीं किए जा सकते; जहाँ प्रेम जितना उग्र होता है, वहाँ वैसी ही तीखी घृणा भी होती है।"[7] इन दोनों भावनाओं को भी शेखर के बाल और किशोर जीवन से कुछ-न-कुछ उदाहृत किया गया है। शेखर पहले माँ से घृणा करता है—यह पाठ मानों उसी से सीखता है—और बाद में बाल शेखर, असहयोग आन्दोलन के प्रभाव में, विदेशी मात्र से घृणा करने लगता है।[8] उनके कपड़े और भाषा (अंग्रेजी) भी इस घृणा से बच नहीं पाते।[9] दूसरी ओर उसका प्यार भी बढ़ता है—अपनी भाषा से, अपने देश से, देश के नेताओं (गाँधी जी) से। शेखर के अहं के उदाहरण ही अधिक हैं किन्तु कुछ उसकी

---

१. वही, पृ० १५४।
२. डॉ० नगेन्द्र : "विचार और अनुभूति", पृ० १४७।
३. "शेखर : एक जीवनी" पृ० २१५। ४. पृ० ११४।
५. पृ० २१५। ६. पृ० ३५। ७. पृ० ३७।
८. पृ० १२४। ९. पृ० १२४-२६।

सहृदयता, सहानुभूति तथा संवेदनशीलता के भी हैं। बचपन में, उसके मनोरंजन के लिए पिंजरे में रखे गए पक्षियों के उन्मुक्त हो जाने में उसे संतोष होता है और वह आगे ऐसे पिंजरे-बद्ध पक्षियों को पालने की अनिच्छा प्रकट करता है। निम्नजातीय किन्तु स्वाभिमानिनी विधवा के घर बाल शेखर को जाने और उसकी लड़की फूला से खेलने-खाने की मनाही की जाती है। बालक उनके दुःख-दर्द का अनुभव करता है। "वह दूर बैठे उस विधवा की पूजा तक करने लग गया जो इस बात (अपने निम्न जात्यत्व) का अभिमान कर सकती है, फूलां भी उसके लिए एक पद-दलित देवी-सी हो गई......"[1] एक अन्य प्रसंग में वह उन गरीब लोगों के बच्चों के प्रति दया-भाव से भर उठता है, जिनको खिलौने और फल नहीं मिल पाते—यही नहीं, जिनमें खेलने की शक्ति ही नहीं। आगे कॉलेज में प्रवेश पाने पर शेखर मालाबार प्रदेश की यात्रा इसलिए करता है, ताकि अछूतों पर ब्राह्मण के अत्याचार की सुनी कहानियों का अनुभव कर सके।[2] वहाँ वह इसी अत्याचार की शिकार, एक मरणासन्न नारी को पीठ पर लादकर अस्पताल पहुंचाने का कार्य भी करता है।[3] अन्यत्र वह इसी उम्र में असहाय महिला को गाड़ी पर चढ़ाने की सक्रिय सहायता करते हुए, एक व्यक्ति से झगड़ा मोल लेता है और उसकी अच्छी खातिर करता है।[4] निम्नवर्गीय व्यक्तियों तथा विशेष रूप से उनके बालकों की शिक्षा के लिए वह रात्रि-पाठशाला की स्थापना करता तथा उसमें पढ़ाता है। उद्धत नायक शेखर के भीतरी कोमल हृदय का परिचायक वह प्रसंग भी है जिसमें वह 'सत्य हरिश्चन्द्र' का अभिनय देखते हुए रोने लगता है।

सारॉश यह है कि शेखर जो बाद मे बनता है उसकी आधार-भूमि उसका बाल-जीवन है। वह विद्रोही, क्रांतिकारी, अहंमन्य, उद्धत, निडर, संघर्षशील, अन्तर्बाह्य बलिष्ठ, बौद्धिक, तार्किक, बहुज्ञ, अधीत, धुनी है और साथ ही सहृदय, कामी, साहित्यकार तथा संवेदनशील भी। ये चारित्रिक विशेषताएँ जो बाद में उभर कर सामने आती हैं, वे बीजरूप में पहले भी विद्यमान हैं—शेखर के पहले भाग में उसके चरित्र की आधारभूमि विश्लेषित है। इस विश्लेषण से 'शेखर' के उद्देश्य-तत्व के रूप में, कुछ निष्कर्ष स्थान-स्थान पर प्रसंगानुसार कथित और कुछ समग्र रूप से व्यंजित हुए है—

१. मानव में कुछ सहजात या मूल प्रवृत्तियां रहती हैं, जिन्हें वह अपनी मानवता या जन्म के साथ पाता है, बाद की परिस्थितियों या व्यवहार से नहीं। ये

---

१. "शेखर : एक जीवनी", पृ० ७०। २. पृ० २२०। ३. पृ० २२१। ४. पृ० २२८-३०।

समग्र मानवता का अनुशासन करती हैं। नैतिक नियमों का निर्माण तथा समाज की समस्याओं का समाधान इनके बहिष्कार से नहीं, स्वीकरण से ही हो सकता है।

२. दूसरा निष्कर्ष पहले का सहज-फल है :—व्यक्तित्व-निर्माण के मूल उपकरण स्वयं उत्पन्न होते हैं, समाज केवल उन्हें गति और दिशा देकर अच्छा या बुरा बनाने का उत्तरदायी हो सकता है। "मूर्ति का निर्माण हो सकता है, मृत्तिका का नहीं। उसी मिट्टी से अच्छी प्रतिमा भी स्थापित की जा सकती है, बुरी भी, पर जहाँ मिट्टी ही न हो, वहाँ कितने भी प्रकार से, कितनी भी शिक्षा से, कितने भी जाज्वल्यमान् बलिदान से मूर्ति नहीं बन सकती[1]।" दूसरी ओर जैसे मृत्तिका को कला की वस्तु बनाने के लिए कलाकार के स्पर्श की आवश्यकता होती है उसी प्रकार व्यक्ति के विकास के लिए विशेष परिस्थितियों की।[2]

३. मानव की शक्तियों-विकृतियों का आधार बाल्य जीवन है।

४. चौथा निष्कर्ष तीसरे का सहजफल है—बाल-जीवन के विश्लेषण पर आधारित मनोविश्लेषण विज्ञान का बड़ा महत्व है। बाल-जीवन की विकृतियों को सुधारने में ही नहीं, 'शेखर' की तरह विभिन्न मानवों के चरित्र-विश्लेषण द्वारा समग्र मानवता को प्रभावित करने में इसकी उपयोगिता देखी जा सकती है— क्योंकि मानव की विद्रोही प्रेरणाओं की गहराई और शक्ति इसके द्वारा भली-भाँति स्पष्ट हो सकती है[4]। शेखर को बनाने-बिगाड़ने में उसके माँ-बाप के कुप्रभावों, दूषित शिक्षा-प्रणाली

---

१. पृ० १२३।　　२. पृ० ३५।　　३. पृ० ३५-३६।

४. इस सम्बन्ध में क्लीन का मत उद्धरणीय है—

"Experience has already for sometime shown that psychoanalysis, though originally devised by Frued as a method of curing mental disease, accomplishes a second purpose as well. It puts right disturbances of character-formation, especially in children and adolescents, where it is able to effect very considerable alterations—character analysis is no less important than analysis of neuroses as a therapeutic measure. In view of these facts one cannot help wondering whether psychoanalysis is not destined to go beyond the single individual in its range of operation and influence the life of mankind as a whole. The repeated attempts that have been made to improve humanity...have failed, because nobody has understood the full depth and vigour of the instincts of aggression innate in each individual"——"Early development of conscience", 'Psychoanalysis Today', p. 73.

तथा मार्ग में आने वाली बहुविध परिस्थितियों के सम्बन्ध में लेखक की विचारात्मक प्रतिक्रियाएँ व्यक्त हुई हैं, जिससे उद्देश्य-तत्व का समावेश होता रहता है। इनमें से एक का उदाहरण लीजिए, जिनमें माता-पिता के कुप्रभावों के विषय में कहा गया है—'लोग प्रायः भूल ही जाते हैं कि उनके जीवन क्या रहे। तभी समाज अपने लिए यह सम्भव पाता है कि विधान करे, "योग्य माता-पिता वे हैं, जो बच्चों को वयः प्राप्त लोगों की तरह रहना सिखाएँ।" इस एक भावना ने यौवन का जितना अपघात किया है, उतना शायद ही किसी और कानून या प्रथा या विधान ने किया हो।··· यदि माता-पिता अपना बचपन याद भर रख सकते तो उनकी सन्तान और वे स्वयं, कितने सुखी होते !······किसने नहीं सुना, "अरे इनके सामने कहने में क्या हर्ज है, यह तो बच्चा है !" "अरे, उसे क्या पता वह तो बच्ची है !" 'उत्तरदायित्व-शून्य' बच्चे की निष्कपटता का उत्तरदायित्व कितना बड़ा है, वे भला क्या समझें ! वे कोमल, अविकसित मस्तिष्क, अपनी कोमलता के कारण ही अधिक भयंकर होते हैं। हम लोग पक्की सड़क पर चलते है, तब हमारे पाँवों छाप नहीं पड़ती, लेकिन जब ढीली मिट्टी पर, धूल पर, रेत पर चलते हैं, तब पैर बहुत गहरा धँस जाता है। पक्की सड़क पर पानी बह जाता है, कच्ची पर जहाँ-जहाँ धँसे हुए पैरों से गड्ढे बने होते हैं, वहाँ कीच बनती है ·····'।[1]

'शेखर' के पहले भाग में मुख्यतः शेखर के चरित्र की आधारभूत विशेषताओं, चरित्र-निर्मायक प्रेरणाओं का विवेचन किया गया है और दूसरे भाग में एक गतिशील पात्र के रूप में उसको विभिन्न पात्रों-परिस्थितियों से जैसी गति और दिशा मिलती है—इसकी मूल वृत्ति अहं या विद्रोह शक्ति का जैसा परिष्कार होता है—उसका विवेचन किया गया है। उस-जैसे अनेक व्यक्ति-पात्र—शशि, बाबा मदनसिंह, मोहसिन आदि—उसे अपनी-अपनी विशिष्टताओं से योग देते हैं। आगे हमें इन पात्रों के शील-प्रकाशन के आलोक में शेखर के चरित्र-विकास तथा इसके फलस्वरूप उद्देश्यतत्व के कलात्मक समावेश का विवेचन अभीष्ट है।

'शेखर' को प्रभावित करने वाले पात्रों में सर्वप्रमुख स्थान शशि का है। शशि एक की विवाहिता है, दूसरे की प्रेमिका। वह जितनी अनुरागिणी है उतनी ही (विवेक-सम्मत) त्यागिनी भी—इसलिए स्फूर्तिदायिनी भी—और सहृदया भी है, प्रज्ञा[2] भी। अपनी माँ की मान-रक्षा में स्वेच्छा से अनचाहे व्यक्ति के साथ विवाह-बन्धन को स्वीकार करने वाली कर्तव्यपरायणा, और पति के दुर्व्यवहार एवं मार सहने में आत्मपीड़नमयी धीरा, परित्यक्ता हो जाने के बाद नर-नारी के समानाधिकारों

---

१. "शेखर : एक जीवनी' (पहला भाग), पृ० १३१-३२।

२. वही, (दूसरा भाग), पृ० २२-२३।

की वकालत में विद्रोहिणी तथा अनुकूल सम्पर्क से क्रांतिकारिणी भी बनती है। वह शेखर को बचाने-बढ़ाने[1] में स्वयं मिट जाती है, परन्तु इस आत्मोसर्ग में ही वह अपने नारीत्व की सिद्धि का समाधान पाती है। इस सम्बन्ध में शेखर के आग्रह पर कहे हुए उसके कथन में उसके चरित्र का सार आ गया है—"तुम पूछते हो तो कहती हूं। लो सुनो। स्त्री हमेशा से अपने को मिटाती आई है। ज्ञान सब उसमें संचित है, जैसे धरती में चेतना संचित है। पर बीज अंकुरित होता है, तो धरती को फोड़कर; धरती अपने-आप नहीं फूलती-फलती। मेरी भूल हो सकती है, पर मैं इसे अपमान नहीं समझती कि सम्पूर्णता की ओर पुरुष की प्रगति में स्त्री माध्यम है······ और वही एक माध्यम है। धरती धरती ही है; पर वह भी समान स्रष्टा है; क्या हुआ अगर उसके लिए सृजन पुलक और उन्माद नहीं, क्लेश और वेदना है?" शशि के इस उत्सर्ग में भी विनम्रता है; इसलिए आगे ही वह स्पष्ट करती है—"मैं अपने को मिटा रही—जिस शेखर को मैं देखती हूँ, उसके बनाने में मेरा बराबर का साझी होगा, इसलिए लेने देने का कोई सवाल नहीं है; और तुम्हारा यह झिझकना और कृतज्ञता जताना ही अपमान है।"[2] शशि अपने चरम आत्मोसर्ग के बल पर ही शेखर के अहं का परिष्कार करती हुई उसकी विद्रोही भावना को सही दिशा देने में समर्थ होती है। जिन सूत्रों के आधार पर वह शेखर का शील-विकास करने में समर्थ होती है, वे उसके अपने चरित्र की महत्ता का प्रमाण भी हैं। पहला सूत्र है—"दुःख उसकी आत्मा को शुद्ध करता है, जो उसे दूर करने की कोशिश करता है। शुद्धि दूसरे के साथ दुःखी होने में नहीं, दूसरे के स्थान पर दुःखी होने में है।"[3]

दूसरा सूत्र शेखर की उस स्वीकारोक्ति में है, जिसमें उसके शील का क्रम-विकास तथा आद्यन्त विद्रोह का स्वरूप विश्लेषित हो जाता है—"शशि शक्ति मेरे पास रही है, पर मैंने उसे जाना नहीं, आजीवन मैं विद्रोही रहा हूँ, पर बराबर मैं अपनी विद्रोही शक्ति को व्यर्थ बिखेरता रहा हूँ······एक दिन तुम्हारे ही मुख ने मुझे यह दिखाया—बताया कि लड़ना स्वयं साध्य नहीं है, लड़ने के लिए लड़ना निष्परिणाम है, कि विद्रोही किसी के विरुद्ध होना चाहिए—ईश्वर, समाज, रोग, मृत्यु, माता-पिता; अपना-आप, प्यार कुछ भी हो जिसके विरुद्ध विद्रोह किया जा सके······तब मेरे विद्रोह को धार मिली—वह विरुद्ध हुआ ···मैं प्रतिद्वन्द्वी हुआ ·····किन्तु वह आधा ज्ञान था, इसलिए मेरा विद्रोह भी आधा था······ फिर फिर तुम्हीं ने सिखाया कि विरुद्ध लड़ना ही पर्याप्त नहीं है ·····मैंने देखा, सर्वत्र कलुष है, ह्रास है, पतन है—कि एक अकेला समाज ही नहीं, जीवन आमूल

१. "शेखर : एक जीवनी", पृ० २२६। २. वही, पृ० २२४।
३. वही. (दूसरा भाग), पृ० ४८।

दूषित है · ···ईश्वर, मानव सब कुछ ·····ग्रामूल दूषित · दूषित और सड़ा हुआ, विरुद्ध लड़ने के लिए कुछ भी नहीं है ! यह सब कुछ है, जोकि एक ही बात है— मिट्टी को काटा जा सकता है, पर दलदल को नहीं—उसमें धँसना ही धँसना है··· किसी के विरुद्ध लड़ना पर्याप्त नहीं है, किसी के लिए लड़ना भी ज़रूरी है— ।"[१] निस्सन्देह अन्त में शेखर क्रांतिकारी के रूप में किसी के विरोध में और किसी के लिए लड़ता हुआ दृष्टिगत होता है । इसलिए कुछ आलोचकों के अनुसार शेखर को 'बहुत कुछ नामाजिक'[२], 'घोर अहवादी'[३], 'कोरा व्यक्तिवादी'[४], आदि कहकर उसका जो तिरस्कार तथा इसी दोष के आधार पर 'शेखर : एक जीवनी' के मूल्य को कम करने का जो प्रयास किया गया है, उनसे हम सहमत नहीं हो सकते । वस्तुतः उपन्यास के अन्त में आत्मकथावक्ता आश्रय शेखर, आलम्बन शेखर के साथ एकरूप होता हुआ स्पष्ट शब्दों में प्राणी की प्राणवत्ता का मान अहं-ग्रस्त या असामाजिक होने में नही, आत्मोसर्ग तथा आत्म-प्रसारण की शक्ति में स्थिर करता है—"जीवन का अन्तिम मान है जीव— हमारे जीवन का मान है यह अद्‌भुत सृष्टि मानव प्राणी—और प्राणी की प्राणवत्ता का मान है उसका प्यार—उसकी अपने आप से बाहर प्रसारित होने की, निछावर होने की शक्ति······ ।"[५] शेखर का यह निष्कर्ष रचनान्त में अपाततः नहीं आ गया, इसका क्रमिक विकास हुआ है—अनेक पात्रों परिस्थितियों ने उसकी निहित मानवता को जगाया और अहंमन्यता को झुका-पिघला कर स्वस्थ विद्रोह को शक्ति के रूप में ऊर्ध्वोन्मुख किया है (स्पष्टीकरण आगे हो जायेगा) । शशि ने मानों इस कार्य को परिणति दी है । इसलिए शेखर इस रचना को, एक 'स्मारक' के रूप में, शशि के नाम पर खड़ा करके जा रहा है—क्योंकि मृत्यु-मुख में जाने से पहले वह यही कर सकता है[६] । उसे इस बात की चेतना है कि शशि उसके लिए टूटी-मिटी है और वह उसके टूटने का निमित्त हुआ; और ऐसा स्वीकार कर वह न अपने अपराध को छोटा बनाना चाहता है, न धोना । उसके आत्मोत्सर्ग की महत्ता से अवगत होकर ही वह उससे कह सका है—"तुम्हारा ज्ञान मुझसे अधिक है, बाँध मुझ से बड़ा है, संवेदना मुझसे गहरी है ।"[७]

उपर्युक्त सभी तथ्यों से स्पष्ट है कि 'शेखर : एक जीवनी' का अन्त उद्धत-अहंमन्य शेखर के साथ नहीं, स्वस्थ-आत्म विश्वासी, विनम्र-शक्तिशाली तथा राष्ट्र

---

१. पृ० २५१ । २. डॉ० प्रभाकर माचवे : "संतुलन", पृ० १७५ ।
३. इलाचन्द्र जोशी: "विवेचना" । ४. शिवदानसिंह चौहान : "साहित्यानुशीलन", पृ० २३१ ।
५. "शेखरः एक जीवनी" (दूसरा भाग),पृ० २५३ । ६. पृ० २५३ । ७. पृ०

के कल्याण-निर्माण में उत्तरोत्तर अग्रसर होते हुए क्रांतिकारी शेखर के साथ हुआ है। वह गतिशील पात्र है और वह अपनी गति-प्रगति का मान, जीवन की सिद्धि आत्मोत्सर्ग तथा आत्मप्रसारण की भावना में पा चुका है। शेखर के इन दो भागों में इस मान का ज्ञान अधिक हुआ है, निदर्शन कम—क्योंकि इन भागों में शेखर के क्रमिक चरित्र-विकास की यही सीमा, (यही गुँजायश) हो सकती थी—किन्तु निश्चित है कि 'शेखर' के तीसरे भाग में यह उज्ज्वलतम रूप में प्रमाणित होगा। 'शेखर: एक जीवनी' (दूसरा भाग) के अन्तिम पृष्ठ तथा अन्त की कुछ निम्न पंक्तियाँ इस उज्ज्वल भूमिका की परिचायक हैं—"मैं (शशि) नहीं चाहती कि तुम (शेखर) मानव कम होओ, शेखर, किन्तु अगर तुम में उसकी क्षमता है, तो उससे बड़े होने की अनुमति—स्वाधीनता में तुम्हें सहर्ष देती हूँ······"[1]

"हम दोनों वर्षों से भवन बनाते रहे हैं, तुम और मैं, जिसमें न तुम रहोगे न मैं···किन्तु हम उसमें नहीं रहेंगे, इसी मात्र से वह कम सुन्दर न होगा···।"[2]

"शेखर ठिठका रह गया—स्तब्ध, किसी अतिमानवी अलौकिक परिव्याप्ति के बोध से आप्लावित, किसी अन्तर्भव सत्य के उदय का प्रतीक्षमान्···सहसा ज्ञान आया···"[3]

"मृत्यु तू भी तो छाया है—ग्रस ले छाया (शशि) को यदि ताकत है तुझ में—यदि साहस है···मशाल को तोड़ दे, कुचल दे, मिटियामेट कर दे—देह मशाल है और उसे एक दिन जल कर मिटना ही है, पर उसकी लौ तो ऊपर उठती है—वह, और वह, और वह—तेरे चंगुल से परे, तुझे चुनौती देती हुई, अक्षय, मुक्त···

ग्रस उसे, छू उसे यदि सकत है तुझ में, यदि साहस है···"[4]

"छाया, तुम्हें भूलने नहीं जाता, तुम साथ चलो···, कर्म में विस्मरण नहीं है, शशि, कर्म में तुम हो, चिरन्तन प्रेरणा—चिरन्तन क्योंकि मुक्त और—मोक्षदा···"[5]

उपर्युक्त पंक्तियाँ शशि के आत्म-बलिदान से स्फूर्त शेखर के विकास तथा इस रचना के सांकेतिक, सार्थक तथा शक्तिशाली अन्त की स्वयं-प्रमाण हैं।

शशि के चरित्र की औपन्यासिक उपयोगिता किन्हीं सामाजिक-नैतिक समस्याओं को सामने लाने में भी है। पति के विकट दुर्व्यवहार, तथा शंकालु मनोवृति के उत्तर में पत्नी के रूढ़ हिन्दू आदर्शानुकूल आत्मपीड़नमयी सहनशीलता के परिणामस्वरूप शशि की जैसी विडम्बनापूर्ण दुरावस्था तथा अन्ततः मृत्यु सामने आती है, वह द्रावक है और पाठकों को विकारग्रस्त विवाह-पद्धति पर सोचने के लिए बाध्य

१. पृ० २५७। २-३. दूसरा भाग, पृ० २५८। ४. पृ० २५८। ५. पृ० २५९।

करती है। यद्यपि शशि पति के विरुद्ध कहीं भी खुला विद्रोह नहीं करती, किन्तु उसके अन्तस् में संचित विद्रोह-वृत्ति को एक विशेष अवसर पर निकास का अवसर मिल ही जाता है। उस अवसर पर उसके भाषण की तीव्रता, उसके अनुभवों की कटुता को मूर्त कर देती है और उसके विचारों के साथ पाठकों का तादात्म्य हो जाता है; उसने कोई बात बड़ी नहीं कही, अनुभवों की सचाई से ही वह बड़ी हो उठी है; देखिए—"...आदर्शों का अभिमान आसान है, विवाह का हिन्दू आदर्श, गृहस्थ-धर्म, सतीत्व का हिन्दू आदर्श किन्तु अभिमान की काही के नीचे आदर्श का पानी क्या कभी बहता है कि बँधकर सड़ गया है? गृहस्थ धर्म उभयमुखी होता है; किन्तु आज के जीवन में नारी पुरुष के उपभोग का साधन रह गई है; निरी सामग्री, जिसे वह जब चाहे, जैसे चाहे, अपनी तुष्टि की आग में होम कर दे। और उसकी अपील नहीं है, क्योंकि स्त्री कभी दुहाई दे, तो उत्तर स्पष्ट है कि 'और शादी की किस लिए जाती है?' यह आदर्श नहीं, आदर्शों की समाधि है; देह नहीं, सदियों से सूखी त्वचा में निर्जीव हड्डियों का ढाँचा है।"[1]

दूसरी समस्या प्रेम और नीति की है। यह समस्या इसलिए है कि शशि रमेश की पत्नी है, शेखर की प्रेमिका। दूसरे, शशि शेखर की असगी मौसेरी बहिन भी है... शेखर उसे बहिन कहता है और शशि उसे भाई। यद्यपि दोनों एक दूसरे से प्यार करते हैं— ऐसा प्यार जो उनकी जीवनोन्नति का साधक है—फिर भी, समाज की नैतिक धारणा के विपरीत होने से दोनों अपेक्षित साहस नहीं दिखा पाते और भीतर-ही-भीतर घुटते रहते है। शशि के परित्यक्ता होने के बाद, दोनों पास-पास रहते हुए भी अपेक्षित पास नहीं आ पाते—मात्र कुछ चुम्बनों तक ही सीमित रह जाते हैं। इस पर भी शेखर के भीतर का समाज-भय उसके इस प्रश्न में मुखरित हो उठता है—"शशि, क्या मैंने पाप किया है?" और शशि के उत्तर में जैसे लेखक के आदर्श की गूँज है—'शेखर मैने सदा तुम्हें प्यार किया है। पाप मैंने कभी नहीं किया।"[2] कहने की आवश्यकता नहीं कि शशि के अन्तस् की सात्विकता प्रेम की उच्चादर्शता, दृढ़ता, संयम (प्यार एक है, और कला संयम का दूसरा नाम[3]) तथा सहजबोध की शक्ति शेखर से कहीं बढ़ी-चढ़ी है। इसलिए लेखक ने उपन्यास के अन्त में उस-जैसे उज्ज्वल व्यक्ति की मरण-घटना को स्थान देकर रचना को अचूक मार्मिक बना दिया है।

सामाजिक और नैतिक समस्याओं से बढ़कर शेखर शशि के प्यार के आधार पर, प्यार-मात्र को समस्या मान लेता है; चिन्तन की इस दिशा का संकेत इन

---

१. "शेखर: एक जीवनी" (दूसरा भाग), पृ० २१५। २. पृ० २५२। ३. पृ० २४५।

पंक्तियों में स्पष्ट है—"सभी प्यार—प्यार मात्र—मूलतः एक समस्या है और दो इकाइयों तक सीमित नहीं है······कितने सूत्र—पक्के और दुर्बल, मोटे और सूक्ष्म, सीधे और आड़े, उस समस्या से उलझे हुए हैं और विकट बनाते हैं····· मूल समस्या सामजस्य की है; प्यार एक आकर्षण है, एक शक्ति, जिससे जीवन की स्थितिशीलता विचलित हो जाती है, वह विचलन की समस्या है क्योंकि यह व्यापक है और मौलिक, जीवन के 'तरवार की धार पर'—असंख्य धारों पर !—सधे हुए समतोल को डगमगा जाती है·· तब तक समस्या है जब तक कि उतना ही व्यापक सामंजस्य फिर न खोज निकाला जाय······समस्या है और साधना है, तपस्या है······"

इस तरह नायक के चरित्र को प्रभावित करने, अनेक विचार-समस्याओं को लाने तथा अपने महत्व के आधार पर भी उपन्यास को प्रभावपूर्ण बनाने में, शेखर के बाद शशि का ही स्थान आता है।

जेल-जीवन के कुछ पात्रों ने शेखर को विशेष प्रभावित किया है। उनमें प्रमुखतम है बाबा मदनसिंह। बाबा मदनसिंह इक्कीस वर्ष से जेल में रहते हुए भी हँस सकने वाला, धीर-गम्भीर संत—'धवलजूट शिशु'—है। वह हृदय एवं मस्तिष्क दोनों की विभूतियों से सम्पन्न है। उसकी वेदना अनुभूतियों से उद्भूत ज्ञान-गरिमा के सार-सूत्र, तथा स्वतन्त्रता-सेनानियों पर अँग्रेजी अत्याचारों को सुनकर उमड़ने वाली संवेदनशीलता हमे विस्मित-विमुग्ध करते हैं। अन्त में उसके विनम्र स्वाभिमान के आगे शेखर का हठीला अहंकार टिक नहीं पाता। यों तो बाबा ने अनेक ज्ञान-सूत्र शेखर को सुनाए हैं, किन्तु हमारे लिए वे सूत्र अधिक काम के हैं, जिनसे शेखर का विशेष तादात्म्य हुआ है और उसके जीवन-दर्शन की व्यंजना हो सकी है। एक सूत्र है:—"पीड़ा तपस्या है, किन्तु असली तपस्या तो जिज्ञासा है—क्योंकि वही सबसे बड़ी पीड़ा है।"[१] यही वह मूल सूत्र है, जो शेखर के जीवन में आरम्भ से मिलता है। जीवन-जगत् के रहस्यों को समझने की जिज्ञासा-वृत्ति उसको किन्हीं सीमित अनुभवों से बँधने नहीं देती और उसका विकास करती है। इसलिए मदनसिंह का उपर्युक्त सूत्र शेखर के निम्न चिन्तन क्रम को पुष्ट करने के लिए आया है :—"वह फिर चल पड़ा।...किन्तु सोचने से कैसे रुका जाय— सोचने से नहीं, प्रश्न पूछने से कैसे रुका जाय। और प्रश्नों का अन्त कहाँ —जिज्ञासा के घूँट नहीं होते, वह तो भीमप्रवाहिनी कूलहीना नदी है, स्वयं जीवन की तरह दुर्निवार..."[२] तदनुकूल 'शेखर' में जो समाधान उपस्थित हुए हैं, वे प्राय: प्रश्न-शंकाओं के साथ हैं, अतएव आगे बढ़ने का मार्ग फिर भी अविरुद्ध रहता है और सत्यान्वेषण की प्रवृत्ति स्थिर। इस सम्बन्ध में 'शेखर' के हिंसा-अहिंसा

१. "शेखर : एक जीवनी" (दूसरा भाग), पृ० ८६-८७। २. पृ० ८६।

सम्बन्धी वाद-विवाद को देखा जा सकता है, जिसमें दोनों पक्षों की समतुल्य सीमाएँ स्पष्ट हुई हैं। इसी से "शेखर" में गहनता का गुण आया है।

बाबा मदनसिंह का दूसरा सूत्र है—"अभिमान से भी बड़ा दर्द होता है पर दर्द से बड़ा एक विश्वास।"[१]—यह सूत्र शेखर के चरित्र को प्रभावित-विकसित करता है और उसके अहंकार को आत्मविश्वास में परिष्कृति देने में योग। यह उल्लेखनीय है कि इस "विश्वास" का अर्थ 'अहंकार' नहीं। लेखक ने बाबा की मृत्यु के बाद शेखर और बाबा की कल्पित वार्ता में इस बात को स्पष्ट कर दिया है। वहाँ शेखर अपनी मनोवृत्ति के कारण इसका अर्थ 'अहंकार' लेता है, किन्तु बाबा उसे स्पष्ट कहते हैं— "टालो मत, तुम जानते हो कि तुम बच रहे हो, जानते हो कि अपने से बड़ी वस्तु की झाँकी तुमने पाई है—सभी पाते है—" और वह शेखर को अपने लिए नहीं, अपने से बड़ी किसी इकाई के लिए काम करने या नाता जोड़ने के लिए कहते हैं।[२]

एक अन्य सूत्र भी यहाँ उल्लेखनीय है, जो शेखर पर बाबा मदनसिंह के व्यक्तित्व के प्रभाव का फल ही नहीं, शेखर की अहंमन्य प्रकृति में आ रहे उपर्युक्त अन्तर का सूचक भी है; शेखर मदनसिंह से कहता है—"आपकी बातों से अभी ही कई प्रश्नों का उत्तर मुझे मिल गया जिन्हें पूछने का साहस मुझमें नही था। मालूम होता है कि अहंकार स्वाभाविक होता है, विनय सीखनी ही पड़ती है।"[३]

अज्ञेय जी ने भूमिका में लिखा है—"वेदना एक शक्ति है जो दृष्टि देती है। जो यातना में है, वह द्रष्टा हो सकता है।" शेखर के भीतर से भी वेदना-दर्शन प्रस्फुटित होता है—"दुःख ससर्ग-जन्य है, वह उदात्त और शोधक भी है।[४]" अथवा "दुःख की छाया एक तरह की तपस्या ही है—उससे आत्मा शुद्ध होती है"।[५] उपर्युक्त दोनों पात्रों—शशि और मदनसिंह—का व्यक्तित्व तथा उनके पीड़ा-प्रसूत (अध्ययन-जन्य नहीं) सूत्र – "अपने को तपाकर पाया हुआ कंचन"[६]—इस वेदना-दर्शन के सजग प्रमाण हैं। इस प्रकार लेखक का जीवन-दर्शन चरित्रानुमोदित होने से प्रभावपूर्ण बन सका है।

शेखर के जेल-जीवन को प्रभावित करने वाला अन्य पात्र है मोहसिन। वह "स्कूल में 'बग़ावत' फैलाने के जुर्म में" एक साल के लिए सज़ा पाकर आया हुआ है वह सहज स्वाभिमानी जेल में भी बग़ावत का रुख रखे हुए है—जेल के नियम नहीं मानता, किसी प्रकार की 'मुशक्कत' नहीं करता, दारोगा और साहब को भी 'तुम'

---

१. वही, पृ० १००। २. दूसरा भाग, पृ० ११६-१७। ३. पृ० ६७।
४. पृ० ३३। ५. पृ० ३५। ६. पृ० २२३।

कहता है और 'हरदम हर वक़्त शरारत' और 'ठट्ठा' करता रहता है। इसलिए उसे जेल में भी कड़ी-से-कड़ी सज़ा दी जाती है—खून से लथपथ कर देने वाले बेंत तक लगाए जाते हैं—फिर भी वह, अपने शरारती स्वभाव से बाज़ नहीं आता। जेल में भी इसे शेव करने के लिए कहीं से उस्तरा मिलता ही रहता है। वह शेखर को, उसकी बढ़ी हुई दाढ़ी के कारण, मौलवी कहता है और बदले में पण्डित कहलाता रहता है। कैदियों की जेल-जीवन की कटुता को वह गाने गा-गा कर धोता रहता है। वह 'लावारिस' है, पर अपनी निर्दोष विनोद-वृत्ति के बल पर सहज ही सबका आत्मीय बन जाने में समर्थ। साराँश में वह वज्र—दृढ़, साहसिक, मस्त-मौला, ज़िन्दादिल अक्खड़-फक्कड़ है। शेखर इसके व्यक्तित्व से प्रभावित हुए बिना नहीं रहता।

शेखर के जेल-जीवन का एक और साथी है राम जी। वह अपनी बदचलन भाभी और उसके कमीने प्रेमी की हत्या के कारण फाँसी की सज़ा पाए हुए हैं। वह जाट खेतीहर "आधा जंगली किन्तु पूर्णतः ईमानदार"[१] व्यक्ति है। हत्या के अपराध को वह स्वयं ही स्वीकार कर लेता है और सज़ा के विरुद्ध अपील नहीं करता। वह अपने किए पर शरमिन्दा नहीं। हत्या की कहानी से उसकी सरलता, नैतिक उदारता, निर्भीकता और ईमानदारी की छाप लग जाती है। इसकी विशिष्टता इसमें है कि फाँसी पाए हुए भी वह अपने संतुलन और मौजी स्वभाव को स्थिर रखता है। उसका सन्तुलन भी निर्जीव—जड़ नहीं, भीतर की सहज साधना से सजीव है—उसके प्रकृत स्वभाव द्योतक तथा पूर्णतया मानवीय। फाँसी चढ़ना है इसलिए दो-एक सिगरेट पीने की 'बुरी आदत' को वह पाल लेता है। उसका सहज सहानुभूतिशील स्वभाव अपने साथ के कमरे के साथी शेखर की उदासी को देख नहीं सकता, इसलिए वह गा-गाकर उसका मन बहलाता है। फाँसी मिलने वाले दिन भी वह आधी रात तक उसके लिए गाता रहता है। कितनी मार्मिक विडम्बना है कि फाँसी पाया हुआ किसी अभियुक्त की उदासी को दूर करे! बाहर से दो-एक सिगरेट मँगा देने के अतिरिक्त शेखर से उसकी यह अन्तिम कातर माँग कितनी मार्मिक है कि वह साहब से इजाज़त लेकर उसकी फाँसी देख सके ताकि उसे आखिरी समय जल्लादों का ही मुँह न देखना पड़े। शेखर की स्तब्धता पर वह कहता है—"बाबू जी आप चुप क्यों हैं? इसमें बुराई नहीं है, एक बिचारे की मदद ही है। मैं समझूँगा, मरते वक्त एक दोस्त मौजूद था।"[२] इस तरह राम जी अन्तिम पल तक मानवीय ममता से सजीव बना रहने वाला व्यक्ति है।

शेखर की अहंमन्यता मोहसिन और राम जी दोनों के आगे झुकती है। एक

---

१. "शेखर : एक जीवनी" (दूसरा भाग), पृ० ९५। २. पृ० ९६।

अन्य जेल का साथी विद्याभूषण भी उल्लेखनीय है, जिसकी गम्भीरता तथा निडरता के आगे शेखर को अपनी अनभिज्ञता स्वीकार करने में लज्जा नहीं आती और जो उसकी "अन्तरात्मा की उर्वर भूमि की थोड़ी सी निराई" करने में समर्थ होता है। वह क्रांतिकारी है और शेखर को अपने अधिकारों से परिचित कराकर जेल में अकड़कर रहने की स्फूर्ति देता है। सरकार के उद्धत सी० आई० डी० को पीट डालने के अपराध में वह जेल में आता है। पहले भी असहयोग आँदोलन में 'बंदेमातरम्' का नारा लगाने पर वह राजनैतिक कैदी के रूप में बेंत खा चुका है। वह देश के स्वाभिमान की रक्षा को आवश्यक बताता है और इसके लिए हिंसक साधनों के प्रयोग में किसी प्रकार की कोई आपत्ति नहीं देखता। विद्याभूषण भावुक क्राँतिकारी ही नहीं, बौद्धिक शक्तियों से सम्पन्न भी है। इसलिए विद्याभूषण शेखर की बुद्धि को एक गहरा आघात देने में समर्थ होता है। शेखर को विद्याभूषण से अपने अहंकारोन्यन की दशा का सबल संकेत मिलता है। "अभिमान, या अहंकार एक सामाजिक कर्तव्य भी हो सकता है, शेखर के लिए यह नया दृष्टिकोण था"[1], जो उसे विद्याभूषण से मिला। साराँश में शेखर इन विशिष्ट व्यक्ति-पात्रों से देशभक्ति तथा आदर्शवाद की सबल स्फूर्ति के अतिरिक्त अपनी अहंकार-वृत्ति के परिष्कार तथा सामाजिक उपयोग का मार्गदर्शन भी पाता है।

जेल के इन उज्ज्वल-शील-सम्पन्न सरल-निश्छल व्यक्तियों की कठोर सज़ाओं तथा कुछ एक के करूण अन्त से परकीय शासन के प्रति घृणा उत्पन्न होती है और न्याय पद्धति के सुधार की आवश्यकता का उद्देश्य भी संकेतित होता है।

उपर्युक्त चार-पाँच पात्रों के शील के संक्षिप्त विवेचन में 'शेखरः एक जीवनी' की पात्र-विविधता तथा चरित्राँकनगत रोचकता और मार्मिकता का आभास भी मिल जाता है।

ऊपर हमने सिद्ध किया है कि 'शेखर' के प्रमुख पात्र व्यक्ति-पात्र हैं; विशिष्ट हैं, सामान्य नहीं; फिर भी, यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि ये उतने विशिष्ट-विचित्र नहीं कि पाठक इनमें रुचि न रख सके, या विस्मृत-चमत्कृत होता ही रह जाए, कहीं तादात्म्य न कर सके। इस सम्बन्ध में शेखर का यह कथन [illegible] है—'मेरे व्यक्तिगत-जीवन में मानव के समष्टिगत जीवन का भी इतना अंश है कि समष्टि उसे समझ सके और उनमें अपने जीवन की झलक पा सके। मेरे जीवन मे भी व्यक्ति और टाइप का वह अविश्लेप्य घोल है, जिसके बिना कला नहीं, और जिसके बिना फलतः उपन्यास नहीं है।'[2] उदाहरणतया, शशि में एक सामान्य भारतीय पत्नी के गुण भली-भाँति देखे जा सकते हैं—इनके अभाव में ऊपर चर्चित विकारग्रस्त विवाह-

१. "शेखरः एक जीवनी" (दूसरा भाग), पृ० ५७। २. पृ० १३०।

पद्धति की सामाजिक समस्या पाठकों को प्रभावित न कर पाती। इसी तरह बाबा मदनसिंह चाहे अपनी साधना से संतुलित रह पाता है, किन्तु भीतर ही भीतर जेल-जीवन के दु:खों से भरकर वह भी सामान्य कैदियों की तरह रो सकता है। राम जी विशिष्ट होते हुए भी एक सामान्य जाट भी है। उसकी स्पष्टवादिता, निर्भीकता, कठोरता, भाभी और उसके प्रेमी को दण्डित करने की निर्द्वन्द्व तत्क्षणता, तथा अभिव्यक्ति की सीधी सरलता एक जाट की वर्गगत विशेषताओं की परिचायक हैं। मोहसिन के गीत की निम्न पंक्तियाँ मात्र गाने के लिए ही नहीं, एक सामान्य मानव की संघर्ष-शक्ति-सीमा और आंतरिक विवशता की परिचायक हैं :—

मिट गई जब सब उम्मीदें मिट गए सारे ख़्याल—
उस घड़ी फिर नाम बर लेकर पयाम आया तो क्या ?[१]

शेखर अहंकारी है, बाबा मदनसिंह के पैर छूने में उसने अपमान समझा, किन्तु उनकी मृत्यु के बाद दो बड़े-बड़े आँसू उसे भी आ गए। माँ से घृणा करने वाला और उसकी मृत्यु के समाचार को पढ़कर भी तत्क्षण स्थिर रहने वाला शेखर, अन्त में उसके लिए रोता ही है। यही नहीं, संघर्ष और विद्रोह करने वाला अहंकारी शेखर, परिस्थितियों से परास्त होकर आत्महत्या के लिए भी विवश हो जाता है। उसकी आत्महत्या की विवशता के सामूहिक कारण—बेकारी, प्रकाशकों के विदोहन (Exploitation), मनचाहे व्यक्ति से प्रेम पाने या विवाह में असफलता आदि—वही हैं, जो प्राय: अनुभव किए जाते हैं। इस तरह 'शेखर : एक जीवनी' के प्रमुख पात्र व्यक्ति होते हुए भी व्यक्ति और 'टाइप' के अविश्लेष्य घोल की कलागत मांग को पूरा करते हैं।

'शेखर' में पात्रों के अन्तरंग चित्रण पर विशेष बल दिया गया है और बाह्य चित्रण अत्यन्त स्वल्प हुआ है। अलग-अलग जाति, प्रांत, वर्ग आदि के पात्र अपने-अपने आकार-प्रकार तथा वेशभूषा से पहचाने जा सकते हैं, इसलिए 'टाइप' या वर्गीय पात्रों के चित्रण में बाह्य चित्रण उपयोगी हो सकता है किन्तु विशिष्ट पात्रों को किसी जानी-पहचानी वेशभूषा तथा रूप-रंग का 'ट्रेडमार्क' देने की आवश्यकता नहीं पड़ती, वे अपनी आन्तरिक विशिष्टता से ही अपनी पृथकता की पहचान कराने में समर्थ होते है। इसलिए इस उपन्यास के प्रमुखतम पात्रों का बाह्य चित्रण नहीं के बराबर हुआ है। एक-दो स्थलों पर छ. और आठ वर्ष के बालक शेखर के हुलिए का चलता वर्णन है[२], अन्यत्र उसके चेहरे-मोहरे को विशेष 'असुन्दर नहीं'[३] और क़द को लम्बा[४]

१. "शेखर : एक जीवनी", (दूसरा भाग), पृ० ७०।

२. प्रथम भाग, पृ० २६ तथा ७९। ३. दूसरा भाग, पृ० १३। ४. पृ० ४१।

बताया गया है। इतनी जानकारी भी प्रसंगवश दी गई है; जैसे, लम्बा क़द उसे कांग्रेस-शिविर के सेनापति के अंग-रक्षक दल में स्थान दिलाता है। शेखर की वेश-भूषा के परोक्ष संकेत कहीं-कहीं मिलते हैं, परन्तु वे भी जैसे उसके चरित्र-विकास को व्यक्त करते हैं। जैसे, दक्षिण से लाहौर में बी० ए० के लिए आने पर, उसने वहाँ के विद्यार्थी-समाज में प्रवेश पाने के लिए, सूट-टाई, हैट आदि को विशेष सफलता से अपनाया—वेश के सहारे ही उसे आसानी से चारों ओर रास्ता मिलने लगा।[1] इस तरह जीवन-संघर्षों से "थके हुए और सुस्ता रहे योद्धा"[2] ने मानों व्यावहारिकता को अपनाया। शशि-सरस्वती आदि का बाह्य वर्णन इतना भी नहीं हुआ। अन्य सात-आठ पात्रों—प्रायः गौण पात्रों—का बाह्य चित्रण हुआ है, किन्तु वह भी सप्रयोजन। ये प्रयोजन निम्नस्थ हो सकते है :—

१. व्यक्ति पात्रों को वर्गीय विशेषता की कलात्मक स्वाभाविकता देने के लिए; जैसे, सुन्दर गठे शरीर, गोरे रंग, छोटी-छोटी ऐंठदार मूँछों तथा स्वच्छ-निर्भीक आँखों से एक जाट युवक (राम जी) का स्वरूप अंकित किया गया है।[3] इसी तरह "सींखचों से सटा हुआ एक वृद्ध चेहरा, ऊपर शुभ्र जटा और नीचे धवल दाढ़ी से आवृत एक निर्मल मुस्कान" इक्कीस वर्ष जेल में बिताने वाले ज्ञानवान मदनसिह की सहज परिचायक है।[4]

२. व्यक्ति की अपेक्षा वर्गगत विशेषता से युक्त पात्रों के लिए—'शेखर के पिता लम्बे क़द के, गौर वर्ण, गठे हुए, और उद्यमी शरीर के थे। उनकी तीखी आँखें, वंकिम नाक, मोटा किन्तु दबा हुआ अधरोष्ठ उनके उस अभिमानी और गुस्सैल आर्यत्व का परिचय देते थे···।[5]

३. पात्रों की आंतरिक विशेषताओं के उद्घाटनार्थ या व्यक्तित्व के समग्र प्रभाव को अंकित करने के लिए—विद्याभूषण क़द का मध्यम—शक्ल से वह अध्ययनशील हठी दीखता था; आँखों में अवश्य उसके एक कोमल हास का चंचल प्रकाश था। शेखर ने निश्चय किया कि यह व्यक्ति उसके मन के अनुकूल है।[6] ऐसा ही अन्तर्व्यंजक बाह्यचित्र सदाशिव का मिलता है।[7]

४. आलम्बन के सौन्दर्य से नायक के कामोद्दीपन में सहायता के लिए—कॉलेज के नवयुवक कुमार तथा नौकरानी अन्ती का बाह्य चित्रण इसी प्रयोजन से हुआ है।[8]

---

१. पृ० १२-१३। २. पृ० १३। ३. दूसरा भाग, पृ० ६३। ४. पृ० ६५।
५. प्रथम भाग, पृ० १२६। ६. दूसरा भाग, पृ० ५४।
७. पहला भाग, पृ० २२३। ८. पृ० २१० तथा १६५-६६।

एक स्थान पर पंजाबियों के रूप-रंग का प्रतिनिधि बाह्य चित्र भी दिया गया है।[1] सारांश में "शेखर : एक जीवनी" में अप्रधान तथा गौण पात्रों का ही बाह्य चित्रण हुआ है और वह भी सोद्देश्य—वर्णनात्मक उपन्यासों की तरह मात्र चित्रण में लिए चित्रण यहाँ नहीं हुआ।

पात्रों के बाह्य चित्रण में उनकी मुख-इंगितों तथा कायिक चेष्टाओं आदि के चित्रण का विशेष स्थान है। 'शेखर' में इनका बहुल तथा चयनित उपयोग हुआ है। व्यवहारिक जगत् में स्थित्यनुसार पात्रों की प्रतिक्रिया सीधे उनकी क्रियाओं में ही व्यक्त नहीं होती, सहजानुवर्ती तथा सूचक अनुभावों में परिव्यक्त भी होती है। अतएव उपन्यासकार के लिए पात्रों की चित्रण-स्वाभाविकता के लिए अनुभावों का चित्रण आवश्यक हो जाता है। उदाहरणतया, अपनी प्रेमिका शशि के आगे कुछ ही दिनों में विवाह होने की सूचना से जेल में पड़ा शेखर अपनी विवशता में तीव्र अन्तर्द्वन्द्व से ग्रस्त हो जाता है। यदि तदनुकूल स्वप्रभावज अनुभाव इस मनःस्थिति को मूर्त न करते, तो अस्वाभाविकता ही न आती, वर्णन-सजीवता भी कम हो जाती—"शेखर की बुद्धि में मानों गाँठ पड़ गई, इससे आगे वह नहीं सोच सका··· वह द्रुत-गति से चक्कर काटने लगा, और हर क़दम पर मुट्ठियाँ बाँधकर पूछने लगा, क्या करूँ—क्या करूँ—क्या करूँ ?···गति द्रुततर होती गई, क़दम भी पाँच के बजाय तीन पड़ने लगे, इतनी जल्दी-जल्दी रुख बदलने से सिर भी घूम गया, पर प्रश्न का उत्तर नहीं मिला···उसका आवेश, उसकी पराजित बुद्धि का आक्रोश बढ़ने लगा—उसने दोनों हाथों से सिर पकड़कर भींच लिया, फिर मुट्ठियों में बाल भरकर मुट्ठियाँ ज़ोर से घोंट लीं···बाल खिंचने लगे, उनकी पीड़ा से सिर को कुछ शान्ति मिली, पर प्रश्न ···क्या करूँ···क्या करूँ ?"[2] वस्तुतः यह आवश्यक नहीं होता कि पात्रों की प्रतिक्रिया, क्रिया या कथना का रूप ले, वह कुछ शारीरिक विकारों में व्यक्त होकर ही रह सकती है अतएव लेखक ने स्थान-स्थान पर पात्रों के मनोभावों की आनुभाविक व्यंजना की है। श्रृंगारिक कविताओं को पढ़कर किशोर शेखर में काम भावनाओं की जागृति बाह्य विकारों से सूचित होती रहती है।[3] शारदा को शेखर जब अपने डूबने की बात सुनाता है, तो उसकी चीख़ निकल जाती है।[4] कहने की आवश्यकता नहीं कि यह एक ही चीख़ उसके भीतरी प्रेम को जितना विश्वसनीय रीति से व्यंजित करती है, अनेक पंक्तियाँ मिलकर भी वह न कर पातीं—क्योंकि पात्रों के कथन भ्रामक, अभिनय-मात्र, हो सकते हैं किन्तु उनकी सहज आनुभाविक

---

१. दूसरा भाग, पृ० ११। २. पृ० ७३।
३. पृ० १६२। ४. पृ० २५०।

प्रतिक्रिया समझने वाले के लिए, अचूक होती है। शारदा-शान्ति के प्रति शेखर की काम-प्रतिक्रिया तो अनुभावों की चित्रात्मक व्यंजना की अनोखी कहानी है; यथा, विभिन्न ऐन्द्रिय संस्पर्शों—स्पर्श, गन्ध, ध्वनि, दृष्टि—के सूचक अनुभावों से युक्त[1], काम-भाव के उदय और क्रमशः तीव्र से तीव्रतर होने का यह उदाहरण द्रष्टव्य है—"वहाँ पड़े-पड़े शारदा के आस-पास जहाँ तक दीख सकता था, वहाँ के कुल फूल शेखर ने तोड़ लिए थे और उन्हें शारदा के सब ओर, और शारदा के ऊपर डाल दिया था। वह हँसकर उठ बैठी थी और एक हाथ पर अपने शरीर का बोझ डाले, दूसरे को फूलों में दबाए, मुस्कराती हुई बैठी कुछ सोच रही थी। शेखर उससे कुछ दूर जाकर बैठ गया, फिर घास में लेट गया। और दोनों उस नीरवता में, अपने-अपने रहस्य दुहराने लगे·········

एक नशा-सा शेखर पर छा गया, उसके शरीर में फैल गया। उसकी साँस तीव्र गति से चलने लगी, उसका सारा शरीर तप-सा गया, उसे लगने लगा कि उसकी छाती के भीतर कहीं सीसा उबल रहा है। वह औंधा हो गया, अपने शरीर की सारी शक्ति से धरती से चिपटने लगा, क्रमशः अपने दोनों गाल और माथा उस गीली और शीतल घास पर दबाने लगा, कि उनका ज्वर कुछ कम हो जाय···

वह अपने सारे मनोबल से पृथ्वी के आलिंगन को दृढ़तर करने का विचार करता जाता है, पर उठ भी खड़ा होता है। शारदा के पीछे जाकर झपट कर दोनों हाथों से उसकी आँखें मूँद लेता है—वह चौंककर चुप रहती है—शेखर और भी जोर से उसकी आँखें दबा लेता है···

शारदा का शरीर तनता क्यों हैं, काँपता क्यों है? एक दुर्दम्य प्रेरणा से शेखर झुकता है, अपनी ठोड़ी शारदा के सिर पर टेक देता है। उसके रूखे केशों को सूँघता है। फिर अपनी नाक उन केशों में देता है और दो, तीन, चार, पाँच बहुत लम्बी-लम्बी साँसे खींचता है···

यह, नये मधुमास में नीम के बौर-सा सौरभ······बहुत मीठी, पुरानी शराब की फेन-सा वह शेखर के नयनों में प्रविष्ट होकर उसके मस्तिष्क में छा जाता हैं, और जैसे किसी पागल को बहुत-सी शराब पिला दी जाय, वैसी ही दशा शेखर की हो जाती है—दो उन्मादों से उन्मत्त[2]······

---

१. A. A. Brill : "Sexuality and its role in the Neuroses." 'Psychoanalysis Today', p. 176.—"All the senses play a part in sex instinct."

२. इस सम्बन्ध में क्रमशः A. A. Brill तथा John Cohen के मत उल्लेखनीय हैं—(क) "Closer observation, however shows that the sense of

वह बहुत अधिक काँप रही है—और जितना ही काँपती है, शेखर उतना ही अधिक आँखों को दबाता जाता है……मानो अपने दो हाथों और अपनी ठोढ़ी के दबाव से उसका कम्पन शान्त कर देगा, उस छोटे-से सुन्दर सिर को कुचल डालेगा……

वह एक हाथ मे शेखर को हटाने का प्रयत्न करती है—पर कहाँ ? यह क्या है—कम्पन या सिसकी ? उसकी साँस बड़े-बड़े, टूटे-से झोंकों में खिंचती है, और उनमें क्या है यह 'हुक् ! हुक् !' जैसे हिचकी ?

शेखर एकदम उसे छोड़ देता है, उसके पास ही फूलों के ढेर पर ही बैठ जाता है, और एक टक उसके मुख की ओर देखता जाता है।…

फिर कल्प बीत जाते हैं; वह हिचकी-सिसकी बन्द हो जाती है, और शारदा बड़ी-बड़ी आँसू-भरी आँखें उसकी ओर फेरकर एक गम्भीर विषाद की मुसकराहट से एक कोमल उलहने-भरी आवाज़ से कहती है—"तुमने सब फूल कुचल डाले !"

एक बहुत लम्बे क्षण तक उनकी आँखें मिलीं रहती हैं, और उसी क्षण में वह उठ खड़ी होती है…"[1] अनुभावों की चित्रण-मार्मिकता के लिए तपेदिक की मरीज शान्ति और शेखर के सम्बन्धों का निम्न चित्र पर्याप्त होगा—

"एकाएक शान्ति ने आँखें खोलीं—शेखर को वह खोलना ऐसा चेष्टाहीन लगा मानो अपने-आप खुल गई हों—और एक क्षण। कोमल स्वर ने कहा, 'क्या देख रहे हो ?"

वह अनपेक्षित था, लेकिन इतना कोमल था कि शेखर चौंका नहीं। उसने रुकते हुए स्वर में कहा, "शान्ति, मैं तुम्हें छू सकता हूँ ?"

शांति ने आँखों से ही अनुमति देते हुए कहा, "आओ।" शेखर ने पास आ कर बड़े आदर से डरते-डरते अपना एक हाथ शान्ति की ठोड़ी के नीचे, कंठ पर रख दिया—रख नहीं दिया, उँगलियों से कण्ठ छुआ भर।

शान्ति ने सिर आगे झुकाकर उसकी उँगलियाँ ठोड़ी से दबा लीं—बहुत ही हल्के, कृतज्ञ-से दबाव से……

---

smell is still active in the sexual life of modern man. This has been repeatedly demonstrated by very careful observers." "Psycoanalysis Today"—p. 179.

(ख) "Smell, of all senses has, the greatest immediate intensity." —"The senses, as social organs", 'Humanistic Psychology', p. 77.

१. 'शेखर : एक जीवनी', (पहला भाग) पृ० १८४-८५।

शेखर खड़ा रहा ।

शेखर के हाथ पर टप-से एक बड़ा-सा आँसू गिरा, और हाथ के नीचे .कण्ठ एक बार कुछ काँप गया ।

शेखर के हाथ पर दबाव नहीं, पर वह हाथ नहीं छुड़ा सका ।

थोड़ी देर बाद शान्ति ने सिर उठाकर फिर पीछे टेक लिया । शेखर ने हाथ उठाया और धीरे-धीरे घर की ओर चला गया—उसे लगा कि उसके बाद कुछ होना हो ही नहीं सकता ।''[१]

अन्तर्मुखी पात्रों के असामाजिक सम्बन्धों मे संकोच या मर्यादावश जिन बातों का उत्तर नहीं दिया जा सकता, बुद्धि की आड़ में जहाँ बनावटी कथनों से मूल मनोभावों को छिपाने का प्रयास किया जाता है, वहाँ पात्रों के अन्तर की वास्तविकता उनके सहजोत्पन्न अनुभावों से अनावृत हो जाती है । शशि-शेखर तथा सरस्वती-शेखर-जैसे मौसेरे तथा सगे भाई-बहिनों के शृंगारिक मनोभावों में इनकी उपयोगिता विशेष स्पष्ट हुई है । यथा शेखर के निम्न प्रश्न का आनुभाविक उत्तर दृष्टव्य है···'जैसे सर्दियों में नदी में नहाते हैं, वैसे ही शेखर एकदम से कह गया, ''तुम यही क्यों नहीं किसी से शादी कर लेतीं ?'' सरस्वती का मुँह पहले लाल हो गया, फिर गम्भीर हो गया, फिर शेखर के गाल पर हलका चपत जमाकर वह खिलखिला कर हँस पड़ी ।

'और शिकार को पता नही लगा कि आश्रय मिल गया, या इन्कार हो गया है······।'[२]

'शेखर' में लेखक ने विभिन्न आंगिक चेष्टाओं में से स्पर्शीय संवेदनशीलता (Tactile sensibility) पर अधिक ध्यान दिया है । उपर्युक्त कुछ उदाहरणों में यह विशेषता देखी जा सकती है । स्पर्श-संवेदना का मुख्य सम्बन्ध हाथ से है । इसमें अपनी निरुपम अनुभूति-क्षमता तथा अभिव्यंजकता की विशेषता है । इसका प्रतीकात्मक महत्व है ।[३] यहाँ एक उदाहरण ही पर्याप्त होगा । विवाह-कार्य की पूर्णता के

---

१. पृ० २००। २. पृ० १५६ ।

३. John Cohen : "The senses as social organs", 'Humanistic Psycho logy', P. 81.

"But the full range of sense of touch is seen only when we consider it,...in relation to the hand The hand has its own unique forms of perception. It has qualities of expressiveness. It has symbolic value."

बाद सरस्वती शेखर से अलग विदा लेने आती है। तब 'शेखर ने मुंह फेर कर घुटते गले से निकाला···"सरस······"

सरस्वती ने उसके माथे पर हाथ रखा, और उसे धीरे-धीरे नीचे ले जाते हुए शेखर की आँखें बन्द कर दीं, यद्यपि शेखर का मुंह फिरा हुआ ही था, और आँखें बन्द करते हुए, उसके आँसू भी छू लिए। शेखर ने मानों पलकों से हाथ को पकड़ने की चेष्टा करते हुए कहा, "मुझे कुछ नहीं है।" फिर थोड़ी देर बाद, "तुम···चली जाओगी···तब भी कुछ नहीं होगा।"

सरस्वती ने कहा, "तुम्हारा हाथ कहाँ है?" शेखर ने अपने दोनों हाथों से बड़े जोर से उसका हाथ पकड़कर अपनी आँखों पर दबा लिया।

तब धीरे से हाथ छुड़ाकर वह चली गई।"[1] शेखर-शशि के सम्बन्धों में भी हस्तीय संस्पर्शों का विशेष उपयोग हुआ है[2]।

सारांश में 'शेखर' में अनुभावों की भाषा के कुशल एवं सार्थक प्रयोग किए गए हैं।

अब हम पात्रों के अन्तर-चित्रण को लें। जीवन में एक व्यक्ति को अपनी अस्तित्व-रक्षा तथा [illegible] की पूर्ति के लिए दोहरा संघर्ष करना पड़ता है··· बाहर सामाजिक शक्तियों से, भीतर परस्पर-विरोधी-प्रवृत्तियों से। 'शेखर' का नायक चाहे समाज के संघर्ष से कट कर अपने अहं का पोषण कर ले या अपने विद्रोही स्वभाव के कारण समाज के रूढ़-प्रचलित नीति-मूल्यों को चेतन-स्तर पर ठुकरा दे, किन्तु अपने अचेतनगत सामाजिक संस्कारों की द्योतक उस विवेक-बुद्धि की अवहेलना कैसे कर सकता है, जो सामाजिक व्यवस्था के लिए अनिवार्य, प्रत्येक मनुष्य में आत्मनियामक या स्वयंबंधक शक्ति है[3]। इसलिए शेखर को लगता है कि उसके मन के दो खण्ड हो गए हैं, जो उसकी चेतना पर राजत्व पाने के लिए युद्ध करते रहते हैं और कभी किसी का प्रभाव बढ़ जाता है, कभी किसी का। फलस्वरूप, उसके कार्यों में एक प्रतिकूलता, एक असम्बद्धता आ जाती है[4]। उदाहरणतया बचपन से ही उसकी काम-भावना और विवेक में अन्तः संघर्ष चलता रहा है। उसकी सगी बहिन

---

१. "शेखर: एक जीवनी" पहला भाग, पृ० १५७। २. दूसरा भाग, पृ० १७०-७१।

३. Frank Alaxander, "Development of Ego-psychology", 'Psychoanalysis Today' p. 144—"The existence of the Super-ego explains how in every form of civilization there is a self-regulating or self-restrictive force in individuals which is indispensable for social order."

४. 'शेखर: एक जीवनी' (प्रथम भाग), पृ० ३६।

सरस्वती उसके मन में 'सरस्वती' से 'बहिन' और बहिन' से 'सरस' हो गई। सरस्वती शादी पर विदा के समय एकांत में शेखर घटते गले से फिर 'सरस' कहता है[1]। किन्तु विवाहोपरांत जब उसे पत्र लिखने के झमेले में ही पत्रों को लिख-लिख कर फाड़ता तथा स्याही को सोखता रह जाता है और अन्त में पत्र लिखना छोड़ रोने लगता है। विवाह के बाद जिसे 'सरस' कहने में वह अपने अन्तरतम में ही काँप उठता है, उसे "अश्लील ढंग से कागज़ पर रखकर" पति के घर भेजना असम्भव ही हो सकता था।[2] जीवन की इस अवस्था में "अपने शरीर की माँग वह नहीं समझता, लेकिन उसे लगता, वह कुछ अनुचित है, कुछ निषिद्ध, कुछ पापमय।"[3] वस्तुतः बच्चे की यह स्वयं प्राप्त विवेकबुद्धि समाज के विधि-निषेधात्मक रूझान का ही प्रतिबिम्ब है, जो उसे पूर्व-समाज-परम्परा ने दी हैं।[4] बचपन की काम-भावना और विवेक के संघर्ष की स्थिति बड़ी अवस्था में भी बनी हुई है। परित्यक्ता होने के बाद शशि-शेखर के यहाँ घर बना कर रहती है, किन्तु फ़िर भी दोनों मिल नहीं पाते—क्योंकि वे "अनपढ़, गंवार और पशु नहीं; शिक्षा और संस्कार की गांठ से बंधे हैं; और संस्कारी जीवन के सूक्ष्मतर स्पन्दनों को पहचानते हैं।"[5]

शेखर चिन्तनशील तथा बहिर्मुखी से अधिक अन्तर्मुखी पात्र है—स्थान-स्थान पर वह मानसिक हो उठता है। अतएव शेखर के इन मानसिक उद्वेलनों, तथा उसके अचेतन संघर्षों, को मूर्त करने के लिए लेखक ने अनेक मनोविश्लेषाणत्मक विधियों का उपयोग किया है। इसमें से एक अन्तर्विवाद (इन्टीरियर मानोलाग) की प्रणाली है। वह प्रायः युक्तियुक्त अनुबन्ध के बिना, पात्र का ऐसा अनकहा तथा अनसुना भाषण है जिसमें वह अपने अचेतन के निकटतम विचारों को व्यक्त करता है तथा जिसका पाठक—लेखक की व्याख्या-विवेचना के बिना—सीधा साक्षात्कार कर लेता है।[6] इस अन्तर्विवाद का एक उदाहरण लीजिए, जिसमें इस प्रणाली का उपयोग पात्र की मनःस्थिति के अनुकूल हुआ है। शशि से मन-ही-मन प्रेम करने वाला,

---

१. पृ० १५७। २. पृ० १५८ ३. वही, पृ० १६१।

४ Paul Schilder : "Problems of Crime", 'Psychoanalysis Today', p. 344—"....super-ego of the childs is...also the reflection of the attitude of society

"The super-egos of generation form a chain which hand down the demand of previous generations to the super-ego of the child"

५. "शेखर : एक जीवनी" (दूसरा भाग), पृ० २३१-३२।

६. Leon Edel. "The Psychological Novel," p. 53-54.

किन्तु उसे प्राप्त करने में असफल शेखर जेल से छूट कर, विवाहित शशि के घर पहली बार आया है। वह शशि और उसके पति से अपनी वार्ता के क्रम में यह जानने का प्रयास कर रहा है कि दोनों के उस के प्रति क्या मनोभाव हैं। वह दोनों के कथन-व्यवहार में किसी छिपे गूढार्थ की अनुभूति करता है। अतएव बाहर संवाद का क्रम चल रहा है और भीतर अन्तर्विवाद – (उसके रुक गए; पर वह निर्मम होकर उन्हें धकेलने लगा और उनके प्रत्याक्रमण से तिलमिलाता गया)

"यहाँ कुछ है जो रहस्यमय है, जिसके रामेश्वर और शशि साथी हैं – मैं उनमें ग़ैर हूँ। क्या है वह ? क्या यही बात है कि पति-पत्नी सम्बन्ध के कारण उनमें एक गहरी आत्मीयता है जिसको गहरी ही रहना चाहिए क्योंकि वह आत्मीयता है, और जिसे उघाड़कर देखना चाहना पाप है ? पर वह आत्मीयता तो प्यार की होती है और प्यार में आनन्द मिलता है—क्या शशि सुखी है ? नहीं, मुझे तो नहीं लगता कि शशि के और मेरे—शशि और रामेश्वर के और मेरे—बीच में अनवच्छेद्य पर्दा खड़ा हो गया है और वही पर्दा है जिसके पीछे आनन्द भोगने वाला व्यक्ति जा छिपता है। आनन्द एक झिल्ली की तरह है जिसमें व्यक्ति सिमटकर बन्द हो जाता है और दूसरों से पृथक् हो जाता है; अपना जीवन दूसरों के लिए देकर भी वह दूसरों से मिलता नहीं, उनसे अलग रहता है ···क्या यही दूरी शशि ने पाई है ?

"नही, शशि मेरे जीवन से बाहर चली गई है सुख के कारण नहीं, वैसे ही। हम लोग अपरिचित हो गये हैं। अब नया जो परिचय होगा, वह रामेश्वर की मार्फत होगा, और रामेश्वर में और मुझ में साम्य क्या है ? मेरे व्यसन अलग हैं। और शील—शील तो मुझ में है ही नहीं···शशि सुखी नहीं है, पर मैं यह जाननेवाला कोई नहीं हूँ कि उसे क्या दुःख है। मैं ग़ैर जो ठहरा—

"क्या सोच रहे हो ? शेखर ने सकपका कर कहा······"[१]

उपर्युक्त अन्तर्विवाद सामान्य शैली में है। इसकी एक दूसरी शैली—संवाद-शैली—भी यहाँ मिलती है। जैसे संवाद में दो पात्र होते हैं, उनके कथनों को स्थान छोड़कर उद्धरण-चिन्हों में रखा जाता है और ये व्यवस्थित होते हैं, वैसे ही यहाँ भी मिलेंगे, किन्तु अन्तर भी स्पष्ट है—यहाँ दूसरा पात्र कल्पित है। दूसरे, न कोई कहता है, न कोई सुनता; यह तो मन की उधेड़बुन है और कुछ नहीं। और इससे पाठक का सीधा सम्बन्ध है—सामान्य अन्तर्द्वन्द्वों के समान लेखक बीच में नहीं आता; देखिए :—

"क्या करूँ मैं ?"

"अपने भीतर जो सत्य तुमने पाया है, वह दूसरों को दे सकते हो ?" शेखर

१. "शेखर : एक जीवनी", (दूसरा भाग), पृ० ११४-१५।

को जान पड़ा कि बाबा का ही स्वर है। वह विस्मित नहीं हुआ, क्योंकि उसके विचारों पर बाबा की जो गहरी छाप पड़ी हुई थी, इसे वह जानता था। वह मानों बाबा के इस कल्पित स्वर से ही बातचीत करने लगा।

"तो क्या यह जीवन का उद्देश्य हो सकता है ? पर मैंने सत्य कहाँ पाया है—मैंने तो सन्देह ही सन्देह पाए है।"

'वही सही। कोई भूतपूर्व जब असन्दिग्ध नहीं रहा है, यह भी एक नकारात्मक सत्य है।'

"पर नकारात्मक सत्य के सहारे—"

"शेखर, अपने भीतर कुरेदकर देखो। क्या कोई घनात्मक राशि, कोई विश्वास वहाँ नहीं है, केवल ऋण ही ऋण है ? 'विश्वास···दर्द से भी बड़ा विश्वास'··· शायद हो। अपने में विश्वास यानी अहंकार। क्या वह उद्देश्य हो ?"

"क्या तुम्हें कुछ भी नहीं दीखता जो तुम कर सकते हो—अपने लिए नहीं अपने से बड़ी किसी इकाई के लिए—अर्थात् कोई भी काम, जो तुम्हारा नाता तुमसे बड़ी किसी चीज से जोड़े ?"

"जब अहंकार है, तब मुझसे बड़ा क्या ! मैं ही तो बड़ी चीज हुआ न !—टालो मत—तुम जानते हो कि तुम बच रहे हो, जानते हो कि अपने से बड़ी वस्तु की झाँकी तुमने पाई है—सभी पाते है"—इस उद्धरण से यह भी स्पष्ट है कि अचेतन के अनावरण में यह अन्तर्विवादात्मक प्रणाली कितनी उपयोगी है—इस उक्ति का अर्थ शेखर का चेतन अपने स्वार्थानुकूल लेता है, किन्तु उसकी विवेक-बुद्धि बाबा मदनसिंह का रूप धारण कर उसका पर्दाफ़ाश कर देती है। फिर भी आरम्भ में सूचना—"वह बाबा के कल्पित स्वर से बात-चीत करने लगा" —देकर लेखक ने इसे पूरा अन्तर्विवाद नहीं बनने दिया।

'शेखर : एक जीवनी' मे पात्रों के अचेतन मन की दमित इच्छाओं के अध्ययन में मनोविश्लेषक उपन्यासकारों की स्वप्न-विश्लेषण-पद्धति का पर्याप्त उपयोग हुआ है। फ्रायड के अनुसार "स्वप्नों की व्याख्या द्वारा हम अपने मनोजगत के अचेतन तत्व का ज्ञान कर सकते है।"[1] अतएव शेखर के अचेतन मन के उद्घाटन में भी इस शास्त्रीय पद्धति का उपयोग हुआ है।

'शेखर' के विभिन्न स्वप्नों में से एक स्वप्न शेखर का बाल्यकालीन है।

---

१. "At any rate the interpretation of dreams is the via regia to a knowledge of the unconscious element in our psychic life."
—"The Interpretations of Dreams", p. 559.

फ्रायड के मतानुसार बचपन के स्वप्न अर्थहीन नहीं होते। वे पूर्ण और समझ में आने योग्य मानसिक कार्य होते हैं।[1] दूसरे, बड़े आदमियों में भी कुछ अवस्थाओं में ऐसे स्वप्न दिखाई देते हैं जो शैशवीय स्वप्नों से भिन्न नहीं होते। तीसरे, बच्चों के इन स्वप्नों से स्वप्नों की असली प्रकृति के बारे में, बिना कठिनाई के, विश्वसनीय जानकारी मिल सकती है।[2] इन उक्तियों के प्रकाश में शेखर के बाल-जीवन के निम्न स्वप्न का महत्व भली-भाँति समझा जा सकता है—(रात को शेखर ने एक स्वप्न देखा।) एक विस्तीर्ण मरुस्थल। दुपहर की कड़कड़ाती हुई धूप। शेखर एक ऊँट पर सवार उस मरुस्थल को चीरता हुआ भागा जा रहा है··· सवेरे से, या कि पिछली रात से, वह वैसे भागा जा रहा है।

और उसके पीछे कोई आ रहा है। शेखर को नहीं मालूम कि कौन, लेकिन वह जानता है कि कोई उसका पीछा कर रहा है, और कभी वह मुड़कर देखता है, तो पीछे बहुत से ऊँटों के पैरों से उड़ी हुई धूल उसे दीखती है······

तीसरा पहर? धूप कम नहीं हुई, और भी तीखी हो गई जान पड़ती है। और शेखर भागता जा रहा है, और पीछे वह 'कुछ' भी बढ़ा आ रहा है।

एकाएक, सामने सेब के वृक्षों का बाग, जिसके चारों ओर मिट्टी की ऊँची बाड़ लगी हुई है, जिनमें कहीं-कहीं बिलें हैं, और कहीं-कहीं आयरिस-जैसा कोई पौधा है। शेखर ऊँट पर से उतर कर, बाड़ पार करके बाग में घुस जाता है।

बाग़ में वृक्ष फूलों से लदे हुए हैं। इतने अधिक लदे हैं, कि सारी ज़मीन पर भी फूल बिछे हैं, और वह बिल्कुल शुभ्र हो रहा है······

शेखर थकी साँस लेकर एक पेड़ के नीचे फूलों की शय्या पर लेटता है और सो जाता है······

सन्ध्या। सारा आकाश आरक्त हो गया है। प्रतिबिम्बित लाली से भूमि भी लाल जान पड़ी है, और सेब के वृक्ष मानों जगली गुलाब के हो गये हैं—प्रत्येक फूल ऐसा सुन्दर लालिम हो गया है······

शेखर उठ बैठा है। खतरे का आतंक उस पर फिर छा गया है। वह जानता है कि उस 'कुछ' ने बाग़ घेर लिया है, और उसमें प्रवेश करने की ताक में है। और

---

१. "We see that these childhood dreams are not meaningless; they are complete, comprehensible mental acts."
—"The Interpretations of Dreams." p. 106.

२. "·········from these children's dreams it is possible to obtain without any difficulty trustworthy information about the essential nature of dreams·········"
—"The Interpretations of Dreams" p. 105.

उसके ऊँटों के पैरों से उड़ी हुई धूल चारों ओर छाई हुई है, उससे आकाश भरा जा रहा है.........

शेखर उठकर एक ओर भागता है, बाग़ में से निकल जाता है।

पथरीला रास्ता, चढ़ाई। शेखर बढ़ता जा रहा है। यह 'कुछ' पीछे रह गया है, लेकिन शेखर को बहुत आगे जाना है—बहुत आगे......किसी खोज में, यद्यपि वह नहीं जानता कि किस वस्तु की खोज......

सन्ध्या घनी हो जाती है। शेखर अब भी चला जा रहा है। वह प्यासा है, पर पानी कहीं दीखता नहीं। हाँ, दूर कहीं जैसे झरने का रव हो रहा है।

एक चट्टान के ऊपर चढ़कर शेखर आगे देखता है, और एकाएक रुक जाता है।

सामने, नीचे, घहराता हुआ एक पहाड़ी झरना बह रहा है, शुभ्र, स्वच्छ, निर्मल.........

शेखर घुटने टेककर बैठता है, और हाथ टेककर उझककर सिर नीचे लटकाता है, जैसे अन्य पशु पानी पीने के लिए करते हैं। पर पानी बहुत नीचे है, और वह उस तक पहुँचता नहीं.........

उसके हाथ पर सरस्वती का हाथ है। वह भी उसके पास उसी तरह घुटने टेके बैठी है, यद्यपि अभी तक वहाँ नहीं थी। और दोनों प्यासी आँखों से पानी की ओर देख रहे हैं......

शेखर देखता है, पानी के मध्य में प्रवाह से किसी प्रकार भी प्रभावित न होता हुआ, पतले से नाल पर एक अकेला फूल खड़ा है। बहुत बड़ा—लिपटी हुई-सी एक बड़ी, सफ़ेद पत्ती, जिसके बीचोबीच में एक तपे सोने-से वर्ण की एक डण्डी (pistil) है।

और देखते-देखते, एक दिव्य शान्ति उसके ऊपर छा जाती है; और वह जानता है कि यही है जिसे खोजने वह आया था, जिसके लिए वह भाग रहा था... और वह शांति इतनी मधुर है कि शेखर को रोमांच हो जाता है, वह दबाकर सरस्वती का हाथ पकड़ लेता है।.........

वह जाग पड़ा। स्वप्न इतना सजीव, इतना यथार्थ था कि शेखर ने हाथ बढ़ाया कि सरस्वती का हाथ पकड़े। वह उसने नहीं पाया।

तब वह चारपाई पर उठ बैठा। इधर देखा। उठकर सरस्वती की चारपाई के पास गया। वह सोई हुई थी।

शेखर ने उसका मुख देखने की चेष्टा की, पर देख नहीं सका। लौट

एक संतुष्ट सी साँस लेकर लेट गया, और फौरन निस्वप्न नींद में अचेत हो गया।"[1] इसके व्याख्या-विश्लेषण में हमें फ्रायड की इस उक्ति से सहायता मिल सकती है—"··· हमें उसके जीवन के बारे में कुछ पता होना चाहिए; प्रत्येक उदाहरण में पिछले दिन का कोई ऐसा अनुभव होता है जो स्वप्न की व्याख्या करता है। स्वप्न, नींद में, पिछले दिन के अनुभव पर मन की प्रतिक्रिया है।"[2] निस्सन्देह जिस रात शेखर को स्वप्न आया, उस दिन वह अपने अनुज चन्द्र को पैन्सिल न देने के अपराध में माँ से बड़ी सख्ती से पिटा था किन्तु पिटने पर भी शेखर ने अपने अहं को स्थिर रखते हुए उसे पैंसिल नहीं दी थी, और यहाँ तक कह दिया था—"नहीं दूँगा, चाहे जान से मार डालो।" उस दिन शेखर ने खाना नहीं खाया और सारा दिन भटकता रहा था। पिता ने भी उसे लज्जित करने का प्रयास किया किन्तु शेखर गुस्ताख बना रहा।[3] इससे अभीष्ट स्वप्न की व्याख्या हो सकती है। लेखक ने, सब कुछ पाठकों पर न छोड़ते हुए, स्वप्नांत के पृष्ठों में सार-रूप में कुछ और भी स्पष्ट कर दिया है—"शेखर को लगता था कि जिस प्रकार जो वांछित है, प्रिय है, और समझाने-सहानुभूति करने वाला है उसका पुंजीभूतरूप सरस्वती है, उसी प्रकार जो अवांछित, अप्रिय, न समझने वाला और कठोर है, उसका साकार रूप एक घनीभूत विघ्न, उसकी माँ है।"[4] प्रत्येक काम में जब भंग होता था तो खोजकर शेखर पाता था कि उसकी जड़ में कहीं पर माँ है···वही सरस्वती को रसोई में लगाती है, वही कमला के लत्ते धुलाती है, वही कढ़ाई करने को कहती है···और जब सरस्वती शेखर के पास होती है, तब वही उसे बुला लेती है—"क्या हर समय सरस्वती की बगल में छिपा

---

१. "शेखर : एक जीवनी", (पहला भाग), पृ० १४८-५०।

२. "We must know something about his life; in every instance there is some experience from the previous day which explains the dream. The dream is the mind's reaction in sleep to the experience of the previous day."—"Introductory lectures on Psychoanalysis", p. 105-6.

३. 'शेखर : एक जीवनी', (पहला भाग), पृ० १४८।

४. शेखर की माँ विशेष कठोर है, किन्तु वैसे भी बालक का उससे डरना और उसे बाधा मानना स्वाभाविक है। इस सम्बन्ध में Malanie Klein का मत है—
"The infant has, incidentally, some real grounds for fearing his mother, since it becomes growingly aware that she has the power to grant or withhold the gratification of its needs"—Early development of Conscience," 'Psychoanalysis Today', p. 66.

रहता है ? भाइयों के साथ बैठ तो !"…शेखर नास्तिक है, और मूर्तिपूजक है। और सरस्वती ही वह उपास्य मूर्ति है।

"शेखर को कभी लगता ही नहीं था कि वह भिन्न है या उसकी अनुभूतियाँ भिन्न हैं, उसे भूख लगती है, तो वह कहता, "बहिन, तुम्हें नहीं लगी है।"

इन पंक्तियों तथा लेखक के इस परोक्ष स्पष्टीकरण से स्वप्न की व्याख्या के कुछ संकेत मिल जाते है—शेखर का पीछा करने वाला 'कुछ' मुख्यतः उसकी माँ है, गौणतः उसके पिता; उनके द्वारा अहं-प्रबल शेखर की कामनाओं के सामाजीकरण के प्रयत्न के फलस्वरूप उसके जीवन में आ जाने वाली शुष्कता-विषमता है मरुस्थल; मरुस्थल को चीर-भागने के प्रयत्न मे ऊँट का वाहन है, उसका सतत् प्रबुद्ध अहं; जीवन के मरुस्थल में उसके विश्राम एवं सौख्य का आधार बाग़ है सरस्वती; बाग़ के चारों ओर की बाढ़ है प्रतिरोधक शक्तियों के निरोध की आकाँक्षा; अनजानी वस्तु की खोज है बालाक शेखर की काम-भावना—जिसकी व्याकुलता का वह अनुभव करता है किन्तु समझता नहीं; और उसकी प्यास है सेक्स की जिसे वह बुझाना चाहता है, पर झरना पहुँच से बाहर होने के कारण, बुझा नहीं पाता; उसके हाथ पर सरस्वती का हाथ आ जाता है, उसकी प्यास सरस्वती को भी मिल जाती है क्योंकि अपनी लालसाओं-अनुभूतियों को सरस्वती में देखने की उसकी आदत है। दोनों फिर भी प्यासे रह जाते हैं—सगे-भाई बहिन की नैतिकता, समाज, माँ-बाप आदि बाधक है। इस तरह बालक शेखर का यह स्वप्न पहले रोधक शक्तियों के भय से भगाने का है और बाद में इसका सम्बन्ध काम-भावना से हो जाता है। जे० ए० हैडफील्ड ने इस प्रकार के स्वप्नों को स्वप्न के सामान्य-प्रकार के अन्तर्गत रखा है[१]।

---

१ "The dream of being chased and being rooted to the spot"—'This may be interpreted as the excitement and 'paralysis' associated with a sexual orgasm. But if we trace such a nightmare—for such it usually is—to its source, we frequently find that it originates in a terror experienced in infantile life; for an infant in a state of fear has the impulse to escape but lacks the mobility to do so, since it has no power over its legs. It therefore feels rooted to the spot, as indeed it is. It is dream of insecurity, not necessarily of sex, although it may later come to be linked on to sex, especially as sexual excitement is also, as we have said, associated with rigidity and immobility. There is then a conflict between the desire for such an experience because of its sexual association, and a fear of it because of the infantile experiences.' —"Common types of Dream". 'Dreams and Nightmares', p.

यह भी स्पष्ट हैं स्वप्न शेखर की उस इच्छा का सीधा अनावृत पूर्ति-प्रयास है जिसे वह वह प्रत्यक्षतः पूरा नहीं कर पाता।[1] और इसलिए स्वप्नोपरांत वह निःस्वप्न अचेत होकर सो जाता है—स्वप्न के कारण ही ज़्यादा अच्छी तरह सोता है।[2]

शास्त्रीय दृष्टि से यह स्वप्न, संघनन (Condensation)[3] स्वप्न-तन्त्र का उदाहरण है, क्योंकि इस स्वप्न में शेखर के अतीत-जीवन की अनेक अनुभूतियाँ तथा अनेक दृश्य विकृत रूप में आकर, घुल-मिलकर एक हो गए हैं। उदाहरणतया, झरने के दृश्य का आभास उस स्थल से मिलता है जहाँ शेखर घर से भागकर झरने और जलप्रपात के पास दिन-रात बिताता है।[4] इसी तरह स्वप्न में वर्णित मिट्टी की ऊँची बाढ़, बिलों और आयरसि पौधों का आधार ये वर्णन हैं :—"अब दोनों सबसे निकट की दीवार पर पहुँचे और कीच से बिलों के मुँह बंद करने लगे। कभी-कभी वे साथ ही अपने प्रिय आयरिस के पौधे भी खींच लेते और उन्हें भी बिलों में ठूँसकर कीचड़ से दबा देते।.."[5] माँ और सरस्वती-सम्बन्ध विभिन्न दृश्यों का संचित प्रभाव यहाँ एकत्र-सा हो गया है।

शेखर में विस्थापन (Displacement) स्वप्न-तन्त्र का उदाहरण वहाँ मिलता है जहाँ शेखर के स्वप्नों में तपेदिक से मर गई शान्ता के भाव विस्थापित होकर शारदा से सम्बन्ध हो जाते है। पहले स्वप्न की तरह यहाँ भी शेखर की पिछले दिन की अनुभूतियाँ ही विकृत होकर स्वप्न में आती हैं।[6] इसमें एक साथ दो स्त्रियों से प्रेम करने वाले शेखर के अचेतन संघर्ष का मूर्तीकरण हुआ है। इस तरह स्वप्न-रचना के दोनों मुख्य शिल्पी—स्वप्न-संघनन तथा स्वप्न-विस्थापन—यहाँ मिलते हैं।[7]

१. Freud :—' Introductory lectures on Psycho-analysis", p. 107. "in the dream we have the direct, undisguised fulfilment of this (an unsatisfied) wish"

२. Ibid, P. 108—"we are apt to think we should have slept better if we had not dreamed, but there we are wrong; the truth is that without the help of the dream we should not have slept at all, and we owe it to the dream that we slept as well as we did."

३. फ्रायड के अनुसार संघनन-स्वप्न इस प्रकार है—"The dream is meagre, paltry and laconic in comparison with the range and copiousness of the dream-thoughts."—Interpretation of Dreams", p. 269.

४. 'शेखरः एक जीवनी' (पहला भाग), पृ० ४५-४६ ५. वही, पृ० ८६।

६. पृ० २००।

७. "The Interpretation of Dreams", p. 295. "Dream displacement and dream-condensation are the two craftmen to whom we may chiefly ascribe the structure of the dream."

पात्रों की आंतरिक भावनाओं के चित्रण में 'शेखर: एक जीवनी' में उद्धरण-शैली का उपयोग भी हुआ है। पात्रों ने अंग्रेजी, बंगला, पंजाबी भाषाओं के गद्य-पद्यांशों को स्थान-स्थान पर उद्धृत किया है। दूसरों के होकर भी प्रायः सामान्य सत्य की निहिति के कारण, उद्धरण सबके हो जाते हैं, परन्तु फिर भी पराये बने रहते हैं—इसी में उद्धरण-शैली की साहित्यिक उपयोगिता निहित है। उद्धरणों के प्रयोगकर्ता अपनी निजी बात को भी तटस्थता से, परोक्षरूप में, सामान्यीकृत धरातल पर, तथा रचयिता के महत्वानुसार वज़नदार बना कर कह सकते है। प्रेम के क्षेत्र में—और उसमें भी असामाजिक प्रेम में—उद्धरण-शैली की उपयोगिता और भी बढ़ जाती है। संकोचवश जो प्रेम-ज्ञापन अपनी वाणी में, प्रत्यक्ष रूप से नहीं हो सकता वह उद्धरण की आड़ में, परोक्षरूप में सुविधा से हो सकता है। शेखर शारदा को गीतांजलि की यह पंक्ति सुनाकर परोक्षतः अपना प्रेम-निवेदन करता हुआ अपनी वियोगजन्य मनःस्थिति का ज्ञान कराता है—

"On the day the lotus bloomed, alas,
My mind was straying, and I knew it not..."

और शारदा उसके अभिप्राय को ग्रहण भी कर लेती है और अपनी स्थिति का स्पष्टीकरण करती है।[१]

ये पात्र शिक्षित-अधीत हैं और सारपूर्ण उद्धरणों का संग्रह करने वाले। मरने से पहले, शशि ऐसी ही अपनी एक कापी के चुने हुए स्थान पर शेखर को पढ़ने को कहती है; और वह पढ़ता है—

"I want to die while you love me

...."

पूरे दो पद्य पढ़ने के बाद शेखर आगे पढ़ने से इन्कार कर देता है क्योंकि वह शशि के उस समय के पढ़ने के "गूढ़तर गुरुतर अभिप्राय" से द्रवित हो[२] उठता है। दिन में आजीविका के लिए बाहर गए शेखर की घर पर प्रतीक्षा करते हुए शशि जिस पंजाबी टप्पे को गुनगुनाती है, उससे उसकी वियोग-करुण दशा मूर्तिमती हो उठती है—

दो पत्तर अनाराँ दे—
दुःख साड्ढा समझन गे
दो पत्थर पहाड़ाँ दे
मेरा चोला लीराँ दा—

---

१. "शेखर: एक जीवनी" (पहला भाग), पृ० १८३।
२. वही, (दूसरा भाग), पृ० २४९।

इक वारी पा फेरा
तक हाल फकीराँ दा![1]

पुरुषों का संग्रह और शिकार करने वाली विलासमग्ना, शिक्षित मणिका अपने चरित्र का सार जैसे निम्न पंक्तियों में प्रभावपूर्ण रीति से व्यंजित कर पाई है, वैसे सामान्य कथनों से सीधे नहीं कर सकती थी:—

My candle burns at both ends
It will not last the night
But ah my foes, and oh my friends—
It gives a lovely light !

ये पंक्तियाँ शेखर को मणिका की अन्तर्दशा के सम्बन्ध में इतना कुछ कह देती हैं कि वह आगे पढ़ने से रुक जाने पर बाध्य हो जाता है।[2]

विभिन्न काव्य-पंक्तितों से शेखर के तादात्म्य के आधार पर, उसके काम-भाव के विकास के निदर्शन में विशेष सहायता ली गई है।[3] कहीं-कहीं लेखक (आश्रय शेखर) ने अभिव्यक्ति-सुविधा तथा पूर्णता के लिए (आलम्बन) शेखर की विभिन्न जीवनस्थितियों की आलोचना उद्धरणों में की है; जैसे : "वह मानों एक विराट् आँख मात्र हो गया था, जो सब कुछ देखती जाती थी। सब कुछ स्वीकार करती जाती थी, और कुछ भी प्रभावित नहीं होती थी।

"वह वास्तव में पूरी सच्चाई से, वैसा हो गया कि कवि के शब्दों में ---

I am like a reed through which Thy spirit breathes : it cometh and it goeth...[4]

और कहीं-कहीं लेखक ने अपने कथा-कथन की अवश्य बाध्यता के प्रभाव को किसी की या स्यात् अपनी ही कविता से पुँजीभूत कर दिया है :—

काँटों पर जब होगा क्रुद्ध प्रभंजन का आघात,
तब उनमें उलझे फूलों की कौन सुनेगा बात ?
जब मेरा अपनापन होगा चिरनिद्रा में मौन,
मुझमें जो है रहःशील वह कह पाएगा कौन ?[5]

साराँश में 'शेखर' में उद्धरण-शैली का प्रचुर एवं सार्थक विनियोग हुआ है।

हिन्दी उपन्यास साहित्य में प्रत्यवलोकन-विश्लेषण की पद्धति का सर्वप्रथम सर्वाधिक प्रयोग 'शेखर : एक जीवनी' में हुआ है। यों तो चन्द्रधर शर्मा गुलेरी

---

१. "शेखर : एक जीवनी", (दूसरा भाग), पृ० २२७। २. वही, पृ० २०-२१।
३. वही, (पहला भाग), पृ० १६२-६३। ४. वही, पृ० १३८।
५. वही, पृ० ४६; अन्य उदाहरण के लिए पृ० ४४ भी देखिए।

अपनी कहानी 'उसने कहा था' में इस पद्धति का कुशल प्रयोग बहुत पहले कर चुके थे किन्तु वहाँ यह पद्धति—मात्र कहानी के अन्तिम पृष्ठों में—आंशिक रूप में प्रयुक्त है किन्तु 'शेखर' सम्पूर्णतया इसी पर आधारित है—प्रत्यवलोकित उपन्यास है। उपन्यासारम्भ में ही शेखर, अपनी जीवन-यात्रा के अन्तिम पड़ाव पर पहुँचकर 'जीवन का प्रत्यवलोकन' करता है—'अपने अतीत जीवन को दुबारा' जीता है।[1] वह प्रत्यवलोकन स्मृत्यवलोकन है—असंख्य स्मृतियों के दर्पण में शेखर अपने सम्पूर्ण अतीत जीवन को प्रतिबिम्बित देखता है। इस तरह यह संस्मृत आख्यान है।

यह उल्लेखनीय है कि 'शेखर' में दुहरे प्रत्यवलोकन के स्थल भी हैं—मुख्य पूर्ण प्रत्यवलोकन के भीतर कहीं-कहीं लघु-लघु प्रत्यवलोकन भी हैं—शेखर को अपनी अतीत-गाथा के भीतर भी स्मृति-दीप्ति होती रहती है[2]।

जीवन की कार्य-कारण-परम्परा, या चरित्र के क्रमिक विकास के लिए मनोविश्लेषणात्मक अध्ययन में इस प्रत्यवलोकन पद्धति का विशेष महत्व है। विगत स्मृतियों के विश्लेषण के अवलोकन में वर्तमान स्थिति के कारणों को विगत घटनाओं में ही खोजा-देखा जा सकता है और यही शेखर ने किया है। जीवनी के पहले भाग का सम्बन्ध—जिसमें इस उपन्यास की विशेष मौलिकता है—शेखर के बाल्यकाल की उन स्मृतियों से है, जिसे एडलर ने 'व्यक्ति-मनोविज्ञान' की महत्वपूर्ण खोज कहा है क्योंकि व्यक्ति के जीवन-दर्शन को समझने में उपयोगी है।[3] व्यक्ति के चेतन में आई ये स्मृतियाँ यदि ठीक-ठीक समझी जा सकें तो इनसे उसके अचेतन की गहराईयों में छिपे संघर्ष की झाँकी वैसे ही भली-भाँति मिल सकती है, जैसी मनोविश्लेषणात्मक चिकित्सा-विधि में रोगी की अकस्मात् बुलाई गई स्मृतियों से होती हैं।[4] वस्तुतः अतीत की अनगिनत स्मृतियों में से पात्र की जीवन-प्रेरणा तथा प्रवृत्यानुकूल स्वयंमेव कुछ स्मृतियाँ चुनी जाती हैं,[5] जिससे उसके जीवन-दर्शन को समझने में सहायता

१. "शेखर : एक जीवनी" (पहला भाग), पृ० २१-२३।

२. वही, (दूसरा भाग), पृ० ८१।

३. "Early Recollections and Dreams", "The Individual Psychology of Alfred Adler", p. 351-52.

४. Ibid, p. 352.
"Rightly understood, these conscious memories give us glimpses of depths just as profound as those which are more or less suddenly recalled during treatement."

५. "Foundations of Psychology", p. 193.
"Only a few past events come back out of the many which association might bring. The selection is due to the sets and motives that are operating."

मिलती है। शेखर में ऐसी पात्रता है कि उसके द्वारा स्थान-स्थान पर दी गई अपनी जीवन-स्थितियों की विभिन्न विश्लिष्ट व्याख्याएँ उसके चरित्र-विकास को समझने में योग देती हैं। दूसरे, इन व्याख्याओं में उस विचार-तत्व का समावेश भी हो गया है जो जीवन-जगत् के प्रति शेखर के दृष्टिकोण को व्यक्त करता है। इस सम्बन्ध में पूर्व-उद्धृत शेखर की त्रिवर्षीय जीवन में अनुभूत भय-वृत्ति की व्याख्या देखी जा सकती है।[1] वस्तुतः शेखर अपने गत जीवन की विभिन्न-स्मृतियों के प्रत्यवलोकन-विश्लेषण से अपने जीवन की सिद्धि या अर्थ पाने[2] का प्रयास कर रहा है और पाठकों को उसका जीवन-दर्शन स्पष्ट होता जाता है।

शेखर के इस दीर्घ प्रत्यवलोकन को स्वाभाविक बनाने के लिए लेखक ने उसको अनुकूल परिस्थिति दी है—यह प्रत्यवलोकन मृत्यु की अनिवार्यता के बोध की जीवन की महत् अघटित घटना, आसन्न फाँसी, के उच्च धरातल से किया गया है। यह प्रत्यवलोकन विदेशी सरकार के अन्याय के विरुद्ध विद्रोह के पूत कार्य के कारण मिलने वाली फाँसी के दण्ड से प्रदीप्त—किन्तु साथ ही क्रान्ति-कार्य की अपूर्णता के बीच, अपने जीवन के असामयिक अवसान के वेदना-विचारों से उद्दीप्त[3]—क्षणों के शिखर से किया गया है। तात्पर्य यह है कि मृत्यु से दीप्त क्षणों के प्रकाश में, शेखर का मन, जीवन की सिद्धि की खोज के लिए, अनायास ही अपने अतीत का प्रत्यवलोकन कर लेता है—नाना मानस-चित्रों में उसकी जीवन-घटनाएँ आती चली जाती हैं। स्वयं लेखक के मतानुसार वेदना में एक शक्ति है जो दृष्टि देती है, जो यातना में है वह द्रष्टा हो सकता है। अतएव ऐसी मनःस्थिति तथा परिस्थिति में शेखर का प्रत्यवलोकन सहज एवं संगत हो जाता है—'शेखर' घनीभूत वेदना की केवल एक रात में देखे हुए, स्मृत्यवलोकित 'विजन' (vision) को शब्दबद्ध करता है।[4]

प्रत्यवलोकन प्रणाली का पूर्ण प्रयोग होने के कारण इस उपन्यास की कथा मानस-कथा बन गई है—यह शेखर के मन के भीतर आने वाली उसकी अपनी जीवनानुभूतियों की कथा है। इस अर्थ में भी यह मनोवैज्ञानिक उपन्यास की कथावस्तु है।[5]

१. "शेखर : एक जीवनी" (प्रथम भाग) पृ० ५८।
२. वही, (दूसरा भाग) पृ० १९०।
३. वही, (पहला भाग), पृ० १३६-३७।
४. "शेखर : एक जीवनी", (पहला भाग), "भूमिका"।
५. "The Twentieth Century Novel".
"Psychology is that element in the narrative art that con cerns the psyche—that is subjective aspect af experience."

इसके अतिरिक्त संवेदना-दीप्ति के प्रोन्नत धरातल से प्रत्यवलोकन के कारण दृष्टि दूर तक—शिशुकालीन घटनाओं तक—जा सकी है और रचना में मनोवैज्ञानिक गहराई आई है। दूसरे, स्मृतियों पर आधृत होने के कारण, जीवन की क्षुद्र-अविस्मरणीय घटनाएँ स्वयंमेव कट-छंट गई हैं, और जीवन को किसी न किसी प्रकार प्रभावित करने वाली घटनाएँ बच गई हैं—विगत जीवन के 'अंधियारे युग' में जो दृश्य "जुगनुओं की तरह चमक" जाते हैं, यहाँ वही स्थान पा सके हैं[1]—जिससे कला के चयन-सिद्धांत[2] का सहज ही पालन हो जाने से रचना का प्रभाव बढ़ गया है। तीसरे, घनीभूत वेदना से रचना में तीव्रता आ गई है; उसके इन अपने शब्दों में उस की मनःस्थिति तथा तदनुकूल रचना-स्वरूप का स्पष्टीकरण देखिए—"नित्यता क्षणों की है, पर क्षण, क्षण-भंगुर है। मैं भी हूँ। मुझ में जो कुछ नूतनता है, उसे मुझे इसी क्षण में कह डालना है, क्योंकि वह भविष्य की वस्तु है, मैं उसे कहे बिना रुक नहीं सकता और सोचने का समय नहीं—क्षण का अस्तित्व कितना ?

"कह डालूँ, अन्तःकथा को; बहा डालूँ, अन्तर्वेदना को; बिखेर दूँ, अन्तःज्वाला को; लुटा दूँ, आन्तरिक अनुभूतियों को; दान कर जाऊँ अपनी अन्तःशक्ति की चिर-संचित शिक्षाओं को, अपने अन्तःकरण के उन्माद को !"[3]

चौथे, फाँसी की भूमिका से उपन्यासारम्भ भावपूर्ण ही नहीं, औत्सुक्यपूर्ण भी है। उपन्यास के पहले 'फाँसी' के साथ ही हम तुरन्त भीतर प्रवेश कर जाते हैं और 'किसको फाँसी ? क्यों फाँसी !' के प्रश्न आंदोलित होने लगते हैं। शेखर फाँसी की सज़ा पाने का तात्कालिक कारण बताने की बजाय अपने अतीत के स्मृति-चित्र देता है—आगे बढ़ने की बजाए, पीछे लौटता है—अतएव जब तक उपन्यास समाप्त नहीं हो जाता, जीवनी का अन्तिम भाग भी पाठक पढ़ नहीं लेता, तब तक लेखक, फ़ाँसी का कारण जानने की, पाठक की उत्सुकता को बाँध लेता है। इस तरह उपन्यास के आदि से लेकर अन्त तक पाठकों को भावात्मक खिचाव (emotional tention)—जिसे जे० डब्ल्यू, बीच ने नाटक का सार-तत्व कहा है[4]—तथा निरन्तर वर्तमान स्थिति (continuous now) में रखकर लेखक ने अपनी शिल्प-कुशलता का परिचय दिया है।

---

१. "शेखर : एक जीवनी" (पहला भाग), पृ० १२३।
२. Beach : "The Twentieth Century Novel", p. 219.
"Critics of all schools agree that all art involves a high degree of selection and elimination."
३. "शेखर : एक जीवनी" (पहला भाग), पृ ४३-४४।
४. "The Twentieth Century Novel", p. 151.

प्रत्यवलोकन पद्धति का उपयोग पात्र की चेतना के नाटकीकरण (Dramatizing consciousness)[1] में हुआ है जिससे अतीत भी वर्तमान होकर आता है। शेखर का समग्र अतीत जीवन बन्दी शेखर की मानसिक गति—उसकी वर्तमान स्थिति—में स्थानान्तरित (या रूपांतरित) हो जाता है। इससे लेखक के स्थान पर पात्र की चेतना व्याख्या एवं आलोचना का माध्यम बनकर आती है और पाठक नाटक के समान पात्र से सीधे सम्बन्धित होने, मानों नाटकीय वर्तमानता (Dramatic presence)[2] का आभास पाता रहता है। पाठक कहीं शेखर की प्रारम्भिक वर्तमान स्थिति का विस्मरण न कर ले, इसलिये लेखक ने उसकी अतीत-स्मृतियों के बीच-बीच में, चार-पाँच स्थलों पर, मृत्यु पर सोचते बन्दी शेखर की झाँकी देनी आवश्यक समझी है।[3]

नाटकीय वर्तमानता की कला के लिए बीच महोदय ने पृथक्-पृथक् किन्तु परस्पर-सम्बद्ध पाँच विशेषताएँ दी हैं[4] जिनमें से ये चार 'शेखर : एक जीवनी' में भी मिलती हैं—१. सीमित (एक) अभिरुचि-केन्द्र (एक पात्र-प्रधानता) २. सीमित दृष्टिकोण, ३. सीमित स्थान, ४. सीमित समय।

उपन्यास के नामानुकूल, औपन्यासिक रंगमंच पर शेखर ही सदैव विद्यमान रहा है—जन्म से लेकर फाँसी की सज़ा पाने की संभावित घटना तक उसी की जीवनी प्रदर्शित की गई है (या की जाएगी)। यही उपन्यास का विषय है, तथा सभी पात्र उसे ही स्पष्टता देते हैं। बड़े से बड़ा पात्र भी उसके व्यक्तित्व-संवर्धन के लिए टूट जाता है। देश-काल का चित्रण भी उसकी जीवन-गति का अंग है, और उसी से व्यंजित है। उपन्यास की विचार-राशि अधिकांशतः उसकी जीवन-प्रतिक्रियाओं का फल है और यदि किसी और की है तो शेखर को प्रभावित करने के लिए है। इस तरह इस एक पात्र-प्रधान उपन्यास में एक अभिरुचि-केन्द्र एकांत स्पष्ट है। इससे पाठकों के अवधान को केन्द्रीभूत करने का प्रयत्न किया गया है। शेखर का सारा स्मृत्यवलोकन एक ही स्थान—जेल की कोठरी—में हुआ है अतएव इसमें

---

१. "The twentieth century Novel", p. 183.

२. Ibid, p. 147.

"It is not something in the past, but something going on now, in the immediate present. And this is where the 'dramatic' novelist takes his cue from drama. Even in the novel there is something that is felt as the dramatic present."

३. "शेखर : एक जीवनी", (पहला भाग), पृ० ४८-४९, १२९-३२, १३६-३७, (दूसरा भाग), पृ० २०४।

४. "The Twentieth Century Novel", p. 156-62.

स्थान की एकता भी है। इससे Dramatic here की सिद्धि की गई है। केवल एक रात में देखे हुए vision को शब्दबद्ध करने से इसमें समय की एकता भी आ गई है। इससे Dramatic now[1] की सिद्धि की गई है। दृष्टिकोण का परिसीमन सीमित अभिरुचि-केन्द्र का सहज-फल है। और यह भी शेखर को लेकर है। उसी के दृष्टिकोण से सारी कहानी कही गई है। वैसे भी यह आत्मकथात्मक उपन्यास है। आत्मकथात्मक उपन्यास के लिए आवश्यक नहीं है कि वह आत्मप्रधान हो—वह अन्य पात्र प्रधान भी हो सकता है—किन्तु 'शेखर' में आत्मकथावक्ता तथा प्रधान-पात्र एक ही है। इसका कारण यह है कि शेखर को आत्मोपलब्धि के लिए आत्मनिरीक्षण, आत्म-समीक्षण तथा आत्मविश्लेषण करना है; वही आख्याता है, वही व्याख्याता और वही विश्लेषणकर्ता; अतएव पाठक सभी पात्रों एवं उसके व्यापारों को उसी के विचार एवं भावकोण से समझता तथा अनुभव करता है। सीमित अभिरुचि-केन्द्र का सौन्दर्यबोधात्मक विचार परिसीमित दृष्टिकोण का ही स्वयंसिद्ध तर्कसंगत परिणाम है।[2] सारांश में उपर्युक्त विशेषताओं - नाटकीय समाहरण (Dramatic concentration) की कला—से नाटकीय वर्तमानता (Dramatic Present) तथा समन्वित सघनता की सिद्धि में 'शेखर' की शैल्पिक गरिमा निहित है।

सम्पूर्ण स्मृत्यवलोकन प्रणाली ने ही 'शेखर' के कथानक को एक अलग स्वरूप दे दिया है। यह कथानक शेखर की स्मृतियों पर निर्भरित है। वे स्मृतियाँ उसे आनुक्रमिक तथा सम्बद्ध रूप में नहीं, आंशिक एवं विपर्यस्त होकर आती हैं। अतएव लेखक ने उन्हें सृजनात्मक कल्पना के शृंखलित किए बिना, वैसे ही असम्बद्ध आंशिक दृश्यों में रख दिया है। इससे शेखर का वस्तु-विन्यास—विशेषतया पहले भाग के पूर्वार्द्ध में—परम्परागत शृंखलित कथानक के रूप में न होकर, अंशात्मक दृश्य-पद्धति पर हुआ है। डॉ० देवराज ने इस शैली को डायरी-जैसी कहा है[3]। निस्सन्देह यह डायरी-जैसी खण्डित है, परन्तु उसके समान आनुक्रमिक न होकर विपर्यस्त है। अतएव इसे डायरी-जैसी नहीं कहा जा सकता। डॉ० देवराज ने इस डायरी-जैसी शैली के कारण "शेखर सम्बन्धी अनगिनत प्रसंगों में रसात्मक एकता का अभाव" देखा है—"अज्ञेय में उस मौलिक कल्पना-शक्ति की कमी है जो कथासूत्र की उद्भावना द्वारा बड़ा रागात्मक प्रभाव उत्पन्न करती है।" निस्सन्देह एक शृंखलित कथासूत्र के अभाव

---

१. "The Twentieth Century Novel", p. 193.
२. Ibid, p. 193.
"The restriction of point of view carries to its full logical out come the aesthetic idea of the limited center of interest."
३. "साहित्य और संस्कृति", पृ० ८५।

से इसमें रस क्षीण हो गया है, परन्तु कल्पना-शक्ति की कमी के कारण नहीं, विषय तथा स्मृत्यवलोकन-विश्लेषण के आश्रय के कारण। लेखक ने रस की अपेक्षा स्वाभाविकता का ध्यान रखा है। शेखर की जैसी मन:स्थिति है, उसमें स्मृतियाँ एक साथ सम्पूर्णतया सम्बद्ध रूप में नहीं आ सकती थीं; दूसरे, जिस सुदूर शिशुकालीन जीवन का चित्रण लेखक को अभीष्ट है, उसमें स्मृतियों की आनुक्रमिक सम्बद्धता का निर्वाह और भी कठिन था[1]; इस सम्बन्ध में शेखर अपनी बाध्यता को व्यक्त भी करता है—"एक असम्बद्ध दृश्य मुझे दीखता है।...मैं उसे प्राय: बिल्कुल प्रत्यक्ष देख सकता हूँ, किन्तु उसका ठीक अनुक्रम मुझे नहीं मिलता। चित्र में अपना जो रूप मुझे दीखता है, उससे मैं अनुमान करता हूँ कि उसी वर्ष का है, पर इस अनुमान को पुष्ट करने में स्मृति सहायक नहीं होती।"[2] अन्यत्र एक अन्य प्रसंग में भी वह कहता है—"यह दृश्य मेरी दृष्टि के सामने बिल्कुल साफ है, फिर भी मैं इसे ठीक स्थान पर नहीं रख पाता-जीवन के क्रम में इसका कोना मुझे याद नहीं आता।"[3]

इसके अतिरिक्त शेखर की चरित्र-व्याख्या के लिए जिस स्मृत्यवलोकन-विश्लेषण की मनोवैज्ञानिक पद्धति का अवलम्बन हुआ है, वह एक क्रमबद्ध कथा के रूप में विकसित होकर अपनी सार्थकता खो बैठती—क्योंकि इस पद्धति की अपनी स्वाभाविक माँग यह होगी कि कथा का आरम्भ आदि से न होकर उन स्मृतियों से हो, जिनका पात्र-विशेष को प्रभावित करने में प्रमुखतम योग मिला हो। उदाहरणतया, यद्यपि शशि का प्रसंग वास्तविक रूप में उपन्यास के दूसरे भाग—और उसके भी उत्तरार्द्ध—में प्रमुखता ग्रहण करता है, किन्तु फिर भी उपन्यास की सर्वप्रथम स्मृति इसी शशि को लेकर है—इसीलिए नहीं कि वह जीवन में सबसे पहले आई या ताज़ी स्मृति है, अपितु इसलिए कि शेखर का होना अनिवार्य रूप से शशि के होने को लेकर है; इसलिए कि उसको बनाने के लिए वह स्वयं टूट गई।[4] शेखर की दूसरी स्मृति अपनी बहिन सरस्वती के सम्बन्ध में है—और इसी प्रकार आगे खण्डित-विपर्यस्त रूप में अनेक संकलित स्मृतियाँ हैं, जिन्हें लेखक ने उपन्यास के वास्तविक प्रारम्भ से पूर्व 'प्रवेश' नाम से संकलित किया है। यह 'प्रवेश' परिच्छेद एक प्रकार से सारे

---

१. Freud : "Psychopathology of everyday life : Childhood and concealing memories", 'The basic writings of Sigmund Freud' trans. by A. A. Brill p. 64.

"Some of the memory pictures are surely falsified and incomplete or dispensed in point of time and place."

२. "शेखर: एक जीवनी", (पहला भाग), पृ० ३२, ७५।

३. पृ० ७६। ४. पृ० २२।

उपन्यास—अब तक जो प्रकाश में आया है और आगे जो प्रकाश में आयेगा—का सार-संक्षेप है। यही कारण है कि इसमें आए स्मृति-दृश्य दुबारा आगे भी आए हैं। इसके अतिरिक्त कुछ ऐसे दृश्य भी हैं, जो जीवनी के दोनों भागों में नहीं आए—ये तीसरे भाग में आएँगे। यहाँ ये संक्षिप्त-सांकेतिक हैं और इनका स्पष्टीकरण तीसरे भाग से होगा। इनमें शीला[१] तथा 'रम्य तटी रावी' के किनारे पड़े एक क्रांतिकारी के शव के प्रसंग हैं।[२] यह 'प्रवेश' परिच्छेद कथानक की दृष्टि से ही नहीं, सर्वाधिक प्रभाव डालने वाली चयनित स्मृतियों के आलोक में शेखर के चरित्र-विकास की मूल-प्रेरणाओं की दृष्टि से भी सार-स्वरूप है।

शेखर की मन:स्थिति में परिवर्तन—पहले तीव्रता तथा बाद में तटस्थता—आ जाने के कारण, इस 'प्रवेश' परिच्छेद और आगे के उपन्यास की कथन-प्रणाली तथा कथानक के स्वरूप में भी भेद हो गया है। 'प्रवेश' में उसका व्यक्तित्व 'मैं' 'सब्जेक्टिव' रूप में अभिव्यक्ति पाता है तथा बाद में 'वह' या 'तू' 'ऑब्जेक्टिव' रूप में[३]—पहले आत्मकथात्मक शैली है, आगे इतिहास-शैली।[४] इतिहास शैली के भीतर भी कहीं-कहीं 'मैं' जाग उठता है, अतएव आत्मकथात्मक शैली कुछ-कुछ समय के लिए लौट आती है—प्राय: तब, जब लेखक को कुछ विचार देने हों या स्मृतियों के सम्बन्ध में स्पष्टीकरण करना हो। इस तरह यहाँ शेखर स्वयं को प्रथम और अन्य पुरुष में बाँटकर लिख रहा है। आश्रय शेखर कभी आलम्बन शेखर की कथा कह रहा है और कभी दोनों एक हो जाते हैं।

'प्रवेश' के आगे जब वह अपने से अलग होकर, अनासक्त द्रष्टा के रूप में लिखता है, तब स्मृतियों में क्रमश: क्रम तथा सम्बद्धता आने लगती है। 'प्रवेश' के आगे के कथानक में यही स्थिति है। पहले भाग में बाल-जीवन के बाद की शारदा-शेखर-कथा कुछ बँधकर चलने से सरस हो गई है। शांति-शेखर का लघुप्रसंग भी मार्मिक है। दूसरे भाग का पूर्वार्द्ध—उसमें भी मुख्यत: पहला खण्ड – बोझिल है। किन्तु दूसरे खण्ड 'बन्धन और जिज्ञासा' के मोहसिन, बाबा मदनसिंह, रामजी के संकेत-चित्र द्रावक हैं। उत्तरार्द्ध के दोनों खण्डों में उपन्यासांत तक शशि एवं शेखर की औत्सुक्य-वर्द्धक तथा मार्मिक कथा है। लेखक ने इस कथा का रहस्य-गर्भित विकास

---

१. पृ० ३७-३६। २. पृ० ३६-४१। ३. पृ० ४८।

४ Leon Edel: "The Psychological Novel", p 119.

"Like Proust, then, Joyce reaches the conclusion that although fictional characters begin in the first person they can end in the third, having taken their vitality from their creator; theoratically at least, removes himself into anonymity of a seemingly disinterested s pectator."

किया है—पाठकों को शशि पर किए गए अत्याचार, उसकी बढ़ती हुई बीमारी और उसके कारणों की रहस्यमयी जानकारी मिलती रहती है और वह वेदना के झटके-पर-झटके खाता हुआ कथा पढ़ता रहता है।[1] इस रहस्य-तत्व के विनियोग के लिए यहाँ भी कथा-काल-विपर्यय पद्धति का आश्रय लिया गया है। किन्तु इसे शेखर की मनःस्थिति से सम्बद्ध कर संगति दी गई है—"मैं देखता हूँ कि तीव्रतम अनुभूति की ये घटनाएँ न तो स्मृति पर से मिटती हैं, और न पत्थर पर लिखे हुए इतिहास की तरह नित्य और अचल हैं। देखता हूँ कि कुछ दृश्य हैं, जो बिजली की कौंध की तरह जगमग हैं, कुछ और हैं जो बुझ गए हैं और घटना के अनुक्रम का धागा तोड़ गए हैं; तोड़ ही नहीं उलझा भी गए हैं, जिससे मैं उन ज्वलंत घटनाओं को भी ठीक काल-क्रम से नहीं देखता—मनमाने क्रम से वे जलती हुई आती हैं और चली जाती हैं, और मैं दावे के साथ नहीं कह सकता कि क्या पहले हुआ, क्या पीछे हुआ"।[2] इसलिए जिस खण्ड में शशि एवं शेखर की उपर्युक्त कथा आई है, उसे 'धागे, रस्सियाँ, गुंझर' का नाम दिया गया है।

उपन्यासकार अपनी कल्पित कथा में अनेक साधनों से वास्तविकता का भ्रमोत्पन्न करने का प्रयत्न करते हैं। यहाँ 'शेखर: एक जीवनी' नाम देने के बाद भी लेखक को भूमिका में स्पष्ट करना पड़ा है कि कहीं पाठक इसे 'आत्म-जीवनी' समझने का भ्रम न करें। उसका तर्क यह है कि आतमघटित यथा आत्मानुभूत में अन्तर होता है। अतएव पाठक यह मान लें कि इसमें आत्मानुभूति की वास्तविकता तो है, किन्तु फिर भी यह आत्मकथा नहीं। डॉ० नगेन्द्र लेखक के स्पष्टीकरण से असहमत हैं।[3] उपन्यास में भी शेखर के कुछ कथनों में लेखक और शेखर के पर्याय के संकेत एकांत स्पष्ट हो उठे हैं। इस सम्बन्ध में जगदीश पाण्डेय का मत उद्धरणीय है—"आश्रय शेखर आलंबन शेखर के विषय में कुछ कह रहा है, लेकिन जो स्मृतियाँ आती हैं वे उपन्यास बन जाएँ, कला की चीज़ हों, इसकी चिन्ता दोनों के आश्रय 'अज्ञेय' को न होकर शेखर को क्यों है?—ये सारी बातें अज्ञेय की भूमिका में आनी चाहिए थीं। स्मृतियाँ क्रम से नहीं आतीं, ठीक है। लिख अज्ञेय रहे हैं, और स्मृतियों के गुम्फन में वे कला का विचार रखेंगे, और हम उनसे झगड़ेंगे नहीं। लेकिन शेखर अपने को प्रथम, मध्यम और अन्य पुरुषों के रूप में बाँटकर अपने प्रति ही न्याय करने की एक परिपाटी अपनाता है, तथा उसके कलात्मक पक्षों पर विचार करता है। यह उस परिस्थिति-निबद्ध पात्र की स्वाभाविकता नहीं, जिसे फाँसी होनी है, जिसके मानस में स्मृतियाँ—मार्मिक, तीव्र, प्रिय, अप्रिय—आती-जाती हैं, तथा जिन

१. "शेखर: एक जीवनी" (दूसरा भाग), पृ० १८६-६६।
२. पृ० १८६-६०। ३. "विचार और अनुभूति", पृ० १४६।

स्मृतियों के पाथेय रूप में लेकर उसे कूच करना है।—शेखर अन्यत्र कहता है—"मेरा सारा जीवन एक बढ़िया उपन्यास है। मेरे जीवन में व्यक्ति और टाइप का वह अविश्लेष्य घोल है, जिसके बिना कला नहीं—।"[१] यह कवि-पर्याय ध्वनि नहीं तो क्या है? यदि विशेष परिस्थिति निबद्ध पात्र की सापेक्षता को छोड़कर विचार किया जाए, तो शेखर ने अपनी स्मृतियों के स्वरूप आदि के विषय में स्थान-स्थान पर जो स्पष्टीकरण दिए हैं, वह मनोविज्ञान-सम्मत यथार्थता लिए हुए हैं और इस रूप में कथानक की स्वाभाविकता में विश्वास पैदा करने के लिए हैं। जैसे स्मृतियों के साथ वह 'अर्द्धस्मृतियाँ'[२] शब्द का प्रयोग भी करता है। अन्यत्र वह कहता है—"इन्हें स्मृतियाँ कहना 'स्मृति' के अर्थ को कुछ खींचना ही है। क्योंकि ये सब मुझे ठीक इस रूप में याद नहीं हैं—यदि ये स्मृतियाँ हैं तो मन की स्वतन्त्र स्मृतियाँ हैं, वैसी स्मृतियाँ नहीं जिनकी मूल छाप बिठाने के लिए आँखें साधन हुई होती हैं" और यह फ्रायड के मत के अनुकूल है।[३]

अपनी आत्मकथा की सचाई का प्रभाव डालने के लिए ही शेखर कहीं 'अनुमान' से काम लेता है[४] और कहीं 'झूठ मैंने नहीं लिखा'[५] का विश्वास दिलाता है।

'शेखर : एक जीवनी' के कथानक-निर्माण में विभिन्न शिल्प-रूपों —निबन्ध, यात्रा-विवरण, रेखाचित्र, प्रतीक-कथा, कविता, डायरी, गद्य-गीत, पत्र आदि—का यत्किंचित् उपयोग हुआ है। इनमें से कुछ तो शेखर की जीवन-गति से सम्बन्धित हैं—उसके जीवन की विभिन्न परिस्थितियों की आवश्यकता का परिणाम हैं। जैसे, शेखर जेल में होता है और शशि से सम्बन्ध बनाए रखने के लिए उसे पत्रों के आदान-प्रदान का आश्रय लेना पड़ता है। इन्हीं पत्रों से शशि के अनेच्छित विवाह की सूचना पाकर वह

---

१. "शेखर : एक जीवनी", 'शीलनिरूपण: सिद्धांत और विनियोग' पृ० १३-१४।

२. "शेखर : एक जीवनी" (पहला भाग), पृ० ५५।

३. "Psychopathology of Everyday life : Childhood & concealing memories". 'The basic writing of Sigmund Freud' trans, by A. A Brill, p. 94.

"Of these childhood reminiscences, some appear to us readilly comprehensible, while others seem strange to or unintelligible, ···If the retained reminiscences of a person are subjected to analytic test, it can be readily ascertained that a guarantee for their correctness does not exist. Some of the memory pictures are surely falsified and incomplete......"

४. ,शेखर : एक जीवनी' पृ० ३२। ५. वही, (दूसरा भाग) पृ० २०४।

जेल में भी बौखला उठता है। यद्यपि 'नदी के द्वीप' के समान यहाँ पत्रों का पूर्ण शिल्प नहीं, फिर भी पत्र के मुख्य-मुख्य भाग का विवरण मिलता है।[१] कम-से-कम इतनी आत्माभिव्यक्ति दोनों पत्रों में है कि उनकी पारस्परिक घनिष्टता, तात्कालिक मनःस्थितियों तथा चरित्रों की कुछ व्यंजना हो सके। यात्रा-विवरण शेखर की काश्मीर यात्रा से सम्बन्धित है।[२] एक स्थान पर शेखर डायरी में अपने 'उफान'[३] को उतारते दिखाया गया है। उससे शेखर के स्वाभिमानी स्वभाव की व्यंजना होती है तथा यह भी स्पष्ट होता है कि सही रूप में डायरी रखने की उसकी तात्कालिक साहस सीमा कितनी है —वह शारदा की बातें लिखने का साहस नहीं कर सकता था।[४] एक-दो स्थानों पर शेखर ने अपनी काव्य पंक्तियों से आत्माभिव्यक्ति को प्रभावी बनाने का प्रयास किया है।[५] एक स्थान पर अँग्रेज़ी की कविता आई है, जो उसकी तात्कालिक मनोदशा की परिचालक है।[६] ईश्वर और उसकी सृष्टि को लेकर एक तीन पृष्ठों की प्रतीक-कथा भी है, जिसमें मानव की जिज्ञासा-वृत्ति की चिरन्तनता को प्रतिपादित किया गया है।[७] कहीं-कहीं विचार प्रकाशन के लिए, कहीं मीटिंग में भाषण देने के लिए तथा कहीं पत्र के सम्पादकीय के रूप में निबन्ध मिलते हैं।[८]

एक दो स्थलों पर लेखक ने ऐसी सार-संकेत शैली में कथा कही है, जिसमें फिल्मी प्रभाव लक्षित होता है। इससे उसने कुछ पृष्ठों की बचत ही नहीं की, शैली से शेखर की मानसिक गति को मूर्त भी किया है। जैसे चलचित्रों में समय बीतने को कैलेंडर के पलटते पृष्ठों से संकेतित कर दिया जाता है या पात्र के मानस नेत्रों के आगे दृश्यों के द्रुत परिवर्तन किए जाते हैं, वैसे ही शैली यहाँ मिलती है। वस्तुतः इस कलात्मक मितव्ययिता के बल पर प्रवेग (tempo)-तीव्रता की सिद्धि की गई है और यहाँ पाठक भी साथ बहता जाता है[९]; यथा—"दिन, दोपहर,

---

१. (दूसरा भाग) पृ० ८०-८१-९०-९१। २. पृ० २५ ३१।

३. (पहला भाग) पृ० ३१ या १९१। ४. पृ० ३१ तथा १९१,

५. पृ० ४९। ६. वही, (दूसरा भाग) पृ० ८२।

७. (दूसरा भाग), पृ० ८८-९०।

८. (पहला भाग), पृ० ३२-३६, (दूसरा भाग) पृ० १५५-५६।

९. A.A. Mendilow : "Time and the Novel" p. 125.

"Where the selection is made in accordance with the principle of artistic economy, that is when it is quantitative, being chosen on the grounds of the inherent interest or the contribution to the plot of each incident, the tempo is quick".

साँझ : रात, सवेरा, दिन, दोपहर, साँझ : रात प्रत्यूष ज्वर, प्रस्वेद, क्लान्ति, स्निग्घ ताप, कंपकंपी, ज्वर,; स्नेर-श्लथ हाथ, ज्वर, प्रस्वेद, शैथिल्य...होलियों की हवाएँ, स्निग्ध-शीतल; अनवरत पतझार; छिटपुट रूई के गोले-से सफ़ेद बादल, आवारे, निचिन्त, निर्मोही ; धूल धूसर चक्रवात...डॉक्टर, राख-भरी चिलम्ची, चार्ट और बोतलें, फलो का रस...मौसी की ओर से गौरा के हाथ की लिखी हुई चिट्ठी—(आगे उसका संक्षिप्त विवरण)...गौरा बड़ी समझदार हो गई है—इतनी-सी लड़की ...हल्ला-गुल्ला मोटरों की दौड़ और घरघराहट नारे, सफेद टोपियाँ, लाल कमीजें 'काला कानून', भगतसिंह को फाँसी हो गई, 'गाँधीजी की भिक्षा अस्वीकार...।'"[1]

रावी के तट पर क्रांतिकारी की मृत्यु तथा दो जनों की वासना-शांति की घटना को भी रेखाचित्रात्मक तथा संकेत-शैली में चित्रित किया गया है।[2] कुछ प्रकृति-दृश्य भी रेखाचित्रात्मक प्रभाव डालते हैं; जैसेः—

"मेघाच्छन्न आकाश। प्रकाशहीन सायंकाल। पवन अचंचल। चंचला भी अदृश्य। और आज वह पक्षी भी नहीं है जो अपना स्थान पाने के लिए छटपटा तो रहा था, छटपटा तो रहा था...।"[3]

फाँसी, मृत्यु आदि की भाव-मार्मिकता गद्य-काव्य की-सी शैली में अभिव्यक्त हुई है। कथानक के आरम्भ और अन्त में इस शैली को रखकर प्रभाव-वर्द्धन किया गया है।[4]

साराँश में अनेक शिल्प-रूपों तथा शैलियों के उपयोगी एवं अनोखे विनियोग से उपन्यास को सुन्दर तथा प्रभावी बनाया गया है।

'शेखर' के दोनों भागों को 'प्रवेश' के अतितिक्त आठ खँडों में बाँटकर लिखा गया है। प्रत्येक भाग में चार-चार खण्ड हैं। दूसरे भाग के तृतीय खंड—'शशि और शेखर'—को छोड़कर, शेष सभी खण्डों के नाम प्रतीकात्मक हैं। ये नाम शेखर के चरित्र-विकास के आधार पर रखे गए हैं। किन्तु प्रतीक-शैली के उपयोग से एक व्यक्ति-विशेष के चरित्र-विकास को एक मानव के चरित्र-विकास में सामान्यता दे दी गई है। शेखर असाधारण है, किन्तु उसके जीवन की मूल प्रेरणाएँ—अहंता, काम, भय आदि—मानव-मात्र की प्रेरणाएँ हैं, अतएव प्रतीक-व्यंजक नामों से इस सामान्य पक्ष की ओर ध्यान दिला कर उद्देश्य को व्यापक बना दिया गया है। कुछ नामों के स्पष्टीकरण से उपर्युक्त स्थापना स्वयंमेव स्पष्ट हो जाएगी। पहला खण्ड है 'उषा और ईश्वर'। इसमें शेखर और उसकी सहजात प्रेरणाओं के उदय (जन्म) और

१. "शेखर : एक जीवनी", (दूसरा भाग) पृ० २५२-५३।

२. (पहला भाग), पृ० ४०-४१। ३. पृ० २५।

४. पृ० २१ तथा (दूसरा भाग), पृ० २५८।

उसके शिशु-मानस की विविध जिज्ञासाएँ हैं। उसकी अनेक जिज्ञासाओं को ईश्वर के आधार पर दबा दिया जाता है। किसी के जन्म-मरण और इसी प्रकार की अन्य बातों का मूल कारण न बता कर शेखर की हर जिज्ञासा को ईश्वर के नाम पर भुठला दिया जाता है किन्तु उसके अनुभव उसे शंकाशील बनाए रखते हैं। द्वितीय खण्ड है 'बीज और अंकुर'। इसमें बालक शेखर की उर्वर मनोभूमि में पारिवारिक वातावरण से नए बीज पड़ते, कुछ जड़ पकड़ते और खण्ड के अन्त तक अंकुरित होने लगते हैं; जैसे अन्त का स्वप्न उसकी दबी काम-भावना के अंकुरित होने की सूचना दे देता है। तीसरा खण्ड है प्रकृति और पुरुष। इसमें शेखर नारी-पुरुष के पारस्परिक सम्बन्धों के रहस्यों को जान जाता है।[1] उसे शारदा एवं शांति से प्यार का अनुभव भी होता है—मानो वह अपने पुरुषत्व का अनुभव करता है। खण्ड के अन्त में वह अपने को संपूर्ण, मुक्त और पुरुष समझता है।[2] चौथा खण्ड है 'पुरुष और परिस्थिति'। इसमें शेखर घर से निकल कर समाज के खुले सम्पर्क में आता है और उसे विपरीत परिस्थितियों से संघर्ष करना—रूढ़िवादियों के चरम विरोधों के भीतर से अपना मार्ग बनाना—पड़ता है। खण्डांत में वह मद्रास छोड़कर चल पड़ता है, अतएव लिखा है—'अब परिस्थिति से उसका संग्राम, उस उच्छिष्ट की मानलीला, अब किसी दूसरे युद्ध-मुख पर होगी।[3] इसी के अनुसार दूसरे भाग के पहले खंड का नाम पुनः 'पुरुष और परिस्थिति' है। अब वह दक्षिण भारत से उत्तर भारत में आकर संघर्ष करता है। दूसरा खंड है 'बन्धन और जिज्ञासा' जिसमें शेखर के जेल जीवन का चित्रण है। बाहर शशि का अनेच्छित विवाह हो गया है और वह कुछ नहीं कर सका, अतएव उसे शशि की दशा जानने की जिज्ञासा है।[4] किन्तु मानव के लिए जिज्ञासा चिरन्तन है; "और स्थगित जीवन के उस भीषण अन्तराल में क्षुद्रबुद्धि ही एकमात्र सम्बल है, जिज्ञासा ही एकमात्र सम्बल है···वही स्थानापन्न प्राण है···"[5] तृतीय खंड है 'शशि और शेखर', जिसमें शशि, शेखर को आत्महत्या से बचाती है और दोनों के सम्बन्ध घनिष्ठ हो जाते हैं। चतुर्थ खण्ड है 'धागे : रस्सियाँ, गुंझर', जो 'शिक्षा, सभ्यता, संस्कार' की 'बड़ी गाँठों' (complexes) के प्रतीक हैं[6]—और जो शशि शेखर के प्यार—प्यार-मात्र—को मूलतः एक समस्या बना देते हैं; सभी प्यार "दो इकाइयों तक सीमित नहीं है।···कितने सूत्र···पक्के और दुर्बल, मोटे और

१. "शेखर : एक जीवनी", (पहला भाग), पृ०२०२।
२. पृ० २०३। ३. पृ० २५३।
४. (दूसरा भाग), पृ० ८७।
५. (दूसरा भाग), पृ० ८८।
६. (दूसरा भाग), पृ० २३१।

सूक्ष्म, सीधे और आड़े, उस समस्या में उलझे हुए हैं और उसे विकट बनाते हैं··· मूल समस्या सामंजस्य की है···।"[१]

व्यक्ति-विशेष के चरित्र-विकास को सामान्यता और इस प्रकार उद्देश्य को व्यापकता देने के अतिरिक्त इस खण्ड-विभाजन और उनको अलग-अलग नाम देने की विधि से कथानक को शृंखलित करने का लाभ भी हुआ है। समग्र कथानक तो इससे शृंखलित हुआ ही है, उपन्यास के पहले भाग के खण्डित-असम्बद्ध दृश्य भी, पृथक्-पृथक् नामांकित खण्डों के अन्तर्गत आने के कारण, विषयैक्य या शेखर के चरित्र-विकास की समान स्थिति से सम्बद्ध होकर एकसूत्रित हो गए हैं।

'शेखर' मुख्यतः व्यक्ति-प्रधान है किन्तु उसमें समसामयिक देशकाल का भी चित्रण हुआ है। इस सम्बन्ध में लेखक की स्थापना है—"शेखर निस्सन्देह एक व्यक्ति का अभिन्नतम निजी दस्तावेज़ (a record of personal suffering) है, तथापि वह साथ ही उस व्यक्ति के युग-संघर्ष का प्रतिबिम्ब भी है। इतना और ऐसा निजी वह नहीं है कि उसके दावे को आप 'एक आदमी की निजू बात' कह कर उड़ा सकें"।[२] विश्वम्भर 'मानव' भी इससे सहमत हैं, इसलिए कहते हैं कि "शेखर व्यक्ति से परिवार, परिवार से समाज, समाज से देश की ओर बढ़ा है और अपने चिन्तन में तो वह इन सबसे बढ़कर देशकालातीत हो गया है"।[३] और उपेन्द्रनाथ 'अश्क' भी कहते हैं—"अज्ञेय का 'शेखर' यद्यपि व्यक्तिवादी है, पर उसकी सामाजिकता विवाद से परे है।"[४] किन्तु डॉक्टर नगेन्द्र इससे असहमत हैं; उनके अनुसार—"निस्सन्देह शेखर में उसके स्रष्टा के समाज और युग की जातिवैषमता, हिंसा-अहिंसा, स्त्रियों की सामाजिक स्थिति आदि गम्भीर समस्याओं का विश्लेषण अत्यन्त सूक्ष्म-गहन है। परन्तु उसमें समाज और युग नहीं बोलते, शेखर—अज्ञेय बोलता है। यह सभी समाज के प्रवहमान जीवन का अंग नहीं है, शेखर की चेतना—उसके चिंतन का ही अंग है। यह विवेचन सामाजिक जीवन के आलोड़न में से नहीं निकलता, शेखर की अपनी व्यक्तिगत प्रतिक्रियाओं का ही समीकरण है, और स्पष्ट शब्दों में, इन प्रश्नों का विवेचन जीवित नहीं है, केवल विचारित है। इसलिए यह विश्लेषण पर समाप्त हो जाता है—संश्लेषण और समाधान पर नहीं पहुँच पाता······।"[५] निस्सन्देह इसमें समाज और युग स्वयं नहीं बोलते, परन्तु वे शेखर के माध्यम से, शेखर के रूप में बोलते हैं— एक चरित्र-प्रधान, और उसमें भी एक पात्र प्रधान,

---

१. पृ० २३७। २. (पहला भाग) भूमिका, पृ० 'घ'।
३. "आलोचना" १३, उपन्यास विशेषांक, पृ० ९९।
४. "हिन्दी कथा-साहित्य में गतिरोध", 'रेखाएँ और चित्र', पृ० ९४-९५।
५. "विचार और अनुभूति", पृ० १४९।

उपन्यास की यही स्वाभाविक स्थिति हो सकती है और इसी में उसके समन्वित शिल्प की सफलता निहित है। यदि यह मान भी लिया जाए कि युग-चित्रण शेखर की चेतना या चिंतन का अंग ही है, तब भी युग-चित्रण के अनस्तित्व की बात नहीं कही जा सकती। क्या शेखर का चिंतन परिस्थिति-निरपेक्ष है? कदापि नहीं। वह जन्मजात विद्रोही है, किन्तु उसकी विद्रोह-भावना का संचय और दिशा-निर्देशन तो पारिवारिक, सामाजिक तथा राजनैतिक परिस्थितियों से होना है। एक समय आता है कि उस-जैसा विद्रोही-अहंमन्य भी [illegible] से प्रकाशकों-सम्पादकों की विदोहन (Exploitation) जन्य अधिक परिस्थितियों—से बाध्य होकर आत्म-हत्या तक करने का प्रयास करता है। नीचे हम युग-चित्रण-सम्बन्धी उन तथ्यों का संक्षेप में परिगणन करेंगे, जो शेखर के जीवन से सीधे सम्बन्धित हैं, मात्र विचारित या देखे सुने नहीं :—

१. बालक-किशोर शेखर के विद्यार्थी जीवन के कटु अनुभव, जिनमें उसने शिक्षण का तिरस्कार और अवज्ञा सीखी।[१] इससे तत्कालीन (और आधुनिक) शिक्षा-प्रणाली के दोष स्पष्ट होते हैं······

२. शेखर के घर का नया महाराज और उसकी अति तक पहुँची हुई छूआछूत की भावना। बालक शेखर का शरारत करना और उसका घर से स्वेच्छा से निकल जाने के लिए बाध्य हो जाना।[२]

३. आत्मरक्षा के लिए भागते शेखर और एक और व्यक्ति का प्यास से व्याकुल होकर एक छोटी जात वाले व्यक्ति से पानी माँगना और उसका इन्कार कर देना। इस मैला ढोने वाले व्यक्ति का अपने काम और ईमान में पैसा कमाने का अभिमान करना और शेखर का उसके दीन विनय के भीतर भी आत्मभिमान देखकर प्रभावित होना।[३]

४. शेखर और छोटी जात की विधवा पड़ोसिन की लड़की फूलां की कहानी। शेखर को उनके साथ खाने की मनाही और विधवा पड़ोसिन का 'स्वरक्षात्मक अस्त्र' की तरह का स्वाभिमान।[४]

५. मद्रास में जाति-पाँति, छूआछूत के भेद-भाव के कारण लेखक का विद्रोह करके होस्टल छोड़ देना।

६. अछूतों की शिक्षा के लिए पाठशाला चलाना।

७. कालेज में छूआछूत के प्रश्न पर झगड़ा होना और अन्ततः जीतकर और

---

१. "शेखर : एक जीवनी", (पहला भाग), पृ० ६३।

२. पृ० ७२-७३।　　३. पृ० ७०-७२।　　४. पृ० ६८-७०।

इसी से प्रेरित होकर मलाबार में अछूतों की दशा देखने के लिए जाना। वहाँ ब्राह्मणों के अत्याचार की शिकार घायल अछूत स्त्री को पीठ पर लाद कर उपचार के लिए मिशन भवन ले जाना।[१]

८. भीड़-भरी ट्रेन में असहाय नारी को चढ़ाने-बैठाने पर एक असभ्य व्यक्ति से लड़ाई मोल लेना; पुरुष प्रधान सभ्यता और नारी की स्थिति[२] की व्यंजना।

९. गाँधीजी के असहयोग आंदोलन से प्रभावित होकर बालक शेखर का स्वदेशी कपड़े पहनने लगना, विदेशी कपड़ों की होली जलाना और घर वालों से मार खाना। 'गाँधी का बोल बाला! दुश्मन का मुँह हो काला', के नारे लगाते रहना।[३]

१०. उपर्युक्त आंदोलन के प्रभाव में विदेशी मात्र के प्रति घृणा जागना; अंग्रेज़ी भाषा के वातावरण में पाले जाने की बात से उसके आत्माभिमान को धक्का लगना; लगन से हिन्दी पढ़ना आरम्भ करना, अँग्रेज़ी से घृणा करना।[४]

११. बालक शेखर का गाँधी जी की अहिंसा से प्रभावित होना और वैसे ही आचरण करने लगना किन्तु असफल होना। आगे के जीवन से हिंसा-अहिंसा के सविस्तर वाद-विवादों का बीज यहीं मिलता है।[५]

१२. युवकों में नई जागृति के लिए एंटिगोनम क्लब की स्थापना।

१३. शेखर के लाहौर के विद्यार्थी-जीवन के माध्यम से कालेज के विद्यार्थियों में बढ़ती हुई अनैतिकता एवं फ़ैशनपरस्ती आदि का चित्रण।[६]

१४. शेखर को वेश्या समाज की आर्थिक दुरावस्था की अनुभूति होना।

१५. राष्ट्रीय कांग्रेस कैम्प तथा अधिवेशन में स्वयंसेवक के नाते से भाग लेना। वहाँ स्वयं कष्ट-सहन कर पूर्ण अनुशासनबद्ध रहना और दूसरे अनुशासनभ्रष्ट स्वयंसेवकों को सज़ा देने के लिए अधिकारियों तक से लड़ना; बाहर से आए हुए कुछ प्रतिनिधियों और कैम्प के अधिकारियों के भ्रष्ट आचरणों के आधार पर स्वाधीनता आँदोलन की प्रगति के स्वरूप पर विचार करना; सी० आई० डी० तथा पुलिस वालों के कुव्यवहार एवं उनके प्रति स्वयंसेवकों की विद्रोह-भावना।[७]

१६. इसी के कैम्प में कुछ अन्य साथियों के साथ बन्दी होना और क्रांतिकारियों के सम्पर्क में आना। उनकी कष्ट सहिष्णुता, देशसेवकोचित त्याग भावना, और रूढ़ धार्मिक संकीर्णताओं से मुक्ति से वास्तविक स्वाधीनता-सेनानियों के सम्पर्क में आना।

---

१. पृ० २२२। २. हृ० २२८-३०। ३. पृ० १२३-२४।
४. पृ० १२५-२६। ५. पृ० १३३-३५।
६. (दूसरा भाग), पृ० १८। ध. (दूसरा भाग), पृ०३५-४८।

१७. क्रांतिकारियों की गतिविधि और शेखर का क्रांतिकारी के नाते कार्य करना।

१८. लाहौर में रूढ़िवादियों की सभा में भाषण और उनकी प्रतिक्रिया।

१९. अपनी आजीविका तथा लेखकत्व के नाते सम्पादकों-प्रकाशकों के शोषक-व्यावसायिक व्यवहारों, बेकारी तथा साहित्यिक गतिविधि की अनुभूति करना।

२०. शेखर का अँग्रेज प्राध्यापक के घर अँग्रेज़ अफ़सर से मिलना, उनकी राष्ट्रीय चेतना के आगे अपनी हीन राष्ट्रीय भावना की ग्लानि की अनुभूति करना।

२१. विधवा की लड़की शशि का अनिच्छित विवाह। विधवा के लिए समाज-भय की बाध्यता, अनमेल विवाह, नारी की विषम सामाजिक स्थिति, पुरुषों के अत्याचार, नर-नारी अधिकारी की समस्या। शशि को घर से निकालने पर शेखर का उसके पति से लड़ने जाना।

२२. चटगाँव में गोली चलने और विद्रोहियों द्वारा किए गए नाना प्रकार के अत्याचार की जेल में बाबा मदनसिंह पर प्रतिक्रिया; क्रांति के लिए चारित्र्य पर विचार।[1]

इसके अतिरिक्त अनेक पारिवारिक परिस्थितियाँ भी हैं, जिनके भीतर से शेखर का शील-विकास हुआ है। उपर्युक्त सभी परिस्थितियाँ शेखर के चरित्र की अनिवार्य पृष्ठभूमि हैं और इसी रूप में उसके युग को प्रतिबिम्बित भी करती है। इन परिस्थितियों के अभाव में आगे के क्रांतिकारी शेखर की कल्पना ही नहीं की जा सकती। किसी के लिए लड़ने और अपने आप से बाहर प्रसारित एवं न्यौछावर होने की शक्ति में प्राणी की प्राणवत्ता का मान देखने[2] की भावना आपाततः नहीं, इन सभी परिस्थितियों के प्रत्यक्ष-प्रच्छन्न समाहित प्रभाव के आधार पर आई है।

शेखर से सीधे सम्बन्धित उपर्युक्त तथ्यों के अतिरिक्त, शेखर की जीवन-गति के अंग रूप में समसामयिक देशकाल की अन्य अनेक सूचनाएँ दी गई हैं। पहले विश्व-युद्ध के बीच और बाद की परिस्थितियों—मँहगाई, भुखमरी, बीमारी, पंजाब के 'दंगे-फसाद'[3] आदि—से लेकर भगतसिंह की फाँसी, गाँधीजी की भिक्षा अस्वीकार[4] तक की परिस्थितियों की सूचना—और कहीं-कहीं झलक भी मिल गई है। शेखर के साथ काश्मीर, लाहौर, अमृतसर, लखनऊ और मद्रास-मालाबार तक कथा गई है। इन स्थानों के लोगों के जीवन की यत्किंचित् झलक भी मिली है। सारांश में हम लेखक से सहमत हैं कि 'शेखर' अपने युग-संघर्ष का प्रतिबिम्ब भी है।

'शेखर' में अनेक स्थलों पर सुन्दर प्रकृति-चित्र आए हैं, जो यद्यपि कहीं-कहीं

१. पृ० ९८-९९ २. पृ० २५१-२५३।

३. पृ० ९३। ४. पृ० ९३।

स्वतन्त्र-से हैं, फिर भी, 'सौन्दर्य की खोज करने वाले जिज्ञासु' शेखर[1] की सौन्दर्यानुभूति का अंग होने से और अधिकांशतः पात्रों के भाव-जगत् या परिस्थिति से सामंजस्य के आधार पर सार्थक हो गए है : सरस्वती-शेखर के काश्मीर-दृश्यों तथा शारदा-शेखर की कथा में प्रकृति की ऐसी [illegible] देखी जा सकती है। अंतिम खंड में शशि-शेखर की बातचीत के मध्य प्रकृति के छिटें-पुटे व्यंजक चित्रणों से वेदनामय वातावरण को और भी गम्भीर बना दिया गया है।[2]

'शेखर: एक जीवनी' में चिन्तन, विश्लेषण तथा वर्णन के साथ वार्तालापतत्व का भी समुचित विनियोग हुआ है। समृत्यवलोकित उपन्यास होने के कारण 'शेखर' के सभी कथोपकथन स्मृत कोटि के हैं। दूसरे, शेखर की पूरी जीवनी का अंग होने के कारण, शेखर की अवस्था के विकास के साथ उसके कथोपकथनों की शैली भी परिवर्तित हुई है। इसलिए 'शेखर' के प्रथम भाग और द्वितीय भाग के कथोपकथनों में पारस्परिक अन्तर है। पहले भाग में बालक शेखर की जिज्ञासा सरल, सीधे, संक्षिप्त तथा गत्यात्मक वार्तालापों में अभिव्यक्त हुई है।[3] प्रातः मूंह-फटता तथा कठोरता के कारण इनसे शेखर की उद्धतता- अहंमन्यता का आभास भी मिल जाता है। किन्तु दूसरे भाग–विशेषतया शशि एवं शेखर के प्रसंगों–के कथोपकथन, पात्रों के मन से पूर्णतया बँधे हुए हैं। वे जैसे खोए-से, अपने मनों में बहुत कुछ दबाए-से पात्रों के वार्तालाप हैं। वे अपनी 'अयं' या 'ऊं-हाँ'[4] की शैली में चौंक-चौंककर बात करते है। वे प्रायः अधूरे ख़ुलते है और यदि खुलते भी हैं, तो थोड़े ही शब्दों में खुलते हैं। परस्पर प्रेम करते हुए भी उनकी असामाजिक स्थिति का दुराव-छिपाव कहीं शब्दों-वाक्यों की आवृत्ति करता, कहीं- बिन बोले बात करता, कहीं अंतरालों में लड़खड़ाता' कहीं अधूरे-टूटे वाक्यों में बोलता और प्रायः व्याकरण-विपर्यस्त वाक्य-विन्यास में प्रकट होता रहता है। एक गत्यात्मक संवाद द्रष्टव्य है :—

"आ गई बस,—अब वहाँ लौटना नहीं होगा—नहीं, मुझे मत छुओ, मैं अभी चली जाऊँगी—"

"अयं, क्या कहती हो, शशि···"

"उन्होंने मुझे घर से निकाल दिया है।"

"क्या—क्यों ?"

····················

1. (दूसरा भाग), पृ० २६।
2. पृ० २२१, २२५-२२६।
3. (पहला भाग), पृ० ७१, ९०-९१, ९४-९५।
4. (दूसरा भाग), पृ० ६१।

"क्यों निकाल दिया है, शशि ?" और फिर तत्काल ही, "अगर कहने में कष्ट होता है तो रहने दो···"

"कहूँगी। अभी मुझे जाना जो है। उन्होंने कहा है, मैं भ्रष्टा हूँ, पापाचारिणी हूँ।"

थोड़ी देर की स्तब्धता के बाद, क्यों ?"

"मैं रातभर बाहर रही थी ··"

"क्या ? तुमने उनसे नहीं कहा कि तुम यहाँ आई थीं—मेरे पास थीं ?"

शशि देख तो कहीं कुछ नहीं रही थी, फिर भी उसने मुंह फेर लिया। बोली नहीं।

"तुमने क्यों नहीं कहा ? मैं अभी जाता हूँ···"

तड़पकर "नहीं, नहीं तुम मत जाओ···"

"क्यों···"

"नहीं, शेखर, नहीं। मैं···"

"तुमने कहा नहीं ?"

शशि ने किसी तरह मुंह से निकाला, "वे···जानते थे।"

"तब ?"

जैसे बाढ़ से नदी के कगारे धीरे-धीरे टूटकर गिरने लगे, वैसे ही शशि का धैर्य टूट रहा था। क्रमशः तीखे होते हुए स्वर से उसने कहा, मुझसे मत कहलाओ, शेखर, मैं नहीं दुहरा सकती तुम्हारे आगे वह बात···"

"मैं तुमसे कोई और हूँ, शशि ?"

"ओह, तुम नहीं समझते, शेखर तुम नहीं समझते। वे कहते हैं—तुम्हें पता नहीं क्या कहते हैं वे—वे कहते हैं—मैं रात यहाँ रही थी...यही तो कहते हैं···मैं भ्रष्टा हूँ···ओः. नहीं, नहीं शेखर !"

स्वर तीखा होकर एक हिचकी-सा बन गया था, फिर एकाएक मौन छा गया और सर्राता हुआ बहता रहा···

कुछ देर बाद शेखर ने कहा, 'मैं समझ गया, शशि ! बस···" और कुछ रुककर फिर आवृत्ति की, "मैं सब समझ गया······"[1]

इस प्रकार वार्तालाप पात्रों की मनःस्थिति एवं परिस्थिति से बँधे हुए शील-प्रकाशक हैं।

एक स्थान पर 'शेखर' में माध्यमिक या आदेशित संवादों का नया प्रकार

---

१. (दूसरा भाग) पृ० १८०-८१।

मिलता है जिसमें दो पात्रों की वार्ता द्विभाषिए पात्र के माध्यम से चलती है। यह संवाद-प्रकार पारिस्थितिक आवश्यकता का परिणाम है। शेखर की माँ दक्षिण-भारतीयों के घर मिलने जाती है, किन्तु न तो वह उनकी भाषा जानती है और न ही अँग्रेज़ी। अतएव अँग्रेज़ी का ज्ञाता, उसका पुत्र, शेखर द्विभाषिए का कार्य कर उनकी आपसी वार्ता को सम्भव बनाता है। किन्तु यहाँ द्विभाषिए का काम करने वाला व्यक्ति पात्र-विशेष शेखर है, जो दोनों ओर के कथनों में से उन्हीं के कथनों को कहता-सुनाता है जो उसकी मनःस्थिति तथा परिस्थिति के अनुकूल हों और इस तरह उसका चरित्र-प्रकाशन हो जाता है।[1] यदि वह यांत्रिक अनुवादक बनकर रह जाता है, तो इस नए भेद के उल्लेख की आवश्यकता नहीं थी।

यहाँ कुछ आयोजित व्याख्यान भी हैं, जहाँ पात्रों के सार्वजनिक रूप की अपेक्षा उनके अन्तरम का उद्घाटन अधिक हुआ है। उदाहरणतया, शशि अपने संस्कारों से बँधी रहकर चाहे अपने ईर्ष्यालु निष्ठुर पति का मान करती हैं, किन्तु नारी-पीड़न और पुरुषों के अत्याचार से भीतर-ही-भीतर सुलगने वाली उसकी विद्रोहाग्नि व्याख्यान के लिए 'स्त्रियों में समानाधिकार' जैसा विषय पाकर बरबस खरी-तीखी और तीव्र शैली में फूट पड़ती है।[2] इसी प्रकार 'रात्रि पाठशाला' में अछूत विद्यार्थियों के सामने बोलते हुए शेखर का अहम् पिघलकर व्यापक संवेदना-भावना में प्रवाहित हो उठता है।[3]

'शेखर' के वार्तालाप पात्रानुकुल है। शेखर, मोहसिन, रामजी, बाबा मदनसिंह, (शशि के पति) महेश्वर, अर्जुनसिंह आदि के संवादों से उनकी प्रकृति के पारस्परिक अन्तर को स्पष्टतया लक्षित किया जा सकता है। वस्तुतः उपर्युक्त गौण पात्रों की शील-व्यंजना का मुख्य आधार संवाद ही है क्योंकि औपन्यासिक रंगमंच पर अपने सीमित ठहराव में उनके कार्यों का साक्षात्कार स्वल्प ही हो पाता है। अनुभवी-क्रांतिकारी वृद्ध बाबा मदनसिंह की शैली में विचार-सार-'सूत्रता'[4] है, मस्तमौला मोहसिन में मुक्त अनौपचारिकता (बेतकल्लुफ़ी), ग्रंथि-मुक्त (जाट) रामजी में सीधी-सादी सरलता, शेखर में अहमन्य वक्रता तथा ईर्ष्यालु रामेश्वर में स्मित व्यंग्यात्मकता मिलती है। सारगर्भित उक्तियाँ लेखक की भाषा-शैली की जितनी विशेषता हैं, उतनी ही पात्रों—बाबा मदनसिंह और शशि—के संवादों की भी।

'शेखर' के गौरव में वृद्धि करने का एक बड़ा श्रेय उसकी भाषा-शैली को

१. (पहला भाग), पृ० १७२-७४।
२. (दूसरा भाग), पृ० २१५-२१६।
३. (पहला भाग), पृ० २४१-४२।
४. (दूसरा भाग), पृ० ८७।

है। यह भाषा अज्ञेय जी के विपुल अध्ययन-अभ्यास तथा प्रबल अनुभूति-चिंतन के समन्वित योग से चमक उठी है। यह 'अज्ञेय' के कवि तथा विद्रोही व्यक्तित्व — जो नायक शेखर की विशेषताएँ भी हैं—की सम्मिलित शक्तियों का सजीव प्रतिफल है। इसमें प्रसंगानुसार कोमलता-कांति भी है, ओजस्विता-दीप्ति भी; फिर भी, कथा के आधार तथा कथावक्ता नायक शेखर की मनःस्थिति एवं व्यक्तित्व—उसकी 'अन्तर्वेदना' 'अन्तःज्वाला' तथा भावोन्माद—तथा "विद्रोह-शक्ति की, अपने will to revolution की गाथा"[1] कहने के लक्ष्यानुकूल इसमें ऊष्मा-ओजस्विता ही अधिक है। इसके साथ ही उसकी कला-चेतना में इतना संयम, अन्तःकरण के उन्माद को संतुलित करने की इतनी तटस्थता भी है कि उसके सूक्ष्म अंकन में अन्विति भी आ सकी है; उसकी निम्नलिखित पंक्तियाँ स्वयं उसी पर लागू होती हैं—"उसका मन अनुभूतियों का छायापट है, अनुभूतियाँ जो मधुर होकर भी स्वयं अपने राग-तत्व से पृथक् हो गई हैं क्योंकि शेखर अपने-आप से तटस्थ हो गया है। वह लिखने बैठा है···आलोचना से कुछ अधिक रचनात्मक वह लिखना चाहता है; और उसके निर्वेद सन्तोष के पीछे तीखी अनुभूतियों का भी इतना अवशेष है कि रचना सप्राण हो, सतेज हो"।[2]

अज्ञेय की भाषा ने शेखर की मानस तथा साथ ही अन्तःकथा के निर्वाह की अपार क्षमता का परिचय दिया है। इसलिए इसमें भेदक सूक्ष्मता भी है, आवेशज उष्णता भी। इसके अतिरिक्त विचारों के पंजीपन की सूत्रबद्धता तथा साधारण वर्णनों को भी कहीं चामत्कारिक तथा कहीं रागपूर्ण बनाने की क्षमता भी है। प्रसंगानुकूल विविध शैलियों—कहीं रेखाचित्रात्मक, कहीं गद्यकाव्यात्मक, कहीं आत्म—विवादात्मक, कहीं प्रतीकात्मक—के प्रयोग से इसमें सार्थक नूतनता का समावेश हो गया है। इन सबमें भी, विश्लेषण-स्थलों की प्रधानता के कारण, मुख्य शैली आत्मविवाद की है। विश्लेषणार्थ तथा प्रभाव बढ़ाने के लिए, तीखी भिन्नता वाले, तथा एक-दूसरे के अर्थ को स्पष्ट-पुष्ट करते हुए भावार्थ को घनीभूत तथा व्यापक करने वाले पर्यायवाची-से शब्दों का एकसाथ प्रयोग अज्ञेय की शैली की सामान्य विशेषता है। लाक्षणिक मूर्तिमत्ता, ध्वन्यात्मक सांकेतिकता, तथा स्वाभाविक अलंकरण की कवि-सुलभ विशेषताओं से यह सम्पन्न है। शब्दों तथा वाक्यों की आवृत्ति से गीति-बन्ध की शैली का प्रभावोत्पन्न करने का प्रयास भी मिलता है। मानस-बँधे विश्लेषण-स्थलों के आधिक्य के कारण इस भाषा में लघु-लघु वाक्यों, अल्प-विरामों, अंतराल-चिन्हों तथा अन्तःकोष्ठों को प्रधानता मिली है। कुल

१. (पहला भाग), पृ० ४३-४४।
२. (दूसरा भाग), पृ० २००।

मिलाकर अज्ञेय जी की भाषा, अन्तरंगी, अभिजात, नूतन तथा काव्यगुणों से पूर्ण भाषा है। निम्नलिखित भिन्न-शैलियों के तीन उदाहरण उपर्युक्त अधिकांश विशेषताओं को प्रभाणित कर सकेंगे——

(क) शेखर सोचता था। जेल में जीवन स्थगित हो जाता है। और ये क्या है जो मानो उसे पटककर उसके गले पर चढ़ बैठा है और कह रहा है, "मैं स्थगित? तो ले देख, सह मेरा बोझ और मेरी गति की चोट! आह, नहीं सहा जाता······ नहीं सहा जाता······नहीं सहा जाता जीवन, नहीं सहे जाते बन्धन···

"क्यों नहीं सहे जाते? दुर्बल, कायर, झूठा कहीं का! उसके सामने ही मामूली-से-मामूली आदमी, जीवन की हर एक देन से वंचित, धन से, कुल से, आत्मीयों से, विद्या से वंचित, जीवन का सामना करते हुए चले जाते हैं, और वह अभिमानी रोता है कि मैं उसे सह नहीं सकता···कायर, दम्भी, वेदना होती है···समवेदना होती है······समवेदना क्या है जो जीवन को गहरा नहीं बनाती, घना नहीं बनाती, जीवन के लिए कृतज्ञ नहीं बनाती? समवेदना की दुहाई देकर जीवन से डरता है! आत्मवंचक······

"पीड़ा और अपमान से जलकर सहसा शेखर उठ बैठा, उन्मत्त साँड़ की तरह कन्धे झुकाकर जीवन के दबाव से टक्कर लेने को तैयार······फूले हुए नथुनों से फुंकार की तरह साँस लेता हुआ, पृथ्वी को पैरों से मानों रौंदता हुआ वह कोठरी से बाहर निकला कि टहलेगा, सबसे मिलेगा और नहीं दीखने देगा कि जीवन उसके लिए स्थगित है, बल्कि दुगुनी गति से चल रहा है···'[१]

(ख) १. "ओठ तप्त हैं—ज्वर से; उस कोमल स्पर्श से एक सिरहन-सी उसके माथे में दौड़ जाती है, तब चेतना की एक नयी लहर से बाधित वह झुकता है और शशि के स्निग्ध, स्तब्ध किन्तु वेझिझक ओठ चूम लेता है—निर्द्वन्द्व, वरद, दीर्घ चुम्बन।"[२]

२. "क्रमशः ठिठुरते और संकुचित होते हुए दिन का फीकापन उसके भीतर जम गया, पर उसके बिना भी शेखर के अन्दर पर्याप्त अन्धकार था···अन्धकार और एकान्त— निर्लिप्त शून्य—विविक्त, अनासक्त अन्धकार ··किसी चीज़ में कोई अर्थ नही है; सब कुछ एक परिणाम है जिसका आधारभूत तथ्य खो गया है···कारण से कार्य है, पर उद्देश्य न कारण का है, न कार्य का, अनुद्देश्य ही सत्य है···अनुद्देश्य, भ्रांति, भटकन।"

(ग) 'प्रणाम, यमुना; प्रणाम, पूर्वदिशा; प्रणाम, वैशाख के फूले पलाश और

---

१. "(दूसरा भाग), पृ० ६७।   २. पृ० २४८।

बबूल; प्रणाम, झाऊ के उदास मर्मर और धूल के बगूले; प्रणाम, दो पैरों से लाख-बार रौंदे हुए रेतीले नदी तट; प्रणाम, बही हुई मुट्ठी भर राख······मैं सोचता था, यदि ऐसा न होकर वैसा होता, और वैसा होता, और वैसा होता, तो······पर आज सोचता हूँ कि नहीं, आज लगभग माँग रहा हूँ कि यदि फिर कुछ हो तो ऐसा ही हो; छाया, हम-तुम भी ऐसे ही हों—अलग पर सदा एक दूसरे की ओर अग्रसर होने में गैर पर वास्तव में अखण्ड विश्वास में बंधे, धमनी के एक······

छाया, तुम्हें भूलने नहीं जाना, तुम साथ चलो—पहले मौसी के पास और गौरा के पास, फिर—आगे; कर्म में विस्मरण नहीं है, शशि कर्म में तुम हो, चिरंतन प्रेरणा—चिरन्तन क्योंकि मुक्त और—मोक्षदा···"[1]

कुछ चिन्त्य और स्वतन्त्र प्रयोग भी 'शेखर' में देखे जा सकते हैं; जैसे : —

१. "······और डॉक्टर ने कहा कि उसे क्षय हो गया······"[2]

२. "उसे सरस्वती ने कोई पत्र नहीं लिखा, न उसने ही कोई लिख पाया।"[3]

३. शेखर जल प्रपात को देखा किया।[4]

४. डॉक्टर के आदेश यथासम्भव पालने और पलाने का वह यत्न करता था।[5]

५. मणिका के चरित्र में एक विचित्र कारुणिकता थी।[6]

समग्रतः 'शेखर' के समर्थक समीक्षकों तथा कटु आलोचकों सभी ने उसकी गद्यशैली की भूरिशः प्रशंसा की है। इस दृष्टि से डॉ० नगेन्द्र,[7] नंददुलारे वाजपेयी,[8] गंगाप्रसाद पाण्डेय,[9] डॉ० देवराज,[10] सभी मिलकर एक हो गए हैं।

अन्त में, 'शेखर' हिन्दी उपन्यास-शिल्प में एक नई दृष्टि का उन्मेषक, मनोविश्लेषणात्मक, जीवनीमूलक (चरित्र-प्रधान) संस्मृतिपरक उपन्यास है। हिन्दी में किसी भी उपन्यास के नायक के चरित्र-चित्रण—विशेषता उसके बाल जीवन के अंकन—में इतनी गहराई नहीं, जितनी 'शेखर' में मिलती है। मनोविज्ञान-सम्मत कार्यकरण-परम्परा के रूप में, या मनोवैज्ञिनिक अन्तःप्रेरणाओं से, विकासशील चरित्र के क्रमिक विकास-निदर्शन में भी यह आदि तथा अद्वितीय प्रयोग है। लेखक स्वानुभूति की सचाई का प्रभावोत्पन्न करने में सफल रहा है। प्रखरता, तीव्रता और

---

१. पृ० २५६।
२. पृ० ६२।
३. (पहला भाग), पृ० १५८।
४. पृ० १६०।
५. (दूसरा भाग), पृ० २३२।
६. पृ० १६।
७. "विचार और अनुभूति", पृ० १५२।
८. "आलोचना" संख्या २४, पृ० ५।
९. "हिन्दी कथा साहित्य", पृ० १६२।
१०. "छायावादोत्तर साहित्य—कुछ टिप्पणियाँ", 'साहित्य और संस्कृति', पृ० ८४।

गहराई इसके प्रमाण हैं। इसके अतिरिक्त पात्र-विशेष के आधार पर समन्वित शिल्प-निर्माण के कौशल—कथ्य और शिल्प की अद्भुत अनुयोज्यता—तथा उपन्यास के मार्मिक समापन से अचूक प्रभावोत्पत्ति करने में इसका पृथक् वैशिष्ट्य है। भाषा-शैली की अभिव्यंजना-क्षमता की गरिमा ने इसमें निश्चित योग दिया है। समाज का संश्लेष यहाँ गौण होते हुए भी नगण्य नहीं—यह समाज से प्रभावित जीवन के भीतर से जीवन का साक्षात्कार है—जिससे इसका समष्टिप्रभाव अकुंठित रह सका है। इसके अतिरिक्त 'शेखर' का महत्व हिन्दी-उपन्यास में प्रयोगात्मक शिल्प का प्रवर्तन करने में भी है। इससे पूर्व हिन्दी-उपन्यासों में, वैचारिक क्षेत्र में नव्यता के होते हुए भी, शिल्प मे कोई बड़ा परिवर्तन उपस्थित नहीं हुआ था। इस दृष्टि से इसका ऐतिहासिक महत्व भी है। स्मृत्यवलोकन-विश्लेषण के अनुकूल दृष्य-शिल्प-विधान से युक्त कथा का क्रमोच्छेदित उपस्थापन इस प्रायोगिक परिवर्तन का प्रधान लक्षण है।

कुल मिलाकर, यदि 'शेखर' के आधार पर उपन्यास-सामान्य की मुख्य विशेषता बताई जाए तो फिलिप हैंडर्सन के शब्दों में कहा जा सकता है :—

"Novel itself has come to be regarded as primarily a form of self-analysis."[१]

संन्यासी

इलाचन्द्र जोशी की प्रसिद्धि का प्रथम आधार उनका, १९४१ में प्रकाशित, दूसरा उपन्यास 'संन्यासी' है। इससे पहले वे 'घृणामयी' (१९२९) को लेकर सामने आ चुके थे। जोशी जी ने 'संन्यासी' को चरित्राधारित अभिधा दी है। सभी आलोचक भी इसे चरित्र-प्रधान उपन्यासों के वर्ग में रखते हैं।[२] कथानायक का चरित्र-विश्लेषण ही इस उपन्यास का मूलाधार है, अतएव इसकी चरित्र-प्रधानता स्वतःसिद्ध है।

कथानायक के मनोवैज्ञानिक आत्मविश्लेषण के माध्यम से एक पुरुष की आत्मघाती-समाजशोषी अहंमन्य प्रकृति के अनावरण, तथा उसके अहं की सर्वाधिक शिकार भारतीय नारी की दुर्दशा के द्रावक चित्रण, के उद्देश्य से 'संन्यासी' की रचना हुई है। इसके साथ ही इस उपन्यास का मनोवैज्ञानिक उद्देश्य भी संयुक्त है। मानव

---

१ "The Novel Today," p. 14.

२. क. डॉ० सत्येन्द्र : "समीक्षा के सिद्धान्त", पृ० १५०।

ख. डॉ० लक्ष्मीनारायण लाल : "आलोचना" सं० ११, पृ० १५८-५९।

ग. डॉ शिवनारायण श्रीवास्तव : "हिन्दी उपन्यास", पृ० २९५।

वास्तव में वैसा नहीं, जैसा वह बाहर से दिखाई देता है। उसके कार्य-व्यापार बहुधा अन्तर्लोक से चालित होते हैं। अतएव उसके अन्तर की मूल प्रकृति को समझे बिना न तो उसका कल्याण हो सकता है, न सामाजिक समस्याओं का सही समाधान। इसी आधार पर इस उपन्यास को व्यंग्यात्मक अभिधा दी गयी है। कथानायक नंदकिशोर दो-दो नारियों का जीवन नष्ट कर स्वयं और समाज को भुलवा देने के लिए देशोद्धार के प्रयत्न में जेल काटता है और अन्त में संन्यासी बन बैठता है। परन्तु जैसाकि वह स्वीकार करता है, वह न कभी संन्यासी था और न संन्यासी है।[१] इस तरह मनुष्य का बाह्य स्वरूप बहुधा भ्रामक हो सकता है, अतएव उसके अन्तरतर और अन्तरतम का उद्घाटन अनिवार्य है, जिसके लिए जोशी जी मनोवैश्लेषिक साधनों का अवलम्बन आवश्यक समझते हैं और यही 'संन्यासी' में किया गया है।

उपन्यास के आरम्भ से नंदकिशोर के ऐसे संस्कारों का उल्लेख किया गया है, जो उसके अहं के सिंचन-पोषण में सहायक हुए हैं। जीवनारम्भ से ही अप्राकृतिक, अव्यावहारिक आनंदमय संसार में उसकी मनोनौका निर्मुक्त, निर्द्वन्द्व होकर विहरती रही है। "दुःख-दारिद्रय, रोग-शोक", उसके लिए अस्तित्वहीन रहे हैं।[२] उसे धनवान पिता का असीम प्यार मिला। उसकी मृत्यु के बाद भैया-भाभी ने अभाव की किंचित् अनुभूति भी उसे न होने दी। कॉलेज में पढ़ते हुए उसे आवश्यकता से अधिक धन मिलता रहा, जिसमें उसकी ही नहीं मित्रमण्डली की भी समय-समय की आवश्यकताएँ पूरी होतीं रहीं और धन बचता भी रहा है। जीवन में दुःख और संघर्ष के अभाव ने उसे सहानुभूति-समता की भावनाओं से प्रायः शून्य, स्वार्थी तथा असहनशील बना दिया। सब प्रकार के सुखों ने उसे अव्यावहारिक, उत्तरदायित्वशून्य, असामाजिक तथा अहंकारी बना दिया। विद्यार्थी-जीवन में उसके जिन मित्रों का परिचय मिलता है, उनसे भी उनकी आंतरिक घनिष्ठता नहीं रही। नंदकिशोर अपने स्वभाव के सम्बन्ध में स्वीकार करता है—"असल बात यह थी कि सारी यूनिवर्सिटी के किसी भी छात्र अथवा अध्यापक के साथ मेरी प्रकृति का आन्तरिक संयोग कभी नहीं रहा। मैंने आज तक कैसा एकाकी जीवन बिताया था, यह सोचकर मैं स्वयं स्तम्भित रह गया और मेरी रीढ़ से होकर एक आतंक की ठंडी लहर दौड़ गई, अपने बाह्य रूप में बहुत से मिला रहता था, पर मेरी अन्तःप्रकृति बिल्कुल संगरहित विजनवासी और निपट अकेली थी"।[३] लेखक ने नंदकिशोर के अनेक छोटे-बड़े व्यापारों के मूल में उसकी अहंवृत्ति को प्रदर्शित किया है। कॉलेज की छुट्टियों में नंदकिशोर आगरे में सैर करने के लिए जयन्ती के घर में रहता है। जयन्ती की ओर वह आकर्षित होता है। चलते समय, अपनी बड़ाई दिखाने के लिए घर के बच्चों को पच्चीस रुपए देता है। जयन्ती के संकेत से ये रुपय लौटा दिए जाते हैं, तब इन नोटों को फाड़ कर वह अपने आहत अहं को

१. पृ० ७। २. पृ० ९। ३. पृ० ८३-८४।

संतुष्ट करता हैं ।[१] बनारस में शांति के सम्पर्क में आने से उसका विभ्रमित चित्त जब अपनी एम० ए० की पढ़ाई को बीच में छोड़ देना चाहता है, तब बड़े भैया शिमला से पत्र लिखकर उसे समझाते हैं। किन्तु अपने अहंकार के कारण ही वह उनके सदोपदेश की उपेक्षा ही नहीं, उस पर मन ही मन व्यंग्य भी करता है।[२] वह उनकी सांसारिक सफलता को अपनी 'गर्वित प्रकृति' के कारण ही अवहेलना की दृष्टि से देखता है।[३] स्थान-स्थान पर घनिष्ठ-सम्पर्कित व्यक्तियों से उसके रूठने, औद्धत्य प्रदर्शित करने और उनको अपमानित करने में उसकी अहंवृत्ति झलकती रहती है। तनिक सी बात पर वह शान्ति-द्वारा परोसी हुई खाने की थाली को ठोकर मारकर गिरा देता हैं। सदैव उसकी इच्छाओं का ध्यान रखने वाली माँ समान भाभी का वह स्वार्थमय निर्मम वचनों से सत्कार करता है।[४] अन्यत्र जयन्ती को उसके साथ विदा करते हुए जयन्ती का पिता उसे कुछ उपदेश देना चाहता है, तो वह उन्हें बीच में ही रोक, अपने वचनों से उन पर वज्र-प्रहार करता है।[५] वस्तुतः उसका अहंकार किसी प्रकार का उपदेश सुन ही नहीं सकता। लेखक ने जयन्ती के प्रसंग में 'अहंभाव' का स्पष्टीकरण करते हुए इसे 'अभिमान' से भिन्न[६] 'स्वार्थ की मनोवृत्ति'[७] बताया है। यह स्वार्थ-वृत्ति या आत्मरति व्यक्ति तथा समाज दोनों के लिए भयंकर रोग है। पुरुष की इस अहंवृत्ति का सर्वाधिक शिकार उस भारतीय नारी को बनना पड़ा है, जो अबला तथा परावलम्बी है; फिर भी महत्व की दृष्टि से वह परिवार तथा समाज के विकास एवं सौख्य का विशेष आधार है। अतएव उद्देश्य एवं प्रभाव की व्यापकता की दृष्टि से लेखक ने पुरुष की अहंवृत्ति के वज्र-विनाशक परिणामों को नारी-दुर्दशा के आधार पर प्रदर्शित किया है। इसके लिए उसने दो भ्रामक शृंगारिक त्रिकोणों की सृष्टि की है। पहला त्रिकोण नंदकिशोर, शान्ति और बलदेव को लेकर है। शांति एवं बलदेव भाई-बहिनवत् स्नेह करते हैं, किन्तु नंदकिशोर अहं-जन्य सन्देह के कारण अन्यथा समझ लेता है। एक अहंवादी व्यक्ति की नारी के प्रति जो मनोवृत्ति हो सकती है, वह नंदकिशोर की क्षुद्र मनोवृत्ति के विरुद्ध जयन्ती की इस प्रतिक्रिया मे व्यक्त हो रही है···"इस अहंभाव की तृप्ति के लिए आप चाहते हैं कि जिस स्त्री से आपका सम्बन्ध हो वह पूर्णरूप से आपकी होकर रहे, उसका कुछ भी स्वतन्त्र रूप से अपना रहने को न रहे; उसका शरीर, उसका मन उसकी प्रत्येक कामना, आपकी इच्छा की बलि हो जाए; उसके भीतर छिपी हुई कोई गुप्त-से-गुप्त प्रवृत्ति उसकी अपनी होकर न रहे; वह सब कुछ बिना किसी असमंजस के आपके पैरों तले समर्पित करे दे"।[८] इसी मनोवृत्ति के कारण नंदकिशोर शान्ति के छोटे-से-छोटे

---

१. पृ० ४२। २ पृ० ८४। ३. पृ० ८८-८९। ४. पृ० ३४३।
५. पृ० ३५५। ६. पृ० ३८०। ७. पृ० ३८६। ८. पृ० ३८१।

व्यवहार—हास-परिहास तक— को भी सहज रूप में नहीं ले पाता। शान्ति बलदेव की सच्चाई की प्रशंसा करती है और उसे आदर देती है; बलदेव के सम्बन्ध में नंदकिशोर से भिन्न अपनी स्वतन्त्र राय कायम करती है, परन्तु नंदकिशोर का ग्रहं इतना भी सहन नहीं करता और विक्षुब्ध हो उठता है। उस समय की मानसिक स्थिति का आत्मविश्लेषण करते हुए वह लिखता है···"शांति ने यदि कुछ प्रसन्नचित्त से बलदेव की चर्चा चलाई, तो इस बात से मुझे बुरा लगने का कारण क्या था? मैं बलदेव को पहुँचा कर वापस आया और शान्ति ने यदि पूछा कि मैं उसे कहाँ तक पहुँचा आया, तो इसमें कौन सी ऐसी बात थी कि मैं खिन्न हो गया? हाँ उसने यह भी कहा कि वह बुरा आदमी नहीं मालूम होता और मेरी बात से उसे बलदेव के सम्बन्ध में भ्रम हो गया था। तो इससे क्या हुआ? इससे यह सिद्ध हुआ कि वह बलदेव के व्यक्तित्व से आकर्षित हुई है। तो भी हर्ज क्या हुआ? हर्ज यह हुआ कि मेरे प्रति अब उसका प्रेम···" शान्ति बलदेव के घर की घोर निर्धनता के प्रति जिस सक्रिय करुणा का व्यवहार करती है उससे नंदकिशोर की सन्देह-वृत्ति चरमसीमा पर पहुँच जाती है। वस्तुतः नंदकिशोर कामायनी के मनु के समान किसी के प्रति भी शान्ति की सहानुभूति-संवेदना को सहन न कर ईर्ष्यालु हो उठता है। शान्ति को नंदकिशोर के इसी अहं से जनित संदेह के कारण, पेट में उसी का गर्भ लिए, असहायावस्था में अलग हो जाना पड़ता है। इस कार्य में एक और पुरुष—नंदकिशोर का बड़ा भाई—भी साधन बनता है। वह अपनी लड़कियों के विवाह की दुहाई देकर शान्ति को नंद को छोड़ देने के लिए बाध्य करता है—मानों अपनी लड़कियों के लिए वह एक अन्य लड़की का बलिदान माँगता है और यही व्यंग्य यहाँ उद्दिष्ट है। वस्तुतः अपनी तथाकथित उन्नत सामाजिक स्थिति को बनाए रखने के लिए उसने शान्ति को निराश्रित करने में अपने क्षुद्र स्वार्थ की पूर्ति की। नंदकिशोर चेतन मन से अपने भाई का बड़ा विरोध करता है, किन्तु अपने अचेतन में वह उसे पहले ही छोड़ने और स्वच्छन्द विचरने के लिए तैयार बैठा था। इस तरह एक नारी से प्यार कर और भगा कर वह उसे गर्भवती छोड़ अपने भाई के साथ चलता बनता है।

दूसरा त्रिकोण नंदकिशोर, जयन्ती और कैलाश को लेकर है। नंदकिशोर का आचारण-वैचित्र्य इसमें है कि उसने जयन्ती से विवाह, "अपने एकांगीण जीवन की अपूर्णता को पूर्ण" करने के लिए नहीं, उस तेजस्वी नारी के स्वभाव के "शांत, संयत तथापि दुर्दमनीय गर्व" को अकारण ही चूर-चूर करने की एक प्रतिहिंसापूर्ण भावना से किया।[1] ऐसे व्यक्ति के लिए विवाह, नारी को दासी बना अपने अहंभाव की

१. पृ० ३५२।

संतुष्टि का साधक बनकर रह जाता है। वह स्वीकार करता है—"विवाह! जयन्ती के साथ विवाह! इसका अर्थ यह है कि जयन्ती जो इस समय मेरे इतने निकट होने पर भी मुझ से दूर है, मेरी दासी बनकर रहेगी और अपने अज्ञात गर्व और अव्यक्त घृणा के भावों के कुचले जाने पर आँधी के वेग से विच्छिन्न लता की तरह एकमात्र मेरे चरणों का आश्रय पाकर विवश होकर उनसे लिपटी रहेगी। इस भावना में कितना सुख है![1] विवाह के बाद नंदकिशोर जयन्ती को अपने विवाह के उपर्युक्त लक्ष्य को एक 'व्याख्यान' देकर बताता है···निश्छलता की दृष्टि से नहीं, अनजान में डंक मारने के लिए।[2] पर जब जयन्ती इसे अनसुना कर देती है, तो नंदकिशोर को और भी दुख होता है। इसके बाद वह शान्ति से अपने प्रेम-सम्बन्धों की पूर्व-कथा सुनाता है; किन्तु यह भी आत्मग्लानि या निश्छल आत्मसमर्पण के भाव से नहीं, उसे 'चोट' पहुँचाने के लिए।[3] वह सोचता है, जयन्ती को इससे 'डाह' पैदा होगी परन्तु इसके विपरीत उसे शांति के प्रति श्रद्धा उत्पन्न हो जाती है। जयन्ती नंदकिशोर को उसकी गलती का एहसास कराते हुए पुरुष-सम्बन्धी इस कटु सत्य को स्पष्ट करती है—"आप पुरुष होने के कारण ही उनकी (शान्ति की) महत्ता को ठीक तरह से समझने में असमर्थ रहे। क्योंकि कोई भी पुरुष किसी भी स्त्री को कभी अपने से श्रेष्ठ मानने को तैयार नहीं हो सकता। आपका दम्भ आपके मार्ग में सदा···"[4] नंदकिशोर का यही अहं जयन्ती एवं कैलाश को एक विशेष क्षण में बातचीत करते देख सन्देह और अविश्वास से झल्ला उठता है और जयन्ती को आत्महत्या करने—जल मरने—पर बाध्य कर देता है। यह सही है कि जयन्ती और कैलाश का विवाह-पूर्व अशारीरिक प्रेम-सम्बन्ध रहा किन्तु नंदकिशोर से विवाहोपराँत उसने उसके जीवन की सच्ची संगिनी बनने का निश्चय किया और इस निश्चय को चरितार्थ करने का प्रयत्न भी; किन्तु नंदकिशोर का अहंभाव उसे निरन्तर विचलित करता रहा। अतएव आत्महत्या से पूर्व लिखे अपने पत्र में वह प्रश्न करती है—"माना कि मेरे पूर्व प्रेम-सम्बन्ध का पता आपको पहले ही लग गया था, पर इससे क्या हुआ? क्या विवाह के पहले आपका प्रेम-सम्बन्ध किसी दूसरी स्त्री से नहीं रहा?"[5]

लेखक ने पुरुष के अहंभाव, अविश्वास, एकाधिकार आदि की मनोवृत्तियों से जनित नारी-दुर्दशा के सामान्यीकरण पर विशेष दृष्टि दी है। इस लक्ष्य-सिद्धि के लिए प्रमुख पात्रों से इतर प्रसंगों की साभिप्राय चर्चा की गई है; जैसे, त्रिपाठी जी की बहू कहती है कि वह घर से कभी बाहर नहीं निकल सकती क्योंकि उसके पति

१. पृ० ३३३। २. पृ० ३६९-७१। ३. पृ० ३८५। ४. पृ० ३८७।
५. पृ० ४१३।

घर से बाहर जाते समय उसे भीतर बंद करके बाहर से ताला लगाकर जाते हैं।[१] यही स्त्री सामान्यीकरण के लिए कहती है "मर्द सभी एक-से होते हैं"।[२] आगे वह स्कूल मास्टर की श्रीमती की बात सुनाती है, जिसे इसी तरह पतिदेव भीतर बन्द करके बाहर जाते थे। वह तंग आकर एक दिन अपने पर मिट्टी का तेल डालकर जल मरती है।[३] इस घटना का कथा में मनोवैज्ञानिक उपयोग भी हुआ है—जयंती को इसे सुनकर फिट आ जाता है और वह भी अन्त में नंदकिशोर से तंग आकर आत्महत्या की इसी विधि का आश्रय लेती है। नन्दकिशोर ने अपने बाल्यसंगिनी चंचल-अल्हड़ मनोरमा का उल्लेख किया है, जो विवाहोपराँत राजयक्ष्मा की रोगी बन जाती है।[४] शांति के भाई की प्रेमिका कीर्ति इसलिए आत्महत्या कर लेती है क्योंकि उसके पिता धार्मिक संकीर्णता के कारण उसका अनचाहा-अनमेल विवाह कर देते हैं। बलदेव की एक बहिन गरीबी के कारण, उपचार के अभाव से मर जाती है और दूसरी आत्महत्या कर लेती है—वह भी कपड़ों पर मिट्टी का तेल डालकर। बलदेव से उसकी बहिन की ऐसी आत्महत्या की सूचना पाकर नन्दकिशोर सोचता है—"जयन्ती के जल मरने की घटना को मैं जैसी अस्वाभाविक, असाधारण और आतंकोत्पादक समझे बैठा था, वह वास्तव में वैसी नहीं है। ज़रा-ज़रा सी बात पर जल मरना भारतीय नारी के लिए एक साधारण-सी बात है···।"[५] नन्दकिशोर की भाभी भी उसके भैया से तंग रहती है और भीतर-ही-भीतर रोती रहती है क्योंकि उसकी कोई हस्ती नहीं। उसे अपने पुरुष की ग़लत तथा अरुचिकर वार्ता से भी सहमति प्रकट करने पर बाध्य होना पड़ता है।[६] सामाजिक जीवन के घटना-प्रसंगों से ही नहीं, ऐतिहासिक या पौराणिक उदाहरणों से भी पुरुष की अहंमन्यता तथा नारी की पराधीनता को सिद्ध किया गया है ताकि इस समस्या की भीषण प्राचीनता को हृदयंगम किया जा सके। मिश्र जी की बहू भी सीता का उदाहरण देती है और जयन्ती भी नन्दकिशोर से कहती है—"सीता का आदर्श चरित्र वास्तविकता रहा हो, पर नारी-जाति ने एक वास्तविक बात की शिक्षा उससे अवश्य पाई है। वह यह कि वह चाहे अपना मन और प्राण पूर्णरूप से पुरुष को समर्पित कर दे, तो भी पुरुष के अहंभाव को संतुष्ट करने में वह समर्थ नहीं हो सकती। पुरुष उसके बाद भी 'कुछ और' चाहता है, और अगर इस 'कुछ और' को भी वह किसी असम्भव और अलौकिक उपाय से प्राप्त कर ले, तो वह फिर कुछ और चाहेगा! सीता को अपनी यह भूल बाद में मालूम हुई थी, और जब मालूम हुई, तो उसके नारीत्व का आत्म-सम्मान जाग पड़ा, और तब उसने राम को आत्म-समर्पण करने की अपेक्षा पृथ्वी के विवर में समा जाना अधिक उचित समझा। आप में भी सनातन

१. पृ० ३७३-७४। २. पृ० ३७४। ३. पृ० ३७४-७५।

पुरुष के सभी उच्चकोटि के दोष वर्तमान हैं, और इन दोषों में सबसे बढ़कर वही है जो मैं पहले बतला चुकी हूँ—अहं भाव की ज्वाला बुझाने के लिए प्रकृति के सब तत्वों को (जिसमें स्त्री भी एक है) पूर्णरूप से होम करने की प्रबल आकांक्षा। पर इस अप्राकृतिक आकांक्षा की तृप्ति कभी सम्भव नहीं है, इसलिए आपके मन में अशाँति और असंतोष के भाव सदा बने रहें···"[1] सारांशतः लेखक ने आवृत्ति-पद्धति—मिलते-जुलते प्रसंगों की आवृत्ति—से समस्या का सामान्यीकरण ही नहीं किया, प्रभाव को उत्तरोत्तर घनीभूत भी किया है।

अहं-ग्रस्त व्यक्ति समाज के लिए ही नहीं, स्वयं अपने लिए भी घातक है। अहंभाव से व्यक्ति द्वन्द्व-ग्रस्त रहता हुआ अशांत रहता है। नन्दकिशोर का जीवन इसके सजग प्रमाण के रूप में प्रस्तुत किया गया है। लेखक ने 'संन्यासी' उपन्यास को सुखांत नहीं बनाया। नन्दकिशोर शांति से पुनर्मिलन चाहता है, किन्तु शांति उसे तथा पुत्र को छोड़कर किसी अज्ञात दिशा में चल देती है। उपन्यास के अन्त में नन्दकिशोर को प्रायश्चित की अग्नि में जलते प्रदर्शित किया गया है और वह स्वीकार करता है—"मैं उन दिनों (पुत्र-पत्नी) के अभाव का अनुभव कर रहा हूँ और सम्भवतः जीवन भर करता रहूँगा"।[2] पुरुष के सर्वग्रासी अहं के विध्वंसकारी परिणाम को अचूक प्रभावी बनाने के लिए उपन्यास को दुखांतकी बनाना ही श्रेयस्कर था। इसके पाठकों के मन में अभीष्ट संवेदना जगाने में लेखक सर्वथा सफल रहा है—नन्दकिशोर की चरित्र-कथा को पढ़कर दुर्दशा-ग्रस्त भारतीय नारी के प्रति करुणा उद्बुद्ध होती है और यह अनुभूति भी कि कोई नन्दकिशोर-जैसा अहंवादी न बने।

प्रसंगावृत्ति तथा उपन्यास को दुखांत बनाने के अतिरिक्त लेखक ने वीभत्सतत्व के विनियोग-कौशल से भी प्रभाव-वर्द्धन का यत्न किया है। जयन्ती एवं मास्टर की पत्नी की आत्महत्याओं तथा शांति के भाई की मृत्यु का उल्लेखमात्र नहीं, जुगुप्सा-व्यंजक आतंककारी चित्रण किया गया है। यथा, मास्टर की पत्नी की आत्महत्या का चित्रण इस प्रकार हुआ है—"···छोकरी ने अपने सिर पर और कपड़ों पर मिट्टी का तेल डालकर चूल्हे में बैठकर अपने बदन में आग लगादी···सारा मुँह अच्छी तरह से जली हुई लकड़ी की तरह एकदम काला पड़ गया था। आँखें, होंठ, दाँत सब काले दिखाई देते थे। बीच बीच में बड़े-बड़े चकत्ते के से दाग पड़ गए थे, जिससे उसका कालापन और भी विकट होता था। सिर के बाल जल जाने से खोपड़ी का चमड़ा भी जल गया था और भीतर की गुद्दी फटकर बाहर निकल आई थी; साक्षात् प्रेतिनी—"[3] भारतीय काव्यशास्त्र में ऐसे अप्रिय वीभत्स प्रसंगों के विवरणों को उचित

१. पृ० ३८१। २. पृ० ४६१। ३. पृ० ३७५।

नहीं समझा गया, किन्तु जोशी जी इस दृष्टि से अरस्तू के विरेचन सिद्धांत का अनुगमन करते हैं; वे लिखते हैं—"रचना में प्रचण्ड आतंक और मार्मिक करुणा उत्पन्न करके अपने पात्रों के मनोविकारों के क्षालन (और स्वभावतः उदात्तीकरण) के साथ ही पाठकों के मन पर भी वही प्रभाव डालता है—अर्थात् उनके भी अपने मनोविकारों के क्षालन और उदात्तीकरण में सहायता पहुँचता है"।[1]

लेखक नारी-दुर्दशा के प्रति संवेदना जाग्रत करके ही नहीं रह गया, उसने क्रांतिकारी नारी-भावना के निर्माण से शिक्षा देने का प्रयास भी किया है। जोशी जी ने शांति को कामायनी की श्रद्धा नहीं बनने दिया, जो अहंवादी मनु को क्षमा कर देती है। वह [illegible] 'सामाजिक धूमकेतुओं' को शिक्षा देना चाहता है। जोशी जी के विचार में ऐसे खतरनाक जीवों के प्रति करुणा प्रदर्शित करना या इनके कुकृत्यों और कुप्रवृत्तियों की सफाई देना या यह सिद्ध करना कि अपने घृणित पतन में भी वे महान् हैं, एक अत्यन्त असामाजिक दृष्टिकोण है। अतएव अहंवादी व्यक्तियों पर निर्भय प्रहरण तथा उन्हें चिरदुखी प्रदर्शित करने के लिए जोशीजी ने नारी-पात्रों से विद्रोह कराया है—पुरुष के अहंभाव को न जयंती सहन करती है न शांति; एक अपने स्वभावानुकूल आत्मापीड़नमयी आत्महत्या से उसे चोट पहुँचाती है और दूसरी सदा के लिए उसे त्यागकर निर्ममता से ठुकराती है। लेखक ने परम्परागत आदर्शों के स्थान पर युगीन यथार्थ की गति-प्रगति को समझकर ऐसा किया है। उसका विश्वास है कि "वास्तविक अर्थ में नारी की आत्मा की पूर्ण स्वतन्त्रता का आन्दोलन भारत में जैसा भीषण रूप धारण करेगा, वैसा संसार ने आज तक किसी युग में कहीं न देखा होगा"।[2] इसका कारण यह है कि यहाँ सदियों से पुरुष समाज ने दारुण अत्याचार किए हैं और अब उसकी प्रतिक्रिया भी उतनी ही विद्रोहपूर्ण होगी। लेखक ने शांति में बलदेव के निर्धन परिवार के प्रति त्याग-करुणा आदि के प्रदर्शन से नारी के मूल गुणों की रक्षा करते हुए भी, उसे नूतन नैतिक मूल्यों की और जागरूक करने का आदर्श रखा है। इससे यह भी सिद्ध होता है कि लेखक ने प्रभावोत्पादकता की दृष्टि से ही नहीं, नारी सम्बन्धी उक्त दृष्टिकोण के चरितार्थार्थ भी उसे दुखांत बनाया है। अपने पहले उद्देश्य की अपेक्षा इस उद्देश्य में लेखक अपेक्षाकृत कम सफल रहा है। इसका उत्तरदायित्व शांति के कुछ दुर्बल चरित्र-चित्रण को है। इसकी चर्चा यथास्थान होगी।

प्रारम्भ में इस बात का उल्लेख किया जा चुका है कि उपर्युक्त सामाजिक उद्देश्यों के साथ संन्यासी का मनोवैज्ञानिक उद्देश्य भी संयुक्त है। इस संयुक्त स्वरूप से सामाजिक उद्देश्य को पात्रों की मनोवैज्ञानिक चरित्र-संगति की यथार्थता का सुदृढ़

१. इलाचन्द्र जोशी : "विवेचना", पृ० १२१-२२। २. वही, पृ० १०५।

आधार मिल गया है। लेखक प्रायः नायक के अकस्मात् हो जाने वाले अनेच्छित, विचित्र विपर्यस्त-से बाह्याचरणों को, उनके मूल में छिपी अचेतन आकांक्षाओं की व्याख्या कर, संगति देता रहा है। इस अन्तर्जीवन की व्याख्या से वह यह सिद्ध करने का प्रयत्न करता रहा है कि मानव की मूल वृत्तियों की उपेक्षा कर जो आदर्श खड़े किए जाएँगे, वे क्षण-स्थाई सिद्ध होंगे। उदाहरणतया नन्दकिशोर 'संगरहित निर्लिप्त प्रेम' या 'स्वर्गीय प्रेम' के काल्पनिक आदर्शों को पालता हुआ शांति को लेकर भाग खड़ा होता है। लेखक ने इसकी आड लेकर उन साहित्कारों पर व्यग्य किया है, जो इसी प्रकार के अवास्तविक आदर्शों का जाल बुनकर पाठकों को 'विभ्रांति के चक्कर' में डालते रहते हैं। खोखले उच्चादर्शो से प्रेरित, नन्दकिशोर की दया-भावना जब शांति के साहचर्य से अपने अन्तर्निहित काम में विगलित होने लगती है और अपेक्षाकृत अधिक संयत शांति से उसे सानुकूल प्रतिक्रिया नहीं मिलती, तब उसके प्रेमपूर्ण व्यवहार अज्ञात रूप से कटु व्यवहारों में परिवर्तित होने लगते हैं। उस समय उसने अपने आहत अहं तथा काम-भाव का विश्लेषण 'जन्म-जन्मान्तर के संस्कारों से गठित मानवी प्रकृति' या 'अन्तर्मन' के आधार पर किया है।[1]

यह उल्लेखनीय है कि मानव की मूल वृत्तियों पर बल देकर जोशी जी पाठकों को उनके वशवर्ती या भाग्य-भरोसे रहकर निस्सहाय जीवन-यापन की प्रेरणा नहीं देते। यदि वे ऐसा समझते, तो मानव को अपरिवर्तनीय मानते। वे केवल यही चाहते हैं कि मूल प्रवृत्तियो को समझकर—दबाकर नही—सुदिशोन्मुख किया जाए ताकि उनका रुद्ध-रुग्ण मार्गो में अस्वस्थ या विध्वंसक विस्फोट न हो। वस्तुतः इनका दमन नहीं, उन्नयन सम्भव है; तिरस्कार नहीं, परिष्कार अभीष्ट है। इसलिए जोशी जी ने नन्दकिशोर के निम्न आत्मविश्लेषण में उदात्तीकरण[2] के मनोवैज्ञानिक तत्व पर वल दिया है - "यदि मेरे भीतर की दानवी शक्ति उचित मार्ग पर चलती, तो मैं या तो पुरातत्व अथवा इतिहास के क्षेत्र में क्रांति मचाता, या समाज-सुधारक अथवा देशोद्धारक वनकर एक मान्य नेता के पद का प्रयासी होता। ऐसा होने से - मेरे भीतर के धुएँ की और आग की ज्वालाओं को बाहर निकलने का रास्ता मिल जाने से—मेरे जीवन में स्थिरता आ जाती। पर इस आग और धुएँ के बद्ध रहने से मैं केवल अपनी अन्तरात्मा को जलाने और धुधलके से ढकने में समर्थ हुआ, ज्वालाकण मेरे ही भीतर बिखर कर रह गए। फल यह हुआ कि मेरी दग्ध आत्मा जहाँ भी

१. "संन्यासी", पृ० १३६।

२. Dr. A.A. Brill : "Introduction", 'Basic writings of Sigmund Freud', p. 18-19. "...Sublimation, term coined by Freud, is a process of deflecting libido or sexual motive activity from human objects to new objects to non sexual, socially valuable nature."

अपना हाथ डालती थी, वहीं विध्वंस की सम्भावना मुझे दिखाई देती थी।[१] इसी आधार पर अन्त में नन्दकिशोर के चरित्र का 'संन्यासी' या देश-सेवक के रूप में उदात्तीकरण हो गया है। आत्मग्लानि की वेदना से अभीभूत होकर ही वह आत्मविश्लेषण कर सका है। इस आदर्शीकरण से लेखक ने उसके कुकृत्यों पर परदा डालने का प्रभावोत्पन्न नहीं किया प्रत्युत् मनोवैज्ञानिक संगति के रूप, उदात्तीकृत अवस्था में उसे अपने कुकृत्यों को स्वीकार कर और पाठकों के आगे विश्लेपित रूप में उनको प्रस्तुत करने को सक्रियता दे दी है।

मनोवैज्ञानिक उद्देश्य के रूप में जोशी जी ने बलदेव और शांति की पारस्परिक प्रतिक्रियाओं तथा बलदेव के गतिशील चरित्र के आधार पर इस तथ्य का प्रतिपादन भी किया है कि मनोविश्लेषण, मनोविश्लेषण के लिए नहीं, संश्लेषण के लिए है तथा अन्तर्बाह्य समन्विति में ही व्यक्ति एवं समाज का कल्याण निहित है। आगे इस उद्देश्य की प्रभाव-सीमा का विवेचन अभीष्ट है। पहले-पहल बलदेव कठोर साम्यवादी के रूप में हमारे सामने आता है। उसमें विवेचना की यथार्थता तथा मस्तिष्क की बौद्धिकता की प्रधानता है। शांति गाँधीवादी है और उसमें बौद्धिकता की अपेक्षा भावुक करुणा तथा हार्दिकता का प्राचुर्य है। बलदेव, शांति के सम्पर्क में आता है, तो उसकी कठोरता पिघलने लगती है। नए प्रभावों की प्रतिक्रियास्वरूप अपनी द्वन्द्वमयी स्थिति का विश्लेषण करते हुए वह नन्दकिशोर से स्वीकार करता है---'आपकी श्रीमती जी (शांति) ने आज गाँधी जी के बारे में जो बातें सुनाई वे ऐसी मार्मिक थीं कि आज अपने जीवन में प्रथम बार मैं गाँधी जी को एक दूसरे ही दृष्टिकोण से समझने के लिए उत्सुक हुआ हूँ। मैं जानता हूँ कि उनकी बातों में भावुकता की प्रधानता थी और विवेचना का लेश भी नहीं था। पर आज मैं सोचने लगा हूँ कि संसार में विवेचना ही क्या सब कुछ है? भावुकता क्या कोरी भावुकता है? उसमें क्या कोई सार नहीं? मेरी विवेचना मुझसे अभी तक कानों में कह रही है कि भावुकता में कोई सार नहीं होता ''पर मेरा हृदय कह रहा है कि नहीं, भावुकता ही मनुष्य को ऊँचे आदर्शों की ओर खींच सकती है, जीवन के सच्चे मर्म को समझने में भावुकता ही सहायता पहुँचा सकती है, विवेक तो पग-पग पर मनुष्य के विचारों की सच्ची प्रगति में अपने यथार्थवाद से विघ्न डाले रहने के सिवाय उसके और किसी काम में नहीं आ सकता। मुझमें जो दो विभिन्न व्यक्तित्व वर्तमान हैं...''[२] साम्यवादी अतिवादिता के कारण बलदेव के व्यक्तित्व में असहिष्णुता-उन्मादकता रहती थी और अब वह विभिन्न विरोधी व्यक्तित्वों में द्वन्द्व तथा समन्वय-संतुलन के अभाव में अशांत है। न अतिवाद अच्छा है, न द्वन्द्वमयी स्थिति। इसलिए जोशी जी ने

१. "संन्यासी", पृ० ३५४। २. पृ० १९१।

बलदेव की कथा को वहाँ समाप्त किया है, जहाँ उसमें [illegible] समाप्त हो जाती है और उसमें सामंजस्य-संतुलन आ जाता है। यह आवश्यक था क्योंकि अन्तर्मन का विश्लेषण, विश्लेषण के लिए ही नहीं, मनोवृत्तियों के संश्लेषण या संयोजन के लिए है। जोशी जी ने उन मनोवैज्ञानिक साहित्यकारों से विरोध प्रकट किया है, जो मात्र विश्लेषण के चमत्कार दिखाकर ही रह जाते है। एक विशिष्ट वार्तालाप की योजना से जोशी ने अपना मत स्पष्ट किया है; यथा, जब नन्दकिशोर शांति से कहता है कि वह मनोवैज्ञानिक दृष्टि के अभाव में बलदेव के उन्माद के लक्षणों को नहीं देख सकी, तब शांति उत्तर देती है :—"मनोवैज्ञानिक दृष्टि ! मैं जानती हूँ तुम मनोविज्ञान के बड़े पंडित हो, तुम्हारा विभिन्न विषयों का अध्ययन भी खूब बढ़ा-चढ़ा है। इस अध्ययन के बल पर तुम जिसको चाहो पागल और मूर्ख सिद्ध कर सकते हो, यह तुम्हारे समान मनोवैज्ञानिकों के बाएँ हाथ का खेल है। पर एक बात मैं कहे देती हूँ—तुम जैसे पंडितों ने मनुष्य की मनोवृत्तियों को खण्ड-खण्ड करके विभाजित करना ही सीखा है, इस बात पर ध्यान देना नहीं सीखा कि विभाजन से नहीं, बल्कि विभिन्न विरोधी प्रवृत्तियों के संयोजन से ही मानव स्वभाव की महत्ता प्रतिष्ठित हुई है। अगर मनोवृत्तियों के विश्लेषण से ही मनुष्य का यथार्थ स्वभाव जाना जा सकता है, तो इस कसौटी पर तुम भी पागल सिद्ध किए जा सकते हो..."[1]

अब हम बलदेव के मन की उस संश्लिष्ट स्थिति को लेंगे, जहाँ संतुलन पाकर बलदेव उपन्यास के रंगमंच से हट जाता है। अन्तिम बार जब नन्दकिशोर बलदेव से अकस्मात मिलता है, तब बलदेव शांति को भूरि-भूरि प्रशस्ति देता हुआ अपनी उस द्वन्द्वमयी अन्तर्कथा की परिणति का परिचय इस प्रकार देता है—"(शांति से प्रभावित होकर) मेरे भावुकता रहित हृदय में प्रथम बार ऐसी टीस उठी जिसने विश्व नारी के प्रति एक अवर्णनीय श्रद्धा की हिलोर से मुझे प्लावित कर दिया। मैं कृतार्थ हो गया, मेरे जीवन के सब अभावों की पूर्ति हो गई। मेरा अविश्वासी नास्तिक मन नारी की अनन्त व्यापी महिमा का जयगान गा उठा। मेरा कठोर पौरुष पिघल कर विश्वजयी महिमा के प्रति अविरल धारा से पुलक-अंजलि प्रदान करने लगा। यही कारण है, मित्र, कि आज पूर्णरूप से 'प्रगतिशील' बनने में मुझे हिमालय पर्वत की तरह अटल और अविचल बाधा का सामना करना पड़ रहा है। मैं क्या था, क्या होना चाहता था और क्या हो गया। कठोर मार्क्सवादी होने पर भी मैं आज प्रगति-पंथियों का साथ ठीक तरह से नहीं दे पाता हूँ। भावुकता का एक उद्वेल प्रवाह मेरे शुष्क हृदय में एक बाढ़ सी लाकर मुझे बहाए लिए जाता है। मैं इतना दुर्बल हो गया हूँ कि उस बाढ़ के वेग का प्रतिरोध नहीं कर पाता। इस दुर्बलता में कितनी

१. पृ० २२८।

अधिक सबलता, कैसी स्वास्थ्यप्रद अनुभूति छिपी है, यह मैं संसार को कैसे समझाऊँ"।[1] बलदेव के इस कथन में जोशी जी का अपना दृष्टिकोण व्यक्त हुआ है। उन्होंने 'मार्क्सवाद' या 'प्रगतिशीलता' का निरस्कार नहीं, परिष्कार किया है और उसके एकांगीपन को पूर्ण। उपर्युक्त कथन में, शांति की जिस भावुकता से प्रभावित होकर बलदेव ने उसमें सबलता का संधान किया है, वह शांति की बलदेव के घोर निर्धन परिवार के प्रति प्रदर्शित अनुपम सक्रिय करुणा की आदर्शवादी प्रवृत्ति से प्रमाणित हुई है, फिर भी, उसका अपेक्षित स्पष्टीकरण नहीं हो सका। बलदेव की समन्वित स्थिति का तात्विक बिश्लेषण इस प्रकार किया जा सकता है—

बलदेव की समन्वित स्थिति = बलदेव की पूर्वस्थिति + शांति के प्रभाव-तत्व

बहिर्मुखता	+ अन्तर्मुखता
कठोरता	+ कोमलता
विवेचना	+ भावुकता
यथार्थ	+ आदर्श
मस्तिष्क	+ हृदय
मार्क्सवाद	+ गांधीवाद
'रैडिकलिज्म'	+ 'कल्चर'

बलदेव एक ऐसे मतवाद का प्रचार करना चाहता है, जो आदर्श होकर भी वास्तविकता से सम्बन्धित हो, 'रैडिकलिज्म' का पोषक होने पर भी सदियों के अनुभव से विकास-प्राप्त 'कल्चर' को युगीन आवश्यकताओं के अनुसार संशोधित करके, अपना कर चले।[2] नन्दकिशोर समझता है कि ये परस्पर विरोधी मत संयुक्त रूप में नहीं चल सकते, इसलिए वह कहता है—

'दुइ न होहिं इक संग भुआलू,
　　हंसब ठठाइ फुलाउब गालू।'

विचारों की संगति तथा बलदेव की चरित्र-परिणति के स्पष्टीकरण के लिए इस शंका को उठाना ज़रूरी था। बलदेव इसका समाधान करता है। वह पूंजीवादी सभ्यता द्वारा पुष्ट सदियों से प्राप्त आचार-विचार को जड़ से उखाड़ फेंकने से सहमत नहीं और कहता है—"मैं 'रैडिकलिजम' का अर्थ समझता हूँ 'ट्रेन्सवेल्यूएशन आफ आल वैल्यूज'—सदियों के अनुशीलन से 'कल्चर' के जो तत्व संसार में प्रतिष्ठित हो पाए हैं उन सबको परिवर्तित और परिसंस्कृत रूप में जन-साधारण के आगे रखना ताकि वर्तमान युग की साधारण जनता की मनोवृत्तियों का जो नवीन विकास शीघ्र गति से भविष्य की ओर अग्रसर होता जाता है उसके साथ उन तत्वों का एक ऐसा

१. पृ० ४२८।　　　　२. पृ० ४२०।

रासायनिक सम्मिश्रण हो जाय, जो युगों के प्राचीन संस्कृति-तत्वों के बीजों की रक्षा पूरी तरह से करता हुआ नवीनता के साथ उनका चिर-सम्बन्ध स्थापित कर दे।[1] इसके अतिरिक्त जोशी जी का विचार है कि "मूलगत वैषम्य के बावजूद दो धाराएँ ऐसी हो सकती हैं, जो एक दूसरे की विरोधी न होकर परस्पर पूरक सिद्ध हो सकती हैं। मनोविश्लेषण अन्तर्जगत के क्षेत्र में उसी हद तक प्रगतिशील है जिस हद तक मार्क्सवाद वहिर्जगत में।"[2] सारतः जोशी जी अन्तर्बाह्य विकास के समर्थक समन्यवादी हैं। इसलिए जहाँ उन्होंने व्यक्ति-विशेष (बलदेव) में आन्तरिक समन्वय की बात की, वहाँ वे संयुक्त रूप में— बलदेव को साम्यवादी तथा शांति को गाँधीवादी के रूप में सप्रयोजन चयन कर—भारत में संघर्षरत दो प्रमुख विचारधाराओं के समन्वय की बात भी कर सके और बाह्य जगत् की प्रगतिशीलता के सम्बन्ध में अपना मत भी व्यक्त कर सके। व्यष्टिगत विषमताओं से समष्टिगत असंतुलन तक पहुँचना, अन्तर्जगत् के सत्य के आधार पर बहिर्जगत् के आदर्शों का संधान करना तथा व्यक्ति और उसकी मूल प्रवृत्तियों को न भूलते हुए बहुविध समस्याओं के विवेचन में जोशीजी प्रयत्नशील रहे हैं। वस्तुतः चित्रण के रूप में अन्तर्जगत् को अधिक महत्व देते हुए भी—क्योंकि इसके बिना समस्याओं के मूल तक नहीं पहुँचा जा सकता—जोशीजी ने बाह्य परिस्थितियों या बहिर्जगत् की उपेक्षा कहीं नहीं की। कुछ उदाहरणों से हम अपनी बात स्पष्ट करेंगे। बलदेव का निम्न कथन भली-भाँति प्रमाणित करता है कि किस प्रकार जोशी जी व्यक्ति और विश्व की विषमताओं को पारस्परिक सापेक्षता में देखते हैं—'कैसे विचित्र युग में हम लोगों ने जन्म लिया है भाई साहब !···दलितों की दीनता और निर्धनों की पराधीनता के विरुद्ध जैसी ज़बर्दस्त आवाज़ इस युग में उठाई जा रही है, वैसी शायद ही पहले किसी युग में उठाई गई हो। साथ ही धन के वैभव के प्रति मस्तक नत करने की दास प्रवृत्ति जिस हद तक इस युग के बने हुए नेताओं के भीतर पाई जाती है वह अतुलनीय है···इस युग में एक ओर साम्यवाद का आदर्श चरम सीमा तक पहुँचता जा रहा है, और दूसरी ओर उसके पास ही फासिज्म उग्रतम रूप धारण करके अपने कराल जबड़ों को दिखाता है। एक ओर संसार में सर्वत्र शांति की पुकार मची हुई सुनाई देती है, दूसरी ओर युद्ध की पैशाचिक प्रवृत्ति···सभ्यता और संस्कृति का जैसा दर्प इस युग के विश्व नेताओं की बातों से प्रकट होता है वह किसी से छिपा नहीं, पर साथ ही नग्न बर्बरता को इस युग के लोगों ने जिस हद तक अपनाया है, वह भी अभूतपूर्व है। इस प्रकार जहाँ सारे वातावरण में परस्पर विरोधी प्रवृत्तियों का घोर संघर्ष जारी है, वहाँ व्यक्तियों के निजी विचारद्वन्द्व के प्रभाव से कैसे बचे रह सकते हैं।"[3] नन्दकिशोर भी

१. "संन्यासी", पृ० ४२०-२१। २. "साहित्य-चिन्तन", पृ० ५८।
३. "संन्यासी", पृ० १९२-९३।

अपने चरित्र-परिचालन के उत्तरदायी कारणों में 'कुछ भीतरी' और 'कुछ बाहरी' दोनों कारणों को स्वीकार करता है।[1] बलदेव और नन्दकिशोर दोनों के चरित्र-चित्रण में आर्थिक परिस्थितियों के योग का चित्रण है। शान्ति को घर से निष्कासित करने वाले अपने भैया के साथ शिमला जाने को नन्दकिशोर शायद तैयार न होता यदि आर्थिक कारण उपस्थित न होता। उस समय नन्दकिशोर के निम्न चिंतन में जोशी जी ने अर्थ को--कम-से-कम सिद्धांत रूप में --कितना महत्व दिया है, यह भली भांति समझा जा सकता है; देखिए --"मानवता के सब सिद्धान्त और समस्त आदर्श शुष्क धूलिकणों की तरह उड़ जाते हैं जब सब प्रश्नों का मूल प्रश्न—आर्थिक प्रश्न—वज्रस्तम्भ की तरह बीच में आकर खड़ा हो जाता है।" लेखक ने बलदेव के घर के आधार पर भारत की निदारुण निर्धनता का सजीव चित्रण किया है। बलदेव की एक रोगी बहिन उपचार न कर सकने के कारण मर जाती है और दूसरी आत्महत्या कर लेती है। शांति का भाई और कीर्ति समाज की संकीर्ण धार्मिकता की बलि हो जाते हैं। रमानाथ का प्रसंग आधुनिक शिक्षा-पद्धति से निकलने वाले तथाकथित 'कल्चर्ड' विद्यार्थियों तथा तथाकथित सभ्यता पर व्यंग्य के लिए लाया गया है। कैलाश के चरित्र के माध्यम से आजकल की निकम्मबाज़ी के कारनामों की झलक दी गई है। तात्पर्य यह कि लेखक ने अन्तर्जगत् के चित्रण पर बल देते हुए भी बहिर्जगत् का यत्किंचित् चित्रण भी किया है। मात्र अन्तर्जगत् के सत्यों पर बल देने की हठधर्मी के अभाव से तर्क-संगति बढ़ी है और अन्तर्जीवन के साथ बहिर्जीवन के चित्रण से क्षेत्र-विस्तृति तथा वास्तविकता की वृद्धि हुई है। इनसे उपन्यास के समष्टि-प्रभाव में निश्चित रूप से यत्किंचित् योग मिला है, किन्तु अधिक नहीं; क्योंकि उपर्युक्त चर्चित बलदेव की समन्विति स्थिति को बाह्याकार स्वरूप नहीं मिल सका तथा बाह्य जगत् की कटु वास्तविकताओं का भी अपर्याप्त चित्रण हुआ है। इसका मुख्य महत्व जोशी जी के मतामत की जानकारी देने में है, गौणतः शैल्पिक प्रभाव के प्रेषण में।

संन्यासी की कथा अपने मूल रूप में छोटी है, किन्तु लेखक की स्थान-स्थान पर नायक की मानसगति की बड़ी-बड़ी व्याख्याएँ और साथ ही मनोवैज्ञानिक उपन्यासकारों के विपरीत लघु-लघु वर्णन-विवरणों[2] में उलझने की रुचि--जो पात्रों की अन्तर्बाह्य गति-विधि, स्थानों तथा प्रकृति तीनों से सम्बन्धित है—इस उपन्यास को बृहद् बना देती है। इस दृष्टि से जोशी जी की कला जैनेन्द्र जी की तरह सांकेतिक नहीं, अपने पूर्ववर्ती उपन्यासकारों की प्रायः स्थूल कला है। वस्तुतः वे पाठकों पर कम छोड़ना चाहते हैं। आख्याता नंदकिशोर स्थान-स्थान पर अपने मनोजगत् में स्वच्छन्द भटकता

---

१. पृ० ३५३। २. पृ० ३३, ३४, १६६, २८६, २६०।

या अपने आचरण-वैचित्र्य के व्याख्या-विश्लेषण में उलझता रहता है। इससे कथा-गति को क्षति पहुँची है। जहाँ व्याख्या-विश्लेषण के स्थल एकसाथ अधिक आए हैं अथवा विशेष लम्बे हो गए हैं, वहाँ कथा में कुछ गतिरोधक शुष्कता आ गई है। फिर भी, इन व्याख्याओं से कथा की संगति-स्पष्टता में वृद्धि हुई है। दूसरे, इन दोषों का परिहार कुछ इससे भी हो जाता है कि लेखक ने कहीं प्रकृति और कहीं कथानायक की मनःस्थितियों, अन्तर्द्वन्द्वों आदि के सुन्दर जीवंत चित्रण किए हैं। तीसरे, कथा-वृहदता कथानायक के चरित्र, उसकी शंकालु प्रकृति से भी सम्बद्ध है—उसे प्रतिपात्रों की प्रत्येक बात, प्रत्येक व्यवहार रहस्यमयी कुहेलिका के आवरण से आवृत लगता है।[1] इसलिए यहाँ पात्रों के नगण्य-सी तुच्छ बातों को भी मनोवैज्ञानिक महत्व मिला है; इस सम्बन्ध में एक साधारण प्रसंग के स्पष्टीकरण में लेखक का दृष्टिकोण भी व्यक्त हुआ है—"गुच्छी की तरकारी वाली बात का जो उल्लेख मैंने किया है उसे पढ़कर विज्ञ पाठक अवश्य ही यह मत प्रकट करना चाहेंगे कि ऐसी तुच्छ बात पर इतना महत्व आरोपित करना हास्यास्पद है। पर मैं जीवन के नाना चक्रों के फेर में पड़कर दीर्घ अनुभवों के जीवन की छोटी-से-छोटी, तुच्छ-से-तुच्छ बातों से मनुष्य की यथार्थ प्रकृति का वास्तविक परिचय प्राप्त होता है। बड़ी बातों से मानव-चरित्र की ऊपरी सतह का परिचय मिलता है, और छोटी बातें उसके मर्म में छिपी हुई विशेषताओं को प्रकाश में लाती हैं।"[2] स्पष्ट है कि लेखक की दृष्टि मुख्यतः चरित्र-चित्रण पर है, कथा पर नहीं; दूसरे, यह मानस-कथा है। वस्तुतः इन छोटी-छोटी बातों से ही कथानायक दूसरों के प्रति अपने मन में शंकित होता, फिर धीरे-धीरे अपनी धारणा बनाता, उन्हें परिपुष्ट करता है और समय पर तदनुकूल कथनों-कार्यों में ऐसी प्रतिक्रियाएँ प्रकट करता है जिससे कथा में नए मोड़ एवं नई घटनाओं की सर्जना होती है। इस तरह यहाँ केन्द्र पात्र हैं, उनका अन्तर्जीवन, उनके मानस-उत्स उनके अन्तर्द्वन्द्व, जो आगे घटनाओं को जन्म देते हैं। इस सम्बन्ध में वह दीर्घ प्रसंग द्रष्टव्य है, जिसमें कैलाश नन्द-जयंती के घर आता है और कुछ दिनों बाद नन्द द्वारा घर से निकाला जाता है। गृह-निष्कासन की यह घटना अकस्मात् घटित नहीं हुई, इसके पार्श्व में नन्द की दीर्घ अन्तर्यात्रा है, जिसका सम्बल कैलाश एवं जयंती के दृष्टिनिक्षेप, मुखांकित भाव तथा लघु-लघु वार्तालाप एवं व्यापार हैं। कैलाश के आने के बाद जयंती के व्यवहार की ये दो प्रारम्भिक बातें—"बहू जी पूछती हैं कि आप स्नान कीजिएगा या चाय पीजिएगा?"[3] तथा चाय के साथ मेवों का आना—ही नायक को अन्तर्द्वन्द्वपूर्ण एवं शंकित करने के लिए पर्याप्त सिद्ध होती है। मेवे आने की तुच्छ बात से नायक के मनःचिंतन में जयन्ती के

१. पृ० ३९५। २. पृ० ३६२। ३. पृ० ३९२।

मनोवैज्ञानिक चरित्राध्ययन का स्वरूप ध्यातव्य है "उन मेवों को देखकर एक और बात मेरे मन में जाग पड़ीं, जिस पर मेरा ध्यान बाद में गया। वह यह कि जयन्ती ने जब से मेरी गिरस्ती के सब कामों का भार अपने हाथ में लिया था तब से उसने केवल एक दिन मुझे चाय के साथ मेवे खाने को दिए थे, यद्यपि मुझे मालूम था कि उसने लखनऊ से मेवे मंगाकर रखे थे। फल, मिठाई या इसी तरह की कोई चीज़ मुझे मिलती थी, पर मेवे नहीं। तब आज अचानक खास तौर से मेवे ही क्यों निकाले गए? मुझे सहज ही में यह सन्देह होने लगा कि जयन्ती जब किसी पर विशेष कृपा प्रदर्शित करना चाहती है तब उसे खास तौर से मेवे खिलाती है। आगरे में जब उसने मुझे मेवे खाने को दिए थे, तब निश्चय ही वह मुझ पर प्रसन्न थी। यहाँ आकर जिस एक विशेष दिन उसने मुझे मेवे खिलाए थे, सम्भवतः उस दिन किसी विशेष (अज्ञात) कारण से वह मुझ पर प्रसन्न थी। मैं अपने मस्तिष्क की नसों को कुंचित करके याद करने लगा कि उस विशेष दिन जयन्ती का मेरे प्रति कैसा भाव रहा। अकस्मात् बिजली की झलक से मुझे याद आया कि जिस दिन उसने नाव में गाना गाया था उसी दिन सुबह उसने चाय के साथ मुझे मेवे खाने को दिए थे। तब क्या इन मेवों के साथ उसके जीवन की कोई विशेष स्मृति जड़ित है?..."[1] और पात्रों का यह विचित्र अन्तर्पथ पर्याप्त औत्सुक्यपूर्ण तथा रोचक होता है। नंदकिशोर एक स्थान पर लिखता है – "चित्रपट में जो बाह्यजगत् का चित्र दिखाया जा रहा था वह मेरे अन्तर्पट में प्रतिफलित होने वाले विचित्र छाया-चित्रों से अधिक रोचक मुझे नहीं लग रहा था, मैं बाहरी आँखों से सिनेमा के चित्रपट का चित्र देखता था और भीतरी आँखों से अपने अन्तर्पट के छाया-चित्रों के विचित्र घटना-चक्र के दृश्य देख रहा था।" यही स्थिति मनोवैज्ञानिक उपन्यास के पाठकों की भी रहती है। वह पात्रों के अन्तरंग से घनिष्ठ परिचय प्राप्त कर लेते हैं, वर्णनात्मक उपन्यासों के पाठकों की तरह पात्रों से उनकी दूरी नहीं बनी रहती। दूसरे, क्रिया-व्यापारों से अधिक उनको कर्म-प्रेरणाएँ जानने को मिलती हैं। तीसरे, वे प्रायः नाटक के दर्शक बन जाते हैं, वर्णनात्मक उपन्यासों के लेखकों का मुंह-जोहने वाले श्रोता नहीं ।[2] फिर भी, यह अन्तिम बात 'संन्यासी' में कम मिलती है—यहाँ पाठक सीधे पात्रों के अन्तर्पट का साक्षात्कार प्रायः नहीं कर पाता क्योंकि लेखक अपने मनोमंथन की व्याख्या करता हुआ पाठक और पात्र के मध्य बना रहता है।

चरित्र-प्रधान उपन्यास के अनुकूल संन्यासी आत्मकथात्मक उपन्यास है। आख्याता स्वयं ही प्रमुख पात्र भी है, अतएव प्रामाणिकता से गहन आत्म-विश्लेषण में यह पद्धति सहायक रही है। आत्मकथा की स्वाभाविकता-यथार्थता का पूरा ध्यान

१. पृ० ३६४। २. Leon Edel : "The Psychological Novel", p. 138-39.

रखा गया है। इस सम्बन्ध में पहली उल्लेखनीय विशेषता है आख्याता नंदकिशोर का मनोवैश्लेषिक प्रणाली से परिचित होना। यदि वह इस क्षमता से सम्पन्न न होता, तो उसके द्वारा प्रणीत 'संन्यासी' का मनोविश्लेषणात्मक स्वरूप अस्वाभाविक जान पड़ता; जैसे, एक स्थान पर नंदकिशोर अनुभव करता है कि "मनुष्य की विचित्र मनोवृत्तियों के रहस्य का पार पाना असम्भव है। मनोवैज्ञानिकों के सिद्धान्त के अनुसार होना तो यह चाहिए कि मेरे भीतरी मन में जो चक्र चल रहा है उससे मेरा बाह्य मन अपरिचित रहे। पर मेरा यह हाल था कि मैं अपने मन के दोनों स्तरों के क्रियाचक्रों को स्पष्ट देख रहा था और दोनों की भावनाओं को परस्पर-विरोधी जानते हुए भी दोनों में से किसी की भी सच्चाई का अविश्वास करना नहीं चाहता था।"[१] इसके अतिरिक्त पाठकों में आत्म-कथा की प्रामाणिकता की प्रत्ययोत्पत्ति के लिए अनेक प्रकार के अधोलिखित साभिप्राय कथनों से काम लिया गया है—

१. लेखक की-सी सर्वज्ञता के अभाव में आख्याता का अनभिज्ञता-सूचक कथन—"मिश्राणी जी (मैं सुभीते के लिए इसी नाम से प्रोफ़ेसर साहब की स्त्री का उल्लेख करूँगा, क्योंकि उनका नाम मुझे अब तक मालूम नहीं)"[२]

२. तात्कालिक अनभिज्ञता-सूचक कथन—"अपने कुछ मित्रों तथा एक फेशनेबल महिला (जो, जैसाकि मुझे बाद को मालूम हुआ था, एक बारवनिता थी) के साथ एक सुसज्जित बजरे में जा रहे थे।"[३]

३. पर-विश्लेषण में अपनी जानकारी की सीमा व्यक्त करने के लिए अनिश्चयात्मक कथन—"उसकी आँखें भर-भर आती थीं, शायद उसे अपनी अम्मा का ख्याल हो जाता था..."[४]

४. अनुमानवाची कथनों से अपनी भिज्ञता-सीमा को व्यक्त करना—"बहुत संभव है, प्रोफेसर साहब इन्हीं मियाँ के यहाँ से तमाखू खरीदते होंगे।"[५]

५. स्मरण-शक्ति का सीमा-सूचक कथन—"मुझे इस समय ठीक स्मरण नहीं आता कि यह बात मैंने व्यंग्य के बतौर कही थी या साधारण रूप से।"[६]

६. कालांतर के कारण यथातथ्य शब्दावली के उद्धरण देने में अक्षमता व्यक्त करना—"पत्र मैंने ठीक इसी ढंग से लिखा हो, यह बात नहीं। पर आशय इसी प्रकार का था।"[७]

७. तत्कालीन प्रभाव की अभिव्यंजना में अपनी असमर्थता का प्रकाशन—"यह भाव इस समय लिखते हुए कुछ भी भयंकर नहीं मालूम हो रहा है, और न मैं उसका वर्णन ही कर पा रहा हूँ। पर उस समय वह..."[८]

१. पृ० २६३। २. पृ० ३८। ३. पृ० ५४। ४. पृ० ५४।
५. पृ० ११। ६. पृ० ३६०। ७. पृ० ५८। ८. पृ० ४१५।

८. मुक्तभोगी की अनुभूतिमयी निश्चयात्मकता—"पर मुझे अच्छी तरह याद है कि शान्ति के उस समय के मनोभाव के सम्बन्ध में मेरा यह अनुमान मुझे उस समय भी प्रत्यक्ष सत्य की तरह लगा था। उसके उस विदीर्ण क्रन्दन के मर्मोच्छ्वास की स्मृति अभी तक मेरे मस्तिष्क में एकदम ताजी बनी हुई है।"[१]

९. काल-[illegible]-सूचक कथन…"जिस समय की बात मैं लिख रहा हूँ, तब मिश्र जी के मकान में बिजली नहीं थी।"[२]

१०. अपनी चिन्तन-सीमाओं में पाठकों को साथ लेकर चलना—"उन देवियों से मिलना क्या आवश्यक था? अथवा क्या यह उचित था? इसका विचार मैं आप लोगों के ऊपर ही छोड़ता हूँ।"[३]

११. अपनी निर्मम तटस्थता या वस्तुगत दृष्टिकोण का दावा करना—"मैं अच्छी तरह जानता हूँ कि लोग मेरे स्वभाव के औद्धत्य से परिचित होकर मुझे मन-ही-मन तिरस्कृत करेंगे। पर मैं न तो इस सम्बन्ध में कोई सफाई ही देना चाहता हूँ और न किसी के भ्रम का निराकरण—। मैं केवल अपनी वास्तविक प्रकृति सबके आगे यथारूप रख देना चाहता हूँ। इसके बाद—जाकी रही भावना जैसी…।"[४]

लेखक ने यथार्थता लाने के इतर साधनों का उपयोग भी किया है। वह प्राय: वस्तुओं, गली-मुहल्लों के नाम देता है।

अब हम कथावस्तु के विकास-विन्यास को लेंगे। आत्मकथावक्ता तथा प्रमुख पात्र होने के कारण नंदकिशोर आद्यन्त कथा-केन्द्र रहा है और उसी की जीवन-गति के क्रम में समग्र कथानक का अनुबन्धन हुआ है। 'संन्यासी' का आरम्भ वर्णनात्मक नहीं, नाटकीय है—कथानायक नंदकिशोर के जीवन-यापन के बाद की वर्तमानकालीन स्थिति से इसका आरम्भ हुआ है; जैसे— "साल भर जेल की सजा भुगतकर अभी लौटा हूँ—।" प्रारम्भिक दो प्रघटकों में उसकी वर्तमानकालीन करुण स्थिति के चित्रण से पाठकों की संवेदना-जगाने का प्रयास है। साथ ही उसके इस कथन—"मैंने संन्यासी का वेश धारण किया है, सन्देह नहीं। पर संन्यासी मैं न कभी था न हूँ" से पाठकों को उसकी रामकहानी के प्रति उत्सुक भी बना दिया गया है। तीसरे परिच्छेद की आरम्भिक पंक्ति—"आज एक-एक करके अपने जीवन की सभी पुरानी बाते याद आ रही हैं" से नंदकिशोर अपने जीवन की विगत-गाथा क्रमबद्ध रूप में आरम्भ कर देता है। उपन्यास के अन्त तक यही गाथा चलती है। उपन्यास का अन्त पुनः नंदकिशोर की वर्तमान अथवा प्रारम्भिक स्थिति से होता है और उपन्यास का आदि-अन्त शृंखलित हो जाता है।

---

१. पृ० २५०-५१। २. पृ० २८। ३. पृ० ६४। ४. पृ० ८९।

कथानायक के चरित्र के विकासानुकूल इसमें सभी से सम्बद्ध एक ही कथा, आधिकारिक कथा, है जिसका विकास दो शृंगारिक त्रिकोणों के आधार पर हुआ है। इन दोनों का नायक एक ही है, किन्तु नायिका एवं प्रतिनायक भिन्न-भिन्न हैं। पहले में नंदकिशोर, शान्ति और बलदेव हैं, दूसरे में नंदकिशोर, जयन्ती और कैलाश। यह उल्लेखनीय है कि ये त्रिकोण कथानायक नंदकिशोर के दृष्टिकोण से ही है–वही अहंजन्य सन्देह-वृत्ति के कारण गलतफ़हमी का शिकार है––अन्यथा पहला त्रिकोण तो नितांत भ्रामक है तथा दूसरा भी बहुत-कुछ ऐसा ही है। यों यह दोनों त्रिकोण परस्पर विच्छिन्न हैं––शान्ति का जयन्ती एवं कैलाश से, और जयन्ती का शान्ति एवं बलदेव से, और इसी तरह बलदेव और कैलाश का एक-दूसरे से कोई सम्बन्ध नहीं। परिणाम और स्वरूप की दृष्टि से भी ये एक जैसे हैं—एक में नारी परित्यक्ता होकर जीवन में जलने के लिए छोड़ दी जाती है, दूसरे में भी वह जल मरती है और दोनों में यह परिणाम नायक के अहंमत्व तथा शंकालु प्रकृति के कारण सामने आया है। वस्तुतः जैसा कि उल्लेख किया जा चुका है, यहाँ कथा की आवृत्ति-पद्धति का उपयोग हुआ है, जिससे लेखक अपने उद्देश्य को परिपुष्ट और उभार कर अचूक प्रभावपूर्ण बना सका है। इस प्रभावसिद्धि के अतिरिक्त यह उल्लेखनीय है कि इस आवृत्ति में भी एकरसता की शुष्कता नहीं क्योंकि यह नायक के शील विकास का अंग है। वस्तुतः ये दोनों त्रिकोण एक ही कथानायक के शीलोद्घाटन की दृष्टि से ही परस्पर सम्बद्ध हैं। पहले में नंद का अहं-सर्प किसी की प्यार-वीणा पर मुग्ध है और विषैली फुफकार ही छोड़ता है किन्तु दूसरे में वह सीधे डंक मारता है। उसका शान्ति से सम्बन्ध असामाजिक था, जयन्ती से विधिवत मान्यता प्राप्त। दूसरे, शान्ति के सम्बन्धों की मनोभूमिका पर इस दूसरे त्रिकोण में पाठक नंद के सुधार की अपेक्षा कर सकता था किन्तु लेखक ने प्रदर्शित किया है कि अहं-ग्रस्त व्यक्ति परिस्थिति-निरपेक्ष है और समाज के लिए अभिशाप ही सिद्ध हो सकता है। शांति के सम्बन्धों का उपयोग वह कुछ सीखने की बजाय जयंती पर वार करने के लिए करता है। पहले त्रिकोण में दोनों प्रेम के क्षेत्र में नए थे, किन्तु दूसरे में दोनों प्रेम कर चुके है; और विषमता यही है कि एक नारी तो ईर्ष्या-मुक्त रहकर अपने पति की पूर्व-प्रेमिका के प्रति श्रद्धा दिखा सकती हैं, किन्तु एक पुरुष अपनी पत्नी के पूर्व-प्रेम को किंचित् सहन नहीं कर सकता। इस वैषम्य में नायक का अहं और भी मूर्त हुआ है। इसके अतिरिक्त बलदेव और कैलाश के एकांत भिन्न व्यक्तित्वों से भी इन दोनों त्रिकोणों में विविधता आ गई है––पहले में राजनीति और निर्धनता का वातावरण है और दूसरे में संगीत एवं नौका-विहार का। फिर भी, कथा-रोचकता तथा पाठक की उत्सुकता-सजगता का मुख्य कारण कथानक के क्रम-विन्यास में निहित है। उपन्यासारम्भ में लेखक स्वाभाविक रूप में नायक को 'मायाविनी' जयन्ती के सम्पर्क में ला उसकी रूप की विद्युत-ज्योति से उसे आंदोलित करता है।

तीन ही दिन के साहचर्य से जयन्ती उसकी (और पाठकों की) स्मृति का स्थाई अंग बन जाती है। ऐसी मनोभूमिका में लेखक उसे औपन्यासिक रंगमंच से हटाकर शान्ति को लाता है। इस भूमिका के बिना नंद का शान्ति से प्रेम सम्बन्ध अस्वाभाविक होता है। दूसरे, एक प्रसंग के प्रति कुछ उत्सुक बना लेखक दूसरा आरम्भ कर देता है। शान्ति को निराश्रित अवस्था में छोड़ लेखक नंद को पुनः जयन्ती के सम्पर्क में लाता है और इस तरह शान्ति के प्रसंग में विस्मृत जयन्ती की स्मृति फिर रंग लाती है। जयन्ती और कैलाश के पूर्व-सम्बन्धों की रहस्य-कथा धीरे-धीरे खोली गई हैं। इसका पूरा वृत तो जयन्ती के अन्तिम पत्र में मिलता है। जयन्ती के मरण के अनन्तर पुनः शान्ति और बलदेव की कथा को पूरा किया जाता है। इस तरह पाठकों की उत्सुकता का सातत्य बना रहा है।

इस मुख्य कथानक के अन्तर्गत कैलाश की विचित्र पूर्वकथा को सुनने तथा जीवन-गति[1] के सम्बन्ध में कुछ देखने का अवसर भी मिला है। इसी तरह बलदेव-परिवार के व्यक्तियों के करुणा-मार्मिक जीवन का साक्षात्कार भी हुआ है। प्रसंग-वैविध्य की दृष्टि से इनका उल्लेख आवश्यक था। मुख्य कथानक के अतिरिक्त, नन्दकिशोर की जीवन-गति के सहजक्रम के साथ-साथ, प्रमुख पात्रों के 'पूर्व जीवन के इतिहास'[2] (case histories) के रूप में कुछ अन्य कथा-प्रसंग भी आए हैं; ये हैं—

१. नन्दकिशोर के पूर्ववृत्त के अन्तर्गत उसकी और बालसंगिनी मनोरमा की कथा।

२. नन्दकिशोर के पूर्ववृत्त के अन्तर्गत उसके भैया-भाभी का प्रसंग।

३. शांति के पूर्ववृत्तान्तर्गत उसके भैया और कीर्तिकुमारी की करुण प्रेम-कथा।

४. रमानाथ और विमला के भागने का 'किस्सा'।

५. मास्टर की पत्नी का दुखांत श्रव्य-वृत्त।

वस्तुतः, उपन्यास के मुख्य कथानक से इनका न तो कोई सीधा सम्बन्ध है और न ही कथानक को गति देने के लिए ये लाए गए हैं; अतएव इन्हें प्रासंगिक कथाएँ भी नहीं कहा जा सकता। किन्तु एक तो इनमें से कुछ प्रसंग अपने-आप में मार्मिक हैं और उपन्यास के उद्देश्य—पुरुष की अहं-वृत्ति, नारी-दुर्दशा तथा सामाजिक-विषमता—से सम्बन्धित; दूसरे, मूलतः ये मुख्य पात्रों के प्रारम्भिक एवं वंशज संस्कारों के स्पष्टीकरण, उनकी तात्क्षणिक मनोदशाओं के उद्‌घाटन, तथा उनके अन्तर्द्वन्द्वों को चरम रूप देने के लिए लाए गए हैं। अतएव ये एक चरित्र-प्रधान कथानक के अनिवार्य अंग हैं—इनसे पात्रों की चरित्र-संगति बढ़ी है। इन प्रसंगों

१. ६१-६२वाँ परिच्छेद।   २. पृ० ६४, १५४।

का कथानक में मनोवैज्ञानिक स्वाभाविकता से अनुबंधन हुआ है। उदाहरणतया, नन्दकिशोर के बाल-जीवन और उसके अभिभावकों की बात उपन्यास के आरम्भ में ही तिथिवार क्रम से नहीं लाई गई, प्रत्युत् पहले जयंती के प्रसंग से पाठकों की उत्सुकता को उद्‌बुद्ध कर, अन्यत्र नन्दकिशोर के उन आन्दोलित या विक्षुब्ध मानसिक क्षणों में इनको स्थान दिया गया है, जब "असम्बद्ध संगतिहीन चलचित्रों की तरह नाना खण्ड विचार तथा काल्पनिक दृश्य विद्युत् गति से उसके मानस-पट पर झलक जाते और तत्काल विलीन" हो रहे थे। उन्हीं दृश्यों में उसकी स्मृति में एक-एक करके जागृत होने वाली बचपन की छवियों में मनोरमा की कहानी भी आती है। साथ ही उसकी काम-भावना के विकास की भूमिका तथा उसके प्रकृति-प्रेम के पैतृक संस्कार भी संकेतित हो जाते है।[1] इसी तरह नन्द के पूर्ववृत्त का कुछ भाग तब विन्यस्त हुआ है, जब बड़े भाई के पत्र से उसका आहत-विक्षुब्ध मन रात को सोते-सोते अपने भाई-भाभी की कल्पनाओं में विनिमग्न हो जाता है।[2] शांति के औपन्यासिक रंगमंच पर अवतीर्ण होने के बहुत देर बाद, एक अनुकूल प्रसंग से स्फूर्त होकर, उसने अपने संस्मरणों या 'पूर्वजीवन की मर्म गाथा' के अन्तर्गत अपने भैया एवं कीर्तिकुमारी की लोमहर्षक दुखांतकी सुनाई है। शांति के इस पूर्वजीवनेतिहास से उसके संवेदनशील एवं सहन-शील व्यक्तित्व के संस्कारों का संयुक्त साक्षात्कार हो जाता है।[3] इस तरह उपर्युक्त तीनों प्रसंगों का सुविन्यास पात्रों के स्वयं-स्फूर्त क्षणों में स्वाभाविकता से हो सका है। रमाशंकर तथा विमला के किस्से को सुनकर नन्दकिशोर अनुभव करता है कि मानों किसी ने उसके मर्म के घाव को निर्दयता के साथ उंगली से कुरेद दिया हो। विवाहिता विमला का रमाशंकर-जैसे गुण्डे के साथ भाग जाने के आलोक में वह शांति-बलदेव के सम्बन्धों पर और भी शंकित हो उठता है।[4] इसके अतिरिक्त इस कांड के प्रति उसकी उत्तेजित तथा शांति की संयत प्रतिक्रिया में दोनों की ग्रंथियाँ सामने आ जाती हैं।[5] इसी प्रकार त्रिपाठी की बहू से मास्टर की पत्नी के जल-मरने की घटना को सुनकर जयंती को जो फिट आता है,[6] वह उसके भीतर की यन्त्रणामयी स्थिति का उद्‌घाटन कर देता है। यह घटना उसके अपने जल मरने की घटना का मानों पूर्वाभास बनकर आती है।

सारांश में इन प्रसंगों का संन्यासी के कथानक में कुशल एवं उपयोगी विन्यास हुआ है। इनसे पात्रों के चरित्राध्ययन, उद्देश्य की [illegible] एवं कथा-रोचकता तीनों में लाभ हुआ है।

संन्यासी की कथावस्तु में बलदेव और शांति के चरित्र को लेकर कुछ

---

१. पृ० ५१-५६ २. पृ० ८४-८६। ३. पृ० १४१-५४।
४. पृ० २४६। ५. पृ० २४०-४२। ६. पृ० ३७४-७६।

अस्वाभाविकता भी आ गई है। गाँधी जी की भक्ति से भरपूर शांति के एक ही भावुक भाषण से गाँधी जी से घृणा करने वाले 'चरमपंथी' तार्किक नवयुवक बलदेव को जैसे आन्दोलित होते हुए दिखाया गया है, उसमें लेखक ने जल्दबाज़ी से काम लिया है।[1] आगे भी, शांति की गाँधीवादिता तथा भावुकता का अपेक्षित स्पष्टीकरण नहीं हो सका। दूसरे, बलदेव के उग्र तर्क अपेक्षाकृत अधिक प्रभावपूर्ण हो गए हैं। अतएव बलदेव का शांति से प्रभावित होना जँचता नहीं। इसीलिए शांति से प्रभावित बलदेव के आधार पर जोशी जी ने जिस समन्वित विचारधारा का प्रतिपादन किया है वह भी अभीष्ट प्रभावपूर्ण नहीं हो सकी।

शांति को जितने दूसरे पात्रों द्वारा प्रशंसित किया गया है, उतना उसके कृतित्व से व्यंजित नहीं हो सका। प्रारम्भ से ही नन्दकिशोर को आकर्षित करने में शांति एक चंचल लड़की के रूप में सामने आती है। छूआछूत के सम्बन्ध में जैसे वह नन्दकिशोर पर व्यंग्य करती है, आर्यसमाज की विचारधारा पर जैसा दृढ़ मत व्यक्त करती है और नन्दकिशोर के मना करने पर भी जैसे समाज की उपेक्षा कर दरवाज़ा बन्द कर देती है, इनसे उसकी सबलता का आभास मिलता है। किन्तु उसकी दुर्बलता इस सबलता को हास्यास्पद बना देती है। वह अपनी साथिन कमला कुमारी का सामना कर सकने का केवल शाब्दिक दम्भ भरती है अन्यथा वह नौकरी छोड़कर अपनी अवस्था को दयनीय न बना लेती और अपनी विह्वल कातरता से नन्दकिशोर को भगा ले चलने पर बाध्य भी न करती। वह यत्र-तत्र दृढ़ता का परिचय देती है, किन्तु केवल कथनों से, आचरण-व्यवहार से नहीं, जो उसकी दुर्बलता को सामने ला देते हैं। एक उदाहरण लीजिए। उसको असहायावस्था में नन्दकिशोर कहता है कि वह रात-दिन इसी फिक्र में है कि शांति की समस्या किस प्रकार हल हो। तब शांति झल्ला उठती है, कहती है—"मेरी समस्या हल करने की कोई ज़रूरत नहीं! समस्या! मुझे कोई अनाथाश्रम की स्त्री समझ लिया है, जो दयावश मेरे अन्न-वस्त्र के उपाय का प्रश्न आपके आगे उपस्थित हुआ है? यह दया आपको ही मुबारक रहे! मेरी समस्या थोड़े ही दिनों में अपने-आप हल हो जाएगी, फिर सब निश्चिन्त होकर रहें।" यह कहकर वह मुंह ढाँप कर सिसक-सिसक कर रोने लगी।[2]—इतने तीखे कथन के पश्चात् सिसक-सिसककर रोने का मतलब? नन्दकिशोर ने नहीं, शांति ने नन्दकिशोर को भगाने पर मजबूर किया है। मेरा यह तात्पर्य नहीं कि नन्दकिशोर का हाथ नहीं, पर शांति का कहीं अधिक है। आगे नन्दकिशोर जब उससे यह पूछता है कि "तुम्हीं बताओ, कहाँ जाना चाहिए?" तब शांति कहती है—"मेरे लिए तो अब काल के घर भी ठौर नहीं है। मैं कहाँ जाऊँ! फिर भी भरतपुर में मेरा एक

१. पृ० १८८-९२। २. पृ० ९६।

भाई है, उसके पास जाने का विचार कर रही हूँ" ।[1]— इस उत्तर में भीतरी विरोध स्पष्ट है । आगे जाकर स्पष्ट होता है कि शांति को अपने भाई का पता भी मालूम नहीं । इलाहाबाद के जीवन से भी शांति के सबल पक्ष का उद्घाटन नहीं हो सका । नन्दकिशोर शांति से कोइ व्यावहारिक प्रेरणा नहीं पा सका । इतने दिन साथ रहते हुए भी शांति ने एक सुगृहिणी की तरह उसे किसी नौकरी ढूंढ़ने की प्रेरणा नहीं दी । और न ही उससे यह पूछा कि वह कितने रुपयों की व्यवस्था करके बनारस से चला है । अर्थ के निष्ठुर प्रश्न से नितांत अनभिज्ञ रहकर जब वह अपने प्रेमी की भेंट दी हुई साड़ियाँ तथा सोने का हार तक बलदेव की निर्धन बहन को दे डालती है, तब उसकी अपार करुणा के प्रति जहाँ श्रद्धा होती है वहाँ गृहिणी के कर्तव्यों से विरत एक अव्यावहारिक स्त्री के प्रति झुंझलाहट भी । अन्त में वह जिस मार्ग का अवलंबन करती है, वह एक पुरुष की नीचता का सामना करने में समर्थ एक विद्रोहिणी नारी का प्रभाव नहीं डालता, पलायवादी नारी का प्रभाव डालता है । अपने बच्चे को त्यागने में उसकी निर्मम कठोरता अनावश्यक भी है तथा उसके प्रारम्भिक कोमल-करुण संस्कारों के विपरीत भी ।

एक मनोवैज्ञानिक उपन्यास के पात्रों की सीमित संख्या की विशेषता 'संन्यासी' में भी है, क्योंकि यहाँ विस्तार की अपेक्षा गहराई—पात्रों के अन्तर के उद्घाटन—पर आग्रह रहा है । 'संन्यासी' एक पात्र-प्रधान या नायक-प्रधान उपन्यास है, अतएव यहाँ प्रमुखतम पात्र नंदकिशोर ही है । शांति एवं जयंती भी प्रमुख पात्र हैं । इसके बाद बलदेव और कैलाश का स्थान है । इन पाँच पात्रों के अतिरिक्त चौदह-पंद्रह पात्र और भी हैं किन्तु उनका प्राय: काम-चलाऊ महत्व ही है—ये पूरक पात्र हैं । वस्तुत: देश-काल के तत्व या बाह्य जगत् की गतिविधि को जैनेन्द्र जी से पर्याप्त अधिक महत्व देने के कारण यहाँ उनके ढाई-तीन पात्रों वाली बात नहीं । फिर भी एक मनोवैज्ञानिक उपन्यास का संख्या-संकोचन तो है ही । इन पूरक पात्रों में प्रमुख पात्रों के पारिवारिक सदस्य, नंदकिशोर के मित्र, शान्ति की सहयोगिनी, नंद, शांति तथा नंद, जयन्ती के सीमितकालिक 'घर' के पड़ोसी, तथा नंद की जीवन-गति के मार्ग में पड़ने वाले अन्य व्यक्ति—नौका-रिक्शा-टांगा-चालक, होटल-मैनेजर आदि —हैं । इन गौणतर पात्रों के चित्रण का कुछ महत्व प्रमुख पात्रों के चरित्र के वैशिष्ट्य को सामने लाने में भी है; जैसे, नंदकिशोर का उसके मित्रों—उमापति और विश्वनाथ —से पार्थक्य सहज ही लक्षित किया जा सकता है । बलदेव की बहन महेश्वरी जहाँ अपने आप में एक विशिष्ट चरित्र है, वहाँ शान्ति के असीम

---

१. पृ० ९७ ।

करुणोद्घाटन का साधन भी। इन पात्रों में से कुछ पात्र प्रसंगावृत्ति-पद्धति के अन्तर्गत उद्देश्य के सामान्यीकरण तथा प्रभाव-घनत्व में भी सहायक रहे हैं।

जोशी जी ने अपने मनोवैज्ञानिक उद्देश्य के अनुकूल जटिल-प्रकृति वाले विशिष्ट-विचित्र व्यक्ति-पात्रों को लिया है। नंदकिशोर स्वयं को 'असाधारण' 'superfluous'[१] आदि कहता है और जयंती को 'असाधारण स्त्री'।[२] शांति भी कोमलता-कठोरता के ध्रुवांतों को छूती हुई 'विचित्र' बन गई है। वह अपने स्वभाव-वैचित्र्य को स्वयं स्वीकार करती है। बलदेव को 'बुद्धिवादिता तथा भावुकता, दैन्य और अभिमान' के चरम लक्षण विचित्र[४] बना देते हैं। कैलाश को 'रहस्यवादी जीव' और उसके जीवन-चक्र को रहस्यमय कहा गया है।[५] ये विचित्र पात्र अपने असम्भावित किन्तु मनोविज्ञान-सम्मत विचित्र आचरणों से रोचकता का आधार भी हैं। इनमें वे वर्गीय या सामान्य विशेषताएँ भी हैं, जिनके आधार पर सामाजिक समस्याओं का स्वरूप प्रस्तुत हो सका है और जो पाठकों के तादात्मीयकरण के लिए अनिवार्य कलागत मांग हैं। उदाहरणतया, नंदकिशोर में (जयंती के अनुसार) 'सनातन पुरुष के सभी उच्च कोटि के दोष' वर्तमान हैं जिनमें सर्वप्रबल है अहंभाव।[६] इसी तरह कैलाश बहुत कुछ आजकल के शरीफ तिकड़मबाजों का प्रतिनिधि है।

ये सभी पात्र गतिशील हैं। कैलाश का पूर्ववृत देते हुए लिखा गया है—"मनुष्य के स्वभाव में कभी-कभी ऐसा आकस्मिक परिवर्तन आ जाता है कि देखकर आश्चर्य होता है।"[७] फिर भी इनकी विकासशीलता समझाई जा सकती है। सूत्ररूप में इनके चारित्र्य विकास के निम्न प्रेरक-तत्वों का उल्लेख किया जा सकता है—(१) अहं (२) काम (३) वंशज संस्कार (४) 'संसर्ग'[८] (५) अर्थ।[९] मनोवैज्ञानिक उपन्यासकार को अपने पात्रों के वैचित्र्य की संगति में कुछ व्याख्याओं का आश्रय लेना ही पड़ता है किन्तु जोशी जी इस दृष्टि से आवश्यकता से अधिक सजग रहे हैं। नन्दकिशोर ही नहीं शांति[१०] और जयन्ती को भी मनोवैज्ञानिक दृष्टि तथा विश्लेषण की क्षमता दे दी गई है। इस दृष्टि से मानों ये सभी पात्र लेखक के प्रतिनिधि हो उठते हैं और हमसे कुछ दूर भी। ये सभी मनोवैज्ञानिक सिद्धांतों में बात करते हैं, जो अस्वाभाविक है। पात्रों के चरित्राध्ययन की क्षमता तथा मनोवैज्ञानिक दृष्टि का उपयोग खूब हुआ है, अतएव उपर्युक्त प्रेरक तत्वों की व्यंजना ही नहीं हुई, उनका बार-बार कथन भी हुआ हैं। उदाहरणतया काम-तत्व की स्वीकृति शांति के इस कथन में मुखरित है—"भैया के सदाचार पर मेरा पूर्ण विश्वास है···

१. पृ० ३५५। २. पृ० ३५१ ३. पृ० १६०।
४. पृ० १६३। ५. पृ० २६८। ६. पृ० ३८१। ७. पृ० २६७।
८. पृ० २००-२०१। ९. पृ० १५३, १७२-७३। १०. पृ० २२८।

पर दो हृदयों के प्रकृतिगत आकर्षण का निवारण करने की शक्ति इस विश्व में कहीं भी है, इस बात पर मैं कदापि विश्वास नहीं कर सकती।"[1] जयन्ती में कैलाश से विवाह न कर पाने का दमित काम उसके हिस्टीरिया के फिट्स में सामने आता रहता है। बलदेव का चरित्र-विकास शांति के सम्पर्क से तथा इस मनोवैज्ञानिक तथ्य पर आधारित है कि "उत्कट घृणा उत्कट प्रेम का ही प्रतिरूप है।" नन्दकिशोर रामेश्वरी में उन्माद के गुप्त लक्षण देखता है, उसके भाई बलदेव में भी, अतएव उन्हें 'वंशगत' बताता है।[2] पात्रों के प्रारम्भिक संस्कारों का परिचय देने और उनसे उनके भावी आचरण के अनुमान के लिए लेखक ने मनोविश्लेषकों की जिस पूर्व-वृत्तात्मक प्रणाली (case history method) का उपयोग किया है, उसकी चर्चा पहले की जा चुकी है। यह उल्लेखनीय है कि लेखक ने उनकी प्रामाणिकता-प्रतीति के लिए पात्रों को विशेष मनोदशा में लाना आवश्यक समझा है। शांति जब अपने जीवन का पूर्वेतिहास सुनाती है, तो उसके 'हृदय का बाँध टूट' पड़ता है और वह अपने में खो जाती है, मानों एक दूसरी दुनिया में पहुँच जाती है।[3] नन्दकिशोर भी जैसे किसी मनोविश्लेषक चिकित्सक की तरह उसके मन के वर्षों का बोझा हल्का करने के लिए उससे प्रश्न करता रहता है।[4]

अन्तरंग चित्रण की दृष्टि से नन्दकिशोर के मनोभावों के निरुद्देश्य बहने के रूप में उसके मानस-प्रवाह (शास्त्रीय अर्थ में चेतना-प्रवाह नहीं) तथा तरंगायित परस्पर-विरोधी भावनाओं (अन्तर्द्वन्द्वों) का परिचय तो स्थान-स्थान पर दिया गया है, परन्तु सर्वत्र लेखक की अपनी व्याख्या के रूप में।[5] अतएव अन्तर्विवाद का स्वरूप प्रस्तुत नहीं हो पाता।

पात्रों के अचेतन के उद्घाटन के लिए लेखक ने एक स्थान पर मनोविश्लेषकों की शब्द सह-स्मृति परीक्षा (world association test) का भी रूपांतरित उपयोग किया है। नन्दकिशोर-जयन्ती के घर आने पर कैलाश वही राग गाता है, जिसे अपने विशेष मानसिक क्षणों—"अस्वाभाविक उल्लास"—में जयन्ती ने नन्दकिशोर को सुनाया था। इस पर जयन्ती की फिट पड़ने की-सी दशा हो जाती है और एक मनोविश्लेषक परीक्षक के समान नन्दकिशोर पढ़ लेता है कि इस गाने के साथ जयन्ती के जीवन की कोई महत्वपूर्ण घटना सम्बन्धित है।[6] इस बात का कथागत उपयोग भी हुआ है। नन्दकिशोर का शंकित चित्त इस रहस्यमयी घटना को जानने के लिए व्याकुल बना रहता है और अन्यत्र जयन्ती एवं कैलाश की आपसी बातचीत पर उसकी प्रतिक्रिया उग्र रूप में व्यक्त होती है।

---

१. पृ० १६७। २. पृ० २२७। ३. पृ० १४२। ४. पृ० १४४।
५. पृ० २४०-४२, छठवाँ परि०। ६. पृ० ३९८-४००।

नन्दकिशोर की अभुक्त वासनाओं तथा अचेतन के उद्घाटन के लिए स्वप्न-विश्लेषण की पद्धति का उपयोग भी हुआ है। एक दुःस्वप्न में जयन्ती और नंदकिशोर के आपसी सम्बन्धों की भावी कथा का पूर्वाभास मिल जाता है।[१] दूसरे स्वप्न से नन्दकिशोर के आर्थिक अभाव तथा शांति-बलदेव के सम्बन्धों के प्रति शंका-भाव का अनावरण हुआ है।[२]

पात्रों को किंचित् वर्गगत विशेषता देने के लिए उनके आकार-प्रकार तथा वेश-भूषा आदि के अत्यावश्यक कुछ ब्यौरे स्थान-स्थान पर मिल जाते हैं किन्तु इसमें लेखक की रुचि नहीं। नन्दकिशोर वाजपेयी (ब्राह्मण) और उसके मित्रों के संस्कार उनके चंदन-चर्चित[३] मुख तथा धोती आदि से मिल जाते है। रमाशंकर की तथाकथित सभ्यता का परिचय मोटी हरी धारियों के एक कमीजनुमा कोट और उसी रंग के पायजामे (नाइट ड्रेस) से दी गई है, जो उसकी ग्रंथि के अनुकूल है।[४] कैलाश की वेशभूषा सूट-बूट-हैट[५] उसके व्यवसाय, कारनामों और सभ्यता—एक 'फेशनेबुल' युवक के अनुकूल है। उसके शील-विकास तथा तिकड़मबाजी के अनुकूल उसके परिवर्तित विभिन्न रूप उसकी बदलती आकृति-प्रकृति तथा पोशाक आदि से भी व्यंजित किए गए हैं।[६] शृंगारिक धरातल पर विकसित कथानक में नारी पात्रों की रूप-छटा के चित्रण का स्थान रहा है और यह 'संन्यासी' में भी है, किन्तु प्रायः लेखक रूपाकृति का साँगोपाँग चित्रण नहीं करता—उसकी रुचि किन्हीं अंगों तथा मुद्राओं को साकार करने पर रही है। और ये चित्रण भी एक ही स्थान पर नहीं स्थान-स्थान पर बिखरे मिलते हैं। वस्तुतः पात्रों के बहिरंग चित्रण में लेखक की मुख्य दृष्टि अन्तर्व्यंजक अनुभावों के प्रचुर चित्रण पर रही है। इन अनुभावों में भी इसकी रुचि अन्तरोद्घाटन में सर्वाधिक सहायक अंगों—चेहरे और आँख—पर रही है। शृंगारिक दृष्टि से कथा-नायक नारी पात्रों की मूक नयनाभिव्यंजना से विशेष आंदोलित होता रहा है। जयन्ती के सम्बन्ध में वह कहता है—"मेरे सामने वह कुछ बोलती न थी, पर उसकी विस्मित और उत्सुक आँखों की मौन वाणी मेरे मर्म को जो सन्देशा सुना रही थी, उसकी अवज्ञा करने की सामर्थ्य मुझ में नहीं थी।[७] 'संन्यासी'-जैसे मनोवैज्ञानिक उपन्यास के जटिल प्रकृति पात्रों के कथन भ्रामक सिद्ध हों तथा उनका महत्व आधा भी न रह जाए यदि वक्ता-श्रोता पात्रों के मुखांकित भावों तथा नेत्रों की मूक वाणी का साथ-साथ चित्रण न हो। पात्रों के 'अन्तर-रहस्यों के उद्घाटन' के लिए कथा-नायक को उनकी 'भाव-भंगिमा' का बारीकी से 'छानबीन करने का आग्रह रहा है'।[८]

---

१. पृ० ८६-६१। २. पृ० २४२-४३। ३. पृ० २०।
४. पृ० १५५-५८। ५. पृ० २६५, ३८७, ३८८। ६. पृ० २६६-६८।
७. पृ० २८८। ८. पृ० ३८३, ३६२।

इस आधार पर उसने पात्रों के सम्बन्ध में अपनी कितनी ही धारणाएँ निश्चित की हैं और कितनी ही बार उसका कौतूहलोद्दीपन हुआ है। कैलाश और जयन्ती की कथा में इनका विशेष चित्रण हुआ है।[१] एक स्थान पर कैलाश पर जयन्ती के कथन की प्रतिक्रिया का अध्ययन कर वह लिखता है '—"बहू जी पूछती हैं" इन तीन शब्दों ने उसके चित्त पर जादू का-सा असर कर दिया। ऐसा मैं क्यों समझा, इसका कारण मैं नहीं बता सकता। पर मुझे दृढ़ विश्वास हो गया कि उसके मुख के उस भाव-परिवर्तन का दूसरा कोई कारण हो नहीं सकता'।[२]

पात्रों का चरित्र-चित्रण आख्याता नायक द्वारा भी हुआ है तथा पात्रों की पारस्परिक टीका-टिप्पणियों द्वारा भी प्रचुर मात्रा में। कहीं ये टिप्पणियाँ पात्रों के पीछे दी गई हैं, कहीं उनके सामने ही। शांति के चरित्र को लगभग सभी पात्रों ने प्रशस्तियाँ दी हैं। जयन्ती तो शांति के सम्पर्क में आए बिना ही मात्र नन्दकिशोर से उसके सम्बन्ध में सुनकर,उसकी प्रशंसा में बह जाती है।[३] वस्तुतः उसके चरित्र की गौरव-व्यंजना उसके कार्यों से उतनी नहीं हुई, जितनी दूसरे पात्रों की प्रशंसोक्तियों से; अतएव यह बात कुछ खटकने वाली है। जयन्ती और नन्दकिशोर एक-दूसरे पर आमने-सामने साफ-साफ आलोचना करते हैं। नन्दकिशोर, जयन्ती से अपने सम्बन्ध में उसकी 'धारणा' या 'सच्ची राय' जानने को उत्कण्ठित ही नहीं, व्याकुल रहता है।[४] और स्वाभिमानिनी (अहंकारिणी नहीं) जयन्ती अपना संकोच छोड़कर इसका संतुलित परन्तु कटु उत्तर भी देती है।

एक स्थान पर पात्रों के परिवेश से उनके स्वभाव का अध्ययन किया गया है। नन्दकिशोर जब पहले-पहल शांति के यहाँ जाता है, तो उसकी यह प्रतिक्रिया होती है—"वह एक साधारण कमरा था, जिसे देखकर तत्काल यह अनुभव होने लगता कि यहाँ तकल्लुफ की कोई आवश्यकता नहीं है।"[६]

'संन्यासी' में कथा-संयोजन तथा पात्रों के शील-प्रकाशन दोनों में कुछ पत्र-शैली का उपयोग भी हुआ है।[७] नंदकिशोर की अनुपस्थिति में बलदेव और शान्ति में जो पारस्परिक पत्र-व्यवहार हुआ है, उसे नंदकिशोर की सन्देह-वृत्ति को मिटाने के प्रमाण-रूप में प्रस्तुत किया गया है। नंदकिशोर अपनी भाभी को इसलिए पत्र लिखता है क्योंकि वह अपनी निर्लज्ज उद्धतता के लिए साक्षात् क्षमा मांगने में संकोच करता है।[८] शान्ति, नंदकिशोर के अहं पर निर्मम प्रहार के हेतु उसे क्षमा मांगने का या सफाइयाँ पेश करने का अवसर नहीं देना चाहती, अतएव नंदकिशोर से अकेले नहीं मिलती। अन्त में जब वह उससे चिर सम्बन्ध-विच्छेद का निश्चय कर लेती है, तो अपने इस विद्रोहपूर्ण आचरण को एक लम्बे पत्र में स्पष्ट कर जाती है। आत्महत्या से पूर्व

१. पृ० ३८६-६०। २. पृ० ३६३। ३. पृ० ३८५। ४. पृ० ३७६।
५. पृ० ६५। ६. पृ० ४३०-३१। ७. पृ० ३४५। ८. पृ० ४१२।

लिखे जयन्ती के पत्र में उसके और कैलाश से सम्बन्धों का पूर्ववृत्त ही नहीं मिलता, उसके अन्तर्द्वन्द्व का मनोवैज्ञानिक परिचय भी मिलता है; जैसे—"उस दिन कैलाशनाथ जी से (पहले "कैलाश भैया" लिखा था, फिर भैया काट कर उसके स्थान पर 'नाथ जी' जोड़ दिया था)…"[१]

अब हम संवादों द्वारा पात्रों की चरित्राभिव्यक्ति को देखें। 'संन्यासी' में वर्णन-विश्लेषण की अपेक्षा वार्तालाप-तत्व बहुत कम है और प्रायः सामान्य। लघु संवाद भी हैं पर भाषाणों का बाहुल्य है—और सभी प्रमुख पात्र भाषण देते हैं, जो अस्वाभाविक है। इस बहुलता के प्रति लेखक भी सजग है अतएव अनेक स्थलों पर पात्रों के स्वभाव तथा मनःस्थिति का अभिधात्मक उल्लेख कर उसने उनको संगति देने का प्रयास किया है। शान्ति अपने भावुक भाषाण के पश्चात् स्पष्ट करती है—"मेरा स्वभाव ही कुछ ऐसा विचित्र है कि किसी बात की प्रेरणा से मेरे हृदय का बांध जब एक बार टूट पड़ता है तो उसका वेग फिर रुकना नहीं चाहता।"[२] नंदकिशोर ने एक स्थान पर अपने लम्बे भाषण को 'लेक्चर', 'लम्बी दास्तान' और 'व्याख्यान बघारना' कहकर व्यंग्य किया है। इसका कारण यह है कि उसका अहं स्थान-स्थान पर विक्षुब्ध होकर 'तैश में आकर' बोलता है।[३] अन्यत्र वह अपने लम्बे-लम्बे वाद-विवादों के लिए तर्क देता है—"जिन लोगों को बहस का मर्ज़ है, वे जानते हैं कि उसकी मादकता किसी भी मादक द्रव्य से कम नहीं होती"।[४] पर जब यह मर्ज़ सभी पात्रों को हो, तो वह पात्रों का नहीं, उनके प्रणेता का हो जाता है। इससे पात्रों की असामान्यता बढ़ जाती है और वे हमसे कुछ दूर हो जाते हैं। सर्वाधिक दीर्घ भाषणबाज़ी[५] बलदेव ने की है और इसके लिए उत्तरदायी है उसका जोशीला-उन्मादी व्यक्तित्व, जीवन के कटु अनुभवों के निश्छल प्रकाशन का उत्कट आग्रह तथा चरमपंथी दृष्टिकोण। नंदकिशोर ने उसके विपुल व्याख्यानों के स्पष्टीकरण में कहा है—"मुझे उसके संसर्ग से कई बार इस बात पर आश्चर्य हो चुका था कि घोर अवसाद की मानसिक अवस्था से वह सहसा भाव के आवेग की चरम सीमा पर कैसे पहुंच जाता था।"[६] इन भाषणों—विशेष रूप से बलदेव के व्याख्यानों—में पर्याप्त प्रवाह, ओजस्विता तथा मार्मिकता है, फिर भी इनसे उपन्यास कुछ बोझिल हो गया है। लम्बी-लम्बी व्याख्याओं की एकरसता इन लम्बे-लम्बे भाषणों से और बढ़ गई है। लघु संवाद ही सुखद वैविध्य की सृष्टि कर सकते थे, जो समुचित अनुपात में नहीं आ सके। जहाँ आए हैं, वहाँ कुछ राहत मिलती है। कैलाश के प्रसंग में इनका चलतापन आकर्षक है।[७] शराब के नशे में वह अपने को सचाई और निर्द्वन्द्वता से

१. पृ० ४१२। २. पृ० १६०। ३. पृ० ३६६-७१। ४. पृ० ३०।
५. पाँच पृष्ठ का व्याख्यान, पृ० १७०-७४। ६. पृ० २१४। ७. ६२वाँ परिच्छेद।

खोलता है। रमानाथ के कथन उसकी 'सभ्यता' को व्यक्त करते हैं।[१] कहीं-कहीं पात्रों की नोक-झोंक भी सुन्दर है।[२] पात्रों की मनःस्थिति उनके कथनों की शैली से भी व्यंजित होती है।[३] गौण पात्रों के कथनों में भाषा सम्बन्धी स्थूल अन्तर भी लक्षित किए जा सकते हैं। कुल मिलाकर यह तत्व अपेक्षाकृत दुर्बल है। जैनेन्द्रीय संवादों की मार्मिक व्यंजनाएँ यहाँ स्वल्प हैं।

'संन्यासी' की भाषा-शैली संस्कृत-गर्भित है। यद्यपि अँग्रेज़ी तथा अरबी-फारसी के शब्द भी बहिष्कृत नहीं हुए, फिर भी संस्कृत-निष्ठता अधिक उभर कर सामने आई है और कहीं-कहीं तो यह आक्रांत कर लेती है। इसमें भी बोझिल शब्द-चयन से भाषा में भारीपन आ गया है। विपुलाकांक्षा, पिंगलालोक, तरंगाभिघात, बाह्याभ्यन्तर, परमार्थान्वेषी, [illegible] क्षीणालोकित, प्रायान्धकार, अस्तनोन्मुख-जैसे शब्दों का बाहुल्य है। भाराक्रांत शैली का एक उदाहरण द्रष्टव्य है—"मानव-संसार के अविरल-प्रवाहित चिर-कोलाहलमय जीवन के अन्तराल में अज्ञात रूप से छिपी हुई एक स्निग्ध-करुण क्षीण धारा भूतकाल की किसी अंधकार से फूटकर अपनी मार्मिक संवेदनशीलता के माधुर्य से मेरे प्राणों को परिपीड़ित और साथ ही पुलक-प्लावित कर रही थी।[४] कहीं-कहीं बोल-चाल के शब्दों के स्थान पर सायास संस्कृत शब्दों के प्रयोग से बोझिल कृत्रिमता आ गई है; जैसे, 'स्नान-सन्ध्या समापन करके'।[५]

"—दोनों महिलाओं के पीछे दृष्टि निविष्ट किए था।"[६]

"प्रायान्धकार सीढ़ियों के मायाचक्र से किसी प्रकार छुटकारा पाकर जब बाहर मुक्तलोक में, जनाकीर्ण लोकालय में आया—।"[७]

इस उपर्युक्त उद्धरण से ऐसा प्रतीत होता है कि जोशी जी के पात्र किसी प्राचीन काल में विचार रहे हैं।

विभक्तियों को लुप्त करके तथा विशेषणों के व्यर्थ-विपुल प्रयोग से भी शैली बोझिल हो गई है; देखिए—

"वह सलाज, सविभ्रम, सस्नेह मेरी ओर देखने लगी।"[८]

"मैंने अपने जीवन में अनेक बार अनुभव किया है कि दिन और रात के संयोग का समय मनुष्य को तो अनन्त जीवन की उद्दाम तरंगों के अविरत आघात से आंदोलित करता है, मनोमोहिनी आशा की मुग्धा माया के नव-नव वैचित्र्यमय रूपों की झलकों से चित्त को एक चिर-प्रेममय, चिर-सगीतमय लोक की अपूर्व रंजना के चिदाभासों से आच्छादित कर देता है, या गहन मृत्यु के सी स्तब्ध जड़ता के यज-

१. ३२वाँ परिच्छेद। २. पृ० ७२, ३५८। ३. पृ० २१९-३७९, ४०५।
४. पृ० १४३। ५. पृ० ३६। ६. पृ० ५०। ७. पृ० ७८।
८. पृ० ६७।

पाषाण में सारे वातावरण को, समस्त आत्मा को अपने गुरु-गम्भीर भार से आक्रांत कर देता है।"[1] जैनेन्द्र जी सरल बात को कुछ वक्रता से कहते हैं, तो जोशी जी कुछ दबदबे से।

जोशी जी ने नंदकिशोर को संस्कृत का विद्यार्थी बताकर, उसकी आत्मकथा की तत्सम-बहुलता को संगति देने का प्रयास किया है।

शैली का भारीपन कैलाश के प्रसंगों में नहीं मिलता। उनमें उसके व्यक्तित्व तथा कृतित्व के अनुकूल अपेक्षताकृत हल्की-फुल्की शैली का प्रयोग हुआ है।[2]

हास्य-व्यंग्यमयी शैली कम है, पर इसका अभाव भी नहीं। यह भारीपन से कुछ राहत देती है; यथा, ये उद्धरण उल्लेखनीय हैं—

"भैया सिर से पैर तक एकदम अंग्रेजी ठाठ में रहते थे। अंगरेजी ऐसी अच्छी बोलते थे कि हिन्दी गलत बोलने लगे थे।[3]

"ऐण्डरसन साहब जब बीच-बीच में कैलाश को सम्बोधित करते हुए 'मिस्टर डूबे' कहता था तो मुझे हँसी आती थी और मैं मन-ही-मन कहता था—'मिस्टर डूबे या तुम डूबे कौन जानता है।"[4]

"मैं तो विश शताब्दी का नवाविष्कृत मोमरंग चाय---पीकर, इक्कों और ताँगों की खड़ाखड़ाहट सुनकर—परम श्रद्धेय पण्डाजी के पास आकर बैठा हुआ था।

प्रचलित मुहावरों का प्रयोग भी यहाँ हुआ है किन्तु इसे शैली की विशिष्टता नहीं कहा जा सकता।

जोशी जी की शैली मुख्यतः कवित्वमयी है। प्राकृतिक दृश्यों तथा मनोभावों के चित्रण में विशेष काव्यमयी दीप्ति है। "उदाहरण के लिए सत्रहवें परिच्छेद में गंगा-तट के चित्रण में हमें अपूर्व तन्मयता एवं प्रवाह की उपलब्धि होती है। ऐसे स्थलों पर जोशी जी की शैली स्वभावतः ओजपूर्ण, वेगवती और उदात्त हो जाती है। अन्य स्थलों पर भी लगता है कि जोशी जी की सौन्दर्यानुभूति के पीछे एक विराट् तत्व का आभास है।"[6] इस ओज और विराटता में समास-संधियुक्त शैली सहायक है किन्तु अन्यत्र यही शैली व्यर्थ में भारीपन ला देती है।

जोशी जी की कवित्वमयी शैली में आनुप्रासिकता पर विशेष दृष्टि है। अर्थालंकारों में स्पष्टता लाकर प्रभाव-वर्द्धन करने वाले अलंकारों---उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा---का ही अधिक प्रयोग किया गया है। इनकी उपमाओं में विशिष्टता है। लेखक ने मनोवैज्ञानिक विषय के अनुकूल विज्ञान-सम्बन्धी नूतन उपमाओं तथा

---

१. पृ० १३३। २. पृ० ६२वाँ परिच्छेद। ३. पृ० ८५। ४. पृ० ३०८। ५. पृ० १०६। ६. यदुपतिसहाय, "आलोचना" संख्या १३, उपन्यास विशेषांक, पृ० १२२।

उदाहरणों का उपयोग कर अपनी सार्थक प्रयोगशीलता का परिचय दिया है। कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैं—

१. "जिस प्रकार रेडियम का अन्तर्गत प्रकाश उसके भीतर न समा सकने के कारण ज्योतिर्कणों को बाहर बिखेरता रहता है, उसी प्रकार शांति की शुभ समुज्ज्वल, सतेज पवित्रता उसके मुखमण्डल के प्रत्येक सूक्ष्मनम चर्मछिद्र से अदृश्य किरणों के रूप में बरबस निर्गत हो रही थी .."[१]

२. "जब कभी वह अपनी स्वभावतः विस्मित दृष्टि की किरणों को किसी व्यक्ति की ओर केन्द्रित करती तो ऐसा जान पड़ता जैसे 'एक्स-रे' की तरह उसके शरीर के बाह्यावरण को भेदकर उसके मर्म का अणु-अणु देखने लगी।"[२]

३. "दो समान-धाराएं जब एक बिन्दु पर आकर मिलती हैं, तो चुम्बक और बिजली के नियम के अनुसार वे एक-दूसरे को आकर्षित न करके तिरस्कृत करती हैं, इसका सजीव प्रमाण मुझे मिल रहा है।"[३]

विषय-वातावरण के अनुकूल ये उपमाएँ कहीं कोमल-कांत, कहीं कठोर-कुत्सित हो जाती हैं और भाव-तीव्रता के अनुसार इनकी संख्या भी घट-बढ़ जाती है। शांति के पूर्व-जीवन की करुण कथा नंदकिशोर की मानसिक आँखों में जादू का ऐसा सुरमा लगा देती है कि उसका एक नया ही रूप प्रतिभासित होने लगता है; तब उसका अपरूप अलंकारमयी अतिरंजित शैली में—प्राकृतिक क्षेत्र से चुनी हुई मंजुल उपमाओं की माला के रूप में—अभिव्यक्ति पाता है—"शांति का यह नया रूप वर्षा के मेघ की तरह स्निग्ध-गम्भीर और साथ ही शरदाकाश की तरह शुभ-समुज्ज्वल तथा पवित्र था, प्रभात-छवि की तरह स्वच्छ-सरल और अश्रुसिक्त हास से तरल था, और सांध्यश्री की तरह सुमंगल वेदना से विह्वल था।"[४] अधोलिखित सोद्देश्य वीभत्स वर्णन में उपमाओं की प्रकृति में जो अन्तर आ गया है, वह भी उल्लेखनीय है—"उनके मुख पर ऐसी मुर्दनी छा गई कि मैं भय से चिल्लाकर रो उठी .. उनकी आँखें सूख कर पत्थर की तरह नीरस और निश्चल हो गई थी, मुख का चमड़ा चमगादड़ के चमड़े की झिल्ली की तरह दिखाई देता था .."[५]

कहीं-कहीं साधारण बात के लिए सामाजिक-ऐतिहासिक उपमाओं को लाकर एक अतिरिक्त व्यापक प्रभाव की सृष्टि की गई है, यथा—

१. "झिल्लियों की अविश्रांत झंकार किसी विधवा के चिर-जीवन व्यापी अविरत विलाप की तरह कानों में गूंज रही थी। हृदय का अणु-अणु एक विषाद के रस से भींग गया था।"[६]

---

१. पृ० १७७। २. पृ० ३३१। ३. पृ० ३८०। ४. पृ० १५४।
५. पृ० १४८। ६. पृ० ४६।

२. "चीन में बौद्ध धर्म का प्रचार उस शीघ्रता से नहीं हुआ होगा, जिस शीघ्रता से चीनियों ने इस अनोखी (चाय की) बूटी की मादकता सारी दुनिया में फैला दी है।"[१]

छायावादियों के प्रिय अलंकारों—मानवीकरण, विशेषण-विपर्यय आदि—के कुशल प्रयोग से भी लेखक ने शैली को प्रभावपूर्ण बनाने का प्रयास किया है।

जोशी जी का शैली-स्तर सर्वत्र उन्नत नहीं रह पाया और स्थान-स्थान पर उनकी शैली विषय की गम्भीरता का सुचारु निर्वाह नहीं कर पाई। इस शैली-शिथिलता में कहीं उपमाएँ उत्तरदायी हैं,[२] कहीं क्रियाओं की ध्वनि देने का अनर्गल-अनुचित मोह; यथा, गम्भीर विषादमय स्थलों में निम्न पंक्तियाँ प्रभाव को स्खलित कर देती हैं—

१. "भैया की इस बात से मेरी चिन्ता का जो तार बज रहा था, वह टूट गया और एक नया तार पिन्न-पिन्न करने लगा।"[३]

२. "उसके साथ ही मेरी उमड़ी हुई वेदना के उद्वेल प्रवाह का तार भी झन-झन-झनन के शब्द से टूट गया।"[४]

३. (जयंती कमरे का दरवाज़ा बन्द कर भीतर आत्महत्या करने के लिए जल रही है। उस "हौलनाक' प्रसंग में नंदकिशोर बाहर से दरवाज़ा तोड़ता है, तब लिखा है—) "पुराना लकड़ी का दरवाज़ा इस अमानुषिक लात की चोट न सह सका और 'चरर-चूँ' करता हुआ खुल गया।"[५]

उक्त उदाहरणों के ध्वनि-चित्र प्रभाव को बढ़ाने की बजाय घटाते हैं।

कहीं-कहीं अनुपयुक्त क्षुद्र शब्दों से गम्भीरता में शैथिल्य आया है; देखिए—

"कुछ समय के लिए मैंने आँखें मीचकर उस स्मृति की निदारुण वेदना की भयंकरता को अन्तस्तल के गहन गह्वर के भीतर ढकेलकर ऊपर से ढकना लगाकर उसे बन्द कर दिया।"[६]

जोशी जी ने कुछ शब्दों—चिर, वज्र, विद्युत—के प्रति अनुचित मोह दिखाया है। उनके वाक्यों की जटिलता तथा अनाकर्षक गठन भी शैली के भारीपन के लिए उत्तरदायी है।

शैली में चिन्त्य प्रयोग भी कम नहीं हैं; जैसे :—

१. "आज भाभी जी के आगे मेरी ओछी प्रकृति का पोल-प्रकाश हो गया!"[७]

२. "उसका हृदय का चट्टान किस कठोर धातु से निर्मित है . .।[८] (लिंग-दोष)

---

१. पृ० १६८। २. जैसे चूहे और पटाखे की उपमा, क्रमशः पृ० १०२ और २०३। ३. पृ० २६२। ४. पृ० ३३१-१२। ५. पृ० ४१०। ६. पृ० ३२६। ७. पृ० ३४७। ८. पृ० ३३१।

३. "मेरा मन रह-रहकर इन शब्दों से मेरी छाती में और मेरे मस्तिष्क में मूंग दलने लगा"।[1] (मुहावरा-दोष)

समग्रतः, संन्यासी की शैली का स्तर समान रूप से उन्नत नहीं। कहीं इसकी विशेषताएँ आकर्षित-प्रभावित करती हैं, और कहीं झुंझलाहट उत्पन्न करती हैं।

अन्त में, संन्यासी मनोविश्लेषणात्मक चरित्र-प्रधान उपन्यास है। कथानायक के विश्वसनीय चरित्रांकन के आधार पर कथा-संयोजन एवं उद्देश्य-व्यंजना के समन्वित कौशल, तथा प्रसंगावृत्ति-पद्धति की एकोन्मुखी लक्ष्य-जागरूकता से संन्यासी पर्याप्त प्रभावी उपन्यास बन गया है।

छठा अध्याय

बहिरंग चरित्र-प्रधान उपन्यास : सामान्य विशेषताएँ

इन उपन्यासों में अन्तरंग चरित्र-प्रधान उपन्यासों की तरह चारित्रिक पक्ष की प्रधानता रहती है किन्तु उनकी तरह यहाँ पात्रों के अन्तर्द्वन्द्वों का नहीं बहिर्द्वन्द्वों, उनके सामाजिक संघर्षों, का अपेक्षतया प्राधान्य रहता है। बाह्य सामाजिक प्रेरणाओं से इनके चरित्र का विकास अधिक होता है, आंतरिक प्रेरणाओं से कम। दूसरे, अन्तरंग उपन्यासों से इनमें सामाजिक वातावरण का चित्रण अधिक रहता है। तीसरे, इनके द्वारा चारित्रिक रहस्यों का नहीं सामाजिक प्रवृत्तियों, वैयक्तिक विडम्बनाओं का नहीं सामाजिक विषमताओं की व्यंजना होती है, या उनका उदघाटन। इसलिए इन पात्रों में व्यक्तिगत [illegible] की अपेक्षा वर्गगत विशेषताएँ बढ़ जाती हैं और ये अपेक्षतया अधिक सरल पात्र होते हैं। इनमें अन्तरंग चरित्र-प्रधान उपन्यासों की असाधारणता कम होती है, फिर भी, सामान्य वर्गीय पात्रों से अधिक असाधारणता होती है। सामाजिक उद्देश्य के कारण इनमें व्यंग्य का पुट रहता है और चारित्रिक प्रमुखता के कारण तटस्थता। इसलिए समाज की आलोचना करने वाले उद्देश्यवादियों की तरह इनका व्यंग्य आक्रोशपूर्ण या तीखा नही होता।

उद्देश्य की भी व्यंजना होती है, खुली अभिव्यक्ति नहीं। उद्देश्य-प्रधान रचनाओं से इनका यही अन्तर है। स्पष्ट ही इस व्यंजना का आधार प्रधान-पात्रों का व्यक्तित्व होता है। और यह व्यक्तित्व पृष्ठभूमि में नहीं, उजागर रहता है। उपन्यास का आकर्षण, प्रयोजन एवं संगठन, इसी पर निर्भर करता है।

यहाँ हमने चार उपन्यास लिए हैं---त्यागपत्र, गिरती दीवारें, बिल्लेसुर, बकरिहा, सेठ बाँकेमल - जो केवल चरित्र-प्रधानता की दृष्टि से एक हैं अन्यथा उद्देश्य एवं शिल्प में परस्पर एकांत भिन्न हैं। 'त्यागपत्र'. का धरातल सामाजिक के साथ दार्शनिक भी है और इसमें कुछ मनोवैज्ञानिक तत्व भी हैं। यह अन्य तीनों उपन्यासों से अधिक संवेदक है। इसमें अन्य तीनों की तरह व्यंग्यात्मता नहीं, करुणा मार्मिकता है। इसके अतिरिक्त यह प्रत्यक्ष सामाजिक चित्रण की कमी में भी सामाजिक तथा दार्शनिक समस्याओं की व्यंजना का उदाहरण प्रस्तुत करता है। 'गिरती दीवारें'

में मध्यवर्गीय विडम्बनापूर्ण जीवन का परिपूर्ण तटस्थ चित्रण है। इसमें परिपार्श्व का चित्रण चारों उपन्यासों से अधिक सूक्ष्म एवं व्यापक है। इन तीनों में से इसमें नायक का सर्वाधिक यथार्थ चरित्रांकन है। 'बिल्लेसुर बकरिहा' में कुछ आँचलिक उपकरण हैं और यह ग्राम-जीवन के यथार्थ को व्यंजित करता है। यह रेखाचित्रात्मक है। 'गिरती दीवारें' की तटस्थ व्यंग्यामत्कता यहाँ भी है, किन्तु परिहास के साथ; दूसरे, 'गिरती दीवारें' के चेतन के विपरीत यहाँ नायक को जीवन संघर्ष में सफलता मिलती है। 'सेठ बाँकेमल' हास्य-उपन्यास है और चारों उपन्यासों से अधिक रंजक एवं आकर्षक। 'सेठ बाँकेमल' का व्यक्तित्व स्वयं पर व्यंग्य भी है। चारों उपन्यासों ने अल्पाधिक चार स्मरणीय पात्र दिए हैं, जो एक-दूसरे से एकांत भिन्न है।

त्यागपत्र

जैनेन्द्र कुमार के तीसरे उपन्यास 'त्यागपत्र' का प्रकाशन १९३७ में हुआ। यह पहले दोनों उपन्यासों से ही नहीं, लेखक के सभी उपन्यासों से अल्पकाय[1] है। इसका शिल्प भी दूसरों से पृथक् और विशिष्ट है।

'त्यागपत्र' में एक नारी की जीवन-कथा है। यह एकपात्री—नायिका-प्रधान—उपन्यास है। इसकी इस चरित्र-प्रधानता के सम्बन्ध में आलोचकों में मतैक्य है।[2] यों 'त्यागपत्र' के सामाजिक तथा दार्शनिक आशय भी पर्याप्त मुखर हैं, किन्तु इनका व्जयंनाधार, उपन्यास का मेरुदण्ड, जीवन की पंकिलता में भी 'मृणाल' बनी रहने वाली असाधारण पात्री का कारुण्य है। मृणाल की दयनीयता में उसके "अन्तस् की प्रेरणा की अपेक्षा सामाजिक विवशता है"[3] तथा उसका मनोविश्लेषणात्मक चरित्राध्ययन भी नहीं किया गया, अतएव 'त्यागपत्र' को बहिरंग चरित्र-प्रधान उपन्यासों में रखना उचित होगा।

इस उपन्यास का वातावरण विधेय (दर्शन) तथा विधान दोनों रूपों में वेदनामय है। यहाँ वेदना का दर्शन भी है, द्रवित करने वाली वेदना भी। "जो शास्त्र से नहीं मिलता, वह ज्ञान आत्मव्यथा में से मिल जाता है।"[4] यह 'त्यागपत्र' का मुख्य

१. "त्यागपत्र", पृ० ८०।

२. (क) डॉ नगेन्द्र : "त्यागपत्र और नारी", "विचार और अनुभूति", पृ० १३७।
"त्यागपत्र एकमात्र मृणाल की व्यक्तिगत कहानी है।"
(ख) डॉ० लक्ष्मीनारायण लाल : "आलोचना" संख्या १३, पृ० १५८-५९।
(ग) रघुनाथसरन झालानी : "जैनेन्द्र और उनके उपन्यास" पृ० ११६।
(घ) डॉ०शिवनारायण श्रीवास्तव : "हिन्दी उपन्यास", पृ० २२५।

३. बाबू गुलाबराय: "काव्य के रूप", पृ० १९३। ४. पृ० ६०।

विचार-सूत्र है और कथा-नायिका मृणाल का जीवन-विकास इसका मूर्त प्रमाण। ज्यों-ज्यों मृणाल जीवन-मार्ग में चलती गई है बूँद-बूँद दर्द इकट्ठा उसके भीतर भरता,, गया है, और लेखक के अनुसार "वही सार है। वही जमा हुआ दर्द मानव की मानस-मणी है। उसके प्रकाश में मानव का गतिपथ उज्ज्वल होगा। नहीं तो चारों ओर गहन वन है, किसी ओर मार्ग सूझता नहीं और मानव अपनी क्षुधा-तृषा, राग-द्वेष, मान-मोह में भटकता है।"[1] तदनुकूल मृणाल भी व्यक्तिगत तथा सामाजिक विषमताओं से जनित वेदना को स्वीकार कर अपना परिष्कार करती गई है। आत्मपीड़ा की साधना से वह अपने अहमत्व को गला, घुला और अन्त में सब के अभ्यन्तर में परमात्मा की प्रतीति करते हुए समष्टिगत एकता के धरातल पर अपना शीलोत्कर्ष कर सकी है।[2] उपन्यास का दूसरा पात्र मृणाल का भतीजा पी० दयाल भी, उसकी मृत्यु के प्रभाव में जीते-जी उसके काम न आ सकने की ग्लानि की अनुभूति से अपनी क्षुद्रताओं की व्यावसायिक बुद्धि से ऊपर उठता है और हृदयहीनता से कमाई अपनी जजी से त्यागपत्र दे देता है। इस तरह उपन्यास का नामकरण भी प्रमुख पात्र के प्रभाव-परिणाम की सूचक उस घटना से हुआ है जिससे यह ध्वनित होता है। उपन्यास के उद्देश्य की मूल व्यंजना प्रमुख पात्रों की (उपर्युक्त) जीवन-सिद्धि में है।

इस वेदना-दर्शन के मार्मिक प्रतिपादन के लिए उपन्यास के शिल्प को विशिष्ट विधान दिया गया है। विश्लेषण की दृष्टि से, इसके दो पक्ष हो गए हैं—आश्रय तथा आलम्बन। यहाँ आश्रय पी० दयाल है तथा आलम्बन मृणाल। इस उपन्यास में प्रधान आलम्बन है और अप्रधान आश्रय। इस आलम्बन की लगभग सम्पूर्ण जीवन-कथा ऐसे प्रस्तुत की गई है कि उसके जीवन के एक-एक तथ्य, एक-एक संकेत तथा एक-एक घटना या घटनाभास से वेदना धीरे-धीरे बढ़ती गई है और अन्त में सीमा का अतिक्रमण कर गई है। आश्रय भी इसी अनुपात में, प्रायः प्रच्छन्न रूप से, प्रभावित होता गया है। और अन्त में इस चरम प्रभाव की परिचायक बनकर उसके जजी से त्यागपत्र देने की घटना आई है। डॉ० नगेन्द्र ने अपने ढंग से इसकी सुन्दर व्याख्या की है—"जैनेन्द्र अपनी शैली के प्रति जागरूक हैं: प्रभाव को तीव्र करने के लिए उन्होंने सचेत होकर कोशिश की है। उन्होंने इसीलिए संवेदना के मापक-रूप में सर पी० दयाल की सृष्टि की है। वे प्रभाव को तीव्र करते जाते हैं और पारा धीरे-धीरे ऊपर चढ़ता जाता है। अन्त में मृणाल की मृत्यु पर, जैसे ताप के सीमा पार कर जाने से यन्त्र टूट जाता है, सर एम० दयाल (पी० दयाल ?) जजी से असतीफा देते हैं। यह उपन्यास शिल्पी का अद्भुत कौशल है।"[3] लेखक ने मृणाल की कथा मानों वेदना-वर्द्धन के लिए ही कही थी, अतएव आख्याता पी० दयाल कथा का

---

१. पृ० ३८। २. पृ० ७५। ३. "विचार और अनुभूति", पृ० १४३।

उपसंहार करते हुए कहता है—"मैं (कथा) समाप्त करना चाहता हूँ। व्यथा क्यों बढ़ाऊँ ?" मृणाल के जीवन में व्यथा को जैसे क्रमशः घनीभूत किया गया है, उसके स्पष्टीकरण में अधोलिखित कारण-तथ्य दिए जा सकते हैं :—

१. मृणाल बचपन में ही माता-पिता के स्नेह से वंचित हो गई।[1]

२. मृणाल की स्वच्छन्द प्रकृति में बाधक कठोर भावज के "अनुशासन की कड़ाई।"[2]

३. भावज से निर्मम बेंत-लगने की घटना।

४. मृणाल का शीला के भाई से असफल प्रेम।

५. अनमेल विवाह—एक बड़ी आयु वाले दुहाजू से युवती मृणाल का विवाह।

६. पति के निष्ठुर व्यवहार—बेंत खाना आदि[3]—से तंग आकर घर वापस लौटना।

७. अपने मैके में ही बने रहने का दृढ़ प्रयत्न किन्तु भाई द्वारा विरोध के फलस्वरूप मजबूरन ससुराल लौटना। आगे के लिए भी घर के दरवाजे बन्द।

८. रोगी अवस्था बनी रहने से मृत-पुत्री का जन्म।

९. पति के प्रति निश्छल व्यवहार का कुपरिणाम और परित्यक्ता की स्थिति में कष्ट झेलना।

१०. रूप-लुब्ध दूसरे पति के द्वारा भी मार-पीट और उसका त्याग। इस पति के पहले परिवार के लिए आत्मपीड़न की भावना से प्रेरित होकर जानकर अनुकूल परिस्थितियाँ पैदा कर, उसे अपने परित्यक्त करने के लिए विवश करना।

११. दूसरी बच्ची का कुछ भूख और कुछ रोग से मर जाना।

१२. नौकरी कर आत्मनिर्भर बनने के प्रयत्न में समाज की बाधा।

१३. अन्त में मृणाल का घुल-घुलकर मरना।[4]

इस वेदना के प्रभाव को व्यापक एवं तीव्र करने के लिए लेखक ने विशेष साधन-कौशलों का उपयोग किया है। यहाँ वेदना-व्यापकता उद्देश्य की व्यापकता पर आधृत है। इसके लिए व्यक्ति-पात्र मृणाल को समाज के सामान्यीकृत धरातल पर विकसित करने का प्रयास किया गया है। इससे उपन्यास में सामाजिकता का समावेश भी हो सका है और मृणाल का व्यक्ति-वैचित्र्य कुछ सीमा तक सामान्य नारी और बाद में दुखी मानवता का प्रतिनिधित्व भी कर सका है। स्वेच्छित विवाह न कर सकने की परतन्त्रता, अभिशप्त अनमेल विवाह, बुरे पति के विरोध में अपने भाई के घर पर ही न रह सकने की पराधीनता आदि केवल मृणाल की समस्यायें ही नहीं कही जा सकती, ये समस्त 'कन्या जाति'[5] की समस्याएँ है—इनका सम्बन्ध नारी-

---

१. पृ० ३०। २. पृ० ६। ३. पृ० २४। ४. पृ० ५। ५. पृ० ३०।

मात्र की सामाजिक स्थिति से है। नन्दिनी के विवाह के दुष्परिणाम से भी नारी की दुरावस्था संकेतित हैं।[१] पी० दयाल भी मृणाल के पीडन के सम्बन्ध में विचार करता हुआ चिन्तन करता है कि ईश्वर की लीला के नीचे "चारों ओर से" सुनाई देता यह "आर्तनाद" कैसा है।[२] उसे प्रतीत होता है कि "सब गड़बड़ ही गड़बड़ है। सृष्टि गलत है। समाज गलत है।[३] पी० दयाल जब कोयले वाले से मृणाल को उबारने के लिए, निम्नवर्गीय लोगों के निवास-स्थान, शहर की तंग गंदी गली में जाता है तो वह दुर्दशा का सामान्यीकरण करते हुए कहती है "अभी तो इसी जगह हूँ, इस कोठरी में मैं न रहूँगी, कोई और रहेगा। ये कोठरियाँ तो आबाद ही रहेंगी, इनमें रहने लायक आदमी बहुत हैं।"[४] अन्तत: मृणाल को निम्नवर्गीय जनता की प्रतिनिधि बना दिया गया है और वह वहाँ रहती है जहाँ "नगर की सड़ाँध रहती है।" नगर की इस दुखी मानवता का साथ देने के लिए ही वह दृढ़-प्रतिज्ञ हो जाती है। वह पी० दयाल से रुपया भी इन्हीं के उपयोग के लिए माँगती है; कहती है—"···खूब कमा और कमा कर सब इस गड्ढे में ला पटका कर।···रुपये के ज़ोर से यह नरककुण्ड स्वर्ग बन सकता है, ऐसा तो मैं नहीं जानती। फिर भी रुपया कुछ न कुछ काम आ सकता है।"[५] इस तरह व्यक्ति के साथ सामाजिकता के सहज समावेश, तथा सामाजिकता-सूचक लघु-घटनाओं के उत्तरोत्तर महत्तर होते जाने वाले कुशल बंधत्व से 'त्यागपत्र' की कुछ प्रभाव-व्यापकता तथा विशेषतया प्रभाव-तीव्रता में वृद्धि हुई है।

लेखक ने प्रभाव-तीव्रता के लिए कुछ अन्य कुशल साधनों का उपयोग भी किया है; ये अधोलिखित हैं :—

१. मृणाल की चारित्रिक विषमता—मृणाल को पहले निर्द्वन्द्व नटखट बालिका के रूप में प्रस्तुत किया गया है जिससे आगे उसकी विवश वेदना और भी विषम हो गई है।

२. मृणाल की आत्मपीड़नमयी करुणा—यहाँ मृणाल और पी० दयाल के जीवन में वेदना जीवन का दर्शन बनकर संवेदना या करुणा बन गई है, क्रोध नहीं; क्योंकि लेखक का लक्ष्य अहिंसात्मक (प्रेममूलक) निर्माण है, हिंसात्मक विनाश नहीं। प्रगतिवादी उपन्यासों के जोश और क्रोध में लेखक का विश्वास नहीं; उसका दृष्टिकोण है—"लेकिन व्यर्थ बातें मैं क्यों करूँ; इससे क्या फायदा है? ऐसे मन का दर्द हल्का तो होगा। पर हल्का होकर वह दर्द संख्या अधिक बन जाता हो, इस भाँति प्रेरक तो वह अवश्य ही कम हो जाता है।"[६] मृणाल का चरित्र जैसे

१. पृ० ७१। २. पृ० ३६। ३. पृ० ६३। ४. पृ० ५०-५१।
५. पृ० ७८-७९। ६. पृ० ३८।

अधोलिखित कथनों को प्रमाणित कर रहा है–"···पर जो जगत् की कठोरता का बोझ इच्छापूर्वक अपने ऊपर उठाकर चुपचाप चले चलते हैं और फिर समय आने पर इस धरती माता से लगकर उसी भाँति चुपचाप सो जाते हैं; मैं उनको प्रणाम करता हूँ। मैं उनको अभागा भी कह लूँगा, पापी भी कह लूँगा–लेकिन मैं उनको प्रणाम करता हूँ।"[1] इसलिए जब निरपेक्ष-निर्द्वन्द्व भाव से मृणाल पीडा को सहन करती है तो पी० दयाल का 'क्लेश' बढ़ता है।[2]

३. 'त्यागपत्र' का दुखान्तकी होना और उसकी सफलता के लिए वेदनाधार मृणाल का शीलोत्कर्ष करना। इस सम्बन्ध में स्वर्गीय नन्ददुलारे वाजपेयी लिखते हैं—"···मृणाल को बिना वास्तविक चारित्रिक गरिमा दिखाए उसके प्रति हमारी संवेदना आकृष्ट करना कहाँ तक स्वस्थ साहित्यिक उद्देश्य कहा जा सकता है?"[3] हमारे विचार में लेखक ने उसे चारित्रिक गरिमा देने का प्रयास किया है और इसके लिए उसने संवेदनामापक पी० दयाल की प्रशस्तियों के अतिरिक्त यत्र-तत्र अन्य लोगों पर उसके सुप्रभाव को भी संकेतित किया है। कोयले वाले के साथ मृणाल जिस स्थान पर रहती थी, वहाँ के निवासी, उसके चले जाने के बाद, कहते हैं—"बड़ी भली औरत थी। दुख दरद में ढारस बँधाती थी, बच्चों को घर बैठकर पढ़ाया करती थी और सबके छोटे-मोटे काम को तैयार रहती थी।"[4] यही सेवाकार्य वह 'समाज की जूठन'–समान लोगों का करती है क्योंकि अपने साधनोत्कर्ष में उसके लिए यह प्रतीति कठिन नहीं रह गई कि "सबके अभ्यन्तर में परमात्मा" है।[5] सेवा-कार्य के कारण ही इन निम्नवर्गीयों की सहानुभूति भी उसे प्राप्त है। इनसे अलग रहकर वह अपने उद्धार के लिए सोचना अकृतज्ञता समझती है।[6] लेखक ने मृणाल के आगे की सेवा-वृत्ति को उसके सांसकारिक स्वभाव से चारित्रिक संगति भी दी है—विद्यार्थी-जीवन में अन्य लड़कियों के लिये मास्टर जी से स्वयं बेंत खाकर उसने आत्मपीड़न-मय परोपकार का परिचय दिया। वह "मज्जा तक सच्चे"—बाहर-भीतर एक—होने, या निश्छल समर्पण के प्रयास में अपने अनमेल पति को अपनी पूर्व-प्रेम-कहानी भी बता देती है। कोयलेवाले के परिवार की रक्षा-निमित्त, वह उससे परित्यक्त होने के लिए स्वयं ही अपने अनुकूल परिस्थितियाँ पैदा करती है। जिस घर में उसने बच्चों को पढ़ाने के लिए नौकरी की, उन्होंने भी उसकी प्रशंसा में कहा—"भली औरत है···अच्छा बोलती बतलाती है और संतोषन भी है।" तथा "दो महीने से लगी है लेकिन हमें तो उसका बहुत सहारा हो गया है।"[7] अन्त में, समाज की मंगलाकांक्षा में टूटने वाली इस नारी की निम्न उक्ति पर्याप्त होगी—"प्रमोद, मैं सहायता की भूखी

१. पृ० ३८। २. पृ० ५३ ३. "आधुनिक साहित्य", पृ० १५६।
४. पृ० ६४। ५. पृ० ७४-७५। ६. पृ० ७८। ६. पृ० ६६।

नहीं हूँ क्या ? तुझसे ही वह सहायता न लूँगी तो किससे लूँगी । लेकिन सहायता का हाथ देकर क्या मुझे यहाँ से उठाकर ऊँचे वर्ग में जा बिठाने की इच्छा है ? तो भाई मुझे माफ कर दो । वैसी मेरी अभिलाषा नहीं है । सहायता मुझे इसलिए चाहिए कि मेरा मन पक्का होता रहे कि कोई मुझे कुचले, तो भी मैं कुचली न जाऊँ, और इतनी जीवित रहूँ कि उसके पाप के बोझ को भी ले लूँ और सबके लिए क्षमा की प्रार्थना करूँ ।"[१]

४. वेदनामूलक दार्शनिक उद्‌गारों से प्रभाव को गम्भीर बनाया गया है । मुख्यतः दो-तीन विशेष स्थलों पर आए दर्शन-खण्ड तथा यत्र-तत्र आई दार्शनिक उक्तियाँ बाह्यारोपित नहीं लगतीं क्योंकि ये पात्रों की आत्म-व्यथा के बढ़ने पर चिंतन के अनुकूल स्थिति में आई हैं, और लेखक का मत है–"जो शास्त्र से नहीं मिलता वह ज्ञान आत्मव्यथा में से मिल जाता है ।" ऐसा प्रतीत होता है कि इन दार्शनिक उक्तियों में पात्रों के आनुभूतिक विचार हैं, ग्रंथार्जित ज्ञान नहीं । दूसरे ये दर्शन-खण्ड कथा में उपयुक्त स्थलों पर आए हैं । कथा में विशेष उत्थल-पुत्थल के बाद—मानों उसका लेखा-जोखा लेने के लिए—यह मनोमंथनमय विश्राम-स्थल हैं । आख्याता लिखता है—"मैं अब साँस लूँगा बहुत कह चुका । मेरा मन दर्द से भरा हुआ है ।"[२]

५. लेखक ने वेदना का कथन नहीं, आनुभाविक चित्रण किया है । वह पात्र की मानसिक स्थिति अनुभावों से ही व्यंजित कर प्रभाव को बढ़ा देता है । एक प्रसंग लीजिए । मृणाल अपने पति के दुर्व्यवहार से तंग आकर मैके से जाना नहीं चाहती । इस सम्बन्ध में वह अपने बड़े भाई—प्रमोद के पिता—से घोर आग्रह करती है । भाई बहिन की स्थिति से दुखी भी है किन्तु 'लड़की पराई होती है' की धारणा से न तो उसे घर पर ही बिठा सकता है, न दूसरा कोई मार्ग ही बता सकता है । तब कमरे के बाहर बैठा प्रमोद अपने पिता की स्थिति का अनुभव इस प्रकार करता है—"इसके बाद मुझे कुछ नहीं सुनाई दिया । पिताजी के फर्श पर जोर-जोर से चलने की आवाज़ मुझे अवश्य आई, एक दो बार खाँसी की भी आवाज़ आई, मानों कुछ बार-बार गले में भर आता हो । दो-तीन-चार-पाँच मिनट मैं प्रतीक्षा में रहा । पिताजी के तेज़ कदमों की धमक, खाँसी और कभी ज़ोर से उठता हुआ उनका उच्छ्‌वास ही मुझे सुनाई दिया ।..."[३] मृणाल को घर से विदा करते समय के दृश्य में लेखक ने प्रच्छन्न व्यंग्य से वेदना को बढ़ा दिया है; देखिए—"माँ ने गद्‌गद् कण्ठ से भाँति-भाँति के आशीर्वचन कहे । बुआ मस्तक झुकाकर मानों सब झेलती रहीं । पतिव्रता रहने, पूतों फलने, बड़भागिन होने आदि के आशीर्वाद उन्होंने ऐसे प्रणत भाव से लिये कि

१. पृ० ६१ । २. पृ० ३६ । ३. पृ० २६ ।

मानों उनके नीचे वह गढ़कर मर भी जायं तो धन्य हो जायं नहीं तो—नहीं तो—।"[1]

सारांश में, लेखक ने वेदना-बढ़ाने वाले किसी अवसर को नहीं छोड़ा।

जैनेन्द्रजी ने 'प्रारम्भिक' शीर्षक से दस पंक्तियों में एक टिप्पणी लिखने के बाद 'त्यागपत्र' का आरम्भ किया है। ये टिप्पणी सप्रयोजन है और लेखक के नए कथा-कौशल का अंग—"सर एम० दयाल जो इस प्रान्त के चीफ़ जज थे और जजी त्याग कर इधर कई वर्षों से हरिद्वार में विरक्त जीवन बिता रहे थे, उनके स्वर्गवास का समाचार दो महीने हुए पत्रों में छपा था। पीछे उनके कागजों में उनके हस्ताक्षर के साथ एक पाँडुलिपि पाई गई जिसका संक्षिप्त सार इतस्ततः पत्रों में छप चुका है। उसे एक कहानी ही कहिए। मूल लेख अँग्रेज़ी में है। उसी का हिन्दी उल्था यहाँ दिया जाता है।

"कहानी में से स्थानों और व्यक्तियों के नाम और कुछ ऐसे ही ऐहिक विवरण अनिवार्य न होने के कारण बदल या कम कर दिये गये है।"—इस वक्तव्य से लेखक की उपन्यास-शिल्प सम्बन्धी निम्न विशेषताएँ स्पष्ट होती है :—

इससे कल्पित कहानी में वास्तविकता का भ्रमोत्पन्न किया गया है। लेखक ने सफल भ्रमोत्पत्ति के लिए यहाँ तक लिख दिया है कि 'ऐहिक विवरणों को बदल' दिया गया है ताकि सम्बन्धित व्यक्तियों को अनुचित न लगे, या वे आपत्ति न कर सकें। इस दृष्टि से लेखक की सफलता का अनुमान इसी से हो सकता है कि एक शोधकर्ता ने अपने शोध-ग्रंथ में लिख दिया है—"त्यागपत्र एक नारी···की करुण कहानी है, जो एक सच्ची घटना के आधार पर लिखी गई है।"[2]

'एम० दयाल' के जजी-त्याग के उल्लेख से पाठकों का ध्यान इससे सम्बद्ध कारण-कथा को जानने की ओर जिज्ञासोन्मुख होता है।

लेखक का देशकाल के प्रति दृष्टिकोण भी संकेतित है जो जैनेन्द्र जी के उपन्यासों में स्वल्प तथा प्रायः व्यंग्य रहता है।

यह भी स्पष्ट होता है कि इस 'कहानी' के लेखक दो है—एक, एम० दयाल —मूल पाण्डुलिपिकार दूसरा, कुछ बदलने का अधिकार रखने वाला लेखक जैनेन्द्र। सारांश में यह 'प्रारम्भिक' जहाँ मुख्यतः कहानी की वास्तविकता की भ्रमोत्पत्ति के लिए है, वहाँ गौण रूप से लेखक के उपन्यास-शिल्प के दृष्टिकोण का संकेतक भी है।

'त्यागपत्र' आत्मकथात्मक प्रणाली में लिखित है। यह इसके एक पात्र एम० दयाल की आत्मकथा है। फिर भी इसकी विशेषता है कि यह मृणाल की कहानी अधिक है, एम० दयाल की कम। ऐसी अवस्था में यह प्रश्न किया जा सकता है कि 'त्यागपत्र' में आत्मकथा-प्रणाली का आश्रय क्यों लिया गया है? इस कथन-पद्धति

---

१. पृ० ३४। २. डॉ० सुषमा धवन : "हिन्दी उपन्यास", पृ० १८३।

के उपयोग की सीमा होती है क्योंकि कथावक्ता अपने सम्बन्ध में तो अधिकार से कह सकता है किन्तु दूसरे पात्र के सम्बन्ध में जानकारी देने में वह इतिहास-शैली के लेखक का स्थान नहीं ले सकता। अतएव इस कथन-पद्धति में अपूर्ण चरित्र-चित्रण का खतरा रहता है। परन्तु 'त्यागपत्र' में पात्र-स्वल्पता के कारण कथावक्ता का काम सीमित हो जाता है। दूसरे, कथानायिका का व्यक्तित्व ऐसा बनाया गया है कि वह केवल आख्याता से ही खुलकर आत्माभिव्यक्ति कर सकती है—घर में भावज के कड़े अनुशासन में वह स्वयं से चार-पाँच वर्ष छोटे भतीजे प्रमोद से ही अपने सुख-दुख की बात कहने में बेतकल्लुफी अनुभव करती है। यही नहीं प्रमोद उसका विश्वस्त सहायक है और अपने गुप्त प्रेम-सम्बन्ध में वह उससे काम भी लेती है। एक किंकर्तव्यविमूढ़ निराश स्थिति में वह प्रमोद से कहती है—"मैं जो करती हूँ क्या जानती हूँ ? यहाँ मुझे कोई भी तो बताने वाला नहीं है। अपने मन की मैं किस से कहूँ ? प्रमोद मेरी कुछ समझ में नहीं आता। ऐसे में तू भी मुझे दोष देगा तो मैं क्या करूँगी ?"[1] इस तरह कथावक्ता कथानायिका की विश्वस्त आत्माभिव्यक्ति का आधार है। अतएव लेखक की अपेक्षा एक पात्र-लेखक अधिक स्वाभाविकता तथा सुविधा से मृणाल की कहानी कह सकता था। इसके अतिरिक्त एम० दयाल कथावक्ता ही नहीं, संवेदना-मापक पात्र भी है, जिसे सीधे प्रभाव-ग्रहण कर भावनाओं और चिंतन में बहना है—स्वयं उद्वेलित होना है और अपनी भाव-प्रवण कथा से पाठकों को भी आंदोलित करना है। इस तरह आत्मकथा की आवश्यकता स्वतः सिद्ध है। इसके अतिरिक्त पाठकों से प्रत्यक्ष सम्बन्धित तथा अपनी प्रकृति में अधिक भावमय होने के कारण आत्मकथा-प्रणाली त्यागपत्र की संवेदक कथा के उपयुक्त है।

'त्यागपत्र' का आरम्भ भावमय, आत्मीय तथा नाटकीय है—"नहीं भाई, पाप पुण्य की समीक्षा मुझ से न होगी। जज हूँ, कानून की तराजू की मर्यादा जानता हूँ। पर उस तराजू की ज़रूरत को भी जानता हूँ। इसलिए कहता हूँ कि जिनके ऊपर राई-रत्ती नाप-जोखकर पापी को पापी कहकर व्यवस्था देने का दायित्व है, वे अपनी जानें। मेरे वस का वह काम नहीं है। मेरी बुआ पापिष्ठा नहीं थीं, यह भी कहने वाला मैं कौन हूँ ? पर आज मेरा जी अकेले में उन्हीं के लिए चार आँसू बहाता है। मैंने अपने चारों ओर तरह-तरह की प्रतिष्ठा की बाढ़ खड़ी करके खूब मज़बूत बना ली है। कोई अपवाद उसको पारकर मुझ तक नहीं आ सकता। पर उन बुआ की याद जैसे मेरे सब-कुछ को खट्टा बना देती है। क्या वह याद अब मुझे चैन लेने देगी ? उनके मरने की खबर अभी पाकर बैठा हूँ। मुझको नहीं मालूम वह कैसे मरीं। घुल-घुल मरीं इतना तो जानता हूँ।...फिर

१ पृ० २९-३०।

भी जानना चाहता हूँ कि अन्त समय क्या उन्होंने अपने इस भतीजे को भी याद किया था? याद किया होगा, यह अनुमान कर रोंगटे खड़े हो जाते हैं।"[1] आरम्भ में पाठकों से सीधा सम्बन्ध जोड़ने वाला सम्बोधन है। ढंग ऐसा है कि कोई निश्छल व्यक्ति अपना हृदय खोलकर पाठकों के सामने रखना चाहता हो। आगे की पंक्तियों से पाठक किसी विलक्षण नारी-व्यक्तित्व की ओर आकर्षित हो उसकी सम्पूर्ण व्यथा-कथा जानने के लिए उत्सुक हो जाता है। यह उपन्यास जिस वेदना-वलित वातावरण में समाप्त होता है उसका अनुभव यहीं से होने लगता है। और प्रारम्भ तथा अन्त की प्रभाव-शृंखला भी इससे पूर्ण हो उठती है। पाप-पुण्य की द्वन्द्वमयी चर्चा से यह आभास मिलने लगता है कि इस पात्र (या लेखक) की धारणा और सामान्य लोक-दृष्टि में कोई विरोध है—यह भी पाठक को जिज्ञासोन्मुख कर देती है। यह उपन्यास की सामाजिक-दार्शनिक प्रकृति के अनुरूप भी है। इन तथ्यों से स्पष्ट है कि यह प्रथम परिच्छेद वस्तु-निर्देशात्मक भी है और औत्सुक्य-उद्बोधक भी।

आत्मकथा-प्रणाली की स्वाभाविकता के लिए लेखक ने कहीं-कहीं अनिश्चयात्मक कथन कहे हैं—वह इतिहास-शैली के लेखक की सर्वज्ञता प्रदर्शित न कर अपनी जानकारी की सीमा व्यक्त करता है; जैसे उसने लिखा है—

(क) "लड़की ने मुझे नापसन्द नहीं किया। (जहाँ तक मैं यह बात जान सकता हूँ)"[2]

(ख) "मुझे सारी बातें ज्ञात नहीं, लेकिन पिता और फूफा में कुछ पत्र-व्यवहार हुआ था।"[3]

(ग) "वह नवीं क्लास में थी या दसवीं में, मुझे ठीक याद नहीं।"[4]

(घ) (कोयले वाला)—"(इतने) रुपए सेरवाली है, बाबू, खास बिनारसी दुकान की।

(प्रमोद) मुझे याद नहीं रहा कि ठीक कितने रुपए सेर वाली वह सुरती थी। जरूर वह सुरती अच्छी ही होगी।"[5]

'आत्मकथा' की यथार्थता तथा आकस्मिक चमत्कार द्वारा प्रभाव-सृष्टि के लिए कथा की समाप्ति के बाद 'पुनश्च' के अन्तर्गत एम० दयाल के अपने 'त्यागपत्र' पर सही करने की सूचना दी गई है। एम० दयाल जब बालक प्रमोद था तब वह अपने से चार-पाँच वर्ष बड़ी बूआ के आचरणों को समझ नहीं सकता था; अतएव अपनी भिज्ञता की अपूर्णता में उसने स्थूल दृष्टि से जो देखा उसे—स्वाभाविकता के विचार से, वर्तमान दृष्टिकोण से आलोचना या स्पष्टीकरण किए बिना—लिख दिया। इस प्रकार मृणाल की तात्कालिक जीवन-गति की सविस्तर विवृति न देकर वह केवल

१. पृ० ५। २. पृ० ६६। ३. पृ० २४। ४. पृ० ८। ५. पृ० ४८।

संकेत दे पाया है और यह संकेत-शैली 'त्यागपत्र' का वैशिष्ट्य है। मनोविज्ञान के अनुसार हमारे बाह्ययाचरण—चाहे वह निरर्थक दिखाई दें—बिना आंतरिक कारणों के नहीं होते। अतएव ये किंचित् ब्योरे मनोवैज्ञानिक दृष्टि से व्याख्येय प्रतीकवत बन गए हैं। सारतः इस शैली को संकेत-शैली की अभिधा दो कारणों से दी गई है—एक, वर्णन-विवरण के अभाव तथा अपूर्णता के कारण; दूसरे, अपनी प्रतीकात्मकता के कारण। उदाहरणार्थ हम 'त्यागपत्र' की मृणाल तथा शीला के भाई की प्रच्छन्न प्रेम की घटना को लेते हैं। लेखक ने इस प्रेम-सम्बन्ध की पहले कहीं सूचना नहीं दी, फिर भी उसके बाहरी प्रतीकवत् आचरण जो संकेत देते हैं, उनका स्पष्टीकरण किया जा सकता है; जैसे, शीला के घर आने-जाने के बाद मृणाल के आचरणों में जो परिवर्तन आते हैं, वह किसी से प्रेम हो जाने के कारण हैं। इससे प्रमोद के प्रति प्यार-व्यवहार में अतृप्त काम की द्योतक शारीरिकता आ जाती है[1] --"अब उन्हें (मृणाल को) एकांत उतना बुरा नहीं लगता .. (वह) पतंगों के पेच देखती है और कटी हुई पतंग पर जब तक ओझल न हो जाय, आँख गाड़े रहती है.."[2]—यह प्रेमियों के प्रेम-सम्बन्ध का ही खेल है और कटी हुई पतंग प्रेम में असफल नारी का प्रतीक। एक दिन स्कूल से शीला के घर जाकर देर से लौटने के बाद वह 'अस्थिर', 'प्रसन्न', 'बेबात हँसती तथा बात कहकर भूल-भूल जाती है। वे सब अनुभव उसके उस दिन की विशेष प्रेमानुभूति के परिचायक हैं।[3] आसमां में स्वेच्छा से ऊँचे उड़ने वाली चिड़िया होने की अभिव्यक्ति[4], घर के कड़े अनुशासन में उसके स्वच्छन्द होने की कामना की प्रतीक है। एक विशिष्ट दिन के बाद उसे स्कूल से जाने में जो रोज़ देर होने लगती है,[5] वह मृणाल के शीला के भाई से मिल कर आने का संकेत देती है। और एक दिन देरी से आने के कारण उसे बेंतों की जो मार पड़ती है, उसका स्कूल छुड़वा दिया जाता है और विवाह की व्यवस्था में जैसी तत्परता दिखाई जाती है,[6] वे घर वालों को मृणाल के प्रेम-सम्बन्धों का पता चल जाने को संकेतित करती है। विवाह के बाद छिपाकर-प्रमोद के माध्यम से – मृणाल और शीला के भाई परस्पर पत्र-विनिमय करते हैं। शीला के भाई से आए पत्र पर जो my dear लिखा मिलता है, वह बालक प्रमोद के लिए चाहे सुलेख का विषय हो, पाठक के लिए कुछ और ही है। इस तरह सारी प्रेम-कथा अनुभावों-संकेतों में धीरे-धीरे कही गई है और लेखक ने कहीं अभिधात्मक सूचनाएँ नहीं दीं। नंददुलारे वाजपेयी ने अनुचित आपत्ति की है कि "पुस्तक में कहीं इस बात का संकेत नहीं है कि शीला के भाई से मृणाल का विवाह-पूर्व सम्बन्ध

---

१. पृ० ९-११। २. पृ० ९। ३. पृ० १०। ४. पृ० १०-११।
५. पृ० ११। ६. पृ० १२।

किस कोटि का था"[1]—हमारे विचार में यदि वाजपेयी जी 'संकेत' शब्द के स्थान पर 'कथन' लिखते, तो ठीक होता।

इस संकेत-शैली से कथा में विलक्षण रहस्यमयता आ गई है और पाठक का औत्सुक्य भी सतत् सजग रहा है। संकेत-शैली के अतिरिक्त लेखक ने कथा-निर्माण में एक स्थल पर संयोग तत्व से भी काम लिया है,[2] जो अस्वाभाविक नहीं का जा सकता। एक दूसरे स्थल पर मनोमंथन को लेखक ने काल्पनिक वार्तालाप के रूप में लिखा है, जो दीर्घ होते हुए दर्शन-खंड में विविधता भी लाता है और प्रभावपूर्ण अभिव्यक्ति का साधन भी है।[3] मृणाल की अपनी परिस्थितियों के गम्भीर विवेचन तथा आत्म-निरीक्षण को एक दीर्घ पत्र का रूप दिया गया है। एक, लेखक ने मृणाल के लम्बे गम्भीर कथन को अस्वाभाविकता से बचाने के लिए ही ऐसा किया है। दूसरे, इस पत्र-शैली से वह खुलकर आत्माभिव्यक्ति भी कर सकी है, जो उसके चरित्र को समझने के लिए आवश्यक था। कथा-विकास के लिए भी यह पत्र आवश्यक है। इसी के द्वारा एम० दयाल को मृणाल के नए पते का पता चलता है और वह उस से जाकर मिल सका है।

जैनेन्द्र जी ने केवल अत्यावश्यक घटनाओं (या घटनामासों) का संचयन किया है, अतएव कथा का प्रभाव कहीं शिथिल नहीं हो पाता। जहाँ तक कथा में मार्मिक स्थलों की पहचान तथा चित्रण का प्रश्न है, डॉ० देवराज का निम्न मत उल्लेखनीय है—"वास्तव में जैनेन्द्र की कला का विशेष महत्व इसमें नहीं है कि वे जीवन की विशिष्ट परिस्थितियों का मार्मिक चित्रण करते है, यद्यपि कहीं-कहीं उनके मनोवैज्ञानिक चित्र हमें मुग्ध करते है। ये चित्र आवश्यक रूप में कथा के मर्मस्थलों से सम्बद्ध नहीं होते—कम से कम 'त्यागपत्र' में नहीं हैं। प्रमोद के बाल-दर्प की जहाँ-तहाँ अच्छी विवृति है, पर बुआ के जीवन के मर्म-प्रसंग, जहाँ उनके जीवन की दिशा बदलती है, प्राय: संकेतित ही है।"[4]

आलोचकों ने अस्वाभाविकता की दृष्टि से त्यागपत्र के कथानक में अनेक दुर्बल स्थल देखे हैं। डॉ० देवराज ने लिखा है—'मृणाल पति से स्वयं कहती है—"मुझे आप चाहे तो घर में से दूर कर सकते है।" यह अविश्वसनीय लगता है। मायके न जाना भी वैसा ही है—क्योंकि स्नेह का ऐसा अभाव वहाँ न था। मायके न जाकर वह एक ऐसे व्यक्ति के साथ चली जाती है जिसके बारे मे वह निश्चय जानती है कि वह उसे ज़रूर छोड़ देगा। जैसे वह अपने को संकट में डालने पर तुली हो। कोयले वाला उसमें बुरी तरह आसक्त है, अत: वह करुणा कर उसके साथ चल देती हैं। उस समय वह व्यक्ति के परिवार के बारे में बिलकुल ही नहीं सोचती—वैसे

१. "आधुनिक साहित्य", पृ० १६७। २. पृ० ६३। ३. पृ० ७३।
४. "साहित्य-चिन्ता", पृ० १८५।

कहीं-कहीं ज़रूरत से ज्यादा सोचती मालूम पड़ती है।"[1] हम डॉ० देवराज से सहमत हैं; उनकी केवल एक आपत्ति का उत्तर दिया जा सकता है। मृणाल ने अनमेल पति से दुर्व्यवहार पा कर अपने मायके में ही बने रहने का घोर प्रयत्न किया था। भावज से तो आशा हो ही नहीं सकती थी किन्तु भाई ने वेदना का अनुभव करते हुए भी, मजबूरी ही दिखाई थी---वह मृणाल को ससुराल के अतिरिक्त और कोई मार्ग भी बता नहीं सका था। कोयले वाले के परिवार की चिंता किए बिना, उसके साथ चले जाने की आपत्ति जैनेन्द्र जी के सामने भी थी और उसके लिए उन्होंने मृणाल से तर्क भी दिलवाए हैं, जो प्रबल होते हुए भी अकाट्य नहीं हैं। तात्पर्य यह है कि लेखक ने तर्क-संगति पर पर्याप्त ध्यान दिया है, चाहे उसे पूरी सफलता नहीं मिली।

सारतः 'त्यागपत्र' की अस्वाभाविकता खटकती अवश्य है, किन्तु आक्रांत नहीं करती।

कथा की लघुता को लेकर वाजपेयी जी ने एक प्रश्न प्रस्तुत किया है। आगे उसके उत्तर के आलोक में 'त्यागपत्र' की कथावस्तु के स्वरूप-संगठन के सम्बन्ध में और भी प्रकाश डाला जा सकेगा। वाजपेयी जी लिखते हैं "पुस्तक के छोटे आकार को देखकर प्रश्न होता है कि इसमें उपन्यास-[illegible] विशेषताएँ हैं या नहीं—इसे उपन्यास कहा भी जा सकता है, या नहीं। उपन्यास-कला की दृष्टि से यह प्रश्न आवश्यक हो सकता है, और आकर्षक भी...।"[2] हमारे विचार में यह प्रश्न स्यात् इसलिए उठाया गया है क्योंकि जैनेन्द्र की उपन्यासकला में कुछ विशेषताएं कहानी-कला की मिलती हैं। 'त्यागपत्र' में एक ही मुख्य कथा है और प्रासंगिक कथा का सर्वथा अभाव है। पात्र भी कहानी के समान स्वल्प, कथा की अन्विति एवं प्रभाव-ऐक्य भी वैसा ही प्रबल, तथा व्यंजना की विशिष्टता भी कहानीवत् है। वस्तुतः ये विशेषताएँ कुछ अन्य औपन्यासिक गुणों से समन्वित होकर, एक सफल लघु-उपन्यास के शिल्प की भी हो सकती हैं। कहानी के विपरीत, औपन्यासिकता की दृष्टि से, 'त्यागपत्र' में कथा-नायिका का सम्पूर्ण जीवन चित्रित है---चित्रण में सांकेतिकता है किन्तु अपूर्णता नहीं। मृणाल के अतिरिक्त यहाँ दूसरे पात्र एम० दयाल की भी सार्थक रूप-रेखा दी गई है। दूसरे, इसी सम्पूर्णता के चित्रण-हेतु यहाँ एक दो नहीं, अनेक रूप-अरूप घटनाएँ हैं। 'त्यागपत्र' घटनापरक उपन्यासों का प्रभाव नहीं डालता क्योंकि यहाँ अन्तर्मुखी मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण के कारण प्रायः घटनाओं के आंतरिक प्रभाव को चित्रित किया जाता है, घटनाओं को घटित होते हुए प्रदर्शित नहीं किया गया। वस्तुतः यहाँ कर्म-प्रेरणाओं का महत्व है। प्रायः उनका चित्रण कर दिया जाता है तब उस कर्म की अपेक्षा निहित भावना को महत्व देना लेखक का अभीष्ट

१. "आधुनिक साहित्य" पृ० १८५। २. वही पृ० १६५।

होता है। वस्तुतः उसको समझे बिना कर्म की सार्थकता ही समझ में नहीं आती। जैसे, एम० दयाल का मृणाल के कमरे में झाड़ू लगाना उसके कृतज्ञता-व्यय का उपकरण मात्र है। प्रमोद के बाल-दर्प की बात भी उसको छोटा कह देने की प्रतिक्रिया के फलस्वरूप है। उस दर्प के द्वारा उसने अपने को बड़ा सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। तीसरे, कहानीकार के पास 'त्यागपत्र'-जैसी कथा को क्रमशः खोलने और चरित्रों के इतने विश्लेषण की गुंजाइश नहीं होती। चौथे, त्यागपत्र' में स्थान-स्थान पर पाठकों को चिंतन-लीन करते हुए जो विशेष दार्शनिक पुट दिया गया है, उसका अवकाश भी कहानीकार के पास नहीं। इसकी विचारोत्तेजक प्रश्नता सामाजिक समस्या के साथ मिलकर उद्देश्य को ऐसी सम्पन्नता देती है कि कहानी तो पीछे सामान्य वृहद् उपन्यास भी इसकी तुलना में नहीं ठहर सकते। कहानी में एक ही तत्व पर बल दिया जाता है, किन्तु यहाँ चरित्र-चित्रण की प्रधानता होते हुए भी उद्देश्य-तत्व तथा उसके बाद कथा-तत्व पर पर्याप्त दृष्टि दी गई है। उपर्युक्त समग्र विवेचन के बाद यह भी कहा जा सकता है कि चाहे जैनेन्द्र जी का उद्देश्य कहानी सुनाना न हो—जैसाकि 'सुनीता' को 'भूमिका' में लिखा है—फिर भी उनमें कथा-शिल्प-कौशल की मौलिकता क्षमता है; 'त्यागपत्र' के आधार पर तो यही कहा जा सकता है। अन्त में, इसकी प्रभाव-समष्टि कहानी से कहीं बढ़कर है।

जैनेन्द्र जी के उपन्यास चरित्र-प्रधान हैं। यहाँ मृणाल की जीवनी को ही कुशल विन्यास से कथा का स्वरूप मिल गया है इसलिए उपन्यास के उपर्युक्त विवेचन में मृणाल का चरित्र भी आ गया है जिसे अलग रूप से लिखने की आवश्यकता नहीं। एम० दयाल ने अपनी संवेदना-प्रतिक्रयाओं के आलोक मे मृणाल को चित्रित किया है, अतएव मृणाल की सम्पूर्ण चरित्र-झाँकी के साथ उसके जीवन-विकास की भी लगभग पूरी रूप-रेखा मिल गई है। लेखक ने उसे मृणाल के चरित्र की असाधारणता नहीं दी, व्यक्तित्व की सामान्यता दी है ताकि पाठक का उसके माध्यम से मृणाल के साथ तादात्म्य होता रहे। सामान्य होते हुए भी, 'त्यागपत्र' में अपने कार्यानुकूल वह संवेदनशील है। लेखक ने बड़ी स्वाभाविकता से बाल्यजीवन से विरक्त जीवन तक उसकी संवेदनाओं के विकास का सांकेतिक परिचय दिया है और अपने 'बुद्धि-दुश्मनी'[1] या ममत्व (स्वार्थ)-त्याग के उद्देश्य को सिद्ध किया है। उसके जीवन में त्यागपत्र देने की घटना संवेदना की चरम परिणति के रूप में आई है। किन्तु इस चरम परिणति तक पहुंचने और बाद के क्रम में लेखक ने यथार्थता के लिए उसकी संवेदनशीलता की सीमाओं का ध्यान रखा है। वह मृणाल का उद्धार तो कर सकता है, किन्तु धन को लुटाकर मृणाल-जैसे और अनेक लोगों के कल्याण की औढर उदारता उसमें नहीं।

१. पृ० ८०।

मृणाल का उद्धार चाहे वह न कर सका, उसकी वेदना से अपना उद्धार उसने अवश्य किया है। पर इस उद्धार की भी सीमाएँ हैं, क्योंकि व्यक्ति के प्रभाव-ग्रहण की सीमाएँ है— वह मृणाल से प्रभावित होकर भी मृणाल नहीं बन सका। आत्मनिरीक्षण ने उसे अपनी हृदय-हीनता से अर्जित जजी से त्यागपत्र तो दिलवा दिया किन्तु इससे आगे बढ़कर वह मृणाल के सेवाकार्य को न अपना सका और विरक्त बनकर रह गया। वह अपनी सीमाओं से भिज्ञ है, अतएव स्वीकार करता है—"औरों के लिए रहना तो शायद नये सिरे से मुझसे सीखा न जाय। आदतें पक गई हैं। पर अपने लिए तो उतनी ही स्वल्पता से रहूँगा जितना अनिवार्य होगा। यह वचन देता हूँ"।[1] मृणाल की जीवन-परिणति से वह सर्वत्र 'गड़बड़'— समाज-सृष्टि के गलत विधान—की अनुभूति तक तो पहुँचता है किन्तु उसका समाधान नहीं देता— यह उसकी सीमा है। यह भी कहा जा सकता है कि यह लेखक की सीमा है, परन्तु समाधान आवश्यक भी नहीं है। इस दृष्टि से 'त्यागपत्र' प्रश्नांत उपन्यास है। वस्तुतः गड़बड़ की तीखी अनुभूति करा देने में ही (पी० दयाल के चरित्र और) लेखक की कला की विजय है। इस तरह लेखक ने अपने जीवन-दर्शन के आदर्शानुसार पात्रों को चरित्र-परिणति दी है पर उनकी 'आदतों' को ध्यान में रखकर --अपने उद्देश्य के प्रतिपादन में उसने मनोवैज्ञानिक स्वाभाविकता का विस्मरण नहीं किया। मृणाल के गतिशील चरित्र में भी उसने इस 'आदत', या सांस्कारिक स्वभाव को दृष्टि में रखा है। उसके आगे की जीवन की दृढ़ता पहले भी मिलती है; एक स्थान पर उसने कहा है "···मृणाल का कौल झूठा नहीं होता।"[2] शिक्षा-काल में दूसरी लड़कियों के अपराध को स्वेच्छा से अपने ऊपर ले दण्ड पाने की घटना को भावी जीवन की संगति के रूप में स्थान दिया गया है। इसके अतिरिक्त भारतीय सती नारी के संस्कारों से भी उसका व्यक्तित्व आद्यन्त प्रेरित रहा है। अपने अनमेल पति के प्रति भी हृदय के अतल तल से सच्ची रहने की प्रेरणा से ही वह उसे अपने उन प्रेम-रहस्यों से परिचित करा देती है जो एक सामान्य व्यावहारिक स्त्री कभी न करती। यहाँ सतीत्व के संस्कारों का सूक्ष्म अर्थ अभीष्ट है—वह शरीर से अधिक मन से सच्ची है। उसकी आत्मपीड़न-वृत्ति का मूल भी इसमें खोजा जा सकता है। इसके अतिरिक्त उसके अभुक्त कामोन्नयन से भी इसकी व्याख्या हो सकती है। संकेत-शैली के निदर्शन में हम मृणाल की काम-भावनाओं की छटपटाहट को निदर्शित कर चुके हैं। स्वेच्छित प्रेम की विफलता तथा आगे अनमेल पति के दुर्व्यवहार से भी उसके अतृप्त काम को भली-भाँति समझा जा सकता है। इसके अतिरिक्त ऐसे पति से तंग आकर मायके में ही बने रहने का भाई से आग्रह उसके अहं-जन्य विद्रोह को भी किंचित् व्यंजित करता

१. पृ० ८० । २. पृ० १९ ।

है। आगे भाई की असहमति से बाध्य होकर वह पति के प्रति आत्मपीड़ा की भावना से अविकल आत्म-समर्पण का जैसा व्यवहार करने लगती है उसमें इन दोनों—अतृप्त काम तथा आहत-अहम्—का उदात्तीकरण स्पष्ट ध्वनित है। किन्तु यह उदात्तीकरण की मानसिक प्रक्रिया हो या पूर्व-चर्चित अहं की प्रेरणा ये सब उसके परिवर्तनों में अन्तर्भूत हैं, लेखक द्वारा विश्लेषित नहीं। ऐसी अवस्था में यह कहना उचित होगा कि 'त्यागपत्र' मे मनोविश्लेषण पर बल न देते हुए भी चारित्रिक स्वाभाविकता के रूप में इसका प्रच्छन्न आधार लिया गया है।

इस उन्नयन की प्रक्रिया पर एक शंका उठाई जा सकती है। भारतीय नारी की विडम्बनापूर्ण विषमता की परिस्थितियों से बाध्य होकर उसका अनचाहे पति के प्रति समर्पित होने का आत्मपीड़क व्यवहार, या दुःख में ही तृप्ति पाने का प्रयत्न—दूसरे शब्दों में उसका मानसिक उन्नयन—इतनी जल्दी कैसे सम्भव हो गया? इसका उत्तर यही दिया जा सकता है कि परिस्थितियों तथा उसके सांस्कारिक स्वभाव का यहाँ मेल हो गया। पहले उसने परिस्थितियों को स्वानुकूल बनाने का प्रयत्न किया किन्तु असफलता में उसको संस्कारों ने योग दिया।

गौण पात्र कोयले वाले के चरित्र में भी काम-भाव तथा आहत अहम् दोनों का योग मिलता है। उसके सम्बन्ध में मृणाल कहती है—"मै उसके हाथ से निकलती तो वह अनर्थ ही कर बैठता। अपने को मार लेता या शक्ति होती तो मुझे मार देता।"

प्रमोद के माता-पिता, फूफा, शीला, शीला का भाई आदि पूरक पात्र हैं जो इस चरित्रकथा को पूर्णता देते है। ये पात्र—जैसे, प्रमोद के माँ-बाप—भी चित्रण की स्वल्प रेखाओं में भी सजीव हो उठे हैं। प्रमोद की माँ कठोर है किन्तु मृणाल की विदाई पर वह भी 'द्रवित भाव' तथा गद्‌गद् कण्ठ से आशीर्वचनों की झड़ी लगा देती है। और इसी विदाई के अवसर पर प्रमोद के पति और मृणाल के बड़े भाई का मनोवैज्ञानिक चित्र दर्शनीय है—'पिता के सामने बुआ फूट-फूटकर रोने लगीं। पिताजी ने झट रूमाल निकालकर चेहरे को बार-बार पौंछा, निरर्थक भाव से जल्दी-जल्दी कहा—"क्या है ? क्या ?' 'कुछ नहीं, कुछ नही", 'रोओ मत, रोओ मत' 'ठिट्, ठिट्, रोते हैं !' और कहते-कहते हठात् वह बुआ के सामने से दूर चले गये और साथ जाने वाली गठरी-पोटरी, बक्स-बिस्तर गिनने और बतलाने और उठवाने में लग गये। ऐसे कि बस बहुत ही काम है, हमें क्या फुर्सत रक्खी है'।[१] वस्तुतः जैनेन्द्र जी पात्रों के साधारण व्यवहार में, अन्तर्व्यंजक अनुभावों के समावेश से, मर्म-प्रसंगों की सृष्टि करने में सिद्ध-हस्त हैं। अनुभावों के अतिरिक्त पात्रों के बहिरंग

१. पृ० ३४।

चित्रण में लेखक ने दो-तीन स्थलों पर मृणाल की वेशभूषा से उसके जीवन की तात्कालिक स्थिति, व्यक्तित्व की सादगी तथा सात्विकता को ध्वनित किया है। लेखक ने नामकरण द्वारा भी मृणाल के जीवन-विकास को इंगित किया है- वह अपनी पतनोन्मुखता में भी ऊर्ध्वमुखी है।

उपन्यासों में प्रायः देश-काल के चित्रण से पात्रों एवं कथा को यथार्थ भूमि पर प्रतिष्ठित किया जाता है। 'त्यागपत्र' में इसको बचाकर कथा की सचाई में विश्वासोत्पन्न करने का प्रयास किया गया है। यह शिल्प-कौशल उसके 'प्रारम्भिक' (मन्तव्य) का अंग है—"कहानी में स्थानों और व्यक्तियों के नाम और कुछ ऐसे ही ऐहिक विवरण अनिवार्य न होने के कारण बदल या कम कर दिए गए हैं।" 'कम' शब्द से यह तो समझ में आता है कि इस उपन्यास में ऐहिक वर्णनों की इतनी आवश्यकता न होगी किन्तु 'बदल' शब्द विशेष साभिप्राय है। 'वह कहना चाहता है यदि पात्रों तथा उनसे सम्बन्धित घटनाओं का यथातथ्य चित्रण कर दे तो उस पर आपत्ति की जा सकती है, इसलिए 'त्यागपत्र' में स्थान के नाम पर 'अमुक'[1] शब्द का व्यवहार किया गया है और काल भी अपूर्ण लिखा गया है--एम० दयाल ने अपने हस्ताक्षर के साथ तिथि दी है किन्तु लेखक ने उसे अपूर्ण कर दिया है, जैसे "ता० ३-४"[2] ऐसा भी किया जा सकता था कि अपूर्ण तिथि देने के बदले तिथि दी ही न जाती क्योंकि '३-४-' लिखने से कुछ काम की जानकारी नहीं मिलती। किन्तु इससे लेखक के कला-कौशल पर मुहर न लगती---'प्रारम्भिक' की तरह उपन्यास के अन्त में भी पाठक को कहानी की वास्तविकता पर विश्वास दिलाने की यह कुशल विधि है। यहां आकर यह भी स्पष्ट हो जाता है कि एक पाण्डुलिपि इस जज दयाल की है और हमारे सामने प्रस्तुत करने वाला लेखक जैनेन्द्र है। इस तरह 'त्यागपत्र' की एक और मौलिकता सामने आती है कि आत्मकथात्मक उपन्यास का भी लेखक और हो।

देश-काल का कथन न करने का एक और प्रयोजन भी है। जैनेन्द्र जी जीवन की चिरन्तन समस्याओं के कलाकार हैं जो देशकालातीत हैं। इस तरह देश-काल-वर्णन का अभाव यहाँ दोष नहीं गुण बन गया है। कुछ समस्याओं--अनमेल-विवाह, नारी की पराधीनता आदि—में सामयिकता का स्पर्श है किन्तु यहाँ यह भी चिरन्तनता को सींचती है—जैनेन्द्र जी तज्जनित वेदना से पात्रों-पाठकों को जीवन के स्थाई प्रश्नों के सम्बन्ध में चिन्तनलीन करते हैं। इससे सामयिकता कहीं भी उभर नहीं पाती। अधिक से अधिक वह व्यंग्य रहती है और अपनी संगति के लिए देशकाल के अतिरिक्त चित्रण की माँग नहीं करती। फिर भी एक-दो जगह अपने

---

१. पृ० ४१। २. पृ० ८०।

उद्देश्य के अनुकूल, मृणाल की वेदना के प्रभाव को बढ़ाने और सामाजिक उद्देश्य को व्यापक करने के लिए लेखक ने निम्नवर्गीय नागरिक समाज के निवास-स्थलों का द्रावक-व्यंजक वातावरण अंकित किया है; देखिए—"शहर के उस मुहल्ले में जाते हुए मन मेरा दबा जाता था। कहाँ बुआ कहाँ इस जगह की जिन्दगी! वहाँ नीचे दर्जे के लोग रहते थे।[1] भीतर गली में गहरे जाकर बुआ की कोठरी थी। 'विचित्र मुहल्ला था। वहाँ दिन शायद ही कभी होता हो। दिन में रात होती थी और रात में क्या होता होगा, पता नहीं। सटी-सटी कोठरियाँ थीं। वे कोठरियाँ ही दुकानें थीं और रात में वे ही ख्वाबगाह। किसी पर सस्ती बिसाइत की चीज़ें हैं तो किसी पर बासी साग-भाजी और चुचके फल रक्खे है, कही नाई है, कहीं हाथ की मशीन लिए दर्जी बैठा अमरीकन तर्ज के कपड़े सी रहा है। यहाँ आसमान भी एक गली बन जाता है और काल की गिनती रातों के हिसाब से होती है।"[2] और आगे कुछ ही व्यंग्यात्मक शब्दों में इस वातावरण की प्रतिक्रिया चित्रित है—"मैं बी० ए० का विद्यार्थी पेट पर सिर्फ कमीज़ और कमीज़ पर सिर्फ टाई लगाए उस दुकान के आगे टहलता हुआ बुआ की ओर उनके चारों ओर की इस परिस्थिति की विचित्रता पर बिना सोचे जाने क्या-क्या न सोचता रहा।"[3] पहला अवतरण नगर के विशिष्ट भाग का प्रतिनिधि-चित्र है अतएव एक नगर-विशेष का नाम देने की आवश्यकता नहीं थी।

'त्यागपत्र' में वर्णन, चिंतन तथा वार्तालाप का समुचित सामंजस्य है। अतएव यहाँ एकरसता की ऊब भी नहीं। त्यागपत्र में वार्तालाप औपचारिक नहीं। कथा को आगे बढ़ाने में भी इनका सामान्य उपयोग ही हुआ है। रोचकता लाना भी इनका उद्देश्य नहीं है। इनकी मुख्य सार्थकता प्रश्नों के साथ मत-प्रतिपादन तथा पात्रों की मन:स्थितियों की मार्मिक व्यंजना में है। इस सम्बन्ध में विदाई के अवसर पर मृणाल के भाई का कथन दिया जा चुका है।

'त्यागपत्र' के संवाद स्थूल रूप में पात्रानुकूल नहीं कहे जा सकते क्योंकि विभिन्न पात्रों की भाषा प्राय: लेखकीय भाषा है और उसमें व्यक्तिगत प्रयोग न्यून हैं। इनकी पात्रानुकूलता तथा स्वाभाविकता पात्र की मन:स्थिति की अनुरूपता में है। अतएव पात्रों के मनोवैज्ञानिक चरित्र-चित्रण में इनसे विशेष योग मिला है। बुआ मृणाल की मन:स्थिति बिगड़ी हुई है—ऊपर से वह प्रकृतिस्थ दिखाई देती है किन्तु उनका मन संतप्त है। उसको सिर-दर्द भी है। तब प्रमोद को उसको पूछने की चिंता हुई—

मैंने कहा— "बुआ क्या है?"

---

१. पृ० ४२। २. पृ० ४७-४८। ३. पृ० ४८।

बोलीं—"सिर में दर्द है।"

"माथा दाब दूं ?"

"नहीं।"

"बाम लगा लो"

"नहीं"

"यू-डी क्लोन की पट्टी लाता हूँ—"

"अरे नहीं—नहीं—नहीं—"

मालूम हुआ कि उन्हें दो-तीन रोज़ से सख्त कब्ज़ है, पेट पत्थर हो रहा है।

मैंने कहा—"डाक्टर—"

बोली—"कोई डाक्टर-फाक्टर नहीं।"

मैंने कहा—"फिर ?"—

बोली—"सब ठीक हो जायगा।"[1]

बुआ नहीं चाहती कि उन्हें कोई कुछ कहे—पूछे। यही नहीं वह अपनी स्थिति में बनी रहना चाहती हैं। इसलिए वार्तालाप छोटा तथा मतलबी है। उससे खीज टपकती है। इसलिए एक शब्द, एक वाक्य या वाक्यांश से काम चल गया है।

संवादों से प्रमोद के बाल-हठ तथा हर्ष की सुन्दर व्यंजना हुई है। इस सम्बन्ध में प्रमोद की अपने फूफा से 'दुस्सह अविनय' का प्रसंग[2] देखा जा सकता है। फूफा से चिढ़ा प्रमोद फूफा के दो-दो बार पूछने पर उत्तर देता है और उसमें दर्पोक्ति का तीखापन रहता है। उसके परीक्षा में फेल होने के भ्रामक उत्तर पर फूफा जो उपदेश देते हैं उसकी शैली में उदारता झलकती है और वह बढ़कर तीन पँक्ति का हो जाता है। जब प्रमोद अपने झूठे उत्तर से उन्हें दो बार छकाता है तो वाक्य 'हो-हो-हो-हो' की हँसी में सिकुड़कर झेंप को छिपाने की कोशिश करता है। इस प्रकार मन:स्थिति-परिस्थिति के अनुकूल वार्तालाप में जैसी मन्द्रता-क्षिप्रता तथा वाक्यों में जैसा संकोच-विस्तार होता है, त्यागपत्र में उस पर दृष्टि रखी गई है। कोयले वाले और प्रमोद का छोटा-सा संवाद शीलोचित व्यवहार तथा शिष्टाचार का सुन्दर निदर्शक है।[3]

'त्यागपत्र' में वार्तालाप प्रायः छोटे, चलते तथा चुस्त हैं। इनमें दीर्घता नहीं आई है। किन्तु जहाँ पी० दयाल के प्रश्नों-आक्षेपों के उत्तर में मृणाल को तर्क प्रस्तुत करने हैं या उसे अपने जीवन के विचित्र मोड़ समझाने हैं, वहाँ इनमें दीर्घता तथा तार्किक सौन्दर्य आ जाता है। कहीं-कहीं आने और स्वाभाविक होने से यह दीर्घता कथा-प्रवाह में बाधक नहीं होती। इनसे कथा के रहस्य खुलते हैं अतएव इनसे

१. पृ० २८।　　२. पृ० ३२-३३।　　३. पृ० ४८।

संतोष मिलता है। मृणाल की अपने सिद्धांतों पर अटल आस्था, शैली को बलवती बना देती है। यही कारण है कि कहीं-कहीं आख्याता उसके तर्क से नहीं, निश्छलता तथा दृढ़ता से प्रभावित होता हुआ दिखाया गया है। 'सुनीता' की तरह संवादों में यहाँ भी नाटकीयता है। शब्द-गठन से भी इसे सूचित किया गया है; जैसे—"कौ-न" "क्या-आ"[1] आदि। सारांश में वार्तालाप-तत्व ने 'त्यागपत्र' में अपना काम पूरा किया है किन्तु यह इसकी विशिष्टता नहीं।

जैनेन्द्र जी की शैली-विशिष्टता का सौन्दर्य 'त्यागपत्र' में बढ़ा ही है, कम नहीं हुआ। संकेत-शैली का सौन्दर्य तो 'त्यागपत्र' की अपनी पृथक् विशिष्टता है। 'त्यागपत्र' की विषयानुरूप शैली के कुछ उत्कृष्ट उदाहरण आस्वादनीय हैं; इनसे यह स्पष्ट हो जाएग कि 'त्यागपत्र' के प्रभाव-वर्द्धन में भाषा-शैली का कितना प्रचुर योग है :—

(१) अन्तर्बाह्य चरित्र-वर्णन—"बैठा। थोड़ी देर में उन्हें देखता रहा। कोई कुछ न बोला। सफेद बिना किनारे की धोती थी। बाल ढीले जूड़े में बंधे थे। आँखों की स्निग्धता विशेषता से निगाह को आकृष्ट करती थी। देह इकहरी और वशीभूत। मानों अपने भाग्य से गहरा सौहार्द है, अनबन किसी प्रकार की भी नहीं है। जो झेला है, सब पी गई है। सबका रस बन गया है, खार कोई नहीं है।"[2]—मृणाल के बहिरंतर शील का रेखाचित्र है। प्रमोद को, बिना पूछे, बिना बताए ही मृणाल की साधना-साध्य-स्थिति, अन्तर्बाह्य एकता, का अनुभव हो गया। यहाँ वशीभूत करने वाली सरलता का चमत्कार है।

(२) मन:स्थिति-विश्लेषण का मनोवैज्ञानिक चित्र—"मैंने प्रण किया था कि मैं नहीं रोऊँगा, नहीं रोऊँगा, नहीं रोऊँगा। मैं नहीं रोया, नहीं रोया। मुझे बेहद गुस्सा मालूम होता था कि मैं क्यों कुछ उत्पात नहीं किये डाल रहा हूँ। मेरे मन में हो रहा था कि कोई मुझसे झगड़ता क्यों नहीं है। इससे उससे, किसी न किसी से टक्कर लेने को जी होता था। बुआ?—उंह, वह जायें तो जायें। मेरा उनसे कुछ मतलब नहीं है। मेरा किसी से कोइ मतलब नही है। मैं अकेला सब कुछ से निपट लूँगा। हाँ, अकेला, अकेला। मुझसे मत बोलो, कोई मत बोलो। मैं नही याद करूँगा बुआ को। वह क्यों चली जा रहीं हैं? मेरे रहते क्यों चली जा रही हैं? और यह फूफा कौन बला है कि ले जायेंगे?—ले जायँ तो ले जायें। जायें, अरे टलें तो।"[3]—यहाँ अभिव्यंजना की सामर्थ्य से ही आन्तरिक द्वन्द्व साकार हो गया है।

(३) आत्मचिंतन से जगचिंतन—"मन में एक गाँठ-सी पड़ती जाती थी।

१. पृ० ६२। २. पृ० ६८। ३. पृ० ३५।

वह न खुलती थी, न घुलती थी, बल्कि, कुछ करो, वह उलझती और कसती ही जाती थी। जी होता था, कुछ होना चाहिए, कुछ करना चाहिए। कही कुछ गड़बड़ है। कहीं क्यों सब गड़बड़ ही गड़बड़ है। सृष्टि गलत है, समाज गलत है। जीवन ही हमारा गलत है। सारा चक्कर यह ऊटपटाँग है। इसमें तर्क नहीं है, संगति नहीं है, कुछ नहीं है। इसे जरूर कुछ होना होगा। पर क्या-क्या? वह क्या है जो भवितव्य और जो कर्तव्य है?"[1]

छोटे-छोटे वाक्य जैनेन्द्र जी की भाषा की विशिष्टता हैं। इनमें अन्तर्द्वन्द्वों के अंकन, चिन्तन-भार के संवहन तथा भावावेगों के संतुलन की प्रभावी क्षमता है। इन विशेषताओं के लिए वे भाषा को सहज प्रवहमान बनाने का प्रयत्न नहीं करते; प्रत्युत् रोक-रोक कर ऐसी तरंगों में चलाते हैं, कि वे पाठकों के विचारों को 'ठेलती, कुरेदती'[2] हुई चलती हैं। उनकी भाषा चिंतन की, मन की भाषा है। बात साधारण हो चाहे गहन गम्भीर, वे शब्द-चयन की दृष्टि से सरल भाषा का प्रयोग ही करते हैं; परन्तु विशेषता यही है कि वह अपनी विदग्धता, बानगी और 'लोच' से आकर्षित करती है। वाक्य-रचना भी सरल होती है किन्तु प्रायः रीतियित (stylized); अतएव जैनेन्द्रीय भाषा की सरल वक्रता प्रसिद्ध है। उनके सरल शब्द भी प्रसंग के संदर्भ में निराली सार्थकता से मण्डित हो जाते हैं। जैनेन्द्र जी देशी-विदेशी शब्दों को ग्रहण करने, शब्दों को अपनी स्वतन्त्र रुचि के अनुकूल बनाने-बिगाड़ने और उन्हें अनोखी लय, और कहीं चुस्ती देने में किसी नियम-बन्धन से नहीं बँधे। प्रभावपूर्ण अभिव्यक्ति तथा सहजता के नाम पर उन्होंने यह सब स्वीकार किया है। परन्तु कहीं-कहीं यही सहजता लापरवाही बन जाती है और उनकी सचेष्ट शैलीवादिता की आड़। व्याकरण के नियमों की दृष्टि से विचार करें तो 'त्यागपत्र' में भी चिन्त्य प्रयोगों की कमी नहीं—'सुनीता' के विवेचन में इसे सविस्तर प्रमाणित किया गया है और यहाँ ये प्रयोग अपेक्षाकृत कम हैं—फिर भी, उनकी भाषा-शैली के प्रभाव एवं सामर्थ्य का निषेध नहीं किया जा सकता।

अन्त में, कथानक की विश्वसनीयता में कहीं-कहीं शंका की गुंजायश के बावजूद, अनर्गल सामग्री से रहित गाढ़ा-बंधत्व, चारित्रिक उदात्तता, संयोजित भाव-विकास, घनीभूत वेदना तथा विचारोत्तेजक प्रश्नता ने मिलकर 'त्यागपत्र' के शिल्प को प्रभावशाली बना दिया है। इसका महत्व एक और दृष्टि से भी है। इसके वेदना-दर्शन ने हिन्दी के अनेक उपन्यासों को प्रभावित किया है जिस से उनके शिल्प में भी मार्मिकता की वृद्धि हुई है—विशेष रूप से अज्ञेय के 'शेखर' और 'नदी के द्वीप' में व्याप्त वेदना-

१. पृ० ६३।

१. डॉ० प्रभाकर माचवे : "साहित्य का श्रेय और प्रेय" की भूमिका, पृ० ५।

तत्व 'त्यागपत्र' से भी प्रेरित रहा है। इस दृष्टि से अधोलिखित पंक्तियाँ तुलनीय है—

(क) "जो शास्त्र से नहीं मिलता, वह ज्ञान आत्मव्यथा से मिल जाता है।" तथा "जमा हुआ दर्द मानव की मानस-मणि है।" ('त्यागपत्र')

(ख) "वेदना में एक शक्ति है जो दृष्टि देती है। जो यातना में है, वह द्रष्टा हो सकता है" ('शेखर' की भूमिका)

(ग) "दुख सब को मांजता है ......" ('नदी के द्वीप' का मुख पृष्ठ)

बिल्लेसुर बकरिहा

'बिल्लेसुर बकरिहा' निराला जी के उन परवर्ती उपन्यासों में से है जिनमें उन्होंने सामाजिक यथार्थ के निकटतम आने का प्रयत्न किया है। 'अप्सरा' से लेकर 'निरुपमा', और 'निरुपमा' से 'कुल्लीभाट' एवं 'बिल्लेसुर बकरिहा तक पहुँचते-पहुँचते निराला जी रोमानी वृत्ति को छोड़कर व्यावहारिक धरातल को अपनाते चले गए है और 'बिल्लेसुर बकरिहा' उनकी वस्तु-निष्ठ एवं प्रगतिशील (प्रगतिवादी) कला का प्रोज्ज्वल प्रमाण बनकर उपस्थित हुआ। इसीलिए इसके बाहरी पृष्ठ को सप्रयोजन लाल रंग कर उपन्यास के नाम को इस रुप में लिखा गया है कि हंसिया-हथौड़ा के साम्यवादी निशान का प्रभाव पड़ सके—"इसके बहिरंग चित्रण पर ही अंग-चित्रण सूचित है जो प्रगतिशील साहित्य का प्रथम चरण है।"[1]

यह बहिरंग चरित्र-प्रधान उपन्यासों के वर्ग में आता है क्योंकि इसमें मुख्यतः एक ही पात्र के जीवन-चरित्र के माध्यम से ग्राम-जीवन का अंकन हुआ है। इसका पात्राधारित नामकरण भी इसकी चरित्र-प्रधानता का परिचायक है। गंगाप्रसाद पाण्डेय, ने इसे 'जीवन-चित्र' कहा है जो इसकी चरित्र-प्रधानता का द्योतक है।[2] डॉ० बरसानेलाल चतुर्वेदी भी इसमें 'जीवन-चरित्र-शैली' आलोचित करते हुए इसे चरित्र-प्रधान उपन्यासों की कोटि में रखते है।[3] कुछ आलोचक इसे उपन्यासों के भीतर 'स्केच' मानते है और कुछ इसे केवल 'स्केच' मानते है—और इस रूप में दोनों ही परोक्षतः इसकी चरित्र-प्रधानता को स्वीकार करते हैं। स्वयं निरालाजी के अनुसार इसकी "कला ऐसी है जैसे तीन छोटी-बड़ी कहानियाँ एक जोड़ के साथ रख दी गई है"—यह कथन 'बिल्लेसुर बकरिहा' की औपन्यासिकता को प्रमाणित करता है।

इस उपन्यास के 'निवेदन' के प्रारम्भ में लेखक ने बिल्लेसुर बकरिहा' को 'प्रगतिशील साहित्य का नमूना' बताया है। यह प्रगतिशीलता विषय और कला दोनों

१. निराला : "निवेदन", 'बिल्लेसुर बकरिहा'।
२. "हिन्दी कथा-साहित्य", पृ० ८६।
३. "हिन्दी साहित्य में हास्यरस", पृ १५०-५१

में मिलती है। विषय की दृष्टि से, एक साधारण-निर्धन नायक के चयन, उसकी समाज मे संघर्ष-कथा के वर्णन तथा साथ ही ग्रामीण विकृतियों के हास्य-व्यंग्य-गर्भित चित्रण में है; कला की दृष्टि से प्रगतिशीलता पूर्वाग्रह-मुक्त एकांत तटस्थता के निर्वाह, परम्परागत कथानक-शैली के स्थान पर जीवन-चरित्र एवं रेखाचित्रात्मक पद्धति के अवलम्बन तथा उपन्यास के अन्तहीन अन्त से है।

यह एक-पात्री उपन्यास है—इसमें एक ही व्यक्ति है बिल्लेसुर जो स्वभावतया उपन्यास का नायक है। दो अन्य पात्र—सत्ती दीन की स्त्री तथा त्रिलोचन भी किंचित् गणनीय हैं किन्तु इनका स्वल्प चित्रण भी मुख्यतः नायक के लिए ही है। बिल्लेसुर उपन्यास के समग्र विधान का केन्द्र है अतएव नामकरण का आधार भी। 'बिल्लेसुर बकरिहा' नाम पात्र के व्यवसाय एवं अंचल का सूचक होकर उपन्यास की अंचलीय विशेषता के अनुकूल है।[1] इस पात्र के जीवन-विकास के माध्यम से ही लेखक ने अपना उद्देश्य ध्वनित किया है। उसने दिखाया है कि एक साधारण, अशिक्षित, निस्सहाय एवं साधनविहीन किसान, समाज के चरम विरोधों के होते हुए भी, अपनी संघर्ष-दृढ़ता, उन्नति की संयत साध, अथक उद्यम, निर्भ्रान्त सहनशीलता तथा "ज़िन्दगी की (सहजोपलब्ध) किताब"[2] को पढ़ पढ़कर—अपने अनुभवों से सीख-सीख कर—जीवन में सफलता प्राप्त करता है। उसकी विशिष्टता इसमें है कि उसने जीवन को सहज भाव से संग्राम[3] समझ कर स्वीकार किया है इसलिए "दुख का मुंह देखते-देखते उसकी डरावनी सूरत को बार-बार चुनौती"[4] देने की उसमें हिम्मत आ गई। ज़िन्दगी के रास्ते की ठोकरों से बिल्लेसुर कभी बचा, कभी चूका किन्तु हार कर कभी बैठा नहीं। प्रत्येक मुसीबत उसके लिए नया अनुभव लाई, जिससे और अधिक सम्भल कर वह अपनी निगाह को सामने रखकर चल सका।[5] वह 'दमदार' पहले से था, बकरी-पालने के कठोर व्यवसाय ने उसे और भी दमदार बना दिया।[6] जीवन के कटु अनुभवों से वह गुरू-मन्त्रों तथा देवताओं का सहारा छोड़ कर मनुष्य की अपनी शक्ति का विश्वासी हुआ और यह आत्म-निर्भरता उसके लिए वरदान सिद्ध हुई। आजीविका-साधन के लिए, अपनी जाति-परम्परा—ब्राह्मणत्व की अहंमन्यता—की अवहेलना कर 'बकरिहा' बनने में उसने हिचक महसूस न की। शाबाशी की बजाय, अन्य ग्रामीणों की ईर्ष्यालु उपहास-वृत्ति तथा स्वार्थपरता उसे विचलित करने की बजाए सोचने पर बाध्य करती है—"क्यों एक दूसरे के लिए नहीं खड़ा होता। जवाब कभी कुछ नहीं मिला। मुमकिन, दुनिया का असली मतलब उन्होंने लगाया हो। फिर भी, जान रहते काम करना पड़ता है, दूसरों की मदद करनी पड़ती है, सहारा लेना पड़ता है, यह सच

---

१. पृ० १। २. पृ० १७। ३. पृ० १५। ४. पृ० ४६।
५. पृ० ३५ ६. पृ० ३८।

है । इधर कोई ध्यान नहीं देता, यह कमज़ोरी दूर नहीं हो रही; कोई सूरत भी नज़र नहीं आ रही ।"[1] समाज से उपेक्षित तथा नितांत एकाकी होने पर भी मानवता पर आस्था की यह समष्टि-चेतना उसके दुखों के भीतर से जीवन-विकास का परिणाम है—यह उसकी अनुभूति का सहज निष्कर्ष है । और यही लेखक का आदर्श भी, क्योंकि ठीक आगे की पंक्तियों में उसने नायक को स्पष्ट किन्तु संयत सहानुभूति दी है—"हमारे सुकरात के ज़बान न थी, पर इसकी फ़िलासफ़ी लचर न थी; सिर्फ कोई इसकी सुनता न था; इसे भी भूलभुलैया से बाहर निकलने का रास्ता नहीं दिखा, इसलिए यह भटकता रहा ।"[2]—ऐसे साधारण नायक की प्रगति-सीमा को समझ-स्वीकार कर और रास्ता दिखाने का मोह संवरण कर लेखक ने अद्भुत कलात्मक संयम का परिचय दिया है । डॉ० नगेन्द्र ने सही लिखा है—"वास्तव में व्यक्तित्व-चित्रण की सफलता का रहस्य उसकी सचाई और यथातथ्यता है ।.. प्रस्तुत स्केच की सफलता का सबसे बड़ा रहस्य है लेखक की एकांत तटस्थता । लेखक ने जिस कौशल के साथ अपनी सहानुभूति को संयत रखा है, वह वास्तव में आश्चर्यजनक है, कहीं पर भी उसने अपनी तस्वीर के रंगों को भड़कीला नहीं होने दिया । प्रगति की ओर झुका हुआ होने पर भी लेखक न कहीं जीवन के संघर्ष का उद्घोष करता है, न कहीं बिल्लेसुर की रचनात्मक शक्तियों अथवा उसकी सामाजिक फ़िलासफ़ी का प्रचार ही करता है, और न कहीं शोषक-वर्ग का काला चित्र खींच कर शोषित-वर्ग के इस श्रेणी के लिए करूणा का ही संचार कराता है । इन सभी तत्वों को उसने बड़े सहज़ ढंग से अप्रत्यक्ष रूप से बिल्लेसुर के व्यक्तित्व में ही समन्वित कर दिया है । व्यक्ति का सच्चा चित्रण अव्यक्तिगत शैली से ही हो सकता है—चित्रकार को अपना व्यक्तित्व सर्वथा पृथक् रखना पड़ेगा, तभी वह ईमानदारी से उसका मूल्यांकन कर सकेगा । और सचमुच निराला जी ने यह सब कुछ इतनी सावधानी से किया है कि कहीं उसमें गढ़ने या शिक्षा-विशेष में ढालने की कोशिश नजर नहीं आती । उसका अन्त भी सहज रूप में—रूढ़ शब्दावली में अन्तहीन अन्त के ढंग पर होता है । और इसके लिए एक विशेष कलात्मक संयम की आवश्यकता है जो कला को आत्मगोपन की शक्ति प्रदान करता है ।"[3] उपन्यास के अन्त में लेखक ने विवाहादि की रीति की मात्र सूचना दी है क्योंकि इसके ब्योरेवार वर्णन से वह अन्त के तनिक व्यंग्यात्मक प्रभाव को खोना नहीं चाहता ।

ऊपर हमने बकरिहा के संघर्षशील व्यक्तित्व के ही दर्शन किए है । निराला जी के चरित्र-चित्रण की विशेषता इसमें भी है कि उन्होंने मनोवैज्ञानिक स्वाभाविकता की रक्षा करने के लिए उसकी मानव-सुलभ लालसाओं की भी सजीव

---

१. पृ० ३८ । २. पृ० ३८ । ३. "विचार और विश्लेषण", पृ० १५६-६० ।

झाँकी दी है जिससे चरित्र एकांगी नहीं होना पाया। उदाहरणतया, त्रिलोचन, बिल्लेसुर को एक सरूप लड़की-दिखाने का आश्वासन दे कर विवाह के लिए उत्सुक बना गया है; तब लिखा है—"बिल्लेसुर को उस रात नींद न आई। वही रूप देखते रहे। बहुत गोरी है सोचते रामरतन की स्त्री की याद आई। सोलह साल की है सोचा तो रामचरन सुकुल की बिटिया की सूरत सामने आ गई। बड़ी-बड़ी आँखें होंगी, जैसी पुखराजबाई की लड़की हसीना की है। इस घर में आयेगी तो घर में उजाला छाया रहेगा।..."[1] कई दिन तक "काम करते हुए रह-रहकर बिल्लेसुर को (भावी) सास की याद आती रही; विवाह की बेल जैसे कलियाँ लेने लगी; काम करते-करते दुचित्ते होने लगे; साँस रुक-रुक जाने लगी, रोएं खड़े होने लगे।"[2] लड़की देखने-जाने से पूर्व वह तरह-तरह की मुद्राएं बना कर अपनी शृंगार-सज्जा को दरपण में देखता रहता है।[3]

'बिल्लेसुर-बकरिहा' में आँचलिक जीवन—अवध के ग्रामीण जीवन—का स्वाभाविक-सजीव चित्रण हुआ है, जिससे उपन्यास के उद्देश्य में व्यापकता आ गई है। ग्रामीणों की सामाजिक-धार्मिक विकृति, रूढ़ि-बद्धता, विचार-संकीर्णता तथा आर्थिक विषमता एवं दारिद्रताजन्य ईर्ष्याद्वेषमयी प्रकृति सामने आ गई है। जाति-प्रथा ने समाज की विघटनात्मक श्रेणियाँ इस सीमा तक बढ़ा दी हैं कि एक ब्राह्मण भी ब्राह्मणों में अछूत समझा जाता है। । गांव का सम्मानित वर्ग इतर जन को उठने न देने में ही अपनी उन्नति समझता है। आर्थिक दृष्टिकोण सब पर हावी है। जाति-प्रथा की सुरक्षा के लिए समाज द्वारा एक व्यक्ति (जैसे बिल्लेसुर के भाई) का बहिष्कार-स्वीकार उसकी आर्थिक स्थिति पर अवलम्बित है। पैसे का मुंह या खुली किस्मत देखकर ही गांव वाले एक व्यक्ति (बिल्लेसुर) के अनुकूल होते हैं। वहाँ कोई सामाजिक दृष्टि से हीन—किन्तु अपना लोक-परलोक-सुधारने की आवश्यकतावश—विधवा की अबोध कन्या से लासा लगाते हैं और अन्त में धर्म की रक्षा करते हुए उसे विधवा छोड, तथा एक कन्यारत्न का पुरस्कार देकर स्वर्ग सिधारते हैं;[4] और कोई अपने मित्र की मृत्यु के बाद, उसके परिवार से वही रिश्ता जोड़ते हैं जो उसके मित्र का था।[5] ग्राम-विकृतियों के चित्रण के साथ ग्रामीणों के शिष्टाचार, विश्वास, रस्मोरिवाज, खान-पान, पहरावे, व्यवसाय, उपज, तथा ग्राम-प्रकृति का अंकन भी हुआ है। ग्राम-जीवन तथा वातावरण को साकार करने की दृष्टि से प्रेरित होकर ही लेखक व्याह तय करने के लिए जाते हुए बिल्लेसुर के मार्ग का यथातथ्यात्मक वर्णन करता है; कुछ अंश द्रष्टव्य हैं-- "थोड़ी दूर पर भरा घड़ा मिला। बिल्लेसुर

---

१. पृ० ५७-५८। २. पृ० ७५। ३. पृ० ७६। ४. पृ० ६-७। ५. पृ० ७।

खुश हो गये । घड़े वाली सगुन की सोचकर मुस्कराई, कहा, 'मेरी मिठाई कब ले आते हो ?' काम निकलने के बाद वाले आशय से सिर हिलाकर आश्वासन देते हुए बिल्लेसुर आगे बढ़े ।

"नाला मिला । किनारे रियें और बबूल के पेड़ । खुश्मी पकड़े जा रहे थे। बनियों के ताल के किनारे से गुज़रे । देखकर कुछ बगले इस किनारे से उस किनारे उड़ गये ।··· शमशेर-जंग का बैम्हना मिला । एक जगह कुछ खजूर और ताड़ के पेड़ दिखे । सामने खेत, हरियाली लहराती हुई । ··आम और महुए की कतारें कच्ची गड़क के किनारे पड़ीं, जाड़े की सुहावनी सुनहली धूप छनकर आ रही थी। सारी दुनिया सोने की मालूम दी ।·· आशा की सफलता-जैसे, खेत और बगीचों के भीतर से गाँव की दीवारें दिखने लगीं । बिल्लेसुर···गलियारे-गलियारे गाँव के भीतर पहुँचे । कुयें की जगत के किनारे-किनारे नहाने के लिए बनी पक्की चौकी पर बैठे एक वृद्ध सूर्य की ओर मुह किये कांपते हुए माला जप रहे थे । कुछ आगे बढ़ने पर बढ़इयों का मकान मिला । गाड़ी के पहिये बनने की ठक-ठक दूर तक गूँज रही थी । कुछ आगे दर्जी का दुकान मिली ।—तरह-तरह के रंगीन कपड़े सिलने को आए हुए । दर्जी सिर गड़ाये तत्परता से मशीन चलाता हुआ, एक लड़का चोपाल की दूसरी तरफ बैठा भरी रजाई में टांके लगाता हुआ । दो आदमी नये कपड़े काटते और मशीन पर चढ़ाने के लिए टाँकते हुए । लोग ग़ौर से रंगों की बहार देखते लाठी के सहारे खड़े गप लड़ाते तम्बाकू थूकते हुए···"[१]

उपन्यास के पात्र न होते हुए भी अन्य ग्रामीणों का यथाप्रसंग नामोल्लेख आँचलिक उपन्यासों की विशेषता है और यह कहीं-कही यहाँ दिखाई देती है । यह उल्लेखनीय है कि यद्यपि अंचल-चित्रण भी लेखक का गौण उद्देश्य है, तथापि प्राय: यह बिल्लेसुर के जीवन-विकास के स्वाभाविक क्रम में, उसके चरित्र की पृष्ठभूमि बनकर आया है । इससे उपन्यास की अन्विति आद्यन्त बनी रही है । यह अन्विति उपन्यास की प्रभविष्णुता का एक बड़ा कारण है ।

निराला जी ने 'निवेदन' में लिखा है कि इस उपन्यास की "कला ऐसी है जैसे तीन छोटी-बड़ी कहानियाँ एक जोड़ के साथ रख दी गई है ।" ये कहानियाँ निम्नस्थ हो सकती है—

१. गाँव से नगर जाकर सत्तीदीन सुकुल तथा उसकी स्त्री के यहाँ बिल्लेसुर की अपनी आजीविका-जुटाने की अंचलेतर कहानी ।

२. बिल्लेसुर के तीन भाइयों की कहानी ।

३. बिल्लेसुर के बकरिहा जीवन की कहानी ।

---

१. पृ० ७६-७८ ।

ये तीनों कहानियाँ बिल्लेसुर के चरित्र को विकसित करने अथवा उसे पृष्ठभूमि प्रदान करने की दृष्टि से सम्बद्ध हैं। अंचलेतर कहानी बिल्लेसुर को बकरियाँ पालने के लिए अत्यावश्यक धन-राशि ही प्रदान नहीं करती, उसके प्रारम्भिक रूढ़ संस्कारों का परिचय देकर उन्हें धक्का पहुँचाने का कार्य भी करती है। वह अपने अनुभवों से सीख कर वापस गाँव लौटता है। इसके अतिरिक्त सत्तीदीन की स्त्री की अपनी कथा भी है जो बिल्लेसुर के ननुभवों में योग देती है। इस कथा का अन्त तब होता है जब सत्तीदीन की स्त्री 'दिव्य-शक्ति' की उपासना से निराश होकर मनुष्य की अपनी शक्ति की पक्षपातिनी बनने की यथार्थता को हृदयंगम करती है। यह उद्देश्य बिल्लेसुर को आत्मनिर्भरता की शक्ति देना है तथा ब्रह्मणत्व के गर्व से छुटकारा दिलाकर 'बकरिहा' बनने के लिए प्रेरित करता है। भाइयों की कहानी बेइमानी की अकर्मण्य कमाई तथा गाँव की दुर्दशा के सामाजिक-आर्थिक कारणों को व्यंजित करती है और साथ ही परोक्ष रूप में बिल्लेसुर के मेहनतकश जीवन को सार्थकता प्रदान करती है। लेखक इन भाइयों और बिल्लेसुर के टूटे सम्बन्धों के आधार पर उसके निस्सहाय एकाकी जीवन तथा गाँव में पारस्परिक सम्बन्धों की विषम स्थिति को भी ध्वनित करता है।

इस उपन्यास का विकास जीवन-चरितात्मक विधि से हुआ है। इसलिए इसमें परम्परागत कथा-वस्तु का अभाव है अतएव कौतूहल-तत्व भी नहीं। इसका कोई ऐसा वस्तुमय उद्देश्य भी नहीं जिसकी प्राप्ति के लिए संघर्ष-जन्य कौतूहल बना रहे। फिर भी, प्रारम्भिक कुछ परिच्छेदों के बाद ही स्पष्ट हो जाता है कि कथानायक एक ऐसा पात्र है जिसे अपने सफल जीवन-निर्वाह के लिए समाज से अनवरत संघर्ष करना है—यह संघर्ष भी उसे तब तक करना है, जब तक वह अपने जीवन के निरापद एवं सुखद निर्वाह के लिए आवश्यक अन्तर्बाह्य वातावरण नहीं पैदा कर लेता—रोज़ी-रोटी-जुटा तथा विवाहादि कर इतना सम्पन्न नहीं हो जाता कि विरोधी समाज उसके अनुकूल हो उठे। अतएव किसी के जीवन-विकास को जानने-समझने की जिज्ञासा इसमें ज़रूर है। दीनदयाल तथा विशेष रूप से त्रिलोचन-जैसे विरोधी, समाज के प्रतिनिधि-रूप में संयुक्त प्रतिनायक का आभास देते हैं। ये अपने छल-बल के नानात्व से बिल्लेसुर को लूटने तथा हतोत्साहित करने में अन्त तक प्रयत्नशील दिखाए गए हैं। बिल्लेसुर को भी सजगता से इनका मुकाबला करना पड़ा है, अतएव पाठक का जिज्ञासोन्मुख रहना स्वाभाविक हो जाता है।

इस जिज्ञासा-मात्र से पाठक इस उपन्यास की यात्रा में सफल न हो पाता यदि निराला जी ने हास्य-तत्व का रंजक सम्बल न दिया होता। यह हास्य-तत्व भी लेखक की तटस्थ कला का आवश्यक उपकरण है। अतएव यहाँ प्रायः हास्य का सुसंस्कृत रूप 'परिहास' मिलता है। परिहास-प्रयोगी अपने व्यक्तित्व को ऐसा परिमार्जित कर लेता है कि वह विभिन्न जीवन-स्थितियों से तटस्थ रहकर मन ध्वनित कर सकता है।

वह गहन-संयत सहानुभूति से तो प्रेरित हो सकता है किन्तु उसमें आवेग-उद्वेग या ईर्ष्या-गर्व या विद्वेष की भावना नहीं होती। रंजन का कार्य ही प्रमुख होता है, समाज संशोधन का गौण और वह भी अव्यक्त रूप में। परिहास की उपयोगिता के स्वरूप के सम्बन्ध में डॉ० एस० पी० खत्री लिखते हैं—"परिहार उस शिक्षक की भांति नहीं जो अपने विद्यार्थियों के सम्मुख नित्य नैतिकता के विषय पर तर्कपूर्ण भाषण करता हैं और अनैतिक कार्यो को देखकर क्रोध और भर्त्सनापूर्ण शब्दों का प्रयोग करता हैं जिससे विद्यार्थी-वर्ग सुधर जाय। जिस प्रकार किसी कमरे के एक कोने में सुलगती हुई अगरबत्ती चारों ओर एक हल्की सुगन्धि प्रसारित कर देती है और हम उस ओर देखते भी नहीं परन्तु उसकी भीनी सुगन्धि ऐसा वातावरण प्रस्तुत कर देती है कि उसमें अन्य किसी प्रकार की दुर्गन्ध का प्रसार संभव नहीं जान पड़ता, उसी प्रकार परिहास की आत्मा एक रहस्यमय नैतिक वातावरण प्रस्तुत कर देती है और अनैतिक असामाजिक अथवा अमानवीय कार्यों पर स्वतः एक प्रकार का निषेध लग जाता है।"[१] निराला जी ने अनेक संदर्भो में परिहास का सौजन्यपूर्ण प्रयोग किया है; एक उदाहरण द्रष्टव्य है—"ललई का दूसरा हाल है। पहले ये भी कलकत्ता बम्बई की खाक छानते फिरे, अन्त में रतलाम में आकर डेरा जमाया। यहाँ एक आदमी से दोस्ती हो गई। कहते हैं, ये गुजराती ब्राह्मण थे। ईश्वर की इच्छा, कुछ दिनों में दोस्त ने सदा के लिये आँखें मूँदी। लाचार, दोस्त के घर का कुल भार ललई ने उठाया। दोस्त का एक परिवार था। पत्नी, दो बेटे, बड़े बेटे की स्त्री, इन सबसे ललई का वही रिश्ता हुआ जो इनके दोस्त का था। इस परिवार में कुछ माल भी था, इसलिए ललई ने परदेश रहने से यहाँ रहना आवश्यक समझा। चूंकि अपने धर्म-कर्म में दृढ़ थे इसलिए लोकनिन्दा और यशःकथा को एकसा समझते थे। अस्तु इन सब को गाँव ले आए। एक साथ पत्नी, दो-दो पुत्र और पुत्रवधू को देखकर लोग एकटक रह गए। इतना बड़ा चमत्कार उन्होंने कभी नहीं देखा था। कहीं सुना भी नहीं था। गाँव वालों की दृष्टि ललई पहले ही समझ चुके थे, जानते थे, जिस पर पड़ती है, उसका जल्द निस्तार नहीं होता, इसलिए निस्तार की आशा छोड़कर ही आये थे। गाँव वालों ने ललई का पान-पानी बन्द किया। ललई ने सोचा, एक खर्च बचा। गाँव वाले भी समझे, इसने बेवकूफ बनाया, माल ले आया है जिसका कुछ भी खर्च न कराया गया। ललई निर्विकार चित्त से अपने रास्ते आते-जाते रहे। मौके की ताक में थे। इसी समय आंदोलन चला। ललई देश के उद्धार में लगे। बड़ा लड़का गुजरात में कहीं नौकर था, खर्चा भेजता रहा। गाँववाले प्रभाव में आ गये। ललई की लाली के आगे उनका असहयोग न टिका। अब मिलने की बातें कर रहे हैं। ललई राजनीतिक

१. "हास्य की रूपरेखा", पृ० १६५।

सुधारक सामाजिक आदमी है।"[1] इसी तरह ग्रामीण नामों का यथार्थ परिहासात्मक परिचय दिया गया है।[2] हास्य-जनित रोचकता में एक खतरा भी होता है कि कहीं यह उपन्यास के मूल उद्देश्य की गम्भीरता को विक्षुब्ध न कर दे। इस दृष्टि से उपर्युक्त विषयगत—तथा कुछ शैलीगत हास्य उपन्यास के सारभूत प्रभाव की व्यंजना में योग चाहे दे, बाधक नहीं हो सकता। बिल्लेसुर के कार्यो-अनुभावों के आधार पर कहीं-कहीं चरित्रगत हास्य भी है किन्तु वह भी या तो परिस्थिति की करुण विवशता, या मनोवैज्ञानिक स्वाभाविकता का परिचायक होने के कारण—हमारे रंजन का कार्य करते हुए भी समग्र प्रभाव को शिथिल नहीं करता; यथा दोनों प्रकार के उदाहरण लीजिए

(क) (बिल्लेसुर को नौकरी-पाने के लिए विशेष लम्बाई की जरूरत है। वह नाप देने गए)

"बिल्लेसुर मन्नी के भाई थे, पाँच फ़ीट से कुछ ही ऊपर। जानते थे, ऊँचाई घटेगी। तरकीब निकाली। चमरौधा जूता या डेढ़ इंच से कुछ ज्यादा ऊँचे तल्ले का। उसमें रूई की गद्दी लगाई। पहनकर खड़े हुए तो जैसे ईंटों पर खड़े हों। लेकिन झेंपे नहीं, न डरे। जैसे फ़र्ज अदा कर रहे हों, गये। कचहरी में लट्ठ लाकर लगाया गया। बिल्लेसुर ने आँख उठाई कि देखें, पूरे हो गये। नापने वाले ने कहा, डेढ़ इंच घटा।"[3]

(ख) (विवाह के लिए लड़की देखने जाने की तैयारी करते हुए)

"फिर पानी भरकर घर में स्नान किया। थोड़ी देर पूजा की। रोज़ करते हों, यह बात नहीं। पूजा करते समय दरपन कई बार देखा, आँखें और भौंहें चढ़ाकर-उतारकर, गाल फुलाकर-पिचकाकर, होंठ फैलाकर-चढ़ाकर।...फिर कुछ देर तक अशुद्ध गायत्री का जप करते रहे मन में यह निश्चय लिए हुए कि काम पूरा हो जाएगा।"[4]

(ग) "गाँव वाले दिल का गुबार बिल्लेसुर को बकरिहा कहकर निकालने लगे। जवाब में बिल्लेसुर बकरी के बच्चों के वही नाम रखने लगे जो गाँव वालों के नाम थे।"[5]

यहाँ प्रायः शैलीगत हास्य है, पारिस्थितिक नहीं, और यह साधन ही होता है, साध्य नहीं यह हमारा रंजन करता है किन्तु मूल प्रभाव में कोई बाधा नहीं डालता। यह शैलीगत हास्य कई प्रकार से लाया गया है :-

(क) साधारण विषय के लिए असम्बद्ध विशिष्ट उपमाएँ लाकर; यथा—"जब एक साल तक पुत्र-विषय में बाबा जगन्नाथ जी ने कृपा न की तब सत्तीदीन

---

१. पृ० ७-८। २. पृ० २। ३. पृ० १७-१८। ४. पृ० ७६-७७। ५. पृ० ३१।

की स्त्री का देवता पर कोप चढ़ा और वे दिव्य शक्ति को छोड़कर मनुष्य शक्ति की पक्षपातिनी बन गई, यथार्थवादी लेखक की तरह''।[1]

(ख) सम्बद्ध ग्रामीण उपमाओं से हास्य-संचार—(विवाह के लिए लड़की ढूढकर) त्रिलोचन ने खुश होकर कहा—"ऐसी औरत गाँव में आई नहीं—सोलह साल की आग-भभूका।"[2] अथवा—

(बकरी खो जाने पर) वे महावीर जी के पास गए; लापरवाही से सामने खड़े हो गए और आवेश में भरकर कहने लगे—"देख! मैं गरीब हूँ! मैं इसीलिए तेरे पास आता था और कहता था—'मेरी बकरियों के और बच्चों को देखे रहना—क्या तूने रखवाली की बता—'थूथन सा मुह लिए खड़ा है।"[3]

(ग) शब्दालंकारों के प्रयोग से हास्य-सृष्टि—"लेकिन तरीके सुकुल को संसार पार करने की तरी नहीं मिली तब बकरी पालने का कारोबार किया।"[4]

(घ) साधारण घटना का प्रसिद्ध सामयिक प्रसंग से सम्बन्ध बिठाकर वर्णन करना—"बिल्लेसुर बिना टिकट कटाए कलकत्ते वाली गाड़ी पर बैठ गये। इलाहाबाद पहुँचते-पहुँचते चैकर ने कान पकड़कर उतार दिया। बिल्लेसुर हिन्दुस्तान की जलवायु के अनुसार सविनय कानून भंग कर रहे थे, कुछ बोले नहीं चुपचाप उतर आए; लेकिन सिद्धान्त नहीं छोड़ा।"[5]

(ङ) साधारण-सी बात का सावधानी से ब्यौरेवार वर्णन कर हास्य-सृष्टि—"सास को दिखाने के लिए बिल्लेसुर रोज़ अगरासन निकालते थे। भोजन करके उठते वक्त हाथ में ले लेते थे। अगरासन निकालने से पहले लोटे से पानी लेकर तीन दफ़े थाली के बाहर से चुवाते हुए घुमाते थे। अगरासन निकालकर टुनकियाँ देते हुए लोटा बजाते थे और आँखें बन्द कर लेते थे।"[6]

(च) साधारण विषय की प्रामाणिकता के लिए अनुसंधित्सु पाण्डित्य दिखाकर हास्य-संचार—"बिल्लेसुर—नाम का शुद्ध रूप बड़े पते से मालूम हुआ—'बिल्वेश्वर' है। पुरवा डिवीज़न में, जहाँ का नाम है, लोकमत बिल्लेसुर-शब्द की ओर है। कारण, पुरवा में उक्त नाम के प्रतिष्ठित शिव हैं। अन्यत्र यह नाम न मिलेगा, इसलिए भाषा तत्व की दृष्टि से गौरवपूर्ण है। 'बकरिहा' जहाँ का शब्द है, वहाँ 'बोकरिहा' कहते हैं। वहाँ 'बकरी' को 'बोकरी' कहते हैं। मैंने इसका हिन्दुस्तानी रूप निकाला है। 'हा' का प्रयोग हनन के अर्थ में नहीं, पालन के अर्थ में है।"[7]

---

१. पृ० २६। २. पृ० ५३। ३. पृ० ४५। ४. पृ० १। ५. पृ० ६।
६. पृ० ७१। ७. पृ० १।

(छ) संवाद-शैली में व्यंग्यात्मक हास्य—(शरारती लड़कों ने बिल्लेसुर की बकरियों को मारने का विचार कर रखा है) एक तीसरे (लड़के) ने (आश्वस्त करने की दृष्टि से) कहा—"यहाँ हम लोग हैं भेड़िये का डर नहीं; वह ऊँचे हार में लगता है।" बिल्लेसुर ने कहा, "इधर भी आता है, लेकिन आदमी का भेस बदल कर"।[1]

इस प्रकार अनेक संदर्भों में, नए-नए प्रकार से हास्य-तत्व के समावेश से निराला जी ने 'बिल्लेसुर बकरिहा' को रोचक बनाने का सफल प्रयत्न किया है। डॉ० बरसानेलाल चतुर्वेदी इस रचना के हास्य-तत्व को हिन्दी के हास्य-उपन्यासों में विशेष महत्व देते हैं।[2]

उल्लिखित शैलीगत हास्य के उदाहरणों में निराला जी की शैली की रंजकता तथा सामर्थ्य दोनों स्पष्ट हैं। उनकी शैली की सजीवता तथा प्राणवत्ता अंचलीय पात्रों को संवाद-शैली से अभिव्यक्ति देने तथा अंचलीय वातवरण के चित्रण में भी देखी जा सकती है। वस्तुतः ऐसी शैली से वे अपनी रचना में यथार्थवाद का कलात्मक पुट देने में और भी समर्थ हुए हैं। ग्राम-जीवन से तादात्म्य के द्योतक ठेठ अवधी शब्दों—गलियारे, दौंगरा, बकरिहा, आगभभूका, बरतौनी, अगरासन, कठैली आदि—तथा मुहावरों—लासा लगाना, अरथा कर पूछना आदि—के यथाप्रसंग सुन्दर प्रयोग हुए हैं। प्रान्तीय मुहावरों के अतिरिक्त अन्य प्रचलित मुहावरों—तथा कहीं-कहीं लोकोक्तियों—का भी पर्याप्त उपयोग हुआ है। इससे उनकी अभिव्यक्ति का लोक-पक्ष समृद्ध हुआ है, जो अंचल-चित्रण के उपयुक्त है। लोक-पक्ष के आग्रह के कारण निराला जी भाषा का व्यावहारिक स्वरूप बनाए रखने में विशेष सजग रहे हैं। इसमें तत्सम शब्दों के स्थान पर तद्भव शब्दों तथा अरबी-फ़ारसी के प्रचलित शब्दों का प्रयोग ठेठ रूप में हुआ है; जैसे, बाज़ार, दहलीज़, बाक़ी, ज़मींदार, फ़रियाद, नज़र, एवज़ आदि।

'बिल्लेसुर बकरिहा' की सामान्य शैली वर्णनात्मक है किन्तु कहीं-कहीं चित्रात्मक शैली का सार्थक उत्कर्ष देखने में आता है; एक उदाहरण लीजिए जिसमें पात्र-सापेक्ष प्राकृतिक वातावरण का अंकन हुआ है—"सूरज डूब गया। बिल्लेसुर की आँखों में शाम की उदासी छा गई। दिशाएँ हवा के साथ सांय-सांय करने लगीं। नाला बहा जा रहा था जैसे मौत का पैग़ाम हो। लोग खेत जोतकर धीरे-धीरे लौट रहे थे, जैसे घर की दाढ़ के नीचे दबकर, पिसकर मरने के लिए। चिड़ियाँ चहक रहीं थीं अपने-अपने घोंसले की डाल पर बैठी हुई, रो-रोकर साफ़ कह रही थीं, रात के घोंसले में जंगली बिल्ले से कौन बचायेगा? हवा चलती हुई इशारे से कह रही थी

१. पृ० ३४। २. "हिन्दी साहित्य में हास्य रस", पृ० १५६।

सब कुछ इसी तरह बह जाता है।"[1]—गाँव के ईर्ष्यालु अत्याचार से बिल्लसुर के पट्ठे के शिकार हो जाने पर उसकी मूक-मर्म-वेदना ग्राम के करुण वातावरण में मुखरित है। उपमाएँ ऐसी है जो करुण प्रभाव को घनीभूत व्यापकता दे, समग्र ग्राम पर मंडराती मृत्यु की मलिन छाया को अंकित कर रही है। सारांश में निराला की भाषा-शैली ने उपन्यास की सफलता में विशेष योग दिया है।

इस रचना की सफलता के विषय में विभिन्न विद्वान एकमत है, किन्तु इसकी रूप-विधा के सम्बन्ध में मतभेद है। आगे इसी का स्पष्टीकरण किया जाएगा। डॉ० नगेन्द्र ने इसका 'स्कैच' (रेखाचित्र) के रूप में विवेचन किया है।[2] रामानन्द तिवारी ने इसे उपन्यास से अधिक 'स्कैच' बताया है।[3] डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी,[4] डॉ० विनयमोहन शर्मा,[5] प्रकाशचन्द गुप्त,[6] शिवदानसिंह चौहान,[7] डॉ० भगीरथ मिश्र,[8] डॉ० शिवनारायण श्रीवास्तव,[9] डॉ० बरसानेलाल चतुर्वेदी,[10] आदि ने इसे हिन्दी-उपन्यास साहित्य मे स्थान दिया है। डॉ० प्रभाकर माचवे[11] ने उपन्यासों के अन्तर्गत इस पर लिखते हुए इसकी औपन्यासिकता पर शंका उठाई है। हमारे विचार में यह रेखा-चित्रात्मक उपन्यास है।

डॉ० नगेन्द्र ने रेखाचित्र और कहानी के अन्तर को स्पष्ट करते हुए लिखा है—"रेखाचित्र का विषय निश्चय ही एकात्मक होता है; उसमें एक व्यक्ति या एकवस्तु ही उद्दिष्ट रहती है। कहानी में एक डायमेन्शन और बढ़ जाती है—उसमें द्वैत भाव होना चाहिए अर्थात् एक व्यक्ति अपने में कहानी नहीं बन सकता। उसका अपने आप में होना कहानी के लिए काफ़ी नहीं है। कहानी में उसे दूसरे या दूसरों की सापेक्षता में कुछ करना होगा—प्रेम करना होगा, वैर करना होगा, सेवा करनी होगी, कुछ करना होगा; ·· आप चाहें तो उसे (कहानी को) रेखाचित्र की अपेक्षा अधिक गत्यात्मक कह लीजिए···रेखाचित्र को पढ़कर ऐसा लगता है बात अधूरी रह गई। उसमें जिज्ञासा की उद्‌बुद्धि मात्र होकर रह जाती है, इसके विपरीत कहानी में उसकी परितृप्ति हो जाती है क्योंकि जहाँ रेखाचित्र में, 'मैं' और 'तू' रहते हैं—मैं

१. पृ० ४४-४५। २. "विचार और विश्लेषण", पृ० १५६-६२।
३. "हिन्दी का गद्य-साहित्य", पृ० २६०। ४. "हिन्दी साहित्य", पृ० ४६६।
५. "साहित्य, शोध, समीक्षा", पृ० १५२।
६. "आधुनिक हिन्दी साहित्य :-एक दृष्टि", पृ० ७५।
७. "साहित्य की समस्याएँ", पृ० १०६।
८. "हिन्दी साहित्य का उद्‌भव और विकास", पृ० २८४।
९. "हिन्दी उपन्यास", पृ० २५७। १०. "हिन्दी साहित्य में हास्य रस", पृ० १५१।
११. "संतुलन", पृ० १७०।

अर्थात् मूलतः लेखक और परिणामतः पाठक और 'तू' अर्थात् विषय—वहाँ कहानी में 'मैं' 'तू' और 'वह' का वृत्त पूरा हो जाता है"।[1]

यदि इस उक्ति के आधार पर ही विवेचन किया जाए, तो 'बिल्लेसुर बकरिहा' के उपन्यास होने में सन्देह नहीं रहता; क्योंकि :—

१. बिल्लेसुर का चरित्र निरन्तर समाज की सापेक्षता में विकसित हुआ है। उसे समाज की खलता के प्रतिनिधियों दीनदयाल और त्रिलोचन की चालों से संघर्ष करना पड़ा है। गाँव के दुष्ट चरवाहे लड़कों से एक बार उसे मात भी खानी पड़ती है, परन्तु वह हिम्मत नहीं हारता।

२. यहाँ 'मैं' 'तू' और 'वह' का वृत्त पूरा है, क्योंकि बिल्लेसुर की सापेक्षता में समाज का विकास भी प्रदर्शित है। समाज पहले बिल्लेसुर के प्रतिकूल है और अन्त में अनुकूल हो जाता है। जमींदार तक को बिल्लेसुर के घर आना पड़ता है।

३. यह स्पष्ट किया जा चुका है कि अंचल-चित्रण भी इसका गौण उद्देश्य है।

४. निराला जी का यह कथन भी इसकी औपन्यासिकता के पक्ष में है—"कला ऐसी है जैसे तीन छोटी-बड़ी कहानियाँ जोड़ के एक साथ रख दी गई हैं" इन कहानियों का स्पष्टीकरण किया जा चुका है।

५. बिल्लेसुर के चरित्र का क्रमशः विकास हुआ है, मात्र उद्घाटन नहीं हुआ। गाँव से बाहर जाकर वापस लौटे हुए बिल्लेसुर में अन्तर आ जाता है। यही नहीं सत्तीदीन की स्त्री के चरित्र-विकास की भी स्वल्प झलक मिल जाती है। अतएव इस रचना का स्वरूप गत्यात्मक है, जो रेखाचित्र की अपेक्षाकृत स्थिरात्मक प्रकृति के विपरीत है।

इस प्रकार 'बिल्लेसुर बकरिहा' निर्विवादित रूप से उपन्यास है, फिर भी इसका रेखाचित्र से अन्तर स्पष्ट करना पड़ा है—इस बात को नहीं भूला जा सकता। रेखाचित्र में जैसे एक पात्र को केन्द्र में लाया जाता है, उसी तरह यहाँ भी एक ही पात्र उभर कर आया है। लेखक की कलात्मक समन्विति इतनी कौशलपूर्ण है कि समाज का चित्रण भी बहुत-कुछ पात्र की अनिवार्य पृष्ठभूमि का आभास देता है। सारतः 'बिल्लेसुर बकरिहा' क्षेत्रीय ग्राम-जीवन के यथार्थ चित्रण पर आधारित हास्य-व्यंग्यमय, जीवन-चरित्रात्मक—और उसमें भी रेखाचरित्रात्मक—चरित्र-प्रधान लघु-उपन्यास है। प्रसादन एवं प्रयोजन के संयुक्त तथा तटस्थ विनियोग में निराला जी सफल रहे हैं।

---

१. "विचार और विश्लेषण", पृ० ८५-८६।

गिरती दीवारें

'सितारों के खेल' (१९३७) के पश्चात् 'गिरती दीवारें' (१९४७) उपेन्द्रनाथ अश्क का दूसरा उपन्यास है। यह लगभग ७०० पृष्ठों का बृहद् (और स्यात् असमाप्त)[1] उपन्यास है। उपन्यास के पहले संस्करण की आलोचनाओं से असंतुष्ट होकर अश्क जी ने उपन्यास के दूसरे संस्करण में २१ पृष्ठों की भूमिका के रूप में 'अपने पाठकों और आलोचकों से' बहुत-कुछ कहा है। इसमें उन्होंने उपन्यास पर की गई विपरीत आलोचनाओं के उत्तर में अपने दृष्टिकोण तथा उपन्यास की विशेषताओंका प्रकाशन किया है। उपन्यास के अन्त में शिवदानसिंह चौहान तथा शमशेर बहादुरसिंह की आलोचनाएं भी जोड़ दी गई है। अपने पहले उपन्यास को लेखक ने 'गढ़ा-गढ़ाया' कहा है और इसे यथार्थवादी।

यह उपन्यास बहिरंग (सामाजिक) चरित्र-प्रधान उपन्यासों के वर्ग में आता है। स्वयं लेखक का यह कथन प्रकारांतर से इसी आशय को पुष्ट करता है—"कहानी उसमें महत्व नहीं रखती महत्व रखता है निम्न मध्यवर्ग के वातावरण का चित्रण और उस अँधेरे में अपनी प्रतिभा का विकास-पथ खोजने वाले अति भाव-प्रवण युवक की तड़प और उसका मानसिक विकास!"[2] शिवदानसिंह चौहान के अनुसार 'गिरती दीवारें' का "प्रत्येक वाक्य वर्तमान जीवन की विषमता की विविधता का रहस्योद्घाटन करता है और आज के सम्पूर्ण जीवन को अगणित समस्याओं की एक जटिल ग्रंथि के रूप में उपस्थित करता है।.. इस विशाल रूपक को चेतन की अपेक्षाकृत साधारण पर संश्लिष्ट जीवनी में अत्यन्त कलात्मक ढंग से आबद्ध किया है।"[3] विश्वम्भर 'मानव' ने भी इसको निम्न मध्यवर्गीय व्यक्ति चेतन का जीवन-चित्रण माना है तथा व्यक्ति

---

१. इस सम्बन्ध में अश्क जी ने लिखा है कि "एक दो को छोड़कर किसी 'समझदार' (आलोचक) को यह नहीं सूझा कि उपन्यास पूरा नहीं, एक भाग अथवा उससे भी कम है, यह और बात है कि पूरा जान पड़ता है .."—"पाठकों और आलोचकों से", 'गिरती दीवारें', पृ० १९। हमारे विचार में लेखक की अपनी ग़लती भी कम नहीं है—उसने मुख-पृष्ठ पर 'प्रथम भाग' लिखने का कष्ट नहीं किया। १९६३ में "शहर में घूमता आईना" नाम से इसका दूसरा भाग निकला है, किन्तु वहाँ भी यह नहीं लिखा कि यह "गिरती दीवारें" का दूसरा भाग है। इसका तीसरा भाग "बाँधो न नाव इस ठाँव" नाव से है, जो 'नई कहानियाँ' में १९६४ में धारावाहिक रूप से प्रकाशित हुआ था।

२. 'गिरती दीवारें", पृ० २१-२२।

३. "गिरती दीवारें", 'साहित्यानुशीलन', पृ० २३३।

के बीच की सामाजिक या आर्थिक दीवारों के रहने के लेखकीय अभिप्राय की ओर इंगित किया है ।[१] पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी ने चेतन के चरित्र के आधार पर ही इस उपन्यास में "सिर्फ टुच्चेपन में जीवन की गरिमा देखी" है ।[२] डॉ० गणेशन ने चेतन के चरित्र के आधार पर 'गिरती दीवारें' में "व्यक्ति के आंतरिक संघर्ष से बढ़कर समाज के नियमों और बंधनों के विरुद्ध व्यक्ति" के संघर्ष की प्रबलता मानी है ।[३] अन्यत्र उन्होंने "व्यक्ति (चेतन) की जीवनी' के आधार पर 'गिरती दीवारें' में "गठन-दाढ्र्य की रक्षा" मानी है[४] तथा चेतन के चरित्र में योगायोग को दृष्टि में रखकर कुछ प्रसंगों की व्यर्थता सिद्ध की है ।[५] 'गिरती दीवारें' में पात्र-विशेष-केंद्रित वस्तु-विधान, उस पात्र के दृष्टिकोण से अन्य पात्रों का चरित्र-चित्रण, उसके माध्यम से निम्नमध्यवर्गीय समस्या का प्रस्तुतीकरण तथा उसके अन्तरंग संघर्ष की अपेक्षा बाह्य सामाजिक संघर्ष का अधिक चित्रण आदि विशेषताएँ इस उपन्यास के बहिरंग चरित्रप्रधान होने की परिचायक हैं ।

निम्न मध्यवर्गीय जीवन की बहुविध विकृतियों -सड़े संस्कारों, जर्जर रूढ़ियों, सामाजिक विषमताओं, पूंजीवादी शोषण, तथा दुर्बल विद्रोहजन्य घुटन-पीड़न -- का चित्रण तथा इस चित्रण से ही बहुविध कुण्ठा की दीवारों को गिराने की सांकेतिक प्रेरणा देना ही इस उपन्यास का मूल उद्देश्य है । इस उपन्यास के उद्देश्यबोधक नामकरण की सिद्धि इसी व्यंजना में है । कथानायक चेतन के अनुभूत चिन्तन के रूप में उपन्यास के नामकरण की व्याख्या से स्पष्ट होता है कि व्यक्ति और व्यक्ति के बीच जो दूरी की दीवारें हैं, वे सामाजिक-आर्थिक विषमता -- मानों सम्पूर्ण समाज-व्यवस्था --की स्थूल दीवारें भी है और भ्रम-पूर्ण आशावाद एवं सड़े संस्कारों की सूक्ष्म दीवारें भी जो मध्यवर्गीय समाज के मन-मस्तिष्क को बाँधे हैं और जिसके ढहे बिना न तो वे यथार्थ को हृदयंगम कर सकते हैं और न विकृतियों के विरुद्ध विद्रोह ही; देखिए : --

(क) "लेकिन रूलदू भट्टे के उस अँधकार भरे कमरे में लेटे, अपने उन अवसाद के क्षणों में, उसे (चेतन को) अपना यह आशावाद मूर्खता से अधिक कुछ न लगता । पीछे मुड़कर जो वह देखता तो उसे लगता कि वह तो सदैव ठगा जाता रहा है, उसकी कल्पना उसे सदैव धोखा देती रही है । उसके काल्पनिक प्रासादों की दीवारें

---

१. "उपन्यासकारों के बीच", प्रेमचन्द', पृ० २१-२२ ।
२. "हिन्दी कथा साहित्य", पृ० १७८-७९ ।
३. "हिन्दी उपन्यास साहित्य का अध्ययन", पृ० २४४ ।
४. "हिन्दी उपन्यास साहित्य का अध्ययन", पृ० १५३ ।

सदैव ढहती रही हैं। तट के जिस-जिस भाग पर वह जाकर खड़ा हुग्रा, वह गिरता रहा है।"[१]

(ख) "सोचते-सोचते क्रोध का एक बवंडर-सा चेतन के मन में उठा। उसका जी चाहा कि यदि कहीं उसे अधिकार हो तो वह सारे-के-सारे मुहल्ले को धराशायी कर दे। उसकी नीवें तक खुदवा डाले जिनमें सदियों से बीमारियों के कीड़े पक रहे हैं। नये सिरे से स्वस्थ लोगों का मुहल्ला बसाये। किन्तु दूसरे क्षण उसे खयाल ग्राया कि एक मुहल्ला खोदने से क्या होगा। ग्रशिक्षा, गरीबी, बेकारी ने तो गरीबों का प्रत्येक मुहल्ला ऐसा बना रखा है। सारे देश की जीर्ण-पुरातन दीवारों को गिराकर नये देश, नये समाज, नयी नस्ल का ग्राविर्भाव करना होगा।"[२] (यहाँ विशेष मुहल्ले की दुरावस्था का सामान्यीकरण ग्रौर इस तरह ग्रपने उद्देश्य को व्यापक करते हुए सम्पूर्ण समाज-व्यवस्था के समूलोच्छेदन की लक्ष्य-व्यंजना की गई।

(ग) "..ग्रौर चेतन को लगा कि उसके, नीला के त्रिलोक के, इस जर्जर मध्य-वर्ग के समस्त स्त्री-पुरुषों के गिर्द रूढ़ि-ग्रस्त समाज की लौह-दीवारें खड़ी हैं। क्या यह दीवारें कभी न गिरेंगी? क्या इनकी चारदीवारी में घुटकर मरने वाले स्वतन्त्र होकर कभी सुख की साँस न ले सकेंगे।"[३] (यहाँ भी विशेष व्यक्तियों के सामाजिक कारणों का सामान्यीकरण है)

(घ) ···"बुद्धि, धर्म, नैतिकता, समाज, विवाह यह सब दीवारें, जो यथार्थ में उसकी चाहना को घेरे थीं कल्पना में गिर गयी थीं ग्रौर उसके प्रेम की लौ, जिसे फ़ानूस की बिल्लौरी दीवार ने धुंधला कर रखा था, उसके टूट जाने पर स्पष्ट ही चमक उठी।···"[४] (यहाँ काम-कुण्ठा की दीवार है)

(ङ) "वहीं लेटे-लेटे···चेतन को लगा कि यह दीवार उसके ग्रौर उसकी पत्नी के मध्य ही नहीं, नीला ग्रौर त्रिलोक के मध्य भी है, ग्रौर जब उसने ग्रौर भी सोचा तो जाना कि नीला ग्रौर त्रिलोक के मध्य ही नहीं, बल्कि इस परतन्त्र देश के सभी स्त्री-पुरुषों, तरुण-तरुणियों, वर्गों ग्रौर जातियों के मध्य ऐसी ही ग्रनगिनत दीवारें खड़ी हैं···कविराज में ग्रौर उसमें, इसमें ग्रौर जयदेव में, जयदेव में ग्रौर यादराम में—इन दीवारों का कोई ग्रन्त नहीं। इस तिमिराच्छन्न निस्तब्धता में चेतन ने ग्रनगिनत प्राणियों की मूक सिसकियाँ सुनीं, जो इन दीवारों में बन्द थे ग्रौर निकलने की राह न पा रहे थे। इन दीवारों की नींव कहाँ है? ये कब गिरेंगी, कैसे गिरेंगी बार-बार सोचने पर भी चेतन को कुछ मालूम न हो सका।"[५]—यहाँ चेतन के ग्रपने ग्रौर उसके सम्पर्क में ग्राए ग्रन्य लोगों की जीवन-विषमता के बहुविध कारणों की

१. पृ० ४४३। २. पृ० ४८२। ३. पृ० ६७७। ४. पृ० ६८७।
५. पृ० ६९०-९१।

दीवारों का सामान्यीकरण हुआ है। चेतन अपने तथा सम्पृक्त अन्य व्यक्तियों की पीड़ा की अनुभूत चेतना से, अपने वर्ग की चेतना, और फिर समग्र मानवता की पीड़ा-चेतना की ओर बढ़ गया है। यह उक्ति उपन्यास के अन्त में है; मानों इससे पूर्वोक्तियों को परिपुष्ट किया गया है और अन्तिम प्रभाव को घनीभूत।

लेखक ने उक्त उद्देश्य का समावेश कलात्मक विधि से किया है। वह न तो बहसों के पचड़े में पड़ा और न ही उसने भाषण झाड़े हैं। उपन्यासकार की स्वतन्त्रता का यथासम्भव कम उपभोग करते हुए उसने अपने मतामत का सीधा प्रकाशन स्वल्पतम किया है—इतने बड़े उपन्यास में केवल चार-पाँच स्थलों पर सुख-दुःख,[1] जीवन-स्वप्नों,[2] प्रेम-वासना,[3] आदि के सम्बन्ध में, अत्यन्त संक्षेप में, लेखक ने विचार व्यक्त किए हैं। उसने अपनी तटस्थता का निर्वाह इतने पूर्वाग्रह से किया है कि अपने स्पष्ट मत देने के अभाव में कहीं-कहीं उसे पाठक की बुद्धि पर अविश्वास हो उठा है कि स्यात् वह उसके चरित्र-चित्रण की व्यंजना को समझ न सके। अतएव उसे अपना मत देना पड़ा है किन्तु विषय-बाह्य समझ कर कोष्ठ में; जैसे···

(क) "सम्पादक और अध्यापक में कितना अन्तर है? वह (चेतन) सोचता—सम्पादक कलम का सम्राट् है। चाहे तो साम्राज्य बना दे, चाहे बिगाड़ दे, वह बड़े से बड़े व्यक्ति तक की आलोचना बड़ी निर्भीकता से कर सकता है (चेतन को तब यह मालूम न था कि पूँजीवादी युग में समाचार-पत्र ही नहीं खरीदे जाते उनके सम्पादक और कई बार मालिक तक भी खरीदे जा सकते हैं।)"[4]

(ख) "लेकिन इतने पर भी चेतन की माँ ने अपने इस निर्मम पति को अपनी समस्त आस्था, समस्त श्रद्धा, समस्त प्यार, समस्त आदर-सत्कार दिया। स्वप्न में भी उसका बुरा न सोचा (यह अत्युक्ति नहीं, धर्म और कर्म की जंजीरों में जकड़ी ऐसी अनेक स्त्रियाँ इस पुण्य-भूमि भारत में मिल जायंगी।)"[5]

वस्तुतः अपने मतामत के सीधे प्रकाशन से बहुधा विरत रहकर, लेखक ने एक निम्न मध्यवर्गीय युवक, चेतन, की जीवनी, उसके सम्पूर्ण सजीव वातावरण—उसके पारिवारिक एवं परिवारेतर सम्पृक्त व्यक्तियों के जीवन, तथा परिवेश—के चित्रण के साथ कही है और इस चित्रण-सम्पूर्णता से ही अपनी लक्ष्य-व्यंजना की है। लेखक के कथनानुसार—"कहानी इसमें महत्व नहीं रखती, महत्व रखता है निम्न मध्यवर्ग के वातावरण का चित्रण और उसी वातावरण के अँधेरे में अपनी प्रतिभा के विकास का पथ खोजने वाले जागरूक अति भावप्रवण युवक की तड़प और उसका मानसिक विकास।"[6] निस्सन्देह लेखक ने एक तो अपने विचार इस युवक

१. पृ० २३७। २. पृ० ५४०। ३. पृ० २३१। ४. पृ० ६५।
५. पृ० १३८। ६. पृ० २१-२२।

चेतन के मानसिक विकास के फलस्वरूप, उसके चिन्तन-निष्कर्ष के रूप में दिए हैं; दूसरे, इसके माध्यम से एक निम्न मध्यवर्गीय, बहुविध कुंठाओं और संघर्षों का प्रतीक-चित्र अंकित किया है; तीसरे, उपन्यास के अन्य अनेक प्रसंग-पात्रों को भी प्रायः चेतन की दृष्टि से देखा और चित्रित किया है। इससे चेतन लेखक का प्रतिनिधि बन गया है। वह 'चेतन' (चैतन्य) है। लक्ष्य-प्रतिपादन की यह विधि चरित्र-चित्रणात्मक है और यह उपन्यास चरित्र-प्रधान। उपन्यास की मूल संवेदनाओं की अभिव्यक्ति के आधारभूत चरित्र—कथानायक—की दृष्टि से ही लेखक ने पहले इस उपन्यास का नाम चेतन रखने की सोची थी।[1] 'गिरती दीवारें' के संक्षिप्त संस्करण का नाम चेतन रखा भी गया है। आगे यथास्थान यह स्वतः स्पष्ट हो जाएगा कि इन दोनों में से कौन-सा नाम अधिक उपयुक्त है।

इस उपन्यास में प्रत्यक्षतः कथानायक चेतन के यौवन-काल के प्रारम्भिक वर्षों (२० से २५ तक) के जीवन का चित्रिण हुआ है, किन्तु परोक्षतः उसके जन्म, बचपन, और किशोरावस्था सभी का चित्रण हुआ है। एक पात्र की जीवनी अथवा चरित्र-चित्रण की दृष्टि से जीवन के प्रारम्भिक भाग का चित्रण महत्वपूर्ण है ही, उद्देश्य की दृष्टि से भी यह समतुल्य महत्व रखता है। इससे मध्यवर्गीय संस्कारों, उगती हुई आशाओं तथा पालन-पोषण की विषम परिस्थितियों के पारिवारिक-सामाजिक धरातल की अच्छी झाँकी दी गई है। जहाँ तक 'गिरती दीवारें' के प्रत्यक्ष भाग का सम्बन्ध है, वह नायक की अवस्था के उस भाग को लेकर लिखा गया है "जबकि वह नहीं समझ पाता कि अन्ततोगत्वा जीवन में उसे क्या करना है; वह कभी इस मार्ग को पकड़ता है, कभी उसको; कभी एक ओर सरपट भागता है, कभी दूसरी ओर—वह कथाकार, कवि, उपन्यासकार, संगीतज्ञ, चित्रकार, अभिनेता सभी कुछ बनना चाहता है। आयु के इसी भाग के जोश, वलवलों, आशाओं, निराशाओं, कल्पना के पारस को छूकर एक क्षण में बन उठने वाले और यथार्थता की ठोकर से दूसरे क्षण ढह जाने वाले बुदबुद के सपनों और निम्न मध्यवर्गीय युवक के अन्तर और बाह्य के द्वन्द्वों को उपन्यास का यह भाग दर्शाता है"।[2] तात्पर्य यह है कि चेतन का समग्र जीवन मध्यवर्गीय आशा-लालसाओं और कुंठाओं का सजीव प्रतीक है। इस चेतन की चरित्र-कथा—उपन्यास की मूल-कथा—के माध्यम से, उसके जीवन की घटनाओं या संघर्ष-विघर्ष-जन्य स्वाभाविक चिन्तन के रूप में जो-जो समस्याएँ—मुख्यतः मध्यवर्गीय तथा कुछ सामान्य—इस उपन्यास में प्रतिपादित हुई हैं, वे पर्याप्त प्रभावपूर्ण हो सकी हैं। उदाहरणतया, मध्यवर्गीय आर्थिक विषमता की

---

१. "अपने पाठकों और आलोचकों से", 'गिरती दीवारें', पृ० १६।

२. पृ० २२।

दीवारों का सामान्यीकरण हुआ है। चेतन अपने तथा सम्पृक्त अन्य व्यक्तियों की पीड़ा की अनुभूत चेतना से, अपने वर्ग की चेतना, और फिर समग्र मानवता की पीड़ा-चेतना की ओर बढ़ गया है। यह उक्ति उपन्यास के अन्त में है; मानों इससे पूर्वोक्तियों को परिपुष्ट किया गया है और अन्तिम प्रभाव को घनीभूत।

लेखक ने उक्त उद्देश्य का समावेश कलात्मक विधि से किया है। वह न तो बहसों के पचड़े में पड़ा और न ही उसने भाषण झाड़े हैं। उपन्यासकार की स्वतन्त्रता का यथासम्भव कम उपभोग करते हुए उसने अपने मतामत का सीधा प्रकाशन स्वल्पतम किया है—इतने बड़े उपन्यास में केवल चार-पाँच स्थलों पर सुख-दुःख,[1] जीवन-स्वप्नों,[2] प्रेम-वासना,[3] आदि के सम्बन्ध में, अत्यन्त संक्षेप मे, लेखक ने विचार व्यक्त किए है। उसने अपनी तटस्थता का निर्वाह इतने पूर्वाग्रह से किया है कि अपने स्पष्ट मत देने के अभाव मे कहीं-कही उसे पाठक की बुद्धि पर अविश्वास हो उठा है कि स्यात् वह उसके चरित्र-चित्रण की व्यजना को समझ न सके। अतएव उसे अपना मत देना पड़ा है किन्तु विषय-वाह्य समझ कर कोष्ठ में; जैसे···

(क) "सम्पादक और अध्यापक में कितना अन्तर है ? वह (चेतन) सोचता—सम्पादक कलम का सम्राट् है। चाहे तो साम्राज्य बना दें, चाहे बिगाड़ दे, वह बड़े मे बड़े व्यक्ति तक की आलोचना बडी निर्भीकता से कर सकता है (चेतन को तब यह मालूम न था कि पूजीवादी युग में समाचार-पत्र ही नहीं खरीदे जाते उनके सम्पादक और कई बार मालिक तक भी खरीदे जा सकते हैं।)"[4]

(ख) "लेकिन इतने पर भी चेतन की माँ ने अपने इस निर्मम पति को अपनी समस्त आस्था, समस्त श्रद्धा, समस्त प्यार, समस्त आदर-सत्कार दिया। स्वप्न में भी उनका बुरा न सोचा (यह अत्युक्ति नहीं, धर्म और कर्म की जंजीरों में जकड़ी ऐसी अनेक स्त्रियाँ इस पुण्य-भूमि भारत में मिल जायंगी।)"[5]

वस्तुतः अपने मतामत के सीधे प्रकाशन से बहुधा विरत रहकर, लेखक ने एक निम्न मध्यवर्गीय युवक, चेतन, की जीवनी, उसके सम्पूर्ण सजीव वातावरण—उसके पारिवारिक एवं परिवारेतर सम्पृक्त व्यक्तियों के जीवन, तथा परिवेश—के चित्रण के साथ कही है और इस चित्रण-सम्पूर्णता से ही अपनी लक्ष्य-व्यंजना की है। लेखक के कथनानुसार—"कहानी इसमें महत्व नहीं रखती, महत्व रखता है निम्न मध्यवर्ग के वातावरण का चित्रण और उसी वातावरण के अँधेरे में अपनी प्रतिभा के विकास का पथ खोजने वाले जागरूक अति भावप्रवण युवक की तड़प और उसका मानसिक विकास।"[6] निस्सन्देह लेखक ने एक तो अपने विचार इस युवक

१. पृ० २३७। २. पृ० ५४०। ३. पृ० २३१। ४. पृ० ६५।
५. पृ० १३८। ६. पृ० २१-२२।

चेतन के मानसिक विकास के फलस्वरूप, उसके चिन्तन-निष्कर्ष के रूप में दिए हैं; दूसरे, इसके माध्यम से एक निम्न मध्यवर्गीय, बहुविध कुंठाओं और संघर्षों का प्रतीक-चित्र अंकित किया है; तीसरे, उपन्यास के अन्य अनेक प्रसंग-पात्रों को भी प्राय: चेतन की दृष्टि से देखा और चित्रित किया है। इससे चेतन लेखक का प्रतिनिधि बन गया है। वह 'चेतन' (चैतन्य) है। लक्ष्य-प्रतिपादन की यह विधि चरित्र-चित्रणात्मक है और यह उपन्यास चरित्र-प्रधान। उपन्यास की मूल संवेदनाओं की अभिव्यक्ति के आधारभूत चरित्र—कथानायक—की दृष्टि से ही लेखक ने पहले इस उपन्यास का नाम चेतन रखने की सोची थी।[1] 'गिरती दीवारें' के संक्षिप्त संस्करण का नाम चेतन रखा भी गया है। आगे यथास्थान यह स्वत: स्पष्ट हो जाएगा कि इन दोनों में से कौन-सा नाम अधिक उपयुक्त है।

इस उपन्यास मे प्रत्यक्षत: कथानायक चेतन के यौवन-काल के प्रारम्भिक वर्षों (२० से २५ तक) के जीवन का चित्रिण हुआ है, किन्तु परोक्षत: उसके जन्म, बचपन, और किशोरावस्था सभी का चित्रण हुआ है। एक पात्र की जीवनी अथवा चरित्र-चित्रण की दृष्टि से जीवन के प्रारम्भिक भाग का चित्रण महत्वपूर्ण है ही, उद्देश्य की दृष्टि से भी यह समतुल्य महत्व रखता है। इसमे मध्यवर्गीय संस्कारों, उगती हुई आशाओ तथा पालन-पोषण की विषम परिस्थितियों के पारिवारिक-सामाजिक धरातल की अच्छी झाँकी दी गई है। जहाँ तक 'गिरती दीवारें' के प्रत्यक्ष भाग का सम्बन्ध है, वह नायक की अवस्था के उस भाग को लेकर लिखा गया है "जबकि वह नहीं समझ पाता कि अन्ततोगत्वा जीवन में उसे क्या करना है; वह कभी इस मार्ग को पकड़ता है, कभी उसको; कभी एक ओर सरपट भागता है, कभी दूसरी ओर—वह कथाकार, कवि, उपन्यासकार, संगीतज्ञ, चित्रकार, अभिनेता सभी कुछ बनना चाहता है। आयु के इसी भाग के जोश, वलवलों, आशाओं, निराशाओं, कल्पना के पारस को छूकर एक क्षण में बन उठने वाले और यथार्थता की ठोकर से दूसरे क्षण ढह जाने वाले बुदबुद के सपनों और निम्न मध्यवर्गीय युवक के अन्तर और बाह्य के द्वन्द्वों को उपन्यास का यह भाग दर्शाता है"।[2] तात्पर्य यह है कि चेतन का समग्र जीवन मध्यवर्गीय आशा-लालसाओं और कुंठाओं का सजीव प्रतीक है। इस चेतन की चरित्र-कथा—उपन्यास की मूल-कथा—के माध्यम से, उसके जीवन की घटनाओं या संघर्ष-विघर्ष-जन्य स्वाभाविक चिन्तन के रूप में जो-जो समस्याएँ—मुख्यत: मध्यवर्गीय तथा कुछ सामान्य—इस उपन्यास में प्रतिपादित हुई हैं, वे पर्याप्त प्रभावपूर्ण हो सकी है। उदाहरणतया, मध्यवर्गीय आर्थिक विषमता की

---

१. "अपने पाठकों और आलोचकों से", 'गिरती दीवारें', पृ० १६।

२. पृ० २२।

समस्या को लीजिये । चेतन का जन्म ही ऐसे स्थान पर होता है, जिसे 'घर' कहना घर का उपहास करना है । प्रसव के पहले-पीछे माँ को पौष्टिक पदार्थ नहीं मिलते । वह मुश्किल से पेट भरती है ।[१] समय से पहले ही उसे घर का काम शुरू कर देना पड़ता है । उसकी छातियों का दूध सूख जाता है और चेतन को माँ के दूध से बहुत-कुछ वंचित रहना पड़ता है । ऐसी स्थिति में चेतन का पोषण नहीं हो पाता और वह दुर्बल रह जाता है । माँ-दादी की रूढ़ सामाजिक-धार्मिक धारणाएँ, पिता की घोर डाँट-फटकार, मार-पीट और मध्यवर्गीय मुहल्ले के विषाक्त वातावरण के बीच चेतन का कोमल मन नाना ग्रंथियों से बोझिल हो जाता है। "उसकी दशा उस मृगशावक की-सी थी, जिसकी टाँगें जन्म ही से निर्बल हों और जो अपने मन की समस्त चंचलता के बावजूद दुनिया की रंगीनी को मुटर-मुटर ताकता और कुलांचें भरने की इच्छा को मन ही मन दबाकर रह जाय ।"[२] अर्थाभाव के कारण उसके एम० ए० तक पढ़ने का अरमान पूरा नहीं हो पाता और वह बी० ए० के बाद अध्यापक बन जाता है । अध्यापकी से ऊबकर वह लाहौर के समाचार-पत्र के लिए कहानी-लेखन तथा अनुवाद-कार्य से आजीविका जुटाकर अपने पाली हुई कल कल्पनाओं और प्रतिभा के विकास का मार्ग प्रशस्त करने का प्रयास करता है । यहाँ उसे दिन-दिन भर मेहनत करने के बाद ४० रुपए मासिक तथा नाम-मात्र के सम्पादकों की रोज-रोज़ की घुड़कियाँ इनाम में मिलने लगती हैं । उसे अनुभव होता है कि हर सप्ताह कहानी-लिखने की मजबूरी घास छीलने के बराबर है और केवल मेहनत से ही पैसा नहीं कमाया जा सकता । उसकी प्रतिभा गरीबों के चंगड़ मुहल्ले के सीलन भरे बदबूदार, अँधकारमय कमरों में ही घुटकर सिसकने लगी । ऐसे रहन-सहन और अपार मेहनत से उसका स्वास्थ्य भी बिगड़ गया । ऐसे समय उसका स्वास्थ्य सुधारने और प्रतिभा को उबारने के लिए, उससे पुस्तकें लिखवाकर अपने नाम से छपाने-कमाने की फिकर में कविराज रामदास-जैसा शरीफ शोषक उसको अपने साथ शिमला ले जाने का उपकार करता है । इस उपकारी व्यक्ति से उसको कोई और लाभ तो नहीं होता, किन्तु उच्चवर्गीयों की कुशल शोषण-वृत्ति के कटु अनुभव अवश्य होते हैं । ऊपर से मधुर, भीतर से धूर्त पर-शोषणजीवी कविराज रामदास-जैसे व्यक्ति के हाथों उसकी प्रतिभा बिकती है, किन्तु बिककर भी अर्थाभावों की पूर्ति नहीं कर पाती । उसे चैन के बजाय और भी बेचैनी मिलती है, क्योंकि यथार्थ की जागृति में उसका मध्यवर्गीय स्वप्नों का संसार टूट जाता है । ऐसी बेचैन मनःस्थितियों में अपने जीवन की रगड़ से उसका जो चिन्तन उद्बुद्ध होता है, वह न तो प्रचार लगता है, न बाहर से लादा हुआ उद्देश्य; बल्कि किसी 'चेतन' व्यक्ति के जीवन-विकास का सहज-स्वाभाविक निष्कर्ष;

१. ५१वाँ परिच्छेद । २. पृ० ५१६ ।

यथा, निम्नस्थ पंक्तियों में चेतन का अनुभव-प्रसूत चिंतन द्रष्टव्य है:—"उसका जी चाहता था कि चुपचाप घर चला जाय और जाकर सो रहे। लेकिन उसने अभी तक खाना न खाया था। दुःख और अवसाद की गहराइयों में ऊपर उठती हुई भूख धीरे-धीरे उसके मन से सफलता, सम्पन्नता, ख्याति आदि की सभी भावनाओं को भगाकर वहाँ अपना आधिपत्य जमा रही थी।..भूख.. यदि कहीं यह भूख न होती! पेट भरने की यह बेबसी न होती! तब उसे समाचार-पत्रों की, कविराज जैसे शोषकों की गुलामी न करनी पड़ती! वह संसार के विशाल प्रांगण में स्वच्छन्द, स्वतन्त्र घूमता।.. पहाड़ों में जाकर हिम-मंडित शिखरों की रजत-छटा निरखता। कल-कल, छल-छल बहते झरनों के पास बैठ कर घंटों उसका मधुर संगीत सुनता।. सूर्य और चन्द्र की अथक आकुलता; उमड़-घुमड़कर छाते, बरसते, उड़ते मेघों का उन्माद; आकाश की गहराइयों में विचरने वाले पक्षियों की जिज्ञासा—सबकी थाह पा लेता और उस महान् सौन्दर्य, उस महागान, महा परिवर्तन, उस महती आकुलता में डूबकर, तन्मय होकर अमर गीतों की सृष्टि करता.. किन्तु यह भूख.. मानव के पाँव में सबसे पहली, सबसे बड़ी बेड़ी, यह न होती, तो कदाचित् मानव खिलौना न होकर खिलाड़ी बन जाता, सृजनहार के आसन पर जा बैठता"।[1] यही अनुभव उसमें वर्ग-चेतना-जगाने और समाज-व्यवस्था के यथार्थ को पहचानने की शक्ति देते हैं; देखिए:—

"..कुन्ती के साथ सुखी जीवन बिताने के हौसले, नीला के साथ सुख के संसार की कल्पना; कविराज की सहृदयता का सहारा पाकर असफलता के उदधि को लाँघकर सफलता को प्राप्त करने के स्वप्न—सब मिथ्या! सब झूठ!! मरीचिका की तरह निकट रहकर भी दूर!!! कविराज ने उसे जो अवसर दिया था, उसे वह नौका ही तो समझा था। किन्तु जिसे वह नौका समझा था वह तो ग्राह निकला।.. उन निराश क्षणों में जब उसकी आँखों से कल्पना का पर्दा हट गया, उसने सारे संसार को उसके यथार्थ रूप में देखा। उसने पाया कि उसके इर्द-गिर्द जो संसार है उसमें दो वर्ग हैं—एक में अत्याचारी हैं, शोषक हैं; दूसरे में पीडित हैं, शोषित हैं! यह ज्ञान कि वह पीड़ित है और शोषित है, उसे खिन्न किए दे रहा था।.. यदि सफलता के लिए केवल श्रम दरकार होता तो वह जान लड़ा देता किन्तु छल-छिद्र, धोखा-कपट···क्या वह धोखे का धोखे, कपट का कपट से मुकाबिला कर सकेगा? और यही उसके दुःख का दूसरा कारण था।

"उसकी सरलता को पहली बार जग की धूर्तता का सामना करना पड़ता था। माँ ने पाप-पुण्य, भलाई-बुराई के जो विचार उसे घुट्टी के साथ पिलाये थे, वे उसे हवा होते दिखाई देते थे।.. उसे लगता था जैसे वह अपने विश्वासों की चोटी से

१. पृ० ४२१-२२।

गिरता जा रहा है ...।"[1] अपने कथानायक को शोषक-शोषित की वर्ग-विषमता के चिंतन तक पहुँचाकर भी लेखक ने अपने पात्रों के इन दो कोटियों के स्थिर-सीमित कटघरे नहीं बनाए। चरित्र-चित्रण की उस विशेषता से उद्देश्य की और भी कलात्मक अभिव्यक्ति हो सकी है। उदाहरणतया, कविराज रामदास धूर्त एवं शोषक है, किन्तु अपने निश्छल क्षणों में वह अपना दिल निकाल कर रख देता है;[2] और लेखक इन क्षणों का उपयोग चेतन के चिंतन को और भी सही दिशा देने के लिए करता है—"कविराज गा रहे थे और चेतन सोचता था— यह व्यक्ति, जिसे वह केवल एक चतुर व्यापारी, एक हृदयहीन शोषक समझता था, अपने वक्ष में हृदय भी रखता है। उसने अवश्य ही कभी-न-कभी प्रेम भी किया है। चाहे अब उस प्रेम की चिनगारी दुनियादारी की राख के नीचे दब गयी हो, लेकिन वह एकदम बुझ नही गयी, कही उस व्यावहारिकता, चतुराई, व्यापार, प्रवंचना, छल-कपट के नीचे दवी पड़ी है। और चेतन ने सोचा— मनुष्य क्यों अपने-आप पर एक खोल चढ़ाने को विवश है, क्या कोई ऐसी व्यवस्था नहीं जिसमें वह जैसा है वैसा रह सके, उसे छल-कपट, धोखे-धड़ी, शोषण और उत्पीड़न की आवश्यकता न पड़े। वह अपने गुणों को जिला दे, चमका दे, मन्द न पड़ने दे, इस प्रकार क़ैद न करे, दबाकर न रखे!—कितना दर्द है इस कण्ठ में, कितना सुन्दर है यह गीत, कितना गीला, कैसी मनुहार है इसमें।"[3]—इस तरह लेखक की सहानुभूति व्यापक होकर, व्यक्ति को नहीं, समाज-व्यवस्था को दोष दे रही है। यह भी स्पष्ट है कि चेतन को विभिन्न परिस्थितियों-पात्रों के सम्पर्क में लाकर उसके चिंतन को दिशा दी गई है और यह उद्देश्य-प्रतिपादन की स्वाभाविक विधि है। 'गिरती दीवारें' का यह भाग क्योंकि नायक की २५ वर्ष की आयु तक ही सीमित है, अतएव चेतन को उक्त चिंतन तक ही पहुंचाया गया है—अभी यह चिंतन उसका संस्कार नहीं बना, जिसके अनुसार वह कार्य करने लगे; इसीसे उसकी भावुकता, कविराज की धूर्तता से समझौता करती दिखाई गई है। जैसाकि नामकरण के विवेचन में भी उल्लेख किया जा चुका है कि उपन्यास के अन्त में वह व्यक्ति-व्यक्ति के बीच सामाजिक-आर्थिक विषमता की अनेक दीवारे देखता है—मात्र देखता है, उनको गिराकर अपनी प्रतिभा का मार्ग प्रशस्त नहीं करता। किन्तु इसमे उपन्यास के नामकरण पर आपत्ति नही की जा सकती—यद्यपि चेतन न तो स्थूल दीवारों को गिराता है और न ही गिराने के लिए मार्ग खोज पाता है, तथापि पाठकों को तो गिराने की प्रेरणा मिल ही जाती है। चेतन के रूढ़ संस्कार हिलते हुए नजर आते हैं और इस रूप में उसके मन-मस्तिष्क की सूक्ष्म दीवारें भी गिरती हुई नज़र आती हैं। वस्तुतः लेखक ने नायक की आयु को ध्यान में रखकर उससे वही कुछ कहलाया-

१. पृ० ४४४-४५। २. ५२ वाँ परिच्छेद। ३. पृ० ४५३।

कराया है, जो इस सीमित आयु की अवधि में सम्भव हो सकता था । अभी तो वह अनुभवों से सीखने वाला ऐसा पथिक है, जिसके लिए गन्तव्य पर्याप्त दूर है—और यह उपन्यास के अगले भागों का विषय है ।[1] इस तरह उपन्यास का उद्देश्य चरित्रानुमोदित है ।

आर्थिक विषमता के अतिरिक्त मध्यवर्ग की सामाजिक विषमता भी चेतन की जीवनी में मूर्त हुई है । यह सामाजिक विषमता मुख्यत. अनमेल विवाह के रूप में आई है । वय:सन्धि की अवस्था में ही चेतन को प्रेम का प्रथम अनुभव कुन्ती के साथ हुआ था । किन्तु "रस्म-रिवाज की बेड़ियों, जाति-पाँति के झमेलों, चरित्र-निर्माण के कठोर नियमों, बिरादरी और समाज के प्रतिबन्धों में ग्रसा और मानव के रूप में एक दूसरे को निगल जाने के लिए तत्पर दानवों में घिरा हुआ कोई व्यक्ति किस तरह प्रेम का नाम ले सकता है ? अपने निरीह भोले अरमान को भी कोई इससे अधिक क्या पूरा कर सकता है कि घुट-घुटकर मर जाय ।"[2] इसलिए चेतन का सम्बन्ध उस चन्दा से निश्चित हो गया, जिसे वह 'मोटी-मुटल्ली' तथा 'ढीली-ढाली' समझकर ठुकरा चुका था । पिता ने लड़के की इच्छा को पूछने की आवश्यकता न समझी और लड़के में अपने पिता को कुछ कहने-सुनने की हिम्मत न थी, इसलिए सम्बन्ध का तय हो जाना स्वाभाविक था । वह और तो कुछ न कर सका, अपने घर जालंधर से लाहौर को पलायन कर गया । वहाँ उसकी काम-वासना प्रकाशो और केशर नामक दो लड़कियों से आन्दोलित हो उठी । चेतन के संस्कारों ने उसे इस रूप में सोचने पर बाध्य किया—"इधर-उधर खेतों में मुह मारना. उगती-बढ़ती पौध को दूषित करना, पकड़े जाने पर दण्ड पाना अपमानित होना—क्या सभ्य, सुशिक्षित, सुसंस्कृत मानव के लिए यह उचित है ?"[3] इसलिए अपने में संयम का अभाव देखकर उसने समाज के विधान के अनुसार खूँटे से बँध जाने में ही अपनी कुशलता देखी । अपनी तथा अपने सम्पर्क में आई अन्य लड़कियों की दमित काम-वासना का सामान्यीकरण करते हुए वह कहता है—"इस तरह भटकने से मैंने सोचा है···विवाह कर लेना चाहिए । सगाई अब छोड़ी नही जा सकती और लड़की जैसी भी है, काफ़ी बड़ी है और आजकल बड़ी लड़कियों पर भरोसा नही किया जा सकता । बस्ती के लड़के भी (उसने हँसते हुए कहा) आखिर हम जैसे ही हैं । मै सबको जानता हूं और मैंने निश्चय कर लिया है कि यदि शादी वहीं करनी है तो दो साल तक रुकने की जरूरत नहीं ।"[4] विवाह से दो दिन पहले अपने घर जालंधर पहुँचते ही, वह अपनी शादी से पहले की अपनी पहली प्रेयसी कुन्ती—जो विवाहिता होकर एक बच्चे की माँ बन चुकी

१. इस सम्बन्ध में लेखक का अपना स्पष्टीकरण भी द्रष्टव्य है—पृ० २२-२३ ।
२. पृ० १६८, चेतन का चिंतन । ३. पृ० १६७ । ४. पृ० १७४ ।

थी—को अन्तिम बार देखने के लिए चल पड़ता है—अन्तिम बार इसलिए कि शादी के बाद उसके सम्बन्ध में सोचना भी दूसरे से बेवफ़ाई करना होगा। कुन्ती के घर के पास जाने पर उसे यह जानकर शोक हुआ कि कुन्ती का पति उसी दिन मर गया है। दाह-क्रिया से लौटने के बाद चेतन ने कुन्ती के शोकाकुल, अनुरागहीन, भावनाहीन और चेतनाहीन चेहरे को देखा। उसे कुन्ती की दृष्टि जो कहती जान पड़ी, उसमें भारतीय विधवा की चरम विडम्बनापूर्ण स्थिति की मार्मिक झाँकी के साथ सामाजिक बन्धनों की दीवारों को तोड़ने में असमर्थ मध्यवर्गीय जीवों की व्याकुल तड़फड़ाहट मिलती है—"···उसने जैसे सुना वह दृष्टि—कह रही थी—बस अब विदा! अब मैं (कुन्ती) तुम्हारी ओर देख भी न सकूँगी। पति की छत्र-छाया में रहने वाली स्त्री हँस-बोल सकती है, चाहे तो प्रेम कर सकती है, और यदि चाहे (पति दुर्बल हो, नारी चलती हुई हो) तो सन्तान तक पैदा कर सकती है। समाज उसे कुछ न कहेगा, लेकिन विधवा !···और उसने सोचा कहीं वह स्वतन्त्र होता और कहीं वह भी स्वतन्त्र होती—और जैसे स्वतन्त्र देशों के पुरुष-स्त्रियाँ···लेकिन फिर उसे ख्याल आया कि वह तो शादी करने आया है और उसने चाहा कि सब कुछ छोड़कर कहीं भाग जाय—कहीं ऐसी दुनिया में जहाँ कोई न हो—न इन्सान, न समाज और वह पंछी बन जाय—स्वतन्त्र, स्वच्छन्द और आकाश की गहराइयों में उड़ाने भरता फिरे !···

"लेकिन न वह भागा, न पंछी बना, शाम होते-होते घर वापस आ गया। थका, ऊबा और चिढ़ा हुआ। उसकी रूह पर जैसे अगणित शताब्दियों से होने वाली मौतों का भार था, अगणित युवतियों के मूक क्रन्दन जैसे उसके कानों में गूँज रहे थे और बेड़ियों में जकड़े हुए युवा हृदय जैसे उसकी आँखों के सामने सिसककर, घुटकर दम तोड़ रहे थे।"[1] उसे चन्दा से विवाह का विवश समझौता करना पड़ा। चन्दा शिक्षा, प्रतिभा और व्यवहार में नितांत अननुकूल होते हुए भी सहृदय, उदार और नेक नारी थी। उसने पति के अनुकूल बनने और चेतन ने भी उससे एक आदर्श पतिवत् निर्वाह का प्रयास किया। किन्तु शारीरिक दृष्टि से तृप्त होते हुए भी, मानसिक रूप से वह अतृप्त ही रहा। उसकी यह अतृप्ति उस चन्दा की चचेरी बहिन नीला से प्यार के कारण सजग ही रही, जिसे उसने पहले-पहल तब देखा था, जब वह चन्दा को देखने गया था। नीला का आकर्षण बार-बार उसे ससुराल ले जाता था। और नीला का सहज व्यवहार इस आकर्षण को बढ़ाता ही गया। अपनी बीमारी की अवस्था में सेवा करती हुई नीला को वह अपने अंक में भर लेता है। यह ग़लती दोनों को एक-दूसरे से अलग कर उनके विषाद का कारण बनती है। उसके बाद चेतन नीला से क्षमा-माँगने के लिए अनेक बार प्रयास करता है, किन्तु नीला

१. पृ० १६७।

उसे यह अवसर नहीं देती। चेतन के दमित काम को दम्मो तथा मन्नी के स्पर्श-प्रसंग भी अनावृत करते है। उधर नीला का भी अनमेल विवाह एक अधेड़, दुहाजु-तिहाजु तथा कुरूप-से व्यक्ति से होता है। चेतन बुलावा आने पर उसके विवाह में जाता है और उसे यह देखकर दुःख और आत्मग्लानि होती है। उसने भावुकतावश आदर्श की झोंक में, नीला से, अपने काम-व्यवहार की सांकेतिक सूचना देकर उसके पिता को नीला की शादी कर देने के लिए कहा था और जल्दी में वर को बिना अच्छी प्रकार जाँचे, यह अनमेल-विवाह हो रहा था। चेतन का नीला के प्रति दबा हुआ प्यार अपनी पूरी तीव्रता से जाग उठता है किन्तु सामाजिक प्रतिबन्धों के आगे वह विवश बना रहा। नीला के अनमेल विवाह के सामाजिक अत्याचार से वह दुखी है किन्तु उसके अचेतन को इस बात का संतोष भी है कि नीला विवाहोपरांत भी, अपने अनचाहे पति के कारण, उससे प्यार करती रहेगी। किन्तु जब उसे, विवाह की रस्मों में ही, नीला तथा स्वास्थ्य-यौवन-सम्पन्न सुरूप देवर त्रिलोक के मध्य पारस्परिक आकर्षण का संकेत मिल जाता है तब उसे ईर्ष्या और क्षोभ होने लगता है। यह ईर्ष्या और क्षोभ शीघ्र ही विलीन हो जाता है जब विदा के समय नीला विशेष रूप से चेतन से क्षमा माँगने आती है। चेतन को अपना अपराध और भी जलाता है और वह क्षमा माँगता है। अन्त में जागरूक चेतन को अपने, चन्दा और नीला के बीच, एवं त्रिलोक और नीला के मध्य सामाजिक दीवारें; और अपने और कविराज के बीच—इसी तरह जयदेव, यादराम (कविराज के नौकर) और कविराज के मध्य—आर्थिक विषमता की दीवारें दिखाई देती है। इसी के साथ उपन्यास का अन्त होता है, जो करुण प्रभाव छोड़ता है। सम्पूर्ण उपन्यास से चेतन के चरित्र के माध्यम से मध्यवर्गीय सामाजिक-आर्थिक विषमता की दीवारों तथा संस्कारों-वश स्वस्थ विद्रोह के स्थान पर नपुंसक क्रोध, समझौते तथा घुटन-पीड़न की प्रवृत्तियों की व्यंजना हुई है। मध्यवर्ग का यह यथार्थ चित्र गर्हित है, करुणापूर्ण है अतएव पाठकों में मध्यवर्गीय विषमता की दीवारों को गिराने की प्रेरणा उठ सकती है। उठती भी है, परन्तु उस तीव्रता से नहीं जो लेखक का अभीष्ट है। इसका कारण यह है कि चेतन की प्रतिभा के उचित विकास में बाधक सामाजिक-आर्थिक विषमता के मध्य उसकी यौन-कुण्ठा अपेक्षाकृत अधिक उभर कर सामने आई है। उसकी काम-वासना प्रकाशो, केसर, नीला, मन्नी आदि की ओर, किंचित् अनुकूल अवसर पाते ही, अपना रंग दिखाने लगती है। यह मानसिक रूप में व्यक्त होकर ही नहीं रह जाती, प्रायः ऐसी ऐन्द्रिय अभिव्यक्ति भी पाती है जिसमें पाठकों का मन उलझने लगता है। जहाँ यह अवसर नही मिलता—जैसे राधा रानी के प्रसंग में[1]—वहाँ उसका कामुक चिंतन

१. पृ० २५६।

'लम्बी सांस' खींचकर रह जाता है। जैसाकि स्पष्ट किया जा चुका है कि नीला के अनमेल विवाह के अन्तिम प्रसंग में भी उसकी सामाजिक प्रतिक्रिया के बीच उसकी व्यक्तिगत यौन-कुण्ठा नीला एवं त्रिलोक के प्रति विक्षुब्ध ईर्ष्या में लक्षित होती है। चरित्र-चित्रण की स्वाभाविकता की मजबूरी के कारण, मनोवैज्ञानिक दृष्टि से यह उचित हो सकती है किन्तु सामाजिक उद्देश्य की दृष्टि से इसका घातक प्रभाव ही हो सकता है। यही नहीं कुछ अन्य अवसरों पर भी, यौन-कुण्ठा के परिपार्श्व में उसकी सामाजिक प्रतिक्रियाएँ प्रभावपूर्ण नहीं हो सकीं। उदाहरणतया, शिमला को जाते हुए रेल के डिब्बे में वह स्वयं किसी की पत्नी मन्नी से वासनामय व्यवहार कर रहा है और उसी में बैठी हुई वेश्याओं के प्रति एक अन्य कामुक व्यक्ति के व्यवहार से उसकी प्रतिक्रिया वेश्याओं के रूप में नारी के शोषण के प्रति सहानुभूतिपूर्ण चिन्तन करती दिखाई देती है। पाठक चेतन की यौन-कुण्ठा के प्रभाव में इस सामाजिक सहानुभूति को ग्रहण नहीं कर पाता।[1] चेतन के बार-बार के चारित्रिक स्खलन को पुराने ढंग के अनमेल विवाह से उत्पन्न परिस्थितियों का परिणाम—जैसाकि शिवदानसिंह चौहान का मत है[2]—कहकर टाला नहीं जा सकता, क्योंकि लेखक का चित्रण चेतन की काम-कुण्ठाओं तथा जागरूक सामाजिक चिन्तन मे समुचित सामंजस्य नहीं बिठा सका। दूसरे, चेतन के अतिरिक्त अन्य पात्रों के काम-प्रसंग भी है जिनको स्थान देने की आवश्यकता नहीं थी।

'गिरती दीवारें' की प्रभाव-शिथिलता का एक अन्य कारण भी है। चेतन के सूक्ष्म संस्कारों की मानसिक दीवारें टूट रही है, यह केवल इसी आधार पर कहा जा सकता है कि वह सामाजिक व्यवस्था के सम्बन्ध में बार-बार नए प्रकार से सोचता रहता है। किन्तु यह आपत्ति हो सकती है कि उसके आचरण में उसके चितन का उपयोग नहीं हुआ, इसलिए चिन्तन की दृष्टि से गतिशील होते हुए भी आचरण की दृष्टि से वह स्थिर-पात्र ही लगता है। ऐसे चिन्तन और कर्म में भेद रखने वाले तथा बार-बार यौन-कुण्ठाओं से फिसलने वाले स्थिर-पात्र का चिन्तन भी अभीष्ट प्रभावपूर्ण नहीं हो सकता। उत्तर दिया जा सकता है कि चेतन के चिन्तन और कर्म का यह भेद ही मध्यवर्गीय दुर्बलता तथा विडम्बना की यथार्थता को चित्रित करना है और आचरण में उसकी गतिशीलता दिखाना उपन्यास के इस भाग का नहीं, दूसरे भागों का विषय हो सकता है—क्योंकि चरित्र-विकास के लिए पर्याप्त समय चाहिए। स्यात् इसीलिए इस उपन्यास का 'गिरती दीवारें' की अपेक्षा चेतन नाम अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है। उक्त उत्तर स्पष्टीकरण कर सकता है किन्तु उपन्यास के प्रभाव का स्थान नहीं ले सकता। लेखक की साग्रह तटस्थता, उपन्यास के प्रारम्भ

---

१. ४६वाँ परिच्छेद। २. "साहित्यानुशीलन", पृ० २३३।

में प्रथम भाग न लिखने की गलती तथा 'गिरती दीवारें' नामकरण सब मिलकर पाठकों की अभीष्ट व्यंजना-प्राप्ति में बाधक सिद्ध हुए हैं।

चेतन की जीवन-गति के चित्रण—और इसके माध्यम से मध्यवर्गीय चित्रण—के अंग-रूप में कुछ अन्य समस्याओं का समाहार भी हुआ है। चेतन (और उसके भाई) के दूषित पालन-पोषण के आधार पर माँ-बाप द्वारा अपने बच्चों के अमनोवैज्ञानिक विकास की समस्या भी प्रभावपूर्ण रीति से सामने आई है। युवक-युवतियों को यौन-शिक्षा की अज्ञानता के कारण कविराजों के चक्कर में पड़कर अपने स्वास्थ्य, मनोबल, धन आदि को खोने की बात भी मूर्त हुई है। चेतन के समग्र जीवन के कुछ प्रसंगों की यह व्यंजना भी महत्वपूर्ण है कि अत्यधिक भावप्रवणता—भावुकता—मनुष्य की अशांति का कारण होती है। चेतन के जीवन-विकास के गौण प्रसंगों के आधार पर चलते-चलते भी कुछ प्रश्न सामने आए हैं; इनमें से लड़के-लड़की को दहेज में दी हुई वस्तुओं की अव्यावहारिकता,[1] निम्न मध्यवर्गीय नारी की पर्दा-प्रथा,[2] पारिवारिक असंतुलन आदि प्रमुख हैं। वस्तुतः इनमें से अधिकांश मध्यवर्गीय जीवनांकन के विभिन्न पक्ष हैं।

चेतन के अतिरिक्त, चेतन-परिवार के व्यक्तियों के चित्रण के आधार पर भी उद्देश्य-तत्व का समावेश हुआ है। उदाहरणतया, भारतीय नारी की परिस्थिति-निरपेक्ष अटूट एवं रूढ़ पति-निष्ठा के कारण नारी-दुरावस्था तथा पुरुष के नारी पर अन्याय-अत्याचार की क्रूरता चेतन के माँ-बाप के जीवन-चित्रण के माध्यम से मार्मिक रूप से मूर्त हुई है। चेतन की दादी के चित्रण से धर्म के पाखंड का रूप सामने आया है।

चेतन की जीवन-गति के स्वाभाविक प्रवाह में आए या लाए गए पात्रों के व्यंग्य-चित्रों द्वारा भी उद्देश्य-तत्व का विनियोग हुआ है। इनके द्वारा सामाजिक पाखंडों की पोल खोली गई है; जैसे, चेतन जिस कॉलेज में पढ़ा, उसके प्रिन्सिपल का चित्रण देखिए—'उस वर्ष आर्य-समाज (कॉलेज सेक्शन) के वार्षिकोत्सव पर डी० ए० वी० स्कूल तथा डी० ए० वी० कॉलेज के प्रिन्सिपल (जिनके नाम के साथ 'त्यागमूर्ति' की नयी-नयी उपाधि लगी थी) मिलकर जुबली मनायी जा रही थी। ये त्यागमूर्ति पहले डी० ए० वी० स्कूल के हेडमास्टर बने, फिर अपनी दान लेने, स्कूल पर तानाशाही नियन्त्रण रखने और उसे राजनीतिक आंदोलनों की सर्दी-गर्मी से बचाने और अवसर पड़ने पर राजनीति में भाग लेने वाले छात्रों को उनकी योग्यता और उनके भविष्य का विचार किये बिना स्कूल से निकाल देने की अपूर्व क्षमता के कारण न केवल स्कूल के इन्टरमीडिएट स्टैन्डर्ड तक ले गये थे, बल्कि उसके प्रिन्सिपल भी बन गये थे। चेतन ने जिस वर्ष एफ० ए० पास किया, उसी वर्ष कॉलेज

१. पृ० २६३। २. पृ० २७६-८१।

मे डिग्री कक्षाएँ खोली गई थी और चूँकि कालेज की यह अभिवृद्धि उन्हीं के त्याग, परिश्रम, संयम, निष्ठा, आत्म-विश्वास और दृढ़ प्रतिज्ञा के कारण हुई थी, इसलिए स्वयं बी० ए० होने पर भी वे उस डिग्री कॉलिज के (ऑनरेरी) प्रिन्सिपल बने रहे। वे आर्य-समाज के आजीवन सदस्य थे, इसलिए अपने रहने-खाने के अतिरिक्त उन्होंने अधिक की वांछा नहीं की। यह और बात है कि उनके साधारण बुद्धि के पुत्रों ने अपने इस त्यागमूर्ति पिता की बदौलत बड़ी-बड़ी कोठियाँ बनवा लीं और स्वयं वे त्यागमूर्ति होने पर भी कॉलिज होस्टल के 'गवर्नर' कहलाना पसन्द करते रहे और अपनी कोठी पर 'गवर्नर्स-कॉटेज' का बोर्ड लगाये रहे।"[1]

इस तरह दूसरों से अपनी इन्टरव्यू लिखवा कर मात्र अपने हस्ताक्षर से अखबारों में नाम-कमाने वाली लीडरानी राधारानी, दूसरों के चुराए शेरों-कविताओं को अपने नाम से सुना कर रौब जमाने वाले कवि हुनर साहब, औरों के लेखन को को खरीद कर अपने नाम से पुस्तकें छपवाने वाले कविराज रामदास आदि अनेक पात्रों का व्यंग्य-चित्रण हुआ है।

'गिरती दीवारें' में ऐसे प्रसंग भी कम नहीं, जो मात्र सामाजिक विकृतियों के चित्रण की दृष्टि से ही लाए गए है। चेतन की जीवन-गति से इनका सम्बन्ध नहीं के बराबर या न्यून ही है। जैसे शिमले में कविराज और चेतन को सैर करते-करते एक मन्दिर में पहुँचाया गया है और वहाँ एक पूंजीपति की उदार दान-लीला और पुजारी की धार्मिकता का पर्दाफाश किया गया है। इसी तरह काश्मीर हिन्दू होटल और यादराम के प्रसंग से वर्ग-विषमता को सामने लाया गया है।[2] कामुक जगदीशसिंह की कथा से ठगे जाने वाले और ठगी करने वाले लोगों को सामने लाया गया है।[3] इन सभी प्रसंगों की सार्थकता के लिए यही कहा जा सकता है कि चेतन ने इन्हीं के आधार पर नए-नए अनुभव प्राप्त किए, अन्यथा ये स्पष्ट आरोपित और कथानक के बिखराव के उत्तरदायी हैं।

मध्यवर्गीय समस्या को मूर्तिमान करने के लिए लेखक ने वातावरण-चित्रण से विशेष सहायता ली है। जालंधर में चेतन का घर जिस मुहल्ले में स्थित होता है, वहाँ के कुएँ पर पानी भरने वाले लोगों के नित्य-प्रति के लड़ाई-झगड़ों तथा कोलाहल से ही मध्यवर्गीय सामाजिक-आर्थिक विषमता का स्वरूप उपस्थित होता रहता है। इसी प्रकार लाहौर के चंगड़ मुहल्ले में रहने वाले मध्यवर्गीय परिवारों के जर्जर सीलनदार घर, उनकी आर्थिक स्थिति की मुह बोलती तस्वीरें हैं। विवाह के अवसर पर गाए जाने वाले रूढ़ गीतों एवं सेहरों की रस्मों का चित्रण लेखक ने ऐसा किया है कि वैवाहिक विषमता अपनी सम्पूर्ण तीव्रता से सामने आ जाती है।

१. पृ० ६०५। २. ६५वाँ परिच्छेद। ३. ४०वाँ परिच्छेद।

यथा, एक विस्तृत प्रसंग का अंश लीजिए—'जब गठरी-सी बनी नीला को दो बालिश्त घूंघट काढ़े वेदी के नीचे खारे पर बैठा दिया गया, तो सामने बरामदे में बैठी हुई स्त्रियों ने गीत छेड़ दिया —

ओह दिन याद कर कान्हा—

कान्हा और चेतन के ध्यान में फिर सुहाग के वे बोल गूँज उठे। "कैसा कान्ह वर ढूढा है नीला के लिए।"···प्रतिदिन कान्त-कामिनी तरुणियाँ अनमिल युवकों अधेड़ों अथवा विधुरों के संग बाँध दी जाती हैं और ये अपढ़ स्त्रियाँ अपने गीतों में निरन्तर उन्हें 'कान्ह' और 'कन्हैया' बनाया करतीं हैं। क्या इनके आँखें नहीं ? क्या ये चुप नहीं रह सकतीं ? —और चेतन को यह सब सोचते-सोचते उन समस्त रस्मों से घृणा हो उठी—उन अन्धी-बहरी रस्मों से, जो भावनाहीन चक्की की तरह मानवों के हृदय और जीवन कुचले जा रही थी।···'[1]

उपन्यास की प्रभविष्णुता के लिए उपर्युक्त सभी प्रकारों से आए हुए उद्देश्य-तत्व का समाहित प्रभाव पड़ना वांछनीय था। इसमें अश्क जी कम सफल हो सके हैं। इसके लिए उपन्यास का कथानक भी उत्तरदायी है।

वस्तु-संगठन में लेखक ने यथार्थवादी प्रणाली का साग्रह अवलम्बन किया है। अश्क जी ने लिखा है—"यह तो पहले तय था कि उपन्यास यथार्थ के निकट रहेगा; गढ़ा-गढ़ाया कथानक न होगा; जीवन में जैसे आदमी चलता, बढ़ता, आगे पीछे की सोचता है, वैसे ही इसका नायक भी चले, बढ़े और सोचेगा।" तात्पर्य यह है कि लेखक को किसी की कहानी नहीं, जीवनी कहनी है; और इस जीवनी में यदि स्वयं ही कहानी बन जाए तो उसे आपत्ति नही आपत्ति केवल उसकी पूर्वनिश्चित योजना में है। निस्सन्देह इस उपन्यास के नायक चेतन को ऐसे चलाया-बढ़ाया गया है कि उसकी समग्र जीवन-गति, सम्बद्ध व्यक्तियों तथा परिवेश के साथ, यथार्थ रीति से सामने आ गई है। किन्तु इसमें एक सुसंगठित कहानी नहीं बन पाई। चेतन के अनमेल विवाह तथा प्रेम के प्रसंगों के आधार पर कुंती, चंदा और विशेष रूप से नीला को लेकर एक कहानी अवश्य कुछ उभरती है और पाठकों पर अन्तिम करुण प्रभाव छोड़ने में इसका विशेष योग भी है। नीला के अनमेल विवाह के करुण-प्रसंग से उपन्यास का अन्त करना लेखक की कुशलता का परिचायक है। इससे चेतन के चिंतन को भावों की मार्मिकता मिल गई है और पाठकों पर अन्तिम प्रभावोत्पत्ति की दृष्टि से इसकी उपयोगिता स्पष्ट है। परन्तु इसकी सीमा और भी स्पष्ट है। इसी के बल पर लेखक ने उपन्यास के समग्र प्रभाव को समेटने का प्रयास किया है—चेतन इसी प्रसंग से प्रेरित होकर अपने भावात्मक चिंतन में निम्नमध्यवर्ग की

---

१. पृ० ३७४-७५।

सिसकियाँ सुनता तथा सामाजिक-आर्थिक दीवारों को गिराने की प्रेरणा देता है। किन्तु यह स्पष्ट किया जा चुका है कि यह कहानी और इसका अंतिम प्रसंग सामाजिक होते हुए भी कथानायक की वैयक्तिक कुण्ठाओं को अपेक्षाकृत अधिक उभार सका है। उपन्यास के समग्र प्रभाव को अपेक्षाकृत वैयक्तिक धरातल वाली कथा तथा प्रसंग से समाहित करने का प्रयास सीमाओं में ही सफल हो सका है।

इस कहानी के अतिरिक्त 'गिरती दीवारें' में चेतन के जीवन को बनाने-बिगाड़ने वाले चेतन-परिवार तथा परिवारेतर अनेक व्यक्तियों की छोटी-छोटी कहानियाँ आ गई हैं। जैसे इनमें चेतन की माँ (लाजवंती), बाप (शादीराम), दादा, परदादी (गंगादेवी), भाई (रामानंद), भाभी (चम्पावती) की कहानी ही नहीं, बाप के मित्रों—देसराज, बनारसीदास - उनके पागल चाचा चुन्नी; भाई के मित्र राजाराम तथा चेतन के जीवन-मार्ग में आने वाले या देखे-सुने अन्य पात्रों--कुंती, मन्नी, यादराम, कविराज रामदास, दुर्गादास, महाशय धर्मचन्द, जगदीशसिंह, माई जीवां, आदि—की कहानियाँ भी हैं। इसके अतिरिक्त चेतन जिस उपन्यास के सृजन की सोचता है उसकी[1] तथा अनारकली नाटक की कहानी भी दी गई है। एक सुसंगठित कथानक के अभाव में इस उपन्यास में आद्यन्त उत्सुकता की स्थिरता चाहे न हो, किन्तु अनगिनत पात्रों की विविधता-जनित रोचकता तथा उनकी अपनी-अपनी छोटी-बड़ी कहानियों से स्थान-स्थान पर उत्सुकता-उद्बुद्धि तथा शांति अवश्य होती रहती है।

वस्तु-संगठन की दृष्टि से, कथानायक चेतन ही वह केन्द्र है, जिसके आधार पर इन कहानियों को सूत्रबद्ध करने का प्रयास किया गया है। इस प्रयास में सहायता के लिए ही लेखक ने अधिकांश उपन्यास चेतन की दृष्टि से लिखा है—चेतन से सीधे असम्बद्ध पात्रों की कहानियाँ भी, किसी न किसी विधि से उससे सम्बन्धित कर दी गई हैं, उदाहरणतया, १२वें परिच्छेद के आरम्भ में लेखक चेतन के पिता के मित्र देवराज की कहानी कहता जान पड़ता है किन्तु परिच्छेदांत में वह लिख देता है कि चेतन को ये सब बातें एकदम याद आईं।[2] इसी तरह चेतन से असम्बन्धित बनारसीदास की कहानी भी उस के चिंतन के माध्यम यह लिखकर कह दी गई है—"वहीं खड़े-खड़े उस व्यक्ति का सारा जीवन चेतन के सामने घूम गया। उनके दादा का चित्र भी उसके सामने आया।"[3] वस्तुतः चेतन ताश खेलने में मग्न बड़े भाई को बुलाने जाता है किन्तु वहाँ इस व्यक्ति को देखता है और देखते-देखते ही उसे इसकी पूर्व-कथा याद आ जाती है। इस विधि से विभिन्न पात्रों की पूर्वकथाओं को सूचित करने का प्रयास ढीले-ढीले कथानक का निर्माण ही कर सकता है। चेतन के मूल

१. पृ० ३३४-३७। २. पृ० १२२। ३. पृ० ८४।

कथानक से दूरांतर के पात्र-वृत्तों में बार-बार उलझने से उपन्यास की प्रभविष्णुता को क्षति पहुँची है।

चेतन-परिवार के व्यक्तियों की कहानियाँ इन परिवारेतर व्यक्तियों से अधिक सम्बद्ध हैं। चेतन-परिवार के व्यक्तियों में सबसे लम्बी कहानी चेतन के भाई रामानंद की कही गई है। रामानंद गतिशील चरित्र है और वह क्रमशः विद्यार्थी, पेंटर, ताश का खिलाड़ी, लांडरी वाला, कांग्रेस का लीडर तथा डैंटल डाक्टर बनता है। चरित्र-संगति के लिए, उसके पूर्व संस्कारों तथा प्रेरणाओं का पूरा-पूरा उल्लेख हुआ है। किन्तु रामानन्द की यह समग्र कहानी चेतन-बाह्य नहीं लगती—चेतन कहीं इस कहानी का दर्शक, कहीं श्रोता, कहीं सहयोग-दाता, कहीं सहयोग प्राप्त-कर्ता, कहीं सम्भोक्ता सहचर, और कहीं तुलनाधार बनकर इस कहानी से संयुक्त रहता है। चेतन के साथ उसके बड़े भाई की इस कथा की संयुक्तता का आधार दोनों की पारस्परिक घनिष्ठता है। लेखक ने चेतन के चरित्र-विश्लेपण में कहा है—"चेतन वास्तव में एक घरेलू व्यक्ति था, अपने पास माँ, भाई, बीवी अथवा किसी घनिष्ठ मित्र की उपस्थिति उसे अनिवार्य-सी लगती थी। अपने बड़े भाई से वह इस तरह प्यार करता आया था जैसे वे उसके छोटे भाई हों। उसके साथ निरन्तर रहने के कारण वे उसके जीवन का अंग बन गये थे। बचपन के कुछ वर्षों को छोड़कर वह सदा उनके संग रहा था। उनके दोष छिपाता रहा था। उन्हें हर प्रकार की सहायता देता रहा था.. शिमले के अपने प्रवास से पहले चेतन ने कभी यह न जाना था कि उसके बड़े भाई की सहानुभूति, समवेदना, प्रोत्साहन और परामर्श उसके लिए कितने मूल्यवान हैं।"[1] इस उक्ति के आलोक में चेतन-परिवार के अन्य सदस्यों की कहानियों की चेतन-सम्बद्धता को भी देखा जा सकता है।

जैसाकि उल्लेख किया जा चुका है, इस उपन्यास के कथानक को दो भागों, प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष, में विभक्त किया जा सकता है। प्रत्यक्ष कथानक का सम्बन्ध चेतन की युवावस्था के पाँच वर्षों की जीवन-गति से है और अप्रत्यक्ष में उसकी अपनी तथा अन्य अनेक पात्रों की पूर्वकथाएँ आ गई हैं। अप्रत्यक्ष भाग को चेतन के प्रत्यक्ष तथा मुख्य कथानक से मनोवैज्ञानिक विधि से संगठित किया गया है। यह अप्रत्यक्ष भाग—और कहीं-कहीं प्रत्यक्ष भाग भी—चेतन के चेतनाप्रवाह का अंग बन कर आता है या यथास्थान उसकी उद्‌बुद्ध स्मृतियों के रूप में। तात्पर्य यह है कि इसमें चेतना-प्रवाह-पद्धति तथा पूर्व-दीप्ति-पद्धति का अवलम्बन हुआ है। इससे 'गिरती दीवारें' का लगभग अर्द्धांश चेतन के मन से छनकर आगे-पीछे कथा-काल विपर्यय से आता है। जैसे, एक स्थान पर चेतन स्कूल में पढ़ा रहा है और स्कूल के

१. पृ० ४६५।

दृश्यों को देखने, या क्लास के कार्यक्रम के साथ, या स्टाफरूम विश्रांति के समय उसका 'मन कुलांचे भरता हुआ' अतीत के सीमाहीन और स्वच्छन्द क्षेत्र की ओर दौड़ने लगता है और उसकी प्रेयसी कुन्ती के सान्निध्य से स्वर्णिम बने गत दो-तीन वर्षों के स्वप्न, खण्ड-चित्रों के रूप में, सामने आ जाते हैं। इस विधि से चेतन की जवानी की पहली शर्मीली मुहब्बत' के तीन वर्षों की कहानी कह दी गई है।[1] अन्यत्र अपनी शादी से दो दिन पहले चेतन लाहौर से जालंधर अपने घर आता है और घर आते ही अपने पिता को उनके मित्र के यहाँ से बुलाने के लिए चल पड़ता है। किन्तु उसके अन्तर्मन में यह इच्छा पल रही होती है कि अपने विवाह से पहले वह विवाहित कुंती के दर्शन कर ले। इसलिए वह कुन्ती की मधुर स्मृतियों में खोया-खोया मार्ग पर चलता जाता है और कुन्ती से उसके प्रेम के विगत चित्र आते-जाते रहते हैं। साथ ही उसकी तत्कालीन जीवन-गति की कहानी भी चलती रहती है।[2]

कथानक के मनोवैज्ञानिक गठन की दृष्टि से उपन्यास के वे स्थल विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं, जहाँ चेतन किन्हीं विस्फोटक बाह्य परिस्थितियों के परिणाम स्वरूप विषम मनःस्थितियों में पहुँचकर, इनके विश्लेषण के लिए सहज ही इनसे मिलती-जुलती विगत जीवन-स्थितियों—विशेषतया बाल्यकाल की स्थितियों—की स्मृतियों में खो जाता है, जिससे चेतन और उससे सम्बद्ध व्यक्तियों के अनेक बीते प्रसंग सामने आ जाते हैं। लगता है लेखक फ्रायड की उस धारणा का उपयोग कर रहा है, जो बाल्यकाल के प्रारम्भिक वर्षों की विषयानुभूतियों को आगे के जीवन की विकृतियों का मूल समझता है। बाल्यकाल में ये अनुभूतियाँ उलझी हुई अचेतन में दमित हो जाती हैं।[3] फ्रायड से भी अधिक लेखक एडलर के इन विचारों का उपयोग करता जान पड़ता है, जो बाल्यकाल की प्रारम्भिक तथा बाद के जीवन की नूतन स्मृतियों में कोई अन्तर नहीं मानता।[4] उदाहरणतया, एक स्थल पर कविराज की धूर्तता से विक्षुब्ध-विक्षिप्त-सा हुआ चेतन अपने वर्तमान कटु जीवन की ग्लानि से घुटने लगता है और वह पाता है कि ऐसी कटुता से उसके जीवन का यह पहला ही साक्षात्कार नहीं। वह तो जीवन की कटुता ही में उत्पन्न होकर पला और युवा हुआ। और तब उसके सामने उसके जन्म की द्रावक कहानी ही नहीं आती, शैशव की धुंधली गुफाओं

---

१. दसवाँ परिच्छेद। २. २० वाँ तथा २१ वाँ परिच्छेद।

३. Freud : "New Introductory Lectures on Psycho-analysis", p. 201.

४. Ansbacher: "The Individual Psychology of Alfred Adler," p.191. 'It was irrelevant for Adler wether memories were earlier or later memories. In any event they would express the basic attitude, which remains relatively constant throughout the years"

से निकलकर ऐसी कई घटनाएँ आ जाती हैं जिनके फलस्वरूप वह आज ही की तरह खिन्न, क्लान्त दुखी और व्यथित हुआ। तात्पर्य यह है कि उसके शैशव का दुखद अध्याय अपनी विशिष्ट व्याख्या के साथ ऐसी अनेक कहानियाँ कहता आता है, जिससे उसके माँ-बाप के ग़लत संस्कारों तथा तज्जन्य ग्रंथियों के साक्षात्कार से चेतन का चरित्र-विकास संगत-स्पष्ट हो जाता है।[3] वस्तुतः चिंता करना चेतन का स्वभाव है और वह विचारों में कहीं का कहीं भटकता रहता है। एक छोटा-सा बाह्य उद्दीपन इसके लिए पर्याप्त है फिर वह चाहे किसी प्रकार का हो। कहीं पात्र को देखते ही उनका विगत जीवन उसके सामने साकार होने लगता है और कहीं उससे सम्बन्धित किंचित् घटना-व्यापार से उसकी अपनी तथा उस पात्र की विगत घटनाएँ घूमने लगती हैं। दम्मो, दम्मो की माँ, चेतन के दादा आदि के जीवन के अतीत-चित्र इसी रूप में सामने आए हैं।[4] सारांश यह है कि चेतन के वर्तमान जीवन से किसी प्रकार उद्बुद्ध एक स्मृति, उसको अन्य मिलती-जुलती स्मृति तक पहुंचा देती है और इस प्रकार स्मृतियों की शृंखला से उसको अपने तथा अन्य पात्रों से घटना-प्रसंग आते चले जाते हैं। इस तरह अनेक प्रसंगों से चेतन के चिन्तन-मात्र का सम्बन्ध रहता है। लेखक को इस बात का इतना आग्रह है कि चेतन के प्रत्यक्ष कथानक में भी अनेक स्थलों पर घटनाओं की घटना होती नहीं दिखाई गई और उन्हें चेतन की मानसिकता का अंग बनाकर, वर्तमान की स्थूलता को भी विगत की सूक्ष्मता का रूप देकर, काल-विपर्यय से उपस्थित किया गया है। जैसे चेतन, चेतन के भाइयों और उसके पिता में घर पर झगड़ा होने लगता है किन्तु लेखक उसे अकस्मात् बीच में छोड़कर चेतन को स्टेशन पर बैठा हुआ दिखा देता है, और वहीं बैठे-बैठे, किसी डरावने सपने की तरह, अभी कुछ देर पहले की घटनाएँ—उसके भाइयों और पिता के मल्लयुद्ध की घटनाएँ—उसके सामने घूमती हुई दिखा दी जाती हैं।[5] इस तरह चेतन का प्रत्यक्ष कथानक भी सर्वत्र सीधे क्रमिक रूप में नहीं कहा गया। इससे यह स्पष्ट होता है कि लेखक ने पात्रों के पूर्व-वृत्तों को स्वाभाविक मनोवैज्ञानिक विधि से समेटने की प्रेरणा से ही पूर्वदीप्ति तथा चेतना-प्रवाह पद्धति का लाभ नहीं उठाया, वह किन्हीं नूतन पद्धतियो के प्रयोग-मोह के वशीभूत भी रहा है। इससे 'गिरती दीवारें' का प्रत्यक्ष कथानक भी आवश्यकता से अधिक टूटता-पलटता रहा है, जो रोचकता के लिए व्याघातक स्थिति है। पात्रों के बिखरे हुए पूर्व-वृत्तों को शृंखलित करने के श्रम में पाठकों को रोचकता की जो क्षति उठानी पड़ी है, वह मनोवैज्ञानिक अनिवार्यता कह कर टाली भी जा सकती है किन्तु इस प्रत्यक्ष कथानक की अपने भीतर की विच्छिन्न विपर्यस्तता पाठक को व्यर्थ ही ढोनी पड़ती है। प्रत्यक्ष कथानक की घटनाओं को भी अतीत की बनाकर चेतन की मानसिकता के रूप में प्रकट करने से एकरसता की ऊब भी उत्पन्न हो गई है और

३. ५१वाँ परिच्छेद। ४. ३६वाँ, ३७वाँ परिच्छेद। ५. पृ० २०२-३।

अतीत की दूरी से घटनाओं के प्रत्यक्षीकरण के अभाव में, रोचकता में किंचित् कमी भी आई है।

अश्क जी के 'यथार्थ के निकट' रहने के पूर्वाग्रह ने यथातथ्यवादी सीमा को स्पर्श किया है। अपने कथानायक को जीवन की तरह चलाने-बढ़ाने के प्रयत्न में, उन्होंने सामान्यतः कला के चयन-सिद्धान्त की अवहेलना कर दी है और ऐसे प्रसंगों-वर्णनों को स्थान दिया है, जो यथार्थ होते हुए भी न तो मार्मिक है, और न ही मध्यवर्गीय विषमता-चित्रण के उद्देश्य के लिए उपयोगी। उदाहरणतया, चेतन की विभिन्न यात्राओं के ब्यौरे कथा की वास्तविकता बढ़ा सकते है किन्तु गौणतम विषय होने से कथा-गति-बाधक तथा उद्देश्य के प्रभाव को शिथिल करते है। इसी तरह चेतन-सम्बद्ध विभिन्न गली-मुहल्लों के वर्णन भी है। यह सही है कि इनसे निम्नमध्यवर्गीय लोगों के परिवेश, रहन-सहन आदि की अवगति होती है किन्तु प्रत्येक स्थान के ब्यौरे देने की आवश्यकता नहीं थी इससे उपन्यास में किंचित् अरोचक विवरणात्मकता आ गई है। चेतन की जीवन-गति की एक-एक बात की चर्चा तथा छोटी-छोटी बात पर विस्तृत प्रसंग-सृष्टि पाठकों को मूल विषयों से विमुख करने वाली है। इस सम्बन्ध में शिमले के सफ़र में गाड़ी की अपार भीड़-भाड़ में लघु-शंका निवृत्ति की कठिनाई की चर्चा[1] तथा लाहौर में चेतन के बांसुरी-खरीदने का प्रसंग देखा जा सकता है।[2] 'गिरती दीवारें' के कथानक में सानुपातिक संगठन का अभाव है—लेखक विभिन्न प्रसंगों को उनके महत्वानुसार स्थान नही दे सका। जैसे चेतन के संगीतकार तथा अभिनेता बनने की विफलता को व्यर्थ में अनेक पृष्ठों में घसीटा गया है। इन प्रसंगों में लेखक की यथातथ्यवादी शैली का अन्यतम रूप मिलता है; जैसे उर्दू-नाटक अनारकली के संवादों के दीर्घ-बहुल उद्धरण तथा फुट-नोट में उनका हिन्दी-अनुवाद देखा जा सकता है।[3] अन्यत्र चेतन का अंग्रेज़ी में लिखा पत्र मिलता है।[4] सरदार जगदीशसिंह की कहानी भी आवश्यकता से अधिक पृष्ठ घेरती है। जालंधर के उत्सवों के दीर्घ वर्णन रोचक होते हुए भी सवल्प सार्थक हैं। चेतन और उसके मित्रों के इश्किया शेर भी जीवन और चरित्र-चित्रण की यथार्थता के नाम पर किंचित् रंजकता की सृष्टि कर सकते है किन्तु लेखक के अभीष्ट प्रकाशकीय पहलुओं को हतप्रभ करते हैं। कुछ पात्र और उनके प्रसंग भी अनावश्यक लगते हैं; जैसे, राजकुमार और रणवीर के प्रसंग। कुल मिलाकर लेखक की अनुपात-भावना की न्यूनता, दीर्घ वर्णन-ब्यौरों की व्यर्थता, तथा अनावश्यक प्रसंगों के समावेश ने उपन्यास की प्रभाव-समष्टि को शिथिल किया है। लेखक की यथार्थवादी दृष्टि ने

१. पृ० ३९२-९३। २. पृ० ४९६-५०२। ३. पृ० ६७वाँ परिच्छेद।
४. पृ० ४९४-९५।

हीनतर तत्वों तथा गौण प्रसंगों को समतुल्य महत्व दे कर उपन्यास के मार्मिक प्रसंगों तथा उजागरीय पहलुओं को अधिक उभरने नहीं दिया।

यह उल्लेखनीय है कि कथानक के सौन्दर्य-संगठन तथा उपन्यास की प्रभाव-समष्टि की दृष्टि से उपर्युक्त स्थल चिन्त्य हैं किन्तु इनकी यथार्थता—निरपेक्ष यथार्थता - पर सन्देह नहीं किया जा सकता। पात्रों के अन्तर्बाह्य चित्रण से लेकर उनके कार्य-सम्पादन की पृष्ठभूमि (देशकाल) तक का वास्तविक चित्रण हुआ है। जैसाकि चेतन और इसी तरह अन्य पात्रों -- के चरित्र-विकास से स्पष्ट है, लेखक ने इनकी कर्म-प्रेरणाओं का पूरा-पूरा विश्लेषण किया है। अर्थ (वर्ग) और काम-तत्व के अतिरिक्त लेखक ने पात्रों के शील-विकास मे वंशज एवं सामाजिक संस्कारों तथा संगति-सम्पर्क को विशेष महत्व दिया है। चेतन के पिता की स्वभाव-क्रूरता इसलिए है कि उसने चेतन की परदादी गंगादेई-जैसी झगड़ालू का दूध पिया था[1] चेतन की माँ अपने परम्परागत सामाजिक संस्कारों के कारण ही अपने पति में कोई दोष नहीं देख पाती और सब सहती रहती है। सगति का प्रभाव सभी पात्रों पर पड़ता है—चेतन पर उसके मित्र अनन्त का, चेतन के पिता पर उसके मित्र देसराज, बनारसीदास आदि का और चेतन के भाई पर राजारामका। वस्तुत: लेखक ने चरित्र-चित्रण में अन्तर्मुखी तथा बहिर्मुखी दोनों उपन्यासकारों की विशेषताओं का समन्वित प्रयोग किया है। एक ओर तो वह प्रत्येक पात्र के बाह्य चित्रण से उसका सजीव प्रत्यक्षीकरण करता है,[2] और दूसरी ओर उनके अर्द्धचेतन की दबी लालसाओं के आधर पर उनका चरित्र-विश्लेषण भी करता है।[3] इसलिए चरित्र-संगति की दृष्टि से लेखक ने पूर्व-वृत्तात्मक प्रणाली का प्रचुर उपयोग किया है और पात्रों की पूर्व-कथाएँ देनी आवश्यक समझी है। लेखक ने दो स्थलों पर अपने चरित्र-चित्रण सम्बन्धी दृष्टिकोण दिए है और ये उनके पात्रों के चरित्र विकास पर चरितार्थ होते हैं; यथा, "मनुष्य का मन एक अथाह समुद्र है। उसके गर्भ में क्या है, यह सतह को देखकर नहीं जाना जा सकता"[4]। तथा "कई बार जीवन में कोई ऐसी छोटी-सी घटना घटती है जो हमारे जीवन की समस्त धारा बदल देती है। न केवल वह, बल्कि कई बार वह छोटी-सी, नित्यप्रति घटनेवाली असंख्य साधारण में से एक घटना हमारे सम्पर्क में आने वालों की जीवन-धाराओं को भी पलट देती है और हमारे जीवन की ऐसी महत्वपूर्ण घटना बन जाती है कि उसका प्रभाव जीवनपर्यन्त हमारे मन पर रहता है।[5] उपर्युक्त दृष्टिकोण के अनुकूल, लेखक ने घटनाओं द्वारा पात्रों का प्रचुर चरित्रांकन किया है। जैसे, चेतन का दमित काम अनेक नारियों के

१. पृ० १३७। २. पृ० ९१, १०७, ५१६ ३. ५१ वाँ परिच्छेद।
४. पृ० ७८। ५. पृ० २९४।

चंगडों, भंगी तथा चमारों के घरों के कारण सर्वदा गदगी भिनकाता हुआ वह मुहल्ला आँखों के सामने प्रत्यक्ष हो उठा है। इस मुहल्ले के कच्चे घरों में बसने वाले स्त्री-पुरुष, उनके लड़ाई-झगडे उनकी गरीबी आदि के बड़े ही स्वाभाविक चित्र उपन्यास में अंकित हैं। इसी प्रकार चेतन को शिमला ले जाकर वहाँ के विभिन्न स्थानों, बस्तियों, होटलों, सडकों, क्लबों आदि के अनेक चित्र प्रस्तुत किये गये है। दृश्यों तथा परिस्थितियों के वर्णन में छोटी-छोटी तफसीलों के द्वारा संश्लिष्ट चित्र देने का प्रयास है। इन वर्णनों में आद्यन्त एक प्रच्छन्न व्यंग्य निहित है। वातावरण के सहज-स्वाभाविक वर्णन ने भी इस उपन्यास को एक विशेष आकर्षण प्रदान कर रखा है"[1]। कथा-क्षेत्र पजाब है अतएव पंजाब (तथा स्थान-विशेष) के उत्सवों, लोकगीतों लोक-रीतियों, विवाह के अवसर की विभिन्न रस्मों, मरणोपरांत के 'स्यापे' आदि के आधार पर लोक-तत्व का सुन्दर-सरस तथा कहीं-कहीं व्यंग्य-गर्भित चित्रण हुआ है। कहीं-कहीं पंजाबी लोकोक्तियाँ भी मिल जाती हैं।

कहीं-कहीं पात्रों की मन:स्थिति की सापेक्षता में स्वाभाविक प्रकृति-चित्रण अथवा वातावरण-चित्रण से प्रभाव-तीव्रता में सफल सहायता ली गई है; यथा, अपने विवाह के एक दो दिन पहले अपने पिता से झगड़ और भागकर स्टेशन पर आ बैठने वाले चेतन का चित्रण देखिए "—सिर पर पसीना गले से बहता हुआ पांवों की ओर चला जा रहा था। स्टेशन पर खड़ी किसी गाडी के इन्जिन का धुआँ वातावरण को और भी गर्म, और भी गलघोटू बना रहा था। उनीदी आँखे लिये, पसीने से तर, सफेद जीन के सूट पहने कुछ बाबू थकी हुई चाल से इधर-उधर घूमते दिखाई देते थे। बाहर अंधकार किसी भयानक प्रेतात्मा की तरह नन्हीं-नन्हीं रोशनियों का गला दबा रहा था और दरमियाने दर्जे के मुसाफिरखाने में अनगिनत परवाने, न जाने कब से गैस के हंडे से टक्करें मार रहे थे और नीचे फर्श पर बेगिनती पंख टूट पडे थे"।[2] नीला के अनमेल विवाह के अवसर पर चेतन के दृष्टिकोण के अनुकूल प्रकृति का चित्रण और भी सार्थक है—"तृतीया का चाँद रात के उस पहले पहर ही में क्षितिज की गोद में सो गया। तारे अपनी टिमटिमाती हुई ज्योत्स्ना से रात के बढ़ते हुए अंधकार को भरसक दूर रखने का प्रयास कर रहे थे। खेतों की मेड़ों पर जहाँ-तहाँ उगे हुए शीशम के घने पेड़ अपनी सत्ता की सारी भयावहता के साथ प्रहरियों-से खड़े थे। चारों ओर निस्तब्धता छायी हुई थी। केवल दायीं ओर पेड़ों के झुरमुट में रहट निरंतर रिरिया रहा था और दूर धर्मशाला में छन्ने भरती हुई स्त्रियाँ गीत गा रही थीं। चेतन को लगा जैसे रहंट के रिरियाते संगीत मे और उन स्त्रियों के गानों में कोई अन्तर नहीं,

१. डॉ० शिवनारायण श्रीवास्तव : "हिन्दी उपन्यास", पृ० ३४५। २. पृ० २०२-३।

वे भी जैसे उस रहंट ही की भाँति रिरिया रही थीं। उसकी रूह का कोई तार जैसे, उनके संगीत में न था, केवल प्रथा की पूर्ति के लिए उनके ओंठ हिल रहे थे।

"चेतन रहंट के पास ही पड़े हुए एक पुराने शीशम के तने पर बैठ गया। एक कुत्ता जोर-जोर से भूंक उठा, कोई चमगादड़ पंख फटफटाता हुआ ऊपर से गुजर गया और फ़िर सन्नाटा छा गया। दूर धर्मशाला में स्त्रियाँ छन्ने भर और इस बहाने नीला को दूल्हा के दर्शन करा के चली गयीं। लेकिन चेतन वहीं बैठा रहा और रहंट उसी तरह 'रीं'-'रीं' करता रहा"।[1]

काल की दृष्टि से 'गिरती दीवारें' की प्रत्यक्ष कथा का सम्बन्ध द्वितीय विश्वयुद्ध के प्रारम्भिक वर्षों से है। लेखक ने एक स्थल पर काल की स्पष्ट सूचना दी हैं और उसी के अनुकूल चित्रण की यथार्थता पर दृष्टि भी दी है; यथा—"संध्या को मुहल्ले में अभी म्यूनिसिपेलिटी का आदमी लैम्प में तेल डाल कर गया ही था (सारे जालन्धर में बिजली का प्रकाश हो जाने पर भी कल्लोवानी में १९४० तक मिट्टी के तेल का लैम्प ही धुंधला प्रकाश देता था)..."[2]

चेतन के स्मृत्यवलोकन से जो परोक्ष-कथाएँ आई हैं, उनसे 'गिरती दीवार' की काल-सीमा स्थूलतः १९२० तक पहुंच गई है। इसीलिए १९२९ के लाहौर कांग्रेस-अधिवेशन की झलक भी मिल गई है।

अश्क जी की भाषा-शैली उनकी यथार्थवादिता से अनुशासित है। विषय और शैली में सामंजस्य, प्रसंगानुकूल शैली की परिर्तवनशील अभिव्यक्ति-क्षमता, इस शैली की विशिष्टता है। इस दृष्टि से सर्वप्रथम हमारा ध्यान जिस विशेषता पर जाता है, वह है व्यंग्यात्मकता। कलात्मक तटस्थता के निर्वाह के लिए—उद्देश्य-तत्व के खुले समावेश के अभाव में - यथार्थ वर्णनों को सोद्देश्य बनाने में व्यंग्य-विधि विशेष सहायक हो सकती थी। अतएव, वैसे तो मध्यवर्गीय विडम्बनाओं का चित्रण स्थान-स्थान पर प्रच्छन्न व्यंग्य लिए हुए है किन्तु इस वर्ग की सामाजिक-आर्थिक विषमताओं के आधार पाखंडियों और शोषकों का चित्रण विशेष व्यंग्य-गर्भित है। शिक्षण-प्रचारण के जोश या किसी वाद की गरमी के अभाव में इस व्यंग्य-वक्रता में कटुता तथा तीक्ष्णता नहीं। (चेतन के कॉलिज के प्रिन्सिपल का उदाहरण दिया जा चुका है)। इसका एक कारण यह भी है कि कहीं-कहीं हास्य का पुट इसे रंजक भी बना देता है।[3] व्यंग्य की किंचित् मिलावट के साथ लगभग खालिस हास्य के रंजक उदाहरण भी मिल जाते है। यथा, हास्य का पुट लिए हुए, रेखाचित्रात्मक चुलबुली शैली में पंजाब के बैतबाजों का चित्रण आस्वादनीय है—"दोआबा के पंजाबी बैतबाज उन दिनों—अधिकतर नेचेबन्द, रंगरेज़, मोटर-ड्राइवर, खोंचे वाले और इसी वर्ग

---

१. पृ० ६७१। २. पृ० १३९। ३. पृ० ३४२-४७।

के आदमी थे। यह 'अब्र' साहब हैं—'अब्र' का काम धानी बरसाना है और ये भी कम्पनी बाग के फूलों पर पानी बरसाते हैं—भिस्ती हैं, इसी नाते इन्होंने अपना उपनाम 'अब्र' रख लिया है। कई सौ हर्फियाँ लिख चुके है। यद्यपि इनमें किसी के छपने की नौबत नहीं आयी, किन्तु उस्ताद माने जाते हैं और इनके शिष्यों की संख्या सबसे अधिक है।...यह फेरू साहब हैं—जालन्धर से अमृतसर जानेवाली एक लारी के क्लीनर। अश्लील बात कहने और उनके फलस्वरूप सिर फोड़ने-फोड़वाने में कोई इनका सानी नहीं।...यह हरदयाल है—थियेटरों, सरकसों और सफ़री-सिनेमा कम्पनियों के विज्ञापन-बाँटने है। जब जोश में आते हैं, तो आशु कविता करते है और हर बैत की अन्तिम पंक्ति में 'हरदयाल ने बैत तैयार कीती' कहना नहीं भूलते हैं। इसलिए भी कि कवि हरदयाल की प्रतिभा का पता चल जाए और इसलिए भी कि इससे कविता को पूरा करना सुगम हो जाए"।[1] स्थान-स्थान पर आई हिन्दी-पंजाबी कविताओं तथा उर्दू शेरों से भी शैली रंजक बन गई है। चेतन की मध्यवर्गीय कल-कल्पनाओं तथा प्रकृति-चित्रण में लेखक की शैली कवित्वमयी हो गई है, फिर भी इसमें अत्यधिक रंगीनी और चटक का अभाव है।[2]

शब्द-जुटाने में इनकी भाषा में निम्नस्थ प्रभाव लक्षित होते हैं—

१. अश्क जी उर्दू से हिन्दी में आए अतएव इनकी भाषा में प्रायः प्रचलित उर्दू शब्दों का पर्याप्त प्रयोग हुआ है। इस दृष्टि से उनका लक्ष्य भाषा-प्रवाह को बनाए रखने और उसके व्यावहारिक स्वरूप की रक्षा करना रहा है। फिर भी, कुछ अप्रचलित तथा कठिन शब्दों का प्रयोग भी हुआ है; जैसे—नुक्ता-रस्सी, हस्सास। लेखक ने व्यंग्य-चित्रों में उर्दू शब्दों का अपेक्षाकृत अधिक उपयोग किया है।

२. स्वयं पंजाबी होने तथा मुख्यतः कथा-क्षेत्र पंजाब होने से पंजाबी शब्दों का प्रयोग भी हुआ है। कहीं-कहीं इनके अर्थ भी दे दिए गए हैं परन्तु सर्वत्र ऐसा नहीं हुआ। इससे ये अन्य प्रदेशों के पाठकों के लिए किंचित् दुरूहता का कारण बन सकते है। विशेष रूप से पंजाबी पद्यों को समझने मे कठिनाई हो सकती है। फिर भी, वातावरण-चित्रण की यथार्थता-सजीवता में इनका योग स्पष्ट है।

३. यथातथ्यवादी आग्रह का प्रभाव भी कुछ स्थलों पर उभर कर सामने आया है। एक स्थान पर चेतन के पत्र को अंग्रेजी में ही दे दिया गया है। उर्दू के 'अनारकली' नाटक के उद्धरण भी उसी भाषा में दिए गए हैं। स्पष्टता के लिए फुटनोट में अर्थ दे दिए गए हैं।

इस तरह शब्द-प्रयोग की दृष्टि से इनकी भाषा-शैली व्यावहारिक है। वैसे भी यह व्यावहारिक है—इसमें न तो बौद्धिक सूक्ष्मता है, न चटक-रंगीनी। फिर भी

१. पृ० ५२५-२६।   २. पृ० ५३१, ४४७।

यह अभिव्यक्तिक्षम, विषयानुकूल, प्रवाहपूर्ण भाषा है। प्रचलित मुहावरों के प्रयोग ने इसे सजीवता प्रदान की है।

सारतः, अश्क जी ने 'गिरती दीवारें' को हर प्रकार से यथार्थ बनाने का सजग तथा सफल प्रयत्न किया है। यह उपन्यास आत्मानुभूति पर आधारित रचना की प्रभावोत्पन्न करता है। इस सफलता का रहस्य इसमें भी है कि लेखक ने अपने परिचित क्षेत्र को ही चुना। उसके अनुभवों की सूक्ष्म यथार्थता तथा कलात्मक तटस्थता का निषेध नहीं किया जा सकता। फिर भी, यह यथार्थता जितनी ज्ञानवर्धक है, उतनी रंजक एवं मार्मिक नहीं। लेखक के जीवन की यथार्थता के प्रति अत्यधिक आग्रह ने, अनावश्यक तथ्यों के संयोजन से उजागरीय पक्षों को उभरने नहीं दिया, जिससे सार्थक एव समन्वित रूप-विधान के अभ्युदय को क्षति पहुँची है। जितना विषयाधिक्य या वस्तु-प्रसार है, उतना सृजनात्मक कल्पना के बल पर समाहार नहीं, अतएव 'गिरती दीवारें' अभीष्ट प्रभावपूर्ण नही हो सका।

सेठ बाँकेमल

'महाकाल' (१९४७) के बाद, १९५५ में प्रकाशित 'सेठ बाँकेमल' अमृतलाल नागर का दूसरा उपन्यास है। यह पहले उपन्यास के कथ्य-शिल्प से एकांत भिन्न प्रकृति, मात्र ११२ पृष्ठ का लघुकाय हास्य-उपन्यास है। नागर जी हास्य-रस के लेखक के रूप मे पहले ही प्रसिद्धि प्राप्त कर चुके थे। बलभद्र दीक्षित 'पड़ीस' के कविता-संग्रह 'चक्कलस' के नाम पर उन्होंने हास्यरस का अभूतपूर्व साप्ताहिक 'चक्कलस' निकाला था। इस तरह 'सेठ बाँकेमल' उनकी विशिष्ट अभिरुचि का प्रोद्भास बन कर आया। यह एक अभिनव कथा-शिल्प-प्रयोग है; फिर भी, उपन्यास के नामानुकूल इसका मुख्य आकर्षण सेठ बाँकेमल के व्यक्तित्व में निहित है। सेठ बाँकेमल के हास्यव्यंग्यमय चित्रण के माध्यम से लेखक ने समाज की जर्जर रूढ़ियों तथा मोहग्रस्त परम्परा-प्रेम पर मीठी-मीठी चोटे की हैं। "इसमें उपन्यास का लक्ष्य परिलक्षित होता है।"[1] इसलिए इसे बहिरंग चरित्र-प्रधान उपन्यासों के वर्ग में रखा गया है। डॉ० बरसानेलाल चतुर्वेदी ने भी इसे चरित्र-प्रधान उपन्यास माना है।[2]

'सेठ बाँकेमल' का आकर्षण उसके नूतन शिल्प में भी है। यह शिल्प-वैचित्र्य इसमें है कि आख्याता—लेखक आगरे में सेठ बाँकेमल की दुकान पर जाकर बैठता है; और बैठते ही—दुकान बन्द होने के कुछ ही घण्टों के भीतर, और दुकान के

---

१. डॉ० सुषमा धवन : "हिन्दी उपन्यास", पृ० ६६।

२. "हिन्दी साहित्य में हास्यरस", पृ० १५४।

स्वाभाविक व्यापार-क्रम के चलते—सेठ जी से उनके, और उनके मित्र चौबे जी के, विगत जवानी के दिनों की मस्ती, वीरता और ज़िन्दादिली की अनेक रोचक कहानियाँ सुन पाता है। इस तरह कथावक्ता ने, श्रोता-रूप में सुनी, सेठजी की कहानियों को लिखा है। यह उपन्यास केवल इस अर्थ में आत्मकथात्मक है कि लेखक इसे उत्तम पुरुष-शैली में लिख रहा है, वैसे मूल वक्ता तो सेठ बाँकेमल ही हैं। कथा-केन्द्र भी सेठ जी हैं, लेखक पर तो सारे उपन्यास में, कुल मिला कर, एक पृष्ठ भी नहीं। नागर जी की कुशलता इसमें है कि उन्होंने आत्मकथात्मक प्रणाली को सकारण उभरने नहीं दिया, क्योंकि सेठ बाँकेमल का चरित्र-वैशिष्ट्य अपने बज़ुरगाना एकाधिकार में किसी की दख़लअंदाजी की गुस्ताख़ी को बरदाश्त नहीं कर सकता। इस तरह नागर जी को, लेखक के रूप में, कृति में कम से कम आने की नाटकीयता से काम लेना पड़ा क्योंकि उनके अपने पात्र सेठ जी का सजीव व्यक्तित्व उनके बस में नहीं; वह अपने आगे, न किसी की सुनते हैं और न किसी की चलने देते हैं, बस अपनी सुनाते और मनवाते चले जाते हैं। यदि कोई उनकी बात काटता है तो वह तैश खाकर स्वमत-समर्थन में कहानी कह देते हैं,[1] और यदि कोई उनकी बात काटता है तो रौब में आकर फिर कहानी सुना दी जाती है। बस वह 'पलट' पड़ते हैं[2] और अपने अनुभव-सुनाने के किसी मौके को हाथ से नहीं जाने देते। इसलिए नागर जी एक सीमित-निश्चित स्थान—केवल दुकान—और कुछ ही घण्टों के सीमित समय के भीतर, सेठ जी से अनेक कहानियाँ सुनाने में सफल हो सके हैं।

बाँकेमल के स्वभावानुकूल उपन्यास का आरम्भ भी उन्हीं के कथन से हुआ है, आत्मकथात्मक प्रणाली वाले उपन्यासों की तरह आख्याता के कथन से नहीं। उपन्यास के आरम्भ में एक ही प्रश्नोत्तर के बाद, सेठ जी की कहानियों का क्रम शुरू हो जाता है। लेखक ने बड़ी कुशलता से, सेठजी की कहानी-कहने की आदत को उनके चरित्र द्वारा अनुमोदित किया है। सेठजी अनुभवों के धनी और दुनिया देखे हुए वयोवृद्ध हैं, पर 'जोसे जवानी' की अनगिनत 'दिल फेंक' 'तरकेटियाँ' उनकी रग-रग में बसी हुई उन्हें जवान बनाए हुए हैं। तब वह अपने सामने किसी छोकरे की क्यों चलने देते? अतएव 'तरकेटियों' को याद कर और बढ़ा-चढ़ा के सुनाकर, उनका बुढ़ापा संतोष पाता है—उनकी आयुग्रंथि तृप्त होती है। दूसरे, "अक्कास पताल के कुल्लाबे भिड़ा कर", "मौत से किस्से कहानियाँ" "गढ़ने" की शक्ति भी उनमें है।[3] सारतः स्थान-समय के संकोच-शिल्प और एक ही व्यक्ति-कथित बहुसंख्य कहानियों को चरित्र-संगति देने में लेखक सफल रहा है।

---

१. पृ० ५६-५७। २. पृ० ५८। ३. पृ० ४१।

इस उपन्यास में सोलह कहानियाँ या प्रसंग है। केवल तीन प्रसंग[१] यहाँ प्रत्यक्ष घटित हुए हैं, शेष सबको सेठजी ने, दुकान पर बैठे-बैठे बीते-अनुभवों के रूप में बखाना है। इससे उपन्यास में स्थान-समय-कार्य (नाटकीय संकलनत्रय) की अद्भुत एकता आ गई है—और यह एक पात्र-प्रधान उपन्यास भी है—जिसने उपन्यास की प्रभविष्णुता में निश्चित योग दिया है।

इस उपन्यास की कहानियाँ अपनी विषय-विविधता से विचित्र तथा रोचक वातावरण पैदा कर सकी हैं। यहाँ सेठ बाँकेमल और उनके "जिगरी फ्रैंड" चौबेजी के व्यापारी दांव-पेंच के चमत्कारों, पहलवानी के कुतूहलपूर्ण मल्लयुद्धों, हिन्दू-मुस्लिम दंगे में दोनों ओर के दंगइयों पर तटस्थ प्रहारों, "गोकुल की गोपियों" से शौर्याश्रित प्रेम व्यापारों, पीड़ित व्यक्तियों (देवीसिंह) के उद्धारार्थ तथाकथित बड़े लोगों के पाखंड के निडर पर्दाफाश, जूएबाज़ी में (बाँकेमल की) दुकान-फूंक अमीरी-फकीरी और बुढ़ापे में भी पतंगबाजी के शौक आदि का बखान हुआ है। इसके अतिरिक्त "डाँगर मंगूराम" की तारीफ़ में उनके बड़े-बड़े इलाजों के करिश्मों का वर्णन भी है। "तीर तलवार की-सी आसक मासूकी" में नाजुक तुकबंदियाँ भी हैं; सुभाष बाबू के भाग जाने का समाचार भी, तथा हिटलर की नीति आदि की आलोचना तक इसमें हुई है। दोनों मित्रों की जोसे-जवानी की कसरत-फसरत, तेल-फुलेल, सैर-सपाटे तथा दूध-राबड़ी के खान-पान के रोचक वर्णन भी हैं।

सेठ बाँकेमल अपने, अपने मित्र, तथा अपने प्रशंसा-पात्रों के किस्से इतने बढ़ा-चढ़ा कर कहते हैं कि अनेक स्थलों पर गप्पबाज़ी का मज़ा आता है। यह उपन्यास की हास्य-प्रधानता और सेठजी के व्यक्तित्व के अनुकूल ही है। इसलिए अतिशयोक्तियाँ भी अनुचित नहीं लगतीं। डाँगर मूंगाराम की कहानी इसका प्रमाण है। सेठजी डॉक्टर के प्रशंसक हैं और वह उसके तीन कारनामे सुनाते हैं। इनका डॉक्टर छिन-छिन में छींके मारने वाली, और देश-विदेश के बड़े-से-बड़े डॉक्टरों द्वारा लाइलाज हो गई, मेम का इलाज नाक में कैंची डाल के एक बाल खैंच लेने मात्र से कर देता है। लाला मूलचन्द इस पर टिप्पणी करता है—"...ये तो कुछ डाँक्टरी नहीं हुई लाला, ये तो हज्जामों का काम हुआ"।[२] सेठ बाँकेमल ने इसलिए दूसरा कारनामा सुनाया कि किस तरह उस डॉक्टर ने कलकत्ते के एक बंगाली रईस के गले में फंसी मछली को निकाल कर उसे 'तरकैट' कर दिया। तीसरा करिश्मा और भी ग़ज़ब का है। एक आदमी ने पेट के दर्द का इलाज कराते-कराते अपनी पूंजी फूंक दी पर किसी डॉक्टर से आराम न हुआ। मूंगाराम डॉक्टर ने देखते ही उसकी

१. भतीजे का पैसा ले भागा", "सुभाष बाबू भाग गये", और "बावन नम्बर"।
२. पृ० ५६।

बीमारी जान ली—वह मरीज पानी के साथ कनखजूरा पी गया था। इसलिए डॉक्टर ने एक छिपकली को उसकी आंतों में उतार दिया और छिपकली कनखजूरे को दबाए बाहर आ गई।[1] यह गप्पबाज़ी भी सेठ जी ने बड़ी गम्भीरता से की है। अनेक स्थलों पर वह 'झूठ नहीं कहूँ' या 'सौगन्ध खा कर कहूँ' जैसे कथनों से विश्वास पैदा करते हैं। वस्तुतः यह गम्भीरता भी हास्य-सृष्टि का साधन है।

इन विभिन्न विषयों वाली कहानियों में एक तत्व सामान्य है, और वह है हास्य तत्व। इसी कारण यह हास्य-उपन्यास कहा गया है। यह हास्य सेठ बाँकेमल की सामान्य वर्णन-शैली में तो सर्वत्र विद्यमान है ही, उनकी अपनी चारित्रिक रुचि एवं संस्कारों, कहानियों की प्रकृति तथा विशेष प्रकार की परिस्थिति-योजना में भी है। अन्तिम परिच्छेद में हास्यरसात्मक काव्य-पंक्तियाँ भी हैं। यह हास्य किन्हीं स्थलों का गुण नहीं और न ही बाहर से लाया प्रतीत होता है, क्योंकि यह सेठ बाँकेमल (तथा उनके मित्र) के व्यक्तित्व का अंग है, जो कथा-केन्द्र है। बुढ़ापे में भी, अपने बच्चों के बहाने, पतंगबाजी के शौक पूरा करना, बिना टिकट हरिद्वार जाने के लिए दोनों का योगी-चेला बनकर रोचक परिस्थितियाँ उत्पन्न करना, स्थान-स्थान-पर अंग्रेज़ी में गाली—"यू बिलाडी फूल चोप रहो साले आई योप डैम फौक्स !" —देकर रौब जमाना आदि बातें "उत्फुल्ल हास्य"[2] की सृष्टि करती हैं। इनकी रूढ़ि-प्रियता, परम्परागत तर्कावलि और "तरकेटियाँ" तीनों हँसाती हैं। इस सम्बन्ध में यह उदाहरण पर्याप्त होगा। 'सुभाश बाबू भाग गये' प्रसंग में सेठजी उनके भागने के उद्देश्य के राज़ को बड़ी गम्भीरता से व्यक्त करते हैं—'सेठ बाँकेमल एकदम मेरे करीब खिसक कर मेरे कन्धे पर हाथ रखते हुए धीरे से बोले—"तुझे आज बताऊँ हूँ। देख लीजियो तू पट्ठे, सुभाष बाबू हिमालय परबत पर गए हैं। वे खुसखैट नहीं हैं। हिटलर फिटलर साले ये क्या जायेंगे। ऐसी घनघोर तपस्या करेगी भैयो, जैसी बालक धुरो ने कीनी थी। वो भी तो भारतमाता का बालक है महाराज, कोई हँसी ठट्ठा नई है।...और फिर क्या होगा जानो हो। जहाँ कुरूच्छेत्र के मैदान में ललकारा कि सब के सब साले भाग जायंगे। क्यों भई ठीक कहूँ हूँ कि नहीं।"

लेखक ने हामी भर कर रही-सही कसर पूरी कर दी—"मैंने बड़े ज़ोरों के साथ उनका समर्थन किया। "हाँ ठीक है चाचा जी। होना ही चाहिए।"[3]

दोनों मित्रों को जब कवियों के मुकाबले में लिखना पड़ा, तब उन्होंने जैसी उच्च कोटि की कविता लिखी, वह आस्वादनीय है :—

---

१. पृ० ६०-६१।

२. डॉ० बरसानेलाल चतुर्वेदी : "हिन्दी साहित्य मे हास्य-रस", पृ० १५५।

३. पृ० ४३।

इस उपन्यास में सोलह कहानियाँ या प्रसंग है। केवल तीन प्रसंग[1] यहाँ प्रत्यक्ष घटित हुए हैं, शेष सबको सेठजी ने, दुकान पर बैठे-बैठे बीते-अनुभवों के रूप में बखाना है। इससे उपन्यास में स्थान-समय-कार्य (नाटकीय संकलनत्रय) की अद्भुत एकता आ गई है—और यह एक पात्र-प्रधान उपन्यास भी है—जिसने उपन्यास की प्रभविष्णुता में निश्चित योग दिया है।

इस उपन्यास की कहानियाँ अपनी विषय-विविधता से विचित्र तथा रोचक वातावरण पैदा कर सकी हैं। यहाँ सेठ बाँकेमल और उनके "जिगरी फ्रैंड" चौबेजी के व्यापारी दांव-पेंच के चमत्कारों, पहलवानी के कुतूहलपूर्ण मल्लयुद्धों, हिन्दू-मुस्लिम दंगे में दोनों ओर के दंगइयों पर तटस्थ प्रहारों, "गोकुल की गोपियों" से शौर्याश्रित प्रेम व्यापारों, पीड़ित व्यक्तियों (देवीसिंह) के उद्धारार्थ तथाकथित बड़े लोगों के पाखंड के निडर पर्दाफाश, जूएबाज़ी में (बाँकेमल की) दुकान-फूंक अमीरी-फकीरी और बुढ़ापे में भी पतंगबाजी के शौक आदि का बखान हुआ है। इसके अतिरिक्त "डाँगर मंगूराम" की तारीफ़ में उनके बड़े-बड़े इलाजों के करिश्मों का वर्णन भी है। "तीर तलवार की-सी आसक मासूकी" में नाजुक तुकबंदियाँ भी हैं; सुभाष बाबू के भाग जाने का समाचार भी, तथा हिटलर की नीति आदि की आलोचना तक इसमें हुई है। दोनों मित्रों की जोसे-जवानी की कसरत-फसरत, तेल-फुलेल, सैर-सपाटे तथा दूध-राबड़ी के खान-पान के रोचक वर्णन भी हैं।

सेठ बाँकेमल अपने, अपने मित्र, तथा अपने प्रशंसा-पात्रों के किस्से इतने बढ़ा-चढ़ा कर कहते हैं कि अनेक स्थलों पर गप्पबाज़ी का मज़ा आता है। यह उपन्यास की हास्य-प्रधानता और सेठजी के व्यक्तित्व के अनुकूल ही है। इसलिए अतिशयोक्तियाँ भी अनुचित नहीं लगतीं। डाँगर मूंगाराम की कहानी इसका प्रमाण है। सेठजी डॉक्टर के प्रशंसक हैं और वह उसके तीन कारनामे सुनाते हैं। इनका डॉक्टर छिन-छिन में छींके मारने वाली, और देश-विदेश के बड़े-से-बड़े डॉक्टरों द्वारा लाइलाज हो गई, मेम का इलाज नाक में कैंची डाल के एक बाल खैंच लेने मात्र से कर देता है। लाला मूलचन्द इस पर टिप्पणी करता है—"···ये तो कुछ डाँक्टरी नहीं हुई लाला, ये तो हज्जामों का काम हुआ"।[2] सेठ बाँकेमल ने इसलिए दूसरा कारनामा सुनाया कि किस तरह उस डॉक्टर ने कलकत्ते के एक बंगाली रईस के गले में फंसी मछली को निकाल कर उसे 'तरकैट' कर दिया। तीसरा करिश्मा और भी ग़ज़ब का है। एक आदमी ने पेट के दर्द का इलाज कराते-कराते अपनी पूंजी फूंक दी पर किसी डॉक्टर से आराम न हुआ। मूंगाराम डॉक्टर ने देखते ही उसकी

१. भतीजे का पैसा ले भागा", "सुभाष बाबू भाग गये", और "बावन नम्बर"।
२. पृ० ५६।

बीमारी जान ली—वह मरीज पानी के साथ कनखजूरा पी गया था। इसलिए डॉक्टर ने एक छिपकली को उसकी आंतों में उतार दिया और छिपकली कनखजूरे को दबाए बाहर आ गई।[१] यह गप्पबाज़ी भी सेठ जी ने बड़ी गम्भीरता से की है। अनेक स्थलों पर वह 'झूठ नहीं कहूँ' या 'सौगन्ध खा कर कहूँ' जैसे कथनों से विश्वास पैदा करते हैं। वस्तुतः यह गम्भीरता भी हास्य-सृष्टि का साधन है।

इन विभिन्न विषयों वाली कहानियों में एक तत्व सामान्य है, और वह है हास्य तत्व। इसी कारण यह हास्य-उपन्यास कहा गया है। यह हास्य सेठ बाँकेमल की सामान्य वर्णन-शैली में तो सर्वत्र विद्यमान है ही, उनकी अपनी चारित्रिक रुचि एवं संस्कारों, कहानियों की प्रकृति तथा विशेष प्रकार की परिस्थिति-योजना में भी है। अन्तिम परिच्छेद में हास्यरसात्मक काव्य-पंक्तियाँ भी हैं। यह हास्य किन्हीं स्थलों का गुण नहीं और न ही बाहर से लाया प्रतीत होता है, क्योंकि यह सेठ बाँकेमल (तथा उनके मित्र) के व्यक्तित्व का अंग है, जो कथा-केन्द्र है। बुढ़ापे में भी, अपने बच्चों के बहाने, पतंगबाजी के शौक पूरा करना, बिना टिकट हरिद्वार जाने के लिए दोनों का योगी-चेला बनकर रोचक परिस्थितियाँ उत्पन्न करना, स्थान-स्थान-पर अंग्रेज़ी में गाली—"यू बिलाडी फूल चोप रहो साले आई योप डैम फौक्स !" —देकर रौब जमाना आदि बातें "उत्फुल्ल हास्य"[२] की सृष्टि करती हैं। इनकी रूढ़ि-प्रियता, परम्परागत तर्कावलि और "तरकेटियाँ" तीनों हँसाती हैं। इस सम्बन्ध में यह उदाहरण पर्याप्त होगा। 'सुभाश बाबू भाग गये' प्रसंग में सेठजी उनके भागने के उद्देश्य के राज़ को बड़ी गम्भीरता से व्यक्त करते हैं—'सेठ बाँकेमल एकदम मेरे करीब खिसक कर मेरे कन्धे पर हाथ रखते हुए धीरे से बोले—"तुझे आज बताऊँ हूँ। देख लीजियो तू पट्ठे, सुभाष बाबू हिमालय परबत पर गए हैं। वे खुसखैट नहीं हैं। हिटलर फिटलर साले ये क्या जायेंगे। ऐसी घनघोर तपस्या करेंगी भैयो, जैसी बालक धुरो ने कीनी थी। वो भी तो भारतमाता का बालक है महाराज, कोई हँसी ठट्ठा नई है।···और फिर क्या होगा जानो हो। जहाँ कुरूच्छेत्र के मैदान में ललकारा कि सब के सब साले भाग जायंगे। क्यों भई ठीक कहूँ हूँ कि नहीं।"

लेखक ने हामी भर कर रही-सही कसर पूरी कर दी—"मैंने बड़े ज़ोरों के साथ उनका समर्थन किया। "हाँ ठीक है चाचा जी। होना ही चाहिए।"[३]

दोनों मित्रों को जब कवियों के मुकाबले में लिखना पड़ा, तब उन्होंने जैसी उच्च कोटि की कविता लिखी, वह आस्वादनीय है :—

---

१. पृ० ६०-६१।

२. डॉ० बरसानेलाल चतुर्वेदी : "हिन्दी साहित्य मे हास्य-रस", पृ० १५५।

३. पृ० ४३।

सावन की बहार है फुहार पड़े झीनी-सी,
गुलजार है चमन और पुकार रहे मोराँ हैं ।
ऐसे में नार एक कीने सिंगार सोलै,
लेके सितार मार लूटा दिल मोरा है ।
हो गए मिसमार यार पूछो मत हाले दिल
इस्क है सवार चैन रात है न भोरा है ।
भनै चौबे पारसनाथ बाँकेमल प्यारे सुनो,
लू हूँ वैराग मोरा राजपाट तोरा है ।"[1]

दोनों मित्र निन्यानवे के फेर में ही नहीं पड़े रहे, जीना जानते थे और खूब । सेठ बाँकेमल और चौबेजी दोनों व्यापार करने बम्बई गए । पर पहले सीधे चुने हुए हलवाई के पास गए । उससे जैसा खाया-पीया और आराम किया, ये बाँकेजी की ज़बानी सुनिए—जिसमें उनका जीवन-दर्शन भी आ गया है—"···सेर-भर तो घी लीना जाके । आध सेर दाल, आध सेर चावल, सेर भर आँटा और सेर भर, भइयो, लाया रावड़ी । बनाया भइयो, डाँट के । सब कुछ पेट में उतार गए । डकार भी न लीनी । अब सोची दो घण्टे आराम करा जाय ।

"रुजगार में भइयो, कभी हड़बड़ न करे । पहले भोजन, फिर असनान, कबीरदास का सीधा ज्ञान । सो भइयो, पहले तो कीनी पेटपूजा, और फिर दीना सरीर को आराम । क्योंकि भइयो, ईश्वर भी साला कहवे है के अरे खुसकैटों, तुम्हें मैंने म्हेनत से बनाया है । दूध घी खाके सवेरे से तरकैट बनो । नहीं तो साले, क्या बिजनेस करोगे ? सो भइयो, जो सोए तो तीन बजे की खबर लीनी । मेरी आँख खुली, दनदना के उठ बैठा । गैंडे की तरह से आवाज़ दीनी; चौबे जी । विन्ने भी वो जोर से अँगड़ाई लीनी भइयो, कि ऐसा मालूम पड़े जैसे हाथी की सूँड बीच में से दो होके फैल गई हो । पत्ती घर से ही ले के चले हैं भइयो । मारे एक पाव भर पेसावरी बदाम, एक छिटाक भर मुनक्का, झोंक दीना काली मिर्च मसाला, छोड़ दीनी पत्ती, और मार दीने चौबे जी ने जो दो रगड़े भइयो, तो साली उठ के रह गई···"[2]

ये सभी कहानियाँ मिलकर उपन्यास न बन पातीं, यदि इन सबके भीतर से सेठ बाँकेमल (और चौबेजी) का व्यक्तित्व उभर कर न आता । इसी आधार पर तो ये अलग-अलग कहानियाँ एक हो गई हैं । इतना ही पर्याप्त नहीं है कि एक कथानक सुसम्बद्ध होकर हमारा मनोरंजन-मात्र कर दे । हास्य-उपन्यास के सम्बन्ध में यह प्रश्न और भी महत्वपूर्ण है । नागर जी हास्य-सृष्टि में निस्सन्देह सफल रहे हैं—और इस दृष्टि से सेठ जी और चौबे के चरित्र-चित्रण में भी—पर उनकी

१. वही, पृ० ११० । २. वही, पृ० ५ ।

कुशलता इसमें है कि उन्होंने ऐसा गुण-दोषमय पात्र निर्मित किया है, जिसे हम कभी नहीं भूल सकते। उसके विचारों से बात-बात में कुल-मर्यादा तथा अपने बीते ज़माने की दुहाई देने, और नए ज़माने को सन्देह-दृष्टि से देखने की प्राचीन संस्कारों की ग्रन्थि से[1] हम सहमत नहीं हो सकते—यही तो हमें हँसाता है और इसी में व्यंग्य-गर्भित है—परन्तु उस-जैसे सहृदय-सप्राण, निश्छल-निडर, चिर-युवा, और मित्रता के आदर्श—सेठजी के अपने शब्दों में तरकैट व्यक्तित्व[2]—से आज का 'खुसरवैट' ज़माना, या अर्थ की निष्ठुर क्रीड़ा में संलग्न समाज, बहुत कुछ सीख सकता है। सारी कहानियों को पढ़कर उसका आकर्षक व्यक्तित्व एक अपूर्व ज़िन्दादिली का प्रभाव छोड़ता है। नागर जी ने बड़ी कुशलता से, अन्तिम परिच्छेद में इस प्रभाव को पुँजीभूत करते हुए हास्य के भीतर से उद्देश्य की कुशल व्यंजना की है; देखिए—

सेठजी बड़े प्रेम से मेरी पीठ पर हाथ फेरते हुए बोले—"मेरा काम-काज तो भैयो, येई है कि अपने को खुस रक्खो, सदा मौज में रहो। खुसकैटी में मज़ा नई है प्यारे, एक दिन चलो मेरे साथ राजघाट पे ठंडाई-फंडाई छानी जाय। चौबेजी मरे जबसे, सुसरी कोई सैल ही नई हुई। तुझे देखूँ हूँ तो चौबेजी की बड़ी याद आवे है भैयो। तू जब छोटा-सा था तो चौबेजी तुझे गोदी में लेके आया करे थे हमारे घर। अच्छा भई बस, मेरी तो यई दुआ है प्यारे, के मौज करो, भगवान तुम सबको सुखी करे। नेक पान तो खाते जाओ भैयो। ऐसी भी सुसरी क्या ज़रूरी है घर जाने की? जोसे जवानी के तो माने ये हैं प्यारे, कि मौके-बेमौके थोडी सबरी भी चइये भैयो। क्या समझा?"

"सेठजी हँसते हुए पान लगाने लगे। लल्लू से दुकान बढ़ाने के लिए कहा। पान देते हुए मुझ से बोले, भैयो, अब हम भी पके पान है प्यारे, आज है तो कल नई। पर जी में कोई अरमान नई रह गया सुसरा। और सच्ची पूछो तो जिन्दगी के माने भी यही हैं। एक सायर कई है:

"जिन्दगी जिन्दादिली का नाम है
और मुर्दादिल साले खाक जिया करते हैं।
···अच्छा जीते रहो, मौज करो।"

---

१. पृ० ४५, ५४-५५।

२. उपन्यास में सेठ बाँकेमल का अपने स्वर्गवासी सजीव मित्र चौबेजी का बार-बार भावावेशमय स्मरण मार्मिक है।

इस तरह नागर जी ने हँसते-हँसाते जीवन की कला सिखा दी है और साथ ही कुल-मर्यादा और परम्परा-प्रेम की हँसी भी उड़ा दी है।

नागर जी ने अपने चाचा जी से अब साहित्यिक इन्टरव्यू भी कर ली है। सेठ बाँकेमल का विचार है—"वो सहित्त सुसरा डबल फौक्स है जिसे पढ़के जोसे जवानी नहीं उमड़ती, जिसे पढ़ के मर्दानगी से काम करने का हौसला नहीं मिलता। कोई ऐसी कहानी सुना जिससे लौंडे-लौंडियों में पहले डंड बैठक लगाने का सौक जागे, बाद में दिल लगाने का। सुसरे बिना नींव का म्हैल खड़ा करेंगे तो साहित्त भी हिजड़ा हो जाएगा। अरे मुझे देख, नब्बे के लपेटे में हूँ, आँखों से सूझे नहीं है, खाने को अब वो माल भी नहीं मिले हैं, पर आज भी रोज सबेरे दस बीस डंड बैठकें लग ही जाय हैं। हमारे चौबेजी भी ऐसे ही थे। कह्या करें थे भैयो कि हैल्थ है, तो वैल्थ है, बाकी सब फौक्स है"।[१]

सेठ बाँकेमल की उक्त विशेषताओं के आधार पर सहज ही कहा जा सकता है कि लेखक ने उसमें वर्ग-व्यक्ति की विशेषताओं का अविश्लेष्य घोल तैयार किया है। एक ओर वह प्राचीन पीढ़ी वाले वृद्धों के समान हर बात में पुराने ज़माने की प्रशंसा करने वाला वर्गगत पात्र है, दूसरी ओर उसका 'तरकैट' व्यक्तित्व तथा सजीव जिजीविषा उसे अद्भुत व्यक्ति बना देते है। ऐसे व्यक्तित्व को लेकर ही एक ओर लेखक जर्जर पीढ़ियों का व्यंग्य-मधुर चित्रण कर सका है, दूसरी ओर जीवन की कला भी दिखा सका है। वह स्थिर पात्र है—नए युग की विचारधारा उसके रुढ़ संस्कारों को हिला नहीं सकी। इसलिए उसका सजीव व्यक्तित्व स्वयं पर व्यंग्य भी है।

पात्र के अन्तरंग चित्रण का लेखक को अवकाश ही नहीं मिला। ऐसे उपन्यास में पाठकों का इस पक्ष की ओर ध्यान ही नहीं जाता। बहिरंग चित्रण में लेखक ने पात्र के नाम में ही उसको वर्ग-व्यवसाय से लेकर स्वभाव तक की विशेषता दे दी है—वह सेठ है; वृद्ध होता हुआ भी बाँका है और मूंछों पर खिज़ाब लगाता है।

यहाँ संवाद स्वल्प हैं, सेठ बाँकेमल की अविरल वाग्धारा रोके नहीं रुकती। और यह विशेषता भी उसकी आयु-अनुभवों की कुण्ठा के अनुकूल है। इससे उसका आकर्षक व्यक्तित्व उभर कर सामने आ जाता है। दुकान के व्यावसाविक गतिक्रम में जो वार्ता हुई है वह संक्षिप्त तथा व्यावसायिक होते हुए भी सेठ जी के व्यक्तित्व की मुहर लगाए हुए है—उसमें ज़िंदादिली और हास्य का पुट अनिवार्य रहता है।

नागर जी की भाषा पात्रानुकूल है। यथार्थता के लिए, आगरे के सेठ जी से आगरे की बोली में ही कहानियाँ कहलाई गई हैं। इसलिए भाषा की दृष्टि से

१. अमृतलाल नागर : "समालोचक" मई १९५८, पृ० ६१।

से यह आँचलिक उपन्यास है। एक तो इसमें आगरे के वातावरण और वेशभूषा आदि का कुछ आभास ही मिल पाता है; दूसरे, इसका उद्देश्य भी आँचलिक नहीं—भाषा को छोड़कर अंचलीय दृष्टिकोण ने कोई और शिल्प-परिवर्तन उपस्थित नहीं किया। अतएव यह उपन्यास आंशिक रूप से ही आंचलिक कहा जा सकता है।

सारांश में, आत्मकथा-शैली, आंचलिक भाषा, संकलनत्रय के नाटकीय शिल्प, स्मरणीय नायक, तथा नायक-बद्ध कहानियों की अद्भुत समन्विति से युक्त 'सेठ बाँकेमल' अपने ढंग का अकेला तथा आकर्षक हास्य-उपन्यास है। एक ही पात्र में रंजन एवं प्रयोजन की संयुक्त प्रतिष्ठा में इस उपन्यास का पृथक् वैशिष्ट्य है।

सातवाँ अध्याय

उद्देश्य-प्रधान उपन्यास : सामान्य विशेषताएँ

औपन्यासिक विन्यास में दृष्टिकोण तकनीक का मूलभूत सिद्धाँत है। उपन्यासकार के एक या दूसरे दृष्टिकोण के अनुयोजन (adaptation) से कथावस्तु, चरित्र-चित्रण, वातावरण आदि कुछ सीमा तक नियत होते है; किन्तु जहाँ दृष्टिकोण मूल में न रह कर केन्द्र में प्रतिष्ठित हो जाता है और उपन्यास के अन्य सभी तत्व मात्र उससे प्रेरित न होकर उसके अधीन हो जाते हैं, वहाँ उपन्यास उद्देश्य-प्रधान हो उठता है। ऐसे उपन्यास में उद्देश्य व्यंग्य ही नहीं, मुखर भी होता है। यहाँ उपन्यासकार जीवन के अंकन से जीवन-दर्शन की सहज-परोक्ष व्यंजना में संतुष्ट नहीं होता, वह अपने जीवन-दर्शन की प्रत्यक्षतः और प्रयत्नतः संस्थापना करता है। ऐसे उपन्यास या तो समस्या-प्रधान होते हैं, या विचार-प्रधान, या दोनों का संयुक्त स्वरूप।

उद्देश्य-प्रधान उपन्यासों में कथा का चुनाव, आरम्भ, विकास, प्रसार और अन्त उद्देश्य की सजग दृष्टि से निर्धारित रहता है। ऐसे उपन्यासों में ऐसे सिद्धांत-प्रेरित प्रसंगों की विशेष योजना भी की जाती है, जो समस्या के पक्ष-विपक्ष के उद्‌घाटन या अधिकाधिक विचार देने के लिए उपयोगी हो सकते हैं अन्यथा उनके निष्कासन से भी कथा में कोई अन्तर नहीं आता। वस्तुतः ऐसे उपन्यासों की समाहरणनीयता (concentrativeness) का आधार बहुत-कुछ उद्देश्य होता है। यही वस्तु का मूल समाहारक (concentrator) तत्व होता है। विचार-भार से दबे नीरस तथा कथा गति-रोधक प्रसंगों का समावेश भी प्रायः हो जाता है। इसलिए ऐसे उपन्यासों की गति प्रायः समुचिन तीव्र नहीं रह पाती। यहाँ दृष्टि घटनाओं पर नहीं, घटनाओं के अद्‌भूत चिंतन पर रहती है। लेखक स्वयं, या पात्रों के द्वारा, उनकी व्याख्या तथा विश्लेषण में लीन रहता है। उपन्यास में गोष्ठियों, सभाओं, वाद-परिषदों, आदि के अवसर जुटाए जाते हैं ताकि लेखक को विचार-राशि देने का अवसर मिल सके। उपन्यास की कलेवर-वृद्धि का मुख्य कारण व्याख्या, विश्लेषण, तथा विचार-प्रतिपादन के स्थलों का बाहुल्य होता है। इसके विपरीत किसी-किसी उपन्यास में एक ही प्रमुख समस्या, तथा लक्ष्य की जागरूक तन्मयता औपन्यासिक विधान के सकेन्द्रण (concentration) तथा एकोन्मुखी अशिथिल वस्तु-गठन का कारण बन जाती है।

कथानक का अन्त प्रायः निष्कर्षात्मिक, या सुधारात्मक, या निश्चित संकल्प का सूचक होता है। पाठक को अवश्य ही उपलब्धि होती है और वह लेखक के जीवन-दर्शन से भलीभांति परिचित हो जाता है।

विचार-प्रधान उपन्यासों में प्रायः विद्वान, तार्किक, तथा चिन्तन-ग्रस्त पात्रों—मानव-जाति के सामान्य नहीं, विरल-विशेष अंश[१]—का चयन होता है। इनका चरित्रोद्घाटन तथा चरित्र-विकास कार्यो-घटनाओं पर ही नहीं, पारस्परिक विचार-विनिमय पर भी अवलम्बित होता है। समस्या के विभिन्न पक्षों के निरूपण के लिए या तो उन्हें बहुविध परिस्थितियों में डाला जाता है, या भिन्न-भिन्न स्वभाव-विचारों वाले पात्रों की संख्या को बढ़ा कर और उनके दृष्टिकोणों के आपसी संघर्ष की नाटकीयता से समस्या, या दार्शनिक दृष्टिकोण के विभिन्न पत्र स्पष्ट किए जाते हैं। इस तरह विचार प्रधान उपन्याम व्यक्तियों की अपेक्षा विचारों का नाटक होता है, या एक प्रकार से व्यक्तीकृत (individualized) विचारों का नाटक।[२] यह अवश्य है कि ऐसे उपन्यासों के पात्रों का चारित्र्य-स्वातन्त्र्य वैसा नहीं रह पाता जैसे चरित्र-प्रधान उपन्यास में होता है, क्योंकि वे समस्या या विचारों से बंधे रहते हैं और उन्हीं के अनुकूल उन्हें विकास तथा अन्तिम परिणति मिलती है। उद्देश्य-निरूपण के अतिशय आग्रह में ये अस्वाभाविक भी हो सकते है।[३]

संवाद यहाँ चरित्राभिव्यक्ति तथा कथा-अग्रसरण के लिए ही नहीं, विचार-प्रकाशन तथा समस्या-निरूपण के लिए विशेष रूप से आते हैं। अतएव इनका स्वरूप प्रायः तार्किक हो जाता है और इनमें भाषण बन जाने की प्रवृत्ति होती है। दूसरा खतरा पात्रों के 'हिज मास्टर्स वायस' बन जाने का होता है। शिल्प की दृष्टि से ऐसे उपन्यासों की सफलता निम्नस्थ विशेषताओं पर अवलम्बित है—

१. अपने निश्चित दृष्टिकोण के प्रतिपादन में एक कलाकार की तटस्थता

१. Philip Quarle's writes in Huxley's : "Point Counter Point", p. 409-10.
"The chief defect of the novel of ideas is that you must write about people who have ideas to express—which excludes all but about 01 percent of the human race."

२. Frederick J. Hoffman : "Alduous Huxley and the Novel of Ideas", 'Forms of Modern Fiction', p. 194.
"'.this type of novel (Novel of Ideas) is the drama of ideas rather than of persons, or, rather, the drama of individualized ideas.''

३. Philip Quarle's writes in Huxley's "Point Counter Point", p. 410.
"The great defect of novel of ideas it that it's a made-up affair."

कथानक का अन्त प्राय: निष्कर्षत्मिक, या सुधारात्मक, या निश्चित संकल्प का सूचक होता है। पाठक को अवश्य ही उपलब्धि होती है और वह लेखक के जीवन-दर्शन से भलीभांति परिचित हो जाता है।

विचार-प्रधान उपन्यासों में प्राय विद्वान, तार्किक, तथा चिन्तन-ग्रस्त पात्रों—मानव-जाति के सामान्य नही, विरल-विशेष अंश[1]—का चयन होता है। इनका चरित्रोद्घाटन तथा चरित्र-विकास कार्यों-घटनाओं पर ही नही, पारस्परिक विचार-विनिमय पर भी अवलम्बित होता है। समस्या के विभिन्न पक्षों के निरूपण के लिए या तो उन्हें बहुविध परिस्थितियों में डाला जाता है, या भिन्न-भिन्न स्वभाव-विचारों वाले पात्रों की संख्या को बढ़ा कर और उनके दृष्टिकोणों के आपसी संघर्ष की नाटकीयता से समस्या, या दार्शनिक दृष्टिकोण के विभिन्न पत्र स्पष्ट किए जाते है। इस तरह विचार प्रधान उपन्याम व्यक्तियों की अपेक्षा विचारों का नाटक होता है, या एक प्रकार से व्यक्तीकृत (individualized) विचारों का नाटक।[2] यह अवश्य है कि ऐसे उपन्यासों के पात्रों का चारित्र्य-स्वातन्त्र्य वैसा नहीं रह पाता जैसे चरित्र-प्रधान उपन्यास में होता है, क्योंकि वे समस्या या विचारों से बंधे रहते है और उन्हीं के अनुकूल उन्हें विकास तथा अन्तिम परिणति मिलती है। उद्देश्य-निरूपण के अतिशय आग्रह में ये अस्वाभाविक भी हो सकते है।[3]

संवाद यहाँ चरित्राभिव्यक्ति तथा कथा-अग्रसरण के लिए ही नहीं, विचार-प्रकाशन तथा समस्या-निरूपण के लिए विशेष रूप से आते हैं। अतएव इनका स्वरूप प्राय: तार्किक हो जाता है और इनमें भाषण बन जाने की प्रवृत्ति होती है। दूसरा खतरा पात्रों के 'हिज मास्टर्स वायस' बन जाने का होता है। शिल्प की दृष्टि से ऐसे उपन्यासों की सफलता निम्नस्थ विशेषताओं पर अवलम्बित है—

१. अपने निश्चित दृष्टिकोण के प्रतिपादन में एक कलाकार की तटस्थता

---

१. Philip Quarle's writes in Huxley's : "Point Counter Point", p. 409-10.
"The chief defect of the novel of ideas is that you must write about people who have ideas to express—which excludes all but about 01 percent of the human race."

२. Frederick J. Hoffman : "Alduous Huxley and the Novel of Ideas", 'Forms of Modern Fiction', p. 194.
"·.this type of novel (Novel of Ideas) is the drama of ideas rather than of persons, or, rather, the drama of individualized ideas."

३. Philip Quarle's writes in Huxley's "Point Counter Point", p. 410.
"The great defect of novel of ideas it that it's a made-up affair.'

को स्थिर रखा जाए। इसके लिए उन्हीं विचारों का प्रसार किया जाए जिनको लेखक अपने विधान—पात्रों तथा घटनावली—से अनुमोदित कर सके।

२. अपने पक्ष के साथ विपक्ष को भी प्रस्तुत किया जाए ताकि तर्क-वितर्क का अपना सौन्दर्य भी मिल सके और विचारों के संचय के साथ उनमें संचरण की शक्ति भी आ सके। इससे अपने मतवाद के प्रतिपादन में तटस्थता आती है और प्रचारात्मक पक्षधरता का प्रतिभास नहीं मिलता। इससे विषय की गहराई की सिद्धि भी होती है, क्योंकि जीवन के सत्यासत्य का जागरूक संधान बिना दृष्टि के अनेकत्व के सम्भव नहीं।

३. विच्छिन्न-प्रसरित विचारों को अन्तःसूत्रित करने वाली एकल दृष्टि की स्पष्टता तथा दृढ़ता अनिवार्य है। उपन्यास की प्रभाव-समन्विति बहुत-कुछ इसी पर आघृत है।

४. विचारों की मूलाधार भाव-भूमि के सर्जन पर समुचित दृष्टि रहनी अपरिहार्य है। भाव की दृढ़ता भावना में प्रस्फुटित हो और भावना की परिपुष्टि विचारोद्भूति में, तो विचारों के संवेदक संवहन में प्रभावात्मकता अक्षुण्ण रहती है।

५. सामयिक समस्याओं से सम्बद्ध उपन्यास को भी सामयिक नहीं, समयातीत होने पर दृष्टि रखनी आवश्यक है[1] और ऐसा तभी हो सकता है जब समस्या पर ही नहीं समस्याबद्ध पात्रों के चरित्रांकन, उनके मानवता को छूने वाले राग-विरागों, पर भी समतुल्य दृष्टि रखी जाए। वस्तुतः चरित्र सभी प्रकार के उपन्यासों का वास्तविक प्रकाशन-ध्येय है[2] और सामयिक इतिहास को अपना विषय बनाने वाला उपन्यास भी इसका अपवाद नहीं।

इन विशेषताओं को उदाहृत करने के लिए हमने छः विभिन्न प्रकार के उपन्यास लिए हैं। कुछ दोषों के साथ उपर्युक्त चारों गुणों की पूर्ति का निदर्शक 'बूँद और समुद्र' है। इसमें विचार-प्रधान उपन्यास के दोष भी हैं, किन्तु शक्ति और भी अधिक है। 'पथ की खोज' अपने उद्देश्य के अनुरूप निष्कर्षांत नहीं। इसमें पथान्वेषण की हार्द से मतामत के संतुलित प्रस्तुतीकरण का आदर्श मिलता है। दूसरे, यह विधान-बाह्य बहु विचार-प्रसार के लोभ से प्रभाव के हनन का उदाहरण

१. John Hersey ; "The Writers Books", p. 27.
"An especially difficult requiretment for the contemporary historical novelist is that he must make his story timeless rather than timely."

२. Ibid., p. 27. "Character is the proper focus of novels of any genre."

भी है। 'बूँद और समुद्र' में 'गोदान' के व्यक्ति-समाज के सामंजस्य के जीवन-दर्शन को अधिक गहराई से प्रस्तुत किया गया है। 'पथ की खोज' में नूतन नैतिक मान-मूल्यों की खोज का प्रयत्न अधिक है। 'जहाज़ का पंछी' समाज की बहुविध विकृतियों के दिग्दर्शन के उद्देश्य से संचालित है। यह सामान्यतः उद्देश्य-प्रतिपादन की आधार-भूमि की पूर्वयोज्यता तथा कृत्रिमता के कारण प्रभाव के परिसीमन का उदाहरण प्रस्तुत करता है। इससे उद्देश्य और कथा-वैचित्र्य के असामंजस्य का प्रकटन भी होता है। 'चित्रलेखा' और 'बया का घोंसला और सांप' एकल समस्या के समाहृत वस्तु-विधान का उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। इसके साथ ही ये दोनों अपने-अपने ढंग से आरोपित अन्त के उदाहरण भी हैं। इन दोनों में भी पारस्परिक अन्तर स्पष्ट है। 'चित्रलेखा' की आधारभूमि तात्विक है, 'बया का घोंसला और सांप' की सामाजिक। इसलिए पहला विचार-प्रधान है, दूसरा संवेदना-प्रधान।

चित्रलेखा

'पतन' (१९२७) के पश्चात् 'चित्रलेखा' (१९३४) भगवतीचरण वर्मा का दूसरा उपन्यास है और आरम्भ में इसी के द्वारा वर्मा जी को प्रसिद्धि प्राप्त हुई। 'पतन' ऐतिहासिक उपन्यास है, और यद्यपि 'चित्रलेखा' भी किंचित् ऐतिहासिक पृष्ठभूमि लिए हुए है, तथापि यह विवादास्पद है कि यह ऐतिहासिक उपन्यास के अभिधान का अधिकारी है। इस सम्बन्ध में आलोचकों के तीन मत हैं—एक, 'चित्रलेखा' को ऐतिहासिक उपन्यास मानते हैं,[१] या इसका पर्यालोचन ऐतिहासिक उपन्यासों के अन्तर्गत करते हैं;[२] दूसरे, इसकी ऐतिहासिक-अनैतिहासिक स्थिति के

१. (क) प्रकाशचन्द्र गुप्त : "नया हिन्दी साहित्य : एक दृष्टि", पृ० १७४।
"चित्रलेखा में चन्द्रगुप्त मौर्य का भारत हमारी आँखों के सामने घूम जाता है।"
(ख) डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय : "बीसवीं शताब्दी हिन्दी साहित्य : नए संदर्भ", पृ० २५९।
(ग) डॉ० शिवनारायण श्रीवास्तव : "हिन्दी उपन्यास", पृ० २३३-३४।

२. (क) सियारामशरण प्रसाद : "वृन्दावनलाल वर्मा : साहित्य और समीक्षा", पृ० २४७-४८।
(ख) डॉ० बलवन्त लक्ष्मण कोतमिरे : "हिन्दी गद्य के विविध साहित्य रूपों का उद्भव और विकास", पृ० २०४।
"भगवतीचरण वर्मा के 'चित्रलेखा' उपन्यास में ऐतिहासिक वातावरण की

शिल्प को निर्धारित किया है। यहाँ एक निश्चित उद्देश्य के अनुकूल एक पूर्वनिर्धारित कथा-शिल्प का विधान हुआ है। तदनुकूल 'चित्रलेखा' की कथा प्रमुखतया तीन भागों में विभाजित है—'उपक्रमणिका', 'मध्यभाग', तथा 'उपसंहार'। पहले भाग में उपन्यास के प्रश्न को प्रस्तुत, दूसरे में उदाहृत तथा तीसरे में निष्कर्षित किया गया है। उपन्यासारम्भ, गुरु से शिष्य की शंका के रूप में, सीधे प्रश्न के साथ हुआ है:—

"श्वेतांक ने पूछा—'और पाप ?"

महाप्रभु रत्नाम्बर एक गहरी निद्रा से चौंक उठे। उन्होंने श्वेतांक की ओर एक बार बड़े ध्यान से देखा—"पाप! बड़ा कठिन प्रश्न है वत्स! पर साथ ही बड़ा स्वाभाविक! तुम पूछते हो पाप क्या है।"[1] इस कठिन प्रश्न के समाधान के लिए 'अध्ययन' तथा 'उपासना' को अपर्याप्त समझ, गुरु शिष्यों को संसार के अनुभव-क्षेत्र में उतरने के लिए तत्पर करता है।[2] इसी के अनुसार 'उपक्रमणिका' का अन्त इन पंक्तियों के साथ हुआ है—"दूसरे दिन कुटी खाली पड़ी थी। गुरु साधना के शुष्क-क्षेत्र में और शिष्य अथाह संसार में निकल पड़े थे"।[3] इसके बाद के मध्यभाग हैं पाप-पुण्य को समझाने या उदाहृत करने वाली अनुभूति-कथा है जिसके निर्धारित स्वरुप की इंगति भी 'उपक्रमणिका' में ही मिल जाती है; गुरु रत्नांम्बर अपने शिष्यों से कहता है :—"इससे पहले कि मैं तुम लोगों को संसार में भटक कर अनुभव प्राप्त करने को छोड़ दूँ, और इस कार्य को पूरा करने के लिए तुम लोगों को इन दोनों की सहायता की आवश्यकता होगी। एक योगी है और दूसरा भोगी—योगी का नाम है कुमारगिरि, और भोगी का नाम है बीजगुप्त। तुम दोनों के जीवन को इनके जीवन-स्रोत के साथ-साथ ही बहना पड़ेगा"।[4] तीसरे तथा अन्तिम भाग 'उपसंहार' में, एक वर्ष पश्चात्, शिष्य अपना-अपना अनुभव प्राप्त कर गुरु को बताते हैं और गुरु शिष्यों को 'अन्तिम पाठ'[5] के रूप में, उनके अनुभवों के निष्कर्ष-स्वरुप प्रत्यक्षतः स्वमत देते हैं। उपन्यास की अन्तिम पंक्ति आशीर्वादात्मक है; गुरु कहता है—"जाओ और सुखी रहो! यह मेरा तुम्हें आशीर्वाद है।" वस्तुतः इस तीसरे भाग का निर्धारण भी उपक्रमणिका में कर दिया गया था; गुरु रत्नाम्बर ने शिष्यों को कहा—"आज से एक वर्ष बाद तुम दोनों मुझ से यहीं पर मिलोगे। और उम समय फिर से हम अपने निर्धारित कार्यक्रम पर चल सकेंगे"।[6] सारतः 'चित्रलेखा' में केवल प्रारम्भ और अन्त में संस्कृत की नीतिकथाओं[7] का-सा शिल्प मिलता है—गुरु-शिष्य-परम्परा, नीति विषयक जिज्ञासा-समाधान-सूचक प्रश्नोत्तर, उपक्रम मध्यकथा-उपसंहार के रूप में पूर्वयोजित रचना-स्वरूप, तथा निष्कर्षात्मक-आशीर्वादात्मक अन्त इसके लक्षण हैं।

---

१. पृ० ५। २. पृ० ६। ३. पृ० ७। ४. पृ० ३२। ५. पृ० ३४। ६. पृ० ४७।
७. डॉ० प्रतापनारायण : टंडन "हिन्दी उपन्यास में कथा-शिल्प का विकास", पृ० २४७।

कथा का पूर्वयोजित क्रम ही विचार-तत्व के समावेशानुकूल, या समस्या-सम्बद्ध नहीं, पात्रों के चयन, उनके तथा कथा के विकास में भी यही दृष्टि गर्भित है। रत्नाम्बर और योगी कुमारगिरि ज्ञानोपदेशक गुरु हैं—शिक्षा देना उनका कार्य है—और श्वेतांक, विशालदेव एवं मधुपाल सभी विज्ञ-जिज्ञासु शिष्य हैं—शिक्षा-ग्रहण उनका लक्ष्य है।[१] चित्रलेखा भी 'विदुषी'[२] है और बीजगुप्त भी विद्वान।[३] एक परिच्छेद में आने वाला चाणक्य जी तार्किक नीतिज्ञ है। इन्हीं विशेषताओं के कारण ये पात्र एक-दूसरे से आकर्षित-प्रभावित हुए हैं और फलतः नई-नई परिस्थितियों के उत्पन्न होने से कथा अग्रसर होती रही है। योगी कुमारगिरि विचार-सागर में डूबा रहता था .. उसके जीवन की अकर्मण्यता पर ज्ञान और विचार का आवरण था।[४] अपनी शंकाओं का निवारण कर मधुपाल उसके "अखण्ड ज्ञान पर गर्व"[५] करता है। "उसके साथ रहकर मनुष्य जीवन की जटिल-से-जटिल समस्याओं को सफलतापूर्वक हल कर सकेगा"[६] की प्रशस्ति देता हुआ गुरु रत्नाम्बर भी अपने शिष्य विशालदेव को उससे दीक्षित कराने के लिए ले आता है। बीजगुप्त और चित्रलेखा के तार्किक कथनों से प्रभावित होकर, अपनी इच्छा और सिद्धान्त के विरुद्ध, योगी कुमारगिरि उन्हें रात्रि में अपनी कुटि में आश्रय देने के लिए बाध्य होता है। यहीं, प्रथम परिचय में ही, योगी नर्तकी चित्रलेखा के मुख से "दर्शन के विकृत सिद्धान्तों को तर्क-युक्त सुनकर स्तब्ध रह" जाता है। चित्रलेखा सुन्दरी के साथ विदुषी भी थी। उसमें विचार-शक्ति थी और प्रतिभा थी। "प्रतिभा का मुकाबला प्रतिभा ही कर सकती है, और ज्ञान के क्षेत्र में प्रतिभा तथा मौलिकता का सर्वोच्च स्थान है"।[७] इस प्रथम मिलन के वाद-विवाद में चाहे दोनों एक-दूसरे से असंतुष्ट एवं अपराजित रहते हैं किन्तु मन से दोनों हारते हैं—"योगी ने नर्तकी में ज्ञान देखा, और नर्तकी ने योगी में सौन्दर्य।"[८] चन्द्रगुप्त की राज्य-सभा में हुए वाद-विवाद के अवसर पर योगी ज्ञान-क्षेत्र में चित्रलेखा से हारता है[९], जो दोनों के पारस्परिक आकर्षण को पुष्ट करता है। अतएव ये वाद-विवाद उस शृंगारिक त्रिकोण—कथा के मूल संघर्ष—की सर्जना करते हैं जो धीरे-धीरे विकसित होकर अन्त में बीजगुप्त के त्याग और योगी एवं चित्रलेखा के नैतिक पतन का कारण बनता है। श्वेतांक भी चित्रलेखा से 'कर्तव्य और व्यक्तित्व' में ही नहीं, 'ज्ञान' में भी हारता है। इस हार से ही पहली बार ब्रह्मचारी श्वेतांक की मन की श्वेत-पाटी पर कामानुराग के लाल अक्षर लिखे जाते हैं।[१०] यही धीरे-

---

१. पृ० २२। २. पृ० ३२। ३. पृ० १३१।
४. पृ० १६। ५. पृ० १८। ६. पृ० १८।
७. पृ० ३२। ८. पृ० ३४। ९. पृ० ४७। १०. पृ० २६।

विवाद के सम्बन्ध में मूक रहते हुए इसका इतिहासेतर वर्ग में विवेचन करते हैं;[१] तीसरे, इसकी ऐतिहासिकता के आगे प्रश्नचिन्ह लगाते हैं[२] और इसक विवेचन भी इतिहासेतर वर्ग में करते हैं ।[३] हिन्दी में ऐतिहासिक उपन्यासों पर एक ही पुस्तक प्राप्त है[४] और उसमें 'चित्रलेखा' को स्थान नहीं दिया गया । स्वयं लेखक ने भी 'चित्रलेखा' के आरम्भ में लिखी अपनी पाँच पंक्तियों में इसकी ऐतिहासिकता का कोई उल्लेख नहीं किया । वस्तुतः 'चित्रलेखा' को ऐतिहासिक उपन्यास न मानना ही उचित है । इसके पात्र और घटनाएँ कल्पित है । केवल दो परिच्छेदों में आए चन्द्रगुप्त तथा एक ही परिच्छेद में आए चाणक्य की नगण्य-सी स्थिति है । लेखक ने ऐतिहासिक वातावरण के निर्माण पर भी विशेष दृष्टि नहीं दी । उदाहरणतया, उसने 'दिव्या' या 'मुर्दों का टीला' की तरह किन्हीं अप्रचलित शब्दों, पात्रों की तत्कालीन वेशभूषा, तथा उत्सवों-प्रथाओं आदि के चित्रण का आश्रय नहीं लिया । तमाशे,[५] महीन दुपट्टा,[६] बेर बेर,[७] शरबत,[८] मशाल,[९] शोले,[१०] पलंग,[११] दुकान, बाज़ार, जौहरी[१२]-जैसे शब्दों का प्रयोग विपरीत प्रभावोत्पन्न करने वाला है । 'दिव्या' में ऐतिहासिक वातावरण में पात्रों के शील-विकास में योग दिया है किन्तु 'चित्रलेखा' में ऐसी कोई बात नहीं । वातावरण के नाम पर पात्रों की तर्कनाओं तथा किन्हीं अलौकिक चमत्कारों के समावेश से तत्कालीन संस्कृति की जो झलक मिलती है, वह प्रायः 'चित्रलेखा' की समस्या का अनिवार्य अंग तथा देशकाल के समावेश का सामान्य तत्व है, ऐतिहासिक देशकाल का वैशिष्ट्य नहीं । प्रायः 'चित्रलेखा' की

अपेक्षा तत्कालीन जीवन का आभास मिलता है ।" "यह शुद्ध ऐतिहासिक उपन्यास न होते हुए भी अपने काल के सांस्कृतिकता वातावरण की झाँकी स्पष्टता देता है ।"—पृ० १०९ ।

१. (क) रामचन्द्र शुक्ल : 'हिन्दी साहित्य का इतिहास', पृ० ४६६-४६७ ।
   (ख) डॉ० सुषमा धवन : "हिन्दी उपन्यास", पृ० ९७ ।

२. डॉ० जगदीश गुप्त : 'आलोचना' संख्या १३, पृ० १८२ ।
   "विराटा की पद्मिनी" में इतिहास है ही नहीं, केवल वातावरण से ऐतिहासिक का आभास मिलता है । ऐसे उपन्यास को कहाँ तक ऐतिहासिक माना जाय यह एक समस्या है । ऐसे तो भगवतीचरण वर्मा का 'चित्रलेखा' भी ऐतिहासिक वातावरण लेकर लिखा गया है ।"

३. डॉ० त्रिभुवन सिंह : "हिन्दी उपन्यास और यथार्थवाद", पृ० १२१ तथा १५६ ।

४. डॉ० गोपीनाथ तिवारी : "ऐतिहासिक उपन्यास और उपन्यासकार" ।

५. पृ० १६० । ६. पृ० ३२ । ७. पृ० ४९ । ८. पृ० ६७ । ९. पृ० ।
१०. पृ० १२५ । ११. पृ० १२६ । १२. पृ० १६३ ।

ऐतिहासिकता पर शंका उठाते हुए 'विराटा की पद्मिनी' से इसकी जो तुलना की गई है वह उचित प्रतीत नहीं होती; क्योंकि 'विराटा की पद्मिनी' में घटनाएँ काल्पनिक नहीं, 'सत्यमूलक' हैं—यह अवश्य है कि ये "अनेक कालों से उठाकर एक ही समय की लड़ी में गूंथ दी गई हैं।"[1] पद्मिनी, नायकसिंह की पत्नी भी ऐतिहासिक पात्र हैं। इनके अतिरिक्त लेखक ने ऐतिहासिक तत्वों की खोज द्वारा[2] तत्कालीन वातावरण का भरापूरा चित्र दिया है किन्तु 'चित्रलेखा' में ऐतिह्य वातावरण की एकांगी व्यंजना है।

'चित्रलेखा' विचार-प्रधान मध्यमकाय समस्या-उपन्यास है। स्वयं लेखक ने 'चित्रलेखा' के प्रारम्भिक वक्तव्य में इसमें 'समस्या' और अपने 'दृष्टिकोण' की बात ही कही है। डॉ० प्रभाकर माचवे भी इसे "मुख्यतः समस्या-उपन्यास" मानते हैं।[3] उपन्यासकार यज्ञदत्त शर्मा इसकी ऐतिहासिकता का निषेध न करते हुए भी इसे समस्या-मूलक मानते हैं।[4] डॉ० देवराज उपाध्याय ने भी इसकी "विस्तृत और ज्ञानभरी गरिष्ट व्याख्याओं" या 'सब' परिच्छेदों में मिलने वाली "दार्शनिकता की गूढ़ता" का विशेषोल्लेख किया है।[5] डॉ० शिवनारायण श्रीवास्तव इससे भिन्न मत प्रकट करते हैं—वे 'चित्रलेखा' को "स्पष्टतः सोद्देश्य" कहते हुए भी इसे "शुद्ध चरित्र-प्रधान" उपन्यास मानते हैं।[6] लेखक ने भी अपने प्रारम्भिक वक्तव्य में चाहे उद्देश्य-तत्व पर बल दिया हो, फिर भी, इसे चरित्राधारित अभिधा दी है। वस्तुतः उद्देश्यानुकूल पूर्वयोजित कथानुबंधन, समस्यासूचक आरम्भ-अन्त, विद्वान-तार्किक पात्रों का चयन, विचार-विनिमय के रूप में पात्रों का चरित्र-विकास, विचार-बहुलता तथा तार्किक संवादों की प्रचुरता आदि विशेषताएँ 'चित्रलेखा' को उद्देश्य-प्रधान उपन्यासों के वर्ग में रखने का अनुरोध करती हैं।

'चित्रलेखा' की विचार-प्रधानता नीति-मूल्यों—पाप-पुण्य, सुख दुख, अनुराग-विराग, वासना-प्रेम आदि—के पुनर्निर्धारण के प्रयास में लक्षित होती है। 'चित्रलेखा' में स्थान-स्थान पर आए विभिन्न विषयों के विचार मूलतः मानवीय आचरण के पाप-पुण्य के निर्णय-निरूपण के लिए हैं। वासना-प्रेम, अनुराग-विराग कर्तव्याकर्तव्य की मीमांसा यहाँ पाप-पुण्य के मूल प्रश्न या समस्या को प्रस्तुत करने के लिए हुई हैं। अतएव उपन्यास की प्रथम पंक्ति इसी समस्या की सूचक बन कर आई है। वस्तुतः लेखक आद्यन्त इस समस्या के प्रति सजग रहा है और इसी ने उपन्यास के

१. लेखकीय "परिचय", 'विराटा की पद्मिनी', पृ० १५।
२. वही, पृ० १४। ३. "संतुलन" पृ० १७०।
४. यज्ञदत्त शर्मा : "हिन्दी के उपन्यासकार", पृ २२२।
५. "कथा के तत्व", पृ०१२८। ६. "हिन्दी उपन्यास", पृ० २३०-३१।

शिल्प को निर्धारित किया है। यहाँ एक निश्चित उद्देश्य के अनुकूल एक पूर्वनिर्धारित कथा-शिल्प का विधान हुआ है। तदनुकूल 'चित्रलेखा' की कथा प्रमुखतया तीन भागों में विभाजित है—'उपक्रमणिका', 'मध्यभाग', तथा 'उपसंहार'। पहले भाग में उपन्यास के प्रश्न को प्रस्तुत, दूसरे में उदाहृत तथा तीसरे में निष्कर्षित किया गया है। उपन्यासारम्भ, गुरु से शिष्य की शंका के रूप में, सीधे प्रश्न के साथ हुआ है:—

"श्वेतांक ने पूछा—'और पाप ?"

महाप्रभु रत्नाम्बर एक गहरी निद्रा से चौंक उठे। उन्होंने श्वेतांक की ओर एक बार बड़े ध्यान से देखा—"पाप ! बड़ा कठिन प्रश्न है वत्स ! पर साथ ही बड़ा स्वाभाविक ! तुम पूछते हो पाप क्या है।"[१] इस कठिन प्रश्न के समाधान के लिए 'अध्ययन' तथा 'उपासना' को अपर्याप्त समझ, गुरु शिष्यों को संसार के अनुभव-क्षेत्र में उतरने के लिए तत्पर करता है।[२] इसी के अनुसार 'उपक्रमणिका' का अन्त इन पंक्तियों के साथ हुआ है—"दूसरे दिन कुटी खाली पड़ी थी। गुरु साधना के शुष्क-क्षेत्र में और शिष्य अथाह संसार में निकल पड़े थे"।[३] इसके बाद के मध्यभाग हैं पाप-पुण्य को समझाने या उदाहृत करने वाली अनुभूति-कथा है जिसके निर्धारित स्वरुप की इंगति भी 'उपक्रमणिका' में ही मिल जाती है; गुरु रत्नाम्बर अपने शिष्यों से कहता है :—"इससे पहले कि मैं तुम लोगों को संसार में भटक कर अनुभव प्राप्त करने को छोड़ दूँ, और इस कार्य को पूरा करने के लिए तुम लोगों को इन दोनों की सहायता की आवश्यकता होगी। एक योगी है और दूसरा भोगी—योगी का नाम है कुमारगिरि, और भोगी का नाम है बीजगुप्त। तुम दोनों के जीवन को इनके जीवन-स्रोत के साथ-साथ ही बहना पड़ेगा"।[४] तीसरे तथा अन्तिम भाग 'उपसंहार' में, एक वर्ष पश्चात्, शिष्य अपना-अपना अनुभव प्राप्त कर गुरु को बताते हैं और गुरु शिष्यों को 'अन्तिम पाठ'[५] के रूप में, उनके अनुभवों के निष्कर्ष-स्वरुप प्रत्यक्षत: स्वमत देते हैं। उपन्यास की अन्तिम पंक्ति आशीर्वादात्मक है; गुरु कहता है—"जाओ और सुखी रहो ! यह मेरा तुम्हें आशीर्वाद है।" वस्तुतः इस तीसरे भाग का निर्धारण भी उपक्रमणिका में कर दिया गया था; गुरु रत्नाम्बर ने शिष्यों को कहा—"आज से एक वर्ष बाद तुम दोनों मुझ से यहीं पर मिलोगे। और उस समय फिर से हम अपने निर्धारित कार्यक्रम पर चल सकेंगे"।[६] सारतः 'चित्रलेखा' में केवल प्रारम्भ और अन्त में संस्कृत की नीतिकथाओं[७] का-सा शिल्प मिलता है—गुरु-शिष्य-परम्परा, नीति विषयक जिज्ञासा-समाधान-सूचक प्रश्नोत्तर, उपक्रम मध्यकथा-उपसंहार के रूप में पूर्वयोजित रचना-स्वरूप, तथा निष्कर्षात्मक-आशीर्वादात्मक अन्त इसके लक्षण हैं।

---

१. पृ० ५। २. पृ० ६। ३. पृ० ७। ४. पृ० ३२। ५. पृ० ३४। ६. पृ० ४७।
७. डॉ० प्रतापनारायण टंडन "हिन्दी उपन्यास में कथा-शिल्प का विकास", पृ० २४७।

कथा का पूर्वयोजित क्रम ही विचार-तत्व के समावेशानुकूल, या समस्या-सम्बद्ध नहीं, पात्रों के चयन, उनके तथा कथा के विकास में भी यही दृष्टि गर्भित है। रत्नाम्बर और योगी कुमारगिरि ज्ञानोपदेशक गुरु हैं—शिक्षा देना उनका कार्य है—और श्वेतांक, विशालदेव एवं मधुपाल सभी विज्ञ-जिज्ञासु शिष्य हैं—शिक्षा-ग्रहण उनका लक्ष्य है।[१] चित्रलेखा भी 'विदुषी'[२] है और बीजगुप्त भी विद्वान।[३] एक परिच्छेद में आने वाला चाणक्य जी तार्किक नीतिज्ञ है। इन्हीं विशेषताओं के कारण ये पात्र एक-दूसरे से सम्पर्कित-प्रभावित हुए हैं और फलतः नई-नई परिस्थितियों के उत्पन्न होने से कथा अग्रसर होती रही है। योगी कुमारगिरि विचार-सागर में डूबा रहता था .. उसके जीवन की अकर्मण्यता पर ज्ञान और विचार का आवरण था।[४] अपनी शंकाओं का निवारण कर मधुपाल उसके "अखण्ड ज्ञान पर गर्व"[५] करता है। "उसके साथ रहकर मनुष्य जीवन की जटिल-से-जटिल समस्याओं को सफलतापूर्वक हल कर सकेगा"[६] की प्रशस्ति देता हुआ गुरु रत्नाम्बर भी अपने शिष्य विशालदेव को उससे दीक्षित कराने के लिए ले आता है। बीजगुप्त और चित्रलेखा के तार्किक कथनों से प्रभावित होकर, अपनी इच्छा और सिद्धान्त के विरुद्ध, योगी कुमारगिरि उन्हें रात्रि में अपनी कुटि में आश्रय देने के लिए बाध्य होता है। यहीं, प्रथम परिचय में ही, योगी नर्तकी चित्रलेखा के मुख से "दर्शन के विकृत सिद्धान्तों को तर्क-युक्त सुनकर स्तब्ध रह" जाता है। चित्रलेखा सुन्दरी के साथ विदुषी भी थी। उसमें विचार-शक्ति थी और प्रतिभा थी। "प्रतिभा का मुकाबला प्रतिभा ही कर सकती है, और ज्ञान के क्षेत्र में प्रतिभा तथा मौलिकता का सर्वोच्च स्थान है"।[७] इस प्रथम मिलन के वाद-विवाद में चाहे दोनों एक-दूसरे से असंतुष्ट एवं अपराजित रहते हैं किन्तु मन से दोनों हारते हैं—"योगी ने नर्तकी में ज्ञान देखा, और नर्तकी ने योगी में सौन्दर्य।"[८] चन्द्रगुप्त की राज्य-सभा में हुए वाद-विवाद के अवसर पर योगी ज्ञान-क्षेत्र में चित्रलेखा से हारता है[९], जो दोनों के पारस्परिक आकर्षण को पुष्ट करता है। अतएव ये वाद-विवाद उस शृंगारिक त्रिकोण—कथा के मूल संघर्ष—की सर्जना करते हैं जो धीरे-धीरे विकसित होकर अन्त में बीजगुप्त के त्याग और योगी एवं चित्रलेखा के नैतिक पतन का कारण बनता है। श्वेतांक भी चित्रलेखा से 'कर्तव्य और व्यक्तित्व' में ही नहीं, 'ज्ञान' में भी हारता है। इस हार से ही पहली बार ब्रह्मचारी श्वेतांक की मन की श्वेत-पाटी पर कामानुराग के लाल अक्षर लिखे जाते हैं।[१०] यही धीरे-

---

१. पृ० २२। २. पृ० ३२। ३. पृ० १३१।
४. पृ० १६। ५. पृ० १८। ६. पृ० १८।
७. पृ० ३२। ८. पृ० ३४। ९. पृ० ४७। १०. पृ० २६।

धीरे विकसित होकर अन्त में यशोधरा की कामना-प्रार्थना करते हैं और बीजगुप्त को सर्वस्व त्याग के लिए बाध्य। यशोधरा भी बीजगुप्त की विद्वता, प्रतिभा, मौलिकता, तथा अकाट्य तर्कों से चकित एवं अभिभूत होती रहती है।[1] सारांश में 'चित्रलेखा' के कथानक के विभिन्न मोड़ तथा पात्रों का शील-विकास बहुत-कुछ उनके तार्किक विचार-विनिमय पर अवलम्बित है।

यहीं उल्लेखनीय है कि 'चित्रलेखा' के पात्र अपने-अपने विचारों में प्रायः व्यक्त होते हैं—इसी आधार पर उनके वाद-विवाद या वैचारिक संघर्ष उनके तथा कथा-विकास के साधक बन सके हैं। इसके अतिरिक्त उन्हें पाप-पुण्य की समस्या प्रस्तुत करने के लिए अपने-अपने दृष्टिकोण का प्रतिनिधित्व करना है ताकि यह सिद्ध किया जा सके कि "संसार में पाप कुछ भी नहीं है, वह केवल मनुष्य के दृष्टि-कोण की विषमता का दूसरा नाम है।"[2] अतएव उपन्यास के आरम्भ में ही गुरु रत्नाम्बर ने दो प्रमुख पात्रों को विशिष्ट दृष्टिकोण, या सिद्धांत-पक्षों का प्रतिनिधि-प्रतीक बना दिया है। कुमारागिरि योगी है .. संसार से उसको विरक्ति है, और अपने मतानुसार उसने सुख को भी जान लिया है; .. संयम उसका साधन है और स्वर्ग उसका लक्ष्य।" और "बीजगुप्त भोगी है .. स्वर्ग तथा नरक की उसे कोई चिन्ता नहीं। आमोद और प्रमोद ही उसके जीवन का साधन है तथा लक्ष्य भी है।"[3] और आगे जब तक इन पात्रों का विकास नहीं होता, उनके विचार अपने-अपने प्रतीक-पक्ष को सिद्ध करते रहते है। कुमारगिरि नारी को मोह-माया, संसार को शून्य, और इच्छा-वासनाओं को त्याज्य बताता रहता है तथा ब्रह्म, संयम-नियम, एवं योगादि को सत्य।[4] और बीजगुप्त लगभग अपने प्रवेश के साथ ही मस्ती और उन्माद की भाषा में बोलता हुआ कहता है—".. यौवन का अन्त है एक अज्ञात अन्धकार, और उस अज्ञात अन्धकार के गर्त में क्या छिपा है, वह न तो मैं जानता हूँ, और न उसके जानने की कोई इच्छा ही है। भूत और भविष्य, ये दोनों ही कल्पना की चीज़ें हैं, जिनसे हमको कोई प्रयोजन नहीं, वर्तमान हमारे सामने हैं। .."[5] इन विचारों के पीछे इनका अपना स्वभाव और मनःप्रवृत्ति है, विश्वास और व्यक्तित्व है, अतएव उनके विचार एक-दूसरे को प्रभावित-आंदोलित करने में समर्थ होते हैं। उदाहरणतया, बीजगुप्त भोगी है किन्तु उसका भी अपना दर्शन है, निजत्व है; अतएव पहले-पहल जब वह नर्तकी चित्रलेखा के प्रति पूर्णतया आकर्षित होता है तब भी वह उसकी इच्छानुकूल 'समुदाय का भाग' बनकर उसके सामने जाते रहना स्वीकार नहीं करता, अपितु व्यक्ति और व्यक्तित्व की अस्तित्व-रक्षा के प्रबल विश्वास को व्यक्त कर लौट जाता है :—"व्यक्तित्व जीवन में प्रधान है और व्यक्ति से ही समुदाय बनता है।

१. पृ० १३१, १५४। २. पृ० १६०। ३. पृ० ७। ४. पृ० १७, २०, २१, ३१। ५. पृ० ६।

जब व्यक्ति वर्जित है, तो उस व्यक्ति को समुदाय का भाग बनना अपना ही अपमान करना है"[1] इसलिए बीजगुप्त के लिए चित्रलेखा झुकने पर बाध्य हो जाती है। इस व्यक्ति-धारणा के आधार पर ही वह सम्मानित समाज में कह सका है—"लोक की दृष्टि से मैं अविवाहित हूँ, पर मैं वास्तव में विवाहित हूँ ।.. मैं प्रेम में विश्वास करता हूँ .."[2] एकनिष्ठ प्रेम के सम्बन्ध में वह अनेक स्थलों पर अपने विचार प्रकट कर चुका है।

'चित्रलेखा' में विचार-तत्व का समावेश कुछ अन्य विधियों से भी हुआ है। कुल मिलाकर ये परिमाण-क्रम से निम्नस्थ हैं—(१) पात्रों के तार्किक संवादों के रूप में। (२) गुरु-शिष्य या संन्यासी-जिज्ञासु[3] पात्रों के ज्ञानोपदेशमय प्रश्नोत्तर के रूप में। (३) पात्रों के अन्तर्द्वन्द्वात्मक चिन्तन[4] के द्वारा। (४) लेखकीय मन्तव्यों[5] के माध्यम से।

'चित्रलेखा' में सर्वाधिक विचार राशि संवादों के रूप में आई है, अतएव ये अनेक स्थलों पर लम्बे हो गए हैं। फिर भी, अपनी उपयोगिता के कारण ये अत्यल्प खटकते हैं। (पूर्व-चर्चित कारणों से स्पष्ट है कि) ये रस्मी नहीं; पात्रों के स्वभाव से बँधे हैं। इसके अतिरिक्त वासना-वेदना से सिक्त शृंगारिक कथानक के धरातल पर विकसित तथा उसमें सहायक—अतएव राग-प्रेरित—होने से ये प्रायः शुष्क नहीं हो पाते। इन विचारों की पृष्ठभूमि में कहीं पात्रों के रूप की अहंमन्यता, कहीं आत्म-तेज की गरिमा, कहीं निष्ठा, कहीं ईर्ष्या, कहीं प्रतिहिंसा, और कहीं प्रतिपक्षी की चुनौती को स्वीकार करने की भावोष्ण प्रतियोगिता मिलती है। दूसरे, इन तार्किक संवादों में तर्क-वितर्क का अपना सौन्दर्य भी है—यहाँ 'प्रतिभा का मुकाबला प्रतिभा' करती है, अतएव पक्ष-विपक्ष की समतुल्यता तथा एक-दूसरे से इक्कीस ठहरने की होड़ चामत्कारिक प्रभाव छोड़ती रहती है। इस दृष्टि से चन्द्रगुप्त की राज्यसभा का आयोजित वाद-विवाद आस्वादनीय है। जहाँ-कहीं तर्क करने वाला प्रतिपक्षी पात्र दुर्बल होता है और पात्र की मनःस्थिति के उद्घाटन-मात्र के लिए एकरस संवादों को तूल दे दी गई है, वहाँ कथा-गति-शैथिल्य से शुष्कता आ गई है। पंद्रहवें परिच्छेद के बीजगुप्त एवं यशोधरा के संवाद ऐसे ही हैं।

प्रश्नोत्तरक्रम के ज्ञानोपदेश के रूप में आया विचार-तत्व अपेक्षाकृत शुष्क है। लेखकीय मन्तव्यों के रूप में आए विचार अधिक नहीं, फिर भी, ये सभी उपर्युक्त प्रकारों से विरस एवं विकलात्मक हैं। अन्तर्द्वन्द्वात्मक चिंतन के द्वारा विचार-व्यंजना भी कम है, किन्तु चरित्राभिव्यक्ति के लिए तथा कथाक्रम के मध्य आने से विशेष

१. पृ० १२। २. पृ० ८५। ३. पृ० १५८-६१।
४. पृ० १५६-५७, १७६-७७, १२२, ५३। ५. पृ० १६-१७, ६७, ११०, ११७।

कलात्मक हैं। यद्यपि वर्मा जी ने 'चित्रलेखा' के तार्किक क्रम में प्रश्नता का आह्वान भी किया है, तथापि, मध्य में प्रमुख पात्रों तथा अन्त में रत्नाम्बर के द्वारा अपने शिष्यों को 'अन्तिम पाठ' अथवा निष्कर्ष के रूप में निश्चित स्वमत भी दिया है—"संसार में पाप कुछ भी नहीं है, वह केवल मनुष्य के दृष्टिकोण की विषमता का दूसरा नाम है। ...जो कुछ मनुष्य करता है, वह उसके स्वभाव के अनुकूल होता है, और स्वभाव प्राकृतिक है। मनुष्य अपना स्वामी नहीं, वह परिस्थितियों का दास है—विवश है।...फिर पुण्य और पाप कैसा ?...संसार में इसीलिए पाप की परिभाषा नहीं हो सकी—और न हो सकती है। हम न पाप करते हैं और न पुण्य करते हैं, हम केवल वह करते हैं, जो हमें करना पड़ता है"।[२] उपन्यास के मध्यभाग में विभिन्न संदर्भों में भी बीजगुप्त के मुख से मनुष्य की स्वभाववश्यता या पारिस्थितिक दासता के कथनों की आवृत्ति की गई है।"[३] इस आवृत्ति के दो लक्ष्य हैं—एक, रत्नाम्बर के अन्तिम निष्कर्ष को एक प्रमुख पात्र की भिन्न-संदर्भीय प्रतिक्रियाओं के विचार-सार से परिपुष्ट करते हुए ऐसी संगति देना कि यह किसी क्रमिक वैचारिक विकास की स्वाभाविक परिणति जान पड़े; दूसरे, एक ही बात की बहुशः पुनरुक्ति से उसे बलशाली बनाकर पाठकों के मन पर मुद्रित करने का प्रयत्न करना। इस तरह लेखक ने उद्देश्य को प्रभावी बनाने का प्रयास किया है।

उद्देश्य की प्रभावपूर्ण अभिव्यक्ति के उपर्युक्त साधनों को अपनाते हुए भी यह नहीं कहा जा सकता कि लेखक मानव की पारिस्थितिक दासता के कारण पाप-पुण्य की अनिश्चित स्थिति के प्रतिपादन में सफल हो पाया है। इसका कारण यह है कि उपन्यासांत में पात्रों के चरित्र-विकास तथा लेखक के पूर्वनिर्धारित लक्ष्य में असंगति आ गई है। प्रमाणतया, अन्तिम परिच्छेद में गुरु रत्नाम्बर जब दोनों शिष्यों से, उनकी अपनी-अपनी अनुभूत्यानुसार, "बीजगुप्त और कुमारगिरि इन दोनों में कौन व्यक्ति पापी है ?"[४] का प्रश्न पूछता है, तब यह तो समझ में आता है कि श्वेतांक बीजगुप्त की प्रशंसा करे, किन्तु विशालदेव की योगी कुमारगिरि को प्रशस्ति तथा बीजगुप्त की विगर्हणा असंगत लगती है—ऐसा प्रतीत होता है जैसे लेखक ने अपने उद्देश्य को सिद्ध करने के लिए विशालदेव को भी अपनी वाणी दे दी है। 'चित्रलेखा' के कुछ प्रसंगों से स्पष्ट है कि विशालदेव को अपने गुरु की दृढ़ता पर विश्वास नहीं।[५] कुमारगिरि योग-भ्रष्ट भी होता है और चित्रलेखा को अपना बनाने के लिए छल-कपट का आश्रय भी लेता है। तब विशालदेव किस अनुभव के आधार पर योगी कुमारगिरि की प्रशंसा कर सका है ? वर्मा जी ने योगी का जितना

१. पृ० १२७-१३१। २. पृ० १६०। ३. पृ० २८, ५७, ६६, १०८।
४. पृ० १८६। ५. पृ० ६६-६७, १४३।

जीवन-चित्रण किया है, उतने से उसके 'अजित' होने या 'ममत्व को वशीभूत' कर लेने के वे प्रमाण नहीं मिलते, जो विशालदेव की अन्तिम धारणा को सिद्ध करते। चित्रलेखा-जैसी विदुषी भी योगी की जिस महत्ता को देखकर आर्कषित हुई थी, उसी में गिरावट देखकर वह उतने ही वेग से विकर्षित होती है। अतएव विशालदेव के मत से पाठक सहमत नहीं हो पाता। अन्त में जब 'चित्रलेखा' के विपरीत परिवर्तन से कुमानगिरि के पतन का पूरा भण्डा-फोड़ होने की सम्भावना होती है तो लेखक ने अपनी हठधर्मी से विशालदेव को बुद्धू बना दिया है—चित्रलेखा एवं कुमारगिरि के जीवन में उत्सुकता दिखाने के स्वाधिकार की वकालत करने वाला निडर विशालदेव तब चित्रलेखा को 'बड़ी विचित्र स्त्री है' कहकर चलता बनता है।"[1] इस तरह लेखक ने अपने उद्देश्य के लिए विशालदेव के व्यक्तित्व की बलि दे दी है और उसके चित्रण को अस्वाभाविक बना दिया है। वस्तुतः कुमारगिरि को पापी न कहलाना लेखक का मतवादी पूर्वाग्रह है। गुरु रत्नाम्बर ने यद्यपि पाप-पुण्य की कोई कसौटी नहीं दी, किन्तु श्वेतांक को बीजगुप्त के आश्रित करते हुए उसने एक निश्चित मत (उपदेश) दिया था; वह था—"अच्छा और बुरा—यह सब तुम्हारे सामने आयेगा; पर इस कसौटी पर ध्यान रखना कि अच्छी वस्तु वही है, जो तुम्हारे वास्ते अच्छी होने के साथ ही दूसरों के वास्ते भी अच्छी हो"।[2] इस कसौटी पर भी योगी कुमारगिरि खरा नहीं उतरता। अतएव उपर्युक्त धारणा को दृष्टि में रखकर श्वेतांक की कुमारगिरि की विगर्हणा तो कुछ जँचती है किन्तु विशालदेव के मत का आधार समझ नहीं आता—इसलिए भी कि लेखक ने उसे बीजगुप्त के जीवन के निरीक्षण-परीक्षण का अवसर नहीं दिया।

कुमारगिरि के विपरीत बीजगुप्त का जैसा जीवन चित्रित मिलता है, उससे उसकी पारिस्थितिक दासता तथा मनःप्रवृत्ति की विवृति ही नहीं मिलती, इनसे ऊपर उठकर विवेक के दर्शन भी होते हैं। श्वेतांक के लिए सर्वस्व त्याग, बाद में चित्रलेखा के प्रति उसकी उदारता तथा धन की अवहेलना परिस्थितियों तथा प्राकृतिक स्वभाव से अधिक उसके विवेक के लक्षण हैं—उसकी चरित्रव्यंजना यही है कि वह योगी न होते हुए भी विवेक से, अपने स्वतन्त्र चिन्तन से, योगी बन सकता है। त्याग करने से पूर्व उसका निम्न चिंतन विवेक-द्योतक है—"क्या संयम के यही अर्थ हैं—क्या संसार में अपनापन ही सब कुछ है? तो फिर मनुष्य में और पशु में भेद क्या है? प्रत्येक प्राणी अपने लिए जीवित है—प्रत्येक प्राणी ममत्वभाव से प्रेरित होकर काम करता है। फिर मुझ में और संसार के अन्य प्राणियों में भेद

---

१. पृ० १७१। २. पृ० १४।

कैसा ?[१] यही नही इससे पहले भी बीजगुप्त के कथन लेखक की वाणी में मनुष्य की परिस्थितिजन्य दासता की दुहाई, किन्तु उसका अपना व्यक्तित्व परिस्थितियों पर विजय-प्राप्ति की विवेक-सम्मत स्फूर्ति देता रहा है और इससे उसके कथनों में विचित्र असंगति आ गई है—"श्वेतांक मुझसे क्षमा-प्रार्थना करने की कोई आवश्यकता नहीं है। तुमने जो कुछ किया, उसके विपरीत तुम्हारी परिस्थिति में दूसरा मनुष्य नहीं कर सकता था। तुमने जो कुछ किया, वह उचित किया और जो कुछ करते वह भी उचित करते। उसमें तुम्हारा दोष न होता, दोष होता केवल परिस्थितियों का···।"[२] किन्तु इसी कथन का अन्त इन पंक्तियों से हुआ है—"तुमने अभी संसार में प्रवेश किया है, तुम संसार के अनुभवों से रहित हो। न जाने कितनी बार तुम्हें अनुभव की परीक्षा की कसौटी पर चढ़ना पड़ेगा, उस समय तुम्हें कर्तव्याकर्तव्य का विचार रखना पड़ेगा। इच्छाएँ प्रबल रूप धारण करके तुम्हें सतावेंगी और उनका दमन करना पड़ेगा। यहीं पर तुम्हारी आत्मशक्ति की परीक्षा होगी।···"[३] यदि मनुष्य परिस्थितियों का दास है तो कर्तव्याकर्तव्य का विचार कैसा ? उनके 'दमन' में 'आत्मशक्ति की परीक्षा' कैसी ? स्पष्ट है कि लेखक अपने मत को लाद रहा है किन्तु उसका सजीव पात्र उसके हाथ से निकल कर उसी का विरोध कर रहा है। इसमें लेखक की कला की पराजय भी है, विजय भी। हमारी इस धारणा को बीजगुप्त की यह अन्य परिस्थितिन्जय प्रतिक्रिया भी प्रमाणित करेगी—"श्वेतांक, यह याद रखना कि मनुष्य स्वतन्त्र विचार वाला प्राणी होते हुए भी परिस्थितियों का दास है। और यह परिस्थिति-चक्र क्या है, पूर्वजन्म के कर्मों के फल का विधान है। मनुष्य की विजय वहीं सम्भव है, जहाँ वह परिस्थितियों के चक्र में पड़कर उसके साथ चक्कर न खाय, वरन् अपने कर्तव्याकर्तव्य का विचार रखते हुए उस पर विजय पावे। चित्रलेखा परिस्थितियों के चक्र में पड़ गयी है, कुमारगिरि का उसके जीवन में आना उसके लिए घातक है और उसका कुमारगिरि के जीवन में आना कुमारगिरि के लिए घातक है।······भगवान ही उनकी सहायता कर सकता है।"[४] सारांश में बीजगुप्त के व्यक्तित्व के चरित्र एवं कथनों के आधार पर मनुष्य की परिस्थितिजन्य दासता का चिन्तन-निष्कर्ष नहीं दिया जा सकता। बीजगुप्त अपने परोपकारमय त्याग की महत्ता के कारण उपन्यास के अनेक पात्रों से प्रशंसित हुआ है और पाठकों पर अन्त में प्रभाव भी उसी का पड़ता है। उपन्यास की अन्तिम घटना भी उसी की इच्छानुसार घटती है, किन्तु लेखक ने अपने पूर्वनिश्चित विधानानुकूल उसको और कुमारगिरि को समतुल्य धरातल पर रख दिया है। इससे पाठक के प्रभाव-ग्रहण और लेखक के दृष्टिकोण में व्याघात उत्पन्न हो गया है। इससे

१. पृ० १७७। २. पृ० २८। ३. पृ० २९। ४. पृ० ६६।

'चित्रलेखा' का 'उपसंहार' शेष उपन्यास का स्वाभाविक निष्कर्ष नहीं, विच्छिन्न-आरोपित प्रतीत होता है। परिणामतः उपन्यास का अन्त प्रभावहीन है। यदि लेखक अन्त में ज्ञानोपदेश की योजना से बचकर पाठकों को स्वयं संकेत-ग्रहण की छूट देता, तो 'चित्रलेखा' की कलात्मकता अक्षुण्ण रहती और उपन्यास की प्रश्नता-प्रवृत्ति भी अकुण्ठित। लेखक को चाहे 'चित्रलेखा' का अन्य उद्देश्य अभीष्ट हो, पाठक इसमें योग की विरक्त-विरस एवं अव्यावहारिक साधना के स्थान पर हृदय की अनुरक्त-सरस एवं सांसारिक साधना की विजय की व्यंजना ही ग्रहण करता है। यहाँ 'साधना' शब्द साभिप्राय है, क्योंकि बीजगुप्त पंकिलता में पंकज है—भोग-लिप्त बीजगुप्त समयानुसार सर्वस्व त्याग की ऊर्ध्वमुखी साधना का परिचय दे सका है।

इस बात का उल्लेख किया जा चुका है कि 'चित्रलेखा' के विचार-भार को कथानक की रोचकता हल्का कर देती है। इस रोचकता के लिए 'चित्रलेखा' का योजित-गठित तथा सरल-सुन्दर कथा-विन्यास उत्तरदायी है। चित्रलेखा' की 'उपक्रमणिका' में ही लेखक ने रत्नाम्बर की योजनानुसार उपन्यास के घटना-चक्र को प्रतिलोमी बिंदुओं—भोगी बीजगुप्त तथा योगी कुमारगिरि—में केन्द्रित कर दिया है। तीसरा मध्य बिन्दु है चित्रलेखा, जो शृंगारिक त्रिकोण को पूरा कर कथानक को गाढ़बद्ध कर देता है चित्रलेखा की सर्जना भोग-योग के इन परस्पर-विपरीत प्रतीक-पात्रों के शीलोद्घाटन के निमित्त हुई है। प्रेम की एकनिष्ठ स्थिर स्थिति से वासना एवं रूप-दर्प की चंचल प्रकृति की ओर बढ़कर वह दोनों पात्रों को आंदोलित कर देती है। किन्तु यह उल्लेखनीय है कि वह दोनों के चरित्रोद्घाटन का साधन ही बन कर नहीं रह जाती, उसकी अपनी विचित्र चरित्र-गति का आकर्षक एवं सजीव साक्षात्कार भी होता रहता है। अतएव उपन्यास की समस्या प्रस्तुत करने वाले इन दोनों परस्पर विरोधी पात्रों के दुर्निवार आकर्षण एवं उनके गुणावगुण के अनावरण की आधार, वस्तु-विन्यास की केन्द्र, इस विदुषी-नर्तकी चित्रलेखा के नाम पर उपन्यास का नामकरण हुआ है। यदि ध्येय-व्यंजना तथा संवेदना-प्रेषण की दृष्टि से विचार किया जाए, तो इस उपन्यास का नाम बीजगुप्त पर होना चाहिए था। वस्तुतः उपन्यास का सम्मोहन चित्रलेखा में है, सार्थकता बीजगुप्त में।

बीजगुप्त, यशोधरा और श्वेतांक को लेकर एक अन्य शृंगारिक त्रिकोण का क्षीण आभास भी मिलता है किन्तु वास्तव में इसकी सार्थकता बीजगुप्त की प्रेम-निष्ठा के निकष-रूप में, शीलोद्घाटन के लिए, नई परिस्थितियों की सर्जना में है। दूसरे, यशोधरा एवं बीजगुप्त के सम्बन्ध-सूत्र के आधार पर ही कुमारगिरि चित्रलेखा को छलने में सफल हुआ है, फलतः वह अपने और उसके पतन का उत्तरदायी है। इस तरह यशोधरा एवं श्वेतांक का कथा-सूत्र प्रासंगिक है, जो मुख्य कथानक में महत्वपूर्ण

मोड़ों की सृष्टि कर उसे गति देने में समर्थ हुआ है। अतएव वह औपन्यासिक विधान से पूर्णतया सम्बद्ध है।

'चित्रलेखा' का वस्तु-विन्यास पूर्वनिर्धारित होता हुआ भी, केवल अन्त एवं कुछ एक स्थलों को छोड़ कर, यांत्रिकता एवं कृत्रिमता से मुक्त है। इसके विपरीत, योजनाबद्धता से विषयैक्य, चुस्ती एवं सौष्ठव की लब्धि हुई है। कथानक के सरल-तरल प्रवाह में पाठकों को तिरा ले चलने की शक्ति है। "प्रकृति का नियम परिवर्तन है"—चित्रलेखा तथा कुछ सीमा तक बीजगुप्त को मान्य इस सिद्धांत—के अनुसार वर्माजी ने चित्रलेखा एवं बीजगुप्त के प्रेम की स्थिरता को अनेक परिवर्तित परिस्थितियों की कसौटी पर कसा है। इससे पात्रों के प्राकृतिक स्वभाव तथा परिस्थितियों के द्वन्द्व से कथा सहज रूप से विकसित होती रही है—परिस्थितियों का प्रभाव पात्रों के स्वभाव को आंदोलित करता रहा है और पात्रों का स्वभाव तथा नई ग्रंथियाँ नई परिस्थितियों की सर्जना करती रही हैं। परिस्थितियों के नानात्व में पात्रों के क्रिया-प्रतिक्रियाएँ प्रायः निश्चित नहीं हो पातीं और उनकी व्यावहारिक मनोविज्ञान-सम्मत विविध सम्भावनाएँ कथा में चंचल मोड़ों की सृष्टि कर पाठकों की उत्सुकता को बाँधे रखती हैं। चित्रलेखा एवं कुमारगिरि के किंचित् चरित्र-विश्लेषण से पात्रों का प्रेरणाओं सहित 'विचित्र' व्यवहार, तथा कथा-मोड़ों से जनित गम्भीर रोचकता को देखा जा सकता है। चन्द्रगुप्त की राज्य-सभा में युवकयोगी कुमारगिरि को तर्क एवं उदारता में परास्त कर चित्रलेखा स्वयं भी उसके तेजोमय रूप से पराजित हो जाती है। अपने एकनिष्ठ प्रेमी बीजगुप्त को छोड़ वह विराग के मार्ग पर चलने के लिए योगी से दीक्षा लेने की प्रार्थी बनती है, किन्तु मन-ही-मन पल रही उसकी रूप की अहंमन्यता एक इन्द्रियजित को परास्त करने की प्रतिहिंसा से प्रेरित हो उठती है। वह विराग की बजाय अनुराग से योगी को विचलित कर देती है। योगी के बार-बार कहने और बीजगुप्त की अनुनय पर भी वह योगी का साथ नहीं छोड़ती। किन्तु जब योगी भ्रष्ट होकर उसका प्रार्थी बनता है, तब वह हँस कर कहती है—"मैं जानती हूँ तुम मुझ से प्रेम करते हो, पर मैं तुम से प्रेम नहीं करती! ···पुरुष का प्रेम आधिपत्य जमाना है, स्त्री का प्रेम अपने को पुरुष के हाथ में सौंप देना है। पर यहाँ बात दूसरी है। यहाँ मैं स्वामिनी हूँ, तुम दास हो। मैंने तुम पर आधिपत्य जमा लिया है, तुमने आत्म-समर्पण कर दिया है। किस बल पर तुम मेरा प्रेम चाहते हो?"[1] और चित्रलेखा बीजगुप्त की ओर पुनः लौट जाने के लिए तत्पर हो जाती है। किन्तु उसकी यह कामना पूरी नहीं हो पाती। क्यों? इसका उत्तर चित्रलेखा के विचित्र आचरण की प्रतिक्रिया में योगी के मानस-द्वन्द्व के निम्न

१. पृ० १४६।

विश्लेषित चित्र से मिलेगा—"कुमारगिरि को चित्रलेखा के व्यवहार पर आश्चर्य हुआ। चित्रलेखा उसके पास आने को इतनी उत्सुक थी, वह चित्रलेखा की ओर आकर्षित न हुआ था; किन्तु चित्रलेखा ही उसकी ओर आकर्षित हुई थी। फिर चित्रलेखा में यह परिवर्तन क्यों हुआ ?

"कुमारगिरि को चित्रलेखा के व्यवहार से अधिक आश्चर्य अपने व्यवहार पर हुआ। उसने चित्रलेखा को अपने से दूर रखने का भरसक प्रयत्न किया था। फिर उसने क्यों चित्रलेखा को स्वीकार कर लिया था ? क्या इसलिए कि वह अपने ही अविश्वास को दूर करना चाहता था ? कुमारगिरि का क्षेत्र विजय था—पराजय की भावना उसके लिए नई थी। शायद कुमारगिरि को अपनी कमज़ोरी का पता था, उसी कमज़ोरी को दूर करने के लिए ही उसने चित्रलेखा को स्वीकार किया था। उसने प्रयोग किया, वह असफल रहा। असफलता भी कितनी भयानक थी ! वह अपने से तो हारा ही, वह हारा एक साधारण नर्तकी से—स्वयं अपने से पराजित होने पर उसे दुःख हुआ था, पर उस दुःख की भावना को नर्तकी से पराजित होने पर क्रोध की भावना ने दबा दिया। कुमारगिरि कह उठा—"नहीं, नर्तकी चित्रलेखा को वश में करना ही होगा। पर किस प्रकार ?

"चित्रलेखा मुझसे क्यों प्रेम नहीं कर सकती ?"—कुमारगिरि के मन में प्रश्न उठा—"शायद इसलिए कि वह एक व्यक्ति से प्रेम करती है। यदि चित्रलेखा बीजगुप्त से प्रेम करना छोड़ दे तो सम्भव है, नहीं निश्चय है कि वह मुझे आत्म-समर्पण कर दे। बीजगुप्त को चित्रलेखा के मार्ग से हटाना होगा।"[१] अतएव योगी ने "प्रतिहिंसा की भावना से प्रेरित होकर वापस लौटती चित्रलेखा को बीजगुप्त और यशोधरा के विवाह की मिथ्या सूचना देकर छल से अपने प्रति आकर्षित करने की परिस्थिति उत्पन्न कर दी—क्योंकि "जिस स्त्री से वह पराजित हुए थे, उसको पराजित करना ही उनका उद्देश्य था।"[२] फलतः एक-दूसरे को पतित करने के प्रयत्न में दोनों पतित होते हैं। चित्रलेखा को छल की स्थिति तथा अपने रूप-दर्प एवं वासना की छलना दोनों स्पष्ट हो जाती हैं और वह आत्मग्लानि से पीड़ित पुनः अपने स्थान को लौट जाती है। आगे वह सर्वस्व त्यागी, प्रेम-भिखारी बीजगुप्त की पुनः प्रार्थिनी बनती है। पहले तो वह उसका तिरस्कार करता है किन्तु उसकी अनवरत तरल-कातर प्रार्थना में पश्चाताप की सचाई से अभिभूत होकर वह उसे अपने पांव से उठाकर आलिंगन करने लगता है कि चित्रलेखा अकस्मात् 'नहीं मेरे देवता'[३] कहकर पीछे हट जाती है। वह उसे बड़े आग्रह से अपने भवन में एक दिन का अतिथि बनाती है। विदाई से पहले उसे अपना चरणामृत देने की याचना करती है, ताकि वह अपने को पवित्र कर सके। उनके

व्यवहार के प्रति आश्चर्यान्वित होने के उपयुक्त मनोवैज्ञानिक क्षण में वह कुमारगिरि की वासना से अपने पतन की कथा सुनाती है और बीजगुप्त का स्थाई प्रेम अपनी उदारता में उसे क्षमा कर देता है । किन्तु यहाँ फिर चमत्कार होता है—वह उसे स्वीकार नहीं करता । वह भिखारी था और चित्रलेखा की अतुल धन-राशि को भी स्वीकार नहीं कर सकता था । इसलिए चित्रलेखा भी सर्वस्व-त्याग—केवल प्रेम का धन लिए—भिखारी बनकर उसके साथ चल देती है । वस्तुतः ऐसे लघु-लघु चमत्कार अनेक हैं । बीजगुप्त की कथा में भी उतार-चढ़ाव है । जो बीजगुप्त चित्रलेखा के प्रति अपनी प्रेम-अमरता के कारण यशोधरा के पाणिग्रहण का विधिवत् प्रस्ताव ठुकरा देता है, वही चित्रलेखा से निराश होकर—श्वेतांक की यशोधरा से विवाह-प्रार्थना की निर्मम उपेक्षा करके—यशोधरा के घर विवाह-प्रस्ताव लेकर चल पड़ता है, किन्तु मार्ग में स्वयं से उलझ-सुलझ, वह वहाँ पहुँचकर श्वेतांक की ओर से प्रस्तावक बन जाता है ।[1] और प्रस्तावक ही नहीं बनता, श्वेतांक के लिए सर्वस्व त्यागी भी बन जाता है । सारांश यह कि चित्रलेखा की कथा पर्याप्त रंजक तथा संगत है । यह भी स्पष्ट है कि वर्मा जी ने घटनाओं तथा पात्रों की व्यापार-प्रेरणाओं का स्थान-स्थान पर विश्लेषण कर कथा को संगति-स्पष्टता दी है । इस कथा-संगति के प्रसंग में अपवाद-स्वरूप, असम्भव या दुर्लभ की कोटि में आने वाले, उन दो घटना-प्रसंगों का उल्लेख आवश्यक है, जिनसे चित्रलेखा में किंचित् रोमांस के चामत्कारिक तत्व का समावेश हो गया है । इनमें से एक है कुमारगिरि के योग-बल के प्रदर्शन की घटना[2], जो चरित्राभिव्यंजक, प्रसंगानुकूल एवं विशेष चमत्कारपूर्ण है । चित्रलेखा को योगी के प्रति प्रेरित करने में भी उसकी उपयोगिता है । दूसरी घटना हिमालय के आसपास के पर्वतीय प्रदेश की है । उसकी 'आश्चर्यजनक बातें'[3] बीजगुप्त तथा रत्नाम्बर से सम्बन्धित होते हुए भी कथा-बाह्य हैं—इसलिए वे मात्र कथित हैं, प्रत्यक्ष घटित नहीं । अधिक-से-अधिक उनकी सार्थकता तत्कालीन वातावरण-निर्माण की दृष्टि से ही है। लेखक ने 'समझ में न आ सकने वाली'[4] कहकर उनकी सम्भवता-असम्भवता के प्रश्न से छुटकारा पा लिया है ।

चमत्कारपूर्ण घटनाओं के अतिरिक्त मार्मिक प्रसंगों की योजना पर भी लेखक की दृष्टि रही है । बीजगुप्त का सर्वस्व त्याग, उसकी विदाई, श्वेतांक एवं चित्रलेखा के पश्चाताप-पूत रुदन, बीजगुप्त का चित्रलेखा को कुमारगिरि की कुटी से लौटा लाने का प्रयत्न[5] आदि ऐसे ही प्रसंग हैं । सामंतीय वैभव-वलित एवं संगीत-नृत्य-कलित वातावरण में पलने वाली मादक एवं वेदनापूर्ण शृंगारिकता भी कथानक की रमणीयता

१. पृ० १७४-७८ । २. पृ०४३-४४ । ३. पृ० १०४-१०८ ।
४. पृ० १०८ । ५. पृ० ११३-११४ ।

का कारण है। इसके अतिरिक्त ,कथानक की वर्णनात्मक पद्धति के मध्य कुछ एक नाटकीय दृश्यों की योजना भी सुखद वैविध्य एवं कथानक के आकर्षक गठन की साधन बनी है। उदाहरणतया, उपक्रमणिका के बाद के पहले परिच्छेद का समारम्भ चित्रलेखा और बीजगुप्त की मादक वार्ता से करने के पश्चात् लेखक उनके आपसी प्रेम की पूर्वकथा तथा चित्रलेखा के पूर्ववृत्त को दे सका है।[1] 'उपक्रमणिका' में पाप-पुण्य की समस्या को नाटकीय विधि से प्रस्तुत करने के कारण ही उपन्यासारम्भ शुष्क नहीं होने पाया। आगे रत्नाम्बर एवं श्वेतांक को अर्धरात्रि में बीजगुप्त एवं चित्रलेखा की सम्पूर्ण विलासिता-मग्न स्थिति में लाना भी लेखक के कला-कौशल का द्योतक है।

दो विशिष्ट पात्रों के चरित्राध्ययन के आधार पर समस्या-निरूपण के कारण लेखक ने कथानक के समान चरित्र-चित्रण पर भी पर्याप्त दृष्टि दी है। उद्देश्य के योजनाबद्ध प्रतिपादन की आवश्यकतानुरूप उन्होंने गिने-चुने पात्र ही लिए हैं, अतएव एक-दो गौण पात्रों को छोड़कर वे उनकी पर्याप्त सम्भाल कर सके हैं। समस्या के योजित क्रमानुकूल इन पात्रों का वर्गीकरण इस प्रकार हो सकता है—

१. समस्या के प्रस्तुतकर्ता एवं उसके निरीक्षक-परीक्षक पात्र—विशालदेव तथा श्वेतांक।

२. लेखक का स्थानापन्न तथा समस्या का निर्णयियक पात्र—रत्नाम्बर।

३. निरीक्षण-परीक्षण के आधारभूत पात्र—बीजगुप्त, कुमारगिरि।

४. इन आधारभूत पात्रों के अध्ययन में सहायक पात्र—चित्रलेखा, यशोधरा।

५. उपन्यास के वातावरण-निर्माण में सहायक पात्र—चन्द्रगुप्त, चाणक्य।

६. शेष पूरक पात्र—सोहनपाल, मृत्युंजय आदि।

उपन्यास का समय केवल एक वर्ष है—इस निश्चित कालावधि में ही पाप-पुण्य की समस्या के लिए पात्रों का चरित्राध्ययन होता है। अतएव क्रिया-व्यापार की दृष्टि से यहाँ पात्रों के जीवन का अल्पांश ही सामने आया है। चरित्र-संगति के लिए केवल चित्रलेखा का पूर्ववृत्त दिया गया है—वह भी जन्म से नहीं, विवाहोपरांत से।[2] यह अवश्य है कि इस अल्पांश जीवन से भी पात्रों की सम्पूर्ण वास्तविकता सामने आ गई है।

यदि समस्या को सामान्य धरातल पर प्रस्तुत करना अभीष्ट हो, तो उसके लिए मानव पात्र ही अपेक्षित हैं, दानव या देवता-जैसे अति-पात्र नहीं। लेखक का दृष्टिकोण यशोधरा से मुखरित है—"प्रत्येक व्यक्ति में कमज़ोरियाँ होती हैं, मनुष्य पूर्ण नहीं।"[3] अतएव उपन्यास के आरम्भ में ही दो पात्रों पर योगी-भोगी

१. पृ० ८-१२। २. पृ० ९-१०, ६०-६२। ३. पृ० १२०।

की छाप लगा देने मात्र से उनका चरित्र यहीं समाप्त नहीं हो जाता—आत्मबल का अति मानवीय चमत्कार दिखाने वाला योगी भी यहाँ निराकार से साकार की साधना पर उतर कर स्खलित होता है और सुरा-सुन्दरी की उन्माद-मस्ती में मग्न रहने वाला भोगी भी यहाँ सर्वस्व त्याग करता है। फिर भी, इनका विकास ऐसा नहीं कि इन्हें गतिशील पात्र कहा जा सके—इनमें परिस्थितियों के कारण परिवर्तन होता है किन्तु मनःप्रवृत्ति या सांस्कारिक स्वभाव की दृढ़ता के कारण इनका प्रत्यावर्तन भी होता है। योगी अन्त में भी योगी बना रहता है, चित्रलेखा पूर्ववत् बीजगुप्त के पास लौट आती है और बीजगुप्त त्यागी होकर भी चित्रलेखा को स्वीकार कर भोगी बन जाता है—मानों सुबह के भूले शाम को घर वापस लौट आते हैं, अतएव ये स्थिर पात्र हैं। फिर भी, परिवर्तन और प्रत्यावर्तन के मध्य ये इतनी लम्बी यात्रा करते हैं कि इनका प्रभाव स्थिर-पात्रों-जैसा नहीं पड़ता। इसका एक कारण और भी है। इनकी अन्तिम स्थिति को देखकर यह कैसे मान लिया जाए कि इनके चरित्र में परिस्थिति-निरपेक्ष संस्कारों की विजय हुई है? यह भी तो कहा जा सकता है कि परिस्थिति के परिवर्तन के पश्चात् ये भी स्थिर हो गए। यदि चित्रलेखा न चली जाती, तो क्या कुमारगिरि योगी बना रह सकता? यदि अन्त में बीजगुप्त को चित्रलेखा न मिलती, तो क्या वह किसी नारी को साथ ले सकता? इसी तरह छल की स्थिति स्पष्ट होने के पश्चात ही चित्रलेखा प्रत्यावर्तित हुई, अन्यथा वह तो कुमारगिरि को अपना चुकी थी। वस्तुतः पात्रों की यह मध्यवर्ती स्थिति लेखक के उस दृष्टिकोण का फल है, जिसके अनुसार वह एक ओर मनुष्य के कर्मों को उनके 'प्राकृतिक स्वभाव' के अनुकूल बनाता है और दूसरी ओर उन्हें परिस्थितियों का दास।[1]

'चित्रलेखा' के पात्र न मनोविश्लेषणात्मक उपन्यासों के समान जटिल हैं, न प्रेमचन्द या प्रेमचन्द-पूर्व युगीन उपन्यासों के समान सरल—इनकी स्थिति मध्यवर्ती है। इनमें से भी चरित्र-जटिलता अपेक्षाकृत चित्रलेखा में ही अधिक है। इसी तरह ये प्रतीक होते हुए भी व्यक्ति-पात्र हैं, किन्तु ये व्यक्तित्व चित्रलेखा[2] और बीजगुप्त में ही अधिक प्रकट हैं, योगी में नहीं। श्वेतांक सरल-पात्र है।

पात्रों का बाह्य चित्रण केवल दो पक्षों में मिलता है—एक उनके नामों में, दूसरे अनुभावों में। यह आश्चर्य की बात है कि वैभव-विलास के वातावरण में पात्रों की रूप-लुब्धता के आधार पर कथा का विकास दिखाते हुए और सभी प्रमुख पात्रों के रूप-सौन्दर्य की बार-बार चर्चा करते हुए भी लेखक ने रूप-चित्रण नहीं किया। अधिक-से-अधिक वह इतना ही कर सका है—"यशोधरा सुन्दरी थी, और सुन्दरी भी उच्च कोटि की। उसके शान्त मुख-मण्डल पर भोलापन अपना आधिपत्य जमाए हुए था,

१. पृ० १९०। २. पृ० ११६।

उसकी हँसी की सुरीली झंकार में यौवन से पराजित बचपन ने शरण ले ली थी। हरिणी की-सी बड़ी-बड़ी सुन्दर आँखों में संकोच था और उसके रसयुक्त अरुण कपोलों में लज्जा थी। यशोधरा का यौवन सुधा और उल्लास का मिश्रण था, उसमें गर्व की उच्छृंखलता न थी, उसमें लज्जा की शान्ति थी।"[1] और यह उसके लिए पर्याप्त सिद्ध हुआ है क्योंकि चित्रलेखा के प्रगल्भ तीखे व्यक्तित्व से यह स्पष्ट भिन्नता रखता है। वस्तुतः लेखक की दृष्टि सम्पूर्ण रूप-चित्रण पर नहीं केवल मुख पर, और उसमें भी उसकी बनावट पर नहीं, मुख-विकारों (फैशियल एक्सप्रेशन्ज)—लेखक के शब्दों में 'मुखांकित भावों'—पर रही है। 'चित्रलेखा' के पात्र इन्हीं का अध्ययन कर पात्रों के भीतरी, वास्तविक रहस्यों तक पहुँचते और इनका कथागत उपयोग भी करते हैं। चित्रलेखा कुमारगिरि के प्रति आकर्षित होकर धीरे-धीरे बीजगुप्त से दूर हो रही है किन्तु वह इसे स्वीकार नहीं करती प्रत्युत् बीजगुप्त को मिथ्या आश्वासन देती रहती है। फिर भी अनुभवी बीजगुप्त उसकी वास्तविक स्थिति से भिज्ञ है—उसके मुख-अध्ययन में प्रवीण[2] - किन्तु सरल श्वेतांक अनभिज्ञ। इसलिए जब चन्द्रगुप्त की राज्यसभा में कुमारगिरि को हराकर चित्रलेखा स्वयं भी हृदय खो बैठती है, तब बीजगुप्त श्वेतांक से कहता है—"आज तुम चित्रलेखा को बधाई देने जाओ, और उसके मुखांकित भावों का अध्ययन करो।"[3] और चित्रलेखा जब बधाई पाती है, तो "उसका मुख जो कुछ क्षण पहले उल्लास से चमक रहा था, बिल्कुल पीला पड़ गया था। यौवन की उमंग में छिपी हुई यह विषाद की झलक श्वेतांक ने प्रथम बार देखी थी—"वह इसका अर्थ नहीं समझ सका। सुन्दर मुख का प्रत्येक भाव-परिवर्तन सुन्दर होता है; विषाद का पीलापन लिए हुए वह वेश भी श्वेतांक को बड़ा मोहक लगा और विशेषतः इसलिए कि उसके पीले मुख पर सहस्र दीप-शिखाओं का प्रकाश पड़ रहा था।"[4] श्वेतांक-जैसा सरल पात्र कुछ पाने की बजाय पकड़ा जाता है—वह 'चित्रलेखा' के पास अपने भेजे जाने के छिपे अभिप्राय को चाहे मुख द्वारा कुछ न कहे, किन्तु उसके मुख से चित्रलेखा सब पढ़ लेती है। वह उसके अपने प्रति बढ़ते अनुराग को और अधिक भुलावा देने के लिए सुरा पिलाकर उससे अपना उल्लू सीधा करने में सफल हो जाती है।[5] बीजगुप्त भी अनेक स्थलों पर श्वेतांक के मुख से इंगित पाकर अपनी प्रतिक्रियाएँ व्यक्त करता है। यही नहीं उनके जीवन की तात्कालिक गति के निर्धारण में भी इस अध्ययन का परिपूर्ण उपयोग हुआ है, यथा—"सम्भवतः वह यशोधरा को अपना भी लेता, यदि उस दिन श्वेतांक की मुखांकित भावनाओं ने उसको सावधान न कर दिया होता।"[6] चित्रलेखा-जैसी पात्र अपने कथन ही नहीं मुख

---

१. पृ० ७२-७६। २. पृ० ३५। ३. पृ० ५८। ४. पृ० ६०। ५. पृ० ६३।

के भाव-परिवर्तन से भी पात्रों को छकाने या परिस्थिति को सम्भालने में दक्ष है, अतएव वह 'लोकव्यवहार में बहुत कुशल' होने का सम्मान पाती है।[१] इन मुख-इंगितों के अचूक-प्रचुर चित्रण से पात्रों के कथन एवं क्रिया-प्रतिक्रियाएँ स्वाभाविक बन गई हैं।

मुखांकित भावों के चित्रण के अतिरिक्त पात्रों के नयनों के भाव-विनिमय[२], तथा पात्रों की मुस्कराहट और नेत्र दोनों ने मिलकर यहाँ पात्रों के पारस्परिक मोहन, तापन तथा उन्मादन[३] की प्रचुर सामग्री प्रस्तुत की है; देखिए—"बीजगुप्त ने यशोधरा को देखा, वह मुस्करा रही थी। यशोधरा की उस दिन की मुस्कराहट में एक ऐन्द्र-जालिक छवि थी, आज प्रथम बार बीजगुप्त ने यशोधरा के सौन्दर्य की सुधा के वास्तविक रूप को देखा और काफ़ी देर तक उसको देखता रहा। उस समय यशोधरा भी एक टक बीजगुप्त को देख रही थी। मृत्युंजय उस समय बाहर देखने लगे। श्वेतांक को यह घटना असह्य हो गई···।"[४] यहाँ लड़की के पिता का बाहर देखना मर्यादापूर्ण तथा प्रतिस्पर्धी पात्र का जल उठना स्वाभाविक है। अन्यत्र श्वेतांक तथा यशोधरा का दृष्टि-विनिमय, उस पर बीजगुप्त की वचन-प्रतिक्रिया तथा तदनुकूल उनकी लज्जाग्लानि की व्यंजना नेत्रों से हुई है। माधुर्य बिखेरने वाले यही नेत्र विपरीत मनःस्थिति में जलने लगते हैं—उनसे घृणा, क्षोभ और ग्लानि के सम्मिश्रित भावों का सम्प्रेषण होने लगता है।[५] पात्रों की मुस्कराहट कहीं व्यंग्य से तीखा वार[६] करती है, कहीं क्रोध से विचलित, कहीं माधुर्य से आप्लावित[७] और कहीं-कहीं मात्र औपचारिक होकर रह जाती है। जहाँ मुस्कराहट और दृष्टि से काम नहीं चलता, वहाँ पात्र हाथ की स्पर्श-संवेदना का उपयोग करते हैं।[८]

'चित्रलेखा' में पात्रों के नाम उनके उपन्यास में प्रवेश करते समय की चरित्र-स्थिति के द्योतक हैं। "ये पात्रों के चरित्र की किसी उभरी हुई विशेषता को व्यंजित करते हैं।···आरम्भ का योगी कुमारगिरि जो कौमार्य में गिरि के समान उन्नत और

---

१. पृ० ७८।

2. John Cohen: "The Senses as Social Organs", 'Humanistic Psychology', p. 73.

"With the eyes we can carry on a two-way communication. We can transmit as well as receive messages. The meaning of two eyes may ignite a love spark or establish a mutual hostility."

३. पृ० २३। इस दृष्टि से समग्र छठवाँ परिच्छेद भी दर्शनीय है।

४. पृ० १५१।

५. पृ० ५०, १५१। ६. पृ० ६४, १४३। ७. पृ० ५०, १५१।

८. पृ० २६, ५४, ५६, ६३, १३६।

अडिग था···बाद में वासना का गुलाम बन जाता है। इसी प्रकार बीजगुप्त जो पहले बीज-प्रकृति का उपासक था, ईश्वर के बारे में जिसने कभी सोचा नहीं था तथा कोई आमोद और प्रमोद ही जिसके जीवन का लक्ष्य था, बाद में भोगी से योगी हो जाता है।···श्वेतांक भी जिसका हृदय उपन्यास के आरम्भ में एक ऐसी साफ-सुथरी स्लेट के समान था, जिसपर कभी कोई संस्कार रूपी अक्षर नहीं बने थे—यदि थे तो केवल श्वेत अंक ही—"जो तब अबोध था, संसार में उसने अभी-अभी पदार्पण किया था, वही अनाड़ी उपन्यास के समाप्त होते-होते एक सफल प्रेमी के रूप में परिणत हो जाता है।"[१]

पात्रों के अन्तरंग चित्रण की दृष्टि से हम कथावस्तु के विवेचन में पात्रों की कर्म-प्रेरणाओं को देख चुके हैं। 'चित्रलेखा' का पूर्ववृत्त भी इसलिए दिया गया है, ताकि उसके आगे की जीवन-गति तथा प्रेम-विकास के स्वरूप को समझा जा सके।[२] इससे उसके चरित्र को संगति मिल गई है। 'चित्रलेखा' में पात्रों के अन्तःसंघर्ष की मात्रा सामान्य है—न अधिक, न कम किन्तु अपने पूर्ववर्ती उपन्यासकारों से अवश्य अधिक है। इन अन्तर्द्वन्द्वों के चित्रण के अनेक रूप मिलते हैं। चार-पांच स्थलों पर लेखक इनकी सूचना[३] देकर रह गया है—कहीं उनके पात्र रात-भर सो नहीं पाते, कहीं दुःस्वप्न देखते हैं, कहीं मनोभावों को दबाने में सफल होते हैं, कहीं अपने भीतर बहुत तर्क-वितर्क के पश्चात् सुलझ जाते हैं और कहीं एक-के-बाद-एक, अनेक विचार उनके मस्तिष्क में उठते और लोप होते रहते हैं।" कहीं-कहीं ये बड़ी कुशलता से व्यंजित है; यथा, कुमारगिरि चित्रलेखा के आग्रह पर भी उसे दीक्षा न दे सकने की असमर्थता प्रकट करने के लिए भाषण दे रहा होता है कि विशालदेव के आने से भाषण को बीच में ही रोककर निर्णय बदल देता है। विशालदेव के सामने एक बार योगी की दुर्बलता प्रकट हो चुकी थी, इसलिए उसे देखते ही उस पर विजय-प्राप्ति की चुनौती से प्रेरित होकर वह असाधारण चित्रलेखा को दीक्षा देना स्वीकार कर लेता है।[४] श्वेतांक की अन्तर्द्वन्द्वपूर्ण स्थितियों की व्यंजना का आधार उसकी दोहरी कर्त्तव्य-भावना है। वह बीजगुप्त का सेवक भी है, गुरु भाई भी। वह कभी सेवकत्व से प्रेरित रहता है, कभी सहज मानवीयता से। इसी तरह बीजगुप्त के नाते वह चित्रलेखा का सेवक भी है, किन्तु उससे प्यार भी करता है। उसके कथन इस द्वन्द्व को ध्वनित करते रहते हैं।[५] तीन-चार स्थलों पर विभिन्न पात्रों में अन्तर्द्वन्द चार-पाँच पंक्तियों तक सीमित हैं।[६] एक या डेढ़-दो पृष्ठों के अपेक्षाकृत दीर्घ अन्तर्द्वन्द्व

१. डॉ० रणवीर रांग्रा : "हिन्दी-उपन्यास में चरित्र-चित्रण का विकास", पृ० १५७।
२. पृ० ६-१०, ६०-६२। ३. पृ० ११८, १४२, १२५, २२-२३, १०३।

आठ-नौ है।[१] इनमें चार लेखकीय विवरण के रूप में है, एक नाटकीय स्वगत कथनों की-सी वार्तालाप शैली में[२], और तीन ऐसे भी हैं जिनके बीच-बीच में पाठकों को पात्रों के मन का सीधा सत्क्षात्कार भी हो जाता है।[३] इन तीनों में से एक अन्तर्द्वन्द्व बीजगुप्त का है, जो श्वेतांक की तरह दोहरे कर्तव्य से युक्त है। वह श्वेतांक का स्वामी भी है, गुरुभाई भी, उसके स्वामित्व की अधिकार-भावना तथा भ्रातृ-भाव-कातरता ने ही इस मनोवैज्ञानिक प्रसंग की सृष्टि की है।

पात्रों का चरित्र-चित्रण प्रत्यक्ष तथा नाटकीय दोनों शैलियों से किया गया है। 'चित्रलेखा' में लेखक पात्रों के सम्बन्ध में आवश्यकता से अधिक मुखरित हुआ है। उसे जैसे पाठकों की ग्राहक कल्पना पर विश्वास नहीं। इस दृष्टि से वह प्रेमचन्द युगीन लेखकों से भिन्न प्रकृति का नहीं। कहीं-कहीं तो उसने एक पृष्ठ में किसी पात्र का परिचय दिया है।[४] कहीं लम्बे-लम्बे दार्शनिक सिद्धान्तों के व्यक्तिकरण से पात्रों के भावी आचरण की पूर्व-सूचना दी है[५] और कहीं उनकी दीर्घ व्याख्याएँ दी हैं।[६] इनके अतिरिक्त लेखक ने स्थान-स्थान पर पात्रों के सम्बन्ध में अपनी लघु-लघु आलोचनात्मक टिप्पणियाँ दी हैं।[७] इनसे पात्रों को अपनी धारणा बनाने का अवसर नहीं मिलता। लेखक ने पात्रों के चरित्र-व्यक्त नाटकीय साधनों का भी प्रचुर आश्रय लिया है। 'चित्रलेखा' के पात्र अपनी जीवन-घटनाओं में व्यक्त हैं। योगी कुमारगिरि का भोगी और बीजगुप्त का त्यागी बनना वैचारिक धरातल पर नहीं, घटनाओं में परिव्यक्त होकर ही प्रामाणिक बना है। चन्द्रगुप्त की राज्यसभा में चित्रलेखा की योगी पर विजय उसके शक्तिशाली एवं तर्क-प्रवीण व्यक्तित्व को प्रभावात्मक रूप में सामने लाने में समर्थ हुई। घटनाओं के अतिरिक्त पात्रों ने एक दूसरे के सम्बन्ध में स्थान-स्थान पर प्रायः निश्छल प्रतिक्रियाएँ व्यक्त की हैं। जो भ्रामक हैं, उनका ज्ञान पाठकों को सहज ही हो जाता है। पात्रों की प्रतिक्रियाओं में चरित्र का व्यक्तिकरण दो रूपों में हुआ है—पहला, पात्र प्रसंगवश सहज रूप में आलोच्य पात्र के सामने ही अपने भावोद्गारों में फूट पड़ते हैं,[८] या उनके पीछे किसी अन्य पात्र से अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करते हैं[९]; यथा, यशोधरा, श्वेतांक से बीजगुप्त एवं चित्रलेखा के सम्बन्ध में उसकी राय पूछती है।[१०] उपर्युक्त दोनों विधियों के उदाहरण-रूप में बीजगुप्त को लें तो वह चित्रलेखा, मृत्युंजय और चन्द्रगुप्त तीनों के अनुसार 'मनुष्य

---

१. पृ० ४७-४८, ६८-६६, ११२, ११७-१८, १४०-४१, १५६-५८, १६४, १७६-७७। २. पृ० १४०-१४१। ३. पृ० १७६-७७, ४७-४८।
४. पृ० १६-१७। ५. पृ० ६७, ११७। ६. पृ० ११०-११, १३५।
७. पृ० ३१-३३,-५०। ८. पृ० ११४, ११६। ६. पृ० ५८। १०. पृ० १००।

नहीं देवता है;"[1] श्वेतांक की दृष्टि से संसार के सर्वश्रेष्ठ मनुष्यों में गणनीय;[2] यशोधरा के शब्दों में विचित्र प्रतिभा-सम्पन्न, तर्क-प्रवीण,[3] एवं उच्च चरित्रवान है। ये बड़े-बड़े विशेषण ही पर्याप्त प्रमाण हैं कि उपन्यास के मूल उद्देश्य के ध्वनन का आधार उसीका चरित्र है। पाठकों की धारणा बनाने में उपन्यास के निष्पक्ष पात्रों की सहज-सम्मतियों का बड़ा योग रहता है और उनकी उपेक्षा नहीं की जा सकती—उस स्थिति में और भी जबकि सब घटनाएँ उनका अनुमोदन करती हों। इसके अतिरिक्त अपने उद्देश्यानुकुल लेखक ने बीजगुप्त तथा कुमारगिरि को परस्पर विपरीत गुण देकर अज्ञात रूप से चरित्र-चित्रण की तुलनात्मक व्यतिरेक पद्धति का उपयोग किया है, जिससे बीजगुप्त की महिमा तथा कुमारगिरि की मलिनता और भी उजागर हुई है।

कुछ स्थलों पर पात्र अपने निश्छल क्षणों में आत्मालोचना से अपना चरित्र भी कह जाते हैं। श्वेतांक के निम्न उद्गार में उसके मानसिक संघर्ष का मूल कारण ही स्पष्ट नहीं हुआ, यह भी स्पष्ट हुआ है कि वह सरल होते हुए भी अपना यत्किंचित् व्यक्तित्व रखता है—"मुझे ही लो; मैं आर्य बीजगुप्त का सेवक हूँ। उनकी आज्ञा ही मेरी इच्छा है—मेरा कर्तव्य है। मुझ में भी व्यक्तित्व है। पर वह व्यक्तित्व किस काम का ? मैं पराधीन हूँ। कभी विरोध की स्वाभाविक आग मेरे उर को प्रज्ज्वलित कर देती है। उस समय उस विरोध की आग को प्रकट करके कलह उत्पन्न कर लेना उचित होगा या उसको दबाकर कर्तव्यरत हो जाना उचित होगा, इसका उत्तर स्पष्ट है।"[4]

तीन स्थलों पर पत्र-शैली[5] का उपयोग भी हुआ है, किन्तु पत्र-शिल्प एक ही स्थान पर मिलता है। चरित्र-व्यंजकता की दृष्टि से उसे लेखक ने 'मनोविज्ञान का एक सम्पूर्ण ग्रन्थ'[6] कहा है।

चित्रलेखा में कथा-प्रवाह के सहज क्रम में आये देशकाल के तत्व—इतिहास के क्षीण आवरण—ने उसे यथार्थता दी है तथा तत्कालीन वैभव-विलास के मादक वातावरण ने रोचकता-वर्द्धन में योग। पात्रों के भावोद्दीपन तथा तर्क-वितर्क के नए विषय प्रस्तुत करने के लिए प्राकृतिक पृष्ठभूमि से भी सहायता ली गई है। इनसे पात्रों की तात्कालिक मनःस्थिति भी व्यंजित हुई है।[7]

'चित्रलेखा' में वर्णन के साथ पात्रों की वार्ता का सानुपातिक संयोग हुआ है। समग्र संवादों का अर्द्धांश से कुछ अधिक भाग विचार-प्रकाशन का साधन है; किन्तु यह स्पष्ट किया जा चुका है कि इनका महत्व कथा-अग्रसरण, शील-प्रकाशन तथा

---

१. पृ० ११४, १८०, १८५। २. पृ० १००। ३. पृ० १५४।

तर्क-वितर्क का अपना सौन्दर्य प्रस्तुत करने में भी है। जिन स्थलों पर अधिक विचारों का प्रकाशन अभीष्ट नहीं, वहाँ के संवाद संक्षिप्त, चुस्त, नाटकीय, मन:स्थिति-व्यंजक[१] तथा सरस हैं। पात्रों की भावुक वार्ता का एक साक्षप्ताश लीजिए—

बीजगुप्त ने चित्रलेखा को आलिंगनपाश में लेकर कहा—"तुम मेरी मादकता हो।"

चित्रलेखा ने उत्तर दिया—"और तुम मेरे उन्माद हो"।[२]

वस्तुतः संवादों और भाषा-शैली में नाटककार तथा कवि भगवतीचरण वर्मा ने मिलकर उपन्यासकार की सफल सहायता की है। किन्तु पात्रों के मन:चिन्तन को भी जहाँ नाटक के स्वगत कथन-सा बना दिया जाता है, वहाँ नाटककार का हस्तक्षेप अनुचित लगता है।[३]

'चित्रलेखा' के पात्र कहीं मनोवैज्ञानिक कारणों से अपने कथनों में वह बात भी कह जाते हैं, जो वे नहीं कहना चाहते[४], किन्तु कहीं-कहीं वह अपने कथनों से प्रतिपात्रों को छकाते या उनको 'धोखा' देते रहते हैं। व्यवहारकुशल चित्रलेखा के कुछ कथन इसके प्रमाण हैं।[५] इसलिए डॉ० रणवीर रांग्रा ने वर्मा जी के कथोपकथनों का विवेचन 'भ्रामक' तथा 'प्रकृत' नाम से किया है।[६] ये भ्रामक कथन जहाँ पात्रों की व्यवहारशीलता और अन्तर्बाह्य विभिन्नता को व्यक्त करते हुए उनके भावों की अन्तर्धारा को व्यक्त करते हैं वहाँ दूसरे पात्रों को धोखे में रखकर ये कथा-विकास में सहायक भी होते हैं। चित्रलेखा के नारी एवं पुरुष पात्रों के स्वभाव की आपसी विषमता उनके संवादों से भी व्यंजित होती है। 'चित्रलेखा' के भ्रामक, रहस्यगर्भित वक्रतापूर्ण, तार्किक तथा काव्यमय कथनों में उसका प्रगल्भ, आकर्षक तथा असाधारण व्यक्तित्व मुखरित है, किन्तु यशोधरा के सरल, स्पष्ट तथा प्रायः कवित्वहीन कथनों में एक सरला के साधनामय व्यक्तित्व का साक्षात्कार होता रहता है।

'चित्रलेखा' की रंजकता का श्रेय वर्मा जी की भाषा-शैली को भी है। दार्शनिक विचारों तथा प्राचीन काल की पृष्ठभूमि के अनुकूल चित्रलेखा की भाषा तत्समबहुला है किन्तु वातावरण-निर्मायिक अप्रचलित शब्दों के व्यवहार से यह मुक्त है। वस्तुतः वर्मा जी जी ने भाषा की प्रवहमानता पर विशेष दृष्टि रखी है, अतएव इस भाषा में आवश्यकतानुसार यत्किंचित् अरबी-फ़ारसी के शब्दों का प्रयोग भी हो गया है। चित्रलेखा की भाषा, सामान्य काव्यमय चमत्कारों, चुस्त वाक्य-गठन तथा लयमयी प्रवहमानता

---

१. पृ० ७८-८०। २. पृ० ६। ३. पृ० १३८, १७६। ४. पृ० ७१-७२।
५. पृ० ३५-३६, ७२।
६. "हिन्दी उपन्यास में चरित्र-चित्रण का विकास", पृ० २६३-६४।

के माधुर्य से आपूर्ण है । इसके अतिरिक्त यह स्थान-स्थान पर रागपूर्ण भी है । इसमें वर्णन एवं विश्लेषण की पर्याप्त क्षमता है; अधोलिखित उदाहरण उपर्युक्त विशेषताओं को प्रमाणित करेंगे—

(क) शृंगार-गृह से उसी समय चित्रलेखा ने सभा-मण्डल में प्रवेश किया। आभूषणों की झंकार में एक प्रकार का विचित्र संगीत था। धर्म का नीरस तथा शुष्क वायुमण्डल राग से भरे सौन्दर्य की मस्ती से विकम्पित हो उठा; काँपती हुई उषा के धुँधलेपन को चीरते हुए मानों प्रातःकालीन सूर्य के अरुण-प्रकाश ने प्रवेश किया । हेमन्त के शीतल तथा शुष्क वायु में मधुमास के हलके ताप और मतवाले सौरभ का समावेश हुआ । सारा वातावरण ही बदल गया ।

(ख) चित्रलेखा हँस पड़ी । उसके मधुर हास्य में मन को मुग्ध कर देने वाला पराग था···अनुराग की दासी नर्तकी ने विराग के स्वामी योगी का सामना किया । क्रान्ति और शान्ति का मुकाबला था, जीवन और मुक्ति में होड़ थी ।

(ग) (चित्रलेखा के) वाक्य तीर की भाँति पैने तथा घातक थे, स्वर संगीत की भाँति कोमल । सौन्दर्य में कवित्व था, वासना की मस्ती में अहंकार ।[१]

(घ) उसने चित्रलेखा का शृंगार देखा, और शृंगार-भार से पुलकित सौन्दर्य देखा; उसने मदिरा देखी और मादकता देखी । उसने इच्छा का अनुभव किया, और इच्छा की मनोहरता का भी अनुभव किया । एकाएक उसके हृदय से प्रश्न उठा— "स्त्री क्या है, और सौन्दर्य क्या है ? भगवान ने इन चीज़ों की रचना क्यों की है ?"—प्रश्न अनुचित था, वर्षों की चिर-संचित विचार-धारा ने कहा—"क्या मैं अपने मार्ग से विचलित हो रहा हूँ ?"—भरपूर प्रयत्न करके उसने एकदम ही इस विचारावलि को दबा दिया ।[२]

समग्रतः, आरोपित अन्त तथा तद्साधक कुछ अन्य दोषों के बावजूद 'चित्रलेखा' की कलात्मक चारुता सम्मोहित तथा प्रश्नता कुछ आन्दोलित करती है । विषय-ऐक्य, कथा-संप्रवाह, वस्तु-सुविन्यास, वासना-मदिर एवं वेदना-मधुर वातावरण, सजीव पात्र-सर्जना, तथा समर्थ-सुन्दर भाषा इसकी कलात्मकता के उपकरण हैं ।

स्थूल रूप से प्रेमचन्द-युग की काल-सीमा के भीतर होते हुए भी 'चित्रलेखा' प्रेमचन्दोत्तर युग में सम्मानित होता रहा है । विषय में प्रश्नता-प्रवृत्ति के आंदोलित करने वाले तत्व का समावेश, विषय-निर्वाह में व्यावहारिक मनोवैज्ञानिकता का अपेक्षाकृत अधिक विनियोग तथा प्रेमचन्दीय शिल्प के परिष्कार-संवार की विशेषताएँ इसे प्रेमचन्दोत्तार युग के प्रवर्तनकारी उपन्यासों में स्थान देने का अनुरोध करती हैं ।

बया का घोंसला और साँप

'बया का घोंसला और साँप' (१९५३) डॉ० लक्ष्मीनारायण लाल का दूसरा उपन्यास है। उनका पहला उपन्यास 'धरती की आँखें' (१९५१) बड़े आकार का था किन्तु यह १९५ पृष्ठों का लघु-उपन्यास है। प्रवृत्ति की दृष्टि से, पहले उपन्यास की रोमानी प्रकृति की अपेक्षा यह कहीं अधिक यथार्थ धरातल पर अधिष्ठित है। ग्राम-चित्रण की प्रवृत्ति भी इस उपन्यास में बढ़ गई है। आलोचकों ने इस उपन्यास के सम्बन्ध में तीन प्रकार के मत व्यक्त किए हैं—कुछ आलोचक, ग्राम-चित्रण तथा आदर्शोन्मुख यथार्थवादिता के कारण इसे प्रेमचन्द की उपन्यास-परम्परा में रखते हैं और इसे आँचलिक उपन्यास कहने के सम्बन्ध में मौन हैं;[1] दूसरे इसे स्पष्टतया आँचलिक उपन्यासों के वर्ग में रखते हैं;[2] तीसरे इसे 'व्यक्तिवादी'[3] उपन्यासों में स्थान देते हैं।[3] हमारे विचार में यह समस्यामूलक उपन्यास है और इसे प्रेमचन्द के उपन्यासों की तरह उद्देश्यप्रधान उपन्यासों के वर्ग में रखना उचित है। निस्संदेह प्रेमचन्द के उपन्यासों से इसमें आँचलिक उपन्यासों की विशेषताएँ अधिक हैं किन्तु इतनी नहीं कि इसे आँचलिक उपन्यास मान लिया जाए। 'मैला आँचल', 'परती : परिकथा', 'बहती गंगा', 'बाबा बटेसरनाथ' आदि उपन्यासों को ध्यान में रखने से इस उपन्यास की आँचलिक सीमा अधिक सामने आ सकती है। उपन्यास पढ़ जाने के बाद पाठक के मन पर अँचलीय विशिष्टता की छाप नहीं लगती, नारी-दुर्दशा की संवेदनानुभूति जगती है। यहाँ नारी-दुर्दशा के संदर्भ में ग्राम-विकृति का अंकन है, ग्राम-चित्रण के संदर्भ में नारी-समस्या का निरूपण नहीं। इस एक समस्या की विषय-सीमा के कारण यहाँ वातावरण-चित्रण भी परिसीमित हो गया है। 'मैला आँचल' के विपरीत लेखक की चयन-कुशल दृष्टि ने ग्राम-चित्रण को निर्धारित किया है—उसने मुख्यतः पुरुषों द्वारा परवश नारी के अबलात्व पर अत्याचार की परिस्थितियों का चयन किया है। यहाँ दो गाँवों के अतिरिक्त दो कस्बों को भी लिया गया है, किन्तु उनमें से केवल एक रामनगर का, एक ही स्थान पर, एकत्र वर्णन है किन्तु उसका भी उपयोग नहीं हुआ। यहाँ आँचलिक उपन्यास के समूह-चरित्र का अंकन

१. (क) उपेन्द्रनाथ अश्क : "रेखाएँ और चित्र", पृ० ९८।
(ख) डॉ० रघुवंश : "आलोचना", संख्या ८, पृ० ११०।
(ग) डॉ० शिवनारायण श्रीवास्तव : "हिन्दी उपन्यास", पृ० ४०९।
२. (क) डॉ० गणेशन : "हिन्दी उपन्यास साहित्य का अध्ययन", पृ० १४३।
(ख) महेन्द्र चतुर्वेदी : "हिन्दी उपन्यास : एक सर्वेक्षण", पृ० २१४।
३. डॉ० सुषमा धवन : "हिन्दी उपन्यास", पृ० १५५।

भी नहीं मिलता। उपन्यास की सामाजिक भूमि की दृष्टि से अनेक पात्रों के स्थान-स्थान पर आने पर भी किसी की अधूरी-पूरी कहानी नहीं मिलती और यह उपन्यास एक पात्र-केन्द्रित हो गया है। अतएव न तो यहाँ नायक-नायिका खोजने पड़ते हैं—क्योंकि उनका अस्तित्व एकांत स्पष्ट है—और न ही यह नायक-शून्य उपन्यास है। वस्तुतः इसकी योजित-गठित कथा या पूर्व-स्वीकृत शिल्प आँचलिक उपन्यासों के प्रचलित शिल्प के विपरीत है। दो स्थलों पर वातावरण का प्रामुख्य भी है, किन्तु यह नारी-पीड़ा की समस्या, या जमुना की जीवन-गति को स्वाभाविकता या यथार्थता देने के लिए है। इसका नामकरण भी अंचल-परिचायक नहीं, समस्या-संकेतक है। इसके अतिरिक्त प्रभाव-व्यापकता की दृष्टि से यहाँ स्थानीयता को सामान्यता देने पर विशेष दृष्टि रखी गई है–जमुना पर अत्याचार करने वाले विशिष्ट गाँव-कसबों को अन्य गाँव-कसबों का प्रतिनिधि बनाने के लिए पाठकों के प्रभाव-ग्रहण की सहज व्यंजना-क्षमता पर विश्वास नहीं किया गया, अभिधात्मक अभिव्यक्ति दी गई है। इसी तरह सुभागी-जमुना की कथा को सामान्य अबला नारी की कथा के रूप में प्रस्तुत कर इसके सामाजिक प्रभाव को अक्षुण्ण बना दिया गया है, जिससे इसे व्यक्तिवादी उपन्यास भी नहीं कहा जा सकता।

इस उपन्यास का शीर्षक प्रतिपाद्य-बोधक प्रतीकात्मक है। शीर्षक-निर्वाह की ओर लेखक सजग रहा है। अतएव तीन स्थलों पर इसकी प्रतीकात्मकता का सांकेतिक स्पष्टीकरण किया गया है। एक तो उपन्यास की करुण प्रकृति के अनुकूल, भावात्मक भूमिका से उपन्यास के आरम्भ के संदर्भ में इसका कुछ संकेतार्थ मिलता है; दूसरे सुभागी के एक स्वप्न[1] से यह स्पष्ट, तथा अन्यत्र उस स्वप्न की स्मृति[2] से यह पुष्ट हुआ है। यहाँ साँप क्रूर तहसीलदार तथा उस-जैसे विषाक्त पुरुष-समाज का प्रतीक है; तथा बया का घोंसला उस निश्छल-निरीह सुभागी के घर का, जिसके सुहाग को लूट वह उजाड़ देता है। इस सुभागी के माध्यम से नारी-मात्र के प्रति पाठकों को संवेदित तथा इसी संदर्भ में ग्रामीण विकृतियों के प्रति सजग करने के उद्देश्य से इस उपन्यास की रचना हुई है। लेखक की दृष्टि पाठकों की संवेदना को गति देने पर अधिक रही है, उनके विचारों को दिशोन्मुख करने पर कम; अतएव उसने वेदना-तत्व का विनियोग प्रचुर मात्रा में किया है, विचार-तत्व का समावेश बहुत कम। यह उपन्यास एक प्रकार से 'सुभागी' के जीवन की 'विपत्ति'[3] में परिणति की कथा है, अतएव इसके कथानक का ढाँचा ऐसे घटना-प्रसंगों से निर्मित हुआ है, जो उसके जीवन की करुणा को बढ़ाने और किसी-न-किसी प्रकार से संवेदनात्मक चरम सीमा तक पहुँचाने में सहायक हुए हैं। ये प्रसंग व्यक्तिगत तथा सामाजिक दोनों

१. पृ० १६५। २. पृ० १८४। ३. पृ० १७८।

प्रकार के हैं। सुभागी का जन्म जैसे पीड़ा की पहली सांस थी। उसके जन्म से पहले ही उसकी माता जमुना विधवा हो चुकी थी। जमुना उस पुरैना गाँव में रहती थी जहाँ ब्राह्मणों का प्रभुत्व था—जिन्हें "सामाजिक नियन्ता समझने की स्पृहा" "इतनी रूढ़ियों में जकड़े बैठी थी कि उन्हें खुलकर सांस लेना भी दुष्कर था।"[१] इसलिए "सुभागी वर्ष भर की न हो पायी थी कि गाँव के ब्राह्मणों ने जमुना को उसके घर से निकालकर गाँव के एक सिरे पर उसे दूसरे घर में बसा दिया और जमुना को विवश होकर वहाँ रहना पड़ा"।[२] गाँव भर की उपेक्षा और प्रतारणा के मध्य भी जमुना को सुभागी के लिए जीवित रहना पड़ा। गाँव की अनैतिकता ने सुमेसर के रूप में जमुना को पतित करने का विफल प्रयत्न किया। इसी कारण जमुना को सुभागी को साथ लेकर अपना गाँव ही छोड़ देना पड़ा। बाद में सुभागी के बड़े होने पर जमुना ने जब इसका विवाह करना चाहा, तो इसी गाँव के ब्राह्मणों ने सहायता देने की बजाय, जमुना के जारज संतान होने का ऐसा भ्रम फैलाया कि अनेक बार उसके रिश्ते की बातें टूटती रहीं। उस समय की करुण स्थिति में जमुना के शब्द हैं—"सबसे अधिक रोना तो इस पर है कि पुरैना वालों ने मुझे सताया, मुझसे दुश्मनी की, अच्छा किया, लेकिन मेरी बेटी ने उन लोगों का क्या बिगाड़ा था, उससे उन लोगों की क्या दुश्मनी थी।"[३] बाद में जब जमुना के संघर्ष-प्रयत्नों से सुभागी का विवाह सम्पन्न हुआ, तब भी ब्राह्मण पट्टीदारों ने इसमें कोई सहायता नहीं की। इस पीड़ित वातावरण में पली जमुना विवाहोपरांत भी चैन की सांस न ले सकी। जैसे जमुना पुरैना गाँव में सताई गई, वैसे ही सुभागी सिकन्दरपुर गाँव में। उसके रोगी पति के अशक्त हो जाने से, गाँव वालों ने सुभागी के पीड़न की कोई कसर न छोड़ी। कभी किरपाल, कभी सुमेर, और कभी अवधू ने सुभागी के सतीत्व को मलिन करना चाहा। अपनी विफलता में किसी ने हरे-भरे खेतों को आग लगाकर और किसी ने चोरी का झूठा आरोप लगाकर अपना प्रतिशोध पूरा किया। उसका पूरा भितुहर तोड़कर गिरा दिया गया और सब ऊपले-कंडे चोरों ने लूट लिए। और अन्त में अलगु ने उसके दो खेतों को भी हड़प लिया। जैसे उसकी माँ जमुना को पुरैना छोड़कर बाँसी कस्बे में जाना पड़ा था, वैसे ही अत्याचार-पीड़ित सुभागी को सिकन्दरपुर को छोड़कर रामनगर में आश्रय खोजना पड़ा। पर इस कस्बे ने ऐसा अत्याचार किया कि सुभागी के सौभाग्य को ही निःशेष कर दिया। ४५ वर्षीय तहसीलदार कामताप्रसाद ने उसे अपनी वासना का शिकार बनाना चाहा और जब वह ऐसा न कर सका, तो उसके पति को ज़हर दिलवाकर समाप्त कर दिया और ज़हर देने का आरोप भी सुभागी

१. पृ० ४८। २. पृ० ४८। ३. पृ० ७४।

पर लगाया। इतने पर भी जब वह अपने कुप्रयत्न में सफल न हो सका, तो उसे प्रताड़ित करके रामनगर छोड़ने पर बाध्य कर दिया। अपने गाँव में पति को ज़हर देने वाली प्रसिद्ध होकर, सुभागी हर प्रकार से अस्पृश्य हो गई। इस तरह लेखक ने अनेक घटनाओं की योजना से सुभागी के जीवन को करुणतम बना दिया। वेदना को घनीभूत तथा कथा को अधिक संवेदनात्मक बनाने में लेखक ने विषयगत तथा शैली-शिल्प सम्बन्धी कुछ अन्य साधन-कौशल भी अपनाए हैं। आगे उन्हीं की व्याख्या होगी।

सुभागी की वेदना मुख्यतः सामाजिक अत्याचारों का परिणाम है, किन्तु लेखक ने इसे अधिक तीव्र करने तथा सुभागी को निस्सहाय बनाकर सामाजिक अत्याचारों को संगति देने में व्यक्तिगत वेदना को भी संयुक्त कर दिया है। सुभागी का पति रामनाथ बीमार हो जाता है और धीरे-धीरे अशक्त तथा कोढ़-ग्रस्त भी। भारतीय नारीकी आजीविका तथा रक्षा का एक मात्र आधार उसका पति होता है। इस जीवनाधार की दुर्बलता ने सुभागी को भी समाज के सामने अबला बना अत्याचारों को खुल-खेलने का अवसर दिया। अपने कोढ़ी होने की बात से रामानन्द ने सुभागी को देखकर यह अनुभव किया कि "उसके डरे हुए चेहरे पर एक कंपन थी और वह कंपन उसकी आँखों में अत्यन्त स्पष्ट हो गई थी; जैसे कोढ़ की विभीषिका एक भयानक छाया की तरह उसके समूचे स्त्रीत्व को ढकती जा रही हो।"[1] इस कोढ़-रोग के वीभत्स-तत्व ने वेदना को किंचित् आतंककारी तथा निष्करुण बना दिया है क्योंकि इसकी भयानकता का उल्लेख नही, अपितु भावात्मक शैली में पुनरुक्ति की गई है—

> यह रोग ज़हर है !
> ज़हर भयानक है !!
> और संक्रामक भी !!![2]

तथा

> कोढ़ एक तरह का ज़हर है !
> ज़हर भयानक है !!
> रोग संक्रामक है !!![3]

इस कोढ़ होने का कारण और भी वीभत्स है—रामानन्द कभी गर्मी-सुजाक का मरीज रहा था। रामानन्द ने सुभागी को देख, हीनता से बचने के लिए, डॉक्टर के सामने इस रोग को स्वीकार नहीं किया किन्तु एक अन्य मनोवैज्ञानिक क्षण में यह बोला हुआ झूठ उसे और बुरी तरह से मथने लगा और उसे सत्य को स्वीकार करना

पड़ा। चरित्र-चित्रण की यह मनोवैज्ञानिक यथार्थता भी वेदनापरक है। इसके अतिरिक्त डॉ० लाल ने स्वास्थ्य की दृष्टि से अनमेल दम्पति की दारुण विषमता को तुलनात्मक शैली से और भी उभारा है—"और यह सुभागी !...न जाने कैसे जीवित है उसके साथ! !! वह विकृत पुरुष और वह स्वस्थ-सरूपा। वह कोढ़ी पति, वह सुहागिन। वह राख, वह आग। वह मृत्यु का भयावह पथ, वह जीवन की स्मित रेखा। एक सन्नाटा, एक गीत।"[1] ऐसी दशा में सुभागी की अभुक्त काम-जनित वेदना का चित्रण भी स्वाभाविक हो सकता था। डॉ० लाल ने स्थान-स्थान पर इसका मार्मिक सांकेतिक चित्रण किया हैं।[2] फाग के मस्तीमय वातावरण तथा शृंगारिक लोकगीतों ने कामाभाव को और भी विषम बना दिया है। ऐसे पति से संतान न हो सकी, अतएव वात्सल्याभाव से जनित वेदना के चित्रण से कथावस्तु मे और भी भावोद्वेलक स्थलों की सृष्टि हुई है। रोगी रामानन्द ने सुभागी की उदासी दूर करने के लिए उसे गाने के लिए कहा—"गाओगी नहीं, तो तुम्हारे गीत भूल जाएंगे...फिर...जब तुम माँ होओगी...तुम अपने बच्चे को क्या सिखाओगी ?" इस कथन के पश्चात् दोनों की करुण मुद्राएँ मर्मान्तिक हैं।[3]

सुभागी के हर्षमय बालजीवन तथा विवाहोपरांत के उसके कष्टमय जीवन की आपसी तुलना से भी करुण स्थलों की सृष्टि हुई है।[4]

लेखक ने प्रभाव-वर्धन के लिए कुछ ऐसे प्रतीक-दृश्यों की सृष्टि की है, जिनमें सुभागी एवं रामानंद के व्यक्तिगत एवं सामाजिक अभिशप्त जीवन की आवृत्ति बार-बार होती रही है। यह प्रतीकात्मक प्रसंगावृत्ति मनोवैज्ञानिक विधि से सुभागी के उद्धारक संवेदनशील नायक आनंद के उद्वेलित अन्तःक्षितिज में की गई है। कहीं उसे अंधकारमय आँगन में कराहती-लंगड़ाती छायाएँ दिखती हैं;[5] कहीं डोलती छायाओं के पीछे भागती-चिल्लाती और उनमें से एक को कुचलती भीड़ के दृश्य नज़र आते हैं[6]; और कहीं बन्द आंखों के धुंधलके की 'सतरंगी रेखाओं के बीच' उसे भागती सुभागी के बिखरे बालों को पीछे से कोई घसीटता दृष्टिगत होता है।[7] अन्यत्र उसे धानी रंग की उड़ती चूनरी, उसके परे धीरे-धीरे रोती स्त्री और उसके पीछे ठहाके लगाती मनुष्यों की 'अदृश्य-भीड़' दिखाई-सी पड़ती है; और कहीं वह अनुभव करता है कि "धुएँ का बादल कछार के सीने पर, (उस) के मस्तक पर धीरे-धीरे नन्हीं-नन्हीं बूंदों में बरस रहा हो—फूटी हुई सुहाग को चूड़ियों, फटी हुई चूनरी के एक-एक तार और कजरारे आँसू के रूप में।[8]

सुभागी की बढ़ी-चढ़ी वेदना यद्यपि व्यक्तिगत भी है, तथापि लेखक का लक्ष्य

१. पृ० १३६। २. पृ० १३४। ३. पृ० ११४-१६। ४. पृ० १६० १६७-६८।
५. पृ० २१, ३६, ४४। ६. पृ० २६। ७. पृ० १७५। ८. पृ० ३५।

उसे एक सामाजिक दुखांतकी के रूप में प्रस्तुत करने का रहा है। इसके लिए एक तो सुभागी को सामान्य भारतीय ग्रामीण नारी की विशेषताओं—परिस्थिति-निरक्षेप पति-निष्ठा, भाग्य-भगवान-विश्वास, सत्य-धर्म-प्रेम—से युक्त प्रतिनिधि पात्र के रूप में प्रस्तुत किया गया है; दूसरे, उसकी दुरावस्था को अन्य नारियों से सामान्यीकृत किया गया है। सुभागी की विधवा माँ जमुना भी ग्रामीणों से सताई गई थी—इन दोनों में तो रूप-नाम-भेद से आवृत्ति ही की गई है। भगवन्ती की आत्महत्या का प्रसंग भी साभिप्राय है; लेखक ने उसकी पीड़ा को गाढ़े रंगों से चित्रित किया है:—"..रामलाल भगवन्ती को कमरे में बन्द करके उसे जूतों से मार रहा था, उसके दोनों हाथ की चूड़ियाँ फूट गई थीं। उसकी कलाइयों से खून बह रहा था। रामलाल की निमर्म मार से वह अपने घर में बन्द इस तरह तड़पकर रो रही थी, जैसे कसाई के कटघरे में गो चिग्घार रही हो।"[1] और यह सब कुल-मर्यादा के नाम पर किया गया। तहसीलदार कामताप्रसाद भी अपनी पत्नी प्रभा को बेंत से इसलिए मारता है क्योंकि वह उसकी वासना-लोलुपता में बाधा डालती है।[2] आनंद के सन्मुख भी एक ऐसा प्रतीकात्मक दृश्य प्रस्तुत किया गया है जिसमें सभी नारियों को एक ही पीड़ा-पंक्ति में खड़ा कर दिया गया है—"कामताप्रसाद हाथ में बेंत लिए भयानक हँसी बिखेरता हुआ खड़ा है और उसके सामने बलि की तरह सर झुकाए खड़ी हैं—पारो बुआ, वंती जीजी, जमुना, सुभागी और प्रभा।[3] अन्यत्र भी आनंद को ऐसे ही लगता है, "जैसे उसके चारों ओर असंख्य सुभागियाँ उसी करुण मुद्रा में खड़ी हैं और वह सबकी वाणी सुन रहा है।"

लेखक ने नारी-दुर्दशा के संदर्भ में ग्राम-विकृति का उद्‌घाटन किया है। विभिन्न गौण-प्रमुख पात्र उसके सामाजिक-नैतिक ह्रास के स्पष्टीकरण एवं सामान्यीकरण में सहायक रहे हैं। पुरैना के ब्राह्मणों की रूढ़िबद्धता-स्वार्थांधता एवं अनैतिकता की सताई जमुना दूसरे गाँव को भी भिन्न नहीं समझती। अपने कटु अनुभवों के बल पर वह "गाँव के अणु-अणु से पराजित थी।.. वह जहाँ-कहीं भी किसी बड़े भरे-पूरे गाँव को देखती थी; उसे ऐसा लगता था, जैसे यह कोई बहुत पुरानी बावली है; जिसे गाँव वालों ने स्वयं फावड़ों से खोद-खोदकर बनाया है। बावली पानी से भरी है और उसके चारों ओर बड़ी ऊँची-ऊँची खन्दकें हैं, जिनसे न बावली का पानी बाहर जाता है न बाहर का पानी उसमें आता है और न जाने कब से बावली का पानी हरा होकर गन्दा और घिनौना हो गया है और लोग उसमें मेढ़कों की तरह टर्रा रहे हैं।"[4] सुभागी, सरजू, आनंद, मिसरी गोसाईं[5] सभी गाँव

१. पृ० ९५। २. पृ० २४। ३. पृ० १८२।

के कटु अनुभव करते हैं इसलिए यहाँ गाँव से प्यार करने वाले नहीं, गाँव से तीव्र घृणा करने वाले पात्र मिलते हैं।[१] लेखक ने सप्रयोजन पुरैना और सिकन्दरपुर, दो गाँवों में कथा चलाई है, ताकि दोनों के अनुभवों के आधार पर सामान्य सत्य का साक्षात्कार किया जा सके; अधोलिखित साभिप्राय संवाद से इस मत की पुष्टि हो जाएगी—('सुभागी अब भी जब, अपने जीवन के उस पुरैना गांव के—कारुणिक अतीत को सोचती तो वह सर से पैर तक काँप जाती; फिर वह डरे हुए बच्चे की भाति दौड़ी हुई रामानंद के पास जाती") और कहती—"देखो, मुझे अकेली छोड़कर मत जाना।" रामानंद मज़ाक करता —"सिकन्दरपुर कोई पुरैना गाँव थोड़े ही है!" सुभागी तुरन्त उत्तर देती, "सब गाँव एक ही तरह के होते हैं। किसी को सुखी देखकर वहाँ के भी लोग जलते थे; यहाँ भी लोग जलते हैं। वहाँ भी लोग औरतों को कसाई की तरह मारते थे। थोड़ी सी ग़लती पर उन्हें कुआँ-नार ताकना पड़ता था; ठीक यही हालत यहाँ भी तो है। सुभागी के इन उलाहनों और दुश्चिन्ताओं का रामानंद के पास कोई उत्तर न था।"[२] और उपन्यास के अन्त में नायक आनंद इसी अनुभव के आधार पर केवल एक-दो गाँवों के सुधार या एक-दो व्यक्तियों से प्रतिशोध लेने को व्यर्थ बताता है और समस्या की व्यापकता एवं सम्पूर्ण समाज-व्यवस्था की विकृति की व्यंजना करता है—"रोओ नहीं सुभागी! .. मैं तुम्हारे एक-एक आँसू का प्रतिशोध ले सकता हूँ .. लेकिन क्या इससे हमारी आत्मा को शान्ति मिल जायगी? हम पर किए गए आत्याचारों के घाव मिट जायगें? पुरैना और सिकन्दरपुर अकेले ही गाँव तो नहीं हैं और इनके क्रूर-कठोर-संकुचित-स्वार्थी बासिन्दे और रामनगर के तहसीलदार तो अकेले विश्वासघाती नहीं, बल्कि यहाँ के सारे गाँव पुरैना और सिकन्दरपुर की तरह हैं—सबकी आत्माएँ विषाक्त हैं। रामनगर भी असंख्य हैं.. और तहसीलदार भी .. रोओ नहीं सुभागी.. धैर्य रक्खो..।"[३] निस्सन्देह यही सार-सत्य कथा से ध्वनित भी होता है और यदि उपन्यास यहीं समाप्त हो जाता, तो उचित था; किन्तु लेखक इसी के आगे आनंद से कहलाता है "वे हमें न बदल सके, न मार सके, यही हमारा उन सबको जवाब है—प्रतिशोध है। और हमारा यही सात्विक प्रतिशोध उन्हें बदलने पर विवश करेगा ..।"[४] इस कथन की दूसरी पंक्ति पर मुझे आपत्ति है—विचारों की दृष्टि से नहीं, शिल्प की दृष्टि से। इसमें समस्या-समाधान का साधन व्यक्त किया गया है, जो बाह्यारोपित है क्योंकि उपन्यास की कथा इसे ध्वनित नहीं करती। सुभागी एवं जमुना आद्यंत सात्विक प्रतिशोध पर स्थिर रहीं, उन्होंने न स्वयं बदला लिया और न रामानंद को लेने दिया, किन्तु किसका सुधार हुआ और कौन बदला? मैं यह नहीं कहता कि लेखक

१. पृ० ८४, १५६। २. पृ० ९८। ३. पृ० १९३। ४. पृ० १९३।

असात्विक विद्रोह कराता क्योंकि, उसके लिए भी यह शिल्प अपर्याप्त सिद्ध होता। वस्तुतः वह समस्या को समस्या के रूप में रहने देकर केवल संवेदनोद्बोधन में ही संतोष करता तो अधिक उपयुक्त होता। तीव्र संवेदना जगाने में वह सफल भी हुआ है। पात्रानुकूलता की दृष्टि से भी इस पर आपत्ति हो सकती है। आनंद को यह कथन जंचता ही नहीं। यह इसके विद्रोही स्वभाव के विरुद्ध है। उसके बाप तहसीलदार ने जब उस पर बेजा इलज़ाम लगाया था "तब वह क्रोध में बेसुध हो गया उसका दायां हाथ उनके गले पर गया और बाएँ हाथ से उसने उसकी बेत छीन ली। उनके गले से एक ऐसी चीख आयी, जैसे; कटघरे में बन्द अकेली कोई बकरी चीखती है।"[1] 'सात्विक प्रतिशोध' वाले कथन से ठीक पहले उसकी मनःस्थिति बिल्कुल और थी—उसके विद्रोही स्वभाव ने सुभागी से कहा था—"कहो तो मैं इस गाँव में आग लगा दूँ!..रामनगर की हवेली फूँक दूँ, गला घोंटँ दूँ उनका।"[2] ऐसी आवेशमयी मनःस्थिति के बाद, उत्तर पाए बिना 'निमिष मात्र में उसने सुभागी की 'आँखों की भयानक उदासी' को देखकर उलटा उसे ही उपदेश देना शुरू कर दिया, जो अस्वाभाविक है। यदि आनंद की अपेक्षा सुभागी यह कहती, तो कुछ सीमा तक स्वाभाविकत होता—उसके सांस्कारिक स्वभाव की सीमा को हम स्वीकार कर लेते।

सामाजिक दुःखांतकी से आधारभूत पात्र के चरित्र में ऐसी विशेषता अनिवार्य है, जो पाठकों की सहानुभूति अर्जित कर सके—अपनी दुखद स्थिति के कारण नहीं, अपने उस गुण के कारण, जो मानवता में हमारे विश्वास को दृढ़ करे या उसकी रक्षा के लिए संघर्ष की प्रेरणा दे। वस्तुतः ऐसा पात्र समाज की खलता से हार कर भी अपनी आस्था के कारण विजयी होता है। उसकी परायज हमें बेचैन कर देती है, उसकी आत्म-दृढ़ता विस्मित-विमुग्ध। और यही इस उपन्यास में भी है। सुभागी तथा जमुना में वर्गगत विशेषताओं के साथ विशिष्टता भी है—उनमें आत्माचारियों से लोहा लेने तथा अपने नारीत्व की रक्षा करने की अद्भुत सामर्थ्य है। रामानन्द के चिंतनपरक शब्दों में सुभागी के संघर्षशील व्यक्तित्व का चरित्र-सार इस प्रकार दिया जा सकता है—"वह जानकी है; लेकिन मैं तो कोढ़ी हूँ फिर वह इस तरह क्यों अपनी अग्नि-परीक्षा दे रही है? उसने किया क्या है? वह जन्म से आज तक पवित्र है; महान है। अपनी माँ के संघर्षो में वह तपायी गयी और अब वह मेरी राख में तप रही है। वह मिट्टी थी, तपती-तपती स्वर्ण हो गयी; उत्ताम स्वर्ण हो गई और अगर वह अब भी सतत् अग्नि में तपती गई; फिर खरे सोने का क्या होगा? सुना जाता है कि

तब वह पिघल जाता है और धीरे-धीरे राख हो जाता है।"[१] रामानंद की मृत्यु के बाद उसकी राख होने की स्थिति आ गई किन्तु एक तो रामानंद ही सुभागी को जीवित रहने की प्रेरणा दे गया था—"तू न मरना सुभागी नहीं तो हम लोगों का सत्य मर जाएगा।"[२] दूसरे आनंद ने अपने क्रांतिकारी कदम से उसकी आस्था को प्रदीप्त कर दिया—उसे एक नया जीवन दे दिया। डॉ० लाल ने आनंद-सुभागी के नवजीवनारम्भ का प्रतीकात्मक सांकेतिकता के साथ कुशल चित्रण किया है; देखिए—"चिराग बुझने जा रहा था, शायद उसका तेल जल चुका था। (सुभागी के लिए कहा गया है) आनंद उठा। कड़ुए तेल से भरी हुई कटोरी ही में उसने नयी बत्ती बनाकर डाल दी और उसे जला कर दूसरे ताक पर रख दिया।

बुझते हुए चिराग को उसने उठाया, क्षण भर देखा और उसे नीचे ज़मीन पर लुढ़का दिया।

× × ×आग के ऊपर गर्म तवे पर आनन्द कपड़े की पोटली रक्खे हुए उसे सेंक रहा था और उसका बायां हाथ सुभागी के सर पर था…"कहीं कुछ जल रहा है" सुभागी ने झटके से सर उठाते हुए कहा। उसने देखा तवे की आँच पर आनन्द के हाथ की पोटली जलने लगी थी। सुभागी ने चीख कर उसकी दायीं हथेली को खींच लिया। और उसे अपने अंक में छिपा लिया।

"हाथ जल गया न!"

"नहीं तो!" आनन्द मुस्करा पड़ा।

"क्या सोच रहे थे?…बताओ न……बोलो!"

आनन्द जलते हुए चिराग की लौ देखने लगा, "मैं कुछ सोच नहीं रहा था।"[३]—यहीं उपन्यास का अन्त हो जाता है। इस तरह यह उपन्यास दुखान्तकी है किन्तु 'दारुण' दुखान्तकी होने से बच गया है। विशेषता यही है कि सुखांत होते हुए भी, यहाँ एक दुखातकी का प्रभाव अक्षुण्ण रहा है।

डॉ० लाल ने 'बया का घोंसला और साँप' के आधार पर 'नवीनतम पीढ़ी के उपन्यासकारों' में स्वयं को भी गिनते हुए लिखा है कि अपनी निर्माण अवस्था में होते हुए भी इनमें संवेदन और सहानुभूति की स्पष्टता निस्संशय है। इनमें शंकाएँ कम हैं, इसलिए-रचना शैलियों में सरलता भी है। इनमें ऊहापोह कम है, इसलिए इनमें संवेदना का स्थायित्व है।"[४] इस उपन्यास के वस्तु-विन्यास का स्वरूप इस कथन को प्रमाणित करता है। इसका कथानक सरल, एकसूत्री, पूर्वयोजित तथा सुगठित है। इसकी कथा आद्यन्त जमुना-केन्द्रित है। आरम्भ के तीन परिच्छेदों में

१. पृ० १३१। २. पृ० १९४। ३. पृ० १९४-९५।
४. "आलोचना" सं० १३, पृ० १६०।

यद्यपि जमुना का प्रत्यक्षीकरण नहीं हुआ, तथापि यह भलीभाँति स्पष्ट है कि इनमें भी चर्चा का, संवेदना का, और कथानायक के अन्त:संघर्ष का विषय जमुना ही है। प्रासंगिक कथाओं के उलझाव के अभाव तथा घटनाओं का पर्याप्त आरहण होने से कथा की गति-त्वरा अधिक रही है तथा पाठकों की उत्सुकता भी सजग। कहीं-कहीं वातावरण के यथार्थ विवरणों—जैसे रामनगर कसबे के विवरण—से गति-वेग पर्याप्त मंद हुआ है परन्तु अधिकतर यह स्थिति नहीं आई—प्रत्युत् कहीं-कहीं कथा-अग्रसरण में जल्दबाज़ी का आभास मिलता है। 'अन्तराल' के बाद के परिच्छेदों में जमुना-आनन्द के बचपन के घनिष्ठ परिचय को—पत्रों के आदान-प्रदान के उल्लेख मात्र से[1]—जैसे ताज़ा किया गया है, वह अस्वाभाविक अधीरता का परिचायक है। लेखक यदि पत्रों का साक्षात्कार कराता—अर्थात् पत्र-शैली का उपयोग करता—तो पाठकों को स्यात् अस्वाभाविकता विशेष न खटकती। इसके अतिरिक्त बचपन में सात-आठ की वय में वियुक्त होने के पश्चात् उनके आपसी संस्मरणों का चित्रण भी हो सकता था, किन्तु लेखक ने उनका उल्लेख तक नहीं किया। आनन्द के मिलने से पूर्व ही उसको लेकर रत्ती सुभागी से जैसे 'शरारत' का व्यवहार करने लगती है तथा आनन्द भी जैसे घर के आँगन में '···सुभागी कहाँ है?' के साथ प्रवेश करता है, वह पूर्वयोजित कृत्रिमता का आभास देता है।[2] आनन्द के साथ सुभागी आवश्यकता से अधिक घनिष्ठ दिखाई गई है। एक कोढ़ग्रस्त पति के साथ निरन्तर विपत्तियाँ सहने वाली नारी के लिए यह स्वाभाविक है, किन्तु लेखक ने उसकी काम-अतृप्ति का साँकेतिक-सार्थक चित्रण करते हुए भी उसे अपने पति के प्रति कहीं भी मन-मैला करते नहीं दिखाया—प्रत्युत ग्रामीण भारतीय नारी के संस्कारों के अनुसार उसकी पति-निष्ठा तथा पति को ईश्वर मान कर व्यवहार करने का बार-बार उल्लेख तथा चित्रण किया है।[3] इसलिए अन्त में आनन्द के साथ उसके नवजीवनारम्भ की बात में भी कुछ अप्रत्याशित शीघ्रता लगती है। यद्यपि लेखक ने बचपन में सुभागी-आनन्द की विशेष घनिष्ठता प्रदर्शित की है,[4] उनके गुड्डे-गुड्डियों के विवाह भी रचाए हैं, आनन्द की माँ वंती जीजी ने सुभागी का विवाह स्वयं रचाने की बात भी कही है[5] किन्तु कथा के इतने पूर्वाभास भी आगे के विकास के लिए पर्याप्त नहीं हैं। लेखक के पक्ष में यही कहा जा सकता है कि उसने यत्किंचित् संगति का ध्यान रखा है, किन्तु इसमें उसको सफलता नहीं मिल सकी। तहसीलदार के आगे के विकास-बीज भी बाँसी में दिखाने अपेक्षित थे। चरित्र-चित्रणगत ये असंगतियाँ बहुत कुछ एकसूत्री कथानक का परिणाम है—क्योंकि आनन्द और तहसीलदार के चरित्र को

अपेक्षित स्थान नहीं मिल सका। उनके जीवन का उतना और वही पक्ष स्पष्ट हो सका है, जितना सुभागी-सम्बद्ध नारी-समस्या के लिए अत्यावश्यक था। इसमें कथानक में कुछ पूर्वयोजित कृत्रिमता तथा चरित्र-चित्रण में एकांगिता-अस्वाभाविकता आ गई है। फिर भी, यह उल्लेखनीय है कि इस एकमुखी-एकसूत्री कथा-विधान से उपन्यास की प्रभावान्विति में अवश्य ही योग मिला है। इसके लिए उपन्यास का कथा-काल विपर्यय-पद्धति का कला-कौशल्य भी उत्तरदायी है। आगे यहाँ इसी की चर्चा अभीष्ट है।

'बया का घोंसला और साँप' में कथानक का आरम्भ सामान्य क्रम से नहीं अन्त के निकट से किया गया है, और इस प्रयोग की [illegible] के लिए कथानक को तीन भागों में विभक्त कर दिया गया है। इससे एक लाभ यह हुआ है कि उपन्यासारम्भ में ही पाठकों को एक-साथ अनेक प्रश्नों के सम्बन्ध में उत्सुक बना दिया गया है—सुभागी और रामानन्द कौन हैं? आनन्द का सुभागी से क्या सम्बन्ध रहा है जिसके लिए वह इतना आँदोलित हो उठा है? आनन्द के साथ माता-पिता का विचित्र-विपरीत व्यवहार क्यों है? रामानंद की हत्या किसने, और क्यों की? आनन्द ने इस परिस्थिति का सामना करने के लिए जो निश्चय किया है, वह क्या है? इस प्रकार इस शिल्प-प्रयोग से कथा औत्सुक्य-वर्धक हो गई है। दूसरे, "जिस तीव्र संवेदना को लेखक इस छोटे-से उपन्यास में उभारना चाहता था वह इस प्रयोग में और भी सघन और तीखी हो गई है। कथानक को उत्तर भाग में संवेदनात्मक चरम सीमा तक ले जाकर छोड़ दिया गया है[1] और उसी तीव्र भावात्मक भूमिका पर सम्पूर्ण कहानी प्रतिघटित होकर फिर उसी चरम बिन्दु पर आ जाती है"[2]। कथानक का अन्त जिस भावपूर्ण वातावरण-संयुक्त संकेत-शैली की मार्मिकता से किया गया उससे आनन्द-सुभागी के जीवन के नए विकासारम्भ के लिए की गई शीघ्रता की अस्वाभाविकता का बहुत-कुछ परिहार हो जाता है। यदि लेखक अभिघात्मक विधि से उनके जीवन के नए मोड़ के आरम्भ की सूचना

१. आनंद के तीव्र अन्तःसंघर्ष से इसका अनुभव हो सकता है :—"वह आँगन की खिड़की खोलकर बाहर आया, उत्तरी दीवार के पास गया। वहाँ कोई न था लेकिन उसे अब भी वह कराह, वह मौन रुदन जैसे सुनायी पड़ रहा था। अँधकार नहीं रोता, क्षितिज नहीं कराहता, शून्य नहीं सिसकता, लेकिन इन्सान का अन्तःक्षितिज अवश्य रोता है, और यह रुदन तब बहुत भयानक होता है क्योंकि तब यह रुदन, वह मौन करुणा, प्रकृति के सीने पर जम जाती है, और स्वयं सवाक् होकर अपने सूक्ष्म अस्तित्व से उसे भेदने लगती है।—पृ० ४४।

२. डॉ० रघुवंश : 'आलोचना' संख्या ८, पृ० १०८-९।

देता, तो शिल्प में यह उत्कर्ष न आता और उपन्यासांत की मार्मिकता को भी क्षति पहुँचती ।

उपन्यास में यद्यपि मार्मिक स्थलों की अपेक्षित मात्रा नहीं, फिर भी कुल मिलाकर संवेदक वातावरण की सर्जना में लेखक सफल रहा है। इसके लिए लेखक ने अन्य विधियों का अवलम्ब लिया है। इसमें मानव-सापेक्ष प्राकृतिक-दृश्यों, सुभागी एवं रामानन्द की निस्संतानता तथा शृंगारिक अतृप्ति से जनित अन्तर्भूत या प्रच्छन्न अन्तर्द्वन्द्वमयी स्थितियों में गाए लोकगीतों, तथा उनकी प्रतिक्रियाओं ने मिलकर उपन्यास की भावात्मक भूमि को पर्याप्त पुष्ट कर दिया है।

चरित्रांकन की दृष्टि से, इस उपन्यास में केवल चार प्रधान पात्र हैं—सुभागी, आनंद, रामानन्द, तथा तहसीलदार कामताप्रसाद। उपन्यास के शेष सभी पात्र अपनी-अपनी सीमित कालिक झाँकियों में इन पात्रों के सहयोग-प्रतिरोध के प्रयोजन से आए है और उनसे सामाजिक परिस्थितियों के स्पष्टीकरण तथा नारी एवं ग्राम-समस्या को प्रस्तुत एवं पुष्ट करने में सहायता मिली है। उदाहरणतया, जमुना, मिसरी गोसाँई, सरजू, पारो बुआ, रत्ती, प्रभा, वंती जीजी, पदारथ काका, जग्गी पंडित आदि कथानायिका एवं कथानायक के पक्ष के है तथा अवधू, सुमेर, किरपाल आदि विपक्ष के। इन प्रधान पात्रों के चित्रण के औचित्यानुचित्य की चर्चा पहले की जा चुकी है। गौण पात्र ही नहीं प्रधान पात्र भी मुख्यतया वर्गीय है, क्योंकि समस्या-निरूपण की सामाजिकता में इनके प्रतिनिधि पक्ष से अधिक सहायता मिल सकती थी। इनमें से सुभागी, रामानन्द तथा आनन्द में व्यक्तिगत विशेषताएँ भी हैं। आनन्द को तो वर्गीय से अधिक व्यक्ति-पात्र कहना ही उचित होगा। उसी के मुख से लेखक अन्त में विशेष मुखरित हुआ है।

इस उपन्यास के अधिकांश पात्र स्थिर है, गतिशील नहीं। आनंद, रामानंद, तहसीलदार, जमुना आदि के चरित्र का उद्घाटन हुआ है, विकास नही। जमुना भी मुख्यतः स्थिर पात्र है। उसके आनंद के साथ नवजीवनारम्भ की स्थिति को उसके रामायणी तथा पति-निष्ठा के दृढ़ संस्कारों के वैपरीत्य के प्रकाश मे परिवर्तन की स्थिति कहा जा सकता है, किन्तु लेखक ने रामानन्द की अन्तिमेच्छा—"तू न मरना सुभागी, नही तो हम लोगों का सत्य मर जायगा"—से उसे संगति ही नही दी, वर्गीय रामानंद के वैशिष्ट्य का उद्घाटन भी किया है। रामलाल के नारी-अत्याचार' तथा खेत में आग लगने के प्रति रामानंद की प्रतिक्रियाओं तथा स्थान-स्थान पर उसकी आत्मग्लानि—परिस्थितियों से प्रभावग्रहण की क्षमता—उसे स्थिरता में भी सजीवता देती है। आगे पात्रों के अन्तरंग चित्रण से इन स्थिर पात्रों की सजीवता का और

पात्रों की कर्म-प्रेरणाओं में लेखक ने स्थिर-पात्रों के अनुकूल उनके संस्कारों को विशेष महत्व दिया है। ये संस्कार वंशानुगत, जातिगत, परम्परा-प्राप्त तथा कुछ आँचलिक सभी प्रकार हैं। जमुना पर उसकी माँ के[1] तथा सुभागी पर जमुना की संघर्ष-दृढ़ता, पतिनिष्ठा, सात्विकता के अतिरिक्त एक भारतीय नारी—विशेषतया ग्रामीण नारी-की पति को ईश्वरवत् मानकर निष्ठा स्थिर रखने के संस्कार स्पष्ट हैं। सुभागी अपने संस्कारोंवश रामानन्द को आग नहीं लगाने देती।[2] जमुना के इस कथन में भी जाति, वंश एवं परम्परागत संस्कारों का मिश्रित रूप मिलता है—"मैं बेटी के गाँव कैसे जा सकती हूँ। मुझे तो उसका सिवान नहीं काड़ना चाहिए, उसके यहाँ जाने की बात तो दूर रही। मैं ब्राह्मणी हूँ, और सुभागी के बाबू जी इस क्षेत्र के बबुत बड़े पंडित थे, मुझे उनकी मर्यादा का पालन करना चाहिए न"![3] अन्यत्र भगवन्ती के स्वतन्त्र आचरण के प्रति रामलाल की क्रिया-प्रतिक्रिया भी तथाकथित 'कुल मर्यादा' के संस्कारों से चालित है। आँचलिक संस्कारों में, अवध के गाँवों के अनुकूल यहाँ पात्रों पर रामायण का प्रभाव विशेषतया प्रदर्शित है।[4]

सांस्कारिक दृढ़ता के होते हुए भी 'बया का घोंसला और साँप' के प्रमुख पात्र—आनंद, सुभागी और रामानंद—परिस्थिति-निरपेक्ष यन्त्रवत् बाह्य कार्मिक प्रतिक्रियाएँ ही नहीं करते रह जाते हैं, उनमें सजीवता के परिचायक भीतरी द्वन्द्व भी चलते हैं। इन अन्तर्द्वन्द्वों की मात्रा एवं स्वरूप मनौवैज्ञानिक उपन्यासों-जैसा तो नहीं—ये अन्तर्विवाद नहीं—परन्तु ये नितान्त बहिर्मुखी उपन्यासों-जैसे भी नहीं। रामानन्द कोढ़ी है और उसकी पत्नी स्वस्थ युवती। इसको लेकर उसमें कुछ स्वाभाविक अन्तर्द्वन्द्वों की सृष्टि हुई है।[5] सुभागी उसकी अधिकाधिक सेवा करती है किन्तु वह इसका प्रत्युत्तर नहीं दे सकता अतएव आत्मग्लानि उसे अन्तर्द्वन्द्वित करती है।[6] इसी प्रकार विपरीत परिस्थितियों का सातत्य संघर्ष-दृढ़ सुभागी को भी विचलित कर अन्तस्संघर्षों की सृष्टि करता है।[7] यह अवश्य है कि ये अन्तर्द्वन्द्व प्रायः छोटे-छोटे हैं और पात्रों को अधिक विचलित नहीं करते। कहीं-कहीं तो ये परिस्थितियों को देखते हुए अपर्याप्त हैं।[8] आनंद के 'मस्तिष्क और मन के संघर्ष' का वर्णन भी मिलता है, किन्तु लेखक ने उसके मानसिक भाव-लोक का परिचय अधिक दिया है। पूर्वोल्लिखित विभिन्न प्रतीक-दृश्य उसकी मनसिकता के अंग हैं। इससे आनंद की तात्कालिक मनोदशा की सार्थक व्यंजनाएँ हुई हैं और इन्होंने उपन्यास की संवेदना-समृद्धि में योग दिया है। जमुना और सुभागी के आंतरिक 'भाव-लोक' का कुछ परिचय भी दिया

---

१. पृ० ४८। २. पृ० १४२। ३. पृ० ८४। ४. पृ० ३३, ५५, ८६-८७। ५. पृ० १३५-३६। ६. पृ० १३०-३१। ७. पृ० १५०-५१। ८. पृ० ९६।

गया है ।[1]

पात्रों के अन्तरंग के उद्‌घाटन में कुछ स्वप्न-विश्लेषण-पद्धति का उपयोग भी हुआ है । दो लघु-लघु स्वप्न परम्परागत और कुछ अस्वाभाविक भी हैं और इनमें पात्र जो स्वप्न लेता है, वही बाहर उसे होता हुआ मिलता है ।[2] यहाँ हमारा प्रयोजन इन स्वप्नों से नहीं । अन्यत्र दो प्रतीकात्मक स्वप्न मिलते है ।[3] इनमें सुभागी के अचेतन भावनाओं का कुछ उद्‌घाटन हुआ है । एक स्वप्न-चित्र में साँप तहसीलदार है और मोरमुकट पहने राजकुमार आनंद है । इस स्वप्न के लिए लेखक ने उसकी ठीक मन:स्थिति बनाई है—तहसीलदार की वासना-लोलुपता बढ़ती जाती है और सुभागी आनंद के आगमन की सूचना से आशावंत हो उठती है ।[4]

एक-दो स्थलों पर रामानंद तथा सुभागी की तात्कालिक मनोदशा की व्यंजना में उद्धरण-पद्धति का उपयोग भी हुआ है ।[5] अन्यत्र रामानंद की प्रेरणा से गाए, गद्य में अनूदित लोकगीत में उसके अन्तर की घुमड़न की मार्मिक अनुभूति हो जाती है ।[6] इसकी रामानंद पर प्रतिक्रिया भी होती है ।

यहाँ पात्रों का बहिरंग चित्रण स्वल्प किन्तु सार्थक हुआ है । प्रधान पात्रों में केवल रामानंद का कुछ परिचय मिलता है—वह भी ऐसा और इतना कि उसके शील को पढ़ा जा सके; जैसे, औपन्यासिक रंगमंच पर प्रवेश पाते ही, अपनी लड़की के लिए वर देखने गई जमुना की दृष्टि में वह इस रूप में आता है···और यह स्वाभाविक है, अवसरानुकूल भी—"खूब ऊँचा कद है; छरहरा जवान, बड़ी गम्भीर चाल है । धोती गाँठ से बहुत नीचे नहीं गई है । कुर्ता लम्बा है और उसकी बाँहें ऊपर चढ़ी हुई, जैसे वह कहीं खेत में काम कर रहा था । कंधे पर सफेद अंगोछा है और पाँव नंगे हैं ।"[7] इससे जमुना को पता चल गया कि उसमें "कोई बनावट नहीं, कोई शान नहीं; जैसे जिन्दगी की परिस्थितियों और संघर्षों ने उसे असमय में ही गम्भीर और सौम्य बना दिया हो ।"[8] रामानंद की यह डील-डौल उसकी नवविवाहिता पत्नी का तृप्ति-संतोष है—"कितना चौड़ा सीना है मेरे बालम का, कितनी बड़ी बाँहें हैं, मेरे देवता की, कितनी गहराई है मेरे साजन की आँखों में—सुभागी की अनुभूतियाँ हरदम इन्हीं भावों में पगी रहती थीं ।"[9] इस तरह यहाँ उसके अंगों का कुछ और परिचय मिला किन्तु पात्र के मनोलोक में ही । आगे जब रोगी रामानंद की काया-पलट हो जाती है—और उसका भी कुछ अंकन हुआ है[10]—तो रामानंद का उपर्युक्त स्वरूप उस अतृप्त तरुणी की स्मृति या स्वप्न में उभरता और उसे आंदोलित करता है ।[11]

रामानंद के अतिरिक्त सुभागी की वेषभूषा का कहीं-कहीं प्रसंगोपयोगी किन्तु

---

१. पृ० ७२-७३, ८२, १५६-६० । २. पृ० १३६ । ३. पृ० १०६, १६५ ।
४. पृ० १६४-६५ । ५. पृ० १२६-३० । ६. पृ० ११७-१८ । ७. पृ० ७१-७२ ।
८. पृ० ७२ । ९. पृ० ८१ । १०. पृ० १२५ । ११. पृ० १२७-२८ ।

अनिवार्य परिचय दिया गया है। कहीं उसकी फटी साड़ी से गिरती हुई आर्थिक दशा की व्यंजना हो जाती है; कहीं उसके घूंघट से ग्राम-नारी की सभ्यता पर मुहर लगती है[१] और कहीं तहसीलदार की लोलुप दृष्टि के हाथ उसके वक्ष तक पहुँचने के लिए उसे विशेष प्रकार के साड़ी-ब्लाउज़ में देखने का दुराग्रह करते हैं।[२] उस स्थिति में जमुना की वेश-भूषा के परिवर्तन उसकी मानसिक दशा के परिवर्तन बनकर आते हैं।[३]

पात्रों के बहिरंग चित्रण में लेखक ने उसके अनुभावों का कुशल तथा प्रचुर चित्रण किया हैं। ये पात्रों के क्रिया-कथनों के स्वाभाविक संदर्भ में भी आए हैं और उनकी अन्तर्व्यंजना में सहायक बनकर भी।[४] अन्तिम परिच्छेद में सुभागी के निपट हताश जीवन तथा उसके नवजीवनारम्भ की स्थिति के सांकेतिक-मार्मिक चित्रण आनुभाविक व्यंजनाओं पर आश्रित हैं। आनन्द सुभागी की बोलती आँखोंसे उसके जीवन का सारा इतिहास पढ़ लेता है—"आनंद ने चिराग जलाया। सुभागी के मुख को देखा। उसमें कहीं से भी रुदन न था, कोई प्रेरणा या गति न थी। उसका पूरा चेहरा उसी तरह सफेद हो गया था, जिसे क्षण भर के लिए आनन्द ने तब उस भोर में देखा था, जब उस बार वह सुभागी से विदा लेकर लखनऊ जा रहा था। आँखें स्पष्ट कह रही थीं कि मानवता से मेरा विश्वास टूट गया, जीवन एक भयानक झूठा है, घृणा है; मुझे यह नहीं चाहिए।

"सुभागी की आँखें आनन्द ने एक बार तब देखी थीं जब बाँसी में वह वंती जीजी के साथ थी। उनमें जीवन की एक चंचल तरलता थी। उन आँखों में प्रतिभा के स्वप्न थे, विश्वास के डोरे थे। दूसरी आँखें उसने रामनगर में देखी थीं, रामानंद के सामने। उनमें तब संघर्ष के आँसू थे, विद्रोह था, आस्था थी। उनमें एक ऐसे ज्वलित प्रकाश की लहरें थीं, जो धधकती हुई ज्वाला में होती हैं। लगता था रामानन्द जलता हुआ कोई यज्ञ-कुण्ड है औरं सुभागी विश्वस्त, निश्चित, मौन, अपलक दृष्टि से उसे देख रही है और भरी हुई आँखों में अच्छे भविष्य की प्रतिज्ञा कर रही है! उन्हीं आँखों को सिकन्दरपुर में देख रहा था। उनमें अब कुछ न था। आँखें जैसे, बस केवल आकार थीं, मात्र बाह्य इन्द्रिय थीं और उनमें सब कुछ दूर होकर नष्ट हो गया था"।[५]

स्वयं लेखक ने पात्रों का एक-दो स्थलों पर ही परिचय दिया है। मुख्यतया पात्रों की घटनात्मक, या कार्मिक चरित्राभिव्यक्ति हुई है। इसके अतिरिक्त पात्रों के भावलोक के माध्यम से भी अनेक पात्रों का परिचय दे दिया गया है, जो कुछ नूतन है तथा पात्रों की मनःस्थिति को देखते हुए उपयुक्त भी; जैसे, पहले परिच्छेद में यदि आनन्द की तीव्र संवेदनानुभूति के क्रम को रोककर उसके रामनगर के घर का परिचय

१. पृ० १३३। २ पृ० १६०-६४।
३. पृ० १७७। ४. पृ० ६२, ११४-१६, १५०-५१। ५. पृ० १८८।

दिया जाता तो इसमें व्याघात पहुँचता, अतएव इसे उसकी मानसिकता का अंग बना कर स्वाभाविकता से दे दिया गया है। उसे 'अन्त:क्षितिज' में देखते-देखते ही विभिन्न पात्रों तथा घर का परिचय मिल जाता है।[1] अन्यत्र पात्रों के अन्तर्द्वन्द्वों की मानसिक प्रतिक्रियाओं के चित्रण में भी प्रतिपात्रों का चरित्रांकन हो गया है।[2] एक स्थान पर तहसीलदार की मेज़ पर बोतल और गिलास के पड़े होने और उन्हें सुभागी द्वारा उठवाकर कहीं अन्यत्र रखवाने मात्र से तहसीलदार की विलासी सभ्यता तथा उसकी तात्कालिक मनोदशा की व्यंजना हो गई है।[3] लेखक को यह लिखने की आवश्यकता नहीं पड़ी कि वह असभ्य और शराबी है। इसी तरह सुभागी मेले में जिन वस्तुओं का क्रय करती है, उससे उसकी अभिरुचि का अनुमान हो सकता है।[4] संवादों द्वारा चरित्राभिव्यक्ति की चर्चा अन्यत्र की जाएगी।

लेखक ने कथा-पात्रों को यथार्थ पृष्ठभूमि देने के लिए, सामाजिक-समस्या तथा कथा-विकास के सहज क्रम में, ग्राम-प्रकृति तथा ग्राम-जीवन का यथार्थ तथा प्राय: सार्थक चित्रण किया है। इनमें भी हमारी दृष्टि पहले प्राकृतिक वर्णनों पर जाती है। ये कहीं रमणीय हैं, कहीं पात्रों के अन्तरंगी होने से उनकी तात्कालिक मन:स्थितियों के व्यंजक हैं; तथा कहीं प्रसंगों की पृष्ठभूमि में आकर उनको उत्तेजित करने वाले हैं। पहले दोनों प्रकार का चित्रण कथानक के पहले भाग में देखा जा सकता है। आनन्द का भावलोक रमणीय तथा उदास प्राकृतिक वर्णनों के माध्यम से ही मूर्त हुआ है। कथा को संवेदना-भूमि पर प्रतिष्ठित करने में इनका योग स्पष्ट है। उपन्यास का मनहर आरम्भ ऐसे चित्रण से हुआ है :—"जब उस टीले के पीछे दिन डूबने लगेगा, तब इस दूर तक फैली हुई अमराई की क्या शोभा होगी। आनन्द कल्पना करने लगा – केवल पेड़ों की हरी मुलायम चोटियाँ सुनहरी हो जाएँगी, फिर सूरज की अन्तिम किरनें इन हरी चोटियों में इस तरह मिल जायंगी; जैसे, कोई गीतों भरी मुस्कान धीरे-धीरे लाजवन्ती के सुनहरे घूंघट में खो गई हो। और टीले के उस पार ? जहाँ दूर तक ताड़ के वृक्ष खड़े हैं, जिनके परिपार्श्व में अरहर और ऊख की लहलहाती हुई हरी खेती है। वहाँ उस पार तब ऐसा लगेगा जैसे टीले पर कोई मस्त बांसुरी बजाता हुआ उन हरे खेतों में आकर छिप गया हो और कोई पायल बजाती हुई उसे ढूंढ़ने के लिए खेत के मेड़ों पर बेकरार चक्कर लगा रही हो···"[5] उपन्यास की करुण प्रकृति के अनुकूल लेखक ने स्थान-स्थान पर उदास तथा मनहूस प्राकृतिक वातावरण को प्रस्तुत किया है; यथा—"बेतरह कुहरा पड़ रहा था। पेड़-पौधों से शीत की नन्हीं-नन्हीं बूँदें टपक रही थीं और भोर का सारा वातावरण शान्त-निस्तब्ध

था। लेकिन बीच-बीच में कभी-कभी ठंडक की मारी हुई लोमड़ी अपनी 'खो-खो-खो खो' की ध्वनि से समूची निस्तब्धता को इस तरह भंग कर देती थी जैसे अंधकार की शान्ति में कोई रह-रह के कराह रहा हो।"[1] एक अन्य स्थल पर वातावरण से प्रतीकात्मक अर्थ-संकेत भी ले लिया गया है, जिससे प्रसंगानुकूल कमरे का उजाड़ वातावरण भी प्रस्तुत होता है और सुभागी की संघर्ष-कथा भी सामने आ जाती है; यथा—"आनन्द द्रष्टा की तरह सोचता रहा। उसकी दृष्टि सूने कमरे में चक्कर काटते हुए नन्हें चमगीदड़ के साथ दौड़ रही थी। वह उड़ता रहता, बार-बार सामने की दीवार से जैसे टकराता रहता, लेकिन फिर भी उसके नन्हें पर चक्कर काटते रहते। कमरे के कोनों में मकड़ी के घने जाले से वह लिपटता गया। फिर भी वह उड़ता रहा, चक्कर काटता रहा।"[2]

अब ग्राम-चित्रण को देखें। लेखक ने अपने अंचल के उत्सव-त्यौहारों, रीति-रिवाजों, धार्मिक रूढ़ियों एवं देवी-देवताओं का पर्याप्त परिचय दिया है; इस दृष्टि से सागरा-मेले का वर्णन देखा जा सकता है।[3] यह वर्णन प्रमुख पात्रों की जीवनगति के सहज क्रम में होता हुआ भी उभरकर सामने आया है। ग्राम्य जीवन के विभिन्न वर्णनों में भी उसके सामाजिक पक्ष पर लेखक की दृष्टि अधिक रही है। ग्राम्य जीवन के राजनैतिक-आर्थिक पक्ष का चित्रण नहीं हुआ। उदाहरणतया, इस मेले के सविस्तर वर्णन में भी नारी की परवश स्थिति, उसके लिए होने वाले झगड़ों और पुरुषों की नारियों के प्रति क्षुद्र मनोवृत्ति को उभारने पर लेखक की विशेष दृष्टि रही है। विवाह तथा फाग-होली के अवसर पर गाए लोकगीतों की सरसता भी यहाँ मिलती है।[4]

गाँव-कस्बे और नगर के अन्तर को भलीभांति स्पष्ट किया गया है। रामनगर कस्बे का यथार्थवादी प्रणाली में परिपूर्ण विवरण दिया गया है, जिसका, कथा एवं पात्रों की गतिविधि में उपयोग नहीं हो सका—वस्तुतः वहाँ सुभागी तथा रमानन्द के प्रति तहसीलदार और आनन्द का व्यवहार ही लेखक का ध्यान-केन्द्र है। इसलिए वह वर्णन सूक्ष्म होता हुआ भी आवश्यकता से अधिक होने का प्रभाव उत्पन्न करता है। सिकन्दरपुर तथा पुरैना गाँव का परिचय आवश्यकतानुसार है। लेखक में आँचलिक उपन्यासों की विशेषीकरण की प्रवृत्ति भी है। वह गली-मुहल्ले का पूरा नाम देता है; जैसे वह लिखता है—"सुभागी का रोता हुआ शुभ-सोहाग का डोला बड़े पीर बाबा को पार करता हुआ, रेहार वाली डहर से दूर चला गया।[5] "माधो बाबा की गली में सोमेसर ने उसकी बाँह पकड़ ली"।[6] स्थानीय शब्दों का प्रयोग भी हुआ है पर कम। विशेष रूप से स्थानीय संवाद एक ही स्थान पर है।[7] अतएव इसमें

१. पृ० ९९। २. पृ० १९२। ३. पृ० ८८-९४।
४. पृ० ७३, ७७, १२६। ५. पृ० ७८। ६. ४८। ७. १८९।

आँचलिक उपन्यासों के किन्हीं तत्वों का विनियोग हुआ है, किन्तु आँचलिक उपन्यासों में इसका परिगणन नहीं किया जा सकता। इससे इस उपन्यास की महत्ता में कमी नहीं आई, प्रत्युत् कलात्मकता बढ़ी है। अनर्गल सामग्री के अभाव में इसका बन्धत्व प्रायः अशिथिल रहा है।

'बया का घोंसला और साँप' में वर्णन-विवरण-शैली के अनुपात में कथोपकथन-तत्व का उपयोग कम हुआ है। ये कथोपकथन प्रसंग-पात्रानुकूल होने से शील-प्रकाशक तथा कथा की त्वरित गति को बनाए रखने वाले हैं। तहसीलदार के व्यवहारों की अश्लीलता तथा आनन्द की दृढ़ता-उग्रता दोनों के आपसी संवादों से भली-भाँति व्यंजित हुई है।[1] अपनी शिक्षा-संस्कृति के अनुकूल आनन्द की भाषा और सुभागी तथा रामानन्द की भाषा में अन्तर है। आनन्द की भाषा अधिकतः संस्कृत-गर्भित है। इन संवादों में न तो जोशीजी के संवादों की बौद्धिकता है, न जैनेन्द्र एवं अज्ञेय के संवादों की व्यंजकता; मुख्यतः सरल-संस्कार-दृढ़ पात्रों की हार्दिकता है।[2] फिर भी, कहीं-कहीं मानस-बंधे संवादों का सौन्दर्य भी है।[3] लघुता तथा प्रसन्न प्रवाह इन संवादों की सामान्य विशेषता है। प्रसंग-पात्रानुकूल औचित्य का गुण भी यहाँ प्रायः मिलता है। कहीं अधूरे वचनों से पूरी बात कही गई है, कहीं सार्थक मौन से और कहीं अन्तरालों के साथ स्फुट वचनों में। इस तरह संवादों की शैली से औचित्य व्यंजित होता रहता है। एक उदाहरण लीजिए, जिसमें होली के श्रृंगारिक उत्सव से उद्दीप्त, किन्तु रोगी पति रामानन्द से अतृप्त, स्वस्थ तरुणी सुभागी मर्यादा वश बहुत-कुछ कहती हुई भी मौन बनी रहती है—"रामानन्द पलंग पर लेटा था। सुभागी पलंग की दायीं बाँह पर चुपचाप बैठी हुई अपने पति को देख रही थी।

"अब जाओ अपनी खाट पर सो जाओ!" रामानन्द ने स्नेह से कहा।

सुभागी मौन बैठी रही।

"अब जाओ···सो जाओ।"

सुभागी निश्चेष्ट थी।

उसने फिर आग्रह किया। सुभागी धीरे से निःशब्द पलंग से नीचे उतर गयी ..।[4]

एक और कथन लीजिए जिसमें सुभागी अपने पति से आनन्द का परिचय कराती है :—"यही वे बाबू हैं", सुभागी ने टूटते स्वर में कहा, "और यही मेरे..।" सुभागी अपने को सम्हालती हुई वहाँ से हट गई।[5] दो स्थलों पर समवेत कथनों से ग्रामीणों के सामूहिक चरित्र की स्वाभाविक व्यंजना हुई है।[6]

'बया का घोंसला और साँप' को सुन्दर एवं संवेदक बनाने का पर्याप्त श्रेय उसकी भाषा-शैली को भी है। यह सरल, व्यावहारिक, प्रवहमान, संयत, काव्यमय तथा विषयानुकूल परिवर्तनशील क्षमता से पूर्ण है। लघु-लघु वाक्य इसकी सामान्य विशेषता है। लम्बा वाक्य भी अल्प- विरामों से लघु-लघु वाक्यों का आभास देता रहता है। इससे भाषा में कहीं भी जटिलता नहीं आती। लोक-शब्दों का प्रयोग भी इसमें हुआ है, किन्तु इतना ही जितना वातावरण-विधान के लिए अत्यावश्यक है। कहीं-कहीं अपरिचित शब्दों के कोष्ठ में अर्थ भी दे दिए गए हैं। प्रचलित मुहावरों का प्रयोग भी यहाँ हुआ है। विषययानुकूल उपमाओं के प्रयोग से उसे उत्कर्ष तथा स्पष्टता देने में डॉ० लाल विशेष सफल हुए हैं। इस उपन्यास में वर्णनात्मक, विवरणात्मक, भावात्मक, तुलनात्मक[1] और कहीं-कहीं विश्लेषणात्मक[2] सभी शैलियों का प्रयोग हुआ है। पूर्वोद्धृत अनेक अवतरणों में इन सब रूपों को देखा जा सकता है। ग्रामीण धरती के सोंधेपन की महक की अनुभूति कराने में इनकी काव्यमयी शैली का सौन्दर्य देखिए—"कछार में जड़हन की खेती अपनी जवानी पर थी। जड़हन के एक-एक पौदे, उसकी एक-एक बाली, फूलों में मदमस्त और आने वाले अन्न के रस से झुकी जा रही थी। पूरे कछार की धरती, उसका तना हुआ सीना धानी रंग का हो गया था और उस पर हवा की फिसलती हुई लहरें इस तरह लग रही थीं, जैसे उस पर झुका हुआ आकाश गा रहा हो और पूरी फसल उसके संगीत से शरमा रही हो।"[3] और व्यंजक उपमाओं से गाँव, कस्बे और नगर की आत्मा को साकार कर देने वाला निम्नोद्धरण तो स्वयं में अकेला है।—"उसकी दृष्टि में गाँव की आत्मा, उसकी संस्कृति एक ऐसी शकुन्तला है, जो ऋषि कन्या है, फिर भी शापित है; किसी की दुल्हन और प्रेमिका है, लेकिन उपेक्षित है। फिर भी इसका पथ-जीवन है, मरु नहीं। इसमें विश्वास तपस्या और श्रद्धा है, मृत्यु की पराजय और क्षुद्रता नहीं। ठीक इसके विरुद्ध, दूसरी सीमा पर शहर की आत्मा और संस्कृति है—एक ऐसी स्वतंत्र कुमारी की भाँति; जो अपने व्यक्तित्व में अपने को सम्पूर्ण समझती है। वह सबकी है, सब उसके हैं लेकिन कोई किसी का नहीं है। इसलिए उसमें विकास है, कहीं गतिरोध नहीं, सुख है, उपभोग है, लेकिन शान्ति नहीं है। इन दोनों के बीच में है कस्बे की आत्मा; उसकी संस्कृति, यह चौके की राँड़ की तरह है—एक ऐसी जवान विधवा की तरह, जो बिना गौने गए हुए ही एकाएक रांड़ हो गयी हो और उसके आगे-पीछे तमाम उंगलियाँ उठ रही हों, फुसफुसाहट हो रही हो। उसका अपना कोई स्वतंत्र व्यक्तित्व नहीं है, क्योंकि उसका मुंह शहर की ओर है और पीठ गाँव की ओर।"[4]

---

१. पृ० १३६। २. पृ० १८८। ३. पृ० ३४। ४. पृ० ३८-३९।

निष्कर्षतः, 'बया का घोंसला और साँप' समस्यामूलक लघु-उपन्यास है। उपन्यासांत में दिशा-दर्शन का आरोपित प्रयास, पूर्वयोजित कथानक की कहीं-कहीं अस्वाभाविकता, तथा चरित्रांकन के यत्किंचित् दौर्बल्य के बावजूद, कथानक की सरल एकान्विति,विपर्यस्त अनुक्रम तथा प्रसन्न प्रवहमानता, विषय की एकता करुण स्थितियों के प्रचुर विनियोग ग्रामीण वातावरण के यथार्थ प्रतिरूपण तथा कलात्मक अभिव्यंजन ने मिलकर इस उपन्यास को रोचक तथा संवेदक बना दिया है।

पथ की खोज

'पथ की खोज' (१९५१) डॉ० देवराज का दो भागों में असमाप्त, ८२७ पृष्ठों का बृहद् तथा पहला उपन्यास है। जैसाकि इसके शीर्षक से स्पष्ट है, इसमें एक विचारक तथा संवेदनशील अन्वेषक की जिज्ञासा से जीवन के सामयिक तथा चिरन्तन प्रश्नों के समाधान के लिए सही पथ की खोज — आदर्शों का अन्वेषण— करने का प्रयत्न किया गया है, जिससे यह विचार-प्रधान उपन्यास बन गया है। इस उपन्यास की लेखकीय भूमिका भी इसी मत को सामने लाती है; लेखक ने पथ की खोज की प्रवृत्ति को स्वाभाविक तथा अनिवार्य माना है क्योंकि "नया युग, नई ज़िन्दगी, सुख-दुःख की नई परिस्थितियाँ। इसलिए नए साहित्य और नई जीवन-दृष्टि की अपेक्षा।"[१] डॉ० देवराज उपाध्याय ने भी इसमें प्रकारांतर से विचार-प्रधानता आलोचित की है; उनके अनुसार—"एक दार्शनिक जब कथाकार बनने चले, जीवन-दर्शन जब कथा के मार्ग से अभिव्यक्ति की मांग करे—तब दोनों के समन्वय से जो कथा बन सकती है उसी का प्रकट रूप 'पथ की खोज' में है।"[२] यही ध्वनि प्रकाशचन्द गुप्त के इस मत में मिलती है कि "पथ की खोज एक प्रकार से डॉक्टर देवराज के आलोचना-साहित्य का ही विस्तार है।"[३] विश्वम्भर 'मानव' ने भी इस उपन्यास को "विचारों से भाराक्रांत"[४] माना है। डॉ० सुषमा धवन के अनुसार "इसमें चरित्र-चित्रण पात्रों के परस्पर विचार-विनिमय पर अवलम्बित है। इसलिए 'पथ की खोज' को विचार-प्रधान उपन्यास की भी संज्ञा दी गई है; परन्तु भावों तथा विचारों के मनोविश्लेषणात्मक शैली में अभिव्यक्ति पाने के कारण इसे मनोवैज्ञानिक उपन्यासों की कोटि में रखना अधिक उपयुक्त जान पड़ता है।"[५] हमारे विचार में मनोविश्लेषणात्मक शैली या तो विपुल वैचारिक अभिव्यक्ति को यथार्थता देने के

१. "पथ की खोज" (पहला भाग) की भूमिका, पृ० २।
२. "कथा के तत्व", पृ० १५९।
३. "आधुनिक हिन्दी साहित्य : एक दृष्टि", पृ० १८४।
४. "आलोचना, संख्या २, पृ० ९७।
५. "हिन्दी उपन्यास", पृ० २२५।

लिए आई है या अन्तर्द्वन्द्वात्मक चिंतन के रूप में, प्रश्न-शंकाओं को उठाकर, पथान्वेषण के लिए। इस उपन्यास की कथानक-शिथिलता मनोविश्लेषणात्मक आग्रह से इतनी नहीं, जितनी विचारात्मक प्रसंगों के समावेश के अतिरिक्त प्रयत्न से आई है। सारांश में पथ की खोज के लिए लेखक ने असंख्य प्रश्नों को उठाकर विपुल विचार राशि दी है और इसी तत्व ने उपन्यास के शिल्प को प्रभावित किया है।

'पथ की खोज' की विचार-भरमार के दो प्रमुख कारण हैं—एक-बहुविध प्रश्नों-समस्याओं के अधिक समाहरण के प्रयत्न में लेखक ने अपने समग्र अनुचिंतन को उंडेलने का आग्रह दिखाया है—यह इस उपन्यास की दुर्बलता है। दूसरे, एकांगिता से बचने तथा संगति-संतुलन के लिए, उसने एक आदर्श अन्वेषक के समान, पक्षधरता या मतवादिता के दुराग्रहों से मुक्त होकर विपक्ष के साथ पक्ष प्रस्तुत किया है, प्रश्न-शंकाओं के साथ उत्तर दिए हैं और अनेक स्थलों पर वह प्रश्नों का आह्वान कर मूक ही बना रह गया है—विचार-प्रतिपादन की इस तटस्थ, अनिषेधात्मक रीति से वह पाठकों को साथ लेकर चल सका है, और यह इस उपन्यास की शक्ति है।

पक्ष-विपक्ष दोनों को प्रबल रूप में प्रस्तुत करने से विचारों का संचय नहीं, सचार होता है और सभी प्रकार के पाठकों को संतोष। इस सम्बन्ध में लेखक मानों अपने एक पात्र नरेन्द्र के मुख से कहता है—"जब एक बहस छेड़ी जाये तो उसे आखिरी छोर तक ले चलना चाहिए।"[1] और आख़िरी छोर तक ले जाकर भी यह आवश्यक नहीं कि समाधान मिल [illegible] में 'हर्फ़े आखिर' की हठवादिता नहीं। वह विभिन्न विचारों वाले पाठकों को साथ लेकर चलता है; मानों कहता है—"तुम्हारे प्रश्न मानों मेरे ही अन्तर के प्रश्नों की प्रतिध्वनि हैं। साथ बैठकर सोचा जा सकता है, इसके अतिरिक्त किसी समाधान की आशा न करना।"[2] उसका कथानायक समझता है कि "दार्शनिक प्रश्न एक बार उठकर मानों बैठना जानते ही नहीं और उनका समाधान तो असंभव ही है।"[3] सप्रश्नता तथा द्वन्द्व मानव का स्वभाव है—"सिर्फ मनुष्य के ही सामने 'है' और 'होना चाहिए,' वास्ताविकता और कर्तव्य की समस्या खड़ी होती है। ऐसा विकल्प न जड़ पदार्थों के सामने रहता है न पशु-पक्षियों के।"[4] अतएव लेखक ने 'अन्तिम निर्णय' को अनिवार्य नहीं माना—कम-से-कम अभिधात्मक रूप से निष्कर्ष नहीं दिए और पाठकों को स्वयं ही संकेत-ग्रहण की छूट दी है। समाधान की अपेक्षा यहाँ प्रश्नता पर अधिक बल है, जिसके अनेक रूप हैं :—

कहीं अन्तर की जिज्ञासा के रूप में प्रश्न प्रस्तुत करके तर्क नहीं किया जाता।"[5]

---

१. दूसरा भाग पृ० १४३। २. साधना को लिखा चन्द्रनाथ का पत्र, पृ० ९७। ३. पृ० ५२। ४. पृ० १४६। ५. पहला भाग, पृ० ३०।

कहीं दोनों पक्ष समतुल्य-से प्रतीत होते हैं तथा समाधान नहीं मिलता, अतएव पाठक को सोचने की प्रचुर सामग्री मिल जाती है।

कहीं तर्क-वितर्क से पाठक समाधान का संकेत पा लेता है, किन्तु विरोधी विचार भी पर्याप्त प्रबल होने के कारण मस्तिष्क में गूँजते रहते हैं।[1]

कहीं तर्क-वितर्क नहीं होता, मात्र प्रश्नोत्तर से काम चल जाता है।[2] यह एक ही पात्र के चिंतन के रूप में भी हो सकता है और विभिन्न पात्रों के संवाद के रूप में भी।

इस अपार विचारों का प्रतिपादन लेखक ने सीधे ढंग से स्वल्प मात्रा में ही किया है। वह चाहता तो उपन्यासकार की स्वतन्त्रता का उपयोग कर सकता था, किन्तु ऐसी दशा में यह उपन्यास नीरस निबन्धों का अस्वाभाविक संग्रह बन कर रह जाता। इसलिए उसने पात्रों के माध्यम से विचार व्यक्त किए हैं और इस-हेतु विशेष प्रकार के पात्रों का चयन किया है। ये पात्र विशेष शिक्षित तथा विद्वान् हैं—चन्द्रनाथ, आशा, हरिशंकर, नरेन्द्र, योगेन्द्र सभी एम्०ए०—और कुछ डबल एम्०ए० भी—हैं। चन्द्रनाथ प्राध्यापक, कवि तथा कहानीकार; हरिशंकर भी प्रसिद्ध कहानीकार; साधना चित्रकर्त्री, योगेन्द्र क्रांतिकारी नेता और नरेन्द्र प्राणि-शास्त्र-प्रवीण प्राध्यापक है। हरिजी, प्रकाशचन्द आदि भी प्राध्यापक है। प्रायः ये सभी 'डिबेट' के मूड में रहनेवाले तर्कना-कुशल पात्र हैं।[3] कथानायक चन्द्रनाथ के बारे में लिखा है—"संसार के दार्शनिकों और साहित्यिकों की विचारधारा में स्नान करते हुए उसे अपना इकलापन कभी नहीं खलता। विभिन्न विचारकों के मत और आदर्श उसके लिए जीवंत चीज़ें थीं, जिनके प्रकाश में वह जीवन की व्याख्या और संचालन करने को उत्सुक रहता है। चिंतन शक्ति के व्यायाम से जीवन के आदर्श को ढूढ निकालना और फिर उस आदर्श के अनुकूल, वैयक्तिक और सामाजिक भूमिकाओं में, जीवन को चलाना, यही वह शिक्षा का उद्देश्य समझता था"।[4] वह हृदय से कोमल-निश्छल है और प्रायः 'संशयात्मक बौद्धिकता' से आक्रांत है। उसका हृदय अपने और उन्मन मानवता के कष्ट-अपमान की संवेदनाओं से स्पंदित तथा बुद्धि सदैव जीवन-रहस्य के भार से आंदोलित रहती है। जीवन का प्रत्येक व्यापार, प्रत्येक गति उसे भावों-विचारों के सूक्ष्म स्तरों में उतरने का निमन्त्रण देती रहती है। उदाहरणतया, उपन्यास के आरम्भ का प्रसंग लीजिए जहाँ चन्द्रनाथ की पत्नी सुशील अपनी शृंगार-सज्जा में संलग्न है और जब वह पीछे से उसकी इस स्थिति में देखता है, तो मूक आस्वादन मे निमग्न होने की अपेक्षा वह अनेक प्रश्न-जिज्ञासाओं से आंदोलित हो उठता है—"आखिर वह

१. पृ० २५-३०।
२. पृ० ३१, ३२।
३. दूसरा भाग, पृ० १४३।
४. पृ० २२४।

सुशीला चाहती क्या है, क्यों वह एक विशेष भंगी से अपने बालों को नियंत्रित करने के लिए व्यग्र है ? इस प्रक्रिया द्वारा उसकी नारी-प्रकृति मानवता के किस स्वार्थ की सिद्धि करना चाहती है ? क्यों वह इस तरह केश-सौन्दर्य के पीछे पड़ी है ?" इस उद्धरण के स्वरूप से स्पष्ट है कि कथानायक में प्रश्नता की प्रवृत्ति कितनी बढ़ी-चढ़ी है। जब उसे किसी का सामान्य व्यापार जिज्ञासोन्मुख कर सकता है, तो पात्रों की विशेष क्रियाएँ तथा घटनाएँ उसे चिंतन-विश्लेषण के लिए कितना आलोड़ित करती होंगी, यह सहज ही समझा जा सकता है। और यह बात हमें कथानक का स्वरूप जानने लिए प्रेरित करती है।

इस उपन्यास का कथानक चन्द्रनाथ के चरित्र-विकास पर आधारित है। चन्द्रनाथ का जीवन-सूत्र तीन युवतियों से उलझता है। प्रतिभासम्पन्न एवं शिक्षित चन्द्रनाथ का अनेक कल-कल्पनाओं से अल्पशिक्षित, परम्पराप्रिय एवं सुन्दरी सुशीला से विवाह; उससे शारीरिक तृप्ति किन्तु बौद्धिक अतृप्ति की अनुभूति; सुशीला के नाते उसकी बौद्धिक-साहित्यिक स्वभाव वाली सखी साधना के सम्पर्क तथा भाई-बहन के स्नेहपूर्ण सम्बन्धों के अन्तर्गत उससे प्रच्छन्न प्रेम-विकास; पहली बार साधना का वैवाहिक सम्बन्ध के लिए किसी से अस्वीकृत किया जाना, किन्तु दूसरी बार चन्द्रनाथ की सहायता से अरुण कुमार से विवाह; चन्द्रनाथ को उससे अकस्मात् पत्र-व्यवहार-अवरोध से जनित निराशा की अनुभूति उधर अपनी आजीविका जुटाने, एवं साहित्य-छपवाने की प्रायः विफलता तथा पत्नी सुशीला की प्रसव-क्रिया से मृत्यु-जन्य निराशा—सारांश में चन्द्रनाथ का (पहले) विश्वास' और (अन्ततः) 'निराशा' ही उपन्यास के प्रथम भाग में हैं। साधना का अपने स्वार्थी, अर्थ-लोलुप एवं अनुदार पति को छोड़कर चन्द्रनाथ के पास आकर रहना; उसी के अनुरोध पर चन्द्रनाथ का आशा से विवाह करना; चन्द्रनाथ एवं साधना के सम्बन्धों के प्रति आशा का शंकित होना; अतएव साधना का समाजवादी नेता योगेन्द्र के साथ चले जाना—मानों यथार्थ वस्तु-स्थितियों से चन्द्रनाथ के 'प्रेम-स्वप्न' का टूटना और उसका 'जागरण'—उपन्यास के दूसरे भाग में है। इसी भाग में विवाहित पुरुष मदन की माधुरी से विफल प्रेम-कहानी भी है। सारांश में 'पथ की खोज' का कथानक पूर्व-प्रचलित सामाजिक मान्यताओं आधुनिक व्यक्ति-चेतना के संघर्ष के संदर्भ में नारी-पुरूष के प्रेम और विवाह की तथा असंगतियों के निरूपण पर आधृत है। इसमें परम्परागत अदर्शों के विरुद्ध अनेक नैतिक वर्जनाओं को स्थान मिलने से यह अनेक प्रश्नों का आह्वान करता हुआ पथ की खोज में—युग की नई परिस्थितियों के अनुकूल नई जीवन-दृष्टि की ओर इंगित करने में—सहायक हुआ है। आगे हमें इसीका स्पष्टीकरण अभीष्ट है।

---

१. "पथ की खोज", दूसरा भाग, पृ० ३२२।

लेखक ने पात्रों के आचार-व्यवहार तथा उनकी घटनाओं की विश्लिष्ट व्याख्या और इस रीति से विचार-तत्व के समावेश—के लिए मनोवैज्ञानिक यथार्थ का अवलम्ब लिया है। आत्मसंयम के आदर्शों को समुचित महत्व देते हुए भी मानव की मूल प्रकृति की उसने कहीं उपेक्षा नहीं की। अपनी इस दृष्टि के लिए लेखक फ्रायडियन मनोविज्ञान से प्रभावित है; यथा चन्द्रनाथ के माध्यम से उसका कथन है—"जीवन की कुछ ऐसी ज़रूरतें हैं, जिनपर राजनीति की दृष्टि कभी नहीं पहुँच सकती, वे सिर्फ साहित्य में ही व्यक्त होती हैं। या फिर मनोविज्ञान उन्हें समझने का प्रयास करता है। उन ज़रूरतों को समझना और मान लेना कोई बुरी बात नहीं है। बुराई होती है सत्य को ढकने या उसकी उपेक्षा करने की कोशिश से।—कभी-कभी मुझे लगता है कि सभ्यता के अधिकांश प्रतिबन्ध इसी प्रकार सत्य को ढकने अथवा प्रकृति को दबाने के प्रयत्न हैं। इसी से मनुष्य छिपकर उन्हें तोड़ना चाहता है और न तोड़ सकने पर भीतर-ही-भीतर परेशान रहता है। फ्रायड ने कहा है, जो वर्जित है मनुष्य उसकी कामना करता है, जो अधिक वर्जित है उसकी अधिक कामना करता है।"[१] ··इसी दृष्टिकोण के आलोक में उसने शिक्षित मध्यवर्ग के जन-जीवन के कुण्ठित यथार्थ का निर्मम विश्लेषण करने का साहस किया है। इस जीवन का मूर्तीकरण चन्द्रनाथ और साधना के द्वारा हुआ है। एक व्यक्ति निश्छल, शिक्षित, साहित्यकार, तथा उच्च जीवनाभिलाषी होकर भी अल्प शिक्षित एवं घरेलू पत्नी से निर्वाह तो कर सकता है किन्तु उसका मन किसी प्रतिभाशाली नारी के सम्पर्क से संतुष्टि की कामना कर सकता है। उसकी साहित्य-सर्जना अपनी प्रशंसा तथा प्रेरणा के लिए किसी अन्य विकसित कोमलता के अवलम्ब के लिए लालायित रह सकती है। और संयोगवश ऐसी नारी के मिलने पर अपनी स्वाभाविक निश्छलता तथा भारतीय समाज की स्वीकृति के अनुकूल वह उसे बहिन कहकर उससे सानुकूल व्यवहार का प्रयास भी कर सकता है। परन्तु दोनों का बढ़ता साहचर्य उनकी सुप्त अतृप्तियों को धीरे-धीरे जगा उनके भैया-बहिन के सम्बन्धों में विकार लाकर, कुछ चुम्बनों या हल्के स्पर्शों में परिव्यक्त भी हो सकता है। इस उपन्यास में चन्द्रनाथ की साधना के प्रति यही स्थिति है। अपनी पत्नी की मृत्यु के अवसर पर करुणा के भीतर उसका विकारग्रस्त चिंतन, आगे एकाकी जीवन में छिपकर उसका सिगरेट पीना, सिनेमा तथा मन्दिर में किन्हीं नारियों के स्पर्श से पुलकित होना और किन्हीं निराश क्षणों में, कामपीड़ा से अभिभूत होकर, साधारण वेश्या के पास तक जाना लेखक के यथार्थ जीवन-चित्रण के अंग है। चन्द्रनाथ का अपनी दुर्बलताओं को अपने समाजानुमोदित संगत-से, किन्तु वास्तव में असत्य तर्कों—मनोविज्ञान की भाषा में युक्तिकरण (Rationalization)[१] की मानसिक

१. "Rationalization is a defence mechanism in which persons justify their behaviour by giving socially acceptable reasons for it,

क्रिया –में भूलने या उनसे समझौता करने का प्रयत्न करना किन्तु अन्ततः निर्मम सचाई से अभिभूत होकर आत्मग्लानि-जन्य द्वन्द्वों की अनुभूति करना और भी स्वाभाविक है। लेखक इतने से ही सतुष्ट नहीं रहा। उसने चन्द्रनाथ को यह क्षमता दी है कि वह समय पर अपनी इन दुर्बलताओं को तटस्थ दृष्टि से विश्लेषित कर व्यापक सामाजिक चिन्तन कर सके—किन अन्तर्बाह्य परिस्थितियों में इनका जन्म होता है और इनके निदान की क्या सम्भावनाएँ हो सकती हैं।

यही स्थिति साधना की भी है—उसके माध्यम से अनेक विषम सामाजिक समस्याएँ सामने आई हैं। सम्पन्न घराने की तथा हृदय-मस्तिष्क की शक्तियों से उन्नत होने पर भी वह विवाह के लिए देखने आई गंवार महिलाओं द्वारा नापसंद की जाती है। उस समय नारी के चुभते अपमान तथा अपने अस्तित्व-रक्षा में तत्पर नारी के विक्षुब्ध स्वाभिमान का करुण-मार्मिक विश्लेषण हुआ है। अपनी भावोद्वेलित वैचारिक प्रतिक्रिया में चन्द्रनाथ नारी-विवाह की परवश विडम्बना की स्थिति पर चिन्तन करता हुआ व्यक्ति से 'परिस्थिति-विशेष' पर पहुँच जाता है।[1] विवाहोपरांत साधना अपने अनमेल, स्वार्थी-अनुदार, पति के अधिक-से-अधिक अनुकूल बनने के प्रयास में अपने व्यक्तित्व के उन्नत तत्वों को दबाती है, किन्तु अन्त में उसकी [illegible] की घोर नीचता को देखकर वह भारतीय नारी के रूढ़ धर्म की उपेक्षा कर अपने पति को छोड़ देती है। यह विवाह उसके व्यक्तित्व के विकास में सहायक होने की अपेक्षा बाधक ही रहा, अतएव साधना भी परम्परा की लीक-पूजक बनकर न रह गई। साधना के पति-त्याग का यह क्रांतिकारी क़दम, चन्द्रनाथ से उसके विवाह-पूर्व हुए गम्भीर विचार-विमर्श तथा भारतीय नारी की परवश हीन-स्थिति के विश्लेषण के अनुसार है।[2] आगे चन्द्रनाथ के पास रहते हुए एक क्षण-विशेष में वह चारित्रिक दृष्टि से गिरते-गिरते बच जाती है। यदि एक पुरुष—चन्द्रनाथ—अपने मानवता के निर्माण के उच्चादर्शों को छोड़कर विरल क्षणों में वेश्या के घर जा सकता है, तो समाज के दूषित वातावरण में एक परित्यक्ता या विधवा नारी भी या तो घुट-घुट कर रुग्ण जीवन बिता सकती है या छिपकर काम-तृप्ति के लिए कोई उपाए कर सकती है। साधना भी अपनी काम-अतृप्ति की तीव्रता के क्षण में चन्द्रनाथ के भैयापन को मित्रता में परिवर्तित करते हुए उससे तृप्ति पाने की सांकेतिक याचना करती है, किन्तु तीव्र अन्तःसंघर्ष के बाद अपने ही प्रस्ताव को वापस ले लेती है। नारी के इस यथार्थ का चित्रण पुरुषों के आचरण की तुलनात्मक विषमता में और भी मार्मिक हो उठता है। एक पुरुष तो विधुर होने या पत्नी के परित्याग की स्थिति

with the effect of concealing motives and impulses that they have learned to regard as inferior or shameful.—"Personal Adjustment", 'Foundations of Psychology,' p. 518.

१. ३२-३३ वाँ परिच्छेद। २. ३३वाँ परिच्छेद।

में पुनर्विवाह कर सकता है—जैसे कि चन्द्रनाथ तथा अरुणकुमार करते हैं—किन्तु ऐसी नारी को कौन स्वीकार कर सकता है ? निम्न वर्ग तथा अल्प-विकसित वर्ग में यह कठिनाई नहीं, किन्तु मध्यवर्गीय नारी की विवशता समझी जा सकती है। ऐसी स्थिति में साधना के दुर्बल क्षणों का यथार्थ कितना स्वाभाविक तथा विचारोद्बोधक हो सकता है ! आगे साधना मध्यवर्गीय विवशता तथा परम्परागत सामाजिक आदर्शों के प्रति विद्रोह करती हुई क्रांतिकारी योगेन्द्र की साथिन बन जाती है। यह उल्लेखनीय है कि साधना की विद्रोह-भावना का अत्यन्त क्रमिक विकास किया गया है, जिसमें घटनाएँ नूतन चिन्तन को उद्बुद्ध करती रही है और पात्रों की तर्क-वितर्कना जीवन के भावी विकास के लिए नई घटनाओं को जन्म देती रही है। इस तरह विचार-तत्व कथा और पात्रों के विकास में निश्चित योग देता रहा है। दूसरे, चन्द्रनाथ और साधना के उपर्युक्त शील-विकास की कथा तथा इसके भीतर आए विश्लेषित स्थलों से यह ध्वनित होता है कि लेखक का लक्ष्य नूतन नैतिक मान-मूल्यों की स्थापना है, परन्तु परम्परागत नैतिक आदर्शों के अनुयायियों तथा वर्जित दृश्यों के चित्रण से बचकर नहीं, उनका सामना कर; उनके समस्त शंका-सन्देहों को व्यक्त कर; और इस तरह पाठकों के विवेक का प्रवंचन नहीं, उन्मेषण कर ही वह ऐसा कर सका है।

पात्रों की विभिन्न स्थितियों के सविस्तर विश्लेषण एवं तज्जनित विचार-विमर्श से कथा का आकार बढ़ गया है। इस सम्बन्ध में लेखक का दृष्टिकोण उसकी अपनी पंक्तियों में देखा जा सकता है—"आधुनिक श्रेष्ठ उपन्यास में कथावस्तु थोड़ी ही रहती है; अपेक्षाकृत छोटी कथावस्तु की परिधि में श्रेष्ठ उपन्यासकार जीवन के अनगिनत तत्वों को देख लेता है। प्राचीन कथाओं में कथावस्तु जितनी विपुल होती थी, जीवन की स्थितियों का विश्लेषण उतना ही कम मार्मिक।—मार्मिक विश्लेषणों की बहुलता के कारण ही टॉलस्टॉय की 'एना केरीनिना' तथा 'वार एण्ड पीस' बृहत् ग्रंथ बन गए हैं।"[1] इस विश्लेषण-बाहुल्य तथा 'जीवन के अनगिनत तत्वों को देख' लेने के आग्रह के कारण ही कथानक की गति मंथर रही है।

'पथ की खोज' मे विचार-तत्व का समावेश विभिन्न विधियों से किया गया है; सूत्र-रूप में ये अधोलिखित हैं—

१. लेखकीय कथनों तथा विश्लेषण द्वारा।

२. जीवन के साधारण क्रियाव्यापारों के सम्बन्ध में, अपने निकटतम प्रतिनिधि, कथानायक तथा कुछ अन्य पात्रो के सामान्य चिन्तन के रूप में।

३. विशेष घटना-जन्य अन्तर्द्वन्द्वात्मक चिन्तन-धारा के रूप में।[2]

४. पात्रों के तर्क-वितर्क के माध्यम से। इसके दो रूप मिलते हैं—

---

१. "आलोचना" संख्या १३, पृ० १६२। २. दूसरा भाग, पृ० ३५३।

(क) पात्रों के सामान्य विचार-विनिमय के रूप में,[१] (ख) 'वाद-परिषदों' (प्रोग्रेसिव क्लब) की विशेष आयोजित बहस के रूप में, जिसमें "प्रत्येक सदस्य को कुछ न कुछ बोलना"[२] होता है।

५. वार्षिकोत्सव तथा महापुरुषों की जयंतियों के अवसर पर आयोजित भाषणों के द्वारा।

६. अन्य अवसरों पर 'निबन्ध-पाठ' के रूप में।[३]

७. डायरी-लेखन के रूप में।[४]

८. पत्र-पद्धति के माध्यम से।[५]

९. पर्चे (समाचार पत्र) के द्वारा।[६]

१०. इनके अतिरिक्त एक-एक स्थल पर कथा-वाचक पण्डित के प्रवचन तथा विचारात्मक गीत[७] का उपयोग भी हुआ है। विचाराभिव्यक्ति के उपर्युक्त साधनों में सर्वाधिक पात्रों के आपसी तर्क-वितर्क और उससे कम कथानायक के सामान्य चिन्तन तथा अन्तर्द्वन्द्वात्मक चिन्तन का उपयोग हुआ है।

उद्देश्य तथा प्रभाव-व्यापकता के लिए 'पथ की खोज' के बहुविध प्रश्नों के प्रस्तुतीकरण में एक विशिष्टता लाई गई है। यहाँ विशिष्ट पात्रों से सम्बद्ध प्रश्नों को समग्र मानवता के प्रश्न बना दिया जाता है—लेखक "व्यक्तिगत प्रश्नों की चेतना से अपने वर्ग की समस्याओं की चेतना की ओर और फिर उस विराट् क्लिष्ट मानवता की ओर बढ़ जाता है। एक उदाहरण से बात स्पष्ट हो जाएगी। चन्द्रनाथ साधना के गाँव जाकर वहाँ भट्टे में ईंटें ढोते छोटे-छोटे बच्चों को देखता है और उन पर करुणा कर कुछ देता है। साधना के पिता को जब इस घटना का पता चला तो वह अपने भट्टे पर बच्चों से काम लेना बन्द कर देता है। तब साधना और चन्द्रनाथ के तर्क उन विशिष्ट बच्चों से उठकर आगे बढ़ जाते हैं। पहले उनका वर्ग सामने आता है; चन्द्रनाथ साधना से कहता है—"मुझे खेद है मेरे कारण तुम्हारे पिता जी को असुविधा हुई...लेकिन इससे प्रश्न हल कहाँ हुआ ? हिन्दुस्तान में सैकड़ों, हज़ारों भट्टों पर बच्चों से इसी तरह काम लिया जाता होगा। यही नहीं बच्चों को रोक देने से उलटे उनकी आर्थिक हानि हो सकती है"[८]—यही प्रश्न और अग्रसर होता है; साधना प्रति-प्रश्न करती है—"भारत की घोर दरिद्रता का क्या इलाज हो सकता है"? सामयिक समस्याओं की परिणति प्रायः चिरन्तन समस्याओं या प्रश्नों में हुई है। इसका कारण

---

१. पहला भाग, पृ० २५-३०। २. पृ० १०८। ३. पृ० १०५-१०८। ४. पृ० १३७-३८। ५. पृ० ९४-९५। ६. दूसरा भाग, पृ० ४०२-३। ७. पृ० ९४। ८. पृ० २५५।

यह है कि लेखक इन समस्याओं के आधारभूत दर्शन या मनोविज्ञान के विवेचन तक पहुँच जाता है।

विचाराभिव्यक्ति के जिन साधनों का उल्लेख किया गया है, उनमें प्रभावोत्पादकता की दृष्टि से वाद-परिषदें तथा भाषणादि सर्वाधिक दुर्बल उपकरण हैं और घटनाओं से उन्मेषित चिंतन सर्वाधिक सबल; क्योंकि उद्देश्य की प्रभावपूर्ण अभिव्यक्ति के लिए आवश्यक है कि उपन्यासकार विचारों को कथा-प्रवाह तथा चरित्र-चित्रण के स्वाभाविक क्रम तथा उनकी अनिवार्य माँग के रूप में प्रस्तुत कर सके। ऐसी स्थिति में चिंतन एवं तर्क-वितर्क भाव-प्रेरित होने से सहज ही सहृदय-संवेद्य होते हैं (चन्द्रनाथ और साधना के चरित्र-विकास की कथा से यह उदाहृत किया जा चुका है) इसके अतिरिक्त विभिन्न प्रसंगों के यथार्थ दुखात्मक चित्रण तथा कुछ की दुखांत परिणति से पाठक स्वयं ही उद्देश्य-तत्व को ग्रहण कर लेता है। इन प्रसंगों के वेदना-तत्व ने उपन्यास के समष्टि-प्रभाव में विशेष योग दिया है। "उपन्यास समाप्त करने पर पाठक एक उदास वातावरण में डूबकर सोचता ही रह जाता है कि जीवन में क्यों चन्द्रनाथ-जैसा निष्कपट और प्रतिभाशाली साहित्यकार उपेक्षित रहता है? क्यों साधना निरपराध होने पर आघात-पर-आघात सहती है? क्यों सुशीला को जीवन का कोई सुख नहीं मिला? सावित्री को क्यों नरेन्द्र-जैसा पति मिला है? अरुणकुमार-जैसे व्यक्तियों को रोकने वाला कही कोई क्यों नहीं है? मदन को क्यों ऐसा हृदय दिया कि वह माधुरी को नहीं भुला पाया? और सबसे ऊपर—क्या सन् ४२ की नृशंसता पृथ्वी पर इसी प्रकार सदैव दुहराई जाएगी? मन बार-बार पूछता है कि क्या कहीं कोई ऐसा पथ हैं जिसे ग्रहण करने पर शक्ति के अपव्यय के बिना व्यक्ति, समाज और विश्व का विकास हो सके?"[1]

'पथ की खोज' के विचार-तत्व का पर्याप्त भाग ऐसा भी है, जो बाह्यारोपित है—न कथा से इसका सम्बन्ध है, न पात्रों के चरित्र-विकास से। यह केवल विभिन्न विषयों पर ज्ञान-चर्चा के उद्देश्य से आया है। उदाहरण के लिए 'पथ की खोज' (प्रथम भाग) का ११ वाँ परिच्छेद हिन्दी साहित्य पर वाद-विवाद के लिए है और वहाँ आलोचक डॉ० देवराज प्रमुख हैं। १४ से लेकर १७ तक के परिच्छेद प्रोग्रेसिव क्लब के राजनैतिक वाद-विवाद से सम्बन्ति हैं। इन परिच्छेदों में कथा-भाग स्वल्पतम है।[2] इतने विचारात्मक परिच्छेद एक साथ आ जाने से कथा-गति रुक-सी जाती है। अनेक प्रसंग केवल इसलिए लाए गए हैं ताकि भारतीय जीवन की बहुविध विषम देश-दशाओं से पाठकों की अवगति के साथ उन पर आलोचना करने का अवसर मिल सके।

१. विश्वम्भर 'मानव' : "आलोचना" संख्या २, पृ० ९७।

२. यही अवस्था "पथ की खोज" दूसरा भाग, के ५०-५२ परिच्छेदों की है।

उदाहरणतया, प्रथम खण्ड में चन्द्रनाथ के इलाहाबाद के अनुसंधान-कार्य के जीवन से विश्वविद्यालय के उन विद्यार्थी नेताओं की गति-विधि का साक्षात्कार होता है, जो अनेक वास्तविक विद्यार्थियों तथा प्राध्यापकों तक का सिरदर्द बने रहते हैं। इसके अतिरिक्त कवि-सम्मेलनों, वाद-परिषदों तथा पुरुष-विद्यार्थियों का केन्द्र बनी रहने वाली चटकीली-भड़कीली छात्राओं की यथार्थ झाँकी भी मिलती है। दूसरे खण्ड में चन्द्रनाथ के प्राध्यापक जीवन से कॉलेज के प्राध्यापकों, प्रिंसिपल, प्रबन्ध-समिति के पदाधिकारियों के ईर्ष्या-द्वेषमय अन्तर्बाह्य-भिन्न जीवन का और भी यथार्थ तथा प्रतिनिधि चित्र मिलता है। धार्मिक रूढ़ियों पर विचार देने के लिए चन्द्रनाथ को नरेन्द्र, सावित्री आदि के साथ दशाश्वमेघ घाट, विश्वनाथ मंदिर आदि की यात्रा कराई जाती है।[1] 'पथ की खोज' के दूसरे खण्ड का पूर्वांश इसलिए लम्बा हो गया है कि चन्द्रनाथ के नरेन्द्र के साथ जीवन के विविध प्रश्नों पर तर्क-वितर्क कराए गए हैं। 'मानव' जी ने इस पूर्वांश को लक्षित करके ठीक ही लिखा है कि "एक अध्याय में यदि उसे समेट लिया जाता तो उपन्यास की वस्तु के गठन में अधिक चुस्ती आ जाती। पाठक बिल्कुल नहीं चाहते कि नरेन्द्र और मदन के व्यर्थ के झमेले में उपन्यास की मुख्य पात्री को इतनी देर तक भुलाया जाय।"[2] 'पथ की खोज' में क्षण भर आ-आ कर चले जाने वाले कुछ पात्र (और उनसे सम्बन्धित प्रसंग) मात्र नए-नए प्रश्नों-विचारों की अभिव्यक्ति का साधन हैं – चन्द्रनाथ उनसे तर्क-वितर्क कर विभिन्न विषयों पर अपने विचारों को रखता है। इन पात्रों में ब्रज-भाषा-प्रेमी एवं रीतिकाल-रसज्ञ कवि शिवनारायण, गाँधीवाद के श्रद्धालु भक्त श्रीधर, साम्यवाद के कटु समर्थक प्रोग्रेसिव क्लब के विभिन्न सदस्य, गीता-पाठी मुंशी रामसुखलाल, राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के प्रतिनिधि पं० हरिदत्त त्रिपाठी आदि है। इन पात्रों के साभिप्राय विशेषणों से स्पष्ट है कि लेखक ने इनका चयन देश-दशा का चित्र प्रस्तुत करने तथा साहित्यिक, राजनैतिक, तथा धार्मिक विचारों को सुनने-सुनाने की दृष्टि से किया है। वस्तुतः 'पथ की खोज' का कथानायक चन्द्रनाथ प्रत्येक परिस्थिति में, स्वयं से तथा जीवन-मार्ग में मिल जाने वाले प्रत्येक व्यक्ति से, तर्क-वितर्क करने के लिए आकुल रहता है। और ये तर्क विवेकपूर्ण होते हुए भी कथा के सार्थक तारतम्य तथा उपन्यास की प्रभावपूर्ण समन्विति की दृष्टि से चित्य हैं। इनमें से बहुत से स्थल अमूर्त वैचारिक धरातल पर रह जाते हैं, क्योंकि इनके पीछे किसी नए पथ की खोज के अतिरिक्त और कोई कथा या चरित्रगत प्रेरणा नहीं दिखाई देती। यों पथ की खोज—आदर्श के अन्वेषण—के लिए तो कोई भी वैचारिक बहस उपयोगी हो सकती थी, पर बिना

---

१. दूसरा भाग, ११ वाँ परिच्छेद।

२. "आलोचना" २, पृ० ६६।

कथात्मक तारतम्य के यह पाठकों के मन में उतरने के स्थान पर भार ही बन कर रह जाती है।

उपन्यास के वस्तु-गठन को शिथिल करने वाले उपर्युक्त विचारात्मक प्रसंगों को संयोजित करने के लिए लेखक ने समग्र कथानक का ढाँचा चन्द्रनाथ के आधार पर विन्यस्त किया है—सारी कथा आदि से लेकर अन्त तक चन्द्रनाथ के साथ रही है। लेखक ने चन्द्रनाथ की सुशीला, जीवन-चर्या भी लिखी साधना और आशा के सम्बन्धों के आधार पर कहानी ही नहीं कही, चन्द्रनाथ की है—वह अपने जीवन-गति के स्वाभाविक क्रम में जिन-जिन परिवेशों तथा व्यक्तियों से प्रभावित होता रहा है, लेखक उन सबका चित्रण करता गया है। यह विधान इसलिए किया गया है, ताकि परिवेशगत जीवन का स्पष्टीकरण भी होता रहे और विभिन्न व्यक्तियों से विचार-विमर्ष तथा व्यवहार करने से (लेखक के निकटतम प्रतिनिधि) चन्द्रनाथ को अपने विचार-प्रकाशन तथा नूतन अनुभवों के संग्रह का अवसर भी मिलता रहे। किन्तु ये न तो चन्द्रनाथ के चरित्र-विकास के रूप में लक्षित होते हैं और न किसी प्रकार मुख्य पात्रों की कहानी को प्रभावित करते दिखाई देते है—ये वर्णित हैं, इनका सक्रिय साक्षात्कार नहीं हुआ। अतएव यह स्थूल रूप में ही कहा जा सकता है कि कथा और जीवनचर्या के ये प्रसंग एक ही केन्द्र चन्द्रनाथ से सम्बद्ध होने के कारण संयुक्त है, वैसे यह स्पष्ट है कि इनमें समन्विति नहीं आ पाई और यह उपन्यास-कला का दोष है। वस्तुतः लेखक ने कुछ नए प्रश्नों तथा क्षेत्रों के सम्बन्ध में विचार-प्रकाशन के मोह में पड़कर चन्द्रनाथ के जीवन के उन छोटे-छोटे प्रसंगों को भी स्थान दिया है, जो कथावस्तु में सहायक नहीं हो सके और इस प्रकार कला के चयन-सिद्धाँत की उपेक्षा हो गई है।

यह उल्लेखनीय है कि कथावस्तु में असमन्विति के कारण चाहे हम उपरि-लिखित प्रसंगों को व्यर्थ बताएँ, किन्तु विद्यार्थियों-प्राध्यापकों के शैक्षणिक वातावरण की चित्रण-यथार्थता का कोई निषेध नहीं कर सकता और इससे कथावरोध की विरसता कुछ-न-कुछ कम हो जाती है। वस्तुतः प्राध्यापक डॉ० देवराज ने अपने सुपरिचित क्षेत्र को चुनकर सफलता पाई है। आलोचक प्रकाशचन्द्र गुप्त से हम सहमत हैं कि 'पथ की खोज' की कथा उनके आतरिक अनुभवों की कथा मालूम होती है और विश्वास पैदा करती है।[1]

औपन्यासिक रंगमंच पर चन्द्रनाथ को आद्यन्त रखने से लेखक ने कथा-कथन की आत्मवृत्तात्मक पद्धति का-सा प्रभाव उत्पन्न किया है। इससे लेखक को दो लाभ हुए हैं—एक, वह अपने विचारों को आसानी से एक पात्र के विचारों के रूप में

१. "आधुनिक हिन्दी साहित्य : एक दृष्टि", पृ० १८६-८७।

रख सका है;[१] दूसरे, वह अनेक स्थलों पर आलोचक तथा लेखक के स्तर से हटकर द्रष्टा बन सका है। ऐसा करके वह यह आभास देता है कि चन्द्रनाथ के दृष्टिकोण से सब देखा-लिखा जा रहा है; जैसे, सन् बयालीस के जुलूस का वर्णन करते हुए लिखा गया है— "चन्द्रनाथ जुलूस में शामिल है, साथ ही वह जुलूस की भीड़ का निरीक्षक भी है।"[२] इस तरह चन्द्रनाथ से पात्र तथा आलोचक दोनों का काम लेकर लेखक जलूस का वर्णन एक प्रत्यक्षदर्शी की आत्मीय शैली में भी कर सका है और जुलूस के आगे बढ़ते प्रवाह में पात्र के मन में साथ-साथ उठने वाले विचार-चिंतन को भी स्वाभाविकता से व्यक्त करता गया है। पात्रों के चरित्रांकन में भी लेखक अपनी सर्वज्ञता नहीं, चन्द्रनाथ की दृष्टि प्रदर्शित करता है। वह किसी पात्र के सम्बन्ध में उतना ही मत व्यक्त करता है जितना चन्द्रनाथ उसके सम्बन्ध में जान सका है। इससे पात्रों के चरित्र का क्रमिक विकास हो सका है तथा उनके रहस्य धीरे-धीरे खुल सके हैं। इस प्रकार चन्द्रनाथ के दुहरे उपयोग से लेखक पाठक के मन पर यह प्रभाव डालना चाहता है कि वह चन्द्रनाथ की अनुभव-गाथा लिख रहा है; उस चन्द्रनाथ की जिसने जीवन के स्वाभाविक प्रवाह में नाना व्यक्तियों तथा प्रसंगों से अनुभव जुटाए हैं और पथ की खोज की है। इस दृष्टि से कथा में बाधक किन्तु चन्द्रनाथ की जीवन-चर्या से सम्बन्धित अनेक प्रसंगों का अनौचित्य और कम हो जाता है।

प्रश्न किया जा सकता है कि यदि लेखक को आत्मवृत्तात्मक पद्धति का-सा प्रभाव उत्पन्न करना था, तो उसने इसी पद्धति में उपन्यास क्यों नहीं लिखा? इसका कारण यह है कि लेखक वर्णनात्मक शैली की सुविधा को छोड़ना नहीं चाहता और साथ ही आत्मकथा-शैली का प्रभाव-तत्व भी उसे अभीष्ट है।

चन्द्रनाथ का आद्यन्त कथा-केन्द्र रहने से 'पथ की खोज' का वस्तु-संगठन भी आत्मकथा-पद्धति वाले उपन्यासों की तरह हो गया है—यहाँ ऐसी किसी घटना का वर्णन नहीं हुआ, जहाँ कथानायक की उपस्थिति न हो। प्रत्येक स्थल पर कथानायक का प्रवेश असम्भव है अतएव यहाँ दो प्रकार के वृत्त मिलते हैं—प्रत्यक्ष (घटित) वृत्त तथा श्रव्य-वृत्त। श्रव्य-वृत्त वह कथांश हैं, जिनका पाठकों को प्रत्यक्षीकरण नहीं हुआ किन्तु सम्बन्धित पात्रों द्वारा चन्द्रनाथ को सुनाए गए हैं; जैसे साधना के विवाहोपरात की दीर्घ 'आत्मकथा'[३]—'कष्ट-गाथा'[४]—बहुत बाद में, उसी के द्वारा, चन्द्रनाथ को सुनाई गई है। योगेन्द्र बाबू का 'पिछला इतिहास' चन्द्रनाथ को आशा

---

१. जैसे चन्द्रनाथ की हिन्दी साहित्य के सम्बन्ध में 'लम्बी-लम्बी स्कीमों' के बहाने आलोचक देवराज ने हिन्दी साहित्य की कमी पर एक छोटा-सा निबन्ध ही लिख दिया है—पृ० ६१-६२। २. दूसरा भाग, पृ० २८७।
३. पृ० २३१। ४. पृ० २२५।

सुनाती है। कथा की टूटी हुई कड़ियों को जोड़ने में लेखक ने पत्र-पद्धति का विशेष उपयोग किया है। कुछ घटित वृत्त चन्द्रनाथ को विभिन्न पात्रों के पत्रों द्वारा सीधे प्राप्त होते हैं। उदाहरणतया, साधना के अपने पति अरुणकुमार को त्याग देने के बाद उसकी गति-विधि का पता प्रेमलता के आशा को लिखे पत्र द्वारा चन्द्रनाथ को मिल जाता है।[1] इसी तरह प्रेमलता की गति-विधि का ज्ञान चन्द्रनाथ को आशा के पत्र से होता है।

यद्यपि अनेक तार्किक प्रसंगों के बरबस समावेश से कथानक विश्रृंखलित हो गया है, फिर भी बिखरे कथासूत्रों को श्रृंखलित करने तथा अनुभव-संग्रह के लिए लाए गए कुछ गौण पात्रों को कथा से सम्बन्धित करने का लेखक ने किंचित् कुशल प्रयास किया है। उदाहरणतया, साधना को अस्वीकार करने वाले रामविलास को प्रेमलता से संबंधित करना और आगे इन दोनों का साधना तथा अरुणकुमार के संबंधों को प्रभावित करना सार्थक है। आशा का नरेन्द्र की बहिन निकलना और चन्द्रनाथ से सम्बद्ध हो जाने में (दूसरे खण्ड की) रुकी-बिखरी कथा की पुनर्श्रृंखला में चामत्कारिक संगति है। 'यकायक ग़ायब हो जाने वाले इन्द्रमोहन' का माधुरी की बहिन मालती से विवाह में, किसी-न-किसी प्रकार से विभिन्न प्रसंगों को संयोग-तत्व से आधार पर श्रृंखलित करने का सजग प्रयास किया गया है। नरेन्द्र एवं सावित्री, तथा मदन एवं माधुरी के विस्तृत प्रसंग ऐसी उपकथाएँ हैं, जो विभिन्न प्रमुख पात्रों के सामने वैवाहिक जीवन तथा प्रेम के विषम उदाहरण[2] प्रस्तुत करती हैं और परोक्ष रूप में चन्द्रनाथ के भावी वैवाहिक जीवन के निर्धारण में भी स्वल्प सहायक हैं।

लेखक कथा-संयोजन में, विभिन्न प्रसंगों को स्थान देने में, अनुपात-भावना का ध्यान नहीं रख सका। दूसरे खण्ड में नरेन्द्र तथा मदन से सम्बन्धित कथा-सूत्र जहाँ अनुचित रूप से विस्तृत हैं, वहाँ चन्द्रनाथ और उसके भैया-भाभी से आपसी सम्बन्धों तथा उसके पुत्र सुधीर के घनिष्ठ रिश्ते की लगभग उपेक्षा खटकने वाली बात बन जाती है। लेखक चाहता तो इनके आधार पर परिवार, शिशु-पालन वात्सल्य-भावना, विमाता-मनोवृत्ति-सम्बन्धी अनेक प्रश्नों को सहज रूप में उठा सकता था।

'पथ की खोज' में पच्चीसों पात्र हैं, किन्तु मुख्य वही पांच कहे जा सकते हैं, जिनके भीतर से कथानक का मुख्य सूत्र विकसित हुआ है; अपनी प्रमुखता के क्रम से ये हैं—चन्द्रनाथ, साधना, सुशीला, आशा और योगेन्द्र। इनमें से भी पहले दो प्रमुखतम हैं। ये सभी अन्तर्बाह्य परिस्थितियों से आन्दोलित होने वाले व्यक्तित्व-सम्पन्न सजीव पात्र हैं। प्रायः सभी संवेदना के घनी, जीवन के लिए 'पथ की खोज'

---

१. पृ० ३३३-३४ २. दूसरा भाग, पृ० २६८ तथा ३६८।

करने के उद्देश्य में सहायक, प्रश्नता का आह्वान करने वाली, 'संशयालु प्रकृति'[1] से युक्त, (सुशीला अपवाद है) तथा तर्कना-कुशल शिक्षित पात्र हैं। ये निश्छल होते हुए भी जटिल हैं।[2] इनकी जटिलता उस रहस्यपूर्ण मनःप्रकृति में है, जिसकी प्रतिक्रियाएँ अनिश्चित हैं—इनके व्यापार अनेक पथों में—कभी-कभी विरोधी दिशाओं में—प्रवाहित हो सकते हैं।[3] उदाहरणतया, चन्द्रनाथ कला-साधक, आदर्शवादी तथा पीड़ित मानवता के प्रति स्थान-स्थान पर संवेदवशील होकर भी स्खलित होता है—शरीर की क्षुधा-शान्ति के लिए वह साधारण वेश्या के पास चला जाता है। यह वही चन्द्रनाथ है, जिसने दो ही दिन पहले नरेन्द्र के ऐसे प्रस्ताव पर अनिच्छा प्रकट की थी। इसी तरह साधना स्वेच्छा से चन्द्रनाथ का आशा से विवाह कराती है और उसकी बहिन बनी रहती है किन्तु वही अपने आदर्शों को ताक पर रखकर चन्द्रनाथ से अपनी काम-पीड़ा-निवृत्ति की याचना करती है। पात्रों के ये अनिश्चित आचरण ही 'पथ की खोज' की कथा-रोचकता का प्रमुख आधार हैं। ये अनिश्चित आचरण भी व्यर्थ में पाठकों के लिए रहस्यमय नहीं बने रहते—लेखक ने इनकी संगति की व्याख्या की है। पात्रों के चरित्र-विकास की व्याख्या में लेखक ने अन्तर्बाह्य परिस्थितियों को समतुल्य महत्व दिया है। एक ओर वह मानव की आदिम मूल प्रेरणाओं को महत्व देता है, दूसरी ओर युगीन परिस्थितियों को। इस दूसरे तत्व के सम्बन्ध में चन्द्रनाथ का मत है—"मैं समाजवाद और मनोविज्ञान की इस दृष्टि से सहमत हूँ कि मनुष्य की क्रियाएँ बहुत-कुछ उसके परिवेश से, परिस्थितियों से, निर्धारित होती हैं। क्रियाएँ ही नहीं, विचार और भावनाएँ भी।"[4] संक्षेप में डॉ० देवराज की [illegible] के आधार-तत्व अधोलिखित हैं—

काम :—डॉ० देवराज ने मनोविज्ञान के अनुकूल स्नेहमयी माँ, 'स्निग्ध' एवं 'सुदर्शन' मित्र श्रीमोहन तथा दूर की एक सुन्दर भाभी के सम्पर्क के आधार पर बचपन से यौवन तक चन्द्रनाथ की रति-भावना का क्रमिक-विकास चित्रित किया है। चन्द्रनाथ और साधना के आदर्श स्नेह-सम्बन्ध काम में विगलित होने लगते हैं। साधना एवं चन्द्रनाथ दोनों क्रमशः अपने-अपने पति तथा पत्नी से वंचित होकर काम की विषम पीड़ा का अनुभव करते हैं।[5] आशा से विवाह के बाद चन्द्रनाथ प्रणय-सम्बन्धों में कामुक प्रगल्भ धृष्टताओं की रहस्यमय आवश्यकता का तीखा अनुभव कर पाता

---

१. पृ० १४०, चन्द्रनाथ की आत्म-स्वीकृति।

२- लेखक ने चन्द्रनाथ को इसका अनुभव भी कराया है; चन्द्रनाथ सोचता है—"मानव प्रकृति कितनी जटिल है, कितनी रहस्यपूर्ण"—पृ० ३२१।

३. इस सम्बन्ध में लेखक ने चन्द्रनाथ के माध्यम से अपने दृष्टिकोण को स्पष्ट किया है—पृ० १५५। ४. दूसरा भाग, पृ० ३१७। ५. पृ० ३७५।

है और इसी आलोक में वह सुशीला के आचरणों को समझ पाता है।[1] आगे चलकर आशा का चन्द्रनाथ से मान, चन्द्रनाथ और साधना के सम्बन्धों के कारण हैं। चन्द्रनाथ भी आशा के प्रकाशचन्द से व्यवहार के आधार पर काम-जन्य ईर्ष्या का अनुभव करता है। नरेन्द्र इस स्वाभाविक भूख को अपनी पत्नी के आधार पर ही तृप्त नहीं करता, दूसरे मार्ग का अवलम्बन भी लेता है। मदन तथा माधुरी की प्रेम-कथा भी इसीका निदर्शन है। तात्पर्य यह कि डॉ० देवराज ने मनुष्य के आचरण की प्रबल प्रेरणाओं में काम को सर्वाधिक महत्व दिया है।

संस्कार :—इस सम्बन्ध में लेखक का दृष्टिकोण है :—"जीवन के अनेक वर्षों में न जाने कितने दिन आते और चले जाते हैं। पता नहीं महाकाल में उनका हिसाब रहता है या नहीं, पर हमारे क्षुद्र इतिहास में उनका उल्लेख प्रायः नहीं मिलता। उनमें से अधिकाँश की स्मृति हमारे अन्तःपटल से सर्वथा विलुप्त हो जाती है; यद्यपि उनके संस्कार, अज्ञात तटवर्ती वृक्षों के फूल-पत्रों की तरह, हमारी चेतना-धारा में दूर तक बहे-चले आते हैं।[2] इसीलिए चन्द्रनाथ, योगेन्द्र आदि के जीवन का पूर्वेतिहास दिया गया है—यह पूर्ववृत्तात्मक प्रणाली संस्कारों का ज्ञान कराने में सहायक है। चन्द्रनाथ अण्डों से इसलिए परहेज नहीं करता कि उसे कोई सैद्धान्तिक आपत्ति है, बल्कि उसे अपने संस्कारों की बाध्यता है।[3] निपट अभाव की स्थिति में भी चन्द्रनाथ अपने संस्कारों के कारण लिखने और पढ़ाने के अतिरिक्त और कोई धन्धा नहीं कर सका। अस्पताल जाते हुए भी सुशीला का अपने पति के लिए भोजन-व्यवस्था की चिंता प्रकट करना भारतीय नारी की सांस्कारिक विशेषता का द्योतक है।

अर्थ :—काम के बाद डॉ० देवराज ने अर्थ को स्थान दिया है। चन्द्रनाथ को अर्थाभाव के कारण अपने आदर्शों तथा अभिरुचि के विरुद्ध किसी प्राध्यापक के लिए अनुवाद का कार्य करना पड़ा।[4] धन की तंगी के कारण सुशीला अपनी स्वाभाविक मृदुता और मधुरता को खो देती है। तब चन्द्रनाथ की समझ में आता है कि धन आवश्यकताओं की पूर्ति और झूठे गौरव का अधिष्ठाता मात्र नहीं, वह शिष्टता, सहृदयता, उदारता आदि गुणों का आधार भी है।[5] सुशीला की मृत्यु भी इसलिए होती है क्योंकि चन्द्रनाथ अपनी निर्धनता के कारण, उसकी गर्भावस्था में उसे आवश्यक भोजन और विश्राम नहीं दे पाता। अरुणकुमार धन-मिलने की आशा से ही साधना से अपनी संतुष्टि का अभिनय करता रहता है और साधना के भाई के जन्म लेते ही उसके व्यवहार में परिवर्तन आ जाता है। धनाभाव की परिस्थितियों के आघात ने शिवानन्द को निराशावादी, नियति का विश्वासी और यथार्थवादी बना दिया।[6]

१. पृ० ३२०-२१। २. पृ० ६८।
३. दूसरा भाग, पृ० १४२। ४. पृ० ३४६-५०। ५. पृ० ३७७। ६. पृ० ११८।

चन्द्रनाथ को समाज के स्वीकृत विधि-निषेधों से संघर्ष करने के लिए अपने मध्यवर्गीय संस्कारों से लड़ना पड़ता है।

विपत्ति :—इस सम्बन्ध में लेखक ने चन्द्रनाथ के चरित्र-चित्रण की दृष्टि से लिखा है—"कष्ट और अवसाद का स्थिति में कभी-कभी मन का आत्म-नियन्त्रण शिथिल हो जाता है"।[१] ऐसी ही स्थिति में चन्द्रनाथ प्रेमलता की गति-विधि में कुछ रस लेता है। सुशीला की मृत्यु के बाद जब उसे एकाकी जीवन व्यतीत करना पड़ता है, तब वह अपनी व्याकुल स्थिति को बहलाने के लिए चाय और सिगरेट की ओर बढ़ जाता है। वह लोगों के इस तर्क का आश्रय लेता है कि "सिगरेट पीना खाली मस्तिष्क को भर देने का सबसे बढ़िया तरीका है"।[२] गोली लगने की घटना से विशेष बीमार होकर साधना के स्वभाव में कुछ स्पष्ट परिवर्तन लक्षित होता है। कभी-कभी वह बहुत अधिक मधुर हो उठती है और "कभी-कभी अपनी इच्छा के विरुद्ध कुछ भी घटित हो जाने पर वह सहसा नाराज़ हो जाती है। बीमारी की घटना ने उसमें हुकूमत करने की प्रवृत्ति को विकसित या प्रबुद्ध कर दिया है"।[३]

सन्तान :—बच्चों से घबराने वाली प्रेमलता, अपने पहले बच्चे के जन्म लेते ही मर जाने से परिवर्तित हो जाती है।[४] चन्द्रनाथ के जीवन में संतानोत्पत्ति के प्रभाव को नहीं दिखाया जा सका।

सम्पर्क :—साधना चन्द्रनाथ के सम्पर्क से अपनी क्रांति-भावना को दिशा देने में समर्थ होती है। स्वयं चन्द्रनाथ के शील-विकास में सम्पर्क में आने वाले अनेक पात्रों का योग रहा है।

अवस्था :—चन्द्रनाथ मुन्शी जी के विचारों को आंदोलित करने का प्रयास नहीं करता; क्योंकि "मुन्शी जी की अवस्था के लोगों में प्रायः बदलने की शक्ति और इच्छा दोनों ही नहीं रह जातीं।"[५]

'पथ की खोज' के पात्रों में वर्गगत तथा व्यक्तिगत विशेषताओं का समन्वय है। चन्द्रनाथ ध्वंसोन्मुख मध्यवर्गीय आदर्शवाद तथा (लेखक का निकटतम प्रतिनिधि होने के कारण) नूतन युग-चेतना का प्रतीक है। सुशीला परम्परागत नारी-आदर्शों, साधना जागृत नारी के नूतन क्रांति-आदर्शों तथा प्रेमलता आधुनिक नारी के चंचल-विकृत रूप का प्रतिनिधित्व करती है। सावित्री मातृत्व-प्रधान नारी पात्र है। योगेन्द्र समाजवादी है तथा नरेन्द्र विज्ञानवादी (प्राणीशास्त्री) तथा व्यक्तिवादी। मदन में प्रेम का खब्ती स्वरूप है। इन पात्रों की वर्गगत सामान्यता समस्यओं तथा प्रश्नों का स्वरूप प्रस्तुत करती है और इनका व्यक्तित्व हमें प्रभावित करता है।

१. पृ० १६२। २. पृ० २०५।
३. पृ० ३०१-२। ४. पृ० ३२०। ५. दूसरा भाग, पृ० ३४१-४२।

लेखक की विशेषता यह है कि अपने-अपने पक्षों का प्रतिनिधि बनाते हुए भी वह—पूर्वाग्रहों से मुक्त होने के कारण—इन्हें सजीव बना सका है। ये अपनी संवेदनाओं से आंदोलित है, लेखक के संकेतों से नहीं। दूसरे, ये एकांगी पात्र नहीं—इनमें अपने-अपने पक्ष के न तो गुण-ही-गुण हैं, न दोष-ही-दोष। उदाहरणतया, लेखक नारी के लिए कुछ नूतन परम्परा-मुक्त आदर्शों की स्थापना करना चाहता है, तो वह यह नहीं करेगा कि परम्परावादी सुशीला या सावित्री का ऐसा रूप प्रस्तुत करे कि पाठक को उनसे घृणा हो जाए। यह इनका ऐसा रूप प्रस्तुत करेगा कि पाठक विकृत परम्परा के प्रति जागरूक होकर भी इनके प्रति सहानुभूतिशील रहे।

आन्तरिक चित्रण के साथ अनेक पात्रों के बाह्य रूप भी प्रस्तुत किए गए है ताकि वह अधिक मूर्त रूप में सजीव हो सकें।

प्रमुखतम पात्र चन्द्रनाथ तथा साधना गतिशील पात्र हैं। गौण पात्रों में प्रेमलता में भी अन्त में परिवर्तन का चिन्ह लक्षित होना है। सुशीला, सावित्री, नरेन्द्र आदि स्थिर-पात्र हैं।

ऊपर हमने अधिकांशतः प्रमुख पात्रों का उल्लेख किया है और गौण पात्रों में उन्हीं का किंचित् परिचय मिला है, जो गौण पात्रों में प्रमुख है। वैसे इस उपन्यास में पच्चीसों गौण पात्रों का सप्रयोजन चयन हुआ है, जो अधोलिखित (स्थूल) वर्गीकरण से स्पष्ट हो जाएगा—

१. विचारों के विशिष्ट पक्षों के प्रतिनिधि पात्र :—प्राणीविज्ञानवादी नरेन्द्र; गाँधीवादी श्रीधर; व्यवहारवादी इन्द्रनारायण, अंधविश्वासी गीतापाठी मुंशीजी; कम्यूनिस्ट हिमाँशु, राधामोहन, कीर्तिकान्त वाजपेयी आदि; राष्ट्रीय स्वयं-सेवक-संघ के पं० हरिदत्त त्रिपाठी।

२. कथानायक-सम्बद्ध विशिष्ट जीवन-क्षेत्र को स्पष्ट करने वाले पात्र :—मुद्रक करतारसिंह, प्राध्यापक वर्ग (हरिजी, प्रकाशचन्द, सीतानाथ चतुर्वेदी आदि) साहित्यकार हरिशंकर, विद्यार्थी नेता नागर, प्रिंसिपल देव, प्रेमलता।

३. कथा-गति में सहायक :—रामविलास, अरुण कुमार, प्रेमलता।

४. आवृत्ति द्वारा उद्देश्य-व्यापकता तथा कथानायक की चरित्र-व्यंजना में सहायक :—लल्लनखाँ।

५. पथान्वेषण के लिए विशिष्ट उदाहरण प्रस्तुत करने वाले उपकथानकों के पात्र :—नरेन्द्र एवं सावित्री, मदन और माधुरी।

६. शेष-पूरक पात्र :—चन्द्रनाथ की मित्र-मण्डली, भाभी एवं भैया आदि।

उपरिनिर्दिष्ट वर्गों से इन विभिन्न पात्रों के प्रमुख कार्य समझे जा सकते है। वस्तुतः यहाँ चरित्रों की पर्याप्तता सप्रयोजन है। सारे उपन्यास में अनेक विसदृश

पात्रों को नर-नारी सम्बन्धी एक ही समस्या से विभिन्न रूपों में ग्रस्त दिखाया गया है। ऐसा प्रतीत होता है मानों लेखक संगीतात्मक प्रभाव उत्पन्न करने वाली पुनरावृत्ति पद्धति का अपने ढँग से प्रयोग कर उद्देश्य में घनीभूत व्याप्ति की सिद्धि का प्रयास कर रहा हो। इसके अतिरिक्त ये सभी पात्र जीवन की विचित्रता के प्रतीक हैं और इनका उपयोग पथ की खोज—जीवन-सत्य के संधान – में हुआ है; इनकी यह पथान्वेषण की औपन्यासिक सार्थकता दो पात्रों के निम्न तुलनात्मक उदाहरण से स्पष्ट हो जाएगी—"चन्द्रनाथ को हरिजी प्रिय लगते हैं, और वह नरेन्द्र का आदर करता है। एक ओर जहाँ हरि जी का अखंड विश्वास उसे मुग्ध करता है, वहाँ, दूसरी ओर नरेन्द्र का हठीला भौतिकवाद, उसकी अनास्था और नास्तिकता भी, उसे कम आकृष्ट नहीं करती। उसका हृदय हरिजी की भावनाओं में रमता, है तो बुद्धि नरेन्द्र की तर्कनाओं में; दोनों के बीच उसकी चित्तवृत्ति पेण्डुलम की भाँति घूमती रहती है। और वह कभी-कभी सोचता है, इन दो विरोधी छोरों के बीच जीवन का सत्य क्या है" ?[१]—इस उद्धरण में तुलनात्मक व्यतिरेक पद्धति से चरित्र-स्पष्टीकरण का प्रयास है। लेखक की यह सामान्य शैली है। अन्तर का ही नहीं, पात्रों के बहिरंग का भी तुलनात्मक स्पष्टीकरण किया गया है।[२] यों भी अनेक पात्रों का बहिरंग चित्रण किया गया है। एक पात्र का चित्रण एक ही स्थान पर नहीं, अनेक स्थलों पर किया गया है।

कुछ ऐसी बातें भी होती हैं, जिन्हें पात्र किसी के सामने नहीं कह सकते या खुलकर आत्माभिव्यक्ति नहीं कर सकते। इसके लिए लेखक ने पत्र-पद्धति[३] का उपयोग करते हुए चरित्रों को स्पष्ट किया है। इसके अतिरिक्त काव्य-सर्जना[४] तथा डायरी[५] के आत्मनिष्ठ प्रकारों का भी स्वल्प उपयोग हुआ है।

हम देख चुके हैं कि लेखक ने चरित्र-चित्रण में मानव की आदिम वृत्तियों के साथ बाह्य परिस्थितियों को भी विशेष महत्व दिया है। उसका स्पष्ट मत है कि "लोगों को सच्चरित्र बनाने के लिए हमें उन्हें अच्छे परिवेश में रखने की कोशिश करनी चाहिए"।[६] इसलिए पात्रों की चरित्र-संगति के लिए 'पथ की खोज' में देशकाल के वर्णन को समुचित स्थान दिया गया है। अन्यत्र भी लेखक समझता है कि मानवीय चिन्तन पर जलवायु और भौतिक परिवेश का अवश्य प्रभाव पड़ता है।[७] दूसरे, पात्रों की विचार एवं क्रिया-प्रतिक्रियाओं का मूल्यांकन युग की प्रगति की सापेक्षता में ही हो

१. दूसरा भाग, पृ० ११३। २. पहला भाग, पृ० १०४।
३. दूसरा भाग, १३वाँ परिच्छेद।
४. दूसरा भाग, पृ० ३५६; पहला भाग, पृ० ९४-९५।
५. पहला भाग पृ० ११६-१७, १३७-३८। ६. दूसरा भाग पृ० ३१७। ७. पृ० ३५३।

सकता है। अतएव युग-चित्रण के लिए देशकाल-तत्व के विनियोग की आवश्यकता स्पष्ट है । उदाहरणतया, स्थितप्रज्ञ के लक्षण सुनने वाले श्रद्धालु श्रोता-समाज के सम्बन्ध में चन्द्रनाथ समय-सापेक्षता में धरातल पर सोचता हुआ दिखाई देता है— "कैसे जड़ और प्रतिक्रियाशून्य ये श्रोता है, कौन कहेगा कि वे बीसवीं सदी में रहते और साँस लेते हैं।"[1] तीसरे, विभिन्न विषयों तथा समस्याओं के सम्बन्ध में प्रश्नों को प्रस्तुत करने के लिए लेखक को देश की बहुविध दशा का चित्रण करना पड़ा है।

इस देशकाल-तत्व का समावेश कई प्रकार से हुआ है। कहीं यह कथा-विकास तथा चन्द्रनाथ की जीवन-गति के स्वाभाविक क्रम में चित्रित है, कहीं पात्रों की चर्चा से व्यंजित और कहीं कुछ विचारों के आह्वान के लिए बाह्यारोपित। चन्द्रनाथ की जीवन-गति के अनुसार 'पथ की खोज' का पहला खण्ड मुख्यतः इलाहाबाद तथा दूसरा खण्ड बनारस से सम्बन्धित है। साहित्यकार चन्द्रनाथ के इलाहाबाद के विद्यार्थी-जीवन से प्रकाशकों, लेखकों, विद्यार्थियों की वाद-परिपदों, कवि-सम्मेलनों, बेकारी, विद्यार्थियों तथा प्राध्यापकों के सिरदर्द बने रहने वाले तथाकथित विद्यार्थी-नेताओं तथा चमकीली-भड़कीली छात्राओं की यथार्थ झांकी मिलती है। इलाहाबाद में चन्द्रनाथ के प्राध्यापक-जीवन से कॉलेज के प्राध्यापकों, प्रिंसिपल, प्रबन्ध-समिति के पदाधिकारियों आदि के ईर्ष्या-द्वेषमय, अन्तर्बाह्य-भिन्न जीवन का और भी यथार्थ तथा प्रतिनिधि चित्र मिलता है। कुल मिलाकर शैक्षणिक तथा साहित्यिक जगत् का चित्र चन्द्रनाथ के जीवन-विकास का अंग है, अतएव उसके चरित्र-चित्रण में सहायक। साधना के जीवन-विकास से देश की विविध सामाजिक दशाओं का स्वाभाविक ज्ञान हो जाता है। देश की राजनैतिक परिस्थिति की भी सविस्तर जानकारी कराई गई है। १६४२ की क्रांति के वर्णन में लेखक ने प्रामाणिकता के लिए तिथियों सहित स्थानों-व्यक्तियों के सही-सही नाम दिए हैं।[2] यही नहीं बनारस और इलाहाबाद के पथों-स्थानों के भी सही नाम देकर कथानक में यथार्थता लाने का प्रयत्न किया गया है। १६४२ की क्रांति को कुशलता से प्रमुख पात्रों से सम्बन्धित कर दिया गया है। वाद-परिषदों के विभिन्न पात्रों के वाद-विवादों से भारत तथा अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की जो व्यंजना होती रही है, उसका कथा से कम सम्बन्ध है। देश की धार्मिक परिस्थितियों का दृश्य प्रस्तुत करने के लिए बनारस के पंडों, कथावाचकों, मन्दिरों, आदि के जो प्रसंग लाए गए हैं, वे कथा तथा चरित्र-विकास में सहायक नहीं, महज़ विचारों को प्रस्तुत करने के लिए है। समग्रतः लगभग १६३७-४२ के भारत का व्यापक चित्र अंकित करने का प्रयास किया गया है।

चन्द्रनाथ प्रकृति-प्रेमी पात्र है अतएव कुछ स्थलों पर प्राकृतिक वातावरण के

१. पृ० ३४३। २. द्वितीय भाग, पृ० २६३-३००।

मध्य तथा कहीं-कहीं उसके माध्यम से भी चन्द्रनाथ की संवेदनाओं का चित्रण किया गया है।

'पथ की खोज' वर्णन-विश्लेषण-प्रधान है, किन्तु वार्तालाप का तत्व भी पर्याप्त है। यह तत्व कथा-विकास तथा चरित्राभिव्यक्ति की अपेक्षा विचारों के प्रतिपादन में अधिक सहायक रहा है। लेखक ने विचाराभिव्यक्ति के लिए निबन्ध-तत्व का आश्रय कम लिया है और पात्रों की तार्किक वार्ता का अधिक, ताकि पक्ष-विपक्ष को स्वाभाविकता तथा पूरी तीव्रता से प्रस्तुत किया जा सके। वार्तालाप का यह तार्किक स्वरूप तर्कना कुशल पात्रों तथा उपन्यास के शैक्षाणिक वातावरण के अनुकूल है। तार्किक पात्रों के साथ-साथ आन्तरिक मनोभावों का अनुभव कराने वाले अनुभावों के उल्लेख से शील-प्रकाशन का प्रयास स्वल्प है, अधिकांशतः पात्रों के विचारों से ही उनका चरित्र ज्ञात हुआ है। ऐसा इसलिए हो सका है क्योंकि नरेन्द्र, योगेन्द्र, चन्द्रनाथ, साधना आदि निश्छल पात्र हैं और ईमानदारी से अपनी बात कहते हैं—वे प्रायः दूसरों को भ्रम में डालने के लिए मिथ्या वार्ता नहीं करते। प्रोग्रेसिव क्लब की बैठकों में जहाँ प्रत्येक सदस्य कुछ-न-कुछ बोलता है, वहाँ पात्रों के निजी चरित्र की अपेक्षा एक वर्ग-चरित्र—विशिष्ट समाज-चरित्र—की अभिव्यक्ति हुई है।

ये पात्र शुष्क तार्किक ही नहीं, सजीवता से जीवन-निर्वाह के प्रयासी हैं, अतएव जीवन के स्वाभाविक विकास-क्रम में कहीं-कहीं इनकी पारस्परिक नोक-झोंक तथा परिहासप्रियता से वार्तालाप में सुखद वैविध्य की सृष्टि होती रही है।[१]

स्वाभाविकता के लिए, लेखक भाषागत पात्रानुकूलता के निर्वाह की ओर सजग रहा है। देश, वर्ग, वय तथा मज़हब के अनुकूल पात्रों की भाषा में स्थूल परिवर्तन सर्वत्र पूर्णतया लक्षित किए जा सकते हैं।[२] पात्रों की शैली में उनका स्वभाव भी लक्षित होता है, पर कम।

हम लिख चुके हैं कि किस प्रकार कथानायक चन्द्रनाथ से समग्र कथानक शृंखलित है और किस तरह लेखक ने उसे अपना निकटतम प्रतिनिधि बनाकर उसके माध्यम से विचाराभिव्यक्ति की है। चन्द्रनाथ की इस प्रधानता ने 'पथ की खोज' की भाषा-शैली को भी निर्धारित किया है। चन्द्रनाथ साहित्यिक, विचारक तथा संस्कृत का प्राध्यापक है और वह अपने जैसे अनेक शिक्षित सहयोगियों के सम्पर्क में आता है, इसलिए 'पथ को खोज' की संस्कृत-गर्भित तथा परिष्कृत-परिमार्जित साहित्यिक भाषा-शैली है। भाषा किंचत् कवित्वमयी भी है। आनुप्रासिक समस्त शब्दों से युक्त होने पर भी प्रायः इसका सामान्य प्रवाह बना रहा है। भाषा-शक्ति की लाक्षणिक

---

१. दूसरा भाग, पृ० ३२१-२२,३२५, २६६।

२. पहला भाग, पृ० १००, ३७३-७५; दूसरा भाग, पृ० ३३६-४०, २०१, २१०।

समृद्धि के लिए विशेषण-विपर्यय का विशेष आश्रय लिया गया है।[1] इतना होते हुए भी यह भाषा-शैली उपन्यासकार देवराज की अपेक्षा आलोचक देवराज के अधिक निकट है, क्योंकि इसमें अपेक्षित विविधता तथा स्वच्छन्दता की काफ़ी कमी है; फिर भी, कहीं-कहीं भाषा-शैली में सार्थक परिवर्तन मिलते हैं। उदाहरणतया, बरात के वर्णन की शैली में प्रत्यक्षदर्शिता मिलती है[2] तथा चन्द्रनाथ की विक्षुब्ध मनःस्थिति का मूर्तीकरण स्फुट वाक्यों में हुआ है।[3]

समग्रतः, 'पथ की खोज' शिक्षित मध्यवर्ग के जीवन पर आधृत विचारप्रधान मनोवैज्ञानिक उपन्यास है। डॉ० देवराज की सफलता अन्तर्मुखी तथा वहिर्मुखी उपन्यासकारों के कला-तत्वों के समन्वय में, युग की नई संवेदनाओं के अनुसार पात्रों के यथार्थानुकारी सजीव विकास में; कथा की स्वानुभूतिमयता की प्रत्ययोत्पादकता में तथा विचारों के पूर्वाग्रहरहित संतुलित प्रस्तुतीकरण में है। इस उपन्यास में पथ की खोज की भावना बनी रही है और फिर भी यह किंचित् आभास नहीं होता कि लेखक के पास स्वकीय दृष्टि नहीं है—यही इस उपन्यास का प्रभावशील वैशिष्ट्य है। इस उपन्यास की असफलता कथा-विधान तथा भावमय धरातल के बिना भी अधिक-से-अधिक विचारों का समावेश करने के लोभ में है। इस विषयाधिक्य से उपन्यास की समन्विति और प्रभाव-क्षमता को पर्याप्त क्षति पहुँची है।

जहाज़ का पंछी

इलाचन्द्र जोशी के अब तक प्रकाशित नौ उपन्यासों नें अन्तिम 'जहाज़ का पंछी' (१९५५) है। जोशी जी के पूर्ववर्ती उपन्यासों—'संन्यासी', 'पर्दे की रानी' आदि—के मनोविश्लेषणात्मक चरित्र-प्रधान होने मे आलोचकों में मतैक्य रहा है किन्तु 'निर्वासित' या 'मुक्तिपथ' से आगे के उपन्यासों में मनोवैज्ञानिकता के निर्वाह के साथ-साथ सामाजिकता बढ़ती गई है और 'जहाज़ का पंछी' में इसकी मात्रा-सीमा इतनी बढ गई है कि कुछ आलोचकों ने इस उपन्यास को जोशी जी के साहित्यिक विकास-पथ का "नितांत नवीन मोड़"[3] घोषित कर दिया है। ऐसी स्थिति में वस्तु-तत्व के परिवर्तन के साथ शिल्प में परिवर्तन आ जाना भी स्वाभाविक था, फिर भी एक आलोचक ने इस उपन्यास को अब भी 'चरित्र-प्रधान' कहा है और दूसरे ने इनमें "चारित्रिक पक्ष की प्रमुखता" देखी है।[4] इसके विपरीत नंददुलारे वाजपेयी जोशी जी

१. दूसरा भाग, पृ० ३६३। २. पृ० १५३। ३. ३३ वाँ परिच्छेद।
३. डॉ० शिवनारायण श्रीवास्तव : "हिन्दी उपन्यास", पृ० ३०५।
४. डॉ० प्रेम भटनागर : "इलाचन्द्र जोशी: साहित्य और समीक्षा", पृ० १४।
५. डॉ० प्रतापनारायण टंडन : "हिन्दी उपन्यास में कथा-शिल्प का विकास", पृ० ३६३।

की परवर्ती कृतियों मे महती सदाशयता की उत्तरोत्तर वृद्धि तथा कलात्मकता के ह्रास के विचित्र दृश्य का अनुभव कर एक स्वस्थ दृष्टिकोण को सामने लाने का श्रेय ही उन्हें दे सके हैं ।[१] विश्वम्भर 'मानव' ने मुख्यतः 'जहाज़ का पंछी' को दृष्टि में रख जोशी जी के उपन्यासों में सैद्धांतिक विवेचन का आधिक्य तथा तज्जनित विकलात्मकता आलोचित की है ।[२] प्रकाशचन्द्र गुप्त भी 'जहाज़ का पंछी' में प्रकारांतर से दृष्टिकोण को प्रमुखता देते हुए कहते हैं—"एतिहासिक दृष्टि से प्रेमचन्द और पन्त जी का प्रगतिशील साहित्यिक आंदोलन में प्रवेश जितने महत्व का था, लगभग उतने ही महत्व का 'जहाज़ का पंछी' का प्रकाशन है ।"[३] शिवदानसिंह चौहान का यह कथन भी प्रकारांतर से इस रचना के उद्देश्य-तत्व को प्रधानता देता है—···"जहाज़ का पंछी' का शीर्षक ही सांकेतिक है । इस समाज में स्वतन्त्रता का भी व्यक्ति 'जहाज़ का पंछी' है । यह एक प्रकार से पूरी व्यंग्यपूर्ण रचना है ।"[४] डॉ० शिवनारायण श्रीवास्तव इन सबसे भिन्न मत प्रकट करते हैं—"इस उपन्यास का प्रमुख आकर्षण उसकी सरस वर्णन-रीति तथा कथानक की मनोरमता है ।"[५] हमारे विचार में इसे उद्देश्य-प्रधान उपन्यासों के वर्ग के अन्तर्गत रखना उचित होगा क्योंकि उद्देश्य-तत्व ने ही लेखक को एक विशिष्ट कथानायक के चुनाव की प्रेरणा दी है । और उद्देश्य के अनुसार ही उसकी जीवन-गति का निर्धारण तथा कथानक के विविध मोड़ घटित हुए है । कथानक का बहु प्रसार, चिंतन-बहुलता, भाषणबाज़ी, तथा सुधार-प्रवृत्ति इसी तत्व की प्रधानता के परिचायक हैं ।

'जहाज़ का पंछी' में लेखक के पूर्वोक्त उपन्यासों की अपेक्षा उद्देश्य और शिल्प दोनों में नूतनता है । व्यापक सामाजिक चेतना तथा विद्रोही भावना की बहुलता, "व्यक्ति के रूप में शहंशाह"[६] किन्तु "जीवित मानुषिक पीड़ा की चेतना"[७] से व्याकुल नायक के चयन तथा भिन्न-भिन्न स्वतन्त्र-जैसी कथाओं की भरमार की उपाख्यानात्मक प्रवृत्ति का आकर्षण उसकी मौलिकता के उपादान हैं । जीवन की बहुविध विकृतियों का चित्रण करते हुए—व्यक्ति-व्यक्ति व्यक्ति एवं समूह, तथा वर्ग और वर्ग के बीच व्यवधान और संघर्ष को बढ़ावा देने वाली आज की विषम सामूहिक व्यवस्था के परिवर्तन की प्रेरणा देना ही इस उपन्यास का प्रमुख लक्ष्य है ।[८] यह लक्ष्य-सिद्धि एक शिक्षित-संवेदनशील किन्तु निराश्रित-निर्धधा युवक-नायक को उसकी आवास-आजीविका की खोज के लिए भटकाने—फलतः विभिन्न प्रकार की विकट-

१. "आलोचना" संख्या २४, पृ० ५ । २. "प्रेमचन्द,", पृ० १६-१७ ।
३. "आलोचना" संख्या २८, पृ० ६१ । ४. "आलोचना के मान", पृ० १४१ ।
५. "हिन्दी उपन्यास", पृ० ३०६ ।
६. पृ० ३६० । ७. पृ० ३६६ । ८. पृ० ३८९-९० ।

विकृत जीवन-स्थितियों के क्रूर यथार्थ के सम्पर्क में लाने—तज्जनित कटु अनुभवों के अर्जन, उसकी जागरूक प्रतिक्रियाओं के अभिव्यंजन तथा उसके द्वारा प्रभावित पात्रों की चेतना को प्रत्यक्षतः या परोक्षतः आंदोलित करने से हुई है। यह कथानायक किन्हीं बाह्य परिस्थितियों अथवा स्वभावगत वैयक्तिक कारणों से बाध्य या लेखक के पूर्वयोजित विधान से चालित होकर नित्य नए-नए आश्रयों के आधार पर नए-नए अनुभव जुटाता है; अतएव 'जहाज़ का पंछी' को 'फ्री वर्ल्ड में निर्द्वन्द्व विचरने वाले एक शरीफ़ आवारा-सदृश नायक की अनुभव-गाथा कहा जा सकता है। अथवा कथानायक की रुच्यनुकूल एक पुस्तक-विक्रेता जिस पुस्तक को उसके लिए चुनकर रखता है, उसके अनुसार इस उपन्यास को 'Adventures of a vagabond' भी कहा जा सकता है।[१] ये अपार अनुभव नायक ने स्वयं भोक्ता के रूप में भोगकर कम तथा अपने सम्पर्क में आने वाले व्यक्तियों के आचरणों को देखकर या उनकी पूर्वकथाओं को सुन-सुनकर अधिक प्राप्त किए हैं। जहाँ तक भोक्ता रूप का सम्बन्ध है, उसमें पुलिस के अनुभव प्रमुख हैं। पहले-पहल कई दिनों की बेकारी और भूख के कारण उसके रूखे-सूखे बालों, बढ़ी हुई दाढ़ी, रक्तहीन चेहरे, धँसी हुई आँखों, गढ़े-पड़े गालों तथा मैले-कुचैले कपड़ों को देखकर उस पर कोई द्रवित नहीं होता, अपितु उसे गिरहकट समझकर उससे दूर रहने का प्रयत्न किया जाता है। संयोगवश, पार्क में एक ही बेंच पर पास बैठे हुए व्यक्तियों में से एक के गिरते हुए बटुए को जब वह उसे उठाकर देता है—मानो इस रूप में अपनी ईमानदारी का प्रमाण देता है—तब उसे उसी व्यक्ति के द्वारा गिरहकटी का इलज़ाम लगाकर पुलिस वाले के हवाले कर दिया जाता है। और वह पुलिसवाला भी किसी की गवाही के लिए तैयार न होता देख, नायक को ऐसा धक्का देता है कि वह घायल होकर अचेत हो जाता है।[२] अन्यत्र उसे एक यूरोपियन के झूठे इलजाम पर—तथा साथ ही पुलिस के लूटने की लोभ-लालसा के कारण—जेल की हवा खानी पड़ती है; किन्तु सिखाए-पढ़ाए गवाहों की कच्चेपन के कारण वह छूटने में समर्थ होता है। एक अन्य स्थल पर एक सी० आई० डी० अफ़सर अपना रोब और बल दिखाकर इससे रकम झाड़ना चाहता है, किन्तु करीम चाचा के अखाड़े से पोषित-पुष्ट होकर आने से, वह अपनी विद्रोही भावना से उसे पाठ-पढ़ाने में समर्थ होता है—सी० आई० डी० का अच्छा सत्कार होता है और उसे रुपयों से हाथ भी धोने पड़ते है। चकले में रसोइया बनकर रहने के अवसर पर उसे अनुभव होता है कि किस प्रकार मिस साइमन पुलिस के बल पर अपनी आश्रित वेश्याओं पर अन्याय-अत्याचारों को स्थिर किए हुए है। जब मिस साइमन के मर जाने पर यही वेश्याएँ सुधरकर कपड़े-सीने का काम करने लगती

---

१. पृ० ६४। २. पृ० ३-८।

हैं, तब सहायता देने के बजाय यही पुलिसवाले लूटने की आशा से तंग करने वहाँ आने लगते हैं। यहाँ एक बार फिर, मात्र तंग करने की इच्छा से, पुलिस उसे पकड़ कर ले जाती है।

पहले-पहल पुलिस से घायल तथा अचेत होकर उसे सरकारी अस्पताल के अनुभवों के अर्जन का अवसर मिलता है। यहाँ वह भारत के किसी सरकारी दफ़्तर के कर्मचारियों की तरह मानवीय भावनाओं से शून्य, मात्र ऑफ़ीशल ड्यूटी बजाने वाले डॉक्टरों-नर्सों का निर्मम उदासीन व्यवहार तथा पीने को, उनकी भ्रष्टाचारिता का सूचक, आधा पानी मिला दूध पाता है। नौकरी पाने-पूछने की इच्छा से एक मारवाड़ी सेठ तथा धनी-मानी एम्० एल० ए० के यहाँ जाने पर रूखे-कटु व्यवहार का सामना करना पड़ता है। तब उसकी विद्रोहिणी भावना कभी व्यंग्य-विनोद का आश्रय लेती है और कभी अप्रत्याशित रुक्ष व्यवहार से सचेत होकर अपना विरोध प्रकट करती है। कहीं से वह अपनी सचाई तथा समाज-हितैषिता के कारण, सामूहिक विरोध पाने से निकलने पर बाध्य होता है और कहीं विशेष शिक्षित रसोइया होने के कारण, प्रच्छन्न कम्यूनिस्ट समझे जाने पर निकाल दिया जाता है। प्यारे धोबी के घर उसको अपनी जवानी और सुन्दरता इसलिए अभिशप्त लगती है, क्योंकि वह सामाजिक अन्याय की शिकार कुण्ठित बेला को अपने प्रति आकर्षित करने का कारण तो बनती है, किन्तु निराश्रित स्थिति में उसे आश्रय नहीं दे पाती। इसी धोबी के घर उसे रहने-सोने का जो कमरा मिलता है, उसकी स्थिति स्वयं नायक की ज़बानी सुनिए—"···खटमलों और मच्छरों के निरन्तर काटने से शारीरिक कष्ट के साथ ही निद्रा-भंग होते रहने के कारण मन्द विष का-सा प्रभाव मुझपर पड़ने लगा। और वह मन्द विष मेरे भीतर कटु रस घोलता चला गया। फलस्वरूप मैं रात-रात भर उनींदी अवस्था में यह सोचता रहता कि मानवता के विकास की यह कैसी विडम्बना है! बीसवीं शती के इस उत्तरार्द्ध काल में भी, इसी कलकत्ता शहर के लाखों आदमी इन अस्वाभाविक और अमानुषिक परिस्थितियों में जीवन बिताने को बाध्य हैं।···सील से भरे उस बंद कमरे के भीतर मुक्त आकाश की शुद्ध वायु तो प्रवेश कर ही नहीं पाती थी, पर बाहर की तंग गली की गन्दी नालियों की दुर्गन्ध न जाने किन छिद्रों से होकर बेखटके भीतर घुस आती थी। मेरे ही तरह की परिस्थितियों में, अगल-बगल और आमने-सामने के छोटे-छोटे कच्चे मकानों में रहने वाले जो लोग भीतर की सड़ी गरमी से बचने के लिए बाहर गली में खटिया लगा कर, या ज़मीन ही पर मैला कपड़ा बिछाकर सोते थे, वे अपने सिरहाने और पैताने बहने वाली, दुनिया-भर की गन्दगी को अपने साथ बहा लाने वाली नालियों की उत्कट बदबू के आदी हो चुके थे, इसलिए वे निश्चिन्त होकर वहाँ सो जाते थे।"[1] सारतः नायक की जीवन-गति, उसके विविध मोड़ अपने-आप में एक व्यंग्य लिए

१. पृ० २२१।

हुए हैं—कहीं उसे अपनी सचाई, कहीं लोकोपकार, कहीं सदाशयता, और कहीं (किसी व्यवसाय के लिए अपेक्षित से) अधिक योग्यता के कारण निकाला जाता है।

भोगे हुए अनुभवों के अतिरिक्त कथानायक के लिए देखे-सुने अनुभवों की संख्या अधिक है। अपनी जीवन-यात्रा के क्रम में वह अनेक प्रकार से दुखी व्यक्तियों के सम्पर्क में आता है और अपने संवेदनशील स्वभाव से उनकी करुण पूर्वकथाओं को जान पाता है, जिससे बहुविध सामाजिक-आर्थिक, धार्मिक-सांस्कृतिक विकृतियों पर व्यापक प्रकाश पड़ता है। उद्देश्य-व्यंजना की दृष्टि से पृथक्-पृथक् स्वरूप वाले पात्रों के निम्नस्थ 'किस्से' या पूर्वेतिहास परिगणनीय हैं :—

१. पुलिस द्वारा बरसाती की लड़की की अस्मत-आबरू लूटकर मार देने, प्रमाणों के अभाव में बच-निकलने, और फलस्वरूप बरसाती के पागल होने का "लोमहर्षक आतंक-उत्पन्न करने वाला किस्सा।"[१]

२. पुलिस की सहायता पाए हुए ज़ालिम ज़मींदार के घर से एक लड़की की अस्मत बचाने के लिए बनवारी की अकेले पुलिस वालों को मार-भगाने और बाद में धोखे से मारे जाने की वीरतापूर्ण कहानी।[२]

३. "प्रतिदिन की संकटपूर्ण, अस्थिर और अनिश्चित परिस्थितियों में और विकृत, अस्वस्थ और अविकसित वातावरण में भी प्रसन्न, परिहासप्रिय" और संवेदनशील बने रहने वाले अनाथ मजीद के व्यक्तित्व की स्फूर्तिप्रद झलक का वृत्त।[३]

४. जन्म से प्रतिकूल पारिवारिक-सामाजिक परिस्थितियों से संघर्षरत कर्तव्य-परायण पंचानन का पूर्ववृत्त।[४]

५. ज़मींदार के खास आदमी मुखिया फटिक की विधवा शशी को ग़ायब करने और उसका छूटकर विषपान करने की घटना लिए हुए, शशि के भाई हरिपद का विचित्र असाधारण किस्सा।[५]

६. ऐंग्लो इंडियन समाज के सामूहिक ह्रास के प्रतीक, कोयले वाले मिस्टर ब्रॉउन, के योरोपियन होने के हास्यास्पद गर्व की कुण्ठित कहानी।[६]

७. 'द्वापर युग की सजीव स्मृति लिए हुए' धर्म के पाखंडपूर्ण रूप के प्रतीक जटाजूटधारी बाबा जी के पूर्व-जन्म के संस्मरणों की ढोंगभरी गाथा।[७]

८. असामियों पर अत्याचार करने वाले, रियासत के मालिक, अपने पिता के घर को त्यागकर विरक्त हो जाने वाले; धर्म के साम्प्रदायिक रूप के विरुद्ध घोर संघर्षजन्य मानापमान के शिकार; धर्म के सत्यस्वरूप के प्रतीक और भारतीय

---

१. पृ० ७९-८०। २. पृ० ७९। ३. पृ० ८४-८६।
४. पृ० १३७-३८। ५. पृ० १५५-५८। ६. पृ० १७२-७७।
७. पृ० ४१८-१९।

संस्कृति के सही प्रचारक-सुधारक स्वामी जी का लम्बा किस्सा।[1]

९. 'धूर्त', 'खसीस', हड्डी चूस', 'डायन', 'भूतनी', 'मनुष्य-भक्षिणी', लड़कियों का व्यापार करने वाली और वेश्यालय की संचालिका मिस साइमन के दारुण शोषण की शिकार जुलेखा, अमला, सुजाना के पृथक-पृथक द्रावक पूर्व-वृत्त।[2] वेश्यालय की अधिकांश लड़कियाँ तीन प्रकार की मार से मारी जा रही थीं—"एक तो पोषण का नितान्त अभाव, दूसरे पोषण के उस अभाव के बावजूद शरीर का दुहरा शोषण और तीसरे निर्मम ग्लानि की यह मर्मशोषी भावना कि अपने तन, मन और आत्मा का सत्व निचोड़कर, अपना नारीत्व बेचकर, अपने को हर तरह से एकदम रीता करने पर भी उन्हें, और तो और, पेट की आग तक बुझा सकने की सुविधा प्राप्त न हो सकी"।[3]

१०. शारीरिक, आत्मिक, नैतिक और आर्थिक शोषण की शिकार चश्मानशीं अभागिन युवती का करुण किस्सा।[4]

११. अनमेल-विवाह एवं रूढ़िवादी जाति-बहिष्कार की शिकार तथा दमित काम-भाव की मूर्तिमान प्रतिमा, विधवा बेला की दारुण 'ट्रेजेडी'।..."बेला उस चिरन्तन विद्रोह के बीज की उपज है, जिसे प्रकृति किसी पुरानी परम्परा, जातिगत या सामाजिक लीक में एक नया परिवर्तन लाने के उद्देश्य से, अज्ञात उपायों से और रहस्यमय तरीकों से किसी रूढ़िग्रस्त समाज के बीच में सहसा बिखेर देती है।"[5]

१२. दाम्पत्य-जीवन सम्बन्धी कारणों से मानसिक संतुलन खोने वाली नारियों तथा अधिकांशतः आर्थिक कारणों से मानसिक रोगों से पीड़ित पुरुषों के मनोवैज्ञानिक 'केस'।

इस प्रकार 'जहाज़ का पंछी' के कथानक में उद्देश्य की व्यापकता के कारण अधिक प्रसार हो गया है। इसीलिए बहुसंख्यक पात्र लाए गए हैं। दूसरे, प्रश्न-समस्याओं की व्यापकताओं के लिए ये विविध क्षेत्रों तथा वर्गों से लिए गए हैं। सेठ, एम० एल० ए०, मैजिस्ट्रेट, डॉक्टर, पहलवान, पुलिस-अफ़सर, सिपाही, घरेलू नौकर, मलाह, धोबी, नाई, स्वामी-संन्यासी, सुधारक, नेता, साहित्यकार, विद्यार्थी, क़ैदी, भिखारी, सट्टेबाज़, नर्तकियाँ, वेश्याएँ, पागल रोगी, साधारण रोगी, आदि अनेक व्यवसाय-वर्गों तथा स्थितियों के पात्र हैं। ये भिन्न देशीय एवं भिन्न धर्मावलम्बी—हिन्दू, मुसलमान, ईसाई ऐंग्लो इंडियन तथा यूरोपियन—सभी प्रकार के पात्र है। कुछ निम्नवर्गीय पात्रों के प्रसंग मात्र इसलिए लाए गए जान पड़ते हैं कि इस वर्ग में अपेक्षाकृत अधिक मानवता दिखाई जा सके। इसकी तुलना में उच्चवर्गीयों का

१. पृ० ४५८-७०। २. पृ० २५६, ७४। ३. पृ० २७४।
४. पृ० १७२-७७। ५. पृ० २२८।

व्यंग्यात्मक चित्रण हुआ है। उदाहरणतया, कथानायक की विपन्न स्थिति के प्रति धनी काँग्रेसी एम० एल० ए० तथा शेर मल्लाह की प्रतिक्रियाओं वाले प्रसंगों का तुलनात्मक अध्ययन किया जा सकता है। विषमता प्रकट करने के लिए ये दोनों प्रसंग साथ-साथ रखे गए है।

उपर्युक्त सभी साधनों—विभिन्न पात्रों के दशा-ज्ञान, उनकी पूर्व-कथाओं के श्रवण तथा स्वयं विभिन्न प्रकार की विषम परिस्थितियों में उलझने—के कारण कथानायक का चिंतन स्थान-स्थान पर उद्बुद्ध होता रहा है, जिससे उद्देश्य-तत्व के रूप में विचार-तत्व का प्रचुर तथा सहज समावेश हो सका है। यों भी कथानायक का चिन्तनशील स्वभाव है और उसके चिन्तन में ही "प्रश्न-प्रतिप्रश्न, उत्तर और प्रत्युत्तर जागते रहते है।"[१] इसके अतिरिक्त नायक की जीवन-गति की व्यंग्यमयी परिस्थितियों से भी दूषित समाज-व्यवस्था के अनावरण का उद्देश्य ध्वनित होता रहा है। इन सभी साधनों से पृथक् 'जहाज़ का पंछी' में विचार-तत्व का सर्वाधिक समावेश मुख्यतः कथानायक तथा गौणतः अन्य पात्रों के भाषणों के रूप में हुआ है। वस्तुतः लेखक ने अपनी चक्करदार जीवन-गाथा तथा असंख्य पात्रों की पूर्वकथाओं से सहज व्यंजित उद्देश्य-तत्व के कलात्मक समावेश पर विश्वास नहीं किया और अभिधात्मक पद्धति से भाषणबाज़ी का आवश्यकता से अधिक उपयोग किया है। इससे स्थान-स्थान पर कथागति ही रुद्ध नहीं हुई, उपन्यास का कलेवर भी व्यर्थ में बढ़ गया है। उद्देश्य-तत्व के साग्रह समावेश करने के प्रयत्न में लेखक की हर तरह से अधिक से अधिक विचार देने की मनोवृत्ति, उपन्यास की कलात्मकता को यत्किंचित् कुण्ठित करने की उत्तारदायी बनी है। इससे उपन्यास में उन विचारों का भी समावेश हो गया है, जो पात्रों के तर्क-वितर्क का विषय तो बने हैं, किन्तु उपन्यास की घटनाओं का बल उन्हें नहीं मिल सका। अतएव विचारों का संचय जितना हो सका है, संचार उतना नहीं। यद्यपि लेखक ने अपने विस्तृत भाषणो को किसी-न-किसी प्रकार से संगति देने का प्रयास किया है, तथापि यह उद्देश्य-तत्व के समावेश की प्रभावपूर्ण विधि नही बन सकी। इस उपन्यास में निम्नस्थ विधियों से भाषणों का समावेश हुआ है :—

(क) साहित्यिक गोष्ठियों तथा अग्रगामी महिला-संघ की सभा में दिए गए आयोजित भाषण।[२]

(ख) कथानायक, करीम चाचा आदि के आवेगज मानसिक स्थितियों मे दिए गए धारा-प्रवाह भाषण।[३]

(ग) प्रश्नोत्तार अथवा तर्क-वितर्क-क्रम में दिए गए भाषण। इसके दो रूप

१. 'जहाज़ का पंछी', पृ० २२८, २४९-५१। २. पृ० १६६-६६, ३७०-७४।
३. पृ० १२२-२५।

हैं—कथानायक और सम्बन्धित पात्रों के मध्य[1]; दूसरे, अन्य पात्रों के मध्य जहाँ कथानायक परोक्ष श्रोता-रूप में विद्यमान होता है।

(घ) प्रसंगानुसार दिया गया भाषण; जैसे अदालत में कथनायक का भाषण।[2]

(ङ) रोब डालने अथवा पुलिस आदि को धमकाने के लिए 'स्टन्ट'-रूप में दिए गए भाषण।[3]

(च) पंत जी के गीत-विशेष की व्याख्या में दिए गए भाषण।[4]

ये भाषण लम्बे होने से और भी आक्रांतकारी हो गए हैं। भाषणबाज़ी के अतिरिक्त उद्देश्य की प्रभाव-तीव्रता में किन्हीं अन्य कारणों से भी क्षति पहुँची है। पहली बात तो यह है कि कथानायक स्वयं इन बहुविध दुखों का उपभोक्ता या विकृतियों का शिकार नहीं, वह अधिकांशतः अध्येयता है। इससे उसकी अनुभूतियों में तीव्रता नहीं आ सकी। दूसरे, उसकी निराश्रित जीवन-गति पाठकों पर अपनी प्रामाणिकता की प्रत्ययोत्पत्ति करने में बहुत-कुछ असफल रही है। वैसे नायक की जीवन-गाथा की सचाई का प्रभावोत्पन्न करने के लिए दो तीन, सफल साधन भी अपनाए गए हैं; जैसे, यह उपन्यास आत्मकथा-प्रणाली में लिखा गया है—यह कथानायक की आपबीती है। एक स्थान पर वह अपने अनुभवों को लिखने की बात भी कहता है।[5] आत्मकथा की पद्धति में आत्मकथा-वक्ता को पाठक के विश्वास-सम्पादन की सुविधा रहती है। कथानायक ने स्थान-स्थान पर अपने लेखन की सचाई का प्रभाव डालने के लिए ही विशेष कथनों का आश्रय लिया है; जैसे वह लिखता है—

(क) 'विश्वास मानिए, मैं केवल विवशता के कारण यहाँ आया हूँ[6]—अन्यत्र वह 'राम की शपथ' खाकर अपनी बात कहता है।[7]

(ख) "—दो समवयसी-से लगने वाले लड़के (सम्भवतः छात्र) मेरी बगल में इतमीनान से बैठ गए"[8]—यहाँ आत्मकथा-वक्ता ने इतिहास शैली के लेखक की तरह सर्वज्ञता का दावा नहीं किया और अपनी जानकारी की सीमा 'सम्भवतः' से व्यक्त की है।

(ग) दूसरे पात्रों के पूर्व-वृत्तों की सचाई पर उसने स्वयं ही शंका उठाई है—विचित्र वृत्तों के लिए पाठकों में विश्वास उत्पन्न करने का यह भी एक तरीका है—और स्वयं ही समाधान भी खोज लिया है; जैसे—'एक दिन सुजाता ने अपना

१. पृ० १६१-६३, २६४। २. पृ० ६०।
३. पृ० २७६, २८१। ४. पृ० ३३६-४७। ५. पृ० २२२।
६. पृ० १। ७. पृ० ४३। ८. पृ० ४।

किस्सा सुनाया, जो मुझे किसी सस्ते किस्म के यूरोपियन उपन्यास की कहानी की तरह विचित्र और मन-गढ़त-सा लगा। पर सुजाना ने जिस सहृदयता-भरी वेदना के साथ उसे सुनाया उससे उसकी बात पर अविश्वास करने का कारण मुझे नहीं दिखाई दिया।[1]

(घ) अपनी आत्मप्रशंसा को भी वह ढंग ने प्रस्तुत करता है; लिखता है—"हाँ, अपने मुख से अपनी प्रशंसा का बखान करने का दोषी होते हुए मैं यह बताए बिना नहीं रह पाता कि उस दिन बाँसुरी बजाने की क्रिया से जैसी पूर्ण तृप्ति मुझे हुई वैसी जीवन में बहुत कम हुई है"।[2]

आत्मकथा-प्रणाली की प्रामाणिकता की विश्वासोत्पत्ति के अतिरिक्त, लेखक ने एक यथार्थवादी की तरह अपने क्रिया-क्षेत्र (कलकत्ता) के पथों एवं स्थानों के सही-सही नाम, तथा अपनी तथा पात्रों की दैनंदिन की क्रियाओं एवं उनसे सम्बन्धित क्षेत्रों आदि के पूरे-पूरे यथार्थ विवरण दिए हैं; जैसे, कथानायक की विभिन्न यात्राओ, करीम चाचा के मकान-गली के वातावरण,[3] उसके खाना पकाने एवं हुक्का-भरने की विधियों, लीला के गुसलखाने, उसके कमरे की पुस्तकों और सजावट, नीरजा के 'म्यूज़ियम' की बहुविध वस्तुओं आदि के ब्यौरे देखे जा सकते है।[4] वह यह भी बताता है कि चप्पल कौन सी कम्पनी की थी,[5] और अस्पताल के बिस्तर[6] और स्टेशन के प्लेटफार्म का क्या नम्बर था।[7] इसी तरह कथानायक के विविध भाषणों से यत्किंचित् भारत की गति-प्रगति तथा अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थिति तक व्यंजित हो गई है।[8]

औपन्यासिक कथानक की यथार्थता-वास्तविकता का विश्वासोत्पन्न करने के उपर्युक्त सफल साधनों के होते हुए भी कथानायक सम्बन्धी मुख्य कथानक के प्रति पाठकों की आशंकाशीलता बनी ही रहती है, जो इसके उद्देश्य को प्रभावपूर्ण नहीं होने देती। बार-बार यही कहा गया है और उपन्यासारम्भ भी इसी से हुआ है कि नायक आजीविका-आवास के लिए भटक रहा है; यथा, वह कहता है—"विश्वास मानिए, मैं केवल विवशता के कारण यहाँ आया हूँ, किसी प्रकार की ज्ञात या अज्ञात इच्छा, या-कुतूहल या जीवन की गंदगी का ज्ञान प्राप्त करने की उत्सुकता से प्रेरित होकर नहीं।"[9] उसका यह कथन पाठकों के गले नहीं उतर पाता। वस्तुतः इस कथन से उसके अचेतन का वह मनोभाव झलक रहा है जो नायक के एक स्थान से दूसरे

१. पृ० २६६। २. पृ० ३७७। ३. पृ० १००, १०६-७।
४. पृ० ७२, ९९-१००, १०२-४, १३८-४१. १२६, ३५२, ४११-१२।
५. पृ० १५५। ६. पृ० २७। ७. पृ० ९८।
८. पृ० ४, १९८-९९, १०५, १९८। ९. पृ० १।

स्थान तक भटकने के कारण है - वह जीवन की गन्दगी या विकृतियों की अनुभव-प्राप्ति के लिए, कौतूहलवश ही नए-नए स्थानों पर फिरता रहता है। उसके ये अपने कथन इसके प्रमाण हैं—"जीवन की विपरीत परिस्थितियों में मेरे भीतर जीवन को नए रूप से जानने, समझने और उसमें रस लेने की प्रवृत्ति जोर मारने लगी"।[1] तथा "उस दिन मैं निपट कुतूहल से प्रेरित होकर सवेरे ही (मानसिक रोगियों का) अस्पताल देखने के लिए चल दिया था"।[2] और "मैं अनजाने में (वेश्यालय) किस भूलभुलैया चक्कर में फंस गया हूँ, इसका आभास मुझे मिलने लगा था। एक बार सोचा कि उलटे लौट चलूँ। पर उस सारे रहस्य की तह तक पहुँचने के सम्बन्ध में एक अदम्य कुतूहल ने मुझे रोक लिया"।[3] जो व्यक्ति कथानायक को पहलवानों के अखाड़े पहुँचाता है, उसके विचित्र व्यवहार को देखकर ही कथानायक मात्र 'कौतूहल' या जोखिम की भावना से प्रेरित होकर उसके साथ हो लेता है; यथा, "चार आँखें होते ही उसने हाथ के संकेत से मुझे अपनी ओर बुलाया। उसका बुलाना मुझे अत्यन्त रहस्यमय लगा और साथ ही मेरा कुतूहल भी जगा। मैं किसी जादू के-से आकर्षण से सीधे उसके पास चला गया"।[4] तथा "पर चिन्ता मुझे किसी भी बात की नहीं थी, क्योंकि मैं जानता था कि मुझे कहीं, किसी भी परिस्थिति में कुछ खोना नहीं है, बल्कि पाना है। कोई तथाकथित 'असामाजिक' या जरायम-पेशा आदमी भी मुझे तनिक भी क्षति नहीं पहुँचा सकता, बल्कि मेरी सहायता ही कर सकता है, इतना मैं निश्चित रूप से समझे बैठा था। इसलिए मैं निश्चिन्त था। पर अपने कुतूहल को दबा पाना मेरे लिए कठिन हो रहा था"।[5] इन उद्धरणों से कथा-नायक की मनोवृत्ति स्पष्ट है। यदि उसे आश्रय और पेट भरने की ही चिन्ता होती तो वह भादुड़ी महाशय के घर ज्ञान-बघार कर अपने प्रतिकूल परिस्थिति न पैदा कर लेता; करीम चाचा के कहने पर भी पहलवानों के स्थान को छोड़ कर न चला जाता और मात्र तंग करने के लिए ले गई पुलिस को 'टेलरिंग हाउस' छोड़ने का बहाना न बना लेता। लीला के यहाँ तो उसे प्रत्येक प्रकार की सुविधा थी—ज्ञान और कला के प्रदर्शन का अवसर भी उसे मिल रहा था—किन्तु वहाँ भी उसने एक कड़ी शर्त रख कर और उसे बिना बताए चले जाने में ही अपनी कुशलता देखी। वस्तुतः नायक-जैसे प्रकाण्ड विद्वान, अद्भुत वक्तृत्व-शक्ति सम्पन्न वक्ता, 'प्रतिभाशाली संगीतज्ञ', 'कुशल गायक', और 'निपुण वादक' को साधरण रहने-खाने की कठिनाई नहीं हो सकती थी—विशेषतया उस बंगाल प्रदेश के केन्द्र कलकत्ता में जहाँ संगीत तथा कलाओं का सीखना आम रिवाज है—किन्तु नायक को यह बाध्यता थी ही

---

१. पृ० १२।   २. पृ० ४४२।   ३. पृ० २५४।
४. पृ० १५।   ५. पृ० १६।

नहीं। इस रूप में वह सामान्य शिक्षित बेकारों का प्रतिनिधित्व नहीं कर सका। अतएव ऐसी स्थिति में यदि यह कहा जाए कि वह ऊपर से बेकारी का लेबल लगा कर—मानो 'भेस बदल कर'—लोगों की दशा जानने के लिए, या दुखड़े सुनने की मजबूरी से घूम रहा है तो इसमें कोई अत्युक्ति न होगी। "तात्पर्य यह है कि वह 'अश्क' के 'चेतन' के समान यथार्थजीवी नहीं कल्पनाजीवी है। वह उस वर्ग का व्यक्ति नहीं है केवल उसका अध्येता है। उसके कष्ट, उसका भटकना सब मानों उसी के द्वारा नियोजित है, अनिवार्य नहीं। यही कारण है कि उसके चरित्र में कृत्रिमता आ गई है।"[1]

एक आश्रय से निकल कर दूसरे आश्रय में पहुँचने की उसकी प्रवृत्ति का विश्लेषण यदि उसके अपने (लेखक के) कथनानुसार न किया जाए तो उसकी स्थिति का स्पष्टीकरण अधिक संगति से हो सकता है। वास्तव में नायक का संवेदनशील स्वभाव, समाजहितैषिता की परिस्थिति-निरपेक्ष भावना, व्यावहारिकता-शून्य ईमानदारी तथा विद्रोह-वृत्ति ही उसके स्थाई आश्रय पाने-खोजने में बाधक रही है। और जब उसे, इन प्रवृत्तियों को समझने वाला—यही नहीं, कार्य-रूप में परिणति की सहायता देने वाला—व्यक्ति मिल जाता है तो उसका आश्रय भी स्थिर हो जाता है। उस उपन्यास के 'जहाज़ का पंछी' नाम की मूल व्यंजना भी यही है। इसका सांकेतिक अर्थ यह नहीं कि अनेक आश्रयों में घूम-फिर कर वह फिर कलकत्ता की सड़को में घूमता नज़र आता है, मानों 'जहाज़' का पंछी' फिर उड़ कर जहाज़ पर आ जाता है, बल्कि यह है कि उसका मन अपनी ईमानदारी को छोड़ नहीं सका तथा समाज-पीड़ा को दूर करने के अपने अनन्य उच्च उद्देश्य को त्याग नहीं सका फिर चाहे इसके लिए उसे अनेक आश्रयों को छोड़ना पड़ा है। वस्तुतः यह नामकरण लक्ष्य की अनन्यता—'मेरों मन अनत कहाँ सुख पावै'—का द्योतक है जिसे सूरदास ने दूसरी पंक्तियों में उदाहृत किया है—"जैसे उड़ि जहाज़ को पंछी फिरि जहाज़ पै आवै"। नायक में इस प्रकार के मानवीय गुणों को प्रदर्शित कर लेखक ने यह संकेतित करने का प्रयास किया है कि आज की विकृत समाज-व्यवस्था के भ्रष्टाचारी-युग में ऐसा व्यक्ति 'फिट' नहीं हो पाता; यदि कोई हो पाता है और तथाकथित उन्नति करता है तो तिकड़मबाज या सचाई से आँख मूँदकर रहने वाला व्यावहारिक व्यक्ति ही—ऐसा व्यक्ति जो रोने को दुर्बलता मानता हो और अपना काम चलाने और निकालने में ही कुशलता देखता हो। खेद की बात यही है कि लेखक नायक के आश्रय-खोजने की अतीव व्याकुलता तथा उपर्युक्त गुणों में संगति नहीं बिठा पाया—उसके अपने ही कथन व्यर्थ में विरोध का सृजन कर मूल प्रभाव के ग्रहण में बाधक सिद्ध हुए हैं।

---

१. डॉ० शिवनारायण श्रीवास्तव : "हिन्दी उपन्यास", पृ० ३०८।

कथानक के अस्वाभाविक प्रसंग भी उद्देश्य के प्रभाव को शिथिल करते हैं। 'जहाज के पंछी' में विभिन्न विकृतियों के वर्णन सामान्यतः यथार्थ एवं सजीव हैं किन्तु पुलिस और वेश्यालय से सम्बन्धित प्रसंग विश्वसनीय नहीं बन सके। न तो पुलिस इस प्रकार डर जाया करती है जैसे नायक उसे डराता रहता है और न ही सी० आई० डी० अफसर एक सुगठित एवं बुद्धिमान नवयुवक—जो सीधा पहलवानों के अखाड़े से नया स्वास्थ्य लेकर आया हो और उससे हिम्मत से तर्क-वितर्क भी कर रहा हो—से, अकेले ही ज़बरदस्ती पैसा हथियाने की हिम्मत कर सकता है।[१] ऐसा भी नहीं होता कि कैदियों के सामने ही, कोई पुलिस अफसर अपने अधीन अन्य अधिकारियों को डाँटने-फटकारने लग जाए। फटेहाल नायक में, जैसे अखाड़े का आदमी अपने अनुमान के विश्वास से ही किसी को पढ़ाने की क्षमता देख लेता है, वह भी स्वाभाविक नहीं जान पड़ता। इसी तरह लीला द्वारा रसोइये की नौकरी माँगने वाले नायक का आते ही एक विशेष अतिथि के रूप में स्वागत भी अस्वाभाविक लगता है। द्वापर युग के संस्मरणों वाले स्वामी जी का चरित्र भी रूढ़िवादी तथा पाखंडपूर्ण धार्मिकता का अतिरंजित उदाहरण है, सामान्य नहीं।

'जहाज़ के पंछी' में जोशी जी की उद्देश्यवादिता उनकी सुधार-प्रवृत्ति में भी लक्षित होती है। उपन्यासांत में लीला और पहले फ्रैंक का सम्पत्ति-दान इन्हीं सुधार-कार्यों के निमित्त है। सभी वेश्याओं के एक-साथ हृदय-परिवर्तन से वेश्यालय को 'टेलरिंग हाऊस' में परिवर्तित कर दिया गया है। इस तरह चित्रण की दृष्टि से यथार्थ धरातल पर विचरते हुए भी समाधान की दृष्टि से जोशी जी आदर्शवादी बन जाते हैं।

'जहाज़ का पंछी' उपन्यास का कथानक नायक की निरुद्देश्य—"लक्ष्यहीन लक्ष्य" की ओर बढ़ते रहने वाली—जीवन-गति के अनुरूप है। मुख्य कथासूत्र कथानायक की जीवनी का है जिसमें अनेक नाटकीय मोड़ आते रहते हैं। कथानायक एक आश्रय से दूसरे आश्रय की खोज में बढ़ता रहता है और यह दूसरा आश्रयस्थल, अज्ञात कारणों से, 'सहसा'—मानों नाटकीय विधि से—आता रहता है। उपन्यास का आरम्भ नायक के २७ वें वर्ष के साथ हुआ है अतएव उसके विगत-जीवन का आभास स्थान-स्थान पर, उसकी स्मृतियों या अन्य पात्रों द्वारा पूछे जीवन-सम्बन्धी प्रश्नों के उत्तर में मिलता रहता है। नायक ने ऐसी शैली से अपनी कथा का आरम्भ किया है कि जिससे यह संकेत मिल जाता है कि उसका जीवन पहले भी इसी प्रकार अव्यवस्थित-निराश्रित रहा है; जैसे—"तो अन्त में मुझे इस गली मे शरण मिली है...।"

---

१. पृ० १६६-७१।

—यहाँ 'तो' शब्द मानों पूर्व-जीवन को आगत से शृंखलित करने के कुशल प्रयत्न का संकेत देता है।

कथानायक की जीवन-गति के इस मुख्य सूत्र से बंधी-सी अनेक पात्रों की पूर्वकथाएँ हैं। ये अपने-आप में पूर्ण हैं फिर भी कथानायक को सुनाई जाती हैं, अतएव उसके अनुभवों को समृद्ध करती हुई उसकी चारित्रिकता में भी कुछ-न-कुछ योग देती हैं। इसके अतिरिक्त इनका आगे का विकास नायक से कुछ-न-कुछ योग भी पाता रहा है; जैसे, वेश्यालय की अमला, सुजाना, सुखिया आदि नायक की योजनानुसार वेश्यावृत्ति को छोड़ दरज़िन बनकर आत्मनिर्भर होने में सफल होती हैं। फ्रैंक भी नायक से प्रभावित होकर ही अपनी धनराशि का समुचित उपयोग कर पाता है। इस तरह ये स्वतन्त्र-सी कथाएँ तथा नायक का मुख्य सूत्र पारस्परिक योगायोग से सम्बद्ध-से हो गए हैं। इसके अतिरिक्त कुछ को छोड़कर प्रायः इन सभी कथाओं का सम्बन्ध औपन्यासिक काल—बीसवीं शताब्दी या उसके उत्तरार्ध—से है, जिससे ये किसी-न-किसी सामाजिक-आर्थिक विकृति को दिखा कर इस उपन्यास के उद्देश्य को समृद्ध बनाती हैं।

उपन्यास का मुख्य सूत्र भी एक ही पात्र की जीवन-गति से सम्बद्ध होने के कारण शृंखलित है अन्यथा पृथक्-पृथक् आश्रय-प्रसंगों के साथ यह भी टूटता जाता है और इसे शृंखलित नहीं कहा जा सकता। फिर भी, लेखक ने नायक के कुछ आश्रय-स्थलों या आश्रयाधार पात्रों को एक से अधिक बार लाकर मुख्य कथा-सूत्र को जोड़ते रहने का प्रयास भी किया है; जैसे, भादुड़ी महाशय के यहाँ नायक दो बार आता है—जिस बीसवर्षीय युवती दीप्ति को वह केवल पहली बार देखता है, बाद में उसी से बहिन का स्नेह पाता है। इसी तरह अस्पताल में प्यारे धोबी से उसके भाई की कथा सुनता है, उससे परिचय बढ़ाकर उसे प्रभावित करता है और उसके दिए पते पर बाद मे उसी के यहाँ आश्रय पाता है। प्यारे की लड़की बेला को वह पहले अस्पताल में देखता और बाद में उसका प्रेम-भाजन बनता है। लीला-प्रसंग से भी नायक के जीवन का कथा-सूत्र एक बार टूट कर पुनः मिलता है। एक विशेष पुलिसमैन भी कथानायक को बार-बार मिलता है—एक बार उसका धक्का नायक को अस्पताल तथा दूसरी बार उसका निर्देश उसे पहलवानों के अखाड़े पहुँचाने का कारण बनता है। अन्त में, कॉलेज स्क्वायर के पुस्तक-विक्रेता से भी उसे दो बार सरोकार पड़ता है। कुल मिलाकर कथा का उपर्युक्त विधान उपाख्यानात्मक शिल्पण का द्योतक है। डॉ० देवराज उपाध्याय के अनुसार "इन (उपाख्यानात्मक) उपन्यासों में भिन्न-भिन्न स्वतन्त्र जैसी कथाओं का जमघट होता है। यदि इन्हें पृथक् रूप में भी देखा जाय तो भी कोई विशेष हानि नहीं है। ये घटनाएँ एक प्रधान

नायक के जीवन में ही घटती हैं अतः इसी सूत्र के सहारे उपन्यास में जाकर बंधी-सी ज्ञात होती हैं।"[1]

मुख्य कथानक की गति भी नायक के जीवन की स्थिरता-अस्थिरता की वस्तु-स्थिति के अनुरूप रही है। करीम चाचा के यहाँ वह अधिक मास ठहरा क्योंकि वहाँ उसे दो कार्य सिद्ध करने थे—मुसलमान लड़की को हिन्दी पढ़ानी थी जिसके लिए कम से कम नौ-दस मास अपेक्षित थे; दूसरे, स्वास्थ्य को बनाते हुए पाक-कला में ऐसी निपुणता प्राप्त करनी थी कि वह इसी के बल पर आगे आजीविका जुटा सके। और निस्सन्देह उसे यही कार्य बाद में काम भी आया। इसलिए इस प्रसंग को अधिक पृष्ठ मिले हैं। अन्त में नायक को उसके रुचियों-विचारों का सम्मान करने वाली पात्रा लीला मिलती है, जिससे उसके विशृंखलित जीवन को नियमित गति और कथानक को व्यवस्था मिलने लगती है किन्तु जब लीला का असंतुलित प्रेम नायक के जीवन में विक्षोभ उत्पन्न करता है, तो कथा-शृंखला एक बार पुनः टूटती है। तत्पश्चात् लीला के संयत हो पाने पर नायक को स्थाई आश्रय मिल जाता है और कथा भी समाप्त हो जाती है। कथा के उपर्युक्त विधान में कौतूहल-उत्सुकता के तत्वों का सातत्य नहीं रहता, अपितु नायक के प्रत्येक मोड़ तथा पात्रों की पूर्व-कथाओं के प्रारम्भ एवं अन्त के साथ-साथ ये तत्व भी जागृत तथा शांत होते रहते हैं। इसके अतिरिक्त कथा के इस विधान में पर्याप्त मनोरमता रहती है। नायक के नए-नए आश्रयों के आधार पर नए-नए अनुभव तथा विभिन्न पात्रों की अपनी-अपनी कथाओं का वैविध्य इस कथानक की रोचकता का कारण बनता है। पहले हम नायक की जीवनगति की विविधता तथा पात्रों की पूर्व-कथाओं की विविध उद्देश्यमयी रोचक प्रकृति की सूची दे चुके हैं। इसके अतिरिक्त भी पात्रों की ऐसी पूर्वकथाएँ तथा प्रसंग आए हैं जो उपन्यास के उद्देश्य नहीं, रोचकता की दृष्टि से ही महत्व रखते हैं। उदाहरणतया, प्यारे धोबी के भाई बंसी की "आतंक उत्पन्न करने वाली और मर्मव्यथा जगाने वाली हौलनाक घटना" से युक्त प्रेमकथा देखी जा सकती है। किन्तु इस दृष्टि से अद्वितीय करीम चाचा की, "आपबीती कहानी" है। इसके अन्तर्गत करीम चाचा और रामकली का अचल मार्मिक प्रेम तथा वैभव-विलास की जगमगाहट में रामकली और मुन्नीजान का उतार-चढ़ावों वाला कुतूहलपूर्ण सरस संगीत-प्रतियोगिता[2] का किस्सा है। इस कहानी के प्रभाव के स्वरूप और सरसता का अनुमान स्वयं कथानायक के शब्दों से किया जा सकता हैं; देखिए :—"बुड्ढे की पलकें भीग आई थीं। मैं मौन भाव से हुक्का गुड़गुड़ाता जाता था, हालांकि अब चिलम में कुछ भी दम शेष नहीं रह गया था। मुझे इतनी देर तक ऐसा लग रहा

१. "हिन्दी साहित्य कोश", पृ० १५४। २. पृ० ११६-१९।

था जैसे एक ऐसे बीते हुए विचित्र युग की पौराणिक गाथा सुन रहा होऊँ, जिसकी यथार्थता का तनिक भी अनुभव या अनुमान मुझे नहीं हो सकता था। ऐसा नहीं कि करीम चाचा की बात पर मुझे अविश्वास हो रहा हो, पर जिस युग की जिन परिस्थितियों की और जिस व्यक्तित्व से सम्बन्धित आपबीती कहानी उन्होंने आन्तरिक भावावेग के साथ सुनाई, उसका मेरी कल्पना में कोई मेल ही नहीं बैठता था। केवल रह-रह कर एक मीठी और करुण-कोमल उदासी मेरे प्राणों को हल्की वसन्ती हवा की हिलोरों के साथ हौले-हौले हिला रही थी"।[१]

कथानायक और लीला की संयत-सोद्देश्य प्रेमकथा भी भावमयी मार्मिकता से युक्त है। कथानायक का अपने ज्योतिषी बनने के अभिनय से यात्री युग्म में पारस्परिक प्रेम-प्रवृत्ति जगाने का प्रयास भी रंजक है। इसके अतिरिक्त 'जहाज़ का पंछी' में हास्य-व्यंग्य की रंजकता को भी कहीं-कहीं स्थान मिला है।[२] इसका कारण कथानायक का कठिनाइयों के बीच भी जीवन के प्रति आन्नदमूलक दृष्टिकोण को स्थिर रखना तथा अन्याय-प्रतिकार की विद्रोही भावना है, अतएव यह रंजकता अधिक उद्देश्य-बाह्य नहीं जान पड़ती।

रंजक स्थलों के साथ मार्मिक स्थलों की सृष्टि भी हुई है। निश्छल पात्रों की वियोग-वेला का चित्रण सर्वत्र सजल मार्मिकता से पूर्ण है। करीम चाचा, दीप्ति, मजीद आदि से बिछुड़ते हुए नायक के प्रसंगों में यह भाव-मार्मिकता देखी जा सकती है।[३] कथानक की यह रंजकता-मार्मिकता भाषणों के बोझ को हल्का कर देती है।

जोशी जी के इस उपन्यास में बहिर्मुखी वृत्ति का प्राधान्य है। पात्रों के व्यक्ति-वैचित्र्य की, या उनके अन्तर्बाह्य भेदों की मनोविश्लेषणात्मक छान-बीन इसका उद्देश्य नहीं, समाज की बाह्य विषमताओं तथा विकृतियों का दिग्दर्शन तथा इनको दूर करने की स्फूर्ति देना इसका लक्ष्य है। इस दृष्टि से यह कृति पात्र-प्रधान नहीं—स्यात् इसीलिए लेखक ने कथानायक का नामकरण तक नहीं किया, वह गुमनाम पात्र है। गौण पात्रों की चयन-परिधि की विविधता तथा बहुसंख्यता की मूल सार्थकता भी समाज की बहुविध विकृतियों को कारण-सहित सामने लाकर कथानायक के अनुभवों को समृद्ध करने में है—ये मुख्यतः उद्देश्य में सहायक हैं, कथा-विकास या मुख्य-पात्र, नायक, के चरित्रविकास में नहीं। प्रायः प्रत्येक पात्र मानो उपन्यास के रंगमंच पर सीमित समय के लिए आता है और समाज-चित्रण में योग देकर चलता-बनता है। इनका कथा-गति के विकास में योगदान इसलिए गौण है क्योंकि

---

१. पृ० १२१। २. पृ० १६८-६९, २०५, २८०, ४०-४२।
३. पृ० ८४, १६४, २०७-९।

कथानक का क्रम पूर्व-योजित-सा और टूट-टूट कर बढ़ने वाला है। कथानायक का अपनी लम्बी जीवन-यात्रा में चरित्र-विकास नहीं, चरित्रोद्घाटन होता है—यह मुख्यतः स्थिर-पात्र है, गतिशील नहीं। प्रारम्भ से ही इसमें संवेदनशीलता, समाज-हितैषिता, आत्मकरुणा जगाने के प्रति घृणा, चारित्रिक दृढ़ता, तथा जीवन की निर्द्वन्द्व स्वीकृति की परिचायक मस्ती मिलती है और यही गुण इसके जीवन-दर्शन का निर्माण करते हैं—इन्हीं के आधार पर इसका समग्र जीवन चलता है। इसलिए दूसरे पात्र इसके चरित्र-विकास में नहीं, चरित्रोद्घाटन में—उसके बारे में अधिक जानकारी देने में—योग देते हैं। अधिक-से-अधिक कुछ पात्र—करीम चाचा, स्वामी जी, मजीद, जो लगभग सभी स्थिर किन्तु सजीव पात्र हैं—उसकी आस्था को दृढ़ अवश्य करते है। इस दृष्टि से लेखक ने उपर्युक्त पात्रों में कुछ ऐसे समान गुणों की आवृत्ति की है जो मानववाद तथा आशावाद के आधार हैं। आवृत्ति और परस्पर-पुष्टि की इस समानांतर चरित्र-पद्धति से उपन्यास के सत्प्रभाव की समष्टि में योग मिला है। इन पात्रों को छोड़कर, नायक अन्य पात्रों से प्रभावित नहीं हुआ, उसने प्रभावित किया है—उसने उनके चरित्र-विकास में योग दिया है। विभिन्न वेश्याएँ, फ्रैंक, इब्राहीम, आदि के चरित्रों में यह विकास लक्षित किया जा सकता है। इन वेश्याओं, मानसिक संतुलन खोने वाले पागल पात्रों तथा बेला में, उनके पूर्ववृत्तों के आधार पर गतिशीलता देखी जा सकती है। बेला और लीला भी किंचित् गतिशील पात्रा हैं। लोक-संग्रह की समष्टि-साधना में संलग्न नायक के वरण के लिए लीला का धन-त्याग, उसके वर्गीय संस्कारों से मुक्ति का सूचक है। लीला की अपेक्षा बेला का चरित्र अधिक स्वाभाविक तथा प्रभावपूर्ण है। कुछ स्थिर-पात्र व्यंग्य-चरित्र (कैरिकेचर) हैं; जैसे मारवाड़ी सेठ और भादुड़ी महाशय। ये पात्र उद्देश्य में सहायक वर्गगत पात्र हैं। पागलों के चित्र पर्याप्त सजीव हैं। स्मरणीय पात्रों में बेला, करीम चाचा, मजीद तथा कथानायक का नाम लिया जा सकता है। अन्तिम तीनों पात्रों के चरित्र की उपेक्षामयी दृढ़ता, संवेदनशीलता, प्रगतिशीलता तथा मस्ती सब मिलजुल कर, अपनी बोधगम्य रेखाओं में पाठकों के मन में स्थान बनाने में समर्थ होती हैं।

लेखक के आदर्श पात्र—नायक, करीम चाचा—भी देवता नहीं, मानव हैं। क्योंकि "देवता बन कर पूजा पा जाना आसान है···पर मनुष्य बन जाना कठिन है"।[१] मानव अपने देवत्व से जो प्रभाव डाल सकता है, वह देवता नहीं। इसलिए नायक भी अपने तटस्थ आत्मविश्लेषण में कहीं अपने में अहं देखता है और कहीं वह आत्मरक्षा के लिए, रहने-खाने की मजबूरी से, डाक्टरों को धोखा देना चाहता है—क्योंकि "जीवन की परिस्थितियों का क्रूर यथार्थ मनुष्य के सहज स्वभाव को भी कुछ क्षणों के लिए बदल सकता है"।[२] करीम चाचा ने अपने प्रेम की अनन्यता के

१. पृ० ३६१। २. पृ० २१।

निर्वाह के लिए सारी आयु शादी न की किन्तु अपनी वेश्या प्रेमिका से वह शादी भी न कर सका—स्यात् सामाजिक मजबूरियों के कारण। इस तरह पहलवानों के अखाड़े के पात्रों को लक्ष्य कर करीम चाचा ने लेखक के इस दृष्टिकोण को भी अभिव्यक्त किया है कि "गुण्डों में भी बहुत से ऐसे आदमी मिलते हैं जिनमें इन्सानियत मर नहीं गई है"...।[1] इस दृष्टि से वेश्या रामकली के चरित्र की मार्मिकता उल्लेखनीय है।

यहाँ अन्तरंग चित्रण तो कुछ पात्रों का ही हुआ है किन्तु बाह्य चित्रण अधिकांश पात्रों का मिलता है। आकृति, वेशभूषा आदि के आधार पर पात्रों को साकार करने की प्रवृत्ति जोशी जी की सामान्य विशेषता है जो इस उपन्यास में और भी बढ़ी-चढ़ी है। वैसे सिद्धांततः तो कथानायक को यह स्वीकार है कि "व्यक्तित्व की ऊपरी अभिव्यक्ति कभी-कभी असलीयत की परख में बहुत धोखा दे जाती है" और उसका अपना जीवन इसका सजग प्रमाण भी है—उसके प्रेत से शरीर के करणा उसे गिरहकट तक समझ जाता है और पहलवानों के यहाँ से पुष्ट शरीर लेकर आने के बाद उसे नौकरी मिलने लगती है—फिर भी, व्यावहारतः उसने प्रायः प्रवेश के साथ ही पात्रों का ब्यौरेवार बाह्य चित्रण किया है।[2] यह अवश्य है कि यह बाह्य चित्रण ऐसा किया गया है कि पात्रों की आंतरिकता झलक जाए। इसलिए शरीर के जिन अवयवों से अन्तर अधिक झलकता है उनको लेखक ने अधिक महत्व दिया है। ये हैं मुख तथा दृष्टि (आँख)। इस सम्बन्ध में दीप्ति का निम्नस्थ निश्चित तथा निर्दिष्ट चित्र लीजिए जो अपनी पूर्णता में पाठकों के लिए कुछ रहस्य नहीं रहने देता—"...मुझे दीप्ति का व्यक्तित्व, जाने क्यों, बहुत ही प्रिय लगता था। वह बड़ी ही हँसमुख, ढीठ, स्वस्थ और सुन्दर लड़की थी, अपनी माँ से उसने थोड़ी सी मोटाई पाई थी और अपने पिता से लम्बाई। उसका गोरा-सा चेहरा भी उपयुक्त अनुपात में गोलाई लिये हुए लम्बा था। एक परवर को लम्बा चीरने पर जो दो फांके बन जाती हैं वैसी ही बड़ी और तनी हुई उसकी दो उज्ज्वल आँखें दो सुडौल भौहों की छत्रच्छाया के नीचे अठखेलियाँ करती थीं। नाक लम्बी, उभरी हुई और कुछ-कुछ नुकीली थी। दाँतों की दो सफेद पंक्तियाँ सीधी और सामंजस्यपूर्ण थीं। ओठों की दो पतली रेखाएँ ६३ के अंक की तरह आमने-सामने रखे हुए दो समान आकार वाले धनुषों की तरह अंकित-सी जान पड़ती थीं, पर उसका वास्तविक सौन्दर्य उसके मुख की इस सुन्दर सजावट और बनावट पर निर्भर नहीं करता था। उसके कुण्ठारहित उदार और भावपूर्ण अन्तर की जो अव्यक्त छाया उसके चेहरे पर

१. पृ० १२४।

२. करीम चाचा, लीला तथा बेला के चित्र, पृ० १०१, ३११-१२, १०८।

पड़ती थी, वह किसी विशेषज्ञ दर्शक पर गहरा प्रभाव छोड़े बिना न रहती । जब-जब मैं उसे देखता था तब-तब मुझे ऐसा लगता था जैसे कोई अजंता की किसी गुफा से कोई सुन्दर चित्र सजीव बनकर सामने संचरण कर रहा है ।···हर समय वह मौखिक रूप से मुझ से बोल ही लेती हो, ऐसी बात नहीं । अक्सर उसकी मुखर आँखें ही बहुत सी पुलकप्रद और रहस्यमय बातें मेरे अन्तर के कानों में कह जाती थीं" ।[१] कहीं-कहीं लेखक ने पात्रों के दृष्टि-चित्रण से ही बहुत कुछ कह दिया है; जैसे, भाषण-कर्त्री महिला का चित्र देखिए—"एक सयानी महिला कार से उतरी। पतले शीशे के चश्मे के भीतर से उनकी गम्भीर तथापि सौम्य आँखों ने सस्नेह सबका अभिवादन किया है" ।[२] कथानायक किसी की बात की सचाई अथवा अपने कथन की प्रभाव-सीमा का मूल्यांकन पात्रों के मुख और दृष्टि से ही करता है; यथा, जब करीम चाचा अपना मार्मिक किस्सा सुनाता है, तो उसकी पलकें भीग जाती हैं[३]—इससे उस किस्से की सचाई में सन्देह नहीं रह जाता । अस्पताल का डाक्टर जब कथानायक की दुरावस्था को देखकर कुछ रुपए देना चाहता है, तो वह उसकी दृष्टि की परख कर के ही रुपए पाता है—"उसकी आंखों में अनुरोध का भाव भरा हुआ था, दया का नहीं" ।[४] कथानायक जब घोड़ों की रेस में अपना सारा धन दाँव पर लगा कर हार जाने वाला एक रोता-कलपता व्यक्ति देखता है तो वह उसे सहायता के लिए तीस रुपए देना चाहता है, किन्तु इस शर्त पर कि वह इनसे नया दाँव नहीं लगाएगा और सीधे घर चला जाएगा । तब उस पात्र के "मुख पर तीन चौथाई निराशा थी ।"[५] लेखक ने पात्र की वेश-केश-भूषा तथा साज-श्रृंगार का भी प्रायः अन्तर्द्योतक वर्णन किया है । इस सम्बन्ध में केस्टो,[६] लीला[७] और करीम चाचा[८] के चित्र देखे जा सकते हैं ।

कथानायक के बाह्य परिवर्तनों का यहाँ कथा और उद्देश्य दोनों में प्रचुर औपन्यासिक उपयोग हुआ है । पहले उसके प्रेत-शरीर को देख कर लोग उसे निकट नहीं आने देना चाहते किन्तु करीम चाचा के यहाँ स्वस्थ-सुन्दर शरीर लेकर आने के बाद उसे नौकरी ही नहीं मिलती, (उसकी ओर देखने वाली) लड़कियाँ भी मिलती हैं; अतएव उपन्यास में श्रृंगारिक प्रसंग उसके इस परिवर्तन के बाद ही आए हैं । यह बाह्य सौन्दर्य उसके आंतरिक परिवर्तन, तथा दो प्रकार के—सामाजिक तथा वैयक्तिक—अन्तर्द्वन्द्वों का कारण भी बनता है; यथा :—क. ".. अपने दुबले-पतले भूख से व्याकुल प्रेत-शरीर को जब मैं कलकत्ता की गलियों, सड़कों और पात्रों में घसीटता हुआ चलता था तब विद्रोह की प्रलयाग्नि को दहकाने की जिस अपूर्व शक्ति

१. पृ० १६२-६३ । २. पृ० ३६८ । ३. पृ० १२१ ।
४. पृ० ३४ । ५. पृ० १८० । ६. पृ० ३६६ । ७. पृ० १८८ । ८. पृ० १०१ ।

का, जिस प्रचण्ड आत्म-विश्वास का अनुभव मेरे चीमड़ प्राणों को होता था उसका अस्तित्व ही जैसे लुप्त हो गया था। अपने उस पूर्व व्यक्तित्व के स्थान पर मैं जिस व्यक्ति का चेहरा अब शीशे में देखता था वह अत्यधिक रक्त और मांस से पुष्ट युवक मुझे अत्यन्त घृणित और अरुचि उत्पन्न करने वाला लगता था। तब क्या वह सचमुच मेरा प्रतिबिम्ब था ?.. क्या अधिकार था मुझे उस तरह अपने स्वास्थ्य को पुष्ट करते चले जाने का जबकि लाखों भूखों कंकाल कलकत्ता की गलियों और सड़कों में हताश निःश्वास छोड़ते हुए दम तोड़ रहे थे"[1] ?.. तथा ख. ".. मैं .. तथाकथित 'अभिजात' घराने की महिलाओं के लिए आश्चर्य और कुतूहल का केन्द्र क्यों बनाता हूँ ? क्या विशेषता मुझ में है ? और धीरे-धीरे एक ऐसी नई अनुभूति मुझ में जागने लगी जिसके अस्तित्व को ही मैं पहले अपने भूख के और फुटपाथ के दिनों में भूला हुआ था। मुझे जैसे पहली बार यह अनुभव होने लगा कि मैं युवक हूँ और जिनकी उत्सुक आँखें मेरी ओर केन्द्रित हो रही है वे युवतियाँ हैं। मैं पुरुष हूँ और वे नारी हैं। यही मेरे प्रति उनके आकर्षण का रहस्य है और यही रहस्य अब उनके प्रति मेरे आकर्षण का भी कारण बन रहा है"।[2]

पात्रों के अन्तर्द्वन्द्वों के चित्र कथानायक के ही उपलब्ध होते हैं क्योंकि यह आत्मकथात्मक प्रणाली में लिखित उपन्यास है। इस प्रणाली में वह अपना विश्लेषण तो कर सकता है किन्तु दूसरे के भीतर के द्वन्द्वों का चित्रण नहीं कर सकता, सांकेतिक अनुमान ही कर सकता है। अथवा जब तक दूसरे उससे स्वयं ही अपने मनोमंथन का उद्‌घाटन न करें, अन्तरंग चित्रण नहीं किया जा सकता। इसलिए भी यहाँ अन्तर के प्रभावों के साथ बाह्य चित्रण तो प्रायः सभी पात्रों का हुआ है, किन्तु अन्तरंग-चित्रण अधिकांशतः कथानायक का ही मिलता है। लीला और बेला के प्रसंगों में कर्तव्याकर्तव्य के अनिश्चय में, कथानायक का मनोमंथन देखने-योग्य है।

पात्रों के शील-चित्रण तथा विकास में जिन कारण-तत्वों तथा मनोवैज्ञानिक पद्धतियों का उपयोग किया गया है, आगे उनका विवेचन कर लेना उचित होगा। यहाँ चरित्र-चित्रण में बाह्य परिस्थितियों का प्रभाव प्रमुख है। यह प्रभाव इतना है कि इसके सामने कथानायक का अपना श्रृंगारिक राग-विराग नितांत पीछे पड़ जाता है। 'जहाज़ का पंछी' और 'संन्यासी' के नायक की तुलनात्मक विषमता के विकास पर तब आश्चर्य होता है जब बेला कथानायक से भगा ले चलने की करुण-कातर प्रार्थना करती है और नायक पूर्णतया सहृदय-संवेदनशील होते हुए भी, काम-भाव से नहीं, जीवन के कटु यथार्थ से परास्त होकर रह जाता है; किन्तु वह उसके काम-तत्व को दबाता नहीं, क्रियात्मक विद्रोह-भावना में नियोजित करने का प्रयास करता है :—

१. पृ० १९३-९४। २. पृ० १९४।

"देखो बेला, तुम असलियत से बहुत दूर जा रही हो। झरने का पानी पीकर, हवा खाकर, रहने की बातें खयाली पुलाव हैं, जो केवल फिल्मी दुनिया में ही सम्भव हो सकते हैं। मंजिल बहुत बीहड़ है। इसलिए जी को कड़ा करके धीरज रखने की ज़रूरत है। इस समय जहाँ और जिस स्थिति में तुम हो उसी को किसी तरह निभाए चली जाओ। समय आयेगा और रास्ता अवश्य खुलेगा। पर जब तक नहीं खुलता तब तक भीतर-ही-भीतर ताकत बटोरते चले जाने में ही भलाई है। वह बटोरी हुई ताकत एक दिन तुम्हें अपने-आप सही रास्ते पर लाकर रख देगी। अभी मैं इससे अधिक और कुछ नहीं .."[1]। लीला के आश्रय में नायक के रहने-खाने की समस्या ही नहीं सुलझती दिखाई देती, काम-भाव की तृप्ति भी हो सकती थी, परन्तु ऐसा अच्छा आश्रय पाने पर उसका स्वास्थ्य गिरने लगता है क्योंकि अपनी अनुभूति-प्रबलता में वह "विषम, सामाजिक परिस्थितियों की उलझनों के सम्बन्ध में चिन्ता किये बिना रह नहीं पाता"।[2] सारांश में जोशी जी मानों 'जहाज़ का पंछी' के कथानायक के शील-विकास के रूप में, अपने औपन्यासिक विकास-पथ की नई मंज़िल का उद्घोष करते हुए कहते हैं —"कई बार गंगा के सूने-सैकत तट पर, देवदारू के पेड़ों से ढके पहाड़ की एकान्त चोटियों पर और विजन वन की गहनता के बीच में खड़े होकर मैंने प्रकृति के साथ तदात्म्य स्थापति करके मानवीय चेतना की ससीमता के साथ अतिचेतना की असीमता के पूर्ण संयोग के कणों में जिस अनिर्वचनीय आनंद की अलौकिक अनुभूति का स्वाद पाया है उसे कैसे समझाऊँ लीला .. पर आज मेरी वैयिक्तिक चेतना के चरम विकास का यह सत्य जैसे कुण्ठित हो गया है। प्रतिपल के ज्वलंत यथार्थ के सम्पर्क में आने पर पग-पग में घोर कटु और कठोर परिस्थितियों के बीच में पटके जाने पर मेरे अन्तर का गठन ही जैसे निरन्तर बदलता चला जा रहा है"।[3] विभन्न पात्रों के पूर्ववृत्तों के विश्लेषण से उनके दुखी जीवन की कारण समाजिक-आर्थिक बाह्य परिस्थितियों से जनित ग्रंथियाँ ही अधिक ठहरती हैं। लेखक ने पात्रों के चरित्र-चित्रण में काम-तत्व, जन्मजात संस्कारों, 'अन्तर की रहस्यमयी शक्ति', आदि का उल्लेख भी किया है किन्तु अपने अन्य उपन्यासों से कम।[4] उदाहरणतया, दीप्ति घर के पूंजीवादी विषाक्त वातावरण में भी, अपने अन्तस् की रहस्यमयी शक्ति से अपने व्यक्तित्व को स्थिर रख सकी है।[5] करीम चाचा के चरित्र से भी परोक्ष रूप से यही व्यंजित होता है कि एक व्यक्ति वेश्याओं तक के दूषित वातावरण में रहता हुआ भी चरित्रवान, दृढ़ रह सकता है। यहाँ भी अन्तर की रहस्यमयी शक्ति की स्वीकृति है।

---

१. पृ० २४७। २. पृ० ४२६-२७। ३. पृ० ३८९।
४. पृ० १९४, ३८८, २०८। ५. पृ० २०८।

कुछ पात्रों—मजीद, दीप्ति, करीम चाचा—का चित्रण मानों व्यक्ति को स्फूर्ति देने के लिये किया गया है अन्यथा उसने बाह्य परिस्थितियों के महत्व को अन्य अनेक पात्रों के चरित्र-विकास से ध्वनित किया है।

चरित्र-विश्लेषण में मनोवैज्ञानिक उपायों से भी काम लिया गया है। ऐसे विश्लेषण-स्थल तथा मनोवैज्ञानिक शब्दावलि जोशी जी के दूसरे उपन्यासों से कम होते हुए भी समुचित है—यहाँ व्याख्याएँ लम्बी नहीं, फिर भी चरित्र-संगति के लिए पर्याप्त हैं। उदाहरणतया, लीला के चरित्र में अन्य प्रभावों के साथ कुरूपता की हीनता-ग्रंथि भी है। नायक अपने चरित्र-विश्लेषण में दो परस्पर-विरोधी मानसिक स्थितियों—पीड़ा और हास्य—के एक-साथ रहने का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करता है।[१] एक स्थान पर लीला को भाषण झाड़ने में वह अपने 'अहम् का असामयिक विस्फोट' पाता है।[२] अशिक्षित बेला जब भविष्य में धोबियों के दिन-फिरने की बात का उद्घोष करती है तब नायक उसमें ऐतिहासिक-आर्थिक प्रगति के प्रश्न पर गम्भीरता से विचार करने वाली किसी वर्ग-चेतना को नहीं, अबौद्धिक अवचेतन मन की सहज आकांक्षा की प्रेरणा से शिशुजनोचित सरल आत्मविश्वास की भावना को देखता है।[३] रांची के मानसिक अस्पताल के पागल रोगी तो एक प्रकार से मनोवैज्ञानिक 'केस' ही हैं। "न जाने कितनी आशाओं पर पानी फिरने, कितने अरमानों के कुचल जाने के बाद इन मरीजों की यह दशा हुई है"।[४] अधिकांश स्त्री रोगणियाँ दाम्पत्य जीवन सम्बन्धी और पुरुष रोगी आर्थिक कारणों से पागल हुए है।[५] अपने बालों को काला करने की चिता में व्यग्र 'अधेड़ महिला', तथा नायक एवं स्वामीजी को अपने से शादी करने के लिए कहने वाली ५० वर्षीया मिस पावर स्पष्ट ही दमित काम-भाव के 'केस' है।[६]

कथानायक के सम्पर्क में जो अनेक पात्र आए हैं उनकी पूर्वकथाओं या पूर्ववृत्तों की चर्चा हम कर आए है। यह उल्लेखनीय है कि ये पूर्वकथाएँ मात्र विभिन्न सामाजिक विकृतियों और उनके कारणों को प्रस्तुत करने वाली—मानों उद्देश्य-तत्व में सहायक—कथाएँ ही नहीं, इनसे पात्रों की वर्तमान अवस्था को समझने—चरित्रों की संगति एवं स्पष्टीकरण—में भी पूरी सहायता मिली है। इस तरह 'जहाज़ के पंछी' में इस पूर्वकथात्मक प्रणाली का सर्वाधिक प्रयोग हुआ है। पात्रों के चरित्रोद्घाटन की मनोविश्लेषणात्मक प्रणाली के अन्तर्गत 'स्वप्न-विश्लेषण' की प्रणाली का भी एक स्थान पर सांगोपांग उपयोग हुआ है। लीला की प्रेम-प्रवण भावुकता के प्रभाव और अपनी सामूहिक पीड़ा की विवेक-बुद्धि के अज्ञात संघर्ष में, 'मन से थका हुआ', नायक रात को सोते हुए एक 'विचित्र-सा स्वप्न' देखता है।

१. पृ० ४३-४४। २. पृ० ३६५। ३. २३०।
४. पृ० ४५३। ५. पृ०४५६। ६. पृ० ४४५, ४५१-५३।

स्वप्न देखने पर उसकी नींद उचट जाती है और वह जागकर देखे हुए स्वप्न को अपनी स्मृति में लाने का प्रयास करता है किन्तु असफल होता है। "तब वह अनेक मनोवैज्ञानिक प्रयत्नों—मानों फ्रायड के अनुसार परवर्ती विशदीकरण (सेकण्डरी एलेबोरेशन)[१] की क्रिया—के बाद स्वप्न के एक अस्पष्ट-से आभास को सचेत मन तक लाने—मानों उसमें एक बनावटी क्रम लाने—में सफल" होता है। वह स्वप्न है –"बचपन में जिस घर में, जिस पड़ौस में, जिस युग में और जिस वातावरण में मैं रहता था, उसी से सम्बन्धित एक ऊट-पटांग और अर्थहीन-सा स्वप्न था वह। स्वप्न के अधिकांश पात्र न जाने कब मर चुके थे। अधिकांश बातें वे अपने ही युग की कर रहे थे, पर बीच-बीच में एक-आध अस्पष्ट बात मेरे वर्तमान वतावरण से सम्बन्धित थी, कर बैठते थे। पर वे क्या कहते और क्या कहते थे, यह मैं किसी तरह भी ठीक से याद नहीं कर पाता था। कभी लगता था जैसे बचपन के युग के किसी मेले के जलूस में हम लोग जा रहे हों। उस मेले के राग-रंग और हुल्लड़ में कभी सभी पुराने लोग सम्मिलित दिखाई देते थे, कभी इस युग के लोग, पर मेरे साथ उन में से कोई भी बात नहीं करता था—जैसे मैं उनके बीच में होने पर भी नहीं था। लीला न जाने कहाँ से उसमें शरीक हो गई थी, मैं बार-बार उसका ध्यान अपनी ओर आकर्षित करने का प्रयत्न करता, पर वह जैसे मुझे पहचान ही नहीं रही थी—या मुझ तक उसकी दृष्टि पहुँच ही नहीं पाती थी। यह प्रसन्न दिखाई देती थी और मेले के हुल्लड़ के बीच में अपना भी उल्लसित स्वर मिला रही थी। अन्त में एक बार बड़ी मुश्किल से उसने मेरा स्वर पहचाना और फिर मुझे देखकर घबराई हुई-सी मेरी ओर दौड़ी आई। आते ही बोली, "चलो, यहाँ से भागों। इस मेले में निश्चय ही कोई बहुत बड़ा उपद्रव होने वाला है।" और बिना मेरे चलने की प्रतीक्षा किये ही वह जलूस से उलटी दिक्षा की ओर तेज़ी से भागने लगी। उसके लिए चिन्तित होकर मैं भी उसके पीछे दौड़ा। इस बीच सचमुच दंगा शुरु हो गया। मैं उसके लिए बुरी तरह घबराया हुआ उसे इधर-उधर खोजने लगा, पर उसका कहीं पता ही नहीं लगा। अन्त में एक स्थान पर उसे देखकर में उसका साथ देने के लिए

१. Sigmund Freud : "The interpretation of dreams" trans. by A. A. Brill p. 463-64. Freud gives Havelock Ellis's undermentioned quotation ('an amusing allegorical description of its performances') :—"As a matter of fact we might even imagine the sleeping conciousness as saying to itself: Here comes our master, waking consciousness, who attaches such mighty importance to reason and logic and so forth Quick! gather things up, put them in order—any order will do—before he enters to take possession".

दौड़ ही रहा था कि सहसा मेरी नींद उचट गई "।[1] जोशी जी ने अचेतन भावनाओं के उद्घाटन में इस स्वप्न की चारित्रिक तथा औपन्यासिक उपयोगिता भी कथानायक से स्पष्ट की है तथा इस स्वप्न की प्रक्रिया का संकेत भी दिया है; यथा :—
"..स्वप्न चाहे 'अर्थहीन' रहा हो' चाहे विपरीत-भावापन्न, उसने मेरे अन्तर की कुछ दिन से दबी पड़ी भावनाओं को जैसे पूरी तरह से मथ दिया था। रह रह कर में यह अनुभव कर रहा था कि जिस दिन मैं लीला के यहाँ आया हूँ उस दिन से धीरे-धीरे, मेरे अज्ञात में, मेरी भीतरी और बाहरी शक्तियों में एक प्रकार की गलनशीलता आती चली जा रही है। मेरे स्वभाव और चरित्र की वज्रदृढ़ता जैसे बेमालूम ढंगसे शिथिल होती चली जा रही है, इस ज्ञान से मैं और अधिक अतांकित हो उठा।"—उपर्युक्त 'विपरीत भावापन्न' से फ्रायड के 'वर्क आफ डिस्पलेसमेंट' की ओर संकेत है जिसके अनुसार किसी पात्र के प्रति जागृतावस्था की संवेदना एँविस्थापित होकर किसी अन्य व्यक्ति से सम्बद्ध हो जाती हैं।[2] इस स्वप्न में कथानायक की अपनी संवेदनाएँ, उससे हट कर, लीला की संवेदनाओं के रूप में व्यक्त हुई हैं। लीला के लीला-क्षेत्र से आंतकित होकर वह भागना चाहता है किन्तु स्वप्न में लीला घबराई हुई भाग रही है और वह उसके पीछे-पीछे दौड़ रहा है। इसके अतिरिक्त स्वप्न के पहले भाग में नायक के अतीत का परिचय-क्षेत्र तथा वर्तमान की लीला जैसे सब एक-साथ एक ही स्वप्न में आए हैं, इसमें फ्रायड की संघनन-प्रक्रिया 'कन्डेन्सेशन मैकेनिज़्म'[2] देखी जा सकती है।

जोशी जी ने एक स्थान पर लीला के चरित्रोद्घाटन में शब्द-सहस्मृति परीक्षा (वर्ड एसोसिएशन टेस्ट) का भी रूपांतरित उपयोग किया है। लीला के भाव-प्रवण तथा दुखी व्यक्तित्व का उच्छ्वसित उत्स आँसुओं में उमड़-उमड़ कर सामने आ जाता है जब नायक द्वारा पंत जी के 'भारत माता ग्राम वासिनी' गीत की एक पंक्ति, ज्योतिष की चलती चर्चा के प्रसंग में यूँ कही जाती है—"जल—केवल जल—गंगा यमुना में आँसू जल! मोती के से आँसू!" इस सम्बन्ध में लीला स्वयं कहती है—
"—जब कभी पंत जी का यह गीत, खासकर 'गंगा-यमुना में आँसू जल' यह पंक्ति सुनती हूँ तब जाने क्यों, मेरे भीतर के भावों का उच्छ्वास पूरे ज़ोरों से उमड़ने लगता है और मेरी आँखों से उसी समय आँसू निकल जाते हैं"।[4]

गायनार्थ स्वयं चुने हुए गीतों और उसमें पात्र की तल्लीनता द्वारा भी

१. पृ० ३९३-९४।
२. Sigmund Freud : "Interpretation of Dreams", p. 292-96 and J. A. Hadfield : "Dreams and Nightmares", p. 23.
३. वही, पृ० ३२०।   ४. पृ० ३३७।

चरित्रोद्‌घाटन में सहायता ली गई है। कथानायक 'भारतमाता ग्राम वासिनी' गीत को जैसे सहसा आरम्भ कर उसमें निमज्जित होता है, वह स्वयं उसी के शब्दों में पठनीय है—"कितनी देर तक हम दोनों तद्‌गत भाव से यह गीत दुहरा-दुहरा कर गाते रहे, मैं कह नहीं सकता। जब तक हम गाते रहे तब तक मुझे न अपने अस्तित्व की रंचभाव भी सुधि थी, न लीला के अस्तित्व की। सम्भवतः लीला का भी वही हाल रहा होगा। ऐसा लग रहा था जैसे किसी ने मुझे काल-स्रोत के आदिम उत्स में लाकर मुक्त-प्रवाह में छोड़ दिया और मैं उस स्रोत के साथ-साथ युग-व्यापी धारा में बहता हुआ, द्रौपदी के चीर की तरह फैले हुए भारतमाता के धूल-भरे मैले आँचल का छोर पकड़कर उसके सहारें-सहारे वर्तमान-काल में पहुँचकर, भविष्य की ओर अबाध-गति से बढ़ता चला जा रहा हूँ।"[1] इस गीत द्वारा लीला मानों कथानायक के व्यक्तित्व एवं विचारों को हृदयंगम कर लेती है और उसके भावमय आचरण भी तदनुकूल परिमार्जन का प्रयास करते हैं। तात्पर्य यह है कि गीत द्वारा एक पात्र का चरित्रोद्‌घाटन तथा दूसरें के चरित्र-विकास—और साथ ही कथा-विकास—में सहायता ली गई है। इसी प्रकार अन्यत्र नायक की स्मृति में 'अनायास' जागृत होने वाले रवीन्द्र नाथ के बंगला गीत की भावधारा के साथ उसकी अश्रुधारा भरी सभा में बहने लगती है जिससे उसका मन 'निरावृत' हो जाता है। "अपनी जीवन-व्यापी असफलता और युग के सामूहिक जीवन की व्यर्थता की पीड़ा" के लिए सांत्वना पाकर ही वह एकदम भाव-विभोर होता है और यह उसके भाव-विचारों के व्यक्तीकरण में सहायक है।[2]

पात्रों के वातावरण के द्वारा भी उनके चरित्राध्ययन में सहायता ली गई है। कथानायक लीला के कमरे में जो देखता है, उससे वह उसकी कलात्मक अभिरुचि का सहज ही पता पा जाता है; जैसे उस सम्पूर्ण वातावरण-चित्रण का एक अंश लीजिए जिसमें बल देकर कलात्मकता की बात कही गई है—"···दीवारों से सटे हुए 'टीक' की पालिशदार लकड़ी के रैक लगे हुए थे, जो ऊँचे कम थे और चौड़े अधिक। उनमें अंग्रेजी, हिन्दी और बंगला की पुस्तकें जैसे ठूंस-ठूंस कर सजाई गई थीं। पर उस ठुंसाव में भी न जाने क्या विशेषता थी जो अपना कलात्मक प्रभाव मन पर छोड़ती थी···"[3]

पात्रों का चरित्र उनकी क्रियाओं में परिव्यक्त हुआ है। यहाँ पात्रों में अन्तर्बाह्य भेद की मनोवैज्ञानिक जटिलता कम है इसलिए उनकी क्रियाएँ उनके चरित्र की परिचायक हो सकी हैं। जैसे कथानायक को अपने आश्रय तथा भरण-पोषण की समस्या है किन्तु थोड़ा सा रुपया पाते ही वह दुखी व्यक्तियों की सहायता करना

---

१. पृ० ३३९। २. पृ० ३७८-७९। ३. पृ० ३४१।

आरम्भ कर देता है जो उसकी परदुखकातरता का परिचायक है। इसी प्रकार करीम चाचा तथा साइमन के चकले में वह अन्याय का मुकाबला करने में अपनी दृढ़ता का परिचय देता है। नायक के सत्कर्मों का प्रभाव-संचार वेश्याओं के भाव-परिवर्तन तथा फ्रैंक के सामाजिक कार्यों में दान-देने में परिव्यक्त होता है। मजीद और करीम चाचा का आनन्दमूलक दृष्टिकोण भी उनके मस्तीमय आचरणों, खान-पान, और सदाचार में परिव्यक्त है।

वार्तालापों ने चरित्र-प्रकाशन में कम योग दिया है। लम्बे-लम्बे भाषणों ने उद्देश्य-तत्व के लिए विचार-प्रकाशन में ही अधिक योग दिया है। पात्रों के साथ उनकी भाषा में आया स्थूल अन्तर उनके देश-स्थान को इंगित करता है। बंगाली पात्र कहीं तो कुछ बंगला का प्रयोग करते हैं[१]—जिनके कोष्ठ या फुटनोट में अर्थ दे दिए गए हैं—और अधिकांशतः 'बिगड़ी हिन्दी' बोलते है।[२] यूरोपीय पात्र भी अपने ढंग की बिगड़ी हिन्दी बोलते हैं।[३] ऐंग्लो इण्डियन मिस्टर ब्राउन तथा नायक की कहीं-कहीं अंग्रेजी वार्ता भी मिल जाती है।[४] पुलिस वाले अपनी रहस्यमयी कोतवाली भाषा बोलते हैं।[५] मुसलमान पात्र अरबी-फारसी मिश्रित हिन्दी बोलते हैं। करीम चाचा की आपबीती में इस भाषा का सौन्दर्य और प्रवाह देखने-योग्य है। पात्रों के भाषागत अन्तर से उनकी स्वभाव-संस्कृति की झलक उतनी नहीं मिलती जितनी स्थानीयता सूचित होती है। फिर भी करीम चाचा और मजीद की मस्ती उनके संवादों की सजीव भाषा में उतर आई है। परिहासपूर्ण स्थलों तथा शृंगारिक प्रसंगों में पात्रों का वार्तालाप उनकी स्वाभाविक वाग्विदग्धता से विशेष सुन्दर बन गया है।[६] भाषणों का बाहुल्य अपने-आपमें चाहे दोष है, वैसे इनमें भाषा-प्रवाह पूर्णतया सुरक्षित है। इस दृष्टि से करीम चाचा और कथानायक के भाषण देखे जा सकते हैं।

'जहाज़ का पंछी' में जोशी जी की भाषा-शैली में निश्चित विकास परिलक्षित होता है। भाषा में पहले से अधिक प्रवहमानता तथा शक्ति आ गई है। विषयानुकूल परिवर्तन की क्षमता भी बढ़ गई है। उनकी कवित्व-प्रधान संस्कृत-गर्भित शैली यहाँ समाज की बहुविध विकृतियों के चित्रण में अधिक व्यावहारिक, यथार्थ, तथा तीखी हो गई है। उसमें दैनन्दिन के यथार्थ जीवन से सामग्री—उपमाएँ, रूपक तथा शब्दावलि आदि —जुटाने तथा हास्य-व्यंग्य के अस्त्रों से काम लेने की क्षमता आ गई है। ये कुछ विविध प्रकार के उद्धरण हमारी बात को स्पष्ट करेंगे—

(क) "कटु यथार्थ के स्टीमरोलर द्वारा कुचला हुआ आज का साधारण मनुष्य न तो बंगाली है न पंजाबी —वह केवल मनुष्य है"। (पृ० १९८)

---

१. पृ० ५२। २. पृ० ७९। ३. पृ० ६९-७०। ४. पृ० २३४-४९।
५. पृ० ७०। ६. पृ० २२४, २४२, ३२०, ४०१।

(ख) " देखो भाई जैसे दुबले-पतले, दियासलाई-मार्का आदमी तुम हो ऐसे आदमी से दुनिया में क्या काम हो सकता है ? किसी भी रोज़ तुम तपेदिक के शिकार बन सकते हो । एक तन्दुरुस्ती हजार न्यामत ! सेहत ठीक रहेगी तो कम-से-कम तबयित के साथ जी तो सकोगे ।" (पृ० १३०)

(ग) "···पंचानवें प्रतिशत व्यक्तियों के प्रदीप्त चेहरे ऐसे बुझ गए जैसे प्रधान स्विच ही 'आफ' हो गया हो ।" (१७६)

(घ) "कल न जाने जिन्दगी की तूफानी हवा तुम्हें किस समुन्दर के किस साहिल पर लाकर पटक दे, कौन कह सकता है ! इसलिए अपने बदन की टंकी में वक्त-ज़रूरत के लिए ज्यादा से ज्यादा तेल भरे चले जाओ" । (१३३)

(ङ) चुनांचे ताकत का 'इस्टोर' जितना भर सकते हो अभी भर लो ।

(च) "·· मानव की चरम दुर्गति का पूरा इतिहास सुनने पर एक अपरिसीम आतंक के स्पंज से एकदम सूख गई थी ।" (४३१)

(छ) मानवीय सभ्यता के कई युगो के संस्कारों की 'रिइनफोर्स्‌ड कंक्रीट' द्वारा सुदृढ मनोवृत्ति में मैं केवल बातों द्वारा दरार पैदा करना चाहता था । मूर्ख ! वज्रमूर्ख ! (४३८)

(ज) "सूरज़ पच्छिम में डूबने की तैयारियाँ कर रहा था । पच्छिम में कुछ देर से घिरे हुए गाढ़े काले बादल जल कर एकदम लाल हो गए थे, जैसे कोयलों के आकाश-व्यापी गोदाम में आग लग गई हो और सब कोयले सहसा एक साथ दहक उठे हों ।···" (१६६)

(झ) "घी तड़क-तड़क तड़-तड़-तड़ आवाज़ करता हुआ जब शान्त हो गया···" १४०) "छः छः—छः छः—छयाँ की आवाज़ हुई और फिर उन्होंने ढकना चढ़ा दिया" (१४१)

(त) "मेरे नम्बर का घोड़ा बाजी मारता है या नहीं, इस बात की तनिक भी उत्सुकता मुझ में शेषन हीं रह गई थी । मैं इस विचार में मग्न हो गया था कि यदि हजारों दर्शक पूर्णतः पागल नहीं हैं तो पागलपन और किसे कहते हैं, यह मैं कभी समझ नहीं पाऊँगा । और उस पागलपन के मूल में कौन प्रवृत्ति काम कर रही है ? कौन महाचुम्बक उन लोहे के पुतलों को नचा रहा है ? 'रुपया रुपया ! हाय रुपया ! मुझे मिल जा रुपया ! दूसरे के पाकेट खाली करके केवल मेरे पास आ जा रुपया ! प्यारा रुपया ! दिलदार रुपया ! भाग्य का विधायक रुपया ! आ जा रुपया ! जिला जा रुपया ! छाती ठण्डी कर जा रुपया ! भुजा भर भेंट जा रुपया ! हाय रुपया ! हाय रुपया ! रुपया-रुपया-रुपया, रुपया ! मुझको-मुझको-मुझको रुपया ! केवल मुझको ! केवल मुझको ! मिल जा रुपया ! मिल जा रुपया ! मेरे घोड़े ! मेरे घोड़े ! जीत ! जीत ! जीत ! मैं—हूँ—पागल ! मैं—हूँ—पागल !

मैं—मैं—मैं—मैं ! और घोड़े ! बढ़ जा, बढ़ जा, बढ़ जा !—यह महारागिनी घोड़ों की टापों के ताल में प्रत्येक के भीतर उद्दाम स्वर से नाच रही थी।" (१७६) —यहाँ घोड़ो की रेस पर दाँव लगानेवाले प्रतियोगी-समाज की आंतरिक छटपटाती आकांक्षाओं का, स्वार्थपरायण अन्तर्लोक के तुमुल कोलाहल का चित्र हैं।

(थ) "चाचा आज 'शराफत' की बात बताने में इस कदर व्यस्त हो उठे थे कि इतनी देर तक अकेले ही हुक्का गुड़गुड़ाए जा रहे थे और हुक्का मेरी ओर बढ़ाने की 'शराफत' तक वह एकदम भूल चुके थे"। (१६३)

(द) "पुलिसवालों के चले जाने पर लड़कियों ने मिस साइमन को घेरकर नाचना, ताली पीटना और बेवकूफ बनाना शुरू कर दिया। सुखिया उसे ठेंगा दिखाती हुई बोली, आखिर बुला ही लाई न अपने भतारों को ! क्या कर लिया उन्होंने ? सत्यनासी कीड़े पड़ेगे कीड़े ! ऐंग्लों-इण्डियन लड़की, जो कई चलतू हिन्दी गाने सीख चुकी थी, मिस साइमन के चारों ओर नाचती हुई बड़ी ही विचित्र और हास्यपूर्ण मुद्रा के साथ गाने लगी—

"जरा धीरे से बोल
कोई सुन लेगा !
जो सुन पावे सहर कोतवलवा !
तेरी अंगूठी मेरी नथ लेगा !"

एक-दो स्थानों पर जोशी जी ने कथानायक के सीलन भरे कमरे के वर्णन में, अपनी भाषा-शैली को विषयगत विशेषता प्रदान कर दी है। यह उद्देश्यबोधक शैली दर्शनीय है—"वे मकड़ें और मकड़ियाँ पुरानी संस्कृति के प्रेमी अव्यक्तिवादी कलाकारों की तरह थे जो पराक्रमहीन होने के कारण अपने निर्माण के आले में स्वयं ही उलझ कर प्राण देना—अर्थात् 'आन' पर मर-मिटना—पसन्द करते हैं, पर अपने रवैये को बदल कर परिस्थिति के अनुसार नये और यथार्थवादी उपायों को काम में लाना नहीं चाहते। चींटियों के दल उन अर्थपतियों की तरह थे जो किसी अंधसंस्कारवश केवल संचय के लिए संचय किये चले जाते हैं और जब कोई दूसरा दल जीवन धारण की एकान्त आवश्यकता से प्रेरित होकर उनकी आवश्यकता ले अतिरिक्त निरर्थक संचय का हिस्सेदार बनने का प्रयत्न करता है तब उस पर बुरी तरह से टूट पड़ते हैं। चींटे उन राजनीतिक नेताओं की तरह थे जो बिना कुछ परिश्रम किए उन संचयशील चींटियों पर अपने ऊपरी दिखावे का रोब जमाकर उनके संचय में से कुछ-न-कुछ झटकते रहते थे। मच्छर और खटमल चलते-फिरते 'ब्लड-बैंकों' की तरह थे, जो मनुष्न के शरीर का रक्त कण-मात्र भी बहाए बिना भीतर-ही-भीतर से इस सफाई से रक्त-शोषण कर ले जाते थे कि अनुभव के बिना उसे समझना

कठिन हैं ।"[१] विज्ञान-जगत् की उपमाएँ जैसे जोशी जी के अन्य उपन्यासों में मिलती हैं, वैसे ही यहाँ भी हैं; जैसे, लीला की अन्तर्भेदिनी दृष्टि को 'एक्स-किरणों' से उपमित किया गया है तथा उसके व्यक्तित्व का मूल्यांकन दुर्लभवत् 'रेडियम के कणों' से किया गया है[२]। अन्यत्र इसी की— अन्तर से भी अन्तर में प्रकाश फेंकने वाली'—दृष्टि को 'डबल सर्चलाइट' से उपमा दी गई है ।[३]

लीला के शृंगारिक प्रसंगों, अन्तर्द्वन्द्वों तथा प्रभावों की अभिव्यक्ति में लेखक की कवित्वमयी कोमल शैली सुरक्षित रही है। करीम चाचा की आपबीती कहानी के प्रभाव को इन आनुप्रासिक कोमलकांत शब्दों में मूर्तिमान किया गया है—"केवल रह रह कर एक मीठी और करुण-कोमल उदासी मेरे प्राणों की हल्की वासन्ती हवा के हिलोरों के साथ हौले-हौले हिला रही थी" ।[४] सारांश यह है कि जोशी जी की शैली में व्यावहारिकता तथा परिवर्तनशील क्षमता अपेक्षाकृत अधिक बढ़ गई है।

समग्र विवेचन के बाद कहा जा सकता है कि 'जहाज़ का पंछी' उद्देश्यप्रधान उपाख्यानात्मक उपन्यास है। मुख्य पात्रों के चरित्रांकन में अन्तर्मुखी तथा बहिर्मुखी कला का यत्किंचित् संतुलन-प्रयास, समाज की बहुमुखी विकृतियों के उद्घाटन में समर्थ पात्र-विविधता का आहरण, प्रतिभा की व्यापकता के साथ लक्ष्य की एकता की जागरूकता, तथा कथानक की सम्पन्न मनोरमता 'जहाज़ के पंछी' के शिल्पण के उज्ज्वल पक्ष हैं। और प्रत्यक्षानुभूति की यथार्थता का भ्रमोत्पन्न करने में असफलता, कहीं-कहीं उद्देश्य-बाह्य कथा-वैचित्र्य-जन्य स्वतन्त्र मनोरंजन की योजना तथा भाषणबाज़ी की उद्देश्य-मुखरता उसके ऐसे विकलात्मक पक्ष हैं जिनसे इस रचना का प्रभाव कुण्ठित हो गया है।

बूँद और समुद्र

'महाकाल' (१९४७) और 'सेठ बाँकेमल' (१९५५) के पश्चात् 'बूँद और समुद्र' अमृतलाल नागर का तीसरा उपन्यास है, जो सन् १९५६ में प्रकाशित हुआ। यह ६०६ पृष्ठों का बृहदाकार उपन्यास है। स्वयं लेखक के अनुसार उसने यहाँ "अपने देश के मध्यवर्गीय नागरिक समाज का गुण-दोष भरा चित्र"[५] देने का प्रयत्न किया है। डॉ० रामविलास शर्मा ने इसमें मध्यवर्गीय चित्रण का बहुत-कुछ निराकरण किया है किन्तु इसके व्यापक सामाजिक चित्रण की भूरि-भूरि प्रशंसा की है-"बूँद और समुद्र" पुरानी समाज-व्यवस्था के बनते-बिगड़ते और बदलते हुए भारतीय परिवार का महाकाव्य है",[६] तथा "जितना सामाजिक अनुभव संचित है, वह उसे अपने ढंग का

१. पृ० २१८-१९। २. पृ० ४७६। ३. पृ० ३५६। ४. पृ० १२१।
५. "बूँद और समुद्र", 'पाठकों से'। ६. "आलोचना" सं० २०, पृ० ८२।

विश्वकोश बना देता है"[1] । डॉ० शिवनारायण श्रीवास्तव इसे "गोदान की परम्परा में सामाजिक यथार्थ के चित्रण का एक उत्कृष्ट साहित्यिक आयोजन" मानते हैं ।[2] विश्वम्भर 'मानव' इसमें "समाज से व्यक्ति के अटूट सम्बन्ध की कहानी" स्वीकार करते है ।[3] डॉ० सुषमा धवन ने "व्यक्ति एवं समष्टि के समन्वयात्मक विकास" के प्रतिपाद्य के आधार पर इसे "सामाजिक उपन्यास-परम्परा के अन्तर्गत" रखा है ।[4] इस प्रकार अनेक आलोचकों ने इसके सामाजिक आशय को महत्व देकर प्रकारान्तर से इसमें उद्देश्य-तत्व की प्रधानता देखी है । इसलिए इसे उद्देश्य-प्रधान उपन्यासों के वर्ग में रखना उचित है । इसका प्रतिपाद्य-बोधक प्रतीकात्मक नामकरण—जिसमें बूँद व्यक्ति की और समुद्र समाज का प्रतीक है—विपुल विचार-राशि, बहुरंगी समाज-चित्रण, प्रमुख पात्रों की एक निश्चित दिशा में चिंतन तथा चरित्र-परिणति, समाधानसूचक अन्त आदि विशेषताएँ इसकी उद्देश्य-प्रधानता के प्रमाण है। कुछ आलोचक सीमित क्षेत्र लखनऊ की प्रत्येक रंगत को उतारनें के प्रयत्न के आधार पर इसे "शुद्ध आंचलिक" उपन्यासों में रखते हैं ।[5] निस्सन्देह अंचल-विशेष की चित्रण-सफलता 'बूँद और समुद्र' की प्रमुख विशेषताओं में से है परन्तु एक तो इस चित्रण से उपन्यास के रचना-शिल्प में 'रेणु' के उपन्यासों-सा कोई बड़ा परिवर्तन उपस्थित नहीं हुआ; दूसरे, अंचल-चित्रण का पर्याप्त उपयोग पात्रों के बहुविध चिंतन को उद्‌बुद्ध करने के लिए हुआ है, अतएव इसे आँचलिक उपन्यासों के वर्ग में नहीं रखा गया । इसलिए नंददुलारे वाजपेयी, नागार्जुन तथा 'रेणु' की तुलना मे अमृतलाल नागर को 'सीमित अर्थ में ही' आँचलिक उपन्यासों का स्रष्टा मान सके हैं ।[6]

इस उपन्यास का शीर्षक प्रतिपाद्य-बोधक प्रतीकात्मक है । यहाँ बूँद व्यष्टि का प्रतीक है और समुद्र समष्टि का; और इन दोनों के समन्वय की चिरन्तन समस्या ही इस उपन्यास का विधेय है । 'व्यक्ति से समाज का निर्माण होता है, और समाज द्वारा व्यक्ति का पोषण । व्यक्ति और समाज के समन्वय का यही मूलभूत आधार है" ।[7] इस समन्वय में दोनों पक्षों की सापेक्ष-समतुल्य स्थिति पर बल है—"व्यक्ति-व्यक्ति अवश्य रहे; पर उसके व्यक्तिवादी चिन्तन में भी सामाजिक दृष्टिकोण का रहना अनिवार्य हो ।—मैं अकेला भी हूँ पर बहुजन के साथ भी हूँ; दुख-सुख शान्ति-अशान्ति आदि व्यक्तिगत अनुभव हैं पर ये समाज में प्रत्येक व्यक्ति के हैं । अतएव हमें

१. "आलोचना", संख्या २०, पृ० ९३ । २. "हिन्दी उपन्यास", पृ० २७५ ।
३. 'उपन्यासकारों के बीच' "प्रेमचन्द", पृ० २३ । ४. "हिन्दी उपन्यास", पृ० ८० ।
५. डॉ० विश्वम्भरनाथ उपाध्याय, "साहित्य-संदेश", (प्रगति विशेषांक, फरवरी १९५८), पृ० ३६१, ३६५ ।
६. "आलोचना" संख्या २४, पृ० ७-८ । ७. पृ० ४५५ ।

यह मानना चाहिए कि समाज एक है—व्यक्ति तो अनेक हैं" ।[१]—यह समन्वित स्थिति की संक्षिप्त व्याख्या है। किन्तु जहाँ "व्यक्ति और समाज दोनों ही दोषपूर्ण"[२] हों वहाँ यह समस्या है, जिसको यहाँ इस रूप में प्रस्तुत किया गया है—".. हर बूँद का महत्व है क्योंकि वही तो अनंत सागर है, एक बूँद भी व्यर्थ क्यों जाय ? उसका सदुपयोग करो" यही सही है किन्तु "कैसे हो यह सदुपयोग ? कैसे यह बूँद अपने आपको महासागर अनुभव करे ?.. उसके चारों ओर सागर सीमा बाँधकर लहरा रहा है और वह एक बूँद सागर से अलग रेत में घुलती चली जा रही है .. हर व्यक्ति आम तौर पर इसी तरह अपनी बहुत छोटी-छोटी सीमाओं में रहता हुआ एक दूसरे से अलग है। . बूँद अगर बूँद से शिकायत रखती है तो वो उससे कहीं अलगाव भी अवश्य रखती है । तब यह सागर कैसा है जिसमें हर बूँद अलग है ? व्यक्ति यदि इतना ही अलग है तो समाज बंधता क्योंकर है ?.. यह विरोधाभास लेकर मानव का सामूहिक जीवन चल ही कैसे सकता है ? बूँद का उपयोग हो, कैसे हो ?"[३] इस समस्या का समाधान उपन्यासांत में नायक (सज्जन) के इस चिन्तन-निष्कर्ष में मिलता है—"मनुष्य का आत्मविश्वास जगना चाहिए, उसके जीवन में आस्था जगनी चाहिए। मनुष्य को दूसरे के सुख-दुख में अपना सुख-दुख मानना चाहिए। विचारों में भेद हो सकता है, विचारों के भेद से स्वस्थ द्वन्द्व होता है और उससे उत्तरोत्तर उसका समन्वयात्मक विकास भी । पर शर्त यह है कि सुख-दुख में व्यक्ति का व्यक्ति से अटूट सम्बन्ध बना रहे—जैसे बूँद से बूँद जुड़ी रहती है, लहरों से लहरें। लहरों से समुद्र बनता है—इस तरह बूँद में समुद्र समाया है" ।[४]

व्यष्टि-समष्टि के समन्वय का प्रतिपादन प्रमुख पात्रों के चरित्र-चित्रण द्वारा हुआ है। इस प्रतिपाद्य को दृष्टि में रख कर लेखक ने चार प्रकार के पात्र लिए हैं—एक वे जो इस समन्वित आदर्श की मंजिल तक पहुँच चुके हैं, या जिनके जीवन में यह स्वतः सिद्ध है; दूसरे वे जो इस आदर्श-सिद्धि के मार्ग के पथिक हैं और क्रमशः इसे चरितार्थ करने का प्रयत्न करते हैं; तीसरे वे जो अपने चरित्र के चरम अंतर्विरोधों के बावजूद इस मार्ग पर पात्रों-पाठकों की आस्था को दृढ़ करते हैं; और चौथे वे जो विचारतः इस आदर्श को मानते हुए भी व्यवहारतः इसके पालन में असमर्थ रहते हैं और अन्ततः लुढ़क जाते हैं। पहली कोटि में बाबा रामजी और कर्नल आते हैं, दूसरी में सज्जन और वनकन्या, तीसरी में ताई और चौथी कोटि में महिपाल ।

बाबा रामजी के कर्मों और कथनों में इस समन्वित आदर्श का सर्वाधिक प्रमाण मिलता है। वे उस आधुनिक संत के समान हैं जो 'आकाश-पाताल' के परमात्मा

---

१. पृ० ६०३। २. पृ० ४५२। ३. पृ० ३८८, ३८९। ४. पृ० ६०६।

की बजाय 'घट-घट व्यापी' राम के दर्शन करता हुआ सेवामार्गी बना हुआ है।[1] चौहत्तर वर्ष[2] के होते हुए भी वे युवकों के-से उत्साह, शक्ति और मस्ती को स्थिर रखे हुए हैं। दुखी मानवता और पागलों की सेवा में वे निरन्तर संलग्न रहते हैं और समय पड़ने पर सुरती, भांग-बूटी और तेल-मालिश से दूसरों तथा स्वयं का सेवा-सत्कार भी कर सकते हैं। सृष्टि को 'माया-मिथ्या' न मानकर वह इसे सत्य मानते हैं और खुलकर किन्तु संयम से भोगने और इसके भीतर के असत्यों से 'जमकर युद्ध' करने के लिए प्रेरित करते हैं।[3] "न राम के न स्याम के, हम सदा अपने काम के" में उनका विश्वास है[4] और 'परोपकारः पुण्याय, पापाय परपीडनम्' ही एक मात्र कसौटी।[5] संयम और ध्यान की एकाग्रता से दूसरों की बात को जान लेने में वह समर्थ हो जाते हैं। अपने इस अद्भुत सजीव व्यक्तित्व के कारण वह दूसरों पर प्रभाव-विस्तार करने में सहज समर्थ हो सके हैं। इसलिए उपन्यास के नायक-नायिका—सज्जन एवं वनकन्या—को वह सम्पत्ति-दान तथा सेवा-संलग्न करने में सफल हो सके हैं। ताई भी उन्हीं से प्रभावित होकर सम्पत्ति-दान करती है। बूँद और समुद्र के प्रतीकों के आधार पर उपर्युक्त समन्वित आदर्श का कथन उन्हीं से होता है।[6] अतएव यह पात्रोपयुक्त होने से स्वाभाविक एवं प्रभावपूर्ण है। उनके अनुसार "खरा समाजवादी वही है जो दूसरों के लिए जिये—जिये और जीने देय"—इसी कथन से सज्जन को (मानवता की) सुगतिशीलता में गहरी आस्था"[7] हो जाती है। अन्यत्र भी वह विद्वानों के समक्ष आधुनिक युग में मानवीय हृदय की व्यापकता और मानवता की विजय में दृढ़ विश्वास प्रकट करते हैं।[8] इस प्रकार रामजी लेखक की आत्माभिव्यक्ति का निकटतम प्रतिनिधि पात्र है। दूसरा पात्र कर्नल है जिसमें व्यष्टि-समष्टि के समन्वय-सिद्धांत का प्रतिफलन उसके कर्मों से स्वतः सिद्ध है। वह प्रमुखतम पात्रों, सज्जन तथा महिपाल, का घनिष्ठ मित्र है। महिपाल के शब्दों में वह 'देवता' है, "उसकी चेतना भले ही (इन दोनों से) विकसित न हो, पर वह दूसरों पर जान देना जानता है"[9]। वह सरल, निश्छल, निडर, व्यावहारिक तथा दानी है, अपने दोनों मित्रों को नेक सलाह देकर गिरने से बचाने, सत्य और न्याय के पक्ष पर दृढ़ रहने और दुखी मानवता की सहायता करने में वह तत्पर रहता है। वनकन्या और बड़ी की वह सक्रिय सहायता करता है। बाहर से उसका संतुलन-सामंजस्य घर में भी लक्षित होता है—"पति-पत्नी में सद्भावना है। उनके यहाँ लगता है कि घर, पति और पत्नी दोनों का ही समान रूप से है। दोनों का दोनों पर अनुशासन है और दोनों का अनुशासन घर को

---

१. पृ० २६२। २. पृ० २६४। ३. पृ० ४२१ तथा ५६७।
४. पृ० २६४। ५. पृ० ५२६। ६. पृ० ३८८। ७. पृ० ५६७।
८. पृ० २६०। ९. पृ० ५५४।

बाँधता है।"[1] राजनीतिक दलों के स्वार्थमय आचरणों से असंतुष्ट होकर वह 'इंसानी दल' कायम करने का संकल्प करता है।[2] जनता में रहने और जनता के अधिकारों के साथ रहने का उसका कथन आरोपित नहीं, भीतरी है और उसके कार्यों से प्रमाणित।

कथानायक सज्जन के रूप में नागर जी ने एक ऐसे विकासोन्मुख पात्र को चुना है जिसके द्वारा वह समष्टि-साधना के मार्ग में आने वाले अन्तर्बाह्य संघर्षों का मनोवैज्ञानिक चित्रण कर सके हैं। सज्जन रईस है और उसमें रईसों की दुर्बलताएँ और दोष भी हैं। वह नारी को मनोरंजन का साधन समझता ही नहीं, उससे वैसा व्यवहार भी करता है—नायिका वनकन्या से प्रेम करता हुआ भी वह अपने चारित्रिक स्खलन को बचा नही पाता। उसे अपनी पूंजी का अहंकार भी है और वह अपने आहत अहंकार की मन:स्थितियों में अपने नौकरों से बुरी तरह से पेश आता है। दूसरी ओर वह प्रसिद्ध चित्रकार है—एक कलाकार की संवेदनशीलता, सहृदयता, तथा विवेकबुद्धि भी उसमें है। अतएव अपनी दुर्बलताओं के बाद वह आत्म-ग्लानि से अभिभूत होकर अन्तर्द्वन्द्वों का शिकार होता रहता है। इस तरह वह बार-बार गिरता पड़ता है परन्तु बाबा राम के तर्क-संगत आत्मीय निर्देशन; वनकन्या-जैसी एकनिष्ठ, दृढ़, तेजस्विनी तथा क्रांतिकारिणी नारी के विनम्र-निश्छल प्यार, तथा मित्र कर्नल के सहयोग से वह क्रमशः उबरता-बढ़ता भी चलता है। अपनी माँ की चारित्रिक दृढ़ता तथा भक्ति के पूत संस्कारों के प्रति उसकी श्रद्धा, तथा पिता की वज्र-विलासिता एवं अत्याचारिता के प्रति घृणा, भी उसके ऊर्ध्वमुखी विकास में सहायक हुई है। इसके अतिरिक्त, कलाकार होने के नाते, उसने अपने देश की वास्तविकता को पहचानने की 'पुरानी इच्छा' भी है[3] जिसके कारण वह सामान्य जनता से सम्पृक्त होने के लिए अपनी कोठी को छोड़कर चौक में आकर ठहरता है। इन सभी विशेषताओं से बढ़कर उसमें समष्टि-साधना के लिए अनिवार्य 'आदमी से प्यार' की प्रवृत्ति भी है। बाबा रामजी के प्रभाव से वह समाज-सेवा के लिए अपने तीन लाख रुपये का त्याग करता है। जब वह उस राशि के उपयोग की चिन्ता में व्यस्त होता है तो लेखक ने नायिका से सप्रयोजन एक प्रश्न करा के उसकी वास्तविक स्थिति स्पष्ट कर दी है "सिर्फ तीन लाख के उपयोग की चिन्ता है? जिनके लिए उपयोग होगा उनकी नहीं?" कन्या के प्रश्न से सज्जन को झटका लगा। उसके चेहरे पर एक हल्की-सी चिड़चिड़ाहट झलकी जो तुरन्त ही पच गई, चेहरा चिन्ता से कस गया, आँखों की पुतलियाँ विचारों के भार से भर कर गहरी काली और स्थिर हो गईं। अपने मन की सही थाह पाने में उसे देर लगी। फिर खोई हुई दृष्टि से अपनी पत्नी की ओर

---

१. पृ० ३८९। २. पृ० २०९। ३. पृ० ५७१।

देख उलझे स्वर में बोला—"कुछ अजीब सा लगता है। अगर—अगर—यह कहूँ कि जनता से मेरा कोई लगाव नहीं तो ग़लत होगा। मैंने अपने देश और तमाम इंसानों के लिए बहुत सोचा है। जितना घूमा हूँ उतना ही ज़िंदगी के नज़दीक आया हूँ। मुझे आदमी से प्यार है। यह सब है—यह सब तो ज़रूर है—फिर भी मैं महसूस करता हूँ कि दुनिया के साथ मेरा सम्बन्ध तेल और पानी जैसा है, दूध और शक्कर जैसा नहीं। चाहता ज़रूर हूँ कि दुनिया से एक में घुल-मिल जाऊँ। महर्षि व्यास के शब्दों में परोपकार का पुण्य करूँ, परपीड़न का पाप नहीं—बाबा रामजी की तरह, उन्हीं की तरह!"[१] इस प्रश्नोपरांत की आनुभाविक प्रतिक्रिया तथा कथन की शैली से निस्सन्देह उसके "मन की सही थाह" मिल जाती है और उसके अन्तर की सच्चाई तथा समष्टि-साधना के लिए उसकी वास्तविक आकांक्षा में शंका की गुंजायश नहीं रहती। समाज-सेवा के नाम पर उसके इन कार्यों की गणना हो सकती है :— १. पगली-सहायता, २. ताई-सहायता, ३. महिला-सेवा-मण्डल का भण्डाफोड़ करना, ४. सम्पत्ति-दान, ५. सहकारी बैंक, स्कूल, अस्पताल आदि खोलना तथा महिपाल तथा भैया साहब, रूपरतन आदि बड़े रईसों के सम्मिलित विरोध को शांति किन्तु अटल दृढ़ता से सहना और सामना करना।[२] उपन्यास के अन्त में लिखा है—"सज्जन और कन्या एक लगन लेकर अपने छोटे से क्षेत्र में मानवता का दर्शन करने के लिए कर्मरत हो गए। रूढ़िवादिता स्वयं को संहार से बचाने से पहले कठिन प्रहार करती है, और भी करेगी परन्तु दोनों पति-पत्नी अपनी आस्था पर डटे रहेंगे। व्यक्ति की सामाजिक चेतना जाग कर रहेगी।"[३] सज्जन की इस अन्तिम स्थिति के सम्बन्ध में लेखक की उज्ज्वल-अटल आस्था यों ही अभिव्यक्त नहीं हुई, इसका क्रमिक विकास हुआ है। सज्जन पहले अपनी काममूलक ग्रंथियों से घोर संघर्ष करता है किन्तु वनकन्या को पत्नीरूप में स्वीकार करने के बाद उसका काम-जीवन अस्खलित-अचल हो जाता है। महिला सेवा-मण्डल की विकृतियों के अनावरण का कार्य उसकी चारित्रिक दृढ़ता के लिए चुनौती बनकर आता है जिस पर से वह सफलता से पार उतरता है।[४] कर्नल सज्जन को इस सुधार-कार्य से विरत रहने का 'आदेश' देता है[५] किन्तु सज्जन सेवा के नाम पर महिलाओं पर अत्याचार का पर्दाफाश करके रहता है। यह ज़रूर है कि इस कार्य को हाथ में लेने से पूर्व अपनी पत्नी को लेकर उसमें मनोमन्थन होता है—वह नहीं चाहता कि उसकी पत्नी इस पापालय में सुधारकार्य के लिए जाय।[६] सम्पत्ति-दान से पूर्व भी वह पर्याप्त अन्तर्द्वन्द्व से गुज़रता है और अपनी सीमाओं को पहचान कर सारी सम्पत्ति दान नहीं करता—प्रारम्भ में आठ लाख में से तीन लाख ही देता

१. पृ० ५७२। २. पृ० ५९१-९३। ३. पृ० ६०६। ४. पृ० ५३२। ५. पृ० ५३३। ६. पृ० ५२५-२६।

है। आगे तीन लाख रुपए का विभिन्न समाजोपयोगी कार्यों में उपयोग करने के संदर्भ में निरन्तर कर्मरत रहते हुए वह अनुभव करता है कि लोगों की तकलीफों के प्रति उसके मन में करुणा जागती है पर करुणा अपना प्रतिदान भी माँगती है।[1] वह पाता है कि जन-कल्याण की भावना के एवज़ में वह यश भी चाहता है।[2] फिर भी, जन-कल्याण की भावना उसकी यशोलिप्सा से प्रबल है।[3] आगे जब मित्र महिपाल की ईर्ष्यालु प्रकृति उसके समाजोपयोगी कार्यों का विरोध करने के लिए व्यक्तिगत आक्षेपों पर उतर आती है तो वह अपने सेवा-कार्य को बचाने के बल पर उस पर मुकदमा चलाना चाहता है। वनकन्या और कर्नल के विरोध करने पर भी वह अपने निश्चय पर स्थिर रहता है। किन्तु बाबा राम जी के कथनों के प्रकाश में वह पाता है कि उसके मन में भी महिपाल के प्रति ईर्ष्या है और वह 'अद्वितीय' बना रहना चाहता है। उसकी विवेक-बुद्धि उससे प्रश्न करती है—"समाज के साथ, इतने विविध व्यापक और विशाल जीवन के साथ कौन व्यक्ति अद्वितीय हो सकता है ? हाँ, इस प्रकार वह अद्वितीय अवश्य है कि जीव सब में एक है, जीव अद्वितीय है। सज्जन यदि इस अद्वितीयता को पहचान ले तब किसी से ईर्ष्या-द्वेष नहीं रह जायगा।" "पर यहीं उसे भय लगता है जब दूसरे के ईर्ष्या-द्वेष भरे विरोधों से घिरेगा; दूसरों से झूठ की फाँसी उसके गले में पड़ेगी, तब क्या वह ईर्ष्या-द्वेष किए बिना बच पाएगा ?"[4] क्रमशः वह इस दुर्बलता से भी बहुत-कुछ मुक्त होकर महिपाल पर मुकदमा चलाने का विचार त्याग देता है और उसके बुलाये बिना, निरहंकार होकर – किन्तु अन्तर्द्वन्द्व के पश्चात्—महिपाल की भतीजी की शादी पर पहुँचता है। वस्तुतः सज्जन का विकास-क्रम यह स्पष्ट कर देता है कि किसी कार्य या व्यक्ति को अपनाने से पहले तो वह मानवीय दुर्बलताओं तथा अन्तर्द्वन्द्वों से अवश्य गुज़रता है किन्तु अपना लेने के बाद वह उसके साथ पूर्णतया स्थिर हो जाता है—(जैसे कि वह स्वयं कहता है) उसकी निश्चयात्मक बुद्धि महिपाल से प्रबल है।[5] सज्जन की गति-प्रगति का ज्वलन्त इतिहास—उसकी समष्टि-भावना का उज्ज्वल विकास—उसकी एक ही व्यक्ति या परिवार के प्रति विपरीत प्रतिक्रियाओं के आधार पर देखा जा सकता है। पहले जो सज्जन अपने सहवर्गीय रईस 'राजा साहब' के कहने-समझाने—यही नहीं केवल प्रभाव—में आकर वनकन्या की सहायता से विरत होने लगता है, वही अन्त में राजा साहब के लड़के की धमकियों और विरोध को संघर्ष की चुनौती के रूप में दृढ़ता से स्वीकार करता है।[6] सारांश यह है कि एक नायक को अपने आदर्शानुकूल बनाने में लेखक ने जोश और जल्दबाज़ी से काम न लेते हुए चरित्र-विकास की मनोवैज्ञानिक

१. पृ० ५७६। २. पृ० ५७८। ३. पृ० ५७९।
४. पृ० ५९५-९६। ५. पृ० ५५२। ६. पृ० ५९१-९३।

स्वाभाविकता का पूर्ण विचार रखा है। और इसी क्रम में वह समष्टि के साथ एक-रूप होने की आकांक्षा रखने वाले एक साधक की अन्तर्बाह्य कठिनाइयों का चित्रण भी कर सके हैं तथा मानवीय चरित्र-विकास में, व्यक्ति के नैतिक उत्थान में, आस्था भी व्यक्त कर सके हैं, जो इस उपन्यास का मुख्य लक्ष्य है। हम डॉ० रामविलास शर्मा के इस कथन से असहमत हैं कि "सज्जन ने उपन्यास में ज़रूरत से ज़्यादा जगह घेरी है। पूर्वार्द्ध में वह उतनी जगह नहीं घेरता, जितनी उत्तरार्द्ध में। इसलिए उपन्यास का उत्तरार्द्ध अपेक्षाकृत निर्बल हो गया है।"[1] सज्जन के चरित्र के कलात्मक विकास के आलोक में हमें डॉ० शिवनारायण श्रीवास्तव का यह कथन भी नहीं जँचता कि "उपन्यास में सज्जन के चरित्र एवं प्रसंग का सर्वाधिक विस्तार से वर्णन है किन्तु ऐसा लगता है कि 'जहाज़ का पंछी' के नायक की भाँति वह भी केवल तफरीह के लिए, मुहल्ले वालों के बीच रहता है। उसने स्वयं ही अपने लिए कठिनाइयों का सृजन किया है—वे परिस्थितिजन्य नहीं हैं।"[2]

वनकन्या के चरित्र में भी वैयक्तिक तथा समाजिक चेतना का समन्वय चरितार्थ हुआ है। अपने निम्न मध्यवर्गीय घर के व्यभिचारपूर्ण वातावरण की प्रतिक्रिया में वह उग्र नारी-चेतना तथा पुरुष-घृणा लेकर औपन्यासिक रंगमंच पर अवतरित होती हैं। सत्य और न्याय पर दृढ़ रहने तथा अपनी विद्रोही प्रवृत्ति के फलस्वरूप वह अपने घर से अलग रह कर, अपने पिता के भ्रष्टाचार का अनावरण करती है तथा उसके विरुद्ध मुकद्दमा चलाने के लिए, कितनों से सहायता लेकर, सामग्री जुटाती है। कम्यूनिस्ट पार्टी की सदस्या न होते हुए भी उसके सदस्यों से उसका सम्पर्क रहा है। अतएव यह बात भी उसकी क्रांतिकारिता के लिए उत्तरदायी है। अपनी भावज की दारुण ट्रैजडी के लिए उत्तरदायी उसके पिता के पाप के प्रति कम्यूनिस्ट पार्टी के स्वार्थमय तथा मात्र चुनाव जीतने के लिए प्रचारात्मक रुख को देखकर कन्या को राजनैतिक संस्थाओं की वास्तविकता सामने आ जाती है—"जिस व्यक्ति की पीड़ाओं का सामूहिक रूप में दर्शन कर ये राजनीतिक सिद्धांत बने हैं, उसकी अनुभूति, उसकी तड़प भी अब हमारे मन से निकल गई है! हमारी नज़र अब सिर्फ़ पोलिटिकल रह गई है – सिर्फ पोलिटिकल –कोल्हू के बैल की तरह आदत के कारण चक्कर काटते चले जा रहे हैं, काम कुछ भी नहीं रहा"।[3] तात्पर्य यह है कि उसकी साभूहिक चेतना वैयक्तिक धरातल का त्याग करने के लिए तैयार नहीं। इसके साथ ही वह 'पूंजीवादी व्यवस्था'[4] तथा नारी-पुरुष-विषमता—पुरुष के आगे नारी की दासी या वेश्या की-सी स्थिति—का घोर विरोध तथा नारी के उचित

१. "आलोचना" २०, पृ० ९१। २. "हिन्दी उपन्यास", पृ० ३७७।
३. पृ० १३३। ४. पृ० ५७१।

स्वातन्त्र्य की वकालत करती है।[१] वस्तुतः उसका दृष्टिकोण क्रमशः विकसित हुआ है और वह वर्गीय न रह कर व्यापक सामाजिकता से तादात्म्यानुकूल मानवीय बन गया है; अपने मर्दों के खिलाफ होने के आरोप का उत्तर देती हुई वह कहती है—"मैने ये कभी नहीं कहा कि मर्दों से लड़ना चाहिए। हम दोनों एक दूसरे के साथी हैं, अपनी-अपनी अच्छाइयों-बुराइयों के साथ हैं। अगर हमारा साथ सच्चा है तो हमें एक दूसरे के लिए बर्दाश्त भी करना होगा। हाँ, बेजा बात पर न झुकेंगे, मगर पारस्परिक सहनशीलता का नाता तब भी न टूटेगा—यहीं स्त्री पुरुष को अपनी शक्ति से हरा सकती है। और यह हार-जीत स्त्री-पुरुष को ऊँचा-नीचा नहीं बल्कि समान बनाएगी"।[२] इस कथन में ममत्व या प्यार-जन्य सहनशीलता पर बल है। यह बाबा राम की कन्या को बड़ी सीख थी। सज्जन और पूंजीपतियों के प्रति कन्या के रुख को परिचालित करने के लिए, प्रश्न किए जाने पर, बाबा राम यही समझाते है कि ममत्व से न्याय-बुद्धि बदल जाती है।[३] और इसी आधार पर वनकन्या का चरित्र-विकास होता है—वह सज्जन की दुर्बलताओं की उपेक्षा कर उससे बिवाह करती है और अपने प्यार से उसकी नैतिक शक्ति तथा सेवा-मार्ग की स्फूर्ति सिद्ध होती है, क्योंकि "प्यार बड़ी चीज़ है। प्यार से दुनिया बदल जाती है"।[४] किन्तु सज्जन से, प्रतिदान में, उसे भी कुछ मिलता – वह (पुरुषों के प्रति) अपने "मन की घृणा" से उबरती है।[५] तीन लाख के त्याग करने में सज्जन के साथ उसकी भी सहमति है किन्तु त्याग करने से पूर्व उसके मन में भी रुपए के प्रति मोह उत्पन्न होता हैं, जिसे वह सज्जन के समान ही तोड़ना आवश्यक समझती है।[६] उसका तर्क है कि पूंजीवाद का नाश करने के लिए व्यक्तिगत धनसंग्रह और उत्तराधिकार की भावना को नष्ट करना होगा।[७] परोपकार में सज्जन के भी अधिक निष्ठा रखने वाली होकर भी वह उससे व्यास भगवान के पाप-पुण्य के शब्दों में चिंतन करने का विरोध करती है "क्योंकि इनके अर्थ रूढ़ हो गए हैं। पाप और पुण्य परलोक के लिए किए जाते हैं—मरने के बाद उनका फल मिलने की बात इन शब्दों में निहित सामाजिक पहलू को उभरने नहीं देती।"[८] बाबा राम से प्रभावित होकर बूँद और समुद्र के प्रतीकों में वह भी चिन्तन करती हुई दिखाई देती है[९] और अपने जीवन और विचार में समन्वय-सिद्धान्त को चरितार्थ करती है। इसलिए अन्त में हमें सज्जन के साथ वनकन्या को भी 'मानवता के दर्शन' करने की साधना में 'कर्मरत' होने की सूचना दी गई है।[१०] प्रत्यक्ष रूप से वह नारियों की शिक्षा के लिए स्कूल चलाती है और सज्जन के प्रत्येक सेवा-

---

१. पृ० ४३७, ४७६, ४८४ २. पृ० ४३८। ३. पृ० ४३१। ४. पृ० ४३२। ५. पृ० ५७१। ६. पृ० ४८६, ४८९। ७. पृ० ४९०। ८. पृ० ५७३। ९. पृ० ३८९। १०. पृ० ६०६।

कार्य तथा चिन्तन में "जीवन-संगिनी" है।[1] महिपाल की प्रेमिका शीलास्विंग भी, अन्त में, अपनी अभाव-भावना का सेवाकार्य में उदात्तीकरण करती है—सज्जन और कन्या के द्वारा खोले अस्पताल में योग देने के लिए वह अपनी 'आधी प्राइवेट प्रैक्टिस' का त्याग करती है।[2]

तरह-तरह के टोने-टोटके, बिनगाली के बात न करने, कितनों से शत्रुता करने, और छुआछूत का चरम व्यवहार करने वाली रूढ़िग्रस्त, 'घृणामयी'[3] ताई, उतनी ही वात्सल्यमयी, करुणामयी तथा दानदात्री-सहृदया भी है। परिस्थितियाँ उसे घृणामयी बना देती हैं और वही उसे करुणामयी। माँ-बाप के जल्दी मर जाने से दादा-दादी के अनुचित लाड़-प्यार में पालित, किन्तु उनके भी मर जाने पर विपरीत अभिभावकों के व्यवहार से कुण्ठित; विवाहोपरांत लड़की को जन्म देने के कारण सास से तिरस्कृत; लड़की को बचाने के लिए सारे घर से शत्रुता मोल लेने पर भी उसके चल बसने से वात्सल्य-हीन दुखित; रईस पति से परित्यक्त तथा सामान्य समाज के सताने से तंग होकर ताई घृणा और हिंसा की प्रतिमूर्ति बन जाती है।[4] ठण्ड से सिकुड़े, बन्द आँखों वाले तीन बिल्ली के नवजात बच्चों के अपने पेट से चिपटने में—और इस तरह अपनी बिटिया की याद आ जाने से—उसका दमित-प्रेम-बीज प्रस्फुटित होता है और बिल्ली के बच्चों से उसका परिवार बनता है। जिस प्रेम को मानव ने दबाया-सुलाया उसे ही मानवेतर जीवों ने जगाया-बढ़ाया। उसके भक्तहृदय तथा अपार वात्सल्य को परेशान करने वाले बिल्ली के बच्चों में 'बालमुकन्दे'[5] खेलते नजर आने लगते है—वह उनके लिए जितनी चिन्ता करती है उतनी अपने लिए भी नहीं। उनके मोह में वह अपने रूढ़िवद्ध छुआछूत के संस्कार भी भूल बैठती है। सज्जन के तनिक मुसीबत में काम में आने पर वह उसकी बहु पर सौ तोले सोना वारने पर तैयार हो जाती है। सज्जन की कोठरी पर आक्रमण करने वाली बर्बर भीड़ से वह अकेली लडती है और उस दिन वह बड़ी रात तक लालटेन के उजाले में कन्नोमल के पोते सज्जन की तस्वीरों के टुकड़े बटोर-बटोर कर सहेजती रहती है। मुसीबत के समय तारा के प्रजननकार्य के लिए वह दाई बन जाती है। अपनी काल्पनिक बेटी राधा का विवाह रचाती है और विदाई के समय बार-बार ग़श खाकर अचेत होती है। उसके दहेज में वह बीस-पच्चीस हज़ार देती है—जो उपलक्ष्य मात्र है, मुख्य लक्ष्य तो सेवामार्ग में सहायक होना है। विजातीय वनकन्या से घृणा करती है किन्तु उसके सेवा-प्यार से प्रभावित होकर वह उसे भी अपना लेती है। इस तरह ताई का चरित्र अपने चित्रण मात्र से—अन्य पात्रों के विपरीत बिना

१. पृ० ५७२। २. पृ० ५७९। ३. पृ० ३५१।
४. पृ० १२-१३। ५. पृ० ३५१।

चिन्तन, विचाराभिव्यक्ति या वाद-विवाद के—मानवता के प्रति जैसा आस्थावान बनाता है, उतना कोई और पात्र नहीं।

महिपाल की ट्रैजिडी उसके वैयक्तिक-सामाजिक पक्षों की असमन्विति का परिणाम है। महिपाल अपने विचारों और साहित्य में प्रगतिशील है किन्तु उसके जीवन के अर्थ-काम के अभाव उसे वैयक्तिक बना देते है। एक ओर वह अपने पिता के आदर्शवाद तथा साहित्यकार की उच्चाशयता से प्रभावित है दूसरी ओर उसके ननिहाल के रईसाना संस्कार हैं जो उसे सदैव असंतुलित बनाए रखते हैं।[१] सामाजिक व्यवस्था उसके प्रबल अहं को बार बार धक्का देती है और वह अपनी ईर्ष्या में ही जलता रह जाता है। उसका निम्न आत्म-चिन्तन इसका सजग प्रमाण है—"बैर और फूट हिन्दुस्तान के दिलों में घर कर गया है, महिपाल ने सोचा, स्वयं मैं भी इनसे अछूता नहीं, मैं भी वैर रखता हूँ, सज्जन से, अपनी पत्नी से, शीला और यहाँ तक कि कर्नल से भी वह अपने मन के पर्दे दर पर्दे में बैर भाव रखता है। उसे जाने अनजाने उन तमाम लोगों से वैर है जो जीवन के किसी भी क्षेत्र में उससे अधिक सांसारिक सफलता-धन-यश, मान आदि प्राप्त कर रहे हैं। जब बैर रखता हूँ, इतने निकट के लोगों से बैर रखता हूँ, तब स्वाभाविक रूप से दुनिया में मैं अकेला फुटैल हूँ"।[२] प्रारम्भ में महिपाल 'सिद्धांन्तवादी लेखक' की तरह जीवन में भी पूर्णतया आदर्शवादी रहा और उसने घोर संघर्ष किया—नौजवानी में महिपाल ने न जाने कितनी बार सिद्धांतों के लिए आर्थिक वैभव को ठुकराया; सिद्धान्तों के लिए ननिहाल का वैभव छोड़ा; समाजवादी सिद्धान्तों के प्रचार के लिए रूपरतन से पत्र-सम्पादक के रूप में कम पैसा लिया, बाद में उसकी पूंजीवादी वास्तविकता को पहचान कर उससे नाता तोड़ा; भाई के विवाह में दहेज न लिया; भाई की उन्नति के लिए अपनी पत्नी के गहने तक बेच डालने में उसे कभी कोई मोह नहीं हुआ;[३] और अभावग्रस्त होते हुए भी, मित्रों तथा प्रेयसी शीला के ज़ोर देने पर भी उनसे आर्थिक सहायता स्वीकार न कर अपने अहं की रक्षा करता रहा। महिपाल ने न जाने दुःख के कितने विषम क्षणों में इस दोहे से संतोषबल—आत्मबल—पाया:—

तीन गाँठ कोपीन में बिन भाजी बिन लौन।
तुलसी मन संतोष जो इन्द्र बापुरो कौन ।।

किंतु भाई जयपाल की कृतघ्नता, अर्थाभाव के कारण बाल-बच्चों की शिक्षा एवं विवाह की बाध्यता, जात-पांत की रूढ़ धारणाओं में 'मरजाद' देखने वाली पत्नी की बढ़-चढ़ कर भतीजी का विवाह करने की माँगों की लाइलाज हठधर्मी, साथ ही बचपन के

---

१. पृ० २३६। २. पृ० १९०-९२। ३. पृ० ५६० तथा २४वां परिच्छेद।

संस्कारों से पोषित अपनी मध्यवर्गीय मनोवृत्ति, तथा सबसे बढ़कर आधुनिक पूंजीवादी व्यवस्था—जो पूंजी के आधार पर ही व्यक्ति का सम्मान करना सिखाती है—ने महिपाल की आस्था को हिला दिया। उसके बार-बार के अन्तर्द्वन्द्वों ने उसके सिद्धांतवाद की कमर तोड़ दी और वह ऊपर से आदर्शवादी होकर भी मन ही मन चार्वाकानुयायी बन बैठा।[1] "व्यक्ति और समाज-समन्वय के मूलभूत आधार" को जानते हुए भी उसके मन ने यही कहा कि "जब तक समाज नहीं बदलता व्यक्ति बेचारा क्या करेगा?"[2] मन ही मन ऐसे तर्कों से प्रभावित, आस्था-खोए महिपाल ने किन्हीं दुर्बल क्षणों में, अवसर पाकर, चोरी कर ली और मध्यवर्गीय लालसाओं को पूरा किया। किन्तु एक विशेष अवसर पर मित्रों के सामने भेद खुल जाने से उसने आत्महत्या कर ली। इस प्रकार उसके अभावों ने "उसको डैम समाज, डैम सिद्धांत! ऋण लेकर घी पियो"[3] की घोर वैयाक्तिकता की ओर प्रेरित किया और यही उसकी दुखांतकी का कारण बनी; अतएव आत्महत्या से पूर्व, अपने अन्तिम पत्र-लेख में, वह अपना निष्कर्ष-आदर्श व्यष्टि-समष्टि-समन्वय के सिद्धांत के रूप में दे गया—"व्यक्ति-व्यक्ति अवश्य रहे; पर उसके व्यक्तिवादी चिंतन में भी सामाजिक दृष्टिकोण का रहना अनिवार्य हो।"[4] वनकन्या को, अपने घर के मध्यवर्गीय विषाक्त वातावरण में भी, मनोबल से अपने सिद्धांतों-आदर्शों की रक्षा करते दिखा कर लेखक ने व्यक्ति के समाज-निरपेक्ष नैतिक उत्थान पर आस्था प्रकट की है किन्तु महिपाल जैसे मध्यवर्गीय, विद्वान, विचारक तथा सिद्धांतवादी को उसने पूंजीवादी विकृत समाज-व्यवस्था में गिरते दिखा कर समाज-विधान के परिवर्तन को आवश्यक बताया है; महिपाल लिख जाता है—"जो समाज व्यवस्था मेरे जैसे जागरूक व्यक्ति को अभावग्रस्त बनाकर यों जीते जी मार सकती है वह अधिकतर अचेतनावस्था में, जड़ संस्कारों में पलने वाले समाज को क्यों न पतन के गर्त में गिरा दे .."।[5] उपर्युक्त दोनों बातों से समन्वित सिद्धांत मे कोई अन्तर्विरोध नहीं आता अपितु व्यक्ति और समाज की परस्पर पूरकता का उद्देश्य ध्वनित होता है—व्यक्ति से समाज का निर्माण होता है और समाज द्वारा व्यक्ति का पोषण।[6]

नागर जी ने महिपाल में ऐसे गुणों का परिचय दिया है जिसके कारण वह उसकी समस्या को व्यापकता दे सके हैं। महिपाल की आत्महत्या भारत की आत्महत्या हो उठी है; सज्जन के चिंतनानुसार—"जिस देश में कर्मयोग का सिद्धांत, वेद उपनिषद, साहित्य, शास्त्र है, व्यास, वाल्मीकि जैसे युग-प्रवर्त्तक महर्षि हैं, इतना रस-ज्ञान है, अजन्ता, एलूरा, कोणार्क' दक्षिण भारत—सारे भारत में व्याप्त अनुपम शिल्प

१. पृ० ५६१। २. पृ० ४५५। ३. पृ० ५६१। ४. पृ० ६०३।
५. पृ० ४५५। ६. पृ० ६०२

है, सुनीतियाँ है, जिस देश का इतिहास महिमामय है—वह देश जड़ता और गंदगी में रहना पसन्द करते हुए आज की भयंकर अगति के रूप में आत्महत्या क्यों कर रहा है। महिपाल और भारत अपने ज्ञान और अज्ञान को लेकर एक समान हैं।"[१] उपर्युक्त प्रश्नता यदि सज्जन का विचारोद्बोधन कर उसे दो पृष्ठों में चिंतन करा सके तो उसकी स्वाभाविकता पर प्रश्नचिन्ह नहीं लगाया जा सकता।

उपन्यास के अन्त में महिपाल की करुण-मार्मिक दुखान्तकी की योजना इसलिए हुई है कि विचारों को वेदना से संयुक्त कर पाठकों को पात्रों के 'कचोट भरे सत्य"[२] से द्रवित किया जा सके। उपन्यास की अन्तिम प्रभविष्णुता में यह अचूक सिद्ध हुई है और पात्रों-पाठकों में संवेदना जागने में सफल। महिपाल की मुख्य ट्रैजिडी के अतिरिक्त, 'बूँद और समुद्र' में स्त्री-पुरुष---अधिकांशतः मध्यवर्गीय स्त्री-पुरुष—के बेमेल सम्बन्धों से उत्पन्न नारी-दुर्दशा की पांच-छह अन्य दुखांतकियों का चित्रण भी किया गया है, जो पात्रों के भावों को उद्वेलित कर अनेक चिन्तन-क्षणों की सृष्टि करती हैं और वेदना-तत्व से उपन्यास के प्रभाव को बढ़ाती हैं।[३] ताई, बड़ी, वनकन्या की भाभी, चित्रा, पगली, सज्जन की माँ तथा महिलाश्रम की नारियों की व्यथा-कथा ने पुरुष के नारी पर नाना रंग के अत्याचारों को स्पष्ट करते हुए सिद्ध किया है कि भारतीय समाज की स्त्री 'सर्वहारा'[४] है—"दस पाँच घरों को छोड़कर हिन्दुस्तान का हर घर औरतों के लिए कसाईखाना है"। नारी-दुर्दशा के कारणों में नारी-अशिक्षा तथा अनेक रूढ़ संस्कारों को दोषी बताया गया है पर मुख्य रूप से पूंजीवादी विकृत अर्थ-व्यवस्था के कारण पर बल देकर नारी-दुर्दशा को महिपाल की आर्थिक ट्रैजिडी के साथ मिला दिया गया है;[५] वनकन्या कहती है—"पूंजीवाद को उखाड़ फैकना... ज्यादा कठिन् काम है सज्जन। इसके साथ-साथ एक पूरी सामाजिक चेतना बदलेगी; सबसे पहले तो स्त्री-पुरुष का आपसी नाता बदलेगा"।[६]

मध्यवर्गीय समस्या इसी पूंजीवादी विकृति से सम्बद्ध है जिसे मुख्यतः महिपाल-परिवार द्वारा प्रस्तुत किया गया है। वन कन्या तथा चौक में रहने वाले अनेक परिवार भी मध्यवर्गीय हैं। वनकन्या के परिवार की तबाही का सामान्यीकरण करते हुए कहा गया है—"तबाही चारों ओर है। इन दूर तक फैले हुए मकानों की दीवालों के अन्तर भीषण यातनायें और चिंताएँ ही तो पल रही हैं। इस पूंजीवादी व्यवस्था में सुख कहाँ .."[७] सज्जन ने जिस तीन लाख का दान दिया उससे सहकारी बैंक की स्थापना की गई ताकि शहरों में महाजनों के अधीन रहने वाले ८५ प्रतिशत मध्यवर्ग

---

१. पृ० ६०४। २. पृ० ६०४, सज्जन का चिंतन। ३. पृ० ९५।
४. पृ० ९६। ५. पृ० १४ वाँ परिच्छेद। ६. पृ० ४८९। ७. पृ० ५७५।

को ऋणमुक्त किया जा सके ।[1] सज्जन ने चौक का अध्ययन किया था इसलिए "चौक वार्ड सहकारी बैंक"[2] की स्थापना की गई ।

सारांश यह है कि व्यष्टि-समष्टि-समन्वय के मुख्य प्रतिपाद्य के साथ नारी-दुर्दशा तथा मध्यवर्गीय समस्या को कुशलता से संयुक्त कर देने से उपन्यास का प्रभाव अक्षुण्ण हो गया है । दूसरे, पात्रों के चरित्रांकन से यह भी स्पष्ट है कि समन्वयात्मक आदर्श उनके चरित्र-विकास से ध्वनित हैं; अन्तर्भूत है, आरोपित नहीं, अतएव कलात्मक है ।

उपर्युक्त समस्याओं से सम्बद्ध विचारों के अतिरिक्त 'बूँद और समुद्र' में विविध विषयों पर ज्ञान-राशि का विपुल संचय मिलता है । लेखक ने अपनी बहुज्ञता-के सजग समावेश का कोई अवसर नहीं छोड़ा । यहाँ हमारे सामने इस अपार विचार-राशि के मूल्यांकन का नहीं, कलात्मक-विकलात्मक समावेश का प्रश्न है । इस उपन्यास के एक प्रसंग में, परोक्ष रूप में लेखक ने अपना तत्सम्बन्धी दृष्टिकोण स्पष्ट किया है । महिपाल सज्जन एवं कर्नल को अपने विचार भाराक्रांत उपन्यास का आरम्भ सुनाता है । तब सज्जन महिपाल से कहता है—"···तुम्हें आजकल कहानी या उपन्यास-लेखक कहलाने के बजाय विद्वान् बन कर पुजने की फिक्र लग गई है ।"[3] तनिक वाद-विवाह के बाद सज्जन पुनः अपना मत देता है कि "किसी बात का ब्यौरा देना इतिहासकारों की शैली है; कलाकार उसी बात को उचित बैकग्राउण्ड देकर सजीव कर देता है । तुम अपने इस तमाम मैटर को अगर कहानी के रूप में इस तरह ढाल सकोगे कि उस जमाने की एक-एक तस्वीर पाठक के मन में उभर कर आये, तब तो बिला शक तुम्हारा उपन्यास सफल होगा ।"[4] इसी दृष्टिकोण के अनुकूल नागर जी जीवन के समीक्षक ही नहीं, जीवन के चित्रकार भी बने हैं; किन्तु कुछ स्थलों पर, 'विद्वान बन कर पुजने' का प्रभाव भी पड़ता है ।[5] आगे इसी की परीक्षा की जाएगी । अन्य अनेक लेखकों की तरह नागर जी ने शुष्क निबन्ध-तत्व के उपयोग से विचारात्मकता का आग्रह नहीं दिखाया, वरन् पात्रों के प्रसंगानुकूल संवादों, उद्वेलित मनःस्थितियों में उनके आत्मचिन्तन तथा आत्म-विश्लेषण के माध्यम को स्वीकार किया है । इसके लिए लेखक ने विशेष योग्यता-संपन्न तथा जटिल मनःप्रकृति वाले पात्रों का चयन किया है । महिपाल विद्वान्, विचारक,[6] प्रसिद्ध साहित्यकार तथा पत्रकार है; सज्जन प्रसिद्ध चित्रकार; बनकन्या शिक्षिता, तथा बाबा राम अनुभवी साधु तथा समाज-सुधारक है । जैसाकि कलाकारों-साहित्यकारों के लिए स्वाभाविक है, सज्जन और महिपाल दोनों मित्र होने के नाते, अपनी रचनाओं को एक-दूसरे को दिखाने-सुनाने और प्रतिक्रियाओं को जान कर उन पर विचार-विनिमय

१. पृ० ५७५ । २. पृ० ५७५ ।
३. पृ० ३५ । ४. पृ० ३६ । ५. २७वाँ परिच्छेद । ६. पृ० ३८ ।

करने में संतोष पाते हैं। इससे विचार-तत्व का समावेश उनके सृजनात्मक जीवन का स्वाभाविक अंग हो गया है।[1] दोनों मित्र संवेदनशील तथा अपनी दुर्बलताओं से ग्रस्त हैं। अतएव उनको हर बात, हर परिस्थिति आंदोलित करती है। अपने सृजन (सिद्धांत), कथन और व्यवहार में अभेद न हो पाने से उनका मन आत्मग्लानि से अभिभूत होकर मानव-स्वभाव की सम्भावनाओं-सीमाओं का विश्लेपण करने लगता है और अपने विस्तृत ज्ञान के आलोक में, समाज-शास्त्रियों की तरह, उनकी तह तक पहुँचने के प्रयत्न में आदिम प्रवृत्तियों तथा इतिहास तक जा पहुँचता है। विद्वान होते हुए भी ये अर्थ-काम की अभाव-लालसाओं से ग्रस्त रहते हैं, अतएव तीव्र अन्तर्द्वन्द्व इन्हें आलोड़ित करते और "विचारों के सुन्दर बन में निरुद्देश्य घुमा फिराकर"[2] पुनः अभावों में ही ला पटकते हैं। अतएव अनेक विचार इनके चेतना-प्रवाह का अंग बनकर आते हैं।[3] "हठ, तर्क, संयम-असंयम, शंकाओं और समाधानों के बीहड़ जंगल में भटक कर" फड़फड़ाते रहना इनके अन्तर्मुखी स्वभाव का अंग है।[4] संतोष इन्हें तब मिलता है जब इनकी व्यक्तिगत समस्याएँ अपने सीमित वृत्त से निकल कर व्यापक हो जाती हैं—ये व्यक्ति की न रह कर साहित्यकार महिपाल या कलाकार सज्जन की हो जाती हैं। और "लेखक (कलाकार) को अधिक से अधिक चाहिए ही क्या? पेट भर रोटी और चिंतन के अटूट क्षणों का तार वह इतने से ही अपार संतोष का अनुभव कर लेता है।"[5]

बचपन के राजसी संस्कारों को लिए हुए मध्यवर्गीय महिपाल को हीन भावनाओं के दौरे[6] पड़ते रहते हैं, अतएव सज्जन से प्यार करते हुए भी वह ईर्ष्यावश[7] अपने को उच्च सिद्ध करने के फेर में उससे प्रत्येक बात में उलझता रहता है, जिससे अनेक विचारात्मक प्रसंग चरित्रगत स्वाभाविकता के निदर्शन के साथ आ गए हैं। इसके अतिरिक्त दोनों—विशेषतया महिपाल—अपनी दुर्बलताओं को व्यर्थ में ज्ञान-प्रदर्शन या बहस की आड़ में छिपाने की कुशलता दिखाते रहते हैं।[8] मनोविज्ञान के शब्दों में, ये युक्तिकरण की मानसिक क्रिया-विधि का आश्रय लेते हैं। निस्सन्देह यह विविध विषयों की विचार-राशि आवश्यक नहीं, लेखक इन्हें ले आया है, किन्तु पात्रों की चरित्रगत स्वाभाविकता के निदर्शन के अंग रूप में ये कम खटकती है। दूसरे, इन वैचारिक विरोधों से नागर जी प्रश्न-शंकाओं के साथ विचार दे सके हैं जिससे इनमें पाठकों के मन में उतरने की अपेक्षाकृत अधिक शक्ति आ गई है। बहस की गरमी से शांत होकर जब अपने एकांत निश्छल क्षणों में ये पात्र आत्मनिरीक्षण करते हैं, या इसी चिंतन में दूसरों पर अपनी सच्ची आलोचनाएँ करते हैं, तब सारगर्भित अनुभव-

१. पृ० ३१-३५। २. पृ० २६६। ३. ३३वाँ परिच्छेद। ४. पृ० २४१।
५. पृ० २१४। ६. पृ० ३७। ७. पृ० ५५४। ८. पृ० ३६।

सूत्रों की उपलब्धि होती है।[1] अपने चिंतन में उलझ-सुलझ कर ये पात्र या तो तदनुकूल चरित्र-विकास कर पाते हैं अथवा, यही इनके चरित्र की दुर्बलता या अस्थिर चित्तता का प्रमाण बन कर रह जाता है। एक स्थान पर महिपाल अपने दीर्घ चिंतन के बाद सोचता है—"ये ज्ञान चिंतन जो कुछ वह करता है क्या महज समय बिताने के लिए ही शौक के रूप में करता है? क्या उसका कोई सामाजिक मूल्य नहीं?"[2] तात्पर्य यह है कि वह अपने चिंतन के अनुसार चल नहीं पाता और यही उसकी चारित्रिक दुर्बलता, अस्थिरचित्तता का प्रमाण बन जाता है। सज्जन तथा वनकन्या स्वयं से उलझने के बाद प्रायः विकासोन्मुख होते हैं। बाबा राम जी के कथन आदेश-उपदेश नहीं, पाठकों की जिज्ञासा-शान्ति के रूप में संदेश बनकर आते हैं। ये पात्र जहाँ अपनी सहस्मृतियों के रूप में एकसाथ दीर्घ आत्म-चिन्तन में लीन हो जाते हैं, वे स्थल एकांत कथा-गति-रोधक हो जाने से खटकने वाले हो गए हैं।[3] कुछ ऐसे चिन्तन-स्थल भी हैं जहाँ पाठक आगे की कथा जानने के लिए उत्सुक होता है किन्तु लेखक पात्रों से प्रासंगिक चिन्तन कराने का लोभ-संवरण नहीं कर पाता।[4] सारांश में कथा-गति के यत्किंचित् शैथिल्य को छोड़कर लेखक अपार विचार-तत्व के कलात्मक समावेश में प्रायः सफल रहा है।

व्यष्टि-समष्टि-समन्वय के मुख्य प्रतिपाद्य, और मुख्य प्रतिपाद्येतर विचार-तत्व के विशेष-विनियोग के अतिरिक्त लेखक को उस वातावरण-चित्रण—अंचल चित्रण—पर भी विशेष आग्रह रहा है जो प्रायः कथा-पात्रों को यथार्थ पृष्ठभूमि देने के लिए लाया जाता है किन्तु यहाँ जिसे अपेक्षाकृत अधिक स्थान मिल गया है। इसका एक कारण नगर के मध्यवर्गीय चित्रण के उद्देश्य में सहायता लेना भी है। इसके लिए लेखक को विवध व्यवसाय-वृत्त के अनेक पात्रों के साथ यथार्थ जीवन के अनेक चित्र भी देने पड़े हैं। इन सब लक्ष्यों के भार को सम्भालने और शृंखलित करने के प्रयत्न में जिस कथानक का निर्माण हुआ है उसका जटिल, बहुसूत्री विन्यास, तथा शिथिल होना स्वाभाविक हो जाता है। इसकी मुख्य कथाएँ दो हैं; पहली, लखनऊ के मुहल्ला चौक की कथा जिससे उपन्यास का आरम्भ हुआ है, और दूसरी चौकेतर कथा जिससे उपन्यास का अन्त हुआ है। पहली का केन्द्र है ताई और उसके चारों ओर का समाज; दूसरी का केन्द्र है सज्जन और उसके मित्र—विशेष रूप से महिपाल। पहली कथा परम्परागत समाज-व्यवस्था की रूढ़ियों और परिवर्तनों के साथ भारतीय जीवन के गुण-दोषमय विचित्र विरोधाभास तथा नगर की हलचल को प्रस्तुत करती है—मानों सामग्री देती है—और दूसरी उन विद्वानों, विचारकों तथा रचयिताओं की है जो इस सामग्री के निरीक्षण और अपनी व्यक्तिगत समस्याओं की

१. पृ० २३६। २. २७वाँ परिच्छेद। ३. पृ० २०४। ४. पृ० ५३५, ३६।

अनुभूति के योग से उपन्यास के मुख्य प्रतिपाद्य को प्रस्तुत करते हैं। इन दोनों कथाओं के आपसी सम्बन्ध—प्रभावों के आदान-प्रदान—का मुख्य आधार हैं उपन्यास के नायक-नायिका—सज्जन और वनकन्या। सज्जन अपनी चित्र-कला तथा उसके कथनानुसार मानव से प्यार के कारण मुहल्ला-जीवन—सामान्य जनता—का अध्ययन करने के लिए अपनी कोठी छोड़कर, चौक में ताई से एक कोठड़ी लेकर रहता है। एक समय उससे ताई का तनिक उपकार हो जाता है जिसके बदले में वह ताई से अधिक पाता है। नायिका वनकन्या चौक के एक मध्यवर्गीय दूषित परिवार की कन्या है और अपनी भाभी पर अपने पिता के अन्याय-अत्याचार के प्रतिकार के लिए—सब ओर से निराश होकर—सज्जन से सहायता पाने के लिए आती है। सज्जन और उसके मित्र सहायता देते हैं और चौक के कुछ बड़े-बूढ़ों—जानकीसरन, सालिगराम—और चौक से बाहर रहने वाले उनके नेता—ताई के पति रईस (राजा साहब) द्वारकादास—का विरोध भी मोल लेते हैं। सज्जन और वनकन्या, परस्पर विवाहित होने से पहले और बाद में, जब सेवाकार्यों में संलग्न होते हैं तो उन्हें इन्हीं की प्रत्यक्ष-प्रच्छन्न विरोधी चालों का सामना करना पड़ता है और उपन्यासांत तक सज्जन को इस राजा साहब के बेटे की धमकियों को, चुनौती के रूप में स्वीकार करना पड़ता है। मध्यवर्गीय परिवारों को महाजनों के ऋण से मुक्त करने के लिए सज्जन द्वारा चौक वार्ड के नाम से जो सहकारी बैंक स्थापित किया जाता है, उसका विरोध सर्वप्रथम चौक के महाजन लाला जानकीसरन करते हैं। ताई क्रमशः सज्जन और कन्या के पक्ष में होती गई हैं। उसका अपने पति से तो पहले ही विरोध होता है किंतु धीरे-धीरे सज्जन एवं कन्या के सेवा-प्यार से वह बिल्कुल उनकी हो जाती है। ताई अपने चरित्र की चरम घृणित विशेषताओं के होते हुए भी प्राणियों के प्रति अपने असीम करुणा-प्यार का उदाहरण प्रस्तुत कर उपन्यास के प्रमुख पात्रों को भारतीय जीवन की विरोधाभासमयी विशेषताओं पर सोचने पर बाध्य करती और उनमें मानवता के प्रति आस्था का संचार करने में सफल होती है। और इस प्रकार उपन्यास के मुख्य प्रतिपाद्य में परोक्ष रूप से योग देती है। जो बाबा राम सज्जन-वनकन्या का ऊर्ध्वोमुखी विकास कर समाज-कल्याण के लिए उनसे सम्पत्ति-दान कराते हैं, वही ताई से राधा-कृष्ण के विवाह के उपलक्ष्य में, समाज-कल्याण के लिए, दान पाते हैं। इस कार्य में सज्जन और वनकन्या का भी पूरा हाथ है। इस तरह मुख्य प्रतिपाद्य की दृष्टि से दोनों कथाएँ सम्बद्ध हो गई हैं।

इन दोनों कथाओं के विभिन्न पात्रों की अपनी-अपनी जीवन-कथाएँ भी हैं किन्तु उपन्यास के मुख्य प्रतिपाद्य तथा प्रमुख पात्रों के चरित्रोद्घाटन तथा विकास में इनका किसी-न-किसी प्रकार का योग अवश्य लक्षित होता है। उदाहरणतया,

मध्यवर्गीय तारा एवं वर्मा सामाजिक परिवर्तनों का परिचय देने के साथ ताई के चरित्र के उज्ज्वल पक्ष के उद्‌घाटन का साधन बनते हैं। इसी तरह चौक का बड़ी और बोर कांड सज्जन, कर्नल और महिपाल तीनों से सम्बद्ध हो गया है। शीलास्विंग की अपनी कथा है किन्तु सामाजिक समस्या को सामने लाने के साथ महिपाल के चरित्र-विकास से सम्बन्धित भी है। बाबा राम जी की अपनी कथा है किन्तु इन दोनों प्रमुख कथाओं में उनका योग है। चित्रा राज़दान सज्जन की चारित्रिक दुर्बलता को स्पष्ट करती है और नारी की शोचनीय दशा भी सामने लाती है। सज्जन और महिपाल की अपनी-अपनी कथाएँ हैं किन्तु दोनों की परिणति का अन्तिम निष्कर्ष मुख्य प्रतिपाद्य को प्रस्तुत करता है। इसके अतिरिक्त महिपाल और सज्जन का चरित्र एक दूसरे को स्पष्ट भी करता चलता है। इस तरह 'बूँद और समुद्र' का कथानक फैला हुआ होने पर भी सम्बद्ध है · फिर भी, इसका कथानक शिथिलबद्ध है, दृढ़बद्ध नहीं।

इस कथानक की गति पर्याप्त धीमी है। उसका एक कारण तो यह है कि लेखक को अंचल-चित्रण पर आग्रह है। वह नगर—विशेषतया चौक—की प्रत्येक गति-विधि का पूरा रस लेकर यथार्थ वर्णन-चित्रण करता है। वस्तुतः सज्जन चौक के जीवन का अध्ययन करने के लिए आता है और लेखक उसे अवसर प्रदान करता रहता है। कथा की सतत गतिशीलता तथा वर्णनों के स्थिर स्वरूप में मौलिक विरोध होता है। इसलिए इस उपन्यास की कथा-गति मन्द हो गई है। दूसरा कारण यह है कि पात्रों के आत्मचिंतन और आत्म-विश्लेषण की भरमार हो गई है। कहीं-कहीं पात्र अपने चेतना-प्रवाह में बहते-बहते इतने दूर निकल गए है कि कथावस्तु कुछ पृष्ठों के बाद डूब गई है। ये प्रसंग कुछ बोझिल हो गए है। जब-कभी एक पात्र नगर के एक स्थान से दूसरे स्थान तक जाता है तो लेखक मार्ग का पूरा वर्णन करता जाता है और मार्ग के विभिन्न स्थलों को देखकर पात्र के मन में जो विचार उठते हैं, उनका भी परिचय देता जाता है।[१] यदि पात्र किसी दुकान से कोई वस्तु-क्रय करते हैं तो उसका वर्णन किया जाता है[२] और यदि वे समाचार-पत्र पढ़ते, या रेडियो सुनते हैं[३], तो उनका भी विवरण मिल जाता है।[४] यहाँ पात्रों को खड़ें-खड़े चुनाव की मज़ेदार खबरें सुनाई गई हैं, और चौराहे में हुक्के, नीम की दातुनों, गजक, मूंगफली, मक्खन आदि बेचने वालों के वातावरण के बीच, पीपल के पेड़ के नीचे, कुछ बैठे और कुछ आने-जाने वाले लोगों की लम्बी-लम्बी मजलिसें जुटा, उनसे मुहल्ले से लेकर विश्व भर की समस्याओं पर बातें कराई गई हैं। तात्पर्य यह है कि कथावस्तु

---

१. पृ० ११८-१६, २६६-६८, ३१ वाँ परिच्छेद। २. पृ० ११६।
३. पृ० १४१-४२। ४. पृ० २७४, २७५

बड़े आराम से अग्रसर होती है, लेखक को उसे अन्तिम गंतव्य तक पहुँचाने की कहीं जल्दी नहीं होती ।

यह सब होते हुए भी 'बूँद और समुद्र' का कथानक बड़ा रोचक है। यह रोचकता अनेक बातों पर आश्रित है जिसका प्रकाशन आगे किया जाएगा । कथानक में पाठकों की उत्सुकता को स्थिर रखने के लिए पात्रों में संघर्षजन्य उत्थान-पतन का उपयोग किया जाता है। 'बूँद और समुद्र' के कथानक में बहुत अधिक न होते हुए भी पर्याप्त संघर्ष है। पहले वनकन्या को लेकर सज्जन और उसके मित्रों, तथा वनकन्या के घरवालों से मिले हुए कुछ कांग्रेसी नेताओं सालिगराम, जानकीसरन और अन्ततः राजा साहब से होता है । इस प्रसंग में वनकन्या के पक्ष में वायुयान से प्रचार-पत्र गिराने की घटना बड़ी चमत्कारपूर्ण है ।[१] राजा साहब की सिफारिश पर सज्जन कुछ फिसल भी जाता है[२] किन्तु कर्नल भाई वनकन्या का पूरा साथ निभाते हैं। सज्जन से कला-प्रदर्शिनी करा के, उसकी आड़ में कांग्रेस का प्रचार करने की विपक्षियों की चाल भी पहले कुछ सफल होती है किन्तु बाद में संघर्ष से पलड़ा पलट जाता है ।[३] प्रदर्शिनी के प्रसंग में अपनी हार देखकर सेठ रूपरतन और उनके साथी, एक मिनिस्टर के सहयोग से, कर्नल, सज्जन एवं कन्या को एक ओर समझौते और मेल के लिए बुलाते हैं और दूसरी ओर वनकन्या के सामने सज्जन को ज़लील करने के लिए चित्रा का असफल उपयोग करते हैं ।[४] सज्जन के सुधार-कार्यों को भी अन्त में इन्हीं महाजनों-राजाओं के संघर्ष की चुनौती को स्वीकार करना पड़ता है ।[५] सुधार-कार्यों के क्रम में सज्जन द्वारा महिला-सेवा-मण्डल के भ्रष्टाचार का भण्डाफोड़ भी बड़ा कौतूहलपूर्ण है। सामाजिक पक्ष में बड़ी और बोर काण्ड और इसी अवसर पर मनिया, महिपाल और कर्नल का द्वन्द्व भी उल्लेखनीय है ।[६] वैयक्तिक पक्ष में सज्जन के पुरखों के पूर्वेतिहास में साँप और अशरफियों की हंडिया का प्रसंगमात्र कथित होने पर भी अलौकिक विचित्रतापूर्ण है ।[७]

महिपाल के आर्थिक संघर्ष की कथा में रहस्य-तत्व का विनियोग भी हुआ है। अर्थाभाव से चिंतित-पीड़ित महिपाल जब एकाएक अमीर होकर कार तक ले लेता है और इस क्रम में उसको, किसी अज्ञात घटना के कारण, आत्मग्लानि के दौरे पड़ने लगते हैं, तो पात्र-पाठक आशंकित और उत्सुक होकर मूल बात तक पहुँचना चाहते हैं किन्तु लेखक ने बड़ी कुशलता से—संगति के लिए स्थान-स्थान पर कुछ पूर्वाभास देते हुए भी—रहस्य-तत्व को स्थिर रखा है। पाठक को पता भी चलता है कि महिपाल ने ननिहाल में चोर-डाकुओं को भगाया ही नहीं, एक को मार भी डाला, किन्तु इस

१. १५० । ३. पृ० ३६६ । २. ४५ वाँ, ४७ वाँ, परिच्छेद । ४. पृ० ४२४, ४२५ ।
५. पृ० ५६१-६२ । ६. पृ० ३२२-२५ । ७. पृ० ४८७-८८ ।

घटना से वह महिपाल के धनी होने की बात को सम्बन्धित नहीं कर पाता। यह घटना मात्र सूचित है, इसको बाह्याकार स्वरूप नहीं मिला। अन्त में महिपाल की चोरी की घटना का नाटकीय रहस्योद्घाटन होता है। उसकी आत्महत्या की घटना इसी का परिणाम है।

'बूँद और समुद्र' में चमत्कारपूर्ण प्रसंगों का सन्निवेश, या कथा का घुमाव-फिराव बहुत-कुछ चरित्रांकन—जटिल-प्रकृति-पात्रों—पर आधारित है। मानव-चरित्र की मनोविज्ञान-सम्मत विविध सम्भावनाएँ उत्सुकता-उद्बुद्धि तथा रोचकता-उत्पत्ति का विशेष उपकरण है। इस उपन्यास के शिक्षित चरित्र ऐसे हैं कि उनके शील-व्यापार की प्रायः अनेक अवसरों पर अनिश्चित-अनेक सम्भावनाएँ रहती हैं। अतएव उनके आचरणों के सम्बन्ध में पाठक उत्सुक बना रहकर उनके असामान्य किन्तु बुद्धि-संगत व्यवहारों से चमत्कृत होता रहता है। नायक-नायिका के निम्न संवाद में लेखक का तत्सम्बन्धी मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण निहित है। सज्जन वनकन्या को सफाई देता है—".. अपनी कमज़ोरियों से मैंने तुम्हारे विश्वास को गहरी ठेस दी है। पर मैं हरगिज़ बुरा नहीं हूँ।" इस पर वनकन्या का उत्तर है—"डर बुरों से नहीं लगता क्योंकि वह आसानी से नज़रों के सामने आ जाते हैं। उनसे लड़ना या अलग रहना आसान है। डर बुराइयों से ही लगता है जो अच्छे-अच्छों के दिलों में भी हज़ार तहों के अन्दर छिपी रहती हैं और अचानक प्रकट होकर इसको अपनी गिरफ्त में ले लेती हैं।"[1] महिपाल और सज्जन-जैसे जटिल-आवृत पात्रों का शील विचित्र विरोधी आचरणों से पात्रों को स्थान-स्थान पर छकाता रहता है। इस दृष्टि से सज्जन एवं वनकन्या की श्रृंगारिक कथा विशेष रंजक है, जिसमें उनको किसी बाहरी शक्ति से नहीं अपनी भीतरी दुर्बलताओं से संघर्ष करना पड़ता है। मथुरा-वृन्दावन में सज्जन और वनकन्या परस्पर पर्याप्त निकट आ जाते हैं किन्तु वहाँ से आने के बाद सज्जन, वनकन्या से दूर होता जाता है और उनके बीच चित्रा आ जाती है। उस पर पाठकों को आश्चर्य होने लगता है। किन्तु इन दोनों के बीच आने वाली चित्रा राजदान का अपना महत्व नहीं, वह सज्जन के मथुरा-वृन्दावन में कन्या की देह न जीत सकने[2] के अतृप्त काम तथा आहत अहंकार[3] का उपकरण मात्र है—संघर्ष का आधार चित्रा नहीं, सज्जन की अपनी दुर्बलता है। राजा साहब की सिफ़ारिश पर जब 'मरौवत' में आकर वह उन्हें आश्वासन दे बैठता है तो वह कन्या को अपनी मन-मरज़ी के अनुसार न्याय-पक्ष से विरत करना चाहता है किन्तु कन्या उसकी इच्छा के आगे नहीं झुकती। इसलिए सज्जन एक तो अपने आदर्श से गिरता है—जिसकी

१. पृ० ३०९। २. पृ० ३५२। ३. पृ० ३९६।

लेकर वातावरण-चित्रण,[1] प्रसंगों,[2] पात्रों तथा कविता-शेरों[3] सभी साधनों से आया है। महाकवि विरहेश, जो पात्रों द्वारा विकृत होकर महाकवि 'बोरेश' और घिस कर मात्र महाकवि 'बोर' रह गए हैं, पाठकों को 'बोर' करने की बजाय सदैव हंसाते रहते हैं।

'बूँद और समुद्र' के कथानक-निर्माण में अनेक रंजक शिल्प-रूपों को स्थान मिल गया है। महिपाल अपने उपन्यास की रूपरेखा देकर उसका कुछ लिखित अंश सुनाता है।[4] वह रेडियो से अपनी एक चार पृष्ठों की कहानी प्रसारित करता है।[5] चौक का भरा-पूरा चित्रण करने के लिए कुछ पात्रों के रेखाचित्र[6] दिए गए हैं। पात्रों द्वारा आए लघु-लघु दृष्टांतों एवं किस्से-कथाओं का तो यह कोश है। इन कथाओं की विविधतारंजकता का अनुमान इस सूची से किया जा सकेगा :—

१. विभिन्न देशों के चार कुत्तों का प्रसिद्ध किस्सा (पृ० १२५)
२. उद्दालक ऋषि-पुत्र श्वेतकेतु की कथा (पृ० ६६)
३. विधाता की बेटी की कहानी (पृ० ४४६)
४. हिजड़ों के वोट डालने का किस्सा (पृ० ४५२)
५. पिता का पुत्र के हाथों अँग्रेजी जूते खाने का किस्सा (पृ० ५४७)
६. मुहम्मद और गुड़ खाने वाले बच्चे का दृष्टांत (पृ० ५५५)
७, गुरु-शिष्य की कथा (पृ० ४२६)
८. ब्रह्मचारी ऋष्य शृंग की कथा (पृ० ३४०)
९. नग्नवेषी महादेव की कथा (पृ० २४२-४३)
१०. राजकुमार और परी की कहानी (पृ० २४२, २४३)
११. राजा जनक और महात्मा की कथा (पृ० ४८१)
१२. मदन (कामदेव) और शूर्पक मछुए की कथा (पृ० ३४०)
१३. देवताओ के अवतार अंग्रेजों की दुम का किस्सा (पृ० ५४५)
१४. मुछमुण्ड सुपुत्र और उसके पिता का किस्सा (पृ०५४७)
१५. विलायत जाने वाले युवक और बिरादरी का किस्सा (पृ० ५४६)
१६. विलायत जाने वाले शिवनारायण दर तथा धर्मसभाई पंडित का किस्सा (पृ० ५४६)
१७. सिद्ध बाबा के भ्रष्टाचार की कथा (पृ० २८१-८२)

इन अधिकांश किस्सों से जहाँ भारत के सामाजिक-सांस्कृतिक इतिहास के संकेत मिले हैं, वहाँ मनोरंजन भी हुआ है। एक स्थान पर लोक-नाट्य की झाँकी

---

१. पृ० ४५२, ४५३। २. पृ० १८६, ३२७। ३. पृ० ४३३-४३५, ४४०।
४. पृ० ३१, ३२। ५. १४२-४६। ६. आठवाँ परिच्छेद।

भी दी गई है ।[१] इसके अतिरिक्त लोक-गीतों, सिनेमा-गीतों, कविताओं, और शेरों का उपयोग भी हुआ है । कहीं रेडियो से समाचार, फिल्मी गाने[२] मिलते हैं और कहीं 'ऐलेक्शन' की मज़ेदार खबरें सुनाई गई हैं ।[३] अन्त में यह भी उल्लेखनीय है कि ये विभिन्न प्रकार के रंजक साधन एवं स्थल कहीं-कहीं स्वयं में उलझाने वाले बन गए हैं—अपने आकर्षण में बाँध ये उपन्यास के मूल विधेय-संदर्भ से विकर्षित करते हैं, या औपन्यासिक अन्विति में बाधक होते हैं ।

चरित्र-चित्रण की दृष्टि से 'बूँद और समुद्र' में हमारा ध्यान सर्वप्रथम पात्रों की वहुसंख्य विविधता पर जाता है । उद्देश्य की व्यापकता के अनुकूल तो यहाँ अनेक पात्र आए ही हैं किन्तु अनेक पात्रों की क्षणिक झाँकी नागरिक समाज का भरा-पूरा चित्र देने के आग्रह से दी गई है । इसमें विशेषता यह है कि नागर जी इनकी पारस्परिक भिन्नताओं की पहचान कराने वाली सजीव झाँकी दे सके हैं । स्वयं में विरोधी गुणो का अद्‌भुत सामंजस्य लिए विभिन्न वर्ग, स्वभाव तथा भिन्न-भिन्न शिक्षा-संस्कृति वाली दरजनों नारियाँ हैं—जादू-टोने करने वाली घृणामयी तथा मानवेतर प्राणियों से भी निष्काम प्यार करने वाली करुणामयी, मानों 'भारतीय जीवन के विरोधाभास''[४] की प्रतीक, सती किन्तु परित्यक्ता, जगत्-ताई''[५]; 'इस देश की संस्कृति की विजय' या 'परम्परा की सिद्धि'-सूचक चरम-निष्ठा से सम्पन्न किन्तु जात्यभिमान एवं छुआछात' के 'रूढ़ संस्कारों से हठीली' कल्याणी;[६] 'पश्चिमी और भारतीय नारी का अपूर्व समन्वय', डाक्टर किन्तु 'रसवन्ती', शीलास्विंग[७]; घर और चौक की पंकिलता में पंकजा, स्फूर्तिमयी, ऊर्ध्वमुखी, प्रगतिशील विचारों वाली वनकन्या; अपने प्रेम-विवाह का बखान करने वाली तारा; 'हविस की कोठड़ी में बंद,'[८] पर-पुरुष से उलझ कर कांड खड़ा करने वाली बड़ी; "हर रोज़ शराब, मार्फिया के इन्जेक्शन, और पुरुषों का संग" चाहने वाली सत्तर वर्षीय रानी खैरापुर;[९] पुरुषों को हास्य-व्यंग्मय चुभने वाले सत्य कहने वाली, किन्तु उन्हीं की कामुकता का परिणाम 'सोसाइटी की वेश्या चित्रा';[१०] अतृप्त वासनाओं की शिकार हिस्ट्रीरियाग्रस्त पगलियाँ; स्कूल-कॉलेज की मध्यवर्गीय विद्यार्थियों के 'तमाम आराइसी सपने' पूरे कराने वाली, अपने 'माडर्न' पति की गर्विता छोटी;[११] अपने ही घर में चोरी और कुटनी का कार्य करने वाली निन्दा-कुशल नंदो; महिलाओं की सेवा के नाम पर बुर्दाफिरोशी का अड्डा चलाने वाली 'राजवैद्या' धनवती; 'एटम बम की तरह बीच चौक में फुटकर' 'हिरोशिमा' बना देने वाली लाले की घरवाली ।[१२] पुरुषों की चयन-परिधि और भी विस्तृत है—

---

१. पृ० २७९-८० । २. पृ० १६५ । ३. पृ० ४५२ ।
४. पृ० ४३६ । ५. पृ० ४०० । ६. पृ० २२९ । ७. पृ० ५२० ५०३ ।
८. पृ० ६५ । ९. पृ० ४०९ । १०. पृ० ३७२-७४ । ११. पृ० ६४ । १२. पृ० २५ ।

चित्रकार, साहित्यकार, प्रकाशक, महाजन, राजा-रईस, महाजन, क्लर्क, सुपरिटेंडेंट, साधु, गुण्डे, पहलवान (उस्ताद),[१] नौकर, कथावाचक, हलवाई, पुजारी, कीर्तनिया, राजनीतिक नेता, सेवाधारी बुर्दाफरोश, मास्टर, गवर्नर, मिनिस्टिर, पागल मरीज़, रिटायर्ड कप्तान, दीदान, फिल्मी गीतकार, ऐक्टर, फ़ीसखोर, कवि, मसालाफरोश, बढ़ई, मुनीम, कैमिस्ट, दारोगा, दलाल, सुनार, माली, खौंचेवाले सभी उपन्यास के पात्र है। इसके अतिरिक्त वास्तविक जगत् के पात्र तथा स्वयं लेखक भी दो-तीन स्थलों पर आए हैं। यही नहीं मानवेतर पात्र बिल्ली के बच्चे भी हैं। जो पात्र केवल चौक या नगर का वातावरण पूरा करने के लिए आते है उनके सजीव रेखाचित्र अंकित किए गए हैं। वे अपनी क्षणिक झाँकियों में ही दीप्त हो उठे हैं। अलीजान,[२] टिल्लू उस्ताद, भगवानदीन, मक्खनलाला, मुनीम कंजीलाल, भक्तराज, नारायणीजी, सुपरिटेंडेंट गुलाबचन्द, लाले दलाल, जनसंघी लाला मुकन्दीमल एवं बाबू छेदालाल, काँग्रेसी सालिगराम, सोशिलक्ट राधेश्याम, बाबू रामसरूप, शास्त्री जी सब अपनी-अपनी बोली-वाणी; विशिष्ट अनुभावों, तनिक अभिव्यक्त भाव-विचारों, और आकृति-प्रकृति में एक-दूसरे से पृथक् दिखाई देकर मूर्त हो उठते है।[३] इन्हीं के आधार पर सज्जन को गली-मुहल्लों में 'कैरेक्टर्स' देखने को मिलते हैं क्योंकि उसे जीवन की विभिन्नता यहीं देखने को मिलती है।[४] लेखक की विशेषता यह है कि प्रमुख पात्र तो सजीव हैं ही, गौण पात्र भी अपना-अपना प्रभाव-वैविध्य लिए हैं—इस दृष्टि से चित्रा, महाकवि बोर, सेठ रूपरतन, नन्दो आदि पात्र देखे जा सकते हैं।

पात्रों के भेद की दृष्टि, प्रमुख पात्रों में इस उपन्यास के लक्ष्य के अनुसार, इसमें स्थिर और गत्यात्मक दोनों प्रकार के पात्र मिलते हैं। एक वे पात्र हैं जो अन्य पात्रों को असत् से सत् तथा व्यष्टि से समष्टि की ओर प्रगति की प्रेरणा देते हैं, या उनकी विचलित अवस्था में सत्य के प्रति उनकी आस्था के सम्बल सिद्ध होते हैं—इनमें कर्नल और बाबा राम जी प्रमुख हैं। इनके जीवन में आरम्भ से ही अद्भुत संतुलन है और इनका जीवन-दर्शन परिरिथति-निरपेक्ष है। इनका चरित्र-विकास नहीं, चरित्रोद्घाटन होता है। बाबा राम के पूर्ववृत्त के आधार पर ही उनको गतिशील कहा जा सकता है अन्यथा जिस रूप में वह हमारे सामने आते हैं वे स्थिर ही माने जा सकते है। दूसरे पात्र वे हैं जो इनसे प्रेरित हो, और अपनी दुर्बलता से लड़कर आगे बढ़े हैं—उनमें सज्जन प्रमुख है। वनकन्या भी पुरुष-घृणा से उबरी है—वर्गीय दृष्टिकोण से मानवीय दृष्टिकोण की ओर उसका विकास हुआ है। वनकन्या सज्जन के प्रश्न पर इस दृष्टिकोण को व्यक्त करती है कि "औसत मनुष्य से अधिक चेतन और

१. पृ० १४५। २. ५२वाँ परिच्छेद। ३. ८वाँ, १७वाँ, ६१वाँ परिच्छेद।
४. पृ० १२०।

जिम्मेदार" मनुष्य की आदतें परिस्थितियों के अनुसार बदल जाती है।[1] सज्जन और वनकन्या इसे प्रमाणित करते हैं। महिपाल भी गतिशील पात्र है किन्तु उसका परिवर्तन सज्जन से ठीक विपरीत दिशा में हुआ है—वह सामाजिकता से वैयक्तिता की ओर बढ़ा है। किन्तु अन्ततः अपने वैचारिक निष्कर्ष में वह सज्जन के साथ एक हो गया है। ताई और बड़ी भी विकासशील पात्राएँ हैं। कल्याणी स्थिर पात्री है—उसकी सांस्कारिक दृढ़ता महिपाल से बड़ी है अतएव वह उसके आदर्शानुसार परिवर्तित नहीं होती।

उपर्युक्त स्थिर-पात्र मुख्यतः वर्गगत हैं तथा गतिशील पात्र व्यक्ति-पात्र है। कर्नल और बाबा राम जी मानव की सत्प्रवृत्तियों के प्रतीक है। महिपाल, कर्नल को देवता कहता है क्योंकि अधिक विकसित चेतना न होने हुए भी उसमें दूसरों पर जान न्योछावार करने का गुण है। अन्यत्र भी कुछ स्थलों पर उसकी विरोध-निरपेक्ष परदुखकातरता को कहा और सिद्ध किया गया है। यदि कर्नल को उसके अपने शब्दों को दृष्टि में रखकर किसी वर्ग में रखा जाय तो वह सच्चा 'इन्सान' है—'इंसानी दल' को कायम करने का संकल्प करने वालों को यही कहा जा सकता है। बाबा राम जी भी आज के मानववादी कर्मण्य संतों—विनोबा जी—जैसे—के वर्ग के अन्तर्गत आने हैं। सज्जन, महिपाल, ताई मुख्यतः व्यक्ति हैं किन्तु इनमें अपने-अपने वर्ग के संस्कार भी स्पष्ट हैं—व्यक्ति होते हुए भी इनमें वर्ग-व्यक्ति की विशेषताओं का अविश्लेष्य घोल है। यही इनके कलात्मक प्रभाव तथा स्मरणीय होने का कारण है। महिपाल मध्यवर्गीय है किन्तु यही नहीं—उसके संस्कार रईसाना है। उसकी दूसरी विशिष्टता उसके स्वाभिमानी स्वभाव, शक्ति, निडरता तथा उग्रता में है—वह मन्त्रियों-गवर्नरों तक पर भी खुलेआम, उनके सामने व्यंग्य-व ण बरसा सकता है, मनिया की एक ही थप्पड़ से खबर ले सकता है, बोर को अपने प्रभाव-मात्र से खींचकर ला सकता है और डाकू को तो मार ही डालता है—इसलिए उसमें अद्भुत सजीवता आ गई है। इसके अतिरिक्त, उसका वैशिष्ट्य उसके भोलेपन और निश्छलता में है—जिस सज्जन का वह अनेक स्थलों पर विरोध करता है, उसी से अपनी दुर्बलताओं को स्वीकार करता रहता है। वर्ग की दृष्टि से सज्जन रईस है—नारी को मात्र मनोरंजन का साधन समझ कर अनेक नारियों से खेलना, नौकरों से दुर्व्यवहार, मध्यवर्गीय तारा एवं वर्मा से सम्बन्ध बढ़ाने में हिचकिचाना, अपने सहवर्गीय राजा साहब की सिफारिश पर वनकन्या से की हुई अपनी प्रतिज्ञा से डगमगा जाना उसके वर्गगत संस्कार है। किन्तु अन्ततः जीत उसके व्यक्ति की होती है—पहले वह समाज के भीतर आकर रहता है, क्रमशः शराब छोड़ता है, नौकरों से व्यवहार बदलता है, फिर एक ही नारी से बंधता है, तत्पश्चात् सम्पत्ति-त्याग करता है और

१. पृ ३१०।

उसके बाद ईर्ष्याद्वेष से ऊपर उठकर समष्टि-साधना के पथ पर अधिकाधिक अग्रसर होता चला जाता है। वनकन्या के निम्नस्थ चिंतन में उसे व्यक्ति ही समझा गया है—"खरा त्याग तो सज्जन ने किया है। इसमें तनिक भी संदेह नहीं कि वे महान् है। इनके ऐसा नैतिक साहस और कितनों में है" ?[१] सज्जन भी कन्या को 'अन्य आधुनिकाओं से न्यारी' समझता है[२]—वह भी व्यक्ति पात्रा है।

नागर जी ने पात्रों के चरित्र-विकास की संगति के लिए उनकी कर्म-प्रेरणाओं —विशेषतया अव्यक्त अन्तःप्रेरणाओं—का पर्याप्त चित्रण किया है। इनके अभाव में ताई-जैसे पात्र के चरम विरोधी आचरणों को समझना ही कठिन हो जाता और उसमें हम मनोवैज्ञानिक संगति की बजाय लेखक की मन-मरज़ी ही देख कर रह जाते। अन्तःप्रेरणाओं का चित्रण तथा विश्लेरुण करने के लिए लेखक ने पात्रों के पूर्ववृत्त या पूर्वेतिहास दिए हैं—उसने मनोविश्लेषकों की पूर्ववृत्तात्मक प्रणाली का रूपांतरित उपयोग किया है। लेखक ने ताई, महिपाल, सज्जन, शीलस्विग, बड़ी, पगली तया बाबा राम के ऐसे पूर्वेतिहास दिए हैं कि उनके चरित्र की वर्तमान स्थिति के कारणों तथा भावी विकास की सम्भावनाओं का अनुमान किया जा सकता है। ये पूर्ववृत्त इन चार प्रकार से सामने लाए गए हैं—

१. लेखक-कथित—इसके अन्तर्गत ताई, शीलास्विग, बड़ी और महिपाल के पूर्ववृत्त आते हैं।[३]
२. आपबीती के रूप में पात्र-कथित—इममें बाबा राम का पूर्ववृत्त आता है।[४]
३. एक पात्र का दूसरे पात्र द्वारा कथित—पगली का पूर्ववृत्त सज्जन उसके पिता के पास जाकर सुनाता है।[५]
४. (दो भिन्न स्थलों पर) पात्र और लेखक दोनों से कहे गये पूर्ववृत्त—इनमें नायक सज्जन के पुरखों तक का पूर्वेतिहास आता है[६] तथा नायिका वनकन्या का पूर्ववृत्त।[७]

अधिकांश लेखक-कथित तथा केवल एक ही पर-कथित पूर्ववृत्त होने से इनकी विश्वसनीयता के सम्वन्ध में सन्देह का प्रश्न ही नहीं उठता। इनके पूर्ववृत्तों से पात्रों के चरित्र समझने की प्रामाणिक सामग्री मिलती है। इनके आधार पर चरित्र-विश्लेषण का प्रयत्न करें तो ताई अपने पति, सास और समाज के तिरस्कार और सताए जाने के कारण घृणा-हिंसा को अपना लेती है। लड़की पैदा होने पर

---

१. पृ० ४८४।   २. पृ० ३५२।
३. पृ० ११-१३, ५०४-५०६, ६६, १६०-६५।   ४. पृ० २५५।
५. पृ० १३१-३२ ६. पृ० ८८-६० तथा ४८७-८८।   ७. पृ० १३६-३७ तथा २७६-७८।

सास के 'कुबोलों' के कारण उत्पन्न हो गई अपनी 'हीन भावना की प्रतिक्रिया में' वह यह समझ लेती है कि सभी उसकी लड़की को मार डालना चाहते हैं—इस अविश्वास उसकी सब के प्रति घृणा हो जाती है। आठ मास की लड़की के मर जाने और उसके पति की पुत्र-लालसा से प्रेरित होकर सौत ले आने से, इस घृणा पर मुहर लग जाती है। तारा और बिल्ली के बच्चों से प्यार के मूल में उसकी दमित वात्सल्य वृत्ति है। उसके किसी से प्यार पाने की भूख ही, सज्जन के तनिक उपकार से उसको प्रतिदान देने लगती है। परित्यक्ता, निस्सन्ताना, तया तिरस्कृता महिला के लिए कृष्ण-भक्ति का अवलम्ब स्वाभाविक हो जाता है। अपनी चरम घृणा में भी उसके भारतीय पत्नी के संस्कार अपने पति को शाप नहीं दे पाते। इस प्रकार उसका चरित्र पूर्णतया संगत तथा चरम विरुद्धों के सामंजस्य में निरुपम हो उठा है। घर में माँ-बाप की काम-चेष्टाओं को देखकर, स्कूल में ईसाई दीदी से अपने 'नकली इस्तेमाल' और आसपास के दूषित वातावरण के प्रभाव से जिसे प्रारम्भ से ही दमित काम के कारण हिस्टीरिया के दौरे पड़ते थे, और विवाह-पूर्व के असफल प्रेभ-कांड के फलस्वरूप जिसका रंडी मुंडियों के चक्कर में पड़नेवाले अशिक्षित पति (मनिया) से विवाह कर दिया जाता है, उस वड़ी का पर-पुरुष से प्यार करना समझा जा सकता है। हिस्टीरिया-ग्रस्त पगली भी दमित-काम का परिणाम है।[1]

शीलास्विग का पूर्ववृत्त उसके आत्मनिर्भर, मुक्त, निर्भीक तथा विद्रोही दर्शन से युक्त साहित्येतिहास-प्रेमी और राष्ट्रीय चेतना-सम्पन्न व्यक्तित्व—किन्तु परिस्थितिवश अपने प्रेमी के मर जाने से अभावग्रस्त व्यक्तित्व—को लेकर सामने आता है; जिससे उसके डॉक्टर होने पर भी महिपाल-जैसे 'सुंदर' बलिष्ट, सहृदय, कलाकार, विद्याव्यसनी स्वाभिमानी और विद्रोही व्यक्ति से एकानिष्ठ प्यार को समझा जा सकता है। महिपाल की आदर्शवादिता-सिद्धांतवादिता एवं साहित्यकारिता उसके 'पिता के प्रति भक्ति भरे आकर्षण' का परिणाम है, तथा विलासिता ननिहाल के ताल्लुकेदारी वातावरण में बिताए बचपन के संस्कारों की। उसकी आत्महत्या की संगति के लिए यह तथ्य भी भी उल्लेखनीय है—"एक घृणित परिस्थिति में पकड़ी जाकर अपना मुंह छिपाने के लिए उन्हें (उसकी माँ को) आत्महत्या करनी पड़ी।"[2] सज्जन की विलासिता तथा उससे उबरने एवं ऊर्ध्वमुखी साधना के द्वन्द्व-विकास का मूल भी उसके माँ-बाप के

---

१. Welhelm Reich: "Character-Analysis", trans. by Theode p. Wolfe., p. 189.

"Its (hysterical character's) most outstanding characteristic is an obvious sexual behaviour...the connection between female hysteria and sexuality has been known for a very long time."

२. पृ० १९० ।

संस्कारों में स्पष्ट है। सज्जन के चरित्र की अन्तिम उन्नत परिणति, उसके चरित्र पर पड़े पिता के विलासिता के संस्कारों पर आदर्श माँ के संस्कारों की विजय का परिणाम है। इसके लिए निम्न तथ्यों की जानकारी उपयोगी होगी—"उसकी माँ सब के दुख-दरद में हिस्सा बंटाती थीं। वैसे बड़ी शुद्धतावादी थीं, पर सज्जन ने उन्हें तपेदिक की रोगिणी, घर के एक नौकर की पत्नी का थूक-खखार तक साफ करते देखा है। सज्जन के मन पर अपनी माँ की एक अमिट छाप पड़ी है। पिता की (बज्र विलासिता) की राह पर न चलने का वचन माँ को देकर उसने अपने लिये एक अन्तर्द्वन्द्व मोल ले लिया।"[१] वनकन्या के चरित्र-विकास के मूल में लेखक ने एक सहजातवृत्ति (अहं) पर बल दिया है—"कन्या अहंकारिणी है। नैतिकता की शक्ति उसके अहंकार का पोषण करती है। घर के गन्दे वातावरण की प्रतिक्रिया में उसका बड़ा भाई और वह आत्मतेज से दीप्त होकर बालिग़ हुए। अपने विवाह की ट्रेजेडी के बाद उसके बड़े भाई तो ज़िंदगी से जूझते-जूझते थक कर बौरा गये, कन्या ने उनके दिमाग़ी असंतुलन से भी नसीहत लेकर अपनी नैतिकता को कसा। हां, इतना प्रभाव अवश्य पड़ा कि उनका आंतरिक विद्रोह अधिक मुखर हो उठा। वह खुले शब्दों में अपने घर के गुरुजनों के कुकृत्यों की उनके मुंह पर निंदा करने लगी।"[२] इस प्रकार इन पूर्ववृत्तों तथा समग्र चरित्र-विश्लेषण के आधार पर पात्रों के चरित्र-विकास में निम्नलिखित कारण-तत्वों का उपयोग देखा जा सकता—(माता-पिता के तथा परम्परागत) संस्कार, अर्थ, काम, अहं, वात्सल्य, संगति (सम्पर्क) तथा अवस्था। इनमे से अन्तिम दो को उदाहृत करना शेष है। सज्जन और वनकन्या का विकास एक-दूसरे तथा बाबा राम जी के सम्पर्क से होता है। ताई के सम्पर्क से सज्जन सोचता है कि "ऐसी घृणामयी भी यदि करुणामयी बन सकती है, तब वह अपने व्यभिचारी मन को सदाचारी क्यों नहीं बना सकता है?"[३] अवस्था के तत्व की दृष्टि से वनकन्या के शील-विकास का विश्लेषण करते हुए लेखक कहता है—"आज, चौबीस वर्ष की आयु तक, वनकन्या देह से ब्रह्मचारिणी है। यद्यपि संस्कारों ने उसके मनोलोक में ब्रह्मचर्य नहीं फैलने दिया, फिर भी उम्र के तकाजे से पुरुष के अंग-संग की सहज स्वाभाविक इच्छा कहीं उसके मन में भूखी रेंगती थी।"[४] अन्यत्र शीला अपनी अवस्था (३८-३९ वर्ष) का वास्ता देकर महिपाल के प्यार को अपने प्रति उत्तरदायित्व का निर्वाह करने के लिए कहती है[५]—इस अवस्था में शीला न तो अपने मन के साथी को छोड़ सकती है, और न ही कोई नया प्रयोग कर सकती है। इसलिए अन्त में उसकी वियोग-भावना समष्टि-साधना में ही उन्नयित होती दिखाई देती है।

१. पृ० ९० । २. पृ० २७६ । ३. पृ० १८५ ।
४. पृ० २७७ । ५. पृ० ५१४ ।

नागर जी ने पात्रों के बाह्य तथा अन्त:चित्रण दोनों पर दृष्टि रखी है। कुछ पात्रों का चित्रण तो उनके नामानुकूल ही हो गया है। बाबा राम जी इसका प्रमाण हैं, जो अनेक व्यक्तियों को बुलाते समय 'राम जी', 'राम भगतवा' या 'राम भक्तिनियाँ'[1] कहते रहते हैं, और जो सभी मानवों में राम के दर्शन कर उनकी सेवा करते हैं। दूसरा पात्र है महाकवि 'विरहेश' जिसके बड़ी के साथ विरह तथा अन्ततः मिलन के व्यापार ही सामने आते हैं और जो वियोग के गाने ही बनाता-गाता रहता है। यह हास्य-व्यंग्य-चित्र है अतएव पात्रों द्वारा 'बोरेश', और स्यात् वियोग में घिस-घिस कर 'बोर' बन कर रह गया है। बड़ी का नाम है मोहिनी, जो विरहेश को मुग्ध करती है। "तुम सचमुच मोहिनी हो प्रिये" कहकर वह अपना भाव-प्रकाशन भी करता है।[2] सज्जन नाम के अर्थ का पात्रों ने बड़ा उपयोग किया है—अपना उल्लू सीधा करने में कुशल, 'कांग्रेस के गेसटापो'[3], बाबू सालिगराम, उसे यही कहते है कि 'सज्जन तो सज्जन ही निकले'[4] किन्तु लेखक और बाबा राम प्रत्यक्ष और प्रच्छन्न व्यंग्य करते हैं—(क) "प्रसन्नता के आवेश में सज्जन फिर अपने को भूल गया, उसका जी चाहा कि कन्या को अपने अंकपाश में भर ले। ज़ाहिरा तौर पर सज्जन ही बना रहा।"[5] (ख) "राम जी, हम ने तो समझा था आप राम जी हैं! हः हः आप सज्जन हैं!"[6] शीलास्विग उसे 'दुर्जन' कहकर मज़ाक करती रहती है और अपनी घनिष्ठता व्यक्त करती है, फिर भी कुछ न कुछ व्यंजना तो इसमें भी है। शील-विकास के क्रम में जो नाम पहले सज्जन पर व्यंग्य है वही अन्त में सत्य सिद्ध होता है—अपनी दुर्बलता-दुर्जनता से लड़कर सज्जन, 'सज्जन' बन जाता है। माँ-बाप जब शिशु का नामकरण करते हैं तो उनकी अपनी सुरुचि या आकांक्षा व्यक्त होती है, शिशु का चरित्र नहीं। किन्तु जब पात्र अपना नाम स्वयं रखें—जैसाकि यहाँ वनकन्या ने किया है—तो इससे उसकी चारित्रिकता के किसी पक्ष की व्यंजना हो सकती है। वनकन्या में भी स्वतःस्वीकृत नामानुकूल मुक्त आत्मनिर्भरता तथा निश्छलता है। आधुनिका होते हुए भी वह अनाघ्रात पुष्प है तथा प्राकृतिक सौन्दर्य से विभूषित। सज्जन उसके नाम का अनुवाद—जंगली लड़की—कर उससे मजाक करता है। ताई ने अपने पारिवारिक सदस्यों, बिल्ली के बच्चों को जो नाम—ललिता, बिसाखा तथा किस्ना—दिए है, उनसे उसके वात्सल्य-सराबोर तथा भक्त-हृदय का परिचय मिल जाता है।[7] ताई ने किस्ना नाम यों ही नहीं रखा, उसमें उसे 'बालमुकुन्दे' झाँकते मिलते हैं। सज्जन तथा महिपाल के घनिष्ठ मित्र का नाम नगीनचन्द उर्फ कर्नल है। सज्जन अवसर-विशेष पर उससे मजाक भी करता है कि दवाफरोश होकर वह अगर 'कर्नल'

---

१. पृ० ४३१, ३८१। २. पृ० ८१। ३. पृ० ५०। ४. पृ० १८३।
५. पृ० १८०। ६. पृ० ३८३। ७. पृ० ३४५।

कहला सकता है तो एक हलवाई 'डाक्टर' भी हो सकता है।[१] कर्नल महिपाल और सज्जन पर अपने प्रभाव से हकूमत-सी करता है—वह समय पर उन्हें करारी झाड़ें देता हुआ मनोवांछित किन्तु सत्य कार्य कराने में सफल होकर रहता है। उसमें दृढ़ता और व्यवहारकुशलता दोनों हैं इसलिए सज्जन को जब कभी कोई सामाजिक कार्य करना होता है कर्नल का ही स्मरण करता है। उसमें विरोधियों का सामना करने की पूरी शक्ति, निडरता तथा उपेक्षामयी दृढ़ता है। कर्नल, बुलाने आए राजा साहब के नौकर को भगा कर, लड़खड़ाते सज्जन से साफ-साफ कहता है "राजा हों या कोई साहब हों। मैं कोई जरुरत नहीं समझता तुम्हारे जाने की। बड़े हों तो बड़ों के तरीके से पेश आएँ"![२] वह एक सैनिक के समान अपने नियम नहीं तोड़ता।[३]

नागर जी ने पात्रों का पर्याप्त बाह्य चित्रण किया है। इसके विभिन्न उद्देश्य हैं। मात्र समाज-चित्रण के लिए एक-दो स्थल-विशेष पर आने वाले अनेक वर्गगत पात्रों को प्रवेश के साथ ही उसके वर्ग की समाज-प्रचलित वेशभूषा तथा रंग-रूप में साकार किया गया है। इस दृष्टि से लाला मुकुन्दीमल तथा पंडित शिवनाथ शास्त्री की वेश-सज्जा के आपसी अन्तर को देखा जा सकता है।[४]

पात्रों को एक स्थान से दूसरे स्थान तक ले जाते हुए मार्ग चलते या दुकानों पर बैठे व्यक्तियों के पूरे व्यौरे न देकर, उनकी पहचान केवल एक-दो चुने तथ्यों से ही करा दी जाती है; जैसे, पनचक्की में आटे की गर्द से सफ़ेद-बुर्राक़ बने हुए मज़दूर, पग्गड़धारी वैद्यराज आदि। कुछ गौणतर पात्रों के किन्हीं अंगों का चित्रण मात्र हास्य-सृष्टि के लिए किया गया है; जैसे, यहाँ 'ढोलकनुमा' 'तोंद वाले' भितिरिया जी ढोलक बजाते और ज़नाने ढंग की धोती पहनते है,[५] और दोनों भिंगी आँखों वाले लाला गिरधारी टिल्लू-दल की 'टीप' का साधन बनते है।[६] उपन्यास में वर्तमानकालीन यथार्थ जगत् के जो पात्र क्षण भर के लिए आए हैं, उनमें से अनेक को बाह्य रेखाचित्रों में साकार कर पात्रकता देने का प्रयास किया गया है।[७] मुख्य पात्रों को प्रवेश के साथ ही साकार नहीं किया गया, क्योंकि वे अनेक स्थलों पर आते है। उपयुक्त अवसर पर, प्रायः प्रतिपात्र की दृष्टि के आगे वे साकार किए गए हैं, जो स्वाभाविक है; जैसे, एक ही पिक्चर जाने के अवसर पर सज्जन से पूर्व-परिचित विरहेश की निगाह सज्जन को थाम लेती है और स्वभावतः विरहेश-दल की सभी नज़रें एक प्रसिद्ध चित्रकार को देखने लगती हैं— "मझोला-गठीला बदन, खून से झलझलाता गोरा-चिट्टा खूबसूरत पालिश चेहरा, ऊँची पेशानी, पश्मीने की शेरवानी,

१. पृ० ११८।		२. पृ० ४०१।		३. पृ० ३६७।
४. पृ० ४० तथा ४२।		५. पृ० १५७, ४३६।		६. पृ० १५५।
७. पृ० २६३, ३६६ तथा ४०२।

तीली माहरी का पाजामा पहने, हाथ में ओवरकोट लिए सज्जन दरवाज़े के पास खड़ा था।"[1] यह चित्र एक लखनवी रईस चित्रकार की छाप छोड़ता है। किन्तु एक रईस नवयुवक को यदि एक ही वेश में निश्चित कर दिया जाता, तो अस्वाभाविक होता, अतएव अन्यत्र उसे "नेकर, की जर्किन और मौज़े पहने"[2] हुए प्रदर्शित किया गया है। महिपाल के उग्र शक्तिशाली कार्यों को स्वाभाविकता देने के लिए 'कसरती"[3] शरीर—पीठ पीछे दोनों हाथ बाँधे, चौड़ी और बलिष्ठ छाती[4]—वाला दिखाया गया है। इसी तरह अवस्था की दृष्टि से वृद्ध किन्तु जोश और सेवा की दृष्टि से युवक, दूसरों की मालिश करने वाले बाबा राम के 'मसिल्स' का उल्लेख किया गया है।[5] ताई के घृणित कार्यों को उसकी मुखाकृति से संगति दी गई है।[6] यही नहीं ताई के बिल्ली के बच्चों का बाह्य चित्र भी कुशलता से दिया गया है :—है "···सफ़ेद खाल पर पीले काले चित्रों वाले किसन महाराज ताई की करवट से निकल कर उनकी बाँह पर चढ़ गए।" तथा "अंधेरे में बिल्ली के बच्चे की नीली, चमकदार फास्फोरसी आँखें ताई की दृष्टि को बाँध रही थीं।"[7]

शृंगारिक प्रसंगों में रूप-सौन्दर्य का भावोद्दीपन के लिए आरम्भ से महत्व रहा है। सज्जन अपने प्रथम परिचय में ही वनकन्या के भावाविष्ट रूप-सौन्दर्य को देखकर उससे प्यार करने लगता है।[8] लेखक ने आगे भी उसको, उसके अति तक पहुँचे हुए गोरेपन और पानीदार व्यक्तित्व से प्रभावित किया है।[9] सज्जन जब चित्रा से उलझा हुआ होता है, तब भी उसकी तुलना में वह वनकन्या का 'चमचमाता चेहरा' भूल नहीं पाता; और अन्यत्र उसकी चरित्रहीनता कन्या के 'तेजयुक्त गौरवर्ण'—जो मानों उसकी चारित्रिक दृढ़ता का सूचक है—का सामना नहीं कर सकती।[10] इसी तरह शीलास्विंग की वियोग-जन्य मनःस्थिति में महिपाल का रूप-व्यक्तित्व 'रीझ भरे' एक क्षण की स्मृति-सा उसके सामने आ खड़ा होता है।[11] तात्पर्य यह है कि रूप-सौन्दर्य का अधूरा-पूरा या आंशिक चित्रण कहीं साक्षात् और कहीं स्मृति बनकर—प्रायः विभिन्न स्थलों में विभक्त होकर— चित्रित हुआ है।

'बूँद और समुद्र' में पात्रों की आकृति एवं वेश-भूषा में होने वाले परिवर्तनों के चित्रण से उनकी मनोदशाओं में परिवर्तन तथा शील-विकास की कुशल व्यंजना हुई है। अपने पति को छोड़कर जब बड़ी विरहेश की हो जाती है, तब बहुत दिनों बाद उसकी स्थिति की व्यंजना उसके "ओवर मेकप में भी बड़ी ट्रेजिक" मालूम पड़ने से हो जाती है।[12] इस बड़ी के समान ही सज्जन को चित्रा के पूर्व-चेहरे के कोमलता

१. पृ० ७७। २. पृ० ३६०। ३. पृ० २६२। ४. पृ० ५०६-५०७।
५. पृ० २६६। ६. पृ० १०। ७. पृ० ३४५। ८. पृ० ५८।
९. पृ० १२८। १०. पृ० ३६७ तथा ३७०। ११. पृ० ५०६-७। १२. पृ० ५०७।

आकर्षण, तथा तीन वर्ष बाद के वर्तमान—प्रसाधित होते हुए भी कुम्हलाए—चेहरे तथा प्रभाहीन पुतलियों की तुलना से, उसकी शोषणजन्य शोचनीयता का पता चल जाता है।[१] महिपाल की आर्थिक स्थिति के समानांतर उसकी मनोदशा का विकास, उसके पहरावे के परिवर्तन से भली-भाँति परिव्यक्त हुआ है। वह चेतन मन से सिद्धान्तवादी-आदर्शवादी है किन्तु उसका अचेतन बचपन के ताल्लुकेदाराना संस्कारों से ग्रस्त है, अतएव आर्थिक अभाव की स्थिति में जो 'खादी' काम में आती है, वही चोरी के रुपए पाने के बाद रेशम में सदर्प परिवर्तित होकर सामने आती है।[२] उसकी पत्नी कल्याणी के चेहरे पर भी नूर बरसने लगता है तथा नाक में हीरे की कील, कानों में मोती की तरकियाँ···"[३] महिपाल के रेशमी कपड़े और राजसी ठाठ उसकी 'अहंता' को जगाकर शीला के प्रसंग में एक अपूर्व अन्तर्द्वन्द्वात्मक स्थल की सृष्टि करते हैं।[४] तीन लाख रुपए त्याग करने से पहले (मध्यवर्गीय) वनकन्या का मोह एक बार गहने-कपड़ों के अपूर्व प्रसाधन में परिव्यक्त होता है और देह पर चढ़े हीरों की दमक कन्या के मन पर भी चढ़ जाती है[५]। इनको पहन-ओढ़ और बहू-सी बन जब वनकन्या शीला को आमन्त्रित करने के लिए जाती है तब शीला की मानसिक प्रतिक्रिया में लेखक को उसके सुहागिन बनने की अतृप्ति की टीस को अव्यक्त करने का अवसर मिल जाता है।[६] तारा और छोटी-बड़ी के वेश-भूषा के सूक्ष्म व्यौरे इसलिए दिए गए हैं ताकि एक-दूसरे की तुलना में उनकी अभाव-लालसाओं, मध्यवर्गीय 'हसरत-भरी' नजरों तथा गुमानों का परिचय दिया जा सके। एक स्थान पर कर्नल की तात्कालिक मनःस्थिति की अभिव्यक्ति उसके पारसी कोट के खुले हुए बटनों तथा विशेष मुद्रा में झूमते हुए आने से की गई है—"मानों उसके भगवान जी के बाद अखिल विश्व पर उसकी ही सत्ता है।"[७] सारांश यह है कि नागर जी ने पात्रों के बहिरंग चित्रण का उपयोग गौणतर पात्रों को टाइप बनाकर साकार करने, मुख्य व्यक्ति-पात्रों को वर्गगत विशेषता देने, कुछ पात्रों के कार्यों को [illegible] देने तथा उनकी मनःस्थितियों, अव्यक्त इच्छाओं एवं शील-विकास की व्यंजना में किया है।

"बूँद और समुद्र" में पात्रों के अनुभाव-चित्रण—मुख-इंगितों तथा शारीरिक मुद्राओं—में विशेष तत्परता मिलती है। यहाँ प्रायः विभिन्न स्थितियों में पड़ने पर पात्रों की आनुभाविक प्रतिक्रिया के अंतराल के बाद—या अनुभावों से संयुक्त होकर—ही उनकी क्रिया-प्रतिक्रिया व्यक्त होती है और यही स्वाभाविक है। उदाहरणतया, एक प्रसंग लीजिए। कर्नल, वनकन्या का भाई बना हुआ है। वह अपने मित्र सज्जन और वनकन्या के आपसी श्रृंगारिक सम्बन्ध को निश्चित रूप देना चाहता है। इस

१. पृ० ८३, ३६७। २. पृ० १९२, ५११। ३. पृ० ४९६।
४. पृ० ५१६। ५. पृ० ४८५। ६. पृ० ५०७। ७. पृ० ३९४।

प्रयत्न में जब कर्नल वनकन्या से यह पूछता है कि "तुम लोगों का आपस में कुछ तै हो गया है ?" तो वनकन्या लज्जावश मौन बनी रहती है। कर्नल जब फिर व्यावहारिकता का वास्ता देकर कहता है "..तुम सज्जन से शादी करना चाहती हो ? मुझसे साफ-साफ कह दो।" तब कन्या सिर झुकाए दाहिने पैर के अंगूठे को फर्श पर चलाती रहती है।"[1] तात्पर्य यह है कि मर्यादा-रक्षा से जहाँ प्रसंग स्वाभाविक-सुन्दर बना है, वहाँ कन्या के चरित्र की शालीनता भी व्यक्त हुई है।

यद्यपि नागर जी ने पात्रों की विभिन्न आंगिक चेष्टाओं का अंकन किया है तथापि उनकी दृष्टि मुख्यतः मुखाकृति पर केन्द्रित रही है। मुखाकृति में भी लेखक ने आँखों के चित्रण को विशेष महत्व दिया है। स्वयं लेखक के अनुसार—"प्यार में ज़बान एक जगह आँखों से बुरी तरह मात खाती है। चार नज़रों में बात करने की जितनी शक्ति होती है उतनी हज़ार ज़बानों में एक साथ मिलकर भी नहीं हो सकती।"[2] सज्जन, वनकन्या तथा महिपाल, शीला के शृंगारिक प्रसंग इस कथन को प्रमाणित करते हैं। इसके लिए यह एक उदाहरण ही पर्याप्त होगा जिसमें मात्र अनुभावों—विशेषतया आँखों के रहःसंलापों ने प्रसंग को मार्मिक बना दिया है और शीला के अतल प्यार को मूर्तिमन्त—"शीला खोई हुई बैठी थी। वे सहसा महिपाल की बात समझ न सकी। महिपाल चौखट पर खड़ा था। एक पाँव बाहर, एक पाँव अन्दर। शीला उसकी आवाज़ सुनते ही उठ खड़ी हुई थी, उसे देखते हुए वे आगे बढ़ी। अपने शंकालु चित्त के कारण दरवाज़े की ओर बढ़ती हुई शीला को देखकर महिपाल इस समय शीला की आँखों से आँखें मिलाने के लिए मजबूर था। नज़रों से नज़रें मिल रही थीं शीला की पुतलियों का खिचाव न-न करती हुई महिपाल की की नज़रों को अपने में बाँध ही रहा था। शीला पास आती गई, वे उसके बिल्कुल नज़दीक आ गई। शीला टकटकी बाँध कर उसे देख रही थी। ऐसा लगता था कि आँखें एक भावशक्ति से परिचालित होकर उसी से अपने सारे वातावरण को परिचालित कर रही थी। आँखों के रामझरोखे में बैठकर शीला के अन्तर का भाव-सत्य सम्राट् की तरह एक छत्र सत्ताधिकारी हो चुका था जिसके आगे महिपाल गूंगा था, विवश था। जिन प्यास भरी, प्यारभरी नज़रों से शीला तन्मय होकर उसकी नज़रों को देख रही थी, वह प्यास अमर थी—वह प्यार महिपाल को आत्म-विश्वास-सा लगा जिसे वह अपने से दूर करने का हठ कर रहा था। शीला पास आ गई; महिपाल का हठ अपनी विवशता के चरम बिन्दु पर आ गया। शीला आपे में न थी, महिपाल बेबस हुआ जा रहा था।

"महिपाल के सौन्दर्यप्रिय लेखक ने आज इस क्षण से पहले तन्मयता के इस

---

१. पृ० ३८५। २. पृ० २०८।

परम सुन्दर रूप के दर्शन नहीं किए थे। शीला की पुतलियों में योगासन साध कर बैठा हुआ उसका प्रेम उसे बा-बार चुनौती दे रहा था – इस विवशता के महासागर को लांघ सकते हो ? तुम इसमें डूबने के लिए बाध्य हो !

"शीला महिपाल के सामने, उससे सट कर खड़ी हुई थी। सन्नाटा सांसों की गूँज में सिमट आया था। महिपाल को इन गर्म सांसों में लड़ाई के बाजे बजते हुए से लगे। शीला की बांहें वरमाला की तरह उसके गले में पड़ रहीं थीं, धीरे-धीरे जकड़ रही थीं। चौखट के बाहर रक्खा हुआ पैर अन्दर आ गया, स्प्रिंगदार दरवाज़ा खटके के साथ बन्द हो गया।"[१] यहाँ सौन्दर्यप्रिय लेखक और चित्राकार पात्र अपनी प्रेयसी-पत्नियों के स्वभावज हाव-भावों से विशेष प्रभावित होते है अतएव इनका विशेष चित्रण हुआ है। सज्जन वनकन्या की मुस्कान तथा अन्य मुख-इंगितों से प्रायः छकता रहता है।[२]

चेहरे और आँख के बाद लेखक ने हाथ के संस्पर्शों का विशेष उपयोग किया है। वनकन्या से अपनी चरित्रहीनता के कारण ही रुष्ट सज्जन जब कन्या से नहीं बोलना चाहता, तब कन्या का हाथ उसके सिर पर पहुँच कर उसके अन्तर की सारी पवित्रता सौंपने लगता हैं।[३] अन्यत्र सज्जन वनकन्या को अपने चरित्र के सम्बन्ध में विश्वास दिलाने और उससे आश्वासन पाने में शब्दों से अधिक हाथ से काम लेता है।[४]

मनोवैज्ञानिक उपन्यासों में जटिल तथा अन्तर्मुखी पात्रों के कथन का वास्तविक अभिप्राय बिना उनकी आनुमाविक प्रतिक्रियाओं के जाना ही नहीं जा सकता। महिपाल एवं सज्जन-जैसे शिक्षित-कुशल पात्र युक्तिकरण से किसी की बातों को उड़ाने में समर्थ हो सकते हैं किन्तु पढ़ने वाले उनके चेहरे-आँखों को पढ़कर, या उनके स्वभावज अनुभावों को देखकर सारी सही स्थिति जान लेते हैं। जैसे महिपाल, बाबा राम के वक्तव्यों का, अपने अहंकार के कारण, विरोध करता है अन्यथा ये उसके अपने ही विचार होते हैं। बाबा राम तथा अन्य उपस्थित सज्जनों से वह व्यर्थ में चिढ़ा रहता है। बाबा राम-जैसे अनुभवी सिद्ध यह समझ लेते हैं। किसी पात्र के द्वारा महिपाल के लेखक होने और सुन्दर लिखने का परिचय कराने पर वह कहते हैं— "सो तो आपके चेहरे से प्रिगट हुई रहा है। राम जी, आत्मा का तेज मनुष्य के नेत्रों में जथा सक्ति झलकता है। मैं इत्ती देर से इन्हीं के विचारों को आप राम जी लोगों के समच्छ प्रिगट कर रहा था। क्यों न राम जी, मैं कुछ झूठ कहता हूँ।" महिपाल की आँखें साधु की दृष्टि से मिलीं, और फिर आधे मिनट तक टकटकी बंधी

१. पृ० ५१५। २. पृ० ३७०, ३३२।
३. पृ० ३८०। ४. पृ० ५२०।

रही। साधु जी की बात सच थी, .. मानो उनका छीना हुआ अधिकार उसे वापिस लौटाया था। खीझ की आड़ में सिसकते हुए मन से महिपाल साधु की ओर अधिक न देख सका। उसकी आँखें झुक गई।"[1] चित्रा झूठ बोलकर, वनकन्या तथा दूसरों के आगे, सज्जन को अपमान से बचा लेती है किन्तु वनकन्या चित्रा के सामने सज्जन की सहमी हुई और चित्रा की चतुर आँखों से सब कुछ 'भाँप' लेती है।[2]

नागर जी एक ही परिस्थिति के विरुद्ध विभिन्न पात्रों की पृथक्-पृथक् आनुभाविक प्रतिक्रियाओं से चरित्र-व्यंजना में सिद्धहस्त हैं। वस्तुतः बहुसंख्य गोणतर पात्रों की आपसी पृथकता को, विभिन्न कथनों-परिस्थितियों से प्रभाव-ग्रहण की उनकी सजीव क्षमता को, इन अनुभावों से मूर्तिमान किया गया है। उनके रेखाचित्र इन्हीं से ज्वलंत हो उठे हैं। चौक के चबूतरे पर जुटी मजलिस के विभिन्न पात्रों की—सज्जन की प्रशंसा में छपे आर्टिकल की सूचना मिलने पर—सज्जन के प्रति प्रतिक्रिया देखिए—"लाले कौतूहल भरी नज़रों से, बाबू गुलाबचन्द शिष्टता की मूर्ति बनकर, और बाबू छेदालाल पैनी कनखियों से उसे देखने लगे। शास्त्री जी का नीला चश्मा एक क्षण के लिए उसके चेहरे पर घूमा; फिर उनका गंभीर मुखमण्डल आत्मलीन हो गया। लाला मुकन्दीमल का मोटा चश्मा बराबर उसके चेहरे पर डटा रहा"।[3] इसी प्रकार अन्यत्र राजा बहादुर सर द्वारकादास के आने पर "सज्जन अदब से उठ खड़ा हुआ। कर्नल साहब के चेहरे पर नम्रता की किरणें फूट पड़ीं, आदर से हाथ जोड़े। महिपाल वैसे बैठा रहा"।[4] इसमें समवर्गीय सज्जन, सहज व्यावहारिक कर्नल तथा पूंजीपतियों से घृणा करने वाला एवं अपने अभाव से ही अहंकारी बने हुए महिपाल का चरित्र व्यंजित हो जाता है। सारांश में 'बूँद और समुद्र' में अनुभावों का जैसे प्रचुर और सार्थक चित्रण हुआ है, वैसे अन्यत्र दुर्लभ है।

'बूँद और समुद्र' में जितना बाह्य चरित्र-चित्रण हुआ, उससे कहीं अधिक आन्तरिक। पीछे पात्रों की जिन अन्तःप्रेरणाओं और उनके चित्रण-साधन के रूप में आई पूर्ववृत्तात्मक प्रणाली का विवेचन किया गया है, वह पात्रों के आन्तरिक चित्रण का अंग है। यहाँ हमें आन्तरिक चित्रण के रूप में पात्रों के उन चेतन-अचेतन अन्तर्द्वन्द्वों का विवेचन करना है जिनसे सज्जन और महिपाल सतत बेचैन रहते हैं। ताई और वनकन्या में भी अन्तर्द्वन्द्व है। केवल कर्नल और बाबा राम अन्तःसंघर्ष से मुक्त हैं क्योंकि उनके आगे जीवन-मूल्य स्पष्ट हैं तथा उनकी इच्छा-शक्ति प्रबल है। इनके विपरीत "महिपाल बहुत बड़ा आर्टिस्ट स्कालर होते हुए भी बेहद अस्थिर बुद्धि का है"[5] और सज्जन भी प्रायः ऐसे ही है—उसे निश्चयात्मक स्थिति तक पहुँचने में अनेक

१. पृ० २६२-६३। २. पृ० ४२५-२६। ३. पृ० ४३।
४. पृ० १८। ५. पृ० ४६६।

चंचल स्थितियों से गुज़रना पड़ता है। दूसरे, 'भोलापन' या निश्छलता "इनके कैरेक्टर की सबसे बड़ी खूबी है" ।[१]—इसलिए किसी दुर्बल व्यवहार के दोषी बन, या ऊपरी चेतन मन से किन्हीं असामाजिक स्थितियों को स्वीकार कर, ये उस 'आत्मग्लानि'—'होश' (विवेक-बुद्धि)[२] के तमाचों,[३] अथवा 'अन्तर की मार और भय'[४]—से नहीं बच पाते जो इनका तीव्र मनोमंथन कराती रहती है—इनका मन दो भागों में 'बंट' कर आपस में संघर्ष करने लगता है" ।[५] सज्जन और महिपाल के प्रारम्भिक विरोधी संस्कार इनके आगे के तीव्र अन्तःसंघर्ष के लिए उत्तरदायी हैं। पिता की विलासिता की राह पर न चलने का वचन अपनी शुद्धतावादी एवं पीड़ित माँ को देकर सज्जन आरम्भ में ही अपने लिए एक 'अन्तर्द्वन्द्व मोल' ले लेता है।[६] अतएव आर्थिक सुविधा, रईसाना संस्कार, उसे विलासिता की ओर ले जाते हैं और माँ के चरित्र के प्रति निष्ठा—विवेकबुद्धि—उसे इस मार्ग से विरत करती है। आगे प्रेयसी वनकन्या की सुन्दरता एवं चरित्र-दृढ़ता – एकनिष्ठ प्रकृति —उसके द्वन्द्व को तीव्र करती है। जब वनकन्या अपनी भावज के जल मरने के अवसर पर पीड़ित होती है, तब भी उसका काम-विकार आन्दोलित हो उठता है, अतएव वनकन्या के प्रथम परिचय से ही उसके "मन के अन्दर देव और दानव का महायुद्ध मच जाता है।" महिपाल का अन्तः संघर्ष इससे अधिक तीव्र है। उसके दिन 'भयकर मानसिक उथल-पुथल' में गुजरते हैं।[७] उसको काम और अर्थ-सम्बन्धी दोनों संघर्ष करने पड़ते हैं। पूंजीवादी अर्थ-व्यवस्था उसके "अहंवाद, बुद्धि और आस्था को बुरी तरह कुचलती है" ।[८] सज्जन के काम-विकार छिप सकते हैं किन्तु महिपाल की स्थिति पत्नी और प्रेयसी को लेकर स्पष्ट असामाजिक हो जाती है। छे बच्चे, पत्नी की निष्ठा, साथ ही उसकी रूढ़िवादी हठधर्मी तथा प्रेयसी की ईर्ष्या-मुक्त प्यार-उदारता एवं [illegible] और बड़ी अवस्था··ये सब मिलकर महिपाल की किंकर्तव्यात्मक द्वन्द्व-स्थिति स्थिर रखते हैं। अन्त में एक से नाता तोड़ने के प्रयत्न में वह स्वयं टूट जाता है। बाबा राम के शब्दों में लेखक ने इन विस्तृत अन्तर्द्वन्द्वों की सार्थकता स्पष्टता कर दी है—"द्वन्द्व न होय तो चेतना का रहस्य कैसे समझ में आवै—विकास कैसै होवै ?"[९]

१. पृ० ४६९।

२. Frank Alexander : "The existance of super-ego explains how in every form of civilization there is a self-regulating or self restrictive force in individuals which is indispensable for social order." "Development of the Ego-Psychology", 'Psychoanalysis Today', p. 144

३. पृ० २५५, ४५५। ४. पृ० ९१। ५. पृ० ४५४, ५५। ६. पृ० ९०।
७. पृ० ४५५। ८. पृ० २५५। ९. ४८०।

यों तो पात्रों के छोटे-बड़े अन्तर्द्वन्द्व स्थान-स्थान पर मिलते हैं किन्तु कुछ ऐसे परिच्छेद भी हैं जहाँ पात्रों के चेतना-प्रवाह का एकांत साम्राज्य है—पात्र अपनी व्यक्तिगत द्वन्द्वमयी स्थितियों में बहते-बहते, सहस्मृतियों के सहारे, कहाँ से कहाँ पहुँच जाते हैं। उदाहरणतया, सताइसवाँ परिच्छेद लीजिए जिसमें अपने घर से रुष्ट होकर 'भागा हुआ महिपाल रात को डेढ़ बजे प्रेयसी के घर से पुनः अपने घर चलने को निकलता है किन्तु अन्तर्द्वन्द्व से ग्रस्त होकर किसी शिवाले जा पहुँचता है और सारी रात बाहर बिता देता है—यहाँ उसका मनोमंथन घर और अर्थ-काम की उलझनों से निकल कर निकटवर्ती वातावरण तथा सहस्मृतियों के सहारे मूर्ति-सिक्कों, लखनऊ के इतिहास, तथा भारत की प्राचीन नगर-परम्परा की ओर चला जाता है किन्तु पुनः अपनी घर-सापेक्ष स्थिति, कल्याणी की निष्ठा की महानता, की ओर लौट जाता है। यह लौटना भी क्षणिक है, उसकी चेतना फिर प्रागैतिहासिक काल के सुर-असुरों के संघर्ष एवं उनकी सभ्यता-संस्कृति पर जा पहुँचती है और उसकी समाप्ति हिन्दुस्तान के बैर-फूट के चिन्तन से होती हुई अपनी व्यक्तिगत ईर्ष्या, वैर-भावना तथा आत्मग्लानिजन्य आँसुओं में होती है। इस तरह किसी युक्ति-युक्त क्रम-व्यवस्था के बिना पात्रों के 'मन के पर्दे' खुलते चले जाते हैं—पात्रों के व्यक्त आचरण की अचेतन प्रेरणाएँ तथा भावनाएँ सामने आ जाती हैं। महिपाल की यही अवस्था ३४वें परिच्छेद में भी है। सज्जन भी जब 'मन में चोर लेकर' 'माखन चोर की लीलाभूमि' मथुरा जाता है तो कुछ देर ऐसे ही चेतना-प्रवाह में मग्न रहता है।[1] यह उल्लेखनीय है कि पात्रों के चेतना-प्रवाह के दिग्दर्शक इन स्थलों में चेतना-प्रवाह-पद्धति का यत्किंचित् स्वरूप तो मिलता है किन्तु शैली नहीं। पाठक पात्रों की मानसिकता से सीधा सम्पर्क स्थापित नहीं कर पाता, लेखक बीच में आता-जाता रहता है। उनके मुक्त मानस-प्रवाह में लेखक का हस्तक्षेप पात्रों को अपनी आँखों सब-कुछ नहीं देखने देता, जो चेतना-प्रवाह पद्धति की शर्त है। यहाँ लेखक उनके चेतना-प्रवाह का वर्णन कर रहा है, पाठक सीधे दर्शन नही। बीच-बीच में आने वाले कुछ चेतनाप्रवाहात्मक स्थल अवश्य हैं जिनमें लेखक ओझल हो जाता है और पाठक सीधा सम्बन्ध स्थापित कर लेता है; यह प्रसंग द्रष्टव्य है जिसमें भीतर के उद्धरण-चिन्हों से लेकर आगे• तक का प्रसंग लेखक-मुक्त है—"अचानक सज्जन और कन्या का ध्यान आ गया। इस ध्यान की पृष्ठभूमि में अचानक ही यह चेतना भी चमकी कि उसे शीला की कसकन भरी याद सता रही है; और उस याद को चूंकि इस समय की विशेष मानसिक परिस्थिति के कारण वह शरण नहीं दे सकता, इसलिए सज्जन और कन्या की याद जोर से आ गई। वह प्रेमी युगल इस समय मथुरा में होगा—राधाकृष्ण की लीला-

---

१. ३१वाँ परिच्छेद।

भूमि में···नये नटनागर सज्जन और नवेली वनकन्या। ह-ह-हः !!! महिपाल का जी इस हल्की-सी हँसी के बहाने जरा उतर आया —जड़ता में प्राण आए। अपने मित्र के लिए बड़े प्यार से सोचा—"वह सचमुच ही कन्हैया है साला !···यों पाये का आदमी है। उसके अन्दर की आग, जितनी भी है, सच्ची है। कन्या भी अच्छी लड़की है। कन्या उसे बहुत 'इन्सपायर' करेगी।—देखो, ऐसे भी भाग्यवान होते हैं जिन्हें परमात्मा सब कुछ सहज ही में दे देता है। सज्जन को खान्दानी पैसा भी मिला, अपनी कला का विकास करने के लिए सारी सुविधाएँ मिलीं और अब पत्नीभी ऐसी ही मिल रही है जो उसे बल देगी। और एक अभागा मैं।···खैर, जाने दो ! क्या बताऊँ, मुझसे कहकर नहीं गये, नहीं तो कृष्णदत्त वाजपेयी की "मथुरा परिचय" उन्हें रास्ते में पढ़ने के लिए प्रेजेण्ट कर देता। मथुरा जाने से पहले वहाँ की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि उनके ध्यान में आ जाती।···अच्छी किताब है। उस छोटी-सी किताब में वाजपेयी जी का श्रम बोलता है। ग्राउज़ के 'मथुरा मेम्वायर्य' भी खूब हैं। वह अंग्रेज कलक्टर भी मथुरा और सम्पूर्ण ब्रजमण्डल के लिए मिस्टर टाड साबित हुए। सूर···सूरदास के महत्व को बस वह नहीं पहचान सका ! उसके विषय में कुछ नहीं लिखा। केवल पद एक छाप दिया है। खैर ! "[1] यह एक और स्थल लीजिए जिसमें अन्तिम पंक्ति की सूचना को छोड़कर विशुद्ध अन्तर्विवाद मिलता है :—" हो चुका सो हो चुका, आयन्दा सज्जन कन्या से किसी प्रकार का संबन्ध नहीं रक्खेगा। उससे घृणा नहीं, वह अब किसी से घृणा नहीं कर सकता। कन्या से घृणा करना तो हद दर्जे की गैरइंसाफी है। कन्या के चरित्र की दृढ़ता ने ही उसे नये जीवन की राह दिखाई है। बल्कि सच तो यह है कि उसने ही कन्या के साथ नीचता की है। क्रोध और वासना भरी बेहोशी के एक झोंके में वह अपना मरम गंवा बैठा। परसों के काण्ड के बाद से वह कन्या के सामने अपनी नज़र नहीं उठा सकता।···और कन्या महान है। मैं नीच हूँ। वासना का कीड़ा हूँ। मुझ में स्वाभिमान नहीं है। कोरा घमण्डी ही हूँ। घमण्डी आदमी दुनिया में कुछ हासिल नहीं कर तकता। और फिर मैं किस बात पर घमण्ड करूँ ?—खांदानी पैसे का ? पैसे की सत्ता और उसके ग़लत महत्व की साख अब और पुजेगी कितने रोज़ ?—दस-पंद्रह बरस—हद से हद ! बड़ा कलाकार होने का घमण्ड करूँ ? यानी सुचैन के लक्षणों में भी अपने आपको धोखा दूँ ? सज्जन आत्म-ग्लानि से पानी हुआ जा रहा था।"[2]

पात्रों के अचेतन को अनावृत करने के लिए नागर जी ने मनोविश्लेषकों के स्वप्न-विश्लेषण का उपयोग भी किया है। महिपाल और वनकन्या को स्वप्न आते हैं। महिपाल के स्वप्न का सारांश यह है कि वह एक चीथड़े, मवाद से सने रूई के

---

१. पृ० २६८-६६। २. पृ० २७४।

फाहे और पट्टियों से भरी घिनौनी तंग गली में से अकेले गुजरता है। वह इस गली में से बाहर निकलने का प्रयत्न करता है किन्तु निकल नही पाता। फिर वह एक नदी के किनारे पहुँच जाता है जिसमें आदमियों से भरी एक नाव जा रही होती है। वे सब महिपाल को बुलाने लगते है और नाव को किनारे लाके महिपाल को भी बैठा ले जाते हैं। उसमें शीला, कल्याणी, कर्नल, ममेरा भाई आदि परिचित सज्जन भी बैठे होते हैं। वीच धार में नाव उलट जाती है। सब लोग तैरने लगते हैं और हरे-हरे पानी में कंगूरे, मीनारें और खण्डहर चमकते नज़र आते हैं। वे खण्डर महिपाल को खींचने लगते हैं। अन्त में सब व्यक्ति महिपाल की दृष्टि से ओझल हो जाते हैं और वह नीचे खण्डहरों में एक ज़ंजीर से जकड़ा जाता है। वह "बहुत घुटा, बहुत तड़पा मगर छूट न सका।"[१] महिपाल को यह स्वप्न इतना विचलित करता है कि वह इसे अपनी मौत का आमन्त्रण समझता है। किन्तु महिपाल से इस स्वप्न को, संवाद-रूप में सुनकर सज्जन की प्रतिक्रिया मनोविश्लेषकों के अनुकूल है—"तुम्हारा किसी प्रकार का फ्रस्ट्रेशन है महिपाल, ये गन्दगी और खण्डहर सब फ्रस्ट्रेशन के ही तो प्रतीक हैं। इन्हें एनालाइज़ कर लो। मौत का सवाल ही कहाँ उठता है"?[२] इस तरह लेखक ने सज्जन के द्वारा इस स्वप्न के विश्लेषण का संकेत दे दिया है—पारिभाषिक शब्दावली में प्रतीकीकरण (Symbolisation) स्वप्न-तन्त्र का उदाहरण है जिसमें व्यक्तियों की आवृत संवेदनाएँ अपने मूल रूप में प्रकट न होकर प्रतीकों के आवरण में प्रकट होती हैं।[३] आदर्शों-सिद्धान्तों की बात करने वाला महिपाल उन्हें अपने जीवन में चरितार्थ नहीं कर पाता और अर्थ-काम की ग्रन्थियों से विचलित रहता है। सामाजिक भय से उसने शीला से नाता तोड़ दिया है किन्तु भीतर वह अपनी काम-ग्रंथि से वैसे ही बँधा है। अर्थभावों के कारण उसने चोरी कर ली है, जो उसे अशांत कर रही है। इस तरह इस स्थल में यह सांकेतिक सूचना मिल जाती है, कि महिपाल अपने प्रयत्नों के बावजूद अपने अर्थ-काम के अभावों—'फ्रस्टरेशनस'— से छूट नहीं सका। इसलिए महिपाल कहता है—"...सपना तो एक संकेत होता है, मुझे लगता है कि मेरे अभाव मुझे ले डूबेंगे।"[४] दूसरा वनकन्या का स्वप्न भी प्रतीकीकरण स्वप्न-तन्त्र का उदाहरण है। उस स्वप्न का सार यह है कि वह नाव में जा रही है और उसके उलटने से डूब जाती है। "पानी के नीचे विशाल इमारतों के खण्डहर

---

१. पृ० ५५४-५५। २. पृ० ५५४।

३. Freud : "Interpretation of Dreams", 'The Basic Writings of Sigmund Freud', trans. by Dr. A. A. Brill, p. 370. "Dream employ this symbolism to give a disguised representation to their latent thoughts."

४. पृ० ५५३।

पड़े हुए हैं। अचानक सज्जन आता है, उसे घसीट कर एक खण्डहर में ले जाता है, कन्या खण्डहर में कैद हो जाती है... खण्डहर-खण्डहर है, मगर अन्दर से बहुत सजा हुआ है। सज्जन कन्या को कैद कर सो जाता है। कन्या उस कैद में घुटन महसूस करती है।" और सज्जन को जगाकर उससे मुक्त कर देने के लिए कहना चाहती है किन्तु सज्जन जाग नहीं पाता और वह बार-बार प्रयत्न करने पर भी असफल होती है।[1] इस स्वप्न में वनकन्या का अचेतन अन्तर्द्वन्द्व प्रतीकों के रूप में मूर्त हुआ है। एक ओर वनकन्या की आदर्श चरित्र-निष्ठा सज्जन को—उसकी चारीत्रिक दुर्बलता के कारण—नहीं अपनाना चाहती और दूसरी ओर उसका अचेतन मन घर और सज्जन के वैभव—सजे खण्डहर—के प्रति मोहग्रस्त हो चुका है। इसके अतिरिक्त उसकी अव्यक्त काम-भावना भी सज्जन को छोड़ना नहीं चाहती। किन्तु उसे आशंका है कि विवाहोपरांत सज्जन कहीं उसे अपने वैभव-वासनाओं के सजे खण्डहर में कैद कर और उसकी मजबूरी का लाभ उठा मनमानी न करने लग जाए—उसके आदर्शों की उपेक्षा कर सो न जाए। इसलिए कैद में घुटन महसूस करती है। वनकन्या के बार-बार सचेत करने पर भी सज्जन अपने चरित्र को स्थिर नहीं रख पाता—यही स्वप्न में है, बार-गार जगाने पर भी वह सोता ही रहता है। किन्तु कन्या सज्जन की अपेक्षा अपने से अधिक हारी है।

'बूँद और समुद्र' में पात्रों के चरित्रोद्घाटन में उद्धरण-शैली का भी पर्याप्त उपयोग हुआ है। इसके साहित्यकार-चित्रकार तथा पढ़े-लिखे विद्याव्यसनी पात्रों ने समय-समय पर गद्य-पद्य के उद्धरण बोले है, जो स्वाभाविक हैं। वनकन्या सज्जन से कहती भी है कि उसे बड़ीं कविताएँ याद हैं; और सज्जन का उत्तर है कि वह यदि चित्रकार न होता तो कवि होता।[2] ये उद्धरण अज्ञेय के उपन्यासों के समान अंग्रेज़ी के नहीं; हिन्दी, संस्कृत और उर्दू के हैं। इन उद्धरणों की बड़ी उपयोगिता पात्रों की मनःस्थिति की व्यंजना में है। अपनी विशिष्ट मनोदशाओं में उनको पूर्व-पठित उद्धरण सहज-स्मरण हो आते हैं, जिससे पाठकों की चरित्रात्मक मनःस्थिति ध्वनित हो उठती है। जो सज्जन अपनी मस्ती में वनकन्या के सामने "उतै आई नायिका नवेली बिहाय मनइतै कढ़े बेलिन ते श्याम यहि धाकरी"[3] तथा "पै मुरली मुरलीधर की अधरान धरी अधरान न धरौगी"[4] की शृंगारिक कविताएँ गाता है वही सज्जन मथुरा के वातावरण में आत्मग्लानि से पीड़ित होकर अपनी माँ की भक्तिमय 'ग़ज़ल' में 'अचानक' फूट पड़ता है और अन्ततः उसकी वैराग्य-भावना जागकर 'तीन गाँठ कौपीन में नित भाजी नित लौन' के 'मन-संतोष' से तादात्म्य करने लगती है।[5] चोरी करने के बाद महिपाल की अपराधी दशा 'मो सम कौन कुटिल खल कामी' से

१. पृ० ३८६-९० । २. पृ० ३३२ । ३. पृ० ३३२ । ४. पृ० ३०४ । ५. पृ० २७५ ।

अभिव्यक्त हो उठती है ।[1] महिपाल को "कभी-कभी दुर्योधन की तरह यह कहने को जी चाहता है—जानामि धर्म न च मे प्रवृत्तिः । जानाम्यधर्म न च मे निवृत्तिः ।"[2] और इसमें से वह अपना चरित्र-सार दे जाता है । उद्धरण-शैली का दूसरा उपयोग असामाजिक भावनाओं तथा सीधे न कहने योग्य भावों को परोक्ष अभिव्यक्ति देने के रूप में हुआ है । अपनी बातों को दूसरों के शब्दों में बेखटके या अपेक्षाकृत सुविधा से कहा जा सकता है । कवि विरहेश, शेर और फिल्मी गीत गा-गा कर मोहिनी 'बड़ी' से अपना प्रेम-निवेदन ही नहीं करता, पास आने के निमन्त्रण भी देता रहता है :—

"नहीं आये अब तक जो थे आने वाले ।
कहाँ छिप गए मुझको तड़पाने वाले ।।
अजब मोहिनी डाल दी यार तूने ।
कि मर मर कर जीते है दिल देने वाले ।।"[3]

वनकन्या उद्धरण की आड़ में सज्जन पर तीखा व्यंग्य कर जाती है—"महिपाल की 'देवता' कहानी में एक बड़ा मजे का वाक्य आया है, शायद आपने पढ़ा भी हो; वह यह है कि ईश्वर जिस भले आदमी को किसी कारण से सजा देना चाहता हो, वह उसे देवता बना देता है ।"[4] इस तरह पात्र उद्धरणों के माध्यम से अपनी व्यक्तिगत भावनाओं को किंचित् अवैयक्तिक बनाने में समर्थ हो सके है । इसके अतिरिक्त अभिव्यक्ति की पूर्णता का भाव भी रहता है—काव्य पंक्तियों में भावों का जैसा पंजीपन सम्भव है वैसा साधारण वाणी में नहीं । और यदि उद्धरण किसी प्रसिद्ध महान् व्यक्ति का हुआ तो अपने महत्व की मुहर से वह पात्र की अभिव्यक्ति को और भी बलशाली बना देता है । बाबा राम के इन विभिन्न उद्धरणों में जहाँ उनका कर्मण्य व्यक्तित्व आ गया है, वहाँ दूसरों की वाणी में आकर उनके उपदेश, आदेश नहीं संदेश बन गए हैं :—

(क) सकल पदारथ या जग माहीं
कर्महीन नर पावत नाही ।[5]

(ख) 'जोगः कर्मसु कौसलंग'[6]

(ग) मन लोभी मन लालची मन कामी मन चोर ।
मन के मत चलिये नहीं पलक-पलक मन और ।[7]

(घ) राम के न स्याम के, हम सदा अपने काम के ।[8]

ये उद्धरण पात्रों की मानस-दशा की अभिव्यक्ति के साथ वातावरण-विधायक

---

१. पृ० ४४६ । २. २६६ । ३. पृ० १८८ । ४. पृ० १६६ ।
५. ४७६ । ६. पृ० ४८० । ७-८. पृ० २६४ ।

तथा उद्दीपक भी बन जाते है। जवान दाढ़ी वाले फकीर ने बड़े मौके से अपनी ठस आवाज़ और पछाई लहज़े में यह कवित्त उठाकर गोमती किनारे की शाम में बड़े महानुभावों की भाँगबूटी की महफिल को और भी रंगीन बना दिया—

अधेली की बूटी, मिरच दमड़ी की लै लई।
मसाला पैसे का रगड़ कर गोली कर लई।
लाओ साफी, पानी, गबड़ कर छानी जहर में
पियैगा जो कोई हर-हर जपैगा लहर में।[1]

सारांश में उद्धरण-शैली के द्वारा नागर जी बड़ी वास्तविकता से पात्रों की विभिन्न मनोदशाओं की व्यंजना के साथ उनका चरित्र-प्रकाशन भी कर सके हैं।

एक स्थान पर कलाकार पात्र के तात्कालिक रचना-निर्माण द्वारा उसकी मनोदशा तथा प्रेम-भावना का कुशल प्रकाशन हो सका है; ब्रज-मथुरा में सज्जन कविता-कहने को बीच में ही छोड़कर कहने लगता है—".. ए कन्या, जस्ट फार ए सेकंड .. खड़ी हो जाओ" और वह स्कैच बनाता है—"कन्या—श्रीराधा—कृष्ण के वेश में, मोर मुकुट, गुंजमाल, पीताम्बर बाएँ हाथ में लकुटिया। चित्र में दाहिनी ओर दो हाथ—श्रीकृष्ण के हाथ—बाँसुरी अर्पित कर रहे हैं। श्रीराधा—कन्या—की आंखों में लाज, होठों पर दबी मुस्कान, त्योरियों में रोष, शरीर की त्रिभंगी मुद्रा और दाहिने हाथ की मना करती हुई उंगलियों में यौवन की चपलता है।" चित्रकार की तरह साहित्यकार की रचनाओं में भी उसके चरित्र का प्रकाशन होता है। यहाँ महिपाल की कहानी तथा उसके एक उपन्यास की रूपरेखा मिलती है। किन्तु इनके द्वारा अधिकांशतः महिपाल का विचारात्मक व्यक्तित्व ही सामने आ सका है। उद्धरणों तथा सृजनात्मक कृतित्व के नाटकीय चरित्र-चित्रण से इतर स्वयं लेखक ने भी पात्रों के सार-संक्षेप दिए हैं। फिर भी "बूँद और समुद्र" में अन्य पात्रों के मतों या टीका-टिप्पणियों तथा पात्रों की आत्म-स्वीकारोक्तियों में उल्लेखनीय चरित्र-चित्रण मिलता है। अन्य पात्रों के मत इसलिए विश्वसनीय हैं कि ये सही अवसरों पर, निष्पक्ष पात्रों के द्वारा, प्रायः उन आलोच्य पात्रों के पीछे दिए गए हैं। ऐसे निष्पक्ष पात्रों में कर्नल का सर्वप्रथम स्थान है, जो मित्रों का साथ दे सकता है किन्तु उनकी बुराइयों का साथ देने से साफ इन्कार करने की हिम्मत रखता है; और साथ ही व्यर्थ की आशंकाओं-विरोधों को दूर कर अपने मित्रों के पारस्पारिक सम्बन्धों में संतुलन रखने के लिए कृत-संकल्प रहता है। उदाहरणतया, सज्जन की दुर्बलताओं के कारण उससे दूर होती हुई वनकन्या को कर्नल, महिपाल और सज्जन के सम्बन्ध में "बिना पक्ष लिए साफ़-साफ़" मत देता है—वह सज्जन को महिपाल से ज्यादा पाएगा, और "दूध

१. पृ० २६६।

घुला न होते हुए भी बुरा आदमी नहीं" बताता है।[1] जब सज्जन ईर्ष्या से ऊपर उठकर, महिपाल पर अभियोग-चलाने का संकल्प त्याग कर, बिना बुलाए, पुराना मित्र होने के नाते, महिपाल की भाँजी की शादी पर चला आता है तो बच्चों का-सा निश्छल कर्नल अपनी आवेगज प्रतिक्रिया को रोक नहीं पाता; कहता है—"सज्जन तुम महान हो! मैं महिपाल के मुंह पर कहता हूँ उसमें तुम्हारे जैसी ग्रेटनेसता (बड़प्पन) है ही नहीं।"[2] सज्जन और शीला महिपाल को 'भोला' बताते हैं। साथ ही सज्जन उसे 'अस्थिर बुद्धि' का कहता है।[3] महिपाल को ताई में भारतीय जीवन का विरोधाभास दिखाई देता है।[4] कहीं-कहीं अन्य पात्रों के सम्बन्ध में दूसरों के मत, उनके आत्मचिंतन का अंग बनकर भी आए हैं; जैसे, वनकन्या कर्नल को 'शाह खर्च' समझती है।[5] लेखक द्वारा पात्रों के चरित्र की आलोचना करने की बजाय, उनकी ये आपस की टीका-टिप्पणियाँ अधिक प्रभावपूर्ण हो सकती हैं, क्योंकि ये पात्रों के अपने 'अनुभवों'[6] पर आधारित है। इसके अतिरिक्त आत्मग्लानि से पीड़ित, अपने बोझ को हल्का करने के निश्छल क्षणों में पात्र अपनी भावाविष्ट मार्मिक स्वीकारोक्तियों में अपनी बुराइयों को स्वीकार कर अपने सम्बन्ध में ही नहीं, दूसरों के सम्बन्ध में भी निर्दोष मत देते हैं।[7] और ईमानदारी के क्षणों में जब महिपाल-जैसे पात्र नशा भी कर लेते हैं तो वह मानों सम्मोहित से होकर सच्ची बातें ही कहते हैं[8]। इन स्वीकारोक्तियों से महिपाल-जैसे जटिल पात्रों के उन कार्यों का विश्लेषण हो जाता है, जो वे अपने सिद्धांतों के विपरीत करते हैं। वस्तुतः ऐसे जटिल पात्रों का मात्र उनके कार्यों के आधार पर, पूर्ण मूल्यांकन हो ही नहीं सकता। ऐसी स्थिति में, विशेष क्षणों की आत्मस्वीकारोक्तियों में पात्र के अवचेतन मन में धंसे हुए भाव बाहर आकर उनके असंगत कार्यों का विश्लेषण कर देते हैं। सारांश में लेखक ने चरित्र-स्पष्टीकरण तथा विश्लेषण की अनेक विधियों के प्रयोग से पाठकों को पात्रों के सम्बन्ध में अपनी धारणा बनाने के लिए कुछ नहीं छोड़ा। ऐसा होते हुए भी लेखक पात्रों के सम्बन्ध में अनाश्ववक वक्तव्य देने से बच नहीं सका उदाहरणतया अन्त में कहा गया है कि दोनो पति-पत्नी (सज्जनः कन्या) अपनी आस्था पर डटे रहेंगे। यह पाठकों की ग्राहक कल्पना पर अनावश्यक अविश्वास लेखक की स्थूल कला का परिचायक है।

'बूँद और सनुद्र', में देशकाल के चित्रण पर लेखक का विशेष आग्रह मिलता है। काल की दृष्टि से उसने स्वातन्त्र्योत्तर भारत के प्रथम चुनाव १९५३ के कुछ पहले—१९५१ के अंत—और कुछ बाद की परिस्थितियों को चुना है। और देश—

१. पृ० ३८६। २. पृ०५९८। ३. पृ० ४६६। ४. पृ० ४३६।
५. पृ० ३८९। ६. पृ० ५८६। ७. पृ० ५५४। ८. पृ० ५५३-५४।

कथा-क्षेत्र—की दृष्टि से उसने लखनऊ और उसमें भी खास तौर पर (मुहल्ला) चौक—को।[१] केवल दो-तीन परिच्छेदों में कथा मथुरा-वृन्दावन भी गई है, जो गौण है। लेखक ने लखनऊ की प्रत्येक रंगत को उतारने का प्रयत्न किया है। इसके लिए उसने अनेक साधन अपनाए हैं, जिनका उल्लेख लेखक ने इस प्रकार किया है—"एक तरफ जहाँ शहर का 'असलीपन' दरसाने के लिए मैंने यहाँ के अनेक नये-पुराने नागरिकों,[२] अखबारों,[३] संस्थाओं और स्थलों[४] के वर्णन किये हैं, यहीं नहीं बल्कि कथाक्षेत्र के काल में नगर में होने वाली बहुत-सी घटनाओं का जिक्र किया है, वहाँ ही सारा चित्रण कहानी से गुंथ कर बेलौस भी है"।[५] इसके अतिरिक्त लेखक ने लखनऊ की मस्तीयम शाम का परिचय देने के लिए गोमती के तट पर 'अलमस्तों की भीड़'[६] जुटाई है, जहाँ 'भांग-बूटी के साहित्यिक आयोजन'[७] हुए हैं— भांगबूटी पर कविताएँ तथा शृंगारिक कवित्त चले हैं। चौक के चौराहे में या पीपल के चबूतरे—जिसका व्यौरेवार वर्णन किया गया है—पर बैठे, और आने-जाने वाले लोगों की मजलिसें कराई गई हैं, जिससे लखनऊ के विभिन्न स्तर के लोगों की बोलीवाणी की विविधता ही सामने नहीं आई, इससे उस समूह-चरित्र का प्रकाशन भी हो गया है, जो नगर-मुहल्ले में घटने वाली हर बात पर अपनी प्रतिक्रियाएँ व्यक्त करता है। कुछ पात्रों की वाणी में यों ही एक खास गाली का प्रयोग तथा 'अमाँ', 'अबे', 'उस्ताद', 'यार', 'गुरु' आदि के सम्बोधन मानों लखनवी रंगत के लिए हैं। यही नहीं लेखक ने महिपाल के आत्म-चिंतन में संक्षिप्ततः लखनऊ का इतिहास भी दे दिया है[८]। अपनी घनिष्ठ-सम्पृक्त, आनुभूतिक भूमि होने के कारण ही नागर जी ने लखनऊ को चुना है—और यह उनकी सफलता का एक रहस्य है—अन्यथा मात्र लखनऊ का ही चित्रण उन्हें अभीष्ट नहीं, भारत के एक प्रतिनिधि नगर का चित्रण उनका लक्ष्य है। उनका यह कथन इस लक्ष्य की ओर इंगित करता है—"उपन्यास के क्षेत्र के रूप में मैंने लखनऊ और उसमें भी खासतौर पर चौक को उठाया है। यह इसलिए किया कि नागरिक सभ्यता की परम्परा दिखाने में, बोली-बानी का रस घोलने में मुझे सबसे अधिक सुभीता यहीं हो सकता था।"[९] उपर्युक्त 'नागरिक सभ्यता की परम्परा' दिखाने के लिए वह बहुत दूर तक पहुँचा है। वह लखनऊ के इतिहास से भारत में नागरिक सभ्यता के इतिहास तक पहुँचा है। उसने चौक-समूह के विभिन्न पात्रों की अपनी-अपनी सुनाने की आदत के रूप में, विभिन्न रंजक किस्से-कहानियों में—'सिनेमा के दृश्यों की तरह'—नगर के बहुसंख्य मध्यवर्ग, तथा नए युग के

१ 'पाठकों से'। २. पृ० ३७०। ३. पृ० २७५। ४. २७, ३३वाँ परिच्छेद।
५. 'पाठकों से'। ६. पृ० ४२६-२७। ७. पृ० २५७। ८. पृ० २२७।
९. पाठकों से'।

निर्माण के आदिकाल को दिखा दिया है।[1] एक पात्र के उत्सव का प्रसंग निकाल कर, नागरिक लोक-गीतों का ऐसा रंजक तथा साभिप्राय कार्यक्रम प्रस्तुत किया है कि पिछले सौ वर्षो के 'बदलते ज़माने' की झाँकी मिल गई है;[2] इस दृष्टि से कुछ निम्न गीतांश आस्वादनीय हैं—

(क) सदा तू तू न मुझको सुनाया करो,
माई डियर कह के बुलाया करो।
पढ़ गई इंगलिश मुझे फ़ैशन से रहना चाहिए,
मेरे कहने में तुम्हें भी मन से रहना चाहिए।...
बर्तनों को मांजने से हाथ काले पड़ गए,...
चल के होटल में खाना खिलाया करो।

(ख) फूल गुलदस्ता खिला मेरी जान।
जब से चला है किलिप लगाना।
कदर बेंदी की गई मेरी जान॥

(ग) कलजुग तो आया बड़ी घूम से, बहुएँ हो गई ददिया दास।

(घ) राजा तुम गए कालेज पढ़ने, मेरी उमर गुज़र गई पीहर में।

कहीं समाचार पत्रों के विवरण और कहीं पात्रों को रेडियो के समाचार सुना कर तथा कहीं अपनी लेखनी से—किन्तु सर्वत्र संक्षेप में—देशीय तथा अन्तर्देशीय स्थिति की जानकारी दी गई है।[3] पात्रों की भीड़ इसीलिए मिलती है ताकि विभिन्न वर्ग-व्यवसाय, शिक्षा-संस्कृति के लोगों से नगर की सम्पूर्णता का आभास दिया जा सके। जिस चौक के चित्रण को यहाँ अधिक स्थान मिला है, उसका सबसे बड़ा पात्र है ताई, जिसके चरित्र के माध्यम से 'भारतीय जीवन के विरोधाभास' को प्रस्तुत किया गया है और सज्जन तो उसे भारत-माता[4] ही कह देता है। इसके अतिरिक्त लेखक ने सज्जन के रूप में ऐसे नायक की सृष्टि की है जो अपनी कला की उन्नति के लिए समाज के अध्ययन एवं घनिष्ठ सम्पर्क का आकांक्षी है, इसलिए वह अपनी कोठी को छोड़कर चौक में एक ऐसा कमरा लेकर रहता है, जो आस-पास की बस्ती में सबसे अधिक ऊँचाई पर है—जिससे नीचे के बसे हुए मकानों में चहल-पहल भरे जीवन की झाँकी और उससे आगे चार मुहल्लों के चौराहों पर बसे हुए बाज़ार, तथा नाना विधि के कार्यक्रम देखने-सुनने को मिल सकते हैं[5]। लेखक ने एक विशेष परिच्छेद में, सज्जन को इस कमरे की खिड़की से समाज की गतिविधि को देखने में मन रमाते दिखाया है और इसके बहाने सामाजिक चित्रण कर दिया है।[6] किन्तु

१. पृ० ५४५-४८। २. पृ० ५० वाँ परिच्छेद ३. पृ० १४०-४२ ४. पृ० १७६।
५. पृ० ५६७-६८। ६. ६४ वाँ परिच्छेद।

इस बहाने का भी एक लक्ष्य है—पात्र को "प्रश्नों और आत्मसमाधानों के भंवर"[1] में डालना। यही लक्ष्य प्रायः सर्वत्र है। एक-एक लोकगीत भी पात्रों की बहस का आधार बनता है तथा लखनऊ के अनेक स्थानों को देखकर महिपाल का चिन्तन ही आलोड़ित हुआ है।[2] चौक के चौराहे में अनायास हो जाने वाली विभिन्न पात्रों की मजलिसों में भी सज्जन अवश्य विद्यमान रहा है, क्योंकि इन गली मुहल्लों में उसे वास्तविक कैरेक्टर्स दिखाई देते हैं। समाज की जिन बहुविध परिस्थितियों का चित्रण हुआ है, उन्हें किसी-न-किसी रूप में मुख्य पात्रों—उनके चरित्र-चित्रण—से सम्बद्ध करते हुए, उनकी प्रतिक्रियाओं के माध्यम से 'विचार-तत्व' के समावेश पर दृष्टि रखी गई है। उदाहरणतया, राजनैतिक परिस्थितियों को वनकन्या की भावज के जल मरने और आगे इस अन्याय-प्रतिकार के आयोजनों से सम्बन्धित कर दिया गया है। इससे मुख्य पात्रों का चरित्र भी सामने आया है। जगदम्बासहाय के केस के लिए कुछ सामग्री जुटाने के जिस लक्ष्य से कथा मथुरा-वृन्दावन ले जाई गई है, वह तो नितांत गौण है, वास्तविक लक्ष्य तो धार्मिक विकृतियों का परिचय देना और किन्हीं पौराणिक मान्यताओं की बौद्धिक व्याख्या करना है। किन्तु नायक-नायिका के चरित्र-विकास की दृष्टि से भी ये परिच्छेद महत्वपूर्ण हैं जिनमें मथुरा-वृन्दावन के वातावरण का निश्चित प्रभाव मिलता है। कुल मिलाकर देश-काल के व्यापक—किन्तु 'रेणु' के उपन्यासों के विपरीत चयनित—चित्रण ने कथानक को वास्तविकता दी है, पात्रों को यथार्थ पृष्ठभूमि, अपार विचार राशि के समावेश की सुविधा तथा समग्र व्यंजना की दृष्टि से व्यष्टि-समष्टि-समन्वय की अनिवार्यता भी सिद्ध की है। जैसाकि स्पष्ट किया जा चुका है, देश-काल के चित्रण के अधिक आग्रह ने कथानक की गति को मन्द अवश्य कर दिया है।

डॉ० रामविलास शर्मा ने उपन्यास के नामकरण को भी चौक के द्वारा व्यापक सामाजिक चित्रण से सम्बद्ध कर दिया है। उनके अनुसार "यह मुहल्ला (चौक) एक बूँद की तरह है जिसमें समुद्र की तरह विशाल भारतीय जीवन के दर्शन होते हैं। शहर के विभिन्न स्तरों का ज़ीवन कैसा है, इसका पता तो उपन्यास से लगता ही है; गाँवों में भी जनता के संस्कार वैसे हैं, इसका परिचय बहुत-कुछ इस कथा से मिल जाता है। उपन्यास के नाम की यही सार्थकता है; एक मुहल्ले के चित्र में लेखक ने भारतीय समाज के बहुत से रूपों के दर्शन करा दिए हैं।"[3] यदि शर्मा जी लिखते कि शीर्षक की 'यह भी सार्थकता हो सकती है' तो हमें आपत्ति न होती, 'यही सार्थकता' से हम एकांत असहमत हैं। कम से कम लेखक को यह अभीष्ट नहीं—उसने उपन्यास के प्रमुख पात्रों—बाबा राम जी, सज्जन, वनकन्या, महिपाल

---

१. पृ० ५७०। २. पृ० २९७-९८। ३. "आलोचना" २०, पृ० ८२।

से व्यष्टि-समष्टि-समन्वय-सिद्धान्त के आधार पर ही इस प्रतीक-शीर्षक का साभिप्राय स्पष्टीकरण किया है। शर्मा जी ने साधन को साध्य का दर्जा दे दिया है—मात्र चित्रण उपन्यासकार का लक्ष्य नहीं, विचारोद्‌बोधन करते हुए एक विशेष दिशा-दर्शन उसका अभीष्ट है।

'बूँद और समुद्र' में वर्णन, चिन्तन और विश्लेषण के साथ वार्तालाप समुचित मात्रा में ही नहीं आए, महत् विशिष्टता भी रखते हैं। अंचलीय एवं मनोवैज्ञानिक चरित्र-चित्रण तथा पात्रों की सजीवता में इनका उल्लेखनीय योगदान है। इसके अतिरिक्त विचार-प्रकाशन के आधे भाग का बोझ भी इन पर हैं। इसलिए कथानक को गति देना इनका गौण लक्ष्य है किन्तु इस क्षति को यह अपनी अपार रंजन-शक्ति से पूरा करते हैं। पात्रों की भाषा-शैली की अद्‌भुत विविधता, हास्य, विनोद-व्यंग्य, वाग्वैदग्ध्य, प्रत्युत्पन्नमतित्व, मार्मिकता, रसोक्तियाँ, तथा उद्धरण इन संवादों की रंजकता के उपकरण हैं।

क्षेत्रीय चरित्र-चित्रण, चरित्रगत स्वाभाविकता, तथा बहुसंख्य पात्रों की आपसी पृथकता की पहचान करने के लिए नागर जी ने अनेक पात्रों को अपनी-अपनी भाषा देने की अतुल क्षमता को प्रमाणित किया है। इस सम्बन्ध में डॉ० रामविलास शर्मा का सविस्तर मत उल्लेखनीय है। "...यहाँ एक शैली और एक व्याकरण का प्रयोग करने वाले पात्र नहीं हैं; प्रायः जितने पात्र है, उतनी तरह की शैलियाँ और उनके अपने-अपने व्याकरण हैं। लखनऊ में विभिन्न जनपदों से सिमटकर जनता एकत्र होती रही है। उसने अपनी बोली-बानी एक हद तक सुरक्षित रखी है, एक हद तक दूसरों की भाषा से, यहाँ तक कि अंग्रेज़ी से भी, प्रभावित भी हुई है। अमृतलाल नागर द्वारा किया हुआ एक मुहल्ले का यह 'लिंग्विस्टिक सर्वे' भाषा-विज्ञान की सामग्री का अद्‌भुत पिटारा है। अभी तक किसी भी देशी-विदेशी भाषा में एक नगर की इतनी बोली-ठोलियों का निदर्शन करने वाला उपन्यास मेरे देखने में नहीं आया। इन शैलियों में भाषा और समाज का इतिहास बोलता है। इसके अतिरिक्त कला की दृष्टि से व्यक्ति का कम से कम पचास फीसदी उसकी शैली से प्रकट होता है। जहाँ तक हास्यरस का सम्बन्ध है—केवल शुद्ध हास्य नहीं, विनोद, मनोरंजन, वक्रोक्ति, व्यंग्य सभी कुछ – उसकी निष्पत्ति सौ फीसदी इस बोली-ठोली और शैली पर निर्भर है। पुरानी चाल की माता जी की आउत-जाउत मिश्रित खड़ी बोली—"जो जिसकी-जिसकी समझ में आउत है वही करत हैंगे। कल को हमारे शंकर एमे पास करके अपसर होयेंगे, उनकी बहुरिया पुरानी चाल से चले तो किरकिरी न होय ?" हाथरस की ताई की ब्रज का पुट लिए हुए खड़ी बोली—"निगोड़ी सब की सब मेरी छाती पे ही मूंग दलने आये हैंगी। सात जलम की

दुस्मन मरी, गली-गली घूमकर मेरे घर बच्चे पकरन आई रंडो। अरे तन-मन में कीड़े पड़ेंगे, सरदी की रात में दौड़ा मारा।" लखनऊ के पुलिसमैन की अंग्रेज़ी-अवधी मिश्रित हिन्दुस्तानी—"कोतवाली को वैरलेस कर दिया हुजूर! मिरजा जी अटेण्ड कर रहे थे हुजूर, तौन उन्होंने मिसेज दिया कि अस्पताल की गाड़ी भिजवाते हैं हुजूर।" जगह-जगह घूमते हुए अवध के साधु की हिन्दी—"पूर्व आश्रम में हम मोटर-मिकैनिक रहे! अन्त में मालिक की चाकरी से छूटकर विंध्याचल में रम गए। त्रिकुटी में ध्यान साधा, निर्जल, निराहार रहे—जाने क्या-क्या अण्ट-सण्ट किया। वहाँ एक महात्मा के दर्शन हुए। तौन उन्होंने कहा कि ड्यूटी बजाना छोड़कर यहाँ का ढोंग करता है—जा सेवा कर।···"कथा बाँचने वाले पण्डित जी की भाषा—"सूत जी बोलेम् कि हे जिजमान सुनौ, एक समय जो है सो नारद जी बैकुण्ठे लोक के बीच में लक्ष्मीपति बिस्नू भगवान् के पास जाय के कहत भएम् कि···" इस तरह की दो-चार नहीं बीसों भाषा-शैलियाँ हैं जिनके अत्यन्त रोचक उदाहरण 'बूँद और समुद्र' में मिलेंगे।···अमृतलाल नागर के हास्यरस का दृढ़ आधार यही यथार्थ जीवन है। उनके मनोरंजक संवाद हास्य की सृष्टि करने के अतिरिक्त चित्रण की सजीवता की छाप मन पर छोड़ते हैं।"[1]

चौक के चौराहे में बैठे विभिन्न पात्र जब एक-समान विषय या स्थिति पर अपनी-अपनी प्रतिक्रियाएँ व्यक्त करते हैं तो इनके कथोपकथनों से एक समूह-चरित्र निखर आता है। किन्तु अपनी-अपनी बोली-बानी तथा अपने-अपने अनुभावों की छाप लिए ये प्रायः वर्गीय पात्र अलग-अलग भी पहचाने जा सकते हैं।[2] नागर जी के संवादों में 'रेणु' जी की अपेक्षा पात्रों का निजीपन अधिक झलकता है, जो चरित्र-प्रकाशन के अनुकूल है, और 'रेणु' जी में अपेक्षतया स्थानिकता अधिक है, जो उनके आँचलिक उद्देश्य के अनुकूल है।

कहीं-कहीं लेखक विभिन्न पात्रों के नाम और उनके कथनों को उद्धरण-चिह्नों में न रख समवेत कथन देता है, जिससे एक विषय पर चर्चा करते सामान्य समाज का चित्र सामने आ जाता है। उदाहरणतया, 'बड़े घरों में किसी की तबियत खराब होने पर चार फिकरमन्द चेहरों की फुसफुसाहट एक में मिलकर जम्हूरियत का रंग दे देती है, इस मौके (सर द्वारका दास के पोते को सहसा तेज बुखार चढ़ आने पर) पर इस घर में भी ऐसा ही हुआ—"कैसे आ गया बुखार? अभी तलक तो बिल्कुल अच्छे-भले थे। उनका चेहरा तो सबेरे से ही कुम्हलाया-सा था—अरे, ये मरी उसी डायन की करतूत है। मैंने तो रानी माता जी से पहले ही कह दिया था कि उसके यहाँ सगुन की थाली न भेजिए—अरे मैं क्या करती? सरकार जी ने कहा कि, जब तक वह

१. "आलोचना" २०, पृ० ८३-८४। २. आठवाँ परिच्छेद।

जिन्दा रहेंगी, उनका वही मान रहेगा। मेरे बाद भी तुम्हें जनम भर ऐसे ही निभाना होगा।—पर माता जी, सुखदेई की बात ठीक है। बड़ी माता—भाड़ में गई बड़ी माता, वो हमारी होती ही कौन हैं? उस डायन ने ही ज़रूर मेरे बच्चे पर कुछ जादू-टोना किया है।"[1]

वार्तालाप की पात्रानुकूलता शब्द-चयन तक सीमित नहीं, ये पात्रों की मनःस्थिति, परिस्थिति, शिक्षा-संस्कृति, तथा तदनुकूल शैली तक विस्तृत है—शब्दों के प्राकृत जन-संस्करण, या लोकोच्चारित रूप, अधूरे-टूटे शब्दों-वाक्यांशों की आवृत्ति[2], लिखने की बजाय बोलने के सुविधाजनक क्रमानुकूल वाक्य-विन्यास, यति-गति-सूचक अन्तराल चिन्ह, साभिप्राय मौन[3] आदि इस शैली के उपकरण हैं। ये शैली कहीं द्रुत, कहीं क्षिप्र, कहीं मन्द्र, और कहीं मात्र कुछ स्फुट शब्दों के क्रिया-विहीन वाक्यों से निर्मित है। उदाहरणतया, गुस्से में बेहोश, लड़ते हुए मनिया की स्थिति उसकी क्षिप्र कथन-शैली में द्रष्टव्य है—"हिस्से वाले साले ..(गाली ..(गाली)...मैं घर में आग लगा दूँगा, फूँक डालूँगा, मा'ड्डालूँगा।" ··छोटी बड़ी की बाँह हिला कर उसे उठाने लगी। मनिया चिल्लाया—"छोड़ उसे। जा यहाँ से। छोड़ो मुझे—छोड़ दो। मारूंगा सालों को दोनों सालियों को मा'ड्डालूँगा—छोड़ दो मुझे! छोड़ो—"[4] भर्राए हुए स्वर में बड़ी बोलती है तो शैली मन्द्र होकर टूट जाती है—"मनुः को अम्मा जी सम्हाल लेंगी!—मेरी बिट्टी को सम्हालना! मेरी बिट्टी—बी—ट्—टी—" कहते-कहते बड़ी की दन्ती भिच गई; उसे गश आ गया।"[5] महिपाल का रुदन शब्दों की आवृत्ति करने लगता है—"..भोले! ऐसी मौत न देना किसी को–किसी–किस्सी–किसी को नहीं!"[6] बाबा राम जी तथा कर्नल-जैसे कुण्ठा-मुक्त सबल पात्रों के कथनों में सरला, सीधापन तथा कुछ मस्ती मिलती है; किन्तु जिस विद्रोही महिपाल को 'हीन भावना के दौरे' पड़ते रहते हैं, वह अनेक स्थलों पर व्यंग्य-वक्र शैली की तीक्ष्णता में 'अहं के गुब्बारे' फोड़ता रहता है।[7] तात्पर्य यह है कि ये कथोपकथन पात्रों के अन्तर्मन की घुमड़न तथा उनकी अचेतन ग्रंथियों को प्रतिबिम्बित करने में सक्षम है। एक मनोवैज्ञानिक प्रसंग लीजिए—अपनी प्रेयसी वनकन्या की चरित्र-दृढ़ता को स्खलित करने की स्वेच्छाचारिता में असफल-आहत, तथा किसी अन्य से काम-तृप्ति की अपनी चरित्र-हीनता की कुण्ठा से चिढ़े-रुष्ट सज्जन को जब वनकन्या मनाने आती है वह उसे अपने अहंकार में झाड़ने-सा लगता है किन्तु इसी क्रम में वह वनकन्या के स्थान पर चित्रा का नाम ले जाता है। जब वनकन्या पूछती

१. पृ० १३। २. पृ० ३९१। ३. पृ० ३९५। ४. पृ० ३२५। ५. पृ० ३२८।
६. पृ० ९३।
७. पृ० ३६-३७। व्यंग्य-वार्ता की रजकता के लिए ४१वाँ परिच्छेद द्रष्टव्य है।

है—"ये चित्रा कौन है ?"—"छोटा सा सवाल सज्जन की गर्जना से कहीं अधिक बलवान था, उसके लिए अपना गुस्सा ही घातक बन गया। वह कन्या के प्रश्न का उत्तर न दे सका।"[१] एक नाम को भूलने और उसके स्थान पर दूसरा बोल जाने की ग़लती को दोनों पात्र गम्भीरता से लेते है क्योंकि वह सामान्य व्यक्ति के समान इसे मात्र जिह्वा-स्खलन (slip of the tongue) न समझ, इसके मनोवैज्ञानिक रहस्य को पहचानते हैं—इससे अनजान में सज्जन की वह दबी दुर्बलता सामने आ गई है जिसे वह वनकन्या से छिपाना चाहता था।[२] इस अनजाने प्रतिस्थापित नाम का विस्मृत नाम के साथ सीधा सम्बन्ध है।[३] अब इस उपर्युक्त वेश्या-सी चित्रा का प्रसंग लीजिए जिसको सज्जन अपनी भड़ास निकालने के लिए परेशान करना चाहता है। इस प्रसंग में, चित्रा की अन्तर्वेदना की मार्मिक तथा तार्किक विदग्धता से नारी-जीवन की सामाजिक विषमता, सज्जन की चारित्रिकता, तथा स्वयं उसकी सजीवता सामने आ गई है :—

"अपने भविष्य के बारे में तुम्हारा क्या प्लान है ?"

"जब तक तुम पैसा दोगे तब तक किसी प्लान की ज़रूरत नहीं। उसके बाद कोशिश करूँगी कि किसी और से मेरे खाने-खर्च का सिलसिला बँध जाय।"

"उसके बाद ?"

"उसके बाद फिर कोई और नया !"

"लेकिन तुम पुरानी हो जाओगी। तब क्या करोगी ?"

"अपने आखिरी प्रेमी को जहर देकर खुद फाँसी पाने का सपना बरसों से देख रही हूँ।"

"कितनी क्रूर और पतित हो तुम। मैं तुमसे नफ़रत करता हूँ।"

"तुम प्रेम ही कब करते थे जो तुम्हारी नफरत से डरूँ ? मुझे किसी से प्रेम मिला ही कब जो मैं उसकी कद्र करूँ ?"

"तुमने कभी किसी से यह चाहा ही नहीं !"

---

१. पृ० ३६१।

2. A. A. Brill: "Introduction", 'The Basic Writings of Sigmund Freud' "The average person readily accepts such excuses, not realizing that by the slip of the tongue the speaker has unconsciously betrayed his resistance to something in the present situation."

3. Freud: "The Basic Writings of Sigmund Freud", trans. by A.A. Brill, p. 35. "I assume that the substitutive name (or nas(em stand in direct relation to the lost name."

"क्या तुमने कभी किसी से चाहा है ?"

सज्जन अटका, फिर बोला—'हाँ !'

"और तुम्हें प्रेम मिलता है ?"

सज्जन इन्कार न कर सका।

"किससे ?"

"इससे तुम्हें बहस नहीं।"

"मैं जानती हूँ। मैं ही नहीं सारा शहर-पर-खैर—न सही। क्या तुमने भी उसे अपना प्यार दिया ?"

सज्जन उलझन में पड़ गया; वह पैदली मात खा गया था..."[1]

अन्त में एक रंजक और अन्ततः गम्भीर हो जाने वाला संवाद लीजिए, जिसमें चरित्र-प्रकाशन, संक्षिप्तता, उद्धरण-शैली तथा प्रत्युत्पन्नमतित्व का संयुक्त सौंदर्य मिलता है :—

सज्जन ने कहा —"कामरेड, कुछ पेड़े इन्हें और डाल दो।"

"अब नहीं। नीचे हमारा टैक्सी ड्राइवर भी है।"

"क्यों, वह अपने खाने का इन्तज़ाम करके आया होगा।"

"फिर भी—बेचारा नित्यप्रति तो फल मिठाई पाता नहीं होगा।"

"और ये बन्दर कब रोज़ रोज़—"

"मेरे लिए पशुओं से अधिक मनुष्य का महत्व है।"

"कामरेड, गिरिराज पर आकर तो अपने इस प्राग्रसिविज्म को भूल जाओ न। जीवन सब में एक समान ही है।—

सब है समान
सब में एक प्रान
तज के अभिमान हरिगान—सिगरेट की तलब लगी है कामरेड।"

"तो पियो"

"नहीं जी। गोपाल की इस पवित्र भूमि पर—"

"सबै भूमि गोपाल की या मैं अटक कहाँ।—

"जाके मन में अटक है सोई—हः हः हः। कन्या बीबी, तुम से मैं हार गया।

हाथ जोड़ती हूँ महाराज, मेरे साथ हारजीत का व्यौहार न रक्खो

"क्यों ?"

"आज हारोगे तो कल मुझे जीतने के लिए भी उकसोगे। अपने इन

---

१. "बूँद और समुद्र", पृ० ३७२-७३।

आर्टिटिस्टिक मूडों से मेरी रक्षा कीजिये, दयानिधान !"

"..आर्टिस्ट की जीवन-संगिनी बनोगी और फिर आर्टिस्ट के मूड से बचकर भी रहोगी—"

"हाँ भाई। आर्टिस्ट के मूडों की रखवाली केवल चतुर वेश्या ही कर सकती है, गृहिणी नहीं—वह चाहे कितनी ही चतुर और कुशल क्यों न हो।" कन्या ने गम्भीर मुख बना कर कहा।[1]

इन कुशल-भाषी पात्रों के रंजक और सार्थक उदाहरण स्थान-स्थान पर बिखरे पड़े हैं। खेद है कि स्थानाभाव से ये दिए नहीं जा सकते।

जो लेखक अनेक पात्रों को उनको अपनी-अपनी भाषा-शैली देकर एक-दूसरे से पृथक् कर सका है, वह स्थानीय वातावरण तथा विविध भाव-रसों वाले उपन्यास का तदनुकूल परिवर्तनक्षम भाषा-शैलियों से कुशल निर्वाह भी कर सका है। इसके अतिरिक्त मुख्यतः अपने स्वभाव या व्यक्तित्ववश, तथा गौणतः बड़े उपन्यास की आवश्यकता के अनुकूल, वह भाषा-शैली में रंजकता का गुण भी स्थिर रख सका है। इन दोनों लक्ष्यों की पूर्ति के लिए उसने एक तो शब्द-भण्डार को अपनी उदार भाषा-नीति से समृद्ध किया है, दूसरे, उसने कवि-सुलभ शक्तियों एवं प्रसाधनों, तथा अपनी भावना की ऊष्मा से भाषा को सुन्दर एवं सप्राण बनाया है।

शब्द-भण्डार की दृष्टि से नागर जी की भाषा में हिन्दी-उर्दू भाषाएँ पर्याप्त निकट आ गई हैं। यहाँ संस्कृत के तत्सम, तद्भव शब्दों के साथ अरबी-फारसी के शब्दों का खुला प्रयोग हुआ है। ये शब्द आवश्यकतावश या हास्य-व्यंग्य की दृष्टि से नहीं आए—जैसा कि अन्य अनेक लेखकों में आए हैं—ये भाषा-शैली का सहज अंग हैं। यहाँ हिन्दी-उर्दू की गंगा-यमुना मिलकर सरस्वती बन गई है। अंग्रेज़ी के प्रायः बहुप्रचलित शब्द भी आए हैं। इसके अतिरिक्त यत्किंचित् प्रांतीय शब्दों—ओझ, ठौर, बरज, नेह, मई, उमग, नैन-सैन, हरख, घरोबा आदि—का उपयोग भी हुआ है। इस तरह एक हिन्दी-भाषी-क्षेत्र के स्थान, किन्तु साथ ही उर्दू साहित्य के प्राचीन केन्द्र; इसके अतिरिक्त एक प्रतिनिधि नगर के अनुकूल लेखक ने अपेक्षाकृत उदार भाषा-नीति को अपनाया है। किन्तु इससे यह न समझना चाहिए कि किसी नीति या दृष्टिकोण को स्थिर कर, उसे कार्य-रूप देने के प्रभाव में इस उपन्यास की भाषा-गठित हुई है। इसका सहज संतुलित प्रवाह, अकृत्रिम वाक्य-विन्यास तथा सुन्दरता इसका प्रमाण है कि यह भाषा लेखक की कला-चेतना का सहज अंग है। इस भाषा में प्रचलित मुहावरों का प्रयोग भी कम नहीं हुआ। शब्द-अर्थ दोनों प्रकार के अलंकारों का प्रयोग हुआ है। शब्दालंकारों में अनुप्रास तथा यमक की चमक

१. पृ० ३०१।

मिलती है तथा अर्थालंकारों में—चमत्कार की बजाय, स्पष्टता अर्थ-विस्तार तथा मूर्तता का लक्ष्य होने से—साम्यमूलक अलंकारों की प्रधानता मिलती है। उपमाओं का क्षेत्र पर्याप्त विस्तृत है—दैनन्दिन से लेकर पौराणिक, ऐतिहासिक तथा वैज्ञानिक क्षेत्र से उपमाएँ जुटाई गई हैं, जो लेखक के विस्तृत अनुभवों की द्योतक हैं। इनसे लेखक की भाषा में अनोखी गरिमा आ गई है। इसके अतिरिक्त लाक्षणिक अभिव्यंजना का सौन्दर्य भी स्थान-स्थान पर मिलता है। पात्रों के समान लेखक ने भी उद्धरणों के प्रयोग से शैली को सरस बनाया है। 'बूँद और समुद्र' की भाषा-शैली की रंजकता का मुख्य आधार है हास्य का रंजनकारी तथा व्यंग्य का सुधारात्मक तत्व। यह लेखक की सामान्य विशेषता है—उसके व्यक्तित्व का अंग। इनका व्यंग्य पैना होता हुआ भी गदला नहीं है। इसके अतिरिक्त कहीं-कहीं सारगर्भित-वाक्य शैली का मूल्य बढ़ाते हैं। आगे हम लेखक की भाषा-शैली के कुछ प्रतिनिधि उदाहरणों से उपर्युत विशेषताओं को प्रमाणित करेंगे :—

(क) विश्लेषण-सौन्दर्य—वियोग की मनःस्थिति का विश्लेषण—(१) "पानी से बाहर छिटक कर पड़ी हुई मछली की तरह कन्या तड़पती रही, मान के तीर—आँसू—भी तरकस रीता कर गए। जी हल्का हुआ; मगर खोखला हो गया, जिसे वह ठंडी आहों से भरती रही। एक भाव, एक रूप में तल्लीन होकर वनकन्या—एक पढ़ी-लिखी, तेज़-तर्रार, सबला नारी—काव्य में बखानी गई वियोगिनी बाला की तरह मति-गति-हीन होकर स्तब्ध हो गई। मार्क्स, गाँधी आदि का दर्शन, बहस-मुबाहसा, एलेक्शन, राजनीति, स्त्री-स्वातन्त्र्य, साहित्य, कला और संस्कृति—ज्ञान-विज्ञान भरी, हलचल भरी ऊपरी दुनिया से वह उसी तरह बेभान हो गई जैसे नींद में देह बिसर जाती है। मगर यह नींद, बेहोशी, या जड़ता न थी, एक ऐसे होश का जागरण थी जिस में इन्सान अपना आपा खोकर अपने आपको पा लेता है। विरहिन के नैनों ने ऐसी बेल बोई कि 'सींचत नीर नैन के सजनी, मूल पाताल गई।" इस समय कन्या-कन्या न थी, उसका अन्तर-बाहर एकाकार हो रहा था—और वह आकार सज्जन का था। इस समय सुधी ही उसका प्राण थी।"[1]

(२) संयोग शृंगार का विश्लेषित चित्र—"शीला की बांह के जुये से दो गर्दनें झुक गई। अंधेरे में झुकी चार आँखों में एक बल दमक रहा था—शीला की नज़रों में हीरे की कनी बनकर और महिपाल की आँखों में मुरझाते हुए गुलाब के फूल की तरह। शीला के होठों में भाव भरी गर्मी थी, और महिपाल के होठों में भाव का स्पर्श तो था, मगर जोश नहीं।"

(ख) वर्णन-सौन्दर्य—(१) कटी-फटी पतंगों, मकड़ी के जालों, घोंसलों,

१. पृ० २७८।

चिड़ियों, गिलहरियों और पीपल के दोनों से लदा अनगिनत इंसानों के चंचल मन-समूह-सा हहराया हुआ घना पीपल कई सदियों से मुहल्ले का साथी है। आज के बड़े-बूढ़ों के बचपन तक यह पेड़ गंगे भूरिये के भाड़ की पीपल कहलाता था। मगर वह दीवाल जो किसी समय, किसी गंगे भूरिए का वैभव थी, अब बाबू छेदालाल इंश्योरेंस-एजेण्ट की मिल्कियत है। म्युनिसिपैलिटी के रजिस्टर के अनुसार उस मकान का नंबर इस समय ४२० है जो सही तौर पर बाबू छेदालाल की ख्याति में चार चाँद लगाता है। + + +पीपल के नीचे मण्डप में विराजमान गदा पर्वतधारी डेढ़ फुटिया बजरंगबली का चमत्कार एकदम ऐसा बाक्स आफिस है, जो बस 'हिट' होते-होते ही रह गया।"[1]

(२) "हवाई जहाज़ चक्कर पर चक्कर लगाने लगे; तमाम शहर चक्कर में पड़ गया। जाड़े की रात; सन् बावन के पहले दिन ये पहेली-सा आसमानी हंगामा लोगों को अजीब तरह से चौंकाने लगा। पाँच मिनट तक हवाई जहाज़ यों ही चकरघिन्नयाँ लगाते रहे। बन्द होते हुए बाज़ार थम गये; सैंकडों-हजारों लिहाफ़ों की गर्मी विधवा हो गई। हाट-बाट, नुक्कड़, चौराहे, गली, छत छज्जे चहुंओर मनु की वंश-बेल फैलकर, शोर से फूलने लगी"।[2]

(३) "नये साल (सन् बावन) के नये दिन की रात इस तरह जगमगा रही है, मानों कोई सताई हुई वेश्या अपने मन की पीड़ा को मन ही में कसकर पेट के गाहकों को रिझाने की ख़ातिर पूरे साज़-सिंगार के साथ अपने छज्जे पर बैठी हो।"[3]

(ग) विशुद्ध हास्य—"सहसा लाले की घर वाले ने एटमबम की तरह बीच चौक में फूटकर भभूती के घर को हिरोशिमा बना दिया। .. पहले-पहले ही एटम बम फूट गया, तब अम्मा की मशीनगन ऐसी फिटफिट कहा-सुनी भला क्या असर करती ? भभूती कान में तेल डालकर चुपचाप दातून करता रहा। .. फिर ज्यों ही नंदो ने रणक्षेत्र में आकर गांडीव टंकारा तो शंकर और शंकर की बहू भी कमरे से बाहर आ गए। नंदो ने बड़े-बड़े ब्रह्मास्त्र छोड़े, अम्मा की फिटफिटया भी बीच-बीच दग जाती थी, मगर लाले की घर वाली ने वैज्ञानिक युग की तरह गाँडीव और ब्रह्मास्त्रों को खिलौना साबित कर दिया .."[4]

(घ) सज्जन अपने मन-दर-मन में बार-बार कन्या की देह को पाने के लिए उतावला हो जाता है, और कन्या का व्यक्तित्व उसे सौ हाथ पहले से ही 'बाअदब बामुलाहिज़ा होश्यार' कर देता है।[5]

विचार-प्रकाशन शैली के उदाहरण व्यष्टि-समष्टि-समन्वय-सिद्धान्त के विश्लेषण में दिए जा चुके हैं। सारांश में नागर जी की भाषा-शैली सरल-व्यावहारिक

१. पृ० ३६। २. पृ० १४७ ३. पृ० १४१। ४. पृ० २५। ५. पृ० १८१।

होते हुए भी साहित्यिक उत्कर्ष से मण्डित है।

समग्र विवेचन के बाद कहा जा सकता है कि 'बूँद और समुद्र' में अनुभूति के नए आयामों का समावेश तथा शिल्प के नए साधनों का विनियोग नहीं हुआ, किन्तु हिन्दी की औपन्यासिक परम्परा की एकांगिता का परिहार और परिष्कार हुआ है। प्रेमचन्द में व्यापक बहिरंग चित्रण है और अन्तर्जगत् एवं व्यक्ति-चित्रण की न्यूनता, और आगे के मनोविश्लेणात्मक उपन्यासों में अपेक्षतथा इस स्थिति की विपरीतता है। किन्तु 'बूँद और समुद्र' में अन्तर्बाह्य तत्वों का पर्याप्त संतुलित समन्वय हुआ है—व्यष्टि-समष्टि के समन्वित विकास की मूल दृष्टि इसके शिल्प-निर्माण में भी प्रतिबिम्बित है—और यही इस उपन्यास की महत्ता एवं हिन्दी के मुख्य उपन्यासों में परिगणनीय विशिष्टता है। उद्देश्यप्रधान होते हुए भी यह उपन्यास अन्य सभी तत्वों के समुचित आह्वान में समर्थ हो सका है। इसमें विचारों के साथ वेदना है, सामयिकता के साथ चिरन्तनता, समाज-चित्रण के साथ व्यक्ति-चित्रण, अपार चरित्र-त्रैविध्य के साथ स्मरणीय पात्रों की सर्जना, स्थानिकता के साथ व्यापकता, विशालता के साथ अगाधता, प्रसादन के साथ परिष्कार की शक्ति तथा अभिव्यंजना (संवाद एवं भाषा-शैली) की महती चारुता भी। इतने गुणों में पात्रों एवं समस्याओं के सम्बन्ध में कहीं-कहीं अनावश्यक वक्तव्य देने-निलाने या चिंतन कराने की बोझिल प्रवृत्ति; तथा उपन्यास के मूल उद्देश्य में समुचित योग न देकर अपनी रोचकता में यत्किंचित उलझाने वाले स्थलों की उपन्यास की समन्विति में बाधक होने की विकलात्मकता छिप-सी जाती है—केवल खटकती है, आक्रांत नहीं करती।

आठवाँ अध्याय

देश-प्रधान उपन्यासों की विशेषताएँ

जिस उपन्यास के सभी उपकरणों का दृष्टि-केन्द्र (focus) या प्रकाशन-ध्येय परिसीमित देश (क्षेत्र)-विशेष हो जाता है और अन्य तत्व इसी से नियत-निर्णीत होते हैं, उस उपन्यास को देश-प्रधान कहते हैं। हिन्दी में ऐसे उपन्यासों को आँचलिक संज्ञा से अभिहित किया गया है। इस शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग १९५४ में 'रेणु' ने अपने 'मैला आंचल' की भूमिका में किया था। अँग्रेजी में ग्राम या नगर की अनोखी विशेषताओं को समझाने के आशय से लिखे तथा स्थानीय प्रभावों को अपना महत्वपूर्ण अंग बनाए हुए उपन्यासों के आधार पर 'रिजनल' (क्षेत्रीय) उपन्यासों की एक शाखा पहले से ही मिलती है।[१] 'रेणु' का उक्त आँचलिक शब्द इसी रिजनल शब्द का सुंदर-सार्थक अनुवाद है। कालक्रम की दृष्टि से, सर्वप्रथम मारिया एजवर्द ने सन् १८०० में प्रकाशित अपने कैसल रेकरेन्ट नामक लघु-उपन्यास के द्वारा 'रिजनल नावेल' का आविष्कार किया। इसलिए वाल्टर ऐलन ने सन् १८०० के वर्ष को अँग्रेजी ही नहीं विश्व उपन्यास-साहित्य में महत्वपूर्ण माना है।[२] स्वयं हार्डी के कथनानुसार उनके उपन्यास भी स्थानीय ('लोकल') प्रकार के कहे जाते रहे हैं।[३] हिन्दी में आँचलिक उपन्यास की विशेषताओं के बीज यों तो पहले उपन्यास 'परीक्षागुरु'—जिसकी भाषा दिल्ली-क्षेत्र से परिपूर्ण प्रभावित है—तक में खोजे जा सकते हैं, किन्तु इसका वास्तविक प्रतिष्ठापन स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी-उपन्यास की नव्यतर सिद्धि है। वस्तुतः 'बलचनमा' तथा 'मैला आँचल' से पूर्ववर्ती उपन्यासों—प्रेमचन्द, वृन्दावनलाल वर्मा, 'निराला' आदि के उपन्यासों—में स्थानीय रंगत तथा क्षेत्रीय भाषा के जो संस्पर्श मिलते हैं,

---

१. Percy Marshall : "Masters of the English Novel", P. 19.
"Wuthering Heights Cranford, Middlemarch, Bleak House : in each of these books the influence of situation is a significant part of the novel. From those there stemmed a whole line of "rigional" novels, all intent on explaining, with more or less success, the peculiar qualities of a town, or a countryside."

2. "The English Novel", P. 98.

३. "Novelists on the Novel", P. 301.

वे सामाजिक-ऐतीहासिक यथार्थ के अंकन का सामान्य अंग हैं किंतु आँचलिक उपन्यासों की अंचल या जनपद-विशेष को उभारने की विशिष्टता का उपकरण नहीं। जहाँ प्रेमचंद के उपन्यासों में देशकाल का यथार्थ, आनुभूतिक तथा आत्मीय अंकन पात्रों तथा उनकी समस्याओं को अधिकाधिक स्वाभाविक भूमि पर प्रतिष्ठित करने के साधन-रूप में किया गया है, वहाँ इन आँचलिक उपन्यासों में ये समस्याएँ, पात्र, बहुत-कुछ अंचल को उभारने के विधेय के आधीन होकर आते हैं। यहाँ अंचल स्वयं एक जीवंत वैष्ट्यिवान पात्र—समूह-पात्र—है, और शेष सभी पात्र उसकी सामूहिकता का अंग हैं—मानों असंख्य पात्र स्वयं नहीं हैं, किसी के लिए हैं। इन असंख्य पात्रों का प्रतिनिधि-प्रमुख पात्र—शास्त्रीय शब्दावली में नायक—भी अंचल रूपी महानायक के अधीन रहता है। इस तरह यह अंचल-पात्र सारे कथानक पर छाया रहता है और सभी पात्रों को संचालित करता है।[१] इस तरह कुछ लोक-तत्व-युक्त पूर्ववर्ती उपन्यासों तथा इन आँचलिक उपन्यासों में जो अन्तर लक्षित होता है वह दृष्टि-केन्द्र या उजागरीय केन्द्र के परिवर्तन का प्रतिफल है—वहाँ जो वातावरण पृष्ठभूमि में है, वही यहाँ पुरोभूमि बन गया है। वहाँ अंचल मानों वर्गगत पात्र है—अनेक अंचलों का प्रतीक—यहाँ मानों वह व्यक्ति-पात्र है—स्वयं में पूर्ण इकाई किन्तु अवश्य ही कुछ वर्गगत विशेषताओं के साथ। वहाँ बूँद सागर में खोई हुई है, यहाँ बूँद सागर की विशेशताएँ लिए हुए भी अपने पार्थक्य की पहचान कराती है। वहाँ वातावरण सम्पूर्ण (भारतीय) ही है, यहाँ स्थानिकता के आकर्षण को स्थिर रखने हुए उसी से सम्पूर्णता की व्यंजना की जाती है। इस दृष्टि-केन्द्र के परिवर्तन या नूतन हो जाने के कारण ही आँचलिक उपन्यास के शिल्प में परिवर्तन आ गए हैं—आँचलिक उपन्यासों की प्रायोगिक नव्यता का रहस्य इसी में है। उपन्यास के सभी तत्वों के स्वरूप एवं नियोजना में अन्तर आ गया है। यहाँ उपन्यास के संगठन का आधार कथा, पात्र या कोई प्रयोजन-विशेष न होकर सीमित स्थान है, अतएव कथानक अंचल-केन्द्रित होता है। उसका आरम्भ एवं अन्त अभीष्ट जनपद-विशेष से होता है। आँचलिक उपन्यासों का कथानक प्रायः शिथिल होता है तथा अपेक्षतया मन्थर गतिशील; क्योंकि अंचलीय वातावरण के बहु वर्णनों की स्थिरता तथा कथा की गत्यात्मक प्रकृति मे विरोध है। दूसरे, वातावरण-विधान की प्रधानता के कारण, कुछ ऐसे दृष्यों का समावेश भी हो सकता है जिनका कथानक से घनिष्ठ सम्बन्ध नहीं होता और कथा उनके विना भी गतिशील

१. टॉमसहार्डी के "The Return of the Native" के सम्बन्ध में डफिन महोदय कहते हैं—

"It is indeed the story of Egdon Egdon is not only the scene of the tale; it dominates the plot and determines the characters, It is sentient : it feels, it speaks, it slays."—"Thomas Hardy". P. 120.

रह सकती है। तीसरे, व्यक्ति-विशेष की नहीं, सम्पूर्ण अंचल की कहानी—बहुसंख्य पात्रों की अपनी-अपनी कहानी—कहने के कारण भी उसमें परम्परित कहानी का सुगठन स्थिर नहीं रह सकता।

सीमित भूमि की कहानी की सजीवता भूमिवासी जन की कहानी होने में है। अतएव चरित्र-चित्रण की दृष्टि से देश-प्रधान या आँचलिक उपन्यास का सर्वप्रमुख वैशिष्ट्य समूह-पात्र के चित्रण में है, क्योंकि इसमें व्यक्ति-विशेष की नहीं, सम्पूर्ण अंचल की कहानी रहती है। इसलिए आँचलिक उपन्यासों में [illegible] की विशेषता आ जाती है। फिर भी, समूह-पात्र के अंकन के साथ-साथ अंचल से एकात्मरूप हुए किसी पात्र को प्रमुखता मिल जाए तो यह आँचलिक उपन्यास का गुण ही माना जाएगा, दोष नहीं। यह अवश्य है कि यह प्रमुख पात्र अथवा नायक भी अंचल-चित्रण का आधार ही होगा। इस तरह नायक-विहीनता नहीं, अपितु समूह-पात्र का चित्रण आंचलिक उपन्यास की अपरिहार्य विशेषता है। समूह पात्रता के चित्रण से यह स्वयंसिद्ध है कि आँचलिक उपन्यास में पात्रों की बहुसंख्यता तथा विविधता होगी और तदनुकूल कहानियाँ भी, ताकि उस सीमित क्षेत्र की सम्पूर्ण-सूक्ष्म जीवनगति का अंकन हो सके। दूसरे, ये पात्र स्थानीय विशेषताओं से सम्पन्न वर्गगत भी होंगे; साथ ही अपने अति समीपी अध्ययन के आलोक में ऐसे व्यक्ति भी कि इनका अन्य अंचलीय पात्रों से अन्तर भी लक्षित हो सके। पात्रों के बहिरंग चित्रण में स्थानीय बेशभूषा, तथा पात्रों के रूपाकार में स्थानीय विशिष्टता भी लक्षित होगी। हम उल्लेख कर चुके हैं कि यहाँ अंचल स्वयं एक वैशिष्ट्यवान जीवंत पात्र के रूप में मूर्तिमंत हो उठता है। भौगोलिक परिस्थितियाँ अंचल के बहिरंग को प्रतिभासित करती हैं, या वे उसके रूपाकार का प्रतिमान प्रस्तुत करती है। लेखक वहाँ के स्थानों, पथों, चतुर्दिक सीमाओं, बारिश-बाढ, जलवायु, प्रकृति, नदी-नालों, भूमि आदि का ऐसा परिचय देता है कि अंचल का मान-चित्र रूपायित हो कर पाठक के अन्तस् पर अंकित हो जाता है। राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक, धार्मिक तथा सांस्कृतिक परिस्थितियों का प्रतिरूपण तथा इनके योगायोग से विकासमान मनुष्य इस अंचल का अन्तरंग चित्रण होगा। अंचल का वैशिष्ट्य उसकी स्थानीथ रंगत में है। इससे उसका दूसरे अंचलों से प्रभेद प्रकटन होता है। लोक-तत्व का प्रभूत उपयोग इस स्थानीय रंगत को गाढ़ा करता है। ये लोक-उपादान हैं—लोकाचार, लोकरीतियाँ, लोकपर्व, लोककथाएँ, लोकगीत-कथाएँ लोक-पहेलियाँ, लोक-कहावतें, मुहावरे, लोक-नृत्य, लोक-खेल, लोक-शब्द आदि। यही नहीं कथा भी लोक-शिल्पात्मक हो सकती है। इन सबका समाहित प्रभाव ऐसा होता है कि पाठक को भी पात्रों के साथ अंचल में विचरने की भ्रांति होने लगती है। प्रायः यह चित्रण बिम्बात्मक, सूक्ष्म,

तथा विश्लिष्ट होता है। इस दृष्टि से आँचलिक उपन्यास भी आधुनिक युग की विशेषीकरण तथा विश्लेषणात्मक प्रवृत्ति का परिणाम है। आँचलिक उपन्यासों में सामान्य बात को भी विशिष्ट स्थानीय बना कर प्रस्तुत करने का वैशिष्ट्य है। कोई प्रमाण दिया जाएगा तो किसी अमुक पात्र का नाम लेकर ही। कुछ घटना होगी तो अमुक गली-मुहल्ले का नाम भी लिया जाएगा।

आँचलिक उपन्यासों के संवादों में जनपदीय भाषा या लोक-शब्दों का बाहुल्य भी स्थानीय यथार्थ को गाढ़ा करने तथा पात्रों के शिक्षा-सभ्यता के स्तर को व्यंजित करने के लिए है। अपनी बोली में ये पात्र भिन्न या विशिष्ट स्थानीय होने का प्रतिभास सहज ही दे सकते हैं। दूसरे, इस भाषा में उन की आदिम लालसा-प्रेरणाएँ तथा दैनंदिन की अनिवार्य आवश्यकताएँ—खाना-पीना प्रेमाभिव्यक्ति तक—अधिक सहजता एवं पूर्णतः से व्यक्त हो सकती है। उनके लोकोच्चारण, उनके शिक्षा-स्तर के अभिव्यंजन के साथ हास्य की सामग्री भी जुटा सकते हैं। सामूहिक संवाद भी आँचलिक उपन्यासों की पृथक् विशेषता है। ऐसे संवादों के प्रयोग से लेखक व्यक्ति-विशेष का शील-प्रकाशन नहीं, सम्पूर्ण स्थानीय समाज की व्यंजना करता है।

पात्रों की भाषा ही नहीं, लेखक की अपनी भाषा-शैली में भी जनपदीय भाषा के शब्दों का खुला प्रयोग रहता है। यह सब स्थानीय रंगन देने के लिए किया जाता है। कुछ उपन्यासकार इन लोकशब्दों के अर्थ देते हैं और कुछ नहीं। क्षेत्रीय भाषा का प्रयोग लेखक की विषय-सामग्री के उपयोग पर आबद्धकारी सीमाएँ लगा देता है। इस में लेखक वह सब-कुछ नहीं कह सकता जो वह सामान्य भाषा में कह सकता है।[१] इसके के अतिरिक्त ऐसी भाषा यथार्थता बढ़ाती है किन्तु सम्प्रेषण-क्षमता तथा प्रवहमानता का यत्किंचित् क्षय भी होता है। फिर भी, इस स्वल्प हानि से लाभ अत्यधिक होता है। वस्तुतः यहाँ लेखक नहीं, अंचल बोलता है। उसका रूप-रस-गंध शब्दों में साकार होता है। रैल्फ फाक्स ने कौवेट के चित्रणों के सम्बन्ध में लिखा है—"जब कौवेट किसी देहात का—जिसके मध्य से वह जा रहा हो—वर्णन करता है तो धरती के आकार तथा उसके रेशों की बनावट तक का चित्र आँखों के सामने मूर्त हो उठता है"।[२] इसी मूर्तीकरण का प्रतिभास इन आँचलिक उपन्यासों की भाषा से होता है। हम पात्रानुसारिणी भाषा चाहते हैं—इससे चरित्रांकन में स्वाभाविकता आती है—तब जहाँ अंचल ही प्रधान पात्र हो, वहाँ उस की भाषा की

---

१. Alberto Moravia : "…the use of dialect impose stringent limitations upon one's material. You cannot say in dialect all that you may say in the language itself"—"Writers at work", p. 201.

२. "Novel and the People", p. 164.

रंगत क्यों न हो ? शब्द अपने साथ संस्कार एवं वातावरण लिए आते हैं। उनके स्थान पर अन्य पर्याय शब्दों को रख देने से काम नहीं चल सकता। इससे भाषा का सतही अर्थ चाहे न बदले, मूल अर्थ, वातावरण, अवश्य विलुप्त हो जाएगा। अतएव अंचलीय-भाषा भाषा ही नहीं होती, वातावरण होती है; और जिस उपन्यास में वातावरण-प्रधान हो वहाँ इसका प्रयोग स्वाभाविक-सकारण है, आकस्मिक-अकारण नहीं। इसके अतिरिक्त यह भाषा लेखक के अंचलीय जन-जीवन से घानिष्ट्य का सहज ही विश्वास उत्पन्न करती है।

आंचलिक भाषा के प्रयोग पर इतना प्रतिबन्ध अवश्य लगाया जा सकता है कि वह स्टैंडर्ड हिन्दी से अधिक दूरवर्ती न हो अथवा, लेखक अपने शब्द-चयन में मितव्ययिता से काम ले—ऐसे शब्दों का प्रयोग न करे जिनका प्रयोग उसके आँचलिक पात्र न कर सकते हों और केवल उनका लोकोच्चारित रूप ही रखे।[1] इसके अतिरिक्त प्रसंग से सहज स्पष्ट न हो सकने वाले आँचलिक शब्दों के कहीं-न-कहीं अर्थ देने भी आवश्यक है। आँचलिक भाषाकारों में प्रायः रूप-विधायिनी क्षमता होती है। इससे वे अंचल को उसके समस्त ऐन्द्रिय विषयों में साकार कर सकते हैं। इन उपन्यासों में में ध्वनि-चित्रों का प्राधान्य हैं।

यथार्थ-चित्रण के लिए आँचलिक उपन्यासकार के लिए तटस्थता अनिवार्य है, अन्यथा अंचल का चित्रण उसकी सूक्ष्म यथार्थता की प्रामाणिकता की प्रतीति नहीं करा सकेगा। इसी तटस्थता की सिद्धि के लिए आँचलिक उपन्यासों में—विशेषतया 'रेणु' के उपन्यासों में—चित्रण से ही उद्देश्य-व्यंजना की एक नई शैली तथा एक पुरानी शैली का विशेष विनियोग तथा विकास हुआ है। पहली है नई सामूहिक शैली। इसमें अंचल की कथा अंचलीय पात्रों के दृष्टिकोण से कही जाती है और लेखक तटस्थ बना रहता है। इससे उनका चरित्र भी व्यंजित होता रहता है और कथा का विकास भी होता चलता है। यह हैनरी जेम्स के सीमित दृष्टिकोण वाली कथा-कथन-विधि का-सा प्रभावोत्पन्न करती है। दूसरी शैली प्रच्छन्न हास्य-व्यंग्य की है। इससे लेखक मुखरित हुए बिना, केवल चित्रण-मात्र से, प्रसादन एवं प्रयोजन की संयुक्त सिद्धि करता रहता है। जिन लेखकों में वाद की उष्णता रहती है, वे

---

१. लिडेल महोदय ने अँग्रेज़ी उपन्यासों के लिए यही नियम दिए हैं—

"A dialect may be faithfully reproduced—but this is only possible when it is not too far remote from 'standard English' to be readily understood···or a writer may exercise an economy in his choice of words, omitting words that his rustic characters could not have used, and limiting to their syntactical forms". —"Some Principles of fiction", p. 91.

अंचल का निष्पक्ष चित्र नहीं दे पाते और उनका व्यंग्य तटस्थता की कला के विपरीत आक्रोशपूर्ण हो जाता है।

तटस्थता से तात्पर्य दृष्टि-रहितता से नहीं, कलात्मक व्यंजना से है। कोई भी रचना जनक-भाव या एकल दृष्टि की स्पष्टता-सबलता के बिना संयोजित नहीं हो सकती। अतएव अंचल-चित्रण की सूक्ष्म विश्लिष्टता भी लेखक की इस मूलवर्ती संवेदना या दृष्टि से अन्तःसूत्रित रहनी आवश्यक है और यही उसकी प्रभावान्विति को अक्षुण्ण बना सकती है।

यहाँ हमने केवल पाँच आँचलिक उपन्यास लिए हैं। इनका पारस्परिक अन्तर भी स्पष्ट है। 'बहती गंगा' आँचलिक के साथ कालिक भी है, इसलिए उसका शिल्प भी भिन्न हो गया है। 'बलचनमा' वाद-युक्त आँचलिक उपन्यास की सीमाओं को स्पष्ट करता है और नायक-युक्त है। 'मैला आँचल' और 'परती : परिकथा' आँचलिक उपन्यासों के नूतन विषय के अनुकूल नूतन शिल्प की विविधता का स्वरूप प्रकट करते हैं। इनमें से एक कथा-नायक रहित है, दूसरा लगभग नायक सहित है। 'बाबा बटेसरनाथ' लोक-विषय के अनुरूप लोक-कथा-शिल्प का अनोखा उदाहरण प्रस्तुत करता है। स्थान की एकता सभी में है और यही तत्व इनके सम्पूर्ण शिल्प का नियामक एवं संचालक है।

बलचनमा

'रतिनाथ की चाची' '(१९४८) के बाद सन् १९५२ में प्रकाशित 'बलचनमा' नागार्जुन का दूसरा उपन्यास है। इस उपन्यास को आँचलिक उपन्यासों के अन्तर्गत रखने में आलोचकों[१] में मतैक्य है। विशिष्ट क्षेत्र-केन्द्रित कथा-विकास, बहुपात्रता, सजग क्षेत्रीय चित्रण, तथा लोक-भाषा 'बलचनमा' की आँचलिकता के उपकरण हैं। यह जिला दरभंगा (बिहार) के देहाती जीवन पर आधारित ऐसा आँचलिक उपन्यास है जिसमें एक निम्नवर्गीय पात्र—"आधा खेत मजदूर और आधा किसान"[२]—के

१. (क) डॉ० प्रभाकर माचवे : "साहित्य-सन्देश" (आधुनिक उपन्यास अंक) जुलाई-अगस्त १९५६, पृ० ५०। (ख) डॉ० शिवनारायण श्रीवास्तव : "हिन्दी उपन्यास", पृ० ३७९। (ग) डॉ० विश्वम्भरनाथ उपाध्याय : "साहित्य-सन्देश" (प्रगति-विशेषांक), जनवरी-फरवरी, १९५८, पृ० ३६१। (घ) ब्रजविलास श्रीवास्तव: "आलोचना" सं० १७, पृ० ४७। (ङ) महेन्द्र चतुर्वेदी : "हिन्दी उपन्यास : एक सर्वेक्षण", पृ० २०८। (च) डॉ० गोविंद त्रिगुणायत : "शास्त्रीय समीक्षा के सिद्धांत (द्वितीय भाग), पृ० ४३३। २. "बलचनमा", पृ० १६१।

जीवन का प्रतिनिधि-चित्र प्रस्तुत किया गया है। यहाँ लेखक आँचलिक चित्रण तटस्थ भाव से नहीं करता, वह राजनैतिक मतवादिता से प्रेरित रहा है। प्रसंग-चयन, विभिन्न वर्गों के प्रति मोह-घृणा, अन्त में कथा की राजनैतिक परिणति तथा निर्णय-निरूपण में उसकी राजनीति-परिचालित दृष्टि का प्रमाण मिलता रहता है। इस प्रकार 'बलचनमा' का सारा शिल्प एक तो अंचल-चित्रण, दूसरे मतवादी दृष्टि से निर्धारित हुआ है।

उपन्यासारम्भ से पूर्व लेखक ने मानो नाटककार के रंगमंचीय संकेत देने के समान देशकाल—'घटनास्थल' तथा 'घटनाकाल'—का उल्लेख किया है। उसने ऐसा देश-काल के तत्व पर बल देने के लिए किया है अन्यथा आगे उपन्यास से इस क्षेत्र[1] एवं काल की स्पष्ट सूचना मिल गई है। आँचलिक उपन्यासकार, उसमें भी राजनैतिक आँचलिक उपन्यासकार के लिए देश-काल के चित्रण का अपना अलग प्रयोजन है। वह पात्रों के चरित्र-विकास तथा क्रिया-कलापों का निदर्शन बहुविध आँचलिक परिस्थितियों के प्रकाश में करता है। बलचनमा का चरित्र-चित्रण इस तथ्य को प्रमाणित करता है। दूसरे आँचलिक उपन्यासकार कथावस्तु तथा पात्रों की चित्रण-वास्तविकता के लिए देशकाल को मात्र 'पृष्ठ'-भूमि के रूप में ही नहीं प्रस्तुत करता, अंचल-चित्रण के उद्देश्यानुकूल उसे 'सन्मुख' ले आता है—साधन से बढ़कर यह किंचित् साध्य की श्रेणी में भी आ जाता है। नागार्जुन ने इस उपन्यास में अपने अचीन्हे अंचल (तिरहुत देश) की प्राकृतिक विशिष्टता, वर्ग-व्यवस्था, उपज-उपादान, खेती-साधन, आजीविका-साधन, रहन-सहन, असन-वसन, विवाह-मुंडन, बोली-बाणी तथा प्राकृतिक विपत्तियों का यथार्थ-अनुभूत्यात्मक परिचय दिया है। अन्य अंचलों से पार्थक्य की परिचायक स्थानीय विशिष्टता के वर्णन पर लेखक की विशेष दृष्टि रही है और उसका यत्र-तत्र अभिधात्मक कथन हुआ है।[2]

इस उपन्यास में लेखक को निम्नवर्गीय खेतीहरों तथा भूमि-श्रमिकों का यथार्थ अंकन ही अभीप्रेत नहीं, उसे अपने राजनीतिक मतानुकूल ऐसा मार्ग-निर्देशन भी अभीष्ट है जिससे वे अपने अधिकारों की रक्षा के लिए सक्रिय संघर्ष कर सकें। इसके लिए १९३२-३७ तक की राजनीतिक गतिविधि की झलक भी दी गई है, जो आँचलिक के साथ सार्वत्रिक (भारतवर्षीय) भी है।

यह उपन्यास बलचनमा की आपबीती कथा है। यह आपबीती भी कुछ वर्षों तक सीमित है—मुख्यतः इसमें १४ से २२ वर्ष तक की आयु की जीवन-गाथा है। इस तरह इसमें बलचनमा के जीवन का खण्ड-चित्र है, सम्पूर्ण चित्रण नहीं। उपन्यास का आरम्भ आत्मवृत्तात्मक विधि से हुआ है। इस उपन्यास की आत्मकथात्मकता न तो

---

१. पृ० २५। २. पृ० २५-२६, ११६-१७, १६६ आदि।

'शेखर: एक जीवनी' के समान संस्मृत-आत्मचरित्रात्मक है और न 'कल्याणी' की तरह आत्मरहित आत्मकथात्मक। यहाँ प्रमुख पात्र बलचनमा, प्रथम पुरुष में, अत्यन्त सरल-सीधी विधि से कहानी का आरम्भ करता है :—"चौदह बरस की उम्र में मेरा बाप मर गया। परिवार में माँ, दादी और छोटी बहिन थी। नौ हाथ लम्बा, सात हाथ चौड़ा घर था .. "[1] उसने न कोई भूमिका बाँधी है, न कथा-काल-विपर्यय का कौशल प्रदर्शित किया है। आत्मकथा-लेखन की सजग चेतना भी यहाँ नहीं। वस्तुतः यहाँ लेखन का प्रश्न ही नहीं उठता, बलचनमा कथा सुना रहा है। लेखक ने पात्रानुकूल संगति को ध्यान में रखते हुए बलचनमा-जैसे अशिक्षित या अत्यल्प शिक्षित पात्र से कथा सुनाई है, लिखाई नहीं। इस सुनाने की क्रिया का भी स्पष्ट उल्लेख नहीं हुआ—अनेक कथनों से यह संकेतित है। ऐसा प्रतीत होता है कि बलचनमा अपने एक 'दोस्त' से कथा कह रहा है—"यह मोसमात जानकी ही की दया थी कि तुम्हारे दोस्त बालचन्द राउत (बलचनमा) बैलवाले कहलाने लगे।"[2] दोस्त उसका ऐसा आत्मीय है जिस पर विश्वास कर वह अपनी व्यक्तिगत गुप्त बातें भी बता सकता है—"एक बात बताऊँ, कहोगे तो नहीं किसी को ? नहीं कहोगे, तो कहूँगा। अच्छा तो सुनो।"[3] इस मित्र को बलचनमा ने स्थान-स्थान पर 'भैया' कह कर सम्बोधित किया है। कथा सुनाते-सुनाते वह इससे किसी बात के सम्बन्ध में कहीं 'राय'[4] पूछता, कहीं प्रश्न कर स्वयं ही उत्तर देता[5] और कहीं मज़ाक कर उसकी प्रतिक्रिया को भी व्यक्त कर सकता है—.."अरे हँसते हो ! नई-नवेली के शील-संकोच से तुम्हारा भी तो पाला पड़ा ही होगा, या कि नहीं पड़ा ? झूठ मत बोलो भैया !"[6] कथा-कथन की इस अनौपचारिक आत्मीयता से पाठक लेखक के अधिक निकट पहुँच जाता है और एक प्रकार के घरेलू वातावरण का अनुभव करता रहता है। बलचनमा अपने जिस दोस्त 'भैया' से कथा कह रहा है, वह अंचलेतर है। बलचनमा के निम्न कथन से यही आभासित होता है—".. मेढ़ पर नहीं, खेत ही में बैठकर हम खाते। धन खेतों में कटी फसलों की खूटियाँ मुलायम ही होती हैं। तुम्हारे मुलुक में गेहूं-जौ, ज्वार-बाजरा होता है, उनकी खूंटियाँ कड़ी होती हैं, उन पर इस तरह बैठा-लेटा नहीं जा सकता।"[7] इससे लेखक अपने अचीन्हे अंचल की जानकारी कराने का अवसर पा सका है।

इस उपन्यास में बलचनमा की आपबीती के माध्यम से एक विशेष अंचल या ग्राम-समाज की कहानी कही गई है। लेखक के बहिर्मुखी प्रगतिवादी दृष्किोण के कारण ही यह सम्भव हो सका है। वह मानता है कि किसी की 'आपबीती', 'जगबीती'

---

१. पृ० ३। २. पृ० १८८। ३. पृ० ६३। ४. पृ० १६६। ५. पृ० १५८। ६. पृ० १४३। ७. पृ० १३७-३८।

का ही अंश होती है'[1]—यदि वह ऐसा न सोचता तो यह रचना मनोविश्लेषणात्मक उपन्यासों के शिल्प को अपना कर चलती। नागार्जुन की सफलता इसमें है कि वे 'आपबीती' को जगबीती का रूप देने में सफल हो सके हैं। इसके लिए एक तो लेखक को ऐसे प्रसंगों तथा घटनाओं का आश्रय लेना पड़ा है जो व्यक्ति तथा समाज दोनों के जीवन में समतुल्य महत्व रखती हैं। दूसरे, उसने एक ऐसे पात्र को चुना है जो अशिक्षित किन्तु संवेदनशील है—अशिक्षित होने के कारण वह अध्ययन से नहीं, अनुभवों से सीखता है और अपने एक-एक अनुभव की जानकारी करता है; संवेदशील होने से उसमें बाह्य परिस्थिति-पार्श्व तथा अपने सम्पर्क में आने वाले व्यक्तियों से प्रभाव-ग्रहण करने की क्षमता है। उपन्यास के आठ अध्याय मानों बलचनमा के जीवन के ऐसे आठ मोड़ हैं जो उसके एक स्थिति से दूसरी स्थिति में आने से नए-नए अनुभवों को खोलते और इन्हीं अनुभवों के भीतर से उसके जीवन-विकास को प्रदर्शित करते हैं। बलचनमा का यह जीवन-विकास ऐसी समाज-सापेक्ष व्यक्तिगत परिस्थितियों तथा राजनैतिक आंदोलनों में ग्रस्त पात्रों के मध्य हुआ है कि भारत के स्वाधीनता-संग्राम की झलक के साथ, निम्न एवं उच्च वर्ग की आपसी विषमता, पूंजीपति ज़मींदारों की शोषक अनैतिकता और वर्ग-चेतना का विकास भी सिमट आया है। उदाहरण के लिए, पहले अध्याय में बलचनमा निपट अशिक्षित तथा अनुभवहीन ग्रामीण हैं। जमींदार मालिकों की 'बहियागिरी' तथा चरवाही से उसकी आजीविका का आरम्भ होता है। इस काल का सारांश देते हुए वह कहता है—"..गालियाँ, पिटाई, तिरस्कार, अपमान, दुतकार और फटकार यही वह रास्ता था जिस पर से मेरा जीवन आगे की ओर खिसक रहा था।" इस सार-कथन से ही सहज अनुमान किया जा सकता है कि इस प्रथम अध्याय में जमींदारों की शोषण-वृत्ति, दुर्व्यवहार, अत्याचार तथा अमीराना अहंकार की घटनाएँ रही होंगी। आगे दूसरे अध्याय में उसे नगर में एक 'सोराजी बाबू' का नौकर बनाया गया है और चौथे अध्याय में गाँधी जी के आश्रम के एक मुख्य कार्यकर्ता का। नागार्जुन ने इस बात का ध्यान रखा है कि बलचनमा की व्यक्तिगत बाध्यताएँ ही उसको ऐसी परिस्थिति में ले जाएँ कि उपन्यास के वर्ग-संघर्ष सम्बन्धी राजनैतिक उद्देश्य की सहज-सिद्धि हो सके। दूसरे, लेखक की यह दृष्टि भी रही है कि वह बलचनमा की बेबसी-गरीबी, [illegible] अवस्था तथा जमींदारों के अत्याचारों का वर्ग-प्रतिनिधि-चित्र प्रस्तुत कर सके। अतएव सामान्यीकरण करने के लिए लेखक एक तो ऐसे प्रसंगों को भी ले आया है जो सीधे बलचनमा-सम्बन्धित नहीं, किन्तु दूसरों से सम्बद्ध होने पर भी बलचनमा की आँखों-देखी बातें हैं; यथा, जमींदार मालकिन की फूदन मिसर की विधवा तथा करीमबख्श से धोखे की नीच

---

१. "बाबा बटेसरनाथ", पृ० १८, वटवृक्ष के शब्द।

करतूतें,[1] तथा 'जबान दुसाध' को जूतों की मार[2] आदि के क्रूर कृत्य। दूसरे, बलचनमा अतिरिक्त वर्ग-चेतना से अपनी कथा को सुनाता है। वह प्रायः बहुवचनों से अपनी विषय-स्थिति को सुनाता है—"बाबू-भैया लोग थे कि छोटी बीमारी में भी उनके यहाँ डॉक्टर बुलाये जाते।···गरीबों के पास पथ-पानी के लिए भी धेला-पैसा नहीं रहता, डाक्टर की फीस और दवा के दाम का क्या ठिकाना?

"गाँव में ही एक बूढ़े थे जो वैद्य का काम करते थे? लेकिन छोटी जाति वालों के यहाँ जाकर भला बीमार की नाड़ी वह क्यों देखने लगे? अपनी दादी के लिए दवा मैं उन्हीं से लाया था।"[3] यहाँ अपनी व्यक्तिगत विवशता-निर्धनता तथा निम्न जातीयता का सामान्यीकरण किया गया है। इसके अतिरिक्त वर्ग-विषमता का तुलनात्मक अतिरंजित चित्रण स्थान-स्थान पर किया गया है:—"अच्छा तो भगवान करते ही हैं? चार परानी का पलिवार छोड़कर मेरा बाप मर गया, यह भी भगवान ने ठीक ही किया। भूख के मारे दादी और माँ आम की गुठलियों का गूदा चूर-चूर कर फाँकती थीं, यह भी भगवान ठीक ही करते थे। और मालिक लोग कनकजीर और तुलसीफूल के खशबूदार भात, अरहर की दाल, परवल की तरकारी, घी दही चटनी खाते थे, सो, यह भी भगवान की ही लीला थी। चौकोर कलम बाग के लिये उनको हमारा कट्ठा खेत चाहिए था और हमें चाहिए अपने चौकोर पेट के लिए मुट्ठी-भर दाना।"[4] कहीं-कहीं प्रासंगिक आँचलिक वर्णनों में,[5] कहीं-कहीं प्रासंगिक विचारों में,[6] और अन्तिम परिच्छेद में राजनैतिक भाषणों[7] तथा नारेबाजी तक के द्वारा भी वर्ग-चेतना तथा वर्ग-संघर्ष की अभिव्यक्ति की गई है।

अपनी तथा वर्ग-संघर्ष की कहानी के साथ अंचल की झाँकी भी प्रस्तुत की गई है। इसके लिए भी बलचनमा की अपनी चारित्रिक विशेषता उत्तरदायी है। उसे अपने अंचल की प्रकृति तथा धान के खेतों से विशेष प्रेम है।[8] इन सबका वर्णन वह रस लेकर कर सका है। दूसरे, वह स्वयं को अपने अंचल से अभिन्न समझता है और इसलिए स्थान-स्थान पर अंचल-प्रतिनिधि के रूप में 'हमारे तरफ' या 'हमारे तिरहुत' की आत्मीयता से अंचल का परिचय दे सका है। तीसरे, वह अंचलेतर मित्र-श्रोता की जानकारी के लिए भी अपने प्रदेश का पूरा परिचय देने का प्रयास करता रहता है। कुछ प्रसंग अंचल-परिचय देने के कारण ही लम्बे हो गए हैं। छठे अध्याय में बलचनमा के गौने का सविस्तर वर्णन अंचलीय रीति-रिवाज के चित्रण-हेतु ही किया गया है। इसी तरह जयमंगला के भागने की घटना का प्रसंग अंचल-चित्रण की दृष्टि से ही

---

१. पृ० २२-२५। २. पृ० ७। ३. पृ० ३०। ४. पृ० १७।
५. पृ० ११६-१७। ६. पृ० ११७। ७. पृ० १७५-७६। ८. पृ० ७०, ११५।

कुछ उपयोगी हो सकता है अन्यथा न बलचनमा के जीवन और न इस रचना के उद्देश्य की दृष्टि से इसका कोई प्रयोजन है ।

इस उपन्यास की वर्गसंघर्षमयी राजनीतिक गतिविधि में भी नागार्जुन ने मानव के सहज रागात्मक स्पंदनों तथा सम्बन्धों की उपेक्षा नहीं की । इससे बलचनमा के चरित्र-चित्रण के माध्यम से कथा में कुछ भावपूर्ण तथा मार्मिक स्थलों की भी सृष्टि हो सकी है । इनके अभाव में यह किसी पात्र की जीवन-कथा कदापि न बन पाती । इसी से कथा में स्वाभाविकता भी आई है और बलचनमा की चरित्र-सजीवता भी उभर कर सामने आई है । बलचनमा के पहली बार गाँव से नगर जाने के अवसर पर माता-पुत्र का वत्सल रुदन मार्मिक है ।[१] नगर जाकर भी उसे माँ-बहिन, "छोटा घर, वह चितकबरी बकरी, बाड़ी में ठूंटे जीभड़ की टेढ़ी बाँहों पर लतरी हुई नेनुआ की वह हरी-भरी लत्ती"[२] बार-बार याद आती रहती हैं। अपने मालिक फूल बाबू की गिरफतारी पर वह 'फूट-फूट कर सुबक-सुबक कर"[३] रोता है । फूल बाबू को याद कर कई बार उसका 'कलेजा फटता' और आँखें डबडबातीं हैं ।[४] मालिक के छूटने पर देखते ही उसका मन 'भींगा-भींगा-सा' हो उठता है और 'ख़ुशी या 'विछोह' के आँसुओं से आँखें डबडबाती हैं ।[५] मड़ुआ के सांवले-सलोने पौधों से लहलाहते खेतों को देख कर उसकी तबीयत हरी हो जाती है । 'पनियाये हुए चास में धान के पौधे रोपते समय छुप-छुप, सुप-सुप' की आवाज उसे सुरैया की तान से मीठी लगती है ।[६] संतान-स्नेह से उसका उमड़ता मन ठीक ही कहता है—"संतान कोई मामूली चीज़ नहीं होती भैया ! जिसके यह चीज़ नहीं, ठूंठ से बत्तर (बदतर) समझो उसकी जिनगी को, हाँ !"[७] दुखी बैल को देखकर यह द्रवित हो उठता है ।[८] ऐसा ही व्यक्ति तो वर्ग-विषमता को देख कर तड़प सकता है और क्रांति तक का आह्वान कर सकता है । मानव-जीवन की सौन्दर्य-सजीवता के लक्षणों को वह चरितार्थ भी करता है और सप्रसंग प्रतिपादन भी; देखिए—"कहने को वहाँ हरियाली काफी थी, बाग-बगीचे का क्या कहना ? लेकिन खाली हरियाली से क्या अगर मन उदास रहा ? और मन की उदासी को भगाने के लिए मुसकराते चेहरों की ज़रूरत पड़ती है किलकारियाँ भरते बच्चों की । निगाहों से ममता टपकाने वाली माँ-बहनें, मिठास भरी बोलियों वाली भाभियाँ, दिल-दिमाग को गुदगुदा कर ग़म को गर्क कर लेने वाले हमदर्द साथी—यह सब न हुआ तो खाली हरियाली, खाली घर-आँगन, खाली बाँस-काठ किस काम है"[९] ?—इस दृष्टिकोण के अनुसार ही इस उपन्यास में मानवीय भावों का चित्रण तथा भाव-पूर्ण स्थलों की सृष्टि हो सकी है ।

---

१. पृ० ३९-४० । २. पृ० ५० । ३. पृ० ५८ । ४. पृ ६१-६२ ।
५. पृ० ६४ । ६. पृ० ११५ । ७. पृ० १८१ । ८. पृ० १८६ । ९. पृ० १३० ।

कथा-वर्णन तथा प्रसंग-चयन में नागार्जुन के यथार्थवादी साधनों का पूरा उपयोग किया है। यहाँ इनकी सविस्तर व्याख्या अपेक्षित है। बलचनमा अपने आने-जाने के मार्ग एवं अपने सम्पर्क में आने वाले पात्र-स्थान का यथार्थ, सूक्ष्म तथा सविस्तर वर्णन करता है। इस दृष्टि से छोटे मालिक की हवेली[1], राधा बाबू के आश्रम[2] तथा उसके ससुर की इस्टेट के वर्णन देखे जा सकते हैं। वह विभिन्न प्रकार की खेती की पूरी जानकारी देता है। चरवाहे की लापरवाही से भैंस को सतानेवाले कीड़ों के नाम देता है।[3] पेड़-पौदों को नाम-सहित गिनाता है।[4] वस्तु या नाम-परिगणनात्मक प्रवृत्ति यहाँ इतनी अधिक है कि एक पूरे पृष्ठ में, भूकंप के अवसर पर गाँव के विभिन्न व्यक्तियों को रिलीफ़ के रूप में मिलने वाली राशि की पूरी सूची दी गई है।[5] यथार्थ-वर्णन तथा पर्यवेक्षण-सूक्ष्मता का एक ऐसा उदाहरण द्रष्टव्य है जहाँ वस्तु-स्थिति से लेखक ने सम्बन्धित व्यक्तियों की सभ्यता के सम्बन्ध में अनुमान लगाया है—"कुटुम के दरवाज़े पर ठाट-बाट की कमी नहीं थी। हाल में दू गो, आराम-कुर्सी, चार गो मामूली कुर्सी, एक ठो गोल मेज़ पड़े थे। मोटे गद्दे का एक भारी भरकम कोच पड़ा था। सिर टेकने की जगह तेल से काला और चिकना पड़ गया था। कौच की बाहों पर जहाँ-तहाँ चूना और सुंघनी के दाग पड़े थे। ज़रूर ही बैठने वाले सुंघनी के शौकीन होंगे, पान खा चुकने पर ऊपर से और चूना खाते होंगे। दूसरी बैठक में बड़े-बड़े तख्तपोश पड़े थे। उन में कहीं-कहीं कील उभरी हुई थी। शतरंज के खाने चाकू से खरोंच कर कभी किसी ने बनाये थे, यह निशान भी मौजूद था। तख्तपोश के नीचे मकड़ों ने जाले लगा रक्खे थे, ज़रूर ही झाड़ू देने वाला लापरवाह या अहदी होगा।"[6] 'बलचनमा' की वर्णन-प्रचुरता से आँचलिक यथार्थ के मूर्तन में सहायता मिली है। वातावरण की वास्तविकता तथा कथा की यथार्थता इससे बढ़ी है किन्तु कथा-गति में यत्किंचित् बाधा भी उपस्थित होती रही है। नागार्जुन ने दैनिक जीवन के एक-एक क्रिया-व्यापार—सोना-उठना, शौच-स्नान, आदि—का भी वर्णन किया है।[7] कितने स्थलों पर टट्टी-फराकत तथा पेशाब-निवृत्ति का उल्लेख किया गया है, जिसे किसी प्रकार उचित नहीं ठहराया जा सकता। वस्तुतः लेखक को चयन-वृत्ति तथा सुरुचि से काम लेना चाहिए था। शौच-क्रिया का ध्वनि-चित्र अंकित कर के तो नागार्जुन ने औचित्य-सीमा तथा शिष्टता का अतिक्रमण कर दिया है।[8] इसी तरह असभ्य गालियों का उल्लेख[9] करके यथार्थ-वाद को विकृत सीमा तक पहुँचा दिया गया है। उपर्युक्त विस्तृत वर्णन-ब्यौरे कहीं कथा-गति-रोधक तथा कहीं अशिष्ट होते हुए भी बलचनमा-जैसे ग्रामीण बर्बर-से

१. पृ० २१-२२। २. पृ० ६६। ३. पृ० ११। ४. पृ० १३।
५. पृ० १६१। ६. पृ० १२५। ७. पृ० ८२। ८. वही। ९. पृ० ३४।

कथावक्ता के मुख से अधिक नहीं खटकते। ऐसे पात्रों में प्रत्यक्ष साक्षी की तरह बात कहने, सार-संक्षेप की बजाय बात-बढ़ाने की प्रवृत्ति होती है और ये ब्यौरे देने में कभी विश्राँति का अनुभव नहीं करते; क्योंकि इन्हीं के माध्यम से ये अपनी बात को अधिक मांसल, तथा अधिक रूप-साक्षात् बना सकते हैं।

कथा सुनाते हुए बलचनमा अपने कथनों की सचाई का विश्वास दिलाने का प्रयास करता रहता है। कभी वह कहता है 'झूठ मैं नहीं कहूँगा' और कभी जानकर अनिश्चयसूचक शब्दों में कथन की प्रामाणिकता का आभास देता है—"हमारे छोटे मालिक का उससे लगाव-सम्बन्ध था कि नहीं यह बतलाना मेरे लिए कठिन है। लेकिन इतना मैं कहूँगा कि थी वह बड़ी चालाक।"[१] इसी तरह उपन्यास के आरम्भ में वह लिखता है—"अपने जीवन की सबसे पहली घटना जो मुझे याद है वह खूब साफ नहीं है…।"[२] कहीं-कहीं वह तत्कालीन बात को वर्तमान स्थिति से प्रमाणित करता है—"आज बीस-पचीस बरिस बाद भी पहलेजा वाली गाड़ी का यही हाल है। साली इतनी इतनी देर बैठाती है कि दिमाग कुफ़त हो जाता है।"[३]

नागार्जुन ने उपन्यास के आरम्भ-अन्त पर विशेष दृष्टि रखी है। इसके लिए लेखक ने उपन्यास के आरम्भ में वस्तुनिर्देशात्मक एवं उत्सुकता-उद्बोधक रोमांचक घटना रखी है। उपन्यास के प्रारम्भ में कुछ ही पंक्तियों में अपने साधारण परिचय के बाद, बलचनमा कहता है—"अपने जीवन की सबसे पहली घटना जो मुझे याद है...मालिक के दरवाज़े पर मेरे बाप को एक खंभेली के सहारे कसकर बाँध दिया गया है। जांघ, चूतर, पीठ और बाँह—सभी पर बाँस की हरी कैलो के निशान उभर आए हैं, चोट से कहीं-कही खाल उघड़ गई है...।"[४] लेखक ने विशेष अभिप्राय से निम्नवर्ग पर ज़मींदारों के दारुण अत्याचार की घटना को आरम्भ में रखकर उपन्यास की वर्ग-विषमता वाली प्रकृति का ज्ञान करा दिया है। दूसरे, मनोवैज्ञानिक चरित्र-चित्रण की दृष्टि से भी इसका अपना महत्व है। बलचनमा की इस सबसे पुरानी स्मृति—जिससे वह अपनी जीवन-कथा का आरम्भ करता है – से उस के जीवन की उस प्रारम्भिक प्रवृत्ति (रुझान), या मूलभूत दृष्टिकोण का पता चल सका है,[५] जिस का उत्तरोत्तर विकास इस उपन्यास का लक्ष्य है। उपन्यास का अन्त भी ज़मींदारों के अत्याचार की घटना से होता है।[६] अन्तर केवल यही है कि पहले बाप था अब बेटा है; दूसरे, पहले अत्याचार को विवशता से सहन किया गया था और अब वर्ग

१. पृ० १९। २ वही। ३. पृ० ४७। ४. पृ० ३।

५ Adler : "What life should mean to you", p 75.

६. "बलचनमा" की अन्तिम दो पंक्तियाँ हैं—"पहले ने अब मेरे सिर पर ज़ोर से लाठी मारी— एक नहीं, दो बार...मैं बेहोश होकर जमीन पर लुढ़क गया।"

विषमता के विरुद्ध संघर्ष में आहत होना पड़ा। पहली केवल करुण थी, दूसरी करुण के साथ भावी क्राँति की संकेतक—लेखक के उद्देश्य की व्यंजक—भी है।

पाठकों की भावनाओं को स्पंदित करने के लिए या उनकी संवेदना को जागृत करने के लिए साहित्यकार प्रायः अपनी रचना में वेदना-तत्व का समावेश किया करते हैं। इस उपन्यास की विषय-प्रकृति ही ऐसी थी कि यहाँ सहज रूप में इस तत्व का विशेष सन्निवेश हो सकता था। यहाँ निम्न वर्ग की विषम-स्थिति-जन्य करुण मार्मिकता की सृष्टि करने वाली अनेक घटनाएँ हैं किन्तु लेखक ने करुणोत्पत्ति के साथ-साथ, जमींदारों या उच्चवर्ग वालों को क्रोधित गालियाँ सुना कर, या व्यंग्य-विद्रूप कर इस वेदना का वध भी कर डाला है और वेदना-संवर्धन को स्वल्प अवकाश दिया है। यही कारण है कि यह उपन्यास पाठकों के मार्ग-निर्देशन में जितना सफल हो सकता है, उतना उत्प्रेरणा देने में नहीं।

'बलचनमा' चरित्र-कथा है—यहाँ बलचनमा का चरित्र, कथा का अंग नहीं, कथा चरित्र का विकास है। नागार्जुन का लक्ष्य किसी सुगठित कथा-वस्तु के निर्माण का नहीं था। वस्तुतः यह बलचनमा के जीवन के खण्ड-चित्र के साथ-साथ उसकी अनुभव-गाथा भी है। जैसे अनुभव कोई साधारण, कोई महत्वपूर्ण, कोई रोमांचक, कोई कौतूहलपूर्ण हो सकता है, वैसे ही इस औपन्यासिक कथा का स्वरूप है। यदि इस उपन्यास से कुछ अनुभव-प्रसंग निकाल दिए जाएँ तो बलचनमा की व्यक्तिगत जीवन-कहानी में कोई अन्तर नहीं आएगा—यथा, सुखिया नौकरानी पर भूत सवार होने तथा ओझा के द्वारा उतारने का प्रसंग—किन्तु अंचलीय यथार्थ के चित्रण में कमी अवश्य आ जाएगी। इसी तरह बलचनमा के अनेक तत्कालीन राजनैतिक आंदोलनों के अनुभवों को समझना चाहिए।

'बलचनमा' चरित्र-कथा है किंतु तात्विक दृष्टि से इसमें चरित्र-तत्व की अपेक्षा उद्देश्य की प्रधानता है। लेखक की राजनैतिक मतवादिता ने चरित्र-चित्रण को भी चालित किया है। बलचनमा के चरित्र के अन्तिम भाग में विकास की त्वरा अधिक है—वह जैसे पहले से ही सोशिलस्ट हुआ बैठा था। बलचनमा के चरित्र-विकास के अन्य कारण क्योंकि स्वाभाविकता से व्यक्त हुए हैं अतएव यह कमी कुछ खटक कर रह जाती है किन्तु फूलबाबू तथा राधाबाबू के चरित्र-विकास में लेखक की मतवादिता के कारण असंगति उभर कर सामने आई है। फूल बाबू का जो आरम्भिक चित्र हमारे सामने आया है उसमें भूकम्प के अवसर की भ्रष्टाचारिता की बीजावस्था का कोई संकेत नहीं मिलता। यही बात राधाबाबू के मत-परिवर्तन की है—उसके संगत कारण नहीं दिए जा सके। हमारे मत की पुष्टि इसी से हो जाती है कि फूल बाबू और राधा बाबू—दोनों धनी जमींदारों—के उन संस्कारों या बाह्य परिस्थितियों का उल्लेख नहीं हो सका जिनके कारण उनका आगे चरित्र-विपर्यय हो गया है।

लेखक की सारी कुशलता बलचनमा के पर्याप्त (पूर्ण नहीं) संगत चरित्र-विकास के चित्रण में है। उसके चरित्र-निर्मायक तत्वों का स्पष्टीकरण भली-भांति किया जा सकता है—

(क) वंशज संस्कार—लेखक ने बलचनमा की बलिष्ट डील-डौल को उनके पूर्वजों से जोड़ा हैं।[१] उसकी चरित्र-दृढ़ता में उसकी माँ के संस्कार हैं। उसकी मां ने अपने आचरण तथा कथन से यही सिखाया था कि "मर जाना लाख गुना अच्छा है मगर इज्जत का सौदा करना अच्छा नहीं"।[२]

(ख) विपत्ति—विपत्तियाँ मनुष्य को संघर्ष-विघर्ष के लिए कठोर तथा मानवता के लिए संवेदनशील बना देती हैं। बलचनमा का जीवन इसे प्रमाणित करता है—"थोड़ी ही उमर का था मैं, तभी बाबू मर गया, घर पर मुसीबत का पहाड़ गिर पड़ने से हमारी गिरस्ती चौपट हो गयी थी। दादी और माँ ने न जाने कितनी कठिनाई से हम दोनों भाई-बहिनों को पाल-पोसकर चेतन बनाया था। न जाने कै घड़े आँसू से हमारा बचपन सींचा गया था।"[३] उसकी विपत्तियों का मूल कारण था गरीबी। इसी से छुटकारा पाने के लिए बलचनमा को सतत संघर्ष करना पड़ा। वह ठीक ही कहता है—"घर जाने पर माँ को जब कठौती में मडुआ का आटा गूंथते देखता तो अपनी गरीबी हलकी नोंक बनकर कलेजे को फाड़ने लगती"।[४]

(ग) अनुभव—जैसाकि स्पष्ट किया जा चुका है कि बलचनमा के जीवन-विकास में अध्ययन का नहीं, अनुभवों का हाथ है। बलचनमा अपने सत्रहवें वर्ष में कहता है—"दुनियाँ की बातों को समझने के लिए जिस पक्की उमर की ज़रूरत है वह यहाँ नहीं थी। फिर भी छोटी-छोटी दो आँखे थीं ? दो कान तो थे"।[५] उसकी बहिन पर बलात्कार का प्रयास हुआ। इस कटु अनुभव ने उसकी 'जिनगी के बहाव को ही मोड़ दिया',[६] उसे स्पष्ट हो गया कि जमींदार किस सीमा तक गिर सकता है और गरीब उसका कुछ विगाड़ नहीं सकता। तथा-कथित बड़े लोग भी सबल का ही साथ देते हैं। कर्मण्यता या संघर्ष-शक्ति उजड्ड में भी हो सकती है किन्तु सजीवता अनुभवों से प्रभाव-ग्रहण की क्षमता में है। बलचनमा में यही सजीव कर्मण्यता है।

(घ) संस्कृति-सम्पर्क—बलचनमा ने अपनी सजीवता का उपयोग गाँव से नगर जा कर विशेष रूप से किया। नगर जाकर वह गाँव के रूढ़िबद्ध विश्वासों से मुक्ति पा समझ सका कि मालिकों से संघर्ष किया जा सकता है और इसके लिए भगवान्-भरोसे बैठने की आवश्यकता नहीं।[७]

(ङ) अर्थ या वर्ग-दृष्टि—लेखक ने प्राय: अमीरी-ग़रीबी पर दृष्टि रखकर

---

१. पृ १०६। २. पृ० ७९। ३. पृ० १०६। ४. पृ० ३७।
५. पृ० ६. पृ० ६९। ७. पृ० ७९।

चरित्र-चित्रण किया है। इस सम्बन्ध में उसका दृष्टिकोण है—"बड़े घर के बच्चे तुनुक-मिजाज तो होते ही हैं, घमंड, फरेब और झूठ—यह बड़ी आसानी से उनके अन्दर जड़ कर जाते हैं। मचलना, रूठना, बिदकना, रंज होना—यह सब वे माँ-बाप ही से सीखते हैं। अच्छाई जो कुछ सीखते हैं, उनमें ज्यादा हिस्सा नौकर-चाकर और गरीब पड़ोसियों की देन रहती है"।[1] अन्यत्र भी बलचनमा कहता है —"जिन के पास दौलत होती है वह निपट अंधे होते हैं, अपना-पराया कुछ नहीं सूझता"।[2] केवल रामबाबू का चरित्र-चित्रण ही इसका कुछ अपवाद है। उपर्युक्त धारणा स्पष्ट ही अतिरंजित पक्षधरता को लिए हुए है और ये कलात्मक चरित्र-निर्माण में बाधक है।

(च) मतवाद—लेखक सोशिलस्ट मतावलम्बी है इसलिए वह किसी कांग्रेसी या गाँधीवादी को सहानुभूति नहीं दे सका। प्रमुख पात्रों के चित्रण में लेखक ने मत-दृष्टि से तो काम लिया ही है, विशेष प्रसंग-योजना से भी इसे चरितार्थ किया है। एक ही उद्धरण पर्याप्त होगा; बलचनमा कहता है—"ससुर नेता थे, लड़की को गाँधी जी के आश्रम में रखकर पढ़ा-लिखा रहे थे। आगे चलकर उन्हें लीडरनी बनना था। उनका एक फोटो कामेन्द्र बाबू के रहने के कमरे में था। सूखा चेहरा, धंसी आँखे, पिचके गाल। सामने चरखा पड़ा था। नाम कनक किशोरी था"।[3] यहाँ व्यंग्यात्मक बहिरंग चरित्र-चित्रण है—नाम और आकृति दोनों है।

बलचनमा अपने जीवन-मार्ग पर बढ़ते हुए जिन-जिन पात्रों से सम्पर्कित हुआ, अथवा जिनकी देखी-सुनी बातें उसे वर्णनीय लगीं, उन सबकी लघु-लघु झाँकी उसने प्रस्तुत की है। इसलिए यहाँ गौण पात्रों की भरमार हो गई है। ये हैं—मालकिन गुनमन्ती, नौकरानी सुखिया, चरवाहा सबूरी मंडल, माँ, दादी, बहिन रेबनी, छोटे मालिक, दामो ठाकुर, धनवंती, चाची, मनियार मामा, मित्र चुन्नी, विधवा जानकी, महेन्द्र बाबू, अनीता, लवंगलता, शुभंकर ठाकुर, सुगनी, रहमान बाबू, लतीफ, कामेन्द्र प्रसाद नारायण सिंह, स्वामी जी, शर्मा जी : रामखेलावन, पचकौड़ी बाबू, हमीदा, ब्रजबिहारी, बल्ली बाबू, जमींदार बहादुर, सादुल्लाखां, बंभोला झा, कपिलेसर, बिपिन बिहारी, लालदास, तारानंद बाबू, आदि। इनमें से कुछ पात्र बलचनमा-परिवार के सदस्य हैं, कुछ उसके वर्ग-संघर्ष के साथी, कुछ जमीदार और उनके नौकर या चाटुकार, कुछ लीडर, कुछ बलचनमा के परिजन-मित्र और कुछ गाँव के सामान्य व्यक्ति। ये सब मिलकर अंचल तथा वर्ग-संघर्ष के स्वरूप को स्पष्ट करने हैं—यही इनकी सार्थकता है। लेखक ने पात्रों की आपसी पृथकता की पहचान की वर्गगत विशेषता के लिए अधिकांश पात्रों का रुपाकार अवश्य कुशलता से अंकित किया है किन्तु आंतरिक चरित्र का अवकाश उसे नहीं मिला। बलचनमा का अन्तरंग चित्रण

१. पृ० १२७। २. पृ० ६७। ३. पृ० १२६।

अवश्य मिलता है। क्रांति के जोश में भी उसे अपने घर का होश रहता है; जैसे, आक्रमण करने वाले शत्रुओं के रूप में मौत को सामने देख कर 'घिरनी' की तरह उसका दिमाग नाचने लगता है ".. बेटी, औरत, माँ, गन्ने की फसल .." ।[१] उसकी संवेदनशीलता का परिचय पहले दिया जा चुका है।

नागार्जुन ने अपने उद्देश्य के अनुकूल वर्गगत पात्र ही है, फिर भी, प्रमुख पात्र बलचनमा में व्यक्ति-वैशिष्ट्य भी हैं। वह सामान्य भूमि-श्रमिक-खेतिहर होता हुआ भी विशिष्ट है। उसमें एक साधारण भारतीय ग्रामीण की श्रद्धा की अपेक्षा लेखक की समाजवदी तार्किकता बढ़ गई है। इस दृष्टि से वह जागरूक किसान का प्रतिनिधि है, साधारण किसान का नहीं।

वार्तालाप-तत्व स्वल्प किन्तु स्वाभाविक है। बोलते समय पात्रों के अयत्नज अनुभावों का उल्लेख यथार्थ है--इससे उनके कथनों के भीतरी-बाहरी स्वरूप का अनुमान लगाया जा सकता है। बलचनमा की भाषा-शैली में यथार्थवादी शैली की प्रचुर विशेषताएँ मिलती हैं। अशिक्षित-ग्रामीण पात्रों तथा अंचलीय चित्रण के अनुकूल 'बलचनमा' की भाषा-शैली में लोक-प्रचलित तद्भव शब्दों-अच्छत, पख, टीसन, जिनगी, जकसन, लाटफारम, मजूरी, जुग, साइनबोट आदि—का प्राधान्य है। ये शब्द अँग्रेजी, उर्दू, संस्कृत किसी भी भाषा के हो सकते है। शब्दों के ग्रामीण लोकोच्चारणों का बाहुल्य है; जैसे - सैतान, सिनेह, अंचार, अकास, बरमवध, इसकूली, परफेसर, आसरम आदि। विभिन्न क्रियाओं की यथातथ्य ध्वनियों की चित्रित करने का प्रयास किया गया है, इसलिए देशज शब्द भी बहुत मिलते हैं। आँचलिक वातावरण के अनुकूल स्थानीय या आँचलिक शब्द भी प्रचुर मात्रा में मिलते हैं। कठिन आँचलिक शब्दों के फुटनोट या कोष्ठ में अर्थ दे दिए गए हैं। कहीं-कहीं लोकगीत भी हैं।[२] वर्ग-वैषम्य की विषय-कटुता के अनुकूल प्रगतिवादी-यथार्थवादी व्यंग्यात्मकता का विशेष आश्रय लिया गया है। बलचनमा अपना गुस्सा स्थान-स्थान पर निकालता रहता है इसलिए सानुकूल खरी-खड़ी तथा तीखी शैली की योजना हुई है।

सुनाने वाली शैली की स्वाभाविकता, व्याकरण की अव्यवस्था तथा लघु-लघु वाक्य-योजना में देखी जा सकती है। यहाँ एक-एक शब्द के भी वाक्य हैं। दोहरे शब्दों—सहयोगी, पर्याय, ध्वन्यात्मक आदि—का भी विशेष प्रयोग हुआ है; जैसे—झिल्ली-कचरी, लाई-मूढ़ी, लावा-फुटहा, मखान-मेवा, रस-रसोई, दवा-दारु, पथ-पानी, दाख-किसमिस, गड़ी-छुडाहा, बीड़ी-पान, झगड़ा-झमेला, लाई-लेपटाई, लल्लो-चप्पो आदि। कहीं-कहीं बलचनमा प्रगतिवादी लेखक की रूढ़ भाषा बोलने लगता है, जो विषयानुकूल होते हुए भी पात्रानुकूल नहीं कही जा सकती और कुछ अस्वाभाविक

१. पृ० २०० । २. पृ० १६१ ।

हैं। प्रचलित मुहावरे-लोकेक्तियों के प्रयोग से भाषा में लोकभाषा की सजीवता आई है। बलचनमा की शिक्षा-संस्कृति के अनुकूल उपमाएँ जुटा कर भाषा के स्वाभाविक सौन्दर्य तथा शक्ति को बढ़ाया गया है। यथा—"दाँत दनुफ के फूल जैसे झक-झककर रहे थे"[1], "बिना छोंकी दाल की तरह बिना जी-हुजूरी की बात, उनको पसंद नहीं पड़ती"[2], "चेहरा एकाएक सपेता मालदह जैसे हो गया"[3], (छोटा होने पर भी) बतिया खीरा-सा लगना[4], "कलेजा केले के पत्ते की तरह कांप रहा था"[5]। "सैतान झिंगुर की तरह झझकार रहा था[6]", "राय चिरैता सी कड़वी लगी"[7], "खस की कूची के बाल"[8], "दिया-जैसी नाक"।[9]

सारांश में, पात्र (बलचनमा) तथा वातावरण (आँचलिकता) के अनुकूल भाषा-शैली ने, बलचनमा की आत्मकथा को वास्तविकता देने में सफलता पाई है। इससे यह प्रतीति होती है कि कोई भुक्त-भोगी बड़ी सचाई से अपनी आप-बीती सुना रहा है। दूसरे, हिन्दी उपन्यास-साहित्य में अंचलीय वातावरण-विधान में समर्थ अंचलीय भाषा का सर्वाधिक प्रयोग पहले इस उपन्यास में हुआ।

कुल मिलाकर अंचल-चित्रण में यथार्थवादी अंकन-कला की प्रभविष्णुता, कथानक के आरम्भ-अन्त की कुशलता, आत्मकथात्मक पद्धति की रमणीय आत्मीयता एवं विश्वसनीयता, यत्किंचित् प्रसंगों की मार्मिकता, कथानायक की चारित्रिक सजीवता तथा विषय की एकता इस उपन्यास के सबल पक्ष हैं। वाद-विशेष से प्रेरित चरित्र-सृष्टि की अस्वाभाविकता, राजनैतिक पक्षधरता की एकांगिता, संवेदक ऊष्मा की क्षीणता आदि इस उपन्यास के दुर्बल पक्ष हैं।

आलोचना जगत् में आँचलिक शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम 'रेणु' ने "मैला आँचल" की भूमिका में किया; उन्होंने अपने उपन्यास को आँचलिक माना तथा सभी आलोचकों में यह मान्य हो गया है। स्थानाधारिता नामकरण, विशिष्ट स्थान-केन्द्रित कथा, विशिष्ट स्थान का बहुरंगी-चित्रण, समूह-पात्र के चरित्रांकन का प्रामुख्य, स्थानीय पात्रों या समूहपात्र के दृष्टिकोण से कथा-कथन, पात्र की बजाय स्थान का नायकत्व, लोक-उपादानों का प्राचुर्य आदि विशेषताएँ इन दोनों उपन्यासों की आँचलिकता के उपकरण हैं।

'मैला आंचल' अपने शीर्षक से विषय को व्यंजित करता है, और उपन्यास का प्रमुख पात्र डॉ० प्रशान्त इस शीर्षक की आधारभूत पंक्तियों को व्यक्त :—

भारतमाता ग्रामवासिनी
खेतों में फैला है श्यामल
धूल भरा मैला-सा आँचल।[1]

ये पंक्तियां सुकवि पंत की 'ग्राम्या' की हैं और इस उपन्यास में भी एक मैले ग्रामीण अंचल—आधुनिक प्रगतियों से शून्य 'वज्र देहात'[2]—का चित्रण है। लेखक ने बिहार राज्य के पूर्णिया जिले के मेरीगंज गाँव को—पिछड़े गाँवों का प्रतीक मानकर[3]—इस उपन्यास का कथा-क्षेत्र बनाया है। इस प्रतिनिधि-प्रतीकात्मकता के अभाव में, उद्देश्य में व्यापकता न आ पाती और मैला-आँचल' गाँव-विशेष का ही चित्रण होकर रह जाता; "ज़ार-बेज़ार रोने वाली"[4] भारतमाता का चित्र न बन पाता। 'परती: परिकथा' का कथा-केन्द्र भी उपर्युक्त पूर्णिया जिला का एक दूसरा ग्राम परानपुर है। परन्तु 'मेला आँचल' के मेरीगंज के विपरीत उसे अपेक्षाकृत उन्नत गाँव के प्रतीक के रूप में चित्रित किया गया और उसकी दुर्दशा का भी सामान्यीकरण हुआ है। "परानपुर ही नहीं, सभी गाँव टूट रहे हैं, गाँव के परिवार टूटे हैं, व्यक्ति टूट रहा है—रोज़ रोज, काँच की तरह"।[5]

भारत-माता का 'आँचल' 'मैला' है क्योंकि साधनों और हिम्मत के अभाव में कितनी ही भूमि अनुपजाऊ पड़ी है—"विशाल मैदान!···वंध्या धरती !···यहीं है वह मशहूर मैदान—नेपाल से शुरू होकर गंगा किनारे तक—वीरान, धूमिल अंचल। मैदान की सूखी हुई दूबों में चरवाहों ने आग लगा दी है—पंक्तिबद्ध दीपों जैसी लगती है दूर से"।[6] 'मैला आँचल' में देखी गई इस बन्ध्या या 'परती' भूमि की 'परिकथा' ही दूसरे उपन्यास में है—'परती : परिकथा' उपन्यास सीधे-सादे शीर्षक से ही अपनी कहानी का संकेत दे रहा है। उसका आरम्भ इसी से हुआ है—"धूसर, वीरान,

१. पृ० १८१। २. पृ० ६८। डॉ० प्रशांत मेरीगंज को यही समझता है।
३. भूमिका, 'रेणु' के शब्द। ४. बावनदास के शब्द। ५. पृ० १६। ६. पृ० ४०१।

अन्तहीन प्रान्तर, पतिता भूमि, परती जमीन, वन्ध्या धरती। धरती नहीं, धरती की लाश, जिस पर कफ़न की तरह फैली हुई हैं—बालूचरों की पंक्तियाँ। उत्तर नेपाल से शुरू होकर, दक्षिण गंगा तट तक। कथा होगी अवश्य इस परती की भी।"[1] 'मैला आँचल' में 'परती' पृथ्वी का यत्र-तत्र उल्लेख है, मूल समस्या वह 'परती : परिकथा' की ही है। जितेन्द्र को उन सब ग्रामीणों से संघर्ष करना पड़ा है जो 'परती' को न जोतने देने की धार्मिक रूढ़ि, पुराने हलों के स्थान पर नए वैज्ञानिक साधनों—ट्रेक्टर आदि—के उपयोग के संबंध में आशंका-अज्ञानता, तथा कोसी मैया पर बांध न बाँधने देने की अंधविश्वासमयी कल्पनाओं में ग्रस्त रहे हैं। ग्रामीणों की इस प्रतिगामिता का विश्लेषण भी हुआ है। भारतीय ग्राम संसार में होने वाले प्रगति-परिवर्तनों से अनभिज्ञ रहे हैं। "यह बात नहीं कि पहले कभी कोई परिवर्तन नहीं हुआ समाज में। परिवर्तन होते रहे हैं—बात है परिवर्तन की गति की!—बैलगाड़ी और जेट प्लेन की गति!—"[2] भारतीय ग्रामों की गति बैलगाड़ी की ही रही – यही विडम्बना है परानपुर की भी।

परती भूमि का प्रश्न मुख्य रूप से 'परिकथा' और गौण रूप से 'मैला आँचल' में है परन्तु सामान्य भूमि की समस्या दोनों उपन्यासों की मूल समस्या है—यही ग्रामीणों के नैतिक-अनैतिक अचारणों को प्रेरित करती है। भूमि किसानों के आजीविका-अर्थ का साधन भी है और इससे उनका एक सहज भावात्मक सम्बन्ध भी रहता है। 'मैला आंचल' का डॉ० प्रशांत यही अनुभव करता है कि खेतों में फैली हुई काली मिट्टी की संजीवनी इन्हें जिलाए रखती है। शस्य श्यामला, सुजला-सुफला (क्या) इनकी माँ नहीं" ?[3] ऐसी अवस्था में जमींदार की क्रूरता के कारण अपनी ज़मीनों से बेदखल हो जाने वाला किसान कैसे न छटपटाए, संथालों की तरह कैसे न तीर चलाए ? और जितेन्द्र की तरह, वैज्ञानिक साधनों को पा, क्यों न अपनी दमित-अमूर्त कल्पनाओं को गुलाब की खेती के रूप में साकार करे ? दोनों उपन्यसों में भूमिजनित संघर्षों का वर्णन है। 'रेणु' जी ने इस संघर्ष के यथार्थ-चित्रण के लिए, जहाँ किसानों का भूमि से सहज भावात्मक सम्बन्ध चित्रित किया है, वहाँ उनके आर्थिक सम्बन्ध का भी पूरा विचार रखा है। आजीविकाधार होने के कारण, गाँव में भूमि ही अर्थ है। धार्मिक मठों को हथियाने के लिए इसलिए प्रयत्न होते हैं कि उसके साथ भूमि जुड़ी हुई है। राजनीतिक पार्टियाँ भी अपनी भूमि-नीति से ग्रामीण समाज को प्रभावित करने का प्रयास करती हैं। सरकार के भूमि सम्बन्धी कानून ही दोनों उपन्यासों में संघर्षों को जन्म देते हैं। 'मैला आंचल' में जमींदारी उन्मूलन और 'परती: परिकथा' में इसके बाद का लैण्ड सर्वे सैटलमैंट समस्याओं का व्यापक

---

१. "परती : परिक़था", पृ० १। २. वहीपृ, ० ४२७। ३. पृ० २२८।

रूप प्रस्तुत करते हैं। 'मैला आँचल' में जमींदार अपनी चतुर नीति—जिसमें महाजनी तरीके भी हैं—से धीरे-धीरे लगभग सारे गाँव की ज़मीन अपने अधिकार में कर अनेक किसानों को शहर की मिलों में मज़दूरी के लिए सोचने पर बाध्य कर देता है। इस तरह 'रेणु'जी ने गाँव के उजड़ने का चित्रण किया है। एक जमींदार को छोड़कर कोई प्रसन्न नहीं— "सब के चेहरे पर एक उदासी, एक मनहूस काली रेखा खिंची हुई है।··· मन में रंग नहीं"।[१] "भारतमाता ज़ार-बेज़ार रो रही है'[२] और सुनहरे खेतों वाली स्वर्णांचला धरती, शोषण के कारण, मलिनाँचला हो गई है—'मैला आँचल' के नामकरण का यह दूसरा संकेत है। 'मैला आँचल' में शोषण का स्वरूप स्पष्ट होता है और अन्त में जमींदार के हृदय-परिवर्तन से गाँव के प्रत्येक परिवार को पाँच बीघा ज़मीन का समान वितरण हो जाता है। इसे भूदान कह सकते हैं पर स्वयं जमींदार इसे 'दान' नहीं मानता—"यह ज़मीन तो उन्हीं किसानों की है, नीलाम की हुई, जब्त की हुई, उन्हें वापस दे रहा हूँ"।[३] 'रेणु' जी ने भूमि-समस्या के इस बाह्य भौतिक रूप के अतिरिक्त आंतरिक सांस्कृतिक पक्ष को भी समान महत्व दिया है। इसी से उनका चित्रण सर्वांगी हो सका है। बाहर के कानूनों से सुधार-व्यवस्था लाने के प्रयत्न यहाँ ग्रामीणों की अशिक्षा-अज्ञानता के कारण असफल होते हैं। किसानों की जहालत से लाभ उठाकर चतुर जमीदार कानून बनने से पहले ही कानून को बेकार करने के तरीके गढ़ लेता है।[४] डॉ० प्रशान्त यह सब अनुभव करता है। वह वैज्ञानिक प्रयोगों से गाँव के घातक रोगों को दूर करने की अनुसन्धित्सु मेधा को लेकर नगर से गाँव आता है। किन्तु यहाँ वह कुछ और ही पाता है; ममता को लिखता है—"तुम जो भाषा बोलती हो, उसे ये नहीं समझ सकते। तुम इनकी भाषा नहीं समझ सकती। तुम जो खाती हो, ये नहीं खा सकते। तुम जो पहनती हो, ये नहीं पहन सकते, तुम जैसे सोती हो, बैठती हो, हँसती हो, बोलती हो, ये वैसा कुछ नहीं कर सकते। फिर तुम उन्हें आदमी कैसे कहती हो!···वह आदमी का डाक्टर है जानवर का नहीं— भूख और बेबसी से···तिल-तिल कर घुल घुल कर मरने के लिए उन्हें जिलाना बहुत बड़ी क्रूरता होगी।···यहाँ इन्सान हैं कहाँ?···अभी पहला काम है जानवर को इन्सान बनाना"।[५] इसलिए 'रेणु' जी ने इस वैज्ञानिक प्रयोगी को ग्राम-साधक कर्मयोगी बना दिया; कारण, 'मिट्टी और मनुष्य से गहरी मुहब्बत' किसी 'लेबोरेटरी' में नहीं बनती'[७] और गाँव के सांस्कृतिक उत्थान का संकल्प करने वाले के लिए यह ज़रूरी है। इस प्रश्न को और भी व्यापकता दी गई है। मिट्टी और मनुष्य की शुभ चिन्ता तथा संस्कृति से रहित

---

१. पृ० ४०४। २. बावनदास के शब्द। ३. पृ० ४०४। ४. पृ० २२८।
५. पृ० २२९। ६. पृ० ४०७। ७. पृ० ४०५।

होकर विज्ञान विश्व के लिए अभिशप्त हो उठा है क्योंकि "साम्राज्यलोभी शासक संगीनों के साये में वैज्ञानिकों के दल···प्रयोग कर रहे हैं"।[1] इस तरह 'मैला आँचल' में गाँव के शोषण-स्वरूप के सामाजिक प्रश्न के साथ शाश्वत सांस्कृतिक प्रश्न को संयुक्त किया गया है।

'परती : परिकथा' में 'मैला आँचल के उपर्युक्त सांस्कृतिक प्रश्न को और भी विस्तार से लिया गया है। इससे यह उपन्यास केवल परती धरती की परिकथा न होकर ग्रामीणों के मन की परती की कथा भी हो गई है। यहाँ गाँव की वैज्ञानिक तथा सांस्कृतिक प्रगति को समतुल्य महत्व दिया गया है। यह उपन्यास हमें अनुभव कराता है कि 'परती धरती को विज्ञान की अभिनव प्रयोग-विधियों से जोतने के साथ ग्रामीणों के मन की 'परती'—अशिक्षा-अज्ञानता तथा अंधविश्वासों—को तोड़ने और उनकी स्वानुभूति को जगाने की आवश्यकता भी है; अन्यथा भारत-सरकार की उपयोगी से उपयोगी योजनाओं का भी स्वागत नहीं हो सकता। 'परती : परिकथा' का प्रमुख पात्र जितेन्द्र यही सोचता है—"पिछले पाँच सौ वर्षों की बेकार पड़ी हुई परती पर खेती के लायक जमीन पाई गई। देश के लोगों की बात दूर, गाँव वाले भी नहीं जानते कि सरकार परती क्यों तोड़ रही है। कोसी योजना की सबसे बड़ी पेचीदा समस्या हल हुई है। दुलरीदाय को कोसी की मुख्यधारा से संयुक्त करके सिर्फ करोड़ों रुपए की बचत ही नहीं, करोड़ों की आमदनी भी होगी।—बेचारी जनता का क्या दोष ? ऊपर से थोपे हुए सुख को वे क्या समझे ?—मन की परती ज्यों-की-त्यों पड़ी हुई है। वीरान होती जा रही है। लगता है, मन को छूने वाला मंत्र ही हम भूल गए हैं"।[2] जितेन्द्र और इरावती अन्यत्र भी यही सोचते हैं—"प्राण नहीं। अनुभूति नहीं ! अब मनुष्य को यन्त्र चला रहा है। टेकनालोजी के युग में हम लोग जीवन-उपभोग का मूल तकनीक ही खो बैठे हैं। हज़ारों-हज़ार जनता के बीच भी हरेक आदमी विच्छिन्न है, अकेला है। हँसी-खुशी, उत्तेजना-अवसाद, आनन्द-उल्लास—सभी यांत्रिक" ![3] 'परती : परिकथा' का मूल संघर्ष यही है, जो 'मैला आँचल' से बहुत व्यापक है। 'मैला आँचल' में डॉ० प्रशान्त के मन में मिट्टी और मनुष्य की मुहब्बत पैदा की गई है पर उन सुयोजित कार्यक्रमों का चित्रण नहीं किया गया जिनमें इस 'मुहब्बत' की सार्थकता सिद्ध हो सके। 'परती : परिकथा' के जितेन्द्र में भूमि-मानव के प्रति रागात्मक तत्व के उद्बोधन के साथ, उसके द्वारा ग्रामीणों के व्यापक सहयोग से, ऐसे लोक-मंच का निर्माण भी हुआ है, जो एकांकी, सामूहिक गीत, नृत्य[4] आदि के प्रदर्शन से गाँव के सांस्कृतिक अनुष्ठान में सहायक सिद्ध हो सकता है।

१. पृ० ४०५। २. "परती : परिकथा", पृ० ४९८। ३. वही, पृ० ४८४।
४. पृ० ४९६।

दोनों उपन्यासों में व्यापकता की व्यंजना अत्यन्त सीमित तथा अचीन्हे अंचल-चित्रण के माध्यम से हुई है। मेरीगंज और परानपुर—दो अंचल-विशेष—के चित्रण में लेखक ने अपनी सूक्ष्म निरीक्षण-शक्ति, संवेदनात्मक प्रतिभा तथा अंचलीय मूल्य-मर्यादाओं के सहानुभूतिपूर्ण आकलन की योग्यता का अच्छा परिचय दिया है। इन स्थानों की भूगौलिक स्थिति, खंडहरों-नदी-नालों, जलवायु, बारिश-बाढ़, उपज-उपादान, पशु-पक्षियों आदि का पूरा परिचय—मानों गाँव का सर्वांगी मानचित्र—दिया गया है। इन गाँवों की राजनैतिक, धार्मिक, सांस्कृतिक तथा सामाजिक परिस्थितियों का प्रायः तटस्थ प्रतिरूपण हुआ है। इनकी वर्ग-व्यवस्था, जातिगत विषमता, रीति-रिवाज, आचार-व्यवहार, खान-पान आदि भी उरेहित हुए हैं। लेखक ने मैथिलों की खास पहचान के रूप मेंउनके ठहाके तक का परिचय दिया है—"ई-पी-ही-ही-हो ! ई-पी-ही-ही-ही !! इसको मैथिलाम ठहाका कहते हैं। मैथिलों की खास पहचान ! कण्ठ से कठाई हुई हँसी के साथ निकलता है यह ठहाका !"[१] मेरीगंज के नामकरण की कहानी और परानपुर की जनसंख्या भी वताई गई है। कितने लोग पढ़े हुए हैं, कितनों ने कौन-कौन सी डिग्री ली हुई है, इसकी भी पूरी-पूरी संख्या दी गई है। दूसरे अंचलों की सापेक्षता में परानपुर का वैशिष्ट्य भी स्पष्ट हुआ है। और परानपुर का पता भी—"ग्राम—परानपुर, थाना रानीगंज, परगना हवेली—"। यही नहीं, परानपुर की पुरातनता के सम्बन्ध में लेखक पुरानी 'रिपोर्ट' का उल्लेख करता है—"१८८० साल में मि० बुकानन ने अपनी पूर्णिया रिपोर्ट में इस गाँव के बारे में लिखा है—पुरातन ग्राम परानपुर। गाँव के स्कूल, पुस्तकालय, नाट्यशाला आदि की स्थापना, और विज्ञान-ज्ञान का इतिहास भी सन् साल के उल्लेख-सहित दिया है। 'परिकथा' में 'रेणु' जी ने अंचल-चित्रण को अनुसंधान की सीमा तक पहुँचा दिया है। उन्होंने अपने सामान्य वर्णन-विवरण तथा प्रतिनिधि अंचलीय पात्रों के आचार-व्यवहार आदि से ही अंचल-चित्रण को पर्याप्त नहीं समझा; आँचलिक अनूसंधानकर्ताओं के रूप में दो पात्रों की विशेष योजना भी की है। भवेशनाथ एम० ए० की परीक्षा देकर—अपनी विशेष रुचि-भावना के कारण—परती के विभिन्न रूपों का अध्ययन करने के लिए परानपुर आया है और यह लोक-तत्व के अनुसंधान के साथ उपन्यास के उद्देश्य में—वैज्ञानिक साधनों से गाँवों के नवनिर्माण सम्वन्धी कल कल्पनाओं में—सहायक है।[२] दूसरे पात्र "सुरपति राय डॉक्टरेट की तैयारी कर रहे हैं। नदियों के घाटों के नाम, नाम के साथ जुड़ी हुई कहानी नोट करते हैं, गीत सुनतें हैं और थीसिस लिखते हैं;[३] सैंकड़ों वर्षों की लोक-कहानियाँ, "सोने की पुरातन मुद्राओं की तरह"[४] एकत्र करते हैं। इन दो पात्रों के अतिरिक्त, एक

१. "परती : परिकथा", पृ० २४१। २. वही, पृ० १२-१३। ३. वही, पृ० १३।
४. वही, पृ० १४।

तीसरे अंग्रेज पात्र ली की झाँकी भी मिलती है, जो इन्टरनेशनल "फोकम्यूज़िक कौंसिल का सदस्य" है और 'फोकम्यूजिक एक्सपर्ट' बनना चाहता है। वह एकत्र करना चाहता है "औनली जेनुइन फोक सांग्स ह्विच हेव हेन्डिड डाउन फ्राम जेनेरेशन टू जेनेरेशन बाइ ओरल ट्राँसमिशन।"[1] इस तरह 'रेणु' जी ने विशेष पात्रों की योजना से लोकतत्व के विभिन्न उपादानों के समावेश के लिए संगत वातावरण तैयार कर लिया है। दूसरे, अनुकूल अंचल के चयन से भी लोकतत्व के समावेश को संगति दी गई है—ली कहता है कि "आप इलाके को, रानीगंज सर्किल को यहाँ के ग्रामगीतों की जन्मभूमि कहते हैं। गुनमती, हांसामारी की विधवा रानियों ने जिनकी रचना की थी, सैकड़ों साल पहले। जो अब गाँव-गाँव में, लोक-कण्ठ में है।"[3] वैसे भी गाँव में शादी-ब्याह, पर्व-त्यौहार, आनंद-उत्सव[2] तथा सुखद ऋतुओं में, ऋतु के अनुसार लोक-गीत गाए जाते हैं।[4] इसीलिए तो भावुक लेखक का उद्गार है—"गीतों के पंख पर उड़ता हुआ गाँव! गीत-गंगा में नहाती हुई औरतें! और जब धरती स्वर्णांचला हो—"सुनहली बालियों से भरे हुए खेतों से गीत की कड़ियाँ, पुरवैया के सहारे उड़ती आती"[5] हों—तो किसान अपनी भाव-विभोरता में सहज ही गा उठता है। इसी तरह छहरती बरसात में खेतों में रोपनी के समय, सैंकड़ों कण्ठों में एक-एक विरहिन मैथिला बैठीं हुई कूक रही होती है।[7] पर इतना ही पर्याप्त नहीं। 'रेणु' जी लिखते हैं—"यहाँ की औरतें रोते समय भी पद जोड़कर, गा-गाकर रोती हैं? पद्यमय रुदन!.. अभी उसी दिन एक और रो रही थी, सुरपति ने नोट कर लिया है—बाबा हो बाबा, सेमरी के फूल फुलल देखि भर-भउलऽऽ-भरम गभउलऽ-ऽ बेटिया बहिउलऽ-ऽ-नदिमें भंसउल-ऽ-ऽ!"[8] 'रेणु' जी ने अपने प्रदेश के प्रसिद्ध प्राचीन कवि विद्यापति के बहुप्रचलित लोकगीतों तथा लोक-भाषा को प्रशस्ति भी दी है और उसका उद्गम स्रोत भी बताया है। इस प्रसंग में "मैला आँचल" का नागरिक पात्र डॉ० प्रशांत भी लेखक की अभिरुचि का भागी बना है—'बिछावन पर लेटकर डॉक्टर सोचता है—कोमल गीतों की पंक्तियाँ! अपभ्रंश शब्द भी कितने मधुर लगते हैं!"..पिया भइले डुमरी के फूल रे पियवा भइले.. "डाक्टर सोचता है—विद्यापति की चर्चा होते ही कविवर 'दिनकर' का एक प्रश्न बरबस सामने आकर खड़ा हो जाता है—'विद्यापति कवि के गान कहाँ से?' बहुत दिनों बाद मन में उलझे हुए उस प्रश्न का जवाब दिया—जिन्दगी-भर बेगारी खटनेवाले, अपढ़ गंभीर अर्धनांगों ने, कवि! तुम्हारे विद्यापति के गान हमारी टूटी झोंपड़ियों में जिन्दगी के

१. "परती : परिकथा", पृ० ३००। २. वही, पृ० ३००। ३. वही, पृ० ३००।
४. वही, पृ० ४८४। ५. वही, पृ० ६०। ६. पृ० १८२। ७. पृ० २४३।
८. "परती : परिकथा", पृ० १६०।

मधुरस बरसा रहे हैं[1] ।..'' इस तरह लेखक के प्रमुख पात्र भी लोकगीतों के विशेष प्रेमी हैं—यह डाक्टर तो ग्राम्य गीतों को सुनकर केस-हिस्ट्री लिखना भी भूल जाता है ।[2] इस उपन्यास में विभिन्न लोक-उपादान मिलते हैं—लोक-कथाएँ,[3] लोक-गीत-कथाएं,[4] लोक-गीत,[5] लोक-पहेलियाँ, लोक-कहावते,[6] लोक-पर्व,[7] लोक-नृत्य,[8] लोक-खेल,[9] तथा लोक-शब्द सब मिल कर लोक-जीवन की सफल-सजीव अभिव्यक्ति करते हैं। उपन्यास में लोक-साहित्य का इतना उपयोग और कहीं नहीं किया गया, जितना 'परती : परिकथा' में हुआ है। लोक-तत्व के समावेश से स्थानीय रंगत अधिक जीवंत तथा परिपूर्ण हो गई है । "लोकसाहित्य की सबसे बड़ी विशेषता तो इसकी यथार्थवादी परम्परा ही है''[10] और उसका यहाँ सुचारु निर्वाह हुआ है । इसके अतिरिक्त लोक-साहित्य का काव्यतत्व अपनी सहजता तथा ताज़गी में प्रभावकारी सिद्ध हुआ है ।

अंचल-चित्रण के उद्देश्य के अनुसार ही उपन्यासों का ढांचा निर्मित हुआ है और इसी अंचल-सापेक्षता ने ऐसे नूतन शिल्प को जन्म दिया है जो उपन्यासालोचन के लिए नए मापमान प्रस्तुत करता है । दोनों उपन्यासों का मूल आलम्बन है गाँव । इसी से उपन्यास का आरम्भ, विकास तथा अन्त होता है । अन्य उपन्यासों के विपरीत

---

१. पृ० १०८-९ । २. पृ० २४३ ।

३. 'रानी डूबी', कोहबर रांडी आदि की कहानी—"परती : परिकथा", पृ० १३,११० ।

४. "सुन्नरि नैका की गीत-कथा", वही, पृ० १८३-१८६ ।

५. "बरसाती लोक-गीत" पृ० ६०, पहाड़ी लोक-गीत, पृ० ७६, "परती : परिकथा"; बारहमासा "मैला आँचल", पृ० २४३-४४ ।

६. 'लड्डू लड़े तो बुंदिया झरे'—"परती : परिकथा", पृ० ३८८ ।
'पहले भीतर, तब देवता पित्तर'—वही, पृ० ११३ ।
'बेटा बेटी केकरी, घी ढारी करे मंगरों । चालानी कहे सुई से कि तेरी पेंदी मे छेद'—मैला आँचल, पृ ७७ ।
'जो हाथ सो साथ, जब तक जीवे-पेट भात ।'—"परती : परिकथा", पृ० ३८९ ।
'छौड़ी सिखावे बुढ़िया को खेल, देखो भाई समय का खेल' वही, पृ० ३९६ ।

७. 'सिरवा पर्व'—"मैला आँचल", उनतीसवाँ परिच्छेद । शामा चकेवा पर्व—"परती : परिकथा", पृ० २६० ७१ ।

८. बिदापत नाच—"मैला आँचल", पृ० ९८-१०८ ।

९. चक्कर-परती खेल, "परती : परिकथा", पृ० ५४ । जाट-जट्टिन-अभिनय—"मैला आँचल", पृ० ३३६-३८ ।

१०. देवेन्द्र सत्यार्थी : "आलोचना" संख्या ३, पृ० ८६ ।

यहाँ आरम्भ में गाँव या अंचल को प्रस्तुत किया गया है, पात्र को नहीं, जैसे, 'मैला आंचल' के प्रथम परिच्छेद से ही, उद्देश्य के अनुकूल, एक अत्यंत पिछड़े हुए गाँप का स्वरूप सामने आ गया है। इसकी आरम्भिक पंक्तियाँ हैं—"गाँव में यह खबर तुरत बिजली की तरह फैल गई—मलेटरी ने बहरा चेथरू को गिरफ्फ कर लिया है और लोबिनलाल के कुएँ से बाल्टी खोलकर ले गए है। यद्यपि १९४२ के जन-आंदोलन की लहर ही इस गाँव तक पहुँच पाई थी, किन्तु जिले-भर की घटनाओं की खबर अफवाहों के रूप में यहाँ तक जरूरी पहुँची थी.." वस्तुतः गाँव में मलेरिया सेण्टर खोलने के लिए कुछ सरकारी आदमी आते है और अशिक्षा-अज्ञानता के कारण गाँव-भर में आतंक की लहर दौड़ जाती है। प्रमुख ग्रामीणों द्वारा इन सरकारी कर्मचारियों के स्वागत के उपलक्ष्य से गाँव की सहमी-टूटी अवस्था तथा जातिगत व्यवस्था सामने आ जाती है। दूसरे परिच्छेद में इस मेरीगंज गाँव या अचल का एक प्रमुख पात्र की तरह, ब्यौरेवार विस्तृत परिचय दिया गया है। 'परती : परिकथा' के पहले परिच्छेद में भी परानपुर के पास की परती धरती की काव्यमयी करुण कथा के बाद तीन परिच्छेदों में परानपुर का सविस्तर परिचय कराया गया है। दोनों उपन्यासों का अन्त भी अंचल-सम्बद्ध है। 'मैला आँचल' के डॉक्टर का चरित्र-विकास तथा जमींदार का हृदय-परिवर्तन भी किसी के लिए हुआ है—गाँव की खुशहाली में उनकी सार्थकता सिद्ध की गई है। इसी तरह परती : परिकथा के जितेन्द्र की व्यक्तिगत जागरूक सफलता पर तब तक प्रश्न-चिन्ह लगा रहता है जब तक गाँव के सामूहिक मन की परती नहीं टूटती। अन्तिम दो परिच्छेदों में किसी पात्र-विशेष (जितेन्द्र) की सफलता-सिद्धि की महिमा का बखान नहीं, नवीन योजनाओं तथा सांस्कृतिक लोकमंच से परिवर्तित गाँव के सक्रिय सहयोग तथा आनंदोल्लास का वर्णन-प्रदर्शन है; अन्तिम परिच्छेद की आरम्भिक पंक्तियाँ हैं···"माघ मास कब गया, फागुन किस दिन आया, परानपुर गाँव को नहीं मालूम, कोयल की मधु लिपटी बोली सुनकर एक-एक प्राणी ने अपने मन के मधु-कोष में देखा—टटके मधु का एक बूँद संचित हो गया है।'[1] स्पष्ट है कि यहाँ आद्यंत समग्र ग्राम पर दृष्टि है—किसी व्यक्ति-विशेष पर नहीं। इसी से उपन्याम के अनेक परिच्छेदों का आरम्भ भी सीधे गाँव से हुआ है।[2] वस्तुतः ये उपन्यास गाँवों के जीवन-विकास की कहानियाँ हैं और इनके विभिन्न प्रकार के पात्रों की अलग-अलग विशेषताएँ मिल-जुल कर गाँव के सामूहिक चरित्र को प्रदर्शित करती हैं। इससे इन उपन्यासों में पात्र-बहुलता की विशिष्टता आ गई है। इतने अधिक तथा इतने भिन्न-रुचि-रूप-गुण वाले पात्र पहले

---

१. "परती : परिकथा", पृ० २२५। २. "मैला आँचल", परिच्छेद संख्या १, २, १३, १४, २४, ३१. ३३, ३३, ३९ आदि।

हिन्दी के किसी उपन्यास में नहीं—केवल 'बूँद और समुद्र' इसका अपवाद है। पात्रों के आधिक्य तथा वैविध्य के बल पर ही गाँव की वहुरंगी गति-विधि को प्रदर्शित किया जा सका है। इन पात्रों की अपनी-अपनी कहानियाँ-सी है और इन पात्रों के अतिरिक्त अंचल से सम्बन्धित अनेक लोककथाएँ भी हैं। इसलिए ये उपन्यास कथा सागर बन गए हैं। जैसे सागर में विभिन्न स्रोतों से आया जल मिल कर एकरूप हो जाता है उसी तरह एक ही अंचल या गाँव-सागर में ये विभिन्न कहानी-नदियाँ विलीन हो जाती हैं। जैसे सागर संग्रह नहीं, वैसे ही ये उपन्यास कथा-संग्रह नहीं। ये एक ही अंचल-सूत्र से बद्ध हैं। अलग-अलग होते हुए भी ये कथाएँ ग्राम-हार की मुक्तताएँ है। परम्परागत कथा-विधान में जैसी मुख्य-प्रासंगिक कथाएँ होती हैं, वैसी यहाँ नहीं। यहाँ सभी कथाएँ आंशिक रूप में ग्राम की किसी-न-किसी विशेषता को प्रकट करती हुई, एक ग्राम को ही पुष्ट करती है। इन उपन्यासों में ऐसे परिच्छेद या प्रसंग आसानी से मिल सकते हैं जिनको निकाल देने से कोई अन्तर न आए—जैसे; पर्व-त्योहारों या लोककथाओं से सम्बन्धित प्रसंग[1]—परन्तु वास्तव में ऐसी प्रतीति तब होती है जब हम किसी परम्परागत कथावस्तु की कल्पना कर बैठते हैं। ये प्रसंग किसी पात्र-विशेष की स्थूल कथा से सम्बन्धित नहीं होते, वरन् गाँव या अंचल की लोक-संस्कृति को व्यक्त करते हैं और उपन्यास की भाव-सम्पत्ति होने से उपन्यास के समग्र प्रभाव में योग देते हैं। दूसरे, ये प्रसंग रोचक भी है, चाहें इनकी रोचकता भिन्न प्रकार की है। इन प्रसंगों में भी वही पात्र भाग लेते हैं, जो अन्य प्रसंगों में आते हैं, इसलिए उसकी मनोवृत्तियों की झलक भी मिलती रहती है।

दोनों उपन्यासों के परिच्छेद भी दूसरे उपन्यासों से विशिष्ट प्रकार के हैं। एक ही परिच्छेद में ग्राम-गति के अनुकूल विभिन्न प्रसंग हो सकते हैं[2] —इसलिए इनके शीर्षक नहीं दिए गए—दूसरे, ये परिच्छेद परस्पर निरपेक्ष पूर्ण या अपूर्ण दृश्यों का-सा आभास देते हैं। फिर भी, विशेषता इसमें है कि मिलाने वाले वर्णनात्मक अंशों तथा कथा-संयोजन की परम्परागत विधियों से काम लिए बिना, एक के बाद एक चलचित्रवत् आने वाले इन दृश्यों की समाहित योजना से, ग्राम-जीवन का ऐसा गति-व्यंजित चित्र स्पष्ट होता है, जो सम्पूर्ण भी है, (लगभग) समन्वित भी। सतही दृष्टि से इन दृश्यों में उच्छिन्नता है, अन्तर्दृष्टि से आवृत एकता। किन्तु यह समन्विति ग्राम जीवन की है, किसी कथा की नहीं। अतएव यहाँ वस्तु-तारतम्य का आधार है गाँव। इस आधार को, उपन्यास की मूल दृष्टि से समन्वित किसी प्रमुख पात्र का सहयोग भी मिल सकता था और उसी के आश्रय से,

१. "मैला आँचल", चौबीसवाँ परिच्छेद।
२. "मैला आँचल", परिच्छेद १५, ३३, ३४।

रागात्मक प्रभाव बढ़ाने के लिए, क्रम-बद्ध कथानक का निर्माण भी सम्भव हो सकता था। 'मैला आँचल' के डॉ० प्रशान्त में इसकी सम्भावना कुछ ही विकसित होकर रह गई है किन्तु 'परती: परिकथा' के जिनेन्द्र में यह पर्याप्त पुष्ट है। स्पष्टीकरण में निम्नलिखित तर्क उपस्थित किए जा सकते हैं:—

१. जितेन्द्र का सम्बन्ध उपन्यास की दोनों मूल समस्याओं से है—परती धरती और ग्रामीणों के मन की परती को तोड़ने में वही सर्वाधिक प्रयत्नोन्मुख रहा है।[1]

२. उपन्यास के आरम्भ में यह सूचना दी गई है कि परानपुर के परिवार एवं व्यक्ति सब टूटे रहे हैं किन्तु टूटते हुए गाँव में 'साबुत' तथा 'सनकी' आदमी यही है[2]। 'साबुत' इसलिए कि वह समझदारी से निश्चय कर सकता है। टूटी हुई दशा में भी आस्थावान है, और सनकी इसलिए कि 'जद्दिा की जिद्'[3] बड़ी प्रबल है—वह अपनी लक्ष्य-पूर्ति में बड़े से बड़ा संघर्ष कर सकता है, और परती पर गुलाब की खेती करने तक की कल्पनाओं को साकार। 'परती: परिकथा' में आरम्भ से ही जिनेन्द्र को अकेले गाँव का विरोध सहना पड़ा है और व्यापक संघर्ष भी करना पड़ा। इस संघर्ष का स्वरूप व्यक्तिगत नहीं, सामाजिक है—सारे अंचल को प्रभावित करने वाला।

३. 'रेणु' ने तटस्थता का अपेक्षित पालन करते हुए भी इसी पात्र के द्वारा आत्माभिव्यक्ति की है। यही 'परती पुत्तर' है, राजनीति के 'कदर्म-कीच' को छोड़ कर व्यापक मानववादी मार्ग का अवलंबन करने वाला, और 'तुमी पारबे'[4] का आधार भी।

४. उपन्यास के पात्रों की भीड़ में यदि आरम्भ से लेकर अन्त तक किसी पात्र पर दृष्टि रही है, तो वह जिनेन्द्र ही है। परानपुर गाँव के परिचय के साथ ही इसका परिचय भी कराया गया है। आगे गाँव के नव-निर्माण में ग्रामीणों को अंधविश्वास से मुक्त कराने की संघर्ष-कथा का भी यही आधार है, परानपुर से बाहर जाकर राजनीति की कुत्सितता का भण्डाफोड़ करने वाली कथा का केन्द्र भी यही है, तथा डायरी-रूप से चलने वाला पूर्व-वृत्त भी इससे सम्बन्धित है। इस पूर्व-वृत्त पर कथा-संगठन की दृष्टि से आपत्ति उठाई गई है, जो मेरे विचार में अनुचित है। यह डायरी-वृत्त उपन्यास की मूल दृष्टि से सम्बद्ध है, क्योंकि—

क. यह परानपुर की मूल आँचलिक कथा से संयुक्त है—यह परानपुर अंचल की ही पूर्व-कथा है जिससे इसकी सामंती परम्परा तथा अंग्रेज़ों-भारतीयो के आपसी सम्बन्ध-स्वरूप का ज्ञान होता है।

ख. यह जितेन्द्र के पिता की कथा है।

---

१. "परती: परिकथा", पृ० ३१४-३१ तक का विस्तृत परिच्छेद।

२. वही, पृ० १६। ३. वही, पृ० २६०। ४. वही, पृ० ३७७।

ग. इससे जितेन्द्र के बचपन के वे संस्कार स्पष्ट होते हैं, जो उसके आगामी जीवन-विकास के प्रेरक है। उसके हृदय-परिवर्तन की संगति के स्पष्टीकरण में यह वृत्त सहायक है।

घ. जितेन्द्र के प्रमुख विरोधियों—लुत्तो, वीरभद्र—के पूर्वजों की कथा भी इस से सम्बन्धित है। जितेन्द्र-विरोध के मूल व्यक्तिगत कारणों का स्पष्टीकरण इसी से हो सका है।

च. जितेन्द्र की प्रेमिका-प्रेरिका ताजमनी का पूर्व-चरित्र भी इसी से स्पष्ट होता है।

छ. इसी में उस पौराणिक पंचचक्रों का वर्णन है, जो उपन्यास की मूल परती धरती की प्रकृति का परिचय देते हैं।

ज. 'परती: परिकथा' के जमींदारी-विरोध की संकल्प-कथा का श्रीगणेश यहीं हुआ। शिवेन्द्र मिश्रा को जमींदारी के कुकृत्यों के कारण आत्मग्लानि होने लगती है। उस समय यही प्रार्थना की जाती है कि बड़ा होकर जितेन्द्र न तो अपनी विद्याबुद्धि को जमीन और जमींदारी के अर्जन में लगाए, और न ही राजकाज की जाल-फरेबी में; फिर चाहे उसे भेड़ें चरानी पड़ें, मछली पकड़ कर निर्वाह करना पड़े, या अपने कुण्डों को ही बेच देना पड़े। स्वयं गढ़ना और सृजन करना उसके लिए आवश्यक है।[1] जितेन्द्र की प्रेमिका ताजमनी को भी जितेन्द्र की माँ ऐसी शिक्षा दे जाती है कि वह जितेन्द्र को सुपथोन्मुखी रखने में सहायक हो सके। सारांश में, जितेन्द्र के बचपन के संस्कारों से लेकर उसकी शिक्षा-दीक्षा, राजनीति-प्रवेश के उपेक्षामय हठ, राजनीति के कटु अनुभवों से सीख कर मानवीय मार्ग के अवलम्बन और आगे ग्रामोद्धार के लिए संघर्ष-प्रयत्नों तक का पूरा चित्रण कर लेखक ने एक पूर्ण चरित्र का निर्माण किया है। यह लेखक की कुशलता है कि उसने उपन्यास के अनेक प्रसंगों को किसी-न-किसी रूप में जितेन्द्र-कथा से सम्बद्ध कर दिया है। इस तरह 'परती : परिकथा' में परस्पर निरपेक्ष दृश्यों की पद्धति के साथ-साथ एक कथा के निर्माण से रागात्मक प्रभाव की सृष्टि भी की जा सकी है।

'परती : परिकथा' के विपरीत "मैला आँचल" में कथा-संगठन का आधार केवल मेरीगंज अंचल है। वहाँ ऐसा एक भी पात्र नहीं जिसका उपन्यास के अन्य पात्रों की अपेक्षा विशेष अधिक चित्रण किया गया हो, या उसे ऐसा महत्व मिला हो, कि उपन्यास के अन्य पात्र उसके प्रेम या संघर्ष में बंधने पर बाध्य हुए हों। यही इस उपन्यास के नायक का प्रश्न सामने आता है। वस्तुतः 'मैला आँचल' नायक-रहित उपन्यास है या यह कहा जा सकता है, कि मेरीगंज अंचल ही इसका नायक है। यह

१. "परती : परिकथा", पृ० ४६२।

उसका नूतन शिल्प-विधान है। परती: परिकथा में भी मुख्य संचालिका दृष्टि अंचल है। जितेन्द्र और उसके पिता शिवेन्द्र मिश्र की कथा भी अंचल-चित्र का अंग है। फिर भी, जितेन्द्र नायक हो सकता है क्योंकि वह अंचल का अंग ही नहीं, निर्माणकर्ता भी है—परती धरती-तोड़ने, नई निर्माण-मूलक योजनाओं के लिए वातावरण-निर्माण करने तथा गाँव के सांस्कृतिक-पुनरुत्थान के कार्य-संचालन में उसका नायकत्व प्रस्फुटित होता है। इस नायकत्व के अन्य कारणों का स्पष्टीकरण वस्तुसंगठन के प्रसंग में हो चुका है। वस्तुतः नायक-विहीनता आँचलिक उपन्यास की विशेषता हो सकती है, गुण नहीं; क्योंकि उपन्यासकार की सर्जनात्मक कल्पना से अंचल-चित्रण के संयुक्त रूप में ऐसे प्रभावशाली पात्र के निर्माण की अपेक्षा हो सकती है, जो अंचल की दुर्दशा से पसीज कर, अपने अनुभवों को क्रियान्वित कर सके; जो अंचल की धड़कन को टटोल कर उपयुक्त निदान देने या खोजने में तत्पर हो सके; जो दुर्दशा के कारणों से संघर्ष में मानवीय सजीवता का परिचय दे और जो विषम द्वन्द्वों में पड़कर भी उनसे ऊपर उठ सके। ये विशेषताएँ जितेन्द्र में हैं पर उससे अंचल-दुर्दशा से जनित मनस्ताप की तीव्रता का अनुभव कराने में कमी रह गई है। फिर भी 'मैला आँचल' की अपेक्षा इस उपन्यास में कहीं अधिक प्रभावान्विति है। वहाँ बावनदास का आत्मबलिदान प्रभावपूर्ण है पर वह कुछ अंचलेतर हो गया है। डॉ० प्रशान्त की 'मिट्टी और मनुष्य की मुहब्बत' को वांछित बाह्यकार स्वरूप नहीं मिल सका। जमींदार विश्वनाथ का हृदय-परिवर्तन व्यक्तिगत कारण से हुआ है—उसमें मनोवैज्ञानिक चमत्कार ही अधिक है, सामाजिक चेतना कम। जितेन्द्र की सामाजिक संवेदना के दर्शन वहाँ न्यून हैं। एक कारण और भी है। जितेन्द्र के जीवन के संस्कारों-संघर्षों का जैसा परिचय दिया गया है, विश्वनाथ का नहीं। आश्चर्य की बात है कि 'मैला आंचल' के अनेक पात्रों के पूर्व-संस्कारों का तो परिचय दिया गया है किन्तु जिसका हृदय-परिवर्तन हुआ है उसके बचपन-जवानी के संस्कारों से पाठक अनभिज्ञ ही रह जाते हैं। उपन्यास के अन्त में 'प्रेम और अहिंसा की साधना' की सफलता—यानी गाँधीवाद—में विश्वास प्रकट किया गया है किन्तु उपन्यास से पाठकों को यह प्रतीति नहीं होती, लेखक अपने मतवाद को बचा नहीं सका। मेरा विरोध लेखक के विचारों से नहीं, कला से है, जो उपर्युक्त मत का अनुभव कराने में असमर्थ रही है।

उपन्यासकार के लिए आवश्यक है कि वह उपन्यास के उद्देश्यानुकूल प्रभाव-वर्द्धन करने वाले प्रसंगों को अधिक स्थान तथा महत्व दे और यथार्थ की रक्षार्थ यदि कुछ अननुकूल प्रसंगों की योजना करनी भी पड़े, तो उनको चलता कर दे। 'रेणु' ने ,मैला आँचल' में कलाकार की इस चयन-दृष्टि तथा समानुपात-बोध का निर्वाह नहां

किया। उदाहरणतया, लेखक ने रोमांस तथा नैतिक भ्रष्टाचार के प्रसंगों की इतनी भरमार कर दी है कि उपन्याम के गम्भीर सामाजिक उद्देश्य से ये विकर्षित करते हैं और अभीष्ट उजागरीय स्थल एवं पात्र उभर कर सामने नहीं आ पाते। लेखक का दृष्टिकोण है कि "एक जवान आदमी को शारीरिक भूख नहीं लगे तो वह निश्चय ही बीमार है, अथवा 'एब्नार्मल' है।"[१] यह दृष्टिकोण स्वस्थ है पर इसी आधार पर अनेक पात्रों को वैषयिक सम्बन्धों में उलझाने या रोमांस-रस में सराबोर दिखाने की आवश्यकता नहीं, क्योंकि उपन्यास का यह उद्देश्य नहीं। उपन्यास की गम्भीर प्रकृति अनुकूल प्रसंग-चयन की माँग करती है, या व्यंजना से बहुत कुछ कह देने को। परन्तु 'मैला आँचल' में अनैतिक भ्रष्टाचारात्मक प्रसंगों की एक लम्बी सूची ही मिल जाती है—अंधा महंत सेवादास लक्ष्मी के लिए अन्धा है, लरसिंध भी उसके लिए लालायित है, नाँगा बाबा भी उससे छिपकर अनुचित सम्बन्ध के लिए इच्छुक है और रामदास उसे 'दासी' बना लेना चाहता है। इस रामदास का जब लक्ष्मी पर बस रहीं चलता, तो जात-पांत की उपेक्षा कर रमपियरिया को ले आता है। इस रमपियरिया की माय, सात बेटों के बाप छीत्तन से फंसी है। मंगलदेवी को मिलने के लिए रोज नये-नये लोग आते हैं। "इनके मिलने वालों में कालेज के विद्यार्थी, एम० एल० ए०, साहित्य-गोष्ठी के मंत्री जी, चर्खा-संघ के कार्यकर्ता तथा नई हिन्दी दैनिकों के सहायक सम्पादक भी" हैं।[२] टुनटुन जी इसी मंगला के फेर में फरेब करते हैं।[३] कालीचरण की सेवा, प्रेम का रूप धारण कर लेती है। फुलिया के लिए सदाब्रिज खिलासी कथाएँ करता और पागल हुआ फिरता है। फुलिया उससे विवाह करके भी पैटमान जी के साथ भाग जाती है और होली की रात सहदेव मिसर से रास रचाती है। और खुद खलासी भी एक पतुरिया से मुहब्बत करने लगता है।[४] इस फुलिया की माँ की भी अपनी कहानी है; रमजुदास की स्त्री उसे कहती है—"रे सिंघवा की रखेली! सिंघवा के बगान का बम्बै आम का स्वाद भूल गई? तरबन्ना में रात-रात-भर लुका-चोरी में ही खेलती थी रे? करअंखा बच्चा अब हुआ था तो . ."और फुलिया की माँ रजजुदास की स्त्री की पोल खोलती है—"अपने खास भतीजा के साथ भागी तू . .। गुअरटोली के कलरू के साथ रात भर रसलील्ला . ."[५] नोखे की स्त्री रामलगसिंह के बेटे से फंसी हुई है और उचितदास की बेटी कोयरटोली के सरबन महतो से।"[६] तहसीलदार हरगौरीसिंह अपनी खास मौसेरी बहन से फंसा हुआ है। . .बालदेव जी कोठारिन से लटपटा गए हैं।[७] सकलदीप 'जवान तड़-तड़ बहु' को घर में छोड़ कर किसी 'लैला' के साथ भाग निकला है।[८] लरसिंह सोनमतिया कहारिन की रधिया को उड़ा ले जाता है।[९] पर इसलिए छोड़ देता है कि—"नौटंकी कम्पनी

१. पृ० १८१। २. पृ० २१७। ३. पृ० २१७। ४. पृ० २१६। ५. पृ० ७७। ६. पृ० २२१। ७. पृ० २२१। ८. पृ० ३३१। ९. पृ० ८१।

के मालिक की ही बात रहती तो वह सह ले सकता था, हारमोनियम और नगाड़ा वाले भी रधिया को कभी फुरसत नहीं देते।"[1] जोतखी जी, कालीचरण से कहते हैं कि वह अपनी माँ से पूछे कि वह किसका बेटा है और कालीचरण जोतखी जी से कहता है कि वह अपनी स्त्री से पूछे कि उनके पेट में किसका बच्चा है।[2] डॉ० प्रशांत तो है ही लावारिस सन्तान। तहसीलदार को डॉक्टर को ऐसी ही खबरें सुनाने को मिलती हैं—". .राज परबंगा के कुमार जी उसकी मुट्ठी में हैं। डफ साहब की बेटी जब तक रहेगी, कुमार जी डफ साहब को नहीं हटा सकते हैं । . .बड़ा ऐयाश है राजा भूपत ! . .पुत्याह में बनारस इलाहाबाद और लखनऊ से इतनी बाई जी आती हैं कि तीन दिन तीन रात महफल जमी रहती है, एक मिनट भी बन्द नहीं होती .."[3] ममता भी अपने पत्र में डॉक्टर को नागरिक भ्रष्टाचार से परिचित कराती है—फुलमतिया बड़े-बड़े लोगों के बलात्कार का शिकार होती है।[4] अमलेश ने घर की नौकरानियों से व्यवहार किया है और अब अपनी चचेरी बहन वीणा के पीछे पड़ा हुआ है।[5] गाँव वाले संथालों के साथ लड़ते हैं। खुले बलात्कार का वीभत्स आह्वान भी करते हैं—". .संथालनें पार के खेत में छिपी हुई है। घेर लो . .। एक दम 'फिरी'। आजादी है, जो जी में आवे करो ! बूढ़ी, जवान, बच्ची जो मिले। आजादी है। पाट का खेत है। कोई परवाह नहीं। . .फाँसी हो या कालापानी, छोड़ो मत।"[6] उपर्युक्त विस्तृत अनैतिक प्रवृत्तियों को यथार्थ भी माना जाए, तब भी यह प्रश्न उठता है कि ऐसे वातावरण से उपन्यास को क्या लाभ हुआ ? इसका इतना विस्तार किसी प्रकार आवश्यक नहीं था।

बावनदास को प्रत्येक दृष्टि से आदर्शवादी चित्रित किया गया है। स्वतन्त्रता-आन्दोलन में उसकी निडरता-वीरता और स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पश्चात् भ्रष्टाचार-रोकने में उसका आत्म-बलिदान तो विस्मित-विमुग्ध करने वाला है; पर बावनदास को स्यात् अतिमानवीय होने से बचाने के लिए 'रेणु' जी ने उसे भी मायादेवी की माया में क्षण-भर के लिए विचलित होते हुए दिखाया है। वस्तुतः इस विधि से उसको मानवीय बनाने की कोई आवश्यकता नहीं थी क्योंकि उसके कार्य आदर्श थे, अति मानवीय नहीं। मेरा यह मत नहीं कि ऐसे वीर में मानव की यह सहज प्रवृत्ति नहीं हो सकती किन्तु हर 'जवान' में ऐसी दुर्बलता दिखाने का सिद्धान्त बना कर चलना अनुचित है।

बालदेव एवं लक्ष्मी और डॉक्टर तथा कमला के रोमांस-प्रसंगों को आवश्यकता से अधिक स्थान मिला है। डॉक्टर एवं कमला के प्रसंग में अपेक्षित गम्भीरता नहीं

१. पृ० ८२। २. पृ० १४५-४६। ३. पृ० ९३। ४. पृ० २००। ५. पृ० २०१। ६. पृ० २५२।

आ पाई । इसके विपरीत 'परती : परिकथा' के जितेन्द्र एवं ताजमनी तथा सुवंश एवं मलारी के प्रसंगों में क्रमशः गंभीरता तथा सामाजिक सोद्देश्यता अधिक है । नंददुलारे वाजपेयी के मतानुसार 'परती : परिकथा' में 'मैला आँचल' की भाँति 'हल्के रोमांस''[1] का प्रयोग नहीं है । डॉक्टर और ममता में गम्भीर प्रेम की सांकेतिक झलक सुन्दर है ।[2] वस्तुतः ममता और लक्ष्मी के चरित्रों, या उनकी प्रेम-परिणतियों से लेखक ने शरतबाबू की नारी को प्रशस्ति दी है । वह लिखता भी है—"प्रशान्त ममता को चुपचाप देख रहा है । शरत बाबू के उपन्यासों की यह नारी अपने विश्वास पर अडिग होकर आज भी आगे बढ़ रही है; रूप बदल दो, नाम बदल दो, समय बदल दो, जगह बदल दो, पर यह कभी बदल नहीं सकती ।" ममता और ताजमनी उपन्यासों के उद्देश्य में सहायक हैं—दोनों उपन्यास के प्रमुख पात्रों को मानवीय मार्ग के अवलम्बन में सहायक हैं ।

ग्राम-विकास को समग्र-रूप में प्रस्तुत करने के कारण एक-एक परिच्छेद में जो विभिन्न प्रसंग आए हैं, वे कहीं-कहीं भाव-विरोधी हो गए हैं और रसाभास होने से खटकते हैं । जैसे, 'मैला आँचल' के चवालीसवें परिच्छेद में पहले गाँव की दारुण करुण दशा का द्रावक चित्रण है, फिर गाँव के राजनीतिक नेताओं की भोली अज्ञानता पर रोने की बात कही जाती है और अन्त होता है "नर और नारी के पवित्र आकर्षण की रुपहली डोरी" की 'लकपक' से—डॉक्टर एवं कमला के शृंगारिक हास-परिहास तथा ऐन्द्रिय व्यापार से—अधरक मधु जब चाखल कान्ह, तोहर शपथ हम किछु यदि जानि । यही बेमौके की शृंगारिकता बाइसवें परिच्छेद में मिलती है ।[3]

इन दोनों उपन्यासों में—विशेषतया 'मैला आँचल' में अन्य उपन्यासों के समान, सीधी नायक-केन्द्रित तथा परम्परागत रूप में सुगठित कथावस्तु न होने से—रागात्मक प्रभाव की क्षीणता की बात कही जा सकती है; फिर भी, 'रेणु' ने रोचकता लाने पर दृष्टि रखी है और इसमें वह सामान्यतः सफल रहे हैं । रोचकता अनेक कारणों से आई है । इन उपन्यासों का आकर्षण जितना शिल्पगत है, उतना वस्तुगत भी है । इनमें अचीन्हें अंचल का चित्रण हुआ है जिससे परिचित होने की हमारे मन में जिज्ञासा रह सकती है । 'परतीः परिकथा' का अंचल अचीन्हा ही नहीं, विचित्र आकर्षण लिए हुए भी है । उसकी विशिष्टता देखिए—"परानपुर की प्रतिष्ठा सारे जिले में है । सबसे उन्नत गाँव समझा जाता है ..। जिस तरह बाँस बढ़ते-बढ़ते अन्त में झुक जाता है, उसी तरह यह गाँव भी झुका है । .. अब इस सब-डिवीज़न भर के लोग—यहाँ के दस वर्ष के लड़के से भी बात करते समय अपना पाकेट एक बार टटोल कर देख लेते हैं । फारनिसगंज की किसी दुकान में चले जाइये, ज्यों ही मालूम

१. "आलोचना", संख्या २४, पृ० १ । २. पृ० ४००-१, ४०७-८ ।
३. "मैला आँचल", पृ० ३६८ ।

हुआ कि परानपुर का ग्राहक आया है, दुकानदार अपनी बिखरी हुई चीज़ों को समेटना शुरू कर देता है .. हाकिम हुक्काम यहाँ के लोगों से बातें करते समय इस बात का ख्याल रखते है कि सिर्फ एक गाँव में, एक ही वर्ष के अन्दर सरकार ने तीन-तीन विभागों के अधिकारियों की आँखों में धूल झोंकी गई।.. ट्रेन के चेकर जानते हैं, परानपुर के लोग टिकट लेकर गाड़ी में नहीं चलते। चार्ज करने वाले चेकर को रोड़े और पत्थरों से भाड़ा चुकाते हैं ये।"[1]

हम यह लिख चुके हैं कि ये उपन्यास कथा-सागर है। कुछ लोककथाएँ है और उनमें भी विविधता है—कोई पौराणिक हैं, कोई सीधे यथार्थ से सम्बन्धित; कोई मानवीय है, कोई मावेतर; कोई मार्मिक और कोई घटना-चमत्कार-प्रधान। सब में अपनी-अपनी रोचकता है। दूसरे असंख्य पात्र हैं और अनेक की अपनी-अपनी कथाएँ, इसलिए रोचकता की पृथक्-पृथक् प्रकृति भी। विशेषता यह है कि अधिक मात्रा में होते हुए भी इनमें से अधिकांश को पूरा किया गया है। 'परती: परिकथा' की कहानियों का संसार कितना वैचित्र्यपूर्ण है, यह इस उपन्यास की कुछ निम्नलिखित कहानियों की विशेषता-परिचायक सूची से मिल जाएगा—

(१) जागरूक जितेन्द्र की समग्र ग्राम से साहनपूर्ण-संघर्ष कथा।

(२) कुबेरसिंह की 'कर्दम-कीचमयी' राजनीति लंगियों की कहानियाँ।

(३) शिवेन्द्र की वार्कर तथा अंग्रेज अधिकारियो से संघर्ष की (घटना-प्रधान सनसनीपूर्ण कहानी।

(४) लुत्तो और वीर भद्दर के ग्रंथियों की कहानियाँ।

(५) जलधारीलाल के "साँप बिछुओं से भी ज्यादे जहरीले" प्राणियों की 'सेना' की चकरा देने वाली भयानक कहानियाँ।

(६) भिम्मल मामा के सम्बन्ध में 'फुलझड़ी' कहानियाँ।

(७) 'मकबूल' की मकबूलितत की कहानी।

(८) इरावती की सामाजिक-राजनैतिक अनुभवों की कथा।

(९) सामवत्ती पीसी की डींगभरी कहानी।

(१०) ताजमनी के दिव्य-प्रेम की कथा।

(११) सुवंश एवं मलारी की आधुनिक प्रेम-कथा।

(१२) दिलबहादुर और कांछीमाया की करुण-मार्मिक प्रेम-कथा।

(१३) प्रेमकुमार दीवान की असफल हास्यमयी प्रेम-कथा।

(१४) गीता मिश्रा के भारत-प्रेम की कथा।

'मैला आँचल' में अंचल की यथार्थ कथा से रोमांस-प्रसंगों के संयोग से रोचकता

---

१. "परती : परिकथा", पृ० १७-१८।

की सृष्टि तो की ही गई है, इसके अतिरिक्त घटना-चमत्कार का भी विशेष आश्रय लिया गया है; जैसे, ये घटनाएँ उल्लेखनीय हैं—

(१) संथालों और अन्य ग्रामीणों का शस्त्रास्त्रों से घोर संघर्ष ।
(२) मौसी फुलिया का वीभत्स वध ।
(३) बावनदास का मार्मिक आत्मबलिदान ।
(४) जमींदार का अप्रत्याशित-अकस्मात हृदय-परिवर्तन ।
(५) कालीचरण के साथियों का डाका ।
(६) कालीचरण के जेल से पलायन की अद्‌भुत घटना ।
(७) नांगे साधु की चामत्कारिक मारपीट से दृश्य-विपर्यय ।
(८) बालदेव तथा हरगौरी के संघर्ष की अघटित घटना ।
(९) बालदेव के ईर्ष्यालु कुकर्म के विरुद्ध लक्ष्मी का जल मरने का सत्याग्रह।
(१०) कालीचरण की चाँद पहलवान को हराने की चामात्कारिक घटना।

पाँचवीं और दसवीं घटना को छोड़, सभी घटनाओं का उपन्यास के विषय से किसी-न-किसी प्रकार का सम्बन्ध है। उपर्युक्त दोनों घटनाएँ केवल चमत्कार और रोचकता-सृष्टि के लिए हैं। दसवीं तो एक प्रकार से तमाशा ही है। 'रेणु' की घटनाओं का सुवर्णितत्व (graphicalness) उनके प्रत्यक्ष साक्षात्कार का आनंद देता है। पहली और छठी घटना इसका सजग प्रमाण है। वस्तुतः 'रेणु' में घटनाओं के सुनिर्दिष्ट चित्रण का मोह बहुत बढ़ा हुआ है। इससे उपन्यास में रोचकता-सृष्टि अवश्य हुई है किन्तु अनावश्यक कलेवर-वृद्धि भी।

प्रच्छन्न हास्य-व्यंग्य-तत्त्व का विनियोग-प्राचुर्य भी 'रेणु' की कला-रोचकता का एक प्रमुख उपकरण है। यह विषयगत भी है,शैलीगत भी, ग्रामीणों के अशिक्षा-अज्ञानता-परिचायक उच्चारण-आचरण अपने-आप में हँसाने वाले हैं। ।[१] यहाँ 'बौद्धिक क्लास' 'बुद्धू किलास', 'इनकलाब' 'इनकिलास', जिदाबाद 'ज़िंदाबाघ', लाउडस्पीकर-'लाउडपीकर', सोशलिस्ट पार्टी "सोशलिंग पार्टी", 'रेडियो-'रेडी', नारी 'लारा', नौजवान-'लौजवान' हो जाता है। अज्ञानता के कारण लोग यह समझते हैं कि "कटिहार जंक्शन में रेलगाड़ियों और मिलों का भी अभी इतना शोरगुल होता होगा कि (रेडियो में) यहाँ तक खबर आ भी नहीं सकेगी"[२] बिना अर्थ समझे नारों को रटने से शब्द-विपर्यय हो जाता है—'इनकिलाब के साथ 'नास हो' और 'अंग्रेजी राज-'ज़िंदाबाघ' बोला जाता है;[३] कामरेड

१. तुलनीय—"Almost all the humour in the Wessex novel (of Hardy) that is worth preserving is rustic humour—caught up with joy from the lips of villagers themselves."—Henry Charles Duffin, "Thomas Hardy". P. 144. २. पृ० ५३ । ३. पृ० ११३-१४

जी भाषण देते हैं कि लाल झण्डा, जनता का झंडा, गरीबों, महरूमों, मज़लूमों मज़दूरों के खून से रंगा हुआ है—यह सुनकर झंडेदार बादरदास अपनी वैष्णवता के कारण छि: छि: करके झंडा छोड़ देता है।[1] इन विभिन्न हास्य-उदाहरणों के स्वरूप से स्पष्ट है कि हास्य-तत्व से लेखक ने एक आँचलिक विशेषता—पिछड़े हुए गाँव की जहालत—को मनोरंजक विधि से प्रस्तुत करने में सफल सहायता ली है।

चारित्रिक हास और भी प्रचुर मात्रा में है। अनेक पात्रों की प्रकृति हँसाती है। गाँधी जी के बगुलाभक्त बालदेव का बात-बात में 'हिंसाबात' का भय करना और अपने 'अनशन' की धमकियाँ देना, कम्यूनिस्ट मकबूल का लेनिन की फोटो सामने रखकर दाढ़ी तराशाना[2] और हर बात में, विना प्रसंग के, रटी-रटाई भाषा में 'समाजवादी सत्य का हवाला' देना;[3] भूदानी 'टमाटर परोपकारी जी' का सर्वत्र टमाटरों के लाभ बताकर अपना उल्लू सीधा करना; कांग्रेसी लुत्तो का अपने को 'लुत्तवा' तथा 'खबास' कहे जाने से चिढ़ना और 'लुत्तो बाबू' पुकारने से चढ़ना; सोश-लिस्ट दीनदयाल तिवारी का अपना डी० डी० टी० नाम रखकर रोबीला बनने का प्रयत्न[4] करना और मंगनीसिंह[5] का 'प्रेम कुमार दीवाना' नाम से 'कलात्मक प्रेम की बातें' करते फिरना—सब हास्य-जनक हैं और प्रच्छन्न व्यंग्य-गर्भित भी। लेखक पात्रों की हास्यानुकूल प्रकृति बना कर ही संतोष नहीं करता, वह तुतलाने वाले,[5] नाक से बोलने वाले—'नकबजबा'[6]—तथा अँग्रेजों-हिन्दी के मेल या अपनी रुचि से नई भाषा गढ़ने वाले[7] पात्रों से भी हास्य-योजना करता है। भिम्मल मामा पात्र से लेखक ने अनेक अन्य पात्रों को अनोखे नाम दिलाए हैं—'भिम्मलीय नाम'। 'दिलचस्प औरत' गेंदाबाई को वह 'मेरी गोल्ड' कहता है और इस औरत से सम्बन्ध रखने वाले गरुड़धुज जा और रोशन बिस्वाँ को 'मेरी गोल्डकप होल्डर'। बबुआन टोली का भिम्मलीय नाम है—बाबलोनियन! और गरुड़धुजजा का 'गगनचुम्बी झा'।

अनेक स्थलों पर परिस्थितिगत हास्य की योजना हुई। बिना हक के लरसिंहदास को मठाधीश बनाने के पक्ष में नागा साधु जब नाजायज गालियाँ बकता तथा बेजा डर दिखाता है तब कालीचरण-वर्ग के हाथों उसकी गरमागरम खातिरदारी से हास्य की काफी सामग्री पैदा होती है—"नागा बाबा दाढ़ी छुड़ाने हैं, जटा छुड़ाने हैं थप्पड़ों की मार से आँखों के आगे जुगनू उड़ने नजर आ रहे हैं। गाँजे का नशा उतर गया

१. पृ० १३३-३४। २. "परती: परिकथा", पृ० २३५।
३. "परती : परिकथा," पृ० ३६९। ४. वही, पृ० १६६-६७। ५. पृ० ११६ तथा "परती : परिकथा" भवेशनाथ। ६. "परती : परिकथा" का सुचितलाल (जापानी पोंपी), पृ० २१०-११। ७. 'परती : परिकथा' का भिम्मलमामा की भिम्मलीय भाषा।

है । ···आखिर दाढ़ी और जटा नोचबाकर, कुल्हाड़ा छोड़कर ही भागते है । पकड़ों, पकड़ो ! छोड़ दो, छोड़ दो ! अब मत मारो ! नागा बाबा भागे जा रहे हैं। भभूत लगाया हुआ नंगधड़ंग शरीर, बिखरी हुई जटा ! दौड़ते समय उसकी सूरत और भी भयावनी मालूम होती है । गाँव के कुत्ते पागल हो जाते हैं । भौं ! भौं··· नागा बाबा के पीछे दर्जनों गंवार कुत्ते दौड़ रहे हैं । अधिकारी महंथ लरसिंघदास तो चांटे में ही चें बोल जाते है—नहीं लेंगे महंथी, छोड़ दीजिये हमको !"[१] 'परती : परिकथा' में सुचितलाल कचहरी में अपने मुकदमे का फैसला सुनने के लिए घर से जाने लगता है कि उसके लड़के को, बहुत रोकने पर भी, छींक आ जाती है । इस पर सुचितलाल उसकी नाक की नोक पर थप्पड़ मारता है और लड़का चीख कर रोने लगता है । घरवाली इसको सहन नहीं करती क्योंकि नाक पर मारकर वह अपनी तरह उसे भी नकबजवा बनाना चाहता था । इस तरह झगड़ा बढ़ जाता है । उसके घर के पार्श्व-पथ पर, फैसला सुनने के लिए, जाने वाले लोग इस झगड़े को अपशकुन मानते हैं और सुचितलाल को शरमिंदा करते हैं कि वह अपनी औरत पर भी कंट्रोल' नहीं कर सकता । पर यही काफ़ी नहीं—"साली, बकरी भी उसकी अभी ही मेंमिया रही है" ।[२]

कुछ लोक-उपादानों से भी हास्य-सृष्टि हुई है । 'मैला आँचल' में विकटे (comic) नाच का सविस्तर मनोरंजक वर्णन है । 'जाट-जट्टिन' में अभिनय भी हास्य-व्यंग्यात्मक है । कहीं-कहीं हास्यरसात्मक कविताएँ तथा तुकबन्दियाँ भी है ।[३] यह उल्लेखनीय है कि यह हास्य-तत्व ग्रामीण यथार्थ के चित्रण का अंग है— यह विषय-बाह्य नहीं । डॉ० देवराज ने सही लिखा है—"सर्वत्र प्रच्छन्न गूढ़ हास्य भाव मानों लेखक-दर्शक कह रहा हो—कैसे अजीब और रोचक हैं इस गाँव (इस दुनिया) के लोग ।"[४] वस्तुतः प्रच्छन्न गूढ़ हास्य ही नहीं, प्रच्छन्न-गूढ़ व्यंग्य भी सम्पूर्ण उपन्यास में अन्तर्भूत है । इसी से लेखक का उद्देश्य अन्त में ही नहीं, स्थान-स्थान पर चित्रण के अंग रूप में ध्वनित होता रहता है । यह इन दोनों उपन्यासों का पृथक् वैशिष्ट्य है । 'रेणु' का व्यंग्य प्रभावपूर्ण होते हुए भी मतवादी नागार्जुन के समान तीखे-जोशीले नहीं हैं । यह उनकी तटस्थ सोद्देश्यता के अनुकूल है । इस प्रच्छन्न व्यंग्य-तत्व से लेखक ग्रामीण यथार्थ के प्रति अपना आलोचनात्मक दृष्टिकोण कलात्मक विधि से अभिव्यंजित करने में सफल हो सका है । 'मैला आंचल' में कथा-रस की क्षति-पूर्ति बहुत-कुछ इस सतत गर्भित हास्य-व्यंग्य के तत्व से हुई है ।

'रेण' के चरित्र-चित्रण तथा कुछ पात्रों के सम्बन्ध में प्रासंगिक प्रकाश डाला जा चुका है, यहाँ कुछ और विशेषताएँ भी उल्लेखनीय हैं। दोनों उपन्यासों में

१. पृ० १२१-२२ । २. 'परती : परिकथा', पृ० ३१६-१७

३. "मैला आँचल", पृ० १८९-९० तथा १३६, 'परती : परिकथा", पृ० १७९ ।

४. "साहित्य और संस्कृति", पृ० ८९ ।

वहुसंख्य पात्र हैं, फिर भी उनकी सार्थकता पर आपत्ति नहीं की जा सकती। ये पात्र अंचल-विशेष की बहुविध गति-विधि दिखाने, या उपन्यास को व्यापकता देने के लिए है। ये अंचलेतर परिस्थितियों का ज्ञान कराने, या मानव-प्रकृति की विचित्रता दिखाने, या उपन्यास की मार्मिकता तथा रोचकता बढ़ाने में किसी-न-किसी प्रकार का योग देते हैं। उदाहरणतया, कुछ पात्र—कालीचरण, बालदेव, संजोजक जी, लुत्तो, रामनिहोरा, तारावाबू, मीर समसुद्दीन, मकबूल आदि—गाँव में भारत की राजनीतिक (या राजनीति-इतर) पार्टियों के स्वरूप से परिचित कराते हैं। एक-एक पार्टी के अनेक सदस्य भी चित्रित हैं ताकि इन पार्टियों के विभिन्न सदस्यों में पदलालसा के लिए चलने वाले पारस्परिक संघर्षों, या वैचारिक मत-भेदों और उनके मूल में निहित व्यक्तिगत स्वार्थों, या विभिन्न प्रकार के कार्यक्रमों के स्वरूप को स्पष्ट किया जा सके—वासुदेव, मंगलादेवी, सनिच्चर, सुनरा, सोभा, चिंगारी जी, टुन-टुन, रंगलाल, गुरु जी, विश्वकर्मा, उत्तिमचन्द आदि ऐसे ही गौण पात्र हैं। कुछ प्रमुख पात्र गाँव के विभिन्न टोलों या वर्गों के प्रतिनिधि-रूप में चित्रित हैं; जैसे, जोतखी जी, रामखेलावन, सिंघ जी, विश्वनाथ, बालगोविन आदि। अनेक पात्र गाँव के नैतिक भ्रष्टाचार को प्रस्तुत करते हैं। कुछ नारी पात्र गाँव के 'लहरदार' झगड़ों को दर्शाने के साधन हैं;[१] कुछ पात्र ग्रामीणों के अंधविश्वास के शिकार हैं, और कुछ लोक-उपादानों के समावेश के माध्यम[२], या इनको प्रकाश में लाने के अनुसंधानकर्ता हैं।[३] ग्रामीण प्रकृति के अनुकूल लेखक ने ऐसे पात्रों की भी सर्जना की है, जो सदैव घूमते रहते हैं और गाँव के समाचारों, या विभिन्न घरों के गुप्त रहस्यों और अफवाहों के रूप में सुनी बातों को, बढ़ा-चढ़ा कर घर-घर फैलाया करते हैं—सुमरितदास 'बेतार', 'घरघुमनी' सामवत्ती पीसी, तथा 'आधुनिक नारद' गरुड़धुजझा ऐसे ही पात्र हैं। ऐसे पात्र ग्राम-विकास प्रदर्शित करने वाली कथा में विशेष सहायक होते हैं, क्योंकि ये एक-साथ ऐसी अनेक विविध सूचनाएँ देते हैं, जिससे समग्र ग्राम का चित्रण हो जाता है।[४] ये कथा को अग्रसर करने में विशेष योग देते हैं। कुबेरसिंह, इरावती, ममता, बावनदास, कामरूप नारायण आदि अंचलेतर परिस्थितियों के चित्रण-माध्यम के अतिरिक्त उपन्यास के प्रमुख पात्रों के चरित्र को प्रेरित या प्रभावित करते हैं। डॉक्टर राय चौधरी भी प्रमुख पात्र जितेन्द्र के चरित्र-महत्व तथा परती धरती की समस्या में सहायक है। 'पूरब पगली' गीता मिश्रा से जहाँ 'परती : परिकथा' के उद्देश्य में व्यापकता आई है, वहाँ भारत के अंग्रेज अधिकारियों की मनोवृत्ति तथा नैतिकता को भी अनावृत किया गया है। पर्वतीय दाजू तथा काँछीमाया अपनी

१. चुनमुन बाई, गैदाबाई, गंगाबाई, बिजलीबाई। २. रघ्घु रामायनी।
३. भवेश, सुरपति। ४. पन्द्रहवाँ परिच्छेद।

सामाजिक समस्या के साथ उपन्यास की मार्मिकता में योग देते हैं। 'परती : परिकथा' में मानवेतर पात्र भी हैं—कुत्ता मीत और घोड़ा मूंगा। 'रेणु' जी ने इन दोनों पशुओं के भाव-प्रदर्शक व्यवहारों (अनुभावों) का कुशल परिचय दिया है। मानवीय संवेदना के विस्तार के साथ उपन्यास के अन्त में करुण मार्मिकता की सृष्टि करते हैं।[1] सारांश में बहुसंख्य-पात्र होते हुए भी 'रेणु' जी ने व्यर्थ में पात्रों का निर्माण नहीं किया। यहाँ पात्र बाहुल्य है पर पुनरावृत्ति नहीं—यदि है भी तो सप्रयोजन—सभी अपनी विशेषताओं में विशिष्ट हैं। वस्तुत : इतने बहुविध पात्रों का चरित्रांकन 'रेणु' जी के मानव-प्रकृति के व्यापक ज्ञान को प्रमाणित करता है।

प्राय : उपन्यासकार प्रमुख पात्रों के चित्रण में अपने कौशल की इतिश्री समझ लेते हैं और गौण पात्रों की उपेक्षा कर देते हैं। 'रेणु' की यह विशेषता है कि प्रमुख पात्रों का पूर्ण चित्रण तो होता ही है, गौणतर तथा साधारण पात्रों की भी सजीव झाँकी मिल जाती है; जैसे, डॉक्टर प्रशान्त का नौकर प्यारू, जितेन्द्र का गोबिन्दो, ममता, नट्टिन टोली की गंगाबाई, सुवंशलाल, रोजउड का दरबान हीरा, सुधना, इरावती, डॉ० राय चौधरी-जैसे गौण तथा गौणतर पात्रों की चरित्र-सजीवता तथा अपना-अपना पृथक् व्यक्तित्व देखा जा सकता है।

प्रमुख पात्रों का पूर्ण चित्रण हुआ है—उनके बचपन के संस्कारों तक का परिचय दिया गया है। डॉ० प्रशान्त, जितेन्द्र, बालदेव, लुत्तो आदि पात्र देखे जा सकते हैं। इनके चरित्र-विकास से यह स्पष्ट हो जाता है कि लेखक ने जहाँ बाह्य परिस्थितियों को महत्व दिया है, वहाँ उसने पात्रों के आन्तरिक संस्कारों का भी विस्मरण नहीं किया। इससे चरित्र-संगति बढ़ गई है। जैसे लुत्तो और वीर भद्दर के जितेन्द्र-विरोध में उनकी बचपन की ग्रंथियों का प्रमुख हाथ है। डॉ० प्रशान्त के लावारिस सन्तान होने के दुखों ने भी उसके परवर्ती जीवन को प्रभावित किया है। विभिन्न परिस्थितियों में पात्रों के अन्तर्द्वन्द्वों का भी उतना परिचय दिया गया है, जितना एक बहिर्मुखी कलाकार दे सकता हैं। क्रूर से क्रूर पात्र जन्मधारीनाल भी विचलित हुआ है और उसका परिस्थिति-सापेक्ष चरित्र-विकास भी।[2] भिम्मल मामा-जैसे विचित्र चरित्र के चित्रण में लेखक ने अपनी अद्भुत प्रतिभा का परिचय दिया है। सब को हंसाने वाला, और किन्हीं असफलता-कुण्ठाओं में पागल के-से आचरण करने वाला भीतर में कितना गम्भीर, सच्चा तथा भावुक हो सकता है,[3] यह भिम्मल मामा के सजीव चरित्र में अंकित है।

पात्रों के बाह्य व्यक्तित्व का भी सबल रेखाओं से चरित्रांकन हुआ है। इस

---

१. "परती : परिकथा", पृ० २१० तथा २१४।

२. वही, पृ० ३७२-७३। ३. वही पृ० ३२९-३१, ५०९

वहिर्रूपरेखा से ही पात्रों के वर्ग-व्यवसाय तथा आचरण का कुछ आभास मिल जाता है। पीताम्बर झा के मकबूल नाम और "नुकीली फ्रेंचकट दाढ़ी ने उसके ब्राह्मणत्व को खोंच कर मीलों दूर भगा दिया है, उसकी बनावट से",[1] उसके 'कम्युनिस्टत्व' को चमका दिया है। अपने दुश्मनों को क्रूरता से साधने के लिए मुंशी जलधारी के "दाद के चकत्तों की खुजलाहट तीव्र हो जाती है"[2] और रातोंरात किसानों के हरे-भरे खेतों को अपनी अजब भैंसों से चरा-खोद देने वाला बकला अहीर—"लम्बे तरबूज की तरह सिर। कपाल सामने की ओर निकला हुआ। देह से दूध की गन्ध। जो कितनी भी पवित्र क्यों न हो, किसी-किसी के लिए दुर्गन्ध अवश्य है। घुड़कती हुई आँखें।.. बकला की मुस्कराहट! उसकी बोली भी अजीब!"[3] मवेशियों को खतम कर देने वाला ननकू नट—"जितेन्द्रनाथ को मांस को गन्ध लगी। मांस की नहीं, शहर के बूचड़खाने की बगलवाली गली में ऐसी ही गन्ध लगती है। ननकू नट की बाबड़ी! खाल से सटा कर कटी हुई पट्टी! मिस्सी मलकर काले कए दाँत!.."[4]

'रेण' के पात्रों में वर्गीय तथा व्यक्तिगत विशेषताओं का अद्भुत समन्वय हुआ है, जिससे अंचल-चित्रण के उद्देश्य-साधन के साथ ये अपनी व्यक्तिगत सजीवता से भी पाठकों को प्रभावित कर सके हैं। लेखक ने चरित्रांकन में अपेक्षित तटस्थता का पालन किया है। यह तटस्थता प्रेमचन्द से कहीं अधिक है, जो प्रायः सर्वत्र अपने पात्रों में व्यक्त हो जाती है। वस्तुतः समूह-चित्रण के लिए लेखक ने विशेषतया सामूहिक शैली तथा गौणतः मनोवैज्ञानिक उपन्यासकारों—विशेषरूप से 'नदी के द्वीप' की-सी—मानसिक शैली का सफल प्रयोग किया है; वह अनेक स्थलों पर स्वयं कथा नहीं लिखता, या अपने दृष्टिकोण से पात्रों का चित्रण नहीं करता प्रत्युत ग्राम के विशिष्ट पात्रों, या ग्राम-सामान्य (समूह-पात्र) के दृष्टिकोण से विभिन्न पात्रों का चरित्रांकन और कार्य-व्यवहारों—यहाँ तक कि सामान्य कथा—का भी वर्णन करता है।[5] 'शेखर' में एक ही पात्र और 'नदी के द्वीप' में तीन-चार पात्रों के दृष्टिकोण से कथा कही गई है किन्तु यहाँ मुख्यतः ग्राम-सामान्य, या अनेक ग्रामीण पात्रों के दृष्टिकोण से कथा कही गई है—यह सामूहिक शैली है। इससे तीन लाभ हुए हैं—एक, इन उपन्यासों में समूह-पात्र—अंचल—का स्वतः ही चित्रण हो जाता है; दूसरे, लेखक की तटस्थता स्वयंमेव सिद्ध हो जाती है; तीसरे, ये पात्रों की मानस-कथा बन जाती है—कथा जैसे पात्रों के मन से छनकर आती हुई, चेतनाप्रवाह पद्धति-सी प्रतीत होती है। इससे उनकी मनोवृत्तियों तथा तात्कालिक मनोभावों का

१. "परतीः परिकथा", पृ० १६२। २. वही, पृ० २८४। ३. वही, पृ० २८६।
४. वही, पृ० २८७। ५. तीसरे परिच्छेद के अन्तिम पृष्ठ, तथा उनतालीसवें परिच्छेद के पहले तीन पृष्ठ।

चित्रांकन भी होता जाता है। इस तरह कथा के विकास के साथ उनके व्यक्तिगत या सामूहिक वैशिष्ट्य का चित्रण भी हो जाता है। समूह-पात्र के साथ ही पात्रों के व्यक्ति मन के अध्ययन में—और इस रूप में ग्रामकथा के विकास में—यह शैली बड़ी उपयोगी सिद्ध हुई है और आँचलिक उपन्यासों में अपने-आप में अकेली है। ये दो अवतरण उद्धरणीय हैं जिनमें पहले में सामूहिक शैली है और दूसरे में एक पात्र का अन्तर्विवाद-सा; दोनों में लेखक नहीं है और पाठक का पात्रों से सीधा साक्षात्कार होता है :—(क) "तहसीलदार विश्वनाथप्रसाद के दरवाज़े पर पंचायत बैठी है। दोनों तहसीलदार के अगल-बगल में बालदेव जी और कालीचरन जी बैठे हैं। बामन-राजपूत के साथ में बैठा है यादव एक ही ऊँचे सफरे पर। अरे! जीबेसर मोची भी उसी कम्बल पर बैठा है? ..बस, अब रास्ते पर आ रहा है। देखो, आज तहसीलदार हरगौरी किस तरह हँस-हँसकर कालीचरन से बात कर रहा है – मानों एक पियाली का दोस्त है। हाँ, तो यादवों को अब जमाहिरलाल भी छत्री मान लिए हैं। कौन क्या बोल सकता है? . .बावनदास कौन जात है? . .कहाँ है बावनदास? पुरैनियाँ गया है? आज पंचायत के दिन उसको रहना चाहिए था। . .अरे भाई, बाहरी आदमी फिर आदमी है। उसको इस गाँव से कौन जरूरत है? यहाँ नहीं, वहाँ। लेकिन, कालीचरन . .बाल . .। . .डोमन ठाकुर क्या कहता है, सुनो!"[१] (ख) ". . लक्ष्मी के रग-रग में अब साधु-सुभाव, आचार-विचार और नियम धरम रम गया है। साहेब की दया है। और यह रामदास; गुरू जाने, इसकी मति-गति कब बदलेगी! वचपन से ही साधु की संगति में रहकर भी जो नहीं सुधरा, वह अब कब सुधरेगा? . .भक्ति-भाव ना जाने भोंदू, पेट भरे से काम! बस, दो ही गुण हैं—सेवा अच्छी तरह करता है और खंजड़ी वजाने में बेजोड़ है। "अरे हो रामदास! . .फिर सो गए क्या? . .गंगाजली में जल भर दो।"[२]

अंचल-सापेक्षता के कारण लेखक की वर्णन-शैली में एक और गुण आ गया है— वह अपने को उपन्यास की कथा में भाग न लेने वाले स्थानीय व्यक्तियों से अनुमोदित करता है; जैसे, गाँव का 'मेरीगंज' नाम जिस मेम के नाम पर रखा गया, उसकी सुन्दरता को लेखक स्वयं सीधे व्यक्त न कर सकेगा—"गाँव की सबसे बूढ़ी, भैंरों की माँ यदि आज रहती तो सुना देती—अहा हा! परी की तरह थी साहेब की मेम, इन्द्रासन की परी की तरह!"[३] इसी तरह ग्राम-पंचायत का स्वरूप व्यक्त हुआ है—"गाँव की पंचायत क्या हैं, पुरैनिया कचहरी के रामू मोदी की दुकान है।" इह रीति से 'रेणु' 'सामान्य' बात को भी 'विशेष' (स्थानीय) का रूप दे देते हैं। यह शैली भी पात्रों के दृष्टिकोण से कथा-कथन की शैली का अंग है।

---

१. सैंतीसवें परिच्छेद का आरम्भ। २. परिच्छेद ४। ३. पृ० १४।

'रेणु' ने पात्रों के चरित्रांकन तथा कथा के मनोवैज्ञानिक अनुबंधन के लिए अन्य मनोवैज्ञानिक शैली-पद्धतियों—स्मृत्यवलोकन, दैनंदिनी—का अवलम्बन भी किया है। इसके अतिरिक्त आवश्यकतानुसार पत्र-शैली तथा रिपोर्ताज शैली का उपयोग भी हुआ है। आगे इन्हीं की चर्चा अभीष्ट है। बालदेव के स्वतन्त्रता आंदोलन में भाग लेने तथा पूर्वजीवन की कथा, उसके स्वप्न-रूप में कही गई है।[1] जितेन्द्र के राजनैतिक जीवन की कथा उसके स्मृति-चित्रों की स्मृत्यवलोकन-पद्धति के रूप में सामने आती है। किसी अनुकूल प्रसंग से उसे अपनी पहली बातों की 'याद' आने लगती है[2] और "जीवन की उपकथाओं की पोथी के पिछले पन्ने" फड़फड़ा कर उलटते चले जाते है।[3] जितेन्द्र का राजनैतिक जीवन कथा-काल-विपर्यय पद्धति से उपन्यास के अन्तिम पृष्ठों में स्पष्ट हुआ है। उपन्यास की मूल समस्या परती भूमि की है अतएव उपन्यासारम्भ में जितेन्द्र का वही जीवन सामने रखा गया है, जो 'परती' से सीधे सम्बन्धित है। 'परती : परिकथा' के शिवेन्द्र मिश्रा तथा गीता मिश्रा की विस्तृत कथा दैनंदिनी (डायरी) के नए प्रयोग रूप में कही गई है। उपन्यास के दूसरे भाग का पर्याप्त अंश इस डायरी ने घेर लिया है। यह डायरी भी लगातार नहीं दी गई। यदि एक परिच्छेद इस डायरी का है, तो आगे एक, दो या तीन परिच्छेद अंचल की प्रत्यक्ष कथा के हैं। ऐसा इसलिए किया गया है कि मुख्य कथा के प्रवाह में विघ्न न पड़े और डायरी सुनने की उत्सुकता भी बनी रहे। वस्तुतः यह परानपुर अंचल के कुछ पक्षों की पूर्व-कथा है, जो उपन्यास के आरम्भ में न कहकर लेखक ने कथा-काल-विपर्यय पद्धति से डायरी के रूप में कह दी है। यह डायरी अनुसंधानकर्ता सुरपतिराय को कुछ फटेहाल में मिली है। इसलिए यथार्थता की रक्षा के लिए बीच-बीच से लिखा है—"(बीच के कुछ पृष्ठ खो गये हैं)"[4] या "(प्रथम तीन अर्ध मुक्त पृष्ठों से प्राप्त वाक्यांश ! इसके बाद ?)।"[5] 'मैला आँचल' में लेखक ने सुविधानुसार दो स्थलों पर पत्र-शैली का भी उपयोग किया है। ममता के पत्र से नागरिक दुरावस्था और डॉक्टर के पत्र में उसकी ग्राम-प्रतिक्रिया स्पष्ट हुई है। 'मैला आँचल' के पच्चीसवें परिच्छेद में स्वतन्त्रता आंदोलन का चित्र रिपोर्ताज शैली में है। सोलहवे परिच्छेद में भी ग्रामीणों के पूर्णिया जाने की व्यंग्यपूर्ण रिपोर्ट है। दोनों उपन्यासों में अन्यत्र भी व्यंग्यात्मक रिपोर्ट्स मिलती है। इनमें कहीं-कहीं रेखाचित्रात्मक या शब्द-चित्र शैली भी लक्षित हो जाती है। वातावरण-चित्रांकन में यह विशेष उपयोगी सिद्ध हुई है। दृश्य-चित्रण तथा वातावरण-निर्माण में 'रेणु' ने अपनी काव्य-प्रतिभा का परिचय दिया है। वातावरण-निर्माण में मधुवेष्ठित शब्द-चित्र आस्वादनीय हो उठे हैं—

३. छठा परिच्छेद। ४. "परती : परिकथा", पृ० ४४६। ५. वही पृ० ४७३।
१. "परती : परिकथा", पृ० २७८। २. वही, पृ० २७६।

स्थिर-निबद्ध, तीव्रदृष्टि !
विनिद्र सुरपति ने शरद पूर्णिमा के चाँद को देखा,
हवेली के पोखरे में ।
सहस्र कमल दल पर शशिकला !
सुरपति की आँखों में स्नेह सिंचित लावनी की झलक !—
दूध की सुगन्ध चारों ओर ! प्रकृति के अग वात्सल्य गंध
से सराबोर। सरोवर में दूध ही दूध ! × ×

मांगलिक अनुष्ठान भरा वातावरण। पंछियों की पातियाँ उड़ रही दूधिया आकाश में। पोखरे पुरहन के पात्र, महार पर स्थल पद्म की शीत में नहाई पंखुड़ियाँ ! पंछियों के बीच हठात् राज-हंसिनी पर दृष्टि पड़ी उसकी। स्निग्ध-धवल पंख पसार-पसार कर पोखरे में उतरी। . .उसका जोड़ कहाँ है ? राजहंस ? किसी ने पुकारा ? नारी कंठ ? लाली ! लाली ! बेटा लाली ! सुरपति ने पहचाना— द्रोणी-पुष्प-रंग के वस्त्र में आवृता : मिसिस रोजऊड। गीता मिश्रा। श्रीमती गीता।"[1] 'परती : परिकथा' का आरम्भ ही शब्द-चित्रात्मक विधि से हुआ है और उससे परती धरती की भव्य रंगमंचीय पीठिका का निर्माण हुआ है। 'मैला आँचल' में विषयानुकूल भयानक वातावरण निर्मित हुआ है—"रात के सन्नाटे में जोतखी काका की खाँसी बड़ी डरावनी सुनाई पड़ती है—खाँयें-खाँयें . .दिन में ठीक दुपहर को अमड़ा गाछ पर बैठकर कागा जिस तरह बोलता है, ठीक उसी तरह खाँये-खाँये ! . .खाएगा ! सबको खा जाएगा। पिंगल वर्णा देवी क्रमशः बढ़ी आ रही है। उसके हजारों गण दाँत निकाले हैं; जीभ लपलपा रही है . .खाएगा !

भयार्त शिशु की तरह सारा गाँव कुहरे में दुबका हुआ थर-थर काँप रहा है !

"खबरदार—होययय—खबरदार !"[2]

'रेणु' के शब्द-चित्रों की यह विशेषता है कि इनमें ऐन्द्रिय विषयों—ध्वनि, वर्ण, गन्ध—का परिपूर्ण समावेश हुआ है। 'परती : परिकथा' के उपर्युक्त उद्धरण में गन्ध-वर्ण से ही चित्र को सजीव किया गया है। 'मैला आँचल' तथा 'परती : परिकथा के गद्य में जितने ध्वनिचित्र मिलते हैं, उतने किसी भी गद्य-कृति में दुर्लभ हैं। ध्वनि-ज्ञान में रेणु जी अद्वितीय हैं। लेखक किसी का हँसना-रोना, तुतलाना-नाक बजाना, छींक मारना सूचित करके नहीं रह जाता, वह इनके पूरे-पूरे ध्वनि-संकेत देता है। विभिन्न पक्षी जैसे भिन्न-भिन्न ध्वनियों में चहकते हैं, कुत्ता जैसे भौंकता है, मोटर गाड़ियाँ, ट्रैक्टर, बुल डोज़र आदि चलते समय जो-जो ध्वनियाँ करते हैं, उन्हें भी शब्दों में बाँध दिया गया है। विभिन्न साज़ों, साइकिल की घन्टी, जेल का घण्टा,

१. "परती : परिकथा"., पृ० २७५-७६ । २. पृ० ३९२-९३ ।

मिल का भोंपू, बंदूक से छुटती गोली, किसी सर पर पड़ती लाठी, और पानी में गिरते व्यक्ति का भी ध्वनि-चित्रण हुआ है। साज़ों की ध्वनियाँ जिन भावनाओं को जगाती हैं, लेखक ने उनको भी बड़ी कुशल मनोरंजकता से साकार किया है; देखिए —"ढोल की आवाज़ में कुछ ऐसी बात है कि कुश्ती लड़ने वाले नौजवानों के खून को गर्म कर देती है।

ढिन्ना ढिन्ना, ढिन्न ढिन्ना . . !

अर्थात्—आजा, आजा, आजा, आजा !

सभी अखाड़े में आए। काछी और जाँघिया चढ़ाया, एक मुट्ठी मिट्टी लेकर सिर में लगाया और 'अज्ज्ज्जा' कहकर मैदान में उतर पड़े। कालीचरन 'आ-आ-अली' कहकर मैदान में उतरता है। . .तब शोभन ताल बदल देता है—

चटधा गिड़धा, चटधा गिड़धा !

. . .आजा भिड़जा, आजा भिड़जा !

अखाड़े में पहलवान पैंतरे भर रहे हैं। कोई किसी को अपना हाथ भी छूने नहीं देता। पहली पकड़ की ताक में हैं। वह पकड़ा—

धागिड़ागि, धागिड़ागि, धागिड़ागी !

. . कसकर पकड़ो, कसकर पकड़ो !

चटाक चटधा, चटाक चटधा !

. .उठा पटक दे, उठा पटक दे !

गिड़-गिड़-गिड़ धा, गिड़ धा।

. . वह वा, वह वा, वाह बहादुर ![1]......

ये ध्वनि-संकेत तथा ध्वनिमूलक देशज शब्द वर्णनों की यथार्थता-सम्पूर्णता तथा मनोरंजकता में सहायक सिद्ध हुए किन्तु इनकी मात्रा औचित्य की सीमा का अतिक्रमण कर गई है। इससे उपन्यासों का कलेवर भी बढ़ा है और कहीं-कहीं विषय की गम्भीरता में किंचित् कमी भी आई है।

लेखक ने कहीं-कहीं अपनी शैली में काव्य-पंक्तियों का भी प्रयोग किया है। शृंगार-व्यापारों के सांकेतिक चित्रण में ये विशेष सहायक रही हैं।[2] 'रेणु' जी की भाषा में लोक-रंगों के उभार ने विशेष मिठास भर दी है। डॉक्टर प्रशांत के मुख से उन्होंने कहा है—"अपभ्रंश शब्द भी कितने मधुर लगते हैं !"[3] अनेक मंजुल-मसृण शब्द उनकी भाषा में मिलते हैं—गाछ-बिरछ, बाछा-बाछी, हंसा-चकेवा, श्यामा-चकेवा, गुनवन्ती, पखेरू, पांखें बहिनियाँ, पातियाँ, बुलबुल तरंग आदि। 'रेणु' ने अनेक आँचलिक शब्दों से हिन्दी की शक्ति का विस्तार किया है। लेखक और उनके

---

१. "मैला आँचल", पृ० ८८-८९। २. पृ० २७९। ३. पृ० १०९।

पात्र विपयानुकूल वातावरण-विधायक सार्थक ग्रामीण उपमाओं का प्रयोग करते हैं। कुछ द्रष्टव्य हैं – (१) "उसकी सूरत, दियासलाई की डिबिया में जैसे हलवाहे की छापी रहती है—एकदम दुबला पतला, काला-कलूटा, कमर में बिस्ठी, वैसा ही है"।[१] (२) "सबके चेहरों पर सुबह का प्रकाश पड़ता है—झमाई हुई ईंट जैसे चेहरे !"[२] (३) "लाख जतन करो, मुट्ठी टस-से मस नहीं होगी ! हाथ है या लौहार की संड़सी।"[३] (४) "जिस दिन से रमपियरिया मठ पर दासिनन होकर आई है, लक्ष्मी का मुंह हांडी की तरह लटका रहता है।"[४] (५) "दिन भर घोड़ा की दुम की तरह चिलम मुंह में लगा ही रहता है।"[५] (६) "मकई के बाल की तरह उनके बाल भूरे हो गए होंगे। हमारे बच्चों के दाँत दूधिया मकई-के दानों की तरह चमकेंगे।"[६] (७) "मोछमदरा करवाकर बालदेव जी का मुंह ठीक सोलह पटनियाँ आलू की तरह हो गया।"[७] (८) "गंगा नट्टिन की आवाज फटे कनस्तर की तरह झनझना रही है।"[८] (९) "गुड़ के गाछ ऊख को सभी मिठाइयों का बाप समझा जाता है। उसी तरह ग्राम-पंचायत भी सभी सुखों की माँ है।"[९] (१०) "कछुआ-पीठा जमीन।"[१०] (११) "कलेजा तो पुदीना के पत्ता बराबर है।"[११]

कथोपकथन की दृष्टि से दोनों उपन्यासों की विशिष्टता इनके सामूहिक संवादों में है। इनमें प्रायः गुमनाम पात्र—ग्राम-सामान्य के प्रतीक—आपस में बोलते रहते हैं। और लेखक उन्हें या तो उद्धरण-चिन्हों में लिखता जाता है, या कुछ अन्तराल-चन्हों से वक्ताओं के परिवर्तन को संकेतित कर देता है। इस क्रम से व्यक्ति सामने नहीं आते। ग्राम का सामूहिक जीवन, उन्हीं के दृष्टिकोण से, अंकित होता जाता है। 'मैला आँचल' के एक परिच्छेद का आरम्भ उद्धरणीय है—'कामरेड बासुदेव और सुन्दरलाल भी गिरिफ्फ। .. कैसे नहीं गिरिफ्फ होगा भाई। एक साल पहले तक किसी ने कभी गंजी भी पहनते नहीं देखा सुनरा को, सो इस गरमी के मौसिम में कोट, पैंट, गुलबन, मोजा, जूता और चस्मा लगाकर कटिहार जस्कन के मुसाफिरखाना में बैठने से, लोग सन्देह नहीं करेगा ? ...सुनते हैं, आध घण्टा में ही दोनों ने करीब-करीब सभी फेरी वालों को बुलाया और सौदा किया, "ए चाहवाला सुनता है नहीं ! देहाती समझ लिया है क्या ?- . .चाह लाओ। बिस्कुट खाओगे जी सुन्नर ? अरे, थडकिलासी बिस्कुट क्या खाओगे जी !" कटिहार के फेरीवाले कैसा चाँई होते हैं सो सबों को मालूम है'।[१२]

पात्रानुकूल भाषा लिखने में 'रेणु' सिद्धहस्त हैं। मनःसिथति, परिस्थिति,

---

१. पृ० ३९६। २. पृ० ३९६। ३. पृ० ५७। ४. पृ० ३१०।
५. पृ० ३२७। ६. पृ० २१५। ७. पृ० २८५। ८. "परती: परिकथा", पृ० १७६।
९. वही, पृ० २४३। १०. वही, पृ० १। ११. वही, पृ० १४२। १२. दसवाँ परिच्छेद।

शिक्षा, जाति, स्वभाव आदि से पात्रों की भाषा प्रायः अनुमोदित रहती है, अतएव चरित्र-चित्रण में योग देती है। इस सम्बन्ध में खटकने वाली बात यह है कि अनेक स्थलों पर अंग्रेज़ी, बंगला और संस्कृत की कठिन पंक्तियों[1] को बिना अनुवाद के दे दिया गया है, जिससे पाठकों के कुछ वर्ग को समझने में कठिनाई हो सकती है। अंचल-चित्रण के उद्देश्यानुकूल अनेक पात्रों की आँचलिक भाषा है—यह अवश्य है कि इनमें स्थानीय बोली की अपेक्षा लोकोच्चारणों का बाहुल्य है। इससे पात्रों का शिक्षा-स्तर, सभ्यता आदि व्यंजित होती है तथा अंचलीय वातावरण भी प्रस्तुत होना है। फिर भी, पात्रों की बोली अंचलीय वातावरण को ही अधिक प्रकट करती है, अपनी वैयक्तिकता को कम। इस दृष्टि से नागर जी के 'बूँद और समुद्र' में पात्रों से अन्तर देखा जा सकता है, जहाँ पात्रों की बोली या भाषा उनकी अंचलीयता से अधिक वैयक्तिकता को प्रकट करती है। लेखक भी अनेक स्थलों पर अपनी शैली में आँचलिक शब्दों का प्रयोग करता है। फुटनोट में कठिन आंचलिक शब्दों का अनुवाद कर दिया गया है। फिर भी, अनेक शब्द ऐसे हैं, जो अनूदित नहीं हुए और अनेक अंचलेतर पाठकों से समझे भी नहीं जा सकते; जैसे—बिष्ठी,[2] गमकौआ,[3] मुँसयाती,[4] भैलहों,[5] "गुजुर गुजुर हेरेछै।"

सारांश में विभिन्न भाषा-शैलियों के प्रयोग, पात्रों की और कहीं-कहीं अपनी भी भाषा के लोकोच्चारित स्वरूप, तथा अंचलीय शब्दों के प्रयोग से लेखक यथार्थवाद का कलात्मक पुट देकर विभिन्न प्रसंगों, चित्रणीय अंचल तथा पात्रों का जीवंत चित्र उरेहित कर सका है। फिर भी, इनकी भाषा को लेकर अनेक आपत्तियाँ की गई हैं। इस सम्बन्ध में नंददुलारे वाजपेयी की आपत्ति उल्लेखनीय है—"एक ही उल्लेखनीय बात जो रेणु की कृतियों के सम्बन्ध में प्रश्न-चिन्ह बनकर आती है, उनके उपन्यासों की भाषा है। उनके उपन्यास आँचलिक भाषा को छोड़कर यदि खड़ी बोली में लिखे जायं, तो उनके प्रभाव में किस प्रकार की कमी आएगी ? जिस भाषा में उनकी ये कृतियाँ अंकित है, दूर प्रांत वाले हिन्दी-भाषा पाठकों के लिए दुरूह हो सकती हैं। न भी हों, तो भी भाषा-प्रयोग की शिष्ट परम्परा से दूर तो वे हैं ही।···परन्तु संप्रति भाषा के इस प्रश्न की आवश्यकता नहीं है। हमें इस नये लेखक के आगामी विकास को, उसकी अपनी स्वतन्त्र कला-अभिरुचि पर छोड़ देना चाहिए। प्रतिबन्धों से जो कार्य नही हो सकता, वह स्वतन्त्रता द्वारा आसानी से हुआ करता है"।[6]

सारांश में, 'मैला आँचल' और 'परती: परिकथा' दोनों आँचलिक उपन्यासों की

---

१. "परती : परिकथा", पृ० १७१,४६१। २. पृ० ३६६। ३. पृ० ३१२। ४. पृ० २१४। ५. पृ० ३६७। ६. "आलोचना" संख्या २४, पृ० ८।

शिल्प-नव्यता तथा विशिष्टता को व्यक्त करने वाले उत्कृष्ट प्रतिनिधि उपन्यास हैं। विषय और शिल्प की अद्भुत अनयोज्यता से ये अभीष्ट प्रभाव के सम्प्रेषण में पर्याप्त सफल रहे हैं। 'रेणु' जी की आनुभूतिक सचाई तथा प्रायः तटस्थ सहानुभूति ने स्थानीय जीवन को एक नई अर्थवत्ता से मण्डित कर दिया है। वस्तुतः हिन्दी उपन्यास-साहित्य में ग्राम-जीवन के सामूहिक यथार्थ के विश्लेषण एवं कलात्मक उरेहण में 'रेणु' जी ने नई सीमाओं का निर्माण किया है। इस दृष्टि से प्रच्छन्न हास्य-व्यंग्य की कला के समुत्कर्ष तथा ग्राम-जीवन की नई सामूहिक शैली में इन दोनों उपन्यासों का पृथक् वैशिष्ट्य है। समूह-पात्र के अतिरिक्त विविध प्रकार के साधारण से साधारण पात्रों के स्पंदनों को भी सहानुभूति से सुना गया है—यह भी दोनों उपन्यासों की महती विशेषता हैं।

'परती : परिकथा', 'मैला आँचल' से श्रेष्ठ उपन्यास है; क्योंकि कथा एवं नायकत्व की अवहेलना का यहाँ बहुत-कुछ परिहार हो गया है। रोमानी प्रकृति भी संयत हो गई है। इसलिए यहाँ क्षेत्र ही व्यापक नहीं हुआ, उजागरीय पक्ष भी अधिक उभर कर सामने आ सके हैं। नायक के संघर्ष की जीवंत दृढ़ता और चरित्रिक उदात्तता में यह उपन्यास और भी प्रोज्जवल हो गया है। 'मैला आँचल' के आरोपित अन्त की तुलना में 'परतीः परिकथा' का अन्त भी अधिक संतुलित है, और स्थानिकता के साथ व्यापकता की व्यंजना भी अपेक्षतया अधिक हुई है। 'परतीः परिकथा' महाकाव्यात्मक प्रभावों को स्पर्श करता है।

बहती गंगा

शिवप्रसाद मिश्र 'रुद्र' अपने पहले उपन्यास 'बहती गंगा' (१९५२) से ही प्रसिद्ध हो गए हैं। यह १८० पृष्ठों का लघु-उपन्यास है। किन्तु इसकी लघु-सीमा में सत्रह कहानी-तरंगों के द्वारा गंगातट-स्थित काशी के दो सौ वर्षों के जीवन-प्रवाह की झाँकियाँ देने का प्रयत्न किया गया है। पं० सीताराम चतुर्वेदी ने 'बहती गंगा' को ऐतिहासिक उपन्यास कहा है।[1] स्वयं लेखक ने भी उपन्यास की 'संदर्शिका' में स्पष्ट किया है कि "सन् १७५० ई० से लेकर सन् १९५० ई० अर्थात दो सौ वर्षों की घटनाओं ने 'बहती गंगा', में प्रतिनिधित्व प्राप्त किया है। कथाक्रम के अनुरोधवश तिथियों का निर्वाह कड़ाई से नहीं किया गया, परन्तु घटनाएँ प्रायः सब सही हैं। लेखक ने इन कहानियों की आधारभूत सामग्री का उद्धरणों सहित जो सविस्तर परिचय दिया है उससे स्पष्ट होता है, कि उसने इतिहास, जनश्रुति,[2] 'प्रत्यक्ष

१. "बहती गंगा" का "परिचय", पृ० ६।
२. "बहती गंगा" की "संदर्शिका", पृ० १५।

जानकारी'[1] तथा कल्पना सभी का उपयोग किया है। फिर भी, सत्रह में से केवल सात कहानियाँ–क्रमसंख्या १, २, ३, ४, ५, ६, ८, ९–ही किंचित् ऐतिहासिक प्रभाव छोड़ती है। वस्तुत: लेखक ज्यों-ज्यों आधुनिक काल के निकट आता गया है, त्यों-त्यों वह इतिहास से दूर होता गया है। इन परवर्ती कहानियों में वास्तविकता हो सकती है किन्तु वास्तविकता ही ऐतिहासिकता नहीं। जो कहानियाँ ऐतिहासिक प्रभाव लिए हैं, वहाँ भी लेखक का धरातल भावात्मक है, उसने घटना-क्रम या वर्णन-विवरण के प्रति आग्रह नहीं दिखाया। इस सम्बन्ध में डॉ० रघुवंश का मत है कि "बहती गंगा' का स्वर बहुत-कुछ ऐतिहासिक-सा जान पड़ता है, पर उसकी अपील सामाजिक है। इस बदलते हुए युग में जिन नये मूल्यों की ओर संकेत किया गया है, वे सामाजिक चेतना के परिणाम हैं"।[2] अन्यत्र डॉ० रघुवंश ने प्रकारांतर से 'बहती गंगा' की आँचलिक विशेषता पर बल दिया है—"स्थानीय वातावरण के साथ गहरी संवेदना उत्पन्न करने में ही इस उपन्यास की सफलताा रक्षित है"।[3] डॉ० शिवनारायण श्रीवास्तव ने भी इस उपन्यास की प्रयोगात्मकता का लक्ष्य "काशी-अंचल की विशेषताओं को प्रदर्शित"[4] करना माना है। डॉ० प्रभाकर माचवे ने भी इसे "प्रादेशिक या आँचलिक"[5] उपन्यासों में स्थान दिया है। एक अन्य आलोचक ने तो इसे 'शुद्ध आँचलिक' उपन्यासों में परिगणित किया है।[6] निस्सन्देह किसी पात्र की बजाय स्थान-विशेष का नायकत्व, एक स्थान-केन्द्रित समग्र कथा-विधान, स्थानीय रंगत-युक्त बहुसंख्य पात्रता तथा घटनाएँ, एवं यत्र-तत्र प्रयुक्त लोकभाषा—ये सभी विशेषताएँ 'बहती गंगा' को देश-प्रधान उपन्यासों के वर्ग में ले आती हैं। फिर भी, आँचलिक उपन्यासों की स्थानीयता के साथ एक दीर्घ कालावधि का क्रमबद्ध आभास देने के आधार पर इसमें ऐतिहासिक उपन्यासों की कालिकता भी है। यह अवश्य है कि यहाँ काल की सता प्रधानतया सामाजिक प्रभाव छोड़ती है, ऐतिहासिक नहीं। सारांश में, 'बहती गंगा' काल और स्थान दोनों विशेषताओं का संयुक्तक होता हुआ भी ऐतिहासिक नहीं। अतएव इसे कालिक देश-प्रधान उपन्यास कहना उचित होगा।

अन्य अनेक आँचलिक उपन्यासों की तरह 'बहती गंगा' अभिनव शिल्प-प्रयोग भी है। यह नूतनता उसके अपने ढंग के वस्तु-विन्यास में है। लेखक के शब्दों में—"प्रस्तुत पुस्तक का नाम 'बहती गंगा' अकारण नहीं है।.. 'बहती गंगा' में सत्रह तरंगें हैं—एक दूसरे से अलग, परस्पर स्वतन्त्र। परन्तु धारा और तरंग-न्याय से

१. पृ० १७। २. 'आलोचना' संख्या ८, पृ० ११०। ३. वही, पृ० १०९। ४. "हिन्दी उपन्यास", पृ० ४१३। ५. "साहित्य-सन्देश", जुलाई अगस्त १९५६, पृ० ५०। ६. डॉ० विश्वम्भरनाथ उपाध्याय : "साहित्य-सदेश", प्रगति विशेषांक, जनवरी-फरवरी, १९५८, पृ० ३६१।

आपस में बंधी हुई भी हैं"।[१] पूर्वापर के बन्धनों से प्रायः मुक्त, अपना अभीष्ट व्यक्त करने में स्वतन्त्र, इन कहानियों को 'परिच्छेद', 'अध्याय' आदि न कहकर 'कथा-सरित्सागर' के समान 'तरंग' कहा गया है, क्योंकि 'बहती गंगा' की तरंगें ही हो सकती हैं। धारा तरंग-न्याय के अनुसार तरंगें अपनी आपसी स्वतन्त्रता का अस्तित्व रखते हुए भी धारा का निर्माण करतीं तथा उसे अग्रसर करती हैं। ये कहानियाँ तरंगे काशी नगरी की जीवन-धारा को बनाती है—वहीं जैसे इस उपन्यास का नायक है—और इन कहानियों में आई विभिन्न पात्र-पात्राएँ तथा घटनाएँ उस के जीवन-विकास के क्रमिक अभिव्यक्त स्वरूप हैं। लेखक ने इन कहानियों का कालक्रमानुसार उपस्थापन किया है ताकि आगे बढ़ती हुई कथावस्तु का आभास और साथ ही काशी के दो सौ वर्षों के जीवनेतिहास की झलक भी मिल सके। इस तरह एक ही स्थान-सम्बद्धता इन कहानियों के संगठन का पहला आधार है दूसरे; "इन सभी कहानियों.. में अद्भुत भाव-संयोग है।.. विभिन्न अध्यायों का प्रभाव मन पर समवेत रूप से पड़ता जाता है, इस दृष्टि से उपन्यास में पूरा संगठन है।.. जो कुछ प्रभाव एक अध्याय मन पर छोड़ता है, दूसरा अध्याय उसी की भूमिका पर आगे बढ़ जाता है"।[२] इस तरह काशी-जीवन का समवेत भावात्मक प्रभाव की दृष्टि से चित्रण, इन कहानियों की सम्बद्धता का दूसरा आधार है। इसके अतिरिक्त विभिन्न कहानियों में पात्रों की आवृत्ति भी हुई है। पहली कहानी की मुख्य पात्रा राजमाता पन्ना का उल्लेख दूसरी कहानी में भी हुआ है; दूसरी कहानी का गौण पात्र नागर तीसरी कहानी में नायक बन गया है, और तीसरी कहानी में नागर के जिस साथी भंगड़ भिक्षुक का उल्लेख[३] है, वही चौथी कहानी का नायक है। इसी तरह "आए आए आए" की गौण पात्रा रकिया उर्फ़ मुलतानी,[४] "अल्ला तेरी महजिद अव्वल बनी" में प्रमुख पात्री के रूप में आई हैं। कहीं-कहीं दो विभिन्न कहानियों के पात्र एक ही कहानी में एकत्र हो गए हैं; जैसे, "इस हाथ दे उस हाथ ले" की सुधा और 'नारी तुम केवल श्रद्धा हो" का केन्द्रीय-पात्र 'विमेन-हेटर' अन्तिम कहानी "सारी रंगडारी लाल लाल' में मिलकर आए हैं। यही नहीं 'विमेन-हेटर' का चरित्र-परिवर्तन तथा सुधा की पूर्व-कहानी के घटना-रहस्य का उद्‌घाटन भी यहाँ होता है।[५] इसी तरह "राज काज छन मंगु सरीरा" की दुलारी की आत्महत्या का रहस्य, उससे पहली कहानी "एही ठैयां झूलनी हे रानी हो रामा" के बिना पूरी तरह समझा नहीं जा सकता। इस तरह ये कहानियाँ-तरंगें स्वतन्त्र होते हुए भी एके दूसरे से नितांत निरक्षेप नहीं। फिर भी, 'सूरज के सातवाँ घोड़ा' की विभिन्न कहानियों की-सी स्वयंपूर्णता के साथ ही

१. "बहती गंगा" की 'संदर्शिका" पृ०, १०। २. डॉ० रघुवंश : "आलोचना" सं० ८, पृ० १०८। ३. पृ० ३६। ४. पृ० ७०। ५. पृ० १७६-७७।

पर्याप्त आपसी सम्बद्धता इन कहानियों में नहीं। वस्तुतः काशी के जीवन-वैशिष्ट्य के प्रत्यक्षीकरण कराने के उद्देश्य की एकता तथा प्रभाव की समवेतता ही इन कहानियों की सम्बद्धता का मूलाधार है। जैसे यदि कोई व्यक्ति, कालक्रम से अपने जीवन की चुनी हुई प्रभावी घटनाओं को—उनकी पारस्परिक शृंखला का ध्यान रखे बिना—सुना कर अपनी शील-प्रकृति के सम्बन्ध में दूसरों की धारणा बनाने में सफल होता है, वैसे ही 'बहती गंगा' में काशी पात्री के जीवन के सम्बन्ध में किया गया है।

'बहती गंगा' के परिचय-लेखक पं० सीताराम चतुर्वेदी के अनुसार—'गंगा भागीरथी की कथा यों तो औपन्यासिक चमत्कार, विभीषिका, लोमहर्षणता और कौतूहल से ओत-प्रोत है, किन्तु 'बहती गंगा' भी उससे कम नहीं।'[1] निस्सन्देह इस उपन्यास का घटना-चमत्कार, कथा-प्रधान या घटनात्मक तिलस्मी उपन्यासों से कम नहीं, किन्तु यह काशी के तथाकथित गुंडों की रोमांचकारी वीरता तथा साहसिकता का चमत्कार है—"इसके पात्र वास्तविक हैं जो अपने वास्तविक जीवन में कल्पना को परास्त कर देने वाली घटनाओं की सृष्टि कर" गए हैं।[2] 'बहती गंगा' की कहानियों में घटना-चमत्कार के कौतूहल के साथ पाठकों को लीन करने वाली भावपूर्ण रमणीयता भी है। नागर और भंगड़-भिक्षुक, एवं सिवनाथ सिंह और बहादुरसिंह—स्वतन्त्रता-संग्राम के लिए जूझने वाले 'खूब बने जोड़ों'—की अलौकिक उपेक्षामयी वीरता; बेनी के फक्कड़ाना वैराग्य की अद्भुत बानगी; जीवन की संध्या में भी सोनमती एवं पद्मानंद का गुलाबी उन्माद; राजनीति-ग्रस्त पुरुषों को वात्सल्य-गर्विता रानी पन्ना की उद्धत-चुनौती; रकिया की निडर-अमर देश-भक्ति; सुन्दर का करुण-पागल प्यार; मतवाली गौरी की लोमहर्षक प्रेम-कातरता और किंकनी की 'आए आए आए' की अनन्याकुलता सब में पाठकों को प्रभावित करने की अपूर्व क्षमता है। अधिकांश कहानियाँ वीरता और प्रेम के संयुक्त धरातल पर विकसित हुई हैं। परन्तु कहीं-कहीं हास्य-व्यंग्य की रंजकता भी मिल जाती है; जैसे "घोड़े पै हौदा औ हौदा औ हाथी पे ज़ीन" में साह-सहुआइन इसके उपकरण बने हैं। इन कहानियों में कहीं-कहीं अलौकिकता भी है। "रोम रोम में वज्र बल" कहानी में यह तत्व विशेष रूप से लक्षित होता है। किन्तु प्रारम्भिक कहानियों को ऐतिहासिक रंगत देने से यह अलौकिकता भी खप गई है। इन कहानियों के भावात्मक वातावरण में लोकगीतों तथा कहीं-कहीं शेरों के प्रचुर योगदान से रंजकता तथा मार्मिकता के तत्वों में और भी वृद्धि हो सकी है। इसके अतिरिक्त लोकगीत उपन्यास के अंचलीय वातावरण के चित्रण में भी सहायक हुए हैं। इन दोनों विशेषताओं के लिए विभिन्न कहानियों के शीर्षक भी विशेष उल्लेखनीय हैं; ये अधिकांश लोकभाषी

१. पृ० ५। २. पृ० ६।

काव्यमय, मोहक, उत्सुकतापूर्ण एवं प्रतिपाद्य-संकेतक होने से सार्थक हैं। "नागर नैया जाला काले पनिया रे हरी", "एही ढैंया झुलनी हेरानी हो रामा" आदि शीर्षक लोकभाषी तथा भावपूर्ण हैं। कुछ तो प्रसिद्ध काव्य-पंक्तियाँ ही हैं—"नारी तुम केवल श्रद्धा हो"; "सूली ऊपर सेज पिया की", "मृषा न होइ देव रिसी बानी", "गाइए गणपति जगबंदन"। इसके अतिरिक्त 'सारी रंग डारी लाल लाल' तथा 'चेत की निदिया जिय अलसाने' जैसे शीर्षक भी हैं।

इन विभिन्न कहानियों के पृथक्-पृथक् विन्यास में आधुनिक शिल्प-साधनों का प्रचुर विनियोग है, जिससे इन में मनोवैज्ञानिक स्वाभाविकता के साथ विविधता का आकर्षण भी आ गया है। आगे हम इस विविधता को देखने का प्रयास करेंगे। 'सिवनाथ बहादुरसिंह का खूब बना जोड़ा' में, कुछ परिष्कार के साथ, लोककथात्मक पद्धति मिलती है। अनेक कहानियों में स्मृत्यवलोकन-पद्धति तथा कथा-काल-विपर्यय-पद्धति का आश्रय लिया गया है। 'नागर नैया जाला काले पनियारे हरी' इन दोनों पद्धतियों के प्रयोग का सुन्दर उदाहरण है। इस कहानी के पाँच खण्ड हैं। आरम्भ में हमें नागर को काले पानी की सज़ा मिलने की सूचना मिलती है। कथा के स्वाभाविक क्रम के अनुसार दूसरे खण्ड में इसके आगे की कथा होनी चाहिए थी किन्तु लेखक यहाँ पीछे लौटता है। और उसके विदेशी और देशी शत्रुओं से संघर्ष की कथा है। तीसरे खण्ड में जेल की काल-कोठड़ी में पड़े नागर की स्वाभाविक गति-विधि के साथ उसके स्मृत्यवलोकन का वर्णन है। यहाँ नागर की मिसिर से संघर्ष की घटना उसके मन से छन कर—मानों वर्तमान का परिधान धारण कर—सामने आती है। मिसिर से नागर के संघर्ष के स्मृति-चित्र को समाप्त करते-करते लेखक स्मृति के आधारभूत पात्र बन्दी नागर की वर्तमान स्थिति पर लौट आता है, जो बड़ा स्वाभाविक है—"शृंखलाबद्ध नागर की बेड़ियाँ खनखनाई और अपने जीवन का यह गौरवपूर्ण अध्याय पढ़ते-पढ़ते उसकी छाती गर्वस्फीत हो उठी। काल कोठरी के मच्छर उसका खून पीते-पीते तृप्त हो चुके थे···फलतः बन्दी नागर की आँखें लग गई। परन्तु जाग्रतावस्था के विचार निद्रा में भी स्वप्न बनकर उसके मस्तिष्क में मंडराते रहे। उसने सपना देखा"[१]—और आगे लेखक ने नागर और सुन्दर के प्रथम परिचय की कहानी कही है। इस तरह यहाँ स्वप्न के माध्यम से पूर्व-दीप्ति कराई गई है। लेखक ने स्वप्न लेते नागर की बनती-बिगड़ती मुख-मुद्राओं से स्वप्न की प्रकृति को भी बड़े कौशल से व्यक्त कर यथार्थता का ध्यान रखा है। स्वप्न की समाप्ति के बाद लेखक नागर के देखे हुए स्वप्न के प्रति चिंतन के साथ ही तीसरे खण्ड का अन्त कर देता है! चौथे खंड में लेखक ने मधुर प्रकृति में भी नागर को बेड़ी चुभने की पीड़ा से

१. पृ० ३८।

उद्दीप्त विचारों के माध्यम से पुनः प्रत्यवलोकन पद्धति से एक और बीती घटना तथा उसके पुलिस के हाथों पकड़े जाने का वर्णन किया है। कहानी के अन्तिम पाँचवें खण्ड में नागर को सज़ा सुनाई जाने के गाद सुन्दर के करुण वियोग का मार्मिक वर्णन हुआ है। इस तरह इस कहानी में दोनों पद्धतियों के आश्रय से मनोवैज्ञानिकता का स्वाभाविक समावेश किया गया है। कथा-कालक्रम में विपर्यय भी स्पष्ट है। यदि इसमें कथा अपने स्वाभाविक क्रम से आती, तो पहले खण्ड को चौथे नम्बर पर और दूसरे खण्ड को सबसे पहले आना चाहिए था। किन्तु यहाँ पूर्वापर के क्रम को उच्छेदित कर, विगत को भी प्रवहमान वर्तमान के रूप में देखा गया है। इसमे चामत्कारिक स्वाभाविकता आ गई है। यहाँ एक बिन्दु से दूसरे बिन्दु तक सीधे बढ़ने वाली कहानी नहीं। अतएव पाठक कहानी के आरम्भ-अन्त के सम्बन्ध में कुछ अनुमान नहीं कर सकता और इससे उस पर चामत्कारिक प्रभाव पड़ता है। दूसरे, इससे कहानी का उत्सुकतापूर्ण आरम्भ हो सका है। नागर को काले पानी की कड़ी सज़ा मिली जानकर पाठक की उत्सुकता एकदम उद्बुद्ध हो जाती है। कहानी को मार्मिक प्रभावसम्पन्न बनाने के लिए लेखक ने अन्त में सुन्दर के द्रावक वियोग के प्रसंग को उपस्थापित कर दिया है।[1] वस्तुतः लेखक की यह सामान्य विशेषता है कि उसने कहानियों के आरम्भ-अन्त को क्रमशः आकर्षक-मार्मिक बनाने में विशेष कौशल प्रदर्शित किया है। 'राम काज छन भंगु सरीरा' कहानी में भी काल-विपर्यय तथा प्रत्यवलोकन पद्धति मिलती है। "आए आए आए" का राम दयाल भी कभी" 'स्मृति के धुएँ में'[2] बीते दिनों को पहचानता है और कभी 'स्मृतियाँ उसके मानस चक्षु के सामने विचित्र-विचित्र चित्र प्रस्तुत करती हैं' और वह 'जन्मजात चित्रकार' उन "चित्रों की खूबियाँ बारीकी से निहारता है"।[3] "एही ठैयाँ झुलनी हेरानी हो रामा!" में कहानी का अन्तिम भाग एक पत्र-सम्पादक की रिपोर्ट के रूप में है और "अल्ला तेरी महजिद अव्वल बनी" कहानी पत्र-पद्धति के द्वारा कही गई है। इस कहानी में एक अंग्रेज अफ़सर अपनी प्रेयसी को सात पृष्ठ का लम्बा पत्र लिखता है। पत्र का अन्तिम पृष्ठ अस्वाभाविक हो गया है; देखिए—"अरे, आज यह क्या? वह शैतान मस्जिद से निकल कर मेरे कैम्प की ओर आ रही है। कितनी जल्दी-जल्दी आ रही है वह! लो, वह दरवाजे पर पहुँच गई। शायद सुअर का बच्चा मेरा सन्तरी सो गया। क्लैरा-क्लैरा, मुझे बचाओ। मेरी हालत खराब हुई जा रही है। अरे, वह तो कमरे में आ गई। इसका गाना सुनकर खून पानी हुआ जा रहा है। बन्द कराओ, बन्द कराओ, मेरा गला घुट रहा है। बन्द कराओ इसका यह गाना— 'अल्ला तेरी महजिद—!'"[4] यह लिखते-लिखते वह फौजी अफ़सर मर जाता है।

१. पृ० ४३-४४। २. पृ० ६२। ३. पृ० ६४। ४. पृ० ८१।

आक्रमण की उपर्युक्त स्थिति में कोई भी व्यक्ति अपनी रक्षा का उपाय करेगा, पत्र में उसी स्थिति का वर्णन नहीं करता जाएगा, जैसाकि लेखक ने कराया है। कुछ कहानियाँ, कहानी की अपेक्षा रेखाचित्र का प्रभाव डालती हैं। "घोड़े पै हौदा और हाथी पै जीन" को मिश्र रेखाचित्र कहा जा सकता है। "गाइए गणपति जगवन्दन" में भी यही आभास मिलता है।

अल्प-पात्रता लघु उपन्यासों की विशेषता है किन्तु 'बहती गंगा' में आँचलिक उपन्यासों की तरह बहुपात्रता है। दो सौ वर्षों की दीर्घकालावधि की घटनाओं के द्वारा और बहुसख्य कहानियों में, काशी के समाज-प्रवाह के प्रत्यक्षीकरण के उद्देश्य की माँगानुकूल, पात्रों की संख्या का बढ़ जाना स्वाभाविक है। इसलिए 'बहती गंगा' के पात्रों में प्रचुर विविधता मिलती है—हिन्दू-मुसलमान-ईसाई; देशी-विदेशी; युवक-वृद्ध; राजा, गुंडे, चित्रकार, साहू, मिल-मजदूर, दुकानदार, विद्यार्थी, साईस, मोटर-चालक, 'कॉमरेड' आदि अनेक वर्ग-व्यवसाय के पात्र यहाँ हैं। इन सबको मिलाकर ही तो काशी का समाज बन सकता है और एक ओर १७५० और दूसरी ओर १९५० की काल-सीमा को नापा जा सकता है। ये विभिन्न पात्र (जिनकी चारित्रिक विशेषताओं की अद्भुत गरिमा का परिचय पहले दिया जा चुका है) अपने-आप में स्मरणीय विशिष्टता रखते हुए भी अपने लिए नहीं है—ये सब नायक काशी नगरी के चरित्र-निर्माण के लिए हैं। "जैसे व्यक्ति का अपना व्यक्तित्व होता है, उसी प्रकार प्रकार काशी नगरी की भी अपनी विशेपता है। अद्भुत मस्ती, निपट निर्द्वन्द्वता, उत्कट स्वातन्त्र्य-प्रेम और परम प्राचीनतावाद उक्त विशेषताओं के ही अंग हैं।"[१] और इस उपन्यास के सभी पात्र इन विशेषताओं के संयुक्त प्रतिनिधि-प्रतीक हैं। एक कहानी के पात्रों की तरह ये अपनी सीमित-कालिक किन्तु सजीव झाँकियों से काशी के मस्तीमय वातावरण में योग देकर अपनी सार्थकता सिद्ध करते हैं।

लेखक ने सरल और जटिल, स्थिर और गतिशील दोनों प्रकार के पात्र लिए हैं। लेखक ज्यों-ज्यों आधुनिक काल की सीमा में पहुँचता गया है, त्यों-त्यों पात्रों की जटिलता बढ़ती गई है और तदनुकूल लेखक का अन्तरंग चरित्र-चित्रण भी। "नारी तुम केवल श्रद्धा हो" की कुसुम तथा "इस हाथ दे उस हाथ ले" एवं "सारी रंग डारी लाल-लाल" की सुधा[२] का चरित्र-परिवर्तन मनोवैज्ञानिक है। 'विमेन हेटर' से घृणा करने वाली कुसुम उसकी नारी-घृणा से ही प्यार करने लगती है।[३]

सारा उपन्यास काशी-केन्द्रित है, अतएव पात्रों की जीवन-गति के स्वाभाविक क्रम में लेखक काशी के विभिन्न स्थानों, पथो, घाटों आदि का उल्लेख करना नहीं

---

१. "बहती गंगा" की 'संदर्शिका', पृ० १०। २. पृ० १७६-७७। ३. पृ० १६१।

भूला।[1] एक स्थान पर काशी का विशेष परिचय भी दिया है।[2] यह सब मिला कर मानों 'बहती गंगा' के नायक काशी का बहिरंग चरित्र-चित्रण है। काशी के जीवन-प्रवाह का चित्रण करते हुए, प्रारम्भ से आगे तक, देशकाल की व्यंजना होती रही है। इसी के अनुसार लेखक समसामयिक देशकाल की प्रगतिशील चेतना से बच नहीं सका। यह कथा की वास्तविकता तथा पात्रों के क्रिया-कलाप को यथार्थ पृष्ठभूमि देने की अनुकूल है। फिर भी, अपने मत या दृष्टिकोण के शिक्षण-प्रचारण से वह बचा है; क्योंकि उसके शब्दों में "कलाकार का कार्य केवल धारा का यथातथ्य चित्रण कर देना है। वह नीति-दुर्नीति से ऊपर होता है, भले या बुरे की वकालत नहीं करता।"[3] इस यथातथ्यता के आधार पर काशी के गौरव के चित्रण के साथ 'साहू', 'साधु', और 'पण्डित जी' की पोल भी खोली गई है।[4] आधुनिक 'राय साहब' और 'कॉमरेड' दोनों उसके वादमुक्त प्रहारों से नहीं बच सके और यह मताभिव्यक्ति प्रायः कहानी के स्वाभाविक संदर्भ में, अनुकूल पात्रों द्वारा हुई है। उदाहरणतया, 'बहती गंगा' की अन्तिम कहानी में आधुनिक देशकालीन आर्थिक-सामाजिक विषमता का चित्रण हुआ है। इसकी प्रमुख पात्रा सुशिक्षिता एवं स्वाभिमानिनी सुधा के माध्यम से लेखक ने आत्माभिव्यक्ति की है जिसमें उसका वादमुक्त दृष्टिकोण सामने आ जाता है; यथा, ये दो प्रसंग द्रष्टव्य हैं :—(क) लल्लन ने कुछ सोचते हुए कहा—"वैसे तो झींगुर (सुधा का पति) अपढ़ होते हुए भी समझदार है। गरीब भी है फिर भी न जाने कैसे उसके संस्कार बूर्जुआ हो गए हैं। गरीबों से तुम्हारी-जैसी सहानुभूति और शोषण के प्रति तुम्हारे-जैसा आक्रोश उसे कहाँ ? ·· "सुधा को लल्लन की बात में चापलूसी की गन्ध लगी। उसने लल्लन की ओर मार्मिक दृष्टि से देखते हुए कहा—बूर्जुआ संस्कार और प्रोलेटेरियट संस्कार में मुझे तो कुछ विशेष अन्तर नहीं दिखाई देता लल्लन बाबू ! एक में हृदय का योग आवश्यकता से अधिक है तो दूसरे में बुद्धि का। पहला स्वार्थ की अधिकता से चिपचिपा हो गया है तो दूसरा प्रतिहिंसा से रूखा। यही कारण है जो आप प्रोलेटेरियट संस्कार रखते हुए भी इस पीड़ित शिशु की उपेक्षा कर बहस में अधिक दिलचस्पी ले रहे हैं।" लल्लन के मुंह पर जैसे तमाचा पड़ा। उसने तत्काल कहा—"मैं ही डॉक्टर बुलाने जाता हूँ"। (ख) " . .सेठ जी पर छींटा पड़ा तो वह भी उछले और सुधा की चोटी पकड़कर हिलाते हुए चिल्लाए—"निकल डाइन ! अभी निकल ! ले जा अपने खसम को भी। उसकी इस महफिल में क्या ज़रूरत ?" सुधा ने सेठ जी के सिर पर गुलाबपाश से तड़ातड़ सुरभित प्रहार करते हुए कहा—"छोड़ छोड़ चाण्डाल ! महफिल का मज़ा अकेले तेरे ही लिए है ?

---

१. पृ० २१, १३४। २. पृ० ७५। ३. "बहती गंगा" की 'सर्गिका', पृ० ९-१०।
४. क्रमशः पहली और सोलहवीं कहानी तथा पृ० १२५।

जीवन-भर अन्याय अत्याचार सहकर भी जिन्होंने कभी मुँह नहीं खोला, प्रेम करने की भूख में जिनका सारा जीवन कलंकित हो गया, क्या उनके लिए इस महफिल का मज़ा नहीं है ? जो किसान हैं, मज़दूर हैं। कुली हैं, क्या उनके लिए यह महफिल नहीं है ? जिनके घर में सदा अभाव रहता है, जिन्हें पर्याप्त भोजन और काफ़ी वस्त्र तक नहीं प्राप्त होता, जो नकली इज़्ज़त के बोझ से दबे हुए खुलकर सांस तक नहीं ले पाते, जिन्हें तेरे ही जैसे सेठ मध्यवर्गीय कहते हैं, क्या उनके लिए...इस गुलाबबाड़ी के गुलाबों का रूप-रस-गंध तेरे ही लिए है और उनके कांटे हमारे ही लिए ? मैं तेरी इस महफिल में आग लगा दूंगी ।"[१] यहाँ सुधा अवश्य ही कुछ अधिक बोल गई है पर रोषावेश में।

'बहती गंगा' में वर्णन के साथ कथोपकथन भी समुचित मात्रा में आए हैं। ये कथोपकथन भाव और शैली दोनों दृष्टि से पात्रानुकूल[२] हैं अतएव चरित्र-प्रकाशक हैं। इनमें प्रसंगानुकूल माधुर्य[३] तथा ओजस्विता[४] दोनों हैं। इसके अतिरिक्त कथा को अग्रसर करने वाले और उसके भावात्मक वातावरण के अनुकूल काव्यमय भी हैं। कहीं-कहीं काशी की स्थानीय भाषा[५] में भी संवाद आए हैं—लोक गीत तो अनेक पात्र बोलते हैं[६]—किन्तु प्रायः इनमें एक नगर की व्यावहारिक भाषा मिलती है। संवाद प्रायः संक्षिप्त हैं किन्तु अन्तिम कहानियों में संक्षिप्तता का सर्वत्र निर्वाह नहीं हो सका।

काशी के मस्तीमय जीवन, पात्रों के असामान्य कार्यों और भाव-संयोग के आधार पर सभी कहानियों को शृंखलित करने के लिए साधारण भाषा-शैली से कदापि काम न चलता। इसलिए लेखक ने मार्मिकता के लिए स्थान-स्थान पर—विशेषतया कहानियों के अन्त में···भावात्मक शैली का माध्यम ग्रहण किया है।[७] उसकी सामान्य शैली कवित्वमयी तथा चटकीली है जिसमें अर्थालंकारों के साथ शब्दालंकारों—अनुप्रास, शब्द-श्लेष, यमक—से भी विशेष चमक पैदा की गई है। अनेक स्थलों पर प्रकृति-साम्य से प्रभाव को तीव्र किया गया है।[८] चित्रात्मक आस्वादन पर्याप्त है और उसमें भी वर्ण-विभूति-युक्त दृश्य-चित्रों का प्राधान्य है। मुहावरों, लोकोक्तियों, एवं लोकगीतों से भाषा-शैली को नए लोक-संस्कार दिए गए हैं। व्यंग्य-प्रहार से पाखंडियों की खबर ली गई है। सारतः शैली ने विषयाभिव्यक्ति तथा वातावरण-निर्माण में विशेष योग दिया है और इसका अपना पृथक् सौन्दर्य भी है, व्यक्तित्व भी। 'रुद्र' जी की चटकीली शैली को उदाहृत करना आवश्यक है—(क)

---

१. पृ० १७६-८०। २. पृ० ११८। ३. पृ० ३६। ४. पृ० २६, १७६-८०। ५. पृ० २७, ११४, १२६। ६. पृ० १२६, १३८। ७. ३, ६, ११, १२, १७ कहानियों का अन्त। ८. पृ० १७४।

"मथानी गंगा के सिर में लगी। आँख में आँसू और मस्तक पर रक्त-बिन्दु छलछला उठे। गंगा तड़पी और तूफानी विचार की तरह उठकर झपटी, किन्तु दूसरे ही क्षण उन आँखों की तरह बैठ गई जिन की ज्योति में घना अन्धकार लहराता है"।[1] (ख) "गंगा उस भोली छोकरी का नाम था, जिसने मुहल्ले वालों की आहों पर मचलना और निगाहों पर चलना स्वीकार नहीं किया, जिसकी एक उपेक्षित चितवन के भिखारी मुहल्ले के 'बादशाह' राय साहब साधूराम से लेकर मुहल्ले भर के नौकर सिधुआ कहार तक प्रायः सभी लोग थे।.. बूढ़े और जवान, जवानी की ओर पैर बढ़ाने वाले छोकरे और जवानी से विदा लेने को तैयार अधेड़, सभी 'गंगा-लाभ' करना चाहते थे। गंगा की आँखों में विलायती अंगूरी भी थी और देशी ठर्रा भी। यही कारण था कि प्याले वाले अपना प्याला और चुक्कड़ वाले अपना चुक्कड़ एक-एक बूंद बटोरकर भर लेना चाहते थे"।[2] अन्तिम कहानी की उषा (आरम्भ) में शैली की लालिमा देखिए "गुलाबबाड़ी की गुलाबी महफिल में गुलाबी परिच्छेद और गुलाब के ही गहने पहन कर गुलशन, गुलबदन और गुलबहार ने अपने कोकिल-कण्ठ से वसन्तराग में गलेबाजी का वह गुल खिलाया कि श्रोताओं की मण्डली बुलबुल बन बैठी।

"ऊपर गुलाबी चंदवे-से लटकते गुलाबी शीशे के झाड़-फानूस से गुलाबी प्रकाश झलक रहा था और नीचे फर्श गुलाब की पंखुरियों से ढंक-सा गया था। उस पर बैठे श्रोताओं की आँखें नेश-जागरण और नैशा-सेवन से लाल हो रही थीं। उस पर गुलाबी वातावरण में 'सारी रंग डारी लाल लाल', की टीप ने उनका रंग और भी गाढ़ा कर दिया। प्रभाती बयार ने सूरजमुखी के गुच्छों की तरह उनके सिर हिलने लगे और मस्ती का समा ऐसा बंधा कि हिमालय की मुकुट की शोभा बढ़ाने वाले भारी-भरकम देवदारू के वृक्षों की भाँति वे बार-बार झूमने लगे। वे भौरों की तरह गुनगुनाते रह गए—सारी रंग डारी लाल लाल!"[3] और इसी कहानी की सांध्य-(अन्त की) लालिमा भी दर्शनीय है—"झींगर 'हा हाँ' करता हुआ दौड़ा, परन्तु परदों में आग लग चुकी थी। झींगुर उत्तेजनावश पागल-सा हो गया। उसने तबलची की कमर में खोंसा हुआ हथौड़ा उठाकर सीधे सुधा के सिर पर जमा दिया। नारियल फूटने-जैसी आवाज़ हुई और सुधा ज़मीन पर गिर पड़ी। झींगर भी हथौड़ा फेंक कटे वृक्ष की तरह सुधा के निश्चेष्ट शरीर पर गिर पड़ा। हथौड़ा धमाके की ध्वनि के साथ हंसिया की बगल में जा गिरा।

"बारहदरी जल रही थी। समूची महफिल भाग कर आंगन में निकल आई। लोगों ने सुधा और झींगुर को भी खींचकर बाहर निकाल लिया। पुलिस और दमकल वाले भी पहुँच गए। सुधा तो न उठ सकी परन्तु झींगुर उठकर बैठ गया।

१. पृ० १२४। २. पृ० १२२। ३. पृ० १७०।

उसने देखा कि अरुणोदय की लालिमा, सिन्दूर की लालिमा, गुलाब के फूलों की लालिमा, रक्त की लालिमा और पुलिस की पगड़ी की लालिमा ने एक होकर लाल-लाल आँखों के सामने लाल सागर लहरा दिया है। लल्लन ने पूछा—"झींगुर, तुम ने क्या किया ?"

झींगुर ने रोते हुए ज़मीन पर पड़ी सुधा की ओर उंगली उठा दी और भर्राये हुए गले से उत्तर दिया—"सरकार सारी रंग डरी लाल लाल !"[१] लिखने की आवश्यकता नहीं रह जाती कि उपर्युक्त दोनों उदाहरण किस कहानी के है। (क्या 'रुद्र' जी ने अन्तिम कहानी लाल स्याही से तो नहीं लिखी थी ? मानों पुस्तक को आगे बढ़ने से रोकने के लिए लाल झंडी दिखाई हो।)

सारांश में 'बहती गंगा' कथा की 'धारा-तरंग-शैली' तथा भावान्विति के आधार पर विन्यस्त अपने ढंग का अकेला तथा रमणीय कालिक एवं आँचलिक प्रयोग है। स्थानीय वातावरण से तादात्म्य-स्थापना में 'रुद्र' जी सफल रहे हैं।

बाबा बटेसरनाथ

'रतिनाथ की चाची (१९४८), 'बलचलमा' (१९५२), 'नई पौध' (१९५३) के बाद १९५४ में प्रकाशित 'बाबा बटेसरनाथ' नागार्जुन का चौथा उपन्यास है जिसमें १४६ पृष्ठों के लघु कलेवर में उत्तर बिहार के अंचल-विशेष की दीर्घ-कालावधि को, एक नए-शिल्प-प्रयोग के माध्यम से, चित्रित किया गया है। सभी आलोचक इसकी आँचलिकता तथा अभिनव प्रायोगिक शिल्प से सहमत हैं।[२]

'बाबा बटेसरनाथ' की विशिष्टता कथा-शिल्प-सम्बद्ध नए अंचलीय प्रयोग में है। इसमें अधिकांश कथा एक वटवृक्ष द्वारा कही गई है। कथा-विधान की यह नूतनता किसी प्रयोग-वैचित्र्य के चमत्कार के लिए नहीं, वरन् लेखक के उद्देश्य में सहायता के लिए है। इस उपन्यास का आरम्भ ज़मींदारी-उन्मूलन के पश्चात् की उन परिस्थितियों में हुआ जब चौकस ज़मींदारों ने—'भागते भूत की लंगोटी भली' के अनुसार—सार्वजनिक उपयोग की भूमियों को चुपके-चुपके बेचना और कुछ-एक

---

१. पृ० १८०।

२. उपेन्द्रनाथ अश्क : "रेखाएँ और चित्र", पृ० ९६-९७।

(ख) डॉ० शिवनारायण श्रीवास्तव : "हिन्दी उपन्यास" पृ० २८५-८६।

(ग) डॉ० सुषमा धवन : "हिन्दी उपन्यास", पृ० ३०७।

(घ) डॉ० विश्वम्भरनाथ उपाध्याय : "साहित्य-संदेश" (प्रगति विशेषांक), जनवरी-फरवरी १९५८ पृ० ३६१।

(ङ) ब्रजविलास श्रीवास्तव : "आलोचना" संख्या १७, पृ० ४७।

गाँव के शत्रु लालची किसानों ने उनको खरीदना आरम्भ कर दिया। ऐसी ही परिस्थिति का सामना रूपउली बस्ती को करना पड़ा जहाँ टुनाइ पाठक तथा जैनरायन झा-जैसे मंजे चालबाजों ने राजाबहादुर से बरगद तथा पुराने पोखर वाली ज़मीन को खरीद लिया। "गाँव वालों को मालूम हुआ तो वे क्रोध और घृणा से सुलग उठे।.. गाँव के दो-तीन जवान थाना-अदालत-कचहरी से लेकर कांग्रेस कमेटी-असेम्बली-पार्लियामेण्ट के प्रभुओं तक दौड़धूप करने लगे। क्या ऊपर, क्या नीचे, सब जगह लाल फीता सचाई और न्याय के गले को कसे हुए थे। नेताओं का आश्वासन एक ओर और नौकरशाही की मनमानी दूसरी ओर, ज़मींदारी की तिकड़म एक ओर और जनसाधारण की बेबसी दूसरी ओर .. सिर्फ उत्साह भला क्या कर लेगा!"[1] यहाँ लेखक की अन्तिम पंक्ति महत्वपूर्ण है, केवल 'उत्साह' या हिम्मत से ही गाँव पर होने वाले अत्याचारों को नहीं रोका जा सकता, जब तक सही दिशा-ज्ञान न हो। नागार्जुन एक विशेष राजनैतिक विचार रखने हैं और उनका विश्वास है कि साम्यवादी पद्धति से ही किसानों का उद्धार हो सकता है। उन्होंने अपने इस मतवाद को अतीत-परम्परा के अनुभवों से अनुमोदित करना आवश्यक समझा। इसके लिए लेखक ने एक क्षेत्र-विशेष-रूपउली गाँव (उत्तर बिहार) तक सीमित रहकर उसके पूर्वेतिहास तथा उसी के सन्दर्भ में उच्चवर्गीय शोषण-चक्र का ऐसा चित्रण किया ताकि तरुणों को बीते युगों के गुण गा कर, राजाओं-ज़मींदारों तथा सेठ साहूकारों की दयालुता का यशोगान कर कोई विपथोन्मुख न कर सके। भारत के मुक्ति-आंदोलन में गाँधी जी और कांग्रेसियों की ग़लत अहिंसक नीति तथा उग्र क्रांतिकारियों के महत्व की झलक देनी भी उसने आवश्यक समझी। यह सिद्ध करना भी उसे अभिप्रेत था कि कांग्रेस में उच्च वर्ग वालों का ही अधिक दखल रहा है, इसलिए गाँव और किसानों को उनसे आशा नहीं रखनी चाहिए। इस तरह वर्तमान समस्याओं में उलझते हुए, अतीत-परम्परा-दर्शाने के कठिन कार्य-निर्वाह के हेतु लेखक को एक विशेष शिल्प-योजना करनी पड़ी। उसने एक दीर्घ आयु—१०३ वर्ष—वाले मानव-रूप-धारी वटबृक्ष की कल्पना के माध्यम से 'बहती गंगा' की तरह एक लम्बी कालावधि—चार पीढ़ी-पूर्व या ईस्ट इन्डिया कम्पनी से लेकर १९४२ तक—का इतिवृत प्रस्तुत किया। उपर्युक्त लक्ष्य के अनुकूल कथा के वक्ता-श्रोता का प्रतिनिधि-प्रतीक के रूप में चित्रण हुआ है। श्रोता जयकिसुन गाँव के उन प्रगतिशील नवयुवकों का प्रतीक है, जो अपने राजनैतिक ज्ञान की परिपक्वता तथा 'मौजूदा संघर्ष'[2] के सही दिशा-ज्ञान के हेतु 'पुराने ज़माने के बारे में सुनना चाहता है'—'मौजूदा सवालों की अन्तड़ियाँ' तो वह खुद ही रोज़ उधेड़ सकता है किन्तु 'ठीक-ठिकाने से पिछली

---

१. पृ० ७।   २. पृ० १०७।

बातों के सुनने के लिए उसे समझदार बुजुर्ग की अपेक्षा है।[१] कथा-वक्ता 'बुजुर्ग' वट वृक्ष 'पूर्वजो की आत्मा' का प्रतीक है।[२] यह आत्मा भी लेखक की प्रगतिवादी दृष्टि से युक्त है, अतएव यह इतिहास का गौरव-गान या परम्परा का अनुकरण नहीं, परीक्षण करती है। वटवृक्ष कहता है—"मैं बूढ़ा ज़रूर हो आया हूँ, लेकिन बीते युगों की सड़ांध का समर्थन किसी भी कीमत पर नहीं कर सकूंगा।"[३] इस 'बीते युग की सड़ांध' से तात्पर्य उस उच्चवर्गीय (ज़मीदार-महाजन) तथा परकीय (अंग्रेज़ी के) शोषण-व्यवस्था से है जिसके अनावरण के लिए वह रोमांचकारी प्रसंगों, या "विषाद की गहरी छाया' छोड़ने वाली करुण-वीभत्स घटनाओं को सुना तथा उनका गाढ़े रंगों से चित्रण कर राजाओं-जमींदारों के प्रति 'घोर घृणा' को जगाता है।[४] इस तरह वह उन 'बुड्ढों' से एकांत भिन्न है, "जो मौका-बेमौका बीते युगों के गुण गाते रहते हैं।"[५] वस्तुतः वह अंचल-विशेष के पूर्वेतिहास—और उसी के सन्दर्भ में भारतीय इतिहास—को बताने वाला ही नहीं, लेखक के राजनैतिक दृष्टिकोण की अभिव्यक्ति का माध्यम भी है।

यदि यह वृक्ष केवल किसी का माध्यम बन कर ही रह जाता, तो बहुत-कुछ सुनाता हुआ भी निर्जीव ही कहा जाता। लेखक की कुशलता इस वट-वृक्ष के सजीव मानवीकरण—उसे अपना सजीव व्यक्तित्व देने—में है। वृक्ष की अपनी प्रकृति में इस की गुंजायश भी है। वस्तुतः जड़ जगत् की सारी नस्लों में से वृक्ष मानववर्ग का सर्वाधिक सजातीय है।[६] इनका आकार, स्वरूप, प्रकृति तथा सामान्य व्यवस्था हमारे सचेतन लक्षणों की अवधारणाओं के सहजानुरूप है। हार्डी की तरह[७] नागार्जुन भी वृक्ष के मानवीय स्पंदनों की अनुभूति में विशेष सफल रहे हैं। इसके मानवीकरण के सम्बन्ध में लेखक ने एक अलौकिक कहानी की कल्पना की है जो वनस्पति-क्षेत्र के अनुकूल है।[८] वटवृक्ष ने अपने अनोखे उद्भव-विकास की कहानी—आत्मकथा—कही है। वनस्पतिशास्त्र के अनुकूल होने के कारण इसमें आत्मकथा की प्रामाणिकता भी है, और सजीव मानवीय स्पन्दनों से युक्त होने से मार्मिकता भी।

---

१. पृ० ३८। २. पृ० १५०। ३. पृ० ४८।

४. पृ० ४२-४८। ५. पृ० ४८।

६. Henry Charles Duffin : "Thomas Hardy", p. 136.
"Of all species of inanimate existence, trees seem to be most akin to humanity."

७. Abid, p. 136. "Hardy is found of tree-voices. He has often listened to them—communed with them.

८. पृ० ११।

नागार्जुन के यथार्थ चित्रांकन की विशेषता इसमें है कि वट-वृक्ष के मानवीय व्यापारों का परिचय वृक्ष की अपनी प्रकृति के आधार पर ही दिया गया है; जैसे, वृक्ष के सात्विक श्रृंगारिक अनुभावों का निम्न चित्र दर्शनीय है :—.. "तरुण नारी-देह की विलक्षण गन्ध पाकर मेरी रग-रग स्पन्दित हो उठी, पत्ते जल्दी-जल्दी हिलने लगे और टूसों की कोखें दहकने लगीं।

"बिल्कुल पास आई तो मेरे कन्धे पर दाहिना हाथ डाला और कुछ सोचने लगी। मुझे महसूस हुआ कि ज्यादा देर तक अगर इसने अपना हाथ मेरे कन्धे पर रखा तो छालें पानी-पानी होकर वह जायंगी"[1] भारतीय स्वाधीनता-संग्राम में सत्याग्रहियों पर लाठीचार्ज की खबरें सुनकर उसके पत्ते खड़े हो जाते, टूसों से गरम-गरम भाप निकलने लगती और टहनियों में तनाव की-सी अनुभूति होने लगती है।[2] वट-वृक्ष ने अपनी वय-वृद्धि के साथ, अपने रूप-विकास तथा भाव-विकास—अन्तर्बाह्य चरित्र-चित्रण—का, मानवीय विकास तथा रागात्मक सम्बन्धों के संदर्भ में, यथार्थ तथा अनोखा परिचय दिया है; देखिए—तीन वर्ष के दौरान में.. मेरी देह मूसल जितनी मोटी हो गई थी। नीचे की तीन टहनियों को राउत ने पिछले वर्षों में छाँट डाला था। बच्चे की छठी उंगली को माँ-बाप कटवा देते हैं, मेरी टहनियाँ काटते वक्त राउत की भी वही भावना रहती थी। पीले पत्ते-सूखी छाल यां टूसों की सूखी कोर अक्सर राउत खुद हटा दिया करते और अलग खड़े होकर मुझे देर-देर तक एक टक निगाहों से देखा करते।

"अब मेरी चार-पाँच डालें हो गई थीं। टहनियाँ तो बीसियों थीं। पत्ते बड़े-बड़े, जिनकी चिकनी हरियाली आँख वालों को जुड़ाती थी; नये-नये पत्ते अपनी सिंदूरी सूरत के कारण उगते सूरज और दहकती आग के अन्दर डाह पैदा कर देते।

"जो हाथी के पौढ़े दाँतों की सूरत होती है, उन दिनों मेरी छालों की वही सूरत थी। भीनी-भीनी-सी कसैली खुशबू उन छालों की एक खास खूबी थीं।..

"उस वर्ष पहली बार मेरी टहनियों में कलियाँ लगी थीं। पकने पर जंगली गूलर के फलों जैसी लाल-सुर्ख और उतनी ही बड़ी दिखाई देती थीं।

राउत ने देखा तो बोले—"मसें भीग रही हैं इसके तो अब!"

"यह सुनकर शरम-सी लगी मुझे नए पत्तों की लाली फैलकर मानों कन्धों तक आ पहुँची"।[3] स्पष्ट है कि वट-वृक्ष भी मानवीय संवेदनाओं से युक्त उपन्यास का एक सजीव पात्र है। अतएव इसके माध्यम से व्यक्त लेखक के सामाजिक-राजनैतिक विचार वृक्ष का मानों अपना जीवन-दर्शन वन गए हैं—मानों यह जीवन-दर्शन बहुत-कुछ

---

१. पृ० ४०। २. पृ० ८९। ३. पृ० ३८-३९।

उसके अनुभवों से उद्भूत हुआ है। इन अनुभवों को प्राप्त करने के लिए एक तो लेखक ने उसे संवेदनशील तथा "बहुजन हिताय बहुजन सुखाय लोकानुकम्पाय" का विश्वासी बनाया है।[1] दूसरे, उसे एक सामाजिक प्राणी के रूप में उपयुक्त परिस्थितिथाँ दी हैं—उसे किसी 'बीहड़ जंगल'[2] में खड़ा न कर, गाँव के पास का निवासी वनाया है। "घने पत्तों, गुथी टहनियों और आड़ी-तिरछी डालों वाला वह शान्ति-निकेतन था ही ऐसा कि हर तरह के लोग आ-आकर उसका आश्रय लेते"[3] इस सुविधा से वह नाना प्रकार के अनुभवों को प्राप्त कर ही कह सका है कि "एक-एक व्यक्ति अपने बारे में अन्तहीन आख्यान-उपाख्यान संजोये हुए है।"[4] इसलिए उसमें आत्मकथा के साथ बीते युगों की कहानी-कहने की क्षमता आ सकी।

यह आत्मकथा तथा समाज-कथा पृथक्-पृथक् नहीं कही गई, दोनों संयुक्त है। इसके लिए लेखक का चरित्र-सम्बन्धी दृष्टिकोण उत्तरदायी है, जो व्यक्ति के विकास में बाह्य परिस्थितियों को महत्व देता तथा समाज-संदर्भ में रखकर ही उसे देखता है। वाबा बटेसरनाथ इसी दृष्टिकोण को अभिव्यक्त करता है; वह जयकिसुन से कहता है—"अब मैं तुझे अपनी कहानी सुनाऊँगा। आपबीती भी तो जगबीती का ही एक अंश होता है न? तो ले, सुन ध्यान लगा कर"।[5] आत्मकथा से संयुक्त रूप में जो जगगाथा कही गई है, उस में देशव्यापी स्वाधीनता आंदोलन का विकासेतिहास तथा समय के साथ आर्थिक दृष्टि से नए वर्गों—बाबू तबका, मज़दूरों की सृष्टि का लेखा-जोखा मिलता है।[6] इसके अतिरिक्त प्राकृतिक [illegible], बाढ़ आदि—तथा उपन्यास के प्रमुखपात्रों के पूर्वजों से सम्बन्धित अनेक प्रसंग भी आए हैं। इतिहास की प्रामाणिकता के लिए लेखक ने सही-सही सन् का उल्लेख किया है; जैसे, १९०६ का अकाल, १९२० के अन्त का असहयोग आन्दोलन, १९२१ के देशव्यापी विराट् प्रदर्शन, १९२३ में नागपुर का झंडा सत्याग्रह, १९३० में नमक कानून तोड़ने का आंदोलन, १९३१ की गोलमेज़ कॉन्फ्रेंस आदि। इतिहास बताने के क्षेत्र में ही नहीं, प्रमुख पात्रों के पूर्वजों के परिचय में भी उसने निश्चित कालोल्लेख की रीति को अपनाया है।[7] यह आत्मकथा की वास्तविकता के अनुकूल है।

वाबा बटेसरनाथ ने जिन स्थलों पर आज़ादी की लड़ाई की अनेक मंजिलों का वर्णन किया है और साथ-साथ अपने मतवादी दृष्टिकोण से तत्कालीन राजनीति

---

१. पृ० १२। २. पृ० ४९।
३. उपन्यास की प्रारम्भिक पंक्तियाँ पृ० ६।
४. पृ० ४९। ५. पृ० १८।
६. पृ० ९१। ७. पृ० ८०।

की आलोचना की है, वे स्थल कथा नहीं, 'प्रवचन'[1] बन गए हैं। स्वाधीनता-संग्राम के वर्णन में कुछ स्थलों पर रिपोर्ताज-शैली का प्रयोग मिलता है।[2] प्राकृतिक विपत्तियों के चित्रण-स्थल विवरणात्मक हैं।

बाबा बटेसरनाथ ने आपबीती तथा जगबीती के विभिन्न प्रसंगों को कहने का कोई विशेष क्रम नहीं रखा - इन में न सातत्य है, न सम्बद्धता। बटेसरनाथ ने अपने अनुभवों को बड़ी सहजता से बताया है, अतएव एक परिच्छेद में एक ही प्रसंग नहीं चलता, पर्याप्त वैविध्य रहता है; जैसे, आठवें परिच्छेद में निम्नस्थ प्रसंग है—(१) भूकम्प से वटवृक्ष को हानि पहुंचना। (२) रूपउली वस्ती की वटवृक्ष के प्रति सहानुभूति-श्रद्धा। (३) जीवनाथ (प्रमुख पात्र) के चाचा का वटवृक्ष की एक मोटी डाल को काटना और जयकिसुन के बाप की तीमारदारी। (४) भयानक बाढ़ और उससे गाँव को पहुँचने वाली हानि। (५) बाढ़ के बाद की बीमारी, जयकिसुन की दादी का देहान्त। (६) बाढ़ से वटवृक्ष पर प्रभाव। (७) नील की खेती कराने वाले अँग्रेज साहब के अत्याचारों की कहानी। जयकिसुन के दादा पर अत्याचार। (८) गाँव में पहले और आज के शिक्षा-प्रचार की तुलनात्मक चर्चा। (९) जयकिसुन के बाप जानूराउत के स्वाभिमान तथा बाबू साहब का अपनी माँ के श्राद्ध का प्रसंग। (१०) जानू राउत के सांप से कटने-मरने की कथा। इन विभिन्न प्रसंगों में अंचलीय कथा के पूर्वजों की चरित्र-झलक, प्राकृतिक विपत्तियों तथा अँग्रेज़ी अत्याचार की चर्चा - सब का संग्रह है। पहले सात प्रसंगों में क्षीण सम्बन्ध है भी किन्तु आगे के प्रसंग न तो पूर्ववर्ती प्रसंगों से सम्बद्ध है, न परस्पर सम्बन्धित। वैसे भी बटेसरनाथ ने अपने उद्देश्यानुकूल केवल चुने हुए प्रसंगों को सुनाया है।[3] यह आँचलिक उपन्यासों की स्वच्छन्द शैली है, जहाँ पात्र-प्रसंग परस्पर स्वतन्त्र होते हुए भी विशेष अंचल से सम्बद्ध होते हैं, और समवेत रूप में अंचल का विकास प्रदर्शित करते हैं। इस तरह के विविध प्रसंगों में उल्लिखित प्रवचनात्मक स्थल खप जाते हैं—ये उबाने वाले जरूर है किन्तु उपन्यास की साधारण रोचकता बनी रहती है।

ऊपर हमने इस विशेषता का उल्लेख किया है कि लेखक ने अपने उद्देश्य के

---

१. ऐसे स्थलों के लिए स्वयं लेखक ने 'प्रवचन' शब्द का प्रयोग किया है; पृ० ९१, १०४-५ आदि। २. पृ० ९७-१००।

३. बाबा बटेसरनाथ अपने दृष्टिकोण को स्पष्ट करता है—"एक-एक व्यक्ति अपने बारे में अन्तहीन आख्यान-उपाख्यान संजोये हुए है। एक-एक दिन की घटना अगर मैं तुझे ब्यौरेवार सुनाने लगूं तो महीनों नहीं वर्षों लग जायंगे। उतना कौन सुनेगा और सुनाएगा"। पृ० ४९।

अनुकूल चुने हुए स्थल लिए हैं। यहाँ यह उल्लेख कर देना जरूरी है कि लेखक की चयन-वृत्ति यथार्थवादी प्रवृति से भी अनुशासित रही है। यह एक ओर पाखंडों, उच्चवर्गीय अत्याचारों तथा दकियानूसी रूढ़ियों का व्यंग्यात्मक उद्घाटन करने वाले स्थलों को चुनती है, तो दूसरी ओर असामाजिक दृश्यों का संकेत भी देती है। लेखक के अन्य उपन्यासों में ये प्रवृत्ति कुछ अधिक है किन्तु यहाँ केवल एक ही दृष्य ऐसा है, उसने गाँव के एक 'बेशऊर' थानेदार के बैठने की निर्लज्ज मुद्रा का संकेत दिया है।[१] इस यथार्थवादी प्रवृत्ति का तीसरा रूप दैनन्दिन की साधारण बातों के विवरण देने में है; जैसे, "दयानाथ (स्टीमर) से गंगा पार करके दीघाघाट उतरा और वहाँ से रिक्शा किया। सीधे आर ब्लाक पहुँचा। ८ नम्बर के क्वार्टर में"[२] इसी परिच्छेद में आगे दयानाथ के 'पाखाना' जाने का वर्णन हुआ है।[३]

एक वटवृक्ष ने आत्मकथात्मक विधि से श्रोता जयकिसुन को कथा सुनाई है अतएव इसमें प्राचीन लोककथात्मक विधि का आभास मिलता है। वस्तुतः यहाँ लोककथा-विधि को नूतन रूप दिया गया है। बरगद बाबा की समग्र कथा जयकिसुन का स्वप्न है किन्तु लेखक ने इतनी गोपन सांकेतिकता से काम लिया है कि इसका कठिनाई से आभास मिल कर ही रह जाता है। उसने कहीं नहीं लिखा कि जयकिसुन को स्वप्न आया और उसके अन्तर्गत उसने बाबा से कथा सुनी। सोते हुए जयकिसुन के पास जब मानवीकृत बरगद बाबा आता है और उससे बातें करता है, तब लेखक ने केवल एक स्थान पर इतना अवश्य लिखा है कि "बेचारे जैकिसुन की कुछ भी समझ में नहीं आया कि वह कहाँ है और किसकी बाते सुन रहा है। वह स्वप्न है या यथार्थ, इसका भी निर्णय वह नहीं कर पाया।"[४]—लेखक का कौशल इसी में है कि पाठक भी भ्रम में पड़ा रहकर कोई सहज ही निर्णय न कर सके। ऐसा ज़रूरी था क्योंकि बरगद का मानवरूप ही केवल अलौकिक बात है किन्तु उसके द्वारा कही बातें यथार्थ लौकिक हैं। अतएव यथार्थ बातों को व्यर्थ में स्वप्न कहकर क्यों झुठलाया जाता? दूसरी ओर अलौकिक कथा की अस्वाभाविकता से बचने के लिए जयकिसुन के स्वप्न-लेने की गूढ़ व्यंजना करना भी जरूरी था। इसलिए लेखक ने यद्यपि जयकिसुन के स्वप्न-लेने की चर्चा कहीं नहीं की, फिर भी सोने से पूर्व उसकी मनोभूमिका बरगद का स्वप्न देखने की अवश्य बना दी है; देखिए—"(बरगद के बारे में) सोचते-सोचते उसका दिमाग़ भन्ना उठा, कपार की रगें फटने लगीं। माथा ज़रा-सा इधर-उधर होता कि खोपड़ी बीचो-बीच दरक-सी उठती। बाकी शरीर चेतना से शून्य होकर पड़ा था।.. जयकिसुन का मन चिन्ता के घने जाल में खो

१. पृ० १४४। २. पृ० ११६।
३. पृ० १२४। ४. पृ० १०।

गया।"[1] ऐसी चिन्ताकुल अवस्था में सोने से यह स्वाभाविक व्यंजना हो सकती है कि वह बरगद का स्वप्न देखेगा। प्रातःकाल जागने के बाद जब जयकिसुन के साथी उससे पूछते हैं कि "कब तुम्हारी नींद उतर गई" तब भी वह अनिश्चयात्मक स्वर में उत्तर देता है—"भई, कह नहीं सकता, कब मेरी आँखें खुलीं और कब क्या हुआ।"[2] दूसरी बार भी जयकिसुन को बरगद बाबा सुप्तावस्था में ही दर्शन देते हैं। और तब भी अन्त में लिखा है—"आँखें खोलने पर उस (जयकिसुन) ने सामने किसी को नहीं पाया.."[3] इस तरह स्वप्न की गूढ़ व्यंजना कर के लेखक अलौकिक कथा की अस्वाभाविकता से बच गया है।

श्रोता जयकिसुन बाबा से केवल अपने मुख-विकारों की आनुभाविक प्रतिक्रिया से बातें करता प्रतीत होता है, वैसे वह उससे प्रत्यक्ष रूप से कोई वार्तालाप नहीं करता। शायद स्वप्न की स्वाभाविकता की दृष्टि से लेखक ने यही उचित समझा है। इसलिए उसने बाबा के मुख से जयकिसुन को कहला दिया है—"मेरे सामने तेरा मुंह नहीं खुलेगा बच्चा! घबराने की ज़रूरत नहीं।"[4] इसके अतिरिक्त लेखक ने बाबा को दूसरे की बात जान लेने की दैवी शक्ति भी दी है। यह ज़रूर है कि उस शक्ति का प्रयोग यथार्थ रीति से हुआ है—बाबा, जयकिसुन के मुख-इंगितों से उसके प्रश्नों एवं प्रतिक्रियाओं को पढ़ लेता है और इसलिए उनका उत्तर देने में समर्थ भी हो जाता है।

बाबा बटेसरनाथ ने ही उपन्यास की समग्र कथा नहीं कही। वह अपनी कहानी को दूसरे परिच्छेद से आरम्भ करता है और एक ही रात के कुछ घण्टों में नवें परिच्छेद तक सुनाता है। बाद में वह फिर उन्नीसवें-बीसवें परिच्छेद में आता है, जो सप्रयोजन है। (स्पष्टीकरण बाद में होगा) शेष परिच्छेद में ही नहीं, बाबा-जयकिसुन की कथा के बीच-बीच में भी लेखक आता रहा है। इस तरह इस उपन्यास में आत्मकथात्मक तथा इतिहास-शैली का अद्भुत मिश्रण हो गया है।

इस उपन्यास का आरम्भ और अन्त दोनों महत्वपूर्ण है। उपन्यास का आरम्भ वटवृक्ष के वर्णन से हुआ है। लेखक ने स्पष्ट किया है कि सभी ग्रामीण उसका किसी-न-किसी रूप में आश्रय लेते हैं और इसलिए सबको वह प्रिय है। आगे उसने वटवृक्ष के नीचे प्रमुख पात्र जयकिसन को लेटे-लेटे इस वृक्ष के सम्बन्ध में चिन्तन करते दिखाया है और चिन्तन में ही जयकिसुन के घराने का, इस वृक्ष से घनिष्ट सम्बन्ध तथा उसके प्रति सघन संवेदना की चर्चा की गई है। आगे उस संकट की चर्चा है, जिसके

१. पृ० ८।
२. पृ १०९।
३. पृ० १५२।
४. पृ० ११।

कारण वटवृक्ष के समूल विनाश का खतरा है। लेखक ने वटवृक्ष के रक्षक जयकिसुन तथा उसके साथियों तथा वृक्ष को उखाड़ने की कल्पना करने वाले गाँव के खल-पात्रों के मध्य संघर्ष की सूचना दी है। इसी संघर्ष से कथा बनती है और पाठकों की उत्सुकता उद्बुद्ध हो जाती है। कथा-कौशल की दृष्टि से यह आरम्भिक संघर्षजन्य उत्सुकता आवश्यक थी, क्योंकि आगे बटेसरनाथ की बीते युगों की कहानी, कोई क्रमबद्ध कहानी नहीं। इस तरह बाबा की कहानी के बीच भी पाठकों की उत्सुकता शांत नहीं होने होने पाती और बाबा की कहानी के बाद पुनः यही संघर्ष-कथा आरम्भ की गई है। जैसाकि स्पष्ट किया जा चुका है कि बाबा की अतीत-कथा भी इस संघर्ष मे दिशा देने के लिए है। इस तरह सारा उपन्यास संगठित हो जाता है।

अपने वर्ग-संघर्ष सम्बन्धी राजनीतिक उद्देश्य के अनुकूल लेखक ने उपन्यासारम्भ में ही यह प्रयत्न किया है कि यह किन्हीं व्यक्तियों के पारस्परिक संघर्ष की कहानी न रह जाए। इसलिए उसने वृक्ष को लगाने वाले जयकिसुन—परिवार को ही नहीं, समस्त ग्रामीणों को वटवृक्ष वृक्ष के प्रति चिंतित दिखाया और वट-वृक्ष की आधार-भूमि को सार्वजनिक उपयोग की भूमि बताया है। योजनानुसार खल-पात्रों को उच्चवर्गीय जमींदारों से मिलकर साज़िश करनेवाले लालची किसानों के रूप में चित्रित किया गया है। इस तरह प्रथम परिच्छेद में ही संघर्ष-कथा वर्ग-संघर्ष की कथा बन जाती है। उपन्यास का अन्त भी सामाजिक है—उसे किसी व्यक्ति नहीं, वर्ग की; "कम्यूनिस्ट-प्रभावित गाँव"[१] की जीत के रूप में व्यक्त किया गया है। इसके अतिरिक्त बरगद बाबा की कथा को ग्रामीणों की इस "सामूहिक प्रचेष्टा"[२]-जन्य सुखद विजय—किसानों के संगठन की आधार किसान-सभा की विजय—से अद्भुत कौशल से मिला दिया गया है। अन्त में बरगद बाबा जयकिसुन को अन्तिम आशीर्वाद तथा अपने मरण की सूचना देने आते है, जिसका प्रतीकात्मक अर्थ-संकेत महत्वपूर्ण है; यथा, बाबा कहते हैं—"मेरे पेड़ की सूखी लकड़ियों से ईंटें पका लेना। उन ईंटों से ग्राम-कमेटी का मकान तैयार होगा।"[३] "पिछली बरसात में अपने ही बीज का एक बिरवा उग आया है, हाजी करीमबक्स के बाग में पीपल के कन्धे पर मेरी फलियाँ खाने वाले एक कौए को यह श्रेय है कि उसने जाकर वहाँ बीठ कर दी थी। वह पौधा अब बलिश्त-भर का हो गया है। ठीक मेरी ही जगह पर तुम उस पौधे को रोप लेना। कौन, दस वर्ष बीतते-न-बीतते एक अच्छा-खासा छतनार बरगद यहाँ फिर लहरा उठेगा। आगे चलकर वही तुम लोगों का साथी, समझे, बाबू;"[४] अन्तिम

१. पृ० १४६-४७। २. पृ० १५०।
३. पृ० १५०-५१। ४. पृ० १५१।

परिच्छेद में इसी 'बच्चा बरगद' के अभिनन्दन का चित्रण किया गया है। यह 'बच्चा बरगद' किसानों का संगठन 'किसान-सभा' ही है। और बरगद बाबा ने किसानों को दिशा दी, अब उसी की (प्रेरणा) से उत्पन्न यह शिशु-संगठन किसानों का साथी होगा और 'बाबा' की तरह 'बच्चा' भी 'स्वाधीनता, शान्ति, प्रगति' का सही संदेश देता रहेगा। इस तरह उपन्यास के अन्तिम प्रतीकात्मक कथा-कौशल में जहाँ सारे उपन्यास की कथा शृंखलित तथा पूर्ण हो गई है, वहाँ राजनीतिक प्रचारण-शिक्षण को साहित्यिक स्वरूप भी मिल गया है। अन्तिम परिच्छेद के रेखाचित्रात्मक दृश्य-स्वरूप तथा अनुकूल वातावरण-विधान ने उपन्यास की कलात्मक सुखान्तकी में योग दिया है। अन्त में ही नहीं लेखक ने अन्यत्र भी इस उपन्यास में प्रसंगानुकूल प्रकृति-चित्रों की विशेष अवतारणा से वातावरण-विधायिनी प्रतिभा का उपयोग किया है।[1]

लेखक की आत्माभिव्यक्ति का प्रमुख माध्यम, औपन्यासिक संघर्ष-प्रवर्तन का निमित्त-कारण, अधिकांश कथा का वक्ता तथा गठन का आधार होने से इस उपन्यास का नाम बाबा बटेसरनाथ—मानवीकृत बुजुर्ग बरगद की संज्ञा—उपयुक्त है। ग्रामीण उच्चारण के कारण 'बटेश्वर' को 'बटेसर' कर दिया गया। यह उपन्यास का प्रमुख पात्र भी है।

आँचलिक उपन्यासों का उद्देश्य क्योंकि समग्र अंचल (गाँव) की कहानी कहना होता है, अतएव उसमें बहुसंख्य पात्रों की क्षणिक झाँकियाँ मिलती हैं। प्रायः इनका महत्व व्यक्तिगत दृष्टि से नहीं, गाँव की किसी समस्या, या ग्राम-जीवन की किसी प्रसंग-चर्चा की दृष्टि से होता है। इस उपन्यास में पात्रों की अधिक संख्या का एक और कारण भी है। अंचल के लम्बे काल की कहानी कहने की दृष्टि से भी बटेसरनाथ को अनेक पात्रों की चलती झाँकियाँ देनी पड़ी हैं। लेखक ने सामान्यतः इनका बाह्य रेखा-चित्र दिया है,[2] अन्तरंग चित्रण का अवकाश उसे नहीं मिला। कहीं कहीं ये बाह्यचित्र सूक्ष्म रेखाओं से अंकित हैं तथा पात्रों के अन्तर का अनुमान करा देते हैं[3] कहीं-कहीं शैली-कौशल से इनमे हास्योद्रेक किया गया है; देखिए—"थानेदार रामफलसिंह अधेड़ उम्र के भारी-भरकम डील-डौल वाले एक मुच्छड़ आदमी थे।.. ठाकुर खास बात यह थी कि तोंद ने बुरी तरह विद्रोह कर दिया था। पौने दो लाख की आबादी वाला यह थाना रेहुआ बिना ची-चपड़ के उनका अंकुश मानता था, लेकिन अपनी ही तोंद ठाकुर साहब का अनुशासन नहीं मानती थी।"[4]

इन क्षणिक झाँकियों में स्थिर-प्रकृति-पात्रों की योजना ही हो सकी है।

---

१. पृ० ५, १५-१६, १४८-४९, १५२। २. पृ० ४५।
३. "तर्क-पंचानन' का चित्र पृ० २७।, ४. पृ० ११३।

लेखक का निश्चित 'वादी' दृष्टिकोण भी इसके लिए उत्तरदायी है। प्रगतिवादी हृदय-परिवर्तन कम ही प्रदर्शित करते हैं, अतएव गत्यात्मक चरित्र-विधान भी नहीं हो सका। लेखक के राजनैतिक मतवाद—उपन्यास के वर्ग-संघर्षमय रूप—ने भी चरित्र-चित्रण को स्वरूप दिया है। वर्ग-प्रतिनिधि पात्रों की सृष्टि इसी का फल है। दूसरे, उच्चवर्गीय जमींदार पात्रों—जिनके लिए 'ज़ालिम'[1] विशेषण निश्चित है—उनका साथ देने वाले निम्नवर्गीय पात्रों, कांग्रेसी सरकार के संसद्सस्यों एवं कर्मचारियों को दुर्गुणी तथा निम्नवर्गीय किसानों एवं वामपक्षीय मतावलम्बियों का सद्गुणी दिखाया गया है। इसकी सीमा उनके पूर्वजों तक पहुँचाई गई है। जैनरायण झा, टुनाइ पाठक के पूर्वजों तथा जयकिसुन के बाप-दादा के तुलनात्मक चरित्राध्ययन से उपर्युक्त तथ्य का स्पष्टीकरण हो जाता है। इस तरह अपनी मतवादिता के अनुकूल पात्रों का चरित्र-चित्रण भी अनम्य (rigid) है, परिणामतः चरित्राध्ययन से जनित उत्सुकता यहाँ नहीं आ सकी। राजनैतिक पक्षधरता ने पात्रों पर लेखक को हावी कर दिया है, जिससे चरित्र-चित्रण अप्रभावी हो गया है। इन स्थिर पात्रों में बरगद बाबा का सर्वाधिक सजीव एवं मौलिक चरित्र ही इसका अपवाद है।

प्रगतिवादी नागार्जुन अपने राजनीतिक मत की सांकेतिक व्यंजना नहीं, स्पष्ट स्थापना करते हैं। इससे उनकी कला में स्थूलता आ गई है। दूसरे, इस स्थापना के लिए वह अपने पक्ष का सैद्धांतिक विवेचन नहीं करते, अपितु विपक्षियों के गर्हित चित्रण तथा उनकी कटु आलोचना द्वारा अपने मत को स्पष्ट करते हैं। वाद की गरमी से, मार्मिकता की तुलना में बौद्धिकता तथा एकांगिता बढ़ गई है और इससे उपन्यास के प्रभाव को किंचित् क्षति पहुंची है। लेखक की मनोवृत्ति इस उपन्यास के प्रमुख सत्पात्रों के सम्बन्ध में दिए गए उसके मत से भली-भाँति स्पष्ट हो सकती है—"बस्ती रुपउली के अन्दर आधा दर्जन ऐसे जवान थे जो शासन की वर्तमान व्यवस्था के निठुर आलोचक थे।"[2] इस खण्डनात्मक पद्धति या 'निठुर आलोचना' के अनुकूल इस उपन्यास में खरी-तीखी भाषा-शैली को अपनाया गया है जिसका प्रमुख उपकरण है व्यंग्य। कुछ परिच्छेद तो एकांत व्यंग्यात्मक हो गए हैं।[3] ऐसे व्यंग्यात्मक स्थलों पर हिन्दी-उर्दू शब्दों से मिश्रित व्यावहारिक तथा मुहावरेदार भाषा-शैली मिलती है। प्रकृति-चित्रण में शैली प्रायः कवित्वमय तथा संस्कृतगर्भित है। यथार्थवादी प्रवृत्ति के कारण अनेक स्थलों पर पात्र-पक्षियों के उच्चारण को दृष्टि में रखकर ध्वनिवाचक देशज शब्दों का प्रयोग किया गया है।

कुल मिलाकर, नागार्जुन ने 'बाबा बटेसरनाथ' में कथा-शिल्प सम्बन्धी, अपने

---

१. पृ० ११२। २. पृ० ३८।

३. १३वाँ परिच्छेद उग्रमोहन दास का व्यंग्य-चित्र।

ढंग का अकेला, अभिनव लोकशिल्पात्मक प्रयोग किया है। इसमें रिपोर्ताज-शैली से भी सहायता ली गई है। लेखक की मतवादिता ने इस उपन्यास के चारित्रिक पक्ष को दुर्बल तथा अपनी एकांगिता से प्रभाव को सीमित कर दिया है। फिर भी, बाबा बटेसरनाथ के रूप में सजीव एवं स्मरणीय पात्र-सृष्टि के माध्यम से अंचलीय चित्रण में लेखक पर्याप्त सफल रहा है।

नवाँ अध्याय

देशकाल-प्रधान उपन्यास : विशेषताएँ

जिस उपन्यास मे अतीतकालीन वातावरण के जीवत निर्माण की अनिवार्यता शेष सभी तत्वों की नियामक बनकर आए, उसे देशकाल-प्रधान उपन्यास कहा जा सकता है। स्पष्टतया ये उपन्यास ऐतिहासिक होते हैं, क्योंकि तात्कालिक वातावरण की अवतारणा इनकी अनिवार्यता[1] ही नही, सर्वप्रमुख कुशलता[2] भी होती है। ऐतिहासिक उपन्यास की सफलता-सिद्धि उस भ्रांत्युत्पत्ति में है जिसमें पाठक वर्तमान को भूलकर अतीत के किसी विशेष काल-खण्ड में विचरने लगे। ऐतिहासिक उपन्यास के लिए यही आवश्यक नहीं कि वह किसी वर्तमानकालीन उपन्यास से भिन्न दिखाई दे, यह भी आवश्यक है कि उसका वातावरण किसी भिन्न-कालीन ऐतिहासिक उपन्यास से भी अपने पार्थक्य की पहचान करा सके। इसलिए अपने अभीष्ट काल की स्मृतियाँ उपन्यासकार के मानसपट पर ऐसी स्पष्टता से अंकित हों मानों उसने स्वयं तद्युगीन जीवन व्यतीत किया हो और उस काल को किसी भी अन्य काल से पृथक् करने वाले रीति-रिवाज, सामाजिक दशाएँ, भावनाएँ तथा विचार उसके मन में इतने स्पष्ट हों जितने किसी तत्कालीन व्यक्ति के मन में रहे होंगे।[3] यह ध्यातव्य है कि इतिहास की तिथियाँ, या ऐतिहासिक पात्रों की वंशावलियाँ—इतिहास के कोरे तथ्यों—की भरमार होने पर भी अतीत का सजीव प्रत्यंकन तब तक नहीं हो सकता, जब तक उस काल की बहुविध परिस्थितियों का समवेत तथा अन्वित प्रभाव न उत्पन्न किया जाए। इसीलिए ऐतिहासिक उपन्यासकार राजनीतिक क्षेत्र की बड़ी-बड़ी विभूतियो पर ही दृष्टि केन्द्रित करके नहीं रह जाता, सामान्य जनता की धड़कनों को भी सुनता है, और लोकचित्रण के लिए लोक-उपकरणो तक का आश्रय लेता है।

---

१. डॉ० वृन्दावनलाल वर्मा :"अहिल्याबाई" का 'परिचय', पृ० २। "ऐतिहासिक उपन्यास मे तत्कालीन वातावरण की अवतारणा लेखक के लिए अनिवार्य है।"

२. पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी : "हिन्दी कथा साहित्य", पृ० २२७। "ऐतिहासिक उपन्यासों में लेखक की सबसे बड़ी कुशलता ऐतिहासिक वातावरण उपस्थित करने में है।"

३. Baker : "The History of the English Novel", Vol. 6, p. 137.

इस वातावरण की बिम्बात्मक अनुभूति कराई जाती है, वर्णन से जानकारी नहीं दी जाती है। अतएव यह आवश्यक है कि पात्रों तथा कथानक के माध्यम से वातावरण का मूर्तीकरण हो। पात्र उस युग के प्रतिनिधि हों और वह उस युग की सभी विशेषताओं—विचार-आदर्शों, रीति-नीतियों आदि—को ध्वनित करें। वातावरण की यथार्थता पात्रों को पूर्णतया उजागर कर दे और पात्र वातावरण के अनुकूल रहते हुए उसके योग से उद्घाटित-विकसित होते रहें। पात्र और परिस्थितियों की यह समन्विति स्वयं ही तत्कालीन समाज-प्रवाह के वेग को व्यक्त कर देगी। लेखक चाहे तो नए पात्रों की कल्पना भी कर सकता है, किन्तु उसकी कल्पना युग की परिस्थितियों से बँधी रहेगी। इस तरह एक ऐतिहासिक उपन्यास में ऐतिहासिक पात्रों का एकांत अभाव भी हो सकता है, किन्तु ऐसी स्थिति में कल्पित पात्रों को उस युग के सजीव प्रतिनिधि होने का प्रतिभास देना अनिवार्य होगा। प्रसिद्ध ऐतिहासिक पात्रों के उपयोग से लाभ यह होता है कि वह अपने साथ एक वातावरण लिए हुए आते हैं और पाठक उनके द्वारा यत्किंचित् पहले ही किसी अन्य काल में पहुँच जाते हैं। परन्तु इस वातावरण का लाभ वही उपन्यासकार उठा सकते हैं, जो इतिहास के पात्रों को उपन्यास के पात्र बना सकें और उपन्यास के अन्य तत्वों की समन्वित सहसत्ता में उन्हें योजित कर सकें। तात्पर्य यह है कि सीधे इतिहास से उठाकर पात्रों को उपन्यास में नहीं रखा जा सकता क्योंकि उपन्यास का अपना संसार होता है और वास्तविक जगत् से भिन्न होता है। यही बात ऐतिहासिक घटनाओं के लिए भी कही जा सकती है। ये सभी उस युग को साकार करने के सम्पोषक तत्व हैं, किन्तु स्वयं में प्रभाव नहीं, क्योंकि अन्य औपन्यासिक तत्वों की सापेक्षता में ही इनके औचित्य को देखा जा सकता है। उदाहरणता, कुछ उपन्यासकार वर्तमान से अपेक्षतया निकटवर्ती काल-खन्ड को चुनकर इतिहास के अधिकाधिक तथ्य जुटा लेने में समर्थ हो जाते हैं, परन्तु सृजनात्मक कल्पना के समुचित उपयोग के अभाव में वे उन्हें कथा-पात्रों की सापेक्षता में विधायित नहीं कर पाते और वे पृथक् थिगली-से जुड़े रह जाते हैं। इसी तरह इतिहास के प्रत्यक्ष वर्णन, या किसी राजा-बादशाह के दरबार में इधर-उधर भेजे गए जासूसों और दूतों से दिलवाई गई चतुर्दिक परिस्थितियों की सूचनाएँ भी प्रभावात्मक नहीं हो पातीं, क्योंकि ये न तो पात्रों की प्रकृति से बँधी उक्तियाँ होती हैं, और न घटनाओं से पुष्ट तथ्य, मात्र इतिहास के ऐसे समचार होते हैं जिन्हें किन्हीं पात्रों के उद्धरण-चिह्नों में रख दिया गया हो। इसी तरह प्रभूत मात्रा में जुटाए गए तथ्यों के समावेश के लोभ में उस चयन-कौशल की उपेक्षा कर दी जाती है, जो रोचक तथा सार्थक कथा-विधान के लिए आवश्यक है। यह तथ्य नहीं भुलाया जा सकता कि ऐतिहासिक उपन्यास भी पहले उपन्यास है,

ाद में इतिहास । वह तथ्यों के छिलके का नहीं, उनके प्रभाव के रस का आकांक्षी ी हो सकता है । इसलिए प्रायः यह अनुभव किया गया है कि जिन उपन्यासकारों ो वर्तमान से दूरवर्ती काल-खण्ड को चुना है, वे उनसे श्रेष्ठ कलाकृति निर्मित कर ाए हैं जिन्होंने वर्तमान के निकटवर्ती कालखण्ड को चुना है। इसका कारण यह है कि दूरवर्ती कालखण्ड को लेने से इतिहास के तथ्यों की स्थूलता तथा मात्रा स्वयं ही कट-छँट जाती है और कल्पना के प्रयोग की सुविधा-स्वतन्त्रता की गुंजायश बढ़ जाती है। वस्तुतः जब कोई लेखक उपन्यास को इतिहास की विशेषित (Specialized) जानकारी देने का माध्यम बनाने का प्रयत्न करता है, तो वह अपनी कला को कुण्ठित कर बैठता है। इसका कारण स्पष्ट है कि ऐसा लेखक उपन्यास को इतिहास का वशवर्ती बना देता है; वह भूल जाता है कि एक श्रेष्ट ऐतिहासिक उपन्यास में इतिहास सदा उपन्यास के अधीन होता है, उपन्यास इतिहास के नहीं। इसका तात्पर्य यह है कि ऐतिहासिक उपन्यासकार को ऐतिह्य तथ्यों के बलात समावेश, या पुराविद पाण्डित्याभिमान की अग्राह्य शुष्कता से बचना चाहिए। उसे यह समझना आवश्यक है कि अतीत-चित्रण को विश्वासोत्पादक बनाने के लिए खोजे गए एतिह्य तथ्यों की प्रामाणिकता या भरमार मात्र अपरिहार्य नहीं, कल्पना तथा सही प्रकार की प्रतिभा और भी वांछनीय है—ऐसी सर्जनात्मक प्रतिभा जिससे वह कम-से-कम समाविष्ट कर अधिक से-अधिक जानकारी दे सके। यह तभी हो सकता है जब वह बटोरने की बजाय चुने, वर्णन की बजाय संकेत दे, और परिश्रम के साथ कौशल दिखाए।

इतिहास के पात्र अपने-अपने युग के प्रतिनिधि होते हुए भी सुख-दुख से स्पन्दित होने वाले मानव होते है। इसका विशेष उल्लेख करने की आवश्यकता इसलिए हुई कि बहुधा उपन्यासकार ऐतिहासिक पात्रों की इतिहासगत गरिमा से ऐसे अभिभूत होते हैं कि वे उनके सहज मानवीय रूप का विस्मरण कर बैठते हैं। वे पाठकों को प्रभावित करने में असमर्थ होते है। वस्तुतः किसी पात्र का ऐतिहासिक गौरव औपन्यासिक कला-कुशलता का, या मानवीय सजीवता का स्थानापन्न नहीं हो सकता। ऐतिहासिक उपन्यास में पात्र अपने इतिहास से सहज प्राप्त गौरव के बल पर नहीं, औपन्यासिक विधान तथा मानवीयता के बल पर ही सम्प्रत्यात्मक हो सकता है।

एलटकार ने इतिहासकार के लिए कहा है कि "मनुष्य का अपने आवेष्टन से जो सम्बन्ध है, वही इतिहास-लेखक का उसके विषय से है।"[1] तथा "इतिहास के प्रति हमारी दृष्टि समाज के प्रति हमारी दृष्टि को प्रतिबिम्बित करती है।"[2] वाल्श महोदय तो यहाँ तक कहते हैं कि इतिहास-लेखन के समय इतिहासकार के मन में

१. "What is History", p. 24. २. Ibid., p. 127.

एक ऐसा पाठक-समाज रहता है जिसकी अतीत के प्रति उत्सुकता बहुत कुछ वर्तमान से उसकी तुलना तथा मूल्यांकन की इच्छा से प्रेरित रहती है।[1] इन उक्तियों के आलोक में एक ऐतिहासिक उपन्यासकार के ऐतिहासिक उपन्यास में भी वैयक्तिक तथा समसामयिक युग से प्रभावित मन के सहज समावेश की मनोवृत्ति की संगति को भली-भाँति समझा जा सकता है। फिर भी, इसकी सीमाओं का भी निषेध नहीं किया जा सकता है। समस्याएँ प्रस्तुत करते हुए और पात्रों से तर्क कराते हुए उस युग की मूल हार्द पर दृष्टि रखनी अनिवार्य है अन्यथा कृत्रिमता आ सकती है। ऐतिहासिक उपन्यासकार के समसामयिक युग का प्रभाव ऐसा प्रच्छन्न तथा परोक्ष हो कि नवीन-प्राचीन के बिम्ब-वैषम्य से प्रभाव-शैथिल्य न आए। इसके अतिरिक्त ऐतिहासिक उपन्यासकार को अतीत का प्रत्यंकन करते हुए तत्कालीन अपवादों को न लेना ही अच्छा होगा, क्योंकि उपन्यासकार किसी एक व्यक्ति का नहीं, समस्त युग का चित्रण कर रहा होता है।

अतीत में समसामयिक विचारों को देते हुए भी मतवादों या समस्याओं के सम्बन्ध में प्रचलित आधुनिक शब्दावली से बचना बड़ा आवश्यक होता है अन्यथा वातावरण की प्राचीनता कुण्ठित हुए बिना नहीं रह सकती। वार्तालाप के सम्बन्ध में भी यही बात कही जा सकती है। उसकी शब्दावली या तो हूबहू उपन्यस्त काल की हो,[2] या प्राचीनता का प्रतिभास दे, या समसामयिक भाषा भी चौंकाने वाली आधुनिक शब्दावली, आधुनिक संदर्भों एवं आधुनिक उद्धरणों से मुक्त हो[3]। इसमें से पहली स्थिति ही आदर्श स्थिति है—ऐतिहासिक उपन्यास के लिए आदर्श संवाद वही हो सकते हैं, जो उद्दिष्ट काल का प्रतिनिधित्व करें।[4] इस सम्बन्ध में शर्त यही है कि वे पाठकों के लिए दुरूह न हो जाएँ। इसलिए अधिकांश ऐतिहासिक उपन्यासकार संवादों से प्राचीनता का प्रतिभास देने तक सीमित रहते हैं। वाणी की तरह पात्रों के तर्क भी ऐतिहासिक यथार्थ की सीमाओं का अतिक्रमण न कर जाएँ। डॉ० रांगेय राघव ने अपने 'मुर्दों का टीला' के 'आमुख' में इसी तथ्य की ओर संकेत करते हुए

---

१. W.H. Walsh : "An Introduction to Philosophy of History", p. 171.

२. द्रष्टव्य, थेकरे का हेंनरी एसमॉन्ड (१८५३)।

३. Liddell : "Some principles of Fiction", p. 90. "First, the dialogue of a past age may be faithfully reproduced. Secondly, a kind of negative archaism can be used—the writer writes in the language of his own time, denying himself any words or references that are startlingly contemporary."

४. A. M. Clark : "Studies in Literary Modes", p. 9,

लिखा है—"आजकल हिन्दी में ऐसे बहुत से उपन्यास निकल रहे हैं जिनमें अद्भुत बातें साबित कर दी जाती हैं, अनेक उदाहरण हैं। खेद है आपको यहाँ 'दास' दासों की सी बात करता मिलेगा। उसकी परिस्थिति प्रकट है। वह उस काल के दार्शनिकों की सी शिक्षित बहस नहीं कर सकता, न वह वैज्ञानिक भौतिकवाद मानता है न द्वन्द्वात्मक ऐतिहासिक व्याख्या ही। मैं समझता हूँ कि इतिहास को इतिहास की सफल झलक कर के देना ठीक है, न कि अपने आप को पात्र बनाकर किये कराये पर पानी फेर देना।"[1]

ऐतिहासिक उपन्यासकार अपनी भाषा-शैली से, अतीत के रंग-रूप को उतारने में समर्थ अप्रचलित-असाधारण शब्दावली से, वातावरण-विधान किया करते हैं। पात्रों के प्राचीन नामों, उनके शिष्टाचार आदि के प्राचीन सम्बोधनों, वस्तुओं, जातियों, नगरों, तथा देशों के प्राचीन नामों आदि के खोजपूर्ण आश्रय से विगत युगों के वातावरण को साकार किया जाता है।

ऐतिहासिक उपन्यासकार प्रधानतया बहिर्मुखी होता है। उसकी दृष्टि अधिकतः वस्तून्मुखी ही होती है, किन्तु कला अपनी सफलता के लिए उससे बाह्य जगत् और अन्तर्जगत् के समन्वित सहास्तित्व की माँग कर सकती है।

यहाँ देशकाल-प्रधान उपन्यासों के वर्ग में ऐसे उपन्यास लिए गए है जो सभी एक-दूसरे से भिन्न-भिन्न प्रकृति तथा भिन्न-भिन्न कालों के हैं। 'मधुर स्वप्न' यात्रात्मक प्रचार-प्रधान उपन्यास है। 'मृगनयनी' एक ओर ऐतिहासिक रोमांस है, दूसरी ओर उद्देश्यप्रधान। 'दिव्या' 'समस्यामूलक' शिल्प को निर्दशित करता है। वैशाली की नगरवधू' (लेखक के अनुसार) 'इतिहास रस' का उपन्यास है। बाणभट्ट की 'आत्मकथा' ऐतिहासिक उपन्यासों में अभिनव प्रयोग का उदाहरण है। 'झाँसी की रानी' वर्तमान से निकटवर्ती काल-खण्ड पर आधृत इतिहास-प्रधान जीवनीमूलक उपन्यास के गुण-दोष को उदाहृत करता है और 'मुर्दों का टीला' एकदम दूर प्रागैतिहासिक' काल पर लिखा इतिहास का प्रतिभास देने वाले कल्पना-प्रधान उपन्यास की विशेषताओं को प्रकट करता है। यह उल्लेखनीय है कि एकांत भिन्न-भिन्न कालों से सम्बद्ध होते हुए भी इन सभी उपन्यासों में वर्तमान देश-काल की धड़कन सुनाई देती है। अतएव इनकी शिल्पविधि की विश्वसनीयता एवं सफलता इस बात पर भी अवलम्बित है कि अतीत के स्पंदनों में यह वर्तमान की धड़कन कितनी विलीन हो पाई है और कितनी पृथक् रह गई है; और सही शब्दों में, इन सभी उपन्यासों का अपना-अपना संसार, या शाब्दिक नमूना (Verbal pattern) कहाँ तक वर्तमान प्रेणाओं को स्वयं में समो सका है।

१. "मुर्दों का टीला", पृ० 'ज'।

झाँसी की रानी—लक्ष्मीबाई

'गढ़ कुंडार' (१९२७), 'विराटा की पद्मिनी' (१९३६), 'मुसाहिबजु', (१९४०) के पश्चात् 'झांसी की रानी—लक्ष्मीबाई' (१९४७) वृन्दावनलाल वर्मा का चतुर्थ ऐतिहासिक उपन्यास है। इस उपन्यास से वर्मा जी के इतिहास-प्रधान उपन्यासों की परम्परा प्रारम्भ होती है क्योंकि इससे पहले के तीनों उपन्यास कल्पना-प्रधान हैं। 'झाँसी की रानी' को इतिहास-प्रधान, या 'शुद्ध ऐतिहासिक उपन्यास' मानने में आलोचकों में मतैक्य है।[1] स्वयं लेखक का भी यही मत प्रतीत होता है।[2] वर्मा जी ऐतिहासिक उपन्यास-रचना में ज्यों-ज्यों आधुनिक समय के निकट के कालखण्ड को लेते गए हैं, त्यों-त्यों कल्पना से इतिहास की ओर बढ़ते गए हैं। समय की दूरी अधिक न होने के कारण, प्रामाणिक ऐतिहासिक सामग्री के जुटाने में अपेक्षाकृत अधिक सुविधा हो सकती है और उपन्यास को अधिक-से-अधिक इतिहास-सम्मत बनाया जा सकता है। इस सुविधा के कारण 'झाँसी की रानी' तथा 'अहल्याबाई' इतिहास-प्रधान उपन्यास बन गए हैं।

'झाँसी की रानी' की रचना-प्रेरणा भी उसकी इतिहास-प्रधानता के लिए उत्तरदायी है। इसकी रचना हमारे इतिहास को मलिन कर देने वाले विदेशी इतिहासकारों के विरोध में एक विशिष्ट ऐतिहासिक तथ्य की स्थापना के उद्देश्य से हुई है। लेखक के अनुसार वह तथ्य यह है कि झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई स्वराज्य के लिए लड़ीं—अंग्रेजों की ओर से झाँसी का शासन करते-करते—जनरल रोज से विवश होकर नहीं; उनका शौर्य सांस्कारिक था, "परिस्थितियों की विवशता से उत्पन्न" नहीं।[3] अतएव भारतीय जनता पर अपनी "सार्वभौम सत्ता का आतंक और

---

१. क. डॉ० गोपीनाथ तिवारी : "ऐतिहासिक उपन्यास और उपन्यासकार", भूमिका पृ० ४।
   ख. डॉ० शिवनारायण श्रीवास्तव : "हिन्दी उपन्यास", पृ० १४२, १४४।
   ग. डॉ० विनयमोहन शर्मा : "साहित्य, शोध और समीक्षा", पृ० १४०।
   घ. डॉ० जगदीश गुप्त : "आलोचना" संख्या १३, पृ० १८२।
   ङ. डॉ० त्रिभुवन सिंह; "हिन्दी उपन्यास और यथार्थवाद", पृ० १४७-४८।
   च. डॉ० सियारामशरण प्रसाद : "वृन्दावनलाल वर्मा : उपन्यास और कला" पृ० ४४।
   ज. डॉ० शिवकुमार मिश्र : "वृन्दावनलाल वर्मा : उपन्यास और कला" पृ०४४
   छ. डॉ० शशिभूषण सिंहल : "उपन्यासकार वृन्दावनलाल वर्मा", पृ० ३५।
२. "झांसी की रानी" का 'परिचय', पृ० ४ तथा 'परिशिष्ट' पृ० ५१०।
३. वही, पृ० १-३।

महत्व''[1] सदा बनाए रखने के लिए, पारसनीस-जैसे जिन विदेशी इतिहासकारों—या उनसे प्रभावित-भ्रमित उनके भारतीयों शिष्यों—ने स्वराज्य को 'गदर' कहकर तथ्यों को अपनी निहित दृष्टि से प्रस्तुत किया—१९३२ से लगे अपने अथक अनसंधान के बल पर—उनके कुतर्कों का खंडन करने के उद्देश्य से वर्मा जी ने किसी इतिहास की पुस्तक न लिखकर, इस ऐतिहासिक उपन्यास की सर्जना की; ऐसे उपन्यास की "जो इतिहास के रग-रेशे से सम्मत हो और उसके संदर्भ में हो। इतिहास के कंकाल में मांस और रक्त का संचार करने के लिए उनको इतिहास साध्य है, और उपन्यास ही अच्छा साधन प्रतीत हुआ।''[2] तात्पर्य यह है कि लेखक के लिए इतिहास साध्य है, और उपन्यास साधन—एक 'अच्छा साधन'। अतएव यह कहना उचित होगा कि 'झांसी की रानी' इतिहास में उपन्यास है, उपन्यास में इतिहास नहीं। उपन्यास में आए तथ्यों की प्रामाणिकता के लिए 'परिचय' के अतिरिक्त वर्मा जी ने 'परिशिष्ट' भी लिखा है और स्पष्ट किया है कि "परिशिष्ट का यह खंड प्रतिकूल इतिहासकारों और श्री किकेंड सरीखे अनुकूल लेखकों की आलोचना के लिए नहीं लिख रहा हूँ। जिनको वास्तव में भ्रम निवारण करना हो, वे इस उपन्यास को पढ़ें''।[3] यहाँ विचारणीय है कि "उपन्यास से तो भ्रम फैलाये जाते हैं। यह लेखक इतिहास के द्वारा फैलाये गये भ्रमो को उपन्यास के निवारण करने का निमन्त्रण दे रहा है। इस उद्देश्य के प्रकाश में 'झाँसी की रानी' की इतिहास-प्रधानता को भली-भाँति समझा सकता है। इसका एक और परिणाम भी निकला है। किसी के विरोध में किन्हीं तथ्यों को सिद्ध करने की अतिरिक्त चेतना से उपन्यासकार का एक पूर्वाग्रह बन जाता है, जिससे चित्रण भावाविष्ट हो जाते हैं। इस भावाविष्ट चित्रण के दो अन्य कारण भी हैं। पहला है झाँसी की रानी से लेखक का पैतृक सम्बन्ध—इनके परदादा दीवान आनंदराम थे, जो रानी लक्ष्मीबाई की ओर से लड़ते-लड़ते मारे गए। इस व्यक्तिगत सम्बन्ध के कारण चित्रणों का भावनात्मक हो जाना समझा जा सकता है। दूसरे, लेखक अपने समय से विशेष प्रभावित हुआ है। उसने 'झांसी की रानी' की रचना उस काल में की है जब भारत का स्वाधीनता-संग्राम विशिष्ट स्थिति पर पहुँच चुका था। अतएव यह रचना एक सामान्य लेखक ने नही की, रानी के सम्बन्ध में प्रचलित जन-भावना के प्रतिनिधि, श्रद्धालु, तथा स्वराज्य-आन्दोलन के सेनानी ने की है। लेखक की निम्न पंक्तियाँ यही व्यंजित कर रही हैं—"यदि आनंदराय ने रानी के

---

१. वृन्दावनलाल वर्मा : "ऐतिहासिक उपन्यास", 'समालोचक' (यथार्थवाद विशेषांक) फरवरी १९५९, पृ० १६५।

२. 'झांसी की रानी'' का 'परिचय', पृ० ४।   २: 'परिशिष्ट' पृ० ५१०।

३. डॉ० सत्येन्द्र : "मृगनयनी : कला और कृतित्व", पृ० २०।

लिए गोली खाई और मेरी कलम ने थोड़ी सी स्याही—तो इस अन्तर को पाठक अवश्य ध्यान में रखने की कृपा करें"।[1] इसी आधार पर उन्होंने समयुगीन स्वाधीनता-संग्राम के लिए उत्साहोत्सर्ग के चरमादर्श प्रस्तुत करने वाले तद्युगीन पात्रों और झाँसी की रानी के बलिदान को "स्वराज्य की नींव के पत्थरों"[2] के रूप में चित्रित किया। इसमें 'झाँसी की रानी' के पात्रों के चित्रण को अनुसंधित्सु इतिहासकार के प्रामाणिक साक्ष्यों का आधार भी मिला है, और एक श्रद्धालु की भावना की भेंट भी। वर्मा जी की खोज चाहे इतिहासकारों की हो, परन्तु मनोवृत्ति तथा शैली साहित्यकारों की है। इन दोनों तत्वों ने मिल-बिछुड़ कर 'झाँसी की रानी' के शिल्प-विधान को स्वरूप दिया है।

इतिहास-संशोधन, स्वाधीनता-आन्दोलन के लिए भावी संकेत देने तथा उसके लिए आदर्श-सृष्टि करने के अतिरिक्त वर्मा जी का सामाजिक उद्देश्य भी है। उन्होंने युगीन समस्याओं को भी अतीत के आधार पर समझाने की चेष्टा की है, जिनमें जात-पांत, नारी-जागरण, हिन्दू-मुस्लिम-ऐक्य, जमींदारी आदि की समस्याएँ हैं। इसके अतिरिक्त उपन्यास के शीर्षकानुसार रानी का प्रामाणिक जीवन-चरित्र प्रस्तुत करना भी इसका प्रमुख उद्देश्य है। अब हम इन उद्देश्यों के प्रभाव में इस उपन्यास के शिल्प-विधान का विवेचन करेंगे। इस के प्रमुख उद्देश्य के अनुसार इसकी अधिकांश कथा रानी-केन्द्रित है। इस उपन्यास के वस्तु-संगठन में एक विशेष योजना है, जो रानी के जीवन-चरित्र पर आधारित है। इसके अनुसार यह उपन्यास चार भागों में विभक्त है—'प्रस्तावना', 'उदय', 'मध्यान्ह' तथा 'अस्त'। प्रथम भाग संक्षेप में रानी के जीवन की प्रस्तावना प्रस्तुत करता है। इसमें रानी के पति की रुचि-प्रकृति का चित्रण उसके पूर्वजों तथा झाँसी-राज्य का इतिहास है। 'उदय' में रानी के जन्म-वंश, प्रारम्भिक संस्कारों, झाँसी के राजा से विवाह, पुत्रोत्पत्ति तथा मृत्यु, दत्तक पुत्र के गोद लेने, राजा के मरने, अंग्रेज़ों द्वारा दत्तक की अस्वीकृति, रानी को पेन्शन देकर राज्य के छीन लेने तथा उसको पाने के लिए रानी के प्रयत्नों का वर्णन है। सारतः 'उदय' भाग में कथा के आधारभूत पात्रों एवं घटनाओं का उत्तरोत्तर उत्कर्ष है। 'मध्यान्ह' में में कथा समतल पर आ जाती है। इसमें अंग्रेज़ों के प्रति व्यापक रोष, रानी के प्रयत्नों के विस्तार, सन् सत्तावन की क्रांति के प्रारम्भ, झाँसी पर रानी के अधिकार तथा शासन-व्यवस्था, घरेलू डाकू तथा आक्रमण, देशी राजा पर रानी की विजय तथा अंग्रेजों के आसन्न आक्रमण की सूचना का वर्णन है। 'अस्त' में रानी के जीवन तथा कथा का अवसान है। इसमें अंग्रेज़ों के झाँसी पर आक्रमण, रानी के घोर मुकाबले, रानी को बाहरी सहायता के मिलने पर भी उसके पराजित होने, दूसरे राज्यों के

१. "परिचय", पृ० ४। २. घायल रानी का चिन्तन, पृ० ४८३।

आश्रय-अर्जन से अँग्रेज़ों से दो बार लोहा लेने और अन्त में युद्ध करते-करते वीरगति पाने का वर्णन है। इस प्रकार जन्म से लेकर मरण तक, रानी के सम्पूर्ण जीवन-चरित्र का चित्रण किया गया है। 'झांसी की रानी' जीवन-चरित्रात्मक है; क्योंकि—

१. अधिकांश कथा जीवनचरित्र के आधारभूत पात्र को केन्द्र बना कर चली है।

२. इसमें रानी का सम्पूर्ण जीवन-चरित्र है किन्तु अन्य किसी पात्र का नहीं।

३. लेखक दूसरे पात्रों के चित्रण पर कम से कम रुका है और प्रायः उनको रानी के कार्य एवं आनर्शो में योग देने के आधार पर महत्व मिला है अथवा उनका चित्रण रानी के प्रभाव-विस्तार का अंग बनकर आया है।

४. इसमें रानी के जीवन की जन्म-तिथि तथा—वर्णन-विधि से—वंश-वृक्ष तक दिया गया है, जिसकी औपन्यासिक पद्धति में आवश्यकता नहीं थी।[1]

५. इसमें स्थान-स्थान पर रानी की दिनचर्या तथा छोटी-छोटी क्रियाओं तक के विवरण दिए गए हैं।[2]

६. इसमें ऐसे प्रसंगों की विशेष योजना हुई है, जिसमें रानी के गुणों को उभारा गया है और उसके चरित्र का आदर्शीकरण हो सका हैं।[3] यह उल्लेखनीय है कि छोटे-बड़े युद्धों के प्रसंग भी हैं, जो स्वराज्य-संग्राम से सम्बद्ध नहीं, किन्तु रानी के जीवन—उसकी कुशलता-शूरता के सामने लाने—से सम्बन्धित हैं; जैसे, सागरसिंह डाकू को पकड़ने तथा नत्थेसिंह के झांसी पर आक्रमण एवं पराजय के प्रसंग।

७. लेखक रानी का अन्तरंग चित्र नहीं दे पाया, अतएव उसका चरित्र-चित्रण उपन्यासकार की अपेक्षा जीवनीकार के निकट है।

८. लेखक जिस श्रद्धा से रानी का चित्रण कर रहा है, वह भी जीवनीकार की विशेषता है।

९. उद्दिष्ट पात्र की आयुवृद्धि के अनुसार घटनाओं का क्रमिक विकास-विस्तार होने से विशेष कुतूहल-पूर्ण औपन्यासिक कथानक की सृष्टि नहीं हो सकी। व्यक्ति-प्रधान उपन्यास के कथानक में काल-विपर्यय—आधारभूत पात्र की जीवन-घटनाओं को उलट-पलटकर प्रस्तुत करने—से उत्सुकता-सृष्टि के कौशल का उपयोग किया जाता है, किन्तु यहाँ ऐसा नहीं हो सका। उदाहरणतया, उपन्यास के पहले भाग—'प्रस्तावना'—की समाप्ति के साथ लेखक पाठकों में मुख्य कथा के सम्बन्ध में किसी उत्कुक्ता को जगाने में असमर्थ रहा है। दूसरे भाग 'उदय' का नाटकीय विधि से, अकस्मात् आरम्भ रानी के किशोर जीवन से हुआ है, और उसके जन्म का

१. पृ० ३१। २. पृ० १५६, २७५, ३२१, ४२८, ४३०। ३. ८३ परिच्छेद।

उल्लेख चार परिच्छेदों के बाद हुआ है। यह समय-विपर्यय नाटकीयता के लिए उपयोगी सिद्ध हुआ है किन्तु उसके बाद उद्दिष्ट पात्री का बाल-जीवन सामने नहीं लाया गया। इसलिए इसे काल-विपर्ययात्मक कौशल नहीं माना जा सकता। फिर भी, नाटकीयता के कौशल का निषेध नहीं किया जा सकता। इस भाग की उल्लेखनीय विशेषता दृश्य-विधान का शिल्प-सौन्दर्य है। आगे समग्र उपन्यास में घटनाओं का विकास रानी की आयु-वृद्धि के साथ हुआ है।

ये सब होते हुए भी, 'झांसी की रानी' जीवन-चरित्रात्मक है, जीवन-चरित्र नहीं। निस्सन्देह लेखक को रानी का प्रामाणिक जीवन-चरित्र प्रस्तुत करना है किन्तु विशेष दृष्टिकोण तथा उद्देश्य से उसे सन् १८५७ की इतिहास-प्रसिद्ध क्रांति तथा उससे सम्बद्ध पात्रों को भी प्रस्तुत करना है। उसे अँग्रेज़ों की जीत तथा भारतीयों की हार के ऐतिहासिक कारणों का चित्रण-विवेचन करना है तथा ऐतिहासिक उपन्यासकार के समान तत्कालीन युग-जीवन को साकार। उसे रानी के विचारों को ही स्पष्ट नहीं करना, अपने दृष्टिकोण की स्थापना करते हुए वर्तमान कालीन प्रश्नों-समस्याओं के संकेत भी देने हैं। इस तरह उसका उद्देश्य व्यापक है। लेखक को कलात्मक सृष्टि के लिए, इन सबका समन्वित प्रतिपादन अभीष्ट था। इसलिए स्वाधीनता-संग्राम के चित्रण को 'झाँसी की रानी' के प्रमुख लक्ष्य के रूप में स्थिर कर, रानी के जीवन-चरित्र को उसका माध्यम बनाकर, तद्‌युगीन जीवन को उसकी पृष्ठभूमि के रूप में विन्यस्त कर, रानी के जीवन एवं युग-चित्रण दोनों से प्रासंगिक रूप में आधुनिक समस्याओं-विचारों को व्यंजित कर तथा इतिहास-प्रमाणित घटना-पात्रों के चित्रण से अभीष्ट-सिद्धि की गई है। आगे हम इसके स्पष्टीकरण का प्रयत्न करेंगे। पहले 'माध्यम' को लीजिए। रानी का जीवन-चरित्र इस व्यापक उद्देश्य को अपने महत्वपूर्ण कार्यों तथा इतिहास-प्रसिद्धि से सम्भाल सकता था इसलिए वर्मा जी ने उसे भारतीय स्वाधीनता-संग्राम के प्रतिनिधि-प्रतीक के रूप में प्रस्तुत किया है। तदनुसार लेखक ने रानी को उसके बाल-किशोर जीवन से ही भारत की राजनीतिक स्थिति एवं अँग्रेज़ों की बढ़ती शक्ति के प्रति सजग रखा है और उसके अँग्रेज़-विरोधी संस्कारों, तथा उत्साह-शौर्य का प्रगल्भ चित्रण किया है।[1] वस्तुतः लेखक प्रारम्भ से ही उद्देश्य की ताक में रहा है और रानी के प्रारम्भिक जीवन-चरित्रात्मक प्रकरण—किशोरों के आपसी विनोद-वार्तालाप तक—भी अँग्रेज-विरोधी विषय तक बार-बार पहुँच जाते हैं। विवाहोपरान्त रानी को अपने पति को अँग्रेज़ों के विरोध में प्रेरित करते दिखाया गया है। गार्डन और राजा में हुए कटु-संवाद पर उसे विशेष हर्ष होता है; तब वह अपनी सखियों से कहती है—"मुझको दादा पेशवा ने बतलाया

१. पृ० २५, २६, ३८।

है कि सौ सवा सौ वर्ष पहले इस अँग्रेज कौम ने हमारे देश में किन-किन उपायों से क्या-क्या किया। मेरा बस चले तो..।"[१] लेखक ने रानी को स्वाधीनता-संग्राम का सर्वोच्च प्रतीक बनाने के लिए उससे साभिप्राय विशेष कथन कहलाए हैं; रानी अपनी सखियों से अन्यत्र कहती है—"यदि हिन्दुस्तान में कोई भी उस (स्वराज्य-प्राप्ति के) पवित्र काम को अपने हाथ में न ले, तो भी मैंने अपने कृष्ण के सामने, अपनी आत्मा के भीतर उसका बीड़ा उठाया है। करूँगी और फिर करूँगी। चाहे मेरे पास खड़े होने के लिए हाथ पर भूमि ही क्यों न रह जाय। मान लो मैं सफल न हो पाई, तो भी जिस स्वराज्य धारा को आगे बढ़ा जाऊँगी, वह अक्षय रहेगी।"[२] उपन्यासांत के निकट अपने प्रयत्नों में विफलता देखकर रानी संन्यासी बाबा से प्रश्न करती है—"इस देश को स्वराज्य कैसे प्राप्त होगा"?[३] स्वराज्य के लिए लड़ती-लड़ती घायल मरणासन्न रानी सोचती है—"स्वराज्य की नींव का पत्थर बनने जा रही हूँ।"[४] व्यक्ति नष्ट होता है किन्तु प्रतीक नहीं—स्वाधीनता-आन्दोलन का एक नेता अथवा सेनानी समाप्त हो सकता है, किन्तु आन्दोलन तो अग्रसर ही होता रहता है। लेखक ने रानी के अन्त को यही सार्थकता दी है; इस सम्बन्ध में रानी के अमर मरण के साक्षी गुलमुहम्मद तथा लेखक के विचार-प्रतिनिधि संन्यासी पात्र की निम्न पंक्तियाँ उल्लेखनीय हैं— (क) "औ: कबी नहीं। वो मरा नहीं। वो कबी नई मरेगा। वह मुर्दों को जान बख्शता रहेगा।"[५] (ख) "प्रकाश अनन्त है। वह कण-कण को भासमान कर रहा है। फिर उदय होगा। फिर प्रत्येक कण मुखरित हो उठेगा"।[६] (ग) "झाँसी की रानी के सिधार जाने को अस्त होना कहते हो। यह तुम्हारा मोह है। वह अस्त नहीं हुई। वह अमर हो गई।"[७] इसलिए लेखक ने उपन्यास के 'अस्त' विभाग के नीचे कोष्ठ में 'क्या सचमुच'? लिख दिया है और भारतीय स्वाधीनता-आन्दोलन के लिए आशावादी संदेश-स्फूर्ति के साथ उपन्यास की समाप्ति की है। इसी में रानी के व्यक्तित्व की प्रतीकात्मक पूर्णता है। इसकी परिपुष्टि रानी के अनगिनत सहयोगियों के अपूर्व बलिदानों से होती रही है। काशीबाई, जूही, सुन्दर, मुन्दर, जवाहरसिंह, गुलाम गौस, खुदाबख्श, मोतीबाई, सागरसिंह आदि के बलिदानों से उपन्यास का अन्त विशेष प्रभावपूर्ण हो उठा है।

इस रचना में एक दार्शनिक संदेश भी निहित है, जिसकी अभिव्यक्ति उपर्युक्त कथनों तथा मुख्यत: रानी के जीवन के माध्यम से हुई है। अस्तोन्मुख रानी के अन्तिम शब्द हैं—"द ह .. ति .. नै .. यं .. पावक":[८] गीताकार कृष्ण के कर्म-सिद्धान्तों

१. पृ० ६४। २. पृ० १६३। ३. पृ० ४७३। ४. पृ० ४८७।
५. पृ० ४९७। ६. पृ० ४९२। ७. पृ० ४९३।
८. पृ० ४९१। इस पंक्ति की भूमिका के लिए पृ० २४६-४७ भी द्रष्टव्य हैं।

को जीवन में आत्मसात कर वह औरों को भी प्रेरणा देती रही है। उसकी सतत स्वराज्य-स्फूर्ति कर्म-दर्शन से नियन्त्रित रही है; रानी के ही शब्दों में—"स्वराज्य की स्थापना में कितने खप गये। यह आवश्यक नहीं है कि स्वराज्य की स्थापना हम जीवन-काल में ही देख लें। सीढ़ी के डण्डे पर पैर रखते ही हम छत पर नहीं पहुँच जाते। एक ही त्याग, एक ही मरण, एक ही जन्म से स्वराज्य नहीं मिलता। स्मरण रक्खो—हमको केवल कर्म करने का अधिकार है, फल पर नहीं। दृढ़ उद्देश्य और निरन्तर कर्म—हमारा केवल ध्येय यह है। जीवन कर्तव्यपालन का नाम है—कर्तव्यपालन करते हुए मरना जीवन का ही दूसरा नाम है।"[1] इस तरह 'झाँसी की रानी' का करुण अन्त जहाँ हमें द्रवित करता है, और अँग्रेज़ों के प्रति घृणा को तीव्र, वहाँ यह अस्तोपरान्त पुनः 'उदय' की आशा के साथ कर्मण्यता की स्फूर्ति भी देता है। एक दुःखान्तकी के प्रभावों का उपयोग करते हुए भी पाठकों को आशावाद से आलोकित करने में लेखक की कला-कुशलता है।

लेखक को अभीष्ट था कि वह झाँसी की रानी को स्वराज्य के लिए लड़ने वाली तथा दया, मानवता, वीरता, त्याग, उत्साह, स्फूर्ति एवं बलिदान के सजग-प्रमाण के रूप में चित्रित करे—और इसमें वह सफल भी रहा है—पर इतना ही नहीं; उसे यह भी सिद्ध करना था कि रानी को स्वराज्य की स्पष्ट कल्पना थी और वह स्वाधीनता-संग्राम की नेत्री तथा संचालिका थी; वह झाँसी-राज्य पर अपने अधिकार को रखने की निजी स्वार्थ-प्रेरणा से नहीं लड़ी, एक व्यापक उद्देश्य के लिए लड़ी। वर्मा जी ने इस सत्य को प्रमाणित करने के लिए चार-पाँच विशेष परिच्छेदों की योजना कर रानी को तांत्या, नाना आदि से, भारत-भर में क्रान्ति की तैयारी के सम्बन्ध में, विचार करते तथा योजनाएँ बनाते दिखाया है।[2] इसके अतिरिक्त सन् ५७ की व्यापक क्रान्ति की झलक देने के लिए लेखक ने झाँसी और रानी से इतर के कथा-क्षेत्र का उपयोग भी किया है, जिससे उपन्यास का चित्रपट व्यापक हो गया है।[3] क्रांति के अन्य नेताओं—नाना और तांत्या—को, रानी से आयु में बड़े होते हुए भी, उसके पैर छूते[4] तथा निर्देश-पाते प्रदर्शित किया गया है ताकि यह सिद्ध किया जा सके कि क्रान्ति की सूत्र-संचालिका रानी थी। किन्तु इन प्रयत्नों के होते हुए भी रानी के स्वराज्य-संग्राम के संचालिका-रूप का प्रभाव नहीं पड़ सका। यही नहीं अनेक अवसरों पर उसमें राजनीतिक दूरदर्शिता, बुद्धिमत्ता तथा नेत्रियोचित संचालन-शक्ति की स्पष्ट कमी दिखाई देती है। ऐसा लगता है कि उसके क्रान्ति-संगठित करने के प्रयत्न लेखक द्वारा बाह्यारोपित हैं; क्योंकि ये केवल वैचारिक

---

१. पृ० ३९५ ९६। २. परि० सं० ३६, ४१, ४५, ४७,।
३. परि० सं० ४८, ५३, ५४, ६१, ६३। ४. पृ० २३६।

धरातल पर ही रह गये हैं, रानी के कृतित्व से प्रमाणित नहीं होते। हमारे इस निष्कर्ष का आधार अधोलिखित तर्क हैं : —

१. रानी ने सर्वत्र रक्षात्मक युद्ध किया है। एक भी ऐसा स्थल नहीं, जहाँ रानी ने क्रान्ति-प्रेरित होकर अँग्रेज़ों पर आक्रमणात्मक कार्रवाई की हो।

२. दूरवर्ती राजाओं-नुलतानों या बादशाहों की तो बात ही नहीं, क्रान्ति के समय, झाँसी के आस-पास के राजाओं को भी संगठित करने, या अँग्रेज़ों के आक्रमण के समय उनकी सहायता करने, या सहायता पाने का प्रयत्न रानी नहीं कर सकीं।

३. यही नहीं, अपने जाने-पहचाने तांत्या टोपे और नाना से भी रानी तब तक कोई संपर्क स्थापित नहीं करतीं, जब तक कि अँग्रेज़ों से झांसी घिर नहीं जाती।

४. घिरी हुई झाँसी को बचाने के लिए, जब तांत्या बाहर से आक्रमण करता है, तब अपनी ग़लती के कारण—किसी पूर्व-योजना के अभाव में—रानी किला छोड़कर अँग्रेज़ों पर आक्रमण नहीं करती। इसी से ताँत्या और रानी दोनों को पराजय का मुंह देखना पड़ता है। रानी की यह ऐसी बड़ी भूल थी—जिसका तांत्या ने आरोप लगाया है—और जिसे उसने स्वीकार भी किया है।[1]

५. देश के अन्य भागों में क्रान्ति के आरम्भ हो जाने के बाद भी अँग्रेज़ों की पैन्शनयाफ्ता रानी स्वयं झाँसी पर पुनः अधिकार नहीं करती, दूसरों के प्रयत्न से अधिकार पाती है। अँग्रेज़ छावनी के हिन्दुस्थानी सैनिक स्वयं अपनी योजना से क्रान्ति करते है और अँग्रेज़ों से झाँसी को छीनकर, उसे रानी के हवाले कर देते हैं। कितनी विचित्र बात है कि उस समय तक रानी ने अपनी सेना तक नहीं जुटाई होती। यह विचित्रता और बढ़ जाती है जब आक्रमणकारी हिन्दुस्थानी सिपाहियों का नेतृत्व करने या उनको सहायता देने की बजाय, रानी विकट स्थिति में पड़े किलेबन्द अँग्रेज़ों को गुप्त मार्ग से अन्न पहुँचाती रहती है। उस समय का मानववाद पाठक को विशेष खलता है। रानी का यह मानववाद चतुर अँग्रेज़ों के लिए किले के गुप्त मार्ग की जानकारी का कारण बनता है। इसी प्रसंग में सुन्दर के एक प्रश्न पर रानी कहती है—"यदि मैने सिपाहियों का नियन्त्रण न कर पाया तो नेतृत्व क्या करूँगी ?..."[2] किन्तु परिच्छेदांत में स्पस्ट हो जाता है कि रानी का इन पर बहुत कम नियन्त्रण था, इसलिए उसे अपने गले का हार देकर सैनिकों से नगर की लूट को बचाना पड़ा। रानी की नेतृत्व शक्ति तथा समझदारी का वहाँ स्पष्ट अभाव मिलता है, जहाँ रानी इन विजेता सैनिकों का झाँसी की रक्षा के लिए संगठन नहीं कर पाती, और लगभग सब सिपाही—असंगठित स्थिति में और फौजी सामान तथा तोपों के साथ,—दिल्ली चले जाते हैं।

---

१. ४३४। २. पृ० २५६।

६. मोतीबाई के निर्देशन में रानी के जिस जासूसी विभाग का परिचय दिया गया है, वह नगण्य है। रानी जिस तरह नवाब और अँग्रेज़ों के जासूस पीरअली पर विश्वास करती रहती है, वह हास्यास्पद है। लगता है जैसे अपनी सेना में किसी शत्रु के जासूस होने की समस्या को वह महत्व ही नहीं देती।[1] बुरहानुद्दीन के दो बार—अपना असतीफा तक देकर—समझाने पर भी—और जासूसी विभाग की मोतीबाई के यह कहने पर भी कि "पीरअली बेईमानी कर सकता है"[2]—रानी सचेत नहीं होती। रानी के प्रश्नों पर दुलहाजु हतप्रभ होता एवं झूठ बोलता है,[3] पीरअली से इसका समर्थन भी हो जाता है, फिर भी, रानी कोई क़दम नहीं उठा पाती। पीरअली जिस तरह दिशा मैदान जाने का बहाना बना बचकर निकल जाता है, वह रानी को नहीं, किसी बच्चे को बहकाने के समान लगता है।

७. 'कालपी' के युद्ध में, रानी की बजाय रावसाहब को सेनापति बनाने में भी रानी के प्रभाव की सीमा सामने आ जाती है।[4]

८. ग्वालियर की विजय के बाद जब 'पेशवा की स्वराज्य-कामना अपने निज के उत्थान के रूप में पलट"[5] जाती है, तब रानी न तो उसका प्रतिवाद करती है, न उसके मन में लेखक ने किसी द्वन्द्व की सृष्टि की है, जिससे उसके विरोधी मत का पता चल सकता। यह उसके पूर्वकथित प्रजातन्त्रात्मक मत के विपरीत था।

उपर्युक्त तर्कों से सिद्ध है कि लेखक अपने एक बड़े उद्देश्य में असफल रहा है। यद्यपि रानी ने पेशवा-राज्य का विरोध नहीं किया, तथापि अन्यत्र उसके सहयोगियों के कथनों से स्पष्ट है कि वे प्रजातन्त्रात्मक राज्य के समर्थक हैं; पात्रों ने प्रजा को जितना महत्व दिया है, वह आधुनिक प्रेरणा के फलस्वरूप है किन्तु उस काल में अँग्रेज़ों के विरोध में पेशवा-राज्य, या किसी नवाब का राज्य ही स्वराज्य हो सकता था। "इस बात को स्वीकार करने के लिए सन् सत्तावन के विद्रोह का साम्राज्यवाद विरोधी रूप मलिन नहीं हो जाता क्योंकि उस समय जनता की चेतना भी इससे अधिक न थी और यह विद्रोह मूलतः साम्राज्यवाद-विरोधी और जनहित में था।"[6] ऐसी अवस्था में यही कहा जा सकता है कि लेखक उस काल के चित्रण में आधुनिक देशकाल से आवश्यकता से अधिक प्रभावित रहा है। रानी का यह कथन देखिए—".. हमको एक बड़ा सन्तोष है। जनता हमारे साथ है। जनता सब कुछ है। जनता अमर है। इसको स्वराज्य के सूत्र में बाँधना चाहिए। राजाओं को अँग्रेज़ भले ही मिटा दें, परन्तु जनता को नहीं मिटा सकते। एक दिन आवेगा जब इसी

१. पृ० २८५-८६। २. पृ० २८६।
३. पृ० ३९९। ४. पृ० ४४३। ५. ४६१।
६. शिवदानसिंह चौहानः "साहित्यानुशीलन", पृ० २४६।

जनता के आगे होकर मैं स्वराज्य की पताका फहराऊंगी।"[1]—मानों यह आधुनिक जनवादी क्रांतिकारी नेतृ का कथन हो। लेखक ने एक परिच्छेद-विशेष में झाँसी की जनता में अँग्रेज़ों के विरुद्ध जोश प्रदर्शित किया है, किन्तु यह उपन्यास की घटनाओं से अप्रमाणित है।

लेखक ने रानी तथा उसके निकट साथियों के आचरणानुमोदित विचारों से जिन अन्य आधुनिक समस्याओं का चित्रण किया है, वे प्रभावपूर्ण है। इनमें हिन्दू-मुस्लिम-ऐक्य तथा नारी-समस्या उल्लेखनीय है। राहत गढ़ से आए पाँच सौ पठान, गुलाम गौस और खुदाबख्श-जैसे बलिदान देते है और गुलमुहम्मद रानी और उसके उद्देश्य के लिए जैसे फकीरी धारण करता है, वे सब मार्मिक हैं। हिन्दुओं के साथ स्वराज्य के लिए कंधे से कंधा मिलाकर मर मिटनेवाले ये मुसलमान अपने आचरण से जिस एकता की मार्मिक व्यंजना कर सके हैं, वे लम्बे-चौड़े भाषणों तथा कथनों से असिद्ध ही रहती।

नारी-समस्या एवं व्यर्थ रूढ़ियों के विरोध के सम्बन्ध में वर्मा जी का निम्न स्वकथन प्रमाण है, जिसे समग्र नारी-पात्र—रानी के जीवनचरित तथा विचारों की प्रेरणा से—चरितार्थ करते हैं:—"वे अपने युग के उपकरण और साधन काम में लाती थीं। जिस समाज में उनका जन्म हुआ था, उसी में होकर उनको काम करना था, परन्तु उस समाज की हथकड़ियों और बेड़ियों की उन्होंने पूजा नहीं की। वे अपने युग से आगे निकल गई थीं, किन्तु उन्होंने अपने युग और समाज को साथ ले चलने को, भरसक प्रयत्न किया। झाँसी में विशेषतः और विन्ध्याखंड में साधारणतया, स्त्री की अपेक्षाकृत स्वतन्त्रता और नारीत्व की स्वस्थता लक्ष्मीबाई के नाम के साथ बहुत सम्बद्ध है।"[2] उपन्यास में रानी-कथित नारी-जीवन सम्बन्धी सारगर्भित कथन यत्र-तत्र देखे जा सकते हैं।[3]

कहीं-कही लेखक ने आदर्श पात्रों के संवाद के रूप में, रानी के जीवन-चरित्र के सहज क्रम में, किन्हीं अन्य विचारों को व्यक्त किया है, जिनमें आधुनिक प्रेरणा की स्पष्ट छाप है। ये विचार युद्ध-विरोध, युद्ध के प्रयोजन, गृहस्थाश्रम-गौरव, धार्मिक वितंडावाद, ऊँच-नीच-वैषम्य तथा राष्ट्र-भाषा हिन्दी सम्बन्धी हैं। वस्तुतः 'झाँसी की रानी' को लेखक ने अधिक-से-अधिक सोद्देश्य बनाने का प्रयत्न किया है। अतएव इसे उद्देश्यवादी उपन्यास कहना उचित है।

रानी के जीवन-चरित तथा उससे सम्बद्ध सन् सत्तावन की क्रांति के प्रामाणिक चित्रण के लिए वर्मा जी ने अधिक-से-अधिक ऐतिहासिक सामग्री के

---

१. 'झाँसी की रानी', पृ० १६३-६४।

२. पृ० ३२०। ३. पृ० ६५, ६७।

समावेश का खोजपूर्ण सहारा लिया है। अधिकांश पात्र एवं घटनाएँ, युद्ध, स्थान आदि ऐतिहासिक हैं। पात्रों के जन-मन तथा युद्धों-घटनाओं के समय आदि का तिथिवार तक सही-सही उल्लेख करने का प्रयत्न किया गया है। ऐतिहासिक पत्रों, ऐतिहासिक व्यक्तियों के बयानों, हुकमनामों, इश्तहारों, संधियों आदि के सारांश, या यथातथ्य ब्यौरे दिए गए हैं। जिस सन्-तिथि को कोई बयान या हुकुम पढ़ा गया, या पत्र का आदान-प्रदान हुआ, उनका भी उल्लेख हुआ है। इस दृष्टि से, ऐतिहासिक उपन्यास और इतिहास में अन्तर बताने के लिए कही गई यह निम्न-प्रसिद्ध उक्ति 'झाँसी की रानी' के सम्बन्ध में व्यर्थ हो जाती है – "इतिहास में नामों और तिथियों के अतिरिक्त और कुछ सत्य नहीं होता और ऐतिहासिक उपन्यास में नामों और तिथियों के अतिरिक्त और सब सत्य होता है।"

लेखक को अपनी कथाभूमि —विशेष रूप से झाँसी - की आश्चर्यजनक सीमा तक जानकारी है। झाँसी का नगर अपने किले, कोट, नए-पुराने महलों, दरवाज़ों बाग़ों और मुहल्लों के साथ पाठकों के सामने नाच उठता है। लेखक ने भवनों, मुहल्लों, स्थानों[1] आदि की तब और अब दोनों की यथार्थ स्थिति दी है। इससे कथा की वास्तविकता की बढ़ी-चढ़ी सीमा का सहज ही अनुमान किया जा सकता है। २६ वें परिच्छेद का आरम्भ ही ऐसे हुआ है—"जिस इमारत में आजकल डिस्ट्रिक्ट बोर्ड का दफ्तर है, वह उस समय डाकबंगले के काम आता था। पास ही झाँसी प्रवासी अँग्रेज़ों का क्लब घर था। लेखक ने तत्कालीन कलाकार द्वारा निर्मित रानी और राजा का चित्र दिया है। अँग्रेज़ों द्वारा झाँसी-राज्य के अपहरण के समय, रानी द्वारा उच्चरित कथन को भी सही-सही उद्धृत किया गया है। कहीं-कहीं पात्रों के संवादों में विगत इतिहास की चर्चा की गई है; जैसे, हेस्टिंगस के अवध की बेगमों को लूटने तथा आनंदकुमार की फाँसी की घटना।[2]

जैसाकि स्पष्ट किया जा चुका है, लेखक ने उपन्यास को एक पक्ष-विशेष में होकर लिखा है—प्रामाणिक ऐतिहासिक सामग्री का आश्रय लेकर भी वह वस्तुदर्शी ऐतिहासिक उपन्यासकार के धरातल पर नहीं चल सका। लेखक ने कहीं उपन्यास की विभिन्न ऐतिहासिक घटनाओं-पात्रों पर अपनी टीका-टिप्पणियाँ की है, कहीं अँग्रेज़ों की जीत और भारतीयों की हार के कारणों का विश्लेषण, कहीं अँग्रेज-नीति की मूल प्रेरणाओं का स्पष्टीकरण[3] और कहीं उनके अमानवीय क्रूर-कृत्यों पर, व्यंग्यात्मक विधि से, अपनी भावात्मक प्रतिक्रियाएँ व्यक्त की हैं।[4] वस्तुत: स्थान-स्थान पर लेखक की ये अपनी भाव-विचार प्रतिक्रियाएँ, इतिहास-चर्चा के अतिरिक्त अँग्रेज़ों के प्रति घृणा

१. पृ० १८०। २. पृ० १४०।

१. पृ० १७६-८०, २२१। २. पृ० १५८, १०३-५, १५५, १६७, ४१४।

जगाने की उपकरण भी हैं। ऐसा लगता है कि लेखक भारतीय जन-भावना का प्रतिनिधित्व करता हुआ, स्वयं भी स्वराज्य के लिए लड़ने वालों का साथी-पात्र है। इस सम्बन्ध में ये दो उद्धरण द्रष्टव्य हैं—"अँग्रेजी सेना के नायकों और ऊँचे अफ़सरों तक ने एक अत्यन्त बर्बर कृत्य में भाग लिया। शेक्सपीयर, मिल्टन, स्कॉट और बर्क के देश के शिक्षित तथा विज्ञान-विदग्ध अफ़सरों ने, मन्दिरों की मूर्तियाँ, सिंहासनों पर से उठायीं, झोलों में रक्खीं और अपने शराबखानों को सजाने के लिए सदा के लिए ले गए। और इस कुकृत्य को अंग्रेज़ इतिहास लेखक ने इस प्रकार प्रकट किया, "मूर्तियों का चुराना 'लूट' नहीं थी, यह तो कुतूहल जनित जिज्ञासा की पूर्ति-मात्र थी"।[१] तथा "आठवें दिन झाँसी में रोज का एलान हुआ—"खलक खुदा का, मुल्क बादशाह का, अमल कम्पनी सरकार का' परन्तु इन सात दिनों हवा में जो स्तब्ध घोषणा घूमी थीं, वह यह थी—'खलक शैतान का मुल्क शैतान का, अमल शैतान का"।[२] वर्मा जी ने उस युग एवं वातावरण को पुर्णतया साकार करने का प्रयत्न किया है और उसके लिए भी उन्होंने पाद-टिप्पणियों तथा परिशिष्ट में ऐतिहासिक प्रमाण दिए है। तत्कालीन चित्रकारों, संगीतज्ञों, कवियों, अभिनेता-अभिनेत्रियों के नाम प्रामाणिक हैं तथा उनके क्रिया-कलापों से तत्युगीन कलात्मक प्रवृत्तियों की झाँकी मिल जाती है। आर्थिक दृष्टि से मजदूर-किसान वर्ग, सामान्य जनता, सामंतों, सैनिकों और उगती जमींदारी प्रथा[३] तक का परिचय दिया गया है। मिटती हुई पंचायत व्यवस्था,[४] बदलती न्याय-व्यवस्था[५] का विशेष आलोचनात्मक-व्यंग्यात्मक वर्णन हुआ है। उत्सव-त्यौहार,[६] हिन्दू-मुस्लिम जनता की धार्मिक धारणाओं, जनेऊ के लिए शूद्रों के आन्दोलन,[७] नारियों के परम्परागत आचारों, दासी प्रथा[८] आदि का चित्रण भी हुआ है। सामंतीय अत्याचार,[९] दण्ड-विधान, राजकीय उपाधि-उपहारों तथा युद्धों का और भी सजीव चित्रण हुआ है। स्थानीय भाषा के आँचलिक उपकरण का भी प्रयोग हुआ है।

कलात्मकता की दृष्टि से, ऐतिहासकि सामग्री के प्रत्यनज समावेश तथा युग-चित्रण पर अनेक आपत्तियाँ उठाई जा सकती हैं। इससे एक तो उपन्यास का आरम्भ अनाकर्षक हो गया है। दूसरे, ब्यौरेवार इतिहास तथा जीवन-चरित देने से स्थान-स्थान पर इतिवृत्तात्मक शुष्कता आ गई है।[१०] तीसरे, उपन्यास का वस्तु-गठन एवं कथा-गति शिथिल हो गई है। चौथे, महत्वहीन प्रसंगों की भरमार या अनावश्यक विस्तार से कलात्मक सौष्ठव तथा मूल उद्देश्य की प्रभावान्विति में कमी आ गई है।

१. पृ० ४३०। २. ३३२। ३. पृ० १३०। ४. पृ० १९वाँ परि०। ५. १९वाँ परि०। ६. २०वाँ परि०, हलदी कुंकुम का उत्सव। ७. ८-१२ परिच्छेद। ८. पृ० ६५-६६। ९. दसवाँ परिच्छेद। १०. ४३वाँ परिच्छेद।

कुछ उदाहरणों से हम अपनी बात स्पष्ट करेंगे। लेखक ने नारायण शास्त्री और छोटी के प्रेम-प्रसंग का लगातार पाँच परिच्छेदों में चित्रण किया है। जन-परम्परा की दृष्टि से ये प्रामाणिक पात्र हैं तथा इससे शूद्रों के जनेऊ आन्दोलन, असवर्ण विवाह आदि की समस्याएँ भी सामने आई हैं। किन्तु यह विस्तृत प्रसंग रानी के जीवनचरित्र के समन्वित क्रम में नहीं आया। इससे न तो रानी सम्बन्धी आधिकारिक कथा को सहायता मिली है, न उसके जीवन-चरित्र के स्पष्टीकरण में योग दिया है। रानी का राजा के साथ विवाह होना होता है कि कथा-प्रवाह को रोककर यह प्रसंग लाया गया है। स्वराज्य-संग्राम के मूल उद्देश्य के साथ भी इसका स्वल्प सम्बन्ध है। यह प्रसंग अपने-आप में रोचक है, किन्तु मूल-कथा, उद्देश्य आदि से असम्बद्ध होने के कारण प्रभाव-शिथिलता का कारण बन गया है। वस्तुतः लेखक ने ज्ञातव्य सामग्री का किसी-न-किसी प्रकार समावेश करने का प्रयत्न किया है। उदाहरणतया, लेखक को एक ऐतिहासिक तथ्य मिला कि सन् १८५८ में एक नाटक मण्डली ग्वालियर से झाँसी में आई थी। तब इस प्रसंग को वह कथा के तनावपूर्ण क्षणों में भी लाने से नहीं चूकता। उदाहरण के लिए जनरल रोज झाँसी के आस-पास के राज्यों को समाप्त करता हुआ झाँसी पर आक्रमण करने को है कि लेखक उन्हीं के साथ यह प्रसंग भी ले आता है। वह कथा-प्रवाह को रोक कर भी रानी के कला-प्रेम—जीवन-चरित्र की एक विशेषता—को व्यक्त करना तथा इतिहास-तथ्य का समावेश करना आवश्यक समझता है। इसी तरह उसने छोटी से छोटी जानकारी देने का प्रयत्न किया है, जिसको कथा पचा नहीं पाती। जैसे, राजा गंगाधर ने किस-किस पर अत्याचार किया और जो वैद्य उसका इलाज करता था, उसकी कौन सी फरमाइश पूरी की गई आदि की चर्चा को देखा जा सकता है। झाँसी पर अधिकार के बाद अँग्रेज़ों की लूट का ब्यौरेवार वर्णन हुआ है, जिसमें पूना से आए हुए शास्त्री के तमाखू-खाने की आदत तक की बात[1] आ गई है। राजा की बीमारी को व्यर्थ ही तूल दी गई है।

यहाँ 'गढ़ कुंडार' के प्रकृति-चित्रण के मोह ने इतिहास-मोह का स्थान ले लिया है। फिर भी परिच्छेद ५५ में सार्थक तथा निरर्थक दोनों प्रकार का प्रकृति-चित्रण मिल जाता है। बेतवा में कूद पड़ने से पहले भयानक प्रकृति का चित्रण प्रसंगानुकूल तथा औत्सुक्य-वर्धक है, किन्तु आगे जब रानी और उसके साथी नदी के बीच में पहुँच जाते हैं और दूसरी ओर का किनारा नहीं दिखाई देता, तब उस चरम उत्सुकता के क्षणों में लेखक उपमाबाजी से प्रकृति के ललित-अलंकृत चित्रण के फेर में पड़ जाता है। अपने-आप में यह प्रकृति-चित्रण सुन्दर है किन्तु समय के अनुपयुक्त।[2] युग-चित्रण

---

१. पृ० ४३१। २. पृ० २८३-८४।

सम्बन्धी अनेक परिच्छेद सहज ही छोटे किए जा सकते थे ।[1] कुछ परिच्छेदों की तो सूचना मात्र ही दी जा सकती थी ।[2] यह स्पष्ट किया जा चुका है कि लेखक ने रानी के क्रांति-संचालिका रूप को चित्रित करने के लिए अनेक पृष्ठों को रंगा है किन्तु इनका सही उपयोग नहीं हो सका । वस्तुतः इस उपन्यास की कथा का आकर्षण लेखक के कौशल के कारण कम, स्वतन्त्रता-संग्राम में जूझने तथा बलि हो जाने वाले विषय के निर्वाचन—इन के सम्बन्ध में बन गए हमारे संस्कारों के कारण—अधिक है ।[3] उपन्यास का अन्तिम भाग इसलिए विशेष मार्मिक हो उठा है । लेखक की कुशलता इसमें जरूर है कि उसने अन्त में विशेष मार्मिक प्रसंगों की योजना की है । संन्यासी की कुटिया का चिता के लिए उपयोग, तथा गुलमुहम्मद के कथन इसके प्रमाण हैं । इसी भाग में विस्तृत युद्ध-वर्णन भी हैं, जिसके चित्रण में वर्मा जी निरुपम हैं । अन्तिम भाग जितना वीर-रस-संचारक है, उतना ही करुण भी । अन्य उपन्यासों के समान यहाँ भी तीन-चार प्रेम-कहानियाँ हैं किन्तु युद्ध के वातावरण में इनको अधिक उभरने का अवसर नही मिला, इसलिए आदर्शवादी भी हैं ।

अपनी उद्देश्यवादिता के कारण जैसे लेखक कथावस्तु का ध्यान नहीं रख सका, वैसे ही चरित्र-चित्रण का भी । 'झाँसी की रानी' में पात्रों की भरमार है । इन पात्रों का चुनाव इतिहास तथा रानी के जीवन-चरित की दृष्टि से हुआ है । कितने ही पात्र अपनी झलक दिखा कर चले गए है, मानों उनका कार्य पूरा हो चुका । जैसे पुरोहित तांत्या दीक्षित राज-रानी का सम्बन्ध करा के पुनः रंगमंच पर नहीं आता । रानी के किशोर-जीवन के साथ नाना के चरित्र की झलक मिलती है, बाद में रानी से योजनाएँ बनाते हुए और अन्त में झाँसी से दूर क्रांतिकारियों के नेता के रूप में उसका वर्णन हुआ है । रानी के जीवन-चरित और बाद में इतिहास की दृष्टि से उसकी आवश्यकता हुई । रानी का पिता मोरोपन्त अपनी पुत्री, रानी, के विवाह के साथ झाँसी आता है और उसके बाद वह औपन्यासिक रंगमंच से लुप्त रहता है । जब 'झाँसी की रानी' पराजित होकर किला-त्याग रही होती है, तब वह भी खजाने की रक्षा करते हुए किला-छोड़ते और मरते प्रदर्शित किया गया है । तत्कालीन कवि पजनेश और हृदयेश भी दो-तीन कथा-बाह्य परिच्छेदों में आकर फिर नहीं आते, मानों युग-चित्रण—ऐतिहासिक उत्तरदायित्व—की दृष्टि से ही उनकी आवश्यकता थी । उसके बाद युद्ध के समय उनके मन की या कविता की क्या अवस्था रही, इसका उल्लेख तक नहीं हुआ । इसी तरह सभी अंग्रेज़ पात्रों का उल्लेख इतिहास की

---

१. इनमें १५, १६, २०, २६, ३५, ५४, ५५, ५६ आदि परिच्छेदों को गिनाया जा सकता है । २. ३०वाँ तथा ३४वाँ परिच्छेद ।

३. शिवदानसिंह चौहान ने ये दोनों तर्क दिए है—"साहित्यानुशीलन", पृ० २४५ ।

दृष्टि से हुआ है। उनमें से जिनकी कुछ-न-कुछ झाँकी मिलती भी है, वह नितान्त वर्गीय, तथा बाहरी है—सब मानों सौंपे हुए कार्य को पूरा करने वाले इतिहास के व्यक्ति हैं, उपन्यास के नहीं।

जीवनचरितात्मक होने के कारण, रानी को छोड़कर, अन्य किसी पात्र का सम्पूर्ण चित्रण नहीं हुआ।[1] इन सब पात्रों के दो सामान्य गुण निश्चित हैं,—एक, रानी-भक्ति, दूसरा उसके प्रभाव में स्वराज्य के लिए मर-मिटने की साध। सभी त्यागी, रण-कुशल एवं वीर हैं। इनकी समानता जितनी स्पष्ट है, उतना अन्तर नहीं। प्रमाण-स्वरूप, उपन्यास के नारी पात्र देखे जा सकते हैं। इनमें से छोटी, कुछ झलकारी एवं मोतीबाई को छोड़कर शेष मुन्दर, सुन्दर, काशीबाई और जूही समान-सी लगती हैं। इसका कारण यह है कि सब किसी के निमित्त हैं—अपने प्रेमियों की भी नहीं, केवल रानी और उसके कार्य के लिए—इसलिए उनका व्यक्तित्व उभर नहीं पाता। रानी का चरित्र भी लेखक के पूर्वाग्रहों से निर्मित होने के कारण एकांगी हो गया है। लेखक ने उससे कायिक कर्म, शारीरिक स्वास्थ्य की दृढ़ता, व्यायाम, कुश्ती, मलखंभ, घुड़सवारी आदि की आवश्यकता का बार-बार उपदेश दिलवाया है। स्यात् इसलिए — न चाहते हुए भी—लेखक उसके बुद्धि-पक्ष को प्रबल नहीं दिखा पाया। दूसरे उसमें नारीत्व की कोमलता की पर्याप्त कमी हो गई है और आवश्यकता से अधिक आदर्शीकरण भी। इसके लिए लेखक की चरित्र-चित्रण-कला उत्तरदायी है।

वर्मा जी पात्रों का अन्तरीक्षण नहीं कर पाए। बाहरी संघर्षों में पात्र जितने सक्रिय हैं, अन्तर्द्वन्द्वों से उतने ही अछूते हैं। इससे उनका चित्रण सतही हो गया है और व्यावहारिक मनोविज्ञान के अनुपयोग से अस्वाभाविक भी। लेखक एक स्थल पर गंगाधर राव के अन्तर्द्वन्द्व का उल्लेख—चित्रण नहीं—कर[2] और एक ही स्थल पर रानी की 'क्षणिक दुर्बलता' का चित्रण[3] करके रह गया है, मानों अन्यत्र पात्रों में मन ही न हो। अन्यत्र एक विशेष स्थल पर तांत्या के संवाद में अन्तर्द्वन्द्वात्मक मनःस्थिति का आभास प्रदर्शित[4] है।

विचित्रता यह है कि आँसू बहाने वाले संवेदनशील पात्र भी भीतर से द्वन्द्वातीत बने रहते हैं। कहा जा सकता है कि लक्ष्य के प्रति अनन्यता या स्वराज्य-साधना की दृढ़ता इन्हें अविचलित रहने देती है। इसलिए हम कुछ स्वराज्येतर लक्ष्य के प्रसंगों से लेखक के स्थूल चित्रण को उदाहृत करेंगे। लेखक ने आधुनिक भावनाओं से प्रेरित होकर नारियों के सम्बन्ध में रूढ़ियों के विरोध का आदर्श स्थापित किया है और यह भी लिखा है कि भारत के उस भाग में नारी-स्वतन्त्रता बहुत-कुछ रानी के जीवन से सम्बद्ध है। किन्तु यह विचित्र है कि १३-१४ वर्षीय चपल-तीखी इसी

---

१. पृ० २३-२४। २. पृ० ८४। ३. पृ० ४१७-१९। ४. पृ० ४३८-३९।

नहीं, प्रतिपात्रों के देखने के रूप में हुआ है। एक प्रसंग लीजिए—मोरोपन्त (दीक्षित से) बोले—"जब आप जावें साथ में जन्मपत्री लेते जावें। योग्य वर से मेल खाने पर हम को सूचित करें।'

दीक्षित ने स्वीकार किया।

उसी समय राव साहब के साथ वहाँ मनू आ गईं।

बाजीराव ने दीक्षित से कहा, 'यही वह कन्या है।'

दीक्षित ने मनुबाई के विशाल नेत्र, भौंरे को लजाने वाले चमकीले बाल, स्वर्ण सा रंग और सम्पूर्ण चेहरे का अतीव सुन्दर बनाव देखकर प्रसन्नता प्रकट की।"[1]

'गढ़-कुंडार' की-सी तुलनात्मक चरित्रांकन पद्धति भी यहाँ मिलती है और दो मिलते-जुलते पात्रों के आधार पर भेस बदलने की कुशलता भी।[2] यथा, रानी के भेस में झलकारी अँग्रेज़ को छकाने का प्रयास करती है।

पात्रों का चरित्र उनकी क्रियाओं एवं संवादों तथा उनसे प्रभावित अन्य पात्रों के कथनों से व्यंजित होता है, किन्तु लेखक को मानों इन सब साधनों की सफलता या पाठकों की ग्रहण-शक्ति पर विश्वास नहीं। इसलिए वह स्वयं भी पात्रों के चरित्र का बार-बार कथन कर पुनरुक्ति-दोष की सृष्टि करता रहता है। रानी के चित्रण के सम्बन्ध में ऐसा सर्वाधिक हुआ है, क्योंकि अपने उद्देश्य के अनुकूल उसके जीवन के पुरुष-पक्ष को उभारने का लेखक को अतिरिक्त आग्रह रहा है। उदाहरणतया, लेखक मनुबाई के जिन गुणों का चित्रण प्रथम चार परिच्छेदों में उसके कर्मों एवं संवादों के रूप में कर चुका है, उनको पाँचवें परिच्छेद में पुनः अभिधात्मक अभिव्यक्ति दी गई है।

'झाँसी की रानी' के संवादों की सामान्य विशेषताएँ 'गढ़कुंडार'-जैसी हैं, फिर भी, इस उपन्यास में नाटकीयता[3] तथा पात्र-प्रसंगानुकूलता बढ़ गई है। यहाँ हिन्दू-मुसलमान, देशी-विदेशी, शिक्षित-अशिक्षित सभी पात्र हैं, अतएव भाषा की पात्रानुकूलता अधिक उभर कर सामने आई है। जन-साधारण तथा झलकारी-जैसे पात्र बुंदेली बोलते हैं; अँग्रेज़ कहीं-कहीं अंग्रेज़ी के शब्द और वाक्य, या अपने विशिष्ट उच्चारणानुकूल बिगड़ी हिन्दी, 'मुसलमान उर्दू (अरबी-फ़ारसी मिश्रित हिन्दी) और उनमें से भी पठान अपने विशेष लहजे की उर्दू; यथा, रानी के मरने पर, इस रचना का अन्तिम संवाद है—

(शत्रु दल के अगुआ ने पूछा—) यह किसका मजार है भाई साहब ?

(पठान) गुलमुहम्मद ने उत्तर दिया—'अमारे पीर का, वो बौत बड़ा वली

---

१. पृ० ७८। २. पृ० ६७। ३. बारहवाँ प०७०।

था'। इसके ठीक पहले गुलमुहम्मद ने रानी के लिए कहा था—"वो मरा नहीं, वो कबी नई मरेगा। वो मुर्दों को जानबख्शता रहेगा।"[१] 'झाँसी की रानी' के उत्तरार्द्ध को मार्मिक बनाने में, बलिदानी वीरों द्वारा कहे उपर्युक्त ढंग के संवादों का विशेष योग-दान मिलता है। इनकी विशेषता है भावाकुल हार्दिकता, जो संवादों की शैली तक में स्पष्ट है। उत्साह देने के लिए रानी के भावपूर्ण भाषण भी मिलते हैं। ओजस्विता इनका सामान्य गुण है। सुप्तजन को जगाने के लिए चुटीली व्यंग्य-वक्रता भी मिलती है,[२] और हल्दी कुंकम-जैसे उत्सव में भारतीय स्त्रियों से पति का नाम कहलाने में उद्भेदक वाग्विदग्धता भी।[३] सामान्य अवसरों के तथा जन-साधारण के पारस्परिक वार्तालाप व्यावसायिक विशेषता का प्रभाव डालते हैं। सारतः संवाद पात्रों तथा प्रसंग के अनुकूल परिवर्तित होकर कृति में स्वाभाविकता, सौन्दर्य तथा मार्मिकता की सृष्टि करते रहे है।

पहले के उपन्यासों की अपेक्षा वर्मा जी की भाषा-शैली के गुणो तथा परिमार्जन-परिष्कृति में निश्चित विकास हुआ है। 'गढ़कुंडार' से 'विचार-तत्व' की बहुलता के कारण 'झाँसी की रानी' में सारगर्भित वाक्य पहले से अधिक है। सामान्य शैली पहले-सी वर्णनात्मक है। किन्तु स्वाधीनता-संग्राम के विषय में लेखक की निजता के विशेष समावेश के कारण, भावात्मक शैली को और भी उत्कर्ष मिला है। युद्धवर्णन में वर्णनात्मक शैली का सौन्दर्य देखा जा सकता है। अंग्रेजों का विरोध करने तथा उनकी कुटिल नीति के अनावरण में शैली मे व्यंग्य के नए उपकरण का विशेष उपयोग किया गया है। भाव की उष्णता तथा मुहावरों ने इस व्यंग्य-शैली की सजीवता में योग दिया है। उपमाएँ-उत्प्रेक्षाएँ पहले से कम है किन्तु अधिक उपयुक्त। शब्दों-की अशुद्धता-शिथिलता बनी हुई है परन्तु पहले से कम। योजक-शब्दों के स्वल्प प्रयोग से वाक्यों की लघुता बढ़ गई है, फिर भी, वाक्य के क्रम को व्याकरणानुसार न रखने की रुचि बहुत बढ़ गई है, जो खटकती है; यथा, कुछ पंक्तियाँ देखी जा सकती है—"नवाब अलीबहादुर गार्डन और स्कीन के पास आया-जाया करते थे। परन्तु गार्डन के पास बहुधा।"[४] और "पीरअली ने दीवान जवाहरसिंह के आने का सामाचार नवाब साहब को दिया। परन्तु वह और तांत्या जब चले गये तब।"[५]

'झांसी की रानी" मे लेखक ने शैली से विषयोत्कर्ष लाने में अपेक्षाकृत अधिक प्रयत्न किया है। कुछ स्थल द्रष्टव्य हैं, जिनमें विभिन्न शैलीगत प्रसाधनो का उपयोग हुआ है :—

(क) "राजा ने खरीता अपने हाथ से एलिस के हाथ में दिया। राजा का

१. पृ० ४६७। २. सोलहवाँ परि०। ३. बीसवाँ परि०।
४. पृ० २००। ५. पृ० २००।

गला रुद्ध हो गया और आँखों में आँसू भर आये। पर्दे के पीछे रानी की सिसक सुनाई पड़ी मानों उस खरीते पर इस सिसक की मुहर लगी हो।"[1]

(ख) "... कोरी, करघे, कपड़े सब ग़ायब—केवल एक अत्यन्त महत्वपूर्ण क्रिया जारी - गंगाजी के किनारे चाँदी-सोने का शोषण करना और टेम्स जी के किनारों पर निचोड़ देना।

"हिन्दुस्थान उस ओर चलाया जाने लगा जिसको आजकल की भाषा में कह सकते हैं—

"महफ़िल उनकी साक़ी उनका
आँखें अपनी बाक़ी उनका।"[2]

(ग) "... राज्य मिलने में कितनी कसर रह गई थी? पोलिटिकल अफ़सरों ने सिफ़ारिश कर ही दी। कोड़ा हाथ में आ गया। बस। कसर रही थोड़ी—ज़ीन लगाम घोड़ी!"[3]

(घ) "महल की चौखट पर बैठ कर वह रोई। लक्ष्मीबाई रोई! वह जिसकी आँखों ने आँसुओं से कभी परिचय भी न किया था! वह जिसका वक्षस्थल वज्र का और हाथ फौलाद के थे! वह जिसके कोश में निराशा का शब्द न था! वह जो भारतीय नारीत्व का गौरव और शान थी! मानों उस दिन हिन्दुओं की दुर्गा रोई।"[4]

(ङ) "आधी घड़ी में (रानी की) चिता प्रज्वलित हो गई।

उस कुटी की भूमि पर रक्त बह गया था। उसको देशमुख ने धो डाला।

परन्तु उन रक्त की बूँदों ने पृथ्वी पर जो इतिहास लिख दिया था, वह अमिट रहा।"[5]

(च) "हर्ष और अभिमान के मारे वे सब के सब उन्मत्त हो गये। रानी की छुई हुई पूड़ी तक के एक एक टुकड़े को पगड़ी के, अंगराने के छोर में कस के बाँध लिया। और कस के बाँधे—प्राणों की गांठ में प्राण।"[6]

सारांश में, 'झाँसी की रानी' जीवनचरित्रात्मक इतिहास-प्रधान उपन्यास है। उपन्यास की रंगभूमि का साक्षात् आनुभूतिक चित्रण, युद्धों के वर्णन की अतीव सजीवता, मार्मिक समापन तथा उपन्यास के पूर्वार्द्ध में मूर्त दृश्य-शिल्प का कहीं-कहीं विनियोग इस उपन्यास के उज्ज्वल पक्ष हैं। फिर भी, यह उपन्यास लेखक के परिश्रम को जितना प्रकट करता है, उतना कौशल को नहीं। इतिहास एवं उद्देश्य के प्राबल्य तथा कथानक एवं चरित्र-चित्रण के दौर्बल्य के कारण उपन्यास में कलात्मक सौष्ठव

---

१. पृ० १२१। २. पृ० १६७। ३. पृ० १५५।
४. पृ० ४१५ ५. पृ० ४१४। ६. पृ० ४०२।

की बजाय यांत्रिक कृत्रिमता आ गई है। विषय की प्रभविष्णुता को समुचित शिल्प के अभाव से बहुत क्षति पहुँची है।

वैशाली की नगरवधू

चतुरसेन शास्त्री की "व्यक्तिगत निष्ठा" तथा महती आकांक्षाओं को लेकर 'वैशाली की नगरवधू' उपन्यास का प्रकाशन सन् १९४९ में हुआ। यह दो भागों में विभक्त, सविस्तर लेखकीय वक्तव्य—'भूमि'—सहित, कुल मिलकर ८७२ पृष्ठों का वृहत् उपन्यास है। 'प्रवचन' में लेखक ने अपने पिछले "चालीस वर्षों में तन-मन-धन से साधित" "सम्पूर्ण" "अमूल्य साहित्य-सम्पदा को प्रसन्नता से रद" करते हुए, इसे अपनी "पहिली कृति" घोषित किया है। इस उपन्यास के प्रणयन में उसका "दस वर्ष का समय लगा, दस वर्ष आयु के घिस कर छीज गये"[1]। शास्त्री जी के सेक्रेटरी ने—स्वभावतः लेखक की सहमति से—इसे हिन्दी-उपन्यास-साहित्य में आया मोड़ उपस्थित करने वाला बताया।[2] स्वयं लेखक के अनुसार यह "इतिहास-रस का मौलिक उपन्यास" है।[3] अन्यत्र शास्त्रीजी ने अपने 'सोमनाथ' को अपने 'अतीत-रस का मौलिक उपन्यास" कहा है। इस रस शब्द का प्रयोग लेखक ने शास्त्रीय अर्थ में किया है; उसके अपने कथनानुसार:—"साहित्य के आचार्यों ने नौ मूल रसों को साहित्य-सृजन में महत्व दिया है, परन्तु उनके सिवा कुछ अन्य 'अनिर्दिष्ट रस' है, जिनमें एक 'इतिहास रस' भी है।[4] तात्पर्य यह है कि लेखक ने समझ-बूझकर इसे ऐतिहासिक उपन्यास न कहते हुए इतिहास-रस का उपन्यास कहा है। लेखक की यह मान्यता उन्हीं तक सीमित रह गई है—किसी साहित्यकार या आलोचक ने 'इतिहास-रस' को तर्क-संगति से समर्थित नहीं किया। एक आलोचक को इस में ऐतिहासिक रस की अद्भुत तृप्ति मिली भी है, तो वह अव्याख्येय ही रह गई है।[5] अधिक से अधिक कुछ आलोचिकों ने ऐतिहासक उपन्यासों के सम्बन्ध में ऐतिहासिक उपन्यासकारों के विभिन्न दृष्टिकोणों की व्याख्या के लिए लेखक के मत को दृष्टिकोण-विशेष के रूप में उद्धृत तो किया है किन्तु पुष्ट नहीं किया।[6] इसके विपरीत इस नई मान्यता का व्यंग्यात्मक खंडन पर्याप्त हुआ है।

---

१. "वैशाली की नगरवधू", भूमि, पृ० ८७२। २. शास्त्री जी के "सोमनाथ" उपन्यास के अन्त में दिया विज्ञापन, पृ० ३। ३. मुख पृष्ठ पर शीर्षक के नीचे दिये शब्द। ४. "वैशाली की नगरवधू", भूमि, पृ० ७७६। ५. डॉ० त्रिभुवनसिंह : "हिंदी उपन्यास और यथार्थवाद", पृ० १५६। ६. "हिन्दी साहित्य कोश", पृ० १४९, डॉ० देवराज उपाध्याय का मत तथा "आलोचना" संख्या १३, (उपन्यास विशेषांक), पृ० १८०, डॉ० जगदीश गुप्त का लेख।

डॉ० प्रभाकर माचवे के "अनुसार ऐतिहासिक उपन्यास क्या नहीं होना चाहिए, इसका परम उदाहरण यह ७८७ पृष्ठों का युद्धकालीन इतिहास रस का मौलिक उपन्यास है"।[1] डॉ० गोपीनाथ तिवारी लिखते हैं—"इतिहास-रस के पूरक भूगोल रस, गणित रस, अर्थ शास्त्र रस, ज्यामिति रस, इत्यादि भी भविष्य में शायद मिल जायं और उसी प्रकार संभवत: "अतीत रस" के समान वर्तमान रस, भविष्य रस, दिन रस, रात्रि रस, क्षण रस, निमिष रस, प्रहर रस, के उपन्यास पढ़ने का भी सौभाग्य प्राप्त हो जाय।[2]"

वस्तुतः इतिहास-रस की स्थापना में लेखक इतना प्रयत्नशील नहीं, जितना इस रस की आड़ लेकर—मानों सप्रयोजन ऐतिहासिक उपन्यास न लिखकर—वह इतिहास-सत्य की रक्षा में वांछित ऐतिहासिक के 'चिरसत्य' के नाम पर जिस-किसी आधुनातन आदर्श के समावेश की स्वच्छन्दता-सुविधा का उपयोग करने के लिए तत्पर रहा है। उपन्यास-विधा के सम्बन्ध में रस का प्रश्न पहले ही विवादास्पद है—"उपन्यास में कविता की भांति रागात्मक तत्व की वह स्थिति साधारणतया सम्भव नही मानी जाती जो मनुष्य को भाव की सात्विक अनुभूति करा सके।"[3] अतएव किसी गम्भीर प्रतिपादन के अभाव में, नए रस का प्रश्न और भी उलझाने वाला हो सकता है। दूसरे, 'वैशाली की नगरवधू' में रस-स्थिति की बात तो दूर, लेखक अपेक्षित मात्रा में भाव-सम्पति तक की रक्षा नहीं कर सका। अतएव हम इसे इतिहास-रस का उपन्यास नहीं मान सकते। किन्तु इसे ऐतिहासिक उपन्यास कहना और बनाना लेखक को अभीष्ट नहीं—ऐसी स्थिति में इसे ऐतिहासिक उपन्यास कहना कहाँ तक उचित होगा? फिर भी, इतिहास-रस के प्रतिपादन में लेखक ने जिन तर्कों का आश्रय लिया है—तात्कालिक समाज-प्रवाह दिखाने के जिस उत्तरदायित्व को स्वीकार किया है[4]—उनमें इसे ऐतिहासिक उपन्यास कहने की गुंजायश निकल आती है। आगे इन तर्कों और उपन्यास की ऐतिहासिकता की परीक्षा से हमारा मत स्पष्ट हो जाएगा।

शास्त्री जी ने उपन्यास के अन्त में, स्वमत के स्पष्टीकरण में, वृन्दावनलाल वर्मा को इतिहास सत्य व्यक्त करने वाला और स्वयं को इतिहास-रस का स्रष्टा कहा है। शास्त्री जी ने वर्मा जी में इतिहास-सत्य की परिचायक निम्न तीन विशेषताओं को देखा है—१. "उनकी रचना में भावना और तल्लीनता की अपेक्षा तथ्य-समावेश की सतर्कता अधिक मिलती है। २. उनके उपन्यास हृदय की अपेक्षा मस्तिष्क को प्रभावित करते हैं। ३. पाठक पात्रों के सुख-दुख को अपने सुख-दुख में आरोहित

१. "आलोचना", इतिहास विशेषांक, पृ० १२६।
२. "ऐतिहासिक उपन्यास और उपन्यासकार" पृ० १५६। ३. डॉ० ब्रजेश्वर वर्मा : "हिन्दी साहित्य कोश", पृ० १८०। ४ पृ ७७५।

की बजाय यांत्रिक कृत्रिमता आ गई है। विषय की प्रभविष्णुता को समुचित शिल्प के अभाव से बहुत क्षति पहुँची है।

वैशाली की नगरवधू

चतुरसेन शास्त्री की "व्यक्तिगत निष्ठा" तथा महती आकांक्षाओं को लेकर 'वैशाली की नगरवधू' उपन्यास का प्रकाशन सन् १९४९ में हुआ। यह दो भागों में विभक्त, सविस्तर लेखकीय वक्तव्य—'भूमि'—सहित, कुल मिलकर ८७२ पृष्ठों का वृहत् उपन्यास है। 'प्रवचन' में लेखक ने अपने पिछले "चालीस वर्षों में तन-मन-धन से साधित" "सम्पूर्ण" "अमूल्य साहित्य-सम्पदा को प्रसन्नता से रद" करते हुए, इसे अपनी "पहिली कृति" घोषित किया है। इस उपन्यास के प्रणयन में उसका "दस वर्ष का समय लगा, दस वर्ष आयु के घिस कर छीज गये"[1]। शास्त्री जी के सेक्रेटरी ने—स्वभावतः लेखक की सहमति से—इसे हिन्दी-उपन्यास-साहित्य में आया मोड उपस्थित करने वाला बताया।[2] स्वयं लेखक के अनुसार यह "इतिहास-रस का मौलिक उपन्यास" है।[3] अन्यत्र शास्त्रीजी ने अपने 'सोमनाथ' को अपने 'अतीत-रस का मौलिक उपन्यास" कहा है। इस रस शब्द का प्रयोग लेखक ने शास्त्रीय अर्थ में किया है; उसके अपने कथनानुसारः—"साहित्य के आचार्यों ने नौ मूल रसों को साहित्य-सृजन में महत्व दिया है, परन्तु उनके सिवा कुछ अन्य 'अनिर्दिष्ट रस' है, जिनमें एक 'इतिहास रस' भी है।[4] तात्पर्य यह है कि लेखक ने समझ-बूझकर इसे ऐतिहासिक उपन्यास न कहते हुए इतिहास-रस का उपन्यास कहा है। लेखक की यह मान्यता उन्ही तक सीमित रह गई है—किसी साहित्यकार या आलोचक ने 'इतिहास-रस' को तर्क-संगति से समर्थित नही किया। एक आलोचक को इस में ऐतिहासिक रस की अद्‌भुत तृप्ति मिली भी है, तो वह अव्याख्येय ही रह गई है।[5] अधिक से अधिक कुछ आलोचिकों ने ऐतिहासक उपन्यासों के सम्बन्ध में ऐतिहासिक उपन्यासकारों के विभिन्न दृष्टिकोणों की व्याख्या के लिए लेखक के मत को दृष्टिकोण-विशेष के रूप में उद्‌धृत तो किया है किन्तु पुष्ट नहीं किया।[6] इसके विपरीत इस नई मान्यता का व्यंग्यात्मक खंडन पर्याप्त हुआ है।

---

१. "वैशाली की नगरवधू", भूमि, पृ० ८७२। २. शास्त्री जी के "सोमनाथ" उपन्यास के अन्त में दिया विज्ञापन, पृ० ३। ३. मुख पृष्ठ पर शीर्षक के नीचे दिये शब्द। ४. "वैशाली की नगरवधू", भूमि, पृ० ७७६। ५. डॉ० त्रिभुवनसिह : "हिंदी उपन्यास और यथार्थवाद", पृ० १५६। ६. "हिन्दी साहित्य कोश", पृ० १४९, डॉ० देवराज उपाध्याय का मत तथा "आलोचना" सख्या १३, (उपन्यास विशेषांक), पृ० १८०, डॉ० जगदीश गुप्त का लेख।

डॉ० प्रभाकर माचवे के "अनुसार ऐतिहासिक उपन्यास क्या नहीं होना चाहिए, इसका परम उदाहरण यह ७८७ पृष्ठों का युद्धकालीन इतिहास रस का मौलिक उपन्यास है"।[1] डॉ० गोपीनाथ तिवारी लिखते हैं—"इतिहास-रस के पूरक भूगोल रस, गणित रस, अर्थ शास्त्र रस, ज्यामिति रस, इत्यादि भी भविष्य में शायद मिल जायं और उसी प्रकार संभवत: "अतीत रस" के समान वर्तमान रस, भविष्य रस, दिन रस, रात्रि रस, क्षण रस, निमिष रस, प्रहर रस, के उपन्यास पढ़ने का भी सौभाग्य प्राप्त हो जाय।[2]"

वस्तुत: इतिहास-रस की स्थापना में लेखक इतना प्रयत्नशील नहीं, जितना इस रस की आड़ लेकर—मानों सप्रयोजन ऐतिहासिक उपन्यास न लिखकर—वह इतिहास-सत्य की रक्षा में वांछित ऐतिहासिक के 'चिरसत्य' के नाम पर जिस-किसी आधुनातन आदर्श के समावेश की स्वच्छन्दता-सुविधा का उपयोग करने के लिए तत्पर रहा है। उपन्यास-विधा के सम्बन्ध में रस का प्रश्न पहले ही विवादास्पद है—"उपन्यास में कविता की भांति रागात्मक तत्व की वह स्थिति साधारणतया सम्भव नहीं मानी जाती जो मनुष्य को भाव की सात्विक अनुभूति करा सके।"[3] अतएव किसी गम्भीर प्रतिपादन के अभाव में, नए रस का प्रश्न और भी उलझाने वाला हो सकता है। दूसरे, 'वैशाली की नगरवधू' में रस-स्थिति की बात तो दूर, लेखक अपेक्षित मात्रा में भाव-सम्पति तक की रक्षा नहीं कर सका। अतएव हम इसे इतिहास-रस का उपन्यास नहीं मान सकते। किन्तु इसे ऐतिहासिक उपन्यास कहना और बनाना लेखक को अभीष्ट नहीं—ऐसी स्थिति में इसे ऐतिहासिक उपन्यास कहना कहाँ तक उचित होगा ? फिर भी, इतिहास-रस के प्रतिपादन में लेखक ने जिन तर्कों का आश्रय लिया है—तात्कालिक समाज-प्रवाह दिखाने के जिस उत्तरदायित्व को स्वीकार किया है[4]—उनमें इसे ऐतिहासिक उपन्यास कहने की गुंजायश निकल आती है। आगे इन तर्कों और उपन्यास की ऐतिहासिकता की परीक्षा से हमारा मन स्पष्ट हो जाएगा।

शास्त्री जी ने उपन्यास के अन्त में, स्वमत के स्पष्टीकरण में, वृन्दावनलाल वर्मा को इतिहास सत्य व्यक्त करने वाला और स्वयं को इतिहास-रस का स्रष्टा कहा है। शास्त्री जी ने वर्मा जी में इतिहास-सत्य की परिचायक निम्न तीन विशेषताओं को देखा है—१. "उनकी रचना में भावना और तल्लीनता की अपेक्षा तथ्य-समावेश की सतर्कता अधिक मिलती है। २. उनके उपन्यास हृदय की अपेक्षा मस्तिष्क को प्रभावित करते हैं। ३. पाठक पात्रों के सुख-दुख को अपने सुख-दुख में आरोहित

१. "आलोचना", इतिहास विशेषांक, पृ० १२६।

२. "ऐतिहासिक उपन्यास और उपन्यासकार" पृ० १५६। ३. डॉ० व्रजेश्वर वर्मा : "हिन्दी साहित्य कोश", पृ० १६०। ४ पृ ७७५।

नहीं कर पाता तथा एक सहानुभूति-पूर्ण दर्शक मात्र रह जाता है ।[1] दूसरे शब्दों में, इतिहास-रस में वे वही विशेषाताएँ देखते हैं, जो अन्य नौ रसो का आधार हैं— भावपक्ष की प्रबलता तथा पात्रों के सुख-दुख से साधारणीकरण—जिसमें पाठक अपने अहं को विसर्जित कर लीन हो जाता है, दर्शक मात्र नहीं रह जाता । वर्मा जी के उपन्यासों की आलोचना से अलग, इतिहास-रस की स्थापना में अपना तर्क-विस्तार करते हुए शात्री जी ने उस कल्पना-पक्ष पर बल दिया है, जो इतिहास और ऐतिहासिक काव्यों की विभाजक रेखा है । इसके आधार पर बह कहते हैं कि पाठकों को ऐतिहासिक काव्यों से ऐतिहासिक ज्ञान के अर्जन की आशा न कर, इतिहास-रस की प्राप्ति की अपेक्षा करनी चाहिए । दूसरे, उन्होंने इतिहास के विशेष-सत्य के स्थान पर साहित्य के प्राण चिर सत्य पर बल दिया है। "मानव समाज में चरित्र और परिस्थिति की जो विकृति होती है वही चिर-सत्य है और इतिहास-रस पूर्ण कथानकों में साहित्यकार इसी चिर सत्य को चित्रित करता है । इसी आधार पर उन्होंने व्यवस्था दी है कि इतिहास-रस का उपन्यासकार आवश्यकता पड़ने पर जानबूझ कर इतिहास-तथ्यों की उपेक्षा कर सकता है, क्योंकि एक तो उनकी नित नई-नई ऐतिहासिक खोजों के प्रकाश तथा खंडन-मंडन में इतिहास का अतर्क्य ज्ञान सम्भव नहीं : दूसरे, "उसका काम तात्कालिक घटनाओं की सूची देना नहीं, समाज-प्रवाह का वेग दिखाना होता है" ।[2] लेखक ने अपने उपर्युक्त तर्कों का स्पष्ट तथा निश्चित सारांश नहीं दिया किन्तु डॉ० देवराज उपाध्याय के शब्दों में यह कार्य अवश्य सम्पन्न हो गया है— "भाव और रस में जो अन्तर है वही अन्तर इतिहास-सत्य और इतिहास-रस में है । जिस तरह भाव को रसानुभूति की श्रेणी तक पहुँचाने के लिए तथ्यों में परिवर्तन किया जा सकता है, उसी तरह की स्वतन्त्रता का अवसर यहाँ भी मान्य है, क्योंकि ऐतिहासिक उपन्यास में इतिहास का सूखा ठट्ठर खड़ा करना नहीं होता, उसमें प्राण-प्रतिष्ठा भी करनी पड़ती है ।"[3] वस्तुतः आलोचक में लेखक से अधिक स्पष्टता तथा यथार्थता है । इससे यह शंका होने लगती है कि लेखक के मन में भी यह स्पष्टता थी अथवा नहीं । कुछ भी हो, शास्त्री जी की 'इतिहास-रस'-स्थापना के उपर्युक्त तर्कों पर सैद्धांतिक तथा व्यावहारिक दोनों प्रकार की आपत्तियाँ सहज ही उठाई जा सकती हैं । वस्तुतः इतिहास-सत्य अपने-आप में स्वतन्त्र कोई स्थाई भाव नहीं । इतिहास-सत्य विभिन्न प्रचलित स्थाई भावों—रति, उत्साह, क्रोध, जुगप्सा आदि—के द्योतक तथ्यों का ही परिणाम हो सकता है । उदाहरणतया, लेखक का कहना है कि जहाँ इतिहास रस का प्रादुर्भाव होता है वहाँ प्रायः यही देखने को मिलता है कि हृदय-विप्लव के बाद राष्ट्र-विप्लव हुआ । इतिहास के अनेक असाधारण नखरों ने नारी के–

१. पृ० ७७४ । २. पृ० ७७५ । ३. "हिन्दी साहित्य कोश", पृ० १४६ ।

माया के—वशीभूत होकर जीवन-भंग किया है। मानव कुल के ऐसे करुण भग्नावशेषों से संसार-पथ भरा पड़ा है। लेखक जब जीवन-भंग की इन घटनाओं पर विप्रलम्भ शृंगार और 'इतिहास-रस' का मिश्रण करके भैरव-संहार की भेरी बजाता है, तो कोटि-कोटि जनमत उन्मत्त, उद्भ्रांत होकर लोट-पोट हो जाता है।" समझ नहीं आता कि लेखक उपर्युक्त 'विप्रलम्भ शृंगार' के साथ भैरव-संहार की भेरी बजाने वाले वीर रस या रौद्र रस का मिश्रण न करके 'इतिहास-रस' का मिश्रण कहाँ से कर बैठा है। लेखक के मन्तव्यानुसार इतिहास की घटनाएँ प्रायः प्रणय और प्रलय के जिस धरातल पर विकसित होती हैं, उनके स्थाई भाव—रति-उत्साह—और रस—शृंगार और वीर—दोनों आचार्यों द्वारा पूर्व-निर्वारित हो चुके हैं। इतिहास-रस प्रसंगानुसार इन्ही में से कोई हो सकता है, स्वतन्त्र-निरपेक्ष कोई नया रस नहीं। इसीलिए 'वैशाली की नगरवधू' में भी पात्रों के प्रणय-प्रसंगों में शृंगार रस, युद्धादि के कुछ प्रसंगों में वीररस तथा गौतम बुद्ध एवं महावीर से प्रभावित प्रसंगों में शांत रस आदि के छींटे कहीं-कहीं मिलते हैं—वहाँ भी किन्हीं कारणों से पूर्णतया रस-निष्पत्ति नहीं हो सकी—किन्तु 'इतिहास रस' का स्वतन्त्र अस्तित्व कहीं अनुभव नहीं होता। इसका कारण यही है कि इतिहास-सत्य अपने-आप कोई स्थाई भाव नहीं जिसकी परिपक्वावस्था को रस माना जा सके। दूसरी आपत्ति शास्त्री जी उस धारणा पर है, जो इतिहास के 'विशेष सत्य' और साहित्य के 'चिर-सत्य' में विरोध-सा समझ बैठी है। वस्तुतः कला का कार्य ही विशेष को सामान्य बना देता है किन्तु चित्र सदैव विशेष का ही होता है, सामान्य का नहीं। दूसरे, ऐतिहासिक तथ्यों में भी अपनी चमक-दमक हो सकती है। यह प्रसिद्ध उक्ति इसी सत्य पर आधारित है—Truth is stranger than fiction. क्रियात्मक रूप में भी देखें, तो ऐतिहासिक उपन्यास में इतिहास-समतता का दृष्टिकोण रखने वाले वृन्दावनलाल वर्मा वर्मा या राँगेय राघव-जैसे उपन्यासकार भी उस कल्पना का कहीं विरोध नहीं करते जो कला की माँग होती है—जो इतिहास को ऐतिहासिक उपन्यास बनाती है। यही यही कारण है कि वह इतिहास-संगति का यथासम्भव पालन करते हुए भी चिर सत्य को ध्वनित कर पाए हैं। तात्पर्य यह कि चिर-सत्य की अनिवार्यता एक कलात्मक ऐतिहासिक उपन्यास की सामान्य माँग है, मात्र 'इतिहास-रस' के उपन्यास का दाय नहीं। दूसरे, चिर सत्य अपने आप में निरपेक्ष एवं नितांत काल्पनिक नहीं कि इसकी इतिहास के विशेष तथ्यों से अद्‌भूति या व्यंजना न हो सके; अथवा इसके लिए इस प्रकार की गर्वीली घोषणाएँ करनी पड़ जाएँ—"अब कोई इसे प्रमाणों के प्रबल धक्के देकर हजार ऐतिहासिक भूलें निकालता फिरे, उसे भ्रांत और विक्षिप्त कहता फिरे; पर कवि ने जिस 'इतिहास-रस' की सृष्टि की है, वह इतिहास के लाख सत्य प्रकट होने

नहीं कर पाता तथा एक सहानुभूति-पूर्ण दर्शक मात्र रह जाता है।[1] दूसरे शब्दों में, इतिहास-रस में वे वही विशेषाताएं देखते हैं, जो अन्य नौ रसो का आधार हैं—भावपक्ष की प्रबलता तथा पात्रों के सुख-दुख से साधारणीकरण—जिसमें पाठक अपने अहं को विसर्जित कर लीन हो जाता है, दर्शक मात्र नहीं रह जाता। वर्मा जी के उपन्यासों की आलोचना से अलग, इतिहास-रस की स्थापना में अपना तर्क-विस्तार करते हुए शात्री जी ने उस कल्पना-पक्ष पर बल दिया है, जो इतिहास और ऐतिहासिक काव्यों की विभाजक रेखा है। इसके आधार पर बह कहते हैं कि पाठकों को ऐतिहासिक काव्यों से ऐतिहासिक ज्ञान के अर्जन की आशा न कर, इतिहास-रस की प्राप्ति की अपेक्षा करनी चाहिए। दूसरे, उन्होंने इतिहास के विशेष-सत्य के स्थान पर साहित्य के प्राण चिर सत्य पर बल दिया है। "मानव समाज में चरित्र और परिस्थिति की जो विकृति होती है वही चिर-सत्य है और इतिहास-रस पूर्ण कथानकों में साहित्यकार इसी चिर सत्य को चित्रित करता है। इसी आधार पर उन्होंने व्यवस्था दी है कि इतिहास-रस का उपन्यासकार आवश्यकता पड़ने पर जानबूझ कर इतिहास-तथ्यों की उपेक्षा कर सकता है, क्योंकि एक तो उनकी नित नई-नई ऐतिहासिक खोजों के प्रकाश तथा खंडन-मंडन में इतिहास का अतक्र्य ज्ञान सम्भव नहीं : दूसरे, "उसका काम तात्कालिक घटनाओं की सूची देना नहीं, समाज-प्रवाह का वेग दिखाना होता है"।[2] लेखक ने अपने उपर्युक्त तर्कों का स्पष्ट तथा निश्चित सारांश नहीं दिया किन्तु डॉ० देवराज उपाध्याय के शब्दों में यह कार्य अवश्य सम्पन्न हो गया है—"भाव और रस में जो अन्तर है वही अन्तर इतिहास-सत्य और इतिहास-रस में है। जिस तरह भाव को रसानुभूति की श्रेणी तक पहुँचाने के लिए तथ्यों में परिवर्तन किया जा सकता है, उसी तरह की स्वतन्त्रता का अवसर यहाँ भी मान्य है, क्योंकि ऐतिहासिक उपन्यास में इतिहास का सूखा ठट्ठर खड़ा करना नहीं होता, उसमें प्राण-प्रतिष्ठा भी करनी पड़ती है।"[3] वस्तुतः आलोचक में लेखक से अधिक स्पष्टता तथा यथार्थता है। इससे यह शंका होने लगती है कि लेखक के मन में भी यह स्पष्टता थी अथवा नहीं। कुछ भी हो, शास्त्री जी की 'इतिहास-रस'-स्थापना के उपर्युक्त तर्कों पर सैद्धांतिक तथा व्यावहारिक दोनों प्रकार की आपत्तियाँ सहज ही उठाई जा सकती हैं। वस्तुतः इतिहास-सत्य अपने-आप में स्वतन्त्र कोई स्थाई भाव नहीं। इतिहास-सत्य विभिन्न प्रचलित स्थाई भावों—रति, उत्साह, क्रोध, जुगप्सा आदि—के द्योतक तथ्यों का ही परिणाम हो सकता है। उदाहरणतया, लेखक का कहना है कि जहाँ इतिहास रस का प्रादुर्भाव होता है वहाँ प्रायः यही देखने को मिलता है कि हृदय-विप्लव के बाद राष्ट्र-विप्लव हुआ। इतिहास के अनेक असाधारण नखरों ने नारी के—

१. पृ० ७७४। २. पृ० ७७५। २. "हिन्दी साहित्य कोश", पृ० १४६।

माया के—वशीभूत होकर जीवन-भंग किया है। मानव कुल के ऐसे करुण भग्नावशेषों से संसार-पथ भरा पड़ा है। लेखक जब जीवन-भंग की इन घटनाओं पर विप्रलम्भ शृंगार और 'इतिहास-रस' का मिश्रण करके भैरव-संहार की भेरी बजाता है, तो कोटि-कोटि जनमत उन्मत्त, उद्भ्रांत होकर लोट-पोट हो जाता है।" समझ नहीं आता कि लेखक उपर्युक्त 'विप्रलम्भ शृंगार' के साथ भैरव-संहार की भेरी बजाने वाले वीर रस या रौद्र रस का मिश्रण न करके 'इतिहास-रस' का मिश्रण कहाँ से कर बैठा है। लेखक के मन्तव्यानुसार इतिहास की घटनाएँ प्रायः प्रणय और प्रलय के जिस धरातल पर विकसित होती है, उनके स्थाई भाव—रति-उत्साह—और रस—शृंगार और वीर—दोनों आचार्यो द्वारा पूर्व-निर्धारित हो चुके हैं। इतिहास-रस प्रसंगानुसार इन्ही में से कोई हो सकता है, स्वतन्त्र-निरपेक्ष कोई नया रस नहीं। इसीलिए 'वैशाली की नगरवधू' में भी पात्रों के प्रणय-प्रसंगों में शृंगार रस, युद्धादि के कुछ प्रसंगों में वीररस तथा गौतम बुद्ध एवं महावीर से प्रभावित प्रसंगों में शांत रस आदि के छींटे कहीं-कहीं मिलते हैं—वहाँ भी किन्हीं कारणों से पूर्णतया रस-निष्पत्ति नहीं हो सकी—किन्तु 'इतिहास रस' का स्वतन्त्र अस्तित्व कहीं अनुभव नहीं होता। इसका कारण यही है कि इतिहास-सत्य अपने-आप कोई स्थाई भाव नहीं जिसकी परिपक्वावस्था को रस माना जा सके। दूसरी आपत्ति शास्त्री जी उस धारणा पर है, जो इतिहास के 'विशेष सत्य' और साहित्य के 'चिर-सत्य' में विरोध-सा समझ बैठी है। वस्तुतः कला का कार्य ही विशेष को सामान्य बना देता है किन्तु चित्र सदैव विशेष का ही होता है, सामान्य का नहीं। दूसरे, ऐतिहासिक तथ्यों में भी अपनी चमक-दमक हो सकती है। यह प्रसिद्ध उक्ति इसी सत्य पर आधारित है—Truth is stranger than fiction. क्रियात्मक रूप में भी देखे, तो ऐतिहासिक उपन्यास में इतिहास-समतता का दृष्टिकोण रखने वाले वृन्दावनलाल वर्मा वर्मा या राँगेय राघव-जैसे उपन्यासकार भी उस कल्पना का कहीं विरोध नहीं करते जो कला की माँग होती है—जो इतिहास को ऐतिहासिक उपन्यास बनाती है। यही यही कारण है कि वह इतिहास-संगति का यथासम्भव पालन करते हुए भी चिर सत्य को ध्वनित कर पाए हैं। तात्पर्य यह कि चिर-सत्य की अनिवार्यता एक कलात्मक ऐतिहासिक उपन्यास की सामान्य माँग है, मात्र 'इतिहास-रस' के उपन्यास का दाय नहीं। दूसरे, चिर सत्य अपने आप में निरपेक्ष एवं नितांत काल्पनिक नहीं कि इसकी इतिहास के विशेष तथ्यों से उद्भूति या व्यंजना न हो सके; अथवा इसके लिए इस प्रकार की गर्वीली घोषणाएँ करनी पड़ जाएँ—"अब कोई इसे प्रमाणों के प्रबल धक्के देकर हजार ऐतिहासिक भूलें निकालता फिरे, उसे भ्रांत और विकृत कहता फिरे; पर कवि ने जिस 'इतिहास-रस' की सृष्टि की है, वह इतिहास के लाख सत्य प्रकट होने

पर फीका न होगा।"[1] इस तरह लेखक ने चिर सत्य तथा 'इतिहास-रस' के नाम पर ऐतिहासिक उपन्यासकारों को ऐतिहासिक प्रतिबन्धों से मुक्ति दे दी है। परन्तु यह वह भूल जाता है कि इतिहास के तथ्य तथा जन-परम्परा में उनके प्रति श्रद्धा, अथवा इनके प्रति उनके पूर्व-संस्कार इन तथ्यों की मनमानी विकृति से हिलकर तथाकथित इतिहास-रस के ग्रहण में व्याघातक हो सकते हैं; अन्यथा ऐतिहासिक उपन्यासकार के लिए यही संस्कार पाठकों को रस-स्तर तक पहुँचाने के सहज-प्राप्त साधन सिद्ध हो सकते हैं। यह सही है कि पाठकों को ऐतिहासिक उपन्यासों को पढ़कर ऐतिहासिक ज्ञानार्जुन की आशा नहीं करनी चाहिए किन्तु यह उससे भी सही है कि उनको तथ्यों की उच्छृंखल विकृति से ऐतिहासिक भ्रांतियों का प्रसार भी नहीं मिलना चाहिए। एक ओर शास्त्री जी इतिहास रसात्मक उपन्यास के लिए "तात्कालिक समाज-प्रवाह का वेग "दिखाने के बंधन को स्वीकार करते हैं, दूसरी ओर "पात्रों की काल परिधि का कुछ भी विचार" न करने की असीम स्वतन्त्रता—यदि इजाज़त दी जाय तो, उच्छृंखलता—के उपभोग की खुली छूट लेते हैं, इसलिए 'वैशाली की नगरवधू' में देशकाल का विलय कर के ये अनेक भिन्न-कालीन प्रसिद्ध व्यक्ति एक ही काल में एकत्र हो गए हैं—शाम्बव्य, काश्यप, वासिष्ट, हरिकेशीबल, गोड़पाद, वर्षकार, जीवन कौमार भृत्य, शम्बर असुर, वादरायण व्यास, अजित केशकम्बली, श्रोत्रिय भारद्वाज, कात्यायन, शौनक, बौधायन, गौतम, आपस्तम्ब, जैमिनी, कणाद, औलूक, सांख्यायन, हीरीत, पाणिनी, वैशम्पायन, माण्डव्य, उदयन, बिम्बसार गौतम बुद्ध, महावीर। जगदीश गुप्त ने सही लिखा है कि इतिहास-रस के व्याख्याता को इतिहास के रसाभासों से भी परिचित रहना चाहिए था।[2]

इतिहास-रस की निष्पत्ति के लिए लेखक 'वैशाली की नगरवधू' में अपने सिद्धांतानुकूल शिल्प-विधान भी नहीं कर सका। उपन्यास के पात्राधारित नामानुकूल तथा पात्रों के सुख-दुख के साथ पाठकों के तादात्म्य की दृष्टि से लेखक चरित्र-प्रधान कथानक का चयन न कर, कौतूहलाश्रित घटना-प्रधान कथानक ले बैठा है। इस घटना-बहुल कथानक में भी हृदय को स्पन्दित करने वाली मार्मिक घटनाओं या स्थलों की पर्याप्त न्यूनता है। वस्तुतः लेखक मनोरंजन और रमणीयता के पारस्परिक अन्तर को हृदयंगम नहीं कर सका, अतएव औत्सुक्य-कुतूहल-वर्धक चमत्कारपूर्ण घटनाओं के बल पर हमारा प्रचुर मनोरंजन तो कर सका है किन्तु भावोत्तेजक स्थलों या पात्रों के सुख-दुख की रमणीय अन्तर्बाह्य परिस्थितियों के आश्रय से हमें प्रायः लीन नहीं कर सका। इस तरह इतिहास-रस की दृष्टि से 'वैशाली की नगरवधू' का पक्ष बड़ा दुर्बल हो गया है।

१. पृ० ७७७। २. "आलोचना" संख्या १३, (उपन्यास विशेषांक), पृ० १८२।

ऐतिहासिकता की दृष्टि से विचार करने पर, पात्रों, घटनाओं तथा वातावरण के इतिहासानुमोदित निर्माण का प्रश्न उठता है। पहले दो की ऐतिहासिकता के सम्बन्ध में लेखक की निम्न घोषणा ही पर्याप्त रहेगी :—"पात्रों के नाम कुछ को छोड़कर प्रायः काल्पनिक हैं। केवल ऐतिहासिक जनों के नाम सत्य हैं। पात्रों की काल-परिधि का कुछ भी विचार नहीं किया गया है, और आवश्यकता पड़ने पर इतिहास के सत्य की रक्षा करने की कुछ भी परवाह नहीं की गई है।"[1] अतएव ऐतिहासिकता के नाम पर शेष बच रहता है तात्कालिक वातावरण का सजीव पुनर्निर्माण या तात्कालिक समाज-प्रवाह के वेग का प्रदर्शन। इस कार्य में लेखक ने निस्सन्देह बड़ा परिश्रम किया है—उसने बौद्ध-जैन ग्रंथों, वेदों, उपनिषदों, ब्राह्मणों, पुराणों, सूत्रों, महाभारत, रामायण, गीता, स्मृतियों, कोटिल्यीय अर्थशास्त्र, मुद्राराक्षस कादम्बरी आदि बहुसंख्य ग्रथों से सामग्री संग्रह की है और इसकी प्रामाणिकता के लिए आधार-'भूमि' का सविस्तर परिचय दिया है। लेखक के अनुसार इसमें बुद्धकलीन भारत का चित्र है। इस दृष्टि से लेखक पर सहज ही एक आपत्ति उठाई जा सकती है कि गौतम बुद्ध और सम्राट् बिम्बसार के काल के लिए वेदों से लेकर मुद्राराक्षस, कादम्बरी प्रभृति—एकांत भिन्न-कालीन विपरीत सीमावर्ती—ग्रंथों से सामग्री जुटाना कहाँ तक संगत हो सकता है? कुछ भी हो, इस उपन्यास में गान्धार से लेकर मगध और अंग तक की बहुविध परिस्थितियों, तथा प्राचीन नगरों, गाँवों, रजवाड़ों, गणतन्त्रों आदि की भौगोलिक स्थिति का चित्रण किया है। इनके अतिरिक्त वातावरण के विश्वासोत्पादक सजीव साक्षात्कार के लिए लेखक ने समस्त साधनों का आश्रय लिया है :—

१. कहीं-कहीं वर्तमान-सापेक्ष तत्कालीन भौगोलिक विवरण दिए गए हैं; जैसे, उपन्यासारम्भ में वैशाली का वर्णन—"मुज़फ्फरपुर से पश्चिम की ओर, जो पक्की सड़क जाती है—उस पर, मुज़फ्फरनगर से लगभग अठारह मील दूर 'वैसौढ़' नामक एक बिलकुल छोटा सा गाँव है।..गाँव के चारों ओर कोसों तक खण्डहर, टीले और पुरानी टूटी फूटी मूर्तियाँ ढेर की ढेर मिलती हैं, जो इस बात की याद दिलाती हैं कि कभी यहाँ कोई बड़ा भारी समृद्ध नगर बसा रहा होगा।

"वास्तव में वहाँ, अब से कोई ढाई हजार वर्ष पूर्व एक विशाल नगर बसा था। आजकल जिसे गण्डक कहते है, उन दिनों उसका नाम 'मिही' था। आज यह नदी यद्यपि इस गाँव से कई कोस उत्तर की ओर हटकर बह रही है; किन्तु, उन दिनों यह दक्षिण की ओर इस वैभवशालिनी नगरी के चरणों को चूमती हुई दिधिवारां के निकट गंगा में मिल गई थी।"

---

१. पृ० ८६१।

२. विभिन्न प्रकार के विवरणों से सम्बद्ध निश्चित संख्या दी गई हैं—"यह नगरी अति समृद्ध थी। उसमें ७७७७ प्रासाद, ७७७७ कूटागार, ७७७७ आराम और ७७७७ पुष्करणियाँ थीं।"[१] अथवा "इस मगध साम्राज्य में अस्सी हज़ार ग्राम लगते थे..३०० योजना के विस्तृत भूखंड की आय का था। इस साम्राज्य के अन्तर्गत १८ करोड़ जनपद था।"[२]

३. बहु जानकारी का प्रभाव डालने तथा व्यौरे देने की प्रवृत्ति—कहीं-कहीं प्रमुख राजाओं या गणराज्यों के पूर्वेतिहास सम्बन्धी विवरण देने का प्रयास किया गया है; जैसे, बिम्बसार शिशुनाग वंशी राजा थे अतएव जरासंघ का इतिहास दे दिया गया है।[३] लेखक मानों अपनी बहु जानकारी के रोब से पाठकों को प्रभावित करता है। इसी तरह ब्राह्मणों के यज्ञों, युद्ध-विधियों तथा साधनों आदि के व्यौरे दिए गए हैं। किन्तु यही विशेषता तब दोष बन गई है, जब ये कथा-प्रवाह के भीतर नहीं आई और अधिक स्थान पाने से कथा-गति-रोधक तथा इतिवृत्तात्मक हो गई है। पता नहीं इतिहास रस की वकालत करने वाला कलाकार यह कैसे लिख सका कि "इस उपन्यास में हमने केवल हठपूर्वक यज्ञ की एक झलक दिखाने की चेष्टा की है, जिससे पाठक उसके आडम्बरों और निरर्थक क्रिया-कलापों से अवगत हो जायं!"[४] ऐसे 'हठ' ने लेखक के ज्ञान-प्रदर्शन में योग दिया है—कुछ वातावरण-निर्माण में भी—किन्तु कथा-बाह्य होने से यह विकलात्मक है और इसने शुष्कता की सृष्टि की है। इस सम्बन्ध में 'पाँचालों की परिषद', 'जैतवन में तथागत', 'राजसूय समारम्भ', 'कीमियागर गौड़पाद' परिच्छेद देखे जा सकते हैं।

४. गाँव-नगर, स्थान-प्रदेश, पात्र अपने-अपने प्राचीन नामों को लिए हुए हैं, या उनके कल्पित नाम भी प्राचीनता का आभास देते हैं; यथा—पद्युपनि दारमोश, अस्सकराज अरुण, अवन्तिवर्मन, पुवकणपति, दधिवाहन, नागसेन, विदूडभ, कलिंगसेना, मदलेखा, कुशीनारा, कौशाम्बी, चेतिय, सुत्तिमती पावा।

५. पुराकालीन शब्दों का बहुल प्रयोग हुआ है। पद-उपाधि, वस्तुओं की तत्कालीन प्रयुक्त संज्ञाएँ व्यवहृत हुई हैं। शास्त्री जी का कहना है कि "उपन्यास में लगभग दो सहस्र नए पारिभाषिक शब्द आए हैं जिनका प्रचलन चिरकाल से भाषा-प्रवाह में समाप्त हो गया था। परन्तु उस काल में प्रयोग में आते थे।"[५] उदाहरणतया वस्तुओं के नाम देखिए—चक्कलिकाएँ, लोध्ररेणु, कुम्भकारिका, उरुछद, मोरछल, दीप-स्तम्भ।

विभिन्न सुराओं के नाम हैं—गौड़ीय, माध्वीक, दाक्खा, लाजा, मैरेय आदि।

---

१. पृ० १। २. पृ० ७१। ३. पृ० ७०।
४. पृ० ८४७। ५. पृ० ८६८।

पद-उपाधियां है—गणपूरक, महाबलाधिकृत, सान्धिविग्रहिक, दण्डसत्थक, महामात्य ।

संवादक्रम में पात्रानुकूल पारस्परिक सम्बोधन हैं—श्रीमान्, भन्ते, शुभे, सुभग, हला, हन्दजे ।

समय बताया जाएगा तो इस प्रकार—तीन दण्ड रात्रि, चार घटिक समय ।

दो व्यक्तियों या वस्तुओं में अन्तर 'धनुष', 'शम' आदि में बताया गया है ।[1]

इन प्राचीन शब्दों में चार-पाँच आधुनिक शब्द भी—स्यात् असावधानी के कारण—आ गए है, जो काल-दोष के द्योतक हैं, यथा—कानून,[2] परेड,[3] मील[4], सुहागरात ।[5]

ऐतिहासिक उपन्यास के वातावरण की यथार्थता को विक्षुब्ध करने वाले उन प्रसंगों को भी शास्त्री जी ने स्थान दिया है, जो उपन्यास की सुलभ-सम्भव की सीमाओं का अतिक्रमण कर दुर्लभ-असम्भव के क्षेत्र—'रोमांस' की परिधि—में पहुँच गए है; किन्तु स्यात् तत्कालीन युग के तथाकथित चमत्कारपूर्ण वातावरण के उपयुक्त कहे जा सकते हैं; जैसे—उदयन "अदृश्य होकर आकाशमार्ग से "अम्बापाली के महल में आता है और वैसे ही 'अन्तर्धान" हो जाता है[6] "क्योंकि उसे सिद्धियाँ प्राप्त हैं—वह "लोपांजन और खेचर विद्या" जानता है ।[7] कलिंगसेना विन्ध्यगर्भ में स्थित मायापुरी से प्राप्त दिव्यौषध भक्षण करने से अययौवना तथा "अद्भुत कर्मिणी" हो गई । अपनी सखी असुरनन्दिनी के कारण माया-यन्त्रों की सहायता से विमान पर चढ़कर कौशाम्बी आती है ।[8] उपर्युक्त दोनों बातें मूलकथा से असम्बद्ध हैं किन्तु इनमें रोमांस के अद्भुत-तत्व का समावेश हुआ है । उदयन का प्रसंग—'महामिलन' परिच्छेद—सरस भी है । इसी तरह मन्थानभैरव नामक एक कल्पित किन्तु तन्त्र-विख्यात देवता के छाया-दर्शन एवं पर-शरीर प्रदेश के प्रसंग कपोलकल्पित होते हुए भी मात्र "कौतूहल-वृद्धि" की भावना से स्थान पा सके है ।[9] उपन्यास की एक प्रमुख पात्रा कुण्डनी की हत्या में इस छाया-पुरुष का व्यर्थ में कथागत उपयोग भी कर लिया गया है ।[10] इसी प्रकार केवल एक ही पुस्तक 'मुद्राराक्षस' में विष-कन्या के प्रयोग का उल्लेख-मात्र पाकर तथा एकाध स्थान पर उसका "प्राचीन साहित्य में बिलकुल अस्पष्ट वर्णन"[11] देखकर लेखक ने विष-कन्या को प्रचुर स्थान दे डाला है—संमाज-प्रवाह का वेग व्यक्त करने के लिए नहीं, आतंकोत्पादक रोमांचकारी तत्वों के

---

१. पृ० ६६५ । २. पृ० १२ । ३. पृ० ७२० । ४. पृ० ५६३ ।
५. पृ० १६४ । ६. पृ० ११२, १२० । ७. पृ० ११३ ।
८. पृ० ११८-१६ । ९. 'भूमि', लेखक का स्पष्टीकरण ।
१०. १२२वाँ परि० । ११. पृ० ८५७-५८ ।

समावेश के लिए, स्वाभाविकता-असम्भाविता को ताक पर रख कर। कुण्डनी के सर्पदंश लेने, और असुरों को 'मृत्यु-चुम्बन' देने के प्रसंग ऐसे ही तत्वों से युक्त हैं। असुर नगरी तथा असुरों के वर्णन भी अद्भुत-तत्व के समावेश के लिए है।[१] यहाँ नृत्य-संगीत के अद्भुत चमत्कार भी हैं; जैसे, नृत्यरत अम्बापाली के पादक्षेप के साथ वीणा स्वयं ही ध्वनित हो उठती है।[२] यहाँ देवताओं का दखल भी है। संगीत-नृत्य-चित्र आदि कलाओं तथा शौर्य-सौन्दर्य-शृंगारिकता की संयुक्त भूमि पर प्रतिष्ठित और वन के एकान्त तथा रम्य वातावरण से आवेष्ठित गंधर्वलोक के गंधर्वराज चित्ररथ तथा अम्बापाली का—अनेक परिच्छेदों में विभक्त—दीर्घ प्रसंग भी है, जो कथा-बाह्य होता हुआ भी वातावरण की अलौकिकता तथा सरसता के साधन रूप में सफल सिद्ध हुआ है।[३]

उस चमत्कारपूर्ण प्राचीन युग के चित्रण में लेखक ने रोमांस के दुर्लभ-असम्भव तत्वों के विनियोग से पाठकों का मनोरंजन किया है, तो तत्कालीन युद्ध-साधनों की वैज्ञानिक प्रगति तथा किन्हीं युद्ध-यन्त्रों के चित्रण से आधुनिक देशकाल का आभास देकर चमत्कृत भी कर दिया है। राजगृह का वैज्ञानिक शाम्बव्य सोमप्रभ को अपनी प्रयोगशाला दिखाता-समझाता हुआ कहता है—"ये सब विविध जन्तुओं के पित्त, रक्त और आँतों के रस, विविध द्रव्य गुण बिपाक वाली वनस्पति, अमोघ सामर्थ्यवान् रस रसायन, जो इन पिटकों और भाण्डों एवं काँच कूप्यकों में देख रहे हो, वास्तव में इनमें जीवन और मृत्यु बन्द है"।[४].."इनमें बहुतों में हलाहल विष है, जिन्हे कूप, तालाब और जलाशयों में डाल देने से, उसके जल को पीने से ही शत्रु-पक्ष में महामारी फैल जाती है। बहुत से ऐसे रसायन हैं कि शत्रु सैन्य विविध रोग में ग्रसित हो जाता है। वायु विपरीत हो जाती है, ऋतु-विपर्यय हो जाता है। इनमें कुछ ऐसे द्रव्य हैं कि यदि उन्हें हवा के रुख पर उड़ा दिया जाय तो शत्रु सैन्य के सम्पूर्ण अश्व, गज अन्धे हो जाएँ। सैनिक मूक, बधिर और जड़ हो जायें।"[५] इस तरह लेखक ने आधुनिक रासायनिक तथा कीटाणु-युद्ध का स्वरूप प्रस्तुत कर दिया है। 'रथ-मुशल' जैसे बिना सारथी-योद्धा के महासंहारक रथों तथा तुच्छ-से-तुच्छ साधन-सामग्री को वेग से फेंकने वाले महाशिलाकंटक-जैसे महास्त्रों से आधुनिक विविधरूपी टैंकों का आभास मिलता है। यद्यपि लेखक ने कौटिल्य के अर्थशास्त्र तथा भगवतीसूत्र से इस रासायनिक युद्ध तथा अस्त्रों को प्रमाणित किया है[६] तथापि

---

१. परि० २७-३०। २. पृ० ५००-१। ३. परि० ६५-१०२।
४. पृ० ८६। ५. पृ० ८७। ६. पृ० ८५६, ८६८।

आलोचकों ने इसमें काल-दोष ही देखा है।[1] इसी प्रकार 'कीमियागर गौड़पाद' परिच्छेद में अणु-परमाणु-विषयक चर्चा में आधुनिक वैज्ञानिक परिभाषाएँ दिखाई गई हैं। इस चर्चा का एक अंश उद्धरणीय है—"जब परमाणु का विस्फोट किया जायगा, तो विद्युत-सत्व और रश्मिपुंज-क्षेपण करना होगा। उसके बाद जब फिर से परमाणु-संगठन करना होगा तो विद्युत-आवेश और रश्मि-पुंज का विकास करना होगा।"[2]

'इतिहास-रस' के प्रमाणीकरण के अतिरिक्त शास्त्री जी का 'वैशाली की नगरवधू' में एक विशिष्ट उद्देश्य भी है। इसी के बल पर ही वह यह आदेश-उपदेश दे सके हैं—"हिन्दी भाषा और भारतीय संस्कृति से परिचित होने के लिए यह उपन्यास प्रत्येक शिक्षित भारतीय को दस बीस बार पढ़ना चाहिए।... उचित तो यह है कि भारतीय सरकार ही यह आदेश जारी कर दे, और उपन्यास की एक-एक प्रति अपने अफ़सरों की टेबुल पर रख देने की व्यवस्था कर दे।"[3] स्यात् इसीलिए 'प्रवचन' में उन्होंने पाठकों को "कथानक से पृथक् किसी निगूढ़ तत्व को ढूढ़ निकालने" में "सजग" रहने का "अनुरोध" किया है। इस "अनुरोध" में ही इस कृति की विकलात्मक असंगति निहित है। साहित्यकार रस के माध्यम से उद्देश्य तत्व या किसी निगूढ़-तत्व का अनुभव करा देते हैं, उसको ढूंढ़ने का अनुरोध नहीं करते। उद्देश्य वह नहीं होता, जिसे पाठकों को लेखक के कथानुसार सजग रहकर खोजना पड़े, वह होता है जिसे वह स्वतः ही ग्रहण करने पर बाध्य हो जाए—जिसकी अनायास अनुभूति कर ले। दूसरे, उद्देश्य 'कथानक से पृथक्' नहीं होता, उसी के द्वारा प्रभावपूर्ण रीति से ध्वनित होता है अन्यथा वह आरोपित होकर अपना प्रभाव खो देता है। तात्पर्य यह है कि तथाकथित 'इतिहास रस' से पृथक् भी लेखक ने उद्देश्य देना चाहा है, जो उपन्यास की रसात्मकता और उद्देश्य दोनों के लिए घातक है। उदाहरणतया, वर्णाश्रम धर्म के ह्रास तथा बौद्धमत और जैनमत के अभ्युदय एवं विस्तार का परिचय देने के लिए लेखक ने जिन अनेक परिच्छेदों की रचना की है, वे 'वैशाली की नगरवधू' की मूल कथा से प्रायः असम्बद्ध होने के कारण प्रभावहीन हो गए हैं। ये परिच्छेद प्रायः नीरस हैं। यहाँ बुद्धमत तथा जैनमत का प्रभाव-विस्तार इसलिए होता है क्योंकि लेखक चाहता है, या इतिहास में लिखा होने से स्वतः सिद्ध है किन्तु यह प्रायः उपन्यासानुमोदित नहीं—इसके लिए लेखक ने किसी व्यवस्थित तर्क-संगति का आश्रय नहीं लिया। इसके अतिरिक्त इनका विपक्ष भी प्रस्तुत नहीं किया—यहाँ बुद्धमत-जैनमत का विरोधी दर्शन बड़े-बड़े ऋषि-मुनियों के

---

१. डॉ० जगदीश गुप्त : "आलोचना" १७ (उपन्यास विशेषांक), पृ०१८१। डॉ० गोपीनाथ तिवारी : "ऐतिहासिक उपन्यास और उपन्यासकार," पृ० १७४-७५। २. पृ० ५६८। ३. पृ० ८६८-६९।

होते हुए भी मूक है। इसलिए दोनों धर्मों का प्रचार बिना प्रयास के होता जाता है— मानो ये दोनों संघर्ष या वाद-विवाद के बिना फैल गए। केवल एक परिच्छेद में 'अजित-केसकम्बली' गौतम बुद्ध के मत-प्रचार से भयभीत दिखाई देता है और विरोधी धारणाओं के प्रचार में संलग्न होता है, किन्तु उसका मूल उद्देश्य भी राजनीतिक है, दार्शनिक या धार्मिक नहीं। 'जीवक कुमार भृत्य' परिच्छेद में भी बुद्ध-जैन धर्म के प्रसार के दार्शनिक कारणों की कुछ चर्चा है किन्तु यह पर्याप्त नहीं। ब्राह्मणों के यज्ञाडम्बरों, उनमें होने वाले हिंसा-कार्यों, तथा निम्न वर्ग की हीन स्थिति का चित्रण यहाँ हुआ है किन्तु यह इन दोनों धर्मों के प्रसार की पृष्ठभूमि बनकर कम आया है—इनका चित्रण उपन्यास के पहले भाग के उत्तरार्द्ध में ६७ वें परिच्छेद से आरम्भ होता है जबकि गौतम बुद्ध का धर्मचक्र-प्रवर्तन प्रारम्भिक ७-९वें परिच्छेदों में ही हो जाता है। कोमल से कोमल विलासी पुरुष और सम्राट् जैसे गौतम बुद्ध तथा महावीर के निर्द्वन्द्व अनुयायी बनते जाते हैं, वे उपन्यासकार के [illegible] पूर्वयोजित क्रम का आभास देते हैं, पात्रों के चरित्र की अपनी अनिवार्यता की प्रतीति नहीं कराते।

वर्णाश्रम धर्म के ह्रास के अंग रूप में, लेखक ने ब्राह्मणों और आर्यों की अनेक स्थलों पर दिल खोल कर निन्दा कराई है—किंवा गालियाँ दिलाई है।[1] विभिन्न चर्चाओं में इस निन्दा के संगत कारण समझ में आते हैं किन्तु इसमें लेखक का पूर्वाग्रह या व्यक्तिगत रुचि स्पष्ट झलकती दिखाई देती है। डॉ० गोपीनाथ तिवारी ने इस निन्दावाद का सविस्तर परिचय देते हुए जो निष्कर्ष दिया है, उससे हम सहमत है—"यह बड़े मजे की बात है कि ब्राह्मणों और आर्यों की ये नीचताएँ कहीं भी उपन्यास में नहीं मिलीं, पर गाली तो देनी ही थीं।"[2] सारांश में यह निन्दा कथित-चर्चित है किन्तु मुख्य कथानक तथा प्रमुख पात्रों के चरित्र के अंग रूप में स्वतः सामने नहीं आई। हमारा विरोध लेखक के विचारों से नहीं—क्योंकि यह हमारा विषय नही—किन्तु कला से है।

धार्मिक वातावरण तथा उससे सम्बद्ध उद्देश्य का चित्रण उपर्युक्त बिखरे प्रसंगों में हुआ है, किन्तु नैतिक-सामाजिक एवं राजनैतिक वातावरण तथा सम्बद्ध समस्याओं का चित्रण मुख्यतः मूल कथानक—वैशाली की नगरवधू अम्बापाली के गतिशील जीवन—के साथ हुआ है। इस त्रिविध वातावरण की चित्रण-प्रामाणिकता से मतभेद हो सकता है, किन्तु मूल-कथानक की अनिवार्य पृष्ठभूमि तथा मुख्य पात्रों

---

१. परि० सं०—१८, २०-२३, ४६, ६२, ११२।

२. "ऐतिहासिक उपन्यास और उपन्यासकार", पृ० १७४।

के जीवन से व्यंजित होने के कारण यह कलात्मक रूप में सामने आया है; यथा, मुख्य पात्रों का जन्म तथा पारस्परिक अवैध सम्बन्ध तत्कालीन ह्रासोन्मुख नैतिकता की कहानी कह देते हैं। कूटनीति-निपुण आर्य वर्षकार, बिम्बसार के पूज्य गुरु गोविन्दस्वामी का अवैध पुत्र है। सोमप्रभ और अम्बापाली भी जार सन्तानें हैं—ये गोविन्दस्वामी की लड़की आर्या मातंगी से बिम्बसार और वर्षकार के अवैध सम्बन्धों के परिणाम हैं।

नारी की परवश दयनीय स्थिति अनेक पात्रियों के माध्यम से सामने आई है। अम्बापाली सर्वश्रेष्ठ सुन्दरी है, इसलिए उसे प्रबल विरोध करने पर वैशाली गणराज्य के 'धिक्कृत कानून' के अनुसार नगरवधू का जीवन बिताने पर बाध्य होना पड़ता है। उधर मगध का राज्यतन्त्र अपनी राजनैतिक महत्वाकांक्षा की सिद्धि के लिए अति सुन्दरी कुण्डनी को विषकन्या बनाकर, स्त्रियोचित कोमल भावनाओं को दबाने और क्रूर कर्मिणी होने पर मजबूर करता है। इसी प्रकार चम्पा की राजकुमारी चन्द्रभद्रा को अपने प्रेमी सोमप्रभ को छोड़ विदूडभ से विवाह स्वीकार करना पड़ता है और युवती रूपवती कलिंगसेना को, राजनैतिक कारणों से, वृद्ध तथा नपुंसक-समान राजा प्रसेनजित से। मूल कथा से कुछ असम्बद्ध दासी नारियों की दुर्दशा का एक द्रावक चित्र भी सामने आया है।[1] उपन्यास का मूल संघर्ष भी नारी-पीड़ा और नारी-प्रणय को लेकर हुआ है, अतएव नारी-समस्या इस उपन्यास की मुख्य समस्या है। अम्बापाली नगरवधू बनने पर भी नारी-अपमान तथा अपनी परवशता को भूल नहीं पाती और मन-ही-मन इस वैशाली गणराज्य के ध्वंस का संकल्प कर लेती है। सम्राट बिम्बसार के प्रणय-निवेदन के अवसर का लाभ उठाकर वह उससे वैशाली गणराज्य का विनाश करने और उसके औरस से अपने पुत्र को मगध का सम्राट् बनाने की प्रतिज्ञा करा लेती है।[2] इसी के कारण दोनों राज्यों का महाभयंकर युद्ध होता है। युद्ध के समय जब दोनों ओर की सेनाएँ कट-मर रही होती हैं, तब सम्राट गुप्त रूप से अम्बापाली से अभिसार-मिलन में लीन होते हैं। यह देखकर सम्राट का सेनापति सोमप्रभ अपना लगभग जीता हुआ युद्ध इसलिए बंद कर देता है क्योंकि किसी सम्राट् की व्यक्तिगत अभिलाषा तथा भोगलिप्सा की पूर्ति के लिए जनसंहार नहीं कराया जा सकता।[3] मगध की हार और वैशाली की जीत होती है। किन्तु जीत की प्रसन्नता महाविनाश के तुमुल हाहाकार में सदियों तक खो जाती है। इस तरह अन्त में नारी के अपमान—पराधीनता—की समस्या युद्ध की समस्या बन जाती है और युद्धों के प्रति घृणा जगाने और नारी-सम्मान के प्रति जागरूक करने में लेखक सफल रहा है।

---

१. पृ० ३५७-६५। २. 'भारी सौदा' परिच्छेद। ३. 'छत्रभंग, परिच्छेद।

वस्तुतः इस युद्ध और उसमें हार-जीत के मुख्य उत्तरदायी तीनों पात्र किन्हीं विशिष्ट पक्षों के प्रतिनिधि हैं, अतएव अन्त में विनाश की घटना से तदनुकूल उद्देश्य की व्यंजना हुई है। अम्बापाली पुरुषों की स्वेच्छाचारिता के विरुद्ध नारी-स्वाधीनता के संघर्ष की प्रतीक है, जिसे कलिंगसेना, नन्दिनी,[१] तथा रोहिणी[२] भी पुष्ट करती हैं। इसी तरह बिम्बसार साम्राज्य-लिप्सा और भोग-लिप्सा का—प्रसेनजित इसका पोषण करता है—और सोमप्रभ सदाचार, युद्ध-विरोधी-भावना तथा मानवता का प्रतीक है। ये सभी भावनाएँ अन्त के महाविनाश की एक ही घटना में मिलकर पुंजीभूत हो गई हैं, अतएव उपन्यास प्रभावपूर्ण बन सका है। फिर भी, यह अभीष्ट प्रभावपूर्ण नहीं बन सका। इसका कारण यह है कि लेखक वैशाली के महाविनाश की इतिहासानुमोदित घटना के व्यापक प्रभाव की जितनी विविध रूपात्मक जानकारी दे पाया है, साक्षात् व्यापक चित्रण नहीं कर पाया।[३] इसी तरह पात्रों की मानसिक प्रतिक्रियाओं का मूर्तीकरण नहीं हुआ, उनकी सूचनाएँ दी गई हैं। यह महाविनाश की घटना अपने विषय के बल पर तो करुण तथा किंचित् मार्मिक प्रभाव छोड़ पाई है, किन्तु लेखक की कला का अपेक्षित योग न मिलने से यह अमोघ मार्मिक नहीं बन पाई। इस दृष्टि से 'मुर्दों का टीला' में अन्तिम ध्वंस का चित्रण करने में रांगेय राघव अधिक सफल रहे हैं।

लेखक ने नारी-स्वाधीनता, युद्ध-विरोध समग्र मानवता की एकता की भावना को तत्कालीन समाज-प्रवाह की सीमाओं में चित्रित नहीं किया, कहीं-कहीं—विशेष रूप से प्रारम्भ और मध्य में—ये नितांत आधुनिक हो उठी हैं और काल-दोष के अन्तर्गत आती है। यथा, राजा प्रसेनजित के विषय में कहा गया है— "वह अपने राज्य का सबसे धनी, सबसे बड़ा, और सबसे स्वच्छन्द व्यक्ति है। उसके पास बिना कोई काम किए ही दुनिया भर की दौलत चली आती है, राज्य भर में फैले हुए दास, कर्मकर और प्रजावर्गीय जन उसी की सम्पत्ति है। वह दासों का तो अधिपति है ही, प्रजा के सर्वस्व का स्वामी भी है। वह उसकी युवती, पुत्रियों को अपनी विलास-कामना के लिए अपने अन्तःपुर में जितनी चाहे भर सकता है, उनके तरुण पुत्रों को अपने अकारण युद्धों में मरवा सकता है, वह प्रजा के पसीने की कमाई को बड़े-बड़े महल बनवाने और उन्हें भाँति-भाँति के सुख-स्वप्नों से भरपूर करने में खर्च कर सकता है, उसकी आज्ञा सर्वोपरि है।"[४]—यहाँ पात्र वर्ग-चेतना-सम्पन्न प्रगतिवादियों की भाषा में बोल रहा है। लेखक ने राज्यतन्त्र तथा गणतन्त्र प्रणाली का तुलनात्मक अध्ययन किया है और यद्यपि वह गणतन्त्र की ओर कुछ झुका हुआ

१. 'विराम-सन्धि' तथा उपसंहार '१' परिच्छेद। २. 'श्रावस्ती' परिच्छेद।
३. 'ज्ञातपुत्र सिंह' परिच्छेद। ४. पृ० १२४।

दिखाई देता है और स्थान-स्थान पर राजाओं को राजुल्ला कहता है, तथापि उसने दोनों राज्य-पद्धतियों के गुण-दोष का सम्यक् चित्रण किया है।[1] लेखक ने दस्यु बलभद्र के वेश में सोमप्रभ को 'भूखे ग्रामीण कृषकों' का क्रांति-नेता-सा बना दिया है; वह उद्घोष करता है—"देवी अम्बपाली, यह गणतन्त्र भी उसी भाँति गण-शोषक है, जैसे साम्राज्य। यहाँ भी दास हैं, दरिद्र हैं, और ये निकम्मे मद्यप स्त्रैण सामन्त पुत्र हैं। ये सेट्ठिपुत्र हैं, आज ये कंकड़-पत्थर की भाँति अरब-खरब के रत्न-मणि अपने शरीर पर लादकर उन भूखे-नंगे कृषकों को लूटने को सेना भेजकर यहाँ मद-मस्त होने आए है।...मैं ये हीरे मोती इन्हीं कृषकों को लौटा देना चाहता हूँ, जिनके पेट का अन्न छीनकर ये मोल लिए गए हैं।"[2] अम्बपाली कृषकों को अपने आवास को लूट लेने का आह्वान करती है।[3] अन्यत्र वह दास-दासियों के प्रति कटु व्यवहार पर तार्किक प्रसंग में कहती है – "समाज में सब मनुष्य समान है।"[4] एक अन्य प्रसंग में, इससे भी आगे बढ़कर जीवक कौमारभृत्य कहता है—"वास्तव में विश्व के मनुष्य की एक सार्वभौम जाति होनी चाहिए।"[5] स्थान-स्थान पर विभिन्न पात्रों ने युद्ध-विरोध किया है। 'राजगृह का वैज्ञानिक' परिच्छेद में इसी समस्या पर तर्क-वितर्क चलता है। जहाँ वर्षकार युद्ध को जीवन की अपरिहार्य घटना, मानव सभ्यता का इतिहास, और मानवता का विकास समझता है, वहां सोमप्रभ युद्ध को मानवता का नहीं, पशुता का प्रतीक समझता है—"मनुष्य में ज्यों-ज्यों पशुत्व कम होकर मानवता का विकास होगा वह युद्ध नहीं करेगा। जब वह पूर्ण मानव होगा तो उसमें युद्ध-भावना नष्ट हो जाएगी। वह रोषहीन संतृप्त मानव होगा।"[6] यह किसी आधुनिक शांति-नेता की मंगल-वाणी प्रतीत होती है। फिर भी, सोमप्रभ का चरित्र अन्त में इसी वाणी को सिद्ध कर देता है—यह चरित्रानुमोदित कथन है। वह नीचाशयी युद्ध रोक ही नहीं देता, बुद्ध धर्म को स्वीकार कर लेता है। अम्बपाली भी भिक्षुणी बन जाती है। अन्त में मुख्य कथानक के साथ धार्मिक कथानक मिलकर उपन्यास को प्रभावोत्पादक बना देता है और उद्देश्य को पूर्ण। यदि लेखक प्रारम्भ से राजनैतिक तथा धार्मिक कथानक को मिलाने की निर्माणात्मक कल्पना से काम लेता, तो उपन्यास का प्रभाव विशेष बढ़ा होता। 'साम्राज्य' परिच्छेद में और भी अधिक उपयुक्त पात्र भगवान बादरायण से युद्ध-विरोध कराया गया है। फिर भी तर्क आधुनिक हो गए है।[7] इसी प्रकार कलिंग सेना गांधार संस्कृति के आधार पर युद्ध का विरोध करती हुई छोटे-बड़ों की समता में विश्वास प्रकट करती है।[8]

नारी-स्वातन्त्र्य की भावना में आधुनिक चेतना सबसे प्रबल है। १८ वर्षीय

---

१. 'ज्ञातिपुत्र सिंह' परिच्छेद। २. पृ० ६१६। ३. पृ० ६१९।
४. पृ० १३२। ५. पृ० १६३। ६. पृ० ८७। ७. पृ० २६६। ८. पृ० २९०।

अम्बापाली समग्र गण-समाज के सामने किसी क्रांतिकारिणी नेतृ के समान भाषण करती है[1] और अपने प्रेमी हर्षदेव से वैशाली के जनपद को जलाकर भस्म करा देने की प्रतिज्ञा कराती है।[2] यदि पात्रों और उपन्यास का नाम न बताया जाए, तो यह आधुनिकतम उपन्यास का ही संवाद हो सकता है :—"मैंने (कलिंग सेना ने) आत्मबलि अवश्य दी है; पर स्त्रियों के अधिकार नहीं त्यागे हैं। मैं यह नहीं भूल सकती कि मैं भी एक जीवित प्राणी हूँ, मनुष्य हूँ, समाज का एक अंग हूँ, मनुष्य के सम्पूर्ण अधिकारों पर मेरा भी स्वत्व है।"

नन्दिनी—"यह 'पति' शब्द ही कैसा घृणास्पद है। हमारी विवश दासता की सारी कहानी तो इसी एक शब्द में निहित है।"

"यह कठिन अवश्य है नन्दिनी, परन्तु मैं किसी पुरुष को पति नहीं स्वीकार कर सकती। पुरुष स्त्री का पति नहीं, जीवन-संगी है। 'पति' तो उसे सम्पत्ति ने बनाया है। सो जब मैं उसकी सम्पत्ति का भोग नही करूँगी, तो उसे पति भी नही मानूंगी।"[3]

वस्तुतः इस आधुनिकता के लिए लेखक का यह दृष्टिकोण उत्तरदायी है—"जो साहित्यकार विचारों को मूर्त करता है, संस्कृति को मूर्त करता है, आधुनिकता का प्रतिनिधित्व करता है, वह अपने काल और उस काल के बाद के जनपद का शास्ता है। वह मनुष्य-तत्व का प्रतिनिधि है।" इस प्रकार लेखक ने मंगलमय 'चिरसत्यों' तथा मनुष्य-तत्व के प्रानिनिधिक उद्देश्य-तत्व की निहिति के लिए आधुनिकता का प्रतिनिधित्व आवश्यक समझा है। इतनी स्वच्छन्दता से विचारों का समावेश करने वाले लेखक को सामाजिक उपन्यास लिखना चाहिए था, 'इतिहास-रस' का उपन्यास नहीं; क्योंकि देशकाल के दोष के रसाभास इसमें बाधक हो सकते हैं। इतनी आधुनिकता के बाद पाठक समझ ही क्या सकता है कि लेखक कहाँ तत्कालीन समाज-प्रवाह का वेग दिखा रहा है और कहाँ सामयिक देशकाल का? इस प्रकार लेखक ने तात्कालिक समाज-प्रवाह के वेग दिखाने के जिस एक ही प्रतिबन्ध को स्वतः स्वीकार किया था, वह भी विभिन्न कालीन विशेषताओं की झलक से भ्रमोत्पादक हो गया है।

'वैशाली की नगरवधू' में लेखक का सर्वाधिक ध्यान मनोरंजन-तत्व के समावेश पर रहा है और इसका साधन है घटना-चमत्कार—यह घटना-प्रधान उपन्यास है। इन्हीं के बल पर लेखक पाठकों के उत्सुकता-कौतूहल को प्रायः सतत् जगाता-सुलाता, इतने बड़े उपन्यास को बिना ऊब के पढ़ा ले जाता है। ये घटनाएँ भी एकरूपी नही—इनमें वैविध्य-वैचित्र्य का आकर्षण है। कुण्डनी के सर्पदंश लेने[4] और

१. पृ० २०। २. पृ० ४३। ३. पृ० २६२। ४. 'रहस्यमयी भेंट' परिच्छेद।

मृत्यु-चुम्बन देने की घटनाएँ भयानक है; सम्राट-सेनापति एवं जासूसों के द्वन्द्व-युद्ध वीररसात्मक; छाया पुरुष के परकाय-प्रवेश का कार्य अद्भुत-आतंकोत्पादक; संगीत-नृत्य की भूमिका में उदयन-अम्बापाली, एवं गंधर्वराज-अम्बापाली के मिलन शृंगारिक-मोहक; आर्या मातंगी और पुत्र सोम का मिलन मार्मिक, तथा असुर नगरी एवं विदूडभ के अपहरण-उद्धार की घटनाएँ तिलस्मी-ऐयारी साहित्य का-सा प्रभाव छोड़ने वाली है। यहाँ अनोखी बातें हैं—कहीं रंगीन आग से पात्र बेहोश हो जाते हैं, और कहीं चुम्बनों से मूर्छित। यहाँ अद्भुत चमत्कार हैं—कहीं आकाश-मार्ग से पात्र उतरते, कहीं पृथ्वी से अछूते चलने और कहीं कटे मुण्ड के रुंड कुछ समय तक खड्ग घुमाते[1] हैं। यहाँ विरल-विचित्र उदाहरण है—अपने महलों की ऊँचाइयों में विलासमग्न रहने वाला, सम्राट् के स्वागत के लिए कुछ मंजिलें नीचे उतरने-मात्र के कष्ट से ही रुष्ट हो जाने वाला तथा पृथ्वी पर पांव न धरने वाला सुकुमारतम सोण कोटिविंश वैरागी भिक्षु बनता है और गौतम बुद्ध को उसकी पाद-सुकुमारता एवं पीड़ा से द्रवित होकर सभी भिक्षुओं को एक तले का जूता पहनने की अनुमति देनी पड़ती है।[2] आकस्मिकता के आश्चर्य से चौंकाने वाले चमत्कार भी हैं—विदूडभ अपने पिता राजा प्रसेनजित पर खड्ग उठाता है कि अकस्मात् आ जाने वाले बंधुलमल के वार से उसकी तलवार झन से हाथ से छूटकर दूर जा पड़ती है; अम्बापाली के समाज में चर्चा का विषय बना बलभद्र किसी के प्रश्न का उत्तर देते हुए, 'अतर्कित-असम्भव' रूप में प्रवेश करता है;[3] और चम्पारण्य में कुण्डनी-सोम की वार्ता असुर के सनसनाते तीर से कटती है तथा कुण्डनी के चीत्कार-शब्दों से पहले ही सोम का भाला असुर की पसलियों में पहुँच जाता है।[4] आकस्मिकता के तत्व के अतिरिक्त कथानक में रहस्य-तत्व के विनियोग से भी पाठकों के कौतूहल को स्थिर रखने का सफल प्रयत्न किया गया है। इन्हें निम्नस्थ साधनों द्वारा लाया गया है :—

क. प्रवेश के साथ ही पात्रों का परिचय न देना; जैसे, 'रहस्यमयी भेंट' परिच्छेद में सोमप्रभ, कुण्डनी, शाम्बव्य काश्यप तथा वर्षकार चारों पात्रों का प्रवेश होते ही परिचय नहीं मिलता; यथासमय और यथास्थान स्वतः ही परिचय मिल जाता है या दिया जाता है। अम्बापाली तथा सोमप्रभ की अज्ञात कुलशीलता भी यथास्थान बाद में स्पष्ट हुई है। रहस्यमयी भेंट का पात्र 'राज-पुरुष' दो परिच्छेदों के बाद आर्य वर्षकार निकलता है। 'सम्मान्य अतिथि' परिच्छेद में दो अतिथि आते हैं—लेखक आते ही न तो उनके नाम बताता है और न ही यह कि इन में से 'सम्मान्य' कौन है। उपन्यास के पात्रों-पाठकों दोनों की उत्सुकता अगले परिच्छेद में

---

३. पृ० ६२६। ४. पृ० ३०२-३। १. पृ० ६१४-१५। २. पृ० १७८।

शान्त होती है। उन दोनों के नाम जानकरप ाठक पात्र-माधव की तरह ही आश्चर्य-चकित होकर रह जाता है।

ख. पात्रों के कार्य-व्यापारों, घटनाओं आदि का रहस्यगर्भित विकास करना :—मगध को घेरने वाली प्रद्योत की सेना जब स्वयं ही घेरा उठा कर भाग जाती है, तब बताया जाता है कि अमात्य वर्षकार ने किस बुद्धिकौशल-यन्त्र का उपयोग किया। जंगल में शेर के झपटने से अम्बापाली की मृत्यु हो जाने के कारण शोक भी मना लिया जाता है कि अगले परिच्छेद में उसके अकस्मात् बच जाने का रहस्य खुलता है। विदूडभ को अपहृत करके किस किले में छिपाया गया—इसके लिए जैसे कुण्डनी और सोम उत्सुक रहते हैं, वैसे ही पाठक भी। अमात्य वर्षकार प्रत्यक्षतः अपने सम्राट से लड़कर वैशाली में रहता है, किन्तु यह बाद में पता चलता है कि यह तो नीत्यानुसार हुआ।

ग. वेष बदले हुए पात्रों का उपयोग करना—इस दृष्टि से 'मोहन गृह की मन्त्रणा' परिच्छेद द्रष्टव्य है, जहाँ एक साथ अनेक रहस्य खुलते हैं और पाठक आश्चर्य-सागर में डूब जाता है। वैशाली में प्रभंजन चाण्डाल मुनि बनकर रहता है, और वेश्या मागधिका यक्षिणी तथा कुण्डनी भद्रनंदिनी वेश्या बनकर रहती है। नारायणसाहु, मागध गुप्तचर बनकर रहता है और सोमप्रभ दस्यु बलराज के रूप में नकाब पहने कार्य करता है।

कथानक के आकर्षण-वर्द्धन में नाटकीय व्यंग्य का पर्याप्त उपयोग किया गया है। बिम्बसार को उपन्यास के अन्तिम पृष्ठों में, स्वयं अपने पुत्र से ही द्वन्द्व-युद्ध और बंदी होने के बाद, पता चलता है कि सोमप्रभ उसी का पुत्र है, किन्तु पाठकों को यह रहस्य पहले ही पता होता है।[1] इसी प्रकार बिम्बसार और वर्षकार को पता नहीं कि अम्बापाली कौन है, किन्तु पाठकों को पता होता है कि यह वर्षकार की संतान है। यह पता न होने का कारण ही बिम्बसार की अपराध-भावना एक-दम जागती और रहस्य खुलने पर एकदम शान्त होती है।[2] इसी तरह पाठकों को ज्ञात होने पर भी सोमप्रभ को अन्त में ही पता चलता है कि अम्बापाली उसकी सौतेली भगिनी है।[3]

कथानक का सौन्दर्य और गति उसके संगठन पर बहुत-कुछ अवलम्बित है। 'वैशाली की नगरवधू' में कथानक का प्रसार उसके नामानुकूल नगरवधू अम्बापाली को लेकर ही नहीं हुआ, ऐतिहासिक वातावरण के चित्रण तथा उद्देश्य-तत्व एवं मनोरंजन-तत्व के अतिरिक्त समावेश की दृष्टि से भी हुआ है। इसलिए कथानक का आवश्यकता से अधिक प्रसार हो गया है। उपन्यास के नामानुकूल, इसका प्रारम्भ

१. पृ० ७५१। २. पृ० ७५३-५४। ३. पृ० ७५४-५५।

और अन्त अम्बापाली-सम्बद्ध है; उपन्यास के मुख्य संघर्ष का आधार भी अम्बापाली के जीवन का अपमान एवं उसकी महत्वाकांक्षा है; उपन्यास का मूल उद्देश्य एवं प्रभाव-व्यंजना भी इसी से होती है; इसे ही उपन्यास में सर्वाधिक स्थान मिला—आधे से कुछ अधिक पृष्ठ इससे सम्बद्ध हैं—अतएव यही उपन्यास की प्रधान कथा है। किन्तु उपन्यास के कुल मिला कर आधे से कुछ कम पृष्ठ अवांतर प्रसंगों से सम्बन्धित हैं। 'वैशाली की नगरवधू' के पूर्वार्द्ध भाग में कुल ६० परिच्छेदों में से और अम्वापाली से सम्बन्धित १० परिच्छेद हैं। इनमें मगध और वैशाली केन्द्र की कथा को जोड़ने वाले वादरायण व्यास के प्रसंग भी हैं। इन ८० परिच्छेदों में मगध से सम्बन्धित कुछ परिच्छेद परोक्ष रूप से अम्बापाली के जन्म तथा वैशाली के विरुद्ध अम्बापाली के संघर्ष में सहायक पात्रों से सम्बन्धित हैं, किन्तु शेष सभी ऐसे अवांतर प्रसंग हैं, जो वैशाली और मगध से सम्बन्धित न होकर असुरनगरी, चम्पा, तथा साकेत कौशाम्बी के अभियान, या राजनैतिक गतिविधियों से सम्बन्धित हैं। इसके अतिरिक्त बौद्धमत एवं जैनमत के अभ्युदय एवं प्रसार से सम्बन्धित प्रसंग भी हैं। उत्तरार्ध का अधिकांश भाग उपन्यास के मुख्य केन्द्र वैशाली तथा मुख्य कथा से सम्बद्ध है। फिर भी, इसमें भी, प्रतिहार-पत्नी, मन्थान भैरव, कीमियागर गौड़पाद तथा गंधर्वराज चित्ररथ के अनेक प्रसंग सहज ही निकाले जा सकते हैं। ये अवांतर प्रसंग—एक को छोड़कर—रोचक अवश्य हैं। बुद्ध-जैन सम्बन्धी प्रसंग तात्कालीन धार्मिक-सांस्कृतिक परिस्थितियों को चित्रित करने के लिए लाए गए हैं। वैसे ये अपेक्षाकृत नीरस तथा कथागतिरोधक हैं। चम्पा-विजय, चम्पा तक पहुँचने और वापस लौटने के प्रसंग—'असुर नगरी' तथा 'मार्गबाधा' आदि प्रसंग—विचित्रता-जनित रोचकता के लिए लाए गए हैं। उद्देश्य की दृष्टि से, अधिक-से-अधिक, इनसे बिम्बसार की राज्यलिप्सा ही व्यक्त होती है। कौशाम्बी-केन्द्र के प्रसंग भी रोचक हैं, परन्तु ये चम्पा-विजय सम्बन्धी प्रसंगों के समान नितांत अवांतर प्रसंग नहीं। प्रसेनजित तत्कालीन राजाओं की व्रज-विलासिता तथा अनैतिकता का प्रतिनिधि है, और यह समाज-चित्रण में ही सहायक नहीं होता, प्रकारांतर से प्रधान कथा के मुख्य पात्र विम्बसार के पक्ष को पुष्ट भी करता है। दूसरे विदूडभ के रूप में उस क्रांति की ओर भी संकेत करता है, जो वर्ण-संकरों में, श्रमण संस्कृति का परोक्ष बल पाकर, उठ रही थी। विदूडभ वैशाली के युद्ध में मागध सेना की सहायता भी करता है। इस तरह अवांतर होते हुए भी ये मुख्य कथा से यत्किंचित् सम्बन्धित है। इन सभी अवांतर प्रसंगों ने मिलकर मुख्य कथा की गति धीमी कर दी है, किन्तु 'यज्ञ', 'पंचालों की परिषद्' और इसी तरह के कुछ अन्य तात्कालिक परिस्थितियों—विशेषतया धार्मिक—का चित्रण करने वाले प्रसंगों को छोड़कर, शेष प्रसंग अपने-आप में रोचक हैं। अतएव कथा-रंजकता

को कम क्षति पहुँची है। इसका एक कारण और भी है। लेखक ने कथानक का संगठन इस भाँति किया है कि धार्मिक या नीरस प्रसंगों को एक साथ नहीं रखा। दूसरे एक कथा को अधूरी छोड़कर और पाठकों की उत्सुकता को उसके सम्बन्ध में अतृप्त रखकर लेखक दूसरी कथा चलाता रहा है। उदाहरणतया, हर्षदेव पृष्ठ ४४ पर वैशाली-विनाश की प्रतिज्ञा कर चल देता है और दूसरी बार उसका प्रसंग १६५ पृष्ठ पर आरम्भ होता है। इसी प्रकार सोम-कुण्डनी द्वारा चम्पा-पतन के बाद चार परिच्छेद बादरायण व्यास के आ जाते हैं और तब सोम-कुंडनी के श्रावस्ती पहुँचने की टूटी-कथा शृंखला जुड़ती है।

सम्पूर्ण उपन्यास 'प्रवेश' तथा 'उपसंहार' के अतिरिक्त १५६ लघु-लघु परिच्छेदों में विभक्त हैं, जिसमें प्रत्येक के घटना या विषय-बोधक उपशीर्षक हैं। यह विधि विशालकाय उपन्यास की स्मरणीयता में सहायक हैं। प्रवेश का पहला ही उपखण्ड इतिवृत्तात्मक है—मूल कथा पृष्ठ ४ पर आरम्भ होती है। अतएव उपन्यास का प्रारम्भ अनाकर्षक ही कहा जाएगा। गति-रोधक प्रसंग तथा अनाकर्षक आरम्भ के अतिरिक्त कथानक में कुछ और भी खटकने वाली बातें हैं। पहली बात—जिसकी ओर इतिहास-रस के व्याख्याता का अधिक ध्यान वांछित था—वह है भावोत्तेजक मार्मिकस्थलों की कमी। सारे उपन्यास में गिने-चुने ४-५ से अधिक मार्मिक स्थल नहीं। वस्तुतः लेखक की दृष्टि रंजन पर रही है, भोवोत्तेजना पर नहीं। अनेक स्थलों को भावात्मक आधार दिया जा सकता था किन्तु लेखक ने या तो किन्हीं घटनाओं की प्रतिक्रिया व्यक्त ही नहीं की, या अधूरी रहने दी है। उदाहरणतया, कुण्डनी को प्रारम्भ से उपन्यास में स्थान मिला है, वह सतत कर्तव्य-परायण भी रही है, किन्तु एक तो लेखक ने उसकी मृत्यु उपहासास्पद ढंग से दिखा दी है, दूसरे, उसकी मृत्यु की किसी पर कोई प्रतिक्रिया व्यक्त नहीं की—सोमप्रभ पर भी नहीं, जिसकी वह 'भगिनी' थी और जिनका सदा आपस में साथ रहा। इसी तरह नापित गुरू के मरने पर वर्षकार पर कोई प्रतिक्रिया चित्रित नहीं की गई। वैशाली के जनसंहार की जैसी विभिन्न पात्रों पर करुण-मार्मिक प्रतिक्रिया हो सकती थी, वह भी अधूरी रह गई है। दूसरी कमी यह है कि कहीं-कहीं पात्रों के महत्वानुसार प्रसंगों का निर्वाह न करने से अस्वाभाविकता आ गई है। इस दृष्टि से 'सर्वाजित-महावीर' परिच्छेद अशिष्ट तथा असंगत है। एक पृष्ठ पर महावीर पर आने वाली कठिनाइयों का अरोचक वर्णन है और दूसरे ही पृष्ठ पर उसके मत-प्रसार का चित्रण कर दिया गया है। महावीर का राजनीति में भाग लेना[1] तथा चन्द्रभद्रा के विवाह का निर्देशन करना और भी अस्वाभाविक है। कुछ अन्य प्रसंग भी लेखक की मनमानी करने का प्रभाव डालते

१. ८७वाँ परिच्छेद।

हैं। कुण्डनी द्वारा असुरों का विनाश तथा युद्ध के वातावरण में जासूसों के फैले होते हुए भी बिम्बसार का अम्बापाली के प्रासाद में पहुँच जाना और सकुशल वापस लौट आना ऐसे ही प्रसंग हैं। जिस गुप्त मार्ग का प्रयोग बिम्बसार और अम्बापाली करते हैं, क्या वह वैशाली के व्यवस्थापकों को ज्ञात नहीं था? आखिर उन्होंने ही तो अम्बापाली को प्रासाद सौंपा था। तीसरे, कुछ प्रसंग अधूरे और अस्पष्ट भी रह गए हैं। बन्धुलमल की गति बीच में ही रह जाती है। नारी-अधिकारों की विशेष वकालत करने वाली, प्रसेनजित की मृत्यु से विधवा बन गई, अक्षय-यौवना कलिंगसेना की अन्तिम स्थिति से पाठक संतुष्ट नहीं हो पाता। मन्थान भैरव कुण्डनी और अम्बापाली दोनों को भोगने का संकल्प करता है किंतु वह कुण्डनी की मृत्यु के बाद दिखाई ही नही देता। वर्षकार और बिम्बसार के आपसी सम्बन्धों को दिखाने में अभीष्ट स्पष्टता नहीं आ सकी।

एक-दो स्थलों पर लेखक पाठकों को प्रत्यक्ष सम्बोधित करता है, या अपने लेखत्व का भान कराता है। यह पुरानी स्थूल शैली द्रष्टव्य हैं।—(क) "पाठक, इस 'कृतपुण्य' को भूले न होंगे।"[1] (ख) "दोनों में परिष्कृत संस्कृत में बातें होने लगीं। यहाँ हम अपनी भाषा में लिखेंगे।"[2] सारांश में, ये कुछ दोष होते हुए भी कथानक द्वारा पाठकों का पर्याप्त मनोरंजन कर सकने में लेखक सफल रहा है।

चरित्रांकन पर लेखक की स्वल्प दृष्टि रही है। इसमें पात्रों की भीड़ है—अनेक पात्र कुछ स्थलों पर एक ही बार मुख दिखाकर लुप्त हो गए हैं।[3] किसी-किसी परिच्छेद में एक-साथ इतने पात्रों का परिचय करा दिया गया है कि पाठकों को उनका स्मरण रखना कठिन हो गया है।[4] असंख्य पात्रों में से केवल दो पात्र—प्रमुखतम पात्र—पाठकों का ध्यान आकर्षित करने में समर्थ हुए हैं—सोमप्रभ तथा अम्बापाली। ये वर्ग-प्रतिनिधि होते हुए भी व्यक्तित्व-सम्पन्न पात्र हैं, किन्तु प्रायः शेष सभी वर्गगत पात्र हैं। इन पात्रों का चरित्र निश्चित है—ये स्थिर पात्र हैं और विभिन्न परिस्थितियों में पड़ने पर निर्द्वन्द्व प्रतिक्रियाएँ करने में समर्थ। बिम्बसार, वर्षकार, प्रसेनजित आदि प्रमुख पात्र भी ऐसे ही हैं; जैसे प्रसेनजित अपने पुत्र विदूडभ द्वारा, विलासिता के कारण धिक्कारा जाकर और गत-वीर्य होने पर भी कलिंगसेना को ही नही ब्याहता, चन्द्रभद्रा के अपने चंगुल से भाग निकलने पर भी दुखी होता है। वर्षकार तथा शाम्बव्य कश्यप क्रमशः निडर तथा क्रूरकर्मा नीतिज्ञ तथा वैज्ञानिक हैं—उन्हें किसी के भले-बुरे परिणाम से मतलब नहीं, वे मात्र कर्तव्य-

---

१. पृ० ५३२। २. पृ० ६०३।

३. 'ज्ञातिपुत्र सिंह' तथा 'पंचालों की परिषद' परिच्छेद।

४. 'ज्ञातिपुत्र सिंह', १८वाँ परिच्छेद।

परायण निर्द्वन्द्व व्यक्ति हैं। उनके मानव की झाँकी यहाँ दुर्लभ है। चन्द्रभद्रा सोम के लिए कहीं-कहीं विचलित हुई है, विदा के अवसर पर विह्वल भी है[1] पर वह भी महावीर के आदेश से मानों अभिभूत है। अन्य अनेक पात्र गौतम बुद्ध के उपदेशों से प्रभावित होकर भिक्षु बनते दिखा दिए गए हैं और उनमें समुचित मानवीय दुर्बलताओं को स्थान कम ही मिल पाया है। सोम और अम्बापाली गतिशील पात्र हैं—ये दोनों अन्त में विरक्त बन जाते हैं।

लेखक ने पात्रों के—विशेषतया सोम और अम्बापाली के – अन्तरंग चित्रण की किन्हीं विरल स्थलों पर क्षणिक झाँकी मात्र दी है[2] किन्तु बाह्य चित्रण, प्राय: प्रवेश के साथ ही, अधिकांश पात्रों का किया है। बाह्य चित्रण से वह पात्रों को निश्चित रूपाकार देकर उनकी आपसी पृथकता के अतिरिक्त उनके वर्ग-जाति तथा स्वभाव का परिचय भी दे सका है। इसके अतिरिक्त प्रसंगानुसार वातावरण-निर्माण तथा तात्कालिक ऐतिहासिक वातावरण के चित्रण में भी पात्रों की बहिरंग सज्जा के चित्रण से सहायता ली गई है। आगे कुछ उदाहरणों से स्पष्टीकरण हो सकेगा। युद्ध में शत्रुओं के संहार के लिए मारक द्रव्य तैयार करने वाले वैज्ञानिक शाम्बव्य कश्यप का निम्न चित्र उसके क्रूर कार्यो के अनुकूल और 'रहस्यमयी भेंट' के भयानक वातावरण में योगप्रदायक है—"उसी के प्रकाश में तरुण (सोमप्रभ) ने उस व्यक्ति का चेहरा देखा, देखकर साहसी होने पर भी वह भय से काँप गया। चेहरे पर मांस का नाम न था। सिर्फ गोल-गोल दो आँखे गहरे गढ़ों में स्थिर चमक रही थीं। चेहरे पर खिचड़ी दाढ़ी मूछो का अस्त-व्यस्त गुलझट था। सिर के रूखे-रूखे बाल उलझे हुए और खड़े थे। गालों की हड्डियाँ ऊपर को उठी हुई थी। और नाक बीच से धनुष की भाँति उभरी थी। वह व्यक्ति असाधारण ऊँचा था। उसका वह हाथ, जिसमें वह दिया थामे था, एक कंकाल का हाथ दीख रहा था।"[3] इसी तरह शाम्बर असुर का यह चित्र मानवों से भिन्नता का सहज आभास देने वाला तथा असुरों के अनुकूल विचित्र भयानक है :—"उस (सिहासन) पर एक बाघम्बर बिछा था, जिसमें बाघ का विकराल मुख खुला दीख रहा था, और उसकी बड़ी-बड़ी दाढ़ें चमक रही थीं। उसी पर शाम्बर पद्मासन से बैठा था। उसका शरीर बहुत विशाल था। रंग अत्यंत काला। अवस्था का पता नही चलता था। परन्तु अंग अत्यन्त दृढ़ था, कण्ठ में मुक्ताओं और मूंगों की कई छोटी-बड़ी मालाएँ पड़ी थी। भुजबंद में स्वर्ण-मण्डित सूअर के दाँत मढ़े थे। सिर खुला हुआ था। उसके बाल कुछ-कुछ लाल, घुंघराले और खूब घने थे। उन पर स्वर्ण पट्ट में जड़े किसी पशु के दो पैने सींग मढ़े हुए थे। मुंह भारी और रुआबदार था। उस पर खिचड़ी गुलमुच्छा

१. पृ० २७३, ४६१-६२, ५०४। २. पृ० ४७०-७१। ३. पृ० ७५।

था। मस्तक पर रक्त चन्दन का लेप था। सम्पूर्ण वक्ष स्वर्ण की ढाल जैसे किसी आभूषण से छिपा था।"[1]

श्रोत्रीय ब्राह्मणों के बहिरंग चित्रण में भी लेखक की घृणा-वृत्ति व्यक्त हो गई है। आश्वलायन की 'मिचमिची आँखें', 'गंजी खोपड़ी', तथा 'कुत्सित गंदे दाँत' हैं।[2] प्रायः सभी नारी पात्र सुन्दर हैं। उनकी शृंगार सामग्री और वेशभूषा तात्कालिक प्रभाव उत्पन्न करती है।[3] फिर भी, विभिन्न नारी पात्रों में नख-शिख की भेदक रेखाएँ चित्रित नहीं की गईं। एक स्थान पर पात्रों की बाह्य सज्जा का कथागत उपयोग भी हुआ है—वैशाली का गुप्तचर भद्र नन्दिनी वेश्या का अभिनय करने वाली कुण्डनी को पहचानने में प्रहारियों के मागध व्रात्यों के नोकदार शिरस्त्राण को देख लेता है।[4]

शास्त्री जी ने पात्रों के अनुभावों का भी यत्किंचित् चित्रण किया है। इससे उन्हें पात्रों के आंतरिक भावों की व्यंजना में सहायता मिली है। अम्बापाली जब अपनी इच्छा और विचारों के विरुद्ध वृद्ध गणपति को—वैशाली को बचाने की भीख माँगने पर—अपने नगरवधू बनने की स्वीकृति देती है, तो उसके फूले नथुने एवं हाथ की बँधी मुट्ठियाँ उसकी उस ज़ोर-ज़बरदस्ती को व्यक्त करती हैं, जो उसे अपने साथ करनी पड़ी तथा अन्त में उसका फूट-फूट कर रोना उस शोक को परिव्यक्त करता है, जो उसे अपने नारीत्व के अमूल्य धन को खोने से हुआ।[5]

पात्र बहिर्मुखी हैं। उनके कथन और व्यवहार में अन्तर नहीं, अतएव उनका चरित्र उनकी क्रिया-प्रतिक्रियाओं में व्यक्त है। सोमप्रभ इसका सजग प्रमाण है। उसकी वीरता, कर्तव्यपरायणता, मानवता, आदि गुण उसके कार्यों से प्रमाणित हैं।

'वैशाली की नगरवधू' में वर्णन के साथ समुचित मात्रा में संवाद-योजना भी हुई है। अनेक परिच्छेदों का संवादात्मक नाटकीय आरम्भ हुआ है।[6] ये संवाद प्रायः पात्र-परिस्थिति के अनुकूल हैं, अतएव शील-प्रकाशक तथा सुन्दर हैं। आचार्य शाम्बव्य और राजनीतिज्ञ वर्षकार के कथनों में उनके स्वभाव की निर्द्वन्द्व दृढ़ता, दूसरे पर छा जाने की शक्ति एवं काम लेने की कुशलता मिलती है और सोम के कथनों में एक शूर, मानवतावादी, सहृदय तरुण की समयानुसार ओजस्विता, आर्द्रता तथा दृढ़ता। गौतम बुद्ध के कथनों में 'प्रवचनात्मक गम्भीरता तथा संस्कृतनिष्ठ विशिष्टता है'। अम्बापाली के कथनों में उसके चरित्र वैशिष्ट्य एवं प्रसंगानुसार वेश्या की वाक्पटुता, क्रांतिकारिणी की व्यंग्य-पटुता, बुद्धिशीला-कुशला का प्रत्युत्पन्न मतित्व तथा विनीत प्रेमिका की हार्दिकता मिलती है। ये संवाद तात्कालिक वातावरण के उपयुक्त हैं—

---

१. पृ० १८५। २. 'ज्ञातिपुत्र सिंह' परिच्छेद। ३. पृ० ६४-६५, १२२। ४. पृ० ५४५। ५. पृ० ३४-३५। ६. पृ० २६५।

विचित्र सम्बोधन इसका प्रमाण हैं। संवादों में, प्रवचनात्मक या प्रचारात्मक स्थलों[१] को छोड़कर प्रायः लघुता मिलती है। कुण्डनी और सोम की आपसी वार्ता में चारित्रिकता के अतिरिक्त लघुता, चुस्ती तथा गत्यात्मकता विशेष रूप से मिलती है।[२] कथनों के साथ पात्रों के अनुभावों के संक्षिप्त उल्लेख से संवादों की स्वाभाविकता बढ़ गई है। एक रंजक तथा सार्थक संवाद का उदाहरण द्रष्टव्य है :—

अम्बापाली ने अपने कक्ष में सम्राट् को आमन्त्रित किया।.. उन्हें उच्च पीठ पर बिठा कर कहा—"तो क्या मैं आशा करूं कि सम्राट ने मेरा अपराध क्षमा कर दिया ?"

'कौन सा अपराध ? पहले अभियोग उपस्थित होना चाहिए।'

अम्बापाली ने मन्द स्मित करके कहा :—

'गुरुतर अपराध सम्राट् ! मैंने सम्राट् के लिए व्यवस्थित कक्ष और अभ्यर्थना का अपहरण जो किया।'

'यह अपराध तो बहुत ही प्रिय और सुखद है देवी अम्बापाली ! मैं चाहता हूँ मेरे जीवन के पल-पल में देवी यह अपराध करें।'

'देव, क्या ऐसी ही भावुकता से न्याय-विचार करते हैं ?'

'यदि अभियुक्त कोमल कविकल्पना की सजीव प्रतिमूर्ति हो तो फिर सम्राट् क्या और वधिक क्या, उसे भावुक बनना ही पड़ेगा।'

'देव, यह तो मगध सम्राट् की वाणी नहीं हैं।'

'सत्य है देवी अम्बापाली, यह एक आतुर प्रणयी का आत्म-निवेदन है।'

'सम्राट् की जय हो, देव राजमहिषी के प्रति अन्याय कर रहे हैं।'

'देवी अम्बापाली प्रसन्न हों, वे सम्राट के साथ अन्याय कर रही हैं।'

'किस प्रकार देव ?'

'वहाँ खड़ी रह कर। यहाँ पास आकर बैठो, एक तथ्य सुनो प्रिये।'[३]

और बुद्ध की यह वाणी अपने-आप में कितनी पृथक हो गई है—"मैं सर्वजय और सर्वज्ञ हूं, निर्लेप हूं, सर्वत्यागी हूं,तृष्णा के क्षय से मुक्त हूँ। मेरा गुरू नहीं है। मैं अर्हत् हूं, मैं सम्यक्, सम्बुद्ध, शांति तथा निर्वाण को प्राप्त हूँ। मैं धर्मचक्र प्रवर्तन के लिए काशियों के नगर में जा रहा हूँ।"[४]

'वैशाली की नगरवधू' की भाषा-शैली में प्रसंगानुसार परिवर्तन तथा नूतन गम्भीर विषयों के प्रतिपादन की क्षमता है। साधारण वर्णनों की भाषा सरल है। प्रवचनों की भाषा बौद्ध-धर्म-सम्बन्धी शब्दावली से युक्त विशेष संस्कृतगर्भित तथा रूप-चित्रण, वैभव-वर्णन आदि की भाषा स्निग्ध आलंकारिक है। वैज्ञानिक विषयों के

---

१. पृ० १६२-६५। २. पृ० २७४-७५। ३. पृ० २५६। ४. पृ० ४८।

निर्वाह में भी वह समर्थ है।'[1] पुराकालीन शब्दों के बहुल प्रयोग से उसमें तात्कालिक वातावरण-विधान की अद्‌भुत क्षमता आ गई है। इन शब्दों के प्रयोग से यह कठिन अवश्य हो गई है। अतएव 'दिव्या' की तरह अप्रचलित शब्दों के अर्थ देना लेखक को वांछित था। यह उल्लेखनीय है कि उपर्युक्त सभी विशेषताओं के निर्वाह में भाषा का प्रवाह बना रहा है। इसके अतिरिक्त लेखक में वर्णन-कुशलता भी है। आगे इन विशेषताओं के कुछ उदाहरण लीजिए—

बौद्धधर्म के प्रसंगों की भाषा :—"उन्हें भगवान ने धार्मिक कथा द्वारा संदर्शित समादर्पित. समुत्तेजित, सम्प्रहर्षित किया।"[2]

ऐतिहासिक वातावरण-विधायिनी अप्रचलित शब्दों से युक्त कठिन-भाषा—"कुण्डनी ने अब द्रुतगति से एक हर्म्य की ओर पग बढ़ाया उस अट्टालिका में घुस गई। वह अनेक अलिन्द, कुट्टिम वीथियाँ, कोष्ठक, परिवेण, वातायन और मिसिका पार करते हुए उस घर में पहुँची जहाँ चक्कलिका के भीतर राजनन्दिनी अधोमुखी, निश्चल बैठी थीं।.. घर के एक कोने में नातिदीर्घ आसन्दी पड़ी थी, उस पर दुग्ध फेन के समान प्रच्छदपट ढका था। उसी के निकट एक भद्रपीठ पर एक अष्ट पदक बिछा था, उसी पर सद्यःस्नाता राजनन्दिनी चुपचाप ध्यान-मुद्रा में मग्न बैठी थीं। उनके सामने एक वेदिका पर गन्ध, माल्य, चन्दन और नैवेद्य रखा था। एक छोटे से मणिपीठ पर सुगन्धित सिक्थपिटक और सौगन्धिक पुटिका रखी हुई थी। उनसे तनिक हटकर एक हिरण्यस्तवक में मातुलुंग की छाल और पान के अन्यान्य उपकरण रखे थे। आसन्दी के पादाधान की ओर रजत पतद्‌ग्रह रखा हुआ था। एक नागदन्त पर कुण्डमाल लटकी हुई थी।"[3]

रुपछटा की कोमल-आलंकारिक भाषा—"राजबाला के सम्पूर्ण शरीर से स्वच्छ कान्ति प्रस्फुटित हो रही थी। उसका सद्यःस्नात हिमधवल प्रभापुंज गात्र, शरत् कालीन मेघों से आच्छादित चन्द्रकला जैसा प्रतीत हो रहा था। वह मूर्तिमती स्वर्ग-मन्दाकिनी सी, शंख से खोद कर बनाई हुई दिव्य प्रतिमा सी प्रतीत हो रही थी। जैसे अभी-अभी विधाता ने उसे चन्द्रकिरणों के चूर्ण कूर्त्तक से धोकर, रजतरस से आप्लावित करके, सिन्धुवार के पुष्पों की धवल कान्ति से सजा कर वहाँ बैठाया हो।"[4]

वैज्ञानिका विषयों की अभिव्यक्ति तथा सरल किन्तु समर्थ भाषा-शैली के उदाहरण पहले विभिन्न प्रसंगों में आ चुके हैं।

अन्त में, शास्त्री जी की व्याख्यानुसार न तो 'इतिहास-रस' को दसवाँ रस कहना संगत है, और न ही उनकी रचना 'वैशाली की नगरवधू' से यह प्रमाणित हो सका है। अधिक-से-अधिक यह ऐतिहासिक रोमांस है, 'इतिहास-रस' का उपन्यास

१. 'कीमियागर गौड़पाद' परिच्छेद। २. पृ० ७६२।
३. पृ० ३८६। ४. पृ० ३८६।

नहीं । यह घटना-प्रधान है, भाव-प्रधान नहीं—इसमें (पर्याप्त) रोचकता है, रागात्मकता नहीं । ऐतिहासिक उपन्यास के नाते, यह गुणों की बजाय दोषों का अधिक निदर्शक है ।

बाणभट्ट की 'आत्मकथा'

हजारीप्रसाद द्विवेदी ने अपने उपन्यास "बाणभट्ट की 'आत्मकथा' (१९४६) द्वारा हिन्दी के ऐतिहासिक उपन्यासों में अपना विशिष्ट स्थान बना लिया है । औपन्यासिक कौशल के साधन के रूप में, उपन्यासारम्भ से पूर्व 'कथामुख' तथा बाद में 'उपसंहार' लिखा गया है । इन सबको मिलाकर यह ३१ पृष्ठों का मध्यमकाय उपन्यास है । 'उपसंहार' में द्विवेदी जी ने अपनी 'ऐतिहासिक दृष्टि' के समर्थन में लिखा है—"छोटी-मोटी असंगतियाँ चाहे निकल आवें पर अधिकांश में उपलब्ध ऐतिहासिक सामग्री से गाथा की सामग्री का कोई विरोध नहीं है"। केवल एक को छोड़कर शेष सभी आलोचकों ने इसे ऐतिहासिक उपन्यासों में स्थान दिया है । इस आलोचक ने 'आत्मकथा' को 'ऐतिहासिक उपन्यास' नामक वर्ग में रखते हुए इसे 'शुद्ध साहित्यिक उपन्यास' कहा है,[२] किन्तु इसके लिए कोई तर्क नहीं दिया द्विवेदी जी ने भी 'उपसंहार' में इसे 'अभिनव प्रयोग[३] लिखा है—और बाण की आत्मकथा की सत्यता प्रमाणित करने की सफल भ्रमोत्पति में प्रायोगित नव्यता है भी किन्तु इससे 'आत्मकथा' की ऐतिहासिकता में कोई अन्तर नहीं आता; क्योंकि यह ऐतिहासिक उपन्यासों के अन्तर्गत अभिनव प्रयोग माना जा सकता है । यद्यपि इसमें इतिहास की तिथियों, विशेष ऐतिहासिक घटनाओं आदि का आश्रय नहीं लिया गया तथा ऐतिहासिक पात्र भी स्वल्प हैं, किन्तु तत्कालीन वातावरण के निर्माण पर लेखक की सजग दृष्टि रही है, अतएव इसे ऐतिहासिक उपन्यासों के वर्ग में रखने पर आपत्ति नहीं की जा सकती । अधिक-से-अधिक इसे कल्पना-प्रधान ऐतिहासिक उपन्यासों में नया प्रयोग माना जा सकता है ।

इस उपन्यास में इस के नाम से प्रवेश करते ही इसकी शैल्पिक नव्यता का बोध हो जाता है । 'बाणभट्ट की 'आत्मकथा'' में बाणभट्ट की कथा है, जिसे द्विवेदी जी ने रचा है—वैचित्र्य स्पष्ट है कि किसी की जीवनी लिखते हुए भी नाम दिया गया है 'आत्मकथा' । इसी में लेखक का उद्देश्य निहित है—उसे तत्कालीन इतिहास की पृष्ठभूमि में बाणभट्ट के साहित्यिक कृतित्व की ऐसी सजीव-समृद्ध ए

१. पृ० ३०६ । २. डॉ० गणेशन : "हिन्दी उपन्यास साहित्य का अध्ययन", पृ० ८७
३. पृ० ३०८ ।

यथातथ्याभासी अवगति देनी है, जो उसकी प्रामाणिक आत्मकथा होने का भ्रमोत्पन्न कर सके। इस लक्ष्य-सिद्धि में लेखक का पहला कौशल इस रचना के नामकरण में है। "बाणभट्ट की 'आत्मकथा" नाम विषय-बोधक, शिल्पाधार, तथा औत्सुक्य-वर्धक है। एक तो बाण की ऐतिहासिक या साहित्यिक ख्याति इस रचना को पढ़ने के लिए पाठक को उत्सुक कर सकती है। दूसरे, इससे यह स्पष्ट होता है कि बाण ही इसका लेखक, बाण ही इसका नायक तथा बाण ही इसका विषय है; किन्तु संस्कृत साहित्य का विद्यार्थी जानता है कि बाणभट्ट ने ऐसी कोई पुस्तक नहीं लिखी। यही नहीं, संस्कृत साहित्य में आत्मकथा लिखने की परम्परा मिलती ही नहीं; परन्तु "हर्षचरित" के प्रथम तीन उच्छ्वासों और 'कादम्बरी' के आरम्भ में बाण ने आत्मकथा एवं आत्मवंशपरिचय विस्तार से लिख दिया है"।[1] अतएव संस्कृत-साहित्य से भिन्न पाठक का अवधान इस ओर दौड़ सकता है कि स्यात् बाणभट्ट की खोयी हुई आत्मकथा का पता मिल गया हो। इस तरह पाठक की इस अभिनव कृति या नए अनुसंधान के प्रति औत्सुक्योद्‌बुद्धि और भी स्वाभाविक है। इस नामकरण पर मुहर लगाने के लिए, मानों पाठकों को आत्मकथा की सचाई का सफल भुलावा देने के लिए द्विवेदी जी ने 'कथा मुख' तथा उसका पूरक 'उपसंहार' लिखा है। जैसे राहुल जी ने 'सिंह सेनापति' (१९४२) की भूमिका में यह स्पष्ट किया है कि उनकी यह पुस्तक छपरा की खुदाई में प्राप्त ईंटों पर लिखी सेनापति सिंह की पुस्तक का अनुवाद भर है—और पाठकों को यदि उनकी सच्चाई पर सन्देह है, तो वे उन सोलह सौ ईटों को पटना म्यूज़ियम में देख सकते हैं[2]—वैसे ही द्विवेदी जी स्पष्ट करते हैं—"आगे जो कथा दी हुई है वह दीदी (आस्ट्रिया की मिस कैथराइन को खोज में प्राप्त बाण की आत्मकथा) का (हिन्दी-) अनुवाद है और फुटनोट में जो पुस्तकों के हवाले दिये हुए हैं, वे मेरे है। कथा ही असल में महत्वपूर्ण है, टिप्पणियाँ तो उसकी प्रामाणिकता के सबूत हैं"।[3] एक ईमानदार साहित्यकार की भाँति जहाँ उपर्युक्त टिप्पणियाँ लेखक के वर्णनाधारों को स्पष्ट करती हैं, वहाँ 'आत्मकथा' की प्रमाणिकता की सफल प्रत्ययोत्पत्ति भी कराती हैं। ये टिप्पणियाँ बाण की कृतियों के अतिरिक्त उनके समसामयिक या कुछ पहले के अन्य ग्रंथों पर आधृत हैं। ये टिप्पणियाँ तथा 'कथामुख' एवं 'उपसंहार' का कौशल व्यर्थ जाता, यदि द्विवेदी जी 'आत्मकथा' को बाण की अन्य कृतियों के गुण-दोषों का प्रतिनिधि न बनाते। तात्पर्य यह है कि 'आत्मकथा' को प्रामाणिक बनाने के 'साहित्यक छल' के मूल उद्देश्य को यदि दृष्टि में न रखा जाए, तो इस उपन्यास के अनेक गुण, दोषों की श्रेणी में आ जाएंगे।

१. वाचस्पति गैरोला : "संस्कृत साहित्य का इतिहास", पृ० ९३२।
२. "सिंह सेनापति" की "भूमिका"। ३. पृ० ९।

ऐसी ही एक गलती एक आलोचक कर बैठे है। वह लिखते हैं—"आत्मकथा की बड़ी निर्बलता है इसकी कथानक। आत्मकथा में कहानी की गति तीव्र नहीं है। उपन्यास की यह विशेषता उसे उपन्यास नाम देती है। आत्मकथा की वर्णन-प्रचुरता कहानी-कामिनी का गला इधर-उधर दबोच बैठती है। पृष्ठ १३१ से १३४ तक ४ पृष्ठों में 'समाज' का ही वर्णन है। नृत्य का अवसर आया तो कहानी लंगड़ा कर बैठ गई। द्विवेदी जी का मन कथा से अधिक वर्णनों पर आसक्त है। ठीक भी है। द्विवेदी जी कहानीकार हैं भी नहीं, इस कारण जहाँ भी वर्णन का अवसर प्राप्त हुआ वे जमकर बैठ जाते हैं।"[1] निस्सन्देह 'आत्मकथा' के कथानक की सहज गति में वर्णन-मोह व्याघातक है, पर इसलिए नहीं कि द्विवेदी जी कहानीकार नहीं, प्रत्युत् उन्हें ऐसी आत्मकथा लिखनी थी, जो बाणभट्ट के गुणों के साथ दोषों—सम्पूर्ण साहित्यिक विशेषताओं—का भी निर्वाह कर सके। रस-निरपेक्ष आलंकारिक चमत्कार तथा वाग्वैदग्ध्य बाणभट्ट की एक मुख्य विशेषता है। 'कादम्बरी' के अनेक स्थल ऐसे हैं, जहाँ रमणीयता नहीं, चमत्कार है; रस-प्रवाह नहीं, वाणी-आवर्त हैं। दूसरे, बाण की वर्णन-रुचि में समदर्शिता है—वह नायक-नायिका के सौन्दर्य-वर्णन में जितनी उत्प्रेक्षाएँ जुटा सकता है, उतनी ही किसी गौण स्थान या वस्तु के वर्णन में भी। वस्तुतः बाणभट्ट ने पाण्डित्य-प्रदर्शन की अपेक्षा कथा तथा कथा-गति पर बहुत कम दृष्टि रखी है। यही नहीं, काव्य-मोह ने कथा-रस को गम्भीर क्षति पहुँचायी है।[2] 'आत्मकथा' भी बाण की इसी रुचि-प्रवृत्ति को प्रतिफलित करती है, किन्तु 'कादम्बरी' की अपेक्षा यहाँ कथा-विन्यास, कथा-गति तथा कथा-सौष्ठव पर बहुत अधिक दृष्टि रखी गई है।

इस उपन्यास के वास्तविक उद्देश्य से अनभिज्ञ आलोचक इसकी कथा को लेकर एक और आक्षेप भी कर सकते है—कथा अपूर्ण या अधूरी है। वस्तुतः यह भी 'आत्मकथा' की कमी नहीं, कौशल है; ऐसा कौशल जो बाणभट्ट की उस प्रसिद्ध साहित्यिक विडम्बना को स्पष्ट करता है कि बाणभट्ट की सभी रचनाएँ अपूर्ण हैं। इसलिए द्विवेदी जी ने लिखा है—"ध्यान देने की बात यह है कि बाणभट्ट की अन्यान्य पुस्तकों की भाँति यह आत्मकथा भी अपूर्ण है"।[3] फिर भी लेखक ने मात्र इतिहास के बाह्य तथ्य के आधार पर ही कथा भी अपूर्ण समाप्ति नहीं की, प्रत्युत् कथा के अन्त का पूर्वाभास देने के लिए उसे बाणभट्ट के चरित्र-दौर्बल्य के साथ सम्बद्ध कर संगति दे दी है; 'आत्मकथा' में बाण कहता है—"(यद्यपि मैं योजना बनाकर कोई कार्य नहीं कर पाता—और यही कारण है कि मैं कोई भी पुस्तक

१. डॉ० गोपीनाथ तिवारी : "ऐतिहासिक उपन्यास और उपन्यासकार", पृ० २०६।
२. पूर्वोद्धृत डॉ० डे तथा वाचस्पति गैरोला का मत। ३. पृ० ६।

समाप्त नहीं कर सका—पर निश्चय करने में बिल्कुल देर नहीं करता)" ।[1] द्विवेदी जी के तर्क और कौशल को स्वीकार करते हुए भी, 'आत्मकथा' के कथानक की अपूर्णता के सम्बन्ध में डॉ० देवराज का निम्नस्थ मत निराधार नहीं है—'कथा अपूर्ण रह जाती है, अपनी परिणति की ओर नहीं बढ़ पाती, इसका एक कारण लेखक का अनावश्यक नैतिक संयम अथवा साहित्यिक साहसहीनता भी है। लेखक मानो अपनी वाणी पर एक विशेष प्रकार का प्रतिबन्ध या प्रनिरोध लगाकर लिख रहा हो। लेखक ने स्वयं इसे स्वीकार किया है—"इस कथा में सर्वत्र प्रेम की व्यंजना गूढ़ और अदृप्त भाव से प्रकट हुई है"। ऐसा जान पड़ता है कि एक स्त्रीजनोचित लज्जा सर्वत्र उस अभिव्यक्ति में बाधा दे रही है'।[2] इस बात में 'आत्मकथा' पूर्णतया बाणभट्ट के अनुरूप नहीं है।[3] वस्तुतः डॉ० साहब जिसे 'साहसहीनता' कहते हैं, वही द्विवेदी जी का व्यक्तित्व है और उपन्यास में उपन्यासकार के वैयक्तिक दृष्टिकोण की अनिवार्यता उनके उपन्यासालोचन का विशेष सिद्धान्त है।[4] इसके अतिरिक्त द्विवेदी जी का तर्क भी उल्लेखनीय है—"कथा का जिस ढंग से आरम्भ हुआ है उसकी स्वाभाविक परिणति गूढ़ और अदृप्त प्रेम में ही हो सकती है"।[5] निस्सन्देह 'आत्मकथा' में प्रेम का उदय भी प्रच्छन्न-अन्तर्भुक्त है, अतएव प्रेम का अन्त भी अदृप्त-उन्नयित—आत्मविसर्जन में उसकी पूर्णता है तथा नरलोक से किन्नर लोक तक एक ही रागात्मक हृदय की विस्तार-संकल्पना में उसका प्रर्युत्थान।

• द्विवेदी जी ने बाण की रचनाओं और 'आत्मकथा' में एक अन्य अन्तर को भी स्पष्ट किया है—"..कादम्बरी में प्रेम के जिन शारीरिक विकारों—अनुभावों का, हावों का, अयत्नज अलंकारों का प्राचर्य है, उनके स्थान में कथा में मानस-विकारों का—लज्जा, अवहित्था, जड़िमा का—अधिक प्राचुर्य है। यह बात भी मुझे खटकने वाली लगी..।"[6] वस्तुतः यह अन्तर प्रेम की चर्चित धारणा का सहज प्रतिफल है। उपर्युक्त वक्तव्य से लेखक का कौशल भी संकेतित है। उसने अपने व्यक्तित्व के कारण 'आत्मकथा' में बाण की रचनाओं से आए अन्तर को खटकने वाला कहकर आत्मकथा की प्रामाणिकता को कम नहीं किया, प्रत्युत् आत्मकथा की प्रामाणिकता की सम्यक् परीक्षा का विश्वासोत्पन्न कर उसे रेखांकित किया है।

बाह्य रूपरेखा की दृष्टि से भी आत्मकथा को संस्कृत कथा-'आख्यायिका'[7] के अनुरूप बनाने का प्रयास लक्षित होता है। यद्यपि 'कथामुख' तथा 'उपसंहार' द्विवेदी

---

१. पृ० ५। २. पृ० ३०५। ३. "आधुनिक समीक्षा", पृ० १४८।
४. डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी : "आधुनिक हिन्दी साहित्य पर विचार", पृ० १०६।
५. पृ० ३०५। ६. पृ० ३०६।
७. पृ० २४६। इस उपन्यास के संयोग-वैचित्र्य पर स्वयं बाण की टिप्पणी।

जी-लिखित हैं, फिर भी उन्होंने 'भूमिका' आदि के स्थान पर उपर्युक्त शब्दों का ग्रहण उपर्युक्त लक्ष्यानुसार ही किया है। कथानक का उच्छ्वासों में विभाजन, "अथ वाण की 'आत्मकथा" लिख्यते' तथा वंदना से कथारम्भ भी तदानुरूपता के द्योतक हैं। "आख्यायिका में नायक ही स्वयं वक्ता होता है। इस दृष्टि से आख्यायिका एक प्रकार से आत्मकथा के अन्तर्गत आ जाती है"[१]—यही "बाणभट्ट की 'आत्मकथा" में है। दूसरे, "कथा का विषय अपहरण, युद्ध, वियोग तथा प्रकृति-वर्णन से संबद्ध रहता है"[२] और 'आत्मकथा' मे ये सभी है।

ऐतिहासिकता 'आत्मकथा' की प्रामाणिकता-प्रतीति में और भी सहायक रही है—सामान्य रूप से भी और इसलिए भी कि "आख्यायिका में ऐतिहासिक सच्चाइयों का स्पष्टीकरण रहता है"।[३] 'आत्मकथा' में बाण के जीवन के साथ उसका युग भी साकार हो गया है। यह शंका हो सकती है कि वास्तविक बाण का जीवन इतनी बहुविध परिस्थितियों में व्यतीत हुआ या नहीं, किन्तु 'आत्मकथा' के वाणभट्ट में, प्रायः उसकी जीवन-गति के क्रम में, इनका समावेश सहज सम्भव हो सका है। बाणभट्ट, श्री हर्षदेव, कुमार कृष्ण वर्धन, घावक, राज्यश्री तथा भर्वुपाद ऐतिहासिक पात्र हैं। इनके अतिरिक्त इतिहास-प्रसिद्ध देवपुत्र तुवर मिलिन्द का यद्यपि प्रत्यक्ष रूप में कहीं आगमन नहीं हुआ, किन्तु भारत पर आसन्न संकट के रक्षक-रूप में उसका विभिन्न पात्रों से बार-बार इतना स्मरण[४] हुआ है कि वह प्रत्यक्ष पात्र बन गया है—अनेक पात्रों का उसी के प्रभाव में कार्य निर्धारित होता रहा है। 'आत्मकथा' में बाण की जीवनी मुख्यतः लेखक की विदग्ध कल्पना का परिणाम है, किन्तु उसकी रचनाओं—'कादम्बरी' तथा 'हर्षचरित'—में वर्णित-संकेतित तथ्य ही इसका आधार हैं। इसलिए बाण-जीवन के कुछ इतिहास-सम्मत प्रसंगों का समावेश भी 'आत्मकथा' में हुआ है; इन प्रसंगों में कुछ ये हैं—वाण का गृह-त्याग कर भटकते फिरना; कुमार कृष्ण के आमन्त्रण पर बाण की श्री हर्ष की राज्यसभा में उपस्थिति; वहाँ हर्ष द्वारा उसका अपमान, बाण का तज्जनित मनस्ताप तथा अपने वंश गौरव का बखान, बाद में हर्ष द्वारा सम्मानित किया जाना इत्यादि। लेखक की कुशलता इसमें है कि उपर्युक्त प्रसंगों को हर्षकालीन राजनीतिक गति-विधि के संदर्भ में चित्रित कर दिया गया है। वस्तुतः इतिहास-प्रसिद्ध तुवरमिलिंद की लड़की के रूप में उपन्यास की प्रमुख पात्री भट्टिनी की कल्पना, उसके उद्धार-प्रयत्न में बाण का नियोजन, बाद में उसके अन्तरंगी-रूप में बाण के चित्रण तथा भट्टिनी के प्रश्न को विदेशी आक्रांताओं, प्रत्यन्त दस्युओं, से भारत को बचाने के प्रश्न से सम्बद्ध कर देने से तत्कालीन राजनीतिक-सामाजिक तथा

१. वाचस्पति गैरोला : "संस्कृत साहित्य का इतिहास", पृ० ६२६।
२. वही। ३. वही। ४. पृ० ६०, ६३, १०५, १०६, १५३-५५।

धार्मिक-सांस्कृतिक जीवन का पर्याप्त अंकन हो सका है। महाराजाधिराज हर्षदेव के के गुणों के आधार पर भी कुछ परिस्थितियों का समाहार हो सका है। वह स्वयं कलाकार था और विद्वानों का आदर करता था।[१] 'आत्मकथा' में उसके नाटक 'रत्नावली' के अभिनय का मुख्य कथानक में अत्यन्त सार्थक विनियोग हो सका है। बाणभट्ट के राजदरबार में जाने से राजदरबार के शिष्टाचारों का वर्णन हो सका है। उसके आश्रय में पलने वाले छोटे रजवाड़ों के अन्तःपुरों में पलने वाली अनैतिकता का चित्रण हुआ है। हर्ष का धर्म-परिवर्तन, धार्मिक उदारता तथा उसका धर्मगुरुओं के शास्त्रार्थ सुनने का शौक प्रसिद्ध है और इनका भी 'आत्मकथा' के धार्मिक वातावरण में उपयोग हुआ है।[२] यद्यपि बहुविध परिस्थितियों—विशेषतया धार्मिक परिस्थितियों—के प्रतिरूपण के लिए लेखक को मुख्य कथानक से इतर भी किन्हीं प्रसंगों की सर्जना करनी पड़ी है, किन्तु मुख्य कथानक से इनको भली-भाँति विन्यस्त कर दिया गया है और उपन्यास के कुछ उद्देश्यों से सम्बद्ध भी। (स्पष्टीकरण अन्यत्र हो जाएगा) लेखक के अनुसार—"विशेष लक्ष्य करने की बात है इस कथा के भौगोलिक स्थान। स्थाण्वीश्वर और चरणाद्रि दुर्ग (चुनार) का नाममात्र का उल्लेख है, परन्तु भद्रेश्वर दुर्ग और उसके सभी परवर्ती स्थानों का कुछ अधिक वर्णन है, जो काफ़ी संकेतपूर्ण है"।[४]

साहित्य में समसामयिक देशकाल जाने-अनजाने प्रतिबिम्बित हो उठता है। अतएव तात्कालिक वातावरण के चित्रण में द्विवेदी जी ने बाण की जीवनी के लिए पर्याप्त उसके ग्रंथों के अतिरिक्त अन्य आस-पास के साहित्य-ग्रंथों का भी प्रचुर आश्रय लिया है और उनका 'आत्मकथा' की प्रामाणिकता के सबूत के रूप में उल्लेख भी कर दिया है। इनमें प्रमुख हैं—रत्नावली, मृच्छकटिक, रघुवंश, विक्रमोर्वशीय, कुमारसंभव भागवत, कामसूत्र आदि। द्विवेदी जी के अनेक वर्णन एवं चित्रण इन्हीं ग्रन्थों से अनूदित अथवा छायानूदित हैं, किन्तु कथा-प्रवाह के भीतर आने से तथा भाषा-शैली के समान उन्नत स्तर के कारण इनमें मौलिकता का आभास मिलता रहता है। इन ग्रंथों के आश्रय से तत्कालीन उत्सवों, अन्तःपुर की मदोन्मत्त नारियों, नृत्यों, गृहों, राजदरबारों, जुलूसों, विध्वंस-लीलाओं, साज-शृंगारादि के ऐसे यथार्थ चित्रण हुए हैं कि तत्कालीन वातावरण का सजीव पुनर्निर्माण हो गया है। लेखक ने तत्कालीन वातावरण के उपयुक्त संस्कृत-बहुल भाषा का अवलम्बन लिया है और बाण की प्रवृत्यानुकूल समासगुम्फित पद-वल्लरियों का चमत्कार प्रदर्शित किया है। इसके अतिरिक्त प्राचीनता का सहजाभास देने वाली अप्रचलित शब्दावली का भी प्रचुर

१. वाचस्पति गैरोला : "संस्कृत साहित्य का इतिहास", पृ० ५८१।
२. पृ० ३०६।
३. वाचस्पति गैरोला : "संस्कृत साहित्य का इतिहास", पृ० ५८०-८१।

प्रयोग किया है; यथा—प्रच्छदपट (चादर), सिकट-करण्डक (मोमबती की पिटारी), तिरष्करणी (परदा), दीर्घिका (तालाब), अंशुकान्त (आँचल), कुट्टिम (फ़र्श), धारा-यन्त्रों (फव्वारों), कलकांस्य और कोशी (कांसे का दण्ड और जाड़ी), शृंक (पिचकारी), सिक्थक (मोम), आलक्तक (महावर), उपधान (तकिया) नागदन्त (खूंटी), सौगन्धिक पुटकिा (इत्रदान), पतद्ग्रह (पीकदान)।

निम्न नृत्य के वर्णन मात्र से, प्राचीनता या [illegible] के काल का ज्ञान हो जाता है—"स्थान-स्थान पर पण्य-विलासिनियों का नृत्य हो रहा था। मन्द-मन्द भाव से आस्फाल्मान आलिंग्यक नामक वाद्य से, मधुर शिंजनकारी मंजुल वेणु-नाद से झनझनाती हुई झल्लरी की ध्वनि से, कलकाँस्य और कोशी (काँसे का दण्ड और जोड़ी) के मनोरम क्वणन से, साथ-साथ दिए जाने वाले उत्ताल ताल से, निरन्तर ताड़न पाते हुए तन्त्रीपटह की गुंजार से और मृदु-मन्द झंकार के साथ झंकृत अलाबुवीणा की मनोरम ध्वनि से नृत्य जितने ही आकर्षक थे, उतने ही अश्लील..।"[1] इस प्रकार वातावरण से भी यह उपन्यास बाणभट्ट की वास्तविक आत्मकथा का भ्रम उत्पन्न करने में सफल सिद्ध होता है।

'कादम्बरी' में बाणभट्ट का मन यत्र-तत्र प्रकृति के आलंकारिक वर्णन में रमा है। 'आत्मकथा' में भी बाण के प्रकृति-प्रेम को स्थान-स्थान पर प्रदर्शित किया गया है। प्रकृति-प्रेम में भी बाण के प्रकृति-माधुर्य को स्थान-स्थान पर प्रदर्शित किया गया है। प्रकृति-माधुर्य में बाण के उमड़ते-घुमड़ते मन को देखिए—"जब हमारी नौका इन पहाड़ियों के तलदेश से चलने लगती थी, तो मेरा चित्त छिन्न-रज्जु वृषभ की भाँति भाग पड़ता था और मदस्रावी गजयूथों, निर्झर-मुखर गिरिकन्दराओं, नीरन्ध्र नील निचुल..झुरमुटों में दौड़ पड़ता था.. एक बार जी में आया कि कूद पड़ूँ इस वनदेवताओं के आवास में, इस उन्मद मयूरों की विहारस्थली में, इस करेणु-सेवित कान्तार में, इस निर्झर-मुखर विन्ध्याटवी में।.. मैं बड़े उदास भाव में विन्ध्याटवी की ओर देख रहा था, क्योंकि उसमें धंस पड़ने को मैं स्वतन्त्र नहीं था।"[2] ऐसे स्वभाव वाले कथानायक बाण की 'आत्मकथा' में यदि प्रातःकाल, संध्या, विंध्याटवी, बसंत आदि के प्रचुर वर्णन हों, तो उसमें 'आत्मकथा' की स्वाभाविकता अवश्य है, चाहे कथा की गति कहीं-कहीं अवरुद्ध क्यों न हो जाए।

तात्कालिक देशकाल के साथ 'आत्मकथा' में आधुनिक देशकाल की भी प्रच्छन्न झलक है। और यह हमें इस रचना के उद्देश्य-तत्व के विनियोग-कौशल के निरीक्षण-परीक्षण की ओर प्रेरित करती है। विषय एवं शिल्प-कौशल से 'आत्मकथा' की सत्यता का विश्वसनीय भ्रमोत्पन्न करना द्विवेदी जी का लक्ष्य रहा है,

१. पृ० ६०। २. पृ० १२५।

किन्तु आत्मकथा-वक्ता बाण का जीवनादर्श इस 'आत्मकथा' का लक्ष्य हो गया है। बाण के प्रति द्विवेदी जी की आत्मीयता इतिहास की सीमाओं में उसके जीवनादर्शों को भी निर्धारित करती है, अतएव लेखक की परोक्ष आत्माभिव्यक्ति का माध्यम भी बन गई हैं और यह स्पष्ट ही अपने युग से प्रभावित है।

'आत्मकथा' में एक समस्या का क्रमबद्ध प्रतिपादन भी है और उसी नाते प्रचुर विचार-तत्व का समावेश भी। इन विचारों का समावेश इन अनेक विधियों से हुआ है--१. आख्याता बाण के सीधे विचार।[1] २. सामान्य चिन्तन तथा अन्तर्द्वन्द्वात्मक चिन्तन के रूप में।[2] ३. अनायोजित संवाद।[3] ४. शंका-समाधान के प्रश्नोत्तर क्रम द्वारा।[4] ५. व्याख्यानों द्वारा।[5] ६. गद्य में लिखे 'गीतों' के माध्यम से।[6] ७. पत्र द्वारा।[5] इनमें विचाराभिव्यक्ति के मुख्य माध्यम सामान्य चिन्तन, अन्तर्द्वन्द्व तथा अनायोजित संवाद हैं। और ये पात्रों के विभिन्न परिस्थितियों में पड़ने का परिणाम होने से कलात्मक साधन हैं—इन्हें पात्रों के हृदय का योग तथा घटनाओं का बल मिला है। यों तो ये विचार विविध विपयक हैं, किन्तु इनमें से अधिकांश इस उपन्यास की मूल नारी-समस्या से उद्‌बुद्ध हुए हैं। इससे इस 'आत्मकथा' में अद्‌भुत विपयैक्य आ गया है। वस्तुतः यहाँ नारी-समस्या ही नहीं, नारी-महिमा भी है: यहाँ नारी-समस्या की स्थूलतः से नारी-तत्व की सूक्ष्मता तक पहुँचा गया है, जिससे उद्देश्य में बहु व्यापकता तथा चिरन्तनता आ गई है। और यह व्यापकता अत्यंत क्रमिक रूप से आई है—ज्यों-ज्यों कथानक और पात्रों में विकास होता गया है, त्यों-त्यों उद्देश्य में सूक्ष्मता तथा व्यापकता आ गई है। आगे इस स्थापना की परीक्षा अपेक्षित है।

इस उपन्यास की मुख्य कथा संक्षेपतः एक अपहृता नारी को मुक्त करा उसके पिता तक पहुँचा देने में सीमित है। अतएव कथा का स्वरूप नारी-समस्या को अन्तर्भूत किए हुए है। इस नारी-उद्धार का कार्य करने वाले हैं कथानायक बाण तथा उसकी प्रिया निपुणिका। ये दोनों पात्र भी किसी बाह्य प्रेरणा या लेखक के आग्रह से इस महत् कार्य में नहीं कूदते। निपुणिका विवाह के एक वर्ष बाद ही हो जाने वाली विधवा है। विधवा-विवाह का चलन न होने से और स्यात् अननुकूल वातावरण के कारण उसे घर से भागना और आश्रय की खोज में भटकना पड़ा। फिर भी उसमें स्त्रियोचित गरिमा का निर्वाह किया गया है। उसके जीवन का अनुभूत्यात्मक निष्कर्ष-सूत्र नायक से ललकार कर पूछता है—"मेरी शपथ करके तुम सत्य-सत्य कहो, मेरा कौन-सा ऐसा पाप चरित्र है जिसके कारण मैं निदारुण दुःख की भट्ठी में आजीवन

१. पृ० ८।   २. पृ० ६४-६६, १४७, ११६, १७८-७६।
३. पृ० ६६-१००, १३६, १४६-५०।   ४. पृ० १७०-७३।
५. पृ० २४२, १६८-२०१।   ६. पृ० २६५-६७।

जलती रही ? क्या स्त्री होना ही मेरे सारे अनर्थों की जड़ नहीं है ?"[1] इस 'परिताप की ज्वलंत उल्का' बनी नारी यदि 'घायल की गति घायल जाने' के अनुसार एक छोटे राजकुल के अन्तःपुर में अपहृता सती नारी के 'दुःख-मोचन-यज्ञ' में स्वयं तथा नायक को होम जाने का आह्वान न करे, तो अस्वाभाविक होता। और नायक तो छुटपन से ही स्त्री का सम्मान करना जानता है—यह उसका सांस्कारिक स्वभाव है। वह कहता है—"साधारणतः जिन स्त्रियों को चंचल और कुल-भ्रष्टा माना जाता है, उनमें एक देवी शक्ति भी होती है, यह बात लोग भूल जाते हैं, मै नहीं भूलता। मैं स्त्री-शरीर को देव-मंदिर के समान पवित्र मानता हूँ। उस पर की गई अननुकूल टीकाओं को मैं सहन नही कर सकता।"[2] ऐसे स्वभाव के कारण पहले उसने निपुणिका को आश्रय दिया था और बाद में भट्टिनी को मुक्त किया। इन दो नारियों के अतिरिक्त उपन्यास में आई अन्य नारी पत्रियों के जीवन भी नारी-जीवन की विषम विडम्बना के प्रतीक हैं। सुचरिता, महामाया के पूर्वजीवन इसके प्रमाण हैं। इतने पात्रों की एक ही समस्या के संदर्भ में आवृत्ति, समस्या को व्यक्ति-विशेष से उठाकर सामान्य बनाने के लिए पर्याप्त है; फिर भी लेखक का इन पात्रियों को तत्कालीन समाज तथा सामंतीय विधान से पीड़ित नारी के प्रतिनिधि-रूप में चित्रित करने का विशेष आग्रह रहा है। इससे नारी की सामान्यीकृत विषमता एक परिपूर्ण समस्या के रूप में मूर्तिमान हो उठी है और इसका धरातल भी व्यापक होता गया है। नायक का यह चिंतन देखिए—"मैने एक भट्टिनी का उद्धार किया है सही; पर मुझे क्या मालूम है कि इस अन्तःपुर में और कितनी भट्टिनियाँ है। और ऐसे अन्तःपुरों की संख्या यहीं तो समाप्त नहीं हो जाती।"[3] भट्टिनी कुलीन है, किन्तु वह अपमानित-पीड़ित होकर स्वयं को 'सौ सौ मानवीयों की भाँति सामान्य नारी'[4] समझने पर बाध्य होती है। महामाया जनता को उद्बोद्धित करने के लिए कहती है—"मैं तुम्हारे देश की लाख-लाख अपमानित, लांछित और अकारण दण्डित बेटियों में से एक हूँ। कौन नहीं जानता कि इस घृणित व्यवसाय के प्रधान आश्रय सामन्तों और राजाओं के अन्तःपुर हैं ? आप में से किसे नहीं मालूम कि महाराजाधिराज की चामरधारिणियाँ और करंकवाहिनियाँ इसी प्रकार भगाई हुई और खरीदी हुई कन्याएँ हैं।"[5] इस तरह नारी-समस्या के कारणों के विश्लेषण में समस्या नारी से बढ़कर समाज-विधान की हो जाती है। महामाया के इस कथन में उसका पहले का अभिशप्त जीवन है। कथानायक बाण भी निपुणिका की दुर्दशा से यह चिंतन करता है—"सामान्य मनुष्य जिस कार्य के लिए लांछित होता है उसी कार्य के लिए बड़े लोग सम्मानित होते हैं। कैसा घोर परिवर्तन हुआ है निपुणिका में।.. क्या करेगी वह ? अकेला चना क्या

१. पृ० २४२ २. पृ० ८। ३. पृ० ६४। ४. पृ० १०६।
५. पृ० १६६।

भाड़ फोड़ सकता है ? समाज की अग्नि-शिखा तो नित्य ही व्यक्तियों की आहुति ले रही है, पर रास्ता क्या है ? नारी से बढ़कर अनमोल रत्न और क्या हो सकता है, पर उससे अधिक दुर्दशा किसकी हो रही है ?"

समाज-विधान के अतिरिक्त नारी-समस्या राष्ट्र-रक्षा से सम्बद्ध भी हो गई है। यदि बाण के विकट प्रयत्न सामान्य नारी के उद्धार-प्रयत्न में ही सीमित रह जाते, तो इस उद्देश्य में सम्पन्नता तथा गरिमा न आ पाती। निस्सन्देह उसने नारी-सामान्य की उद्धार-प्रेरणा से ही भट्टिनी को बचाया, किन्तु बाद में पता चला कि वह "देव मन्दिरों और विहारों के रक्षक, स्त्रियों और बालकों के मानदाता, ब्राह्मणों और श्रमणों की आश्रयभूमि 'विषम समर-विजयी, वाह्लीक-विमर्दन, प्रत्यन्त वाड़व अज्ञात प्रतिस्पर्द्धिविकट देवपुत्र तुवर मिलिन्द की कन्या है। राष्ट्र का यह कर्णाधार शोक-सागर में इसलिए विनिमग्न है क्योंकि उसकी प्राणाधिका कन्या को दस्युओं ने अज्ञात स्थान में पहुँचा दिया है। दूसरी ओर टिड्डियों से भी विपुल, भेड़ियों से भी क्रूर बहुरूपी हूण दस्युओं से भारतभूमि आक्रांत होने जा रही है। ऐसी अवस्था में एक-मात्र उपाय भट्टिनी को खोजकर उसके राष्ट्रवीर पिता के शोक को दूर करने में है"।[1] इससे बाण के विकट प्रयत्नों में सौंदर्य और गरिमा आ गई है तथा तात्कालिक बहुविध परिस्थितियाँ स्वयंमेव सिमट आई हैं। किन्तु लेखक की कुशलता इसमें है कि राष्ट्र-रक्षा के इस बृहत् सत्य में छोटे सत्यों की उपेक्षा नहीं हुई, मूल समस्या को आवृत नहीं किया गया। इसलिए उसकी नारियाँ व्यंग्य-गर्भित कथनों से झंझोड़ती रही हैं; महामाया कहती है—"इस उत्तरापथ में लाख-लाख निरीह बहुओं और बेटियों के अपहरण और विक्रय का व्यवसाय क्या नहीं चल रहा है ? अगर देवपुत्र तुवर मिलिंद का हृदय थोड़ा भी संवेदनशील होता, तो आज से बहुत पहले उन्हें मूर्च्छित होकर गिर पड़ना था। क्या निरीह प्रजा की बेटियाँ उनकी नयन-तारा नहीं हुआ करतीं ? क्या राजा और सेनापति की बेटियों का खो जाना ही संसार की दुर्घटनाएँ हैं।"[2] निपुणिका भी अनुभव करती है कि "आर्यावर्त के समाज के मूल में घुन लग गया है, इसे महानाश से कोई नहीं बचा सकता···क्या स्त्री होना ही मेरे सारे अनर्थों की जड़ नहीं है ? तुम इस छोटे सत्य के साथ राष्ट्र-जीवन के बड़े सत्य को अविरोधी पा रहे हो ? क्या बृहत्तर सत्य के नाम पर मिथ्या का ताण्डव नहीं चल रहा है ? कैसे आशा करते हो आर्य कि देवपुत्र का प्रबल भुजदण्ड इस समाज को नाश के गर्त से बचा लेगा।"[3] उपन्यासांत में इसी निपुणिका के उत्सर्गमय प्रेम की चरम परिणति के रूप में आई उसकी मृत्यु उपन्यास को अचूक संवेदक बना देती है। निपुणिका के जीवन की यह उत्सर्गमयी परिणति स्पष्ट करती है कि "प्रेम एक

१. पृ० ६६, १६०-१६१। १. पृ० १६८-६६। ३. पृ० २४१-४२।

और अविभाज्य है"[१]—"नीचे से लेकर ऊपर तक एक ही रागात्मक हृदय व्याप्त है।"[२] और यही नारी-तत्व है। महामाया के शब्दों में लेखक ने स्पष्ट किया है कि जहाँ-कहीं अपने आपकों उत्सर्ग करने की, अपने आपको खपा देने की भावना प्रधान है, वही नारी है। जहाँ-कहीं दुख-सुख की लाख-लाख धाराओं में अपने को दलित द्राक्षा के समान निचोड़कर दूसरों को तृप्त करने की भावना प्रबल है, वहीं नारी-तत्व है...।"[३] अवधूत अघोर भैरव भी इसी आधार पर कहता है कि "मैं सारे जीवन नारी की उपासना करता रहा हूँ। मेरी साधना अपूर्ण बनकर रही है।" और वह महामाया से 'विशुद्ध नारी' बनकर उसका उद्धार करने की कामना करता है।[४] बाण को भट्टिनी दो-तीन बार दूसरा कालीदास कहती है, क्योंकि कालिदास ने इस रहस्य को पहचाना था कि पुरुष के सैन्य-संचालन की गणनाहीन मर्यादाहीन महत्वाकांक्षाओं को नियन्त्रित कर सकने वाली शक्ति एक मात्र नारी है।[५] इसलिए बाण के संवेदन-शील हृदय को कभी निपुणिका और कभी भट्टिनी स्फूर्ति देती दिखाई गई है। नारी-तत्व की सार्थकता के प्रतिपादन के लिए ही इस उपन्यास का अन्त राष्ट्रोद्धार में नहीं, मानवता के एकीकरण की भावना के साथ हुआ है। भट्टिनी कहती है—"एक जाति दूसरी को म्लेच्छ समझती है, एक मनुष्य दूसरे को नीच समझता है, इससे बढ़कर अशांति का कारण क्या हो सकता है भट्ट। तुम्हीं नर-लोक से लेकर किन्नर-लोक तक व्याप्त एक ही रागात्मक हृदय, एक ही करुणायित चित्त को हृदयंगम करा सकते हो।"[६] बाणभट्ट अपनी और कालदिास की कवि-शक्ति की सार्थकता इसी भाव-भूमि के विस्तार में समझता है।[७] उपन्यासांत में यह सूचना दी गई है कि महामाया और तुवर मिलिंद के लोगों को जाग्रत और संगठित करने के प्रयत्नों से दस्युओं का संकट टल गया है। किन्तु "म्लेच्छ कहे जाने वालों का हृदय अभी परिवर्तित नहीं हुआ।"[८] और उन्हें संवेदनशील बनाने के लिए भट्टिनी और बाण दोनों मिलकर उनमें काम करने का संकल्प करते हैं।[९] सारांश में कथानक के विकास के साथ-साथ पात्रों का उत्तरोत्तर आदर्शीकरण होता गया है और लेखक का उद्देश्य भी इन्हीं के कथनों-आचरणों से परिपुष्ट होकर स्थूल सत्यों के भीतर सूक्ष्म सत्य का संधान करता हुआ नारी-समस्या से नारी-तत्व की ओर तथा सीमित राष्ट्र से समग्र मानवता की ओर बढ़ गया है। इस तरह 'आत्मकथा' कथानक की दृष्टि से अधूरी होती हुई भी उद्देश्य की दृष्टि से पूरी है। कथा का अधूरापन भी अन्त में एक टीस छोड़ जाता है; भट्टिनी बाण से पुरुषपुर से जल्दी ही लौटने का अनुरोध करती है और बाण अपने कातर कण्ठ के वाष्प-रुद्ध वाक्य को प्रयत्नपूर्वक दबा लेता

१. पृ० २६८। २. पृ० ३०३। ३. पृ० १५०। ४. पृ० २३६।
५. पृ० ११२। ६. २७०। ७. पृ० २७१। ८. पृ० ३०४। ९. पृ० ३०४।

है, किन्तु उसकी अन्तरात्मा के अतल गह्वर से कोई चिल्ला उठता है—"फिर क्या मिलना होगा ?"[1]

'आत्मकथा' का अन्त जितना गम्भीर तथा संवेदक है, आरम्भ उतना ही आत्मीय, औत्सुक्यपूर्ण तथा विनोदात्मक है। जन्म के अवारा, गप्पी, अस्थिर चित्र और घुमक्कड़ बाणभट्ट के नाम का इतिहास कट कर जब पूंछ-कटे बैल 'बण्ड' में सिमिट जाता है और 'बण्ड आप आप गये, साथ में नौ हाथ का पगहा भी लेते गए' की कहावत को 'मशहूर' करने का कारण बनता है, तो एक निर्द्वन्द्व मस्त तथा दिलचस्प व्यक्ति की आत्मकथा को पढ़ जाने का आकर्षण स्वयंमेव जाग उठता है।[2]

कथानक के आरम्भ-अन्त का कौशल मध्य में भी स्थिर रहा है। यह 'आत्मकथा' आत्मकथात्मक पद्धति में विकसित हुई है। 'आत्मकथा' का आख्याता इतिहास-शैली के लेखक की तरह सर्वज्ञता के दावे से नहीं लिखता, अतएव स्वाभाविकता-यथार्थता के लिए स्थान-स्थान पर उसके सीमा-सूचक कथन मिलते रहते हैं; जैसे—१. "मुझे इस बात का रहस्य बाद में मालूम हुआ था"।[3] २. "मेरा क्षोभ मेरे चेहरे पर जरूर प्रतिफलित हुआ होगा"।[4] ३. "मुझे सभी मन्त्र याद नहीं हैं, पर भाव उनके बड़े ही मनोरम थे"।[5]

द्विवेदी जी ने 'उपसंहार' में 'आत्मकथा' के वस्तु-विन्यास के सम्बन्ध में लिखा है—"कथा को ध्यान से पढ़ने वाला प्रत्येक सहृदय अनुभव करेगा कि कथा-लेखक जिस समय कथा लिखना शुरू करता है, उस समय उसे समूची घटना ज्ञात नहीं है। कथा बहुत-कुछ आजकल की 'डायरी' शैली पर लिखी गई है। ऐसा जान पड़ता है कि जैसे-जैसे घटनाएँ अग्रसर होती जाती हैं, वैसे-वैसे लेखक उन्हें लिपिबद्ध करता जा रहा है। जहाँ उसके भावावेग की गति तीव्र होती है, वहाँ वह जमकर लिखता है, परन्तु जहाँ दुःख का आवेग बढ़ जाता है, वहाँ उसकी लेखनी शिथिल हो जाती है। अन्तिम उच्छ्वास में तो जैसे वह अपने ही में डूब रहा है। मुझे यह बात विचित्र लगी। संस्कृत-साहित्य में यह शैली एकदम अपरिचित है। मुझे यह बात संदेहजनक भी मालूम हुई"।[6] इस कथन के उत्तरार्द्ध से आत्मकथा की निजता-हार्दिकता संकेतित है यथा पूर्वार्द्ध से इस कथा की अयोजित अनुक्रमता तथा सहजता। कथा का अधूरापन भी इसी का प्रतिफल है। यदि ध्यान से पढ़ा जाए, तो हमें इसमें डायरी शैली नहीं मिलती, एक अयोजित योजना का कौशल मिलता है—इसमें जानकारी की सीमा रहस्य-तत्व एवं अप्रत्याशित के चमत्कार-तत्व के विनियोग तथा कथा के कुशलानुबन्धन के लिए जानकर अपनाई गई है। इसी से 'आत्मकथा'

---

१. पृ० ३०४। २. पृ० ७-८। ३. पृ० ३८। ४. पृ० १५८।
५. पृ० ८०-८१। ६. पृ० ३०५।

और अविभाज्य है"[1]—"नीचे से लेकर ऊपर तक एक ही रागात्मक हृदय व्याप्त है।"[2] और यही नारी-तत्व है। महामाया के शब्दों में लेखक ने स्पष्ट किया है कि जहाँ-कहीं अपने आपको उत्सर्ग करने की, अपने आपको खपा देने की भावना प्रधान है, वही नारी है। जहाँ-कहीं दुख-सुख की लाख-लाख धाराओं में अपने को दलित द्राक्षा के समान निचोड़कर दूसरों को तृप्त करने की भावना प्रबल है, वहीं नारी-तत्व है···।"[3] अवधूत अघोर भैरव भी इसी आधार पर कहता है कि "मैं सारे जीवन नारी की उपासना करता रहा हूँ। मेरी साधना अपूर्ण बनकर रही है।" और वह महामाया से 'विशुद्ध नारी' बनकर उसका उद्धार करने की कामना करता है।[4] बाण को भट्टिनी दो-तीन बार दूसरा कालीदास कहती है, क्योंकि कालिदास ने इस रहस्य को पहचाना था कि पुरुष के सैन्य-संचालन की समताहीन-मर्यादाहीन महत्वाकांक्षाओं को नियन्त्रित कर सकने वाली शक्ति एक मात्र नारी है।[5] इसलिए बाण के संवेदन-शील हृदय को कभी निपुणिका और कभी भट्टिनी स्फूर्ति देती दिखाई गई है। नारी-तत्व की सार्थकता के प्रतिपादन के लिए ही इस उपन्यास का अन्त राष्ट्रोद्धार में नहीं, मानवता के एकीकरण की भावना के साथ हुआ है। भट्टिनी कहती है—"एक जाति दूसरी को म्लेच्छ समझती है, एक मनुष्य दूसरे को नीच समझता है, इससे बढ़ कर अशांति का कारण क्या हो सकता है भट्ट। तुम्हीं नर-लोक से लेकर किन्नर-लोक तक व्याप्त एक ही रागात्मक हृदय, एक ही करुणायित चित्त को हृदयंगम करा सकते हो।"[6] बाणभट्ट अपनी और कालदिास की कवि-शक्ति की सार्थकता इसी भाव-भूमि के विस्तार में समझता है।[7] उपन्यासांत में यह सूचना दी गई है कि महामाया और तुवर मिलिंद के लोगों को जाग्रत और संगठित करने के प्रयत्नों से दस्युओं का संकट टल गया है। किन्तु "म्लेच्छ कहे जाने वालों का हृदय अभी परिवर्तित नहीं हुआ।"[8] और उन्हें संवेदनशील बनाने के लिए भट्टिनी और बाण दोनों मिलकर उनमें काम करने का संकल्प करते है।[9] सारांश में कथानक के विकास के साथ-साथ पात्रों का उत्तरोत्तर आदर्शीकरण होता गया है और लेखक का उद्देश्य भी इन्हीं के कथनों-आचरणों से परिपुष्ट होकर स्थूल सत्यों के भीतर सूक्ष्म सत्य का संधान करता हुआ नारी-समस्या से नारी-तत्व की ओर तथा सीमित राष्ट्र से समग्र मानवता की ओर बढ़ गया है। इस तरह 'आत्मकथा' कथानक की दृष्टि से अधूरी होती हुई भी उद्देश्य की दृष्टि से पूरी है। कथा का अधूरापन भी अन्त में एक टीस छोड़ जाता है; भट्टिनी बाण से पुरुषपुर से जल्दी ही लौटने का अनुरोध करती है और बाण अपने कातर कण्ठ के वाष्प-रुद्ध वाक्य को प्रयत्नपूर्वक दबा लेता

---

१. पृ० २९८। २. पृ० ३०३। ३. पृ० १५०। ४. पृ० २३६।
५. पृ० ११२। ६. २७०। ७. पृ० २७१। ८. पृ० ३०४। ९. पृ० ३०४।

है, किन्तु उसकी अन्तरात्मा के अतल गह्वर से कोई चिल्ला उठता है—"फिर कब मिलना होगा ?"[1]

'आत्मकथा' का अन्त जितना गम्भीर तथा संवेदक है, आरम्भ उतना ही आत्मीय, औत्सुक्यपूर्ण तथा विनोदात्मक है। जन्म के अवारा, गप्पी, अस्थिर चित्त और घुमक्कड़ बाणभट्ट के नाम का इतिहास कट कर जब पूंछ-कटे बैल 'बण्ड' में सिमिट जाता है और 'बण्ड आप आप गये, साथ में नौ हाथ का पगहा भी लेते गए' की कहावत को 'मशहूर' करने का कारण बनता है, तो एक निर्द्वन्द्व मस्त तथा दिलचस्प व्यक्ति की आत्मकथा को पढ़ जाने का आकर्षण स्वयंमेव जाग उठता है।[2]

कथानक के आरम्भ-अन्त का कौशल मध्य में भी स्थिर रहा है। यह 'आत्मकथा' आत्मकथात्मक पद्धति में विकसित हुई है। 'आत्मकथा' का आख्याता इतिहास-शैली के लेखक की तरह सर्वज्ञता के दावे से नहीं लिखता, अतएव स्वाभाविकता-यथार्थता के लिए स्थान-स्थान पर उसके सीमा-सूचक कथन मिलते रहते हैं; जैसे—१. "मुझे इस बात का रहस्य बाद में मालूम हुआ था"।[3] २. "मेरा क्षोभ मेरे चेहरे पर ज़रूर प्रतिफलित हुआ होगा"।[4] ३. "मुझे सभी मन्त्र याद नहीं हैं, पर भाव उनके बड़े ही मनोरम थे"।[5]

द्विवेदी जी ने 'उपसंहार' में 'आत्मकथा' के वस्तु-विन्यास के सम्बन्ध में लिखा है—"कथा को ध्यान से पढ़ने वाला प्रत्येक सहृदय अनुभव करेगा कि कथा-लेखक जिस समय कथा लिखना शुरू करता है, उस समय उसे समूची घटना ज्ञात नहीं है। कथा बहुत-कुछ आजकल की 'डायरी' शैली पर लिखी गई है। ऐसा जान पड़ता है कि जैसे-जैसे घटनाएँ अग्रसर होती जाती हैं, वैसे-वैसे लेखक उन्हें लिपिबद्ध करता जा रहा है। जहाँ उसके भावावेग की गति तीव्र होती हैं, वहाँ वह जमकर लिखता है, परन्तु जहाँ दुःख का आवेग बढ़ जाता है, वहाँ उसकी लेखनी शिथिल हो जाती है। अन्तिम उच्छ्वास में तो जैसे वह अपने ही में डूब रहा है। मुझे यह बात विचित्र लगी। संस्कृत-साहित्य में यह शैली एकदम अपरिचित है। मुझे यह बात संदेहजनक भी मालूम हुई"।[6] इस कथन के उत्तरार्द्ध से आत्मकथा की निजता-हार्दिकता संकेतित है यथा पूर्वार्द्ध से इस कथा की अयोजित अनुक्रमता तथा सहजता। कथा का अधूरापन भी इसी का प्रतिफल है। यदि ध्यान से पढ़ा जाए, तो हमें इसमें डायरी शैली नहीं मिलती, एक अयोजित योजना का कौशल मिलता है,—इसमें जानकारी की सीमा रहस्य-तत्व एवं अप्रत्याशित के चमत्कार-तत्व के विनियोग तथा कथा के कुशलानुबन्धन के लिए जानकर अपनाई गई है। इसी से 'आत्मकथा'

१. पृ० ३०४। २. पृ० ७-८। ३. पृ० ३८। ४. पृ० १५८।
५. पृ० ८०-८१। ६. पृ० ३०५।

आत्मकथा का आभास देते हुए भी उपन्यास बन गई है। उदारणतया पहले ही दो उच्छ्वासों में कथा-काल-विपर्यय कर दिया गया है। कथा के सीधे विकास के अनुसार होना यह चाहिए था कि पहले दो पृष्ठों में प्रारम्भिक परिचय के बाद द्वितीय उच्छ्वास के उज्जयिनी-निवास की निपुणिका-सम्बन्धी घटना पहले आती और पहले उच्छ्वास का स्थाणीश्वर-आगमन द्वितीय उच्छ्वास से होता, किन्तु यहाँ क्रम बदल दिया गया है। और इसका कारण यह दिया गया है कि "इस कहानी को अपने दुर्भाग्य के रोने से नहीं शुरू करूँगा। इसे अपने सौभाग्य के उदय के साथ ही आरम्भ करूँगा। बीच-बीच में यदि दुर्भाग्य की कहानी आ जाय, तो इस कथा के अध्येता उसे क्षमा करेंगे"।[१] यह विनीतता वस्तुतः उपर्युक्त कौशल है। द्वितीय उच्छ्वास में लेखक निपुणिका के जीवन की कुछ ही बातें बताता है, उसके बाण से भागने के बाद की अद्भुत बातों को रहस्य से रखता है और उसे बहुत बाद में पात्रों के उपयुक्त मानसिक क्षणों में खोलता है, जिसमें उनकी तात्कालिक मनोदशा को व्यंजित करते हुए कथा आती है और मुख्य कथानक में वैविध्य से रोचकता भी। कहने को कहा जा सकता है—और बाण कहता भी है—कि उसे निपुणिका के जीवन की सीमित जानकारी थी[२], किन्तु उसे निपुणिका-सम्बद्ध जटिल बटु के प्रसंग का पता था, फिर भी उसे वह तब देता है जब एक उपयुक्त अवसर पर निपुणिका के उल्लेख करने से उसे वह 'याद' आ जाता है।[३] स्वाभाविकता तथा रोचकता के लिए अन्यत्र भी तीन-चार स्थलों पर स्मृत्यवलोकित प्रसंग दिए गए हैं।[४] सुचरिता तथा विरतीवज्र की कहानी विभिन्न उच्छ्वासों में अनेक स्थलों पर बंट कर आई है। विभिन्न प्रसंगों के विनियोग के सम्बन्ध में लेखक की जो मनोवृत्ति रही है, वह कुमार कृष्ण के निम्न कथन से स्पष्ट हो जाएगी, जो बाण की वाभ्रव्य सम्बन्धी अनेक जिज्ञासाओं के उत्तर में कहा गया है—"उचित अवसर पर सब मालूम हो जाएगा"।[५] 'आत्मकथा' में संस्कृत-आख्यायिका का घटना-वैचित्र्य तथा संयोग-चमत्कार पर्याप्त है। इस सम्बन्ध में लेखक ने बाण द्वारा 'आत्मकथा' पर आलोचनात्मक टिप्पणी देते हुए परोक्ष गर्वोक्ति की है—"मुझे एक-एक करके बीती हुई घटनाएँ याद आने लगीं, निपुणिका का अचानक मिल जाना। छोटे महाराज के अन्तःपुर में स्त्रीवेश में भट्टिनी का उद्धार, भदन्त और अवधूत का संयोगवश मिलन और कुमार कृष्ण वर्धन से परिचय। यह क्या सब पूर्वचिन्तित विधि-विधान है? इतने संयोग कैसे एकत्र हो गए? कितनी विचित्र बात है यह? ऐसा जान पड़ता है कि यह किसी निपुण कवि की निबद्ध आख्यायिका हो"।[६] निस्सन्दिग्ध 'आत्मकथा' में द्विवेदी जी की निर्माणात्मक कल्पना की निपुणता देखते बनती है।

१. पृ० ३। २. पृ० ८। ३. पृ० २३८-३९। ४. पृ० ६३-६७, ११८।
५. पृ० १०१। ६. पृ० २४८-४९।

'आत्मकथा' का मुख्य कथानक बाण, निपुणिका तथा भट्टिनी से सम्बद्ध है इसके अतिरिक्त यहाँ अनेक लघु-लघु प्रसंग आए हैं, जिनसे कथानक में सुखद विविधता, रोचकता तथा कुछ सम्पन्नता भी आई है। अपनी-अपनी पृथक्-पृथक प्रकृति लिए हुए ये प्रसंग इस प्रकार हैं:—

(१) संस्कृत की अनभिज्ञता के कारण भ्रम हो जाने से निपुणिका की अपमानुभूति तथा बाण से वियुक्त होने का निदग्ध प्रसंग।[१]

(२) तेल से शरीर चुपड़े हुए काले भूत के समान चोरों की चोरी की भूमिका में निपुणिका की प्रसिद्ध नर्तकी-चित्रकर्त्री मदनश्री से संयोग-मिलन; मदनश्री का बाण पर व्यंग्य और निपुणिका के उत्तर का प्रसंग।[२]

(३) अपने सौन्दर्य-शृंगार के प्रभाव से बाण को विचलित कर सकने की विफलता में मदनश्री का मन-ही-मन प्रेम हो जाने, बाण का अनुपम चित्र बनाने और निपुणिका का बाण के प्रेमवश उसे चुरा कर भाग जाने की रोचक कहानी।[३]

(४) बाण को जी भर कर देखने की कामना से नियुक्त निपुणिका का केवल एक दिन के लिए बालक-वेश में शराब पिलाने की नौकरी करने का प्रसंग।[४]

(५) मारीच की भूमिका में रंगमंच पर उतरे जटिलबट्टु के विचित्र-हास्य अभिनय से बाण के नाटक का बिगड़ना तथा निपुणिका के प्रत्युत्पन्नमतित्व एवं नृत्य से सब संवर जाने की रोचक कहानी।[५]

(६) प्रत्यन्त दस्युओं से भट्टिनी को बचाने के प्रयत्न में धीर नापित की अद्भुत वीरता की कहानी।[६]

(७) विरतिवज्र, उसकी माँ तथा सुचरिता की मोड़ों वाली मार्मिक कहानी।[७]

(८) महामाया के रानी से भैरवी बनने, तथा इस कार्य में सहायक एवं बाधक होने वाले पात्रों—वाभ्रव्य, ग्रहवर्मा आदि—की मिलीजुली विचित्र रोचक कहानी।[८]

अन्तिम दो को छोड़कर शेष सभी प्रसंग पात्रों से सीधे सम्बन्धित हैं। इनसे उनके विभिन्न चारित्रिक गुणों का प्रकाशन होता है; जैसे, जटिल बट्टु के प्रसंग से निपुणिका की अवसरानुकूल निपुणता, निपुणिका के अन्य प्रसंगों से उसके स्वाभिमानी स्वभाव के साथ बाण के प्रति उसकी अनन्य प्रेम-प्रवणता, तथा मदनश्री के प्रसंग से बाण के आकर्षक एवं दृढ़ व्यक्तित्व का उद्घाटन होता है। अन्तिम दो प्रसंग कुछ स्वतन्त्र हैं, किन्तु बाण, भट्टिनी आदि से कुछ सम्बद्ध भी। वाभ्रव्य का जीवन इसका

---

१. पृ० १०। २. पृ० ११६-१७। ३. पृ० ११८-२१। ४. पृ० ११४-१५। ५. पृ० २३८-४०। ६. पृ० १०८। ७. पृ० २०७-१७। ८. पृ० २८५-६४।

प्रमाण है। दूसरे महामाया की कथा नारी-समस्या के उद्देश्य में विशेष सहायक रही है। यह एक प्रकार से उसके बाद के जीवन की उग्रता को संगति देने का पूर्ववृत है। तीसरे, तत्कालीन धार्मिक-संस्कृतिक वातावरण के अंकन में इनका विपुल उपयोग हुआ है।

'आत्मकथा' के कथानक की प्रसंग-विविधता-जनित रोचकता का अनुमान इसी से हो सकता है कि इसमें लगभग सभी भाव-रसों के आस्वादन का अवसर प्राप्त हुआ है। निपुणिका, मदनश्री, सुचरिता के कुछ प्रसंगों में शृंगार,[1] विरतीवज्र और उसकी माँ के प्रसंग में वात्सल्य,[2] जटिलवटु तथा धावक के प्रसंगों में हास्य, निपुणिका की मृत्यु में करुण, धीर नापित के प्रसंग में वीर; अघोर भैरव, महामाया, विरतीवज्र के प्रसंगों में अद्भुत तथा भयानक; तथा चण्डभण्डना, अघोरघण्ट के साथ प्रमुख पात्रों के प्रसंग में वीर, वीभत्स, भयानक आदि पुरुष भाव-रसों की अनुभूति की जा सकती है।[3]

कथा-विकास में लेखक ने आगे की घटनाओं के लिए कहीं-कहीं पूर्वाभास भी दिए हैं। वाभ्रव्य को भट्टिनी से परिचित कराने में नाटकीय व्यंग्य का उपयोग हुआ है—पाठकों को पता है कि भट्टिनी ही तुवरमिलिंद की कन्या है किन्तु वाभ्रव्य को नहीं।[4]

'आत्मकथा' का कथानक गतिशील है किन्तु दीर्घ वर्णनों की विशेष रुचि से कहीं-कहीं बाधा भी पहुँची है। इस प्रकार द्विवेदी जी रोचक, संवेदक तथा सार्थक कथानक के निर्माण में विशेष सफल रहे हैं।

'आत्मकथा' में प्रमुख पात्र तीन ही हैं—बाणभट्ट, निपुणिका तथा भट्टिनी—किन्तु गौण पात्रों का प्राचुर्य है। इन गौण पात्रों की अपनी-अपनी सार्थकता है। इनमें से कुछ मुख्य पात्रों की जीवनगति से सीधे सम्बद्ध हैं और कुछ तात्कालिक बहुविध परिस्थितियों के चित्रण के लिए उपयोगी रहे हैं। चरित्रांकन की दृष्टि से इन गौण पात्रों की उपेक्षा नहीं हुई। उदाहरणार्थ कुमार कृष्ण, वाभ्रव्य, लोरिक देव, अघोर भैरव, सुगतभद्र, धावक, विरतिवज्र, सुचरिता, महामाया आदि को देख सकते हैं; सब एक-दूसरे से अलग प्रभाव छोड़ने वाले सजीव पात्र हैं। इनकी क्षणिक झाँकियाँ पर्याप्त मूर्त एवं प्रभावी हैं। प्रमुख पात्रों में बाण एवं निपुणिका का स्मरणीय चरित्रांकन हुआ है। विभिन्न विरोधी गुणों के सामंजस्य ने इनके चरित्र को आकर्षण तथा पूर्णता दे दी है। बाण में निर्द्वन्द्व मस्ती के साथ अडिग कर्तव्यपरायणता, असामान्य संवेदनशीलता के साथ वज्र-दृढ़ता, सुन्दरता के साथ तेजस्विता तथा विनीतता के साथ स्वाभिमानिता है। वह भट्टिनी का कहीं सेवक, कहीं अभिभावक और निगूढ़ प्रेमी भी है। वह कवि-कलाकार तथा निश्छल है, किन्तु

१. पृ० २५९-६०। २. पृ० २१६-१७। ३. पृ० १४१-४४। ४. पृ० २८२-८३।

अपहृता के उद्धार के लिए भेस-बदल और छुरी-छिपाकर अन्तःपुर में भी जा सकता है। उसमें भावुक विह्वलता भी है, तर्क-प्रवीणता भी। ये विरुद्धों का सौन्दर्य निपुणिका तथा भट्टिनी में भी मिलता है। बाण के प्रति प्रेम-कातर रहते हुए भी वह ईर्ष्यामुक्त भाव से भट्टिनी की सेवा कर सकती है, बाण के प्रति पूज्य बुद्धि रखते हुए भी वह उसे समय-समय पर अच्छी करारी झाड़ भी दे सकती है। वह हीन व्यावसायिक कर्मों को अपना कर भी महान बनी रह सकती है। हर प्रकार के काम करने और काम निकालने में निपुणिका निपुण-चपल है, किन्तु पूर्णतया निश्छल भी। व्यक्तित्व की तीक्ष्णता ने इसे भट्टिनी और बाण दोनों से ऊपर उठा दिया है। "जो वास्तव है उसको दबाना और जो अवास्तव है उसका आचरण करना—यही तो अभिनय है। सारे जीवन यही अभिनय किया है।"—यही उसके जीवन का व्यंग्य है और यही उसके जटिल व्यक्तित्व का रहस्य। (शेष दोनों पात्रों में जटिलता अपेक्षतया कम है) आत्मोत्सर्ग में भी वह बाण और भट्टिनी दोनों को पीछे छोड़ जाती है। वस्तुतः निपुणिका 'आत्मकथा' की सर्वाधिक मानवीय, सजीव, तथा मार्मिक पात्र है। इन दोनों चरित्रों से स्पष्ट है कि ये व्यक्ति-पात्र हैं, किन्तु इनमें वर्गीय गुणों का भी पर्याप्त समावेश है। भट्टिनी और निपुणिका के सामाजिक समस्याओं के प्रस्तुतीकरण में सहायक प्रातिनिधिक पक्ष की चर्चा पहले की जा चुकी है।

बहिर्मुखी उपन्यासकारों के घटना-वैचित्र्य को अपना कर भी द्विवेदी जी ने पात्रों के अन्तरंग चित्रण पर पर्याप्त ध्यान दिया है। उन्होंने पात्रों के शीलोद्घाटन तथा शील-निर्माण में उनकी कर्म-प्रेरणाओं का कहीं उल्लेख तथा कहीं-कहीं संयत विश्लेषण किया है। इस सम्बन्ध में उनका दृष्टिकोण बाण के एक अन्तर्द्वन्द्व के चित्रण में इस प्रकार स्पष्ट हुआ है—"प्रत्येक कर्तव्य का कोई न कोई मानस उत्स होता है। कोई यश की लिप्सा से, कोई अर्थ की इच्छा से, कोई भक्ति की कामना से अपना कर्तव्य निर्धारित करता है"।[1] द्विवेदी जी ने पात्रों के संस्कारों तथा बाह्य परिस्थितियों दोनों पर दृष्टि दी है। वे अपने वंशज संस्कारों, आदतों, किसी के अन्न खाने की परम्परागत कृतज्ञता एवं काम-भावना आदि से बँधे भी रहे है और बाह्य विषमताओं, सामाजिक कर्तव्यों तथा उन्नत पात्रों के सम्पर्क से प्रभावित भी होते रहे हैं।

बाण, भट्टिनी तथा निपुणिका तीनों किंचित् गतिशील पात्र हैं। तीनों एक-दूसरे के सम्पर्क[2] से प्रभाव-ग्रहण करते हुए अधिकाधिक आदर्शीकृत होते गए हैं। इसी रूप में पहले दोनों पात्र किंचित् गत्यात्मक हैं अन्यथा उनके संस्कार बड़े प्रबल हैं। भट्टिनी की गतिशीलता विषम परिस्थितियों के कारण अपने 'कौलीन्य-गर्व' को

१, पृ० २५४। २. पृ० १२०, १६१, २७२।

प्रमाण है। दूसरे महामाया की कथा नारी-समस्या के उद्देश्य में विशेष सहायक रही है। यह एक प्रकार से उसके बाद के जीवन की उग्रता को संगति देने का पूर्ववृत है। तीसरे, तत्कालीन धार्मिक-सांस्कृतिक वातावरण के अंकन में इनका विपुल उपयोग हुआ है।

'आत्मकथा' के कथानक की प्रसंग-विविधता-जनित रोचकता का अनुमान इसी से हो सकता है कि इसमें लगभग सभी भाव-रसों के आस्वादन का अवसर प्राप्त हुआ है। निपुणिका, मदनश्री, सुचरिता के कुछ प्रसंगों में शृंगार,[1] विरतीवज्र और उसकी माँ के प्रसंग में वात्सल्य,[2] जटिलवटु तथा धावक के प्रसंगों में हास्य, निपुणिका की मृत्यु में करुण, धीर नापित के प्रसंग में वीर; अघोर भैरव, महामाया, विरतीवज्र के प्रसंगों में अद्भुत तथा भयानक; तथा चण्डभण्डना, अघोरघण्ट के साथ प्रमुख पात्रों के प्रसंग में वीर, वीभत्स, भयानक आदि पुरुष भाव-रसों की अनुभूति की जा सकती है।[3]

कथा-विकास में लेखक ने आगे की घटनाओं के लिए कहीं-कहीं पूर्वाभास भी दिए हैं। वाभ्रव्य को भट्टिनी से परिचित कराने में नाटकीय व्यंग्य का उपयोग हुआ है—पाठकों को पता है कि भट्टिनी ही तुवरमिलिंद की कन्या है किन्तु वाभ्रव्य को नहीं।[4]

'आत्मकथा' का कथानक गतिशील है किन्तु दीर्घ वर्णनों की विशेष रुचि से कहीं-कहीं बाधा भी पहुँची है। इस प्रकार द्विवेदी जी रोचक, संवेदक तथा सार्थक कथानक के निर्माण में विशेष सफल रहे हैं।

'आत्मकथा' में प्रमुख पात्र तीन ही हैं—बाणभट्ट, निपुणिका तथा भट्टिनी—किन्तु गौण पात्रों का प्राचुर्य है। इन गौण पात्रों की अपनी-अपनी सार्थकता है। इनमें से कुछ मुख्य पात्रों की जीवनगति से सीधे सम्बद्ध हैं और कुछ तात्कालिक बहुविध परिस्थितियों के चित्रण के लिए उपयोगी रहे हैं। चरित्रांकन की दृष्टि से इन गौण पात्रों की उपेक्षा नहीं हुई। उदाहरणार्थ कुमार कृष्ण, वाभ्रव्य, लोरिक देव, अघोर भैरव, सुगतभद्र, धावक, विरतिवज्र, सुचरिता, महामाया आदि को देख सकते हैं; सब एक-दूसरे से अलग प्रभाव छोड़ने वाले सजीव पात्र हैं। इनकी क्षणिक झाँकियाँ पर्याप्त मूर्त एवं प्रभावी हैं। प्रमुख पात्रों में बाण एवं निपुणिका का स्मरणीय चरित्रांकन हुआ है। विभिन्न विरोधी गुणों के सामंजस्य ने इनके चरित्र को आकर्षण तथा पूर्णता दे दी है। बाण में निर्द्वन्द्व मस्ती के साथ अडिग कर्तव्यपरायणता, असामान्य संवेदनशीलता के साथ वज्र-दृढ़ता, सुन्दरता के साथ तेजस्विता तथा विनीतता के साथ स्वाभिमानिता है। वह भट्टिनी का कहीं सेवक, कहीं अभिभावक और निगूढ़ प्रेमी भी है। वह कवि-कलाकार तथा निश्छल है, किन्तु

१. पृ० २५९-६०। २. पृ० २१६-१७। ३. पृ० १४१-४४। ४. पृ० २८२-८३।

अपहृता के उद्धार के लिए भेस-बदल और छुरी-छिपाकर अन्तःपुर में भी जा सकता है। उसमें भावुक विह्वलता भी है, तर्क-प्रवीणता भी। ये विरुद्धों का सौन्दर्य निपुणिका तथा भट्टिनी में भी मिलता है। बाण के प्रति प्रेम-कातर रहते हुए भी वह ईर्ष्यामुक्त भाव से भट्टिनी की सेवा कर सकती है, बाण के प्रति पूज्य बुद्धि रखते हुए भी वह उसे समय-समय पर अच्छी करारी झाड़ भी दे सकती है। वह हीन व्यावसायिक कर्मों को अपना कर भी महान बनी रह सकती है। हर प्रकार के काम करने और काम निकालने में निपुणिका निपुण-चपल है, किन्तु पूर्णतया निश्छल भी। व्यक्तित्व की तीक्ष्णता ने इसे भट्टिनी और बाण दोनों से ऊपर उठा दिया है। "जो वास्तव है उसको दबाना और जो अवास्तव है उसका आचरण करना यही तो अभिनय है। सारे जीवन यही अभिनय किया है।"—यही उसके जीवन का व्यंग्य है और यही उसके जटिल व्यक्तित्व का रहस्य। (शेष दोनों पात्रों में जटिलता अपेक्षतया कम है) आत्मोत्सर्ग में भी वह बाण और भट्टिनी दोनों को पीछे छोड़ जाती है। वस्तुतः निपुणिका 'आत्मकथा' की सर्वाधिक मानवीय, सजीव, तथा मार्मिक पात्र है। इन दोनों चरित्रों से स्पष्ट है कि ये व्यक्ति-पात्र हैं, किन्तु इनमें वर्गीय गुणों का भी पर्याप्त समावेश है। भट्टिनी और निपुणिका के सामाजिक समस्याओं के प्रस्तुतीकरण में सहायक प्रातिनिधिक पक्ष की चर्चा पहले की जा चुकी है।

बहिर्मुखी उपन्यासकारों के घटना-वैचित्र्य को अपना कर भी द्विवेदी जी ने पात्रों के अन्तरंग चित्रण पर पर्याप्त ध्यान दिया है। उन्होंने पात्रों के शीलोद्घाटन तथा शील-विकास में उनकी कर्म-प्रेरणाओं का कहीं उल्लेख तथा कहीं-कहीं संयत विश्लेषण किया है। इस सम्बन्ध में उनका दृष्टिकोण बाण के एक अन्तर्द्वन्द्व के चित्रण में इस प्रकार स्पष्ट हुआ है—"प्रत्येक कर्तव्य का कोई न कोई मानस प्रत्न होता है। कोई यश की लिप्सा से, कोई अर्थ की इच्छा से, कोई भक्ति की कामना से अपना कर्तव्य निर्धारित करता है"।[1] द्विवेदी जी ने पात्रों के संस्कारों तथा बाह्य परिस्थितियों दोनों पर दृष्टि दी है। वे अपने वंशज संस्कारों, आदतों, किसी के अन्न खाने की परम्परागत कृतज्ञता एवं काम-भावना आदि से बंधे भी रहे हैं और बाह्य विषमताओं, सामाजिक कर्तव्यों तथा उन्नत पात्रों के सम्पर्क से प्रभावित भी होते रहे हैं।

बाण, भट्टिनी तथा निपुणिका तीनों किंचित् गतिशील पात्र हैं। तीनों एक-दूसरे के सम्पर्क[2] से प्रभाव-ग्रहण करते हुए अधिकाधिक आदर्शीकृत होते गए हैं। इसी रूप में पहले दोनों पात्र किंचित् गत्यात्मक हैं अन्यथा उनके संस्कार बड़े प्रबल हैं। भट्टिनी की गतिशीलता विषम परिस्थितियों के कारण अपने 'कौलीन्य-गर्व' को

१, पृ० २५४।   २. पृ० १२०, १६१, २७२।

ऊपर उठने[1] तथा बाण के निष्कलुष हृदय[2] से प्रभावित होकर सेवा-पथ पर बढ़ जाने में हैं।[3] उसके पिता के संस्कार भी इसमें सहायक है। परिस्थितियाँ बाण के सांस्कारिक गुणों को महिमा-मण्डित होने का अवकाश देती हैं और उसकी घुमक्कड़ मस्ती उत्तरदायित्व[4] के जटिल जाल में बंध कर रह जाती है। इसके अतिरिक्त उसके धीरे-धीरे विकासमान अन्तर्विकार भी उसे भट्टिनी और निपुणिका से बाँधे रखते हैं। बाण आत्मविश्लेषण करता हुआ स्वीकार करता है—"एक बात स्पष्ट है। भट्टिनी और निपुणिका के साथ रहने से मेरे अन्दर परिवर्तन आया है। मैं कहने को तो उनकी रक्षा के लिए साथ हूँ; पर हो गया हूँ परम आश्रित"।[5] निपुणिका के अनुसार उसने बाण से स्त्री-धर्म की शिक्षा-ग्रहण की है। नारी-जीवन की सामाजिक विषमता ने ही उसके व्यक्तित्व को तीखा बना दिया है। उसकी काम-भावना बाण के संयत तथा महान व्यक्तित्व के प्रकाश में ही उत्तरोत्तर उदात्तीकृत होते हुए चरमोत्सर्ग में परिणत हो सकी है। बाण और भट्टिनी में भी काम-भाव की स्वीकृति स्पष्ट है। इस दृष्टि से बाण का यह अन्तर्द्वन्द्वात्मक आत्मविश्लेषण पर्याप्त होगा जिसमें उसकी और निपुणिका के काम-प्रेरित आचरणों का स्पष्टीकरण हुआ है—"आज मेरी ही प्राण-रक्षा के लिए उस (निपुणिका) ने सम्मोहन के प्रतिप्रसव की अग्नि-वेदी पर अपने को होम दिया है। ऐसा लगता है कि भट्टिनी से उसने अपने पूर्व आकर्षण की बात कह दी है नहीं तो भट्टनी क्यों कहती कि अपना पैर मत छुड़ाओ, उसे शांति मिल रही होगी। छिः कैसी लज्जा की बात है। मेरा मन कह रहा है कि निपुणिका का मोह अभी कटा नहीं। हाय, मुग्धा ही है यह अब तक। और मैं अपना ही विश्लेषण करके देखता हूँ, तो..क्यों मैं छः वर्षों तक आवारा की तरह घूमता रहा ? क्या मेरे इस कर्तव्य का कोई मानस-उत्स है ? निपुणिका के प्रति कोई मोह मेरे मन में रह गया था क्या ? हाय, निपुणिका ने कब कहा था कि मेरा धूमायित होना बन्द हो गया है, मैं अब धधक उठूँगी, उस समय उसका चित्त कितना उत्क्षिप्त था"।[6] सामाजिक विषमता के अतिरिक्त अभुक्त वासना भी निपुणिका को तीखा

१. पृ० १०९।

२. ऐतिहासिक बाण भी अवश्य निश्छल रहा होगा क्योंकि उसने "कादम्बरी" में कौटिल्य-शास्त्र को निकृष्ट शास्त्र कहकर अभिहित किया है। बाण का कथन है कि "उन लोगों के लिए क्या कहा जाए जो अतिनृशंस कार्य को उचित बताने वाले कौटिल्य-शास्त्र को प्रमाण मानते हैं ?"—द्रष्टव्य, वाचस्पति गैरोला: "संस्कृत साहित्य का इतिहास", पृ० २३५। इसलिए द्विवेदी जी का बाण भट्ट को बार-बार भोला कहना जंचता है। ३. पृ० २७२। ४. पृ० ५४-५५, ६०।

५. पृ० १९१। ६. पृ० २५४।

बनाने की उत्तरदायी है। आस्तिक संस्कारों की दृढ़ता के कारण अभुक्त वासना इन तीनों पात्रों में गति और शक्ति का संचरण करती है, गलाती और घुलाती नहीं।

गौण पात्रों में महामाया, सुचरिता, विरति वज्र विकासशील पात्र है, शेष सभी स्थिर। महामाया की सामाजिक विषमता उसकी उग्रता से व्यक्त होती रहती है। सुचरिता की काम-वासना[1] का भी उदात्तीकरण हुआ है। कुमार कृष्ण के चरित्र में राजकीय वंश के अहं तथा विवेक-बुद्धि का समन्वय हुआ है। लोरिक देव तथा बाभ्रव्य दोनों वर्गीय होते हुए भी कुछ विशिष्टता रखते हैं। लोरिक देव के चरित्र का मुख्य प्रेरक तत्व उसके इस कथन से स्पष्ट है—.."मेरी शिराओं में गुप्तों के अन्न से बना हुआ रक्त है, मै अट्ठारह वर्ष की अवस्था से गुप्त-सेना का सैनिक रहा हूँ।.. तुम क्या आशा रखते हो कि इस प्रौढ़ अवस्था मे अपने अन्नदाताओं को दुर्बल देखकर कल से बनियो को राजाधिराज मान लूँ ? यह असम्भव है।"[2]

कर्म-प्रेरणाओं के अतिरिक्त विभिन्न परिस्थितियों में पड़ने पर पात्रों के अन्तर्द्वन्द्वों का, उनके मनोलोक का समुचित चित्रण हुआ है। आत्मकथात्मक प्रणाली होने के कारण आख्याता बाण के अन्तर्द्वन्द्वों को तो भली-भाँति उरेहित किया जा सका है, किन्तु अन्य पात्रों का अन्त:चित्रण नहीं हो सका—सर्वज्ञता के अभाव में आख्याता उनका चित्रण नहीं कर सकता। ऐसी अवस्था में कहीं-कहीं पात्रों की अपनी स्वीकारोक्तियों में उनके मनोमंथन का कुछ अंकन[3] हुआ है या उनकी सूचना मिली है। आख्याता बाण की भावुकता तथा गम्भीरता; सेवकत्व-अभिभावकत्व के दुहरे कर्तव्यकर्म और साथ ही अन्तर्गूढ़ प्रेम के स्पन्दन; उसकी स्वाभाविक निर्द्वन्द्वता-निश्छलता तथा कर्तव्य-कर्मों की कठोरता आदि अपनी विषमता में उसका प्रचुर मनोमंथन कराते रहे हैं। बाण के लगभग एक-एक पृष्ठ तक सीमित लघु-लघु अन्तर्द्वन्द्वों की संख्या बहुत है[4] किन्तु दीर्घ मनोमंथन कम हैं।[5] लेखक के बीच-बीच में आ जाने से पाठकों को बाण के मानस-द्वन्द्वों का सीधा साक्षात्कार कम समय के लिए होता है। अतएव इन्हें अन्तर्विवाद नहीं कहा जा सकता।

कहीं-कहीं पात्रों के अन्तरतर के उद्घाटन के लिए विशेष मनोवैज्ञानिक क्षणो की सृष्टि की गई है। जब बाण भावुकता में आकर भट्टिनी पर कविता लिखने की बात कहता है, तो भट्टिनी और निपुणिका दोनों पर एकांत भिन्न-भिन्न प्रतिक्रियाएं होती हैं और ये उनके मुखांकित भावों से स्पष्ट होती हैं। निपुणिका के अनुभाव अतीव प्रसन्नता के सूचक थे किन्तु "निपुणिका का चेहरा उतर गया था। जान पड़ता

१. पृ० २०८-२१२। २. पृ० २४६। ३. पृ० २१२।
३. पृ० ६७, ६८, ९१-९२, १५७-५८, १६३, १७६, २४२, २४३, २७१।
५. पृ० १६१-६२, २३५-३७, २५३-५५।

था, किसी अज्ञात आशंका से वह भयभीत हो उठी थी। निदाघान्त में म्लपित आरग्वध कुसुम के समान उसका पीला मुख मुरझा गया था। उसकी आँखों के नीचे की नीली रेखा और भी नीली हो गई थी।"[1] बाण के भयपूर्वक पुकारने और भट्टिनी के आग्रह पर भी वह कुछ नहीं बोल पाती। थोड़ी देर अपने में झगड़ कर जब वह प्रकृतस्थ हो जाती है, तो उस का बाँध खुल पड़ता है और वह बाण-सम्बद्ध अपने पूर्वजीवन की अज्ञात कहानियाँ सुनाती हुई तब शांत होती है, जब वह बाण से इस बात का आश्वासन पा लेती है कि वह किसी जीवित व्यक्ति पर कविता नहीं लिखेगा।[2] वस्तुतः उसे ज्योतिषी ने बताया था कि उपर्युक्त कार्य बाण के लिए घातक सिद्ध होगा। इस प्रकार बाण के भट्टिनी के सम्बन्ध में कविता लिखने की बात उसके अन्तर के बाण-प्रेम का अनावरण करती है। यह प्रसंग मनोविश्लेपकों के शब्द सहस्मृति परीक्षा का रूपांतरित प्रयोग का-सा प्रभाव डालता है।

ऊपर हमने निपुणिका की आनुभाविक प्रतिक्रिया को चित्रित किया है। वस्तुतः द्विवेदी जी ने पात्रों के बहिरंग चित्रण के अन्तर्गत अनुभावों का प्रचुर आश्रय लिया है। यों तो पात्रों की बहुविध प्रतिक्रियाओं के स्वाभाविक चित्रण के लिए उनके कथनों-कार्यों के साथ इनका यत्किंचित चित्रण सभी उपन्यासकारों के लिए वांछित है, किन्तु आत्मकथात्मक उपन्यासों में, जहाँ आख्याता को छोड़ दूसरे पात्रों के अन्तर्द्वन्द्वों का अंकन नहीं हो सकता, वहाँ उनकी भीतरी घुमड़न को अन्तर्व्यंजक चयनित अनुभावों से कुशलता से चित्रित किया जा सकता है और यही द्विवेदी जी ने किया है। इसके अतिरिक्त, इन तीनों पात्रों का निगूढ़ प्रेम इन के वचनों से चाहे मुखरित न हो, इनके हावानुभावों से अवश्य व्यंजित होता है। अतएव 'आत्मकथा' में मानव-शरीर के उन अवयवों का चित्रण अधिक किया गया है, जिनसे मनुष्य की अधिक-से-अधिक अन्तराभिव्यक्ति अनजाने होती रहती है, जो न चाहने पर भी भीतर के राज़ को अनायास खोलते रहते है; और उनमें मुख तथा आँखें प्रमुख हैं। यहाँ तीनों प्रमुख पात्र एक-दूसरे की मुखांकित प्रतिक्रियाओं एवं नयनाभिव्यक्त भावों को बार-बार पढ़ लेने में समर्थ चित्रित किए गए हैं।[3] एक स्थान पर बाण अनुभव करता है—"उन (भट्टिनी) का वचन रुद्ध हो गया था किन्तु आँखें बहुत-कुछ कह रही थीं।"[4] वस्तुतः अनुभावों को देख-पढ़ कर ही 'आत्मकथा' के पात्र अपने कथनों-कार्यों को निश्चित करते रहे हैं[5]। अन्यत्र बाण के मानस-पटल पर भट्टिनी का जीवनेतिहास उसकी मुखच्छवियों एवं नयनों की सूक्ष्म अभिव्यंजनाओं के रूप में अंकित है—"उस रात को मुझे नींद नहीं आई। मैं भट्टिनी को पहचान नहीं पा रहा हूँ। छोटे महाराज के विशाल अन्तःपुर

१. पृ० ११३। २. पृ० १२२। ३. पृ० ६६, ७७, ८८, १००, २२५-२६, १११-१३। ४. पृ० २२८। ५. पृ० १०७।

में आबद्ध भट्टिनी की परिपाण्डु-दुर्बल-कपोल-सुन्दर मुख में देख चुका हूं। 'चण्डी मण्डप' में कुमार कृष्णवर्धन का आश्रय लेने से स्पष्ट इन्कार करने के बाद बाणविद्ध मृग के समान उनकी करुण मुखच्छवि मैं भुलाने पर भी नहीं भुला सका हूँ। गंगा की मनोहर धारा पर अपने अपहरण का वृत्तांत कहती हुई निराश सिंहनी के समान उनकी स्फुलिंग-वर्षी आँखें मेरे मानस-पटल पर विद्ध हो गई हैं और अन्तिम बार गंगा की धारा से विनिर्गता शिथिलश्रान्त उनकी वह मनोहर शोभा मेरे मानस-पटल पर अंकित हो गई है, जो वराह के दन्त पर समासीन श्रान्त धरित्री को धैर्य और गाम्भीर्य में पराभूत कर रही थी। परन्तु आज भट्टिनी को जिस रूप में देख चुका हूँ, वह रूप उन सबसे भिन्न है। मैं इन सब रूपों में कोई एक सूत्र खोजना चाहता हूँ, पर पा नहीं रहा हूँ।"[1]

'आत्मकथा' में अनुभावों का उपयोग इस सीमा तक हुआ है कि इनके देखने तथा भ्रामक अध्ययन ने दो प्रमुख पात्रों के जीवन को छः वर्षों तक भटकने, या आवारा बन जाने पर बाध्य कर दिया। बाण निपुणिका के साम्य के आधार पर कालिदास की मालविका तक पहुँच खिलखिलाकर हँस पड़ता है और निपुणिका इसे भ्रमवश 'बर्दाश्त' न कर बाण को छोड़ भर भाग खड़ी होती है।[2]

कुछ पात्रों की वेशभूषा तथा बाह्य आकार-प्रकार का चित्रण हुआ है। लेखक की मुख्य दृष्टि उनको वर्ग-व्यवसाय-मत आदि की दृष्टि से साकार करने पर रही है। इस दृष्टि से भैरव तथा बौद्ध पात्रों के चित्रण को देखा जा सकता है।[3] विनोद या हास्य का आलम्बन खड़ा करने के लिए भी पुजारी, जटिलवटु तथा धावक का सानुकूल बहिरंग चित्रण किया गया है।[4] सुन्दरियों के रूप एवं साज-सज्जा-चित्रण का लक्ष्य तात्कालिक वातावरण का आभास देना है। इसके अतिरिक्त इनमें बाण की स्वाभाविक रुचि भी प्रतिफलित हुई है।

आख्याता द्वारा पात्रों का सीधा चरित्र-परिचय कहीं-कहीं ही मिलता है।[5] कहीं-कहीं बाण के चिंतन में भी पात्रों का चरित्र आया है।[6] पात्रों की कार्मिक तथा संवादात्मक चरित्राभिव्यक्ति अधिक हुई है और यह उचित ही हुआ है। किन्तु 'आत्मकथा' में प्रमुख पात्रों की एक-दूसरे पर की गई टीका-टिप्पणियों—प्रायः भावुक प्रशस्तियों—के रूप में सर्वाधिक चरित्र-प्रकाशन हुआ है। इसका मुख्य कारण तो यह है कि तीनों पात्र परस्पर बड़ा प्रेम करते हैं तथा अपनी-अपनी निःस्वार्थ हितैषिता से एक-दूसरे को उपकृत करते रहते हैं। फिर भी, यह अवश्यकता से अधिक तथा किंचित् अतिरंजित भी हैं, अतएव झुंझलाहट उत्पन्न करती है। यहाँ कर्म से भी

१. पृ० १६० । २. पृ० १० । ३. पृ० ४३, ७० । ४. पृ० ३४-३५, २००, २३६ ।
५. पृ० ७, ५१, ५७ । ६. पृ० १५५-५६ ।

अधिक वाणी बढ़ गई है, जो श्लाघनीय नहीं। इन प्रशस्तियों में एक परोक्ष ऐतिहासिक पात्र तुवरमिलिंद का चरित्र-गौरव बड़ी कुशलता से व्यक्त हुआ है, और उसके प्रभाव का औपन्यासिक उपयोग भी किया गया है। ये टीका-टिप्पणियाँ कहीं तो आलोच्य पात्र के सामने हुई हैं[1] और कहीं पीछे।[2] प्रायः पात्रों ने स्वयं-प्रेरणा से दूसरे के प्रति अपना मत दिया है, किन्तु एक-दो स्थलों पर विशेष पूछे जाने पर भी ऐसा हुआ है।[3] कहीं-कहीं पात्रों की निश्छल स्वीकारोक्तियों में उनका चरित्र प्रकाशित हुआ है।[4]

कहीं-कहीं पात्रों के घर की सामग्री तथा उसकी व्यवस्थादि का ऐसा सप्रयोजन परिचय दिया गया है जिससे उस पात्र की रुचि, स्वभाव, संस्कार आदि का अनुमान किया जा सके। इस दृष्टि से सुचित्रा के घर[5] और लोरिकदेव के विश्राम-कक्ष का वर्णन देखा जा सकता है।[6]

'आत्मकथा' में वर्णन की अपेक्षा कथोपकथनों की मात्रा कम है। इनका उपयोग कथानक को गति देने, देशकाल और परिस्थिति का चित्रण करने, प्रासंगिक वृत्तों की जानकारी कराने, चरित्रोद्घाटन, विचाराभिव्यक्ति आदि में हुआ है।

जब बाण बौद्ध-विहार में भिक्षु-आचार्य सुगतभद्र से मिलने जाता है, तो गुरु-शिष्य में वार्ता इसलिए कराई गई है कि विहार का वातावरण प्रस्तुत हो सके। साथ ही प्रेमपूर्ण अध्यापन शैली से सुगतभद्र का व्यक्तित्व भी व्यंजित हो जाता है। निपुणिका, भट्टिनी, सुचरिता, बाभ्रव्य आदि अनेक पात्रों के जीवन की विगत घटनाओं या प्रासंगिक वृत्तों का ज्ञान उनके दीर्घ कथनों से होता है। पंचम उच्छ्वास में कुमार कृष्ण और बाण का संवाद विशेष सुन्दर है। उसमें तार्किक सौन्दर्य ही नहीं मिलता, कथानक में तनावपूर्ण परिस्थिति भी उत्पन्न हो जाती है; किन्तु सुगतभद्र के कुशल हस्तक्षेप तथा कुमार के बाण के निश्छन-निडर तथा ओजस्वी कथनों के प्रकाश में उसके सच्चे ब्राह्मणत्व से प्रभावित तथा कुमार कृष्ण की गुणज्ञ गम्भीरता का मनोवैज्ञानिक चित्र सामने आ जाता है। पाठकों के मन पर इन दोनों के व्यक्तित्व की परिपूर्ण छाप लग जाती है। ये स्वयं भी एक-दूसरे से जैसे प्रभावित होते हैं, उससे कथानक में अनेक मोड़ उपस्थित होते हैं। उच्छ्वासांत में कुमार कृष्ण के कथन पर बाण के आनुभाविक उत्तर की व्यंजना मार्मिक है:—

मेरी दृष्टि का अर्थ कुमार ने पहचाना। जरा स्मित के साथ कहा—''देवपुत्र मर्यादा के उचित जानकार हो, भट्ट ! मैं तुमसे प्रसन्न हूँ।''

---

१. पृ० १३, १६, ४६, ५१-५२, ६१, १०८, १०९।
२. पृ० ४६, ४७, ९८, २९९, ३००। ३. पृ० १३८-३९। ४. पृ० १०९, १६५।
५. पृ० १८४। ६. पृ० २४५। ७. पृ० ४४-४५।

मैंने हाथ जोड़कर कुमार का प्रसाद मौन विनय के साथ ग्रहण किया। सहृदय कुमार समझ सके कि कृतज्ञता के आतिशय्य ने मेरे बचन रुद्ध कर दिए थे। वे प्रसन्न हो गये।"[1]

यह स्पष्ट किया जा चुका है कि पाठकों के मन पर प्रमुख पात्रों के प्रभाव को उनकी पारस्परिक प्रशस्तियों तथा टीका-टिप्पणियों द्वारा अंकित किया गया है। भावोच्छ्वसित हार्दिकता इन प्रशस्तियों का सामान्य गुण है। आगे एक उदाहरण लीजिए जिसमें बाण की सरलता तथा निपुणिका की विदग्धता, कथानक के रहस्य-गुम्फन तथा नाटकीय वार्ता की लघिमा के साथ सामने आ गई है.—

अपना महत्व प्रतिष्ठित करने के लिए ही मानों मैंने बातचीत शुरू की—निउनिया, कल सौभाग्य से मुझसे तेरी मुलाकात हो गई।"

"हाँ, भट्ट!"

"मैं सोचता हूँ कि कहीं तू अकेली ही भट्टिनी को लेकर इधर आई होती, तो कितना कष्ट होता।"

'सो तो होना ही।"

"इस समय मैं जो कुछ कर रहा हूँ उस समय उतना भी तो नहीं हो पाता!"

"इतना हो तो जाता, भट्ट!"

"कौन करता भला!"

"पुजारी!"

"पुजारी? पर तू तो पुजारी से डरी हुई थी निउनिया!"

"पुजारी—जैसे मूर्ख रसिकों से डरती, तो निउनिया आज से ६ वर्ष पहले ही मर गई होती, भट्ट!"

"पर तू प्रत्यूष-काल में डरी हुई जरूर थी।"

"सो तो थी ही!"

"तो तू किससे डरी थी भला?"

"तुम से!"

"मुझसे?"

'हाँ, भट्ट, तुमसे।"

"तो मुझसे क्यों डरी थी निउनिया!"

"क्या बताऊँ भट्ट! मेरी-जैसी स्त्री तुम्हारे-जैसे पुरुष से क्यों डरती है, यह बात अगर आज तक तुम्हारी समझ में नहीं आई तो अब नहीं आयेगी!"[2]

कहीं-कहीं यहाँ के भैरव-भैरवी मनोविश्लेषक परीक्षकों से हो उठे है और

---

१. पृ० ६४। २. पृ० ५०-५१।

वे पात्रों के अन्तरतर का उद्‌घाटन करने के लिए उनसे वही बात कहने को कहते हैं, जो उनके मन में पहले आती है—क्योंकि "सोचकर कही हुई बात सब समय सत्य नहीं होती"।[1] ये पात्र उनके तेजस्वी व्यक्तित्व से अभिभूत एवं सम्मोहित-से होकर सच्ची बात कह जाते हैं और इससे उनके अन्तरतर का अनावरण हो सका है।

सात-आठ स्थलों पर यहाँ विभिन्न पात्रों के अनायोजित दीर्घायित धारा-प्रवाह भाषण भी मिलते हैं। ये प्रायः आवेशज तथा ओजस्वी हैं और पात्र-परिस्थिति के उपयुक्त भी।[2] कुल मिलाकर 'आत्मकथा' के संवाद अपने विभिन्न प्रयोजनों में सफल रहे हैं।

द्विवेदी जी की अभिव्यंजना-क्षमता ने 'आत्मकथा' के सौन्दर्य-वर्द्धन में विशेष योग दिया है। इनकी भाषा में बाणभट्ट की 'आत्मकथा' की प्रामाणिकता की प्रत्ययोत्पत्ति करने की सफलता का विवेचन पहले किया जा चुका है। जहाँ-कहीं वातावरण-विधान के प्रतिबन्धों से मुक्त होकर द्विवेदी जी को प्राचीनता का आभास नहीं देना होता, वहाँ उनकी स्वच्छन्द, व्यावहारिक तथा प्रसन्न प्रवहमान भाषा-शैली की मनोरमता दिखाई देने लगती है। वहाँ नौकरी, लेकिन, इशारह, गुलाम, रईस, बनियों, हमेशा, चेहरा, छुट्टी, पसीना, आवारा, असली जैसे शब्दों का व्यवहार भी होने लगता है। प्रसंगानुकूल परिवर्तन की इसमें अद्‌भुत क्षमता है—यह कहीं तत्सम, कहीं व्यावहारिक, कहीं सादी, कहीं अलंकृत; कहीं मधुर, कहीं ओजस्वी; कहीं (सप्रयोजन) समास-गुम्फित क्लिष्ट, और कहीं ऋजु-सरल प्रसन्न भाषा है। कहीं-कहीं इसमें विनोद का पुट भी आ जाता है; देखिए—"गाँव से भागने पर जब लोगों ने उसे पूँछ-कटे बैल, बंड की उपाधि दी तो उसने संस्कृत शब्द 'बाण' द्वारा संस्कार करके अपने नाम की इज्जत बढ़ा ली"। सारांश में, यह द्विवेदी जी के पाण्डित्य तथा सहज व्यक्तित्व का समन्वित प्रतिफल है।

अन्त में, बाणभट्ट की 'आत्मकथा' ऐतिहासिक उपन्यासों में एक सफल अभिनव प्रयोग है। विषय-शिल्प की अद्‌भुत अनुयोज्यता तथा सभी तत्वों के सानुपातिक-समन्वित विनियोग ने इस उपन्यास को आकर्षक तथा प्रभावी बना दिया है।

दिव्या

१९५४ में प्रकाशित 'दिव्या' यशपाल का प्रथम ऐतिहासिक उपन्यास है। इसके पूर्व उन्होंने सामाजिक उपन्यास ही लिखे थे। यह २१३ लम्बे पृष्ठों का

१. पृ० ७४, १३८। २. पृ० १९८-९९, २००-१, २४२, २६९-७०।

मध्यमकाय उपन्यास है। लेखक के अनुसार यह बौद्धकालीन उपन्यास है।[1] दूसरे, "यह इतिहास नहीं, ऐतिहासिक कल्पना-मात्र है। वस्तुतः लेखक ने इतिहास में कल्पना नहीं की, अपनी कल्पना को इतिहास दिया है; और वह भी केवल तात्कालिक वातावरण-निर्माण के रूप में – "काल्पनिक चित्र में ऐतिहासिक वातावरण के आधार पर यथार्थता का रंग देने"[3] के लिए, कथावस्तु या पात्रों के रूप में नहीं।

लेखक के लिए इतिहास अंधविश्वास की नहीं, विश्लेपण की वस्तु है—ऐसे विश्लेषण की, जिसके आधार पर इतिहास के [illegible] तत्व को जीवन के सत्य के रूप में देखा जा सके और इस आलोक में व्यक्ति और समाज की प्रवृत्ति और गति का चित्र[4] उपस्थित कर वर्तमान और भविष्य के लिए संकेत पाया जा सके। इतिहास के विश्लेपण से प्राप्त और 'दिव्या' में चरितार्थ, स्वयं लेखक के निम्न विचार-सार में इस उपन्यास का उद्देश्य निहित है—"मनुष्य! केवल परिस्थितियों को सुलझाता ही नहीं, वह परिस्थितियों का निर्माण भी करता है ······ मनुष्य भोक्ता नहीं, कर्ता है। सम्पूर्ण माया मनुष्य की ही क्रीड़ा है।···मनुष्य से बड़ा है—केवल उसका अपना विश्वास और स्वयं उसका ही रचा हुआ विधान। अपने विश्वास और विधान के सम्मुख विवशता अनुभव करता है और स्वयं ही उसे बदल भी देता हैं। इसी सत्य को अपने चित्रमय अतीत की भूमि पर इस कल्पना में देखने का प्रयत्न 'दिव्या' है"[5]।

लेखक ने अपने 'प्राक्कथन' के उपर्युक्त भौतिकवादी दृष्टिकोण को उपन्यास में प्रतिपादित करने के लिए एक तो मारिश जैसे विशिष्ट दार्शनिक पात्र की योजना की है, जो लोकायत सिद्धांत को मानने वाला चार्वाकानुयायी है। उस युग में लेखक को अपना निकटतम प्रतिनिधि उपर्युक्त मत को मानने वाला पात्र ही मिल सकता था। इस पात्र ने स्थान-स्थान पर लेखक के प्रतिनिधि विचारों को अभिव्यक्त किया है; यथा, मारिश-कथित दो निम्नस्थ अवतरणों में लेखक के प्राक्कथन का स्वर ही मुखरित हुआ है :—

१. "···जीवन का कोई अनुभव स्थायी और चिरन्तन नहीं। जीवन की स्थिति समय में है और समय प्रवाह है। प्रवाह में साधु-असाधु, प्रिय-अप्रिय सभी

---

१. "दिव्या" का मुख पृष्ठ। भगवतशरण उपाध्याय ने इस पर आपत्ति की है, क्योंकि उनके अनुसार भारतीय इतिहास में बौद्धकाल नाम का कोई निश्चित युग नही है। "यशपाल और हिन्दी कथा साहित्य" : सुरेशचन्द तिवारी; पृ० ८४ से उद्धृत।

२. "दिव्या" : 'प्राक्कथन', पृ० ५। ३. वही। ४. वही। ५. वही, पृ० ५-६।

कुछ आता है। प्रवाह का यह क्रम ही सृष्टि और प्रकृति की नित्यता है...।"[१]

२. "...परिवर्तन ही गति है। गति ही जीवन है। अमरता का अर्थ है—अपरिवर्तन, गतिहीनता। देवी, यदि सूर्य-जैसे और जहाँ है, वहीं स्थिर हो जाए ? यदि जलवायु जैसे और जहाँ स्थिर हो जाए, सब स्थिर और अपरिवर्तनशील हो जायं, सम्पूर्ण प्रकृति जड़ हो जाय ? तो क्या जीवन काम्य और सुखमय होगा ?"[२]

मारिश के निर्भीक तथा विद्रोही कथनों से लेखक समय-समय पर पात्रों-पाठकों को चौंकाता रहा है। लेखक की सहानुभूति पाकर उसका व्यक्तित्व विशेष प्रखर हो गया है। अन्त में दिव्या पर मारिश के मत की विजय में लेखक का उद्देश्य ध्वनित हुआ है।

लेखक के भौतिकवादी दृष्टिकोण की अभिव्यक्ति का दूसरा तथा मुख्य साधन है कथानायिका एवं कथाकेन्द्र दिव्या का सगतिक चरित्र और उसके विकास-क्रम के संदर्भ में व्यक्ति और समाज की प्रवृत्ति और गति का चित्र। वस्तुतः मारिश से लेखक के विचारों का प्रकाशन हुआ है, किन्तु इन विचारों की आवश्यकता एवं सचाई दिव्या की जीवन-गति से प्रमाणित की गई है। इसके अतिरिक्त दिव्या के रूप में लेखक ने नारी के परवश शोषित जीवन की, युगीन तथा युगयुगीन व्यथा-कथा—दूसरे शब्दों में इस उपन्यास की मुख्यतम नारी-समस्या[३]—के माध्यम से विचारों को भावात्मक आधार दे कर पाठकों की संवेदना जगाने का प्रयत्न किया है।

दिव्या के चरित्र-विकास की कथा परिस्थितियों की सापेक्षता में रूपांतरित होती रही है। "स्थूल बंधनों से कहीं अधिक दृढ़ परिस्थितियों के सूक्ष्म, अदृश्य बन्धन उसे बाँधे रहे हैं।"[४] परिस्थितियों के वात्याचक्र के उत्कर्षापकर्ष के भीतर से दिव्या का जो व्यक्तित्व निर्मित हुआ, वही इस रचना में अध्ययन का विषय है—वही पाठकों के भाव-विचारों की उद्‌बुद्धि का मुख्याधार है। उसकी जीवनगाथा की संक्षिप्त झाँकी के प्रकाश में इस तथ्य को देखा जा सकता है:--द्विजकुलीन सामंत वंश के राजकीय प्रासाद में उसका आभिजात्य संगठित हुआ, यौवनोत्कर्ष की मधुवेला में और मधु-पर्व के उत्सव पर, कला में सर्वोच्च स्थान पाने के कारण वह 'सरस्वती पुत्री' की उपाधि से सम्मानित हुई। यहीं शस्त्र-प्रतियोगिता में सर्वश्रेष्ठ खड्‌गधारी की उपाधि से मण्डित होने वाले दासपुत्र पृथुसेन को उसे प्रथानुसार पुष्प-मुकुट

१. पृ० १५९।   २. पृ० १५३।

३. डॉ० जगन्नाथ प्रसाद शर्मा : "आलोचना" संख्या २४, पृ० ३३। "इस ('दिव्या') की मूलवृत्ति समस्या-प्रधान है और समस्या सम्बद्ध है दिव्या के जीवन से।"

४. पृ० ११४।

पहनाना पड़ा। इस बहु सम्मान के मध्य उसे विद्रोही मारिश की पहली चेतावनी सुनाई दी। उसकी शिविका को कंधा देने में ग्राभिजात्याभिमानी रुद्रधीर ग्रौर पृथुसेन में संघर्ष का सूत्रपात हुग्रा, क्योंकि दास-पुत्रों को ग्रभिजात वंशीय युवकों के साथ शिविका को कंधा देने का ग्रधिकार नहीं था। स्पष्ट है कि यह संघर्ष वैयक्तिक ग्रौर सामाजिक दोनों धरातल लिए हुए है। दिव्या को स्वानुकूल बनाने के तीनों ग्राशावंतों से दिव्या यही सम्पृक्त हो गई। इन तीनों प्रणय-प्रार्थियों में दिव्या कुलीन रुद्रधीर के प्रति घृणा-प्रेरित, नास्तिक कलाकार मारिश के प्रति सहानुभूति-प्रेरित तथा दास पृथसेन के प्रति प्रेमोन्मुख हुई। एक विशिष्ट समय में दिव्या विवाह-पूर्व ही पृथुसेन को ग्रपना नारीत्व समर्पित कर बैठी। पृथुसेन की प्रवंचना में गर्भवती दिव्या को व्यक्ति का विरोध ग्रौर वर्णाश्रमिक प्रतिबन्धों या ग्रभिजात्याचारों की तिरस्कृति में उसे समाज-विरोध का सामना करना पड़ा। जीवन-वैषम्य के इस प्रवाह ने उसको सागल नगरी से बाहर बह जाने को बाध्य किया। वह एक निर्दय श्रेष्ठी प्रतूल के हाथ लगी, जिसने उसे एक दास-व्यवसायी भूधर को बेच दिया—जहाँ उसने एक बच्चे को जन्म दिया—ग्रौर फिर इस भूधर ने ब्राह्मण पुरोहित चक्रधर को। यहाँ उसे पुरोहित ग्रौर उसकी पत्नी के ग्रादेश से ग्रपने बच्चे की उपेक्षा कर, उनके बच्चे को ग्रपने मातृरस से पोषित करना पड़ा। किन्तु इस उपेक्षा को पूर्णता देने के लिए जब पुरोहितन ने उसके बच्चे को बेच देना चाहा, तब वह पुत्र-सहित भाग निकली। ग्रात्मरक्षा तथा ग्राश्रय पाने की प्रेरणा से उसने बौद्ध विहार की ग्रोर देखा, किन्तु भागी हुई नारी को उसके ग्रभिभावकों की सहमति के बिना, वह भी शरण न दे सका। इस शरण-पाने के प्रयत्न में किए गए तर्क-वितर्क से दिव्या को एक सूत्र प्राप्त हुग्रा कि वेश्या स्वतन्त्र नारी होने के नाते से बौद्ध-विहार में शरण पा सकती है, किन्तु वह ग्रपनी परतन्त्रता में उससे भी गई बीती है। उसने निश्चय किया कि वह वेश्या बनेगी, किन्तु ग्रपार यातनाग्रों से शोषित उस कंकाल-शेष दिव्या के लिए यह स्थिति ग्रौर भी दुर्लभ थी। जीवन-संघर्ष की ऐसी निर्मम हताश स्थिति में, पुरोहित द्वारा ग्रपना पीछा किए जाने पर, वह ग्रात्महत्या के लिए नदी में कूद पड़ी। किन्तु पुत्र को खोकर भी वह राजनर्तकी रत्नप्रभा के प्रयत्न से बचा ली गई।

शूरसेन प्रदेश की इस राजनर्तकी की छाया में उसका स्वास्थ्य-सौन्दर्य पुनः लौट ग्राया ग्रौर उसकी नृत्य-निपुणता ने उसे पुनः समृद्धि ग्रौर सम्मान दिया; किन्तु विगत जीवन की हाहाकारमयी स्मृतियों में उसका ग्रन्तर तटस्थ ही बना रह गया। जीवन की ऐसी स्थिति में—पृथुसेन पर ग्रन्याय करने के ग्रपराध में सागल से निष्कासित, किन्तु उससे राज्याधिकार छीन लेने के ग्रवसर की ताक में प्रतीक्षारत—

रुद्रधीर पुनः अपने वर्णाश्रम धर्म और वैभव की भूमिका में उससे प्रणय की याचना करता है। मारिश भी अपनी मूर्तिकला के कलात्मक कर्तृत्व तथा प्रखर विचार-वितर्क से—उसे जीवन के यथार्थ को हृदयंगम कराने के प्रयत्नों के साथ—उसका प्रणय-प्रार्थी बनता है, किन्तु दिव्या के हृदय की निरपेक्ष स्थिति की स्थिरता दोनों को सविनय ठुकरा देती है। परिस्थितियों के प्रत्यावर्तन में सागल में अनेक घटनाएँ हुई—रुद्रधीर ने पृथुसेन से राज्य छीन लिया और पराजय की हताश विवशता में पृथुसेन की पलायन प्रवृत्ति ने बौद्ध भिक्षु होने में ही अपनी कुशलता देखी। उधर सागल की राजनर्तकी जनपद कल्याणी मल्लिका ने दिव्या को अपनी उत्तराधिकारिणी घोषित किया, किन्तु पदाभिषेक के अवसर पर सामन्तवर्ग तथा अभिजात समाज के समवेत स्वर ने यही उद्घोष किया कि भद्र में द्विज-कन्या वेश्या के आसन पर बैठकर जन के लिए योग्य बनकर वर्णाश्रम को अपमानित नहीं कर सकती। यही नहीं "धर्मव्यवस्थापक, नीतिविद, महापण्डित, महाचार्य रुद्रधीर" ने भी वर्णाश्रमिक व्यवस्था की त्रिकालिक सत्यता की दुहाई दी। अतएव एक बार पुनः अभिजात समाज से तिरस्कृत होकर दिव्या नगर के बाहर एक पांथशाला में आकर ठहरी। वहाँ दिव्या के तीनों प्रतिस्पर्धी-प्रणयप्रार्थी, अपने-अपने विशेष दृष्टिकोण का प्रतिनिधि-प्रतीक बनकर, दिव्या के आगे अपना-अपना ऐसा वितर्क या पक्ष प्रतिपादित करते हैं कि उपन्यास के इस दृश्य में उपन्यास का सम्पूर्ण विचार-सार सिमट आता है। इन तीनों में से दिव्या के दो को ठुकराने तथा एक को अपनाने में लेखक के उद्देश्य की सांकेतिक सिद्धि हो जाती है। दिव्या नारी के स्वत्व-स्वातन्त्र्य एवं सम्मान का सौदा कर, रूढ़ परम्परा के प्रतिनिधि, आभिजात्याभिमानी रुद्रधीर के राजप्रसाद की महादेवी—पुरुष के पराक्रम का सम्मान बढ़ाने वाली कठपुतली भोग्या—नहीं बनती; और न ही नारी के सहज-धर्म—सृष्टि—के विपरीत, बुद्ध के निर्वाण-मार्ग में चिरन्तन सुख का आश्वासन देने वाले प्रवंचक-उपदेशक भिक्षु-पृथुसेन के पथ को स्वीकारती है; वह संसार के सुख-दुखों में सहज आश्वस्त, नारीत्व की कामना में अपने पुरुषत्व का अर्पण करने एवं आश्रय का आदान-प्रदान चाहने वाले और नश्वर जीवन में संतोष की अनुभूति देने को प्रस्तुत, मारिश की संगिनी बनती है। इस रूप में वह पुरुष से आश्रय पाती ही नहीं, देती भी है और इससे यह सिद्ध हो जाता है कि नारी प्रकृति के विधान से नहीं, समाज के विधान से भोग्य है; अन्यथा प्रकृति और समाज दोनों में नारी-पुरुष की अन्योन्याश्रित स्थिति है। यह उल्लेखनीय है कि जीवन के कटु अनुभवों से सीख-सीख कर ही अन्त में दिव्या अपने जीवन को स्वतन्त्र निर्णय के योग्य बना सकी; और व्यक्ति, समाज और धर्म के शोषक अमानवीय विधान के प्रति विद्रोह कर निवृत्तिमूलक, अव्यावहारिक तथा असमतावादी-अहंमन्य धार्मिक आदर्शों के स्थान पर प्रवृत्तिमूलक समतापेक्षी भौतिक-व्यावहारिक दर्शन की विजय—'दिव्या' के मूल उद्देश्य—को

ध्वनित कर सकी। पृथुसेन और दिव्या के गत्यात्मक चरित्र-विधान—परिस्थित्यानुसार मनुष्य के रूपांतर—से तथा रुद्रधीर, मारिश और विशेषतया दिव्य के चरित्र से 'मनुष्य भोक्ता नहीं, कर्ता है' का दृष्टिकोण भी व्यंजित हो जाता है

नारी-समस्या और भौतिकवादी दर्शन के प्रतिपादन की समवेतता तथा दिव्य के जीवन-विकास एवं परिणति के रूप में अद्भुत घटना-चरित्र-सापेक्षता ने उपन्या को प्रभावी बनाने में विशेष योग दिया है। इसके अतिरिक्त यह उल्लेखनीय है f 'दिव्या' की समग्र कथा तत्कालीन परम्परागत समाज-विधान पर प्रच्छन्न व्यंग्य लि हुए है। प्रसंग-चयन में इस व्यंग्य-विनियोग पर विशेष दृष्टि से लेखक के सामाजि उद्देश्य में और भी प्रभविष्णुता आ गई है। जैसे, कुछ प्रसंगों से बात स्पष्ट हो जाएग —"स्वामी के दारुण अत्याचारों से हताश-विवश दासी को राज्य आत्महत्या करने रोक सकता है किन्तु स्वामी-गृह से पलायन के अपराध में दण्ड भी देता है। दासी पुत्र की हत्या का भागी होने से दासों के स्वामी को चाहे कोई दण्ड दिया जा सवे किन्तु मात्र ब्राह्मण होने से मौत या कारावास की सजा नहीं दी जा सकती"।[१] राज्य द्वारा घोषित सर्वश्रेष्ठ खड्गधारी को 'सरस्वती पुत्री' सम्मान दे सकती है, किन्त निम्नवर्गीय होने मात्र से वह उसकी शिविका को कंधा नहीं दे सकता। दास-दासियों व क्रय-विक्रय ऐसे होते हैं, जैसे साधारण पशुओं के व्यापार।

दिव्या की शोषण-कथा में भावपूर्ण स्थलों की कमी नहीं हो सकती थी औ लेखक की कलात्मक दृष्टि ने ऐसे स्थलों के उपयोग एवं रंजित चित्रण से उन्हें औ भी मार्मिक बनाकर अपने उद्देश्य की वैचारिक भूमि को वेदना-तत्व से परिपुष्ट क दिया है। इस दृष्टि से ये स्थल परिगणनीय हैं—१. अपनी स्वामिनी दिव्या का पत बता सकने में असमर्थ दासी छाया को यन्त्रणाएँ दे-देकर मार देने की घटना[२] ए अन्य पात्रों पर उसकी प्रभाव-प्रतिक्रिया का चित्रण-प्रसंग।[३] २. दिव्या के साथ अन्य दास-दासियों की दुर्दशा के दारुण-करुण वर्णन।[४] ३. अत्याचार-संतप्त दारा (दिव्या) की वेदना को प्रचण्ड ताप के झुलसे वातावरण से और भी द्रावक बनाने का स्थल। ४. निराश्रित दासी (दिव्या) का स्वामी-सेवा से निचुड़ कर स्वेच्छा से वेश्या तक ब जाने की असमर्थता का प्रसंग। ५. रत्नप्रभा से अंशु-माला की विदाई का प्रसंग।

'दिव्या' में यशपाल जी ने जितनी उद्देश्य-सजगता दिखाई है, उतनी ही कथानक रोचकता पर दृष्टि भी दी है। इससे उपन्यास की कलात्मकता बढ़ गई है। उपन्यास के नामानुकूल इसका कथानक मुख्यतः कथानायिका दिव्या-केन्द्रित है—कुछ ह स्थलों पर वह अन्य पात्रों के साथ भी है। अतएव यहाँ एक ही अधिकारि

---

१. पृ० १३०-३१। २. पृ० १०९-१११। ३. पृ० ११९।
४. पृ० ११६। ५. १२१-२५ ६. पृ० २०४-५।

कथा है—तदनुसार-कथानक सरल-इकहरा है। यह भी स्पष्ट किया जा चुका है कि इसका विकास दिव्या की जीवन-गति का विकास है—मानों यह उसकी चरित्र-कथा है, किन्तु उतना ही यह लक्ष्यात्मक भी है—कथानक की प्रच्छन्न व्यंग्यात्मकता तथा अन्तिम परिणति इसके प्रमाण हैं। इस तरह चरित्र, उद्देश्य तथा कथा तीनों एकान्वित हो गए हैं। इसलिए कथानक,लक्ष्यात्मक होता हुआ भी अयांत्रिक है।

उपन्यास के उद्देश्यानुकूल बाह्य परिस्थितियों के नानात्व के भीतर से दिव्या तथा पृथुसेन के अनेक रूप प्रस्फुटित हुए हैं, जिससे कथानक सरल होते हुए भी विविध मोड़ों वाला चक्करदार बन गया है। इससे पाठकों का सतत् औत्सुक्य-वर्धन होता रहा है। घटना-बाहुल्य से जनित कौतूहल भी यहाँ पर्याप्त है। भावोद्वेलक मार्मिक प्रसंगों की गम्भीर रोचकता का तत्व भी यहाँ कम नहीं है।

कथानक में नाटकीय-तत्व की विनियोग कुशलता से भी रोचकता आई है। इस दृष्टि से उपन्यास का आरम्भ और अन्त बड़ा आकर्षक बन गया है। इस आरम्भ और अन्त के अतिरिक्त, कहीं-कही अन्यत्र भी लेखक ने आस्वादनीय दृश्य-पद्धति से कथानक निर्मित किया है। इस सम्बन्ध में अश्क जी लिखते हैं—"दिव्या तो यशपाल ने निश्चय ही सिनेमा को ध्यान में रख कर लिखा है। उसका अन्त सिनेमा के पर्दे पर बड़ा प्रभावोत्पादक हो सकता है।"[1] किन्तु हमें तो यह औपन्यासिक पट पर भी कम प्रभावपूर्ण नहीं लगा। दृश्य-पद्धति के अतिरिक्त चौंकाने वाली आकस्मिकता की नाटकीयता भी यहाँ है। पहले परिच्छेद में पृथुसेन और रुद्रधीर की शस्त्र-प्रतियोगिता तथा दिव्या के मल्लिका की उत्तराधिकारिणी बनने के अभिषेक-प्रसंग में दिव्या के मुख-अनावरण पर सामाजिक विरोध का दृश्य इसके अच्छे उदाहरण हैं।

'दिव्या' का कथानक स्वाभाविक है और इसके विकास की तार्किक संगति का निर्वाह भी भलीभाँति हुआ है। फिर भी 'दिव्या' के उद्देश्य को लेकर आलोचकों ने कुछ ऐसे आक्षेप किए है जिससे कथावस्तु की स्वाभाविकता पर भी आपत्ति उठती है। अतएव यहाँ उनका विवेचन आवश्यक प्रतीत होता है। इस सम्बन्ध में एक आलोचक गिरजादत्त शुक्ल 'गिरीश' की सर्वप्रमुख आपत्ति यह है कि नीच कुलोत्पन्न पृथुसेन को दिव्या के प्रति अन्यायी और विश्वासघाती के रूप में अंकित कर लेखक ने प्रकारांतर से यही व्यंजित किया है कि नीच कुल के व्यक्ति पर श्रद्धा नहीं करनी चाहिए। इस रूप में यशपाल युग-संदेश के विपरीत भी चले हैं और कुलीनता पर आघात करने के अपने उद्देश्य के भी।[2] मेरे विचार में सारा उपन्यास पढ़ जाने पर

१. "रेखाएँ और चित्र", पृ० १७०। २. "समालोचक" नवम्बर १९५८।

दासों के प्रति संवेदना-जगाने में लेखक सफल रहा है और वह युग-संदेश के विपरीत नहीं चला। वस्तुतः दास-दासियों की दुर्दशा के अन्य-प्रसंगों से—जिनका उल्लेख पहले किया जा चुका है—यशपाल अनुकूल संवेदना जगाने में समर्थ हुए हैं। दूसरे, पृथुसेन के दिव्या के प्रवचन में उसकी अपनी इच्छा से अधिक परिस्थिति-वञ्चना है, जिससे उसकी प्रवंचना का प्रभाव कम हो जाता है। यशपाल के कथा-विकास में तर्क-संगति इतनी प्रबल है कि पाठक पृथुसेन के नए मोड़ पर आपत्ति नहीं कर सकता—उसे उसके अनैतिक व्यवहार से घृणा होती है, किन्तु निर्मम घृणा नहीं। तीसरे, अपने पिता प्रेस्थ के प्रभाव से पृथुसेन में वर्गचेतना होती, तो वह स्वयं सामंतों के समान दास-दासियों को क्यों रखता ? लेखक ने उसे दास-दासियों के उद्धारक के रूप में चित्रित नहीं किया, इसलिए उसके पतन में उपन्यास के उद्देश्य को कोई हानि नहीं पहुँचती। चौथे, प्रकारांतर से पृथुसेन की समग्र कथा से यह ध्वनित होता है कि दास भी तीव्र वर्ग-चेतना के अभाव में सामंत बन जाता है और उन्हीं की तरह वैभव-विलास में पड़ जाता है, तब उसमें और कुलीन सामंत में कोई अन्तर नहीं रहता। लेखक ने दास-पृथुसेन में जितनी वर्ग चेतना दिखाई है, इससे अधिक इतिहास का प्रतिबन्ध स्वतन्त्रता भी नहीं देता था। कलात्मकता का आग्रह भी यह है कि उपन्यासकार पात्रों को वर्गवाद के खानों में ही बाँट कर न चले, ताकि पात्र मात्र उद्देश्य-निदर्शन की कठपुतलियाँ न बन जाएँ। 'प्रेस्थ' परिच्छेद का प्रारम्भिक प्रघटक दर्शनीय है, जिसमें लेखक ने दासों की दुर्बलता तथा उच्छृंखलता का स्पष्ट उल्लेख किया है।[1] मेरे विचार में कलाकार यशपाल की यह विजय है कि नीच कुलोत्पन्न व्यक्ति को पतित न करने की हठधर्मी न दिखाते हुए भी वह दास-प्रथा के विरोध में सफल हो सके हैं।

गिरीश जी की दूसरी बड़ी आपत्ति पृथुसेन के चरम पतन तथा अन्त में उसके प्रति दिव्या के सुव्यवहार के सम्बन्ध में है; वह लिखते है—"जब उसके विरुद्ध आचार्य रुद्रधीर का षड्यन्त्र सफल हो गया और सहसा अधिकारच्युत होकर अपराधी के रूप में दण्डित होने के लिए वह खोजा जाने लगा तब स्थविर चीवुक वैद्य द्वारा बौद्ध रूप में दीक्षित एवं निरीह मुंडी रूप में प्रस्तुत होने पर उसके प्राण की रक्षा हो सकी। प्राण बचाने का यह ढंग पृथुसेन के लिए सौ मौतों से भी अधिक कष्टकारक होना चाहिए था, किन्तु पृथुसेन इतना बेहया हो जाता है कि इस प्रकार भी प्राण रक्षा कर लेता है और उस समय तो वह बेहयाई की सीमा का अतिक्रमण कर जाता है, जब पाँथशाला में पहुँचकर तथागत की शरण में आने के लिए दिव्या का आह्वान करता है—उसी दिव्या का, जिसका उसने सतीत्व नष्ट किया और अपने

१. पृ० ३६।

कुकृत्य के लिए किसी प्रकार का उत्तरदायित्व न ग्रहण करके जिसको उसने अथाह जीवन-समुद्र में डूबने-उतराने के लिए छोड़ दिया। आश्चर्य तो यह है कि दिव्या ने पृथुसेन को गंभीरतापूर्वक लिया तथा उसके आह्वान के उत्तर में कहा कि नारी का धर्म सृष्टि है, निर्वाण नहीं। उसके स्थान में अन्य कोई तेजस्वी नारी अस्त्र से युक्त होने पर उसकी नाक काट लेती और साधनहीन होने की स्थिति में उस पर थूक देती, तो भी वह अनुचित न कहा जा सकता"।[1] उपर्युक्त मत की यदि परीक्षा की जाए, तो लेखक के पक्ष में यही कहा जा सकता है कि वह परिस्थितियों के प्रभाव से मनुष्य के अनेक रूप प्रस्तुत करना चाहता था। अतएव निपट निराश्रय एवं निस्साहाय अवस्था में तथा बौद्ध स्थविर चीबुक के तेजस्वी व्यक्तित्व के प्रभाव में पर्याप्त अन्तर्द्वन्द्व तथा समय के पश्चात्, पृथुसेन जो मुण्डी धर्म ग्रहण करता है, वह अन्तिम परिणाम को आपततः देखने से चाहे अस्वाभाविक कहा जाए, किन्तु लेखक की तर्क-संगति के आधार पर अनुचित नहीं लगता। गिरीश जी के मत के उत्तरार्द्ध से मैं सहमत हूँ।

गिरीश जी की तीसरी आपत्ति यह है कि "आचार्य रुद्रधीर में ऐसा कोई अभाव नहीं दिखाया गया, जिसके आधार पर मारिश का पक्ष प्रबल होता। यदि दिव्या आदर्शवादिनी हो और गरीबी तथा संघर्ष के जीवन को स्वीकार करने के लिए अधिक लालायित हो, तो भी वह मारिश की ओर अधिक झुक सकती है। किन्तु भाग्य की मारी, दर-दर ठोकर खाने वाली दिव्या को आदर्श नहीं, वह यथार्थ ही रुचिकर होगा, जो उसके अपमानित, तिरस्कृत व्यक्तित्व को विश्राम दे सके। मारिश की विचारधारा के साथ लेखक का तादात्म्य है, इसीसे समझ पड़ता है कि अपनी विचार-सरणि की सम्यक् घोषणा के लिए उसने 'दिव्या' को मारिश के हवाले किया है। उपन्यास में अथवा किसी भी कला-कृति में किसी विचारधारा का प्रचार मैं अनुचित नहीं मानता, किन्तु शर्त यह है कि लेखक उसे पाठक पर लादने की चेष्टा न करे।..आचार्य रुद्रधीर जिस प्रकार मारिश के साथ संघर्ष में असफल दिखाया गया है, उसमें अस्वाभाविकता है, नारी-हृदय का एकांगी अध्ययन है"।[2] इस आपत्ति का उत्तर भी भली-भाँति दिया जा सकता है। रुद्रधीर में मारिश की अपेक्षा सबसे बड़ी कमी यह है कि रुद्रधीर विवाहित है और मारिश कुमार। इसलिए "आचार्य कुल के प्रति आदर का भाव होने पर भी रुद्रधीर की द्वितीया पत्नी बनने की कल्पना दिव्या को रुचिकर न हुई।"[3] नारी हृदय का यही सही अध्ययन है। दूसरी बात यह है कि रुद्रधीर दिव्या को कुलकन्या होने के जिस आधार पर ग्रहण करना चाहता है, वह दासी और वेश्या बनने वाली दिव्या के लिए महत्वहीन हो गया है।

---

१. "समालोचक" नवम्बर १९५८।

२. "समालोचक" नवम्बर १९५८। ३. पृ० २२।

इसके विपरीत मारिश कुल-ग्रन्थि से मुक्त है। इसका प्रमाण यह है कि अभिजात वर्ग एक राजनर्तकी को सम्मान देकर भी वेश्या ही समझता है और इसलिए किसी अभिजात कन्या को राजनर्तकी नहीं बनने देता। अतएव वेश्या नर्तकी दिव्या को रानी बनने पर भी सम्मानपूर्ण स्थिति मिलने का विश्वास नहीं हो सकता। तीसरा कारण यह है कि मारिश कलाकार है और दिव्या कलाकर्त्री। रुद्रधीर को कला से विशेष अनुराग है, न उसमें गति।[1] चौथी महत्वपूर्ण बात यह है कि रुद्रधीर के यहाँ दिव्या, महादेवी बन कर भी नारी की परतन्त्र स्थिति से मुक्त नहीं हो सकती थी, किन्तु मारिश से वह आश्रय तथा संतोष के आदान-प्रदान का आश्वासन पाती है तथा आत्मनिर्भरता की स्थिति का वरदान।[2] जीवन के दीर्घ अनुभवों से संत्रस्त दिव्या के लिए नारी की स्वतन्त्रता सर्वाधिक महत्वपूर्ण हो सकती थी, इसलिए उसने मारिश से भी स्पष्ट कहा था—"जीवन की विफलता में भी मुझे वेश्या की आत्मनिर्भरता स्वीकार है।[3] इस बात का भी विस्मरण नहीं किया जा सकता कि अंशुमाला के रूप में दिव्या मारिश के खरे-तीखे तर्कों से पर्याप्त आन्दोलित तथा उसकी कला से प्रभावित हो चुकी थी, इसलिए समय आने पर, विशेष रूप से पात्रों के तुलनात्मक अध्ययन के चरम क्षण पर, वह मारिश को स्वीकार कर लेती है। क्या दिव्या के वर्णाश्रम-अभिमानी रुद्रधीर को अपनाने में इस युग के पाठक का तादात्म्य हो सकता? वस्तुतः मारिश को अपनाने में ही लेखक ने पाठकों के एकात्मीकरण के लिए अनुकूल स्थिति उत्पन्न की है। सारांशतः इस दृष्टि से कथा और चरित्र-चित्रण में कोई अस्वाभाविकता नहीं।

डॉ० त्रिभुवनसिंह ने भी दिव्या के मारिश को स्वीकार करने की स्थति पर आपत्ति की है किन्तु उनका तर्क दूसरा है—"जिस माँसल प्रेम और सन्तान ने 'दिव्या' को समाज के सामने कलंकित किया उसे जीवन की अनेक दम घुटा देने वाली दर्दीली गलियों से गुज़रने के लिए बाध्य किया,.. वह सन्तति की परम्परा के रूप में मानव की अमरता (का आश्वासन देने वाले मारिश) की ओर बाहें फैला देती है, बात समझ में नहीं आती।.. उनके अन्य उपन्यासों के नारी पात्र भी अपने यौवन के असह्य भार को भोगवादी दार्शनिक पुरुष पात्र पर ही ला फेंकते है।"[4] यहाँ आलोचक महोदय से प्रश्न हो सकता है—क्या मारिश भोगवादी है या भौतिकवादी? वह तो भौतिकवादी भी विशेष दृष्टिकोण से है। नारी के भोग के प्रति क्या मारिश और पृथुसेन की प्रेरणा एक ही है? क्या वह दिव्या को केवल सन्तति का आश्वासन देता है? फिर भी मारिश पर एक आपत्ति स्पष्ट ही की जा सकती है। उसकी

१. पृ० १७७। २. पृ० २१२-१३। ३. पृ० १५६।

१. "हिन्दी उपन्यास और यथार्थवाद", पृ० १७५।

सक्रियता जितनी विचारों में है, उतनी व्यवहार में नहीं—उसकी सक्रियता को बाह्याकार स्वरूप नहीं मिल सका। उदाहरणतया दारा के रूप में चरम विपन्न दिव्या को वह व्यंग्योपदेश दे सका है, संवेदना से सहायता नहीं कर सका।[1]

'दिव्या' का चरित्रांकन समस्यानुकूल लक्ष्यात्मक है, अनायास नहीं। लक्ष्यात्मक होते हुए भी यह पर्याप्त कलात्मक है, यांत्रिक नहीं। 'दिव्या' के पात्र यशपाल के सामाजिक उद्देश्यों को चरितार्थ करने के लिए अपने-अपने वर्ग के गुण-दोषों को लिए हुए भी कुछ ऐसी विशेषताओं से युक्त होते हैं, जो उनको अपने वर्ग के अन्य व्यक्तियों से पृथक् करती है—ये वर्गगत हैं किन्तु इतने व्यक्तिगत भी कि समाज के साथ व्यक्ति की गति-प्रवृति के संकेत भी मिल सकें। इस सम्बन्ध में पृथुसेन के चरित्र-चित्रण का उदाहरण दिया जा चुका है। प्रेस्थ की महत्वाकांक्षाओं से प्रेरित कुटिलता उसे विशिष्ट बना देती है। मारिश की मस्ती [illegible] के अनुरूप है, किंतु उसकी निडरता-निश्छलता तथा तीक्ष्णता व्यक्तिगत सम्पत्ति हैं। दिव्या अपने अनुभवों से विवेक पाती है और सामान्य नारी के समान चुनाव नहीं करती। रुद्रधीर बहुत-कुछ वर्गगत है। मल्लिका, मादुलिका, सीरो, प्रतूल आदि भी यहीं हैं।

चरित्र-चित्रण के दृष्टिकोण के सम्बन्ध में यशपाल मारिश के मुख से कहते हैं—".. जीवन की स्थिति समय में है और समय प्रवाह है ..।"[2] यशपाल जी पात्रों की क्रिया-प्रतिक्रियाओं का चित्रण सदैव समय के संदर्भ में करते हैं।[3] इससे पात्रों के शील-विकास के प्रेरक कारणों के चित्रण से चरित्र-चित्रण में संगति आती है। किन्तु यशपाल केवल इस संगति के लिए ही नहीं, परिवर्तनशीलता के अपने दर्शन को चरितार्थ करने के लिए भी परिस्थितियों का साभिप्राय चित्रण करते हैं।

लेखक ने अपनी विचारधारा को मारिश से मुखरित किया है, इसलिए वह स्थिर पात्र है। प्रमुख पात्रों में रुद्रधीर भी स्थिर पात्र है। फिर भी उपन्यास का अधिकांश भाग घेरने वाले दोनों पात्र-दिव्या और पृथुसेन—गतिशील हैं। यशपाल के उपन्यास में कथावस्था का केन्द्रीय पात्र प्रायः गतिशील होता है। दिव्या की तरह उनका पात्र जीवन-गति के सम्बन्ध में कह सकता है—"···स्रोत से निकलते समय जल नहीं जानता वह किस दिशा में, किस नदी और सागर में बह जायगा"। दिव्या और पृथुसेन, दोनों गतिशील पात्रों का जीवन, इस उक्ति को चरितार्थ करता है। शील के गति-विकास के कारण-तत्वों में लेखक ने अर्थ और काम का सर्वाधिक उपयोग किया है। इसके अतिरिक्त विपत्ति और संस्कृति-सम्पर्क के कारण भी चरित्र-

१. पृ० १२५-२६। २. पृ० १५६।
३. इस सम्बन्ध में 'दिव्या' में आई अन्य उक्तियों को उद्धृत किया जा चुका है।

परिवर्तन हुआ है; जैसे, विशिष्ट निस्सहाय अवस्था में चीवुक के सम्पर्क से पृथुसेन का बौद्ध बनना और निरन्तर कटु अनुभवों की मारी दिव्या का मारिश के प्रभाव से आत्मनिर्भरता का मूल्य जानना। इसके अतिरिक्त "मारिश की संगति से रत्नप्रभा परलोक और अमरता की कामना से विरत होकर जीवन की सार्थकता की बात सोचने"[1] लगती है। इस गतिशीलता में यशपाल की विशिष्टता इसमें है कि वह परिस्थितियों की गम्भीरता तथा उनकी सापेक्षता में पात्रों के विकास का ऐसा क्रमिक चित्रण करते हैं कि उनका नूतन परिवर्तन अपनी विवशता में सहज विश्वसनीय हो उठता है। इसलिए पृथुसेन तथा दिव्या के अनेक रूप संगत प्रतीत होते है। उपर्युक्त 'क्रमिक विकास' के कारण ही पात्र लेखक की कठपुतली होने का प्रभाव नहीं डालते। उनमें परिस्थितियों से घात-प्रतिघात से अन्तर्द्वन्द्वों का सजीव चित्रण है। नए मोड़ पर आने से पहले ये अनेक मानसिक स्थितियों से गुज़रते हैं, जो व्यावहारिक मनोविज्ञान के अनुकूल चित्रित हैं। इस दृष्टि से 'दिव्या' का 'अंशुमाला' परिच्छेद दर्शनीय है, जिसमें अनेक कटु अनुभवों की स्मृतियों से ग्रस्त, दिव्या के नए रूप—वेश्या नर्तकी—के आगे, मारिश तथा रुद्रधीर अपने सम्पूर्ण भाव-विचारों के वैभव के साथ प्रणय-निवेदन करते है और दिव्या अनेक अन्तर्द्वन्द्वों के पश्चात् भी इनको ठुकरा देती है। यही दिव्या कुछ अन्य परिस्थितियों के बाद अन्त में मारिश को स्वीकार कर लेती है।

इस परिच्छेद में अंशु के रूप में दिव्या की संघर्षशील मनःस्थितियों की व्यंजना में सात्विक अनुभवों का विशेष विनियोग हुआ है। इस मनोवैज्ञानिक तत्व के उपयोग से चरित्रांकन स्वाभाविक [illegible] हो गया है।

पात्रों के बहिरंग चरित्रांकन में लेखक का ध्यान पुरुषों पर नहीं, नारी पर ही रहा है। इसमें भी उसकी दृष्टि रूप-चित्रण पर रहती है। इसके लिए, मारिश द्वारा दिव्या को बार-बार कहा गया लेखक का यह दृष्टिकोण उत्तरदायी है—"··· तुम्हारी कला तुम्हारी आकर्षण शक्ति का निखार मात्र है।"[2] इसके अतिरिक्त जिस उपन्यास में प्रवृत्तिमूलक दर्शन का समर्थन किया गया हो और जिसकी कथा रूप-लोभी[3] एवं प्रणय-प्रार्थी पुरुषों के संघर्ष को लेकर चले, वहाँ नारी का रूप-चित्रण स्वाभाविक हो जाता है। 'दिव्या' में वेश्या-प्रसंग है, अतएव यहाँ यह और भी उचित है।[4] वैसे भी, रूप-चित्रण से उपन्यासकार चारित्रिक मूर्तिमत्ता तथा शृंगारिक सरसता की सिद्धि करते हैं और यशपाल यह और भी रस लेकर नारी के उत्तेजक अंगों को उभार कर—करते हैं।[5]

---

१. पृ० १३७। २. पृ० २७, १४४। ३. पृ० ८३, ८४।
४. पृ० १३४। ५. पृ० १४६।

उपर्युक्त उद्देश्यों के अतिरिक्त एक स्थल पर 'दिव्या' में रूप-चित्रण का सामाजिक उद्देश्य भी है; जैसे, पृथुसेन के 'निद्रोपचार' के लिए आनेवाली दासी की रूप-सज्जा द्रष्टव्य है—"छिले हुए कदली के समान स्निग्धवर्णा दासी ने निःशब्द पदों से कक्ष में प्रवेश किया। उसका वेश और रूप रुचिर था। ग्रीवा से एक मुक्तावली और नये स्फुटित मालती कुसुमों की माला, गुलाबी कौशेय पट से पीठ पीछे बँधे सुगोल उरोजों पर झूल रही थी। निरावरण क्षीणोदर की त्रिवली से कटि की ओर उठता हुआ वर्तुल उभार। कटि पर पीत कौशेय शाटक मुक्तावली की मेखला से सम्भलता हुआ। उसके कोमल बाहुओं पर मुक्तावली के अंगद और वलय थे। उन्मुक्त सुगन्धित केश मुक्ता-वल्लियों से गुंथे हुए थे। शरीर पर कठोर-स्पर्श स्वर्ण आदि धातु नहीं, केवल शीतल, सुखद-स्पर्श मुक्ता थे"।[1] डॉ० रणवीर रांग्रा ने इसकी आलोचना करते हुए लिखा है—"उपर्युक्त चित्रण को पढ़ने पर ऐसा प्रतीत हो सकता है कि उपन्यास पाठकों की वासना को उभार कर उन्हें उपन्यास के प्रति आकृष्ट करने का निम्नतम साधन अपना रहा हो। पर इस वर्णन के शीघ्र ही बाद पाठक जब उपन्यासकार के ये शब्द पढ़ता है कि "द्वार से फर-फरकर भीतर आती हुई शीतल वायु में उसके निरावरण शरीर के रोम खड़े थे। स्वामी के विनोद के लिए उसका शरीर निरावरण था" तो इस निरीह, असहाय दासी के प्रति उसकी भावना बदल जाती है। इस नारी के प्रति उसकी करुणा उमड़ जाती है"।[2]

ऐतिहासिक उपन्यास के कथानक एवं पात्रों की वास्तविकता का आधार ऐतिहासिक वातावरण का निर्माण है। लेखक के दृष्टिकोण के अनुसार चरित्र-विकास में बाह्य परिस्थितियों का विशेष उपयोग होने के कारण 'दिव्या' में ऐतिहासिक परिस्थितियों का समावेश—कथानक में किसी प्रकार का अवरोध लाए बिना—स्वतः ही होता गया है, अतएव यह कलात्मक है।

'दिव्या' के 'प्राक्कथन' से स्पष्ट है कि लेखक ने ऐतिहासिक वातावरण-निर्माण को छोड़, इतिहास-तत्व के समावेश के लिए और किसी प्रतिबन्ध को स्वीकार नहीं किया। इसी के बल पर वह अपनी कल्पना की वास्तविकता का विश्वासोत्पन्न करना चाहता है और इसमें वह पर्याप्त सफल रहा है। राज्यों-पात्रों के नाम, सम्बोधन-शिष्टाचार, उपाधि-उपधान, खान-पान तथा इनकी सूचक प्राचीन शब्दावली वाद्य, नृत्य, युद्ध, उत्सव, शस्त्र-अस्त्र, (तांत्रिक) विद्या आदि सब सुदूर अतीत का सफल चित्रण करते हैं। लेखक के अनुसार—"बौद्धकालीन वेश-भूषा और वातावरण को हृदयंगम करने में विशेष सहायता अजन्ता और एलोरा की यात्रा से मिली।"[3] पंचम-

१. पृ० ५७।
२. "हिन्दी उपन्यास में चरित्र-चित्रण का विकास", पृ० ३२६। ३. पृ० ६।

परिच्छेद में, 'मधुपर्व' के आयोजन में तत्कालीन वातावरण का सजीव साक्षात्कार हो जाता है; जैसे, वहाँ वंशवर्ण के अनुकूल वेश-विन्यास का वर्णन देखा जा सकता है— "... ब्राह्मण स्वर्ण के तार से कढ़े लाल रेशम के उष्णीष से सिर के केशों को बाँधे थे। उनके मस्तक और भुजा पर श्वेत चन्दन का खौर था। श्मश्रु मुण्डे हुए। उनके कण्ठ की मुक्तमालाओं में कृष्ण रुद्राक्ष शोभित थे। कंधों से लहराते उत्तरीय के नीचे अस्पष्ट झलकती रेखा, कटि से नीचे स्वच्छ अन्तरवासक पर पीत यज्ञोपवीत के रूप में प्रकट थी। काँछ लगे स्वच्छ अन्तरवासक पादत्राण को स्पर्श कर रहे थे। क्षत्रिय स्वर्णखचित शुभ्र वस्त्र धारण किए थे।... उनके कानों, कण्ठ, भुजा और कलाइयों पर रत्न-जटित आभूषण थे। विस्तृत वक्षस्थल से सूक्ष्म कटि तक शरीर चुस्त अंगरखों में मढ़ा था। कटि से जानु तक काँछ कसे अन्तरवासक और पाँव से जानु तक पिंडलियाँ पादत्राणों में कसी हुई।... श्रेष्ठियों के वस्त्र बहुमूल्य परन्तु ढीले ढाले। गण परिषद के सदस्य कंधों पर अजानु केसरी कंचुक धारण किये थे। कुछ यवन सामंतों के सिर पर चोटीदार टोपी, घुटनों तक ढीले ऊनी अंगरखे, पायजामे और पाँव में ढीले जूते थे ...।"[1] इस अवतरण से यह भी स्पष्ट है कि 'अतीत के रंग-रूप की रक्षा' में लेखक की संस्कृत-गर्भित शैली तथा असाधारण प्राचीन शब्दावली ने विशेष योग दिया है।[2] यशपाल जी ने सामाजिक-धार्मिक रीति-नीति को भी तत्कालानुकूल रखने का प्रयास किया है; जैसे, बौद्धों के मठ प्रचलित शासन से स्वतन्त्र थे और उन पर मठाधिकारी का ही शासन चलता था; जो अपराधी मठ की शरण चला जाता था, उसे शासन दण्ड नहीं दे सकता था; 'पृथ्वी पर राजा देवता का प्रतिनिधि' माना जाता था;[3] शस्त्र की आज्ञानुसार ब्राह्मण को मृत्यु और कारावास का दण्ड नहीं दिया जाता था;[4] दास-प्रथा जोरों पर थी; दासों को वेचने-लेने के विशेष व्यावसायिक मेले लगते थे[5] आदि-आदि। इसके अतिरिक्त कुलीन जीवन तथा सामान्य जन-जीवन का भी वातावरण-निर्माण में सहायक, सोद्देश्य, सविस्तर चित्रण किया गया है।

इस ऐतिहासिक वातावरण के चित्रण में आलोचकों ने कुछ दोष भी देखे हैं। भगवतशरण उपाध्याय के अनुसार "उस समय भारत में अंगरखा नहीं पहना जाता था और यशपाल ने अंगरखा का प्रयोग किया है; और भी, यशपाल ने ग्रीकों के फ़ादर जीयस को "देवी जीयस" लिखा है।"[6] शरत-पूर्णिमा के अवसर पर, रास-नृत्य के रूप में, जो युग्म-नृत्य कराए गए हैं[7], उसे भी आलोचकों ने अभारतीय या

---

१. पृ० १०। २. इसलिए उपन्यास के अन्त में कुछ अप्रचलित शब्दों की अर्थसहित तालिका दी गई है। ३. पृ० १३०।
४. पृ० १३१। ५. पृ० ११६। ६. सुरेशचन्द्र तिवारी: "यशपाल और हिन्दी कथा साहित्य", पृ० ८४ से उद्धृत। ७. पृ० १८३।

इतिहास के प्रतिकूल माना है।[1] अभिजात वर्ग की कन्याओं की स्वच्छन्दता भी इतिहासानुमोदित नहीं मानी गई है।[2] यह स्वच्छन्दता इस सीमा तक प्रदर्शित है कि पर-पुरुष, पति के सामने उसकी पत्नी तथा भाई के सामने उसकी बहिन से नृत्य करते हैं। उस काल में चार्वाकानुयायी मारिश के भौतिकवादी दर्शन को भी अनुपयुक्त बताया गया है। फिर भी ये सभी ऐतिहासिक भूलें खटक सकती हैं, आक्रांत नहीं करती। इसका कारण उपन्यास की कलात्मकता है। अतएव सामान्यतः यही कहा जा सकता है कि लेखक ने उस काल का सफल चित्रण किया है और ऐतिहासिक वातावरण से कथा में यथार्थता लेने में भी सफलता प्राप्त की है।

ऐतिहासिक वातावरण के अतिरिक्त प्राकृतिक वातावरण से भी वर्णनों को अनुकूल पीठिका दी गई है। इस दृष्टि से प्रकृति की शृंगारिक पीठिका के लिए अंशुमाला परिच्छेद आस्वादनीय है।[3] अन्यत्र ग्रीष्म के तप्त वातावरण से दासी दिव्या की वेदना-विषमता को और भी मार्मिक बना दिया गया है।

'दिव्या' में संवाद-तत्व का समुचित समावेश हुआ है। ये संवाद विचार-प्रकाशक, वातावरण-विधायक, चरित्र-निर्मायक तथा कथा-अग्रसरक हैं। 'दिव्या' में विचाराभिव्यक्ति के लिए तार्किक संवादों का आश्रय लिया गया है, किन्तु इनसे कहीं भी शुष्कता नहीं आई। दार्शनिक संवाद अधिकांशतः 'अंशुमाला' परिच्छेद में आए हैं, जो शृंगार और कला की सरसता से सिंचित हैं। दूसरे ये जीवन की कटु घटनाओं की स्मृतियों से जनित वेदना से उद्भूत हैं, अतएव ये तर्क-वितर्क लेखक के नहीं, पात्रों के लगते हैं। इससे विचार-प्रकाशन के साथ पात्रों की मनःस्थितियों से सम्बन्धित होकर ये चरित्र-प्रकाशक भी हो गए हैं। प्रमाणतया, संवाद-क्रम में लेखक ने पात्रों के अन्तस् के परिचायक सात्विक अनुभावों का चयनित चित्रण किया है। इससे पात्रों के तर्क-वितर्क भीतर के राग-विराग से स्पन्दित होकर स्वाभाविक बन गए हैं और औपचारिक नहीं लगते। इसके अतिरिक्त पक्ष-विपक्ष की पर्याप्त समतुल्य सबलता से इन तार्किक संवादों में तर्क-वितर्क का अपना सौन्दर्य भी है।

संवादों की पात्रानुकूलता भाषा की दृष्टि से नहीं, किन्तु शैली की दृष्टि से अवश्य है। पात्रों की मनःस्थितियों के अनुकूल संवाद-शैली में आने वाले स्थूल परिवर्तन लक्षित किए जा सकते हैं। उदाहरणतया, माताल पुरुषों का उच्चारण परिवर्तित हो जाता है;[4] तर्क की उत्तेजना में विष्णु शर्मा प्रश्नों की झड़ी लगा देता

---

१. शांतिप्रिय द्विवेदी : "साकल्य' पृ० २०२; तथा प्रकाशचन्द गुप्त : "आधुनिक हिन्दी साहित्य — एक दृष्टि", पृ० ८२। २. वही, पृ० ८२।
३. पृ० १४६। ४. पृ० ९६।

है,[1] किन्तु अपनी मरणासन्न स्थिति में शब्दों को विशेष अन्तराल से ही बोल पाता है।[2] लेखक ने शब्दों के अन्तराल को सर्वत्र बिन्दुओं से चिन्हित किया है। विभिन्न पात्रों की उक्तियों में अपने-अपने व्यवसाय तथा स्वभाव की किंचित् झलक भी मिल जाती है पर अपेक्षित परिवर्तनशीलता नही आ सकी। लेखक ने पात्रानुसार भाषागत विविधता लाना आवश्यक नही समझा।

'दिव्या' की भाषा-शैली की विशिष्टता-सफलता वातावरण-निर्मायक तत्सम-बहुल संस्कृत शब्दावली के प्रयोग में है। अप्रचलित शब्दों का व्यवहार भी इसी दृष्टि से किया गया है। स्थान-स्थान पर काव्यमयी भाषा के प्रयोग से लेखक ने विषय की सरसता को बढ़ाया है। इस दृष्टि से 'दिव्या' के शृंगारिक स्थलों तथा उनके सहायक प्रकृति-चित्रण को देखा जा सकता है। इसके अतिरिक्त लेखक ने अनुकूल तथा प्रतिकूल प्रकृति-चित्रण से भी शैली को प्रभावपूर्ण बनाने का प्रयत्न किया है;[3] जैसे, "धाता ने लौटकर निराशा से आर्य को पाने में असफलता का समाचार कहा। उसी समय सम्मुख पर्वत श्रेणी पर भी सूर्य का शेष प्रकाश विलीन हो गया"।[4] अपनी अभिरुचि के विपरीत, ऐतिहासिक वश्यता के कारण, लेखक ने जिस शैली का अवलम्बन किया है, उसमे सर्वत्र समुचित प्रवाह स्थिर नहीं रह सका। फिर भी, इस शैली के गुण ही अधिक आकर्षित करते है।

सारतः, एक समस्या-प्रधान उपन्यास के अनुकूल प्रयोजन के किंचित् सजग प्रतिष्ठापन तथा इतिहास-विरुद्ध कुछ बातों के होते हुए भी 'दिव्या' की कलात्मक चारुता सम्मोहित करती है। सभी औपन्यासिक तत्वों के समानुपातिक एवं समन्वित प्रयोग, तथा वासना, वेदना एवं विचारों के संतुलित विनियोग से 'दिव्या' पर्याप्त रंजक तथा संवेदक उपन्यास बन सका है।

मधुर स्वप्न

'सिंह सेनापति' और 'जय यौधेय' (१९४४) के पश्चात्, ३३५ पृष्ठों का 'मधुर स्वप्न' (१९४९) राहुल साकृत्यायन का तीसरा ऐतिहासिक उपन्यास है। लेखक के अनुसार उसने "विस्तृत इतिहास के विस्मृत पन्ने को पाठकों के सामने रखने"[5] के उद्देश्य से इस उपन्यास की रचना की है। साथ ही उसने अपनी मूल प्रेरणा 'न्याय चाहने वाले' कुछ ऐतिहासिक पात्र बताए है।[6] लेखक के उपर्युक्त कथन पर जगदीशगुप्त ने सम्मति देते हुए लिखा है—"वस्तुतः 'मधुर स्वप्न' के द्वारा

---

१. पृ० २५। २. पृ० १११।
३. पृ० ९२, १८०। ४. पृ० ७५। ५. 'प्राक्कथन'। ६. वही।

राहुल जी से एक विशिष्ट [illegible] को सबके सामने रखना चाहा है। न्याय और अन्याय का प्रश्न सदा ही किसी-न-किसी जीवन-दर्शन के आधार पर उठता है। जिन ऐतिहासिक पात्रों की ओर लेखक ने संकेत किया है तथा जिनसे प्रेरणा ग्रहण की है, वस्तुतः वे उनके जीवन-दर्शन के प्रतीक हैं।"[1] निस्सन्देह विस्मृत इतिहास के उद्धार-प्रयत्न के लक्ष्य ने इस उपन्यास को जहाँ इतिहास-प्रधान बना दिया है—और पहले दोनों उपन्यासों के समान यहाँ भी ऐतिहासिक प्रामाणिकता के लिए सविस्तर परिशिष्ट लिखा है—वहाँ अपने जीवन-दर्शन के साग्रह समावेश ने इसे विचार-प्रधान —और सही शब्दों में प्रचार प्रधान—भी बना दिया है।

'मधुर स्वप्न' लेखक के जीवन-दर्शन—साम्यवादी सिद्धांतों (तथा लेखक के कुछ निजी विचारों)—के आधार पर एक आदर्श समाज के स्थापना-प्रयास का मधुर स्वप्न है। इसी में उपन्यास के नामकरण की सिद्धि है। यहाँ स्वप्न शब्द का प्रयोग किन्हीं "बुरे अर्थों में" नहीं किया गया, "महान कार्य की मानसिक पूर्व कल्पना को" स्वप्न का नाम दिया गया है।[2] मानवमात्र की—"वाचिक क्षेत्र ही नहीं, बल्कि आर्थिक व्यवहार-क्षेत्र में भी"—समानता से भूमि पर स्वर्ग उतर सकता है, अतएव इस कल्पना को 'मधुर स्वप्न' की अभिधा दी गई है।[3] इन साम्य-सिद्धान्तों को चरितार्थ करने की प्रेरणा से ही लेखक ने ईरानी इतिहास के उस काल-खण्ड—सन् ४९२ ई०-५२९—को चुना, जिसमें इन सिद्धांतों के वाहक तथा इनके लिए संघर्ष करने वाले पात्र थे, जो इतिहास की उपेक्षा के विरुद्ध उससे न्याय पाने—अपने को उजागर करने—की माँग कर रहे थे। इन पात्रों में प्रमुख है अन्दर्जगर या मज्दक, जो इस मधुर स्वप्न का द्रष्टा है और यह उपन्यास उसी के मधुर स्वप्न के बनने-मिटने की कथा। तत्कालीन अयरानी सामंतशाही राज्यतन्त्र में व्याप्त रूढ़ियों, कुरीतियों, धार्मिक असहिष्णुताओं तथा वर्गीय विषमताओं के चित्रण के मध्य अन्दर्जगर के साम्य-सिद्धांतों को उसके कथनों-कार्यों से इतना प्रभाव-विस्तार दिया जाता है कि तत्कालीन बादशाह को प्रभावित कर उसका मज्दकी धर्म राजधर्म बन जाता है और इस बादशाह की पराजय के बाद दिहबगान नामक ग्राम उसके आदर्शों का मूर्तिमान प्रतीक बन कर आता है।[4] इस ग्राम में सम्पत्ति के समविभाजन के साथ सम्मिलित-पत्नी के सिद्धांतों को साकार किया गया है। इस तरह लेखक ने अपने जीवन-दर्शन को स्वयं निबन्ध-तत्व के माध्यम से नहीं, इसी अन्दर्जगर के कथनों-कार्यों से प्रकाशित किया है। इस दृष्टि से अन्दर्जगर का यह कथन उल्लेखनीय है—"दुनिया के दुखों के दूर करने के लिए मनुष्य मात्र में समता—भोगों की समता

१. "आलोचना" संख्या ४, पृ० १०१।
२. पृ० २३९। ३. पृ० २३९ तथा २४१। ४. पृ० २८२।

कामों की समता—स्थापित करना ही एक मार्ग है। विषमता में मुट्ठी-भर लोग ही सुखी रह सकते हैं और मुट्ठी-भर भी निश्चिन्त जीवन नहीं बिता सकते।...मैं और मेरा का ख्याल छोड़ विश्व को कुटुम्ब बना उसमें समता की स्थापना ही सारे रोगों की दवा है। आज हम प्रयत्न कर रहे हैं, हो सकता है कि हम सफल न हो पाएँ। यह भी हो सकता है कि आने वाले मधुर-स्वप्न-दर्शियों को हमारे तजर्बे का कोई परिचय न हो; तो भी जो सत्य है, वह भूल जाने पर भी प्रकट होगा। हमारी रखी नींव के भी लुप्त हो जाने पर नये हाथ और मस्तिष्क फिर इस काम में लगेंगे और वह तब तक विश्राम न लेंगे, जब तक भव्य प्रसाद नहीं तैयार हो जायेगा।" स्पष्ट है कि लेखक का प्रेरणा-स्रोत वर्तमान है, अतीत नहीं; और उसने अतीत में भी उन वर्तमान क्षणों को खोज निकाला है, जो समसामयिक साम्यवादियों के संघर्षेतिहास के प्रारम्भिक संघर्ष-प्रयोग को लिए हुए हैं। इस तरह अतीत की विवेक-सम्पन्न विभूतियों के चिन्तन-निष्कर्षों द्वारा उसने वर्तमान साम्यवादी [illegible] की नींव को गहरी, अतल-अतीत व्यापी सिद्ध करने का प्रयास किया है। उसके लिए अतीत-मंथन की सार्थकता वर्तमान के लिए स्फूर्ति रत्नों को खोज निकालने में है। परन्तु यह अत्याधुनिकता की अनैतिहासिकता, ऐतिहासिक यथार्थ को विकृत तथा उपन्यास को दुर्बल बनाने वाली है। इस सम्बन्ध में डॉ० रांगेय राघव लिखते हैं—"कला के क्षेत्र में अविकृत और विकृत चित्रण का ऐतिहासिक यथार्थवाद में बड़ा महत्व है—अविकृत कहते हैं उस चित्रण को जिसमें तत्कालीन समाज का वास्तविक चित्रण किया जाता है। विकृत उस चित्रण को कहते हैं जिसमें तत्कालीन समाज के चित्रण में आधुनिक दृष्टिकोण को ही एक-मात्र पैमाना बना लिया जाता है, और पुराने पात्रों के मुख में आधुनिक लेखक बोलने लगता है। उदाहरण के लिए राहुल सांकृत्यायन के ऐतिहासिक उपन्यासों में दिशा-काल को भेद कर अमूमन एकाध मार्क्सवादी पात्र होता है। वह ऐसी बातें कर जाता है जो तत्कालीन समाज के समय के चिन्तन को आगे व्यक्त नहीं करता, वरन् आधुनिक विचारों का प्रतिनिधित्व करने लगता है। यह उचित नहीं है। लेखक अपने को इतिहास पर लाद देता है। राहुल में यह दोष है कि उनमें कलापक्ष का अभाव है, केवल पाण्डित्य का बोझ है"।[1] डॉ० नगेन्द्र ने 'सिंह सेनापति' और 'जय यौधेय' की दृष्टि से यही आपत्ति की है—"क्या आधुनिक सोवियत् विधान का उस युग के इतिहास पर आरोप नहीं किया गया है"[2]? इस तरह अपने सभी ऐतिहासिक उपन्यासों में राहुल जी मूलतः वर्तमान तथा अपने जीवन-दर्शन से ही प्रेरित रहे हैं।

विचारों की आधुनिकता को छिपाने तथा पाठकों पर उनके इतिहास-सम्मत

---

१. "आलोचना" संख्या ३, पृ० ७४-७५। २. 'काव्य-चिन्तन', पृ० १०३।

होने का भ्रम उत्पन्न करने के लिए राहुल जी कुछ कौशलों का आश्रय लेते हैं। 'सिंहसेनापति' की भूमिका में उन्होंने लिखा है कि उन्हें यह पुस्तक खुदाई में मिली और वह इसे अनूदित रूप में प्रस्तुत कर रहे हैं। 'जययौधेय' की भूमिका और 'मधुर स्वप्न' के 'प्राक्कथन' में यद्यपि उपर्युक्त कौशल नहीं, तथापि अपनी मूल प्रेरणा को ऐतिहासिक सिद्ध करने का प्रयास अवश्य है। इसके अतिरिक्त राहुल जी ने तीनों उपन्यासों में दीर्घ परिशिष्ट लिखकर अपनी ऐतिहासिक सामग्री के स्रोतों का उल्लेख किया है। 'मधुर स्वप्न' में २३ पृष्ठों का परिशिष्ट है।[1] इस तरह विचारों की अत्यधिकता पाठक को इनकी प्रामाणिकता पर सहज-सन्देह कराती है और उनके परिशिष्ट आदि की विपुल ऐतिहासिक सामग्री अपने पांडित्य से अभिभूत।

ऐतिहासिक वातावरण—प्रमुखतया बाह्य वातावरण—के निर्माण में राहुल जी सचेष्ट रहे हैं जिसने ऐतिहासिक प्रामाणिकता की विश्वसनीयता में योग दिया है। इसके लिए लेखक ने अधोलिखित साधनों का उपयोग किया है :—

१. उपन्यास की आधारभूमि (ईरान और उसका परिवेश) के स्थान-स्थान पर भौगोलिक विवरण दिए गए हैं। डॉ० प्रभाकर माचवे ने स्पष्टीकरण के लिए 'मधुर स्वप्न' के मुखपृष्ठ पर चित्र भी बना दिया है। ऐसी प्रतीति होती है कि राहुल जी को अपनी रंगभूमि का पूरा परिचय है और पाठक भी उनके साथ विचरने लगता है। ईरान और उसके आस-पास की विशिष्ट प्रकृति, फल-फूल तथा उपज-उपादान का भी परिचय मिल जाता है।

२. लेखक ने ऐतिहासिक प्रामाणिकता के लिए अनेक स्थलों पर तिथि, मास, सन् आदि का पूरा-पूरा उल्लेख किया है।

३. इतिहास-सम्बन्धी विशेष अप्रासंगिक प्रश्न कराए गए हैं।[2] इसके लिए 'गवेषणा'[3] करने वाले मित्रवर्मा-जैसे पात्र की योजना हुई है। वस्तुतः यह उपन्यास की अपनी आवश्यतका नहीं, राहुल जी की अनुसंधान-रुचि ऐतिहासिक चर्चाओं के लिए उत्तरदायी है।

४. तत्कालीन राजदरबारों तथा आवासों के विस्तृत विवरण दिए गए हैं। राजदरबारों के शिष्टाचार, विभिन्न जातियों के रंग-रूप, आचार-विचार, रीति-रिवाज, खान-पान[4] और समाज की वर्ग-स्थिति का सजीव प्रत्यक्षीकरण हुआ है। अनेक परिच्छेद तथा परिच्छेदांश केवल तत्कालीन सभ्यता-संस्कृति के चित्रण की दृष्टि से ही महत्व रखते हैं अन्यथा उन्हें सहज ही निकाला जा सकता है; जैसे, 'श्वेता' परिच्छेद दास-प्रथा, 'तीर्थ-यात्रा' धर्माचारों, तथा 'दो राजाओं का मिलन'

१. पृ० ३१२-३५। २. 'दो राजाओं का मिलन', 'सीमांत' आदि परिच्छेद।
३. पृ० २२१। ४. पृ० ४२-४३।

'सीमांत', 'तोरमान राजधानी', 'घटायें' (पूर्वार्द्ध) आदि हूण सभ्यता-संस्कृति तथा इतर ऐतिहासिक जानकारी देने की दृष्टि से ही अधिक महत्व रखते है। इनमें कथा-तत्व न्यून है।

५. वातावरण की प्राचीनता को मूर्तिमान करने के लिए तत्कालीन सिक्कों के अतिरिक्त पात्र, नगर, नदी-पहाड़ों आदि के प्राचीन नामों का खोजपूर्ण आश्रय लिया गया है; जैसे हिरितावली (हरियाना),[२] गोपगिरी (ग्वालियर),[३] पुरुषपुर (पेशावर),[४] अवन्तिपुरी (उज्जैन),[५] गन्धमान (हिन्दूकुश),[६] कपिशा (काबुल),[७] आदि। वस्तुओं, पशुओं, सम्बन्धो, उपाधियों आदि के ईरानी शब्दों का पर्याप्त प्रयोग किया गया है। लेखक ने स्पष्टीकरण के लिए कोष्ठ में अर्थ भी दिए है। कुछ उपाधि-शब्द बार-बार आए है और हर बार इनके कोष्ठक में अर्थ नहीं। पाठक एक ही बार में अर्थ को हृदयंगम नहीं कर पाता और उसे भाषा-समझने में कठिनाई होती है। इससे रस में व्याघात होता है। ऐसे कुछ शब्द हैं :—अर्गमत मगोपतान्-मगोपत, वचुर्क, वामदात्-पोह्, विस्पोह्, बम्बिश्नान्-बम्बिश्न्, ख्वता-पातेखशाह, अकामेन्, देरेस्तदीन।

सारांश में "राहुल जी मे उपन्यासकार की अपेक्षा इतिहासज्ञ और बहुभाषा-विज्ञ के तत्व अधिक प्रधान एवं शक्तिशाली है, फलत: उपन्यास बोझीला है। ऐतिहासिक तथ्यों के समाहित करने के प्रयास में कथा की गति शिथिल हो गई है और कहीं-कहीं उसकी आनुपातिकता एवं स्वाभाविकता को भी आघात पहुँचा है"।[८]

उपन्यास का आरम्भ उत्सुकता-रहित (चार पृष्ठों के) दीर्घ वर्णन-विवरण से हुआ है जिसमें एक इतिहासज्ञ तथा बहुभाषाविज्ञ का पाण्डित्य है, उपन्यासकार का कौशल नही। वर्णन अच्छे है, फिर भी पाठक आकर्षित नही होता; इसे धैर्य रखकर पढ़ना पड़ता है। आगे इसी प्रथम परिच्छेद में ही कथा का व्यावहारिक प्रारम्भ तब होता है जब सामन्तवादी क्रूर शोषण के फलस्वरूप भीषण परिस्थितियाँ उत्पन्न होती है और अकालग्रस्त निम्नवर्गीय जनता, मज्दक के नेतृत्व में, अपने शासक कवात् से फरयाद करती है। मज्दक के प्रभाव में शाह् कवात् निम्नवर्गीय घोर दुरावस्थाजन्य नरक तथा उच्चवर्गीय विलासिता-क्रूरता के स्वर्ग का साक्षात्कार करता है और हृदय-परिवर्तन से वह निर्धनों के लिए अनाज के वखारों को खोल देता है। धनी-सामंत-वर्ग अपनी स्वेच्छाचारिता के एकाधिकार में बाधक—समता-सिद्धाँतों के प्रभाव में आए—शाह् कवात् को वन्दी बना कर उसके भाई को शाह

१. पृ० १७। २. पृ० २४०। ३. पृ० २१७। ४. पृ० २१६। ५. पृ० २२२। ६. पृ० २१५। ७. पृ० १४४। ८. डॉ० जगदीश गुप्त : "आलोचना" संख्या ४, पृ० १०४।

बना देते हैं। इस तरह साम्य-सिद्धान्तों तथा विरोधी उच्चवर्गीय विचारों के संघर्ष—जिसे वर्ग-संघर्ष भी कहा जा सकता है—से कथा में भी उत्सुकतावर्धक संघर्ष उत्पन्न होता है। यहाँ तक कथानक की गति समुचित तीव्र है और बीच-बीच में आए अनेक तर्क-वितर्कमय विचारात्मक स्थल इस में खप-से जाते हैं किन्तु आगे के अनेक परिच्छेद (उपन्यास का अधिकांश भाग) मज्दक के साम्यसिद्धांतों के विवेचन-दिग्दर्शन तथा प्राचीन धार्मिक-सामंतिक रूढ़ियों के अनावरण-खंडन के लिए आए हैं। इनका महत्व प्रचारण-शिक्षक की दृष्टि से है, कथा की दृष्टि से नहीं। विचार भाराक्रांत[1] इन परिच्छेदों से कथा-गति अति मंद तथा पाठकों की उत्सुकता भंग हो गई है। अनावयश्क विस्तार भी विपुल है। कुछ परिच्छेद तथा यत्र-तत्र आए अनेक चर्चा-स्थल सहज ही निकाले जा सकते हैं। अतएव उपन्यास का वस्तु-गठन शिथिल है। विचारों का यह विवेचन, शाहकवात् की लम्बी-लम्बी यात्राओं के साथ हुआ है। उपन्यास का मध्यभाग ऐसे यात्रा-वर्णन हैं जिनमें दार्शनिक राहुल जी के विचार एवं यात्रिक तथा इतिहासज्ञ राहुलजी के चित्र-विचित्र अनुभव तथा अनुसंधान ही भरे पड़े हैं। इस भाग में यात्रा-वर्णनों की विचित्रता तथा सजीवता तो है, किन्तु औपन्यासिक घटना-विधान की नाटकीय योजनाएँ नहीं।

डॉ० जगदीश गुप्त ने 'मधुर स्वप्न' के वस्तु-संगठन के सम्बन्ध में लिखा है—"पूरे उपन्यास में सुसम्बद्धता का किंचित् अभाव मिलता है; साथ ही कुछ अंश भाव और कथा की दृष्टि से अत्ययंत श्रेष्ठ बन पड़े हैं। इसका कारण कदापि यह है कि राहुल जी की कहानी लिखने की क्षमता सम्पूर्ण उपन्यास में रह-रह कर झलकती है। 'मधुर स्वप्न' उपन्यास को यदि कोई श्रेष्ठ कहानियों का औपन्यासीकरण कहा जाय तो शायद अभिप्राय स्पष्ट हो सके। यहाँ जब कोई कहानियों की बात कही जाती है तो पात्रों की भिन्नता के कारण नहीं, क्योंकि 'मधुर स्वप्न' में अनेक प्रधान पात्र अन्त तक बने रहते हैं और उसकी वस्तु भी छिन्न-सूत्र नहीं कही जा सकती। ऐसे कहने का आधार भावों की अनेक चरम सीमाएँ हैं। सारी रचना में उसका मन कई बार पूर्णता की उपलब्धि भावात्मक धरातल पर करता है।"[2] हम इस कथन से अंशतः ही सहमत हो सकते हैं। यहाँ कुछ ही ('कई' नहीं) परिच्छेदों में भावों की उक्त चरम सीमाएँ दिखाई देती हैं।[3] उपर्युक्त मतदाता ने उन 'कई' परिच्छेदों को गिनाया नहीं जिनके कारण वह इसे श्रेष्ठ कहानियों का औपन्यासीकरण कहता है। हमारे विचार से यदि 'मधुर स्वप्न' को 'यात्रात्मक निबन्धों' (यात्रात्मक शैली में

१. परिच्छेद संख्या ५, ८, १३, १७, आदि। २. "आलोचना" संख्या ४, पृ० १०५।
३. परिच्छेद सं० १०, १६, २०, २४, २६। ४. उपन्यास के ३० परिच्छेदों में से आधे परिच्छेद यही प्रभाव डालते हैं।

विचारों की अभिव्यक्ति) का औपन्यासीकरण कहा जाए तो अधिक संगत होगा। विभिन्न परिच्छेदों का स्वरूप भिन्न-भिन्न हैं किन्तु यह बिना हिचक के कहा जा सकता है कि इनमें 'विचार-तत्व' की प्रधानता है।

उपन्यास के अन्तिम भाग में कथा-गति प्रारम्भिक भाग की तरह सम्भल जाती है। 'मधुर स्वप्न' दुखांतकी है। अन्त में स्वप्नद्रष्टा अन्दर्जगर तथा उसके सियाबख्श-जैसे अनुयायियों को सूली पर चढ़ा दिया जाता है और 'मधुर-स्वप्न' का अन्त होता है। (राहुल जी ने इस उपन्यास के तीस परिच्छेदों के विषय-बोधक शीर्षक दिए हैं, जो विषय-स्पष्टता में सहायक हैं। और इन से कथा के स्वरूप की पूर्व-सूचना मिलती रहती है।) इस उपन्यास की दुखांतकी और समाप्ति की ओर अग्रसर होती हुई कथा का निश्चित संकेत इन अन्तिम तीन परिच्छेदों के शीर्षकों—'घटायें', 'अन्त के लक्षण' तथा 'मधुर स्वप्न का अन्त'—से ही मिल जाता है।

ट्रेजडी से उपन्यास के अन्त में मार्मिकता आ गई है और लेखक को अपने उद्देश्य के लिए संवेदना-जगाने में सफलता भी मिली है। इस ट्रेजडी के अभीष्ट प्रभाव के लिए करुणोदात्त चरित्रों का निर्माण हुआ है। अन्दर्जगर और सियाबख्श के चरित्रों की उदात्तता उनकी अजेय वीरता में है। यह अजेयता बाह्य नहीं, आंतरिक—मनोबल की—है; मानवीय मंगल-मूल्यों के लिए उनकी संकल्प-अचलता, सत्य-निष्ठा तथा मानवता के भावी कल्याण एवं विजय में वज्र-विश्वसनीयता अपनी उदात्तता से हमें प्रभावित-विस्मित करती है। क्रूर सामंतों की अपार शक्ति के विरोध में कही गई अन्दर्जगर और सियाबख्श की निर्भीक ओजस्वी उक्तियाँ उदात्त वातावरण में योग देती हैं। ऐसे वीरों को प्रारब्ध-पराजय, किन्तु स्वेच्छित बलिदान हमें करुणा से भर देता है। मृत व्यक्तियों के वीभत्स दृश्य-चित्रण के आतंकमय वातावरण से करुणा को और भी मार्मिक बनाकर पाठकों के मनोविकारों के क्षालन का प्रयास किया गया है; देखिए—"राजप्रसाद के मैदान में एक भीषण दृश्य उपस्थित था। वहाँ एक वीभत्स उद्यान तैयार किया गया था, जिसमें मज्दक-पंथियों को सिर से कमर तक भूमि में गाड़ दिया गया था, उनके दोनों निश्चल पैर ऊपर निकले पत्र शाखाहीन डालों वाले वृक्षों की भाँति हजारों की संख्या में पाँती से खड़े थे।"[1]

आलोचकों को यह आपत्ति रही है कि राहुल जी ने 'सिंह सेनापति' से 'जययौधेय' में चरित्र-चित्रण का प्रयास नहीं किया किन्तु वे ये मानते है कि 'मधुर स्वप्न' में इस ओर ध्यान दिया गया है।[2] वस्तुतः पहले दोनों उपन्यासों की तुलना में 'मधुर स्वप्न' में चरित्र-चित्रण पर ध्यान देने की बात कही जा

१. पृ० ३०६।

२. डॉ० गोपीनाथ तिवारी : "ऐतिहासिक उपन्यास और उपन्यासकार", पृ० १५६।

सकती है अन्यथा यहाँ भी इस ओर समुचित प्रयास नहीं किया गया। राहुल की दृष्टि अपने जीवन-दर्शन की अभिव्यक्ति पर ही केन्द्रित रही है, अतएव विभिन्न पात्र इस उद्देश्य के साधन-मात्र हैं, उनका अपना व्यक्तित्व नहीं। अन्दर्जगर, सियावख्श, मित्रवर्मा सभी स्थिर पात्र हैं। इनकी परिस्थिति-निरपेक्ष निर्द्वन्द्वता तथा सांस्कारिक दृढ़ता का विश्लेषण नहीं हुआ, अतएव इनकी स्थिरता अपनी नहीं, लेखक की लगती है। राहुल जी ने सर्वाधिक इन पात्रों के विचारों—नहीं अपने विचारों—उसके बाद कर्मों और सबसे कम इनके हृदय का परिचय दिया है। विचारों के शोर में हृदय की धड़कन कम ही सुनाई देती है। वर्दक की मृत्यु के बाद 'तरुण' सियावख्श के हृदय तक लेखक पहुँचा है किन्तु वहाँ भी 'जीवन का दर्शन' समझाने में उलझ गया है। उपर्युक्त दोनों पात्रों के क्रिया-व्यापार निश्चित होने के कारण कथानक में चरित्रगत उत्सुकता नहीं आ पाई। कवात् भी केवल स्थूल रूप में गतिशील पात्र है—उसके चरित्र-विकास में भी एक शाह की इच्छा-अनुभूतियों का हाथ नहीं, लेखक का अपना आग्रह है। ग़रीबों की दुर्दशा की एक रात की अनुभूति और उस पर चौबीस घण्टों के चिन्तन से शाह कवात् का हृदय-परिवर्तन जिस सीमा तक कराया गया हैं, वह हास्यास्पद है। प्रारम्भ से सामंतीय संस्कारों एवं विलासिता में पालित-पौषित[1] तथा निम्न जनता पर होने वाले उच्चवर्गीय अत्याचारों से निपट अनभिज्ञ एक शाह को एक रात जब गरीबों की दारुण दुर्दशा देखने का अवसर मिलता है, तब यह तो सम्भव हो सकता है कि वह द्रवित होकर कुछ अन्न-धन से सहायता कर दे किन्तु यह बड़ा विचित्र लगता है जब वह सभी सामंतों की उपेक्षा कर अपनी जान देने पर भी तत्पर हो जाता है और गरीबों की प्रशस्ति तथा अमीरों एवं छत्र-सिंहासन को कोसने वाली साम्यवादियों की कण्ठस्थ शब्दावली भी बघारने लगता है। वस्तुतः इतने बड़े हृदय-परिवर्तन के लिए जितने लम्बे समय और जिसम नोवैज्ञानिक विश्लेषण की आवश्यकता थी, वह यहाँ नहीं मिलता। उपन्यास के अन्त में जब क्वात् पुनः परिवर्तित होता है, तब भी परिवर्तन का कथन हुआ है, मनोवैज्ञानिक साक्षात्कार नहीं। क्वात् के चरित्र-विकास से, परिस्थितियों के परिवर्तन के साथ हृदय-द्वन्द्व के लिए यथेष्ट सम्भावना हो सकती थी किन्तु लेखक ने उसका उपयोग नहीं किया। वह बिना किसी द्वन्द्व के—एक पत्नी के होते हुए भी—दो और से विवाह कर सकता है और मुसीबत में काम आए अपने मित्रों को आराम से मरवा सकता है। वस्तुतः यह राहुल जी के चरित्र-चित्रण की सामान्य विशेषता है कि वे पात्रों के चरित्र का वर्णन ही अधिक करते हैं, उनके अन्तरंग चित्रण से साक्षात्कार नहीं कराते। उनके पात्रों का चरित्र-विकास प्रतिपाद्य के अनुकूल इतना पूर्व-

१. पृ० २८।

निर्धारित होता है कि वे द्वन्द्वातीत हो जाते है। क्वात् की पहली स्त्री सम्बिक् का चरित्र भी एकात निश्चित है। वह भी साम्यवादी पाठशाला में पहले से ही पढ़ी-पढ़ाई मिलती है। उसका रानीपन उसे तनिक विचलित नही करता। उसकी चरित्र-संगति के लिए केवल यही पढ़ने को मिलता है—"मुझे भी पहले-पहल जब पहलवी दासी के मुह के अन्दर्जगर की कुछ बातें सुनने को मिलीं, तो आश्चर्य हुआ।"[1] क्वात् ने उसके मुख से अकस्मात् साम्यवादी तर्कों को सुनकर जो प्रश्न किया, वह पाठक भी कर सकता है :—"आखिर तुम भी सम्बिक् उसी भवन में रही, उसी कोख से पैदा हुई, जिससे मैं; किन्तु तुमको यह बातें कैसे पहले मालूम हो गयी, मुझसे पहले और मेरी आँखें क्यों देर से खुल रही है?[2]" इसका जो उत्तर सम्बिका देती है, वह जैसे क्वात् को टालता है, वैसे ही पाठकों को भी—"इसका उत्तर मैं क्या दे सकती हूँ। शायद राज सिंहासन पर बैठना तुम्हारे लिए बाधक सिद्ध हुआ, शायद तुम्हें उसका अपात्र समझा गया। लेकिन, जिसके पास हृदय है और साथ ही समझ भी, वह अन्दर्जगर के मुह से निकले एक-एक वाक्य को अमृत-बिन्दु की तरह मानता है।"[2] यह स्पष्ट है कि विषय-प्रतिपादन की जल्दी में लेखक में चरित्र-विश्लेषण के उपयुक्त स्थलों के उपयोग का धैर्य नहीं।

लेखक अपनी वर्ग-दृष्टि तथा विचार-प्रतिपादन के उद्देश्य से प्रेरित रहा है है, इसलिए वह केवल साम्यवादी स्वप्न-द्रष्टा तथा उसके अनुयायियों का चरित्र-वर्णन ही कर सका है, विपक्षियों के वर्णन को स्थान नहीं दे सका। इससे द्विपक्षीय विरोध की सजीव विराटता का दृश्य प्रस्तुत नही हो सका।

राहुल जी ने अपने उद्देश्य के विभिन्न पक्षों को स्पष्ट करने तथा अनुकूल संवेदना जगाने के लिए वर्दक तथा महाश्वेता-जैसी गौण पात्राओं का उपयोग किया है। उनके जीवन की सजीव करुण झाँकियाँ मार्मिक है। वर्दक की मृत्यु का कथा में उपयोग भी हुआ है किन्तु महाश्वेता केवल तत्कालीन दास-प्रथा की क्रूरता का अनुभव कराने के लिए लाई गई है। नवानदुख्त की इच्छा-लालसाओं की कुशल झाँकी मिलती है और इसका भी कथा में विशेष उपयोग हुआ है। मित्र वर्मा के भारतीय साथी वीर को भी कुछ समय के लिए केवल अपने विषयानुकूल तर्क-वितर्कना और ऐतिहासिक चर्चा के लिए लाया गया है अन्यथा वह सहज ही निष्कासित किया जा सकता है। मित्र वर्मा का यद्यपि कथा में कोई प्रत्यक्ष योग नही किन्तु साम्यवादी दर्शन के व्यापक प्रभाव-विस्तार तथा अन्दर्जगर के विशेष प्रभाव को चित्रित करने के लिए इस ईरानेतर पात्र की सृष्टि की गई है। लेखक ने यहाँ चरित्र-चित्रण की

१. पृ० २८। २. पृ० २५।

सहयोगी पद्धति का उपयोग किया है—अन्दर्जगर को मित्रवर्मा तथा सियाबरूश से विशेष सहयोग मिलता है।

डॉ० नगेन्द्र ने 'सिंह सेनापति' तथा 'जय यौधेय' पर आलोचना करते हुए लिखा था—"कुछ बातें तो निस्सन्देह ही आपत्तिजनक हैं—उदाहरण के लिए जिस उदारता से राहुल के पात्र एक दूसरे पर चुम्बनों की बौछारें करते हैं वह अनैतिक न भी माना जाय, परन्तु अभद्र अवश्य हैं—वास्तव में रस की उद्भावना का सस्ता उपाय इतने असंयम के साथ व्यवहृत किया गया है कि उससे अरुचि होने लगती है।"[१] 'मधुर स्वप्न' में यह प्रवृत्ति कुछ कम हो गई है और केवल एक पात्र शाह क्वात् में है।

विचारों का प्रकाशन ही मुख्य लक्ष्य होने के कारण वार्तालापों का स्वरूप तार्किक है। 'मधुर स्वप्न' में वार्तालाप भी एक प्रकार से वर्णन हैं क्योंकि उनका अपना व्यक्तित्व नहीं। वार्तालापों में पात्रानुकूलता नहीं—सभी प्रमुख पात्र लेखक की एक-सी रूढ़ साम्यवादी शब्दावली बोलने में दक्ष हैं। शायद लेखक भी अपनी इस प्रवृत्ति को समझता है और इसलिए अनेक स्थलों पर पात्रों का नाम दिए बिना तर्क वितर्क कराता चलता है। पात्रों की मनःस्थिति, परिस्थिति, वर्ग, स्वभाव आदि की व्यंजना जैसे वार्तालाप से होती है, वह यहाँ न्यून है। इनमें नाटकीयता और चुस्ती का अभाव है। उपन्यास के प्रचारात्मक स्वरूप या उपदेशों के कारण इनमें संक्षिप्तता नहीं और अनेक स्थलों पर पात्रों के कथन भाषण का रूप ले लेते हैं। ये भाषण सामान्य हैं, किन्तु 'अन्त के लक्षण' परिच्छेद में सियाबरूश के व्यक्तित्व के अनुकूल उसके लम्बे कथनों में विशेष ओजस्वी सौन्दर्य है।

सारांश में, 'मधुर स्वप्न' यात्रात्मक निबन्धों का औपन्यासीकरण है। इसमें उपन्यास-कला की कमी और प्रचार का प्रामुख्य है। इसमें विचारक, इतिहासज्ञ, बहुभाषाविज्ञ तथा अनुभवी यात्रिक लेखक तो हाथ मिलाकर चले हैं किन्तु साहित्यकार राहुल जी पिछड़ गए हैं। इसमें समाज-प्रवाह का वेग दिखाने की अपेक्षा विचाराधिक्य है, चित्रण की अपेक्षा विवरण-बाहुल्य, चयन-कौशल की बजाय बहु जानकारी देने का आग्रह, अतएव रचना का रस क्षीण हो गया है।

मृगनयनी

१९५० में प्रकाशित 'मृगनयनी' से डॉ० वृन्दावनलाल वर्मा विशेष सम्मानित हुए हैं। इसे एक आलोचक ने 'शुद्ध ऐतिहासिक उपन्यास'[१] माना है तथा प्रायः

१. "काव्य-चिंतन", पृ० १२७।

१. डॉ० शशिभूषण सिंहल : "उपन्यासकार वृन्दावनलाल वर्मा", पृ० २५।

दूसरों ने इतिहास तथा कल्पना के समन्वय के आधार पर 'संतुलित' ऐतिहासिक उपन्यासों की श्रेणी में रखा है।[1] डॉ० सत्येन्द्र[2] तथा स्वयं लेखक ने इसे 'ऐतिहासिक रोमांस'[3] माना है, जो उपर्युक्त मत के विपरीत नहीं है। इस सम्बन्ध में हमारी विनम्र सम्मति में संशोधनीय केवल इतना है कि 'मृगनयनी' के मुख्य कथानक की अपेक्षा उसके इतर भाग में रोमांस के कुछ तत्वों का आधिक्य है, अतएव इसे पूर्णतया ऐतिहासिक रोमांस कहने की बजाय आंशिक ऐतिहासिक रोमांस कहना अधिक उचित होगा।

ऐतिहासिक उपन्यास में भी इसे या तो चरित्र-प्रधान उपन्यास[4] कहा गया है, या अभिप्राय-प्रधान (Novel of purpose,)[5]। वर्मा जी ने नायिका के आधार पर उपन्यास का नामकरण कर अपना स्वमत इसकी चरित्र-प्रधानता के पक्ष में दे दिया है। हमारे विचार में यह चरित्र-प्रधान उपन्यास नहीं और न ही रोमानी प्रवृत्ति की कुछ घटना-विलक्षणता के आधार पर यह घटना प्रधान अथवा कथा-प्रधान उपन्यास है—वह उद्देश्य-प्रधान या आभिप्रायिक ही है। इसकी कथा न तो मृगनयनी-केन्द्रित है, न नामाधार पात्रा का चरित्र-विश्लेषण इस उपन्यास का लक्ष्य है। कुछ सीमा तक इस उपन्यास का आकर्षण भी मृगनयनी में नहीं है। इसके अतिरिक्त मृगनयनी का शील-विकास कथा-विन्यास तथा कथा-कौतूहल का आधार भी नहीं है। अतएव यह प्रश्न स्वाभाविक है कि उपन्यास का नामकरण मृगनयनी' क्यों किया गया ? इसका उत्तर उपन्यास की प्रेरणा तथा उद्देश्य में निहित है। इसका प्रमुखतम उद्देश्य है कला और कर्तव्य का समन्वय जिसकी सिद्धि मृगनयनी के व्यक्तित्व-निर्माण द्वारा की गई है। मृगनयनी के ऐतिहासिक व्यक्तित्व में यह समन्वित आधार था, इसलिए वर्मा जी उसके व्यक्तित्व से उपर्युक्त उद्देश्य-सिद्धि की प्रेरणा ले सके। इस सम्बन्ध में वर्मा जी के निम्न कथनांश उल्लेखनीय हैं—(क) "···इतने संकटों में भी मानसिंह हुआ। और उसके तथा उसकी रानी मृगनयनी ने जो कुछ किया उसका प्रयत्क्ष प्रमाण आज भी हमारे सामने है। ग्वालियर किले के भीतर मान-मंदिर और गूजरीमहल हिन्दू-वास्तुकला के अत्यन्त सुन्दर और मोहक प्रतीक है

१. (क) डॉ० गोपीनाथ तिवारी : "ऐतिहासिक उपन्यास और उपन्यासकार" की भूमिका', पृ० ४।
(ख) डॉ० जगदीश गुप्त : "आलोचना" संख्या ११, पृ० १८३।
(ग) गंगाप्रसाद पाण्डेय : "हिन्दी कथा-साहित्य", पृ० १४५।
२. "मृगनयनी : कला और कृतित्व", पृ० २४।
३. "मृगनयनी" का परिचय'।
४. विश्वम्भर 'मानव' : "उपन्यासकारों के बीच", 'प्रेमचन्द', पृ० १३।
५. डॉ० सत्येन्द्र : "मृगनयनी कला और कृतित्व", पृ० ७८

तथा ध्रुवपद और धमार की गायकी और ग्वालियर का विद्यापीठ जिसके शिष्य तानसेन थे, आज भी भारत भर में प्रसिद्ध है"।[1]

(ख) "मानमन्दिर और गूजरी महल के सृजन की कल्पना को मृगनयनी से प्रेरणा मिली होगी। वैजनाथ नायक (वैजू बावरा) मानसिंह-मृगनयनी के गायक थे। गूजरी-टोड़ी मंगल, गूजरी इत्यादि राग इसी मृगनयनी के नाम पर बने हैं। जिन सम्मानित पाठिका ने मृगनयनी के कथानक पर उपन्यास लिखने का अनुरोध किया था उन्होंने ठीक लिखा कि मृगनयीन शौर्य और कला, दोनों के लिए विख्यात थी"।

इस उपन्यास की समाप्ति किसी वस्तु-प्राप्ति, या एक नायक को किसी नायिका की प्राप्ति, में नहीं हुई बल्कि प्राप्ति के पश्चात् उपर्युक्त शौर्य-कला के समन्वय की साधना करते हुए अपने व्यक्तित्व के विकास में हुई है। मानसिंह मृगनयनी को प्राप्त कर लेता है या अटल लाखी को, यह यहाँ गोण बात है किन्तु दोनों प्राप्ति के पश्चात्, उपर्युक्त उद्देश्य को आत्मसात कर, अपने जिन आचरणों से इसे प्रमाणित करते हैं, वही महत्वपूर्ण हैं। इसलिए उपन्यास की समाप्ति वहाँ होती है जहाँ मृगनयनी मानसिंह को कला-कर्तव्य-समन्वय की साधना की ओर प्रेरित कर उसके व्यक्तित्व-विकास में सफल होती है तथा वह स्वयं भी विभिन्न कलाओं में पारंगत होने के बाद अपने विशिष्ट आचरणों—सुमन मोहिनी को आभूषण लौटाने तथा अपने पुत्रों की उपेक्षा कर सौतेले पुत्र को राज्याधिकार देने वाले अपने व्यक्तित्व-विकास[2] के सूचक कर्तव्यों—से इसे प्रमाणित कर देती है। इसी प्रमुख उद्देश्य में किसी-न-किसी प्रकार सहायक होने के आधार पर ही 'मृगनयनी' के विभिन्न पात्र-प्रसंगों की सार्थकता सिद्ध की जा सकती है। बैजू, विजयजंगम और कला कलाकार है और कला-शिक्षक। विजय जंगम के व्यक्तित्व में श्रम और संगीत का सुसंयोग है। कला के चरित्र की अन्तिम स्थिति भी कर्तव्य की सूचक है। मुकलमन सुलतानों, गयास और बघर्रा से भी लेखक ने साहित्य-कला की धर्म (मजहब)-निरपेक्ष प्रशंसा कराई हैं। माँडू पर बघर्रा के आक्रमण का एक लक्ष्य वहाँ से हिन्दू कारीगरों को पकड़ कर अपने अहमदाबाद को सजाने का प्रयत्न करना है।[3] कला के प्रश्न को लेकर ही दोनों सुलतानों के सामने मुल्ले-मौलवियों की शिकायतों का प्रसंग आता है और कला की आड़ लेकर ही राजनीतिक कारणों से उनको भाड़ा गया है। राजसिंह एवं कला के प्रसंग की अन्तिम परिणति भी कला के

१. 'परिचय', पृ० २।
२. लेखक ने अन्त में मानसिंह से मृगनयनी के विकसित व्यक्तित्व की उपलब्धि को स्वीकार कराया है। पृ० ४८६-८७। ३. पृ० ७८-७९।

विध्वंस-निर्माण के प्रसंग को लेकर हुई है । लाखी-अटल के प्रेम-शौर्य का सूत्र भी परोक्ष रूप में इस सामंजस्य-साधना की पुष्टि करता है। मानसिंह की मज़दूर घराने के प्रति सहानुभूति तथा लाखी-अटल के विवाह कराने के प्रसंग उसकी कर्तव्य-सजगता के सूचक है। होली के अवसर पर कला-प्रतीकों के सामने सैनिकों के गदे आचरण तथा विवहोपरात मृगनयनी के राई गाँव के दुर्दशा-ग्रस्त किसानों के देखने आदि के प्रसंग[1] कला की उपयोगिता के प्रश्नों को सामने लाते है; इसके अतिरिक्त लेखक ने मृगनयनी के एक प्रतीक-चित्र,[2] एक नृत्य-प्रसंग तथा विभिन्न संवादों के क्रम में आए विपुल विचारों से भी, कला-कर्तव्य-समन्वय का प्रतिपादन किया है। स्पष्टीकरण के लिए, उपन्यास के आरम्भ से ही निन्नी और लाखी के चरित्रिक गुणों, सौन्दर्य-शौर्य, के रूप में कला-कर्तव्य-समन्वय के तत्व मिलते है। जंगली जानवरों के शिकारों से उनके शौर्य का स्वरूप प्रस्तुत होता रहता है। बाद में उनको पकड़ लाने के लिए रूप-लोभी सुलतानों द्वारा भेजे गए आक्रमणकारी सैनिकों को मारने से उनके इन गुणों को घटनात्मक अभिव्यक्ति भी मिलती है। कला-कर्तव्य के संघर्ष-समन्वय का वाचक आरम्भ मानसिंह के इस कथन से होता हैं—"सबसे पहले शस्त्र और सेना; फिर वही भवन और मन्दिर"।[3] शस्त्र-सेना तथा भवन-मन्दिर क्रमशः कर्तव्य और कला के मूर्त रूप है। मृगनयनी और लाखी का शौर्य और सौन्दर्य बाद में वीरत्व तथा शृंगार में और अन्त मे कर्तव्य-कला में परिणत हो जाता है। मृगनयनी की भावना मानसिंह का संकल्प वन जाती है और उसकी कला मानसिंह को कर्तव्य-दृढ़ करती रहती है। जिस प्रकार विवहोपरांत मृगनयीन मुख्यतः भावना-कला की प्रतीक होते हुए भी केवल मानसिंह की प्रेरणा-स्फूर्ति बनकर नहीं रह जाती अपितु स्वयं भी—अपने पुत्र को मानसिंह का उत्तराधिकारी न बनाने के स्वार्थ-त्याग से—कर्तव्य-कर्म में योग देती है, उसी प्रकार मानसिंह भी एक पति एव राजा के कर्तव्यों का निर्वाह करते हुए भी संगीत-श्रवण तथा भवन-निर्माण आदि में रत रह कर कलाप्रियता का परिचय देता रहता है। मृगनयनी और मानसिंह अपने-आप में कला-कर्तव्य का समन्वय भी लिए हुए है और क्रमशः कला-कर्तव्य के पृथक् प्रतीकत्व द्वारा सामंजस्य-साधना के आधार भी है। इससे यह स्पष्ट होता है कि कला अपने मे शिवं के तत्व भी लिए रहती है और वह शिवं की प्रेरक भी होती है। 'मृगनयनी' के विभिन्न प्रसंगों में कला-कर्तव्य के रूप-नाम-भेद से निम्नस्थ तत्वों के समन्वय की बात कथित है—

मूल लक्ष्य— कला + कर्तव्य
चरित्रगत रूप— सौन्दर्य + शौर्य

१. पृ० ४७१। २. पृ० ४२५। ३. पृ० १०८।

कथागत रूप— शृंगार + वीर

विश्लेषण के अनुसार—
- भावना + विवेक
- मनोबल + धारणा[१]
- भावना + संकल्प[२]

उपन्यास की परिस्थितियों के अनुरूप, कर्तव्य के युद्धपरक स्वरूप के अनुसार—
- शास्त्र + शस्त्र[३]
- होरी राग + ताण्डव नृत्य[४]
- सरस्वती + दुर्गा[५]
- कृष्ण (वंशी) + अर्जुन (गाण्डीव)[६]

इस तरह एक ही लक्ष्य की विभिन्न नाम-रूप-भेद से आवृत्ति होती रही है, जो उपन्यास के लक्ष्य को व्यापक एवं प्रभावी बनाने में सहायक रही है। डॉ० सत्येन्द्र के शब्दों में, "शौर्य शारीरिक किन्तु व्यक्तिगत पदार्थ है; वीरत्व इसी शौर्य का हार्दिक पक्ष है, और 'कर्तव्य' सामाजिक पृष्ठभूमि में मनसा संलग्न अभिव्यक्ति। इसी प्रकार सौन्दर्य, शृंगारत्व तथा कला भी एक तत्व के रूप-भेद से नाम हैं। शरीर में जो सौन्दर्य है, उसी का हृदय पक्ष शृंगार-रसत्व है और सामाजिक पृष्ठभूमि में उसी की अभिव्यक्ति कला"।[७]

वर्मा जी उपन्यास के मध्य में कला-कर्तव्य-समन्वय के सम्बन्ध में अनेक स्थलों पर सशंक दिखाई दिए हैं। मानसिंह कलाओं की आराधना में संलग्न है कि तुर्कों के आक्रमण की सम्भावना हो उठती है। वह इस बला को किसी प्रकार टालना चाहता है—दाम देकर भी। यदि युद्ध करता है तो कला-कार्य अधूरा छूटता है। उस समय मृगनयनी मानसिंह से कहती है—"कलाओं की बहुत अधिक पूजा ने ही क्या आपके ध्यान को राजनीति के दाम वाले अंग पर अधिक जा बिठलाया है? दण्ड की बात आप क्यों नहीं सोच रहे हैं?"[८] अन्त में मृगनयनी मानसिंह को यह कहने पर बाध्य कर लेती है कि "पहले कर्तव्य, कला की बात पीछे।"[९] एक अन्य अवसर पर भी मृगनयनी सचेत करती है—"इधर कलाओं की वृद्धि हुई है, उधर बाण-विद्या का और युद्ध-विद्या का अभ्यास कम हो गया है; हम कलाओं को अधिक समय देंगे तो वे सैनिक अवसर पाते ही अपनी वासनाओं पर उतर-उतर आयेंगे।" मानसिंह का अन्तर्मन इससे सहमत न हुआ और वह सोचने लगा। तब मृगनयनी शास्त्राश्रय से

---

१. पृ० ४२२। २. पृ० ४८७। ३. पृ० ४४२। ४. पृ० ४२५।
५. पृ० ४७८। ६. पृ० ४२१।
७. "मृगनयनी : कला और कृतित्व"। ८. पृ० ३४७। ९. पृ० ३४८।

कहती है—"मैंने महाभारत में पढ़ा है कि देश की रक्षा शस्त्र द्वारा हो जाने पर ही शास्त्र का चिन्तन हो सकता है। मेरा यही प्रयोजन है और कुछ नही।"[1] स्यात् कुछ इन्हीं विचारों को देखकर डॉ० सत्येन्द्र ने वर्मा जी के विचारो में अन्तर्विरोध आलोचित किया है—"जहाँ-जहाँ कला का भय लेखक ने प्रकट कराया है, वहाँ वह वस्तुतः अपना ही भय प्रकट कर रहा है। और इसी कारण कर्तव्य के समक्ष बलात् कला को पराभूत करने की चेष्टा करता हुआ और साथ ही दोनों के समन्वय का आदर्श प्रस्तुत करते हुए वह हतप्रभ हो गया है।"[2] सत्येन्द्र जी के निष्कर्ष से हम सहमत है, किन्तु लेखक के पक्ष में भी कुछ कहा जा सकता है। निस्सन्देह वर्मा जी समन्वय के समर्थक है, किन्तु उसकी सीमाएँ भी जानते है। ये सीमाएँ तत्कालीन देश की युद्धग्रस्त स्थिति तथा आधुनिक स्वतन्त्र भारत की रक्षा के प्रश्न ने निर्धारित कीं। वे विकट परिस्थितियों में "पहले कर्तव्य और पीछे कला" का उचित मत व्यक्त करने में हिचके नहीं। कला-कर्तव्य-समन्वय का सिद्धांत शान्ति-काल में सम्भव है किन्तु अरक्षित स्थिति में पहली आवश्यकता रक्षात्मक कर्तव्य की ही माननी होगी। उपन्यास के मध्य में वर्मा जी ने इसी मत को प्रतिपादित किया है। किन्तु कहीं-कही विशेषतया अन्त में वे इसका निर्वाह नहीं कर पाए और तब हमें उन पर आपत्ति होती है। आगे हमें इसी का स्पष्टीकरण अभीष्ट है। मृगनयनी ने एक अधूरा चित्र बनाया—उसकी रेखाएँ तैयार हैं किन्तु रंग नहीं भरा गया। यह दो भागों में विभक्त है—एक भाग में रानी के दरबार-जैसा दृश्य है, जिसमें कुछ सुन्दरियाँ गायन-वादन में संलग्न दिखाई गई है, और दूसरे भाग में एक जंगल मे छिपे शत्रुओं के माध्यम से आक्रमण की सम्भावना चित्रित की गई है। रानी-दरबार के बाहर एक योद्धा अनिश्चय की वृत्ति में इधर या उधर बढ़ जाने की स्थिति में प्रदर्शित किया गया है।[3] उस समय मृगनयनी ने मानसिंह से प्रश्न किया है कि वह किस भाग में पहले रंग भरे। यह वस्तुतः मानसिंह को कर्तव्य-सजग करने का बहाना मात्र था। मानसिंह ने उसके संकेत को समझा और हँसकर उत्तर दिया—"दोनों में एक साथ रंग भरो।"[4] उपन्यास के अन्त में यही चित्र पुनः प्रदर्शित है। उसके एक भाग पर कला लिखा है और दूसरे पर कर्तव्य। अब इन दोनों में कुछ रंग भरे जा चुके हैं तथा कर्तव्य-भाग के ऊपर लाखी वाली मोतियों की माला टगी हुई है। मृगनयनी द्वारा अपने सौतेले लडके को राज्य का उत्तराधिकारी बना देने के बाद मानसिंह मृगनयनी के गौरव से अभिभूत होकर कहता है—

"यह तुमने क्या किया ?"

---

१. पृ० ४२२। २. "मृगनयनी : कला और कृतित्व", पृ० ६३।
३. पृ० ४२४। ४. पृ० ४२५।

चित्र के 'कर्तव्य वाले अंग की ओर उंगली उठाती हुई वह बोली', 'यह'।

मानसिंह के मुंह से और भी धीरे से एक वाक्य निकला, 'अब तो चित्र का यह अंग पूरा हो जाना चाहिए। उसको अधूरा क्यों छोड़ा जा रहा है ?"

मृगनयनी ने कहा, "संकल्प और भावना जीवन-तराज़ू के दो पलड़े हैं। जिसको अधिक भार से लाद दीजिए, वही नीचे चला जाएगा। संकल्प कर्तव्य है और भावना कला। दोनों के समान समन्वय की आवश्यकता है। न तो अभी कला का अंग पूरा हुआ है और न कर्तव्य का। तराज़ू के दोनों पलड़े तुले हुए हैं न इस चित्र में ?"

मृगनयनी की दृष्टि लाखी के मुक्ता-हार पर गई। आंखें थोड़ी सी झलझला आईं।

मानसिंह ने भी देखा।

और भी दबे स्वर में बोला, "कर्तव्य वाले अंग में अब कौन-सी कसर रह गई है, देवी ?"

मोतियों की माला और सम्पूर्ण चित्र पर दृष्टि घुमाती हुई मृगनयनी ने कर्तव्य वाले अंश पर उंगली रखकर कहा, 'प्रजा के सुख की, देश की स्वाधीनता की।" × × × ×

मानसिंह के काँपते हुए होठों से धीमे-धीमे शब्द निकले--"कला और कर्तव्य का समन्वय इस कसर को किसी दिन अवश्य पूरा करेगा।

फिर उन दोनों की दृष्टि मोती-माला की ओर गई।

वह दमक रही थी।"[१]

कितना विचित्र है कि कर्तव्य के लिए मर-मिटने का स्मरण दिलाने वाली, कर्तव्य की प्रतीक, लाखी की माला बार-बार मानसिंह एवं मृगनयनी को दिखाने तथा देश की स्वाधीनता एवं सुख के लिए कर्तव्य की माँग को प्रस्तुत करते हुए भी लेखक बलात्, सिद्धाँत के आग्रह से, कला-कर्तव्य के समन्वय पर बल देता जा रहा है। उपर्युक्त प्रसंग से तो कला से पहले कर्तव्य की माँग ही ध्वनित होती है। वर्माजी से हमारा मतभेद वैचारिक नहीं, कलागत है। लेखक ने जिस उद्देश्य को स्थिर किया है, वह कथा के प्रभाव से ध्वनित नहीं होता। निहालसिंह, बोधन, अटल-लाखी वीरगति को प्राप्त हुए—पहले दो का तो प्रतिपक्षियों द्वारा अकारण वध हुआ— विष्णु-मन्दिर उद्धारार्थ देवगढ़ और चंदेरी पर अधिकार की 'पुरखों की वाणी"[२] तथा मृगनयनी के आग्रह[३] का निर्वाह तो दूर नरवर का किला भी छिन गया; देश की सीमाएँ और भी असुरक्षित हैं; और दूत (निहालसिंह)-वध के अपमान का

१. पृ० ४८७-८८। २. पृ० ३८९। ३. पृ० ३९२।

बदला लेने की प्रतिज्ञा बीच में हैं, फिर भी लेखक कथा की माँग के विरुद्ध पहले कर्तव्य-पालन की बात न कहकर समन्वय-सिद्धांत की बात कहता जा रहा है। नरवर-विजय के बाद सिकन्दर लोदी वहाँ की सब कलात्मक मूर्तियाँ तोड़ देता है। इस पर वर्मा जी लिखते है -"सौन्दर्य और शान्ति के प्रतीकों का यह सारा विध्वंस उसने अपनी निगरानी में कराया था। मानसिंह और ग्वालियर को न मिटा पाया तो उनके प्रिय प्रतीकों को चूर-चूर कर दिया"![1] सिकन्दर से नरवर को प्राप्त करने के पश्चात् राजसिंह जब कला को साथ लेकर वहाँ जाता है तब वर्मा जी लिखते हैं—"उसको लगा जैसे खण्डित मूर्तियाँ चुपचाप कोस-कोस कर कह रही हों तुमने हमको क्यों नहीं बचाया? कला की आँखों में आँसू आ गये। गद्गद् स्वर मे बोली—"यह सब आपने क्यों होने दिया? कैसे होने दिया?""[2]—यह कथा-सूत्र मानों उद्घोष कर रहा है कि जगत् में प्रथम साध्य रक्षा (कर्तव्य) है, और इसकी अवहेलना से कला-सृष्टि की उपर्युक्त दुरावस्था हो सकती है। ऐसी अवस्था में पाठक लेखक के मत से विपरीत प्रभाव ही ग्रहण कर सकता है। वस्तुतः उद्देश्य वह वहीं होता जो लेखक समाविष्ट करता है, वह होता है जो पाठक सहज में ग्रहण करता है। इस तरह सिद्धांत-प्रतिपादन तथा कथा-प्ररिणति के प्रभाव में आपसी विरोध से कलात्मक असंगति आ गई है। उपन्यास में केवल एक बात को बार-बार पात्रों से दोहराने से लक्ष्य-सिद्धि नही होती, घटनावली एवं उपन्यासांत से उसे प्रमाणित करना होता है, जो यहाँ नही हो सका। इस असंगति का कारण खोजा जा सकता है। लेखक का चेतन मन-कला-कर्तव्य-समन्वय के प्रतिपादन की सिद्धातवादिता के सचेत प्रतिपादन में संलग्न रहा है और अवचेतन वर्तमान भारत एवं तत्कालीन ग्वालियर राज्य की संकटग्रस्त परिस्थितियों (ऐतिहासिक बाध्यता) तथा अपने स्वभाव से चालित।

लेखक ने स्थापत्य, मूर्ति, संगीत आदि कलाओं—विशेष रूप से स्थापत्य—के सम्बन्ध में अन्य चर्चाएँ भी की हैं, जिससे 'मृगनयनी' में विचार-तत्व का पर्याप्त समावेश हो गया है। इस सम्बन्ध में डॉ० सत्येन्द्र लिखते है—"मृगनयनी के सम्बन्ध में सबसे विशिष्ट बात यह है कि यह हिन्दी-साहित्य में पहला उपन्यास है जिसमें स्थापत्य कला के मूर्त अभिप्रायों की प्रेरणा के मूल में जीवन-स्रोत का सरस सिचन, ऐसी मनोहरता से प्रवाहित हुआ है।"[3] हम डॉ० साहब द्वारा अनुभूत इन सरस तथा 'मनोहर' विशेषताओं से असहमत हैं। इसका एक कारण तो लेखक की भाषा-असमर्थता है; दूसरे, स्वय विषय में कम सामर्थ्य है; तीसरे, लेखक ने उसका जितना सशंक प्रतिपादन किया है, उतना चित्रण नहीं।

१. पृ० ४७४।
२. वही।
३. "मृगनयनी : कला और कृतित्व", पृ० १३०-३१।

स्थापत्य को कला माना जाय या नहीं—इसके सम्बन्ध में विवाद हो सकता है। हिन्दी की साहित्य-सिद्धांत-सम्बन्धी पुस्तकों ने इसे कला माना है किन्तु पाँचों कलाओं में निकृष्ट।[1] कुछ पाश्चात्य आचार्यों अरस्तु, प्लेटो ने वास्तु को कला नहीं माना।[2] हमारे विचार में स्थापत्य, कला नहीं है; इसके चार कारण हैं—१. इसमें अन्य कलाओं की तरह आकृति नहीं होती। २. कलाओं का अनुकरण-सिद्धांत इस पर लागू नहीं होता।[3] ३. इससे आत्माभिव्यक्ति सम्भव नहीं। सुन्दर भवनों या अन्य सुन्दर वस्तुओं में, सामग्री के न्यास, अनुपात, अनुक्रम, आकार, औचित्य आदि के कारण सौन्दर्य होता है, भावाभिव्यक्ति के कारण नहीं। ४. अन्य कलाओं में कलाकार स्वयं आत्माभिव्यक्ति करता है, स्थापत्य में उसे किसी माध्यम का आश्रय लेना पड़ता है। कोई मूर्तकार या चित्रकार स्वयं मूर्ति या चित्र निर्मित करता है किन्तु स्थापत्याकार प्रेरणा दे सकता है, या अधिक से अधिक अनेक भवन-निर्माता कारीगरों के साथ वह भी एक हो सकता है; अतएव यहाँ अनुभूति सैकड हैंड हो जाती है। स्वयं वर्मा जी इस कला के सम्बन्ध में किंचित् सशंक दिखाई देते हैं। उन्होंने विजय जंगम से मानसिंह को प्रश्न भी कराया है। तब मानसिंह का उत्तर है—"सोचूंगा किस प्रकार यह कल्पना पत्थरों की योजना द्वारा प्रकट हो सकेगी, आप तो सोच ही

---

१. (क) गुलाबराय : "सिद्धांत और अध्ययन" पृ० ३९।
(ख) रामदहन मिश्र : "काव्य-दर्पण" पृ० २९।

2. S. H. Bustcher : "Aristotle's Theory of Poetry & Fine Art", p. 148. "His (Aristotle's) ommission of architecture from the list of fine arts may also cause surprise to modern readers; for here, as in sculpture the artistic greatness of Greece stands undisputed."

३. इस सम्बन्ध में बूचर की व्याख्या में अरस्तु का मत उल्लेखनीय है—

"Be the origin of architecture what it may, it is certain that the Greeks did not find its primitive type and model in the outward universe A building as an organic whole did not call up any image of world outside itself, though the method of architecture does remind Aristotle of the structural method of nature. Even if architecture' had seemed to him to reproduce the appearance of the physical universe it would not have satisfied his idea of artistic imitation; for all arts imitate human life in some of its manifestations and imitate material objects only so far as these serve to interpret spritual and mental --ocesses". Ibid, p. 149.

रहे हैं ।"[1] स्थापत्य की अनुभूति के सम्बन्ध में भी एक विशेष संवाद की योजना हुई हैं; यथा—

मानसिंह—"मैं तो टांकी-हथौड़े की कविता और संगीत के ताल और ज्ञान को मूर्त करना चाहता हूँ इस भवन में । किन उपादानों और साधनों से हों, यह आप सरीखे विद्वान बतलावें, मैं भी कुछ सोच रहा हूँ परन्तु निर्णय नहीं कर रहा हूँ ।"

विजयजंगम—'शिल्पी और कारीगर बतलावेंगे यहाँ के ?'

मानसिंह—"शिल्पी और कारीगर निर्माणकला के शब्द और व्याकरण हैं । उनकी योजना, शब्द-न्यास, पदलालित्य, और अनुपात को कविता तथा मंजुल-मंगल की फुरफुरी देना हमारा आपका काम है ।"[2]

एक अन्य संवाद में इस 'सैकड हैंड' अनुभूति की कठिन प्रक्रिया भी स्पष्ट की गई है—मृगनयनी ने कहा—"बहुत ललित और सुन्दर है । आपकी कल्पना में जो कविता रही है वह मान-मन्दिर में अपने पूरे वैभव और शृंगार के साथ आ बैठी है ।"

मानसिंह—'मेरी कविता नहीं तुम्हारी कविता । और कारीगरों को जो सूझ नहीं दे सके उसको तुम्हारे दिए हुए मेरे भाव ने उनको दिया । कारीगरों ने योग साधा, उनके ध्यान में वह भाव मूर्त हुआ और टांकी हथौड़े ने तुम्हारी कविता और मेरे भाव को पत्थरों में उतार कर बसा दिया ।"[3]

इस तरह लेखक स्थापत्य की कलात्मकता को सिद्ध करने के सैद्धांतिक विवेचन की उधेड़बुन में अधिक रहा है, संश्लिष्ट चित्रण में कम । क्या हमारे सामने भी स्थापत्य इतना मूर्तिमान हुआ है कि वह मनोहारी या 'सरस' स्तर पर पहुंचा हो ?

मानमंदिर (स्थापत्य) से प्रेरणा मिल सकती है—इसको लेखक ने बैजू की प्रेरणा के आधार पर सिद्ध करने का प्रयास किया है—".. कई बार असफल हुआ । वीणा को एक तरफ रखकर झरोखे से मान-मंदिर की एक कोर को देखने लगा । कंगूरों के नीचे पत्थरों में बनी हुई बन्दनवारों की उमेठी और मुरकी हुई बेलों के बीच में चौकोर झिझरियों और सूड़ उठाये हाथी पर रिपटी हुई रवि-रश्मियों पर आँख जम गई । एकाध क्षण पीछे पत्थरों की जालियों में बने पुष्पों और हंसों पर जा अटकी । 'अरे ! यह मंदिर भी टोड़ी की इसी तान को ले रहा है । वीणा पर तान और गमक अब यों निकल आवेगी ।" वह उल्लास के साथ बोला ।[4] इसमें बैजू-जैसे 'बावरा' कलाकार की अपनी विशेषता हो सकती है, किन्तु लेखक की कल्पना उसे मूर्त नहीं कर सकी । दूसरे, स्थापत्य अपने-आप में अपूर्ण कला है—मूर्ति, चित्र आदि के संयोग से ही वह भावाभिव्यक्ति में समर्थ हो सकती है । उपर्युक्त चित्रण में भी

१. पृ० ३३८-३९ । २. पृ० ३३८। ३. पृ० ४०८-९ । ४. पृ० ४२७ ।

यही विशेषता है। वैसे यह स्थल जितना महत्वपूर्ण है, उतना उसका चित्रण अपेक्षित सुन्दरता का आह्वान नहीं कर सका।

'झाँसी की रानी' के विपरीत, 'मृगनयनी' में इतिहासेतर उद्देश्य प्रमुख है, अतएव उसकी विनियोग-विधि की चर्चा हमने पहले की है। इस उद्देश्य की सिद्धि ऐतिहासिक पात्रों एवं घटनाओं के आधार पर हुई है 'मृगनयनी' का ऐतिहासिक उद्देश्य भी है। ऐतिहासिक प्रतिबन्धों के प्रकाश में ही लेखक की उन अनेक समस्याओं को देखा जा सकता है जो 'मृगनयनी' के सामाजिक उद्देश्य के अन्तर्गत आती हैं। अपने अन्य उपन्यासों की तरह 'मृगनयनी' के 'परिचय' में भी लेखक ने ऐतिहासिक सामग्री की प्रामणिकता का उल्लेख कर दिया है। इससे यह स्पष्ट हुआ है कि लेखक ने इतिहास-ग्रन्थों तथा लोक-परम्परा दोनों की सामग्री का उपयोग विवेक से—समसामयिक आदर्शों को भी दृष्टि में रखकर—किया है। हमने 'विवेक' शब्द का प्रयोग [illegible] लेखक मुसलमान बादशाहों के सम्बन्ध में उन्हीं के इतिहास-लेखकों द्वारा लिखी तारीखों को आँख मूँदकर नहीं मान लेता। 'मृगनयनी' में लेखक ने मुसलमान बादशाहों की उस मनोवृत्ति को स्पष्ट किया है जिसके अनुसार वह ऐतिहासिक तथ्यों को मनमाने ढंग से विकृत कर लिखवाते रहे हैं। जैसे, गियासुद्दीन मानसिंह से हारकर मांडू वापस लौट आता है किन्तु अपने इतिहास-लेखक को यह लिखने की आज्ञा देता है—"सुल्तान गियासुद्दीन खिलजी ने मानसिंह तोमर को नरवर के मैदान में हराया और ग्वालियर की ओर खदेड़ कर खुद चला आया।" वर्मा जी इस पर लिखते हैं—"किसी-किसी गुप्पे-चुप्पे ने लिखकर रख लिया कि सुल्तान गियासुद्दीन जीत नहीं सका और थक कर लौट आया। नरवर के जयति खम्भ में जो कुछ खुदवाया गया वह कुछ और था।"[1] इसका एक और प्रमाण लीजिए। वर्मा जी ने 'परिचय' में लिखा है कि उन्होंने सिकन्दर के अखबार नवीसों की इस बात को नहीं माना कि सिकन्दर ने ग्वालियर को पाँच बार जीता और प्रत्येक बार सोना-चाँदी का वादा देकर मानसिंह ने उसको टाल दिया।[2] वर्मा जी ने उपन्यास में निहालसिंह-सिकन्दर के प्रसंग में अपनी उपर्युक्त मान्यता का कुशल प्रतिपादन किया है।[3] बैजूबावरा को मानसिंह के दरबार में दिखा और उसके द्वारा प्रवर्तित नूतन राग-रागनियों तथा परिपाटी का चित्रण कर उन्होंने बैजूबावरा के तानसेन के समकालीन होने की धारणा का भी परोक्षतः खंडन कर दिया है। इस प्रकार ऐतिहासिक उपन्यास लिखकर लेखक ने 'झाँसी की रानी' की तरह—किन्तु कम मात्रा में—यहाँ भी ऐतिहासिक भ्रमों के निवारण का प्रयत्न किया है। ऐसी अवस्था में 'मृगनयनी' में भी लेखक की इतिहास-सजगता का लक्षित होना स्वाभाविक है। इसलिए मृगनयनी में अनेक स्थलों पर

१. पृ० ३०३। २. २. 'परिचय', पृ० २। ३. ५० वाँ परिच्छेद।

इतिहास-तत्व की प्रधानता हो गई है किन्तु 'झाँसी की रानी' की तरह यहाँ इतिहास-[illegible] नहीं मिलता। 'मृगनयनी' में इतिहास-तत्व की प्रधानता उसकी राजनैतिक परिस्थितियों के चित्रण में देखी जा सकती है। १५ वीं शताब्दी की राजनैतिक गतिविधि का इसमें व्यापक चित्रण हुआ है। यह चित्रण कथा तथा पात्रों से सम्बन्धित राज्यों तक ही सीमित नहीं; चारों ओर के राज्यों तक फैल गया है। इसमें बहमनी सलतनत, विजयनगर, जौनपुर, खानदेश के पुर्तगेज़ों, सिंध के बलोचों तक की चर्चा हो गई है। मेवाड़ का राजा 'मृगनयनी' का पात्र नहीं, किन्तु एक-दो स्थलों पर उपन्यास-सम्बद्ध पात्रों से उसकी सन्धि या सहायता की सम्भावना का उल्लेख हुआ है, इसलिए इसका संक्षेप में गत इतिहास तक दे दिया गया है।[1] कुछ स्वल्पतम सम्बद्ध पात्रों के इतिहास-वर्णन को बहुत दूर तक खींचा गया है; जैसे, महमूद बघर्रा के वंश-परिचय तथा उसकी राजधानी अहमदाबाद के संक्षिप्त इतिहास तथा वर्णन को देखा जा सकता है। यह विचित्र है कि लेखक ने ग्वालियर तथा मानसिंह का ऐसा परिचय नहीं दिया। इसका कारण यही मालूम होता है कि लेखक वहीं ऐतिहासिक जानकारी देता है जहाँ वह दिलचस्प या चौंकाने वाली होती है, या लेखक की अभिरुचि अथवा अनुसंधानवृत्ति की द्योतक; यथा, बघर्रा तथा अहमदाबाद का वर्णन—"गुजरात की राजधानी अहमादाबाद को बसे पचहत्तर वर्ष से ऊपर हो गये थे। यहाँ चौदहवीं शताब्दी के अन्त में तैमूरलंग ने दिल्ली में एक लाख हिन्दू और एक लाख मुसलमानों का तथा दिल्ली के सेना-नायकों और सरदारों का वध किया। वहाँ गुजरात मालवा, जौनपुर बंगाल स्वभावतः स्वतन्त्र हो गये। गुजरात का पहला स्वतन्त्र सुल्तान अहमदशाह था। वह घोर न्यायी था। उसने एक हत्या के अपराध में अहमदाबाद की सड़क पर अपने दामाद के टुकड़े-टुकड़े करवा डाले थे और हिन्दू सामन्तों को अपना धर्म दे देने या सिर दे डालने के सिवाय और कोई मार्ग तो वह कभी देता ही न था"। आगे लेखक ने उसके कला-प्रेम, उसके द्वारा स्थापित इमारतों तथा मसजिदों का उल्लेख किया है, जो लेखक की अभिरुचि का द्योतक है। और अन्त में लिखा है—"महमूद बघर्रा इसी अहमदशाह का पौत्र था और इसी मसजिद के निकट साबरमती के किनारे वाले महल में रहता था"।[2] इसी तरह नसीरुद्दीन के कथानक को उसके बेटे की कार्रवाइयों तक खींचा गया है। सिकन्दर की गतिविधि का मानसिंह-सम्बद्ध वर्णन ही नहीं मिलता, उसके अनेक युद्धों में रत रहने का वर्णन भी होता रहा है, और साथ में लेखक को अपनी जानकारी देने का अवसर भी मिला है—"सिकन्दर लोदी को ग्वालियर काँटे की तरह खटकता था। उसने अनेक बार आक्रमण किये परन्तु वह

१. पृ० ६०। २. पृ० ७४-७५।

कभी सफल नहीं हुआ। सिकन्दर के भाई जलाल ने जौनपुर-बंगाल की ओर बगावत का झंडा ऊँचा किया—अर्थात् अपनी अलग सल्तनत कायम करने का प्रयास किया। सिकन्दर उधर गया, तो वह अन्तर्वेद की ओर खिसक आया। सिकन्दर जौनपुर को नष्ट कर चुका था। जौनपुर का सुल्तान हुसैनशाह, जिसके नाम पर संगीत का हुसैनी कन्हड़ा चला और विख्यात हुआ और जिसने जौनपुर को सुन्दर इमारतों से सजाया, बंगाल की ओर भटक रहा था। सिकन्दर अन्तर्वेद में आने के लिए लखनऊ में ठहर गया। लखनऊ छोटा सा ही नगर था परन्तु उसका क्षेत्र बड़ा और बहुत उपजाऊ था। दिल्ली की अधीनता में जौनपुर के साथ लखनऊ का क्षेत्र भी आ गया।"[१] उपर्युक्त सभी वर्णन कथा-सम्बद्ध नहीं, राजनैतिक गति-विधि की दृष्टि से भी इतने ब्यौरे अनावश्यक हैं; फिर भी, इनमें शुष्कता नहीं। इतिहास की अद्भुत बातों को सुनने-पढ़ने, या रहस्यों की जानकारी में जो रस मिलता है, वही इनमें है।

विभिन्न राजा-सुलतानों की गतिविधि तथा उनके पूर्वेतिहास का वर्णन—यानी ऐतिहासिकता का समावेश—'मृगनयनी' में अनेक प्रकार से हुआ है—

१. सीधी वर्णनात्मक शैली—इसमें लेखक इतिहास-वर्णन करता है। यह इस उपन्यास में सर्वाधिक है किन्तु जैसाकि स्पष्ट किया जा चुका है इसमें विशेष प्रकार की जानकारी देने के कारण शुष्कता से कुछ बचाव होता गया है। वैसे यह पद्धति कथा-गति रोधक तथा शुष्क होती है।

२. प्रश्नोत्तर शैली—इसमें सुलतान अपने दरबार में प्रधान जासूस या मन्त्री से चारों ओर की गतिविधि के सम्बन्ध में प्रश्न करता तथा उत्तर पाता रहता है। इस पद्धति में लेखक को पात्रों के कार्य-व्यवहार तथा अनुभावों के वर्णन का अवसर मिल जाता है जिससे शुष्कता कम आती है।

३. सामान्य संवाद-शैली - इसमें विभिन्न पात्र पारस्परिक चर्चा या विचार-विमर्षण से तात्कालिक या उपयोगी विगतेतिहास की चर्चा करते रहते हैं।

४. कथा-प्रवाह के मध्य, प्रसंग-विशेष में बहस के रूप में—यह उत्कृष्टतम रूप है। इसमें पाठक कथा औत्सुक्य, बहस की गर्मी तथा पात्रों की प्रकृति का आनंद लेता हुआ इतिहास का सहज ही पता पा जाता है।

इन विभिन्न प्रकारों के उपयोग से इतिहास का समावेश कुशलता से हो सका है।[२] वर्मा जी ने बहुविध परिस्थितियों के चित्रण से तत्कालीन युग को साकार किया है।

गियासुद्दीन, नसीरुद्दीन, बघर्रा और सिकन्दर मिलकर मुसलमान सामंतों का पूरा इतिहास ही प्रस्तुत कर देते हैं। मुसलमान सामन्त जिन प्रेरणाओं से युद्ध करने

---

२. पृ० ४०१। १. ५०वाँ परिच्छेद।

थे, उनकी असीम उच्छृंखल विलासिता जो कारनामें करती थी, बेटे बाप को ज़हर देकर जैसे राज्य पाते थे, और मज़हब या मौलवियों के आतक में राजनीति जैसा भीषण रूप लेती थी, इन सबका पूरा चित्र सामने आ जाता है। यदि कथा-विधान की दृष्टि से देखा जाए, तो विशेषतया नसीरुद्दीन और कुछ बबर्रा के कथासूत्र व्यर्थ जान पड़ते है। किन्तु ऐतिहासिक पृष्ठभूमि के निर्माण मे इनका योग स्वीकार किया जा सकता है—नसीर का इसमें भी नहीं। इस दृष्टि से वर्मा जी ने कथा-संगठन की अपेक्षा देशकाल या इतिहास-तत्व का विचार अधिक रखा है। अतएव उन पर यह आपत्ति हो सकती है कि वे वस्तु-संगठन तथा इतिहास-सम्पन्नता का समन्वित निर्वाह नहीं कर पाए।

राजसिह के आधार पर राजपूतों के मानमूलक क्षुद्र स्वार्थों, चारणों की स्फूर्तिप्रद प्रशस्तियों, गौरव के लिए मर-मिटने के उत्साह आदि का सफल चित्र मिलता है। मानसिह के रूप में एक आदर्श हिन्दू सामन्त का चित्रण हुआ है। जो चित्र दिया गया है उससे यही स्पष्ट हुआ है कि हिन्दू सामंत रक्षात्मक युद्ध लड़ते थे, या पारस्परिक वैर-शोधन में लगे रहते थे।

राजनैतिक के अतिरिक्त अन्य परिस्थितियों के चित्रण से समाज का लगभग पूरा चित्र सामने आ गया है, जो पात्रो के क्रिया-कलाप की संगति, कथा की वास्तविकता तथा इतिहास की साकारता के लिए आवश्यक था। तत्कालीन युद्धों का यथार्थ स्वरूप व्यक्त हुआ है। बार-बार होने वाले युद्धों तथा राजनैतिक अस्त-व्यस्तता के कारण, जनता की जो शोचनीय अवस्था हो जाती थी उसी से उपन्यास का आरम्भ हुआ है—वह राई गाँव के चित्रण में मूर्त हो उठी है। उनकी आर्थिक विकृति इसी से लक्षित हो जाती है कि होली मानने के लिए, वे सिन्दूर-गुलाल तक की व्यवस्था करने मे असमर्थ तथा किसी को लगान देने में रुष्ट रहते है। गाँव की प्रकृति, उपज-आजीविका, लगान-दर, उत्सव-त्योहार तथा ग्रामीणों की सामाजिक-धार्मिक रूढ़ धारणाओं सभी का सर्वांग चित्रण हुआ है। गाँव में किसानों का चित्रण हुआ है, तो नगर में मज़दूरों का। [illegible] मतभेदों तथा वाद-विवादों का चित्रांकन भी हुआ है। भारत की सांस्कृतिक एकता का वर्णन भी हुआ है। कलात्मक वातावरण को भी मूर्त किया गया है। कलाओं में प्रचलित विभिन्न शैलियों का उल्लेख भी हुआ है। इसके अतिरिक्त लेखक ने क्रीड़ा-भूमि या औपन्यासिक क्षेत्र की प्रकृति, नदी-नालों, पेड़-पौदों-झाड़ियों तथा जंगली पशुओं का यथार्थ चित्रण किया है। उपन्यास की रोमानी प्रकृति, ग्राम-चित्रण, शिकार के आधार पर आजीविका-जुटाने—तथा शिकार से ही लक्ष्य-बेधन का अभ्यास करने—वाले पात्रों के लिए उपर्युक्त चित्रण स्वाभाविक था। यह अवश्य है कि कहीं-कहीं प्राकृतिक वर्णन किंचित् लम्बे हो गए हैं और कथा को गतिहीन बनाते है।

ऐतिहासिक उपन्यासकार के लिए देश को साकार करने में अनिवार्य एक अन्य विशेषता भी उल्लेखनीय है। मृगनयनी के कथासूत्रों से सम्बन्धित विभिन्न स्थानों की भौगोलिक स्थितियों के ऐसे यथार्थ किंतु आवश्यक विवरण दिये गये हैं कि पाठक के सामने औपन्यासिक क्षेत्र का मानचित्र बन जाता है; जैसे—"ग्वालियर के पश्चिम-उत्तर में लगभग छः कोस की दूरी पर सांक नदी के किनारे राई नाम का गाँव था।"[1] "नरवर ग्वालियर से २५ कोस दक्षिण-पश्चिम में तथा चंदेरी नरवर से २० कोस पर।" "नरवर माँडू के उत्तर-पश्चिम में है...सिंध नदी सर्प की सी लीक बनाती हुई दक्षिण-पश्चिम से आकर नरवर को पश्चिम की ओर से घेर कर उत्तर-पूर्व की ओर चली गई है। नरवर मानों उसकी पश्चिमी कुण्डली के भीतर है"।[2]

अब हम ऐतिहासिक प्रतिबंधों की सापेक्षता तथा शिल्प-विधि की दृष्टि से 'मृगनयनी' में प्रतिपादित सामाजिक समस्याओं को देखेंगे। वर्मा जी ने इतिहास की सच्चाई का निर्वाह उस सीमा तक किया है जहाँ तक आधुनिक आदर्श कुण्ठित नहीं होते। 'मृगनयनी' के 'परिचय' में वर्मा जी का यह दृष्टिकोण संकेतित है; देखिए—"बोधन ब्राह्मण ऐतिहासिक व्यक्ति है। उसके मारने वालों की बर्बरता का मैंने बहुत थोड़ा वर्णन किया है—करना पड़ा।" इस 'करना पड़ा' की मजबूरी लेखक के सामने सदैव रही है। वर्तमान युग में साम्प्रदायिक समस्या विशेष उग्र रही है। ऐसी अवस्था में वर्मा जी के सामने कठिनाई थी कि मुसलमानों की तत्कालीन बर्बरता का वर्णन इस रूप में करें कि ऐतिहासिक सच्चाई भी आवृत्त न हो और हिंदू-मुस्लिम-ऐक्य की भावनाएँ भी कुण्ठित न हों। वर्मा जी इसमें सफल रहे हैं। एक तो उन्होंने मुसलमान सुलतानों—गयास, बघर्रा आदि—से मौलवियों की मज़हबी कट्टरता की भर्त्सना कराई है तथा राज्यों में उनके हस्तक्षेप को भी बरदाश्त नहीं करवाया, तथा हिंदुओं के उच्च कवियों, कला-मूर्तियों की प्रशंसा करवाई है;[3] दूसरे, बोधन के वध का अनतिरंजित संगत चित्रण किया है और मज़हबी कट्टरता से हानि पर अपनी आलोचनात्मक टिप्पणी दी है;[4] तीसरे एक विशेष परिच्छेद की सृष्टि कर मानसिंह को सिकन्दर के भाई जलाल के मुसलमान सैनिकों को शरण प्रदान करते तथा यह कहते प्रदर्शित किया है—"मेरा झगड़ा सुल्तानों और सुल्तानी शासन से है न कि मुसलमानों से। काम करो, राजभक्त रहो और हिन्दुओं के समान ही बर्ताव पाते हुए इज्ज़त के साथ जीवन को बिताओ।"[5] वस्तुतः इन प्रसंगों में, ऐतिहासिक सच्चाई के कारण, हिन्दुओं के न्याय तथा उदारता के प्रति लेखक की सहानुभूति चाहे दिखाई देती है, किंतु जातीय घृणा से बचाए रखने के तटस्थ-कलाकार के प्रयत्न में वह असफल नहीं रहा।

१. पृ० ३। २. पृ० २२६। ३. पृ० ७१, २६३।
४. पृ० ४०६। ५. पृ० ४८२।

साम्प्रदायिक समस्या के अतिरिक्त 'मृगनयनी' में प्रतिपादित अन्य समस्याओं तथा महत्वपूर्ण प्रश्न-विचारों की तालिका इस प्रकार है—(१) जात-पाँत की समस्या। (२) आदर्श प्रेम का प्रस्तुतीकरण। (३) (तत्कालीन स्वर्ग-नरक की कल्पनाओं में भी) ऐहिक जीवन को महत्व, जीवन की सजीवता पर बल (४) कर्म-मार्ग और उसमें भी कायक श्रम पर बल। (५) आत्मनिर्भरता पर ज़ोर। (६) जनवाद—लघुता के प्रति सहानुभूति तथा उन्हे गौरव देना। (७) छूत-छात-विरोध। (८) नारी-जीवन-सम्बन्धी आदर्श एवं समस्याएँ—(क) बहु विवाह-विरोध (ख) पर्दा-प्रथा-विरोध (ग) आत्म-रक्षा पर बल (घ) नारी की सार्थकता का स्पष्टीकरण (ङ) दाम्पत्य जीवन का आदर्श—(अ) प्रेम को संयत करने पर बल (आ) नारी को पुरुष की स्फूर्ति सिद्ध करना। (९) विवाह में नारी की स्वेच्छा-स्वीकृति। इस लम्बी सूची को देखकर यह अनुमान किया जा सकता है कि लेखक ने उद्देश्य-तत्व का अधिक-से-अधिक समावेश तथा सामयिक युग-धर्म का अधिक-से-अधिक निर्वाह करने का प्रयत्न किया है। इन विचारों-समस्याओं में से प्रभावपूर्ण प्रतिपादन उन्हीं का हो सका है, जिनको घटनाओं एवं पात्रों की चारित्रिक विशेषताओं का बल मिला है। दूसरे, जो ऐतिहासिक औचित्य का उल्लंघन न कर अस्वाभाविक नही लगते। उदाहरणतया, जात-पाँत की समस्या तथा प्रेम सम्बन्धी आदर्शो की स्थापना लाखी-अटल की लम्बी कथा पर आधारित है। इसी के कारण उनकी अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है और मृगनयनी के प्रमुख पात्र तथा समाज भी इसके पक्ष-विपक्ष में सहायक या बाधक रहे है—उपन्यास मे संघर्ष-जन्य औत्सुक्य की सृष्टि भी हुई है—इसलिए इनके प्रभावपूर्ण प्रतिपादन में लेखक सफल रहा है। ऐतिहासिकता की दृष्टि से लेखक ने वासवपुराण तथा शैवधर्म से प्रभावित पात्रों—विजय जंगम और मानसिंह—के आधार पर असवर्ण विवाह का समर्थन करवाया है। किन्तु तत्युगीन समाज की सामान्य प्रवृत्ति इसके विरुद्ध प्रस्तुत की है और इसका प्रतीक बोधन को बनाया है। इसके अतिरिक्त लाखी-अटल के दृढ़ प्रेम के आधार पर भी असवर्ण-विवाह का समर्थन व्यंजित किया है—दृढ़ तथा सच्चा प्रेम वर्ण-धर्म से ऊपर होता है। इस तरह उसने जिस संघर्ष को प्रस्तुत किया है, वह ऐतिहासिक औचित्य के विरुद्ध नहीं पड़ता। इस समस्या का अंत और भी संगत है। लाखी-अटल अपनी व्यक्तिगत विशेषताओ तथा राजा के बल से चाहे सफल हो जाते हैं, किन्तु समाज तथा परम्परा का समर्थन पाने में वह तब भी असफल रहते है। मरणासन्न लाखी अटल को अपनी जाति मे पुनर्विवाह की जो बात कह जाती है, वह इसको संकेतित करती है। मरने से पहले बोधन का अन्तर्द्वन्द्व और भी यथार्थ तथा सांकेतिक है—उसका विवेक तो असवर्ण विवाह को मान जाता है, किन्तु परम्परागत संस्कार उसको नहीं मानते। इस तरह चारित्रिक कुशलता के बल पर

लेखक अपने सामयिक समाज को सांकेतिक प्रेरणा देने तथा तत्युगीन ऐतिहासिक सत्य को दर्शाने, दोनों में सफल हो गया है। निस्सन्देह यह वर्मा जी की बड़ी शक्ति है। नारी द्वारा पुरुषों के बहु-विवाह-विरोध का प्रश्न तत्कालीन प्रवृत्ति के विरुद्ध था, इसलिए ऐतिहासिक औचित्य एवं युग-धर्म दोनों के समतुल्य निर्वाह के लिए लेखक इसे मृगनयनी के अन्तःचिंतन तथा उसकी विश्वासपात्रा सखी लाखी के संवाद में ही उठाकर रह गया है। यही उचित भी था। नारी की आत्मरक्षा के प्रश्न को मृगनयनी-लाखी के आचरणों तथा उनको उठाने आए सैनिकों को मारने-भगाने की घटना दोनों का बल मिला है, अतएव यह समस्या भी पर्याप्त प्रभविष्णुता से चित्रित है। किन्तु मृगनयनी के मन में राजपूतनियों की सती प्रथा, आग में जलकर अपनी रक्षा करने के प्रयत्न के विरोध में जो विचार उठते दिखाए गए हैं, उन्हें लाखी के आधार पर तो सिद्ध किया जा सका है किन्तु मृगनयनी के आधार पर नहीं। अतएव इस समस्या के चित्रण में किंचित् कमी रह गई है।

पर्दा-प्रथा का विरोध एक महत्वपूर्ण अवसर पर प्रमुख पात्री द्वारा हुआ है, इसलिए यह प्रश्न पाठकों के मनोनभ में कौंध सका है, अन्यथा चलती चर्चा बनकर रह जाता। इसमें अस्वाभाविकता यह है कि आगे मृगनयनी के जीवन में इसका उपयोग नहीं हो सका।

नारी-जीवन सम्बन्धी अन्य आदर्श मृगनयनी के व्यक्तित्व के आधार पर चरितार्थ हुए हैं, किन्तु इनकी प्रभावपूर्णता का सम्बंध लेखक की चरित्र-चित्रण की सीमाओं से है, जिसका विवेचन यथास्थान आगे किया जाएगा। यहाँ मात्र यही कहा जा सकता है कि इनमें लेखक को आंशिक सफलता ही मिली है।

ऐहिक जीवन को महत्व, छुआछूत-निराकरण तथा कायक श्रम पर बल के आदर्श मुख्यतः विजयजंगम तथा उससे प्रेरित अन्य प्रमुख पात्रों—मानसिंह, मृगनयनी—के विचारों द्वारा व्यक्त हुए हैं और यह भी दिखा दिया गया है कि विजय मज़दूरों से मिल कर काम करता है तथा वीणा सिखाने तक का मूल्य नहीं लेता। मानसिंह के मज़दूरों के साथ कार्य करने का भी उल्लेख हुआ है। इन विचारों को वासव पुराण तथा विशिष्ट चरित्रों के आधार पर दिया गया है, किन्तु ये अधिक मूर्त नहीं, इसलिए प्रभावपूर्ण भी नहीं हो सके।

आत्मनिर्भरता का महत्व अनेक पात्रों में व्यक्त है—लाखी-अटल के प्रारम्भिक जीवन से ही आत्मनिर्भरता मूर्त होती है और बाद में विजय के विचारों एवं चरित्र का आधार भी इसे मिल जाता है। अटल, लाखी की कमाई नहीं खाना चाहता और बाद में लाखी बिना कुछ करतब दिखाए, मृगनयनी और मानसिंह का आश्रय नहीं पाना चाहती। विवाहोपरांत सुविधा होते हुए भी मृगनयनी दासियों से कार्य नहीं

लेना चाहती। अतएव उनके जीवन-व्यवहार का सामान्य अंग होने से यह गुण उभर कर सामने आ सका है।

जनवादी प्रवृत्ति के लिए, स्थान-स्थान पर अनेक विचार व्यक्त किए गए हैं तथा कुछ परिच्छेदों की सृष्टि भी हुई है। मानसिंह भेस बदल कर मज़दूर की सहायता करता, उसे गौरव देता तथा उसकी दुखद दशा से प्रभावित होकर उसकी अवस्था सुधारने के लिए विशेष उपाय करता है। दूसरे प्रमुख पात्र भी मजदूरी को अपनाते हैं। किसानों की आर्थिक दुर्दशा पर विशेष दृष्टि दी गई है तथा उनके अधिकारों को महत्व। यह राई गाँव के चित्रण के माध्यम से हो सका है। मृगनयनी के व्यवहार से दासियों की स्थिति का भी व्यंग्यात्मक परिचय दिया गया है।

यद्यपि उपर्युक्त सभी उद्देश्य—जो आधुनिक जीवन के जलते प्रश्न हैं—किसी-न-किसी भाँति 'मृगनयनी' के ऐतिहासिक वातावरण में सयोजित कर लिए गए है, किन्तु इनसे सम्बन्धित कुछ ऐसी पंक्तियाँ कही गई हैं, जो उपन्यास में आधुनिकता के आधिक्य का उद्घोष ही नहीं करतीं, अपनी ऐतिहासिक संगति-असंगति का प्रश्न भी पैदा कर देती है। इस सम्बन्ध में निम्न पंक्तियाँ लीजिए जिनमें लेखक आवश्यकता से अधिक बोल गया है—

१. विजयजंगम—"..संसार के गले पर खांडा चलाते जाओ और भगवान का नाम लेते जाओ, तो क्या इस मार्ग से भी मोक्ष मिल जाएगा ? वर्ण, अवर्ण के भेद मान कर एक दूसरे से घृणा करते हो, अछूतों को मनुष्य न समझो, छुआछूत के नाटक में रहते हुए भी भजन की माला टालते रहो तो क्या बैकुण्ठ प्राप्त हो जाएगा।.."[१]

२. मानसिंह—"मौलवियों या मुल्लाओं से भी कभी शास्त्रार्थ करने की कामना हुई तुम्हारे या तुम सरीखे पुरातन-पन्थियों के मन में"[२] (ऐतिहासिक वातावरण में पुरातन-पंथियों-जैसी आधुनिक शब्दावली !)

३. मानसिह—"किसान ही तो राजा को बनाता है .."[३]

४. मृगनयनी—"मुझ को तो विजय की बात अच्छी लगती है।...उनका कहना है कि इस देश को भिखमंगों और निकम्मों ने डुबोया है।"[४]

५. मज़दूर ने (भेस बदले राजा को) तिरस्कार के स्वर में कहा, "वाह ! हम क्या भिखमंगे हैं ? सदावर्त पर तो कोढ़ी-अपाहज, साधू-बैरागी जाते हैं। हम तो मज़दूर है।"[५]

(मानसिह की सहायता पर) मज़दूर ने हाथ जोड़े हुये कहा—"महाराज

---

१. पृ० ४५।   २. पृ० २५६।
३. पृ० १८३।   ४. पृ० ३१६।   ५. पृ० ३७४।

मुझको क्षमा मिले। आपने यह क्या किया?" कुछ भी तो नहीं कर पाया। धिक्कार है जो मैं तो भरे पेट सो जाऊँ और तुम भूखों रोगों मरो! मैं महलों में रहूँ और तुम इस झोपड़ी में भूखे ठण्डों मरो!!

'हमारा भाग्य है, महाराज!'

'बिलकुल भ्रम की बात। हमारे भाग्य के आधार तुम्हीं सब जन हो। तुम्हारा भाग्य बुरा रहा तो हमारा तो पहले ही खोटा हो चुका।"[1]

नरवर के घेरे के समय व्यापारी वर्ग की मनोवृत्ति बिल्कुल आज-सी चित्रित की गई है—"..व्यापारी माथे को ठोंक-ठोंक कर, गर्दन हिला-हिला कर कहते थे सब व्यापार चौपट हो गया! उनका मन भीतर ही भीतर फुसफुसाता था, चलता रहे घेरा तो चार महीने तो एक-एक के सौ-सौ डूंड़ कर डले हैं। और अगर शत्रु ही जीत गया तो अन्न, वस्त्र इत्यादि उसको भी चाहिए, वहुत सस्ता भी खरीदेगा तो दुगने में कसर लगने की हैं हीं।"[2]—यह आधुनिक व्यापारी का चिन्तन हो सकता है, तत्कालीन का नहीं। उन्हें मुसलमान सुलतानों से अपनी लूट-मार की रक्षा के लिए पहले सोचना होता था। उपन्यासारम्भ में लेखक ने राई गाँव के बार-बार लूटने का उल्लेख किया है, उसके आलोक में व्यापारी का उपर्युक्त चिन्तन और भी असंगत हो जाता है। कुल मिलाकर उपर्युक्त सभी कथन मध्ययुगीन वातावरण में कुछ कृत्रिमता की सृष्टि करें जागरूक पाठकों के लिए क्षोभकारी सिद्ध होते हैं। पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी ने भी मृगनयनी के अतिरिक्त नारी-चेतना, पर्दा-विरोध, लाखी-मृगनयनी की प्रेम-विलक्षणता तथा ग्रामीण जनता की विचार-क्रांति के आधार पर आपत्ति की है; और लिखा है—"जो लेखक अपनी विचारधारा को ऐतिहासिक या कल्पित पात्रों के वार्तालाप से पुष्ट करने का प्रयास करता है, वह अपनी कथा की स्वाभाविक गति को नष्ट कर एक ऐसी कृत्रिमता का वातावरण उत्पन्न कर देता है, जिसमें पाठकों को विरक्ति होने लगती है।"[3]

मृगनयनी को ऐतिहासिक रोमांस भी कहा गया है। वस्तुतः इसमें रोमांस के कुछ तत्व ही मिलते हैं; वह भी मुख्य कथा में कम, सहायक तथा प्रासंगिक कथाओं में अधिक। उपन्यास के नायक मानसिंह को नायिका मृगनयनी से अपने विवाह के लिए किसी प्रकार के शौर्य-साहस से काम नहीं लेना पड़ता। कलाओं की साधना में वह इतना मग्न दिखाया गया है कि राज्य-रक्षा के लिए उसे बार-बार स्फुरित करना पड़ता है। अतएव उसके न तो शौर्य और न ही प्रेम का स्वरूप रोमानी कहा जा सकता है। मृगनयनी में उसके विवाह-पूर्व के जीवन में शौर्य, जीवट आदि के तत्व अवश्य मिलते हैं। और यह तथ्य चमत्कारपूर्ण है कि यहाँ साहस-शौर्य के कार्य पुरुषों

१. पृ० ३७५। २. पृ० २६९। ३. "हिन्दी कथा-साहित्य", पृ० २३५।

से नही, कोमलागियों एवं असीम सुन्दरियों—जिनको प्राप्त करने के लिए अनेक सुलतान उद्वेलित हो उठते है - से कराए गए है। इन विरोधी गुणों के सयुक्तोत्कर्ष से आह्लादकारी एवं प्रभावी वातावरण उपस्थित हो जाता है। उसके द्वारा जंगली नाहर व तेन्दुए आदि के निर्भीक शिकारों तथा विदेशी सिपाहियों के अद्भुत साहसपूर्ण हनन में इन तत्वों का ज्वलन्त मूर्तीकरण हुआ है। विवाह के बाद महलों में पहुँच कर उसके शौर्य का सक्रिय साक्षात्कार कहीं नहीं मिलता—वहाँ यह मानसिक होकर रह गया है। कथा के नायक-नायिका लाखी और अटल की सम्पूर्ण जीवन-गाथा में रोमांस-तत्व और भी प्रदीप्त हुए हैं। एक वे आपसी असवर्ण प्रेम-विवाह के लिए आद्यन्त संघर्ष करते है—अपने गाँव तक को छोड कर; संकटापन्न परिस्थितियो के नानात्व को सहर्ष स्वीकार करते है। वे चाहते, तो अपने परिजन राजा की सहायता ले सकते थे, किन्तु उनकी आत्मनिर्भरता की शक्तिमता इसकी उपेक्षा करती है। इस तरह उनमें संकटों मे जूझने का जीवट है। उपर्युक्त शिकारों तथा सिपाहियों को मार-गिराने में लाखी भी मृगनयनी के साथ रही है। नरवर के किले की रक्षा में जिस साहस-कौशल का वह परिचय देती है, वह इस उपन्यास की सबसे चमत्कारी घटना है। अन्त में राई गढी की रक्षा में लाखी और अटल—विशेषतया लाखी—जिस प्रकार बलिदान होते हैं, उससे वे अपने शौर्य को पाठकों के मानस-खंड पर मुद्रित कर जाते है। और इस शौर्य की क्रोड़ में पलने वाला प्रेम उनके अन्तिम बलिदान की अग्नि में खरा सोना सिद्ध होता है—उनकी अन्तिम उक्तियां इसका प्रमाण है।

बघर्रा के विचित्र तथा हिंस्र व्यक्तित्व के द्वारा लेखक ने रोमास के अद्भुत तत्व का सन्निवेश भी किया है, परन्तु इसका कथानक से सीधा सम्बन्ध नहीं। राजनैतिक पृष्ठभूमि के निर्माण में ही इसका कुछ योग स्वीकार किया जा सकता है। गयास-नसीर की आकुल-अकूल वासनाओं के चित्रण से—किन्तु औचित्य की सीमा में—सरसता लाने का प्रयास किया गया है। कुल मिलाकर एक प्रामाणिक ऐतिहासिक उपन्यास की प्रकृति के अनुरूप, लेखक ने रोमांस के कुछ तत्व ही स्वीकार किए है, असम्भव-दुर्लभ के वे तत्व नही, जो इसकी ऐतिहासिकता के आगे प्रश्नचिन्ह लगा देते। यह उल्लेखनीय है कि इस रोमांस-तत्व—शौर्य-सौन्दर्य एव प्रेम-वीरता से सम्बन्धित आश्चर्यकर घटनाओं—शिकार के निरुपम यथार्थ-मनोरम वर्णनों, मुसलमान सुलतानों की रगीनियों तथा युद्ध की संकटापन्न स्थितियों में विविध कला-प्रयोगों ने मिलकर 'मृगनयनी' मे रंजन एवं आस्वादन की पर्याप्त सामग्री जुटाई है; अन्यथा इसका कथा-विन्यास औपन्यासिक रंजकता के अधिक अनुकूल नही।

रंजन का तत्व उपन्यास के वस्तु-विन्यास पर भी अवलम्बित होता है। किसी 'वस्तुमय उद्देश्य' के लिए संघर्ष के अभाव में 'मृगनयनी' के कथा-विन्यास में उत्सुकता-

कौतूहल आदि के तत्वों का सातत्य नहीं—न तो उपन्यास का आरम्भ ही ऐसा है, न उत्थान ही। "कथा का ग्रंथन ऐसा होना चाहिए कि उत्तरोत्तर कथा-सूत्रों के आने से कथा का उत्कर्ष बढ़े और औत्सुक्य तथा रूचि में उत्थान होता जाए। इस उपन्यास की घटनाओं के तारतम्य में न तो कोई (suspense) विक्षोभ है, न रहस्य है, न गूढ़ता, न घटाटोप है, न विच्छेद है। एक के उपरांत एक घटना सहज भाव से आती चली जाती है, वह घटना बहुधा कथासूत्र का अन्त नहीं होती, उसमें किसी बहाने पिरोयी गई होती है। मृगनयनी के शौर्य की घटनाएँ, किसी सुअर को मारना, किसी अरने को मारना, सूअर को पीठ पर लाद लाना, कुओं की सफाई-सुथराई, बैजूबावरे का गायन, कला का नृत्य, भवन का निर्माण, मानसिंह का मज़दूर के यहाँ चक्की पीसना, लाखी की माँ की मृत्यु, कला का बड़प्पन आदि-आदि, इसी प्रकार निहालसिंह और बोधन का वध, इन्हें वस्तुतः घटना कहा भी जा सकता है क्या? औपन्यासिक घटनाएँ तो तीन ही दिखायई पड़ती हैं: सिपाहियों का मरना, लाखी का रस्सी काट कर पिल्ली को मार डालना, तथा गढ़ी पर शत्रुओं को मारते हुए लाखी का पलायन।"[1] स्पष्टीकरण के लिए 'मृगनयनी' में जो कुछ कौतूहल है, वह मानसिंह-मृगनयनी की मुख्य कथा में नहीं, लाखी-अटल की सहायक कथा में है। इसी में पिल्ली को लेकर कुछ शृंगारिक त्रिकोन का आभास भी है। प्रासंगिक कथा गियास की है और इसने भी कथा को अग्रसर करने, लाखी को चारित्रोत्कर्ष देने तथा मूल-कथा एवं सहायक कथा को मिलाने का कार्य किया है। उपन्यास का आरम्भ सिकन्दर के हमले के परिणाम से हुआ। उपन्यास के बीच में भी उसका आतंक छाया रहा है। उसने दो बार हमले भी किए हैं और एक बार नरवर-प्राप्ति के रूप में उसे सफलता भी मिली है, अनेक शूरवीरों की मौत का कारण भी वही है। इसी ने मुख्य उद्देश्य कला-कर्तव्य के समन्वय के आगे अनेक स्थलों पर प्रश्न चिन्ह अंकित किया है। अतएव यह मुख्य प्रतिवस्तु है। राजसिंह और कला की कथा को इसको सहायक रूप में माना जा सकता है। राजसिंह-कला की कथा मुख्य प्रतिवस्तु नहीं, जैसाकि डॉ० सत्येन्द्र का मत है[2]—क्योंकि राजसिंह में अकेले मानसिंह से लोहा लेने की सामर्थ्य ही नहीं, वह कभी माण्डू और कभी सिकन्दर की कृपा पर आश्रित है। उसे नरवर-प्राप्ति भी सिकन्दर की कृपा का फल है, किसी योजना का परिणाम नहीं। वैसे भी, मानसिंह ने राजसिंह को विरोधी के रूप में नगण्य महत्व दिया है—कला के प्रति उसकी उदारता तथा राजसिंह को उसका संदेश इस बात का प्रमाण है। सिकन्दर लोधी को वह अपने कला-कार्य के अटूट क्रम के लिए वन आदि से टालने तक की बात भी सोचता है। सिकन्दर ने ही कला-मूर्तियों का विध्वंस भी किया है। कहा जा सकता है कि

१. डॉ० सत्येन्द्र : "मृगनयनी: कला और कृतित्व", पृ० ५८। २. वही, पृ० ३०-३१।

राजसिंह इसका कारण बना। यह क्यों न कहा जाए—और जैसाकि लेखक को भी मान्य है—कि इसके लिए स्वयं मानसिंह भी उत्तरदायी है। सिकन्दर मानसिंह को न जीत सका तो उसकी कला-सृष्टियों का विध्वंस तो कर सका। फिर भी उपन्यास के विभिन्न परिच्छेद किसी प्रतिवस्तु के विरोध में मुख्य कथा का अंग नहीं बने। अतएव यहाँ सिकन्दर की प्रतिवस्तु को भी इतना महत्व नहीं दिया गया कि वह औपन्यासिक विधान में अपेक्षित संघर्ष-तत्व की सृष्टि कर सकती। इस तरह उपन्यास के वस्तु-विधान में उत्सुकता-कौतूहलता के तत्व पर्याप्त मात्रा में नहीं आ सके; फिर भी, सामान्य मात्रा में इनकी विद्यमानता का निषेध नहीं किया जा सकता। उपन्यास की मूलकथा में रजन के गुण को अपर्याप्त समझकर ही लेखक ने अतिरिक्त साधनों से इसको लाने का प्रयास किया है। नसीर और बघर्रा की कथाएँ ऐसी हैं—पहली उपन्यास के लिए अनावश्य स्वतन्त्र कथा है। वह कहीं भी मूलकथा या पात्रों से सम्बन्धित नहीं होती—दूसरी भी लगभग ऐसी ही है। भूकम्प-वर्णन का विस्तृत परिच्छेद भी मात्र हास्य की सामग्री जुटाने के लिए लाया गया है।

कथाओं में रहस्य-तत्व के विनियोग से पाठकों के औत्सुक्य को सतत सजग रखने का प्रयत्न वर्मा जी ने अपने पहले कुछ उपन्यासों में किया है, किन्तु 'मृगनयनी' में यह विशेषता कुछ स्थलों पर ही है; जैसे, राजसिंह कला को ग्वालियर भेजते हुए एकांत में कुछ कहता है, जिसे पाठक बाद में यथास्थान जान पाता है।[1] नटों के प्रसंग में भी दो स्थलों पर यही बात मिलती है—मांडू को कुछ नट क्यों गए हैं और किसको लाए हैं, यह लेखक पाठकों से छिपाता है।[2]

मार्मिक स्थलों की योजना उपन्यास में गम्भीर रोचकता का कारण बनती है। 'मृगनयनी' में ये हैं, किन्तु अधिक नहीं। लाखी-अटल की वीर-मृत्यु[3] नरवर-बचाने के अवसर पर मानसिंह का लाखी को मान देना,[4] मानसिंह का मृगनयनी से प्रणय-निवेदन,[5] ग्राम-छोड़ती लाखी का उमड़ती भावनाओं से निन्नी का स्मरण, बोधन का बलिदान आदि ऐसे ही स्थल हैं। फिर भी, मृगनयनी में साधारण एवं असाधारण ऐसे अनेक स्थल हैं, जिनका प्रभाव-सृष्टि में सार्थक उपयोग हो सकता था किन्तु किया नहीं गया। साधारण स्थलों में लाखी की माँ की मृत्यु, अटल का राई-त्याग आदि लिए जा सकते हैं और असाधारण में निहाल सिंह एवं बोधन के वध को। इन दोनों का वध न तो मानसिंह में मार्मिक अन्तर्द्वन्द्वों की सृष्टि कर सका है, न इनके प्रभाव-स्वरूप करुण-मार्मिक वातावरण का चित्रण किया गया है। अन्य

---

१. पृ० १०४। २. पृ० १२२ तथा १४७। ३. पृ० ४६५, ६६, ६९।
४. पृ० २९९। ५. पृ० १९६।

प्रसंगों में शिकार और युद्धों के वर्णन विशेष यथार्थ, चित्रमय, तथा रंजक हैं ।

जैसे लेखक कुछ स्थलों का उपन्यास की प्रभविष्णुता में उचित उपयोग नहीं कर सका, उसी तरह कुछ स्थलों पर उसने व्यर्थ पृष्ठ जाया किए हैं—स्यात् इसी दृष्टि से डॉ० सत्येन्द्र तथा कुछ अन्य आलोचकों ने लाखी के नटकला सीखने को व्यर्थ बताया है । उनके तर्क हैं—"यह अनुमान किया जा सकता है कि पहली कल्पना में लेखक लाखी के द्वारा नरवर के घेरे के अवसर पर पत्रादि ले जाने का कार्य कराना चाहता था, बाद में उसने अपना यह विचार बदल दिया"।[१] लेखक के मस्तिष्क में यह बात पहले से थी कि उसे (लाखी को) नरवर के किले से रस्से पर चढ़ा कर निकालना होगा, जिसके लिए पहले से ही अभ्यास करा लेना आवश्यक था । परन्तु जब समय आया तो बात ध्यान से हट गई । रस्से का प्रसंग तो आया और 'लाखी' ने काट कर 'पिल्ली' की जान भी ले ली परन्तु लेखक पूर्व प्रसंग की यथार्थता की रक्षा करने के लिए रस्से पर चढ़ने का अवसर नहीं दे पाया"।[२] हम इन दोनों मतों से असहमत है, क्योंकि वर्मा जी ने लाखी के नटकौशल का उपयोग किया है । लाखी की योजना सफल न हो पाती यदि वह नटवर्ग में यह विश्वास न उत्पन्न कर सकती कि वह रस्सी के काम में इतनी कुशल है कि नटवर्ग के जाने के बाद वह अटल को साथ लिए रस्सी पर नटवर्ग का सफलता से अनुकरण कर सकती है । पिल्ली का अनुरोध था कि पोटा के जाने के बाद लाखी जाए और सबसे अन्त में रस्सी-कार्यकुशल वह स्वयं इस कार्य में अनभिज्ञ अटल को लिए हुए किले से उतरे । पर लाखी अपनी योजनानुसार दृढ़ता से कहती है—"मैं तो जानती हूँ रस्सी का काम । अन्त में अटल को लेती आऊँगी साथी"।[३]

"जिस प्रकार रस के परिपाक में पड़ने वाली बाधायें दोष मानी जाती हैं, उसी प्रकार किसी वर्णन में भी उसके मुख्य विषय से भिन्न स्वरों की गूँज उठाना दोष माना जा सकता है । सभा में जिस समय राज-काज के महत्व का प्रतिभास होता है अथवा संगीत की प्रतियोगिता का गंभीर वातावरण स्पष्ट होता है, तभी ऊपर श्रवणार्थ और दर्शनार्थ आई हुई रानियों में सपत्नि-ईर्ष्या और डाह के दाव-पेंच चलते दिखाई पड़ते हैं । कला के ऐसे पावन समारोह के अवसरों को ही उपन्यासकार ने ऐसे विषय के लिए क्यों चुना ? क्या इसलिए कि ये रानियाँ किसी और अवसर पर एक स्थान पर एकत्र नहीं हो सकती थीं या इसलिए कि साधारण भारतीय नारियों का स्वभाव ही ऐसा होता है कि जब कहीं एकत्र होती हैं, तो ऐसी

१. डॉ० सत्येन्द्र : "मृगनयनी : कला और कृतित्व", पृ० ५८ ।

२. डॉ० त्रिभुवनसिंह : "हिन्दी उपन्यासकार और यथार्थवाद", पृ० १५४ ।

३. पृ० २८६ ।

ही बातें करती है। किन्तु जहाँ इससे भारतीय नारियों की स्वाभाविकता का पता चलता है वहीं मृगनयीन के मूल्यांकन में धक्का भी लगता है और औपन्यासिक रसोपलब्धि अथवा प्रभाव में बाधा भी पड़ती है"।[1] —डॉ० सत्येन्द्र के इस मत से हम पूर्णतया सहमत हैं। इस प्रकार मृगनयनी के कथा-विधान में कुछ गुणों के साथ अनेक त्रुटिया भी लक्षित की जा सकती है।

मृगनयनी में लगभग पच्चीस पात्रों—१८-१९ पुरुषों तथा छह स्त्रियों—को लिया गया है। और इन सबकी औपन्यासिक उपयोगिता है। प्रमुख पात्रों तथा अपेक्षाकृत गौण पात्रों के स्थान का प्रासगिक स्पष्टीकरण हो ही चुका है। गौणतम पात्रों मे से विजयजंगम से विवाद करने वाले वैष्णव शास्त्रों की एक प्रसंग-विशेष में क्षणिक झाँकी ही मिल पाती है। उसकी कुछ उपयोगिता तत्कालीन धार्मिक परिस्थिति के चित्रण की दृष्टि से तथा मुख्य कार्य लेखक को मानसिह के माध्यग से विचार देने— और इस रूप मे उसकी पहली सबल झाँकी देने—का साधन बनने में है। लेखक ने उसका नाम नहीं दिया और बाद में वह लुप्त हो गया है। इसी तरह काजी और जासूस योगी भी अपना-अपना कार्य करते चलते-बनते हैं और यह उचित भी है। राजसिह के दरबार के चारण को भी केवल अपना कार्य—दरबार और रणक्षेत्र दोनों में पूर्वजों का स्मरण तथा प्रतिज्ञा का ध्यान दिला कर हुश्का देने का कार्य करने दिया गया है और इसमें उसकी उपयोगिता समाप्त भी हो जाती है। फिर भी, एक स्थान पर उसके कविता पाठ की तात्कालिक प्रेरणा का मनोवैज्ञानिक उल्लेख हुआ है; जैसे "बैजू के गायन का जो प्रभाव हुआ था उस पर अपने प्रभाव को चढा देने का उस कवित्त-पाठ का उद्देश्य अधिक था, राजसिंह को भड़काने का कम"।[2] नटवर्ग की नायकिन का स्थान नट-वर्ग के जीवन की स्वाभाविकता की दृष्टि से है। सभी नटों को उसकी आज्ञा माननी पड़ती है और वही पद-लालसा के लिए अपने कार्य को कुशलता से करने के लिए पिल्ली को प्रेरित करती है। इसके अतिरिक्त अटल-लाखी को फसाने के लिए वह कुशल मन्त्रणा भी देती रहती है। बोधन से विवाद करने वाले तथा नसीर-गयास-सिकन्दर को भड़काने वाले मुल्लाओं का स्थान-स्थान पर प्रवेश भी उस युग की मजहबी कट्टरता तथा सुलतानों की राजनीति मे मज़हब के हस्तक्षेप को सामने लाने के लिए है। वस्तुतः उपर्युक्त सभी व्यक्ति लेखक के कार्य-साधन के लिए है, अपने शील-प्रकाशन के लिए नहीं। नसीर और बघर्रा को आवश्यकता से अधिक महत्व मिला है। यह सही है कि लेखक ने मनोरंजन-तत्व के समावेश के लिए उनको इतना स्थान दिया है किन्तु यह मनोरंजन मूलकथा के भीतर से नहीं आ पाया। इनके विपरीत लेखक कथा से घनिष्ठ सम्बद्ध सिकन्दर

१. "मृगनयनी : कला और कृतित्व", पृ० ५९-६०। २. पृ० १०२।

लोदी के चरित्र-चित्रण को अत्यन्त गौण स्थान देकर रह गया है—यह अखरने वाली बात है। जिसने ग्वालियर पर पाँच बार आक्रमण किया, जो निहालसिंह-बोधन के वध का कारण बना, जिसके कारण ही नरवर छिनकर राजसिंह को प्राप्त हुआ, जिसने कलात्मक मूर्तियों का विध्वंस किया और जिसका आतंक सदैव छाया रहा, उसकी एक-दो स्थलों पर क्षणिक झाँकी ही मिल पाती है और वह भी नितांत एकांगी। यदि नसीरुद्दीन और बघर्रा के पृष्ठ सिकन्दर को मिल जाते, तो एक कथा-सम्बद्ध ऐतिहासिक व्यक्ति के साथ न्याय ही न होता, 'मृगनयनी' का कथा-विधान अधिक संगठित, भरापूरा, तथा संघर्षाधारित हो कर अपने भीतर मे ही उत्सुकता-रोचकता के तत्व जुटा लेता।

लेखक ने अपने पूर्ववर्ती उपन्यासों की तरह 'मृगनयनी' में भी प्रमुख पात्रों का बाह्य चरित्र-चित्रण किया है, किन्तु कम। बघर्रा-जैसे गौण पात्र के रूप-चित्रण का लक्ष्य एक अद्‌भुत डील-डौल के व्यक्ति को सामने लाकर मनोरंजन कराना है। अन्य पात्रों में मानसिंह, मृगनयनी तथा लाखी हैं। पाठकों के आगे साकार करने, तथा इनके सौन्दर्य-शौर्य के आधार पर कथानक को गति देने के उद्देश्य से इनका बहिरंग चित्रण हुआ है। इसके अतिरिक्त इनके बाहरी सौन्दर्य-शौर्य को विकास-क्रम में कला-कर्तव्य के समन्वित व्यक्तित्व में परिणति देनी थी; इन्हें शरीर से आत्मा की ओर बढ़ाना था; यथा, अन्त में मृगनयनी का विकास इसी संदर्भ में प्रस्तुत किया गया है—"शरीर का सौन्दर्य-आत्मा के सलौनेपन को और भी अधिक पा चुका था।

"उसको स्मरण हो आया—स्त्री का गौरव, सौन्दर्य, महत्व स्थिरता में है जैसा उस नदी का जो बरसात के मटमैले तेज़ प्रवाह के बाद शरद में नीले जल वाली मन्थर गति-गामिनी हो जाती है—दूर से बिलकुल स्थिर, बहुत पास से प्रगतिशालिनी।"[1]

यह बाह्य रूपचित्रण कथा-प्रवाह के साथ, अनुकूल परिस्थितियों में हुआ है; यथा, मानसिंह की पहली झलक उस समय मिलती है जब दो विवादी निर्णय के लिए मानसिंह के दरबार में पहुँचते हैं।[2] दूसरी झलक में, नायिका मृगनयनी के पहली बार उत्सुकतावश, तनिक देखने के माध्यम से उसका चित्र सामने आया।[3] लाखी-मृगनयनी का बाह्य चित्रण एक ही स्थान पर सम्पूर्ण रूप से नहीं हुआ; समय-समय पर, प्रसंगानुसार, एक-दूसरे को देखने-परखने के अवसरों पर, कहीं वर्णन पारस्परिक संवादों के सहज क्रम में तुलनात्मक प्रणाली से, थोड़ा-थोड़ा हुआ है। होली के प्रसंग में जब निन्नी लाखी को कीचड़ से सान चुकी तब लाखी की बारी थी परन्तु निन्नी से दुर्बल होने के कारण उसको पाना कठिन था। इस अवसर पर लेखक ने उनकी पहली झाँकी दी—"वे दोनों समवयस्क थीं—आयु लगभग पन्द्रह-सोलह वर्ष। परन्तु

१. पृ० ४८७। २. पृ० ४२। ३. पृ० १७७।

निन्नी बलिष्ट और पुष्ट काया की, लाखी दुबली और छरेरी। निन्नी गोबर के सत्कार से डरना नहीं चाहती थी"।[1] तदुपरान्त लाखी जब गोबर थोप चुकती है, तो निन्नी से कहती है—"तुम्हारे गोरे गालों पर बैठा है।.. डिठौना सा लग गया।.."[2] और पारस्परिक उलझने के क्रम मे, संवाद मे दोनों की बाहों[3], हास्य-झरती बड़ी-बड़ी आँखों[4] तथा 'भौहों को छूती लम्बी-लम्बी बरनियों' का वर्णन हो गया है।[5] इस प्रकार प्रसंगानुसार नहाने-धोने के समय लाखी ने देखा कि निन्नी की गोरी देह बहुत पुष्ट है[6]। अन्यन्त्र शिकार-खेलने के समय दोनों को झुक-झुक कर झाडियों में से गुजरना था, तब वह लिखता है—"दोनों ने अपने लहगों को घुटनों के ऊपर समेट कर कसकर बाँधा दोनों की गोरी-गोरी जाँघे आधी उघड गई। लाखी की पतली सुती हुई सी थीं और निन्नी की मान्सल पट्ठों वाली जैसे बैठके लगाने वाले किसी पहलवान की हों"।[7] जब वे लेट-लेट कर रगने लगी, तव उनकी विशेष दम-खम वाली ऊँची छातियों का उल्लेख कर दिवा गया है।[8] इसी शिकार के प्रसंग में उनकी वेश-भूषा, आभूषणों, एव अन्य अंगों का रेखाचित्र दे दिया गया है।[9] इस तरह इन सबको मिलाकर उनके रूप को हृदयंगम किया जा सकता है। तुलना की विषमता से उनके चित्रण की रेखाएं अधिक मूर्त हो गई हैं तथा अनेक स्थलों पर रूपोद्घाटन से उनका सौन्दर्य धीरे-धीरे घनीभूत होता हुआ पाठकों के मन में बसता गया है।

एक स्थल पर लेखक ने एक वर्ग के अनेक व्यक्तियों का ऐसा सामूहिक बाह्य रेखा-चित्र दिया है जिससे उनके जीवन-निर्वाह तथा सभ्यता का संकेत मिल जाता है और यह समझने में देर नहीं लगती कि ये कौन हो सकते है; यथा—"नट-बहेड़िये दस-पन्द्रह से अधिक न होंगे। पेड़ों की झुरमुट मे घुमिये के ऊपर घास और पत्तों से कुछ झोपड़ियाँ छा रक्खी थीं। एक बड़े से झोंपडे में उनके गधे, दो भैसे और बकरियाँ-बकरे बँधे हुए थे। कुछ बन्दर खूटियो से एक झोंपडे के किनारे कमठे, तीरों भरे तरकस और लम्बे छुरे रक्खे हुए थे। छोटे बच्चे डाल से टंगी हुई डालियों में थे। पाँच सात अधेड और जवान स्त्रियाँ खाना पकाने मे लगी हुई थीं। पुरुप एक मारे जानवर की काट-छाँट में लगे हुये थे। उन सबके केश लम्बे थे। पुरुप फटी मैली धोतियाँ पहिने हुये थे। स्त्रियाँ चिथड़े गुदडीदार पायजामे। ओढ़नी कोई नही ओढ़े थीं। उरोजों पर केवल चोली कसे हुये। कानों में जस्ते की बालियाँ और नाक में पीतल के बड़े-बड़े नये। गले में काँच के रग-विरगे गुरियों की मालायें।

"डेरे के चारों ओर बड़े-वड़े लक्कड़ों का घेरा था। मार्ग दर्शकों ने निकट

१. पृ० ५। २. पृ० ६। ३. पृ० २१। ४. पृ० ६। ५. पृ० १६।
६. पृ० १०। ७ पृ० ५०। ८. पृ० ५१। ९. पृ० ४६।

की ओट से समझ लिया कि कौन हैं" ।[1]

'गढ़-कुंडार' तथा 'झाँसी की रानी' की तरह यहाँ भी दो पात्रों — लाखी और कला—में रूपाकार की समानता दिखाई गई है किन्तु इस समानता का औपन्यासिक उपयोग नहीं हुआ । अधिक से अधिक, अटल की फूहड़ता लाखी एवं निन्नी की आपसी विनोद भावना का उपकरण अवश्य बनी है ।

विजयजंगम, मृगनयनी, लाखी आदि के नामों की नाटकीय व्यंजना हुई हैं ।[2] प्रवेश के साथ ही उनका नाम-परिचय नहीं दिया गया । कुछ पात्रों के चरित्र में उनके नाम को सार्थक किया गया है । अटल निस्सन्देह अटल है—उसका लाखी से प्रेम आद्यन्त स्थिर-सजीव रहता है । वह सदा प्रतिज्ञाओं में बात करता है और उनके पालन में अचल रहता है । मृगनयनी के लिए लिखा है—"आँखें इतनी बड़ी कि उनको वास्तव से हिरन के छौने की आँख कहा जा सकता था" ।[3]

विजयजंगम भी अपने नामानुकूल रूढ़ि-विरोधी गत्यात्मक जीवन-दर्शन का मूर्तिमान प्रतीक है । परम्परावादी बैष्णव उसके नाम के अर्थ का उपयोग भी करता है—"नाम इनका जंगम है परन्तु हैं वास्तव में जड़" ।[4] मानसिंह ने भी अपने नाम का उपयोग किया है—.."तुम मेरी मानिनी हो, में तुम्हारा मान, इसलिए इसका मान मन्दिर ।.."[5] कला, कलाकर्त्री है—चित्रकार, संगीतकार तथा नर्तकी । अपने जीवन के मध्य में वह कलाकारों के अननुकूल कार्य करती है किन्तु अन्त में कला-स्तम्भों के विध्वंस को देख कर अपने प्रेमी से विरत हो जाती है । सुमनमोहिनी का नाम उसके गुणों के ठीक विपरीत होने से व्यंग्यात्मक है; और इसका भी उल्लेख हुआ है—"परन्तु बड़ी महारानी । क्या तो नाम है और कैसा स्वभाव है !"[6]

वर्मा जी के उपन्यास में पात्र संवेदनशील रहे हैं, फिर भी, उन्होंने परिस्थितियों के प्रभाव से जनित उनके अन्तर्द्वन्द्वों का बहुत कम चित्रण किया है । 'मृगनयनी' में इस दृष्टि से कुछ अन्तर आया है । यहाँ बाह्य चित्रों के साथ पात्रों के मन की झाँकी भी यत्किंचित् मिलती रहती है । केवल गौण पात्र इसका अपवाद हैं । अन्तर्द्वन्द्वों के अतिरिक्त पात्रों के अन्तरंग-चित्रण के रूप में लेखक ने उनकी कर्म-प्रेरणाओं का स्वल्प उल्लेख किया है—प्रायः ये उनकी चारित्रिक गतिविधि से व्यंजित हुई हैं । इनमें प्रमुखता वर्ग-जाति के संस्कारों तथा काम-तत्व की है । यहाँ अधिकांश स्थिर-पात्र हैं—क्योंकि उनके संस्कार प्रबल हैं—अतएव प्रायः उनके चरित्र का उद्घाटन हुआ है, विकास नहीं । मृगनयनी, लाखी, बोधन तथा विजयजंगम में वर्गगत से अधिक व्यक्तिगत विशेषताएँ हैं, किन्तु दूसरों में इसकी विपरीत स्थिति है ।

१. पृ० ६१-६२ । २. पृ० ५, ६, ३७ । ३. पृ० १६ । ४. पृ० ४१ ।
५. पृ० ३८८ । ६. पृ० ३१४, मृगनयनी का कथन ।

आगे इनकी सविस्तर परीक्षा अभीष्ट है।

गौण पात्रों में निहालसिंह, राजसिंह, बैजू, बोधन, सभी मुसलमान सुलतान, मटरू, पोटा, चारण, पिल्ली, नायकिन, कला, सुमनमोहिनी आदि आते है। इन पात्रों के मन का उपयोग प्रायः नहीं हुआ और इनका बाह्य तथा सार्वजनिक जीवन ही अंकित हुआ है। मुसमान सुलतानों ने कितनों को मरवाया—किसी उच्च लक्ष्य के लिए नहीं, अपनी विलासिता के लिए—फिर भी, उनमें किसी प्रकार का कोई संघर्ष नही उठा। नसीर ने अपने बाप को मरवा दिया, सिकन्दर ने निहाल और बोधन को, किन्तु ऐसा करने से पहले या बाद में इनमें कोई आंदोलन नही होता—यही नही, विचार तक नही उठता। ऐसी अवस्था में हमारे सामने ये इतिहास के व्यक्ति अधिक बने रहते है, उपन्यास के पात्र कम; क्योंकि मन की दृष्टि से उपन्यास कार के लिए एक बादशाह और साधारण मनुष्य में कोई अन्तर नही होता। फिर भी, इनमें से सिकन्दर पर यह बात सर्वाधिक लागू होती है। उसकी औपन्यासिक पात्रता पर सहज ही सन्देह किया जा सकता है।

द्वन्द्वातीत होने से चाहे बघर्रा, गियास, नसीर आदि इतिहास के व्यक्ति हों परन्तु लेखक के अपने उद्देश्यानुकूल इनका एकांगी चित्रण करने से, यह लेखक के बने-बनाए पात्र हो जाते है। पहले इनकी चारित्रिक विशेषताओं का उल्लेख एक-साथ कर दिया गया है और आगे उन्हें उदाहृत कर दिया गया है। बघर्रा के व्यक्तित्व का वही अंश दिया गया है, जो उपन्यास में अद्भुत तथा रजनतत्व को लाने वाला है। यही बात गियास के सम्बन्ध में है। सुराही की नियामत में उसकी दिल्ली तक को फतह करने की कल्पनाएँ, कालिदास की भावमयी प्रशंसा, मज़हबी उदारता, मौलवियों पर व्यंग्य-फटकार, लाखी-निन्नी को प्राप्त करने की कामुक वृत्ति और हाथी की चिघाड़ की 'सुरीली-सुहावनी बोली' पर मुग्धता रंजन-तत्वों को जुटाने वाली है। उसके शेष व्यक्तित्व के सम्बन्ध में डॉ० सत्येन्द्र का निम्न मत उल्लेखनीय है—"गियासुद्दीन तो दूर द्रष्टा था, न स्थिति को भली प्रकार परख सकने वाला। वह इतना भी नहीं समझता था कि जिस मटरू के हाथ मे उसने अपने आपको सौप दिया है, उसे असंतुप्ट न होने दे, और उस पर साधारण दृष्टि तो रखे ही। मुल्ला-मौलवियों की शक्ति का भी उसे ठीक अन्दाज नहीं था। वह इस बात का भी ठीक अनुमान नहीं कर सकता था कि लाखी को हस्तगत करने के जो यत्न हुए है वे क्यों विफल हुए है; हर बार विफलता के सम्बन्ध में उसकी टिप्पणी मूर्ख बालकों सी हास्यास्पद प्रतीत होती है। इसी कारण वह अन्त में मटरू के द्वारा ही मृत्यु-मुख में जा पड़ता है। प्रश्न यह है कि गियासुद्दीन के चित्रण के अभाव उसके वास्तविक अपने अभाव है, वे इतिहास से पुप्ट है, अथवा उनका उत्तरदायित्व लेखक पर

है?"[1]नसीर के चरित्र की संगति उसकी दमित भावनाओं के विस्फोट में है। उसे पहले मौलवियों के असर में, सुलतानों की सुरा-सुन्दरी से एकांत अलग रखा गया था और सुलतान बनने पर उसकी यही दबी भावनाएँ फूट पड़ीं। बैजू ऊँचा कलाकार है, राजसिंह ने उसे जासूसी-जैसा अननुकूल कार्य भी सौंप दिया है। वह अपनी कला की तन्मयता तथा मानसिंह-जैसे गुण-ग्राहक श्रोता तथा मान देने वाले आश्रय को पाकर राजसिंह के सौंपे हुए कार्य को भूल जाता है। इस दृष्टि से उसका चरित्र संगत है। आगे वह अपनी शिष्या कला की जासूसी का पर्दाफाश कर देता है। साधारण या कुछ ऊँचा कलाकार इस प्रकार के कार्यों को कर सकता है, एक कला-शिरोमणि को ऐसे कार्यों में उलझाना अस्वाभाविक है। किन्तु यह अस्वाभाविकता न रहती यदि भण्डाफोड़ करने से पहले लेखक उसके मन में द्वन्द्व की सृष्टि करता। उसका यह कार्य कला के प्राण-दण्ड का कारण बन सकता है, या राजसिंह के खाए नमक का बदला वह कैसे चुकाने जा रहा है, या वह उसके विश्वास के प्रति कृतघ्न बन रहा है आदि किसी प्रकार का कोई विचार उसके मन में नहीं उठता। यदि कहा जाए कि उसकी तन्मयता इस द्वन्द्व-चिंतन से ऊपर उठ गई है, तो यह प्रश्न भी स्वाभाविक है कि षड्यंत्र के रहस्योद्घाटन की चेतना उसे क्यों रही? क्या यह रहस्य किसी और प्रकार से खोला नहीं जा सकता था? इस तरह न तो बैजू एक उच्च कलाकार का प्रतिनिधि बन सका है, न वैयक्तिक चित्रण के अभाव में व्यक्ति; वह जैसे लेखक के हाथों विडम्बना बनकर रह गया है।

राजसिंह तत्युगीन सामंतवादी राजपूतों का प्रतिनिधि-प्रतीक चित्र है। उसे अपनी बपौती चाहिए—लड़कर, मरकर, और मुसलमानों से मिलकर भी; अपनी प्रेमिका से जासूसी का कार्य करा के भी। उसे अपने पुरखों के अपमान का बदला लेना है, इसलिए वह मानसिंह से कदापि नहीं मिल सका। वह इतिहास की इस सचाई को भी प्रकट करता है कि हिन्दुओं की फूट मुसलमानों की विजय का कारण बनी। लेखक ने इसी आशय से कला से उसे प्रश्न कराया है—"राजपूत इकट्ठे क्यों नहीं हो जाते?"[2] राजसिंह उस राजपूत का प्रतिनिधि है, जो इस उक्ति के सार के कायल थे—

"गाजते बचोगे, बचो काल जमराज हूते
नाहिन बचोगे, कन्त कवि की आवाज ते।"[3]

इसलिए उसके मन में मुसलमानों से मिलने, कला के उपर्युक्त प्रश्न करने, या अपनी प्रेमिका को जासूसी का कार्य सौंपते कोई द्वन्द्व नहीं उठता। फिर भी,

१. "मृगनयनी : कला और कृतित्व", पृ० ११७-१८। २. पृ० ३९५।
३. पृ० ४७२।

लेखक ने उसकी किंचित् वैयक्तिकता का चित्रण कर उसे नीच होने से बचा लिया है। वह सिकन्दर का विनाश-कार्य अपनी आँखों नहीं देख सकता इसलिए मूर्तियों के विध्वंस के बाद ही नरवर को प्राप्त करता है। दूसरे, खण्डित मूर्तियाँ उसे चुपचाप कोस-कोस कर प्रश्न करती जान पड़ती हैं कि उसने उन्हें क्यों नहीं बचाया। कला के प्रश्न पर कि "यह सब आपने क्यों होने दिया ?" वह एक क्षण 'सकपका' जाता है और अपनी विवश असमर्थता प्रकट करता है।

निहालसिंह तत्कालीन निपट वीरों का प्रतिनिधि चरित्र है। उसका चरित्र जात्याभिमान तथा स्वामिभक्ति के सस्कारों से चालित है। सिकन्दर के सामने निहालसिंह की निर्भीक दर्पोक्ति में ये सभी प्रवृत्तियाँ मिल जाती हैं। सिकन्दर के क्रोधोत्तेजक दुर्व्यवहार से निहालसिह की जो सीधी प्रतिक्रिया होती है, उस पर लिखा है—"राजपूत भूल गया कि मानसिंह ने क्या कहने और किस तरह वर्तने को कहा था .. ।"[1] यहाँ निहालसिह के स्थान पर 'राजपूत' लिखा है क्योंकि वह राजपूतों का, उनके प्राणों की उपेक्षामयी निर्भीकता तथा स्वाभिमान का, प्रतीक है। इसलिए उसके दूत-कार्य तथा निपट-वीरता में भी द्वन्द्व नहीं होता। फिर भी, उसके प्राणोत्सर्ग के लिए जहाँ उसका जात्यभिमान उत्तरदायी है, वहाँ परिस्थिति भी। परिस्थिति से प्रभाव-ग्रहण की तत्परता में ही उसके व्यक्तित्व की सजीवता तथा स्वाभाविकता है। कला से वह प्रेम करता है और उसके इच्छित दो कार्यों मे से एक के लिए कुछ चेष्टा भी, पर इन को लेकर प्रेम और कर्तव्य में कोई द्वन्द्व नही उठता। इस तरह निहालसिंह का भी सामाजिक जीवन ही चित्रित है, वैयक्तिक नहीं।

निहालसिह का बलिदान राजीति के लिए हुआ, तो बोधन का धर्म के लिए। बोधन का व्यक्तित्व उसके ब्राह्मणत्व के संस्कारों[2] से पुष्ट-परिपक्व है। शास्त्रों पर उसकी अचल आस्था है, वर्णाश्रम धर्म पर अटल विश्वास। इस रूप में वह परम्परावाद का प्रतीक है। उसके व्यक्तित्व का आकर्षण उसकी अडिग ईमानदारी में है—वह जो अनुभव करता है, वही कहता है और वही करता है। उसके पालन में वह सब प्रकार लोभ-भय को ठुकराता और मृत्यु तक का आलिगन करता है। वह दरिद्र होते हुए भी निर्लोभी है, किन्तु अपने अधिकार के धन (किसानों की उपज के अंश) को भी नहीं छोड़ सकता; वह दृढ़ चरित्र है किन्तु (होली के अवसर पर) रसिक-स्निग्ध भी। वह 'देवता का अवतार' होने के कारण राजा का मान-सत्कार कर सकता है, और उसके असवर्ण विवाह का समर्थन भी; परन्तु उसके साले के विवाह के विरोध में वह उसे ठुकरा भी सकता है। अटल-लाखी पर सामाजिक अत्याचार के कारण उसकी हठीली परम्परावादिता उसे घृण्य बनाती है, किन्तु अपने विश्वास के अनुसार

---

१. पृ० ३६३।

घोर धार्मिक संकीर्णता के प्रतीक विरोधी मुल्लाओं से स्वेच्छा से शास्त्रार्थ करते हुए एक आस्तिक का तेजोमय बलिदान हमें विस्मित-विमुग्ध भी करता है। उसके बलिदान-समय की मनःस्थिति की जो झांकी दी गई है, वह सर्वात्मवाद से आलोकित, आत्मोत्थान से महिमान्वित तथा तज्जनित विवेक एवं पूर्ववर्ती रूढ़ संस्कारों के आपसी संयत संघर्ष के स्वाभाविक-मार्मिक भी बन गई है और लेखकीय उद्देश्य की संकेत करने वाली भी; देखिए—"मरने के समय वह चिरस्थित था, शान्त था, अडिग और निर्भय। वह सब में रम रहा है, मेरे और जल्लाद के भीतर वही है, जल्लाद की तलवार और मेरे सिर में वही है। सब में वही है। सब बराबर है। लाखी और अटल में वही है। दोनों में वही है? फिर मैंने उन दोनों के बीच में भेद क्यों किया? पर वह तो वर्णाश्रम की बात थी। जो कुछ हो, अब किसी के लिए मन में कोई बुराई नहीं। सिकन्दर के लिये नहीं, मौलवियों के लिए नहीं, किसी के लिए नहीं।"[१] निस्सन्देह यह वर्णन लेखक के चरित्रांकन-कौशल का परिचायक है। इस तरह "बोधन १५ वीं शताब्दी के हिंदुत्व की दुर्बलता और बल दोनों का प्रतीक है, जिससे स्पष्ट है कि सामाजिक दृष्टि से हीन होकर भी व्यक्तिगत धरातल पर वह महान था।"[२]

आधुनिक विचारों का समावेश करने के लिए विजयजंगम को लेखक ने अनेक गुणों तथा आदर्शों से सम्पन्न चित्रित किया है। फिर भी, इसकी बाह्य सक्रियता का तो पूरा परिचय दिया गया है, किन्तु अन्तर का नहीं। इसके आधुनिक विचारों से पाठक परिचित हो सकता है, प्रभावित नहीं; क्योंकि इसका चरित्र भी बना-बनाया स्थिर चरित्र है। उपन्यासकार ने इसकी पहली झाँकी जैसी दी हैं, वह इसके आगे के चरित्र तथा मानसिंह से इसके महत्वपूर्ण सम्बन्ध के अनुकूल है।

सुमनमोहिनी भारतीय सौत की प्रतीक है। उसकी आद्यन्त स्थिर झाँकी केवल इसी प्रतीक-सिद्धि के लिए है। उसकी ईर्ष्या-वृत्ति ही सामने आती है जिसका विस्तार व्यंग-प्रहार से विष देने तक हुआ है। मृगनयनी का सद्व्यवहार उसमें किसी द्वन्द्व की सृष्टि नहीं करता। उपन्यासकार के कार्य-साधन—मृगनयनी के कर्तव्योत्कर्ष—के लिए, एक सौत के रूप में उसका चित्र स्वाभाविक है, अन्यथा उसमें किसी वैयक्तिक विशेषता का समावेश नही हो सका। अपने कार्य-साधन के लिए एक स्थान पर वह विचार करती दिखाई गई है, किन्तु उसे अन्तर्वृत्तियों का संघर्ष नहीं कहा जा सकता।[३]

कला का चरित्र अन्य पात्रों के विपरीत विषम-तत्वों के लिए हुए गत्यात्मक

---

१. पृ० ४०५। २. "मृगनयनी : कला और कृतित्व", पृ० ११८।
३. पृ० ३०८-९।

है, किन्तु चित्रण की रेखाएँ अपूर्ण होने के कारण अस्पष्ट और असंगत भी। जिस राजसिंह के लिए वह घृण्य राजनैतिक कुटिलताओं की साधन बनती है, बैजू-बावरा जैसे गुरू का अपमान करती और मानसिंह-जैसे उदार, गुणज्ञ तथा कलाप्रेमी के विरुद्ध कार्य करती है, उससे उसका प्रेम कहीं स्पष्ट नहीं हुआ। इस सम्बन्ध में वह परिच्छेद देखा जा सकता है जिसमें वह राजसिंह के दरबार में पहले-पहल पाठकों के सामने आती है।[1] यदि उसे राजसिंह से प्रेम होता, तो ग्वालियर में निवास के अपने दीर्घकालीन जीवन में वह अपने प्रेमी के कुशल-क्षेम के सम्बन्ध में चिन्तित दिखाई जाती या विवशता में आहे भरती, परन्तु ऐसा कुछ प्रदर्शित नहीं किया गया। राजसिंह की ओर से भी ऐसा कुछ नहीं दिखाया गया। इसके अतिरिक्त राजसिंह का न तो उद्देश्य महान था और न कला के रुच्यानुकूल उसमें कला-प्रेम की कोई विशेषता थी। राजसिंह के पास लौट कर कला राजपूतों की एकता की बात कहती हैं, जो उसके एक राजपूत मानसिंह के विरुद्ध षड्यन्त्र-कार्यों के विपरीत है। अन्त में कला-मूर्तियों के विध्वस पर आँसू बहाती हुई राजसिंह तक को छोड़ देने की बात कहती है और पहले वही राजसिंह के लिए अपने कला-गुरु, कलात्मक वातावरण, तथा कला की उन्नति में सतत संलग्न मानसिंह को छोड़कर आ जाती है। यदि इन विषम परिवर्तनों के मध्य कला में निजी प्रेम, या उसकी सत्-असत् प्रवृत्तियों के बीच द्वन्द्वों की सृष्टि की जाती, तो उसका चरित्र-वैषम्य समझ में आ सकता था, परन्तु ऐसा नही हो सका। कितनी विचित्र बात है कि मानसिंह दरबार के कलात्मक वातावरण, बैजू बावरा की साधना-सफलता आदि का उसके मन पर कोई प्रभाव पड़ता नहीं दिखाया जा सका। सुमन मोहिनी द्वारा उसे मृगनयनी को निस्सन्तान करने की औषधि या विष देने का कार्य सौपे जाने पर उसमें कुछ अन्तर्द्वन्द्व उठता दिखाया गया है, किन्तु उसका आधार व्यावहारिक है, कर्तव्याकर्तव्य या सत्-असत् सम्बन्धी मनोवैज्ञानिक या आध्यात्मिक नहीं, जिसकी एक कलावती में अपेक्षा हो सकती है।

प्रमुख पात्रों में मृगनयनी-मानसिह तथा लाखी-अटल आते है। अटल स्थिर पात्र है—उसके अधिकार एवं व्यवसाय में बड़ा परिवर्तन हुआ किन्तु उसकी चारित्रिक विशेषताएँ आद्यन्त अपरिवर्तित रही हैं। वह साहसी है—निपट साहसी; और संयमी है—वज्र-संयमी। वह भिन्न जाति की लाखी से प्रेम करता है और एक ही घर के दीर्घकालीन संयुक्त जीवन में भी विकारातीत रहता है—गंगाजल की तरह पवित्र। इस तरह ग्रामीण की मर्यादा का चरम पालन करता है। वह पिल्ली के अभिनय को कौतूहल या मनोरंजन के भाव से देखता है, अन्य किसी भाव से नही।

१. चौदहवाँ परिच्छेद।

इस सम्बन्ध में उसके मन की भी दो बार क्षणिक झलक दी गई है, जिससे पिल्ली और लाखी के प्रति उसके मनोभाव स्पष्ट हो जाते हैं; एक स्थल देखिए—"अटल का कुतूहल जागा। उसके सामने कई चुन्हरियाँ आ गई। वह उनको देखने लगा। यदि इनमें से एक को भी लाखी ओढ़े तो कैसी दिखेगी वह? उसने सोचा। कपड़ों को देखते-देखते उसकी आँख बहुमूल्य चुन्हरी ओढ़े हुये पिल्ली पर गई। उसने फिर आँख चलाई। अटल की आँख के सामने तुरन्त लाखी का चित्र पिल्ली के साथ ही खिच गया। उसके मन में ग्लानि आई"।[1] लाखी से प्रेम के अचल निर्वाह के लिए, ब्राह्मण के विरोध करने पर, वह स्वयं ही सौगंध खाकर और गंगा जल लेकर विवाह कर लेता है—तनिक भी विचलित नहीं होता। सामाजिक विरोध के फलस्वरूप उसे अपना गाँव छोड़ना पड़ता है - एक भूमिपुत्र को भूमि— फिर भी वह अटल रहता है, उसमें कोई द्वन्द्व नहीं उठता। यदि लेखक गाँव छोड़ते हुए, उसके ग्रामीण संस्कारों को उद्वेलित करता, तो स्वाभाविक होता, किन्तु लेखक को इसकी आवश्यकता नहीं। वैसे उसमें ग्रामीण सरलता एवं भोलापन विशेष रूप से दिखाया गया है—'भौंदूपन' की सीमा तक। वह लाखी से मिलती-जुलती कला से, भ्रम से बात कर बैठता है और भोलेपन से संगीत सीखने की अपनी त्वराकूल तत्परता में बैजू से फटकार खाता है। नटों की चाल को अन्त तक समझ नहीं पाता और लाखी के कुशल कार्य पर आश्चर्य प्रकट करता है। उसके मर्यादापूर्ण स्वाभिमान तथा बेवकूफ़ी का यह संवाद दर्शनीय है—

पुजारी ने उससे कहा—"महाराज के साथ मृगनयनी की भाँवर यहीं पड़नी चाहिये या ग्वालियर में?"

उसने गर्व की छाती फुलाकर उत्तर दिया, "यहीं। हमारे वंश की परम्परा यही है।" "देने को है कुछ राजा के लिए?" हँसकर पुजारी ने प्रश्न किया।

बिना किसी झिझक के अटल ने बतलाया—"कन्या और एक गाय। बैलों की जोड़ी अपने लिए रखूँगा।"

वे सब हँस पड़े। अटल सोचने लगा, क्या मैं कोई मूर्खता की बात कह गया।'[2]

एक स्थल पर वह आत्मप्रशंसा कर उठता है।[3] ऐसे मनुष्य को कहीं सेना-पति और कहीं किलेदार बनाना कहाँ तक उचित हैं? लेखक को ऐसा करना था, तो उसमें साहस के साथ कुशलता भी दिखानी चाहिए थी। वह मृगनयनी-जैसी लक्ष्य-बेध-कुशल का भाई भी है, शस्त्र-गुरू भी। फिर भी लेखक ने उसकी वीरता को

१. पृ० १४४। पृ० १४२ भी द्रष्टव्य है।
२. पृ० २०१।   ३. पृ० १८७।

कहीं प्रदर्शित नहीं किया। किलेदार बनकर, युद्ध की परिस्थिति में, वह अपने ग्रामीण सैनिकों को नाराज कर बैठता है—ग्रामीण के 'भैया' सम्बोधन की आत्मीयता को सहन नहीं करता, जो उसके ग्रामीण संस्कारों तथा सरलता के विरुद्ध है—और लाखी की मृत्यु के बाद भी साहस का ही परिचय देता है, कुशलता का नहीं। वह किले से बाहर निकल कर युद्ध करने लगता है और मानसिंह की प्रतीक्षा नहीं करता। किले से बाहर भी उसकी वीरता का वर्णन हुआ है, लाखी की तरह चित्रण नहीं।

अटल के चरित्र-चित्रण के दो स्थल सुन्दर है। एक, जब लाखी उस पर पिल्ली के कारण संदेह करती है और अटल की अतुल निश्छलता रोषावेश में बरस पड़ती है। उस समय पिल्ली का चरित्र-सार 'घूरे पर मंडलाने वाली स्त्री' के रूप में दे कर, वह स्त्रीत्व की अपनी धारणा की अनुभूतिमूलक व्याख्या कर देता है।[1] दूसरा स्थल वह है जब उसे जागीरदारी मिलती है; उस समय अटल के आनन्द का कारण वह आत्मनिर्भरता है जिसके आधार पर उसके अन्तर्मन में उठा कि बैजू या कोई जू उस का तिरस्कार नहीं कर सकेगा।[2] अटल की आत्मनिर्भरता की प्रसन्नता संगत है क्योंकि यह गुण उसमें प्रारम्भ से है—वह आश्रिता लाखी के अन्न से कुछ भी लेने से इन्कार कर देता है। इस तरह लेखक ने अटल के चरित्र में कुछ-न-कुछ वैयक्तिक मनोवैज्ञानिक क्षेत्र का भी स्पर्श किया है। समग्रतः इसके चित्रण में गुण-दोष दोनों है।

मानसिंह को लेखक ने एक आदर्श राजा के रूप में चित्रित करने का प्रयास किया है। आखिर उसे 'Golden age of Tomar rule' का प्रभावोत्पन्न करना था। इसलिए लेखक ने उसके गुणों के निदर्शन के लिए विशेष परिच्छेदों की सृष्टि की है। उनके आधार पर वह कर्मठ, कायक-श्रम-विश्वासी (मज़दूरों के साथ स्वयं काम करना), प्रजा-वत्सल, निष्काम, त्यागी, (भेस बदल कर मज़दूर-सहायता), गुणज्ञ, उदार (कला तथा मुसलमानों के प्रति) प्रेम-सद्भाव-विस्तारक (राजसिंह को संदेश), कर्तव्य-परायण, सहृदय, कला-प्रेमी, कला-पोषक-संरक्षक, शांत, शांतिप्रिय, वीर, निरभिमानी तथा प्रगतिशील ठहरता है। उसकी प्रगतिशीलता उसके रूढ़िविरोध में है—वह असवर्ण विवाह का समर्थक छुआछूत का विोरधी, मंदिर बनाने की अपेक्षा समाज की भौतिक आवश्यकताओं तथा जीवन की सजीवता में विश्वास रखने वाला है। मृगनयनी की अनुमति लेकर उससे विवाह करता तथा उसके पर्दा-प्रथा के विरोध को भी स्वीकार करता है। इतने गुणों का आगार होते हुए भी उसका व्यक्तित्व चमक नहीं पाया, वह सर्वत्र दबा-सा लगता है। डॉ० सत्येन्द्र ने उसका सही-सुन्दर सार-

१. पृ० २९६-९७। २. पृ० ४३३।

संक्षेप देते हुए लिखा है—"मानसिंह के चरित्र के सम्बन्ध में इतना अवश्य कहना पड़ेगा कि उसका जो रूप इतिहास के संकेतों से खड़ा होता है, वर्मा जी ने उसे बौना कर दिया है। सिकन्दर के पहले आक्रमण के पश्चात् वह धनुर्विद्या में हमें नौसिखुआ-सा लगता है, मृगनयनी के शौर्य के समक्ष हतप्रभ, उसकी मंत्रणा के समक्ष दीन, बोधन के समक्ष असमर्थ, विजयजंगम के समक्ष प्रेरणा-रहित कुंठित, सुमनमोहिनी के समक्ष व्यस्त, मृगनयनी की कला के समक्ष मुग्ध, मृगनयनी के संकल्पों के समक्ष जड़, यहाँ तक कि अपने लिए प्राण न्यौछावर करने वालों के प्रति वह कृतघ्न भी है; निहालसिंह की बलि का वह उचित सम्मान नहीं कर सका। न राजनीति में हम उसका चमत्कार देख पाते हैं, न उसमें उचित सतर्कता पाते हैं—तीन बार महलों में मृगनयनी को विष देने का षड्यंत्र हुआ और एक बार भी उसे भेद नहीं मिल सका, नरवर आदि पर होने वाली चढ़ाई का वृत्त भी वह अपनी ओर से नहीं जान पाता फलतः मानसिंह के व्यक्तित्व का यथावत विकास नहीं हो सका।"[1] लेखक ने एक-दो स्थलों पर उसके अन्तर्द्वन्द्वों की स्थूल झलक दी है।[2] कर्तव्य और कला-विषयक द्वन्द्व-समन्वय की बार-बार चर्चा भी उसके अन्तर की पीड़ा के रूप में व्यक्त नहीं हुई; यह उसके चरित्र से अधिक लेखक के आग्रह का अंश है।

लाखी और मृगनयनी में लेखक ने अन्तर-चित्रण को अपेक्षाकृत अधिक महत्व दिया है। मृगनयनी के शील-विकास को सहज ही दो भागों में विभक्त किया जा सकता है—विवाह-पूर्व तथा विवाहोपरांत का जीवन। पहले भाग में वह ग्राम-बाला, बहिन, सखी तथा पेशगी ननद भी है; दूसरे में उसका पत्नी-रूप ही प्रबल है, सखी तथा ननद का गौण। पहले में उसके जीवन का शारीरिक धरातल है, दूसरे में मानसिक; पहले में वह प्रत्यक्ष सक्रिय है, दूसरे में परोक्ष। पहले में वह स्वयं वीर है, दूसरे में किसी की स्फूर्ति तथा वाग्वीर। पहले में वह अटल के आश्रय में होती हुई भी स्वच्छन्द तथा आत्म-निर्भर है, दूसरे में रानी होते हुए भी बन्धन-युक्त तथा पर-निर्भर। पहले में उसकी चंचलता, सजीवता, अल्हड़ता, कर्मठता के साथ क्रांतिकारिता, शक्तिमत्ता का सौन्दर्य है; दूसरे में कर्तव्य-सजगता, संयम, क्षमा, उदारता का। सारांश में पहले में अपेक्षाकृत जीवन का यथार्थ रूप है, दूसरे में आदर्श। इन सबको मिलाकर देखें, तो मृगनयनी का पूर्ण—सौन्दर्य-शील-शक्ति-सम्पन्न—व्यक्तित्व सामने आता है। सामान्य जीवन में उपर्युक्त प्रकार की विभाजक रेखा नहीं होती, किन्तु भारतीय नारी के जीवन में विवाहोपरांत विशेष परिवर्तन आ जाते हैं। इसके लिए यहाँ की सामाजिक व्यवस्था उत्तरदायी है। किन्तु मृगनयनी-जैसी असामान्य नारी-एक व्यक्ति-पात्र—से इन सब के समन्वित स्वरूप की आकांक्षा ही हो सकती थी,

---

१. "मृगनयनी : कला और कृतित्व", पृ० १०८। २. पृ० २५२-५३।

जिनकी पूर्ति यहाँ नहीं हो सकी । इसलिए उसके चरित्र का आकर्षण कम हो गया है और आलोचकों को उसके चित्रण पर आपत्ति करनी पड़ी है । यह नहीं कि लेखक ने चरित्र-विकास का ध्यान नहीं रखा और उसने पूर्व और उत्तर जीवन में किसी सहज अन्त:सूत्र की सृष्टि नहीं की । उदाहरणतया, उसके चरित्र की आंतरिक महत्ता नटों के प्रति उसकी प्रतिक्रियाओं में व्यक्त होती रही है—वह नटों के खेल और कपड़ों को कौतूहल से देख-भर लेती है, अपनाती नहीं । इससे उसके अन्तर की मर्यादा-महत्ता तथा शील-संकोच के गुणों का आभास मिलता है । खेतों के मचान पर शस्त्र लिए हुए भी वह कल्पना-तरंगों में बहने लगती है । प्रकृति की साकार कविता उसके संगीत को उद्‌बुद्ध कर देती है, और वह गा उठती है—'जाग परी में पिया के जगाए ।' ये विशेषताएँ उसकी भावी कला-प्रियता के बीज हैं । गाँव में उसके रक्षक नहीं थे, इसलिए उसे शस्त्रों से स्वयं रक्षा करनी पड़ी – यहाँ शौर्य बाह्यकार मूर्त हुआ—किन्तु राजमहलों में वह सुरक्षित है, राज्य सुरक्षित नहीं, अतएव उसका शौर्य राजा की प्रेरणा बन जाता है और कर्तव्य-परिणति में राजा का बल । राज्य बाहर से सुरक्षित होता हुआ भी भीतर के वातावरण—गृहकलह—से अरक्षित है, अतएव उसको अपनी रक्षा करते हुए भी उस संतुलन को बनाए रखना है, जो राजा को परेशान करके उच्च कार्यो से विरत न कर दे । इस तरह यहाँ उसका चाँचल्य, संतुलन की गम्भीरता बन जाता है । गाँव में उसे आजीविका के लिए भाई का हाथ बंटाना पड़ता है और वह शिकार खेलती है । राजमहलों में अपनी अजीविका का नहीं, दूसरों को आजीविका देने का प्रश्न है । इसलिए शिकार आवश्यकता की नहीं, शौक की वस्तु हो जाता है । उसके ग्रामीण संस्कार ग्वालियर में कंठ की हंसुली तथा राई की सांक नदी की नहर के रूप में सुरक्षित हैं । इनका क्रियात्मक रूप किंचित दासियों से काम लेने के रूप में व्यक्त हुआ है इसके अतिरिक्त लेखक ने विवाहोपरांत नौ-दस स्थलों पर अन्तर्द्वन्द्वों की सृष्टि की है, जो उसके महत् को क्षुद्र यथार्थ का आधार देते रहते है—वह एकदम उच्च गुणों की महत्ता को स्वीकार नहीं कर लेती, क्रमशः अपने से झगड़ कर, कला-साधना से, राजा से प्यार का सम्बल लेकर, उनको प्राप्त करती है । प्रमाण-स्वरूप, ये दो स्थल अवतरणीय हैं—"मृगनयनी के मन मे उठा मैं रहूँगी उसमें; एक कक्ष में लाखी रहेगी, सुमनमोहिनी भी आया करेगी और छीटे भी कसा करेगी ! कसने दो । मैं कान बहरे कर लूँगी अनसुनी करती रहूँगी, तब क्या करेगी वह ? परन्तु उसकी आँखे ? और वह उपहास ! असह्य हो जाता है । सहूँगी । ऐसा सुन्दर मन्दिर बनेगा वह और हम सब उसमें ओछे बनकर रहेगे ! मैं खीजा नहीं करूँगी, वह अपने आप झुक जायगी । अरे ! उसका वह अलंकार !! उसको एक आले में फेंककर मैं बिलकुल ही भूल

गई !!! क्यों भूल गई ? इतने दिन क्यों भूली रही ? अब उसको लौटा दूँगी। उसको उठाया ही क्यों था ? हाथ में क्यों बना रहा ? मैंने उसको आले में क्यों डाल दिया ? वह सोचती होगी मैंने या मेरी किसी चाकरिन ने चोरी की ! ओफ़ !! बहुत बुरा हुआ। उसको कहीं फेंक दूं ? नहीं, कभी नहीं .. अभी लौटा दूँगी।"[१]

"और सुमनमोहिनी और ये सातों कहाँ रहेंगी ? मृगनयनी के अन्तर्मन के नीचे से सहसा किसी ने पूछा। वहीं किसी ने उत्तर दे दिया, बनी रहें, बनी रहें। सब सह लूँगी, सब सहती रहूँगी। सुख-दुःख की संगिनी लाखी भी तो साथ रहेगी। लाखी को बड़ी रानी अछूत समझती है ! और मुझको भी !! मेरे और लाखी के थाल का भोजन मिहतर तक को नहीं दिया !!! इतनी गई बीती समझी गई हम दोनों !!! कितना अपमान !!!!! परन्तु मैंने और लाखी ने उस अपमान को पी जाने का निश्चय कर लिया है। महाराज कितना प्यार करते हैं ! वह अपमान इस प्यार के सामने बिल्कुल तुच्छ है। परन्तु यदि नित्य-नित्य होता रहा तो दमन-शमन में उलझा रहना पड़ेगा और मैं कलाओं में कोरी रह जाऊँगी"।[२]

नगर में आकर भी मृगनयनी अपने ननद होने के कर्तव्यों से पीछे नहीं रहती। लाखी तथा अटल का विधिवत् विवाह और लाखी से ठिठोली इसके प्रमाण हैं। सखीवत् व्यवहार का उसको इतना आग्रह है कि वह उन आभूषणों को नहीं पहनना चाहती, जो लाखी के लिए वर्जित हैं। पहले पर्दा-प्रथा का विरोध करने वाली मृगनयनी में यहाँ भी नारी-महत्व के विरोधी पुरुष के बहुविवाह को लेकर कुछ स्थलों पर अन्तर्द्वन्द्व उठा है।[३] यदि उसे मानसिंह के बहुविवाह का पहले ज्ञान होता तो स्यात् वह ..। इस तरह मृगनयनी के चरित्र की आदर्श परिणति को लेखक ने प्रारम्भ से यथार्थ का आधार देने का प्रयत्न किया है। यह उसका कौशल है किन्तु मृगनयनी के चित्रण के अभावात्मक पक्ष भी स्पष्ट हैं। लेखक ने उसके मातृरूप का चित्रण ही नहीं किया, जिसकी मृगनयनी के चित्रण में सहज सम्भावना थी। इससे, उसके व्यक्तित्व की पूर्णता एवं उपलब्धि और भी सार्थक हो सकती थी। नारी के इस पक्ष के चित्रण से उसके कर्तव्य-पक्ष को सहज ही नई दिशा मिल जाती। और तब आलोचक भी उसकी शक्ति के शारीरिक-पक्ष के लुप्त हो जाने और पहले की स्वच्छन्दता के अकस्मात् गायब हो जाने की इतनी आलोचना न कर सकते। दूसरी कमी पत्नी-रूप के चित्रण में है। दाम्पत्य जीवन की हरियाली, लेखक की उद्देश्यवादिता से बहुत-कुछ झुलस गई है। मृगनयनी प्रेम के संयमन में आवश्यकता से अधिक उपदेश देती रहती है। उपर्युक्त अन्तर्द्वन्द्व के उल्लेख में स्पष्ट है कि मृगनयनी को पति के प्यार का सम्बल है। क्या इस प्रेम को चरितार्थ किया गया

---

१. पृ० ३४२। २. पृ० ३९१। ३. पृ० २४७, ४३०।

है ? लाखी की प्रेमकथा के समान कहीं भी इसे उत्कर्ष मिला है ? मृगनयनी का विवाह संयोग-तत्व, उसकी महत्व-भावना तथा गुणों का फल है, प्रेम का नहीं। दूसरे, उसकी कर्मण्यता का बहुतांश गम्भीर वाणी-विस्तार में व्यक्त होकर रह गया है। प्रमाणस्वरूप उसके पर्दा-प्रथा-विरोध की व्यक्तिगत बात भी आगे प्रमाणित नहीं होती हालांकि पहले सम्भावना यही होती है कि मृगनयनी के प्रयत्नों से उसे व्यापक रूप मिल सकेगा। उसमें नारी दुर्बलता को दूर भगाने वाले आत्मरक्षा-सम्बन्धी जो ओजस्वी विचार उठते है, वे भी वैचारिक धरातल पर ही रह जाते है। लेखक ने उनका उपयोग नहीं किया। ग्वालियर की युद्ध-ग्रस्त परिस्थितियों में मृगनयनी के शौर्य तथा शस्त्रास्त्र-कुशलता को चरितार्थ करने की पूर्ण सम्भावना थी, किन्तु लेखक उसे कला-प्रेम या स्फूर्ति-दान में वायवी बना कर रह गया है। इससे मृगनयनी के व्यक्तित्व की आरम्भिक सम्भावनाएँ मूर्त नही हो सकी। फलतः कोमल-कठोर पक्षों, विरुद्धों के समन्वय के उपयोग के प्रायः अभाव में उसके व्यक्तित्व की आरम्भिक प्रखरता-तेजस्विता धूमिल हो गई है। लाखी ने नीचे मृगनयनी से जो प्रश्न किया है, वही प्रश्न हमारा लेखक से भी है—"अरी जो जंगल में करौंदी, झरबैरी और खैर के काँटों से अंग नुचवाये-खरोंचवाये है, सो वह अभ्यास कभी काम आवेगा या नहीं ?"[१] पाठक और लाखी ही नहीं, मृगनयनी भी इसे अनुभव करती है—"लाखी के साथ वह उस स्थान पर बड़े चाव के साथ गई जहाँ कई बरस पहले उसने और लाखी ने दो सवारों को मार गिराया था और दो को भगा दिया था।...मृगनयनी ने सोचा यदि फिर वैसा ही अवसर आ जावे तो सामना कर लूँगी ? तब छोटी-सी थी, अब बड़ी हो गई हूँ। हाथ पैर में बल भी पहिले से अधिक ही है, पर क्या साहस भी उतना ही स्फुरणमय है ? क्या इतने ही मन वाली हूँ ? इसमें कुछ कसर मालूम हुई। क्या कलाओं के अनुशीलन ने संतुलन कुछ अधिक दे दिया है ? अब क्या मैं किन्तु-परन्तु कर उठूँगी ? क्या उतनी भाग-दौड़ कर सकूँगी ? क्या मरे हुए सुअर को कन्धों पर लाद कर ले जा सकूँगी ? इसको शायद न कर सकूँ।" निस्सन्देह लेखक ने यथार्थ की उपेक्षा नही की, परन्तु क्या इसी आधार पर वह उसके व्यक्तित्व की पूर्ण उपलब्धि को चरितार्थ कर सका है ? क्या यही भीतर का सौन्दर्य है, जिसको मृगनयनी ने पाया है ? इसलिए राई की गिन्नी तथा ग्वालियर की मृगनयनी में विभाजक रेखा-सी अंकित हो गई है। इसका कारण यह है कि मृगनयनी की स्वच्छन्दता राजमहलों में ही नही, लेखक ने भी लुप्त कर दी है—वह उसके जीवन के दूसरे भाग पर हावी हो गया है। लेखक ने 'मृगनयनी' के चरित्र-चित्रण में तुलनात्मक शैली का उपयोग किया है। वह लाखी से प्रत्यक्षतः और सुमनमोहिनी

---

१. पृ० ३१४।

से परोक्षतः मृगनयनी की तुलना-सी करता गया है। सुमनमोहिनी के आचरणों ने मृगनयनी के चरित्र की उज्ज्वलता को स्पष्ट किया है किन्तु लाखी के चरित्र ने मृगनयनी को निष्प्रभ कर दिया है। दो सवारों को मार-गिराने की उल्लिखित घटना पर मृगनयनी की [illegible] में स्पष्ट हो चुका है कि वह शायद पहले-जैसे साहस का परिचय न दे सके। किन्तु आगे ही लाखी के सम्बन्ध में लिखा है—"लाखी ने अपने भीतर कोई कसर नहीं पाई।"[1] समग्रतः अपनी कमियों के बावजूद मृगनयनी की चारित्रिक गरिमा अविस्मरणीय है। मृगनयनी का चारित्रिक आदर्शीकरण पाठकों को उससे दूर अवश्य ले जाता है। वह हमारे लिए तादात्म्य से अधिक विस्मय का कारण है। इसकी अपेक्षा लाखी हमारे अधिक निकट है।

डॉ० सत्येन्द्र ने मृगनयनी की तुलना में लाखी का चरित्र स्पष्ट करते हुए लिखा है—"लाखी हमें आकृष्ट भी करती है और हृष्ट भी। वह स्पष्ट है, कर्मठ है, कर्तव्य को समझने वाली है, नई बातों को जानने-सीखने के लिए उत्सुक है, अवसर पर क्या करना चाहिये इसका ज्ञान उसे हो जाता है, और वह तत्परतापूर्वक उसे करती भी है। उदार है। दृढ़ है और संकल्प को पूरा करने वाली है। स्वाभिमानिनी है"।[2] वह अटल से प्रेम करती है और अन्त तक। उससे विवाह करती है, समस्त समाज की अवहेलना करके भी। वह मृगनयनी और अटल के आश्रय में रहकर भी अपने व्यक्तित्व को सबल और निष्कलंक रखती है। वह तीर-कमान-चलाना, बर्छी चलाना, (जानती है), नट-विद्या स्वयं सीखती है और शीघ्र ही सीख लेती है। उसकी तत्पर बुद्धि और कर्मठता से नरवर की रक्षा होती है; वह अपनी बलि देकर भी अपनी राई की गढ़ी को शत्रुओं से बचाती है। वह हर चीज़ को निस्संकोच स्वच्छ नेत्रों से देखना चाहती है। राजा को भी इसी प्रकार देखती है और नटों के करतबों को, तथा उनके कीमती वस्त्रों और आभूषणों को भी। किसी भी महत्व को पाने अथवा रिझाने का भाव उसमें अवश्य है पर इसके लिए वह कभी कीचड़ में पैर नहीं

१. पृ० ४३०। २. जब अटल समाज से तंग आकर उसे ग्वालियर चलने को कहता है तो लाखी इन्कार कर देती है—वह बिना कोई करतब किए ग्वालियर नहीं जाना चाहती। वह मृगनयनी के उत्कर्ष से ईर्ष्या नहीं करती, किन्तु अपने आत्मनिर्भर तथा स्वतन्त्र व्यक्तित्व को ताक पर भी नहीं रखती। इसी को लेकर दो-तीन स्थलों पर उसके अन्तर की झाँकी दी गई है जिससे उसकी वैयक्तिकता स्पष्ट होती है; गाँव की ईर्ष्यालु स्त्रियों के कथन का स्मरण वह अनेक स्थलों पर करती है—"निन्नी के पान की पीक अपनी गदेली पर लूँगी! राजा के सेज की चेरी बनूँगी!! लाखी के मन में दब कर उठ रहा था। फिर भी वह निन्नी के भविष्य से सुखी थी।"—पृ० २०६। ३. देखिए तत्सम्बन्धी अन्तर्द्वन्द्व, पृ० ३२०।

डालती, न डाल सकती है। उसमें भी स्वाभाविक निर्द्वन्द्व महानता है। उसमें पिल्ली और अटल को लेकर भ्रम अवश्य है, पर वह इसका निराकरण शीघ्र कर देती है। मृगनयनी के साथ राजभवन में भी वह व्यक्तित्व हीन नहीं होती।[1] उसका जीवन मृगनयनी से अधिक संकटों से आवृत रहा है, उसे अधिक जीवट दिखाने के अवसर मिले हैं, उसका प्रेम भी वस्तुतः प्रेम है, सार्थक। उसने अटल से अटल-प्रेम किया है, उसके लिए बहुत कुछ त्याग भी किया है। प्राणों की बाज़ी लगा कर भी उस प्रेम की उसने उपासना की है। लाखी और मृगनयनी पर तुलनात्मक दृष्टि डालते ही स्पष्ट हो जाता है कि वृन्दावन लाल वर्मा स्वयं तो लाखी के साथ हैं, पर उनका अहंकारी उपन्यासकार मृगनयनी के साथ गया है। लाखी के पैर परिस्थितियों के कारण ही सही भूमि और पृथ्वी पर रहे हैं, मृगनयनी के पैर वहाँ विवाह के बाद पृथ्वी पर से उखड़ गए हैं। "[1] लाखी 'मृगनयनी' का सर्वाधिक आकर्षक पात्र है। 'मृगनयनी' के अन्त में भी लाखी की मोतियों की माला धधकती नज़र आती है—निस्सन्देह यह स्मरणीय पात्र है। सारी आयु परिस्थितियों से लड़कर जिस लाखी ने प्रेम का निर्वाह किया, वर्णाश्रम की परवाह न की, उसी ने मरते-मरते, अटल से अपनी जाति में विवाह कर लेने की कामना प्रकट की है। यह कामना जहाँ उन घोर कठिनाइयों की व्यंजना करती है, जो अटल-लाखी को सहनी पड़ीं, वहाँ युगीन प्रतिबन्धों की विवशता तथा लाखी की निर्द्वन्द्व स्पष्टवादिता, सहज स्वभाव, तथा पति की चिर-कल्याण-कामना को भी व्यक्त करती है। समग्रतः लाखी और मृगनयनी के द्वारा इस उपन्यास में चारित्रिक उदात्तता के तत्व का समावेश हो सका है।

कर्मठ पात्रों का बहिर्मुखी उपन्यास होने के कारण 'मृगनयनी' के पात्रों का चरित्र प्रमुखतया उनकी क्रियाओं द्वारा व्यक्त हुआ है, किन्तु संवादों से भी कम नहीं। इसका कारण यह है कि ये पात्र बोलते भी खूब हैं; मृगनयनी, विजयजंगम, निहालसिंह और बोधन इसका प्रमाण है। सीधा-सरल अटल भी इसका अपवाद नहीं। 'मृगनयनी' में वार्तालाप-तत्व का सुन्दर-सार्थक विनियोग हुआ है। लेखक ने कुछ स्थलों पर अनुकूल पात्रों के संवादों के सहजक्रम में इतिहास-चर्चा कर सीधे इतिहास-वर्णन की शुष्कता से बचाव किया है। जैसे महमूद बघर्रा अपने प्रधान जासूस से अपने राज्य के चारों ओर के समाचार पूछता रहता है और पाठकों को ग्वालियर के चारों ओर के रजवाड़ों तथा उनकी गति-विधि का ज्ञान हो जाता है।[2] यदि लेखक संवाद-कौशल का इतिहास-बोधन में और अधिक उपयोग करता, तो सीधे इतिहास-वर्णन की इतिवृत्तात्मकता और कम हो जाती। कहीं-कहीं संवादों का उपयोग कथा-सूचना देने के लिए भी हुआ

१. "मृगनयनी : कला और कृतित्व", पृ० १२४-२५। २. पृ० १६६, १६८, २५६, ३०५-७, ३६२-६३।

है।[1] उस युग की बहुविध परिस्थितियों को भी व्यावहारिक संवादों से साकार किया गया है। राई गाँव के बोधन पुजारी से जनसाधारण, तथा अटल के संवादों से उनकी [illegible] रीतिनीति तथा स्थिति की व्यंजना हो जाती है।[2] गयासुद्दीन तथा बघर्रा के राज-दरबारों के वातावरण को संवादों से ही सजीव किया गया है। मुसलमान सुलतानों की मान-मर्यादा, रोबदाब, क्रोध, तथा दरबारियों-मन्त्रियों की कृत्रिम शिष्टाचारिता-चाटुकारिता अनुकूल नाटकीय संवादों में व्यंजित हुई है। इन्हीं वातावरण-विधायक संवादों में पात्रों का वाक्-संयम एवं कौशल दर्शनीय हो उठता है। राजा मानसिंह जब बोधन पुजारी के बुलाने पर गाँव आता है और मृगनयनी के सौन्दर्य-शौर्य पर मुग्ध होकर उससे विवाह करने की बात पक्की कर लेता है, तब वह शिष्टाचारवश धर्म के प्रतीक पुजारी से स्वीकृति लेता है; उस समय की ये पंक्तियाँ दोनों की अपनी-अपनी मर्यादा को व्यक्त करती हुई नाटकीय वाक्-कौशल से प्रसंग को ऊपर उठा देती है :—

पुजारी को प्रणाम करके राजा बोला—"शास्त्री जी, आशीर्वाद दीजिए।"

"आशीर्वाद तो सदा राजा के साथ रहता है।"

"मानसिंह तोमर और मृगनयनी को आशीर्वाद दीजिए।"

"इनसे बढ़कर अभिमान की बात इस गाँव और गाँव के मन्दिर के पुजारी के लिए और क्या हो सकती है महाराज ?"

"चाहता हूँ कि वैदिक मन्त्रों और होम के साथ विवाह ग्वालियर में सम्पन्न हो। आप भी चलने की तैयारी करिये।"

"महाराज यह कैसे हो सकता है ? विवाह की विधि लड़की के घर पर ही होगी। अपने यहाँ यही रीति चली आई है"।[3]

इन्हीं विशेषताओं के लिए एक और प्रसंग लीजिए जिसमें पात्रों के अनुकूल उर्दू-शैली की अपनी अदा आस्वादनीय बन जाती है—(मन्त्री मटरू सुलतान से तंग आ चुका है और उसका भविष्य खतरे में है। इसलिए वह शाहजादे को हाथ में कर किसी कुचक्र की तैयारी करना चाहता है। शाहज़ादे को बाप और मौलवियों के कारण घोर संमम का जीवन बिताना पड़ रहा है और उसकी दमित लालसाएँ खुल-खेलने के लिए अवसर की ताक में हैं।)

मटरू मौका निकाल कर शाहजादे से एकांत में मिला। शाहज़ादा नसीर ने बगलें झाँकते हुये मटरू से पूछा—शराब तो बहुत बुरी चीज़ कही जाती है फिर लोग क्यों पीते है ?" 'जान आलम'—मटरू ने फूंककर कदम रक्खा—बुजुर्गों ने ज़माने से

१. पृ० ३३२ तथा ३३६ (पहले में घटना की तैयारी है और दूसरे में उसका प्रमाण।)
२. पाँचवाँ परिच्छेद। ३. पृ० २००-१।

इसको बुरा कहा है, मगर लोग नहीं मानते हैं, इसलिये पी लेते हैं।"

"बुरी कहते हैं तो पीने में भी बुरी होती होगी ?"

"जान आलम, बुरी चीजें जब बादशाहों के हाथ छू लेती हैं तब उतनी बुरी नहीं रहतीं ! बन्दा तो गुलाम है कह ही क्या सकता है ? लेकिन हाँ सुना है कि कि बाज़ लोग दवा के तौर पर कभी-कभी पी लेते हैं।"

"तुम ने कभी पी ?"

'जान आलम के सामने बयान करने में गुस्ताखी होगी।"

"तुम कैसे आये ?"

"जान आलम बादशाह सलामत की गैर मौजूदगी में मांडू का बन्दोबस्त करेंगे। मुझ गुलाम की याद बनी रहे और दरबार की परवरिश होती रहे यही अर्ज़ करने आया था। जान आलम का कोई हुक्म बन्दे के लिए हो तो आज़मा लें और सिर कटवा कर फिकवा दें।"

"जी चाहता है कि मैं भी कुछ दुनिया को देखूँ। किताबें तो बहुत सी पढ़ लीं, मगर दुनिया समझ में नहीं आ रही है।"

"जान आलम जिन्दाबाद ! मैं कुरबान जाऊं हुजूर तो इतना देखेंगे कि खुद न अघायेंगे न दुनियां अघायगी।"

"देखूँ कब वक्त आता है।"

"आएगा वक्त हुजूर और अभी क्या हो गया। हुकुम होने की देर है कि बजा लिया जायेगा। सिर्फ फिकर गर्दन की है क्योंकि मुल्ला-मौलवी गुलाम से कुछ यों ही फिरे रहते है"।[1]

दोनों एक-दूसरे के कथनों से हौसला (शह) पाकर स्वाभाविक रूप से क्रमशः आगे बढ़ते जाते हैं। मटरू की चारित्रिक विशेपतायें—चाटुकारिता, काइयांपन तथा व्यवहार-कुशलता-भी व्यक्त है तथा गत्यात्मक संवाद का सौन्दर्य भी। लेखक की यह विशेषता रही है कि वाणी-विलास में उलझ कर संवाद कथा-गति-रोधक नहीं हो जाते। मानसिंह-बोधन के उपर्युक्त संलाप में भी यह विशेषता देखी जा सकती है।

परिस्थिति-विशेप में किसी पात्र के कथन की मात्रा, भंगिमा, शैली तथा प्रतिपात्रानुकूलता—संक्षेपतः औचित्य—को ध्यान में रखने से संवादों में स्वाभाविकता आती है और सौन्दर्य भी। "मृगनयनी" में ये विशेषताएँ सहज ही लक्षित की जा सकती हैं। उपर्युक्त दोनों संवादों में यह औचित्य स्पष्ट है। कुछ अन्य प्रसंगों से यह अधिक स्पष्ट हो सकेगा। मानसिंह की मृगनयनी के अतिरिक्त आठ रानियाँ हैं जिनमें सबसे बड़ी सुमनमोहिनी नई रानी मृगनयनी से जलती है और नई शादी करने पर मानसिंह

१. पृ० २२३।

से रुष्ट है। उसकी ईर्ष्यालु प्रकृति सदैव व्यंग्य-प्रहारों से काम लेती है। राजा को इन सबसे सम्बन्ध स्थिर रखना है और यदि वह भी इनका उत्तर ऐसे ही दे तो इन सबसे लड़ते-लड़ते उसका जीना मुश्किल हो जाए। अतएव वह व्यंग्य-प्रहार को कुशल विनोद-वक्रता से टाल देता है। यथा —"वह (मृगनयनी) क्षत्रिया कन्या है। सबको एक दिन कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। आप देखना वह पढ़-लिखकर और विविध कलाओं में पारंगत होकर, हमारी आप की सबकी, कीर्ति ध्वजा को ऊँचे फहरावेंगी।"

"महाराज ने बिलकुल ठीक कहा, अभी जो नये-नये बहुमूल्य रेशमी वस्त्र पहिनने को मिले हैं, उन्ही की ध्वजा को अपने इस छोटे से कर्णमहल के कंगूरे-कंगूरे और शिखर-शिखर पर कूदती फुदकती फहराती फिरती है। (व्यंग्य से शैली-परिवर्तन भी) एक दो क्षण चुप रहने के उपरान्त (मानों संयत होकर) मानसिंह बोला—"आप सबके शिक्षण, अनुशासन और आदर्श से वह भी अपने को ढालती रहेंगी, जैसे मैंने अपने को ढाल लिया है।" मानसिंह हँस पड़ा। सुमनमोहिनी को भी हल्की हंसी आ गई। (भंगिमाएँ या अनुभाव)।

वह मन ही मन प्रसन्न थी—यह मेरा तो लोहा मानते हैं।

"अब मुझको अनुमति मिले ; जाकर बैजनाथ से कुछ बातें कर लूं। मन्त्री आने वाले होंगे। दिन में उनसे राज-काज की चर्चा नहीं हो पाई थी।" मानसिंह ने कहा। यह अनुमति माँगना नहीं था, आदेश देने का अर्थ रखना था। (राजापन फिर भी बना हुआ है) सुमनमोहिनी ने फिर व्यंग्य किया, महाराजा को आजकल अवकाश ही कहाँ मिल पाता है। बिचारा मन्त्री राज्य की चिन्ताओं के मारे सिर धुनता रहता होगा। यहाँ तक आने का आपने अवकाश न जाने कैसे निकाल लिया।"

राजा ने परवाह नहीं की। हँसकर बोला, "अवकाश मिल जाया करेगा, बहुत मिलेगा। मुजरा करने आया करूँगा।'[1]

विजयजंगम भी मानसिंह पर व्यंग्य करता है, किन्तु उसकी शैली से ही एक मित्र के सुधार की भावना झलकती है। उसे सुनकर चाहे मानसिंह हँसता है, किन्तु टालता नहीं और सोचने पर बाध्य होता रहता है।

संवादों के औचित्य-निर्वाह में 'भगिमा' की बात लीजिए। यह आवश्यक नहीं होता कि पात्र वाणी से उत्तर दे ही; वे मूक रहकर भी बोल सकते हैं, या हावभावों से बोलते हैं। ऐसे एक पूर्ण तथा कुशल अनुभाव-संवाद का उदाहरण आस्वादनीय है, जो विशिष्ट परिस्थिति में कितना स्वाभाविक तथा सार्थक है:—

---

१. पृ० २५२-५३।

मानसिंह मुस्करा कर लाखी से बोला।

"ऐसा छिपाया अपने को जैसे किसी की चोरी की हो।"

लाखी ने गर्दन नीची कर ली।

"नरवर को बचाने वाली तुम्हीं हो या कोई देवी यहाँ आ गई थी?"

लाखी ने ऊँची सांस को धीरे-धीरे दबाया। मन्दिर के सामने भीड़ इकट्ठी हो गई।

"तुम वैसे थोड़े ही सिर उठाने की हो।"

लाखी ने नीचा सिर किये हुये ही आँखें ऊपर उठाकर नीची कर लीं। कुछ गीली हो गई थीं।

मानसिंह ने अपने गले से मोतियों की माला का कण्ठा निकाला, दोनों हाथों से पकड़ा और बोला, 'सिर ऊँचा करो।'

लाखी ने धीरे-धीरे सिर ऊँचा किया। होठ काँप रहे थे। आँखें आँसुओं से भर गई थीं। राजा ने उसके गले में हार डाल दिया। आँखों से आँसू बहकर गले में पड़े हुए हार के मोतियों पर ढलकने लगे। मुँह को गदेलियों से ढक्कर लाखी सिसकने लगी। अटल अपने सूखे हुए होठों पर जीभ फेर रहा था।"[1] यहाँ विषय से अधिक संवाद के स्वरूप ने मार्मिक स्थल की सृष्टि की है। मानसिंह मृगनयनी के प्रणय-बंधन के २४वें परिच्छेद में शृंगारिक अनुभाव-संवाद है। वहाँ सात्विक अनुभावों की चित्रमयता और भी सुन्दर है; जैसे, "गर्दन मोड़े हुए, कनखियों देखते हुए, धड़कते कलेजे और अर्द्धस्मित के साथ निन्नी ने अपना काँपता हुआ धूल भरा हाथ उसके हाथ में दिया।"[2] पात्र की मनःस्थिति इनसे जितनी व्यक्त हो सकती है, उतनी स्थूल वचनों से नहीं। उपर्युक्त उद्धरण प्रमाणित करते हैं कि 'मृगनयनी' के संवाद चरित्र-चित्रण में भी विशेष सहायक रहे है। पात्रों के शिक्षा-संस्कारों, वर्ग-व्यवसाय, मजहब, स्वभाव तथा वय-विकास के अनुसार इनका स्वरूप परिवर्तित हुआ है। निन्नी-लाखी की निश्छलता-सजीवता उनकी पारस्परिक सरस नोक-झोंक; बैजू की संगीत-तन्मयता उसके उपेक्षामय बावरे वचनों, अटल की सरलता-दृढ़ता उसके सीधे निर्द्वन्द्व कथनों, [illegible] की ईर्ष्यालु प्रकृति उसकी कण्टकोतियों, मटरू की क्षुद्रता उसकी सहमी [illegible] ग़ियास और नसीर की विलासिता उनकी सुरा-सरूर में कही भावुकोक्तियों से ध्वनित होती रहती है। निहालसिह की स्वामि-भक्ति तथा निर्भय स्वाभिमान उसके सीधे-तीखे वचनों में व्यक्त होकर सिकन्दर के कोप के कारण बनते है। बोधन की रूढ़िवादी हठवादिता तथा अपने प्रति सच्चाई उसके दृढ़ कथनों में स्पष्ट है। विवाह-पूर्व की मृगनयनी तथा बाद की शिक्षित मृगनयनी अपने वचनों में

१. पृ० २६६। २. पृ० १६६।

साकार हैं। पात्रों की भावमयी हार्दिकता संवादों में व्यक्त होकर, उनके भीतरी व्यक्तित्व को सामने लाती रहती है; देखिए :—

(मृगनयनी)—"कविता कर उठे न आप अब !"

(मानसिंह)—"कई बार कह चुका हूँ कि साकार कविता तो तुम हो जो उस प्रकार के भाव को सदा मेरे भीतर जगाती रहती हो।"

"साकार कविता तो नायक बैजू हैं।"

"अब लोग उनको बैजू बावरा भी कहने लगे हैं। कविता बावरी ही होती है, जैसी तुम।"[1]

'मृगनयनी' में युद्धों तथा वीरपात्रों के कारण ओजस्विता भी विशेष रूप में मिलती है।[2]

ग़ियास, नसीर और मटरू के सुचयनित अनुभावमय संवादों में प्रच्छन्न विनोद का पुट है। इससे 'मृगनयनी' के संवादों में रंजकता का गुण भी आ गया है; जैसे, सुरा के सरूर में ग़ियास जंगल में डेरा डाले पड़ा था कि हाथी चिंघाड़ता है। तब फिसलते रिपटते स्वर में ग़ियास बोला—

"कितनी प्यारी बोली है।"[3]

लाखी-निन्नी की नोंकझोंक में भी विनोद का पुट है।

'मृगनयनी' के संवादों में 'दोष' के नाम पर बहुत कम है। कहीं-कहीं यह अवश्य लगता है कि लेखक पात्रों के मुंह से बोल रहा है। अटल-जैसा सीधा तथा अल्हड़ – जो केवल एक बार ग्वालियर हो आया है—जब अधोलिखित तर्क देने लगता है तो जंचता नहीं :—"वह (पिल्ली) स्त्री थी ! घूरे पर मंडलाने वाली तितली को स्त्री कहा जाता है ? बहुत से मन्दिरों के द्वारों पर जवान स्त्रियों की जो बेहूदी मूर्तियाँ बनकर खड़ी कर दी गई हैं, वे क्या किसी देवता के हुकुम से घड़कर की गई हैं ? मैं क्या कोई मक्खी हूँ जो मैले पर जा गिरूँगा ? मैं क्या—"[4] सारांश में, 'मृगनयनी' के संवाद अत्युत्तम हैं। ये इतिहास-बोधक, परिस्थिति-वातावरण-विधायक, कथा-सूचक, गत्यात्मक, शील-प्रकाशक, रंजक, नाटकीय, स्वाभाविक तथा सुन्दर हैं।

वर्मा जी की भाषा-शैली में विशिष्टता नहीं। वे प्रेमचन्द, प्रसाद, जैनेन्द्र, अज्ञेय आदि के समान शैलीकार नहीं। उपन्यास में भाषा-शैली का अपना सौन्दर्य हो सकता है, जो 'मृगनयनी' में कहीं-कहीं ही लक्षित होता है। उनमें सीधी-सादी वर्णनात्मक शैली का बाहुल्य है, जो इतिहास की यथातथ्यता तथा युद्ध-शिकार आदि

१. पृ० ३६० । २. पृ० ३४५-४६, मृगनयनी के कथन ।
३. पृ० २३१ । ४. पृ० २९६ ।

में उपयोगी है। फिर भी, यह वर्णन-शैली प्रसंगानुकूल यत्किंचित् परिवर्तित अवश्य होती रही है। आगे इसको स्पष्ट करने का प्रयास किया जाएगा। कहीं-कहीं दृश्य-चित्रण में वाक्यों में क्रिया-हीन स्फुटता लाई गई है; जैसे—"बग़ल में फैला हुआ ऊँचा पहाड़, ढालू जंगल। पथरीली जगह, नीची झाड़ी, समतलभूमि पर सघनविशाल वृक्ष—कहीं झुरमुटों में, कहीं बिखरे हुए। गाँव लगभग एक कोस की दूरी पर।"[1] कहीं-कहीं प्राकृतिक दृश्यों में काव्यमयी भाषा प्रयुक्त है; जैसे, नदी का निम्न अलंकृत वर्णन देखिए—"खेत से थोड़ी ही दूर नदी बह रही थी। उसके सिरे का पानी बहता हुआ दिखलाई पड़ रहा था। चन्द्रमा की रिपटती हुई झिल-मिल जान पड़ती थी मानों चाँदी की चादरों के आवरों पर आवरे चिल-चिला रहे हों। छोटी-छोटी-सी आड़ी-सीधी लहरें उठ-उठ कर इन आवरों को पहन-पहन लेती थीं। सम्पूर्ण लहरों का समूह चाँदी की उन चादरों को ओढ़ लेने की होड़ सी लगा रहा था। पवन के आने-जाने वाले झकझोरे इन आवरों को और भी चंचल कर रहे थे। लहरों की कलकल झोंकों पर नाचती-खेलती हुई खेत के पौधों की झूम पर उतर-उतर पड़ रही थी। चन्द्रिका खेत के हरे पौधों की अधपकी बालों को अपनी कोमल उँगलियों से खिला भी रही थी, हरी पत्तियों पर जमे हुये ओस कण चमक-चमककर बिखर-बिखर जा रहे थे। निकटवर्ती जंगल के लम्बकाय वृक्षों के बड़े-बड़े पल्लवों को खरभरा कर पवन मानों किसी दूर देश को चला जा रहा था। कभी सनसनाहट और कभी सड़सड़ाहट। इन्हीं ध्वनियों में होकर बाहर से डरे हुए साभरों और चीतलों की कभी तीक्ष्ण और कभी मन्द पुकारें।"[2] उपर्युक्त उद्धरण के सौन्दर्य का आधार उत्प्रेक्षा-साधित कल्पनाएँ, ध्वन्यात्मक-दृश्यात्मक शब्दों तथा शब्दों के दुहरे प्रयोग (पुनरुक्ति प्रकाश) है। 'मृगनयनी' में वर्मा जी के सौन्दर्य-साधन की ये सामान्य विशेषताएँ हैं और प्रायः यही इनकी सीमा है। इनमें विविधता का अभाव है। उपर्युक्त उद्धरण भी मंजुल-मसृण शब्दों के चयन की न्यूनता, तथा कर्कश वर्णों के यत्किंचित् प्रयोग से अभीप्ट कलात्मक सौन्दर्य का आह्वान नहीं कर सका। दुहरे शब्द भी सीमा से बढ़ गए है। अपने अन्य उपन्यासों की तरह इसमें भी कहीं-कहीं भावात्मक शैली है पर कम। एक कथन लीजिए—"यह कहता गया ऐसे बड़े और छोटे द्वार बनाऊँगा जिनमें होकर आने वाला प्रकाश तुम्हारी हँसी और मुस्कानों को व्यक्त करे। तुम्हारे केश-कुंतल, कपोलों के दोनों ओर छूट-छूट जाने वाली लटें उन द्वारों की बन्दनवारी सजावटों में उतर आएँगी। तुम्हारी मुस्कानों के पीछे जो मोती-से दमक जाते हैं वे बेल-बूटेदार झिझरियों की आभा द्वारा व्यक्त हो जायंगे। ऊपर के खण्ड के आगन में निकली हुई गोखें, बारजे और उनकी पतली सुहावनी बडेरियाँ तुम्हारी चितवन और

१. पृ० १५० । पृ० १६५ भी देखिए। २. पृ० १५-१६।

भौहों को प्रकट करती रहेंगी। उन सब से ऊपर के कंगूरे और कलमे तुम्हारे –"[१] अन्यत्र, निहालसिंह की मृत्यु के वर्णन में, एक वीर राजपूत को गौरव देने के लिए, वर्मा जी की शैली भावात्मक हो गई है।[२] 'झाँसी की रानी' में भावात्मक-शैली अपेक्षाकृत अच्छी है। विचार-प्रधान शैली भी यत्र-तत्र मिल जाती है जिसके प्रवाह में पूर्ववर्ती उपन्यासों से विकास हुआ है।[३]

'मृगनयनी' में हास्य-व्यंग्य की शैली भी है। विशेष रूप से हास्य-तत्व अपेक्षाकृत नवीन है। इस सम्बन्ध में महमूद बघर्रा तथा भूकम्प के प्रसंग देखे जा सकते हैं; देखिए - (महमूद बघर्रा के) 'पलंग की एक बाजू ढाई सेर पके हुए चावल और दूसरी ओर भी सोने के थालों में सजे हुये ढाई सेर। रात में नींद खुली और भूख लगी—भूख के कारण जाग पड़ने में कोई शक भी नहीं था, रोज का दस्तूर जो ठहरा—तो बिचारा क्या करता? क्या प्रातःकाल की प्रतीक्षा करता? तब तक गरीब आँतों का क्या होता? क्या न बन आती उन पर? उस करवट आँख खुली तो ढाई सेर चावलों भरा थाल हाज़िर, इस करवट आँख खुली तो उतनी ही तौल के चावलों का दूसरा थाल। आखिर एक ही तरफ़ पाँच सेर चावलों को रखने में तुक क्या? उस करवट से इस करवट लौटने-पौटने का कष्ट उठाया ही क्यों जाय? [४]

लेखक ने उत्प्रेक्षाओं से बघर्रा के विचित्र व्यक्तित्व का चित्रण कर हास्य-सृष्टि की है; यथा—

१. "एक केले के दो कौर करने के बाद बघर्रा ने प्रधान जासूस की ओर मुंह फेरकर 'ऊँह' की। जैसे बादल गरज गया हो। २ कुछ एक छोटे केले को समूचा मुंह में डालकर बघर्रा बोला, जैसे किसी नाले के प्रवाह ने ज़ोर से बाँध को फोड़ डाला हो। ३. बघर्रा बोला जैसे जमीन के नीचे दरार में होकर भूकम्प बोला।[५] ४. पेट पर हाथ फेरकर बघर्रा ने एक लम्बी डकार ली जैसे बरसात में कोई कच्चा मकान गिरा हो। ५. बघर्रा ने मुलायम स्वर में कहा—फिर भी जान पड़ा जैसे कई फटे बाँस एक साथ बज पड़े हों।[६] यह ज़रूर है कि ऐसी उत्प्रेक्षाओं की एक ही प्रसंग में भरमार हो गई है।

मुहावरों-लोकोक्तियों का प्रयोग पहले से अधिक हो गया है जिससे भाषा-सजीवता में सहायता मिली है। कुछ पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं—गियास ने सोचा नसीर को मुल्लों के सुपुर्द करके मुल्लों और नसीर— दोनों—से छुट्टी पाई, परन्तु वह यह न देख सका कि किसी दिन 'नमाज छुटाने गये और रोज़े गले पड़े' की कहावत चरितार्थ

१. पृ० ३८८। २. पृ० ३६४। ३. पृ० ७३, ३३१। ४. पृ० ४३७। ५. पृ० ७६। ६. पृ० ७९।

होगी; 'अभी तो चैन से गुजरती है' का वह कायल था। उन दिनों नसीर के पर निकले भी न थे।"[1]

संवादों या नोक-झोंक में भी मुहावरों का योग द्रष्टव्य है—"कोई कहे या न कहे, पर जानते सब है। तुम्हारी आँखें, उनकी आँखें ढोल पीट कर कहती है।" "तुम्हारी आँखें ही पीटती ढोल जो तिल का ताड़ बना देती हैं।" "अरी मैंने तो ताड़ का तिल बनाया है!"[2] इनमें प्रान्तीय मुहावरे-लोकोक्तियाँ भी सम्मिलित हैं; जैसे तोरई छाँकना, मठामूसल का धमकना, कानी के टेंट पर सिन्दूर की बिन्दी। विषय की गम्भीरता के अनुकूल इसमें उनके अन्य उपन्यासों से सारगर्भित वाक्य अधिक हैं।

वर्मा जी अपनी अभिव्यक्ति में सभी प्रकार के प्रचलित शब्दों का प्रयोग कर लेते हैं—तत्सम, तद्भव, देशज, प्राँतीय, अरबी-फारसी के शब्द उपर्युक्त विभिन्न उद्धरणों में एक-साथ देखे जा सकते है। 'मृगनयनी' में बुंदेली शब्दों का अपेक्षाकृत अधिक व्यवहार हुआ है। इससे बुदेलखण्ड के वातावरण-चित्रण में सहायता ली गई है। इनकी भाषा सरल-सुबोध रहती है और ये शब्द भाषा-स्पष्टता में व्याघात उत्पन्न न करें, इसलिए लेखक ने 'मृगनयनी' के परिशिष्ट में इनके अर्थ दे दिए हैं। फिर भी, वातावरण-चित्रण के लिए ही बुन्देली शब्द व्यवहृत नहीं हुए, यह वर्मा जी की सामान्य शैली है और सभी प्रसंगों में इनका प्रवेश देखा जा सकता है। 'मृगनयनी' में कला-कर्तव्य-समन्वय के उद्देश्य के लिए जिन कलाओं के चित्रण तथा कलात्मक वातावरण के सृजन का प्रयास किया गया है, उसके लिए विशेष कलात्मक भाषा की आवश्यकता थी। तद्विषयक परिच्छेदों के संवादों तथा शैली में प्रांतीय शब्दों का व्यवहार चिन्त्य ही कहा जाएगा। वैसे भी, वर्मा जी में अपेक्षित कवित्व की कमी है और भाषा ऐसे कलात्मक तथा सैद्धान्तिक विषयों के स्तर तक नहीं पहुँच सकी। लेखक की भाषा-असमर्थता (सार्थक-सुन्दर शब्द-चयन का अभाव, [illegible], अनुपयुक्त उपमाएँ, स्थूल शैली आदि) के निदर्शन के लिए कुछ उद्धरण द्रष्टव्य है :—

क. "कलाकार के भीतर पूरी उपासना, आस्था, श्रद्धा और भक्ति, योग द्वारा जाग पड़ें, तभी वह उस वरद मुस्कान को टाँकी-हथौड़े के द्वारा पत्थर में उकसा कर पिरो सकता है। प्रयत्न करूँगा। मान-मन्दिर के भीतर ऐसे ही विष्णु की मूर्ति को पधरवाऊँगा जिसके दर्शनों से हमारे विवेक की मुस्कानें प्रबलता के साथ इतनी बनी रहें कि हम उनको अपने आस-पास भी बाँट सकें।"[3]

ख. "केले की कतारे उसको सखी-सहेलियों सी लगी। मुस्कराई, उल्लसित हुई, नसों में लहर सी दौड़ी और मन चाहा कि पत्तों की हिलडुल की ताल में नाच

१. पृ० ६६। २. पृ० ५५। ३. पृ० ३८९-९०।

उठूँ।"[1]

ग. "जैसे सूखे काठ में अग्नि विद्यमान है, उसी प्रकार शिव-शक्ति जड़ और चेतन में निहित है। शिव अपने ताण्डव नृत्य से शक्ति को जड़ और चेतन में स्पन्दित और स्फुरित करते है, जीवन और आकार-प्रकार में शिव की नृत्य लीला प्रकट होती है। शिव की समूची क्रिया को अनादि शिव का ताण्डव व्यक्त करता है। चार हाथ चारों दिशाओं में अखिल व्यापकता, डमरू नाद और शब्द जिसमे विश्व का विकास बना, वरदहस्त रक्षा, अग्नि विश्वव्याप्त शक्ति, चौथा हाथ नृत्य के लिए उठे हुए चरण के प्रति, उठे हुये हाथ के शरण-दान को प्रकट करने वाले।.."[2] (उत्तरार्द्ध मे वाक्य-शिथिलता)

घ. "जल-विहार के विस्तृत क्षेत्र में कनातों की आड़ें लगा दी गईं। एक ओर लहराने वाली झील की नीली जल राशि, दूसरी ओर कनातों के भीतर रंग-बिरंगे बारीक वस्त्रो और झिलमिलाते अलंकारों से सजी हुई वे अप्सरायें टिड्डी दल की तरह उमड़ रही थी; अन्तर उनमें और टिड्डियों में इतना ही कि टिड्डियाँ एक ही रंग की होती है; बरसात की तितलियों-जैसी परन्तु बरसात में एक ही स्थान पर इतनी तितलियाँ इकट्ठी नहीं दिखलाई पड़ती। सब हंसती-मुस्कराती बातें कर रही थी। सब अपने वस्त्रों को लहरा-फहरा रही थीं, सब अपने यौवन का प्रदर्शन कर रही थी।."[3] (रंगीन वातावरण तथा विषय के लिए विपरीत प्रभाव की सृष्टि करने वाली उपमा, स्थूल कवित्व, प्रभावहीन चित्र)

सारतः वर्मा जी की शैली में साधारण अभिव्यक्ति-क्षमता ही है। उनमें कला-प्रसाधनों की विविधता, वाक्य-रचना की चुस्ती, तथा शब्द-भण्डार की कमी है।

'मृगनयनी' में वर्मा जी की भाषागत त्रुटियाँ पहले से कम हो गई हैं, फिर भी, ये उपेक्षणीय नहीं, उल्लेखनीय है। ये भाषा-प्रवाह में बाधक हैं। लेखक ने कुछ शब्दों को लिखने में अपनी स्वतन्त्र रुचि दिखाई है, वैसे ये अशुद्ध से हैं; जैसे :— चिनौती, पहिचान, डिगमगाने, मुकाबिला, चोंकने, मच्छड़, पिछेड़ूँगा, होड़, मुहकमा, भोहों, कोध, ददक, तखड़ी, दूख, दूखने, ऐलान, मिहतर आदि ध्वन्यात्मक युग्मों के प्रयोग मे सार्थक शब्द पहले तथा निरर्थक शब्द बाद में आया करता है किन्तु वर्मा जी ने इसका विचार नहीं रखा है; जैसे, उर्क-तुर्क, आवरा-बावरा, भड़कती-तड़कती, याह-ब्याह। अब कुछ व्याकरण की दृष्टि से अव्यवस्थित, या शिथिल वाक्य लीजिए जो लेखक की असावधानी के द्योतक हैं—

---

१. पृ० ३१२। २. पृ० ४१६। ३. पृ० ३६८।

१. मेवाड़ उन थोड़े से राज्यों में था जो कम से कम, अपने जनपदों की रक्षा के लिये सदा व्यग्र से बने रहते थे।[1]

२. सोना चाँदी बहुत चाहना पड़ेगा।[2]

३. सोने की रत्नजटित कटोरी में पहुँच-पहुँच वह होठों पर सुरसुराती हुई गियासुद्दीन की स्वप्न-लोक को आमन्त्रण दे रही थी।[3]

४. उसने मालवा के राजपूतों को अभी अपनी गाँठ में नहीं बाँध पाया था।[4]

५. जाड़े निकल गये। बसन्त आ गई और छा गई।[5]

६. सवेरे सेर भर घी, .. केलों का कलेवा क्षुधा शान्ति के मौजूद।[6]

७. मेरे शब्द कारीगरों को जो सूझ नहीं दे सके उसको तुम्हारे दिये हुए मेरे भाव ने उसको दिया।[7]

८. सैनिकों ने केसरिया साफ़े बाँधे जो मानसिंह के सूर्यध्वजी ऊँचे "केसरिया झण्डे से होड़ सी लगा रहे थे, नगर की स्त्रियाँ रंग-विरंगेपन में फूट पड़ीं।[8] (वाक्य भी अधूरा)

९. जातपांत ढाल का काम तो कर सकी है और कर रही है परन्तु तलवार का काम न तो हाल के युग में उसने कर पाया है और न कर पावेगी।[9]

१०. .. जनता की स्नायुओं को प्रबलता और स्पन्दन दिया जा रहा था।[10]

'मृगनयनी' में लेखक को शब्दों के दुहरे प्रयोग (पुनरुक्ति-प्रकाश) से अनुचित मोह हो गया है। इनकी इतनी भरमार हो गई है कि यह लेखक की भाषा-शैली तक ही सीमित नहीं है, प्रत्येक पात्र के मुख से बार-बार निकलते हैं, मानों लेखक उन पर हावी हो गया है। दूसरे, एक ही प्रसंग में ये अनेक बार आकर खटकने वाले बन जाते हैं। अधिक उद्धरण 'लिख-लिख' कर हम पाठकों को परेशान नहीं करेंगे; ये कुछ ही पर्याप्त होंगे—(क) ".. सूखे पत्ते उड़-उड़ कर निन्नी के तपे हुए गोरे और लाखी के सांवले गालों पर पड़-पड़ जा रहे थे।"[11] (ख) "ऊँची छातियाँ पत्थरों और करघई के मोटे काँटों से टकरा-टकरा जा रही थीं .. करघई की टेढ़ी मेढ़ी डालें सिर से बाँधी हुई ओढ़नी में अटक-अटक जा रही थीं, गोरी सलोनी भुजाओं में काँटे खरोंचे कर-कर रक्त की पतली लीकें निकाल रहे थे।"[12] पृष्ठ १५ पर इस प्रयोग का जमघट हो गया है। विभिन्न पात्र भी लेखक की इस रुचि के भागीदर बने हैं; यथा—

१. पृ० ६५। २. पृ० १०८। ३. पृ० १६५। ४. पृ० ३९७।
५. पृ० ३९७। ६. पृ० ४३७। ७. पृ० ४०९। ८. ४०८।
९. पृ० ३७९। १०. पृ० २६८। ११. पृ० ४९। १२. पृ० ५१।

लाखी—"वह मेरी तुम्हारी तरफ बार-बार देख रहा था। कभी-कभी भीग-भीग कर रीझ-रीझ कर।"[१]

मृगनयनी—"हम कलाओं को अधिक समय देंगे तो वे अवसर पाते ही अपनी वासनाओं पर उतर-उतर आयेंगे।"[२]

ग़यास—"रास्ते में बे-हिसाब कीचड़, बड़ी-बड़ी नदियों के पूर वगैरह-वगैरह खा जायेंगे।"[३]

"बिचारियों को फफोले पड़-पड़ आते होंगे।"[४]

"उसको देखते ही आप लोगों को अपनी कमी डस-डस लेगी।"[५]

अटल—"लड़की ने अपनी जान जौखों में डाला-डाल कर इतना बड़ा पराक्रम किया।"[६]

इस तरह भाषा का सौन्दर्य बढ़ने की बजाय कम हो गया है।

अन्त में, यह कहा जा सकता है कि 'मृगनयनी' उद्देश्य-प्रधान ऐतिहासिक उपन्यास है। (कुछ स्थलों को छोड़कर) इतिहास एवं कल्पना की समतुल्य सम्पन्नता, बुंदेलखण्डीय वातावरण की यथार्थता, दो प्रमुख पात्रों की चारित्रिक उदात्तता, युद्ध-शिकारों की वर्णन-सजीवता, शौर्य-शृंगार-कला-संयुक्त वातावरण की मनोरमता तथा संवाद-कुशलता इसके शिल्प के उज्ज्वल पक्ष हैं। मुख्य उद्देश्य के प्रतिपादन में असंगति, चरित्रांकन में मनोवैज्ञानिकता की कमी, अन्यपात्र की सजीवता के समक्ष केन्द्रीय पात्र की हतप्रभता, वस्तु-विन्यास की साधारणता, आधुनिकता का व्यामोह तथा भाषा-शैली की असमर्थता इसके मलिन पक्ष हैं। प्रभावान्विति की दृष्टि से 'दिव्या' और 'मुर्दों का टीला' इससे श्रेष्ठतर उपन्यास हैं।

मुर्दों का टीला

'मुर्दों का टीला' (१९४८) डॉ० रांगेय राघव का बृहत् ऐतिहासिक उपन्यास है। इस उपन्यास से पूर्व 'घरौंदे' (१९४१) और 'विषादमठ' (१९४६) द्वारा लेखक सामाजिक उपन्यासकार के रूप में सामने आ चुका था। 'मुर्दों का टीला' से उसके ऐतिहासिक उपन्यासों की परम्परा का आरम्भ होता है। किन्तु इस धारा का प्रथम उपन्यास होते हुए भी लेखक इसी के द्वारा ऐतिहासिक उपन्यासकारों में विशेष स्थान पा सका है। 'मुर्दों का टीला' मोहन-जो-दड़ो के अज्ञात जीवन के चित्रण से प्राचीन-काल की गति-विधि को मूर्त करने वाला कल्पना-प्रधान प्रागैतिहासिक उपन्यास

१. पृ० २१। २. पृ० ४२२। ३. पृ० ६९। ४. पृ० ६८।
५. पृ० ७२। ६. पृ० ६३।

है। आलोचकगण इसकी कल्पना-प्रधान[1] प्रकृति के सम्बन्ध में एकमत हैं। काल की अतिप्राचीनता, किसी लिखित इतिहास के अभाव तथा तत्कालीन चित्र-लिपि पढ़ने के प्रयत्नों की असर्वमान्यता के कारण, लेखक को अपनी कल्पना-शक्ति का प्रचुर उपयोग करना पड़ा है।

मोहन-जो-दड़ो तथा मुर्दों का टीला पर्यायवाची है—अर्थ है मृतकों का स्थान। मोहन-जो-दड़ो नगर—जिसका अन्तिम समय ३५०० ईस्वी-पूर्व माना जाता है—पहले सिंध नदी के तट पर व्यापार का एक मुख्य केन्द्र था। आज यह सिंध नदी के लगभग ५५ मील दूरी पर लरकाना में मग्न पड़ा है। मोहन-जो-दड़ो सिंधी शब्द हैं। वास्तविक नाम के अभाव में, इस शब्द के पढने की कठिनाई से बचने के लिए, लेखक ने इसके हिन्दी-पर्याय मुर्दों का टीला नाम को स्वीकार लिया।[2]

इस रचना के निर्माण में लेखक के दो संयुक्त लक्ष्य रहे हैं—ऐतिहासिक उपन्यास का निर्माण तथा ऐतिहासिक प्रतिबन्धों की सीमा में मार्क्सवादी दर्शन की अभिव्यक्ति। महानगर की खुदाई से उपलब्ध सामग्री तथा अतिप्राचीन ग्रंथों (ऋगवेदादि) के आधार पर अधिक से अधिक अनुमान लगा कर वह ऐतिहासिक वातावरण का निर्माण तो कर सका है किन्तु पात्रों तथा घटनाओं के निर्माण में उसे कल्पना से ही काम लेना पड़ा है। इस तरह 'मुर्दों का टीला' कल्पना-प्रधान ऐतिहासिक उपन्यास है जिसमें इतिहास-तत्व अधिकांशतः वातावरण की दृष्टि से ही है। इतिहासेतर उपन्यास में वातावरण-तत्व की योजना प्रायः पात्रों के क्रिया-कलाओं की स्वाभाविकता-संगति की दृष्टि से, उनके आचरण की पृष्ठभूमि के रूप में, होती है; किन्तु ऐतिहासिक उपन्यासों में तद्युगीन गति-विधि का चित्रण करने के लिए वातावरण-चित्रण अपने-आप में भी एक उद्देश्य हो जाता है। जिन उपन्यासों में इतिहास-तत्व मात्र वातावरण पर निर्भर करता है, वहाँ इसे अपेक्षाकृत और अधिक स्थान मिलता है। ऐसे उपन्यासों में खतरा केवल यह होता है कि कहीं वातावरण-चित्रण कथावस्तु के स्वाभाविक प्रवाह में बाधक न हो जाए। दूसरे, वातावरण-विनियोग ऐसे कुशल-साधनों से हो कि वह बाह्यारोपित न होकर, पात्रों के कार्यों एवं स्थानों की वास्तविकता के वर्णन का अधिक से अधिक अंग बन कर आए। कुछ स्थलों को छोड़कर, रांगेय राघव इसमें सफल रहें हैं। वातावरण-विनियोग के लिए लेखक ने निम्नस्थ साधनों का उपयोग किया है :—

१. उपन्यास के पात्रों को प्राचीन नाम देना; यथा :—मणिबंध, नीलूफर,

---

१. शिवदानसिंह चौहानः "हिन्दी साहित्य के अस्सी वर्ष", पृ० १७० डॉ० शिवनारायण श्रीवास्तव : "हिन्दी उपन्यास", पृ० ३७०। २. 'आमुख', पृ० 'घ'।

हेका, अपाप, अराल, उल्लास, विल्लीमित्तूर, आमेनरा।

२. पात्रों के पारस्परिक शिष्टाचार के लिए प्राचीन सम्बोधनों का प्रयोग करना; जैसे :— प्रभु, महाप्रभु, स्वामी, देव, देवी, महाश्रेष्ठि।

३. इतिहास-प्रसिद्ध प्राचीन व्यक्तियों (सम्राटों) के नाम लेना; जैसे मिश्र का फराऊन।

४. वस्तुओं, पदाधिकारियों आदि के लिए संस्कृत के प्रायः अप्रचलित शब्दों का प्रयोग करना; जैसे —'ऊष्णीष', 'शिरस्त्राण', 'महानागरिक', आदि। इसके अतिरिक्त मिश्री शब्दों का प्रयोग भी किया गया है। उनके अर्थ भी साथ ही दे दिए गए हैं।[1]

५. प्राचीन जातियों, देशों आदि के नाम लेना तथा मोहन-जो-दड़ो के महानगर की सापेक्षता में उनकी भौगोलिक स्थिति, लिपि, भाषा-बोली आदि का ज्ञान कराना।[2]

६. इतिहास-प्रसिद्ध घटनाओं —जैसे, आर्य-द्रविड़-संघर्ष की घटना—को कल्पना से मूर्त कर के महानगर की गतिविधि से परोक्ष रूप में सम्बन्धित करना।

७. पात्रों के बहुविध आचरणों, उनकी बाह्य सज्जा के चित्रण, उनके स्वाभाविक चिंतन एवं संवादों द्वारा तत्कालीन सभ्यता-संस्कृति का चित्रण किया गया है। प्रसंगानुकूल नगर तथा परिस्थितियों के विवरण भी दिए गए हैं। लेखक ने उपर्युक्त विधियों से मोहन-जो-दड़ो की खुदाई से उपलब्ध सामग्री के आधार पर प्राप्त जानकारी का समावेश करने का विशेष प्रयत्न किया है। इस सम्बन्ध में ये पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं—(क) "पहले ही नालियाँ भूमि के भीतर बना दी जायेंगी ..।"[3] (ख) "दासों ने भूमि पर ऊँट के ऊन का कालीन बिछा दिया"[4] (ग) "मोहन-जो-दड़ो के नागरिक आनंद के प्राचीन विश्वासी हैं। योग तो उनका दर्शन मात्र है[5]।" (घ) "अहिराज का उत्सव समस्त सिंधु प्रदेश में एक विशेष घटना थी। वर्ष में एक बार तो नागसप्तमी को अवश्य ही होता था .."[6] (ङ) "मोहन-जो-दड़ो के निवासी हल्के ताम्रवर्ण के थे, तब तुलना में कीकट कुछ गहरा उतरता था।'[7]

सदोषता की दृष्टि से इन तीन बातों का उल्लेख आवश्यक है : एक, लेखक ने कहीं-कहीं कथा को ऐसे प्रसगों की ओर मोड़ा है, जो किन्हीं तत्कालीन बातों की जानकारी देने की दृष्टि से उपयोगी किन्तु कथावस्तु के लिए अनावश्यक हैं; दूसरे, कहीं-कहीं वर्णन दीर्घ हो जाने से कथा-गतिरोधक हो गए हैं; तीसरे, एक स्थान पर तत्कालीन दार्शनिक धारणाओं का परिचय देने के लिए एक ऐसे अतिदीर्घ परिच्छेद

१. १४वाँ परिच्छेद। २. पृ० २३०। ३. पृ० २०७। ४. पृ० ११२। ५. पृ० १०७। ६. पृ० २३७। ७. पृ० २३०।

की सृष्टि की गई है,[1] जिसे हटा देने से कथा में कोई अन्तर नहीं आ सकता। यह नितान्त नीरस परिच्छेद है।

ऐतिहासिक उपन्यास में काल-विशेष का सजीव चित्रण करने के अतिरिक्त लेखक का अपना उद्देश्य भी होता है, जो प्रायः सामयिक युग से प्रभावित होता है। वैसे भी लेखक आत्माभिव्यक्ति करना चाहता है—वह किसी-न-किसी प्रकार से अपनी जीवन-दृष्टि का समावेश करता है। ऐतिहासिक उपन्यासकार स्वतन्त्रता से अपनी सामयिक प्रेरणा या इस आत्माभिव्यक्ति के स्वाधिकार का उपयोग नहीं कर सकता क्योंकि उसे ऐतिहासिक यथार्थ की रक्षा करनी होती है—उसे केवल वही बातें दिखानी-कहलानी होती हैं, जो काल-विशेष में सम्भव हो सकें। डॉ० रांगेय राघव ने इतिहास के प्रतिबन्धों को स्वीकार करते हुए अपनी मार्क्सवादी विचारधारा की सीमाओं में ही अभिव्यक्ति की है। इस सम्बन्ध में उन्होंने हिन्दी के अन्य ऐतिहासिक उपप्यासकारों की सापेक्षता में अपने दृष्टिकोण का स्पष्टीकरण करते हुए लिखा है—"मिश्र और एलाम, सुमेरु और मोहन-जो-दड़ो के दार्शनिक तत्वों की झलक देने का मैंने प्रयत्न किया है। उसमें मैंने विशेष ध्यान रखा है कि इस काल के अनुसार ही उस सबका वर्णन किया जाए।.. आजकल हिन्दी में ऐसे बहुत से उपन्यास निकल रहे हैं जिनमें अद्भुत बातें साबित कर दी जाती हैं, अनेक उदाहरण है। खेद है आपको यहाँ 'दास' दासों की-सी बात करता मिलेगा। उसकी परिस्थिति प्रगट है। वह उस काल के दार्शनिकों की-सी शिक्षित बहस नहीं कर सकता, न वह वैज्ञानिक भौतिकवाद मानता है, न द्वन्द्वात्मक ऐतिहासिक व्याख्या ही। मैं समझता हूँ इतिहास को इतिहास की सफल झलक करके देना ठीक है, न कि अपने आप को पात्र बनाकर किये कराये पर पानी फेर देना।"[2] 'मुर्दों का टीला' में अधिनायकवाद एवं राजतन्त्र के स्थान पर गणतन्त्र-शासन के लिए आग्रह, साम्राज्यवाद के प्रति घृणा, दास-प्रथा के विरोध, कुलीनता के दम्भ पर प्रहार, नारी-स्वतन्त्रता के समर्थन, समता-सिद्धांतों एवं मानवता की वकालत, शोषित-पीड़ित लघुता के प्रति संवेदनशीलता तथा भावी क्रांति के संकेतों में लेखक की प्रगतिवादी विचारधारा देखी जा सकती है। यह विचारधारा आरोपित-प्रचारित नहीं, प्रायः व्यंजित तथा कहीं-कहीं पात्रों द्वारा प्रसंगानुसार कथित है—इसे पात्रों, परिस्थितियों तथा घटनाओं का बल मिला है। उदाहरणतया, उपन्यास का सर्वप्रमुख पात्र मणिबन्ध सम्राट बना हुआ अपने आभिजात्य-अधिकार के दम्भ से अभिभूत है। उसने अनेक दास-दासियों का क्रय कर रखा है। उसने उनपर अमानुषिक अत्याचार किए है। उपन्यास के अन्त में, बड़ी चामत्कारिक विधि से यह रहस्य खुलता है कि वह स्वयं एक दास भिखारी, विश्वजित, का पुत्र है। परिस्थिति-विशेष में जब

१. १४वाँ परिच्छेद। २. आमुख, पृ० 'ज'।

विश्वजित को ज्ञान होता है कि मणिबन्ध उसका पुत्र है, तो उस समय उसके आवेशज चिन्तन में ही कुलीनता के दम्भ की विगर्हणा हुई है :—"निस्सन्देह वह उसी का पुत्र था। मणिबन्ध विश्वजित का पुत्र था। आज तक सन्देह था। आज वह पूरा हो गया। अब कोई संशय बाकी नहीं। किन्तु कुलीन ! रक्त की कुलीनता का यह-दंभ कितना भीषण दुराचार है इस लोलुप मनुष्य का, जो अपने आप को न्याय देने का प्रयत्न करता है ? फिर शब्द कानों में गूँज उठा—कुलीन !!!

"और विश्वजित मन ही मन हँसा। कुलीन ! वह स्वयं ही कुलीन नहीं था"।[1]

इस तरह कुलीनता के दम्भ के अनावरण का उद्देश्य पात्रों के जीवनचक्र से उद्भूत, कथा-कौशल का अंग बन कर आया है। इसी तरह लेखक ने दास-प्रथा तथा उच्चवर्गीय अत्याचारों का विरोध एवं वर्ग-संघर्ष की झलक भी कलात्मक रूप से दी है। इसके लिए एक तो उसने दासों के दारुण पीड़न-शोषण के चित्रण से संवेदना जागृत की है,[2] दूसरे, अनुभवहीन सरल दास-पात्रों से—उनके सहज विश्वासानुसार—वर्ग-संगठन के विरोध में तथा अनुभवों से सीखे प्रबुद्ध दास-पात्रों से अपने पक्ष-समर्थन में तर्क कराए हैं; जिससे लेखक का मन चरित्रानुमोदित होने से अनतिरंजित स्वाभाविकता से सामने आया है। उदाहरणतया, हेना और नीलूफर दोनों दासी हैं और परस्पर सखीवत् व्यवहार करती हैं। नीलूफर अपने सौन्दर्य एवं कुशलता से धनी मणिबंध की प्रेयसी बन जाती है। नीलूफर एक धनी तथा शक्तिशाली की कृपापात्र बनकर अपनी ही सखी तथा समवर्गीय दास-पात्रों से, एक स्वामिनी के अधिकार से, कुव्यवहार करने लगती है। किन्तु जब किसी दूसरी स्त्री के कारण, वह मणिबन्ध से उपेक्षित-तिरस्कृत होती है और उसका जीवन संकटापन्न हो जाता है, तब उसे दासों की निस्सहाय करुणावस्था की वास्तविक अनुभूति होती है। वह उन्हीं दास-पात्रों से पहले लज्जा का अनुभव करती है और बाद में उनमें छिपे-छिपे आपसी संगठन तथा उच्च वर्ग के विरुद्ध विद्रोह के बीज बोने का प्रयास करती है। अन्य दास उसकी नहीं मानते क्योंकि वे अपने ऊपर होने वाले अत्याचारों को उच्चवर्गीयों के सहजाधिकार के रूप में लेते हैं; जैसे, पहले-पहल हेका कहती है—"दास तो दास की शक्ति नहीं है।"[3] इसके विपरीत नीलूफर समझाती है—"..स्वामी के इंगित पर मरने वाला दास मनुष्य नहीं, कुत्ता है क्योंकि स्वामी और दास का एक ही स्वार्थ कभी भी नहीं हो सकता.."।[4] दो-एक अन्य अवसरों पर नीलूफर कहती है—"याद रख कि हम सब दास एक से हैं, संसार में हम सब एक से हैं।"[5]

१. पृ० ४२७। २. पृ० १००, १४५। ३. पृ० ९८। ४. पृ० १००।
५. पृ० ३८६।

तथा " न स्त्री बुरी होती है, न पुरुष। धन बुरी वस्तु होती है। अधिकार बुरी वस्तु है। धन और अधिकार को ठीक कर दो, फिर संसार में कुछ भी बुरा नहीं है.." ।[1] यह कथन उस समय का है जब एक राजकुमारी को निस्सहाय अवस्था में, भूख की ज्वाला को शांत करने के लिए, धनी लोगों की वासनाओं का शिकार होना पड़ता है। एक दासी के रूप में नीलफर को स्वयं भी ऐसे काम करने पड़े थे। तात्पर्य यह है कि ऐसे कथन जीवन-संघर्षों में पगे पात्रों के मुख से, विशिष्ट परिस्थितियों में कहलाए गए हैं। शारीरिक दृष्टि से अपार शक्तिशाली दास अपाप स्वामी की बड़ी मार को निस्सहाय पशु की तरह सहन करता है और पशुओं के उदाहरणों में सीमित चिंतन ही कर पाता है।[2] इसके विपरीत लेखक ने दासों की भावी क्रांति का संकेत एक ऐसे पात्र के मुख से दिया है, जो पैतृक सम्पत्ति के बलपर नाना प्रकार की विलासिता को भोग चुकने के बाद भाग्यवश भिखारी बन चुका है—जो उच्चवर्गीयों की खोखली नैतिकता तथा कुकृत्यों से भली-भाँति परिचित है—और जो एक-साथ-कुलीन भी है और भिखारी भी। यह विश्वजित नामक पात्र महानगर के नागरिकों से कहता है—".. अपने को सभ्य कहते हुए तुमने मनुष्य को दास बनाया है और तुम समझते हो यह दास तुम्हारी खोखली सभ्यता की रक्षा कर सकेंगे? जिस दिन इन दासों में मनुष्यता जाग उठेगी उस दिन ये तुम पर एक होकर वज्र की भाँति टूट पड़ेंगे" ।..[3] इस तरह लेखक ने अपने प्रगतिवादी दर्शन को एक पात्र की निजी अनुभूति के रूप में मुखरित किया है। और भी अनेक स्थलों पर यह विश्वजित लेखक की आत्माभिव्यक्ति का माध्यम बना है परन्तु उसने ये विचार विलासिता में मग्न मरणोन्मुख महानगर को सचेत करने के लिए दिये हैं—चरित्रानुमोदन के अतिरिक्त लेखक अनुकूल परिस्थिति भी पैदा कर सका है। अनेक वर्षों से ध्वंस पड़े हुए महानगर को क्रमशः ध्वंसोन्मुख दिखाया जा सकता था और उसके लिए नागरिकों में किन्हीं बुराइयों तथा उनसे रक्षा करने के लिए किन्ही उपदेशक पात्रों की सृष्टि की कल्पना भी सहज ही की जा सकती थी और यही रांगेय राघव ने किया है। लेखक ने भावी क्रांति के संकेत देते हुए भी किसी मानवीय प्रयत्न से—मानों किसी वर्ग-विशेष की क्रांति से—नगर को ध्वस्त होता हुआ नही दिखाया, बल्कि दैवी-प्रकोप से यह कार्य किया है। लेखक ने तत्कालीन लोगों के विश्वास के उपयुक्त स्थान-स्थान पर प्रकृति-कोप और तज्जनित भय को प्रदर्शित किया है। लेखक के विचारों के वाहक आदर्श पात्र भी देवताओं के कोप की भाषा में बात करते है, आधुनिक वर्गीय भाषा में नहीं; जैसे, उपन्यास के अन्तिम पृष्ठों में लेखक ने विल्लीभित्तूर गायक के मुख से अपना विचार-सार इस प्रकार दिया है:—"मेरे लिए कोई देश अपना नही, कोई पराया नहीं, जहाँ

१. पृ० २३६। २. पृ० १४३-४५। ३. पृ० २६०।

संतोष से मनुष्य मुस्कराता है, वहीं मेरा स्वर्ग है। जहाँ असाम्य और विद्वेषों में घृणा हँसती है, वहीं मेरी भावनाओं की टक्कर का क्षेत्र है। यह पृथ्वी किसी की अपनी नहीं। मानव के सुख के लिए वसुन्धरा अपनी विभूति को फैलाये पड़ी है। स्वतंत्रता मेरा ध्येय है। अपने दुख को दूसरों के दुखों को सामने खो देना मेरा कर्तव्य है। मनुष्य को सहायता देना मेरा एकमात्र धर्म है और पृथ्वी को स्वर्ग की कल्पना ही न रखकर, पृथ्वी पर स्वर्ग उतार लाने का श्रम मेरे महादेव की शक्ति है"।[१]-- यहा 'धर्म', 'सतोष', 'स्वर्ग', तथा 'महादेव की शक्ति' आदि की शब्दावली में विश्व-ममता, समष्टि-साधना, तथा स्वतन्त्रता की बात कही गई है। जिसने ये शब्द कहे है वह पीड़ित दासों, निराश्रित द्रविणों तथा उन नागरिकों का सेनापति है, जो अत्याचारी मणिबंध के विरोध में उठ खड़े हुए हैं। उसने अपने व्यक्तिगत प्रेम-स्वप्नों की दुनिया को छोड़कर समग्र मानवता से प्रेम करने की ठानी है। लेखक ने बड़ी कुशलता से शृंगारिक प्रतिस्पर्धियों को न्याय-अन्याय के लिए लड़ने वालों का रूप दे दिया है। यदि 'मुर्दों का टीला' के संघर्ष का सार दिया जाए तो कहा जा सकता है कि यहां मणिबन्ध ने, धूर्त विदेशी आमेनरा की सहायता से, गणतन्त्र शासन-विधान के स्थान पर अपने साम्राज्य या प्रभुत्व की प्राप्ति का प्रयत्न किया है; और उसे अपना मार्ग दासों एवं सामान्य जनता से संघर्ष करते हुए, उनके शवो के भीतर से, बनाना पड़ा है। अन्त की प्रलय-घटना साहित्यिक न्याय के रूप में आती है—जो ऐतिहासिक तथ्य को चरितार्थ करने की दृष्टि से अनुकूल कल्पना है—और उसमें सभी पात्र मारे जाते हैं। निष्कर्षतः, लेखक ने अपने प्रगतिवादी विचारों का समावेश तात्कालिक परिस्थितियों का ध्यान रखते हुए, अनुकूल औपन्यासिक विधान के साथ किया है।

'मुर्दों के टीला' की वर्णन-बहुलता तथा विचार-तत्व को कथावस्तु के आकर्षण ने सम्भाल लिया है। इसकी कथावस्तु सुशृंखलित है। आद्यन्त कथानक मणिबन्ध की ऐसी जीवन-गाथा है, जो अपनी व्यापकता में महानगर की समग्र गति-विधि को समेट सकी है। लेखक ने बड़ी कुशलता से देवी प्रकोप द्वारा महानगर के ध्वंस को मणिबन्ध के अत्याचारों से सम्बद्ध कर दिया है। इस तरह कथानक जितना मणिबन्ध से सम्बद्ध है, उतना ही महानगर मोहन-जो-दड़ो से भी। केवल एक प्रसंग—आर्य-द्रविड़-संघर्ष-में कथानक नगर से बाहर गया है किन्तु इसके परिणाम ने भी नगर और मणिबन्ध को प्रभावित किया है। वस्तुगठन में लेखक ने आधुनिक मनोवैज्ञानिक साधनों का प्रचुर उपयोग किया है। उपन्यास के लगभग सभी प्रमुख पात्रों—मणिबन्ध नीलूफर, हेका, अपाप, वेणी, गायक, विश्वजित आदि—का विगत-जीवन कुशलता से, कथा-प्रवाह के साथ, आया है। ये पूर्ववृत्तांत प्रायः पात्रों के चरित्र-स्पष्टीकरण में,

१. पृ० ४०७।

कथानक में उपयुक्त स्थान पर, लेखक की व्याख्या के रूप में[1] आए हैं, कुछ अन्य स्थलों पर सम्बन्धित पात्रों के संवाद के रूप में[2] और अधिकतर पात्रों के मन से छन कर स्मृतियों के रूप में – कहीं घटना से उद्बद्ध मानसिक संघर्ष या चिंतन के रूप में[3] और कहीं चेतना-प्रवाह पद्धति के माध्यम से।[4] इस सम्बन्ध में लेखक का मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण निम्न पंक्तियों से स्पष्ट हो जाएगा, जो मणिबंध के चरित्र-विश्लेषण की दृष्टि से कही गई है—"पिछले दिनों की, वर्षों पूर्व की, बातें एक-एक करके आँखों के सामने से गुजर गईं। और उन स्मृतियों ने हृदय पर ऐसे अमिट चिह्न छोड़े जो गर्म धातु लेकर माँस के दागने पर···

"जिन बातों को मनुष्य भूल जाना चाहता है, वही उसे बार-बार क्यों याद आती हैं, क्या मनुष्य का अतीत एक वह भयानक पिशाच है जो उसके भविष्य में वर्तमान का पत्थर बनकर पड़ा रहता है" ?[5] इससे कथानक का संगठन पूर्वयोजित कृत्रिम नहीं जान पड़ता और उसमें मनोवैज्ञानिक स्वाभाविकता के साथ पात्रों के जीवन का सहज प्रवाह बना रहता है। इसके अतिरिक्त ऐसे कथा-गठन से उपन्यास में रहस्य-तत्व का समावेश हो गया है, जिससे पाठकों की उत्सुकता सतत सजग रहती है। इसके अतिरिक्त अन्य साधनों से भी रहस्य-तत्व का विनियोग हुआ है। संक्षेप में ये सारे निम्नस्थ हैं—१. प्रवेश करते ही पात्रों का परिचय नहीं दिया गया—वे धीरे-धीरे स्पष्ट होते है। अथवा पात्र का नाम लिए बिना उसे किसी घटना के लिए आगे बढ़ा दिया गया है और बाद में उसका नाम लिया गया है।[6] २. पात्रों के विगत-जीवन को सप्रयोजन बाद में दिया गया है। यह गत-जीवन भी एक-साथ नहीं दिया गया—स्थान-स्थान पर इसकी झलक मिलती रहती है। ३. कुछ पात्रों के जीवन को विशेष रूप से छिपाया गया है; जैसे, यह उपन्यास के अन्त में ही स्पष्ट होता है कि मणिबन्ध विश्वजित का लड़का है और वह कुलीन भी नहीं। यह उल्लेखनीय है कि पाठकों की उत्सुकता-उद्बुद्धि तथा कथा-संगति के लिए लेखक ने इस रहस्य का पूर्वाभास पहले ही दे दिया है। विश्वजित मणिबन्ध से पूछता है—"महाश्रेष्ठि! तेरा बाप कौन था ? तू क्या कहीं का है" ?[7] ४. कहीं-कहीं कथाकाल-विपर्यय से भी यह तत्व लाया गया है; जैसे दसवें परिच्छेद के प्रारम्भ में हारे हुए विस्थापित, द्रविड़ महानगर की ओर आते दिखाए गए हैं और उनके आर्यों से पराजित होने की कथा बाद में कही गई है। ५. कुछ घटनाओं के वर्णन में भी रहस्य रखा गया है; जैसे, नीलूफर

---

१. आमेनरा का गत जीवन, पृ० ६५। २. पृ० २५७, २६७। ३. वेणी-गायक की पूर्व-कथा, पृ० ४७; हेका, नीलूफर तथा अपाप की पूर्वकथा, पृ० ५३-५७।
४. पृ० १७९-८०। ५. पृ० १७९। ६. पृ० ४२२। ७. पृ० १४२।

को कतल करने की असफल घटना ।[1] ६. कहीं-कहीं भेस बदले हुए पात्रों से भी रहस्य-तत्व की सृष्टि हुई है ।[2] 'मुर्दों का टीला' के कथानक में नए-नए चमत्कारपूर्ण प्रसंगों तथा नई-नई कुतूहलोत्पादक रोमांचकारी घटनाओं की सृष्टि भी बराबर होती रही है, जो कथानक की रोचकता का बड़ा आधार है। इस उपन्यास के रोमांचकारी वातावरण का अनुमान इस तथ्य से सहज ही लगाया जा सकता है कि यहाँ अनेक पात्रों की हत्या हुई है, या उनकी हत्या के विफल प्रयत्न हुए हैं। इस हत्या-कार्य में पुरुषों ने ही नहीं, स्त्रियों ने भी भाग लिया है। इन नूतन प्रसंगों तथा घटनाओं को लाने में लेखक ने आकस्मिकता के चमत्कार से पाठकों को स्थान-स्थान पर चौंकाया है। घटनाएँ बहुधा स्वाभाविक है, फिर भी अस्वाभाविक स्थल भी ढूढ़े जा सकते हैं; जैसे, नीलूफर-हेका का विक्षुब्ध भीड़ से निकल भागना अस्वाभाविक है ।[3] ये स्थल खटक सकते हैं किन्तु आक्रांत नहीं करते, अतएव रोचकता में विशेष बाधक भी नहीं। यह उल्लेखनीय है कि कथानक में जितनी रोचकता है, उतनी मार्मिकता नहीं; फिर भी, इसका अभाव भी नहीं ।[4]

कथानक की शृंगारिकता भी रोचकता का कारण है। एक तो मणिबंध-वेणी-नीलूफर तथा [illegible] के शृंगारिक त्रिकोणों के संघर्ष से कथा में उत्सुकता-कौतूहल के तत्व स्थिर रहे हैं; दूसरे, लेखक ने शृंगारिक प्रसंगों का रस लेकर वर्णन किया है। कहीं-कहीं ये प्रसंग आवश्यकता से अधिक मुखर हैं ।[5] शृंगारिक त्रिकोणों से विकसित होकर भी कथानक के समष्टिपरक मानवीय धरातल को क्षति नहीं पहुँची--यही इसकी महत्ता है।

कथानक की गति-सामान्य है—पहले कुछ मंद है और उत्तरोत्तर तीव्र होती गई है। लेखक की वर्णन-विवरण-रुचि की बहुलता ने कथानक की गति को कहीं-कहीं शिथिल किया है,[6] फिर भी रोचकता को विशेष क्षति नहीं पहुँची।

'मुर्दों का टीला' में जटिल तथा गतिशील पात्रों को लिया गया है। इसलिए उनके जीवन के विविध मोड़ों, या समय-समय पर उनकी अनिश्चित प्रतिक्रियाओं में भी एक मनुष्य को समझने की उत्सुकता बनी रहती है। दूसरे, इस उपन्यास के प्रमुख पात्र सामाजिक समस्याओं के उद्घाटन के लिए वर्गगत विशेषताएँ रखते हुए भी मुख्यतः व्यक्ति-चित्र हैं। व्यक्ति-चित्र किसी एक चौखटे में बँधे हुए नहीं होते और उनमें रोचक निर्बन्धता होती है। इस तरह इस उपन्यास में चरित्र-चित्रण विषयक रोचकता भी है। मणिबन्ध, नीलूफर, विश्वजित, वेणी, गायक, हेला, अपाप सब

---

१. पृ० १४२। २. पृ० १५०-५३। ३. पृ० १३८। ४. पृ० २६७।
५. पृ० १७८। ६. अहिराज के उत्सव का ब्यौरेवार वर्णन, पृ० २३८-४१।

गतिशील पात्र हैं । इन के चरित्र-विकास में संगति है किन्तु इनके भावी विकास का पूर्व-अनुमान सहज ही नहीं किया जा सकता । दूसरे, एक ही शब्द में इनके चरित्र को व्यक्त करना भी कठिन है । उदाहरणतया, जैसाकि नीलूफर स्वयं कहती है, वह (दूसरों के लिए) सदैव विस्मय का कारण रही है ।[1] पहले की निस्सहाय क्रीत दासी, जीवन-विकास के बीच में विलासिनी तथा अधिकार-अहंकारिणी है और धीरे-धीरे अन्त में क्रांतिकारिणी-सी बन जाती है । मणिबन्ध की परिवर्तनशीलता भी क्रमिक है—वह वेणी को आकर्षित कर नीलूफर की हत्या का प्रयासी हो जाता है किन्तु स्थान-स्थान पर उसे नीलूफर की याद सताती रहती है ।[2] मणिबन्ध निष्ठुर-क्रूर है किन्तु कुछ स्थलों पर उसे भी आत्मग्लानि होती है । वह कभी भिखारी और कभी दास सारथि पर द्रवित हो उठता है ।[3] उसका हृदय भी तुमुल अन्तर्द्वन्द्व से आक्रान्त हो जाता है ।[4] सभी पात्र सजीव है । इनकी सजीवता परिस्थितियों से प्रभाव-ग्रहण की क्षमता मे है । उदाहरणतया, अपने दासत्व के संस्कारों से अधिकतम जड़ीभूत तथा सरलतम पात्र यहाँ अपाप है । किन्तु जागरूक नीलूफर के प्रोत्साहन, मणिबन्ध की निरन्तर निष्ठुरता तथा अपनी प्रेयसी-पत्नी हेका पर होने वाले बलात्कार के बार-बार प्रयत्नो से वह भी परिवर्तित हो उठता है और विद्रोह करता है । उसके दैत्याकार शरीर के भीतर कितना सुन्दर हृदय है ! हेका के चले जाने पर वह कहता है :—"अपाप और हेका की वह कड़ियाँ समय ही तोड़ सकेगा, मनुष्य नही ..।"[5] लेखक के चरित्र-चित्रण का सौन्दर्य पात्रों को सगत-क्रमिक विकास देने मे है जिसमें उसने अन्तर्बाह्य कारण-तत्वों का समुचित उपयोग किया है । संक्षेप में पात्रों के चरित्र-विकास के कारण-तत्व निम्नस्थ है—१. संस्कार, २. काम, ३. सम्पत्ति, ४. विपत्ति, ५. अधिकार-प्राप्ति, ६. सम्पर्क, ७. अवस्था, ८. वात्सल्य । असीम शक्तिशाली अपाप और कुशल हेका अपने दासत्व के संस्कारों से बँधे होने के कारण ही मणिबन्ध के अत्याचार और अक्षयप्रधान के अनाचारों को सहते रहते है । नीलूफर के संस्कृति-सम्पर्क से ही इनमें परिवर्तन आ पाता है । दासी नीलूफर भी मणिबन्ध के सम्पत्ति-सुख तथा स्वामिनी बनने की अधिकार-मादकता मे अपने पूर्व-समवर्गीय दासियों से दुर्व्यवहार करने लगती है और विपत्ति-ग्रस्त होने पर पुनः संवेदनशील हो उठती है । गायक का संस्कृति-सम्पर्क भी उसे विवेकोन्मुख करता है । स्वयं गायक भी नीलूफर के सम्पर्क से यथार्थोन्मुख होता है ।[6] मणिबन्ध सम्पत्ति और अधिकार का बल

१. पृ० ३८० । २. पृ० १७२-१८४ । ३. पृ० १७८ ४. ग्यारहवाँ परिच्छेद ।

५. पृ० ३७५ ।

६. गायक स्वीकार करता है—"यदि तुम (नीलूफर) न होती तो शायद यह अभागा उसी निर्जीव नींद में बेसुध पड़ा रहता ।", पृ० २७१ ।

पाकर जहाँ अहंकारी हो उठता है और नीलूफर और वेणी के बाद चन्द्रा को अपनी बनाने की सोचता है, वहाँ वह मिस्र में की गई अपनी उच्छृंखल विलासिता में भी नहीं बहता—उच्चधिकारों की मर्यादा उसे एक पान वाली साधारण वेश्या के पास जाने से रोकती है। उसका समस्त जीवन काम और अधिकार-लालसा की पूर्ति में बीतता है। ऐमन-रा का कुसम्पर्क उसकी दुर्वृत्तियों को उत्तेजित करता है।[1] उपन्यास के अन्त में जब वह अनजाने अपनी पिता की हत्या करता है—और प्रकृति का तीव्र क्रोध उस पर और उसके साम्राज्य पर टूट रहा होता है—तब वह आत्मग्लानि से अभिभूत हो उठता है—"और मणिबन्ध को बार-बार इच्छा हुई कि पत्थर पर सिर पटककर आत्महत्या कर ले, कहाँ है उसका साम्राज्य? कहाँ उसकी अधिकार मादकता? वह पापी है, वह हत्यारा है..उसने अपने पिता की हत्या की है . ।"[2] पिता की हत्या का भागी होने से, उसके संस्कार हिल उठते हैं। अन्त में, वेणी के सात्विक संस्कार भी ठोकर खाकर उद्‌बुद्ध हो उठते हैं। विश्वजित सम्पत्ति-सुख में वज्रविलासी होता है किन्तु विपत्ति-ग्रस्त होने पर विरक्त तथा विवेक-सम्पन्न हो उठता है। मणिबन्ध की क्रूरता का घोर विरोधी तथा क्रांतिकारी उपदेष्टा होने पर भी विश्वजित अन्त में मणिबन्ध की हत्या करने से विचलित ही नहीं हो जाता, वात्सल्याभिभूत होकर हाहाकार करने लगता है[3]—उससे यह स्पष्ट हो जाता है कि मणिबन्ध उसका पुत्र है। इस तरह पात्रों का विभिन्न कारणों से अनेक रूपात्मक चरित्र-परिवर्तन हुआ है। यह अपने-आप में रोचक भी है और स्वाभाविक-मनोवैज्ञानिक भी। इसके अतिरिक्त यह सार्थक भी है—अन्त में मणिबन्ध की आत्मग्लानि तथा वेणी का विरोधी परिवर्तन पापियों की हार तथा प्रकृति के तिरस्कार को प्रकट करता है। यह असत् पर सत् की विजय के उद्देश्य का द्योतक है। अन्य दुर्वृत्तिप्रधान पात्रों आमेनरा तथा अक्षय प्रधान—की हत्या हो जाती है।

पात्रों के गति-विकास में स्थान-स्थान पर अन्तर्द्वन्द्वों की सृष्टि हुई है, जो कहीं-कहीं विशेष मार्मिक है। अन्तिम परिच्छेद ऐसा ही है। उसमें मणिबन्ध, वेणी, तथा विश्वजित सबमें परिवर्तन हुआ है और परिवर्तन-क्रम में मार्मिक अन्तर्द्वन्द्वों की सृष्टि भी। कुशल उपन्यासकार अन्त को मार्मिक बनाने का प्रयत्न करते हैं। 'मुर्दों का टीला' में भी यह प्रयत्न लक्षित होता है।

लेखक ने पात्रों के अन्तःस्वरूप का विशेष चित्रण किया है किन्तु बाह्य-स्वरूप का नहीं। पात्रों के नामकरण, द्वारा चरित्रोद्‌घाटन की प्रवृत्ति किसी-न-किसी रूप में अवश्य मिलती है। कहीं लेखक ने पात्रों के नामकरण का उपयोग किया है और कहीं उसको अभिधात्मक रूप में चरितार्थ करने का प्रयत्न। उदाहरणतया, एक स्थान

१. पृ० ४२४। २. पृ० ४३४। ३. पृ० ४३२-३४।

पर मणिबन्ध एक दासी को बुलाता है और उसका नाम पूछता है। उसके 'तारा' कहने पर मणिबन्ध के नयन अपने आप वातायन से बाहर जाकर आकाश के नक्षत्रों पर 'अंटक' गये। "वे बहुत दूर हैं और समझते है कि टिमटिमाकर वे अपनी ओर बुला रहे है, किन्तु मनुष्य की आत्मा है जो चमक रही है और उनके पास जाने के पहले मृत्यु प्राप्त कर लेना आवश्यक है।"[१] यहाँ लेखक ने नाम का उपयोग पात्र के मानसिक अध्ययन के लिए किया है। इसी प्रकार एक और दासी का नाम है कोकिला। हेका उसे पुकारते हुए कहती है—"ओ कोकिला ! क्या वसन्त का सन्देश सबको ही सुना कर मानोगी ?"—यह कहकर वह उसे बात को फैलाने से वर्जित करती है।[२] अन्यत्र एक अन्य पात्र भी अपने नाम के अर्थ का उपयोग करता है; देखिए :—"मैं लुट गया। नाम से अराल हूँ अवश्य, किन्तु आज बिल्कुल सीधा हो गया हूँ।"[३] मणिबन्ध नाम का उपयोग तथा व्याख्या अनेक स्थलों पर हुई है, जैसे परिस्थिति-विशेष में मणिबन्ध सोच रहा है—"मणिबन्ध ! जो स्वर्ण से भी मूल्यवान मणियों का बँधन है। यदि वह सब त्याग दे ! तो उसकी जगह वे अनेक कुत्ते ले लेंगे जो मणिबन्ध बनने के लिए जीभ निकालकर हाँफते हुए भाग रहे हैं किन्तु क्या मणिबन्धत्व इस प्रकार समाप्त हो जायगा ?.."[४] नीलूफर को भी प्रारम्भ में अभिमान होता है कि उसने मणिबन्ध—मणियों के बन्धन—को अपनी झकार में बद्ध कर लिया था।[५] वैसे भी उपन्यास में मणिबन्धन को विशेष सम्पत्तिशाली के रूप में चित्रित किया गया है। मणिबन्ध का पहला नाम सिंधुदत्त था क्योंकि उसे सिंधु ने दान दिया था—मछेरों ने उसे समुद्र के तीर पर पाया था।[६] मिश्री और हिन्दी पात्रों के नामों में स्पष्ट अन्तर है। मिश्री नाम है—आमेन-रा, अपाप, नीलूफर आदि। नीलूफर का नाम उसके अनुरूप है। एक स्थान पन 'श्नीन' शब्द सुनकर मणिबन्ध को नीलूफर (कमल) की याद आ जाती है; लिखा है—"मणिबन्ध के हृदय में वह कमल फिर खिल उठा। कीचड़ में से पैदा होने पर भी उसमें मादक सुरा थी, मनोहर रूप सूर्य यदि उगता हो तो कमल उसकी रश्मियों के संमुख अपने आप अपनी पंखुरियाँ खोल देता है, और यह डूबते रवि का अस्तप्राय—मन्द-मन्द लय होता आलोक, वह क्या स्पंदित कर सकेगा इस कमल को, जो वूढ़े को अपने आप छोड़कर निष्ठुरता से बन्द हो जाता है।"[७] घर-घर बिकने वाली नीलूफर इस कथन को सिद्ध करती है—वह आदर्श-पात्र गायक की पत्नी बन जाती है, किसी धनी-विलासी की रखेल नहीं। इस तरह लेखक ने नाम-विशेष को सुनाकर समानार्थक-से दूसरे नाम से सम्बन्धित स्मृतियों को उभार कर मनोवैज्ञानिकों की शब्द-सहस्मृति परीक्षा का रूपातरित

१. पृ० १८३। २. पृ० २०१। ३. पृ० २१० ४. पृ० ११०।
५. पृ० ३। ६ पृ० ४२५। ७. पृ० १७२-७३।

प्रयोग-सा किया है। इससे पात्र के भीतरी संघर्ष के अनावरण में सहायता ली गई है। अपाप नामकरण उस पात्र के रूप-वर्ण के अनुकूल हुआ है; जैसे, एक स्थान पर हेका कहती है—"सचमुच यह अपाप है, अंधकार का दैत्य।"[1] 'विश्वजित' पात्र का नामकरण उसकी प्रारम्भिक अवस्था का द्योतक है :—"कौन नहीं जानता कि एक दिन यह भिखारी मोअन-जो-दड़ो का महाश्रेष्ठि विश्वजित था जिसका व्यापार इतना विस्तृत था कि लोग सुनकर सिर झुका देते थे।[2]

लेखक ने मुख्य पात्रों के प्रारम्भिक संस्कारों की झलक देने के लिए स्थान-स्थान पर जो पूर्वकथाएँ या पूर्व-वृत्त दिए हैं, उनका उल्लेख किया जा चुका है। इस पूर्वकथात्मक प्रणाली के अतिरिक्त लेखक ने पात्रों के अंतरंग चित्रण के लिए मनोवैज्ञानिक उपन्यासकारों की स्वप्न-पद्धति तथा चेतना-प्रवाह-पद्धति[3] का भी किंचित् उपयोग किया है। पात्रों के अचेतन की उथल-पुथल को इस स्वप्न-पद्धति से मूर्त किया गया है। नीलूफर बड़े प्रयत्नों के बाद गायक का प्रेम और विश्वास पाने में समर्थ होती है, फिर भी, उसके अचेतन में यह भय समाया हुआ है कि कहीं मणिबन्ध तथा वेणी के बाधक प्रयत्नों से वह गायक को खो न दे। उसके दोनों स्वप्नों में यही बाधाएँ तथा भीतर की आशंकाशीलता प्रतीकों के माध्यम से अभिव्यक्त हुई है।[4]

लेखक ने अपनी आलोचनाओं, घटनाओं, संवादों तथा पात्रों के एक-दूसरे के सम्बन्ध में व्यक्त उद्गारों—सभी साधनों—से चरित्र-चित्रण में सहायता ली है। फिर भी लेखक ने पहले साधन का कम उपयोग किया है—यहाँ चरित्र कथन की अपेक्षा चरित्र-व्यंजना अधिक हुई है। यह उपन्यास यद्यपि वर्णन-बहुल है, तथापि इसमें सभी प्रकार के संवादों का समावेश हुआ है। पात्रों के चरित्र की स्वाभाविक व्यंजना के लिए लेखक ने पात्रों के स्वभाव, मनःस्थिति, परिस्थिति, वर्ग तथा शिक्षा-संस्कारों आदि के अनुसार उक्ति के सामंजस्य का प्रायः ध्यान रखा है। एक उदाहरण लीजिए जिसमें वर्ग, मनःस्थिति तथा परिस्थिति के अनुकूल अनुभावों के साथ संवाद का सौन्दर्य देखा जा सकता है। दासों पर अत्याचार करने वाले, स्वामी के मुंह-लगे नौकर की किसी दास ने हत्या कर दी है। एक अन्य दास, स्वामी को इस कांड की सूचना देने के लिए आता है; देखिए—

कुछ समय बाद एक दास ने भीतर प्रवेश किया।

"महाप्रभु !" दास ने हाँफते हुए कहा।

"क्या है ?" मणिबन्ध व्याघात से कुढ़ गया। वैणी (प्रेयसी) सामने बैठी थी।

---

१. पृ० ८।　　२. पृ० १५।　　३. ११वाँ परिच्छेद।

४. पृ० २५८-५६ तथा २६६-७०।

"महाप्रभु !" दास ने काँपते हुए स्वर में फिर कहा।

"क्या है ? कह न" मणिबन्ध ने झुंझलाकर कहा—'मूर्ख ! कहता कुछ नहीं, बस महाप्रभु ! महाप्रभु !"

दास काँप रहा था। भय से उसके मुंह से फिर निकल गया—महाप्रभु !

"दास !" मणिवन्ध गरज उठा। "लगता है आज तेरा सिर तेरे कंधों पर बहुत भारी हो गया है ?"

दास नीचे लोट गया। मणिबन्ध को उसकी यह अवस्था देखकर विस्मय हुआ उसने देखा वह अत्यन्त डरा हुआ था। अतः उसने संयत होकर सात्वना देते हुए कहा—"क्या है दास ? क्या बात है ?"

"मुझे अभय दीजिए प्रभु ! अभय दीजिए।" दास ने गिड़गिड़ाकर कहा।

वेणी ने कहा—"निर्भीक होकर कह दास। क्या कहना है तुझे ?"

"स्वामिनी ! मैंने देखा है ! अभी देखकर आया हूँ..."

"क्या देखकर आया ?"

"प्रभु ! रक्त..."

"रक्त ? वेणी ने पूछा, कैसे निकला ?"

"नहीं देवी ! हत्या !"

मणिबन्ध ने सुना और हठात् उठकर खड़ा हो गया।

"हत्या !!" मणिवन्ध ने गम्भीर गर्जन किया, 'कैसी हत्या ! किस की हत्या !!'...उसने फिर कहा—"दास ! शीघ्र कह !"

"प्रभु ! दास कक्ष के प्रांगण में अक्षय प्रधान . "

"अक्षयप्रधान ?"

"कहने दीजिए प्रभु !" वेणी ने कहा—"मूर्ख डर गया है

मणिबन्धु ने चुप होकर देखा। दास ने फिर कहा—"अक्षय प्रधान की हत्या हो गई है। उसका सिर फट गया है और रक्त से पक्का प्रांगण भींग गया है..."

"सच कह रहा है तूं' मणिबन्ध ने फिर पूछा।

"देव मैं निरपराध हूँ।" दास की गिड़गिड़ाहट से मणिबन्ध को घृणा हो गई। वेणी चौंक उठी...।"[1]

स्पष्ट है कि यह संवाद जहाँ चरित्रानुकूल है वहाँ कथा के लिए गत्यात्मक भी। पात्रों की मनःस्थिति संवाद की भाषा-शैली तथा अनुभावों में पूर्णतया व्यक्त है। अपने कलात्मक दृष्टिकोण के अनुकुल, लेखक ने दासों में गुणवानों को भी देखा है। उसने एक 'लाखों में एक' श्रद्धेय दास-पात्र बयाद की भी झलक दी है।

---

१. पृ० ३३६-३७।

वह जब मणिवन्ध को मिलने आता है तो पात्रों की शिक्षा-संस्कृति के अनुकूल, उनकी शिष्टाचारिक मर्यादा उनके वाक्-कौशल में इस प्रकार प्रकट हुई है :—

उसी समय द्वार पर एक वृद्ध दिखाई दिया।

दास ने कहा—श्रीमान् बयाद !

मणिबन्ध ने द्वार पर खड़े होकर कहा—

स्वागत श्रीमान् ! स्वागत।

वह हाथ खोलकर मुस्करा रहा था। उसने आगे बढ़कर बयाद का हाड़ पकड़ लिया और कहा—मेरे भाग्य ! कब कब ऐसा सुअवसर आता है।

बयाद ने अपनी सफेद भौं उठाकर कहा—दास द्वार पर है। महाश्रेष्ठि उपहास न करें।

मणिबन्ध ने मुस्करा कर कहा—दास तो वह है जो आज तक प्रतीक्षा करता रहा है।[1]

पात्रों की मनःस्थिति तथा स्वभाव को उनकी संवाद-शैली से भी व्यंजित किया गया है; जैसे सुरायायी व्यक्तियों के स्फुट-विकृत कथनों को मूर्तिमान किया गया है।[2] ध्यान-मग्न पात्रों के चौंक कर बोलते हुए असंगत कथनों को भी लक्षित किया गया है। जैसे; मणिवन्ध ने कहा—'ओह ! हाँ ! नहीं, नहीं मुझे भूख नहीं हैं।'[3] भयानक स्वप्न देखने के बाद की नमःस्थिति को भी शब्दों को अन्तराल में रखकर चित्रति किया गया है; जैसे 'तुम ··तुम कौन···हो ?'[4] स्वभावानुसार संवाद-शैली में परिवर्तन की बात लीजिए। गायक के व्यक्तित्व की सरलता-निश्छलता तथा दृढ़ता उसके संवादों के अनुकूल विशद विस्तार, धीर-मन्थर प्रवाह तथा सहज काव्यमय उद्गारों से स्पष्ट है।[5] विश्वजित् की विक्षिप्तों की-सी मनःस्थिति, जीवन के मधु-कटु अनुभवों के नानात्व से प्राप्त ज्ञान-राशि तथा उपेक्षामयी-उग्रता उसके बहुल ओजस्वी भाषणों तथा व्यंग्योक्तियों में मिलती हैं। विश्वजित की संवाद-शैली में उत्तेजक तथा उद्वेगात्मक भाषणों का अविरल प्रवाह[6] मिलता है। गायक तथा विश्वजित के संवादों में दीर्घता है परन्तु अन्य पात्रों में प्रायः संक्षिप्तता। पात्रानुकूल होने से भाषण अधिक खटकते नहीं परन्तु जहाँ ये एक-साथ अधिक आए हैं, वहाँ इनकी उपदेशात्मकता अखरने वाली तथा कथागति-रोधक हो गई है।[7] पात्रों-परिस्थितियों के अनुकूल विभिन्न प्रकार के संवादों की सृष्टि हुई है। यहाँ भावाधारित तार्किक,[8]

---

१. पृ० १४४। २. पृ० ९०। ३. पृ० १८२-८३। ४. पृ० २६६।
५. गायक के विभिन्न कथन, नवाँ परिच्छेद, पृ० ४०३। ६. पृ० २६४-६५।
७. २१वाँ परिच्छेद। ८. पृ० ४४-४७।

नाटकीय,[1] व्यंजक,[2] तथा मात्र अनुभावों से बोलने वाले मूक संवादों[3] सभी का सौन्दर्य देखा जा सकता है। इस मूक-संवाद की मार्मिकता का कुछ अंश लीजिए जहाँ वर्णन और वार्ता का मार्मिक संगम है—'नीलूफर' हेका ने कहा—'नीलूफर!' उसका स्वर हठात् काँप उठा और वे दोनों आलिंगन कर उठीं। हृदय से हृदय लगकर अपने-अपने भीतर का सौहार्द्र उंडेल देना चाहता है। एक बार फिर आँखों को उठाकर एक दूसरी की वेदना को पहचानने के लिए दोनों रो उठीं। परवशता की मानवीयता निकल-निकल कर आँखों से बहने लगी।" इस तरह यह संवाद पात्रों के अन्तरग चित्रण में सहायक है।

यहाँ परिस्थितियों के अनुसार समूह-पात्र के समवेत संवाद भी है, जो अधिक स्वाभाविक नहीं बन पड़े।[4] कहीं-कहीं अपाप का रूपकों मे बात करना भी जंचता नहीं।[5] सारांशतः इस उपन्यास के संवादों में चरित्रानुकूलता तथा प्रसंगानुकूलता, विविधता तथा स्वाभाविकता है। उपन्यास के प्रभाव में इस तत्व ने सानुपातिक योग दिया है।

'मुर्दों का टीला' में भाषा-शैली का सौन्दर्य विशेष उल्लेखनीय है। यहाँ वर्णन-बहुलता है, तो वर्णन-कुशलता भी। विषय और शैली में अद्भुत सामंजस्य है, अतएव विषय-परिवर्तन के पास शैली-वैविध्य भी। ये उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, उदाहरण, अनुप्रास, मानवीकरण, विशेषण-विपर्यय आदि अलंकारों से सजी, लाक्षणिक मूर्तिमत्ता तथा ध्वन्यात्मक सांकेतिकता से सम्पन्न कवित्वमयी भाषा-शेली है। ऐन्द्रिय विषयों के समावेश से भाषा की चित्रमयता सजीव हो उठी है। बहुधा आकर्षक अनुक्रम में रखे शब्दों के लघु-लघु वाक्यों से उसमें प्रमावी प्रवहमानता आ गई है। कहीं प्रकृति के साम्य और कहीं प्रकृति की विषमता से शैली को प्रभाव-तीव्रता में सहायता ली गई है। शब्दों या वाक्यांशों की पुनरुक्ति, मिलते-जुलते शब्दों के संयोग, सार्थक विशेषणों के प्रयोग, विराम-चिन्हों के समुचित उपयोग तथा स्फुट वाक्यों एवं विरोध के झटकों के विनियोग से प्रभाव-तीव्रता का और भी वर्धन हुआ है। अनेक पृष्ठों पर मुक्त कवितावत् पंक्तियों का विधान हुआ है। भाषा की काल्पनिक सज्जा के पीछे लेखक की अनुभूति-प्रवण भावोष्णता विद्यमान है जिससे भाषा-शैली में अन्तः स्फूर्ति की दीप्ति आ गई है। अधोलिखित दो उद्धरणों से स्पष्ट हो जाएगा कि लेखक के प्रगतिवादी दृष्टिकोण को पूरी प्रभाव-तीव्रता के साथ अभिव्यक्त करने में शैली विषय से भी आगे बढ़ती जान पड़ती है :—

(क) प्रकोष्ठ में फिर दो ही रह गये सुन्दर युवती और मणिबन्ध।

---

१. पृ० ४०-४२। २. पृ० ३१। ३. पृ० ४५, ५६, ३०४।
४. पृ ४१६। ५. पृ० ३७४-७५।

"तुम कौन हो ?', मणिबन्ध ने अचरज से पूछा । "तुम कोई दासी तो नहीं लगती ।"

'आपकी दासी ही हूँ ।'

मणिबन्ध निरुत्तर हो गया । उसने पूछा—

'तुम किस देश की रहने वाली हो ?'

स्त्री ने कहा -'देश आपका है । मैं आपकी प्रजा हूँ ।'

अधीर यौवन का भुजपाश उठ गया, जैसे नागिनें काँप रही हों । देखा । मणिबन्ध ने देखा । पर नहीं देखा, नहीं देखा और फिर मणिबन्ध ने देखा वह मादक तन्द्रा-सी छवि-नटिनी और इन्द्रजाल-सी रात, और तूफान के वे सरसराते झोंके जिनके विक्षोभ में सम्राट् की वाहिनी की विजय घोषणा हो रही है, और यह टिमटिमाते, अंधियारे में काँपते दीपक···और वह पागल कर देने वाली वज्रघोष करती सम्राट की जयध्वनि और सामने यह एक रहस्यमयी स्त्री ··

मणिबन्ध का सिर फटने लगा । साम्राज्य की शक्ति और सम्राट् के गौरव की पहली रात । स्त्री जब चषक में मदिरा ढाल रही है, सर्वश्रेष्ठ, सुगंधित, लाल चमकती मदिरा···पीकर जिसे मनुष्य झूम उठे, उसके जीवन की युग-युग की तन्द्रा एक घूँट में सफल हो जाय, पुकार उठे कि मादक यौवन बुद्-बुद् बन कर फूट नहीं, रस बनकर भंवर मार, काँप उठे ।

आंधी की डरावनी आवाज़ गूँज रही थी । कहीं दूर अब शंख ध्वनि हो रही है, कहीं दूर अब नगर में कोलाहल हो रहा है, और रात वह फैला आँचल जैसे इस युवती के यह घने घुंघराले बाल और वह तूफान जैसे उसके मादक श्वास निश्वास··· और वह भूजपाश···वह साम्राज्य का विराट अभिमान तूफान जय के गीत गा उठा है, मणिबन्ध उसे सुन रहा है···और ये कीड़े उसका विरोध करेंगे ।···

चषक होठों पर लगा है । आँखें अलग रूप सुधा पी रही हैं···आनन्द··· विभोर आनन्द···उधर धरती रक्त पी रही है···रक्त का उन्माद·· युवती के आभूषणों से मंजु क्वणन हो रहा है, उधर सेना के शस्त्र खड़खड़ा रहे हैं ···

प्रेम और विजय, आनंद और अधिकार, स्त्री और पुरुष, गुलाम और साम्राज्य···

तूफ़ान गरज रहा है···

हृदय बज रहा है । धमनियों में रक्त के स्थान पर मदिरा काँप रही है ··

और प्रबल थपेड़े मारता वह आकाश को हिलाता हुआ शब्द···सम्राट् मणिबन्ध की जय !

और वह संत्रस्त नगरवासियों का क्रन्दन···

मणिबन्द चिल्ला उठा—एक चषक और सुन्दरी···एक चषक और···

"सुन्दरी खिलखिलाकर हँसने लगी।"[1] × × ×

·· और कहीं पास में दास के कोड़ों से पिटने की आवाज़ कर्कश होकर गूँज उठी।

चन्द्र ने कहा—सुन रही हो ?

नीलूफर ने सुना। विल्लिभित्तूर ने सुना उस समय प्राचीन मोअन-जो-दड़ों का महानगर यही सुन रहा था। आँखों पर दीपक का प्रकाश पड़ने लगा।

विल्लिभित्तूर बढ़कर खड़ा हो गया। दीपक की धुंधली लौ काँप रही थी। एक बार वह अधिक प्रकाश दे कर काँपा और फक से बुझ गया। अब रूई की बत्ती के कोने से धुंआ उठ रहा होगा।

आवाज सुनाई दे रही थी। वे दहशत से भरे सुनते रहे। और महानगर में वही भीषण डरावनी ध्वनियाँ, कभी-कभी सेना का धौंसा बज उठता और लगता महानगर की प्राचीरें अर्रा कर टूट जायेंगी। और वह कठोर स्वर दिगंतों से टकरा रहा है। साम्राज्य की हत्याओं का पिशाच आकाश में डाल रहा है···

नीलूफर रो उठी। चन्द्रा ने देखा, उसे संभाल लिया।

नीलूफर ने फफक कर कहा— इसका बदला लेना होगा। हर्ष से गायक और चन्द्रा के मुख से आनंद की अस्फुट ध्वनि निकली। उन्होंने कहा—इसका बदला—और अंधकार ने हिलकर कहा—इसका बदला ··

बाहर आँधी गरज रही थी। सर···सूं-साँ—जैसे अंधड़ प्यास से तड़पकर हाँफ रहा हो जैसे अत्याचारी दास को मारते-मारते थक कर साँस ले रहा हो। और दास की घुटन काँप रही हो—इसका बदला"[2]

भयानक प्रकृति-कोप की पृष्ठभूमि के विराट चित्रण के साथ मुख्य पात्र की अन्तिम स्थिति के चित्रण में लेखक की विश्लेषण-क्षमता एवं निपुणता-मार्मिकता देखिए :—"सारा नगर जलने लगा···अब अंधकार में लपटें उठने लगीं और हवा ने लपटों के कसकर एक चाँटा मारा, जिससे क्रुद्ध होकर अग्नि ने अपना फन शत-शत खंडों में विभाजित करके प्रहार किया और जब मुंह पर दूसरा थप्पड़ बज उठा, वह सहस्र खंड होकर दूसरी ओर भाग चली और फिर उजाला-सा छा गया, फिर हवा का झोंका लगा और अग्नि धक धक कर जल उठी···

एक हिचकी आई। विश्वजित ! वह मर गया था ! मणिबन्ध निस्तब्ध बैठा रहा। पिता मर गए हैं। सम्राट् के नहीं, मणिबन्ध के पिता संसार से चले गए हैं,

---

१. पृ० ३२३-२५। २. पृ० ३२६।

ऐसे समय जब सब मर रहे हैं, किन्तु मणिबन्ध गंभीर बैठा है···पिता की हत्या सफल हो गई है···क्यों हो गया वह इतना अंधा था कि अपने बाप तक को नहीं पहचान सका···पिता···

मणिबन्ध की आँखों से दो बूँद टपक पड़े। आज पत्थर का हृदय भींग गया है। उन आँखों में अनेक बार मौत के मुंह पर पड़े तड़फड़ाते मनुष्यों की छाया गिर चुकी है और विलीन हो चुकी है किन्तु आज उनमें चंचलता छाई है, प्रथम बार, बस एक बार···· किन्तु आज यह प्रथम ही तो अन्तिम बन गई है··· किसी की ममता का क्या मूल्य है यदि उसका कोई अधिकार नहीं···

फिर याद आया—वेणी ! कहाँ गई अब वेणी ! कहाँ गई वह पुरुष की तृष्णा जो स्त्री को एक फूल की भाँति उँगलियों में मसल देना चाहती थी और लक्ष्य था मात्र गंध सूँघ लेने का कि अब कोई नहीं रहा···केवल पिता···केवल पुत्र··· पुत्र एक क्षण बाद···पिता एक क्षण पहले · ·

और तभी दिशाएँ फटने लगीं जैसे क्षितिज का वक्षस्थल फट गया था, और उसमें से रक्त नहीं निकला था, समुद्र की भाँति अथाह गर्जती सिंधु बढ़ी आ रही थी, डुबाती, सब कुछ मिटाती · · ।[1]

उपर्युक्त उद्धरणों से यह भी स्पष्ट है कि संस्कृत-गर्भित भाषा का बाहुल्य होते हुए भी दुरूहता नहीं आने पाई। स्थान-स्थान पर यथा-प्रसंग आए सार-गर्भित वाक्यों से भाषा-शैली मूल्यवान भी हो गई है। लेखक की भाषा-शैली के सौन्दर्य में व्याकरण की कुछ भूलें[2] तथा मनोनुकूल शब्द-रचना के किंचित् दोष भी प्रभावहीन हो गए हैं।

अन्त में, 'मुर्दों का टीला' सभी औपन्यासिक तत्वों के सानुपातिक संयोग से, प्रभावशाली ऐतिहासिक उपन्यास बन गया है। एक तो सुदूर इतिहास को अपनाने के कारण—और उपलब्ध ऐतिहासिक सामग्री के उपयोग से ऐतिहासिक यथार्थ की यथासम्भव रक्षा करते हुए भी—उसे पात्रों एवं घटनाओं के यथार्थ से बँधना नहीं पड़ा, अतएव कल्पना के समुचित उपयोग से वह अयांत्रिक औपन्यासिक विधान की सृष्टि की सुविधा का लाभ उठा सका है; दूसरे, महानगर को मुर्दों का टीला बनाने वाली अन्तिम प्रलय-घटना के प्रभावी परिपाक के लिए वह अनेक परिस्थितियों, पात्रों, एवं घटना-श्रृंखला का समन्वित उपयोग कर सका है।

---

१. पृ० ४३६। २. पृ० ३२४, ३४४, ४३, १०६, ६७, ६८, ५०, ६३ आदि।

दसवाँ अध्याय

शिल्प-प्रधान उपन्यास : सामान्य विशेषताएँ

शिल्प-प्रधान उपन्यास के लिए अधोलिखित दो स्थितियों में से कोई एक स्थिति प्रमुख हो सकती है—(१) जहाँ वस्तु-तत्व की क्षीणता तथा अभिव्यंजना की प्रबलता हो। (२) जहाँ वस्तु-तत्व की कमी न होते हुए भी शैल्पिक या प्रायोगिक नव्यता का विशेष आकर्षण हो। यद्यपि यह नहीं कहा जा सकता कि तकनीक का आरम्भ कहाँ होता है और कहाँ अन्त होता है—अतएव यह भी कैसे कहा जा सकता है कि तकनीक कहाँ प्रधान है और कहाँ अप्रधान—तथापि, जिस उपन्यास को पढ़कर पाठक को विषयगत लब्धि की अपेक्षा उसके संविधान-सौष्ठव का सौन्दर्यबोधात्मक आनन्द अधिक मिले; या किन्हीं प्रविधियों के चमत्कार-जाल में फंस कर उसका मन मूल विषय से विकेन्द्रित होता रहे, वहाँ वस्तु-तत्व की क्षीणता तथा शिल्प की प्रमुखता मानी जाएगी। इसके अतिरिक्त यह स्थिति भी हो सकती है कि कथनीय की नव्यता से स्वतः स्फूर्त होकर कोई किसी परम्परा-मुक्त विधान की सर्जना करे और उपस्थापन की सद्यता एवं नव्यता से जनित आश्चर्य-तत्व अथवा आकर्षण से पाठक को प्रभावित-चमत्कृत करते हुए भी विषय के सुचारू सवहन में समर्थ हो। यह भी हो सकता है कि उपन्यासकार पुरातन विषय को किसी नूतन प्रविधि के आविष्कार से अधिक प्रभावशीलता से विन्यस्त कर प्रस्तुत करे। ऐसी अवस्था में शिल्प का चमत्कार विषयोत्कर्ष का कारण भी बन सकता है। तब भी इस उपन्यास की शिल्प-प्रधानता केवल शैल्पिक नव्यता से जनित आकर्षण के कारण मानी जाएगी।

शिल्प-प्रधान उपन्यासकों के रचयिताओं में हैनरी जैम्स की यह मनोवृत्ति प्रायः मिलती है कि कला-रचना में उसकी रोचकला में ह्रास से अधिक पारिताप्य (Deplorable) और कुछ नहीं; और उसमें भी शिल्प की साधारणता से जनित रोचकता का ह्रास और भी खलने वाला होता है। शिल्प की साधारणता के विरुद्ध विधेयानुकूल विशेष निर्मित शिल्प (Found from) रोचकता का परिपूर्ण रक्षक होता है।[1] इसके अतिरिक्त इस वर्ग के उपन्यासकार प्रायः शिल्प के महत्व से दूसरों से श्रेष्ठ होने का प्रयत्न करते है। जैसाकि हैमिंगवे ने लिखा है—"जो कुछ

1. "The Sellected Letters of Henry James", p. 171.

पहले श्रेष्ठतर लिखा जा चुका है उसे जब तक मात न किया जा सके, तब तक लिखना ही व्यर्थ है।" इस पर आलोचना करते हुए मॉरिस महोदय ने लिखा है—"यह वक्तव्य ऐसे लेखक का ही हो सकता है जो जानता हो कि उसे शैली और शिल्प से प्रकांड पंडितों को मात करना है। और उसने इन्हीं के बल पर विद्वानों के स्मृति-मन्दिर में अपना स्थान सुनिश्चित किया है।"[1] यद्यपि शैल्पिक क्षेत्र के नूतन प्रयोगकर्ताओं में, किसी-न-किसी रूप तथा अल्पाधिक मात्रा में उपर्युक्त मनोवृत्ति अवश्य मिलती है, तथापि यह साहित्यकार की महत्ता की शर्त नहीं बन सकती। यह उल्लेखनीय है कि विश्व के अनेक महान एवं सुप्रसिद्ध साहित्यकारों- शेक्सपीयर, रेसीन, मोलियर, जानसन, डिकेन्स, दास्तावस्को, प्रेमचन्द – ने किसी नए साहित्य-प्रकार का आविष्कार नहीं किया।

उपन्यास में किसी तकनीक या नूतन प्रयोग की सफलता का प्रमाण इसी में है कि उससे लेखक के अभीष्ट को कितनी प्रभावशीलता से प्रेषित किया जा सका है, पाठकों ने उसके प्रति किस कोटि की प्रतिक्रिया की है। प्रभाव-सम्प्रेषण की दृष्टि से प्रायोगिक नव्यता की भी अपनी सीमा व्याख्य है। सहृदयों का साहित्य-रचना में आनन्द-लाभ नव्यता की भावना तथा अभिज्ञान (Recognition) के बोध से संयुक्त रहता है। इसका कारण यह है कि परिपूर्ण सुपरिचित तथा पुनरावृतिपूर्ण रूप उबाने वाला होगा और एकांत नूतन रूप दुरूह हो जाएगा। अतएव एक श्रेष्ठ लेखक अंशता पूर्वप्रचलित साहित्य-प्रकार के समानानुरूप रहता है और अंशता अपनी नूतनता के योग से उसका विस्तार करता है।[2] वस्तुतः, कला-सर्जना में पीछे लौटने का प्रश्न ही नहीं उठता—अतएव नए-नए प्रयोगों का सदैव स्वागत होना रहेगा—परन्तु यह भी सिद्ध है कि आगे का मार्ग सारे स्मृत प्रयोगों के भीतर से ही विकसित हो सकता है।

इस शिल्प-प्रधान वर्ग के अन्तर्गत हमने छः अभिव्यंजनात्मक उपन्यास लिए हैं। 'नदी के द्वीप' में यद्यपि व्यक्तिवादी जीवन-दर्शन का प्रतिपादन है, फिर भी, इसकी अपेक्षा कहीं अधिक वह अपने मिश्रित शिल्प-सौष्ठव तथा प्रोन्नत भाषा-चमत्कार से सौन्दर्य-

1. Wright Morris : "The Territory Ahead", 'The Living Novel', p. 125.

2. Austin Warren & Rene Wellek : "Theory of Literature", p. 245. "Men's pleasure in a literary work is compounded of the sense of novelty and the sense of recognition...The totally familiar and repetitive pattern is boring; the totally novel form will be unitelligible—is indeed unthinkable . . . The good writer partly conforms to the genre as it exists, partly streches it."

बोध-विषयक आनन्द देता है। 'डूबते मस्तूल' अपने घटनात्मक एवं सामाजिक विषय के विपरीत समय-सीमा के भ्रमपूर्ण शिल्प-प्रयोग से विषय को क्षतिग्रस्त किन्तु अपने वैचित्र्य से पाठकों के प्रसादन करने का उदाहरण प्रस्तुत करता है। 'परन्तु' प्रधानतया उद्धरण-पद्धति तथा गौणतया चेतना-प्रवाह-पद्धति के संयुक्त चामत्कारिक शिल्प से चौंकता, और अगठित शिल्प से उलझाता हुआ विषय से प्रायः विकेन्द्रित करने का उदाहरण प्रस्तुत करता है। 'सूरज का सातवाँ घोड़ा' और 'चाँदनी के खंडहर' क्रमशः अपने आलोचना-सहित कहानी-शिल्प तथा समय-सीमा के संगीतिकृत प्रयोग से जितना चमत्कृत करते है, उतना ही एकसमान पुराने विषय—मध्यवर्ग की समस्या —को अपनी-अपनी विधि से उभारने में समर्थ भी हुए है। 'सोया हुआ जल' अनेक व्यक्तियों के भाव-विचारों तथा कार्यों, या एक ही व्यक्ति की अन्तर्बाह्य विषमता का समकालवर्तित्व दिखाने की कथ्य-नव्यता की वश्यता से एकांत नूतन शिल्प की अनुयोज्यता का उदाहरण प्रस्तुत करता है। इसे सिनेरियो तकनीक का प्रयोग भी कहा जा सकता है तथा रूपकात्मक प्रयोग भी। 'काठ का उल्लू और कबूतर' प्राचीन लोककथात्मक शिल्प के आधुनिकीकरण का उदाहरण प्रस्तुत करता है। इस तरह ये सभी उपन्यास अपने नूतन शिल्प की प्रायोगिक प्रवृत्ति की व्यर्थता या सार्थकता को सिद्ध करते हैं—ये वास्तविक प्रयोग हैं, या प्रयोग का विभ्रम, या प्रयोग का विद्रूप।

परन्तु

'परन्तु' डॉ० प्रभाकर माचवे का पहला उपन्यास है। इसका प्रकाशन १६४० में हुआ। यह मात्र ८४ पृष्ठों का लघु-उपन्यास है। लेखकीय 'वक्तव्य' में इसे 'अपने ढंग का अकेला उपन्यास' कहा गया है। डॉ० देवराज उपाध्याय ने चेतना-प्रवाह पद्धति[1] तथा ब्रजविलास श्रीवास्तव ने उद्धरण-पद्धति[2] के प्रयोग की दृष्टि से इसे 'अपने ढंग का अकेला उपन्यास' माना है। उपर्युक्त परवर्ती आलोचक ने तो इसे शुद्ध प्रयोगवादी माना है—क्योंकि उसके अनुसार यह प्रयोग के लिए प्रयोग का अच्छा उदाहरण है। इस तरह इसे सहज ही शिल्प-प्रधान उपन्यासों के वर्ग में रखा जा सकता है। बढ़ी-चढ़ी प्रयोग-प्रवृत्ति के कारण इस रचना का जो विचित्र स्वरूप बन गया है उसके कारण कुछ आलोचक इसकी औपन्यासिकता पर ही प्रश्नचिह्न लगा

---

१. "आधुनिक हिन्दी कथा साहित्य और मनोविज्ञान", पृ० ३१७।
२. "हिन्दी-उपन्यास में नये प्रयोग", 'आलोचना' सं० १७, पृ० ४४। ३. वही।

देते हैं।[1] हमारे विचार में यह उपन्यास है, चाहे सदोष उपन्यास है—कथागत विशृंखलता तथा निरानुपातिक शिल्प-पद्धतियों के मनमाने प्रयोग से इसकी औपन्यासिकता पर सन्देह उठता है किन्तु उद्देश्य की एकता तथा किन्हीं अन्य शिल्प-कौशलों से यह उपन्यास की सीमा में प्रवेश कर जाता है।

भूमिका-स्वरूप अपने कथानक के आधारभूत उद्देश्य के स्पष्टीकरण में माचवे जी लिखते हैं—"मनुष्य और पशु में चार आदिम प्रवृत्तियाँ बहुत बलवान हैं : 'सेल्फ-असर्शन' या युद्ध-प्रवृत्ति, भूख और भय या आत्मरक्षा।.. इन चार प्रवृत्तियों के विरोध में आदर्शवाद की नकारात्मक शब्दावली का मानसिक संघर्ष चलता रहता है। भौतिकवादी युग की प्रगति के साथ-साथ यह नकारात्मक आदर्श-मूल्य पराजित होते से दिखाई देते हैं।

"इस निराशा से निष्क्रियता और गतिरोध पैदा होता है। यही वैयक्तिक और सामाजिक गतिरोध इस कथानक की नींव है।" उपन्यास के अन्त में भी उपर्युक्त उद्देश्य की अभिधात्मक मुखरता इस प्रकार हुई है—.."यह व्यक्तिगत अविनाश की ट्रैजडी नहीं, सारे समाज के गतिरोध की समस्या थी। इसका हल भी व्यक्तिगत नहीं हो सकता। परन्तु.."[2] इस उपन्यास में सामाजिक गतिरोध का चित्रण है, उसके कारण भी हैं, पर समाधान नहीं; यदि समाधान है तो इतना ही कि "इसका हल भी व्यक्तिगत नहीं हो सकता। महाशोषक सेठजी के चित्रण के अन्त में भी लेखक ने मानों चेतावनी दी है कि "एक व्यक्ति सेठजी के सुधार से क्या ? परन्तु.."[3] और यदि अविनाश सेठ को कत्ल करने में सफल हो भी जाता, तो क्या ?—"परन्तु" तो साथ लगा ही रहता, सामाजिक गतिरोध तो दूर नहीं हो सकता। इसी में इस नए प्रकार के नामकरण की सिद्धि है। वैयक्तिक अथवा सामाजिक गतिरोध का संकेत करते हुए, 'परन्तु' शब्द उपन्यास के प्रत्येक परिच्छेद के अन्त—और कहीं-कहीं बीच[4]—में आया है। 'परन्तु' की ऐसी योजना से तीन प्रयोजन सिद्ध हुए हैं। एक, विभिन्न परिच्छेदों में उद्देश्य सम्बन्धी एकता आ गई है; दूसरे, 'परन्तु' की सप्रश्नता पाठकों को ध्येयोन्मुख करती और प्रभाव-वृद्धि करती है; तीसरे, इसी से कथानक के विभिन्न परिच्छेद सूत्र-बद्ध-से हो गए हैं। इस प्रकार के नामकरण की कुशल योजना उपन्यास को एक शिल्पगत विशिष्टता प्रदान करती है और यह एकांत नूतन है। फिर भी, यह कहना पड़ेगा कि प्रत्येक परिच्छेद के अन्त में आने वाला 'परन्तु', उपन्यास के उत्तरार्द्ध में जितना ससंदर्भ है, उतना पूर्वार्द्ध में नहीं।

---

१. "आलोचना" सं० ३, पृ० ६७, रामकुमार का मत। "आलोचना" सं० १७, पृ० ४५, ब्रजविलास श्रीवास्तव का मत। २. पृ० ८४। ३. पृ० ७६।
४. पृ० ७२, ८०।

माचवे जी ने अपने उद्देश्य के अनुकूल ही चरित्र-चित्रण किया है। उन्होंने आर्थिक दृष्टि से विविध वर्गों के — लगभग वर्ग-प्रतिनिधि—पात्रों को लेकर उनमें अर्थ-काम-भय-भूख की आदिम प्रवृत्तियों तथा आदर्शवादी जीवन-मूल्यों के मध्य संघर्ष का चित्रण किया है। प्रमुख पात्रों में अविनाश निम्न-मध्यवर्गीय, हेम निम्नवर्गीया, अमिय, अनीता उच्च मध्यवर्गीय तथा सेठजी पूँजीपति वर्ग के हैं। अविनाश सिद्धांततः आदर्शवादी है और उसी के अनुकूल जीवन व्यतीत करने का प्रयास करता है। वह कला को जीवन के लिए समझता है तथा राजनीति में सक्रिय भाग लेता है। पर उसके आदर्श को अर्थकामाभाव की सहजप्रवृत्तियों से संघर्षलीन रहना पड़ता है। वह आर्थिक दृष्टि से सुविधाभोगी तथा अनीता से रोमांस लड़ाने वाले, अपने सहपाठी अमिय से ईर्ष्या करता है, अपने अभावों को देशभक्ति में भुलाता और अपनी बचपन की साथिन – किन्तु बाद में विधवा हेम—को सहानुभूति दिखाते-दिखाते उसके प्रति वासना-वशीभूत होकर अपने आदर्श से गिर जाता है। माचवे जी का मनोवैज्ञानिक निष्कर्ष है :—"बेचारा आदर्शवादी अविनाश ! वह भी आखिर हाड़ मांस से बना शरीर का आदमी ही तो था। और वासना यदि स्वाभाविक प्रकृति है तो उससे इतनी घिन, इतना मुकराना क्यों ? परन्तु.."—तात्पर्य यह है कि मूल प्रवृत्तियों को उचित स्थान दिए बिना आदर्श-मूल्य इसी तरह पराजित होते रहेंगे और गतिरोध उत्पन्न होता रहेगा।

विवाह के बाद[1] जल्दी ही विधवा हो जाने से "अन्नदेवता की विडम्बना"[2] को सुलझाने—आदिम प्रवृत्तियों की दृष्टि से, भूख और आत्मरक्षा—के लिए, हेम गाँव से अपने मामा के साथ कलकत्ता आती है और सेठ लक्ष्मीचन्द के यहाँ नौकरी करती है। उसकी काम-भावना भी अतृप्त थी—हिन्दू-समाज की बन्दिशों में उसे अपनी" 'सुखैषणा की वंचनायें लेकर साँसों का बोझा तथा "वैधव्य का टूटा हुआ पहाड़"[3] ढोना था। ऐसी अवस्था में उसका अविनाश के प्रति एक अज्ञात आकर्षण से प्रेरित होना सहज था। इतना होते हुए भी वह हिन्दू विधवाओं के मर्यादा-आदर्शों के अनुसार चलना चाहती थी 'परन्तु'.... सेठ जी ने उसके श्रम को ही नहीं, सतीत्व को भी ज़बरदस्ती खरीद लिया और "यौवन के विकास के प्रथम पौर" में ही उस पर 'तुषारपात' हो गया। "और उसके बाद धीमे-धीमे उसकी आँख की शरम का पानी जैसे सोख लिया गया था। उसे पुरुष-पुरुष सब समान लगने लगे थे। सभी भेड़िये थे, कुछ लोगो ने चाहे बकरी की खाल ओढ़ ली थी, पर इसका मतलब यह नहीं है कि हेम फाहशा हो गयी थी या वह गणिका हो गई थी।"[4] उसके बाद एक दिन उसे अविनाश मिला—"सहानुभूति-पूर्वक उसके दर्द को सहलाने वाला

१. पृ० ३०। २. पृ० ३१। ३. पृ० २६-२७। ४. पृ० ५६।

समानुभवी ।" "उसे सखा कह लो, मित्र कह लें, स्नेही या प्रियतम भी कह सकते हैं। परन्तु फिर वह काँप उठी—शास्त्रों में तो विधवा को कोई पर-पुरुष सम्बन्ध, कोई प्रियतम की कल्पना भी वर्जित है, दंडनीय है, निषिद्ध है। परन्तु जीवन में कभी-कभी निषिद्ध भी स्वीकृत करना पड़ता है। उस रात वही हुआ"[1]। हेम पर सेठ के बलात्कार की कहानी सुन कर अविनाश ने सेठ की हत्या का प्रयत्न किया—आदर्शवादी का सामाजिक रोष संगठित, संयत, वैज्ञानिक रूप में व्यक्त न होकर व्यक्तिगत आतंकवादी कृत्यों में जाकर विस्फोट बन कर प्रकट हुआ।[2] परन्तु वह असफल रहा और अविनाश की ट्रैजेडी सारे समाज के गतिरोध की समस्या बन गई, जिससे निम्न प्रश्न सहज रूप में सामने आ गए :—

"आदर्श का क्या अर्थ है यदि वह व्यक्ति तक सीमित है ?

समाज अपने हीं बेढंगे तरीके से चला जाय तो क्या लाभ ?

व्यक्ति अपने आप में अक्षम है, परन्तु बहुत से व्यक्ति मिलकर वह गुणीभूत व्यंग्य क्या समाज हो जाता है ?

क्या संख्या के साथ गुण आवश्यक रूप से, अनिवार्य रीति से बदलते ही हैं ?[3]

एक पूँजीपति के प्रतिनिधि-प्रतीक के रूप में सेठजी का चरित्र-चित्रण भी कुशलता से, गतिरोध के उद्देश्य के अनुकूल हुआ है। वह राष्ट्रीय नेता, सरकार का सहायक, भगवान-भक्त, संगीत-कला-प्रेमी सब कुछ है और वस्तुतः कुछ भी नहीं—अर्थ और काम ही एक मात्र उसके काम के हैं। अपने पैसे से वह खद्दरधारी सिद्धांतवादी सम्पादक को खरीद सकता है और कला का अभिमान करने वाले कलाकारों को भी। अपने नित्य-नूतन का प्रेम सिद्ध करने के लिए यथानाम चंचल स्वभाव वाले सेठ लक्ष्मीचन्द, किसी भी नारी तक हाथ बढ़ा सकते हैं क्योंकि सब युवतियाँ उनके सुखोपभोग के लिए पैदा हुई हैं। फिर भी, वह इतने इज्ज़तदार आदमी बने रह सकते हैं कि महान देशभक्त और त्यागवीर श्री नित्यानन्द तथा स्वामी अद्वैतानंद उनसे प्रभावित हुए रहते हैं। इस तरह सेठ के चित्रण के द्वारा माचवे जी ने सिद्ध किया है कि हमारे राष्ट्रीय आंदोलन के मूल में ही यह पूँजीवादी घुन लगी हुई है।[4] और पूँजीवादियों की तिजारती वृत्ति ने संस्कृति को भी हेय बना दिया है।[5]

ब्याह-शादी और चक्की-चूल्हे के चक्कर मे न पड़ने तथा निष्काम प्रीति का आदर्श रखने वाली अनीता, अपने परिचित प्रेमी अमिय को छोड़ कर अज्ञात लखपति के बेटे से अकस्मात् शादी कर लेती है। इस प्रकार 'अर्थ' ने 'आदर्श' की एक न चलने दी और छिपी काम-वृत्ति ने उसके विवाह न करने के संकल्प को शीघ्र ही

---

१. पृ० ६०। २. पृ० ८२। ३. पृ० ८३। ४. पृ० ७६। ५. भूमिका।

लड़खड़ा दिया। यही अवस्था अमिय के साथ भी है। कला के लिए कला के आदर्श का दम भरने वाला अमिय, पूंजीपति सेठ की कला-मूल्य की धारणाओं को जानते हुए भी उसकी पब्लिसिटी का प्रमुख मैनेजर होने के स्वप्नों को पालता है। इसलिए माचवे जी का निष्कर्ष है कि "अमिय जैसे कलाकारों की कठिनाई यह है कि वह मूलतः सुविधाभोगी, सुविधाजीवी लोग है। वे अपनी रचनाओं पर कला की खोल चढ़ा कर चलते हैं।"[1] "फलतः आज मानव नकाबपोश बन गया है : समाज में वह एक मुखौटा पहने चलता है : व्यक्तिशः उसके हेतु विपरीत हैं" —विभिन्न पात्रों के चित्रण के माध्यम से लेखक ने यही सिद्ध किया है। अन्य दो गौण पात्रों का चित्रण भी सांकेतिक रूप से उद्देश्य में सहायक हुआ है। सरयु पाण्डेय अपनी सेठ के लिए वासना की सामग्री इसलिए नहीं जुटाता कि इस कुकृत्य में उसकी रुचि है, बल्कि अपनी नौकरी की रक्षा के लिए। संगीतकार उस्ताद बाबूखाँ का चित्रण भी स्वाभाविक है। उसके चित्रण का भी उपयोग किया गया है; देखिए—"उस्ताद सोते वक्त प्रार्थना कर रहे थे, जिसका आशय था .. सबका मंगल हो। ओ सब को देखने वाले परवरदिगार.. सब पर रहम कर। सबके पापों को भूल जा .. परन्तु ईश्वर खुर्राटे तो नहीं भर रहा था, ऐसी शंका आस्तिक के मन में कब उठ पाती है ?"[2] विभिन्न पात्रों के विवेचन से स्पष्ट है कि लेखक ने उद्देश्यानुकूल गतिशील पात्रों को लिया है। केवल सेठजी ही स्थिर पात्र हैं। अमिय, अनीता तथा दशरथ मित्र के चरित्र-चित्रण की रेखाएँ अपर्याप्त हैं। इसलिए इन में न तो अपेक्षित स्पष्टता आ पाई है और न ही इनका चित्रण प्रभावोत्पन्न कर सका है। अनीता का दशरथ से अकस्मात् विवाह कर लेना इसलिए अस्वाभाविक लगता है क्योंकि इन पात्रों के अन्तर्बाह्य कार्य-व्यापार कथानक का निर्माण नहीं कर सके, वैसे व्यंजना से यह समझा जा सकता कि अनीता ने अमिय के वेदना-दर्शन से चिढ़कर और अर्थ के आकर्षण से ही 'लखपति के पुत्र' से विवाह किया होगा। व्यंजना का वह भार पाठक सम्भाल नहीं पाता। माचवे जी के उद्देश्य की मूल संवेदना का आधार अविनाश है; और अविनाश, हेम और सेठ के कार्य-व्यापारों की एक कहानी भी बनती है। उसमें घटनात्मकता भी है और कुछ रोचकता भी। अमिय, अनीता, सेठ लक्ष्मी चन्द्र और दशरथ के आचरण, मिलकर एक और कहानी का आभास-मात्र देकर रह गए हैं। ये दो कहानियाँ अलग-अलग रह गई हैं और इनके सम्बन्ध-सूत्र अत्यन्त क्षीण हैं। पहले दो परिच्छेदों में अविनाश और अमिय के बीच अनीता का प्रसंग आने से जिस शृंगारिक त्रिकोण का बीज मिलता है कि सेठ लक्ष्मीचन्द्र अमिय से मैत्री कर अनीता पर डोरे डालना चाहता है[3] पर यह बात भी आगे बढ़ नहीं पाती। हमारा यह तात्पर्य नहीं कि अमिय-अनीता

१. पृ० २४। २. पृ० ८३। ३. पृ० ७६।

आदि की क्षीण कथा व्यर्थ है। चरित्र-चित्रण के प्रसंग में हम स्पष्ट कार आए हैं कि यह भी उद्देश्य-व्यंजना में सहायक हैं पर निर्माणात्मक कल्पना की कमी के कारण, एक गठित कथानक के अभाव में अभीष्ट प्रभाव नहीं उत्पन्न हो सका। इसलिए इस उपन्यास में बिखराव आ गया है और उचित प्रभावन्विति नहीं आ सकी। वस्तुतः इस उपन्यास के कथानक में ऐसे बीज थे—पहले उल्लेख हो चुका है—जिनको विकसित कर दोनों कहानियों को समन्वित किया जा सकता था परन्तु लेखक ने कुछ लापरवाही से काम लिया है; इसका संकेत हमें निम्न प्रकाशकीय वक्तव्य में ही मिल जाता है :—

"परन्तु' की अपनी कहानी है। चार-पाँच साल से इसका कथानक लेखक के मन में था। उसके कुछ अंश लिखे भी गये थे और कुछ स्फुट कहानियों के रूप में इधर उधर छपे भी। कुछ दिन पहले अचानक विचार आया और घण्टों में उपन्यास पूरा कर दिया गया और उसी त्वरा से वह छपा[1] भी है।"

यह उल्लेख कर देना आवश्यक है कि उपन्यास की उपर्युक्त असमन्विति कोई शिल्प-कौशल नहीं और न ही यह उद्देश्य की माँग है।

"परन्तु' दो वर्षों—१९४०-४१—की कहानी है। उपन्यासों में प्रायः काल की व्यंजना होती है, या कथा-विकास के स्वाभाविक क्रम में, प्रसंगानुसार, इसका अभिधात्मक उल्लेख भी हो सकता है। इस दृष्टि से 'परन्तु' में अपनी नवीनता है—यहाँ उपन्यास का दो भागों में काल-सूचक विभाजन मिलता है। ये दो भाग हैं १९४० और १९४१। पर उपन्यास के ऐसे काल-सूचक विभाजन की संगति समझ में नहीं आती—इससे उपन्यास में किसी लक्ष्य-पूर्ति की प्रतीति नहीं होती, क्योंकि उपन्यास के मध्य में भी लेखक ने काल का स्पष्ट उल्लेख किया है।[2] इससे एक हानि अवश्य हुई है—उपन्यास में काल की असंगति आ गई है। ऐसा स्पष्ट काल-विभाजन कर देने के पश्चात् लेखक अपने पर एक प्रतिबन्ध लगा लेता है और इसके अनुसार १९४१ में १९४२ की चर्चा नहीं हो सकती, किन्तु 'परन्तु' में इस प्रतिबन्ध का पालन नहीं हुआ।[3] काल की दूसरी असंगति दशरथ मित्र से सम्बन्धित है। पृष्ट ६४ से यह प्रतीति होती है कि दशरथ मित्र कभी २३ दिसम्बर १९४१ के बाद रंगून से चलकर कुछ दिनों में अमिय के पास पहुँचा है पर पृष्ठ ८१ में अकस्मात् यह सूचना मिल जाती है कि १० दिसम्बर को अनीता के साथ उसका विवाह निश्चित हुआ है। यह तिथि १९४२ की नहीं हो सकती क्योंकि उपन्यास के कालविभाग (और

१. छपाई की कुछ भूलों में एक भूल बड़ी खटकती है। पृष्ठ ६६ के अन्तिम पैरा की प्रथम पंक्ति में 'अमिय' के स्थान पर 'अविनाश' लिखा गया है।

२. पृ० ५१ ३. पृ० ५१।

प्रकाशकीय वक्तव्य) के अनुसार सब कुछ १९४१ में घटित हो रहा है। इस समय की असंगति से कथा में अस्पष्टता बढ़ी है। कुल मिलाकर लगता है कि केवल नूतन प्रयोग के लिए उपन्यास का कालानुसार विभाजन किया गया है। जिन दो वर्षों से यह उपन्यास सम्बन्धित है, वह द्वितीय विश्वयुद्ध, भारत के राष्ट्रीय आन्दोलनों, तथा आर्थिक दृष्टि से 'पूंजीवादी समाज-व्यवस्था के अविकसित चरण' का समय था। सेठ लक्ष्मीचन्द्र और अविनाश के चित्रण में और दशरथ मित्र के बर्मा से भारत-आगमन में इन दो वर्षों की परिस्थितियों की झलक मिल जाती है। इससे कथानक में वास्तविकता आई है और पात्रों के कार्य-व्यापारों में संगति।

'परन्तु' को कालानुसार दो भागों में ही विभक्त नहीं किया गया, आगे प्रत्येक भाग को विभिन्न चरित्र-खण्डों में विकसित किया गया है। इसलिए पात्रों के आधार पर परिच्छेदों के अलग-अलग नामकरण हुए है—'अविनाश', 'अमिय', 'अनीता' आदि। पात्रों के चरित्र-विश्लेषण—और इन्हीं के माध्यम से कथा-विकास—में माचवेजी ने उद्धरण-पद्धति तथा चेतना-प्रवाह-पद्धति से विशेष काम लिया है। इन दोनों पद्धतियों का उपयोग अध्ययन-मग्न उच्च श्रेणी के विद्यार्थियों या कलाकारों (अमिय-अनीता)—अपेक्षाकृत जटिल पात्रों—के सम्बन्ध में किया गया है। अविनाश, अमिय और अनीता विभिन्न भाषाओं—अंग्रेज़ी, हिन्दी, संस्कृत, बंगला, फारसी—तथा विविध विषयों के देशी-विदेशी ग्रंथों—गीता, कुमारसम्भव, नाट्यशास्त्र, पैराडाइज लास्ट, 'आर्ट एण्ड एक्स्पीरिअंस' आदि – को पढ़ते रहते हैं। इनका विस्तार अखबारों की कतरनों तथा जीव-विज्ञान-जैसे विषय तक हैं। इसके अतिरिक्त, बिना रचनाओं का नाम लिए, यहाँ अनेक लेखक—गाँधी, फ्रायड, रवीन्द्र, इलियट, शा, मार्क्स, अरविंद आदि—के उद्धरण हैं। ये उद्धरण भी विविध प्रसंग-रूपों में आए हैं—कहीं पात्रों की अन्तः चेतना के अबाधित प्रवाह के अंश-रूप में, कहीं वाद-विवादात्मक तर्क के रूप में, कहीं साक्षात् पढ़ने, कहीं सामान्य चिंतन और कहीं स्वयं लेखक के द्वारा चरित्र-चित्रण के साधन रूप में इनका उपयोग हुआ है। उपन्यास के अन्त में अविनाश की मनःस्थिति की व्याख्या इलियट की एक लम्बी कविता के रूप में की गई है।[1] अनुवाद के बिना होने से यह पाठकों के लिए दुरूह हो गई है। अखबारों की कतरनों का उपयोग अविनाश के चिंतन एवं मनःस्थिति की व्यंजना के अनुकूल तो है ही, तत्कालीन युद्धग्रस्त वातावरण का परिचय भी इन से मिल जाता है। उपन्यास का लगभग चतुर्थांश इन उद्धरणों ने घेर लिया है। ये बहुल उद्धरण माचवे जी की ज्ञान-प्रदर्शन की रुचि के परिचायक होने का प्रभाव डालते हैं। दूसरे, ये कथा-गति-रोधक है। तीसरे, अपने में उलझा कर ये पाठकों को उद्देश्य से किंचित् विरत

१. पृ० ८४।

भी करते हैं। फिर भी, यह नहीं कहा जा सकता कि ये व्यर्थ हैं। एक, ये प्रायः पात्रानुकूल तथा ससंदर्भ हैं; दूसरे, अनेक स्थलों पर चेतनाप्रवाह पद्धति के साथ उद्धरणों का सुसंयोग हुआ है— यह उनका विशेष नया कौशल है। कस्तूरीमृग पर पढ़ते-पढ़ते, अनीता अपने और सामान्य नारी के सम्बन्ध में सोचने लगती है और उसके अन्तर्मन में बातें तैरने लगती हैं[१]। अनीता के नृत्य-गीतात्मक कार्यक्रम से अमिय उसकी ओर आकर्षित हो जाता है और 'नाट्यशास्त्र' में नृत्य के सम्बन्ध में पढ़ने लगता है। पर पढ़ते-पढ़ते अनुकूल प्रसंग से संवेदित हो, वह अनीता से विवाह-सुख की कल्पनाएँ करने लगता है।[२] इस दृष्टि से पहला 'अविनाश' परिच्छेद सर्वोत्कृष्ट उदाहरण प्रस्तुत करता है। प्रोफेसर राजनीति पर भाषण दे रहा है और कक्षा में बैठे "अविनाश का अन्तर्मन अपने गाँव में लौट चला : वे बचपन के दिन; ठाकुर-दा के दिन पुकूर की सीढ़ियों पर चोरी-चुपके पढ़ा हुआ बंकिमबाबू का 'कृष्णकांतेर बिल', और उसमें नायक-नायिका को बेहोश होने पर कैसे होश में लाता है···शरद बाबू के 'स्वामी' में वह फूल तोड़ने का प्रसंग···'सन्यासी उपगुप्त'· रवि बाबू की बसंत सेना···छिः, साहित्य का यह रईसी विलास से भरा जर्जर अंग— शृंगार और अनन्त-यौवना उर्वशी···(सेंसर) कानों में प्रोफेसर की आवाज़ की भनक—'सूडेटन जर्मनों का चैकोस्लोवाकिया से दावा'···पथ का दावा, दावेदार नहीं—दावा—आमि दावानल-दाहन करिया विश्व, आमि जहन्नुमेर आगुने प्रशिया हांशी पुष्पेर हांशी'—पुष्पा (पुनः अन्तश्चेतना का अबाधित प्रवाह) पुष्पा या शमा ? या हेम···गाँव की बचपन की साथिनें, खेल, एकत्र अध्ययन···पुष्पा 'शरीर' थी··· हेम आत्मा···परन्तु वेशभूषा शमा की ही अच्छी थी; परन्तु हेम की साँवली मुद्रा में वे रसभीनी आँखें, मन्त्र-मुग्ध कर डालने वाले कामरूप के तांत्रिक का अज्ञात जादू मानों उसमें बसा हो··· अब भी स्पष्ट याद है, वह बड़ी-बड़ी आँखों से ढुलक पड़ने वाले आँसू···और सच भी तो था; उसकी माँ को मुझे इस तरह डाँटना क्यों चाहिए था, उसे क्यों न बुरा लगा होगा; क्या मैंने कोई पाप किया था ? पाप··· (सतर्क) देखें, अरविंद घोष पाप के सम्बन्ध में क्या कहते हैं ? सामने रखी हुई अरविंद की पुस्तक पढ़ने लगता है"।[३] चेतनाप्रवाह-पद्धति का प्रयोग, प्रयोग के लिए नहीं हुआ, इसके माध्यम से आदर्श और आदिम प्रवृत्तियों के मानसिक संघर्ष की मनोवैज्ञानिक यथार्थता को भली-भाँति अनावृत किया जा सकता था और यही माचवे जी ने किया है। आदर्शवादी अविनाश का दमित काम उपर्युक्त उद्धरण में व्यक्त हो गया है।

---

१. "परन्तु", पृ० १८-२१। २. वही, पृ० ७७-७८। ३. वही, पृ० ५-६।

अविनाश के चरित्र-चित्रण में माचवे जी ने एक अन्य नई विधि से भी काम लिया है। मानव का अध्ययन उसके रहन-सहन, अभिरुचि, आवास-अध्ययन आदि से भी किया जा सकता है। इसी दृष्टि से लेखक हमे अविनाश के कमरे की एक-एक वस्तु को दिखाता है—"कमरा खोलते ही आपको जूते दिखाई देंगे—एक जोड़ा चप्पल उसके पैरों में थी ही—यह दूसरा पक्का जूता है, जो किसी खिलाड़ी का-सा जान पड़ता है। एक निकर धुली हुई सूख रही है। एक कोने में डंबेल्स पड़े हैं, सामने आइना है। वह घर पर व्यायाम ज़रूर करता होगा। क्योंकि ब्रह्मचर्य का उसे व्यसन है। दीवालों पर विवेकानन्द, नैपोलियन और शायद ताल्स्ताय के फोटो लगे हैं। सामने काठ का तख्त-सा है। जिस पर चटाई बिछी है। कम्बल में लिपटा मुख्तसिर-सा उसका बिस्तर है। एक गेरुए कपास के खद्दर की चादर वहाँ अस्त-व्यस्त पड़ी है। सामने उसके अध्ययन की टेबुल है। शायद बिस्तरे के नीचे एक टीन की ट्रंक पड़ी है, जिस पर बंगाल के किसी दूरस्थ अन्त:प्रदेश के ग्राम से कलकत्ते तक का रेलवे का लगेज लेबल अभी भी चिपका है"।[1]—इस परिचय से ही अविनाश की आर्थिक दशा, उसके आदर्शवादी दृष्टिकोण तथा उसके मूल निवास-स्थान, प्रांतादि का अनुमान हो जाता है। लेखक भी अनुमान लगा रहा है इसलिए तो वह अनिश्चिय-सूचक शब्दों—'करता होगा', 'शायद'—का प्रयोग कर रहा है। इस विधि से वह पाठकों को अपने साथ लेकर अध्ययन करने में सफल हो रहा है। आगे लेखक अविनाश के मन में झाँकने के लिए उसकी अध्ययन-सामग्री आदि का परिचय देता है—यही नहीं सफेद स्याही सोख की "अर्थशून्य आकृतियों और आंकड़ों" को दिखाकर अपनी सूक्ष्म-पर्यवेक्षण-प्रवृत्ति का परिचय देता है। उससे अविनाश का मासिक बजट तक पता चल जाता है। चरित्र-व्यंजना वाली इन नवीन पद्धतियों के मध्य जब लेखक, उपन्यासकार की पाठकों को साक्षात्-सम्बोधन की पुरानी स्थूल शैली का उपयोग करता है, तो अखरता है; जैसे वह लिखता है—"आइये, अविनाश जहाँ रहता है, वहाँ उसका कमरा उसकी अनुपस्थिति में देख आयें।"[2]

इस उपन्यास के दो स्थलों पर पत्र-शैली की सांकेतिक विधि का भी उपयोग हुआ है। पहले परिच्छेद में अविनाश को उसके चाचा का पत्र मिलता है जिसमें हमें अविनाश और हेम के सम्बन्ध में आवश्यक सूचना मिलती है और यह कथा-विकास में सहायक है। उपन्यास के दूसरे खण्ड में अनीता, अमिय को पत्र लिखती है पर भेजती नहीं—इससे अनीता-अमिय की सम्बन्ध-सीमा की व्यंजना होती है और यह भी कथा-विकास तथा चरित्र-व्यंजना में सहायक है। इस पत्र में माचवे जी ने यथार्थवादी उपाय से पत्र के कटे हुए शब्द—"(सस्नेह काटकर) तुम्हारी—अनीता"

१. पृ० ७-८। २. पृ० ७।

तक का परिचय इसलिए दिया है कि वह अनीता के मानस-द्वन्द्व को स्पष्ट कर सकें।

माचवे जी की वर्णन-शैली प्रसंगानुकूल कहीं सामान्य, कहीं रेखाचित्रात्मक,[1] कहीं कवित्यमय और कहीं व्यंग्यात्मक हो गई है—ये विषयानुकूल है, पर पात्रानुकूल नहीं। हेम जब गाँव से शहर जाती है, तो नगर को देखते हुए, वह लेखक की शैली और उसी के दृष्टिकोण के अनुसार सोचती है। महाजनी व्यवस्था पर, हेम का मजदूर मामा, लेखक की व्यंग्यात्मक साहित्यिक शैली में ही बोलता है। यहाँ पात्रों की अपेक्षा लेखक अधिक मुखरित है। वस्तुतः संवादों एवं वर्णन-शैली में माचवे जी ने पात्रानुकूल स्वभाविकता की अपेक्षा सामाजिक सोद्देश्यता का अधिक ध्यान रखा है। माचवे जी की शैली व्यंग्यात्मक अधिक है और इसका सौन्दर्य हेम[2] परिच्छेद में देखा जा सकता है।

सारांश में, अनेक नूतन शिल्प-पद्धतियों के प्रयोग से 'परन्तु' अपने ढंग का अकेला उपन्यास है। परन्तु अपनी नूतनता के आकर्षण से वह चौंकाता अधिक है, प्रभावित कम ही कर पाता है।

नदी के द्वीप

'नदी के द्वीप' (१६५१) 'अज्ञेय' का दूसरा उपन्यास है। अपने पहले उपन्यास 'शेखर : एक जीवनी' में लेखक ने विषय-वस्तु की नव्यता के साथ नूतन शिल्प-सजगता का सफल परिचय दिया था। 'नदी के द्वीप' में अभिव्यंजनापक्ष आकर्षक परिष्कृत के साथ विशेष प्रबल हो गया है, अतएव इस उपन्यास की शिल्प-प्रधानता के सम्बन्ध में आलोचकों में मतैक्य है।[3] यही नहीं, तकनीक की दृष्टि से इसे हिन्दी उपन्यासों की श्रेणी में 'अद्वितीय' भी कह दिया गया है,[4] या इस दृष्टि से इस में 'चरम सीमा' मानी गई है।[5] विषय-वस्तु का अपेक्षाकृत दौर्बल्य; विभिन्न

---

१. पृ० २५-३५। २. पृ० २७, नागरिकों का वर्णन।

३. क. डॉ० देवराज : "आधुनिक समीक्षा", पृ० १३८-१४०।

ख. उपेन्द्रनाथ अश्क : "हिन्दी कथासाहित्य में गतिरोध", 'रेखाएँ और चित्र', ६०।

ग. डॉ० विनयमोहन शर्मा : "साहित्य, शोध, समीक्षा", पृ० १४०— इसमें सन्देह नहीं कि स्वाधीनता कालीन उपन्यासों में 'नदी के द्वीप' का शिल्प विवादास्पद होने पर भी नूतन है। उसका अपना भाषा-शृंगार है, नीति-दर्शन है।"

४. डॉ० देवराज उपाध्याय : "कथा के तत्व", पृ० १६५।

५. डॉ० लक्ष्मीनारायण लाल : "आलोचना" संख्या १३, पृ० १६०।

पात्रों के सीमित दृष्टिकोण से कथा-कथन तथा सानुकूल विभाजन; पत्र-शैली के उत्कर्ष से कथा का सांकेतिक अनुबन्धन; स्मृत्यवलोकन, अन्तर्विवाद, स्वप्न-विश्लेषण, उद्धरण, प्रतीक तथा चलचित्रात्मक पद्धतियों का सम्मिलित सौष्ठव; संवाद-वैचित्र्य तथा भाषा-शैली का प्रोन्नत अभिजात वैशिष्ट्य 'नदी के द्वीप' को शिल्प-प्रधान उपन्यासों के वर्ग में रखने की अनुशंसा करते है।

'नदी के द्वीप' में यौन-तृप्ति, प्रेम, विवाह आदि की समस्याओं के माध्यम से व्यक्तिवादी जीवन-दर्शन को प्रस्तुत किया गया है। इसके प्रतीकात्मक शीर्षक से यही अर्थ-संकेत मिलता है—यह प्रतिपाद्य-बोधक है। उपन्यास के वैचारिक धरातल का आरम्भ-अन्त इसी प्रतीक-रूपक से किया गया है।[1] इससे उपन्यास की वैचारिक एकता की सिद्धि की गई है। कुल मिला कर १२-१३ स्थलों पर इस रूपकात्मक शीर्षक की चरितार्थता का सजग प्रयत्न किया गया है ताकि मुख्य प्रतिपाद्य को बार-बार स्पष्ट-पुष्ट और उभार कर प्रस्तुत किया जा सके। इस तरह यह शीर्षक प्रति-पाद्यबोधक ही नहीं, उसकी एकता तथा उभारने का साधक भी है; इस दृष्टि से निम्नस्थ पाँच स्थल उल्लेखनीय हैं :—

(क) मैं तो समझती हूँ, हम अधिक से अधिक इस प्रवाह में छोटे-छोटे द्वीप हैं, उस प्रवाह से घिरे हुए भी, उससे कटे हुए भी; भूमि से बँधे और स्थिर भी, पर प्रवाह में सर्वदा असहाय भी—न जाने कब प्रवाह की एक स्वैरिणी लहर आकर मिटा दे, बहा ले जाय, फिर चाहे द्वीप का फूल पत्ते का अच्छादन कितना ही सुन्दर क्यों न रहा हो ![2]

(ख) "· · · · काल का प्रवाह नहीं क्षण और क्षण और क्षण · · · क्षण सनातन है···छोटे-छोटे ओएसिस···सम्पृक्त क्षण···नदी के द्वीप······जो काल परंपरा नहीं मानता, तभी वह परिणामों के प्रति इतनी उपेक्षा रख सकता है—एक तरह से अनुत्तरदायी है · · · पर इससे क्या ? उत्तर माँगने वाला कोई दूसरा है ही कौन ? मैं ही तो मुझ से उत्तर माँग सकता हूँ ? और अगर मैं अपने सामने अनुत्तर-दायी हूँ, उसका फल मैं भोगूँगा—यानी अपने अनुत्तरदायित्व का उत्तरदायी मैं हूँ · · ·

क्या यह—परसों और कल और आज—वैसा ही एक द्वीप है—सम्पृक्त क्षणों का द्वीप—काल प्रवाहिनी में अटका हुआ एक अलग परम्परामुक्त खण्ड—जैसा रेखा कहती है ? परसों, कल, आज फिर महाशून्य—नहीं, आज, फिर दूसरा आज, फिर आज, तब महाशून्य ![3]

(ग) हम जीवन की नदी के अलग-अलग द्वीप हैं—ऐसे द्वीप स्थिर नही

१. पृ० १४, ३२६। २. पृ० १४। ३. पृ०, १३०।

होते, नदी निरन्तर उनका भाग्य गढ़ती चलती है; द्वीप अलग-अलग होकर भी निरन्तर घुलते और पुनः बनते रहते हैं—नया घोल, नये अणुओं का मिश्रण, नयी तलछट, एक स्थान से मिट कर दूसरे स्थान पर जमते हुए नये द्वीप···[१]

(घ) "··· कितना अजनबी, अकेला और गैर हो सकता है व्यक्ति। जब यह अपने घर में अजनबी, होता है ·· लेकिन यही अच्छा है: क्योंकि इस अजनबीपन में कोई भी वास्तव में गैर नहीं है; वह द्वीप है जिसके चारों ओर नदी का प्रवाह है, उसमें और द्वीप हैं; कहीं कोई साझा सीमान्त नहीं है, किसी से कोई सीधा सम्पर्क नहीं, केवल नदी के माध्यम से, नदी जो माँ है, तारयित्री है जो अन्त में एक दिन आप्लावन में सबको समा लेगी ··[२]

(ङ) जितना बड़ा है जीवन, कितना विस्तृत, कितना गहरा प्रवहमान; और उसमें व्यक्ति की ये छोटी-छोटी इकाइयाँ - प्रवाह से अलग जो कोई अस्तित्व नही रखतीं, कोई अर्थ नहीं रखती, फिर भी सम्पूर्ण है, स्वायत्त हैं, अद्वितीय हैं, और स्वतः प्रमाण हैं, क्योंकि अन्ततोगत्वा आत्मानुशासित है, अपने आगे उत्तरदायी हैं; स्वर्ग और नरक, पुण्य और पाप, दण्ड और पुरस्कार, शान्ति और तुष्टि, ये सब बराबर हैं तो केवल समय हैं, सत्य तभी है जब भीतर से उद्भूत हों···"[३]

उपर्युक्त उद्धरण ऐसे विभिन्न प्रसगों से लिए गए है जो शीर्षक (रूपक) को नया-नया अभिप्राय दे कर लेखक के व्यक्तिवादी जीवन-दर्शन के विभिन्न पक्षों को स्पष्ट करने में सहायक सिद्ध हुए हैं। सारांश में 'नदी के द्वीप' के शीर्षक की विविधतायुक्त आवृत्ति एक विस्तरणशील प्रतीक (expanding symbol) की कला-कुशलता से लेखक के अभिप्राय को स्पष्टता तथा गहराई देती है। शीर्षक को स्पष्ट करने वाले विचार-गर्भित खंड बाह्यारोपित नहीं, पात्रों के स्वाभाविक तर्क-वितर्क-क्रम[४], जीवन की विशिष्ट परिस्थितियों में उद्बुद्ध चिन्तन-क्रम,[५] आपसी जीवन को प्रभावित-परिचलित करने के प्रयास[६] तथा स्वानुभूत चिन्तन के अधार पर जीवन-निष्कर्ष देने[७] के रूप में कथा-प्रवाह के भीतर आए हैं। शीर्षक को चरितार्थ करने के प्रयत्न में, प्रतीकात्मक सांकेतिक विधि से तो लेखक का जीवन-दर्शन आया ही है; पात्रों की यौन-तृप्ति प्रेम-विवाहादि की समस्याओं के साधन से सीधे भी, स्थान-स्थान पर ऐसे लघु-लघु विचार-खंड आए है, जो शीर्षक का उल्लेख किए बिना, मानों उसी की पुष्टि में व्यक्तिवादी जीवन-दर्शन को स्पष्ट करते है। आगे के कुछ अवतरण हमारी बात को स्पष्ट कर सकेंगे—

(क) गर्भपात और हैमरेज होने की बिषम स्थिति में, रेखा अपने प्रेमी भुवन

१. पृ० ३७०। २. पृ० १८८। ३. पृ० ३२६। ४. पृ० १४।
५. पृ० १३०। ६. पृ० ३०७। ७. पृ० ३२६।

के भावी मार्ग-निर्देशन के लिए पहले ही कुछ लिख कर रख देती है। उसका एक विशिष्ट अंश द्रष्टव्य है :—

"तुम अब जब मुझे देखोगे, पहचानोगे ? अपनाओगे ?"

नहीं तुम चले जाना भुवन, मुझे अकेली छोड़ कर चले जाना। जीवन के सारे महत्वपूर्ण निर्णय व्यक्ति अकेले में करता है, सारे दर्द अकेले भोगता है—और तो और, प्यार के चरम आत्मसमर्पण का सब से बड़ा दर्द भी···मिलने में जो विरह का परम रस होता है—तुम जानते हो उसे ? समर्पण के धधकते क्षण में भी मैं हूँ, तू तू है, मैं तू नहीं हूँ और हमारी माँग बाकी है···इतना अभिन्न मिलन हो सकता है कि माँग बाकी न रहे ? सारी सृष्टि में रमा "हुआ ईश्वर भी तो अकेला है, अपनी सर्व-व्यप्ति में अकेला, अपनी अद्वितीयता में अयुत, विरही······।"[१]

(ख) गौरा के भविष्य-निर्णय के लिए, उसके माँ-बाप उसे एक व्यक्ति-विशेष से विवाहित कर देने की ज़िद किए हुए हैं, किन्तु गौरा मन ही मन शिक्षक भुवन के प्रति उन्मुख है। तब वह भुवन से, अपने मार्ग-निर्देशन के प्रश्न के उत्तर में जो पत्र पाती है, उसका कुछ अंश लीजिए—"··· गौरा, कोई किसी के जीवन का निर्देशन करे, यह मैं सदा से ग़लत मानता आया हूँ। तुम जानती हो दिशा-निर्देश भीतर का आलोक ही कर सकता है; वही स्वाधीन नैतिक जीवन है, बाकी सब गुलामी है। दूसरे यही कर सकते हैं कि उस आलोक को अधिक द्युतिमान बनाने में भरसक सहायता दें। ···एक बार तुम्हारे पिता ने मुझसे कहा था : 'सन्तान को पढ़ा-लिखा कर फिर अपनी इच्छा पर चलाना चाहने का मतबल है स्वयं अपनी दी हुई शिक्षा-दीक्षा को अमान्य करना, अपने को अमान्य करना; क्योंकि बीस बरस में माँ-बाप सन्तान को स्वतन्त्र विचार करना भी न सिखा सके तो उन्होंने क्या सिखाया ?"······पर यह बाहर की बात है। तुम्हारे भीतर ?······ मैं मानता हूँ कि जब तक कोई स्पष्टतया मनोवैज्ञानिक 'केस' न हो तो विवाह सहज धर्म है और है व्यक्ति की प्रगति और उत्तम अभिव्यक्ति की एक स्वाभाविक सीढी। लेकिन सिद्धांत के प्रतिपादन से ही प्रश्न का उत्तर नहीं हो जाता; व्यक्तित्व के प्रश्न के आगे व्यक्ति का जो प्रश्न है, वह बना रहता है। उसके विषय में मैं कह सकता हूँ कि व्यक्ति का स्वतन्त्र विकास जब तक पूरा नही हो जाता, तब तक उसे इकाई के बाहर प्रसृत करने का प्रश्न नहीं उठता, यह प्रश्न तभी उठना चाहिए जब उसके बिना विकास के मार्ग न हो, और प्रश्न उठने के बाद फिर व्यक्ति-विशेष की खोज होती है : उसमें जोखिम अनिवार्य है; पर आन्तरिक आलोक कुछ भी काम नही देता यह कैसे माना जाय ? जोखिम भी कौन-सा उठाने लायक है।

---

१. पृ० २३१।

होते, नदी निरन्तर उनका भाग्य गड़ती चलती है; द्वीप अलग-अलग होकर भी निरन्तर घुलते और पुनः बनते रहते हैं—नया घोल, नये अणुओं का मिश्रण, नयी तलछट, एक स्थान से मिट कर दूसरे स्थान पर जमते हुए नये द्वीप···[१]

(घ) "···कितना अजनबी, अकेला और गैर हो सकता है व्यक्ति। जब यह अपने घर में अजनबी, होता है··लेकिन यही अच्छा है: क्योंकि इस अजनबीपन मे कोई भी वास्तव में गैर नहीं है; वह द्वीप है जिसके चारों ओर नदी का प्रवाह है, उसमें और द्वीप हैं; कहीं कोई साझा सीमान्त नहीं है, किसी से कोई सीधा सम्पर्क नहीं, केवल नदी के माध्यम से, नदी जो माँ है, नारायिनी है जो अन्त में एक दिन आप्लावन में सबको समा लेगी ···[२]

(ङ) जितना बड़ा है जीवन, कितना विस्तृत, कितना गहरा प्रवहमान; और उसमें व्यक्ति की ये छोटी-छोटी इकाइयाँ - प्रवाह में अलग जो कोई अस्तित्व नहीं रखती, कोई अर्थ नहीं रखती, फिर भी सम्पूर्ण है, स्वायत्त हैं, अद्वितीय हैं, और स्वतः प्रमाण है, क्योंकि अन्ततोगत्वा आत्मानुशासित है, अपने आगे उत्तरदायी हैं; स्वर्ग और नरक, पुण्य और पाप, दण्ड और पुरस्कार, शान्ति और तुष्टि, ये सब बराबर है तो केवल समय हैं, सत्य तभी है जब भीतर से उद्भूत हों···"[३]

उपर्युक्त उद्धरण ऐसे विभिन्न प्रसंगों से लिए गए है जो शीर्षक (रूपक) को नया-नया अभिप्राय दे कर लेखक के व्यक्तिवादी जीवन-दर्शन के विभिन्न पक्षों को स्पष्ट करने मे सहायक सिद्ध हुए हैं। सारांश में 'नदी के द्वीप' के शीर्षक की विविधतायुक्त आवृत्ति एक विस्तरणशील प्रतीक (expanding symbol) की कला-कुशलता से लेखक के अभिप्राय को स्पष्टता तथा गहराई देती है। शीर्षक को स्पष्ट करने वाले विचार-गर्भित खंड बाह्यारोपित नहीं, पात्रों के स्वाभाविक तर्क-वितर्क-क्रम[४], जीवन की विशिष्ट परिस्थितियों में उद्बुद्ध चिन्तन-क्रम,[५] आपसी जीवन को प्रभावित-परिचलित करने के प्रयास[६] तथा स्वानुभूत चिन्तन के अधार पर जीवन-निष्कर्ष देने[७] के रूप में कथा-प्रवाह के भीतर आए हैं। शीर्षक को चरितार्थ करने के प्रयत्न मे, प्रतीकात्मक सांकेतिक विधि से तो लेखक का जीवन-दर्शन आया ही है, पात्रों की यौन-तृप्ति प्रेम-विवाहादि की समस्याओं के साधन से सीधे भी, स्थान-स्थान पर ऐसे लघु-लघु विचार-खंड आए है, जो शीर्षक का उल्लेख किए बिना, मानों उसी की पुष्टि में व्यक्तिवादी जीवन-दर्शन को स्पष्ट करते हैं। आगे के कुछ अवतरण हमारी बात को स्पष्ट कर सकेंगे—

(क) गर्भपात और हैमरेज होने की बिषम स्थिति में, रेखा अपने प्रेमी भुवन

१. पृ० ३७०। २. पृ० १८८। ३. पृ० ३२६। ४. पृ० १४।
५. पृ० १३०। ६. पृ० ३०७। ७. पृ० ३२६।

के भावी मार्ग-निर्देशन के लिए पहले ही कुछ लिख कर रख देती है। उसका एक विशिष्ट अंश द्रष्टव्य है :—

"तुम अब जब मुझे देखोगे, पहचानोगे ? अपनाओगे ?"

नहीं तुम चले जाना भुवन, मुझे अकेली छोड़ कर चले जाना। जीवन के सारे महत्वपूर्ण निर्णय व्यक्ति अकेले में करता है, सारे दर्द अकेले भोगता है—और तो और, प्यार के चरम आत्मसमर्पण का सब से बड़ा दर्द भी···मिलने में जो विरह का परम रस होता है—तुम जानते हो उसे ? समर्पण के धधकने क्षण में भी मैं हूँ, तू तू है, मैं तू नहीं हूँ और हमारी माँग बाकी है···इतना अभिन्न मिलन हो सकता है कि माँग बाकी न रहे ? सारी सृष्टि में रमा "हुआ ईश्वर भी तो अकेला है, अपनी सर्व-व्याप्ति में अकेला, अपनी अद्वितीयता में अयुत, विरही······।"[१]

(ख) गौरा के भविष्य-निर्णय के लिए. उसके माँ-बाप उसे एक व्यक्ति-विशेष से विवाहित कर देने की ज़िद किए हुए हैं, किन्तु गौरा मन ही मन शिक्षक भुवन के प्रति उन्मुख है। तब वह भुवन से, अपने मार्ग-निर्देशन के प्रश्न के उत्तर में जो पत्र पाती है, उसका कुछ अंश लीजिए—"··· गौरा, कोई किसी के जीवन का निर्देशन करे, यह मैं सदा से गलत मानता आया हूँ। तुम जानती हो दिशा-निर्देश भीतर का आलोक ही कर सकता है; वही स्वाधीन नैतिक जीवन है, बाकी सब गुलामी है। दूसरे यही कर सकते हैं कि उस आलोक को अधिक द्युतिमान बनाने में भरसक सहायता दें। ···एक बार तुम्हारे पिता ने मुझसे कहा था : 'सन्तान को पढ़ा-लिखा कर फिर अपनी इच्छा पर चलाना चाहने का मतबल है स्वयं अपनी दी हुई शिक्षा-दीक्षा को अमान्य करना, अपने को अमान्य करना; क्योंकि बीस बरस में माँ-बाप सन्तान को स्वतन्त्र विचार करना भी न सिखा सके तो उन्होंने क्या सिखाया ?"······पर यह बाहर की बात है। तुम्हारे भीतर ?······ मै मानता हूँ कि जब तक कोई स्पष्टतया मनोवैज्ञानिक 'केस' न हो तो विवाह सहज धर्म है और है व्यक्ति की प्रगति और उत्तम अभिव्यक्ति की एक स्वाभाविक सीढ़ी। लेकिन सिद्धांत के प्रतिपादन से ही प्रश्न का उत्तर नहीं हो जाता; व्यक्तित्व के प्रश्न के आगे व्यक्ति का जो प्रश्न है, वह बना रहता है। उसके विषय में मे कह सकता हूँ कि व्यक्ति का स्वतन्त्र विकास जब तक पूरा नही हो जाता, तब तक उसे इकाई के बाहर प्रसृत करने का प्रश्न नहीं उठता, यह प्रश्न तभी उठना चाहिए जब उसके बिना विकास के मार्ग न हो, और प्रश्न उठने के बाद फिर व्यक्ति-विशेष की खोज होती है : उसमें जोखिम अनिवार्य है; पर आन्तरिक आलोक कुछ भी काम नही देता यह कैसे माना जाय ? जोखिम भी कौन-सा उठाने लायक है।

---

१. पृ० २३१।

(ग) रेखा और भुवन के पारस्परिक 'फुलफिलमेंट'[१] के कारण रेखा के गर्भवती होने की सूचना पा कर भुवन—मानों सामाजिक सीमाओं को भीतर-ही भीतर स्वीकार करते हुए—रेखा से विवाह-प्रस्ताव करता है। वह उसे विश्वास दिलाने का प्रयास करता है कि वह किसी बाहरी दबाव या करुणा से प्रेरित होकर यह प्रस्ताव लेकर नहीं आया किन्तु रेखा मूल बात को समझती है और व्यक्तिवादी जीवन-दर्शन के आधार पर कह सकी है—"पर भुवन, तुम समाज की दृष्टि से देखते हो : वह दृष्टि गलत नहीं है, अप्रासंगिक भी नहीं है; पर निर्णायक भी वह नहीं है, व्यक्ति को दबाकर इस मामले का जो भी निर्णय होगा–गलत होता–घृण्य होगा, असह्य होगा। ····· मेरे कर्म का– सामाजिक व्यवहार का नियमन समाज करे, ठीक है, मेरे अन्तरंग जीवन का—नहीं। वह मेरा है। मेरा यानी हर व्यक्ति का निजी।"[२]

(घ) लेखक ने चन्द्रमाधव की सृष्टि व्यक्तिवादी जीवन-दृष्टि के विरोधी तर्कों को प्रस्तुत करने के लिए की है। उसे लेखक ने कम से कम सिद्धांत से साम्यवादी बनाया है। उसकी साम्यवादिता भी अन्त में अधिक मुखरित है, जो उसकी वर्ग-चेतना की नहीं, रुग्ण कुण्ठाओं—गौरा-रेखा दोनों का प्रेमपात्र न बना सकने की व्यक्तिगत असफलताओं को छिपाने और बिगड़ी-बनाने की व्यावहारिकता—का परिणाम है। लेखक ने मानो उस-जैसे अनेक साम्यवादियों पर व्यंग्य किया है। चन्द्रमाधव के तर्कों के खंडन-प्रयत्न में लेखक को पात्रों से व्यक्तिवादी दर्शन प्रतिपादित कराने का अवसर मिल गया है। उदाहरणतया, गौरा से वह पत्र द्वारा पूछता है—'क्या विश्व की इस संकटापन्न अवस्थिति (द्वितीय विश्वयुद्ध के आसन्न संकट की स्थिति) में उसे संगीत की साधना पर्याप्त जान पड़ती है?"—उत्तर में गौरा लिखती है—"मैंने पहले भी एक बार लिखा था कि हम लोग भिन्न-भिन्न भाषा बोलते हैं, हमारा मुहावरा अलग है। फिर भी कहूँ कि मेरी समझ में तो एक विश्व संकट यह है कि साधना आज इतनी नगण्य हो गयी है कि हमारा साध्य जीवन का आनन्द न रह कर जीवन की सुविधाएँ रह गया है यानी जीवन की हमारी परिभाषा ही बदल गई है, वह जीवन का नहीं, जीवन की क्रियाओं का नाम हो गया है। इसलिए आज हम जीवन की शोध की नहीं, जीवन की दौड़ की बात कहने लगे हैं; जीवन का बाह्यीकरण करते-करते हमने उसका बहिष्कार ही कर दिया है।···"[३] विचारों के अतिरिक्त पात्रों के व्यवहारों, उनके चरित्र की अन्तर्प्रेरणाओं तथा अन्तःसंघर्षों से भी व्यक्तिवादी दर्शन व्यंजित हुआ है। यह समाज के प्रचलित नीति-नियमों तथा सांस्थिक आग्रहों से प्रायः मुक्त, आत्मबद्ध तथा विशिष्ट या 'असाधारण' व्यक्तियों[४]—व्यक्ति पात्रों –

---

१. पृ० ६५-६६। २. पृ० २०६-७। ३. पृ० ७२।

४. जैसे भुवन प्रारम्भ में ही अनुभव करता है कि "···रेखा में एक दूरी है, एक

का संसार है। यहाँ व्यक्ति और समाज का संघर्ष स्वल्प है, व्तक्ति और व्यक्ति की टकराहट भी अधिक नहीं, व्यक्ति का अपने-आप से—अपने विभिन्न पहलुओं[1] तथा ग्रंथियों से—संघर्ष'[2] ही प्रबल है। फिर भी, यह उल्लेखनीय है कि समाज इनके कार्य-व्यवहारों को चाहे नियंत्रित नहीं करता, कहीं-कहीं प्रभावित अवश्य करता है। सर्जन-वायलनिस्ट के हित-चिंतन में भुवन का रेखा से विवाह-प्रस्ताव करना, रेखा का भुवन को अपमान से बचाने के लिए गर्भपात कराना, उसको अपने पहले पति हेमेन्द्र के दुर्व्यवहार की स्मृतियों का कचोटना, नैनीताल में होटल मैनेजर के नाम-पता पूछने पर भुवन की नजरों के आगे सभ्यता की समस्याएँ कौंधना[3] और फलस्वरूप नौकुछिया ताल के एकांत स्थलों पर पलायन कर जाना आदि उदाहरण समाज के प्रच्छन्न प्रभाव को व्यक्त करते हैं। ऐसा होने पर भी, समाज इन के जीवन की प्रत्यक्ष समस्या नहीं बन पाता। सब अपनी-अपनी प्रवृत्ति के अनुसार निर्बन्ध आचरण करने वाले हैं। सभी आर्थिक चिंताओं से मुक्त हैं। अनेक नौकरियाँ खोजने-पाने-छोड़ने वाली रेखा के लिए भी आर्थिक समस्या नहीं उठती। अतएव बाह्य संघर्ष के एक बड़े कारण को हटा देने से ये सभी पात्र सेक्स-भावना से आक्रान्त हैं। चन्द्र माधव पति-पिता होकर भी अपने परिवार से पृथक् रहता है। उसे पत्नी का मूक समर्पण नहीं, प्रेयसी का उष्णालिंगन चाहिए। वह रेखा और गौरा की प्राप्ति का प्रयत्न करता है किन्तु इन दोनों में असफल होकर बम्बई में नई शादी रचाता है। वह सिद्धांन्ततः साम्यवादी है, व्यवहारतः व्यक्तिवादी। गौरा संगीत-साधना करती है, पर इससे अधिक प्रेम-साधना। माँ-बाप की इच्छा भी उसके भुवन के प्रति प्रेम में बाधा नहीं बन पाती। वह मानों भुवन के ही लिए जीती है, क्योंकि उसी में जीती है।[4] भुवन उससे दूर भागता है पर वह अपने स्नेह बन्धन को अटूट बनाने में सफल होती है। हेमेन्द्र से विवाह करके रेखा उस की नही हुई, आगे रमेशचन्द्र से विवाह करके वह उसकी भी नहीं होती और भुवन से अविवाहित होते हुए भी वह मूलतः उसी की हुई। भुवन-प्रेषित पत्र मैं वह अपनी भीतरी भावना स्पष्ट कर देती है—"बरसों मैं श्रीमती हेमेन्द्र कहलाई, उसके क्या अर्थ थे ? अब अगले महीने से श्रीमती रमेशचन्द्र कहलाऊँगी—

अलगाव है, कि वह जिस समाज से घिरी है और जिसका केन्द्र है उसमे अछूती भी है…"। इसी तरह दूसरे पात्र भी है। 'नदी के द्वीप', पृ० ९। चन्द्रमाधव भी 'रेखा' को 'असाधारण' कहता है। पृ० २०।

१. द्रष्टव्य, 'नदी के द्वीप'। रेखा अपने बारे में जो स्पष्ट करती है, वह दूसरे पात्रों के लिए भी सत्य है—"असल में मेरे दो पहलू हैं—एक चरित्रवान, प्रकृत, मुक्त; एक सभ्य और चरित्रहीन।"

२. भुवन की स्वीकारोक्ति, पृ० १२९। ३. पृ० ११८। ४. पृ० २९५।

उसके भी क्या अर्थ हैं ? × × × मैं इतना ही सोच पाती हूँ कि मेरे लिए हूँ, और यह समूचा श्रीमतीत्व मिथ्या है, कि मैं तुम्हारी हूँ, केवल तुम्हारी; तुम्हारी ही हुई किसी की कभी नहीं, न कभी हो ही सकूँगी····· ये पार्थिवता के बन्धन, ये आकार, ये सूने कंकाल···महाराज, मेरे त्रिभुवन के महाराज···।"[1]

भुवन कासमिक रश्मियों के अनुसंधान में संलग्न उच्च वैज्ञानिक है किन्तु उपन्यास में उसकी विज्ञान-वृत्ति के स्थान पर रेखा और गौरा से प्रेम पाने, मिलन-वियोग आदि के व्यापार, तज्जन्य अनुभूतियाँ और उनमें उठी समस्याओं से भागने-सुलझने के कार्य ही सामने आते रहे हैं। सिद्धांततः वह दो-तीन स्थलों पर समष्टि-साधना की, "विशाल के आगे अपने को समर्पित कर देने"[2] की बात व्यक्त करता है किन्तु जीवनतः उसकी सीमा रेखा और गौरा तक ही है —इनमें से कम से कम एक को न पाने से उसका जीवन विषादमय हो उठता है। द्वितीय विश्व-युद्ध में जापान के कूदने पर भुवन गौरा को लिखता हैं—"इस खबर ने मुझे झकझोर दिया है"[3] और वह यहीं विश्व-स्थिति पर अपने विचार भी प्रकट करता है, अन्यत्र इन जापानियों के विरुद्ध फौज में भरती हो कर लड़ने भी जाता है किन्तु मूलतः वह न किसी बाहरी शक्ति से लड़ रहा है और न किसी पक्ष विशेष की फौज से बँधा है—वह गौरा से बंधा है, उसीसे भाग रहा है और किसी भीतरी बोझ से दबा हुआ अपने-आप से ही लड़ रहा है।[4] 'बीनकर सर्जन' समाप्त होकर भुवन के भी अचेतन की ग्रंथि बन जाता है। वह समझता है कि इस आने वाले शिशु के प्रति उसकी चिन्ता ही रेखा को उसे समाप्त करने की प्रेरणा देती है। इसलिए भुवन को आग में चेहरे दीखते हैं मृत चेहरे, बच्चों के चेहरे।[5] गौरा के सामने रेखा-सम्बद्ध इन सारी बातों को स्वीकार कर वह अपने ग्रंथिमुक्त होने की बात कहता है और इससे गौरा की ओर पहले से अधिक प्रेमोन्मुख भी होता है। परन्तु भीतर से उसको अपराध-भावना का बोझ अब भी दबा रहा होता है, वह पूर्णतया ग्रंथि-मुक्त नहीं होता इसलिए गौरा से भागा-भागा फिरता[6] और जोखिम के काम करता रहता है। इस तरह अन्त में अपने से लड़ाई लड़-लड़ के वह गौरा से विवाह करने के निश्चय में सफल होता है।

पहले हम यह लिख चुके है कि इन पात्रों के जीवन में समाज प्रत्यक्ष समस्या बन कर नहीं आया किन्तु परोक्षतः यह इनके अचेतनगत संस्कारों का अनिवार्य अंग है इनकी विवेकबुद्धि बहुत-कुछ अचेतन के सामाजिक संस्कारों की द्योतक है। समाज की सवीकृत मान्यताओं की अवहेलना ये जितनी ऊपर से कर सके हैं, उतनी भीतर से नहीं—इनका चेतन निर्बन्ध है किन्तु अचेतन संस्कारबद्ध होने से

१. पृ० ३०६। २. पृ० २०६। ३. पृ० २७४। ४. पृ० २८६।
५. पृ० २८४। ६. भुवन की स्वीकारोक्ति, पृ० ३१९।

संघर्षरत। भुवन का बीनकार-सर्जन के भावी आगमन की सूचना पर रेखा से विवाह-प्रस्ताव और रेखा का भुवन को बचाने के लिए, अपनी इच्छा के विरुद्ध, गर्भपात कराना इन्ही अचेतनगत सामाजिक संस्कारों का परिणाम है। पहली बार रेखा के मौन समर्पण को भुवन की विवेक-बुद्धि स्वीकार नहीं कर पाती। यौन-वृत्ति पर उसके विवेक की विजय मूलतः अचेतनबद्ध सामाजिक संस्कारों की विजय हैं। इसी तरह चन्द्रमाधव की व्यक्तिवादी उच्छृंखलता साम्यवादी सामाजिकता का बाना पहनकर और उसकी यौन अशांति वर्गीय-क्रांति की आड़ लेकर आती है। सारांश में यह है कि लेखक का व्यक्तिवादी दृष्टिकोण पात्रों के चरित्र-चित्रण से अनुमोदित है, और यह कलात्मक रूप से आया है—अपने मत-प्रतिपादन में उसने समाज के सूक्ष्म प्रभावों की भी अधिक अवहेलना नहीं की।

यद्यपि लेखक ने व्यक्तिवादी दृष्टिकोण का स्थान-स्थान पर सजग तथा कलात्मक प्रतिपादन किया है, तथापि वह प्रभावपूर्ण नहीं हो सका। इसके निम्नलिखित कारण दिए जा सकते हैं:—१. मतविशेष के सशक्त प्रतिपादन के लिए विरोधी विमतों, या प्रश्न-शंकाओं को प्रस्तुत करना आवश्यक होता है। विरोध की तीव्रता से अभीष्ट प्रतिपाद्य में क्षति नहीं आती, वह उभर कर बलशाली बनता है। इस से मत-विशेष का संचय नहीं, संचार होता है। यहाँ व्यक्तिवाद के विरोध का मुख्य आधार चन्द्रमाधव है, जो स्वयं सबल नहीं बन पाया। उससे समुचित रूप से विरोधी तर्क भी नहीं दिलाए जा सके। इसमे व्यक्तिवादी पक्ष के संचरण में कमी आ गई है। २. पात्र किसी दृष्टिकोण को मानते हैं, यह महत्वपूर्ण नहीं, वह क्या बनते हैं, उन्हें कौन-सी लब्धि होनी है, यह महत्वपूर्ण है। पात्रों के कथन नही, उनके व्यवहार बोलते है। इस दृष्टि से 'नदी के द्वीप' के व्यक्तिवादी दर्शन के परिचायक रूपक का सर्वाधिक, बार-बार, दुहराने वाली रेखा की लब्धि उसके अपने ही शब्दों में कितनी करुण है—"मैं भीतर से मर गई हूं, भुवन, तुम से कट कर फिर मैं कही भी वह जा सकती हूँ—किसी भी बुरे से बुरे नर-पशु के साथ भी रह सकती हूँ।…एक तुम्हीं ने मेरी जड़ित आत्मा को जगाया था—था! और उसके बाद, उसके फिर जड़ हो जाने पर मैं पहले से बदतर मृत्यु में सहज ही जा सकती हूँ। इसलिए सोचती हूँ, क्या वही न ठीक होगा, टूटी हुई रीढ़ वाली इस देह के लिए एक सहारा—एक छज : आत्मा की तो बात अब कौन कहे।"[1] किसी अन्य भौतिक उपलब्धि की तो बात ही दूर, कुछ मानसिक शान्ति भी इन को नहीं मिल पाई। ३. रेखा-भुवन के रूप मे नर-नारी के यौन-मिलन की कलात्मक अभिव्यजना आकर्षक है; किन्तु उपर्युक्त कथन मे तथा अन्यत्र भी उसे आत्मा को जगाने का उपकरण मानकर उसे जैसा महिमान्वित

१. पृ० २४३।

करने का प्रयास किया गया है, उससे पाठक का तादात्म्य नहीं हो पाता। ४. यौन-मिलन के क्षण-विशेष को परिपूर्ण संतोष (fulfilment) कहकर रेखा जैसे इसे असामान्य महत्व देती रहती है, वह उसके अपने, हर क्षण में जीने वाले' दर्शन के विपरीत है और उससे असंगति उत्पन्न हो गई है। ५. एक स्थान पर भुवन कहता है–"अनुभूतियाँ गतिशील हैं, अतीत होकर भी निरन्तर बदलती रहती है और व्यक्तित्व को विकसाती रहती हुई उसमें घुलती रहती हैं, लेकिन यह सीमा लाँघ जाने पर जैसे वे गतिशील नहीं रहतीं; स्थिर जड़ हो जाती हैं; एक न घुल सकने वाला लोंदा, एक वज्र-पिंड "[२] इस तरह 'जड़' न होने के लिए भुवन रेखा से और रेखा भुवन से अलग हो जाते है—ये गतिशील पात्र है। परन्तु यह गति किस के लिए है? उनके परिवर्तन अपने-आप में महत्व पूर्ण नहीं। ६. चारित्रिक अपूर्णता भी पात्रों से तादात्म्य में बाधक हुई है। एक, गौरा का चरित्र पूर्वयोजित स्थिर है। उसका भुवन के प्रति अत्यधिक आकर्षण-समर्पण समझ में नहीं आता। दूसरे, मात्र दो स्त्री पात्र लेकर भी लेखक उनके व्यक्तित्व के आपसी अन्तर की रेखाओं को उभार नहीं सका। ७. व्यक्तिवादी जीवन-दर्शन का प्रतिपादन जीवन के व्यापक बहुविध क्षेत्रों के आधार पर नहीं हो सका। मात्र यौन-मिलन, विवाह आदि के संदर्भों के आधार पर करने से उसमें एकांगिता भी आ गई है, तथा प्रभाव-व्यापकता में कमी भी। दूसरे, इन शृंगारिक प्रसंगों का वर्णन अपने-आप में इतना आकर्षक है कि पाठक का मन उनमें अधिक उलझता है, उनसे उठने वाले चिन्तन में कम।

'शेखर: एक जीवनी' के समान यहाँ भी उस 'वेदना-तत्व' को विशेष महत्व दिया गया है, जो मानव को निश्छल, संवेदनशील और उदार बनाता है। उपन्यास के आरम्भ से पूर्व ही 'अज्ञेय' ने इसी आशय की अपनी एक कविता दी है

"दु:ख सब को माँजता है।"
और—
चाहे स्वयं सबको मुक्ति देना वह न जाने, किन्तु—
जिनको माँजता है।
उन्हें यह सीख देता है कि सब को मुक्त रखें।

'नदी के द्वीप' के पात्रों—रेखा, गौरा, भुवन के चरित्र-विकास में इस तत्व का विशेष उपयोग हुआ है। गौरा विरह में ही रस पाती और भुवन की अन्त तक प्रतीक्षा करती है। रेखा स्वयं वेदना-सहन कर गौरा और भुवन के प्रति संवेदनशील बनती है। भुवन को अपने से मुक्त कर गौरा की ओर प्रवृत्त करने में रेखा की वेदनानुभूति का उपयोग हुआ है। फिर भी, यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि यह वेदनानुभूति

१. पृ० १०७। २. पृ० २५४।

उनके व्यक्तिवादी दर्शन का अंग है, इसका उपयोग समष्टिगत करुणा के रूप में कहीं नहीं हुआ किन्तु स्वयं को स्वस्थ-निश्छल बनाने—मानो व्यक्ति के अपने विकास—में इसका योग स्पष्ट है। रेखा ने बार-बार वेदना के महत्व पर अनेक पंक्तियाँ कही हैं, परन्तु निम्न कविता उसके क्षण-क्षण में जीने, और अपने को पुनः जिलाते रहने को अच्छा उदाहरण करती है—

"तुमने एक ही बार वेदना में मुझे जना था, माँ
पर मैं बार-बार अपने को जनता हूँ
और मरता हूँ
पुनः जनता हूँ और पुनः मरता हूँ
और फिर जनता हूँ,
क्योंकि वेदना में मैं अपनी माँ हूँ।[1]

'शेखर : एक जीवनी' को वेदना-तत्व से जैसी मार्मिकता तथा शक्ति मिली है, वैसी, 'नदी के द्वीप, को नहीं मिल सकी। इसका कारण यह है कि यहाँ वेदना विचारित अधिक है, अनुभूत कम। यहाँ वेदना का ज्ञानवर्धक दर्शन है, (शशि के) निचुड़ने प्राणों की अतल आह नहीं, जो द्रवित कर दे। इस पक्ष की दृष्टि से न तो रेखा और गौरा शशि बन पाई हैं और न भुवन शेखर।

लेखक की व्यक्तिवादी जीवन-दृष्टि व्यक्ति-पात्रों के माध्यम से आई है और इसी के अनुकूल इस उपन्यास के वस्तु-विधान को भी स्वरूप मिला है। यहाँ सीमित दृष्टिकोण वाली खण्ड-कथा-पद्धति का अवलम्बन हुआ है। जैसे, 'शेखर एक जीवनी' में एक ही पात्र के चेतनामार्ग से, उसी के सीमित दृष्टिकोण से कथा विकसित हुई है, वैसे ही यहाँ भी चार पात्रों के व्यक्ति-सीमित दृष्टिकोण से, कथा विकसित हुई है चारों ही अपने पृथक्-पृथक् स्वतन्त्र दृष्टिकोण से कथा को अग्रसर करते हुए स्वयं को व्यक्त और दूसरों का अध्ययन करते हैं। इस योजना के निर्वाह के लिए यह उपन्यास ग्यारह परिच्छेदों में विभक्त है जिनके अधिकांश शीर्षक पात्रों के नामों पर क्रमशः इस प्रकार हैं—भुवन, चन्द्रमाधव, गौरा, अन्तराल, रेखा, भुवन, चन्द्रमाधव रेखा, अन्तराल, गौरा, उपसंहार। स्पष्ट है कि प्रत्येक पात्र को कुछ अन्तर से दो-दो परिच्छेद मिले हैं जहाँ उसके आत्म-सीमित दृष्टिकोण से कथा प्रवाहित हुई है तथा उन की अपनी-अपनी जीवन-गाथा को प्रमुखता मिली है। तीन-चार परिच्छेदों के बाद आए 'अन्तराल' में पात्रों के पारस्परिक पत्र-व्यवहार से कथा-सूत्र एकत्रित तथा उनके दृष्टिकोणों का तुलनात्मक अध्ययन ध्वनित हुआ है। मानो यहाँ पृथक्-पृथक् पात्रों का आत्मगत (सब्जैक्टिव) मत न होकर एक पाँचवें, इन सबसे तटस्थ पात्र

१. पृ० १८७।

(लेखक) की मत-व्यंजना हुई है। अन्त में 'उपसंहार' है। उपन्यास के आरम्भ से पूर्व, परिच्छेदों के शीर्षकों की तालिका में एक लघु-परिच्छेद 'उपसंहार' शीर्षक से है, किन्तु, अन्य शीर्षकों के विपरीत, कथा में इसका पृथक् उल्लेख नहीं हुआ। फिर भी, दूसरे पृष्ठ में कुछ रिक्त स्थान छोड़ कर इसका आभास दे दिया गया है। इसमें भुवन का गौरा को लिखा एक पत्र है जिसमें उसके --नायक के --मन्तव्य के आधार पर लेखक के दृष्टिकोण का साराश आ गया है। इस प्रकार 'शेखर: एक जीवनी' की तरह 'नदी के द्वीप' मे सीमित दृष्टिकोण वाली कथा-कथन-पद्धति के होते हुए भी, चार पात्र होने से विविधता आ गई है। दूसरे, "शेखर में लेखक के सारा तटस्थ रहने पर भी नायक का निजी दृष्टिकोण (सब्जैक्टिव व्यू) ही अधिक मिलता है, क्योंकि लेखक जिसे तटस्थ चित्रण (आब्जैक्टिव व्यू) कहता है, उस पर भी शेखर का चश्मा लगा है। 'नदी के द्वीप' की टेकनीक में यह विशेषता है कि इसके प्रत्येक पात्र का 'सब्जैक्टिव' उद्घाटन तो हो ही जाता है, साथ ही उसके प्रति अन्य तीन पात्रों के अलग-अलग दृष्टिकोण व्यक्त हो जाते हैं। नदी के द्वीप में चार संवेदनाओं का अध्ययन है— 'सब्जैक्टिव' तथा 'आब्जैटिक्व' दोनों ही प्रकार से"।[1] यह भी स्पष्ट है कि 'नदी के द्वीप' में कथा का योजनापूर्ण गठन हुआ है, अतएव उसकी कथावस्तु में 'शेखर' की अपेक्षा कहीं अधिक सरसता आ गई है। 'शेखर' में लेखक ने नायक की स्मृतियों पर निर्भर रहकर विभिन्न प्रसंगों को जहाँ-तहाँ आने देकर विशृंखलित-सा रहने दिया है और एक सुसम्बद्ध कथानक की रागात्मक एकता की अपेक्षा नायक की मनःस्थिति की यथार्थता की रक्षा की है किन्तु 'नदी के द्वीप' में एक विशेष-विचित्र क्रम-योजना से, एक ऐसे कथासूत्र की व्यंजक उद्भावना हुई है जिससे विभिन्न प्रसंग शृंखलित-से होकर रागात्मक प्रभाव उत्पन्न करते हैं। दूसरे, "एक चतुर उपन्यासकार अपनी कथा की योजना इस ढंग से करता है कि पाठकों में सदा कौतूहल जाग्रत रहे; उसे सदा संशय बना रहे कि ऊँट किस करवट बैठना है, घटना कौन सा रूप लेती है। नदी के द्वीप' के चारों पात्रों का दृष्टिकोण पृथक्-पृथक् है प्रत्येक अपने दृष्टिकोण से घटनाओं का पर्यवेक्षण करता चलता है, प्रत्येक अपने दृष्टिकोण की विचित्रता के कारण घटना-प्रवाह के उस अंश को देखता है जो दूसरे पात्र नहीं देख सकते। प्रत्येक द्वारा घटना के विशेष अंग पर ही प्रकाश पड़ता है और वृहद् भाग अन्धकारमय ही रहता है जिसे आगे चलकर दूसरे पात्रों की किरण उद्भासित करती है। इस तरह कथा का रहस्य क्रमशः खुलता जाता है यथासमय, यथास्थान, यथारीति अर्थात् उचित स्थान पर, उचित समय पर, उचित ढंग से। न इधर, न उधर, सब व्यवस्थापूर्वक। अतः 'नदी

१. डॉ० रणवीर रांग्रा: "हिन्दी उपन्यास में चरित्र-चित्रण का विकास", पृ० ४७६-७७।

के द्वीप' के चार दृष्टिकोणों की सीमा में कथा को घेर देने से उपन्यास में एक विचित्र व्यवस्था, नियम और संगठन की योजना सम्भव हो सकी है"।[1] इससे उपन्यास अद्भुत सौष्ठव-सम्पन्न हो गया है।

'नदी के द्वीप' की कथावस्तु शृंगारिक है। इन पात्रों के प्रेम-सम्बन्धों का ऐसा मनोवैज्ञानिक एवं क्रमिक विकास हुआ है, जो अपने-आप में रहस्यमय है। स्वयं लेखक ने, उपन्यास में, इसके रहस्यमय स्वरूप का विश्लेषण इस प्रकार किया है—"मैत्री, सख्य, प्रेम—इनका विकास धीरे-धीरे होता है ऐसा हम मानते है; प्रथम दर्शन मे ही प्रेम की सम्भावना स्वीकार कर लेने से भी इसमे कोई अन्तर नहीं आता। पर धीरे-धीरे होता हुआ भी वह समगति से बढ़ने वाला विकास नही होता, सीढ़ियों की तरह बढ़ने वाली उसकी गति होती है, क्रमशः नये-नये उच्चतर स्तर पर पहुँचने वाली। कली का प्रस्फुटन उसकी ठीक उपमा नही है, जिसका क्रम विकास हम अनुक्षण देख सकें। धीरे-धीरे रंग भरना हे, पखुड़ियाँ खिलती है, सौरभ सचित होता है और डोलती हवाएँ रूप को निखार देती जाती है। ठीक उपमा साँझ का आकाश है। एक क्षण सूना, कि सहसा हम देखने है, अरे, वह तारा! और जब तक हम चौंक कर सोचें कि यह हमने क्षण-भर पहले क्यो न देखा—क्या तब नही था? तब तक इधर-उधर, आगे, ऊपर कितने ही तारे खिल आये, तारे नहीं, राशि-राशि नक्षत्र-मंडल, धूमिल उल्का-कुल, मुक्त-प्रवाहिनी नभपयस्विनी—अरे आकाश सूना कहाँ है, यह तो भरा हुआ है रहस्यो से जो हमारे आगे उद्घाटित है······प्यार भी ऐसा ही है; एक समुन्नत ढालान नही, परिचिति के, आध्यात्मिक संस्पर्श के नये-नये स्तरों का उन्मेष···।" आगे 'नदी के द्वीप' में इसको चरितार्थ करते हुए लिखा है—"गौरा से भुवन का चौदह वर्ष का—या कि सात-आठ वर्ष का—परिचय भी ऐसा ही था। इस लम्बे अन्तराल के बाद जो नया परिचय हुआ था, वह पहले परिचय से बिल्कुल भिन्न स्तर पर था; दूसरे स्तर पर वह समगति से चल रहा था कि सहसा एक झोंके से वह स्तर और उठा—वा गहरे में चला गया"।[2] भुवन-रेखा-दोनों जटिल संवेदनाओं वाले हैं, अतएव उनके आचरण साधारण लोगों-जैसे न हो कर, अपने विकास की मनोविज्ञान-सम्मत विविध सम्भावनाएँ लिए रहते है। इससे कथौत्सुक्य स्थिर रहता है। उदाहरणतया, भुवन एक अवसर पर सुन्दरी प्रेयसी के अविकल आत्म-समर्पण को स्वीकार नही कर पाता, विकास-क्रम में अन्य अवसर पर उसे स्वीकार कर लेता है। यही व्यक्ति अन्य प्रेमिका (गौरा) के समक्ष अपनी ग्रन्थियों को खोलकर स्वस्थ बनता है और उसे प्रत्येक प्रकार से समर्पित देखते हुए भी उसी

१. डॉ० देवराज उपाध्याय : "आधुनिक हिन्दी कथा साहित्य और मनोविज्ञान", पृ० १८१। २. पृ० ६३।

से भागता फिरता है। परन्तु अन्त में उसे ही स्वीकार कर लेता है। ईर्ष्यालु चन्द्रमाधव अपने मित्र की दो प्रेमिकाओं को, सामान्य नारी-मनोविज्ञान के अनुसार, आपस में लड़ा कर अपना उल्लू सीधा करना चाहता है किन्तु दोनों को पहली ही मुलाकात में परस्पर विशेष घनिष्ट होते देख कर यह सोचने पर बाध्य होता है कि "औरत नाम का जन्तु भी न जाने किस ढब का है"। इस तरह पात्रों के असामान्य आचरण चौंकाते और पाठकों की उत्सुकता को बनाये रखते हैं।

'नदी के द्वीप' की सरसता का एक बड़ा कारण अनेक शृंगारिक प्रसंगों का ब्यौरेबार उन्मुक्त चित्रण है। लेखक ने समाज-वर्जित शृंगारिक व्यापारों का संकेत नहीं दिया, सूक्ष्म-सजीव चित्रण किया है। इन्हीं को लेकर कुछ आलोचकों ने लेखक पर अश्लीलता, या 'अत्यन्त अमर्यादित चित्रण' का दोषारोपण भी किया है।[२] लगता है लेखक ने इस आरोप की सम्भावना का पहले ही अनुमान कर लिया था, इसलिए उसने अपना मत इस प्रकार दिया है—"जो रस देती है, जीवन को उभारती है, उसे अश्लीलता नहीं कहना चाहिए।"[३] अन्यत्र भी रेखा के मुख से उसने मानो जीवन के अनिवार्य यथार्थ को ग्रहणीय और सुन्दर कहा है; यही नहीं, प्रकारान्तर से शास्त्र-सम्मति भी दी है; देखिए—"वेदों की विवाह की ऋचाएँ हैं—सुन्दर जानो तो सुन्दर, अश्लील मानो तो अश्लील। मुझे याद आता है—'अस्थि से अस्थियाँ, मज्जा से मज्जा, त्वचा से त्वचा को युक्त करता हूँ . . ." ठीक कहती हैं वे, "हमने आँखों से आँखों को वरा था, ओठ से ओठ को, वक्ष से वक्ष को, प्राण से प्राण को, प्यार से प्यार को और हाँ, वासना से वासना को . . ."[४] इस तरह लेखक के मतानुसार मानों उसने पात्रों और पाठकों दोनों को रस देकर स्वस्थ बनाना चाहा है। एक, ये शृंगारिक वर्णन यथार्थ हैं; दूसरे, सौन्दर्य मण्डित; तीसरे, सांकेतिक न होते हुए भी कलात्मक हैं। इस सम्बन्ध में भुवन रेखा का मिलन-प्रसंग, रेखा की प्रथम प्रणय-याचना का दृश्य, तथा रेखा के गर्भपात के प्रसंग देखे जा सकते हैं।[५]

'नदी के द्वीप' के कथानक का आरम्भ और अन्त दोनों कलात्मक हैं। इसका आरम्भ शृंगारिक प्रकृति का नाटकीय आरम्भ है—प्रारम्भ से ही पाठक की उत्सुकता उद्बुद्ध हो जाती है। इस उपन्यास का अन्त अपूर्ण रहने दिया गया है, फिर भी भुवन के पत्र से कथा के अन्त का संकेत मिल जाता है।

कथानक की सरसता तथा समृद्धि में प्रभावपूर्ण तथा मार्मिक स्थलों का

---

१. पृ० १७५। २. (क) गिरिजादत्त शुक्ल गिरीश: "साहित्य वार्ता", पृ० १४६। (ख) भगवतशरण उपाध्याय: "कल्पना" मार्च, १९५३। (ग) शिवनारायण श्रीवास्तव: "हिन्दी उपान्यास", पृ० ३२१। ३. पृ० २१४। ४. पृ० २३१।
५. पृ० १४२-५०, १२६-२८।

अनिवार्य योग रहता है। इस सम्बन्ध में डॉ० देवराज का यह मत उद्धरणीय है, जो उपन्यास की शक्ति तथा सीमा का संतुलित मूल्यांकन करता है—"नदी के द्वीप" एक शक्तिपूर्ण उपन्यास नहीं है इस तथ्य का एक पहलू यह है कि उसमें गहरा रसोद्रेक कर सकने वाले प्रसंगो की विरलता है। यों उक्त उपन्यास का प्रत्येक अंश किसी-न-किसी प्रकार की अर्थवती चेतना जगाता है, किन्तु ये विश्लिष्ट चेतनाएँ समन्वित होकर बड़ा प्रभाव कम पैदा कर पाती है।

"इस सामान्य नियम के अपवाद भी हैं। अवश्य ही 'नदी के द्वीप' में कुछ प्रसंग हैं जो रसोद्रेक करने में अपेक्षाकृत अधिक समर्थ होते हैं। उपन्यास का प्रारम्भिक परिच्छेद, जहाँ भुवन गई हुई रेखा की याद कर रहा है, ज्यादा प्रभावशाली होता यदि उसमें बिखरी हुई अनुभूति अधिक पुंजीभूत हो सकती। चन्द्रमाधव से सम्बन्धित दो-एक प्रसंग मार्मिक है, जैसे उसकी पत्नी कौशल्या के साथ की घटना। हेमेन्द्र, रेखा के पूर्व पति का प्रसंग भी तीखे रूप में याद रहता है। चन्द्रमाधव का जगह-जगह रेखा तथा गौरा को एक साथ पत्र लिखना तथा दोनों ओर से रूखे उत्तर पाना, हमारी विनोद-वृत्ति को खाद्य देता है। काश्मीर में रेखा और भुवन का पहला मिलन भी एक प्रभविष्णु प्रसंग बन सका है।

" 'नदी के द्वीप' का सबसे शक्तिपूर्ण अंश वहाँ से शुरू होता है, जहाँ श्रीनगर में रेखा ने अपने कोख के शिशु को नष्ट करके शरीर को संकट में डाल लिया है। उसके बाद प्रायः अन्त तक उपन्यास की कथा विशुद्ध मानवीय धरातल पर चलती है—अनावश्यक उद्धरणों तथा अन्य विवरणों से मुक्त रहकर, यद्यपि वहाँ भी इन तत्वों का एकांत अभाव नहीं है। 'अन्तराल-खण्ड' में केवल विभिन्न पात्रों के पत्र-ही पत्र है। ये पत्र अज्ञेय के अद्भुत निर्माण-शिल्प के प्रतीक हैं। (ऐसा होते हुए भी इनकी एक-साथ भरमार हो जाने से ये कुछ उबाने वाले हो गए हैं)[१] गौरा के कक्ष में जलती हुई अंगीठी के सामने बैठे भुवन का आवेग-आवेश उपन्यास का एक सशक्त एवं महत्व-पूर्ण स्थल है। आपरेशन के बाद पीड़ित, क्लान्त और मृदुल-स्निग्ध रेखा तथा भुवन का मिलन-प्रसंग भी बड़ा करुण तथा मार्मिक है। मृत शिशु की चेतना से आक्रांत भुवन अंगीठी की आग को देख रहा है, उसका वर्णन भुवन की भावनाओं का मार्मिक प्रतिफलन करता है।..."[२]

'नदी के द्वीप' के कथानक के सुगठन तथा सौन्दर्य-वर्द्धन में सिनेमा की कला से सहायता ली गई है। अनेक स्थलों पर कथानक के विभिन्न-प्रसंग भिन्न-भिन्न बदलते दृश्यों का आभास देते है—जैसे विभिन्न दृश्यों के मध्य की कड़ी मिलानी आवश्यक नहीं होती, पट-परिवर्तन से आवश्यक बातों का अनुमान पाठक स्वयं ही कर

---

१. यह कोष्ठबद्ध मत हमारा है। २. "आधुनिक समीक्षा", पृ० १४२-४३।

लेता है, वैसे ही 'नदी के द्वीप' के अनेक लघु-लघु प्रसंगों की स्थिति है। प्रायः एक दृश्य के अन्त तथा दूसरे के अकस्मात् नाटकीय आरम्भ से पूर्व किंचित् रिक्त स्थान छोड़ दिया गया है, जिनमें पट-परिवर्तन की सूचना-सी मिल जाती है।[1] किन्तु सर्वत्र ये रिक्त स्थान पट-परिवर्तन की सूचना लेकर ही नहीं आए, किसी महत्वपूर्ण बात या स्थिति की समाप्ति या आरम्भ के पूर्व भी आए प्रतीत होते हैं।[2] इससे जहाँ वास्तविक दृश्य-परिवर्तन होता भी है, वहाँ उसका सही अनुमान शीघ्र ही नहीं लग पाता और वह अधिक अकस्मात् या नाटकीय लगता है। अज्ञेय जी ने इस कला का उपयोग करके अनावश्यक वर्णन या सूचनाएं देने से बचाव कर लिया है—हमारे सामने जैसे चुनी हुई आकर्षक एवं सार्थक स्थितियां ही लाई गई हैं। इससे उपन्यास के सौष्ठव में वृद्धि हुई है।

डॉ० देवराज उपाध्याय ने 'नदी के द्वीप' के कथानक में चलचित्र-निर्माण की क्लोजप (Close up) तथा स्लोअप (Slow up) पद्धतियां भी आलोचित की हैं। उन्होंने इसकी व्याख्या इस प्रकार की है—"प्रतीतात्मक अनुभूतियों के मानसिक आत्म-निष्ठ तत्वों की विवृति मनोवैज्ञानिक उपन्यासों की विशिष्ठता है। पर उस मानसिक तत्व का पूर्ण परिचय उस समय नहीं प्राप्त होता जब कि मनुष्य प्रवृत्त करने वाली बाह्य वस्तु (Stimulus) के आघात से प्रतिक्रिया (response) में प्रवृत्त हो जाय। नहीं, इस तत्व का दर्शन प्रवर्तक वस्तु और उसके आघात से उत्पन्न प्रतिक्रिया के मध्य में पड़ने वाले अवसर जबकि मनुष्य का अन्तस आन्दोलित होता है के समय हो सकता है। जीवन में इन दोनों के मध्य पड़ने वाली अवधि अत्यन्त अल्प तथा नगण्य मालूम पड़ती है और इसके वास्तविक रूप को देखना सहज नहीं। पर मनुष्य ने ऐसे अणुवादी यंत्र आविष्कृत कर लिए है जिनके सहारे वह कीटाणुओं को हजारों गुणा बढ़ा कर देख सकता है। उपन्यासकार अपनी कल्पना और प्रतिभा के सहारे इस बीच में पड़ने वाली अवधि को बढाकर उसका लेखा-जोखा ले सकता है और पाठकों को भी इसमें सम्मिलित होने के लिए निमन्त्रित कर सकता है। नदी के द्वीप' में इस कला का पूर्ण निदर्शन है।

'नदी के द्वीप' की कथा बहुत छोटी है। प्रेमचन्द के उपन्यासों की कथा तो संक्षेप में कहने के लिए पर्याप्त समय चाहिए पर 'नदी के द्वीप' की कथा इतनी भर है कि भुवन और चन्द्रमाधव के दो प्रतिद्विन्द्वियों मे रेखा की प्रणय-प्राप्ति में भुवन ही सफल होता है। पर आगे चलकर वह गौरा के प्रति ही समर्पित होता है। पर इन बाहरी क्रियाओं के अन्तराल में जो अवधि है उसको कल्पना के अणुवीक्षण से विस्तृत रूप में देखा गया है। अंग्रेजी में कहें तो कह सकते कि (infinite expansion of

१. १०६, ११२, १२६, १३६, १६५, ३१२, ३१४। २. पृ० १२७, १३१।

moment) अर्थात् एक लघु क्षण को दीर्घ जीवी अनंत बना कर देखा गया हैं। टैकनीक में अज्ञेय की कला चलचित्र निर्माण की उस पद्धति से मेल खाती है जिसे क्लोजअप (Close up) और स्लोअप (Slow up) कहते हैं।—इन दोनों पद्धतियों के विचित्र संयोग से 'नदी के द्वीप' में एक विचित्र सुन्दरता आ गई है जो अन्य औपन्यासिकों की रचना में दुर्लभ है।

"उदाहरण के लिए 'नदी के द्वीप' के प्रथम पेज को ही लीजिए। स्टेशन पर अपने किसी मित्र की कुहनी को छूकर डिब्बे में बैठ जाने के लिए आग्रह करना कोई असाधारण बात नहीं। हम सब ऐसा करते हैं। हमारा मित्र, प्रेयसी ही कह लीजिए, मेरी कुहनी पकड़ कर गाड़ी गें सवार कर देती है तो एक विचित्र स्पर्शानुभूति होती अवश्य है। पर यह क्या कि वह चुनचुनाहट ही सारी रात बनी रहे और उपन्यास के एक चालीस पन्ने वाले परिच्छेद तक किसी-न-किसी रूप में बनी रहे। पर यही बात 'नदी के द्वीप' में होती है और लेखक इसी छोटी-सी बात को लेकर जैसे जादू (magic) शायरी (poetery) और मनोवैज्ञानिकता, मैटाफिजिक्स की सृष्टि करता है और पाठक हैरत से दंग रह जाता है। पूरे प्रसंग को उद्धृत करना सम्भव नहीं पर कुछ देख लेना ही होगा—

"और यहीं से उसके विस्मय का आरम्भ होता था। क्योंकि यद्यपि वास्तव में रेखा ने उसे देख कर गाड़ी पर सवार करा दिया था तथापि उसे बहुत हल्के धक्के में यही लगा था कि रेखा वास्तव में उसे कुहनी पकड़ कर खींच रही है कि उसके शब्द और उसकी क्रिया भी उसके वास्तविक अभिप्राय को झुठला रहे हैं और वह वास्तव में उसे रोक ही देना चाहती है और जहाँ उसने भुवन की कुहनी को छुआ था वहीं वह अद्भुत अपूर्व परिचित चुनचुनाहट हो रही थी—उसकी कुहनी में जों सदा साथियों पर हँसता आया है कि उन्हे स्त्री का सान्निध्य सहन नहीं होता। वे उसे सहज भाव से न ले पाकर उत्तेजित या अस्थिर हो उठते हैं। उसने यहाँ तक देखा है कि किसी स्त्री द्वारा चाय का प्याला दिये जाने पर लोगों के हाथ ऐसे काँपने लगे कि चाय छलक जाय।

और आज एक स्त्री के सहज भाव से ठेल कर गाड़ी पर सवार करा दिये जाने पर उसकी कुहनी में स्पर्शित स्थल पर चुनचुनाहट होने लगी है और वह यह रोमानी कल्पना कर रहा है कि रेखा ने वास्तव में उसे ठेला नही बल्कि खींचा था···भुवन बाबू, यों हक्के बक्के अपने हाथ की ओर ताकते और कुहनी को पहिचानते न खड़े रहिये आखिर आपको हुआ क्या है······(पृ० ३)

इसके बाद फिर चालिसवें पृष्ठ पर—

"और ठीक उसके बाद उसने सहसा जाना था कि वह भीतर कहीं विचलित

है, और उसकी कुहनी चुनचुना रही है, और उसका हाथ उसका अपना अवयव नहीं है और सब पर्याय विपर्यय हैं और आस-पास कुछ गोरख-धन्धा है जिसका हल, कम से कम उस समय, उसे भूल गया है और गोरख-धन्धे का हल न जानने में उतनी छटपटाहट नहीं होती जितनी जानते हुए भी उस क्षण न पा सकने में……

भुवन ने एक लम्बी साँस ली, फिर अपनी चढ़ी हुई आस्तीनें नीचे उतार लीं चाहे हल्की सी ठण्ड से बचने के लिए, चाहे कुहनी पर की छाप को छिपाने या मिटाने के लिए" ।[१]

"इसी तरह उस प्रसंग का वर्णन जहाँ रेखा भुवन को जीवन का एकस्टासी (ectasy) देती है और स्वयं अपने को तृप्त (fulfilled) पाती है, तथा उसके हेमरेज के प्रसंग साहित्यिक क्लोजप (Close up) के उदाहरण में आ सकते है" ।[२] 'नदी के द्वीप' में चलचित्र जगत् के अन्य कला साधनों के उपयोग की चर्चा आगे यथास्थान होगी ।

कथानक के मनोवैज्ञानिक निबन्धन तथा पात्रों के चरित्र-विश्लेषण में 'अज्ञेय' ने स्मृत्यवलोकन या 'प्रत्यवलोकन'[३] प्रणाली का भी यत्किंचित् उपयोग किया है । फिर भी, 'शेखर : एक जीवनी' की तरह यह सम्पूर्ण नहीं—जहाँ नायक अपने समग्र जीवन का प्रत्यवलोकन करता और अपने अतीत-जीवन का पुनः स्मरण करता है—आंशिक है; यहाँ चार-पाँच स्थलों पर भिन्न-भिन्न पात्र अपनी स्मृतियों में अतीत-जीवन के किन्हीं खण्डों का अवलोकन करते हैं । पहला प्रत्यवलोकन उपन्यास के आरम्भ में ही भुवन का है (उदाहरण ऊपर दिया जा चुका है) जिससे उसकी स्मृति पिछले कुछ घण्टों की दृश्यावाली के पन्ने उलटने-उलटने, चन्द्रमाधव और रेखा के साथ बिताए, गत सप्ताह के जीवन का अवलोकन कर लेती है । इस प्रत्यवलोकन के दो लक्ष्य देखे जा सकते हैं—पहला, उपन्यास का नाटकीय चमत्कार से पूर्ण उत्सुकता-उद्बोधक आरम्भ करना; दूसरे, एक मनोवैज्ञानिक उपन्यास के अनुकूल पात्र की मानसिकता के अंग रूप में, उसके आत्म-सीमित दृष्टिकोण से घटनाओं का ऐसा विश्लिष्ट प्रस्तुतीकरण कि उसका मनोवैज्ञानिक चरित्र-चित्र भी सामने आ जाए । स्पष्ट ही यह 'शेखर : एक जीवनी' के नायक के प्रत्यवलोकन से भिन्न उद्देश्य लिए हुए है जहाँ उसके अपने जीवन की कार्य-कारण-परम्परा के सूत्रों को सुलझाने का प्रयत्न किया गया है ।[४] दूसरा प्रत्यवलोकन रेखा का है । एक विशेष स्थान के साक्षात्कार से सहसा

१. पृ० २९ । २. "हिन्दी कथा-साहित्य और मनोविज्ञान", पृ० १८४-८६ ।

३. "शेखर : एक जीवनी" की तरह अज्ञेय जी ने यहाँ भी स्थल-विशेष पर इस प्रणाली को यही नाम दिया है । पृ० २८० ।

४. "शेखर : एक जीवनी" की भूमिका ।

उद्‌बुद्ध साहचर्य स्मृतियों के आधार पर रेखा अपने पूर्व-पति हेमेन्द्र के सम्बन्धों की विषमता तथा चरम दूषित मनोवृत्तियों से पीड़ित एवं आविष्ट होकर असामान्य मानसिक स्थिति में पहुँच जाती है । इस सम्बन्ध में भुवन की जिज्ञासा को वह टालती आई थी किन्तु इस मनोदशा में वह सहसा फूट पड़ती है । फिर भी वह अधूरी बात ही कह पाती है और भुवन रेखा की कातर मनोदशा को और न बढ़ाने की खातिर उस से कुछ और जानने-सुनने से इन्कार कर देता है । फिर भी, रेखा अपनी उस आन्दोलित मानसिक स्थिति से उबर नहीं पाती और अतीत की उन विषम-घड़ियों में खोई-खोई, कटु स्मृतियों की ग्लानि को मन ही मन दुहराने लगती है जिससे रेखा और हेमेन्द्र के ६-७ वर्ष पहले के संबन्ध-विच्छेद के क्षणों का साक्षात्कार-सा हो उठता है[1]—रेखा के मन से आकार अतीत भी (नाटकीय) वर्तमान बन जाता है । इससे कथा में एक मार्मिक स्थल की सृष्टि ही नहीं हुई, उचित स्थान पर, पात्र की मानसिक दशा के अनुकूल 'उसकी मानसिकता के अंग-रूप में, उसके अतीत-जीवन की घटना का कुशल निबन्धन भी मुख्य कथानक से हो सका है । यही कथानक के मनोवैज्ञानिक निबन्धन की विशेषता है ।

डॉ० देवराज उपाध्याय ने उपर्युक्त स्थल में चलचित्र की कटबैक (cut back) पद्यति देखी है[2] किन्तु डॉ० रणवीर रांग्रा ने इसे प्रत्यवलोकन प्रणाली के अन्तर्गत ही लिया है ।[3] तीसरा प्रत्यावलोकन भी रेखा का है—केवल आधे पृष्ठ का और अधूरा; अतीत में विचरते हुए भी जहाँ वर्तमान का भान कुछ-न-कुछ बना रहता है । अनुसंधित्सु डॉ० भुवन के भीतर कौतुक-प्रिय शिशु हृदय को देखकर रेखा को अपना बचपन याद आ जाता है जिससे रेखा के जीवन का पूर्ववृत्त संक्षेप में आ गया है ।[4] इससे उसके उन अभावों तथा संस्कारों का संकेन मिल जाता है, जो उसके भुवन-जैसी प्रकृति के मनुष्य की ओर उन्मुखता के उत्तरदायी है । इस तरह इसकी महत्त्व चरित्र-चित्रण की दृष्टि से है । चौथा प्रत्यवलोकन पुनः भुवन का है । श्रीनगर से पहलगाँव के यात्रा-पथ में "ज्यों-ज्यों बस आगे जाती थी, त्यों-त्यों भुवन का मन अधिकाधिक तीखे झटकों के साथ पीछे जाता" और रेखा की कापी के पढ़े हुए वाक्य और स्पष्ट होकर उसके आगे दौड़ने लगे थे—"एक के बाद एक पंक्ति, जैसे सिनेमा की पंक्तियाँ मानो बेलन पर चढ़ी हुई घूमती जाती है और एक-एक पंक्ति आलोकित होती है" । इससे भुवन की तत्कालीन मनोदशा पर प्रकाश पड़ता है–भीतर ही भीतर रेखा से उसकी बढ़ती हुई घनिष्टता स्पष्ट होने लगती है । पाँचवा छोटा-सा प्रत्यवलोकन चन्द्रमाध

१. पृ० १०५-६ । २. "हिन्दी कथा-साहित्य और मनोविज्ञान", पृ० १८७-८८ ।
३. "हिन्दी उपन्यास में चरित्र-चित्रण का विकास", पृ० ४७७ ।
४. पृ० १११ । ५. पृ० १३७-१३६ ।

का है जिसमें वह हेमेन्द्र और उसके मित्र की याद करता है।[१] यह भी उसकी मनोदशा का परिचायक और इस तरह उपन्यास की मनोवैज्ञानिकता का द्योतक है। छठा प्रत्यवलोकन भुवन का है। गौरा के यहाँ मसूरी आने पर उसके प्रति अपनी अनचाही-सी अवज्ञा से शिथिल हुआ भुवन का मन, 'धीरे-धीरे मानो एक-एक कदम बढ़ता हुआ, प्रत्यवलोकन करने लगता है।" जिसमें उसके देहरादून और मसूरी पहुँचने के अवसर पर गौरा के स्वागत भाव के प्रति उसकी प्रतिक्रिया का विश्लिष्ट चित्र सामने आ जाता है।[२] रेखा सम्बन्धी घटनाओं के परिणामस्वरूप उसका मन किसी अपराध-भावना से अभिभूत है, जिससे वह गौरा से सहज व्यवहार नहीं कर पाता---इस प्रत्यवलोकन से उस की यह मनोदशा संकेतित हो उठती है। यह उल्लेखनीय है कि यह प्रत्यवलोकन रात को, उसी दिन के दुपहर के कुछ घंटों का किया गया है—लेखक ने मसूरी-आगमन को सीधे न दिखा कर, मानो काल-विपर्यय से दिखा दिया है ताकी उसकी विशिष्ट मनोदशा पर पाठक की दृष्टि केन्द्रित की जा सके। इस तरह के चयनित-विभेदित प्रसंगों में नाटकीय प्रभाव की सृष्टि की गई।

सारांश में प्रत्यवलोकन-प्रणाली का 'नदी के द्वीप' की मनोवैज्ञानिक विशेषताओं में सीमित किन्तु सार्थक योग रहा है। अलग-अलग स्थानों पर पात्रों की मनोदशा के अनुकूल होने तथा प्रायः संक्षिप्त होने से यह पाठकों को भारी नहीं पड़ती। जिससे 'नदी क द्वीप' के कथा-रस में 'शेखर : एक जीवनी' की तरह कमी नहीं आई। 'नदी के द्वीप' में कथा-विकास के स्वाभाविक क्रम को उलटने-पलटने की काल-विपर्यय-पद्धति का प्रयोग भी कहीं-कहीं हुआ है। इस पद्धति में अतीत और वर्तमान की पार्थक्य-भावना को मिटा कर, काल-क्रम से घटनाएँ उपस्थित नहीं की जातीं। 'नदी के द्वीप' के प्रमुख पात्र भुवन और रेखा---और इसलिए लेखक भी—वर्तमान के दर्शन को महत्व देने वाले हैं। ये भविष्य को "केवल वर्तमान का ही प्रस्फुटन" मानते हैं।[३] अतएव अपनी उन्मुक्त इच्छा से लेखक ने कहीं-कहीं कथा-क्रम को आगे-पीछे कर दिया है। कुछ उदाहरण लीजिए। तुलियन से पहलगाँव लौटते समय लेखक भुवन और रेखा के नीचे उतरने की बात कहता है, यहाँ तक कि पहलगाँव भी दीखने लगता है। रेखा के कहने पर भुवन आगे न बढ़ कर कुछ मुड़ भी जाता है तब लेखक कथा-क्रम को पलट कर तुलियन से चलने के अवसर पर, रेखा और भुवन में हुई बातें देने लगता है।[४] कुछ महत्वपूर्ण बातों की ओर पाठकों का ध्यान आकृष्ट करना ही लेखक का लक्ष्य प्रतीत होता है। अन्यत्र गौरा भुवन के कमरे में रात को कुछ बातें करके अपने कमरे में जाकर सो जाती है। और प्रातः दोनों देर से उठ कर अपने-अपने कमरे से बाहर निकल और कुछ बातचीत कर अपने

१. पृ० १७६। २. पृ० २८०-८२। ३. पृ० १५५। ४. पृ० १५०-१५१।

अपने कमरे में चले जाते हैं। आगे लेखक नए दृश्य का उद्घाटन करते हुए यह लिख कर पाठक को चौंकाता है—मानो किसी रहस्य का पता देने जा रहा हो—"गौरा अपने कमरे में जाकर तुरन्त सोयी नहीं"।[1] और उसने जागते रह कर क्या किया, आगे इसका विवरण दिया गया है। एक अन्य स्थान पर, ३१७ पृष्ठ के अन्त में, नए दृश्य का आरम्भ भुवन के गौरा के कमरे में बैठ वार्तालाप से होता है। इसके आगे दोनों में कुछ व्यापार और वार्तालाप चलता है। किन्तु ३१८ के अन्त मे कथा-विपर्यय कर लेखक भुवन के गौरा के कमरे में आने से पूर्व की अवस्था की चर्चा करने लगता है। इस तरह दृश्यों के नाटकीय आरम्भ से जनित रोचकता की सिद्धि की गई है।

'नदी के द्वीप' के वस्तु-गठन तथा शील-प्रकाशन में उपर्युक्त पद्धतियों के अतिरिक्त तनिक डायरी-शैली तथा प्रचुर परिमाण में पत्र-शैली का विनियोग भी हुआ है। पहले डायरी-शैली को लें। 'नदी के द्वीप' के रेखा, भुवन और गौरा या तो 'परचे' लिखने हैं, या 'कापी' या 'डायरी'।[2] ये कहीं सप्रयोजन लिखते हैं, कहीं 'अनजाने'[3]; कहीं इनका आत्मज्ञापन प्रेषण के लिए है—प्रतिपात्र के पढ़ने के लिए—कहीं यह आत्मतोष तक सीमित है—आत्मनुशासन के रूप में, अपने को स्थिरचित्त करने के लिए।[4] उदाहरणतया, नौकुछिया में रेखा ने विदा होते भुवन को छोटे पैकेट के भीतर 'छोटी कापी' दी है। जिसे उसने रास्ते में देखने के लिए कहा है।[5] मसूरी में गौरा ने जो विचार लिखे, वे भुवन के प्रति निवेदित होकर भी भुवन को दिए नहीं गए।[6]

ये पात्र शिक्षित-नागरिक हैं, इनके व्यवहार शिष्ट-शालीन। एक सहजानुशासित सभ्यता इनमें है। वैसे भी स्वभाव से अन्तर्मुखी है। अतएव अपने प्रेमी प्रतिपात्र को अनेक बातें कह नहीं पाते, और पूर्णतया खुल नहीं पाते—एक स्थल पर भुवन और गौरा की स्थिति से यह स्पष्ट हो जाता है। गौरा भुवन की व्यथा-कथा को सुन कर कुछ सोचती है किन्तु उसे अभिव्यक्त नहीं कर सकती—या चाहती नहीं। भुवन के बाध्य करने पर उसका उत्तर है—"तो सुनिए। शब्द अधूरे है—क्योंकि उच्चरण माँगते हैं। मैं कह नहीं सकती थी, पर लिख सकती थी चाहती तो। लेकिन आप कहलाना चाहते है—लीजिए : मैं सोच रही थी—किसी तरह कुछ भी करके, अपने को उत्सर्ग करके ये घाव भर सकती—तो अपने जीवन को सफल मानती—"[7] यह कहकर भी वह अपने अन्तर को हल्का कहाँ कर पाती है इसलिए इस चर्चा के बाद, रात के ३ बजे भी, अपने कमरे में जाकर वह अपने समर्पण-भाव को डायरी के पन्नों में मूर्त करती है। यद्यपि उसके ये पन्ने भुवन को नहीं दिए जाते किन्तु

१. पृ० २९३-२९४। २. पृ० १२४। ३. पृ० १९४।
४. पृ० २९५। ५. पृ० १३१। ६. पृ० ३१४। ७. पृ० २९१।

पाठकों को तो मिल ही जाते हैं।—"उसका प्रतिबिम्ब देखने के लिए; उसके भीतर जो है वह कितना खरा है? कितना अच्छा है? कितना गहरा, कितना सच्चा, अर्थाविष्ट है? या नहीं है···"[१] इससे उसके चरित्र के मूल मनोभावों, भुवन के प्रति उसके तन्मय समपर्ण-भावों को स्पष्ट कर उसके चरित्र को संगति दी गई है। इस दृष्टि से उसके निम्न शब्द पठनीय हैं—"सचमुच मेरे जीवन का सबसे बड़ा इष्ट यही है कि तुम्हें सुखी देख सकूँ। मेरे स्नेहशिशु, मैं तुम्हारे ही लिए जीती हूँ क्योंकि तुम में जीती हूँ···

"मेरा सहज बोध मुझे बताता था पर तुम दूर थे, तुम और दूर भागते रहे; और मैं विश्वास नहीं जुटा पाती थी—मैं अन्तर्यामी तो नहीं हूँ। मैंने मान लिया, भक्तकवि ही ठीक कहते हैं, प्रिय को पाना ही निष्पत्ति नहीं है,···विरह का भी रस है, और वह रस भी एक मार्ग···× × × ×

"तुमने मुझे विश्वास दिया है; मैं तुम्हारी बहुत कृतज्ञ हूँ। मुझे लगता है, मैंने बहुत बड़ी निधि पाई है, ऐश्वर्य पाया है, और तुमसे। मेरे जीवन के सारे तन्तु तुम्हारे चारों ओर लिपट गये हैं। वे बहुत सूक्ष्म हैं, तुम्हें बाँधेंगे नहीं, पर तुम उन्हें छुड़ा नहीं सकोगे, तोड़ ही सकोगे—और सब नष्ट करके ही। उनका कोई बोझ तुम पर नहीं होगा·"[२] इस प्रकार की पंक्तियों को हृदयंगम किए बिना गौरा की चरित्र-संगति स्पष्ट न हो सकती। और यहाँ यह कह दिया जाए कि कथावस्तु भी रहस्य रह जाती। कारण, यहाँ पात्रों के स्थूल व्यापार और बाहरी घटनाएं कितनी हैं? जो हैं, वे प्रायः उनकी मानसिक प्रतिक्रिया की प्रतिबिम्ब हैं। उदाहरणतया, अपने गर्भगत शिशु को गिराने के रहस्य के मूल में रेखा के आंतरिक मनोभाव उसके भुवन के लिए लिखे गए कागज़ों से स्पष्ट होते हैं। साथ ही रेखा-भुवन के भावी सम्बन्धों की सम्भावनाओं के बीज भी इसमें मिल जाते हैं। इसके लिए ये दो पंक्तियाँ ही पर्याप्त होंगी—"तुम अब मुझे देखोगे पहचानोगे? अपनाओगे?

'नहीं तुम चले जाना भुवन मुझे अकेली छोड़कर चले जाना।"

इसके आगे ही उसके एकाकीपन का जीवन-दर्शन मुखरित हुआ है।[३] इन डायरी के पन्नों में पात्रों की जीवन-दर्शन आ सका है क्योंकि इनमें आए विचार पेशेवर दार्शनिकों की तत्वमीमांसा नहीं और न ही बौद्धिक तर्क-प्रणाली का अंग हैं; ये जीवन के प्रति उनकी आस्था के द्योतक है। और भोगने वाले पात्रों का जीवन-दर्शन, उनकी अस्था से अलग नहीं हो सकता।

इन डायरी के पन्ने ने पात्रों के आचरणों को भी कुछ-न-कुछ प्रभावित अवश्य किया है और इस रूप में कथा को गति दी है। नौकुछिया में रेखा से मिली कापी

---

१. पृ० २६५-६६। २. पृ० २६५-६६। ३. पृ० २३१।

के पन्ने जिस रूप में भुवन को याद आते हैं, वह अपने प्रभाव को स्वयं ही घोषित कर रहे हैं— ज्यों-ज्यों बस आगे को जाती थी, त्यों-त्यों भुवन का मन अधिकाधिक तीखे झटकों के साथ पीछे जाता था—एक लघु क्षण के लिए, बस, लेकिन प्रत्येक बार एक टीस के साथ...''[१] अन्त में यह लिख देना आवश्यक है कि डायरी के ये पृष्ठ एक-साथ कहीं भी अधिक नहीं आए, जिससे कथा-गति अविरुद्ध रही है।

अब हम पत्र-विधि (epistolary method) का विवेचन करेंगे। 'नदी के द्वीप' के दोनों 'अन्तराल' परिच्छेद एकांत रूप से इस शैली से निर्मित है। इसके अतिरिक्त यत्र-तत्र अन्यत्र भी पत्र आते रहे है। कहीं-कही लेखक ने पात्रों के पत्रों का आशय बिना पत्र-स्वरूप के दे दिया है,[१] किन्तु अधिकांशतः पत्र-निर्माण का शिल्प-कौशल यहाँ दर्शनीय हो उठा है—पात्रों की आत्माभिव्यक्ति की लब्धि के अतिरिक्त पाठकों को पत्र-रूप का रस भी मिलता है। इस पत्रात्मक शैली की आवश्यकता लेखक को क्यों हुई ? इसके उत्तर में सामान्य प्रमुख कारण यह दिया जा सकता है कि दूरांतर नगरों मे रहने वाले पात्रों के पारिस्परिक सम्बन्धों को स्थिर रखने, या बनाने-बिगाड़ने, मन्त्रणा देने-लेने तथा उनके मानसिक मिलन की यह सहज साधन हो सकती थी। इसी माध्यम से इनके व्यापार प्रभावित हो सकते थे। अतएव 'नदी के द्वीप' में भी दूर-दूर रहने वाले पात्रों के आपसी सम्बन्धों पर आधारित कथानक के विकास में पत्रात्मक शैली से सहायता की गई है। उदाहणतया, गौरा अपनी विवाह-समस्या का समाधान अपने विश्वास्य शिक्षक भुवन के पत्रगत विचारों एवं प्रोत्साहन से पाती है। फलस्वरूप गौरा किसी अन्य से विवाह नहीं करती और कथानायक भुवन के प्रति क्रमशः समर्पित हो जाती है। भुवन-रेखा का प्राम्भिक अन्योन्याकर्षण पत्रों के माध्यम से स्थिर ही नही रहता, स्फूर्ति पा कर बढ़ता भी है। प्रमाणस्वरूप, ग्रीष्मावकाश की छुट्टियों में पहाड़ों पर घूम आने का निमन्त्रण-पत्र रेखा भुवन को चन्द्रमाधव के आग्रह से लिखती है तथा उसी के द्वारा प्रेषित भी करती है, किन्तु उस की अपनी रुचि इस पंक्ति से झाँकती ही नहीं, भुवन को स्फुरित करने का कारण भी बन सकती है; जैसेः—"आपका परिचय मेरे इधर के धुधले वर्षों में एक प्रखर ज्योति-किरण सा है; मैं तो किसी हद तक कर्मवादी हूँ और सोचती हूँ कि मेरा इस बार लखनऊ जाना और आप से भेंट होना और आपके साथ प्रतापगढ़ तक लौटना" आदि।[३] हेमेन्द्र के पत्र के कारण ही रेखा, अपने प्रेमी भुवन से पूछे बिना, अपना गर्भपात कराने की विक्षोभकारी घटना के सृजन का कारण बनती है। 'नदी के द्वीप' के अन्त—गौरा और भुवन की प्रेम-परिणति के स्वरूप—का संकेत भी भुवन के अप्रेषित पत्र द्वारा दिया गया है। इस तरह पत्र-शैली कथानक

१. पृ० १३७। २. पृ० ६१-६२। ३. पृ० ८०।

के विकास में विशेष सहायक रही है। दूरांतर नगरों में स्थित पात्रों के कथानक का निर्वाह भी इतिहास-शैली के लेखक की तरह सर्वज्ञ बन कर किया जा सकता था, अतएव प्रश्न बना ही रहता है कि लेखक ने सीधी कथा न कहकर पत्र-शैली का इतना अवलम्ब क्यों लिया? इसका एक कारण तो वही है, जो डायरी-शैली के प्रसंग में दिया जा चुका है कि अन्तर्मुखी पात्र इसमें अपेक्षाकृत अधिक सुविधा से खुल पाते हैं, और अन्तरंग मित्र से उनका उन्मुक्त आत्म-प्रकाशन हो सकता है। आत्मज्ञापन का यह अधिक निस्संकोच तथा निजी प्रकार है। और यह उपन्यास की व्यक्तिवादी प्रकृति के अनुकूल है[1]। उदाहरणतया, एक पत्र में गौरा भुवन को लिखती है—"मैं 'तुम' लिख गई हूँ—बिना इजाज़त लिये ही—बुरा तो न मानोगे? बोलने में लगता है अब भी मिलूँगी तो 'आप' ही कहूँगी, पर चिट्ठी में 'तुम' लिखना ही आसान भी और ठीक भी जान पड़ रहा है, बल्कि सोचती हूँ, आप अब कैसे लिखूँ? आप नाराज़ तो न हो जाइयेगा देव-शिशु[2]?" 'आप' से 'तुम' तक बढ़ी हुई प्रीति आगे और बढ़कर होली के अवसर पर भुवन को लिफाफे में अबीर और अभ्रक का चूर भेजती है और उसे मुँह पर मल लेने का 'आग्रह' करती है। भुवन भी बदले में फूल पहनने को भेजता है—फिर 'पहनने' की बात काट कर उस की गंध सूँघने के बहाने अपनी 'स्नेह की साँसों' का उपहार भेजता है[3]। इस तरह पात्रों के चरित्र के मूल मनोभावों तथा अन्तर्द्वन्द्वों को पत्रों में भली-भाँति पकड़ा जा सकता है। विशेष रूप से 'नदी के द्वीप' के उन पात्रों के, जो न सूचनात्मक पत्र लिखते हैं, और न लिखने की बला ही टालते हैं; जैसे, भुवन "की धारणा थी कि अच्छा पत्र-व्यवहार कभी नियमित हो ही नहीं सकता, जीवन में जब-तब ही पत्र लिखे जायें तभी अच्छे होते हैं।"[4] पत्रों के आशय से ही नहीं, उनके प्रारम्भिक सम्बोधन, तथा पत्रान्त के स्वरूप से भी उनके मनोभावों को लक्षित किया जा सकता है। उदाहरणतया आरम्भ से लेकर अन्त तक गौरा के भुवन को लिखे हुए पत्रों को ही देखा जाए, तो उसके क्रमशः बढ़ते और चरम तक पहुँचते प्रेम का प्रमाण मिल जाता है। 'आप की गौरा' एवं 'आपकी कृतज्ञ गौरा', से बढ़कर वह 'आप की ही गौरा।' तथा 'आप की, आप ही की

---

1. Mirium Allott : "Novelist on the Novels", p. 188
"The epistolary method · · as a narrative technique was one manifestation of the changing habit of mind which had helped to foster the novel it self : the transition from the objective, social and public orientaion of the classical world to the subjective, individualist and private orientation of the life and literature···"

२. पृ० ३००। ३. पृ० ३०२। ४. पृ० ६१।

गौरा' तक पहुँच जाती है ।[1]

मनोवैज्ञानिक उपन्यासकार के लिए पात्रों के मानस के अध्ययन में यह शैली महत्वपूर्ण सिद्ध हो सकती है । उदाहरणतया, दूसरे अन्तराल-खंड में रेखा जिस प्रकार धीरे-धीरे भुवन से दूर हटती हुई अपने लिए नया मार्ग बनाते रहने के लिए भीतर ही भीतर तत्पर होती रहती है; भुवन को भी अपने से मुक्त कर उसे गौरा की ओर उन्मुख करने के लिए प्रयास करती है और साथ ही भुवन स्वयं भी रेखा से गौरा की ओर जैसे क्रमशः अनजाने बढ़ता रहा है, उन सभी मानसिक प्रक्रियाओं—दूरांतर नगरों में रहने वाले पात्रों के मानस में समय के साथ आने वाले सूक्ष्म परिवर्तनों—का अध्ययन इस पत्र-शैली में भली-भाँति हो सका है । डॉ० देवराज उपाध्याय ने इसकी व्याख्या में लिखा है–"द्वितीय अन्तराल वाले (खंड) में पत्रों के विविध संकलन (permutation and combination) के द्वारा पाठकों को उस मानसिक स्थिति तथा परिस्थिति का परिचय दिया गया है जिसमें भुवन का हृदय धीरे-धीरे रेखा से हटकर गौरा की ओर अग्रसर हो रहा है, हुआ नहीं, पर हो रहा है । यह परिच्छेद उस अवस्था का वर्णन करता है जिसे अंग्रेजी में process of becoming कहेंगे और present continuous के द्वारा, संस्कृत में शतृ और शानच् प्रत्ययों के द्वारा प्रकट करते है और ऊपर कहा ही गया है कि मनोवैज्ञानिक पद्धति का अधिक सम्बन्ध निष्ठा प्रत्यय से नहीं, process of being से नहीं परन्तु process of becoming से है, शतृ और शानच् से है । इस शतृ और शानच् के प्रदर्शन के लिए सिनेमा की क्लोजअप पद्धति प्रभावोत्पादक होती है जिसका साहित्यिक प्रतिरूप द्वितीय अन्तराल नामक इस परिच्छेद में पाया जाता है ।"[2] तीसरे, व्यंजनापूर्ण या नाटकीय चरित्र-चित्रण की कला में यह शैली विशेष सहायक है । इसमें लेखक पाठकों को पात्रों से सीधे सम्पर्क के आधार पर अपनी स्वतन्त्र धारणा बनाने का अवसर देता है–न वह स्वयं हस्तक्षेप करता है और न ही अपना मत देकर उन्हे पूर्वग्रहों से युक्त । पात्र ही, स्वय अपनी भी कहते है और दूसरों के बारे में अपना मत भी देते है । पात्रों का आत्मगत (subjective) तथा वस्तुगत (objective) दोनो प्रकार का उद्घाटन हो जाता है; जैसे, भुवन अपनी अंतरंग गौरा को लिखे पत्र में रेखा के सम्बन्ध में जो मत देता है उसमें उसका अपना दृष्टिकोण भी आ जाता है और वह स्वयं भी व्यक्त हो जाता है—"......उसके वहाँ एक और रिमार्केबल व्यक्ति से परिचय हुआ–एक श्रीमती रेखा देवी से । तुम उन्हें देखती तो अवश्य प्रभावित होती–एक स्वाधीन व्यक्ति जिसका व्यक्तित्व प्रतिभा के सहज तेज से नही, दुःख की आँच से निखरा है ।

---

१ पृ० ६४, ६६ ।

२. "हिन्दी कथा साहित्य और मनोविज्ञान", पृ० १८६-८७ ।

दुख तोड़ता भी है पर जब नहीं तोड़ता या तोड़ पाता, तब व्यक्ति को मुक्त करता है। ऐसा ही कुछ मुझे उनमें लगा…"[1]। चौथे, इस पत्र-शैली के उपयोग से 'अज्ञेय' जी अपने उपन्यास-शिल्प को और भी व्यंजक बना सके हैं – इस शैली में कथानक की स्थूल कड़ियाँ मिलाने का अधिकांश भार पाठकों पर पड़ जाता है और उपन्यासकार स्थूल वर्णनात्मकता से बच जाता है। इससे वह अनेक पृष्ठों के विस्तार की बचत करता है। पात्रों के सीमित दृष्टिकोण से ११ परिच्छेदों में कथा-धारा प्रवाहित करने के नाटकीय परिवर्तन के मध्य उनके आपसी मेल कराने वाले स्थूल वर्णनों के अभाव की चर्चा हम पहले कर चुके हैं; इनसे भी अनेक पृष्ठों के लेखन की बचत हुई है। सारांश में पत्र-पद्धति के उपयोग से लेखक ने मितव्ययिता, घनता, वक्रता, निपुणता, भावमयता, तथा सजीवता की सिद्धि की है। किन्तु यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि यह उपलब्धि बिखरे तथ्यों को संकलित कर सकने वाले पाठकों की अतिरिक्त तत्परता, छूटे वर्णनों का अनुमान कर सकने वाली उनकी सजग कल्पना तथा मनोवैज्ञानिक व्यंजनाओं को समझने वाली शिक्षित चेतना के बल पर ही हो सकी है। इसके बदले में पाठक भी अपनी जाग्रत चेतना, अनुभूति-क्षमता तथा ग्राहक कल्पना-सामर्थ्य का रस पाता है। किन्तु यह भी स्पष्ट है कि साधारण पाठक इसमें रस की अपेक्षा दुरूहता ही अनुभव करेगा। वस्तुतः 'नदी के द्वीप' शिक्षित-विकसित पाठकों के लिए है। आगे विवेचित की जाने वाली उद्धरण-शैली- - जिसमें अंग्रेजी-बंगला कविताओं की भरमार है—तथा स्वप्न-विश्लेषण से हमारी बात और भी अनुमोदित हो सकेगी।

'शेखर : एक जीवनी' की तरह 'नदी के द्वीप' में भी उद्धरण-शैली का अधिक प्रयोग हुआ है। पात्रों ने अँग्रेजी, बंगला, हिन्दी, संस्कृत, पजाबी भाषाओं के गद्य-पद्यांशों को प्रचुर मात्रा में उद्धृत किया है। ये उद्धरण जिन विभिन्न प्रसंगों में प्रयुक्त है, उनसे इनके प्रयोजन का अनुमान किया जा सकता है। ये निम्नलिखित हैं—(१) तर्क-वितर्क क्रम से पात्रों के अपने पक्षानुमोदन के लिए; जैसे, भुवन 'पेनफुल ट्रूथ' के स्पष्टीकरण में अँग्रेजी की कविता देता है और रेखा और चन्द्र ऋषि-मुनियों के अनुसार प्रेम और सत्य की व्याख्या करते हैं।[2] (२) विभिन्न परिस्थिति-प्रसंगों पर पात्रों की सहज प्रतिक्रिया (आलोचना) के रूप में; जैसे, फलों पर और पेड़ों के नीचे की हरियाली पर खेलती धूप की अत्यंत सुन्दरता को देखकर यह काव्य-पंक्ति दी गई है—द एपाल ट्री, द सिंगिग एण्ड द गोल्ड[3] (३) स्वयं लेखक के द्वारा अपने वक्तव्य की स्पष्टता के लिए।[4]

---

१. पृ० ८२। २. पृ० ११। ३. पृ० २३६। ४. पृ० ६३।

उपर्युक्त तीनों प्रयोजन गौण है। मुख्य प्रयोजन चौथा है जिसमें पात्र उद्धरणों से अपनी मनःस्थितियों की व्यंजना करते हैं और इस रूप में उनका जीवन-दर्शन भी आ जाता है। इस दृष्टि से ये उद्धरण सहज रूप में ही नहीं आए हैं, इनका सोद्देश्य प्रयोग भी हुआ है। उदाहरणतया, रेखा को लिखे पत्रांत के पश्चात् 'पुनश्च', में भुवन लिखता है—"फागुन की आष्टमी का धूमिल चाँद देखकर न जाने क्यों लारेंस की कविताएँ निकाल लाया; उसमें से एक कविता भेज रहा हूँ—

हाइ एंड स्मालर गोज़ द मून : शीस स्मालर एंड येरी फ़ार फ़ाम मी,
विस्टफ़ुल एंड कैंडिड, वाचिग मी विस्टफ़ुली फ़ाम हर डिस्टैंस, एंड आइ सी
ट्रेम्बलिंग ब्लू इन हर पैलर, ए टीयर दैट शोर्ली आइ हैव सीन बिफ़ोर,
ए टीयर ह्विच आइ हैड होप्ड ईवन हेल हेल्ड नाट अगेन इन स्टोर।[1]

यहाँ स्पष्ट है कि भुवन रेखा के प्यार को भूल नहीं पाया और दुखी है। रेखा अपने पत्रोत्तर में लिखती है, "तुमने एक बार मुझे लारेंस की कविता भेजी थी। लो, आज मैं तुम्हें एक का अंश भेजती हूँ। कोई सिर-पैर इनका नहीं है, फिरभी कुछ प्रासंगिकता मानों उसमें है।" रेखा के उद्धरण का अन्तिम अंश लीजिए जिसमें उसकी आस्था एवं जीवन-दर्शन व्यक्त हुए हैं—

ग्रीफ़, ग्रीफ़, आइ स्पोज़ एंड सफ़ीशेंट
ग्रीफ़ मेक्स अस फ़्री
टु बी फ़ेथलेस एंड फ़ेथफ़ुल टुगेदर
ऐज़ वी आल हैव टु बी।[2]

अगले पत्र में रेखा फिर लिखती है "तुम कैसे हो भुवन ?"—इसका उत्तर उसे पूछना नहीं पड़ता क्योंकि 'नदी के द्वीप' के पात्र आत्मविश्लेषक भी हैं और दूसरों की मनःस्थितियों के अध्ययन में सक्षम भी। इसलिए आगे जो वह लिखती है, उससे इन उद्धरणों का प्रयोजन स्पष्ट हो जाता है—"तुमने पिछले पत्र में मुझे लारेंस की जो कविता भेजी थी, उसी से अनुमान लगाऊँ तुम्हारी मनःस्थिति का, तो वह स्वीकार नहीं होता—नहीं भुवन, दर्द को, परिताप को जी से चिपटा कर मत बैठो—देखो, यह तुमसे मैं कहती हूँ मैं ! एक नीग्रो कविता है......" अन्तिम पंक्ति से स्पष्ट है कि इस नीग्रो कविता में उसकी 'मैं', वह स्वयं, बोल रही है। और इस कविता में उसका दृष्टिकोण (जीवन-दर्शन) एवं चरित्र की दृढ़ता व्यक्त हुई है। कविता उद्धृत करने के बाद वह लिखती है—"इसके पहले पद को उलाहना न समझना; सार की बात अन्तिम पद में है : हम अपने भीतर पका कर व्यथा को

१. पृ० २५८-५९। २. पृ० २६२।

सौंदर्य बनाते हैं—यही सृष्टि का रहस्य है, बल्कि यह तुमने मुझे बताया था।"[1]

पर-प्रेरणा से गाए गीतों में भी, पात्रों से अनजाने ऐसा चुनाव हो जाता है, जो उनके 'भीतर' को बाहर ला देते हैं। उदाहरणतया, पहले-पहल भुवन के कहने पर रेखा जो बंगला गीत गाती है,[2] उसमे भुवन उस में किसी रागात्मक गाँठ के बोझ को लक्षित कर लेता है। और रेखा का निम्न पंजाबी टप्पा तो उसकी मनोदशा का मूर्तिमान प्रतीक बन जाता है --

मेरा चोला लीरां दा
इक वारी पा फेरा तक्क हाल फकीरां दा !

लेखक ने उसकी सही आलोचना की है —'चलते-चलते वह स्वयं भी धीरे-धीरे गुनगुनाने लगी; कुछ तो उसके सुर की, और कुछ अर्थ की करुणा ने सहसा उसे छा लिया कि वह मानो उसकी अपनी करुणा हो गई,...'[4] प्रेमी भुवन को अपने गर्भवती होने की सूचना देने के बाद उसका यह निवेदन कितना सत्य है।

अनेक स्थलों पर अपनी आत्माभिव्यक्ति को परिपूर्ण तथा शक्तिशाली बनाने के लिए उद्धरणों का जो प्रयोग मिलता है, वह भी प्रकारान्तर से पात्रों की मनःस्थिति, या चरित्र की व्यंजना ही करता है; जैसे, 'लेकिन भुवन, धीरे-धीरे 'ड्राप बाइ ड्राप स्लोली, ड्राप बाइ ड्राप आफ फायर। एलास माई रोज़ आफ़ लाइफ़ गान टु प्रिकल्स....'[5] 'शेखर : एक जीवनी' के समान 'नदी के द्वीप' में उद्धरण-शैली का प्रयोग भावनाओं की परोक्ष अभिव्यक्ति के रूप में भी हुआ है। इसका मनोवैज्ञानिक आधार यह है कि दूसरों के उद्धरणों की आड़ में पात्र अपनी अशिष्ट-असामाजिक भावनाओं की अविकल अभिव्यक्ति कर सकते हैं। इस विधि से उनकी निजी भावनाएँ भी परात्मक रूप में निशंक व्यक्त हो पाती हैं। 'नदी के द्वीप' की शृंगारिक कथा में, जिस में नर-नारी के गोपनीय सम्बन्धों का भी निर्बन्ध चित्रण किया गया है, यह उद्धरणात्मक शैली उपयोगी सिद्ध हुई है। जैसे, नौकुछिया में रेखा भुवन से सम्भोग के लिए व्याकुल है। इसलिए प्रभाती सूर्य के आलोक में वह मिलन-गीत गाती है। इस बंगला-गीत का आशय है—"उषा आकर कलकण्ठ-स्वर से कहती है, तुम्हारा मेरा मिलन होगा, इसीलिए आकाश आलोक से भरा है।..."[6] इस तरह कवीन्द्र रवीन्द्र के गीत के माध्यम से वह अपनी मिलनाकाक्षा व्यक्त करती है। भुवन इसे सुन भी पाता है और उस पर इसकी प्रतिक्रिया भी होती है। तुलियन में भी रेखा, भुवन के कहने पर, उसके 'सम्मान' में जो गीत चुनती है, उसमें वह परोक्ष

---

१. पृ० २७१। २. पृ० २१-२२। ३. पृ० ८२। ४. पृ० १९२।
५. पृ० १५७। ६. पृ० १४०।

रूप से अपनी मिलन-कामना ही।

यदि दो घाड़या का जावन
कोमल वृन्तों में बीते
कुछ हानि तुम्हारी है क्या ?
चुपचाप चू पड़ें जीते[१]।

इन दोनों की मिलनावस्था में लेखक ने अँग्रेजी के उद्धरणों की झड़ी ही लगा दी है; यह अंश लीजिए—"भुवन ने अपना माथा रेखा के उरोजों के बीच में छिपा लिया। उनकी गहराई उसके कानों में चुनचुनाने लगी फिर उसके ओठ बढ़ कर रेखा के ओठों तक पहुँचे, उन्हें चूमा और प्रतिचुम्बित हुए।

"माई बिलवेड इज माइन, एंड आई एम हिज, ही फीडेथ एमंग द लिलीज़" क्यों भुवन के ओठ शब्दहीन हो गए हैं, स्वर हीन हो गए हैं, क्या वह गीत के ही बोल स्वरहीन ओठों से कह रहा है या कुछ और कह रहा है ?

'रेखा, आओ ···"

"आई रोज अप टु ओपन टु माई बिलवेड एंड माई
हैंड्स ड्राप्ड विथ माई, एंड फिंगर्स ···"[२]

इन उद्धरणों की भरमार की संगति-असंगति का प्रश्न भी उठता है। इस सम्बन्ध में यह तथ्य स्पष्ट है कि सभी पात्र शिक्षित तथा विशेष अधीत हैं—भुवन, रेखा, गौरा तो शिक्षक भी हैं और चन्द्रमाधव जर्नलिस्ट है। अतएव यह उद्धारणात्मक शैली उन के क्षेत्र से बाहर नहीं पड़ती। दूसरे, इसमें सारगर्भित कथनों के संकलन की रुचि भी है। भुवन रेखा को एक विशेष कापी देता हुआ उसके सम्बन्ध में कहता है—"एक दम भानुमती का पिटारा, जो पढ़ता हूँ उसमें जो अच्छा लगता है लिख लेता हूँ—बरसों की पढ़ाई का मुरब्बा है।[१]" भुवन कोटेशन संकलित ही नहीं करता, उसे ये बहुत याद भी हैं। चन्द्रमाधव तो उससे मन ही मन ईर्ष्या भी करता है क्योंकि वह इनसे रेखा को प्रभावित कर सका है।[२] फिर भी जहाँ-तहाँ पात्रों के उद्धरणों में बात करने की प्रवृत्ति की आलोचना हो सकती थी, इसीलिए लेखक ने ऐसे स्थल-विशेष पर भुवन के रेखा से 'शिकायत के-से स्वर' के रूप मे मानों पाठकों की 'आपत्ति' को ही मुखरित किया है—"तुम सिर्फ कोटेशन बोल रही हो—अपना कुछ नहीं कहोगी ?" तब रेखा के उत्तर में लेखक बोलता है—"अपना ? अपना क्या ? में सिर्फ कोटेशन बोलती हूँ, भुवन, क्योकि मै स्मृति में जी रही हूँ।"[३] निस्सन्देह ये 'स्मृति' उन पूर्वानुभूतियों की है, जो कोटेशन्ज में अभिव्यक्ति पा रही है। फिर भी,

१. पृ० २३७। २. पृ० ४४। ३. पृ० १५०।

कुछ स्थलों पर पाठकों की आपत्ति बनी रह सकती है; जैसे हेमरेज के बाद, अस्पताल में होश आने पर कराहती रेखा का, भुवन को सुनाने के लिए, रवीन्द्र की पंक्तियाँ गुनगुना;[1] अथवा आवेगमय प्रेम और खौलते यौन-मिलन के क्षणों में जब ये पात्र अपनी संस्कारबद्ध उक्तियों में न फूट कर, पराए उद्धरणों में बोलने लगते हैं। शंका होने लगती है कि ये उन चरम स्पंदित क्षणों में स्वयं जी नहीं रहे, अभिनय कर रहे है—फिर चाहे यह अभिनय कितना ही कुशल क्यों न हो! पराई उक्तियों में बार-बार बातें करने वाले पात्र स्वयं भी पराए हो जाते है और इनमें पाठकों का सहज तादात्म्य न हो सकने का एक कारण यह भी है।

पात्रों की स्वनिर्मित कला रचनाओं से भी उपन्यासकार उनके चरित्राध्ययन कराया करते हैं। 'नदी के द्वीप' में एक ही स्थान पर, एक पात्र की एक काव्य-पंक्ति मे यह कौशल लक्षित हुआ है। भुवन को दी हुई रेखा की कापी में लिखा है—'तुम्हें देख कर न जाने क्यों एक पंक्ति मन में आयी— तुमने पूछा था एक बार, "कविता लिखती हो?" एक कविता मैने भी लिखी है, पर मेरी कविता उसके शब्द में नही है, उसकी भावना में है—तुम पहुँचोगे?

शुभाशंसा चूमती है भाल तेरा—
स्नेहशिशु, उठ जाग।'[2]

'नदी के द्वीप' के पात्रों ने अपनी गोपनीय या अशिष्ट-असामाजिक भावनाओं की परोक्ष अभिव्यक्ति के लिए उद्धरणात्मक प्रणाली के अतिरिक्त प्रतीकात्मक प्रणाली का अवलम्बन भी किया है। जैसे, रेखा और भुवन के पारस्परिक यौन-सम्बन्ध को 'फुलफिलमेंट' शब्द-प्रतीक तथा इस सम्बन्ध के परिणाम गर्भस्थ शिशु को 'बीनकार सर्जन' या 'सर्जन वायलनिस्ट' के द्वारा बार-बार अभिव्यक्ति दी गई है।

प्रेम के राज्य में साधारण सम्बोधनों—आप, तुम, तू - का साधारण से भिन्न अर्थ, प्रतीकार्थ, हो गया है। गौरा, रेखा, चन्द्रमाधव सभी ने इनका विशिष्ट अर्थ-ग्रहण किया है, जो इस प्रसिद्ध शेर में भी व्यक्त है—

दोस्त से दोस्ती जब बढ़ने लगी
आप से तुम, तुम से तू होने लगी।

गौरा ने भुवन को एक पत्र में, अपने परिवर्तित सम्बन्धों के आधार पर, 'आप' से 'तुम' लिखकर अपनी घनिष्ठता सूचित की है।[3] चन्द्रमाधव भी रेखा को 'तुम' कह कर नहीं 'तू' कह कर बुलाना चाहता है।[4] यहीं नहीं रेखा और चन्द्रमाधव के सम्बन्धों को बनाने-बिगाडने में इन सम्बोधनों के प्रतीकार्थों का कथागत उपयोग भी हुआ है। रेखा, चन्द्रमाधव से बड़ी होने के कारण उसे 'तुम' कहती रहती है किन्तु

---

१. पृ० २२६। २. पृ० १३८। ३. पृ० ३००। ४. पृ० ४०, ८३।

चन्द्रमाधव इसका विशिष्ट अर्थ लेकर भ्रम में पड़ा रहता है। दूसरी ओर चन्द्रमाधव रेखा को विशिष्ट अर्थ में 'तुम' कहने लगता है किन्तु रेखा इसके मूल अभिप्राय को लक्षित नहीं कर पाती।[१] इसी कारण चन्द्रमाधव रेखा से अपने सम्बन्ध-सूत्र को उस सीमा तक खेंचता है, जहाँ वह टूट कर रह जाता है।[२]

'नदी के द्वीप' के कुछ पात्रों ने एक दूसरे को प्रतीकवत् नामों से पुकारा है और ये बार-बार अपने वास्तविक नाम के स्थान पर इन दिए नामों से व्यवहृत होते रहे हैं; जैसे, गौरा भुवन को 'शिशु' कहती है और भुवन उसे 'जुगनू'। भुवन के 'जुगनू' सम्बोधन पर गौरा सोचती है—"वह नाम मानो एक सेतु था इतने दिनों के व्यवधान और दुराव के पार उसके बचपन के सुखमय दिनों का, जब वे एक दूसरे की बात नहीं सोचते थे। पर एक-दूसरे को जानते थे, सहज भाव से—सहज भाव अब नहीं है, अब वे सोचते हैं, कहते हैं, दूर हटते हैं और फिर दूरी को लाँघते है—[३]" सारांश यह है कि ये नाम भुवन गौरा के मध्य अवस्था-भेद, गुरु-शिष्या सम्बन्ध के आदर संकेत तथा परिस्थितियों के कारण आ गए दुराव आदि को पाटने के साधन-प्रतीक हैं—इनसे दोनों समान धरातल पर, सहज भाव से मिल सकने की अनुभूति व्यक्त तथा प्राप्त करने का प्रयास करते हैं।

कुछ वस्तुएँ भी यहाँ प्रतीक बन कर आई हैं, या प्रतीकात्मक प्रभाव उत्पन्न करती है; यथा, एक स्थान पर गौरा, अपने यहाँ मेहमान बनकर ठहरे भुवन के कमरे में प्रवेश कर, उसके कोट के बटन-होल में नरगिस का डाँठा लगाती है और उसकी विश्राम-व्यवस्था के सम्बन्ध में कुछ चर्चा करके अपने कमरे में चली जाती है। वस्तुतः वह भुवन से कुछ बातें करने आई थी, और यह नरगिस का डाँठा मानों उसका भुवन के निकट आने, और प्यार-जताने का प्रतीक था। किन्तु भुवन अपनी विशेष मनःस्थिति के कारण इस डंठल की प्रेष्य संवेदना को शीघ्र ही ग्रहण नहीं कर पाता। किन्तु रात को सोते समय वह उस वृन्त के भीतर की बात को. उसके रहःसंलाप को, सुनने पर बाध्य होता है।[४]

इसी तरह रेखा का गौरा को पहली ही मुलाकात में अपनी अँगूठी पहनाने का प्रयत्न और चूड़ियाँ भेजना साधारण क्रियाएँ नहीं—अपने से भुवन को अलग कर गौरा को समर्पित कर देने का आश्वासन है; ऐसा आश्वासन जो कृतज्ञता का भार लादने वाले स्थूल बेशर्म शब्दों से मुखरित नही, परम्परागत संस्कारों को उद्वेलित कर देने वाली मांगलिक वस्तुओं की भावनाओं से सहज सम्प्रेषित है। इस प्रकार प्रतीक-पद्धति अशिष्ट के शिष्टीकरण की क्रिया में सहायक सिद्ध हुई है।

अप्रिय सत्य कहना उचित नहीं, इसलिए किसी प्रतीक-वस्तु से उसकी कटुता

---

१. पृ० ८८। २. पृ० ८८-८९। ३. पृ० २९४-९५। ४. २७९, २८२-८३।

दूर की जा सकती है। नौकुछिया में भुवन, रेखा से विदा होना चाहता है किन्तु वह कुछ कहता नहीं, चुपचाप 'आर्किड' उसकी गोद में और एक लच्छा लेकर उसके बालों में अटका देता है। रेखा स्वयं ही समझ कर, तुरन्त बोल उठती है "ओ:' आर्किड। तब यह विदा है।'[२]

एक स्थान पर भयानक-से वातावरण को अंकित करने के लिए भी इस प्रतीक प्रणाली का उपयोग हुआ है। रेखा कमरे में, 'हैमरेज' की विषम स्थिति में कराह रही है और बाहर रात को वर्षा हो रही है। कमरे में रेखा की सहायता करने वाला भुवन इस कराह, और वर्षा के स्वर को सुनता रहता है। "बीच-बीच में कभी अचानक कुछ गिरने का 'धप' का स्वर सुनाई देता था—पहले वह समझ न सका कि यह क्या है, फिर सहसा जान गया पके फल ... रात के सन्नाटे में फल का यह चू पड़ना हैबतनाक था—मानो एक द्रुत कारणहीन मृत्यु आकर किसी को ग्रस ले अन्यत्र भी रात में चुपचाप टपक पड़ने वाले पके फल की लोमहर्ष आवाज़ को याद कर एक गहरी उदासी उस पर छा जाती है।"[१] यह पका फल और कुछ नहीं गर्भपात शिशु—'बीनकार सर्जन'—का प्रतीक है।

'नदी के द्वीप' का प्रतीकात्मक शीर्षक किस प्रकार प्रतिपाद्य के स्पष्टीकरण में सहायक रहा है, इसका स्पष्टीकरण पहले हो चुका है।

'नदी के द्वीप' में एक स्थान पर पात्रों के अचेतन मन के दबे भावों के अध्ययन में, मनोविश्लेषक उपन्यासकारों की स्वप्न-विश्लेषण-पद्धति का उपयोग भी हुआ है। भुवन को लिखे पत्र में रेखा ने अपने देखे हुए स्वप्न का ब्यौरा इस प्रकार दिया है—"देखा कि तुम (भुवन) हमारे घर आए हो ... हमारे घर, मेरे-माता पिता और छोटे भाई सबकी उपस्थिति में, और सबसे मिले हो, पिता तुम्हें बाहर नदी के किनारे की रौंस पर मेरे पास बैठा गये हैं; फिर हम लोग कागज की नावें बना कर नदी में डालते हैं और उनका बह जाना देखते हैं। नावें कभी दूर-दूर तक चली जाती हैं, कभी पास आ जाती हैं, कभी टकरा भी जाती हैं; कभी नदी में बहते हुए शैवाल से उलझ जाती हैं। सहसा देखती हूँ कि उन्हीं हमारी काग़ज की नावों में हम भी बैठे हैं · रौंस पर बैठे देख भी रहे हैं, पर नावों में भी हैं; फिर नावें एक बालू के द्वीप में जा लगती हैं; जहाँ हम उतर कर नावों को खींचने लगते हैं पर नावों में बैठे भी रहते हैं, नावों को खींच भी रहे हैं। फिर देखती हूँ बहुत से द्वीप हैं, हर एक पर हम नाव में भी बैठे, नाव को खींच भी रहे हैं, और रौंस पर बैठे देख तो रहे ही हैं। सहसा नदी का पानी बहती हुई बालू हो जाती है; और तुम्हारा चेहरा तुम्हारा नहीं, कोई और चेहरा है; तुम मुस्कराते हो तो वह चेहरा तुम्हारा भी है, पर नहीं

१. पृ० १३०। २. पृ० २२३। ३. २३६।

है—"ओ—मैं समझ गई। तारों से मैं नहीं डरती, भुवन जी, कभी नहीं डरी। और मैंने कहा था न, जो दुःस्वप्न कह लूँगी उस से मुक्त हो जाऊँगी ? अभी तक कह नहीं पायी थी, यही उसकी ताकत थी। अब—अब नहीं ! आप कहिए तो, तारे गिन डालूँ आकाश के ?"[1] यह उल्लेखनीय है कि इस मनोविश्लेषणात्मक उपाय का कुशल उपयोग रेखा के चरित्राध्ययन में ही नहीं हुआ, उसके पूर्ववृत्त के उचित स्थान पर उद्घाटन और मुख्य कथानक मे मनोवैज्ञानिक निबन्धन के रूप मे भी हुआ है।

'अज्ञेय' के पात्र अन्तर्मुखी हैं—ये मांसल कम और मानसिक अधिक हैं। इनके मानसिक उद्वेलनों को लेखक ने अनेक मनोवैज्ञानिक विधियों मे मूर्त करने का प्रयास किया है। इनमें से एक अन्तर्विवाद (इन्टीरियर मोनालॉग) की प्रणाली भी है। इसका मूल लक्ष्य पात्रों के व्यक्त आचरण की चेतन-बाह्य प्रेरणाओं का उद्घाटन होता है। यह युक्तियुक्त प्रबन्धन के बिना, पात्र का ऐसा अनकहा तथा अनसुना भाषण होता है जिसमें वह अचेतन के निकटतम विचारों को व्यक्त करता है।[2] इसमें आलोचक की व्याख्या विवेचना के बिना पाठक पात्र के आंतरिक उद्वेलन का सीधा साक्षात्कार करता है। 'नदी के द्वीप' में इस प्रणाली का विशुद्ध रूप में कम किन्तु तनिक मिलावट—कहीं-कहीं उपन्यासकार के दखल—के साथ अधिक प्रयोग हुआ है। एक लघु उदाहरण चन्द्रमाधव का लीजिए—"डैम आल विमेन ··नहीं, सब नहीं, केवल उन्हें जिन्हें तबीयत माँगती है; तबीयत, यानी वांछा की लपलपाती जीभ···राटन मिडल क्लास वीमेन—दबी वासनाओं की पुतली, मक्कार, बीमार, मर्दखोर औरतें—मर्द के खिलाफ सब एक, जैसे फन्दे फैलाए ठगों के गिरोह······ ठीक हैं कम्यूनिस्ट, इस भद्रवर्ग को मिटियामेट किए बिना स्वस्थ सामाजिक सम्बन्ध हो ही नहीं सकते···"[3] इस निम्निलिखित दूसरे उदाहरण में लेखक आता है किन्तु ऐसे जैसे उसका प्रसंग से कोई सम्बन्ध नहीं—इसे तो कोष्ठ में भी रखा जा सकता

१. पृ० १०६।

२. (क) Dujarin : quoted from Edel's, "The Psychological Novel," P. 53, 54. "The internal monologue, is that unheard and unspoken speech by which a character expresses his inmost thoughts, those lying nearest the unconscious, without regard to logical organization···" (ख) "The internal monologue, like every monologue, is the speech of given character designed to introduce us directly in to the internal life of this character without the author's Intervening by explaining or commenting."

३. पृ० १७८।

था; देखिए—"झील इस समय सुन्दर है—आस-पास पेड़ों के झुरमुट हैं यद्यपि झील नैनीताल की तरह दो पहाड़ों के बीच में भिंची हुई नहीं है, खुली है—दिन में भी क्या वह उतनी ही सुन्दर होगी—जितनी उसने सुना है, जितनी अब है ? दिन ··मेरे मायालोक की विभूति ····! ! दिन अपनी चिंता स्वयं करेगा। एक बार उसने चाहा, उठकर फिर रेखा को देख आये, पर शरीर ने कोई प्रोत्साहन न दिया। ठीक है, दिन की बात दिन में—अभी तारे है—कितने तारे—क्या सचमुच हर किसी का एक-एक अपना तारा होता है ?केवल कल्पना। पर सुन्दर कल्पना। क्यों क्या यह कल्पना और भी सुन्दर नहीं है कि सब तारे सब के होते है ?हाँ सदैव तो नहीं। पर एक क्षण होता है—एक द्वीप का क्षण—नहीं, क्षण का द्वीप—नहीं उस क्षण में तारों का एक द्वीप—न···"[1] इसी प्रकार पृष्ठ ३६ पर चन्द्रनाथ का लगभग विशुद्ध विस्तृत अन्तर्विवाद देखा जा सकता है। एक स्थान पर अतीत-वर्तमान की संयुक्त भूमि पर स्थित संघर्षरत मानस का ऐसा सजीव साक्षात्कार कराया गया है कि क्रमोच्छेदक अंशों में आए दो पात्रों के विभिन्न स्मृत-कथन, उनके वक्ताओं का निर्देश किए बिना, स्पष्ट होते जाते हैं; यथा—(धीरे-धीरे एक-एक स्मृति उसके मन में उभरने लगी, और मानों तेज़ाब से एक-एक गहरी रेखा उसके चेतन-पट कोरने लगी ···) 'आर यू रीयल—तुम हो, सचमुच हो, भुवन···मैं तुम्हारी हूँ, भुवन, मुझे लो·· रेखा आओ·· लेट अस गेट अप अर्ली टु द विनयार्ड सः देयर विल आई गिव दी आफ़ माई लव्ज़··· महाराज ए कि साजे एले मम हृदयपुर माझे·· भुवन, मेरी मोहलत कब तक की है ? शुभाशंसा चूमती है भाल तेरा ··पगली, पगली तुम तो चाँदनी में ही जम गई थीं। और तुम ? तुम पिघल गये थे ?··· लव मेड ए जिप्सी आउट आफ मी ··लजाती हो—मुझ से—अब ? तुम से नहीं तो और किस से लजाऊँगी;···वेट विदाउट होप फार होप वुड बी होप आफ़ द रांग थिंग ·· देबे कि गो वासा आमाम देबे कि एकटि धारे ?" ·· (एक अद्भुत भाव उसके मन में भर गया, जिसमें वात्सल्य भी था, करुणा भी, एक आतुर उत्कण्ठा भी और एक-एक बहुत हल्की-सी जुगुप्सा भी।) "न, मैं कुछ मागूंगी नहीं, तुम्हारे जीवन की बाधा नहीं बनूंगी, उलझन भी नहीं बनूंगी। सुन्दर से डरो मत··लेकिन भुवन, मुझे अगर तुमने प्यार किया है, तो प्यार करते रहना—मेरी यह कुंठित बुझी हुई आत्मा स्नेह की गरमाई चाहती है कि फिर अपना आकार पा सके सुन्दर, मुक्त, ऊर्ध्वाकांक्षी···" क्यों नहीं माँगेगी रेखा कुछ भी ? यों सब दे देगी, और फिर चुप चली जायेगी—अपनी सब से अधिक आवश्यकता के समय मूक? नहीं इतना बड़ा दान वह नहीं ले सकेगा। उदार होकर देना कठिन है, नहीं बताया कि मेरे लिए तुम्हारे हृदय में क्या भाव है" ठीक कहा था रेखा ने, उसने सचमुच

१. पृ० १२२।

है—"ओ—मैं समझ गई। तारों से मैं नहीं डरती, भुवन जी, कभी नहीं डरी। और मैंने कहा था न, जो दुःस्वप्न कह लूँगी उस से मुक्त हो जाऊँगी ? अभी तक कह नहीं पायी थी, यही उसकी ताकत थी। अब - अब नहीं ! आप कहिए तो, तारे गिन डालूँ आकाश के ?"[१] यह उल्लेखनीय है कि इस मनोविश्लेषणात्मक उपाय का कुशल उपयोग रेखा के चरित्राध्ययन में ही नहीं हुआ, उसके पूर्ववृत्त के उचित स्थान पर उद्‌घाटन और मुख्य कथानक से मनोवैज्ञानिक निबन्धन के रूप से भी हुआ है।

'अज्ञेय' के पात्र अन्तर्मुखी हैं—ये मांसल कम और मानसिक अधिक हैं। इनके मानसिक उद्वेलनों को लेखक ने अनेक मनोवैज्ञानिक विधियों से मूर्त करने का प्रयास किया है। इनमें से एक अन्तर्विवाद (इन्टीरियर मोनालाग) की प्रणाली भी है। इसका मूल लक्ष्य पात्रों के व्यक्त आचरण की चेतन-बाह्य प्रेरणाओं का उद्‌घाटन होता है। यह युक्तियुक्त प्रबन्धन के बिना, पात्र का ऐसा अनकहा तथा अनसुना भाषण होता है जिसमें वह अचेतन के निकटतम विचारों को व्यक्त करता है।[२] इसमें आलोचक की व्याख्या विवेचना के बिना पाठक पात्र के आंतरिक उद्वेलन का सीधा साक्षात्कार करता है। 'नदी के द्वीप' में इस प्रणाली का विशुद्ध रूप में कम किन्तु तनिक मिलावट—कहीं-कहीं उपन्यासकार के दखल—के साथ अधिक प्रयोग हुआ है। एक लघु उदाहरण चन्द्रमाधव का लीजिए—"डैम आल विमेन ··· नहीं, सब नहीं, केवल उन्हें जिन्हें तबीयत माँगती है; तबीयत, यानी वांछा की लपलपाती जीभ···राटन मिडल क्लास वीमेन—दबी वासनाओं की पुतली, मक्कार, बीमार, मर्दखोर औरतें—मर्द के खिलाफ सब एक, जैसे फन्दे फैलाए ठगों के गिरोह······ ठीक हैं कम्यूनिस्ट, इस भद्रवर्ग को मिटियामेट किए बिना स्वस्थ सामाजिक सम्बन्ध हो ही नहीं सकते···"[३] इस निम्निलिखित दूसरे उदाहरण में लेखक आता है किन्तु ऐसे जैसे उसका प्रसंग से कोई सम्बन्ध नहीं—इसे तो कोष्ठ में भी रखा जा सकता

---

१. पृ० १०६।

२. (क) Dujarin : quoted from Edel's, "The Psychological Novel," P. 53, 54. "The internal monologue, is that unheard and unspoken speech by which a character expresses his inmost thoughts, those lying nearest the unconscious, without regard to logical organization···" (ख) "The internal monologue, like every monologue, is the speech of given character designed to introduce us directly in to the internal life of this character without the author's Intervening by explaining or commenting."

३. पृ० १७८।

था; देखिए—"झील इस समय सुन्दर है—आस-पास पेड़ों के झुरमुट हैं यद्यपि झील नैनीताल की तरह दो पहाड़ों के बीच में भिंची हुई नहीं है, खुली है—दिन में भी क्या वह उतनी ही सुन्दर होगी—जितनी उसने सुना है, जितनी अब है ? दिन मेरे मायालोक की विभूति ···! ! दिन अपनी चिंता स्वयं करेगा। एक बार उसने चाहा, उठकर फिर रेखा को देख आये, पर शरीर ने कोई प्रोत्साहन न दिया। ठीक है, दिन की बात दिन में—अभी तारे हैं—कितने तारे—क्या सचमुच हर किसी का एक-एक अपना तारा होता है ?केवल कल्पना। पर सुन्दर कल्पना। क्यों क्या यह कल्पना और भी सुन्दर नहीं है कि सब तारे सब के होते हैं ?हाँ सदैव तो वही। पर एक क्षण होता है—एक द्वीप का क्षण—नहीं, क्षण का द्वीप—नहीं उस क्षण में तारों का एक द्वीप—न···"[1] इसी प्रकार पृष्ठ ३६ पर चन्द्रनाथ का लगभग विशुद्ध विस्तृत अन्तर्विवाद देखा जा सकता है। एक स्थान पर अतीत-वर्तमान की संयुक्त भूमि पर स्थित संघर्षरत मानस का ऐसा सजीव साक्षात्कार कराया गया है कि क्रमोच्छेदक अंशों में आए दो पात्रों के विभिन्न स्मृत-कथन, उनके वक्ताओ का निर्देश किए बिना, स्पष्ट होते जाते हैं; यथा—(धीरे-धीरे एक-एक स्मृति उसके मन में उभरने लगी, और मानों तेज़ाब से एक-एक गहरी रेखा उसके चेतन-पट कोरने लगी ···) 'आर यू रीयल—तुम हो, सचमुच हो, भुवन···मैं तुम्हारी हूँ, भुवन, मुझे लो·· रेखा आओ·· लेट अस गेट अप अर्ली टु द विनयार्ड सः देयर विल आई गिव दी आफ़ माई लव्ज़··· महाराज ए कि साजे एले मम हृदयपुर माझे··· भुवन, मेरी मोहलत कब तक की है ? शुभाशंसा चूमती है भाल तेरा ··पगली, पगली तुम तो चाँदनी में ही जम गई थीं। और तुम ? तुम पिघल गये थे ?··· लव मेड ए जिप्सी आउट आफ मी ··लजाती हो —मुझ से—अब ? तुम से नहीं तो और किस से लजाऊँगी; ···वेट विदाउट होप फार होप वुड बी होप आफ़ द राग थिंग ·· देबे कि गो वासा आमाम देबे कि एकटि धारे ?" ·· (एक अद्‌भुत भाव उसके मन में भर गया, जिसमें वात्सल्य भी था, करुणा भी, एक आतुर उत्कण्ठा भी और एक-एक बहुत हल्की-सी जुगुप्सा भी।) "न, मैं कुछ मागूंगी नहीं, तुम्हारे जीवन की बाधा नहीं बनूंगी, उलझन भी नहीं बनूंगी। सुन्दर से डरो मत··लेकिन भुवन, मुझे अगर तुमने प्यार किया है, तो प्यार करते रहना—मेरी यह कुंठित बुझी हुई आत्मा स्नेह की गरमाई चाहती है कि फिर अपना आकार पा सके सुन्दर, मुक्त, ऊर्ध्वाकांक्षी···" क्यों नहीं माँगेगी रेखा कुछ भी ? यों सब दे देगी, और फिर चुप चली जायेगी—अपनी सब से अधिक आवश्यकता के समय मूक? नहीं इतना बड़ा दान वह नहीं ले सकेगा। उदार होकर देना कठिन है, नहीं बताया कि मेरे लिए तुम्हारे हृदय में क्या भाव है" ठीक कहा था रेखा ने, उसने सचमुच

१. पृ० १२२।

कभी कुछ नहीं बताया, शायद स्वयं ही नहीं सोचा—और बिना एक प्रश्न भी पूछे रेखा ने—नहीं, यह एक-पक्षीय व्यापार वह नहीं सह सकेगा—घुट जायगा इसके बोझ से···ऐसा दान वह नहीं लेगा जो पाने वाले का दम घोट दे, और देने वाले को भी संकट में डाल दे···

लेकिन दान वह नहीं लेगा, यह कहने के अब क्या मानी है जब वह दान ले चुका है? अब वह क्या करेगा, अब, यही उसे सोचना है, और स्पष्ट सोचना है, परिणाम तक ले जा कर सोचना है,···[1]" उपर्युक्त कोष्ठ हमारे हैं जिसमें लेखक आया है। 'नदी के द्वीप' में अन्तर्विवाद या चेतनाप्रवाह की-सी प्रणाली में लिखे अनेक स्थल मिल जाते है।

इस उपन्यास में पात्रों के चरित्रोद्घाटन की अनेक विधियों में एक ऐसी भी है जिसमें पात्रों के समीपवर्ती परिवेश की व्यवस्था आदि से उसका चरित्राध्ययन किया गया है। मनुष्य की अभिरुचि, उसके रहन-सहन के ढंग से पहचानी जा सकती है—यही इसका मनोवैज्ञानिक आधार है। यथा, रेखा के कमरे की साज-सज्जा से उसके व्यक्तिवादी जीवन-दर्शन को व्यक्त किया गया है—"साफ़-सुथरा और करीने से सजा तो था ही रेखा का कमरा, पर भुवन को लगा कि उसमें कुछ और भी विशेषता है। क्या, यह सहसा वह नहीं जान सका, पर थोड़ी देर में वह स्पष्ट हो गई—कमरे में कोई चीज फ़ालतू नहीं थी : सब-कुछ मित, मानों आवश्यक होने के कारण अनिच्छा रहते भी रखा गया था। अपने कमरे से उसने तुलना की वहाँ सब कुछ अधिक था—अधिकतम आराम के लिए वह सजाया गया था; और यहाँ अल्पतम आवश्यक सुविधा की ही कसौटी रखी गई थी·· उसने कहा, "रेखा, तुम तपश्चारिणी होने जा रही हो?

"क्यों? ओ···यह! नहीं भुवन, अधिक कुछ भी हो तो मुझे चुभता है। मैं अपने साथ ही जीना चाहती हूँ ··बाहर का अनावश्यक लटा-पटा मुझसे सहा नहीं जाता।"[2] जर्नलिस्ट चन्द्रमाधव के कमरे में टेबुल के ऊपर रखी एक ही वस्तु को सप्रयोजन मूर्त किया गया है जिसे वह पत्र लिखते समय हटाने पर बाध्य हो जाता है। इससे उसकी तात्कालिक मनोदशा की व्यंजना तो होती ही है, उसकी अभिरुचि तथा कुण्ठाओं का आभास भी मिलता है; देखिए—"···इसके बाद उसने अपने सामने एक नया पन्ना रखा और थोड़ी देर लैम्प के छादन की ओर सूनी दृष्टि से ताकता हुआ बैठा रहा। काँच के बने हुए उस छादन पर एक काली छायाकृति अंकी हुई थी—दोनों हाथ ऊँचे उठाए एक नंगी स्त्री-आकृति, हाथों में कमल के आकार के फूल—अनमने से भाव से उसने लैम्प को घुमा दिया : दूसरी ओर वैसी ही एक आकृति घुटने

१. पृ० २००-२०१। २. पृ० २०५।

टेके आगे को झुकी हुई थी। आगे बढ़े हुए फूल में; कुहनी और घुटनों के बीच में कुचों को कुछ अतिरिक्त प्रशस्तता दे दी गई थी—उनका नुकीलापन बाकी आकार की प्रवहमान गोलाई को एक नया लचकीलापन दे देता था"।[१]

'अज्ञेय' जी ने पात्रों के बाह्य चरित्र-चित्रण पर स्वल्प दृष्टि ही दी है। इसका एक कारण यह है कि वह अपने व्यक्ति-पात्रों को बाहरी आकार-प्रकार से नहीं, आन्तरिक विशेषताओं एवं मानसिक क्रियाओं से विशिष्ट बनाने तथा दूसरों से उनके पृथकत्व की पहचान कराने की क्षमता रखते हैं। दूसरे, उन्हें पात्रों के रूप-रंग तथा पहरावे की ऐसी जानी-पहचानी विशेषताएँ नहीं देनी जिससे उनकी वर्ग-विशिष्टता देखते ही पहचानी जाए, क्योंकि व्यक्ति-पात्रों का निर्माण उनका लक्ष्य है, वर्गगत (टाईप) पात्रों का नहीं। फिर भी, जहाँ-कहीं पात्रों के रूप-रंग या नाज-सज्जा का चित्रण किया गया है, पात्रों की आन्तरिक विशेषताओं को ध्वनित करने या किसी अन्य प्रयोजन के लिए। अब हम इस दृष्टि से विभिन्न पात्रों का चित्रण देखेंगे।

'नदी के द्वीप' के नायक भुवन के रूप-रंग का वर्णन कही नही हुआ। एक स्थान पर उसके पहरावे का उल्लेख अवश्य हुआ है, जो प्रसगवंश स्वाभाविकता के लिए आवश्यक-सा था। जब रेखा को दिल्ली गाड़ी पर चढ़ाने जाते-जाते, वह उसके साथ नैनीताल ही चल देता है तो उसे वहाँ पहुँचकर बने-बनाए कपड़े खरीदने पड़ते हैं—जिसका व्यौरा लेखक ने दिया है क्योंकि मात्र उसके पहने हुए 'कुरते' से ही तो काम नहीं चल सकता था।[२] तात्पर्य यह है कि लेखक ने पहरावे का वर्णन न करने की कसम नहीं खा रखी। 'नदी के द्वीप' शृंगारिक उपन्यास है। शृंगारिकता और रूप-सौन्दर्य का सनातन सम्बन्ध है। इस उपन्यास के पात्र भी रूप से अप्रभावित नहीं रह सकते थे। इसलिए यहाँ रूप-चर्चा है। फिर भी विशेष सुसंस्कृत पात्रों का रूप को देखने का भाव-कोण सामान्य नहीं होता। उसी को ध्यान में रखकर लेखक ने यहाँ रूप तथा सज्जा का उन्नत स्तर स्थिर किया है। अतएव, 'नदी के द्वीप' में विशेष स्थान की अधिकारिणी, लगभग २७ वर्षीय,[३] रेखा के रूप की चर्चा मात्र है, चित्रण नहीं —चित्रण है तो व्यक्तित्व का जिसमें बाहर से अधिक भीतर पर दृष्टि है; और है भी तो अन्तरालोकित—"वैसे अत्यन्त रूपवती है, और उसका रूप एक सप्राण, तेजोमय पर्सनेलिटी के प्रकाश ले भीतर से दीप्त है, भले ही एक कड़ा रिजर्व उस प्रकाश को भी घेरे है—चन्द्र को बड़ी-सी चन्द्रकान्त मणि का ध्यान आया जो बाहर चिकनी सफेद होती है, अन्दर बिखरे से इन्द्रधनु के रंग लिए, पर एकदम भीतर कहीं एक सुलगती आग का लाल आलोक—और पत्थरों का पानी देखा जाता है पर चन्द्रकान्त में आग से ही उसका मोल आँका जाता है"[४] भुवन भी इसके स्पष्ट,

१. पृ० ४८। २. पृ० ११६। ३. पृ० १६। ४. पृ० ४४।

कभी कुछ नहीं बताया, शायद स्वयं ही नहीं सोचा—और बिना एक प्रश्न भी पूछे रेखा ने—नहीं, यह एक-पक्षीय व्यापार वह नहीं सह सकेगा—घुट जायगा इसके बोझ से···ऐसा दान वह नहीं लेगा जो पाने वाले का दम घोट दे, और देने वाले को भी संकट में डाल दे···

लेकिन दान वह नहीं लेगा, यह कहने के अब क्या मानी है जब वह दान ले चुका है ? अब वह क्या करेगा, अब, यही उसे सोचना है, और स्पष्ट सोचना है, परिणाम तक ले जा कर सोचना है,···[1]" उपर्युक्त कोष्ठ हमारे हैं जिसमें लेखक आया है। 'नदी के द्वीप' में अन्तर्विवाद या चेतनाप्रवाह की-सी प्रणाली में लिखे अनेक स्थल मिल जाते हैं।

इस उपन्यास में पात्रों के चरित्रोद्घाटन की अनेक विधियों में एक ऐसी भी है जिसमें पात्रों के समीपवर्ती परिवेश की व्यवस्था आदि से उसका चरित्राध्ययन किया गया है। मनुष्य की अभिरुचि, उसके रहन-सहन के ढंग से पहचानी जा सकती है—यही इसका मनोवैज्ञानिक आधार है। यथा, रेखा के कमरे की साज-सज्जा से उसके व्यक्तिवादी जीवन-दर्शन को व्यक्त किया गया है—"साफ़-सुथरा और करीने से सजा तो था ही रेखा का कमरा, पर भुवन को लगा कि उसमें कुछ और भी विशेषता है। क्या, यह सहसा वह नहीं जान सका, पर थोड़ी देर में वह स्पष्ट हो गई—कमरे में कोई चीज फ़ालतू नहीं थी : सब-कुछ मित, मानों आवश्यक होने के कारण अनिच्छा रहते भी रखा गया था। अपने कमरे से उसने तुलना की वहाँ सब कुछ अधिक था—अधिकतम आराम के लिए वह सजाया गया था; और यहाँ अल्पतम आवश्यक सुविधा की ही कसौटी रखी गई थी··· उसने कहा, "रेखा, तुम तपश्चारिणी होने जा रही हो ?

"क्यों ? ओ···यह ! नहीं भुवन, अधिक कुछ भी हो तो मुझे चुभता है। मैं अपने साथ ही जीना चाहती हूँ···बाहर का अनावश्यक लटा-पटा मुझसे सहा नहीं जाता।"[2] जर्नलिस्ट चन्द्रमाधव के कमरे में टेबुल के ऊपर रखी एक ही वस्तु को सप्रयोजन मूर्त किया गया है जिसे वह पत्र लिखते समय हटाने पर बाध्य हो जाता है। इससे उसकी तात्कालिक मनोदशा की व्यंजना तो होती ही है, उसकी अभिरुचि तथा कुण्ठाओं का आभास भी मिलता है; देखिए—"···इसके बाद उसने अपने सामने एक नया पन्ना रखा और थोड़ी देर लैम्प के छादन की ओर सूनी दृष्टि से ताकता हुआ बैठा रहा। काँच के बने हुए उस छादन पर एक काली छायाकृति अंकी हुई थी—दोनों हाथ ऊँचे उठाए एक नंगी स्त्री-आकृति, हाथों में कमल के आकार के फूल—अनमने से भाव से उसने लैम्प को घुमा दिया : दूसरी ओर वैसी ही एक आकृति घुटने

१. पृ० २००-२०१। २. पृ० २०५।

टेके आगे को झुकी हुई थी। आगे बढ़े हुए फूल में; कुहनी और घुटनों के बीच में कुचों को कुछ अतिरिक्त प्रशस्तता दे दी गई थी—उनका नुकीलापन बाकी आकार की प्रवहमान गोलाई को एक नया लचकीलापन दे देता था"।[१]

'अज्ञेय' जी ने पात्रों के बाह्य चरित्र-चित्रण पर स्वल्प दृष्टि ही दी है। इसका एक कारण यह है कि वह अपने व्यक्ति-पात्रों को बाहरी आकार-प्रकार से नहीं, आन्तरिक विशेषताओं एवं मानसिक क्रियाओं से विशिष्ट बनाने तथा दूसरों से उनके पृथकत्व की पहचान कराने की क्षमता रखते हैं। दूसरे, उन्हें पात्रों के रूप-रंग तथा पहरावे की ऐसी जानी-पहचानी विशेषताएँ नहीं देनी जिससे उनकी वर्ग-विशिष्टता देखते ही पहचानी जाए, क्योंकि व्यक्ति-पात्रों का निर्माण उनका लक्ष्य है, वर्गगत (टाईप) पात्रों का नहीं। फिर भी, जहाँ-कहीं पात्रों के रूप-रंग या साज-सज्जा का चित्रण किया गया है, पात्रों की आन्तरिक विशेषताओं को ध्वनित करने या किसी अन्य प्रयोजन के लिए। अब हम इस दृष्टि से विभिन्न पात्रों का चित्रण देखेंगे।

'नदी के द्वीप' के नायक भुवन के रूप-रंग का वर्णन कहीं नहीं हुआ। एक स्थान पर उसके पहरावे का उल्लेख अवश्य हुआ है, जो प्रसगवंश स्वाभाविकता के लिए आवश्यक-सा था। जब रेखा को दिल्ली गाड़ी पर चढ़ाने जाते-जाते, वह उसके साथ नैनीताल ही चल देता है तो उसे वहाँ पहुँचकर बने-बनाए कपड़े खरीदने पड़ते हैं—जिसका ब्यौरा लेखक ने दिया है क्योंकि मात्र उसके पहने हुए 'कुरते' से ही तो काम नहीं चल सकता था।[२] तात्पर्य यह है कि लेखक ने पहरावे का वर्णन न करने की कसम नहीं खा रखी। 'नदी के द्वीप' शृंगारिक उपन्यास है। शृंगारिकता और रूप-सौन्दर्य का सनातन सम्बन्ध है। इस उपन्यास के पात्र भी रूप से अप्रभावित नहीं रह सकते थे। इसलिए यहाँ रूप-चर्चा है। फिर भी विशेष सुसंस्कृत पात्रों का रूप को देखने का भाव-कोण सामान्य नहीं होता। उसी को ध्यान में रखकर लेखक ने यहाँ रूप तथा सज्जा का उन्नत स्तर स्थिर किया है। अतएव, 'नदी के द्वीप' में विशेष स्थान की अधिकारिणी, लगभग २७ वर्षीय,[३] रेखा के रूप की चर्चा मात्र है, चित्रण नहीं —चित्रण है तो व्यक्तित्व का जिसमें बाहर से अधिक भीतर पर दृष्टि है; और है भी तो अन्तरालोकित—"वैसे अत्यन्त रूपवती है, और उसका रूप एक सप्राण, तेजोमय पर्सनेलिटी के प्रकाश ले भीतर से दीप्त है, भले ही एक कड़ा रिजर्व उस प्रकाश को भी घेरे है—चन्द्र को बड़ी-सी चन्द्रकान्त मणि का ध्यान आया जो बाहर चिकनी सफेद होती है, अन्दर बिखरे से इन्द्रधनु के रंग लिए, पर एकदम भीतर कहीं एक सुलगती आग का लाल आलोक—और पत्थरों का पानी देखा जाता है पर चन्द्रकान्त में आग से ही उसका मोल आँका जाता है"[४] भुवन भी इसके स्पष्ट,

१. पृ० ४८। २. पृ० ११९। ३. पृ० १९। ४. पृ० ४४।

सुनिश्चित रूपाकार युक्त[1] व्यक्तित्व से प्रभावित है। जैसे चन्द्रमाधव रेखा के रूप को एक कड़े रिजर्व से घिरे देखता है, वैसे ही भुवन भी उसका रूप एक 'अदृश्य, अस्पृश्य कवच सा पहने' पाता है। रोमानी शब्दों में मानों उसका सौन्दर्य एक झीने अवगुंठन से युक्त है जिसकी आकर्षक 'रहस्यवत्ता' उनके लिए अपने-अपने ढंग से 'चुनौती' बन कर आती रहती है।[2] इस चारित्रिक रहस्यवत्ता का उपयोग कथा को अग्रसर करने में हुआ है।

अंगों की दृष्टि से, रेखा की उंगलियों का दो बार विशेष वर्णन हुआ है, पर इसलिए नहीं कि वे 'सुन्दरता का आदर्श' प्रस्तुत करती थी; अपितु इसलिए कि वे व्यंजना-पटुता या संवेदना-क्षमता का परिचय देती थीं; उसके उभरे हुए जोड़ रूपतत्व की अपेक्षा मनस्तत्व की ओर इंगित करते थे और उसके चिन्तनशील स्वभाव के सूचक थे।[3] रेखा के विविध वर्ण की साड़ियाँ तथा कपड़े-बदलने का लगभग ६-७ स्थलों पर सप्रयोजन उल्लेख हुआ है। इनसे एक तो दिन रात के विभिन्न समयानुसार उसके साड़ी के रंग के चुनाव से उसकी सौन्दर्य-प्रियता और विशेष रूप से उन्नत सुरुचि को ध्वनित किया गया है; जैसे, नौकुछिया में अन्य 'कपड़े बदलने'[4] के अतिरिक्त, वह समयानुसार, प्रभात में पीताम्बरा[5] बनी और रात को 'नीलाम्बरा'[6]। अन्यत्र, वह सगर्भा होने के कारण, अपने चेहरे के पीलेपन को बारीक काली धारियोंवाली उन्नाबी रंग की साड़ी से कम खटकने वाला बना सकी है।[7] दूसरे, रंग और कपड़े की उन्नत चयन-वृत्ति के आधार पर उसकी असाधारणता दूसरों से कुछ पृथक्-विशेष या असाधारण होने की उच्चवर्गीय मनोवृत्ति- -को व्यक्त किया गया है; यथा—"भुवन ने देखा रेखा ने कपड़े बदल लिये थे। गाड़ी में वह रंगीन साड़ी पहने थी, अब फिर सफेद रेशम पहन लिया था – भवन को ध्यान आया कि रेखा को उसने रंगीन साड़ी कम ही पहने देखा है, पर सफ़ेद पहने तो कभी देखा ही नहीं, सफ़ेद वह पहनती है तो रेशम, जो वास्तव में सफ़ेद नहीं होता, उसमें हाथी दाँत की-सी, या मोतिये के फूल-सी, या पिसे चन्दन-सी एक हल्की आभा होती है · · · यों तो शुभ्र श्वेत भी ऐसा होता है कि पहनने वाले को दूर अलग ले जाता है, पर यह रेशमी सफ़ेद तो और भी दूर ले जाता है, दूर ही नहीं, एक ऊँचाई पर भी; रेखा मानो उसके साथ चलती हुई भी एक अलग मर्यादा से घिरी हुई चल रही है।"[8] तीसरे, इनसे रेखा ने अपने व्यक्तित्व को और भी आकर्षक बना कर अपने प्रेमी पात्र भुवन को यत्किंचित् लुभाने-रिझाने का प्रयास भी किया है। भुवन पर, उसकी

१. पृ० ६, ४४-४५। २. पृ० २७।
३. पृ० ६७, १६८। ४. पृ० १२४-१२५। ५. पृ० १२३।
६. प्र० १२४, १२६। ७. पृ० २१६। ८. पृ० ६५-६६।

सुरुचिपूर्ण तथा सुन्दर वेषभूषा के प्रभाव को स्थान-स्थान पर लक्षित किया जा सकता है। इसलिए एक स्थान पर भुवन उसे उसे एक विशेष रंग की साड़ी पहनने के लिए कहता है और इसी आधार पर उसे रोमानी compliments भी देता है।[1] अन्यत्र उसकी दृष्टि मानो कैमरा-कोण से देखती और कहती है—"नहीं-नहीं आप वहीं रहिए; इस बैकग्राउण्ड पर आपकी साड़ी बहुत सुन्दर दीखती है।"[2] साड़ी, या साड़ी वाली भी सुन्दर दिखाई देती है, यह तो समझने की बात है। इस तरह रेखा की सौन्दर्य-सज्जा वैज्ञानिक भुवन के भीतर से रोमाँनी भुवन के क्रमशः उद्घाटन में सहायक रही है।

एक स्थान पर गौरा और रेखा की आभूषण एवं साड़ी-सज्जा के तुलनात्मक चित्र से उनके व्यक्तित्व के अन्तर की ओर इंगित करने का प्रयास किया गया है। अधिक तो नहीं किन्तु उनकी वर्णगत भिन्नता, गौरा के व्यक्तित्व की अपेक्षाकृत सादगी तथा उसके व्यक्तित्व की साधनापूर्ण गम्भीरता अवश्य ध्वनित हुई है।[3]

'अज्ञेय' ने 'नदी के द्वीप' में पात्रों की तात्कालिक मनोदशा के भावन में उनके अनुभावों—मुख-इंगितों (फेश्यल एक्सप्रेशन्सज) तथा शारीरिक मुद्राओं (जेस्चर्ज) आदि—का सूक्ष्म-प्रचुर चित्रण किया है। भीतर के मनोभाव उद्बुद्ध होकर अनुभावों—बाह्य शारीरिक विकारों—में परिव्यक्त होते हैं। अतएव दर्शकों को भावों का अनुभव कराने के कारण ही ये अनुभाव है। 'नदी के द्वीप' जैसे मनोवैज्ञानिक उपन्यास में जहाँ पात्र अन्तर्मुखी हैं तथा भीतर के भावों को युक्तिकरण या बौद्धिक प्रक्रियाओं से छिपाने में कुशल हैं, वहाँ इनके चरित्रोद्घाटन तथा वास्तविक मनोदशाओं के अनावरण में ये अनुभाव विशेष उपयोगी सिद्ध हुए हैं। अपने युक्ति-युक्त विचारों से इनकी अन्तर्व्यथा छिप सकती है किन्तु इनके अनायास-बरबस प्रकट हो जाने वाले मुख-विकारों से वास्तविकता अनावृत हो जाती है। अस्पताल में बीमार पड़े हुए, पलायनवादी तथा अपने भविष्य के प्रति उपेक्षावृत्ति दिखाने वाले भुवन को रास्ते पर लाने के लिए जब रेखा उससे यह कहती है कि वह गौरा से प्रेम करता है तो —"भुवन चमक गया। उसका चेहरा तमतमा आया, ओठों का धनु एक तीखी रेखा बनगया, वह बोला नहीं।"[4] निस्सन्देह वह नहीं बोला पर उसके मुखांकित भाव बोल रहे हैं—सारी कलाई खोल रहे है। आगे भुवन अपने कथनों से छिपाता भी है पर वे रेखा के आगे इन इंगितों से अधिक प्रामाणिक नहीं बन पाते। एक अन्य स्थान पर भुवन के भूरि भाग्य से ईर्ष्या करने वाला चन्द्राभाधव जब उसकी दोनों प्रेमिकाओं और गौरा को आपस में मुलाकात करा के लड़ाने की अपनी योजना में बुरी तरह

---

१. प्र० १२४, १२६। २. पृ० ९७।
३. पृ० १६९। ४. पृ ३११।

असफल होता है, तो लेखक उसकी असफलता कहता नहीं, चेहरे से पढ़ाता है, क्योंकि मुख पर उसकी छाप साधारण शब्दों से कहीं अधिक गहरी है--"उसके चेहरे पर जो परिवर्तन हुआ वह इतना द्रुत था कि उसकी रेखाओं को मानों चलते देखा जा सकता था---सलवटों का चलकर नयी जगह बैठना, नयी झुर्रियों का उमड़ना, आँखों पर एक झिल्ली-सी का छा जाना ...''[1] अब एक सर्वांगीण मुद्रा का उदाहरण लीजिए जिसका कथागत उपयोग भी हुआ है। जिस रात भुवन अपनी शिष्या-प्रेमिका गौरा से अपने 'बीनकार-सर्जन' की हत्या की अपराध-भावना के बोझ को कहकर हल्का करता है, उस रात कहने से पहले उसके शारीरिक विकार ही साथ के कमरे में सोई हुई गौरा को उसके कमरे से खींच लाते हैं—"गौरा जाग कर उठ बैठी। किसी अनवरत शब्द ने उसे जगाया था। उसने सुना : पैरों की चाप, पाँच-सात पगों के बाद एक अन्तराल, फिर पाँच-सात पद। भुवन के कमरे से आ रही है आवाज, तो भुवन कमरे में चक्कर काट रहा है—लेकिन चाल भी समान नहीं है; क्या गौरा कल्पना कर रही है कि सचमुच वह पद-चाप उद्वेग की सूचक है ? उसने घड़ी देखी : साढ़े बारह...कमरे से बाहर हो गई।

भुवन के द्वार पर वह ठिठकी। पैरों की चाप और भी असम हुई, फिर रुक गई।

गौरा ने सावधानी से किवाड़ खोला...उसकी आँखों ने देखा, भुवन खिड़की के पास फर्श पर बिछे गलीचे पर बैठ गया है, कुछ वैसी मुद्रा में जैसी चित्रों पर धनुष पर चिल्ला चढ़ाते हुए कुमार राम की होती है लेकिन वैसी कसी हुई नहीं ? परास्त; एक घुटना भूमि पर, दूसरी पर कोहनी टिकी हुई; उठा हुआ हाथ धीरे-धीरे माथे पर आ टिका और माथे को पकड़े रहा......

"कहाँ है भुवन ? किस चिन्ता में है ?"—नहीं, चिन्ता तो निरी विचार की अवस्था होती है, किस गहरी अनुभूति में है ?'- इन विकारों से गौरा भुवन की विषम स्थिति को समझ कर, उसे खुलने पर बाध्य कर देती है।

'नदी के द्वीप' की कथा द्वितीय विश्व-युद्ध के काल में चल रही है। अपने व्यक्तिगत प्रश्नों में उलझे तथा व्यक्तिवादी दर्शन को मानने वाले अन्तर्मुखी पात्रों का अपना संसार है, जहाँ बाहर की परिस्थितियों की विषमता का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। यों तो इस उपन्यास का नायक दूसरे विश्व-युद्ध के बर्मा-फ्रन्ट पर भाग भी लेता है पर ऊपर से जितना वह प्रभावित लगता है, भीतर[2] से इनसे उतना ही दूर है—यह उसकी पलायनवादिता का उपकरण मात्र है। (इसकी चर्चा पहले की जा चुकी है) वस्तुतः बहुविध बाह्य परिस्थितियों की विषमता का काल लेखक ने जानकर

१. पृ० १७६। २. पृ० ७२।

चुना प्रतीत होता है। इससे जैसे वह स्पष्ट कर सका है कि व्यक्तिवादी दृष्टिकोण को मानने वाले पात्रों के लिए यह हलचल कितनी नगण्य है। बाहर का विस्फोट महत्वपूर्ण है, परन्तु व्यक्ति के अन्तस् की हलचल अपनी तथा अछूती है—बहुत-कुछ काल-निरपेक्ष। इस सम्बन्ध में लेखक ने चन्द्रमाधव तथा गौरा के पत्र-व्यवहार के माध्यम से अपना दृष्टिकोण ध्वनित कर दिया है। चन्द्रमाधव गौरा से विश्व-युद्ध के आसन्न संकट की विस्फोटक परिस्थितियों में उसकी निरपेक्ष संगीत-साधना के सम्बन्ध मे प्रश्न करता है, तब गौरा अपने व्यक्तिवादी दृष्टिकोण से उनके प्रति जैसी उपेक्षाशील रहती है[1], उसकी चर्चा भी हो चुकी है। स्वाधीनता को भी गौरा केवल सामाजिक गुण नहीं, एक दृष्टिकोण मानती है, व्यक्ति के मानस की एक प्रवृत्ति। स्वाधीनता के लिए मन की 'ट्रेनिंग' ज़रूरी है क्योंकि व्यक्ति ही समाज को बनाता है।[2] अतएव ऐसे दृष्टिकोण में तत्कालीन देश या विश्व की परिस्थितियों का स्थान कैसे मिल सकता था? यदि कुछ मिला भी है तो व्यक्तिवादी दृष्टिकोण की स्थापना के लिए ही। अतएव 'नदी के द्वीप' में देश-काल लगभग नगण्य उपकरण है। यह होते हुए भी, लेखक ने पात्रों की गतिविधि के क्षेत्र—नगरों, स्थानों, पथों आदि के नामों—का सही-सही उल्लेख करके कथानक तथा पात्रों के व्यापार को यथार्थ पृष्ठभूमि दी है। इस सम्बन्ध में लखनऊ के हज़रतगंज का यह यथार्थ तथा कलात्मक अन्तर्बाह्य चित्र देना ही पर्याप्त होगा—"अवध की शामें मशहूर हैं, लेकिन हज़रतगंज में शाम मानों होती नहीं, दिन ढलता है तो रात होती है। या शाम अगर होती है तो अवध की नहीं होती—कहीं की भी नहीं होती, क्योंकि उसमें देश का, प्रकृति का, कोई स्थान नहीं होता, वह इन्सान की बनायी हुई होती है: रंगीन बत्तियाँ, चमकीले झीने कपड़े, प्लास्टिक के थैली बटुए, किरमिची ओट, कमान-सी मूछों पर तिरछे टिके हुए और ऊपर से रिकाबी की तरह चपटे फेल्ट हैट··· और राह चलते आदमी जिनके सामने बौने लगने लगें, ऐसे बड़े-बड़े सिनेमाई पोस्टरों वाले चेहरे—कितना छोटा यथार्थ मानव, कितने बड़े-बड़े सिनेमाई हीरो—अगर लोग सिनेमा के छाया-रूपों के सुख-दुःख के सामने अपना सुख-दुःख भूल जाते है तो क्या अचम्भा, उन छाया-रूपों के स्रष्टा एक्टर-एक्ट्रेसों के सच्चे या कल्पित रूमानी प्रेम-वृत्तांतों में अपनी यथार्थ परिधि के स्नेह-वात्सल्य की अनदेखी कर जाते हैं तो क्या दोष··· यथार्थ है ही छोटा और फीका और छाया कितनी बड़ी है, कितनी रंगीन कितनी रसीली"।

'नदी के द्वीप' में चाहे बहुविध परिस्थितियों का चित्रण गौण है किन्तु प्रकृति-चित्र पर्याप्त ही नहीं, विशेष कलात्मक भी हैं। एक उदाहरण द्रष्टव्य है—"कुदसिया

---

१. पृ० ७२। २. पृ० १८१।

बाग में उन दिनों फूल लगभग नहीं होते—कोई फूल ही उन दिनों में नहीं होता सिवा वैजयन्ती के। जो चटक रंगीन चूनर ओढ़े बीबी शटल्लो बनी धूप में खड़ी रहती है। लेकिन खंडहर पर चढ़ी हुई 'बेगम बरिया' लता की छाँह सुहावनी थी—फूल इसमें भी कई तेज़ रंगों के भी होते हैं, पर इसकी लम्बी-पतली बाँहों में, हवा में झूमते गुच्छा-गुच्छा फूलों में एक अल्हड़पन होता है जो वैजयन्ती के भूनिष्ठ आत्म-सन्तोष से सर्वथा भिन्न होता है.... और फिर इस विशेष लता के फूल भी तेज़ रंग के नहीं थे, एक धूमिल गुलाबी रंग ही उनमें था जो पत्तियों के गहरे हरे रंग की उदासी कुछ कम कर देता था, बस"[1]। डॉ० देवराज ने इन और इनके जैसे प्रकृति-चित्रों की शब्द-शिल्पिता, सौन्दर्य की बारीकी तथा विश्लिष्ट-गुम्फित चित्रमयता की भूरि-भूरि प्रशंसा करते हुए[2] भी इनपर दो प्रकार की आपत्तियाँ उठाई हैं, जो ध्यान देने योग्य हैं; एक —"उसके (उपर्युक्त प्रकृतिचित्र के) नये-नये-निराले नाम हमारी रसात्यक-वृत्ति के उन्मेष में बाधक होते हैं। साहित्य किसी भी प्रकार की विशिष्ट (specialised) जानकारी के प्रदर्शन का माध्यम नहीं है; उसमें उतना ही बोध आना चाहिये जिसका कलाकार या पात्रों की भाव-चेतना से गहरा सम्बन्ध हो"[3]। दूसरे —"दुर्भाग्यवश ये चित्र भी उपन्यास को अशक्त बनाने का हेतु बन गए हैं। शायद उपन्यास में प्रकृति के वही चित्र स्थान पा सकते हैं जो पात्रों की भावनाओं में रंगे हों अथवा उन भावनाओं को सफल बनाते या अभिव्यक्त करते हों। "नदी के द्वीप" के प्रकृति-चित्रों में वैज्ञानिकता अधिक है भाव-शबलता कम। वे अक्सर रेखा और भुवन के बीच व्यवधान खड़ा कर देते हैं..."[4] इस सम्बन्ध में भुवन-रेखा (अज्ञेय) का स्यात् यह दृष्टिकोण उत्तरदायी है—"व्यक्ति की भावनाओं—अनुभूतियों का आरोप प्रकृति पर करना बचपन है।"[5] इस तरह लेखक की दृष्टि पात्रों को असाधारण बनाने पर रही है। इस असाधारणता के कारण इन व्यक्ति-पात्रों में वर्गगत विशेषताओं का वह समुचित अविश्लेषणीय घोल नहीं मिल सका, जो कला की माँग है और पाठकों के इनसे सहज एकात्मीकरण के लिए आवश्यक।

पर्याप्त मात्रा में आए कथोपकथन के तत्व ने 'नदी के द्वीप' के कलात्मक सौन्दर्य में परिपूर्ण योग दिया है। कथोपकथनों का विविधरूपता इस उपन्यास की नूतन तथा रोचक विशेषता है। परम्परागत सामान्य संवादों के अतिरिक्त यहाँ स्मृत, लिखित, सांतराय[6] (इन्टरमिटेन्ट) तथा एकपक्षीय वर्णनात्मक संवाद भी मिलते हैं। विभिन्न स्थितियों में पड़े पात्रों के आपसी सम्बन्धों के बनाए रखने की इच्छा-

---

१. पृ० ९६-९७। २. "आधुनिक समीक्षा", पृ० १३९। ३. वही, पृ० १४०-४१। ४. वही, पृ० १४२। ५. पृ० २३६। ६. डॉ० रणवीर रांग्रा ने इसके लिए 'आंतरायिक' शब्द का प्रयोग किया है।

आवश्यकता ने ही इन विविध संवाद-रूपों को जन्म दिया है।

सांतराय संवाद—इसमें संवाद का क्रम सतत अटूट न रहकर अन्तरालों में चलता है। लेखक ने इसे "इन्टरमिटेंट"[1] टॉक कहा है। इस संवाद-शैली के स्वाभाविक विधान के लिऐ लेखक ने भौतिक तथा मानसिक दोनों दृष्टियों से, आवश्यक वातावरण उपस्थित किया है। उपन्यास के आरम्भ में भुवन और रेखा एक ही गाड़ी में सफ़र कर रहे हैं। दोनों का सम्पर्क पिछले सप्ताह-मात्र का है अतएव एक-दूसरे की ओर मन-ही-मन आकर्षित होते हुए भी, एक ही डिब्बे में मिलकर यात्रा करने की निस्संकोच घनिष्टता उनमें नहीं आ पाइ। दोनों अलग-अलग डिब्बों में बैठते है—रेखा, महिलाओं के और भुवन पुरुषों के। रेखा का डिब्बा आगे की ओर है और भुवन का पीछे। गाड़ी पैसंजर है, जो हर स्टेशन पर रुकती है। पहले ही स्टेशन पर गांड़ी रुकी तो भुवन रेखा के डिब्बे के सामने प्लेटफार्म पर खड़ा होकर इससे बातें करने लगता है। गाड़ी सहसा चल देती है और बातचीत अधूरी रह जाती है। मानों इसे पूरा करने के लिए भुवन अगले स्टेशन पर आया है और पिछली बात आगे बढ़ाई जाती है। "बात ज्यों-ज्यों आगे चलती थी, अगले स्टेशन पर फिर न जा पहुँचना उतना ही अनुचित जान पड़ता था, अनुचित ही नहीं; भुवन स्वय भी बात आगे सुनने को उत्सुक था[2]।" इस प्रकार रुक-रुक कर किन्तु सभी स्टेशनों पर बातचीत का क्रम बना रहता है। यह अटूट न होते हुए भी ससूत्र है। यदि हर स्टेशन पर अलग-अलग ही बात होती—अलग-अलग विषय होता—तो इसे सांतराय संवाद की संज्ञा न मिल सकती। इस विरामी विधि की अपनी विशिष्टता है—'बीच-बीच के ब्रेक अपने-आप में तटस्थता दे देने वाले हैं, फिर चाहे बातचीत कोई कैसी ही करे[3]।" दूसरे, बीच-बीच के अन्तराल विचाराधीन विषय पर चिंतन का अवसर दे देते हैं[4]। इस तरह रेल के सफ़र की स्थिति में, उपर्युक्त विशिष्टता के कारण, सांतराय संवाद रेखा-भुवन के "आत्म-प्रकाशन को सहज बना देता है[5]।"

स्मृत-संवाद—पात्रों की स्मृति में आने के कारण ही ये स्मृत-संवाद हैं। ये संवाद पात्रों की प्रत्यवलोकन प्रणाली का परिणाम हैं। फिर भी, प्रत्यवलोकन के लिए संवाद-शैली आवश्यक नहीं। 'नदी के द्वीप' के उपर्युक्त सान्तराय संवाद भुवन के प्रत्यवलोकन का अंग है; उसकी स्मृति में आए है इसलिए स्मृत-संवाद भी हैं। अन्यत्र रेखा और उसके पूर्व पति हेमेन्द्र के प्रसग में आए संवाद भी इसी प्रकार के है।

लिखित संवाद इस संवाद-शैली में पात्र लिखकर बात-चीत करते हैं।

१. पृ० २६, रेखा के शब्द। २. पृ० २४। ३. पृ० २६।
४. भुवन की मुश्किल इसी से हल हुई, पृ० २५। ५. पृ० २३-२८।

लेखक ने इसे भी सानुकूल परिस्थिति दी है। रेखा गाड़ी के भीड़-भरे जनाना डिब्बे में बैठी है और भुवन बाहर "खिड़की पर खड़ा" है। भीतर बड़ी "किट किट" के कारण परस्पर बात करना 'असम्भव" था। अतएव दोनों लिखकर बातचीत करने के लिए बाध्य होते हैं।[1]

एकपक्षीय वर्णनात्मक संवाद— संवाद के दो पक्षों में से, इसमें मुख्यतः एक पक्ष सामने आता है और वह भी प्रत्यक्ष रूप में नहीं लेखक के वर्णन से; देखिए— रेखा के जाने के कुछ समय बाद लखनऊ में रियासती प्रतिनिधियों की एक बैठक हुई थी, बातचीत के सिलसिले में चन्द्र ने एक उच्च अधिकारी से अमुक रियासत की राजकुमारियों की गवर्नेस की कुछ चर्चा कर दी थी। फिर पूछे जाने पर उसकी नेकी, सच्चरित्रता और लगन की बडी प्रशंसा की थी। "क्या वह उसे काफी देर से जानता है ?" हाँ, उसे ही नहीं, उसके पति को भी जानता है, उसके दो-एक प्रेमियों को भी—रेखा देवी बड़ी समझदार और सावधान स्त्री है, कभी अपने पर आँच नहीं आने देती, न कभी किसी को संकट में डालती है; उससे कभी किसी की बुराई नहीं सुनी गयी।'·······यों आजकल ऋषि-मुनियों का जमाना थोड़े ही है; अच्छा वह जिसके नाम पर कोई धब्बा न हो, इसके आगे किसी के निजी जीवन को कुरेदना भी नहीं चाहिए। 'मैं रेखा देवी को बहुत अच्छी तरह जानता हूँ—जी हाँ, इतना कि मैं चाहूँ तो—···अपनी बात कहनी नहीं चाहिए, पर वहाँ उन्हें नौकरी भी मैंने ही दिलायी थी—' और चन्द्र कुछ ऐसे ढंग से मुस्कराया था, कि रेखा को जानने में, और उसे नौकरी दिलाने की लाचारी में कोई सम्बन्ध हो···और चन्द्रमाधव जैसा उत्तरदायी आदमी जिसे अपने निकट लेता है, उसका ध्यान रखता है—उसकी उचित व्यवस्था करता है······[2]। इस उद्धरण से स्पष्ट से है कि यह शैली मानो नाम-हीन कल्पित प्रतिपक्षियों को उत्तर देने के लिए बनी है। उपर्युक्त उद्धरण में चन्द्र का पक्ष अनेक वाक्यों में मुखरित है और दूसरे प्रतिपक्षियों का एक ही वाक्य में। प्रतिपक्षियों के अन्य प्रश्नों का, अनुमान चन्द्र के उत्तर से लगाया जा सकता है। अब दूसरा उद्धरण लीजिए जिसमें कल्पित या अनुमानित पक्ष ही सामने आया है किन्तु व्यंग्यमय अनुभावों के साथ—वकील से विदा लेकर हेमेन्द्र ने रेखा के बारे में इधर-उधर जो पूछ-ताछ करनी शुरू की, तो उसे बहुत-सी आश्चर्यजनक बातें मालूम हुई। 'रेखा ?' मुस्काहट। रहस्य। 'जाने दीजिये— किसी स्त्री की बुराई नहीं करनी चाहिए।' चेहरे पर दर्द का भाव। 'लेकिन आज कल की औरतें भी कुछ पूछिए मत— हिन्दुस्तान को यूरोप बना दिया है—बल्कि यूरोप में भी ऐसा न होता।' 'कहें, कैसे, कहने की बात भी हो ? पर आप उसके हितैषी मालूम होते हैं'···वह तो— अपने यारों

१. पृ० ११४-११५। २. पृ० ४५।

को ले कर पहाड़ों की सैर करती-फिरती है—कभी इसको, कभी उसको—नौकरी तो सिर्फ बहाना है, कभी किसी के साथ रहती है कभी किसी के'···इसके बाद एक कटु कर्तव्य को साहसपूर्वक कर चुकने का क्लान्त पर आत्म-तुष्ट भाव[१]।'—स्पष्ट है कि इस वर्णनात्मक संवाद-शैली में—कथा-प्रवाह को ककुण्ठित रखते हुए—संक्षेप में बहुत कुछ कहने और व्यंजित करने की विशिष्टता है। इससे कुछ पृष्ठों की बचत हो जाती है और रोचकता में वृद्धि भी। दूसरे, इस में समूह-चरित्र और समाज-चरित्र सामने आता है।

आगे हम 'नदी के द्वीप' के संवादों की सामान्य विशेषताओं की चर्चा करेंगे। 'नदी के द्वीप' के संवाद शील-प्रकाशक तथा कथा को अग्रसर करने वाले हैं। इन दोनों में से भी पहली विशेषता प्रमुख है। इसके अतिरिक्त सभी पात्र क्योंकि शिक्षित, संस्कृत, अधीत, अध्यापक या लेखक, तथा विशिष्ट हैं अतएव आभिजात्य शोभनता तथा कलात्मक परिष्कृत 'नदी के द्वीप' के संवादों की सामान्य विशेषता है। पात्रों की शिष्टता-सौजन्यता के अनुकूल इन संवादों पर एक सहज शालीनता की छाप है। भुवन के दृष्टिकोण से रेखा की बातचीत की निम्न आलोचना उस 'शालीनता' को स्पष्ट तथा पुष्ट करती है—"भुवन को रेखा का ढंग अतिरिक्त मधुर लगा। यों वह सदा विनय से बात करती थी, पर भुवन ने सोचा, उसके स्वर में न बंगालियों की आदर्शप्रियता है, न कश्मीरियों की बनावट; एक सहज शालीनता उसमें है जिसे न अकड़ना पड़ता है, न झुकना पड़ता है, जिससे प्रकृत्स्थ रहकर ही वह छोटे-बड़े सब के बराबर हो जाती है—"[२] इन संवादों की अन्य सामान्य विशेषता है नाटकीयता। चुने हुए व्यंजक अनुभावों के मेल से ही पात्रों के कथनों के निहित अभिप्राय और ऊपरी अर्थ के भेद को लक्षित किया जा सकता है। "शब्द अधूरे हैं क्योंकि उच्चारण माँगते हैं" इसलिए शब्दों के अन्तराल, पदों-वाक्यांशों की यति एवं आवृत्ति, अधूरे-टूटे स्फुट कथनों, अकस्मात् निकल जाने वाली निरर्थक ध्वनियों आदि से संवादों को संपूर्णता दी गई है। इसी से पात्रों की मनःस्थिति की व्यंजना में ये सफल हो सके हैं। किसी मनःस्थिति तथा परिस्थिति में कोई पात्र अपने प्रतिपात्र के अनुसार क्या कहेगा, कैसे कहेगा, कितना कहेगा, कहेगा भी या अनुच्चारित मौन तथा अनुभावों के रहःसंलाप से व्यंजित करेगा, इन सब बातों के औचित्य का निर्वाह इन संवादों में हुआ है। रेखा-भुवन के निम्न उदाहरण में इन सभी विशेषताओं का संयुक्त प्रतिफलन मिल जायेगा। रेखा यौन-तृप्ति की कामना से, रात को सोते हुए, अपने प्रेमी भुवन के बिस्तर पर अकस्मात् आई है किन्तु भुवन उससे प्रेम करता हुआ भी, आत्मसमर्पण को स्वीकार नहीं कर सका—इस असामाजिक किन्तु असामान्य स्थिति

१. पृ० २१४। २. पृ० २०२।

के उच्चस्तरीय शोभन निर्वाह का श्रेय संतुलित संवाद तथा वर्णन-शैली को है:—

किस चीज ने उसकी नींद तोड़ दी—चाँद की रोशनी ने, या कि उस पर बादल की छाया ने—

भुवन ने आँखें खोलीं। नहीं बादल की छाया नहीं, रेखा की छाया थी।

रेखा उसके सिराहने बैठी थी, उस पर झुकी हुई उसका चेहरा देख रही थी।

उसने आँखें खोली हैं, यह देखकर रेखा ने अपने दोनों हाथ उसके माथे पर रख दिये।

हाथ बिल्कुल ठंडे थे।

'तुम ठिठुर रही हो, रेखा।" कहकर भुवन उठने को हुआ, पर रेखा ने उसका माथा दबा कर उसे रोक दिया। भुवन ने कुहनी से अपना कम्बल उठाकर सरका कर रेखा के घुटनों पर उढा दिया, फिर उससे दोनों हाथ अपने हाथों में पकड़ कर कम्बल के अन्दर खींच लिए। पूछा "क्या बात है, रेखा ?"

रेखा नहीं बोली।

भुवन ने फिर पूछा, "रेखा क्या बात है ?"

"तुम—हो, तुम सचमुच हो। यू आर रीयल।"

रेखा का स्वर इतना धीमा था कि ठीक सुन भी नहीं पड़ता था।

भुवन वे कहा, "आई एम, बेरी रीयल, रेखा। पर ठहरो, पहले तुम्हे कम्बल उढा लूं—"...

रेखा सहसा हाथ छुड़ाकर उससे लिपट गई। आँखें उसने बन्द कर ली; भुवन के माथे पर अपना माथा टेक दिया। उसके ओंठ न जाने क्या कह रहे थे; आवाज उनसे नहीं निकल रही थी।

भुवन कहता गया, "क्या बात है, रेखा; रेखा, क्या बात है—"उसका स्वर क्रमशः धीमा और आविष्ट होता जा रहा था।

रेखा के ओंठ उसके कान के कुछ निकट सरके आये। पर स्वर उनसे अब भी नहीं निकला। पर सहसा भुवन जान गया कि वे शब्दहीन स्वरहीन ओंठ क्या कह रहें हैं "मैं तुम्हारी हूँ, भुवन, मुझे लो।"

भुवन वैसा ही स्तब्ध बैठा रहा, न उठा, न हिला; न उसने रेखा को निकट खींचा, न हटाया, रेखा के ओंठ भी निश्चल हो गये, मानो उन्होंने जान लिया कि वे जो कह नहीं सके हैं, वह सुन लिया गया है।

न जाने कितनी देर तक ऐसा रहा। फिर भुवन ने कहा, "रेखा, पैर उठाकर इधर पसार लो—ठिठुर जायेंगे।" लेकिन रेखा के अंग-प्रत्यंग जैसे शिथिल हो गये थे। भुवन ने हाथों में बलात् उसके पैर उठा कर कम्बल के अन्दर कर लिए। रेखा

कुछ सीधी होकर बैठ गई। भुवन ने दोनों बाहों से उसे कमर से घेर लिया; सिर उठाकर धीरे से रेखा की जाँघ पर रख दिया।

फिर और न जाने कितनी देर तक ऐसा रहा। सहसा रेखा चौंकी। भुवन का शरीर काँप रहा था। जल्दी से झुक कर रेखा ने उसका मुंह देखना चाहा पर उसने और भी जोर से उसे रेखा की जाँघ में गड़ा कर अपनी एक बाँह से ढक लिया।

रेखा बैठी रही, बिल्कुल निश्चल। उसकी सब संवेदनाएँ जैसे अत्यन्त सजग हो आयीं, पर साथ ही भीतर कहीं कुछ जड़ होने लगा।

भुवन सिसक रहा था; अब उसकी सिसकी स्पष्ट सुनी जा सकती थी।

रेखा ने फिर उसे सीधा करना चाहा; पर न कर सकी। फिर वह वैसी ही निश्चेष्ट बैठ गई।

थोड़ी देर बाद भुवन ही सिर उठाकर जरा ऊपर को सरका, सिर उसने फिर रेखा की देह पर टेक लिया लेकिन हाथ मुंह के आगे से हटा लिया। पर रेखा ने अब उसका चेहरा देखने की चेष्टा नहीं की।

भुवन कुछ असम्बद्ध-सा बड़बड़ाने लगा। पहले ओठों की बिल्कुल ही स्वरहीन गति, फिर एक धीमी फुसफुसाहट कभी कहीं टूटा हुआ स्वर। रेखा एकाग्र होकर सुन सी रही थी और मानों अर्थ तक पहुँचने का यत्न भी नहीं कर रही थी···

लेकिन अर्थ स्वयं धीरे-धीरे अवगत होने लगा।

यह इनकार नहीं है, रेखा; प्रत्याख्यान नहीं है··यह सब बहुत सुन्दर है, बहुत सुन्दर···वह—वह सौन्दर्य की चरम अनुभूति होती है—होनी चाहिए मैं मानता हूँ···इसलिए डर लगता है, अगर वह—अगर वैसा न हुआ—जो सुन्दर है उसे मिटना नहीं चाहिए··तुमने जो दिया है, उसके सौन्दर्य को मैं मिटाना नहीं चाहता, रेखा, जोखम में नहीं डालना चाहता। वह बहुत सुन्दर है, बहुत सुन्दर···"

और फिर बड़ी बड़ी सिसकियों ने उसका स्वर तोड़ दिया···"[1]

इन संवादों में अंग्रेजी कथन भी अनेक स्थानों पर आए हैं। परन्तु ये प्रायः सप्रयोजन है—पात्रों की संकोच-झिझक को व्यक्त करते हैं, और उन्हें अपने ही कथन से दूर ले जाते हैं। इससे पात्र अकथनीय को कह पाते है; गौरा के बाध्य करने के बाद, भुवन अपनी ग्रंथि की कहानी को इन शब्दों में खोल पाता है—

कई मिनट बाद भुवन ने कहा "कहानी लम्बी है गौरा। पर—बहुत छोटी भी है।" सहसा एक कठोर, निष्करुण भाव से "आइ लव्ड हर। वी वेयर ट हैव ए चाइल्ड। आइ किल्ड हिम।"[2]

---

१. पृ० १२६-१२८।

२. पृ० २८५। इसके अतिरिक्त देखिए पृ० ४१, १२६, २०२।

'नदी के द्वीप' के यश का बहुत बड़ा श्रेय उसकी भाषा-शैली को है। इसमें 'अज्ञेय' एक मौलिक शैलीकार के रूप में उपस्थित हुए हैं। यद्यपि 'नदी के द्वीप' की भाषा-शैली में, अपने नायक तथा विषयानुरूप, 'शेखर' की ओजस्विता नहीं, फिर भी इसमें 'शेखर' से निश्चित विकास मिलता है। 'शेखर' की भाषा का स्तर सर्वत्र समान रूप से उन्नत एवं आकर्षक नहीं, जैसाकि 'नदी के द्वीप' का है। प्रत्येक प्रसंग लेखक की परिपूर्ण अभिव्यक्ति तथा स्वाभाविक सावधानी का प्रभाव डालता है। 'नदी के द्वीप' की भाषा अपूर्व-शिल्पित है किंतु सायास नहीं, यह मानो लेखक का सहज कलात्मक स्तर है, उसकी परिष्कृत-अनुशासित सौन्दर्यानुभूति व्यक्तित्व की विशिष्टता। इसमें स्वाभाविक परिष्कृति, अभिजात सादगी, मर्जी कांति तथा सुन्दर-सधे वाक्यों के सतुलित प्रवाह का सम्मोहन है। प्रत्येक शब्द कटा-छंटा सुगठित है तथा वाक्यों में प्रभावी सार्थकता एवं लयात्मक माधुर्य से अनुक्रमित। अनेक स्थलों पर, एक ही वाक्य में समानार्थक-से—किन्तु अपनी स्वतन्त्र व्यंजनाओं से युक्त—अनेक शब्द और इसी प्रकार अनेक उपमान एकसाथ आकर अभीष्टार्थ को उत्तरोत्तर स्पष्ट-पुष्ट करते हुए प्रभाव को घनीभूत कर देते हैं। इसके अतिरिक्त 'नदी के द्वीप' की भाषा में उसके लेखक के कवि तथा प्रज्ञ-रूप का सम्मिलित सौष्ठव मिलता है। सादृश्य की नूतन उद्भावनाएँ, अमूर्त भाव-विचारों का मूर्तीकरण, प्रकृति का एन्द्रिय विषयों—विशेष रूप से वर्ण-विज्ञान से युक्त चित्रविधान इसके कवि-रूप के उपकरण है तथा भेदक सूक्ष्मताओं के असामान्य विश्लेषण में समर्थ तीखी भिन्नता वाले शब्दों का प्रयोग प्रज्ञ रूप का। 'नदी के द्वीप' की भाषा में प्रसंगानुकूल परिवर्तन की क्षमता है। भुवन, रेखा और गौरा के दृष्टिकोण से कहे प्रसंगों तथा चन्द्र, हेमेन्द्र के प्रसंगों मे भाषा एवं शैली का अन्तर स्पष्ट है। चन्द्रमाधव के प्रसगों की भाषा-शैली में उसकी जर्नलिस्ट वृत्ति और भीतर की स्थूल प्रकृति की झलक मिलती है, जो भुवन और रेखा की शालीन सुरुचि को अपनी तुलनात्मक विषमता से और भी उजागर कर देती है।

'नदी के द्वीप' की भाषा, पदों की महती अर्थवत्ता तथा शब्द-भण्डार दोनों दृष्टियों से विशेष समृद्ध है। सुपरिचित-अल्प-परिचित, अरबी फारसी-अँगरेजी तथा तदभव एवं लोक-शब्दों—संझा, उसांस, भोर, छांह, अचरज, सकत, जुगत—सबका यहाँ स्वागत-सत्कार हुआ है और एक नई आभा तथा अनोखी सार्थकता से प्रयोग। इससे भाषा कहीं भी बोझिल और कहीं भी दुरूह नहीं हुई—एक सरल-तरल प्रवाह सर्वत्र लक्षित होता है। प्रचुर मात्रा में आए सुगठित-सारगर्भित वाक्य भी इस उपन्यास की भाषा-समृद्धि के सूचक हैं।

विराम-चिन्हों के मौन में जो शक्ति है, उसका मुखर परिचय यहाँ मिलता है।

यद्यपि 'नदी के द्वीप' की भाषा-शैली की विभिन्न विशेषताओं के निदर्शन में पीछे आए अनेक उद्धरण—विशेष रूप से चन्द्रमाधव का अन्तर्विवाद, लखनऊ के हज़रत गंज का वर्णन, दिल्ली के कुदसियाबाग का प्रकृति-चित्र तथा रेखा की रेशमी साड़ी का विश्लेषण-चित्र—पर्याप्त होंगे, फिर भी अधोलिखित दो-तीन नए उद्धरणों से उपर्युक्त अधिकांश विशेषताओं का परिचय मिल जायगा—

क. "गौरा सुनती रही। भुवन का स्वर पहले असम था, धीरे-धीरे सम, सधा हुआ होने लगा, और उसी अनुपात में दूर, निर्वैयक्तिक, रागमुक्त, असम्पृक्त; मानों गौरा के आगे एक सजीव व्यक्ति नहीं, शब्द का एक झरना हो, जो अजस्र भाव से बहता जा रहा हो; कौन पास है, कौन उसके झरझर बहते हुए अभिप्रायों को सुनता है या नहीं सुनता, उसकी संवेदना की झिलमिल छायित-द्योतित पन-चादर को देखता है या नहीं देखता, इससे सर्वथा असंलग्न···

"और कमरे में चीड़ की आग के आलोक की शिखाएँ नाचती रहीं। लकड़ी को और चीड़ की कुकड़ियों की हल्की चटपट और विस्फूर्जित वाष्पों की फुरफुराहट जैसे स्वर-पीठिका बन कर भुवन की बात को अतिरिक्त बल देती रही···"[१]

ख. "भुवन कुछ नहीं बोला। रेखा का स्वर उसे अच्छा लग रहा था, उसकी गति मानों लययुक्त थी, एक भावाक्रांत उतार चढ़ाव मानों अलग से कहता था, 'बात के अर्थ से अलग और भी अर्थ हैं मुझ में, अकथित, अकथ्य अभिप्राय, जरा कान दे कर सुनो'···"[२]

ग. "चन्द्रमाधव ने सनसनी खोजी है? असल में उसने जीवन खोजा है, तीव्र बहता हुआ प्लावनकारी जीवन, और वह उसे मिला कहाँ है? मिली है यह छोटी-छोटी टुच्ची अनुभूतियाँ, चुटकियाँ और चिकोटियाँ—और उसके किस दोष के कारण? प्यार? नहीं; बीवी-बच्चे। स्वातन्त्र्य? नहीं, तनखा। जीवनानन्द? नहीं, सहूलियत, घर, जेब-खर्च, सिनेमा, पान-सिगरेट, मित्रों की हिर्स···"[३]

'नदी के द्वीप' के समस्त वातावरण को एक भद्रता तथा माधुर्य देने का बहुत कुछ श्रेय इसकी भाषा को है।

'नदी के द्वीप' की भाषा-शैली पर दो आपत्तियाँ उठाई गई हैं[४] और उठाई जा सकती हैं। एक, अंग्रेजी शब्दों-वाक्यों के 'धड़ल्ले के साथ' प्रयोग पर; दूसरे, लेखक के किन्हीं 'विचित्र हिन्दी प्रयोगों' पर। इसमें से पहली के कारण इस उपन्यास के पाठक सीमित हो सकते हैं। दूसरी आपत्ति की ओर ध्यान कम जाता है—अज्ञेय की भाषा-शैली की अनगिनत आकर्षक विशेषताओं में कुछ 'विचित्र प्रयोग' ओझल

१. पृ० २८६। २. पृ० ६८। ३. पृ० ३५।
४. गिरिजादत्त शुक्ल गिरीश: "साहित्य वार्ता," पृ० १३०।

हो जाते हैं। दूसरे, उसके विचित्र प्रयोग वे 'स्वतन्त्र' प्रयोग हैं, जो अपने अनुमोदन की माँग कर सकते हैं; देखिए—(क) "उत्तर माँगने वाला दूसरा है ही कौन ? मैं ही तो मुझसे उत्तर माँग सकता हूँ"।[1] (ख) "जीवन वहाँ जिया नहीं जाता, वहाँ केवल जीवन से विश्रांति की व्यवस्था है।"[2] वस्तुतः 'नदी के द्वीप' के आधार पर 'अज्ञेय' की भाषा शैली की जितनी प्रशंसा हुई है, उतनी स्यात् किसी हिन्दी-उपन्यास की भाषा-शैली की नहीं।

समग्रालोचन के पश्चात्, निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि 'नदी के द्वीप' सौष्ठव-सम्पन्न आकर्षक उपन्यास है। यद्यपि इसमें लेखक को व्यक्तिवादी जीवन-दर्शन का प्रतिपादन भी अभीष्ट है किन्तु चारित्रिक पक्ष की किंचित् दुर्बलता, गृहीत जीवन-क्षेत्र की परिमिति, वैचारिक पक्ष की एकांगिता, विरोध पक्ष की न्यूनता तथा काम-प्रसंगों को अपने में ही उलझा लेने की आकर्षण-क्षमता के कारण, उसे सामान्य से अधिक सफलता नहीं मिल सकी। अतएव इसका समष्टि-प्रभाव भी परिसीमित हो गया है। वस्तुतः पाठकों को इस से सौन्दर्यबोधात्मक आनन्द मिलता है—यह उसके उस शिल्प की अपनी विजय है, जो यहाँ स्वयं विषय बन गया है—और इसी दृष्टि से यह असामान्य उपन्यास है। इसकी असामान्यता, आकर्षक एवं रागपूर्ण जीवन-स्थितियों के चयन, कथानुबंधन एवं चरित्रांकन में विविध-नूतन मनोवैज्ञानिक शिल्प-साधनों के संयोजित विनियोग, उनके सौष्ठवपूर्ण निर्वाह, संतुलित संवादों के सम्मोहन तथा हिन्दी-गद्य के अधुनातन उन्नततम स्तर के निदर्शन में है। और यह लब्धि भी कम महत्वपूर्ण नहीं।

सूरज का सातवाँ घोड़ा

'गुनाहों के देवता' (सन् १९४९) के बाद 'सूरज का सातवाँ घोड़ा' (१९५२) डॉ० धर्मवीर भारती का दूसरा उपन्यास है। पहला उपन्यास अपेक्षाकृत बड़ा—४४७ पृष्ठों का—था किन्तु यह (भूमिकाओं को अलग कर) केवल ११२ पृष्ठों का लघुकाय उपन्यास है। काया ही नहीं, कथ्य एवं शिल्प-शैली दोनों में 'सूरज का सातवाँ घोड़ा' पहले उपन्यास से एकांत भिन्न-प्रकृति का है।

यह उपन्यास शिल्प-प्रधान उपन्यासों के वर्ग में आता है। प्रायोगिक नव्यता इस उपन्यास का प्रमुख आकर्षण है। शीर्षक के नीचे 'एक नये ढंग का लघु-उपन्यास' लिखकर लेखक ने इसके नूतन शिल्प की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित किया है। आगे अपनी भूमिका में भी उसने इस उपन्यास की 'अनोखे ढंग की' 'कथा-शैली' को स्पष्ट किया है। 'अज्ञेय' जी भी इसकी भूमिका में 'सबसे पहली बात' 'उसकी

१. पृ० १३०। २. पृ० ७।

गठन' बताते हैं। अश्क जी भी इसमें 'एकदम नई टैकनीक' होने का मत देते हैं।[1] डॉ० विनयमोहन शर्मा इस 'उल्लेखनीय प्रयोग' की 'नई वेशभूषा' से 'आकर्षित' होते हैं।[2] नंददुलारे वाजपेयी भी भारती के उपन्यासों को 'शिल्प-प्रधान' मानते है।[3]

इसकी शैल्पिक नूतनता लोककथात्मक पद्धति के अन्तर्गत, आलोचना-सहित कहानी-रूप—छः विभिन्न कहानियों की एकता—के माध्यम से उपन्यास प्रस्तुत करने की है। पहले हम इस उपन्यास के आलोचना-तत्व को देखेंगे। इस उपन्यास की एक नई और बड़ी विशेषता इसमें है कि यह स्वयं अपनी व्याख्यात्मक आलोचना भी है—उपन्यास के विकास के साथ-साथ, शीर्षक से लेकर शैली-शिल्प तथा उद्देश्य तक का स्पष्टीकरण इसमें हुआ है। इस व्याख्या में लेखक के दो प्रयोजन दिखाई देते हैं—अपने नूतन प्रयोग-शिल्प को स्पष्ट करना तथा निष्कर्षों को सही रूप में उभार कर पाठकों के सामने रखना। इससे उपन्यास में सुलझन-सरलता आ गई है और पाठकों का वर्ग भी विस्तृत हो गया है। यह उपन्यास की लोककथात्मक पद्धति के उपर्युक्त है।

इस आलोचना-तत्व के समावेश से उपन्यास का शिल्प भी प्रभावित हुआ है। यदि यह आलोचना स्वयं लेखक करता तो उसके अनुचित हस्तक्षेप या अनधिकार-चेष्टा से अस्वभाविकता आ जाती, अतएव आत्म-कथात्मक प्रणाली के रूप में लिखते हुए भी लेखक ने स्वयं को मूल लेखक नहीं, मात्र प्रस्तुतकर्ता के रूप में उपस्थित किया है—उसने यह विश्वास दिलाने का प्रयत्न किया है कि वह मूल कथा-वक्ता माणिक मुल्ला से कथाओं को सुनकर लिख रहा है। भारती जी उपर्युक्त भ्रमोत्पन्न करने के लिए सजग रहे हैं और इसके लिए उन्होंने अनेक प्रकार के कौशलों से काम लिया है। उपन्यासारम्भ के पूर्व, पहले ही पृष्ठ पर लिखा है:—"माणिक कथा-चक्र के अन्तर्गत, निष्कर्षवादी कथाओं के रूप में कहा गया लघु-उपन्यास

'सूरज का सातवाँ घोड़ा'

जिसे इस रूप में प्रस्तुत किया धर्मवीर भारती ने!"

इसके बाद कहानियाँ आरम्भ करने से पूर्व ही 'उपोद्घात' में पुनः दुहराया गया है कि माणिक मुल्ला की कहानियों को सुन कर 'यथासंभव वैसे ही प्रस्तुत करने का प्रयास' किया जा रहा है। लेखक पाठकों से क्षमा माँगता है कि वह माणिक मुल्ला की "बोल-चाल के लहजे" वाली शैली में लिख रहा है और अपनी आदत के मुताबिक 'रूमानी, चित्रात्मक'.. भाषा में नहीं लिख रहा।[4] तीसरी कहानी शीर्षकहीन रखी गई है क्योंकि "शीर्षक माणिक मुल्ला ने नहीं बताया"।[5] इस स्थल पर लेखक

---

१. "आलोचना" ४, पृ० १०६। २. "साहित्य' शोध, समीक्षा", पृ० ४२।
३. "आलोचना" २४, पृ० ७। ४. पृ० २२। ५. पृ० ५७।

ने यह प्रत्ययोत्पत्ति की है कि वह माणिक के उत्तर का केवल 'तात्पर्य' ही लिख सकता है, उन्हीं शब्दों को यथातथ्य रूप में नहीं दुहरा सकता।[1] वह उपन्यास के अन्त में, नामकरण की उपयुक्तता तथा 'विषय-वस्तु' की 'भलाई-बुराई' का उत्तरदायित्व भी माणिक मुल्ला पर ही छोड़ता है क्योंकि उसका काम तो केवल 'प्रस्तुत' करने का रहा है।[2]

माणिकमुल्ला से कहानियाँ सुनाने के लिए भारती जी ने पात्र-उपयुक्तता का ध्यान रखा है। 'उपोद्घात' में माणिकमुल्ला से परिचित कराते हुए लेखक ने कहानियों के विषय में उनके 'विशाल अध्ययन' और 'कहानी-कला पर पूर्ण अधिकार' का उल्लेख किया है।[3] कहानियों के उपक्रम में भी माणिक की कहानियाँ कहने की सहज रुचि का बड़ी कुशलता से परिचय दिया गया है। लेखक को 'किताब' पढ़ते देख, माणिक तैश खा कर किताब छीन कर फेंक देता है और बुजुर्गाना लहजे में कहता है—"यह लड़का बिल्कुल निकम्मा निकलेगा। मेरे कमरे में बैठकर दूसरों की कहानियाँ पढ़ता है। छिः बोल कितनी कहानियाँ सुनेगा।"[4] इसी के बल पर यहाँ एक सप्ताह के अविच्छिन्न क्रम में लगभग सात कहानियाँ कही गई हैं।

लेखक ने इन कहानियों को श्रोता-रूप में सुनने और बाद में प्रस्तुत करने की प्रणाली को लोक-कथात्मक पद्धति का स्वरूप दिया है। यह पद्धति जानी-पहचानी अत्यंत प्राचीन पद्धति है—पंचतन्त्र, कथा सारित्सागर की-सी—जिसे लेखक ने नया स्वरूप दिया है। इस लोककथा-पद्धति की निम्न विशेषताएँ यहाँ देखी जा सकती हैं —१. ग्रीष्म की दुपहरी में, माणिकमुल्ला के अकेले घर में रोज़ चार-पाँच मित्रों की मजलिस जमती है और खरबूज़े-मोंगफली-खाने के हल्के वातावरण में माणिकमुल्ला कहानियाँ सुनाते हैं। सतत सात दिन, प्रत्येक दुपहर को यह क्रम चलता है। लेखक ने समय-सूचना—पहली दुपहर, दूसरी दुपहर.. के माध्यम से मानों कहानियो की संख्या दी है। २. कहानियों का उपक्रम अनौपचारिक (बेतकल्लुफाना) वातावरण में होता है; मित्रों के आपसी हल्के संवाद इसका मुख्य उपकरण हैं।[5] ३. कहानियों के

१. पृ० ११५। २. पृ० १२७। ३. पृ० २०। ४. पृ० २३।

५. दूसरी कहानी का उदाहरण लीजिए—"हटाओ जी इन बातों को। लो आज जौनपुरी खरबूजे हैं। इनकी महक तो देखो। गुलाब मात है। क्या है शाम? क्यों मुंह लटकाए बैठे हुआ।

हम लोग तो सुनना ही चाहते थे अतः एक स्वर से बोल उठे—"हाँ, हाँ, आज जमुना के विवाह की कहानी रहे।" पर माणिक मुल्ला बोले—"नहीं पहले खरबूज़ो के छिलके बाहर फैंक आओ।"—पृ० ४२।

तारतम्य के बीच-बीच में कथाकार और श्रोता में प्रश्नोत्तर चलते हैं—कहीं माणिक मुल्ला "प्यारे मित्रो। हमेशा याद रक्खो .." कहकर उपदेश देते हैं,[१] कहीं श्रोताओं की कथा-मग्नता की परीक्षा करते है,[१] और कहीं कहानी के समाप्त होते-होते श्रोताओं से निष्कर्ष पूछते हैं।[२] मित्र-मण्डली भी बीच-बीच में शंकाएँ और उत्सुकता व्यक्त करती रहती है। ४. 'कथा सारित्सागर' के समान कहानियों के अन्त में निष्कर्ष जोड़ दिया गया है। ५. प्राचीन पुस्तकों के समान कहानी के अन्त का अभिधात्मक उल्लेख हुआ है; जैसे :—"इस प्रकार माणिकमुल्ला की प्रथम निष्कर्षवादी प्रेम कहानी समाप्त हुई"।[३] ६. कहानियों के व्याख्यात्मक शीर्षकों से भी, लोक-कला का भ्रमोत्पन्न होता है; जैसे—"नमक की अदायगी अर्थात् जमुना का नमक माणिक ने कैसे अदा किया।" अथवा "घोड़े की नाल अर्थात् किस प्रकार घोड़े की नाल सौभाग्य का लक्षण सिद्ध हुई?" ७. दूसरी कहानी का वार्तालाप लोक-भाषा में है। ८. यहाँ कहानी में से कहानी निकलने का क्रम मिलता है। प्रत्येक कहानी सुनने के बाद मित्रों में परस्पर वाद-विवाद होता है और बात इस सीमा तक पहुँचती है कि माणिकमुल्ला को स्वमत-प्रतिपादन के प्रमाण में दूसरी कहानी सुनानी पड़ती है, जो पहली कहानियों से किसी-न-किसी रूप में सम्बन्वित होती है।

लेखक ने अन्त में माणिकमुल्ला के विचारानुसार यह सूचना दी है कि कहानियों के रूप में उन्होंने उपन्यास सुना डाला है।[४] इस औपन्यासिकता का विश्लेषण करते हुए उपन्यास के उद्देश्य और इसके नूतन कहानी-शिल्प की परस्पर सम्बद्धता को दृष्टि में रखकर—भूमिका-स्वरूप—अज्ञेय जी ने लिखा है—"सूरज का सातवाँ घोड़ा" एक कहानी में अनेक कहानियाँ नहीं, अनेक कहानियों में एक कहानी है। वह एक पूरे समाज का चित्र और आलोचना है, और जैसे उस समाज की अन्तःशक्तियाँ परस्पर-सम्बद्ध; परस्पर-आश्रित और परस्पर-सम्भूत हैं, वैसे ही उसकी कहानियाँ भी। प्राचीन चित्रों में जैसे एक ही फलक पर परस्पर कई घटनाओं का चित्रण करके उसकी वर्णनात्मकता को सम्पूर्ण बनाया जाता है, उसमें एक घटनाचित्र की स्थिरता के बदले एक घटना-क्रम की प्रवाहमयता लायी जाती है, उसी प्रकार इस समाज-चित्र में एक ही वस्तु को कई स्तरों पर, कई कोणों से और कई कालों में देखने और दर्शाने का प्रयत्न किया गया है, जिससे उसमें देश और काल दोनों का प्रसार प्रतिबिम्बित हो सके।"[५] स्पष्टीकरण के लिए, ये सभी कहानियाँ निम्न मध्यवर्गीय समस्याओं को लेकर चली हैं। इस तरह इन कहानियों की परस्पर सम्बद्धता का एक कारण है विषय-ऐक्य। कहानी-रूप में उपन्यास लिखे

१. पृ० ४५। २. पृ० ४५। ३. पृ० ८८। ४. पृ० ३५
५. पृ० १२४। ६. पृ० १२

जाने की आवश्यकता इसलिए पड़ी ताकि एक-एक कहानी में मध्यवर्ग की व्यापक समस्या के एक-एक पक्ष को, विशिष्ट कोण से देखकर, तथा विश्लेषणात्मक सुलझाव के साथ उभार कर, सामने रखा जा सके। प्रमाण-स्वरूप, पहली कहानी में कुल-मर्यादा की थोथी रूढ़ि और बाद में दहेज न दे सकने की आर्थिक विवशता के कारण जमुना का मनोनुकूल, अपने प्रेमी तन्ना से, विवाह न हो सका और उसको एक वृद्ध जमींदार के साथ विवाह करना पड़ा। दूसरी कहानी में पहली कहानी से आगे, जमुना के विवाह के बाद की कथा है। धनी पति को पाकर जमुना का अर्थाभाव तो दूर हुआ, वह भलीभाँति पहन-ओढ़ कर कुछ दिन दिखावा भी कर सकी, परन्तु उसकी काम-भावना अतृप्त ही रही। पुत्र-कामना के लिए उसे अनैतिकता को स्वीकार करना पड़ा और वृद्ध पति के शीघ्र मर जाने के बाद वह विधवा बन, परिवार के बंधन से भी मुक्त हो गई। इस दूसरी कहानी में मध्यवर्गीय अनैतिकता को प्रमुखता मिली है। दोनों कहानियों का निष्कर्ष—जो 'अनध्याय' में व्यक्त है—यह है कि "जमुना निम्न-मध्यवर्ग की एक भयानक समस्या है। आर्थिक नींव खोखली है। उसकी वजह से विवाह, परिवार, प्रेम, सभी की नींवें हिल गई हैं। अनैतिकता छाई हुई है। पर सब उस ओर से आँखें मूँदे हैं। असल में पूरी जिन्दगी की व्यवस्था बदलनी होगी!"[1] इन दो कहानियों को एक ही कहानी के रूप में प्रस्तुत किया जा सकता था किन्तु निम्न मध्यवर्ग की अर्थ-काम की सामाजिक समस्याओं को उभार कर सामने न रखा जा सकता। इसके अतिरिक्त लेखक को प्रत्येक कहानी के बाद 'अनध्याय' के रूप में लघु अध्याय की भी सृष्टि करनी थी, जिसके माध्यम से ही वह रात में हकीम जी के चबूतरे पर सोने के लिए एकत्र मित्रों के परस्पर विचार-विमर्श से दुपहर में सुनी कहानी की आलोचना प्रस्तुत करता है और पात्रों-पाठकों को कहानी के वास्तविक उद्देश्य की ओर उन्मुख एवं उद्‌बुद्ध करता है। कहानियों से लेखक पाठकों का मनोरंजन करता है और 'अनध्याय' से शिक्षण। इस 'अनध्याय' की योजना को लेखक ने पूरी संगति प्रदान की है। एक तो यह मित्र-मण्डली शिक्षित है; दूसरे, ये सभी मध्यवर्गीय हैं; तीसरे, ये अवकाश के समय एकत्र होते हैं। और लेखक के अनुसार "अगर काफी फुरसत हो, पूरा घर अपने अधिकार में हो, चार मित्र बैठे हों तो निश्चित है कि घूम-फिर कर वार्ता राजनीति पर आ टिकेगी और जब राजनीति में दिलचस्पी खत्म होने लगेगी तो गोष्ठी की वार्ता 'प्रेम' पर आ टिकेगी।"[2] तब यह कितना स्वाभाविक है कि रात को एक ही चबूतरे पर सोने वाले ये मित्र, दुपहर में सुनी कहानी की प्रभाव-प्रतिक्रिया का खुलकर आदान-प्रदान करें। निस्सन्देह 'अनध्याय' के रूप में अपनी ही

१. मित्र मण्डली के एक सदस्य प्रकाश का कथन, पृ० ५२। २. पृ० १६।

कहानी के अध्ययन-आलोचन, तथा इसके माध्यम से पाठकों के परोक्ष शिक्षण का तरीका भारती जी का अद्‌भुत कलात्मक कौशल है। इससे प्राचीन लोककथा-पद्धति मनोरंजन तथा सीधे उपदेश के स्तर से ऊपर उठकर नूतन कलात्मक हो जाती है। इस 'अनध्याय' के रूप में अध्याय की एक और सार्थकता भी है। इससे, दो कहानियों के मध्य के अंतराल का बोध नही होता तथा अगली कहानी के लिए कुछ मानसिक भूमिका भी तैयार हो जाती है। यह भी स्वाभाविक रूप से होता है। लेखक ने रात की मजलिस में माणिकमुल्ला को नहीं रखा और उसे आरम्भ से अपने घर सोने दिया है। इसलिए जब दूसरी दुपहर को माणिक के घर फिर बैठक जुड़ती है तो मित्रगण उसे रात को अपनी उपलब्धियों की अवगति देते है, जो आगे की नई कहानी के लिए अनुकूल भूमिका प्रस्तुत करने के लिए पर्याप्त सिद्ध होती है।

ऊपर हम इस उपन्यास की पहली दो कहानियों की अलग-अलग सार्थकता को स्पष्ट कर चुके हैं। तीसरी कहानी भी मध्यवर्गीय विडम्बना के एक और पक्ष को उद्‌घाटित करती है, इसलिए उसका भी अलग अस्तित्व है, महत्त्व भी। वह है उपन्यास की पहली कहानी में आए जमुना के प्रेमी तन्ना की कहानी। जमुना समाज की विकृत व्यवस्था के विरुद्ध न विद्रोह कर सकी और न ही ईमानदार बनी रह सकी; उसने हर परिस्थिति से समझौता किया और वह समाज की अनैतिक विकृति का शिकार हो गई। "लेकिन जो इस नैतिक विकृति से अपने को अलग रख कर भी इस तमाम व्यवस्था के विरुद्ध नहीं लड़ते, उनकी मर्यादाशीलता सिर्फ परिष्कृत कायरता होती है, संस्कारों का अन्धानुकरण! और ऐसे लोग भले आदमी कहलाते जाते हैं, उनकी तारीफ़ भी होती है पर उनकी ज़िन्दगी बेहद करुण और भयानक हो जाती है और सबसे बड़ा दुःख यह है कि वे भी अपने जीवन का यह पहलू नहीं समझते और बैल की तरह चक्कर लगाते चले जाते है।"[1] इसी का निदर्शन तीसरी कहानी है। चौथी कहानी में पहली कहानी के प्रमुख पात्र माणिकमुल्ला तथा तन्ना की पत्नी लिली के विवाह-पूर्व जीवन के रंगीन-रोमानी प्रेम का वर्णन है। इसके माध्यम से मध्यवर्गीय जोड़ों के रोमानी प्रेम के ऐन्द्रजालिक भ्रम को तोड़ने का प्रयत्न है, जो साहस और परिपक्व प्रेम के अभाव में अपने सुखद स्वप्नों को स्वस्थ सामाजिक सम्बन्ध में नहीं बदल सकते।[2] पाँचवीं कहानी मे फिर माणिकमुल्ला, तन्ना के क्रूर-भ्रष्ट पिता महेसर दलाल (जो पहली, तीसरी, और चौथी कहानी से भी कुछ-न-कुछ सम्बन्धित है) तथा सत्ती की दुखांतकी है। इस कहानी से स्पष्ट होता है कि मध्यवर्गीय नवयुवक अपनी तथाकथित कुलीनता के फेर

१. पृ० ५६-६०, माणिकमुल्ला के शब्द। २. पृ० ७७-७८।

में तथा साहस-दृढ़ता के अभाव में, सुअवसरों का उपयोग भी नहीं कर सकता और सत्ती के रूप में निर्दोष-निर्भीक मानवता भी अर्थ की अनर्थता का शिकार हो जाती है। छटी दुपहर की चर्चा एक तरह से पाँचवीं की पूरक है यह बिना नया शीर्षक दिए 'क्रमागत' रूप में, किन्तु अलग लिखी गई है। इसका कारण यह है कि इसमें मध्यवर्गीय नवयुवक के जिस पक्ष को सामने लाया गया है वह अपने-आप में महत्वपूर्ण है। इसमें माणिकमुल्ला के रूप में उन मध्यवर्गीय नवयुवकों की मनःस्थिति का यथार्थ चित्रण हुआ है, जो साहस के अभाव में अपने प्रेम में ही असफल नहीं होते, अपने से अधिक ईमानदार नारियों की दुर्दशा का कारण भी बनते हैं। ऐसे युवक और तो कुछ कर नहीं सकते, आत्मग्लानि से अभिभूत होकर व्यक्तिवादी, असामाजिक, उच्छृंखल तथा आत्मघाती हो जाते हैं। "सामाजिक जीवन उन्हें बार बार अपने शिकंजे में कसने का प्रयास करता (है) पर वे प्रेम के अलावा सभी चीजों को निस्सार समझते (हैं) चाहे वह आर्थिक प्रश्न हो, या राजनीतिक आन्दोलन; मोतिहारी का अकाल हो या कोरिया की लड़ाई; शान्ति की अपील हो या सांस्कृतिक स्वाधीनता का घोषणापत्र···[1] (लेखक ने यहाँ देश-काल की भी व्यंजना कर दी है) और यदि माणिकमुल्ला की तरह ऐसे युवक कवि भी हुए तो उनकी करुणा, दर्द तथा निराश भरी मृत्यु-पूजक कविताओं से लोग झूमने लगते हैं क्योंकि इस पीढ़ी के हर व्यक्ति के हृदय में प्रायः कहीं-न-कहीं माणिक मुल्ला का अंश होता है। ऐसे कवि युवकों पर लोकप्रियता का नशा ऐसा छा जाता है कि वे अपने को संसार से असाधारण समझने लगते हैं। (लेखक ने माणिकमुल्ला के चरित्र-विकास की इस मनोवैज्ञानिक स्थिति के माध्यम से परोक्ष रूप में 'देवदास' तथा हिन्दी साहित्य की अनेक व्यक्तिवादी वेदना-गीतों की आलोचना की है।) इस छठी दुपहर के चित्रण को भी लेखक ने बड़ी कुशलता से कहानी-का-सा स्वरूप दे दिया है। वह पूर्व-कहानी की सत्ती से सम्बन्धित एक अप्रत्याशित घटना के चामत्कारिक झटके मानों कट वास्तविकता की झकझोर— से ही माणिकमुल्ला की अयथार्थ मनःस्थिति या रोमानी विभ्रम को तोड़ देता है। अन्त में, इस कहानी को पहले की कहानियों से मिलाने के लिए वह बड़ी कुशलता से सप्रसंग सूचना भी दे देता है कि तन्ना के मरने के बाद जो जगह खाली हुई, वही माणिकमुल्ला को मिल गई[2]—मानों फिर से वह सामान्य आदमी बन गया। 'सातवीं दोपहर' में कोई कहानी नहीं, माणिकमुल्ला द्वारा अपनी सुनाई कहानियों का पुनरालोचन है तथा भारती जी को "यथार्थ जिन्दगी के इन बहुत से पहलुओं" को विशेष कोण से देखकर "सरल भाषा" से "सबके सामने" रखने की प्रेरणा भी है।[3] इस सातवीं दुपहर में एक और महत्वपूर्ण चर्चा भी हुई

१. पृ० ११५। २. पृ० ११७। ३. पृ० १२३।

है। छटी दोपहर के बाद के 'अनध्याय' में लेखक के देखे एक स्वप्न का चित्रण है जो पहले सुनी सारी छहों कहानियों—दारुण दुःखांतकियों – का घनीभूत सार-स्वरूप भी है और उपन्यास के पीड़ित पात्र-पात्रियों—जमुना, तन्ना, सत्ती—के लावारिस बच्चों की समस्या का संकेत देकर वेदना को गाढ़ा करने वाला भी है। सातवीं दुपहर में जब लेखक अपने इस स्वप्न की चर्चा माणिकमुल्ला से करता है तो वह स्पष्ट करता है कि 'ये सपने सूरज के सातवे घोड़े के भेजे हुए है'।[१] आगे इसके स्पष्टीकरण में वह कहता है—"देखो ये कहानियाँ वास्तव में प्रेम नहीं, वरन उस जिंदगी का चित्रण करती हैं जिसे आज का निम्न मध्यवर्ग जी रहा हैं। उसमें प्रेम से कहीं ज्यादा महत्वपूर्ण हो गया है आज का आर्थिक संघर्ष, नैतिक विशृंखलता, और इसलिए इतना अनाचार, निराशा, कटुता और अन्धेरा मध्यवर्ग पर छा गया है। पर कोई न कोई ऐसी चीज है जिसने हमें हमेशा घेरा चीर कर आगे बढ़ने, समाज-व्यवस्था को बदलने और मानवता के सहज मूल्यों को पुनः स्थापित करने की ताकत और प्रेरणा दी है, चाहे उसे आत्मा कह लो चाहे कुछ और। और विश्वास, साहस, सत्य के प्रति निष्ठा, उस प्रकाशवाही आत्मा को उसी तरह आगे ले चलते हैं जैसे सात घोड़े सूर्य को आगे ले चलते है। कहा भी गया है 'सूर्य आत्मा जगतस्थुषश्च'।[२] सूरज के बाकी छ. घोड़े तो "वर्ग-विगलित, अनैतिक, भ्रष्ट और अन्धेरे जीवन की गलियों" में चल-चलकर "दुर्बल, रक्तहीन और विकलांग" हो गए हैं पर सातवाँ घोड़ा 'तेजस्वी और शौर्यवान' है—'हमें अपनी आस्था उसी पर रखनी चाहिए" क्योंकि "वही हमारी पलकों से भविष्य के सपने और वर्तमान के नवीन आकलन भेजता है।"[३] 'सूरज का सातवाँ घोड़ा' नाम के कारण ही इस उपन्यास के कथा-चक्र में दिनों की संख्या सात रखी गई है।[४] लेखक ने उपन्यास के काव्यमय नाम को अपने आशावादी प्रयोजन से सम्बद्ध कर लिया है। (ऐसा दिखाई देता है कि इस नामकरण का संकेत लेखक को एंजलो सिकेलियाना की कविता से मिला है जो अनूदित रूप में उपन्यास के मुखपृष्ठ पर लिखित है।) इस अन्त की आशावादिता पर सहज ही एक आपत्ति उठाई जा सकती है—यह आशावादिता उपन्यास की समग्र कहानियों की करुण हार्द की अपनी परिणति नहीं, माणिकमुल्ला के माध्यम से लेखक की अपनी आस्था है। यह अन्तर्भूत नहीं, आरोपित है; और यह चित्रित नहीं, विचारित है, अतएव विकलात्मक है। इस सम्बन्ध मे उपेन्द्रनाथ अश्क लिखते हैं—"जहाँ तक पुराने जीवन के प्रति विद्रोह का सम्बन्ध है, वहाँ तक उनकी कलम ने बड़े ही सुन्दर चित्र उतारे हैं, पर यद्यपि भविष्य के नाम पुस्तक का पूरा एक परिच्छेद उन्होंने सर्फ कर दिया है, वह उसका साफ चित्र नहीं दे पाये।. .उस आशा को पाने के लिए आलोचक

१. पृ० १२३। २. पृ० १२५-२६। ३. पृ० १२६। ४. पृ० १२५।

तो अवश्य 'सातवाँ घोड़ा' वाला परिच्छेद को पढ़ेगा, किन्तु पाठक भी ऐसा कर सकेगा, इसमें मुझे सन्देह है।"[१] सारांश में यहाँ रात के सफल चित्रण की प्रत्यक्ष वास्तविकता से दिन—अभीप्सित अप्रत्यक्ष आदर्शों का बोध तो हो सका है, किन्तु रात के उर में से दिवस (सूर्य) के आशा-शर को नहीं जगाया जा सका, वह बाहर से छोड़ा गया है।

कहानियों के इस समग्र विवेचन के बाद लेखक का यह 'निवेदन' सिद्ध हो जाता है कि "बहुत छोटे से चौखटे में काफी लम्बा घटना-क्रम और काफी विस्तृत क्षेत्र का चित्रण करने की विवशता के कारण (उसे) यह (प्राचीन कथा-शैली का) ढंग अपनाना पड़ा है।"[२] साथ ही, इन कहानियों को सम्बद्ध करने के विभिन्न अद्भुत कौशल भी स्पष्ट हो जाते हैं। यहाँ इन कहानियों की परस्पर सम्बद्धता का कुछ और स्पष्टीकरण भी अपेक्षित है। एक ही व्यक्ति माणिकमुल्ला ने ये सब कहानियाँ कही हैं। माणिकमुल्ला कथा-वक्ता ही नहीं, इन कहानियों के प्रमुख पात्र भी हैं—ये कहानियाँ उनके जीवन के अनुभूत चित्र हैं। उपन्यास के सभी नारी-पात्रों—जमुना, लिली, सत्ती—से उनके विभिन्न प्रकार के प्रेम का वर्णन है। उपन्यास की चार कहानियों के साथ उनका प्रत्यक्ष घनिष्ठ सम्बन्ध व्यक्त हुआ है और दो के साथ परोक्ष रूप में वह सम्बन्धित रहे हैं। उपन्यास के आदि-अन्त में वही हैं। और उपन्यास पढ़ जाने के बाद हमारे सामने एक ऐसा चरित्र मुखरित हो उठता है जिसने सहज मानवीय दुर्बलताओं से अनेक कटु अनुभवों को अर्जित किया और जो अब जीवन को समझ कर मानवता के उज्ज्वल भविष्य में आस्थावान है। जब जमुना के जीवन की करुण कथा को सुनकर श्याम के रोने की बात मित्रों ने मणिकमुल्ला से कही और श्याम झेंप कर बोला—"मैं कहाँ रो रहा था?" तब वह हँसे और जो बोले वह किसी भुक्तभोगी का ही कथन हो सकता है—"हमारी ज़िंदगी में जरा सा पर्त उखाड़ कर देखो तो हर तरफ इतनी गन्दगी और कीचड़ छिपा हुआ है कि सचमुच उस पर रोना आता है लेकिन प्यारे बन्धुओं मैं तो इतना रो चुका हूँ कि अब आँसू आता ही नहीं अतः लाचार होकर हँसना पड़ता है। एक बात और है। जो लोग भावुक होते हैं और सिर्फ रोते हैं, वे रो धोकर रह जाते हैं, पर जो लोग हँसना सीख लेते हैं वे कभी-कभी हँसते-हँसते ज़िन्दगी को बदल भी डालते हैं।"[३] इसी आधार पर तो वह रोते-हँसते बुज़ुर्गाना अन्दाज़ में बीती बातें कह सके, फिर भी उनकी भविष्य की आशा पर आस्था को किसी कर्म या चित्र से प्रमाणित नहीं किया गया। लेखक की कुशलता इसमें है कि वह—अन्त के वैचारिक परिच्छेद को छोड़कर—इन कहानियों को, जीवन की वास्तविक घटनाओं के रूप में प्रस्तुत करने का भ्रम पैदा

---

१. "आलोचना" ४, पृ० १०७। २. निवेदन, पृ० ६। ३. पृ० ४१।

कर सका है।

लेखक ने कहानियों को सम्बद्ध करने के लिए ही 'उपोद्‌घात' लिखने का कौशल अपनाया है। ये उपोद्‌घात उपन्यास का अनिवार्य अंग है। इसमें लेखक ने माणिकमुल्ला के विचित्र चरित्र से पाठकों को परिचित कराया है और उनके कमरे उन वस्तुओं को दिखाया है, जो आगे कहानियों का उपकरण बनी हैं। अपने विषय की ओर पाठकों को उत्सुक करने का भी यह अच्छा तरीका है।

कहानियों के विवेचन में यह स्पष्ट किया जा चुका है कि एक-एक कहानी के पात्र दूसरी कहानियों में भी बार-बार आए हैं। स्थूल रूप से देखने पर तो इतना ही प्रतीत होता है परन्तु यदि सूक्ष्म निरीक्षण किया जाए तो स्पष्ट दिखाई देता है कि इस उपन्यास का एक मूल कथानक है और अनेक कहानियाँ मानों उपन्यास की प्रासंगिक कथाएँ हैं, जो कथा-काल-विपर्यय तथा अपने-आप में पूर्णता का-सा आभास देने के कारण, अलग-अलग कहानियाँ प्रतीत होती हैं; अन्यथा ये सम्बद्ध हैं। प्रमाण-स्वरूप, पहली कहानी में जमुना और तन्ना का घनिष्ठ प्रेम केवल सूचित है, उसका पूरा चित्रण तन्ना सम्बन्धी तीसरी कहानी में हुआ है।[1] इसी तरह जमुना-तन्ना-विवाह न हो सकने के कारणों का संतोषजनक स्पष्टीकरण पहली कहानी में नहीं, तीसरी में हुआ है। पहली कहानी में महेसर दलाल की बुराई केवल सूचित है, तीसरी —और उससे भी अधिक पाँचवी—कहानी में उसका स्पष्टीकरण हुआ है। वस्तुतः कालक्रम की दृष्टि से दूसरी कहानी चौथी कहानी से तो बाद की है ही, तीसरी और-पाँचवीं की अनेक घटनाएँ भी उससे पहले घटित हुई हैं। तीसरी कहानी में हमें तन्ना के अनमेल विवाह की सूचना मिलती है क्योंकि उसकी पत्नी उससे अधिक शिक्षित तथा ज्यादा रूपवती थी। तन्ना की इसी पत्नी लिली के विवाह से पहले का रोमांस हमें चौथी में स्पष्ट होता है। तीसरी कहानी में हमें महेसर दलाल से सम्बन्धित साबुनवाली लड़की के मारने और उसकी लाश के ग़ायब किए जाने की रहस्यमयी घटना की सूचना मिलती है, और यह रहस्य खुल नहीं पाता। इसका सारा स्पष्टीकरण पाँचवीं कहानी में हुआ है। तात्पर्य यह है कि ये कहानियाँ लेखक के कौशल के कारण अपने-आप में पूर्णता का आभास देती हैं, वैसे ये एक दूसरे की सापेक्षता में ही अधिक स्पष्ट हो सकती हैं। 'अज्ञेय' जी ने लिखा है—"सूरज का सातवाँ घोड़ा एक कहानी में अनेक कहानियाँ नहीं, अनेक कहानियों में एक कहानी है" परन्तु हमारे विचार में ये दोनों है—अपने कहानी-शिल्प के कारण अनेक कहानियों में एक कहानी, और अपनी पात्राधारित सम्बद्धता सापेक्षता तथा विषय-ऐक्य के कारण एक ही कहानी में अनेक कहानियाँ भी।

१. पृ० ६३। २. पृ० ८६।

रोचकता और प्रभाव बढ़ाने में भारती जी सिद्ध-कौशल हैं। रोचकता और गम्भीरता का अद्‌भुत समन्वय इन कहानियों की विशिष्टता है। साधारण उत्सुकता-कौतूहल का सातत्य सर्वत्र है। घटना-चमत्कार के लिए तीसरी और पाँचवीं कहानियाँ देखी जा सकती हैं। चौथी कहानी में औपन्यासिक एकसूत्रता या सम्बद्धता के लिए, अप्रत्याशित चमत्कार मिलता है।[१] रहस्य-गोपन-जन्य अप्रत्याशित घटना-चमत्कार के आधार पर ही पाँचवीं और छठी कहानी को पृथक् किया गया है। वैसे तो सभी द्रावक दुखांतकियाँ हैं, किन्तु तीसरी और पाँचवीं कहानियाँ अतिशय मार्मिक हैं। तीसरी कहानी के अन्त में वेदना-वर्द्धन के लिए लेखक ने बीभत्स-तत्व का भी समावेश किया है: "लोगों ने बहुत पूछा किसे तार दे दे, क्या किया जाय पर वे कुछ नहीं बोले। सिर्फ मरने के पहले उन्होंने अपनी दोनों कटी टाँगें देखने की इच्छा प्रकट की और वे लाई गई तो ठीक से देख नही सकते थे अतः बार-बार उन्हें छूते थे, दबाते थे, उठाने की कोशिश करते थे और हाथ खींच लेते थे और थर-थर काँपने लगते थे"।[१] — यहाँ मार्मिक करुणा का वातावरण उत्पन्न कर पात्रों के मनोविकारों के प्रक्षालन का प्रयत्न मिलता है।

विषयानुरूप वातावरण-विधान से भी कथा में वास्तविकता तथा प्रभविष्णुता लाई गई है। तीसरी कहानी की ट्रेजिडी के लिए वातावरण में दम-घोंट उमस पैदा की गई है और वह बाहरी उमस मध्यवर्गीय ज़िंदगी की भीतरी उमस तथा घुटन का रूप ले लेती हैं।[२] माणिकमुल्ला और लिली की रोमानी प्रेम-कहानी का विकास "जामुनी बदलियों की हल्की फुहार", "नम सोंधी हवा" और 'बैंजनी रंग-की बिजलियों'[३] के मधुर-मादक वातावरण के मध्य हुआ है।

इस उपन्यास में एकरसता की ऊब कहीं नहीं—न शैली में, न शिल्प में—विविधता का आकर्षण है। कहानियाँ तो अपने-आप में विविधाभासी हैं ही, कहानियों के बाद आने वाले 'अनध्याय' भी विविध शिल्परूपात्मक हैं—एक में वर्णनात्मक पद्धति से प्रभाववादी आलोचना है, दूसरे में पारस्परिक वाद-विवाद का (अनुभावों और आवश्यक रंगमंचीय संकेतों के साथ) 'नाटकीय विवरण' है, तीसरे में दारुण दुखान्तकी को सुनकर बेचैनी की अवस्थानुकूल 'अर्द्धसुप्त मन' में असम्बद्ध स्वप्न-विचारों का सिलसिला है, और चौथे में प्रतीकात्मक स्वप्न-पद्धति के माध्यम से सभी कहानियों के प्रभाव का पंजीपन हुआ है।

हास्य-व्यंग्य-तत्व के कुशल विनियोग से भारती जी ने कहानियों में और भी रोचकता और साथ ही गम्भीरता ला दी है। पहली दो कहानियों में तो जैसे रुदन में हास्य और हास्य में रुदन है—निम्न मध्यवर्गीय अर्थाभाव एवं कुल-मर्यादा की

१. पृ० ७०। २. पृ० ५७-५८। ३. पृ० ८३।

रूढ़ि की शिकार जमुना का अनमेल विवाह और उसके बाद का वैधव्य हमें रुलाता है और जमुना की ही (मध्यवर्गीय) दिखावे की बातें, काम-तृप्ति के विचित्र भोले आचरण, और माणिकमुल्ला की कथन-शैली हमें हँसाती है। एक बात और। पहली दो कहानियों के दो-दो निष्कर्ष मिलते है—एक निष्कर्ष माणिकमुल्ला देते हैं, जो कहानी से सम्बन्धित होता हुआ भी आरोपित होने से हँसाता है; और दूसरा निष्कर्ष पाठक, स्वयं पर पड़े प्रभाव से, सहज ही में ग्रहण कर लेता है—इसका आलोचन अनध्याय में भी होता है—और वह हमें रुलाता है। जमुना की कहानी का जो गम्भीर प्रभाव पडता है, उसका उल्लेख तो ऊपर किया जा चुका है। अब उसी कहानी का हास्यजनक आरोपित निष्कर्ष का आस्वादन कीजिए :—

"लेकिन इसमें यह कहाँ साबित हुआ कि प्रेम-भावना की नींव आर्थिक सम्बन्धों पर है और वर्ग-संघर्ष उसे प्रभावित करता है।"

"क्यों ? यह तो बिल्कुल स्पष्ट है।" माणिकमुल्ला ने कहा—"अगर हरेक के घर में गाय होती तो यह स्थिति कैसे पैदा होती। सम्पत्ति की विषमता ही इस प्रेम का मूल कारण है। न उनके घर होता, न मैं उनके यहाँ जाता, न नमक खाता, न नमक अदा करना पड़ता।"

"लेकिन फिर इससे सामाजिक कल्याण के लिए क्या निष्कर्ष निकला !" हम लोगों ने पूछा।

"बिना निष्कर्ष के मैं कुछ नहीं लिखता मित्रो ! इससे यह निष्कर्ष निकला कि हर घर में एक गाय होनी चाहिए जिसमें राष्ट्र का पशुधन भी बढ़े, सन्तानों का स्वास्थ्य बने। पड़ोसियों का भी उपकार हो और भारत में फिर से दूध-दही की नदियाँ बहें।

"यद्यपि हम लोग आर्थिक आधार वाले सिद्धांत से सहमत थे पर यह निष्कर्ष हम सबों को बहुत पसन्द आया और हम लोगों ने प्रतिज्ञा की कि बड़े होने पर एक-एक गाय अवश्य पालेंगे।"[1] हास्यतत्व माणिकमुल्ला तथा लेखक की अपनी शैली में भी है, मध्यवर्गीय (दिखावे तथा साहसहीनता आदि) विषय में भी, निष्कर्षों में भी, और कहीं-कहीं परिस्थिति-संयोजन में भी। यह उल्लेखनीय है कि हास्य-तत्व का इन कहानियों की करुण हार्द से विरोध नहीं। इस सम्बन्ध में उपेन्द्रनाथ अश्क के निम्न मंतव्य से हम पूर्णतया सहमत है—"भारती ने हास्य का सहारा लेकर पाठक की उस तकलीफ को कम करने की कोशिश की है, पर वह यहाँ सफल नहीं हुए, क्योंकि वह हास्य तकलीफ को कम करने के बदले यहाँ और बढ़ाता है। पर कदाचित् यही लेखक को अभीष्ट है।"[2]

१. पृ० ३५। २. "आलोचना" ४, पृ० १०८।

"सूरज का सातवाँ घोड़ा" का चरित्र-चित्रण, उद्देश्य के साधन-रूप में सहायक सिद्ध हुआ है। निम्न मध्यवर्ग के विभिन्न पक्षों के चित्रण के लिए एक तो विविध प्रकार के पात्र लिए गए हैं; दूसरे, ये वर्ग-प्रतिनिधि हैं; ताकि इनकी व्यक्तिगत दिखाई देनेवाली समस्याएँ समाज की व्यापक समस्याएँ बन सकें। उपन्यास की तीनों प्रमुख पात्रियाँ—जमुना, लिली, और सत्ती—भिन्न-प्रकृति की हैं। सत्ती और माणिकमुल्ला में वर्गीय विशेषताओं के साथ व्यक्तिगत विशेषताएँ भी हैं। शेष सब वर्गगत पात्र हैं और उपन्यासकार ने समस्याओं को व्यापकता देने के लिए उसका स्पष्ट उल्लेख भी किया है; जैसे जमुना के सम्बन्ध में मित्र परस्पर कहते हैं—"हम लोगों ने एक स्वर से पूछा कि 'कहो श्याम इस कहानी को सुनकर दुखी क्यों हो गए? तुम जमुना को जानते थे?' तो श्याम रुँधे हुए गले से बोला—'नहीं मैं जमुना को नहीं जानता, लेकिन आज ९० प्रतिशत लड़कियाँ जमुना की परिस्थिति में हैं। वे बेचारी क्या करें···" पात्रों-पाठकों पर जमुना की दुखद गाथा के प्रभाव का बहुत बड़ा कारण उसका विषय—मध्यवर्गीय जीवन की विषमता—इतना नहीं, जितना जमुना के चरित्र-चित्रण की स्वाभाविकता और सजीवता है। एक मध्यवर्गीय भीरू युवक के रूप में माणिकमुल्ला का चरित्र-चित्रण भी बड़ा सफल हुआ है।

मध्यवर्गीय सामाजिक विषमताओं की बाध्यता में व्यक्ति की परिवर्तनशीलता—यहाँ प्रायः दुखद परिणति—के प्रदर्शनाकूल इस उपन्यास के प्रमुख पात्र गतिशील हैं। माणिकमुल्ला, तन्ना, तथा जमुना की यही स्थिति है। इन पात्रों के शील-विकास की रेखाएँ पूर्ण हैं किन्तु सत्ती और लिल्ली की अपूर्ण; इस सम्बन्ध में अश्क जी का मत उल्लेखनीय है—"जमुना, माणिकमुल्ला और तन्ना के चरित्र जहाँ अपने में पूर्ण हैं वहाँ सत्ती और लिल्ली के चित्र अपूर्ण भी हैं। लगता है कि भारती ने उन पहले तीनों पात्रों के जीवन को शुरू से अन्त तक देखा है और इसलिए उनके सभी सूत्र एकदम मिले और गठे हैं, किन्तु सत्ती और लिल्ली के जीवन की झलक ही उन्होंने पाई है और जहाँ उन्होंने कल्पना से काम लिया है, वहाँ कहीं कुछ ढीलापन रह गया है। सत्ती के जीवन का वह चित्र जो उन्होंने उसके मोहल्ले से निकल जाने तक दिखाया है, अपने में पूरा है। वह सत्ती इतनी यथार्थ दिखाई देती है कि उसकी हर बात और हर अदा हमें जानी-पहचानी लगती है। किन्तु इसके बाद उसकी जो झलक हम देखते है वह एकदम नाकाबिले कबूल (unconvincing) है। पहली बात तो यह कि निम्न मध्यवर्ग के जीवन के स्त्री-पुरुष जब अपनी धुरी से हटते हैं तो एकदम गहरे गन्दे महागर्त में नहीं जा गिरते; एक-दो और छोटे-बड़े गढ़ों से होकर वहाँ पहुँचते हैं। निम्न मध्यवर्ग की सफेद पोशी को बाज़ार में भिखारी के रूप में आने

१. पृ० ३७।

तक एक-आध पीढ़ी तक गुज़रना पड़ता है और फिर सत्ती को जैसी हम मुहल्ले के जीवन में पाते है, वह सत्ती अपने उस अन्यायी तथाकथित चाचा को हथगाड़ी में लिये भीख नही माँग सकती, वह उसकी हत्या कर सकती है और उसको छोड़कर किसी दूसरे के साथ भाग सकती है।···वह किसी के घर नौकरी कर सकती है, किसी कोठे पर भी बैठ सकती है, पर उस तरह की भिखारिन नहीं बन सकती।"[१]

यहाँ वर्णन की अपेक्षा कथोपकथन-तत्व कम है। विभिन्न कहानियों के विविध पात्रों के संवादों में तदनुकूल परिवर्तनशीलता है। ये प्रायः सक्षिप्त, गत्यात्मक तथा [illegible] है। अनौपचारिक सरलता, रंजकता तथा प्रच्छन्न हास्य कथोपकथनों की उल्लेखनीय विशेपताएँ है।

विभिन्न कहानियों की अभिव्यंजना में भी विविधता का सौन्दर्य है। इसलिए भी ये पृथक्-पृथक् कहानियों का आभास देती है। उदाहरणतया, तीसरी कहानी लिखते हुए, लेखक वीच में ही इस तथा पहली दो कहानियों की शैली के सम्बन्ध में आलोचनात्मक टिप्पणी प्रस्तुत करता है—"(यहाँ पर मैं यह साफ साफ कह दूँ कि या तो कहानी के विषय-वस्तु के कारण हो, या उस दिन की सर्वग्रासी उमस के कारण, लेकिन उस दिन माणिकमुल्ला की कथा-शैली में वह चटापटापन नहीं था जो पिछली दो कहानियों में था। अजब ढंग से नीरस शैली में वे विवरण देते चले जा रहे थे और हम लोग भी किसी तरह ध्यान लगाने की कोशिश कर रहे थे। उमस बहुत थी। कहानी मे भी, कमरे में भी)।"[२] चतुर्थ प्रेम-कहानी की शैली, सभी कहानियों से भिन्न, अपने पहले उपन्यास "गुनाहों के देवता" जैसी रोमानी, चित्रात्मक, कवित्व-कलित शैली है। यथाप्रसंग प्रतीकात्मक शैली का सौन्दर्य भी मिलता है।[३] व्यंग्य, और विशेषतया हास्य, इनकी सामान्य विशेषताएँ हैं।[४] वस्तुतः भारती जी की भाषा-शैली में विषय-वातावरण के अनुरूप परिवर्तन की अद्‌भुत क्षमता है और यह भाषा-अधिकार भी विविध कहानियों में उपन्यास प्रस्तुत करने के शिल्प में सहायक रहा है।

समग्रतः 'सूरज का सातवाँ घोड़ा' प्राचीन लोककथात्मक पद्धति का आधुनिक एवं आलोचनात्मक संस्करण है। इसमें आलोचना तथा कहानी-रूप के समवेत शिल्प का ऐसा कुशल एवं प्रभावी विनियोग हुआ है कि लघुकाय उपन्यास में ही व्यापक विषय के विभिन्न पक्षों को, पृथक्-पृथक् से रेखांकित कर के, प्रस्तुत किया जा सका है। यहाँ प्रायोगिक शिल्प-नव्यता अपने आकर्षण के साथ विषय को भी ऊँचा उठाने में सफल हो सकी है। "सूरज का सातवाँ घोड़ा" ने सिद्ध कर दिया है

१. "आलोचना" संख्या ४, पृ० १०८।
२. पृ० ६५। ३. पृ० ११८-१९। ४. तीसरी कहानी।

"सूरज का सातवाँ घोड़ा" का चरित्र-चित्रण, उद्देश्य के साधन-रूप में सहायक सिद्ध हुआ है। निम्न मध्यवर्ग के विभिन्न पक्षों के चित्रण के लिए एक तो विविध प्रकार के पात्र लिए गए हैं; दूसरे, ये वर्ग-प्रतिनिधि हैं; ताकि इनकी व्यक्तिगत दिखाई देनेवाली समस्याएँ समाज की व्यापक समस्याएँ बन सकें। उपन्यास की तीनों प्रमुख पात्रियाँ—जमुना, लिली, और सत्ती—भिन्न-प्रकृति की हैं। सत्ती और माणिकमुल्ला में वर्गीय विशेषताओं के साथ व्यक्तिगत विशेषताएं भी हैं। शेष सब वर्गगत पात्र हैं और उपन्यासकार ने समस्याओं को व्यापकता देने के लिए इसका स्पष्ट उल्लेख भी किया है; जैसे जमुना के सम्बन्ध में मित्र परस्पर कहते हैं— "हम लोगों ने एक स्वर से पूछा कि 'कहो श्याम इस कहानी को सुनकर दुखी क्यों हो गए? तुम जमुना को जानते थे?' तो श्याम रुँधे हुए गले से बोला—'नहीं मैं जमुना को नहीं जानता, लेकिन आज ६० प्रतिशत लड़कियाँ जमुना की परिस्थिति में हैं। वे बेचारी क्या करें···"[1] पात्रों-पाठकों पर जमुना की दुखद गाथा के प्रभाव का बहुत बड़ा कारण उसका विषय—मध्यवर्गीय जीवन की विषमता—इतना नहीं, जितना जमुना के चरित्र-चित्रण की स्वाभाविकता और सजीवता है। एक मध्यवर्गीय भीरू युवक के रूप में माणिकमुल्ला का चरित्र-चित्रण भी बड़ा सफल हुआ है।

मध्यवर्गीय सामाजिक विषमताओं की बाध्यता में व्यक्ति की परिवर्तनशीलता —यहाँ प्रायः दुखद परिणति—के प्रदर्शनाकूल इस उपन्यास के प्रमुख पात्र गतिशील हैं। माणिकमुल्ला, तन्ना, तथा जमुना की यही स्थिति है। इन पात्रों के शील-विकास की रेखाएँ पूर्ण हैं किन्तु सत्ती और लिल्ली की अपूर्ण; इस सम्बन्ध में अश्क जी का मत उल्लेखनीय है—"जमुना, माणिकमुल्ला और तन्ना के चरित्र जहाँ अपने में पूर्ण हैं वहाँ सत्ती और लिल्ली के चित्र अपूर्ण भी हैं। लगता है कि भारती ने उन पहले तीनों पात्रों के जीवन को शुरू से अन्त तक देखा है और इसलिए उनके सभी सूत्र एकदम मिले और गठे हैं, किन्तु सत्ती और लिल्ली के जीवन की झलक ही उन्होंने पाई है और जहाँ उन्होंने कल्पना से काम लिया है, वहाँ कहीं कुछ ढीलापन रह गया है। सत्ती के जीवन का वह चित्र जो उन्होंने उसके मोहल्ले से निकल जाने तक दिखाया है, अपने में पूरा है। वह सत्ती इतनी यथार्थ दिखाई देती है कि उसकी हर बात और हर अदा हमें जानी-पहचानी लगती है। किन्तु इसके बाद उसकी जो झलक हम देखते हैं वह एकदम नाकाबिले कबूल (unconvincing) है। पहली बात तो यह कि निम्न मध्यवर्ग के जीवन के स्त्री-पुरुष जब अपनी धुरी से हटते हैं तो एकदम गहरे गन्दे महागर्त में नहीं जा गिरते; एक-दो और छोटे-बड़े गर्तों से होकर वहाँ पहुँचते हैं। निम्न मध्यवर्ग की सफेद पोशी को बाज़ार में भिखारी के रूप में आने

१. पृ० ३७।

तक एक-ग्राध पीढ़ी तक गुजरना पड़ता है ग्रौर फिर सत्ती को जैसी हम मुहल्ले के जीवन में पाते है, वह सत्ती अपने उस ग्रन्यायी तथाकथित चाचा को हथगाड़ी में लिये भीख नही माँग सकती, वह उसकी हत्या कर सकती है ग्रौर उसको छोड़कर किसी दूसरे के साथ भाग सकती है।···वह किसी के घर नौकरी कर सकती है, किसी कोठे पर भी बैठ सकती है, पर उस तरह की भिखारिन नहीं बन सकती।"[1]

यहाँ वर्णन की अपेक्षा कथोपकथन-तत्व कम है। विभिन्न कहानियों के विविध पात्रों के संवादों में तदनुकूल परिवर्तनशीलता है। ये प्रायः संक्षिप्त, गत्यात्मक तथा शील-प्रकाशक है। ग्रनौपचारिक सरलता, रंजकता तथा प्रच्छन्न हास्य कथोपकथनों की उल्लेखनीय विशेषताएँ है।

विभिन्न कहानियों की ग्रभिव्यंजना में भी विविधता का सौन्दर्य है। इसलिए भी ये पृथक्-पृथक् कहानियों का ग्राभास देती हैं। उदाहरणतया, तीसरी कहानी लिखते हुए, लेखक बीच में ही इस तथा पहली दो कहानियों की शैली के सम्बन्ध में ग्रालोचनात्मक टिप्पणी प्रस्तुत करता है —"(यहाँ पर मैं यह साफ साफ कह दूँ कि या तो कहानी के विषय-वस्तु के कारण हो, या उस दिन की सर्वग्रासी उमस के कारण, लेकिन उस दिन [illegible] की कथा-शैली में वह चटापटापन नहीं था जो पिछली दो कहानियों मे था। ग्रजब ढंग से नीरस शैली में वे विवरण देने चले जा रहे थे ग्रौर हम लोग भी किसी तरह ध्यान लगाने की कोशिश कर रहे थे। उमस बहुत थी। कहानी मे भी, कमरे में भी)।"[2] चतुर्थ प्रेम-कहानी की शैली, सभी कहानियों से भिन्न, अपने पहले उपन्यास "गुनाहो के देवता" जैसी रोमानी, चित्रात्मक, कवित्व-कलित शैली है। यथाप्रसंग प्रतीकात्मक शैली का सौन्दर्य भी मिलता है।[3] व्यंग्य, ग्रौर विशेषतया हास्य, इनकी सामान्य विशेषताएँ हैं।[4] वस्तुतः भारती जी की भाषा-शैली में विषय-वातावरण के ग्रनुरूप परिवर्तन की ग्रद्भुत क्षमता है ग्रौर यह भाषा-ग्रधिकार भी विविध कहानियों में उपन्यास प्रस्तुत करने के शिल्प में सहायक रहा है।

समग्रतः 'सूरज का सातवाँ घोड़ा' प्राचीन लोककथात्मक पद्धति का ग्राधुनिक एवं ग्रालोचनात्मक संस्करण है। इसमें ग्रालोचना तथा कहानी-रूप के समन्वित शिल्प का ऐसा कुशल एवं प्रभावी विनियोग हुग्रा है कि लघुकाय उपन्यास में ही व्यापक विषय के विभिन्न पक्षों को, पृथक्-पृथक् से रेखांकित कर के, प्रस्तुत किया जा सका है। यहाँ प्रायोगिक शिल्प-नव्यता अपने ग्राकर्षण के साथ विषय को भी ऊँचा उठाने में सफल हो सकी है। "सूरज का सातवाँ घोडा" ने सिद्ध कर दिया है

१. "ग्रालोचना" सख्या ४, पृ० १०८।

२. पृ० ६५। ३. पृ० ११८-१९। ४. तीसरी कहानी।

कि रूप विषय-वस्तु पर अपना प्रभाव डालता है और कभी निष्क्रिय नहीं रहता। हाँ, कमी है तो केवल एक कि उसका अन्त आरोपित है वह अपनी घटनावली तथा चरित्रावली का व्यंजित रूप नहीं।

काठ का उल्लू और कबूतर

'काठ का उल्लू और कबूतर' हास्य-रस के प्रसिद्ध लेखक केशवचन्द्र वर्मा का उपन्यास है। उसका प्रकाशन सन् १९५५ में हुआ। इस उपन्यास के शीर्षक से ही इसकी पात्र-नूतनता संकेतित है। स्वयं लेखक ने भी इसे 'हास्य-व्यंग्य का नवीन शिल्प-उपन्यास'[1] कह कर इसके शिल्प-पक्ष पर बल दिया है। विशिष्ट सोद्देश्य होने पर भी नूतन कथा-शिल्प का आकर्षण प्रमुख होने से हमने भी इसे शिल्प प्रधान उपन्यासों के वर्ग में रखना उचित समझा है।

यह उपन्यास पंचतन्त्र, कथासरित्सागर, शुकसप्तति या किस्सा तोता मैना आदि ग्रंथों की-सी प्राचीन लोककथात्मक पद्धति में है किन्तु हास्य-व्यंग्य तथा प्रतीकात्मक व्यंजना ने इसे नया रूप दे दिया है। इसमें एक कबूतर एक घोर सरदी की रात में एक व्यक्ति के ड्राइंगरूम के रोशनदान के भीतर घुसता है, जहाँ ताख पर एक काठ का उल्लू रखा हुआ है। ये दोनों, आराम से रात बिताने के लिए, बारी-बारी अपनी देखी-सुनी कुल आठ कथाएँ सुनाते हैं। कथा का विस्तार ऐसे होता है कि एक कथा के भीतर से दूसरी कथा का सूत्र निकलता आता है। या लेखक के शब्दों में "एक के बाद दूसरा सूत्र बड़ी सरलता के साथ दोनों (पक्षियों) की चोचें उठाती रहीं!"[2] एक कथा के अन्त होने पर कथा-वाचक ऐसा निष्कर्ष दे देता है जिससे श्रोता सहमत नहीं होता और वह स्वमत-प्रतिपादन की पुष्टि में दूसरी कहानी सुना देता है। उदाहरण-स्वरूप, पहले बाहर से आनेवाला कबूतर कमरे की विचित्र सजावट से उत्सुक होकर, बहुत वर्षों से वहीं रखे काठ के उल्लू से, कमरे के मालिक के सम्बन्ध में प्रश्न करता है। उत्तर स्वरूप, काठ का उल्लू कमरे के मालिक के सम्बन्ध में "दिलचस्प और अजीब किस्सा"[3] सुनाता है और निष्कर्ष रूप में कबूतर से कहता है—"अब तू अपनी आँखों से देख कि आदमी के ऊपर सोहबत का कैसा-कैसा असर पड़ता है!"[4] पर कबूतर उससे असहमति प्रकट करता हुआ सोहबत की अपेक्षा "आदमी के अन्दर अपनी असलीयत"[5] को चरित्र-विकास का मूल मानता है। वह उल्लू को समझाता है—"आदमी की असली औकात सोहबत

१. उपन्यास के मुख पृष्ठ पर शीर्षक के नीचे कोष्ठ में लिखे शब्द।
२. पृ० १५०।   ३. पृ० २६।   ४. पृ० २७।   ५. पृ० २९।

नहीं बनाती बल्कि उसकी असलीयत ही उसको बनाती बिगाड़ती है ! आदमी में इसी बात की मजबूती ही सब कुछ है !" इसके आगे—

"लकड़ी का जीव चिहुँक उठा। क्या कह रहे हो मेरे भोले कबूतर ? भला यह भी कहीं हुआ" !

"तो अब कबूतर की पारी आई।"[1]

प्रत्येक कहानी अपने-आप में पूर्ण है और विभिन्न कहानियाँ अपने आरम्भ-अन्त में उपर्युक्त विवारात्मक प्रश्नोत्तर-क्रम से शृंखलित हैं। केवल दो कहानियों के कुछ पात्रों को भी परस्पर सम्बन्धित करने का प्रयास किया गया है। 'बेवफा माशूक की कहानी' का आख्याता मुहम्मद पीर और 'किस्सा काले सफेद जादू की लड़ाई' की कथा-वक्ता सोना कंजड़िन की लड़की मूरत की शादी का उल्लेख करके लेखक ने कथा-कौशल का परिचय दिया है।[2]

कबूतर और उल्लू ने ये सभी कहानियाँ साक्षात् सुनी हैं—केवल पहली कहानी को छोड़कर, जिसका उल्लू को प्रत्यक्ष अनुभव है—इसलिए ये दोनों पक्षी वास्तविक वक्ताओं के शब्दों में कहानी सुनाते है। इससे इन किस्सों के दो-दो श्रोता हो गए हैं; जैसे, कबूतर ने 'भगवान और उनकी बीवी की' जो पहली 'दस्तान' सुनाई है वह वस्तुतः गुनाहगार बेटा अपने बचाव के लिए अपने बाप को सुनाता है और उसी को फिर कबूतर उल्लू को:—"बेटा अपने वकील बाप का बेटा था, मगर ए उल्लू ! बाप खुद ही अपने बेटे की बातों से चकरा गया। हार कर उसने उसे चन्द घण्टे की मुहलत दी कि वह उसे वह कहानी सुनाए जिससे यह पता चले कि सोहबत का असर आदमी पर नही पड़ता और यह उसका बेटा कुसंगत में पड़ कर खराब नही हुआ !

"बाप के इस तरह मुहलत देने पर बेटे उर्फ मंझले भाई ने अपनी कहानी शुरू की ! ए मेरे दिल-दीदा मेजबान, अब मैं तेरे रूबरू वही कहानी सुनाता हूँ ताकि तू अपनी गलती महसूस कर सके और समझे कि तेरा मेहमान कबूतर गलत बात नहीं कह रहा था !"[3] × × × कबूतर ने कहा—"ए मेरे खूबसूरत उल्लू ! बेटे ने बाप के सामने इस तरह से कहानी शुरू की—"ओ मेरे बुद्धिमान बाप ! किस्सा यूँ सुनो कि .."[4]

वास्तविक वक्ता और श्रोता का उल्लेख करने के लिए लेखक को किस्से-कहने में एक और शिल्प-साधन से काम लेना पड़ा है—उसने प्रत्येक कहानी से पहले एक-एक अलग लघु अध्याय की योजना की है। इन अध्यायों में उसे प्रत्येक कहानी का 'जन्म', 'अंखुआ' या 'बीज' बताना पड़ा है, या कहानी की 'कहानी' सुनानी, या

१. पृ० २६। २. पृ० १८६। ३. पृ० ३४। ४. पृ० ३७।

'बैठक' जुड़ानी, या 'उठान' दिखानी पड़ी है और या 'कहानी का ताना-बाना' बुनना पड़ा है। इस तरह प्रत्येक कहानी की भूमिका में एक-एक और कहानी का दिलचस्प आभास भी मिल जाता है। इनमें सुरेमन-मुग्न और मुहम्मदपीर-सितारा भठियारिन की कहानियाँ अपेक्षाकृत अधिक मनोरंजक हैं। भूमिका-स्वरूप कहानी का-सा आभास देने वाले ये अध्याय कुछ-न-कुछ अपना महत्त्व रखते हुए भी, मुख्यतः वास्तविक कहानी के लिए उत्सुकता जगाने और वातावरण बनाने के लिए ही आए हैं।

जब हम यह ध्यान करने लगते हैं कि लेखक भी पाठकों को कहानी सुना रहा है तो वक्ता-श्रोता की संख्या दो-दो से बढ़कर तीन-तीन हो जाती है। हमने पहले ही इसका उल्लेख इसलिए नहीं किया क्योंकि औपन्यासिक रंगमंच पर कबूतर और उल्लू ही प्रमुख रहे हैं, और लेखक ने इनमें कम हस्तक्षेप किया है। फिर भी लेखक के दो कार्य स्पष्ट हैं—एक, उसने वर्णन विधि तथा कबूतर-उल्लू के पारस्परिक वार्तालाप से उनकी अपनी कहानी भी कही है; दूसरे, उपन्यास के आरम्भ-अन्त को कौशल-विशेष से मिला भी दिया है। उपन्यास का आरम्भ शीतकाल की रात्रि के दस बजे के वातावरण-वर्णन के साथ हुआ है। ऐसे समय उसने दो ऐसे व्यक्तियों के क्रिया-कलाप का उल्लेख भी किया है, जिनकी उपन्यास की कहानियों से किसी प्रकार का प्रत्यक्ष या परोक्ष कोई सम्बन्ध नहीं। रात के दस बजने के साथ परीक्षार्थी दीनदयाल सोने का उपक्रम करता है और रामदयाल हलवाई भी अपनी दुकान बन्द करने की सोचता है। अन्य व्यक्ति भी सरदी से बच कर सोने की व्यवस्था करते हैं। उसके बाद ही एक कबूतर सरदी से बचने के लिए उल्लू-स्थित कमरे के रोशनदान के भीतर प्रवेश करते दिखाया जाता है। उपन्यास का अन्त रात के बीतने, प्रभात के आगमन तथा उन्हीं व्यक्तियों के क्रियाकलाप के वर्णन के साथ हुआ है जिनसे उपन्यास का आरम्भ हुआ है। अब दीनदयाल परीक्षार्थी पढ़ने की तैयारी करते और रामदयाल हलवाई दुकान की भट्ठी सुलगाते दिखाया गया है। कबूतर भी उल्लू से छुट्टी लेकर बाहर उड़ जाता है। इस प्रकार, उपन्यास के आरंभ-अन्त में समान-पात्रों के क्रिया-कलाप के वर्णन से, उपन्यास को शृंखलित करने तथा कथा की लघु कालावधि को उभार कर सामने लाने में सहायता मिली है। उपन्यास की काल-सीमा निश्चित हो गई है—केवल एक रात।

शिल्प की दृष्टि से, इन कहानियों में प्राचीन किस्सा-कहानियों की-सी पद्धति मिलती है। ये कहानियाँ लिखी नहीं, कही-सुनी गई हैं इसलिए वक्ता-श्रोता में सर्वत्र कहने-सुनने की चेतना बनी रहती है। वक्ता, श्रोता को सम्बोधित करता रहता है और श्रोता कहानी के मध्य में भी, सम्बन्धित बातों को पूछता रहता है। वस्तुतः वक्ता कहानी को एकसाथ कहता भी नहीं, वह जैसे श्रोता के धैर्य की परीक्षा लेता

और उत्सुकता जगाता रहता है। अधोलिखित पारस्परिक निम्न सम्बोधनों तथा कथनों में इस उपन्यास की किस्सा-कथन-पद्धति को भली-भांति समझा जा सकता है—"ए फ़साने के जस्तूजू में घूमने वाले कबूतर! उस कोने में जो तारीखी जंत्री, जिसे तू कलैंडर कहता है, जिस पर उस मूंछों वाले रोबीले आदमी की तस्वीर देख रहा है, वह उसी ठाकुर की तस्वीर है! हुआ ऐसा कि जब ठाकुर की लड़की का ब्याह होने लगा तो ··! ए मन लगा कर इस किस्से को सुनने वाले कबूतर · यह तस्वीर जो तू देख रहा है, यह उसी छापेखाने की करामात है!" इतना कहकर काठ के उल्लू ने फिर तस्वीर की तरफ़ गर्दन मोड़ कर इशारा किया!

कबूतर ने कहा "ओ किस्सागो काठ के उल्लू! तू कहानी तो बड़ी दिलचस्प सुना रहा है। लेकिन अब मुझे यह बता कि इस दिलकश कहानी और केलैंडरों की इस लाइन में क्या रिश्ता है? औद साथ ही तू यह भी बता कि साबुन की कम्पनी वाले केलैंडर पर यह फूलमाला क्यों चढ़ी हुई है?"

"हाँ, मेरे दिल अज़ीज़ कबूतर! तू अपना धीरज न छोड़ क्योंकि कहा गया है कि धीरज आदमी का ऐसे मौके पर साथ देता है जब और सभी चीजें साथ देने से इन्कार कर देती है"।[1] काठ के उल्लू ने कहानी की डोर पकड़ते हुए कहा 'इसलिए तू धीरज के साथ सुन कि कहानी आगे कैसे चलती है.."[2] इस तरह कहानी की डोर बराबर टूटती और जुड़ती रहती है।

प्राचीन किस्सा-कहानियों का अभिधात्मक आरम्भ होता था, नाटकीय नहीं। प्रारम्भ में ही पात्र, गाँत्र आदि का परिचय दे दिया जाता था और कहानी का बिना मोड़ों के स्वाभाविक विकास होता चलता था। इस उपन्यास की कहानियों में भी ऐसा ही हुआ है; जैसे, "ए भाई देख और सुन कि मुहम्मद पीर ने शुरू किया कि—ए सितारा मठियारिन! मुल्क हिंदोस्तान के बीच एक शहर आदिलपुर नाम से हुआ करता था! जिस आदिलपुर शहर के अन्दर एक बड़ा मशहूर साहूकार बसता था जिसका नाम रामगोपाल था! रामगोपाल के यहाँ सर्राफे का काम होता था और चाँदी-सोने के गहने बनते थे। इसके अलावा रामगोपाल के यहाँ लेन-देन का भी काम होता था। रामगोपाल को सब सुख था, सिर्फ उन्हें एक ही दुख था कि उनके कोई लड़का-बाला नही था"[3] जैसे प्राचीन राजा-रानी की अनेक कहानियाँ देश-काल-निरपेक्ष-सी होती थीं, वैसे ही यहाँ अन्तिम कहानी का आरम्भ हुआ है—

---

१. अन्यत्र भी काठ के उल्लू ने कबूतर को समझाया है—"आदमी को खाना खाने और किस्सा सुनने में कभी जल्दी नहीं करनी चाहिए नहीं तो दोनों का लुत्फ़ खत्म हो जाता है।"—पृ० १६। पृ० ५१ पर पुनः इस नसीहत को दुहराया गया है। २. पृ० २५। ३. पृ० १३५।

"ऐ चितेरे, सात समुन्दर पार की एक नगरी सुन्दर में बाद नाम का एक जादूगर रहता था जिसने सफ़ेद जादू सिद्ध कर लिया था और जो अपने मन्तर के बल से बड़े और लायक आदमियों के लड़कों को बड़ा और लायक बनाया करता था।"[१] इस कहानी की जादू-मन्तर की अलौकिकता भी प्राचीन कहानियों-सी है। रूप-वर्णन में अतिशयोक्ति-उपमाएँ भी परम्परागत हैं "ऐ मेरे नौजवान, वह वनिता बला की खूबसूरत थी! उसके हुस्न की चर्चा सारी विचित्रपुरी में हुआ करती थी! जब वह अपने मकान की छत पर चढ़ती थी तो सारा मुहल्ला रोशन हो जाता था और लोग यह समझते थे कि दिन में चाँद निकल आया है या रात में सूरज जगमगा रहा है। उसकी आँखें हिरन की मानिंद खूबसूरत थीं। कमल समझ, भौरों ने उन आँखों पर जब हमला किया था, तब से वह बराबर लाल लाल बनी रहती थीं। उसके नागिन-जैसे लहराते बाल ऐसे कि जैसे काली घटा आए, उमड़े, गरजे, और झूम-झूम जाय"[२] प्राचीन कहानियों की तरह यहाँ भी मानवेतर प्राणियों तथा जड़ वस्तुओं ने भाग लिया है। ये सभी मानवीय संवेदनाओं से युक्त हैं। कथा-वक्ताओं में एक पक्षी कबूतर है और दूसरा जड़ काठ का उल्लू। 'दास्तान भगवान और उनकी बीवी' उर्फ 'नए पीढ़ी की पीढ़ा की कहानी' में प्रमुख पात्र ही जड़ वस्तुएँ-- पीढ़ा-मेज आदि—हैं। कहानियों के शीर्षक भी अभिधात्मक स्पष्टीकरण को लिए लम्बे-लम्बे हैं और प्राचीनता का आभास देते हैं; जैसे 'दास्तान तजुर्बे की उर्फ आदर्श गुरु और बदजाद चेले की कहानी', 'किस्सा काले सफेद जादू की लड़ाई उर्फ कपूत बेटे की दास्तान' आदि। सारांश में लेखक लोककथात्मक शिल्प की व्यवस्था में सफल रहा है।

उल्लू और कबूतर ने किस्सा-दास्तान कहने-सुनने की 'मीठी बातों से घोर सरदी की' मनहूस लम्बी कालीरात को देखते-देखते काट डाला[३]—उन्होंने मनोरंजन किया और पाठकों का भी दिल बहला। इस कथा-तत्व के अतिरिक्त लेखक ने उपन्यास के हास्य-विधान के माध्यम से भी मनोरंजन की लक्ष्य-सिद्धि की है। फिर भी, इसका लक्ष्य उपयोगी मनोरंजन है अतएव यह हास्य-व्यंग्यात्मक उपन्यास है। कबूतर के उल्लू से कहे निम्न-कथन में मानो लेखक ने अपनी बात कह दी है—"हाँ मेरे बुजुर्ग दोस्त! आखिर तो हमें रात काटनी ही है। इससे बढ़कर और क्या अच्छा होगा कि तू मुझे अपने इलमो हुनर और जौहर से भी वाकिफ करा दे! मुझे वह किस्सा भी सुना दे ताकि मुझे याद रहे और वक्त जरूरत काम दे सके।"[४]—यह जैसे मनोरंजन के साथ उपयोगिता के उद्देश्य को संयुक्त करने का प्रयास है। इसलिए प्राचीन लोककथात्मक पद्धति में लिखा हुआ होने पर भी यह आधुनिकतम देशकाल की

१. पृ० १७७। २. पृ० १५५। ३. पृ० १६४। ४. पृ० ५२।

व्यंजना करता है। लेखक ने मौखिक देशभक्ति, नेतागिरी, इलेकशन, साम्यवादी आंदोलन, वैचारिक-चारित्रिक असहिष्णुता, अनैतिकता, आधुनिक तिकड़मों और भारतवासियों की पतनोन्मुख दशा आदि को संकेतित किया है। इसमें लेखक ने व्यंग्य-विधान से भी सहायता ली है। आगे हम इस मनोरंजनेतर उद्देश्य-तत्व की दृष्टि से शिल्प का स्पष्टीकरण करेंगे। लेखक ने कबूतर को एक विनीत अतिथि तथा उल्लू को एक 'दिलदार मेजबान' के रूप में चित्रित किया है। उल्लू ने सरदी की रात से बचने के लिए आश्रय खोजते कबूतर को न केवल आश्रय दिया, बल्कि चादर उढ़ा और अंगूर खिलाकर सत्कार किया और दास्तानें सुना कर उसका मनोरंजन भी किया। दोनों में मतैक्य नही होता पर यह उनमें किसी प्रकार के द्वेष-वैमनस्य या उच्चता-हीनता की भावना नहीं उत्पन्न करता। उनमें किसी प्रकार की कठहुज्जती नहीं—काठ के उल्लू मे भी नही। वह एक-दूसरे को मत-विभिन्नता के तर्कों को सुनने में तत्पर रहते है, अपनी ही नहीं चलाते। एक दूसरे को मीठे सम्बोधनों से इज़्ज़त देते है। दोनों का ऐसा उदार-मधुर चारित्रिक आचरण एक विशेष प्रयोजन से प्रदर्शित किया गया है। लेखक ने दोनों के 'बिछड़ने' के अवसर पर, 'उपसंहार' में, इनके पारस्परिक वार्तालाप में इन गुणों का सामान्यीकरण करते हुए विश्व-शान्ति की समस्या से इन्हें सम्बन्धित कर दिया है; देखिए—

(कबूतर ने उल्लू से कहा) "ऐ मेरे खूबसूरत बुजुर्ग ! इस तरह की बातें सुना कर मुझे शरमिन्दा मत कर। यह सच है कि तूने अपनी बात बताने और समझाने के लिए दास्तान सुनाई और मैंने अपनी रात बिताने के लिए तुझे तरह-बैतरह की कहानियाँ सुनाई, लेकिन हम दोनों के दिलों में कहीं कोई रंजिश या मलाल नहीं आया। हम दोनों ने अपना वक्त हँस-खेल कर काट डाला। पता नही क्यों, आज की दुनिया में लोग अपनी बात कहकर उसे दूसरों से ज़बरदस्ती मनवाना चाहते हैं और लोगों के न मानने पर झगड़ा करने पर उतारू हो जाते हैं। ए भाई, ऐसे लोग एक-दूसरे के खून के प्यासे हो जाते है और सिर्फ बात मनवाने के लिए एक-दूसरे पर तोप और बम चलाते हैं। 'कबूतर ने बात आगे चलाते हुए कहा कि—इसके बजाय अगर लोग अपनी बातें, इसी तरह अंगूर के दानों का नाश्ता करते हुये, एक ही मेज़ पर बैठ कर हर सुबह शाम हँस कर कह डाले तो उन्हें अपने मन की हविस पूरी करने के लिये, लाठी के सहारे, अपनी बात न सीधी करनी पड़े। काठ के उल्लू ने जवाब में सिर हिलाया और बोला कि—'ऐ मेरे बिछुड़ने वाले नौजवान ! तू सच ही कहता है। जब तक इंसान अपने अन्दर इस तरह के चटखदार किस्से कहने का फ़न नही पैदा कर लेगा तब तक उसकी बातों में पैनापन नही आयेगा और वह लामुहाला तोप और बन्दूकों के सहारे ही ढूँढता रहेगा, उसे कभी यकीन

नहीं होगा कि सिर्फ जबान से भी दुनिया पर असर डाला जा सकता है।"[1] कबूतर ने उल्लू से कहा था कि उसे श्री जवाहरलाल ने शान्ति के नाम पर इन्दौर में उड़ाया था। इसलिए उल्लू कबूतर से आगे कहता है "तो ए नौजवान लकड़ी कबूतर! तू जहाँ कहीं भी जाना, इस बात को हमेशा याद रखना कि तू शान्ति के नाम पर उड़ाया गया है और यह अमन की देवी तोप बन्दूक के धड़ाकों से नहीं आती, बल्कि ऐसी ही मीठी बातों की डोर पकड़ कर जमीन पर उतरती है जिसके सहारे हम लोगों ने यह मनहूस लम्बी, काली रात देखते-देखते काट डाली है।"[2] आगे की बातचीत में वह फिर कहता है कि 'तू जा और दुनिया की भलाई के लिए काम कर।"[3] इस उपन्यास की सभी कहानियाँ कहने-सुनने वाले कबूतर तथा उल्लू की आपसी वार्त्ता की कहानी को भी एक विशेष उद्देश्य से सम्बद्ध कर देने से औपन्यासिक कथा को शृंखलित करने का प्रयास किया गया है। कहानियों के अन्त, 'उपसंहार', में कबूतर और उल्लू को प्रतीकात्मक-अर्थ-संकेत या वर्गीय पात्रता देने का प्रयास भी किया गया है; जैसे शुक्रिया अदा कर, रुखसत होने वाले मेहमान कबूतर को 'काठ का उल्लू', अपनी 'प्रकाशहीन आँखों से देखते हुए' जवाब देता है कि "हाँ मेरे नौजवान मेहमान! तूने आज आकर इस घर को जो रौनक बख्शी है और मेरा सूनापन जो इस कदर घटाया है उसके लिए मैं कभी तुझ से उऋण नहीं हो सकता। तू मुझे नाहक शुक्रिया दे रहा है। मैं तो इस काबिल भी नहीं हूँ। सच तो यह है कि मैं तेरी बीती हुई पीढ़ी हूँ। तू ही आने वाला जमाना है। तूने जितनी कहानियाँ मुझे सुनाई उन सब से मेरी अलग राय रही और मैं तुझे जबानी दास्तानें सुनाता रहा। मेरा कहा-सुना माफ़ करना और मेरी बातों का कुछ भी ख्याल न करना। "कबूतर की आँखों में जैसे यह बात सुनकर कि चमक-सी गई..."[1] उल्लू के 'बीती हुई पीढ़ी' और कबूतर के 'आने वाला जमाना' का प्रतिनिधि-प्रतीक-पात्र (वर्गीय पात्र) होने के कुछ आभास, उपन्यास में यत्र-तत्र आए हुए उनके पारस्परिक तर्कों और सही कहानियों द्वारा भी मिलते हैं। जैसे, उल्लू यही समझता है कि मनुष्य के चरित्र-विकास का मूल कारण सोहबत है पर कबूतर 'आदमी के अन्दर अपनी असलीयत' पर ही बल देता है।[2] इसी तरह उल्लू 'त्रिया चरित्तर' के कारण औरतों को बदनाम करता है पर कबूतर आधुनिक चेतना के अनुकूल औरतों की वकालत करता है; कहता है--"चूँकि ऐसी सारी कहानियाँ मर्दों ने गढ़ी है इसलिए लामुहाला औरतों को हर जगह बदनाम किया गया है। इसके पीछे राज़ यह कि मर्द दुनियाँ में ज्यादा है और अकल के ज्यादा मजबूत है इसलिए वह अपनी बात

१. पृ० १९३-९४। २. पृ० १९४। ३. पृ० १९५।

१. पृ० १९३। २. पृ० २७-२८।

को सबसे मनवा लेते हैं। अगर उन्हीं की तरह औरतें भी काबिल होतीं तो वह यह साबित करने से न चूकतीं कि मर्द भी कम 'चरित्तर' वाले नहीं होते।"[१] कुछ उदाहरणों के आधार पर चाहे यह सिद्ध होता हो कि कबूतर और उल्लू अपने अपने उपर्युक्त प्रतीकात्मक अर्थों को चरितार्थ करते है परन्तु सर्वत्र ऐसे नहीं हुआ—न तो उल्लू ने सदैव प्रतिगामिता का परिचय दिया है और न कबूतर ने सर्वत्र प्रगतिशीलता का; जैसे, उल्लू ने अपनी अन्तिम कहानी (लछमिनिया बनिन की दास्तान) में आधुनिक इलैक्शनों, तथाकथित नेताओं तथा उनके भ्रष्टाचार की व्यंग्यात्मक विधि से पोल खोल दी है। सारांश में यही कहा जा सकता है कि लेखक को उल्लू और कबूतर के प्रतीकात्मक अर्थ सर्वत्र अभिप्रेत नही हैं।

कुछ कहानियाँ प्राचीन पद्धति में आधुनिकतम देशकाल को ऐसी स्पष्ट विधि से प्रस्तुत करती है कि लेखक के हास्य-व्यंग्य की सोद्देश्यता मुखर हो उठती है। उदाहरणतया. 'पीढ़ी के पीढ़ा की कहानी' में साम्यवादियों के वर्ग-संघर्षमय आन्दोलन को जड़ वस्तुओं के माध्यम से मूर्तिमान किया गया है। ऐसा प्रतीत होता है कि लेखक ने अन्तिम कहानी 'किस्सा काले सफेद जादू की लड़ाई' को अन्त में सप्रयोजन रक्खा है। यहाँ जादूगरों के माध्मय से सत्-असत् के जिस संघर्ष का परिचय दिया गया है. उसका स्वरूप नितान्त आधुनिक है। आज भारत में जैसी अन्धकारमयी स्थिति होती जा रही है, वही इस कहानी में संकेतित है। यह कहानी जैसे आज की निराशाजनक स्थिति का सार-स्वरूप है। उपन्यास के प्रभाव की दृष्टि से इस कहानी को अन्त में रखना उचित प्रतीत होता है। वस्तुतः हास्य की अपेक्षा यह व्यंग्य-उपन्यास है और व्यंग्य की अपेक्षा यहाँ प्रतीकात्मक व्यंजना अधिक है। व्यंजना और हास्य दोनों प्रायः शिष्ट हैं, परन्तु अपेक्षाकृत स्थूल। लेखक ने हास्य लाने की अनेक विधियों से काम लिया है। कहीं-कहीं "यह शैली के रूप में है; प्रेमी ने प्रेयसी को इस प्रकार पत्र लिखा—

"ओ मम हृदयवास में सुचारू ढंग से प्रतिष्ठापित होने वाली उलूकवाहिनी,

हम और तुम एक ही विराट् ज्योति के दो टूटे हुए खंड है। हम और तुम एक ही आकाश के दो छोर हैं। हम और तुम एक ही नदी के दो किनारे है। हमारा तुम्हारा सम्बन्ध अमर है। यदि तुम तूल पुन्ज हो तो मैं उससे निकला हुआ पतला धागा हूँ। विधाता की निष्ठुरता के कारण तुम प्रांत के उस पार जनमीं और में इस पार। हमारी आत्मा भी एक है और परमात्मा भी एक है ... और दक्षिण पंथी, तू द्विचक्री पर चढ़ी साक्षात् कमला का अवतार लगती है"[२]! —यहाँ हास्य भी है और छायावादी-रहस्यवादी कवियों तथा अंग्रेज़ी के प्रत्येक शब्द के लिए

१. पृ० ७७। २. पृ० ७१-७२।

हिन्दी के शब्द खोजने वाले हिन्दी-प्रेमियों पर व्यंग्य भी। इस उपन्यास के वकील तुकदार वाक्यों की बेतुकियों को रट कर जिरह के लिए तैयार होते हैं--"ए मेरे हजूर, इतना तो आप जानते है जरूर, दुनिया है फानी। सब चीज़ है आनी जानी। क्या यहाँ, क्या लंका। सब तरफ आप के ही इकबाल का बजता है डंका। ए मेरे सरकार, आपके नाम पर मचती है तकरार।"[1] कहीं-कहीं विरोधाभासमय श्लिष्ट सम्बोधन भी हास्यजनक हैं; जैसे, "ए अक्ल के तेज उल्लू।"[2] तथा "ए मेरे बुजुर्ग उल्लू"[3]। इस उपन्यास के कवि केवल हास्य-रसात्मक पंक्तियाँ ही लिखते हैं:--

ओ मेरी सोन चिरैंइया
तुम्हें देख दिल फुदक रहा है मेरा ज्यों गौरइया!
और मेरी सोन चिरैंइया!
तुम मुझ से मिलने आओ सपने में
ताकि देख मत पाएं तुम को मेरे भाभी-भइया![4]

विभिन्न अध्यायों—जैसे 'आदर्श गुरु और बदजात चेले', 'कपूत बेटे की दास्तान' आदि—में मनोरंजक कहानियों में हास्योद्रेक किया गया है। पात्रों का चरित्र-चित्रण भी कहीं-कहीं हास्यजनक हो गया है; यथा निम्न वाक्य चरित्र-चित्रण देखा जा सकता है—"गोपाल चौरसिया बड़ा रंगिया आदमी था। ठेठ सर्दी की शाम में भी चुने हुए मलमली कुर्ते पर एक दुपट्टा ओढ़ना, बढ़िया सुनहरी किनारी की चुनी हुई शांतिपुरिया धोती, काले चमकते चमड़े का जूता जिसे तुम सब पेटेंट चमड़ा कहते हो, गले में एक काला डोरा जिसमें सोने की एक दाँत-खोदनी पड़ी हुई, आँखों में सुरमे की एक हल्की लकीर, मुँह में पान की चौबीस घण्टे वाली गिलौरी, हाथ में चाँदी की मूंठ लगा हुआ एक लचकीला बेंत, जेब में एक रंगीन रूमाल जो जेब के अन्दर से झलका करे—ऐसे चलता था कि बस देखते ही बनता था।"[5] उपन्यास के आरम्भ में ही रामलाल हलवाई की कँजूसी का हास्यजनक परिचय मिलता है – "रामलाल हलवाई आज बहुत खुश था। तीन चार दिन की बनी हुई मिठाइयाँ रोज़ ताज़ा बता कर कहीं आज जाकर खत्म कर पाया था। इसी खुशी में अपने मन पर पत्थर रखकर उसने एक ईमरती बेचने से बचा ली थी जिसे उसने आज ही अकेले में अपनी श्रीमती को देना सोचा था। सहसा उसे ध्यान आया कि जितनी आँच वह इस्तेमाल कर रहा है उसके कहीं अधिक पैसों का तो तेल ही गैस में जला जा रहा था।"[6] उपर्युक्त उदाहरण शुद्ध हास्य-सृष्टि की दृष्टि लिए हुए है। अनेक स्थलों पर हास्य के साथ सोद्देश्य व्यंग्यात्मकता का सौन्दर्य मिलता है। 'नई पीढ़ी के पीढ़ा

१. पृ० ६४। २. पृ० ६३। ३. पृ० ६३। ४. पृ० १६।
५. पृ० १०६। ६. पृ० ७।

की कहानी' में हास्य-व्यंग्य तथा प्रतीकात्मक व्यंजना का सम्यक् समन्वय हुआ है; यथा, 'ओ मेरे अनजाने दोस्त ! मैं पीढ़ा, इस घर के लकड़ी जाति के लोगों का प्रतिनिधि हूँ ! मैं आज बेहद खुशी के साथ अपनी ही जाति के एक दूसरे प्राणी से दोस्ती का हाथ मिलाता हूँ। साथी टेबुल ! इस घर के मालिक को तुमने अब तक नहीं पहिचाना होगा। यह बड़ा नीच है क्योंकि यह लकड़ी की चीजों को बहुत नीच समझता है और उन्हें कुचल कर, दबाकर रखना चाहता है। हम सब लकड़ी जाति के लोगों ने सोचा है कि इस भगवान नाम के आदमी के खिलाफ़ हम अपना आंदोलन चलाएँगे और लकड़ी जाति के कष्ट को दूर करेंगे। हमारे साथ इस महान् जड़वादी आंदोलन में घर के चेले, दरवाज़े, बाँस, घड़ियाँ, छोटी-मोटी कुर्सियाँ सभी कुछ शामिल हैं। तुझ से विनती करते हैं कि ए भाई टेबुल ! ऐसे मौके पर तू भी हमारे साथ जड़वादी हो जा।

"पीढ़े की ऐसी बात सुनकर टेबुल भी बड़े चक्कर में पड़ा। आज तक उसने लकड़ी जाति के लिए इस तरह से हंगामा उठाने की बात भी नहीं सोची थी ! लेकिन पीढ़े के मुह से सब की दुर्दशा सुनकर टेबुल को भी हमदर्दी हो गई। आखिर जात का मामला था मेरे दोस्त। पीढ़े की बातें सुनकर टेबुल ने पूछा –

"सौ तो सब ठीक है ! लेकिन ए मेरे भाई, भला यह जड़वादी क्या चोज है ?"

पीढ़े ने अब दाएँ बाएँ झाँकना शुरू किया। लेकिन फिर बोलना ही पड़ा –

"साथी टेबुल यह तो ठीक-ठीक मुझे भी नहीं मालूम कि यह जड़वादी क्या चीज है। लेकिन आजकल के जमाने में जिसके पास कोई वाद भी न हो वह बकवाद समझ लिया जाता है। इसलिए हम लोगों ने पहिले से ही अपना नारा उठा लिया है। और—भाई सच बात तो यह है कि इस वक्त कौम पर संकट का वक्त आया हुआ है। इस वक्त बहस करके जड़वाद की बाल की खाल निकालने से काम नहीं बनेगा।"'[१] इस उद्धरण में संवादों तथा लेखक की भाषा-शैली भी देखी जा सकती है, जो हास्य-व्यंग्यात्मक विषय के अनुरूप सरल, चलती तथा व्यावहारिक है। इसमें अरबी-फारसी के शब्दों का भी खुला प्रयोग है। मुहावरों ने भाषा-शैली को सजीव बनाने में योग दिया है।

कुल मिलाकर, 'काठ का उल्लू और कबूतर' लोककथात्मक शिल्प से आधुनिक विषयों का प्रतिपादन करने वाला हास्यव्यंग्यमय प्रतीकात्मक उपन्यास है।

---

१. पृ० ४३।

डूबते मस्तूल

'डूबते मस्तूल' नरेश मेहता का पहला उपन्यास है। इसका प्रकाशन १९५४ में हुआ। हिन्दी-जगत् में नरेश मेहता कवि के नाते प्रसिद्ध रहे हैं, अतएव यह उपन्यास उनकी साहित्यिक चेतना में एक नए अभिव्यक्ति-माध्यम का प्रवर्तक है। फिर भी, यह उपन्यास भी उनकी कवि-प्रतिभा का प्रोद्भास है तथा इसमें उनके काव्य की प्रयोग-प्रवृत्ति का ही प्राधान्य है। 'डूबते मस्तूल' एक नए शिल्प-प्रयोग का आभास देता है। नंददुलारे वाजपेयी इसे 'शिल्प-प्रधान' कृति मानते हैं।[1] उपेन्द्रनाथ अश्क इसके 'स्टाइल' को मन को मोहने और साथ बहाये लिए चलना वाला पाते हैं।[2] शिव नारायण श्रीवास्तव इसे 'शुद्ध प्रयोग की दृष्टि से लिखे गए' उपन्यासों में स्थान देते हैं।[3] ब्रजविलास इसमें समय-सम्बन्धी प्रयोग की भ्रांति देखते हैं।[4]

'डूबते-मस्तूल' में समय सम्बन्धी प्रयोग करने का प्रयास किया गया है। इस उपन्यास की कालावधि मात्र १७-१८ घण्टों में सीमित है। इसका आरम्भ दिन के साढ़े बारह की सूचना से होता है और समाप्ति दूसरे दिन की प्रत्यूष वेला के साथ। मूल कथा की कालावधि तो और भी छोटी है। इस काल-सीमा की लघुता ने 'डूबते-मस्तूल' की कथा को विचित्र विधान दे दिया है। स्वामीनाथन नामक एक व्यक्ति अपने एक मित्र पुरी के यहाँ बाहर से लखनऊ आता है। संयोगवश वहाँ पुरी तो नहीं मिलता किन्तु उसके बंगले के आधे भाग में रहने वाली रंजना नामक एक अद्भुत सुन्दरी उसका स्वागत करती है। अनेक व्यक्तियों के सम्पर्क से विकसित होने वाले अपने जीवनेतिहास को इस अपरिचित पुरुष को सुनाने के लिए रंजना जानबूझ कर उसे अपना पूर्वप्रेमी अकलंक बताती है। स्वामीनाथन जबरदस्ती अपने अकलंक माने जाने के भ्रम को कहीं-कहीं दूर करने का प्रयास भी करता है और कहीं अपने मन में ही आश्चर्यान्वित होकर रह जाता है, किन्तु रंजना के रूप-रंग, हाव-भावों तथा स्पर्शसुखादि से ऐसा अभिभूत होता है कि अकलंक बना रह कर ही कथा सुनता रहता है। अपनी सम्पूर्ण कथा सुनाकर वह उसे अपने एक पत्र के साथ विदा कर देती है, जिसे उसने गाड़ी में जाकर ही पढ़ना होता है। उस पत्र से रंजना यह भेद खोल देती है कि अकलंक तो अंडमान से भागने के अपराध में आज से दस वर्ष-पूर्व गोली से मार दिया गया था और वह उसे जान-बूझ कर अकलंक क्यों समझती रही है।[5] पत्रान्त की इन पंक्तियों में वह अपनी आत्म-हत्या की सूचना भी दे देती है:—"···मेरे चलने की बेला आ पहुँची है। तुम जब तक स्टेशन पर पहुंचोगे मैं

१. "आलोचना" २४, पृ० ७। २. "रेखाएँ और चित्र", पृ० ६६। ३. "हिन्दी-उपन्यास", पृ० ४३०। ४. "आलोचना" १७, पृ० ४३—४४। ५. पृ० २०८।

अपने वान (एक अद्वितीय प्रेमी) के पास हूँगी। मैं जानती हूँ तुम लौटोगे···अच्छा, आभार अंतिम मित्र ! नमस्कार !!"[1]

आगे स्वामीनाथन के वापस लौटने की सूचना दी गई है और उसके एकदम बाद प्रत्यूष के सांकेतिक प्रकृति-चित्र की आशावादी व्यंजना के साथ उपन्यास का अन्त कर दिया गया है।[2] इस प्रकार के विचित्र विधान में ही 'डूबते-मस्तूल' की शिल्पगत नवीनता है। यदि विश्लेषण करें तो पहली विशेषता समय-सीमा-सम्बन्धी प्रयोग में आभासित होती है। उपन्यास का समय मात्र [illegible] घण्टे है। इसलिए लेखक उपन्यास में स्थान-स्थान पर—विशेषतया प्रारम्भिक और अन्तिम पृष्ठों में—काल की सूचना देता रहा है। वस्तुतः यह सीमित समय शिल्प का वैसा प्रयोग नहीं जैसाकि सर्वेश्वरदयाल के 'सोया हुआ जल' या गिरिधर गोपाल के 'चाँदनी के खंडहर' में मिलता है। यहाँ काल-सीमा अधिकांशतः कथा-कथन की अवधि से सम्बन्धित है तथा उपर्युक्त दोनों उपन्यासों में कथा से। इस दृष्टि से यह 'शेखर : एक जीवनी' के अधिक निकट है, जो "घनीभूत वेदना के केवल एक रात में देखे हुए 'वीयन' को शब्दबद्ध करने का प्रयत्न है।"[3] दोनों उपन्यासों की निकटता कुछ अन्य समाननाटकीय विशेषताओं से और बढ़ गई है। दोनों में स्थान की एकता भी है—'डूबते मस्तूल' में मुख्यतः रंजना का बंगला तथा 'शेखर : एक जीवनी' में एकांत जेल की कोठड़ी। इन दोनों में नाटकीय वर्तमान शैली का प्रयोग हुआ है। इसके अतिरिक्त दोनों में आत्मकथात्मक पद्धति मिलती है। इसके अतिरिक्त दोनों में कथा मुख्य पात्र के दृष्टिकोण से कही गई है। लगता है कि 'डूबते मस्तूल' के लेखक ने 'शेखर : एक जीवनी' को ध्यान में रखा है, किन्तु इन दोनों का अन्तर भी स्पष्ट है। और यह अन्तर इन दोनों के शिल्प की व्यर्थता-सार्थकता को भी स्पष्ट कर देता है। 'शेखर : एक जीवनी' में मूल पात्र ने अपने विगत अतीत को एक विशेष मानसिक स्थिति—फाँसी मिलने की आशंकित स्थिति—में, कथा की पूर्व-दीप्ति-पद्धति के माध्यम से विशृंखलित सहज स्मृति-तरंगों के रूप में मात्र देखा है, सुनाया नहीं। अतएव यह कथा सूक्ष्म-मानसिक है और इसमें मनोवैज्ञानिक स्वाभाविकता है। 'डूबते मस्तूल' में कथा रात-दिन के कुछ घण्टों में लगातार देखी-लिखी नहीं, सुनाई गई है—और वह भी ऐसे पात्र को जो [illegible] है और जिसे जानकर परिचित का रूप दिया गया है। इस रूप में यह कथा जैसे किसी पर थोपी गई लगती है। यह कथा भी घटना-प्रधान है, जो लगभग क्रम से, व्यौरेवार वर्णनों के साथ, सुनाई गई है। 'शेखर : एक जीवनी' की वर्तमान शैली कथा की पूर्वदीप्ति पद्धति के अनुकूल है किन्तु यहाँ गौण पात्र श्रोता और नायिका के क्षणिक सम्बन्धों की गतिविधि वर्तमानकालीन

---

१. पृ० २१०। २. पृ० २११। ३. द्रष्टव्य, "शेखर : एक जीवनी" की भूमिका।

शैली में तथा नायिका की विगत-गाथा—उपन्यास की मूल कथा—भूतकालीन है। आत्मकथा वक्ता भी यहाँ 'शेखर : एक जीवनी' की तरह मूल पात्र नहीं, गौण पात्र है। इस तरह विविध शैलियों के विचित्र संयोग से यहाँ नूतनता का चामत्कारिक आकर्षण चाहे आ गया है किन्तु इनकी सार्थकता समझ में नहीं आती। यही नहीं कुछ अस्वाभाविकता भी आ गई है। इस उपन्यास का शिल्प-प्रयोग विषय-स्फूर्त नहीं—यह कथ्य की अनिवार्य माँग नहीं। इस सम्बन्ध में हमारे मन में अनेक प्रश्न उठ सकते हैं। क्या रंजना की सम्पूर्ण जीवन-कथा को कुछ सीमित घण्टों में जल्दी-जल्दी सुनाना ज़रूरी था? इसका एक उत्तर यह दिया जा सकता है कि अपने अनन्य प्रेमी वान की मृत्यु के समाचार तथा पुत्र के तिरस्कार की आत्मग्लानि से अभिभूत होकर उसे आत्महत्या करनी थी और आत्महत्या से पूर्व ही, अपना बोझा हल्का करने के लिए उसे किसी को अपनी आत्म-कथा सुना देनी थी; किन्तु जिस नाटकीय तटस्थता तथा हावभावों से वह एक कल्पित पुरुष को रिझा कर अपनी कथा सुनाती है, वह उसकी आत्महत्या से पूर्व की आत्मग्लानि-जन्य असंतुलित तथा आवेशज मनःस्थिति के विपरीत है। दूसरे, वान की मृत्यु उसके लिए अकस्मात् आघात के रूप में नहीं आती—मृत्यु-मुखोन्मुख वान की सूचना उसको असित के पत्रों से मिलती रहती है। वह उसे बचा भी सकती थी, फिर भी वहाँ नहीं जाती। अतएव उसकी आत्महत्या स्वाभाविकता की अपेक्षा चामत्कारिक प्रभाव डाल कर रह जाती है—यह लेखक की पूर्व-योजना का प्रतिफल जान पड़ती है।

उपर्युक्त प्रश्न का दूसरा उत्तर यह दिया जा सकता है कि जिस व्यक्ति को रंजना ने कथा सुनानी थी, वह उसके घर कुछ ही घण्टों का अतिथि बनकर आया था, अतएव उसे निश्चित समय के भीतर ही कथा सुना देनी थी। किन्तु यह तो लेखक की योजना है, विषय की बाध्यता नहीं। वस्तुतः उपन्यास का समग्र विधान लेखक की पूर्व-निश्चित योजना की कृत्रिमता की प्रतीति कराता है। जिस ढंग से पुरी के मित्र स्वामीनाथन को बिना मिले, पहले ही सीधे स्वभाव का समझ कर, कथानायिका उससे छल कर सकने की अपनी क्षमता में विश्वस्त हो जाती है, वह अस्वाभाविक है। इसी तरह इस स्वामीनाथन के आने से पहले ही रंजना जिस प्रकार उसके आने की गति-विधि तथा उसके द्वारा अपने पुरी-पत्नी समझे जाने के भ्रम का पूर्वानुमान कर लेती है, वह हास्यास्पद है। रंजना को इसको लगातार कथा-सुनाने का अवसर प्रदान करने के लिए जैसे उसके मित्र पुरी को लखनऊ से बाहर भेजने की परिस्थिति पैदा कर दी गई है, वह नितांत संयोग पर आश्रित होने से लेखक की पूर्वनिश्चित योजना की कृत्रिमता का सजग प्रमाण है। स्वभाव के विपरीत होने पर भी मात्र रूपाकार की समानता से जैसे नायिका स्वामीनाथन को जानबूझ कर अपना

पूर्वप्रेमी अकलंक मानने तथा उससे भी मौन रूप से इस स्थिति को स्वीकार कराने में सफल होती दिखाई गई है, वह भारतीय फिल्मों के विचित्र करिश्मों तथा लेखक की हठधर्मी का प्रभाव डालती है। इस कल्पित अकलंक को नायिका वास्तविक अकलंक की भी प्रेम-कथा सुनाए, यह कितना अस्वाभाविक है। ऐसे कल्पित तथा अनजान पात्र के आधार पर नायिका की अभाव-तृप्ति तथा कथा सुनाकर अपना बोझ हल्का करने की बात अमनोवैज्ञानिक है। सारांश में, सीमित समय में विचित्र विधि से कथा-कथन का यह प्रयोग अपने औचित्य के अभाव में नूतन एवं आकर्षक बन कर रह गया है, प्रभावपूर्ण नहीं हो सका।

'डूबते मस्तूल' सोद्देश्य रचना है। उद्देश्य-तत्व का समावेश मुख्यतः तीन रूपों में हुआ है—पहला, रंजना की जीवन-गाथा के घटना-चक्र से सहज-व्यंजित रूप में, या स्वयं रंजना ही के द्वारा संवलित या घटनाओं की प्रतिक्रियास्वरूप वक्ता-श्रोता के विचार-विनिमय के रूप में; दूसरा, चित्र-प्रतीकों द्वारा; और तीसरा, रंजना के कथा-सुनाने को छोड़ इतर कार्यों में लगने पर, श्रोता स्वामीनाथन के स्वभाववश 'ऊल-जलूल' या 'बे-सिरपैर की बातें' सोचने के रूप में।[१] लक्ष्याभिव्यक्ति की पहली प्रक्रिया से मुख्यतः पुरुषों के अहंकार-अत्याचार तथा विलास-लोलुपता की वृत्ति से नारी-पीड़न की सामाजिक समस्या सामने आई है, दूसरी से इसकी सम्पुष्टि तथा प्रभाव-घनत्व में सहायता मिली है, और तीसरी से चलते-चलते कहीं रेलगाड़ियों में अशुद्ध हिन्दी-लेखन पर[२] कहीं कीर्तनियों के प्रार्थना-पूजा से पुत्र या फसल-उपजाने की छलना पर,[३] और कहीं नेहरू सरकार पर[४] व्यंग्य किये गए हैं, और कहीं किसानों से सहानुभूति[५] प्रकट की गई है। प्रभाव की दृष्टि से पहले प्रकार का सामाजिक उद्देश्य ही महत्वपूर्ण है जिसे कथा का आधार मिला है, चलती चर्चा के रूप में आए अन्य स्फुट चिंतन-स्थलों का नहीं। फिर भी, युग-चेतना का प्रतिबिम्ब होने के कारण, कथा एवं पात्रों की यथार्थता में इनका कुछ-न-कुछ योग अवश्य है। कथा-विकास के मध्य में स्थान-स्थान पर तथा अन्त में भी पाठकों को सामाजिक उद्देश्य आकर्षित करता है। रजना अपने जीवन-विकास में दस-ग्यारह पुरुषों के सम्पर्क में आती है और अधिकांश "उसके पास इसी तरह आए जैसे रंजना का शरीर उनके पुरुष शरीर का ऋण था—कुछ व्याज ले के चले गए, कुछ लोगों ने मूल धन के आधार पर कुछ दिनों व्यापार किया, और रंजना ने विद्रोह नहीं किया, बल्कि समझौता किया—किसी के साथ पत्नी बनकर, किसी की मात्र प्रेमिका बनकर और किसी के साथ भागकर।"[६] प्रायः अपनी इच्छा के विपरीत,

---

१. पृ० ९४, १२९। २. पृ० ९४। ३. पृ० १२६-२७।
४. पृ० १७१। ५. पृ० १२४। ६. पृ० १२५।

परिस्थितियों तथा सामाजिक मान्यताओं से मजबूर होकर, उसे नए-नए पुरुषों को स्वीकार करना पड़ा। एक अवसर पर, रंजना अपने नए मार्ग का विश्लेषण करते हुए कहती है—"संसार का कोई पति यदि यह जान जाये कि उसकी पत्नी पहले किसी दूसरे की पत्नी थी (या वह पतित हुई थी) तो वह उसे सहन नहीं कर सकता,···फिर वह व्यक्ति जिससे प्रेम नहीं, मात्र विवाह हुआ हो शरीर का सौदा—जब वही शरीर पहले किसी का हो गया हो और वह भी विधर्मी (मुसलमान) का—तो धार्मिक पति के लिए···सहन कर जाना कभी सम्भव नहीं। समाज, धर्म, सब की लाज एक मात्र स्त्री के शरीर पर आधार रूप से आश्रित है···स्त्री का शरीर दूषित हुआ नहीं कि हमारे देवताओं के मुंह पर कालिख पुती नहीं···"[१] इस तरह रंजना की जीवन-कथा से इस प्रकार के विचारों की व्यंजना होती रहती है और कथान्त में यह स्पष्ट किया गया कि रंजना को लोगों ने जो बनाया वह मात्र उसके शरीर के विभिन्न रूप थे—वह न पत्नी ही बन सकी, न माता ही। निष्कर्ष रूप में लेखक उसे समाज के प्रेम-घृणा से ऊपर, स्वयं में अपूर्ण एवं अनुत्तरा बना कर रह जाता है।[२]

लेखक किसी पात्र की विचित्रता के आधार पर पाठकों को किन्हीं व्यक्तिगत प्रश्नों में नहीं उलझाना चाहता; इसलिए उसने रंजना की पीड़ा को सामाजिक पीड़ा, या एक नारी की व्यथा को समग्र नारी-वर्ग की व्यथा के रूप में चित्रित करने का प्रयत्न किया है। इसके लिए उसने रंजना की समस्याओं का सामान्यीकरण करते हुए उसे वर्गीय स्वरूप दिया है; यथा, रंजना के कथन में उसके अपने जीवन-चक्रों की दयनीयता, नारी-मात्र की परात्म-निर्भरता तथा परवशता के रूप में वर्णित हुई है—"नारी बिना तुम्हारी (पुरुष की) सहायता के घर से नहीं निकल सकती, तुमने उसे 'देवी' 'देवी' कहकर किसी भी काम के योग्य नहीं रखा।·· और जानते हो नारी जब कभी तुम्हारी बनाई परम्परा को तोड़ तुम्हारे इस माध्यम, आवरण को नहीं मानना चाहती तब उसे जीवन चलाने के लिए शरीर, जाँघें, बाहें—सब, शरीर का एक-एक अंग, अपने आपका पूरा नीलाम करना पड़ता है···जिसकी नीलामी हो रही है वह 'देवी' है और हँसता हुआ नीलामी के चार आने फेंकनेवाला 'देवता' है ·· यह वेश्याओं का समाज नहीं है तो और क्या है ? तुम्हें माँ नहीं चाहिये, तुम्हें बहन नहीं चाहिये, तुम्हें पत्नी नहीं चाहिये—तुम्हें तो चाहियें वेश्याएँ, जो कहाँ नहीं हैं ?"[३] स्वामीनाथन को रंजना यही कहती जान पड़ती है :—"···मुझे कुल्टा, चरित्रहीन, नीच समझते हो—और मैं हूँ भी चरित्रहीन—परन्तु मैं अकेली ही नहीं, तुम जिस समाज में बैठे हुये हो वह पूरा का पूरा वेश्या का समाज है, दुर्गन्ध दे रहा है।···"[४]

---

१. पृ० ६०। २. प० २१०। ३. पृ० १०३। ४. पृ० ६०।

लेखक ने रंजना के माध्यम से समाज में प्रचलित यौन-पवित्रता सम्बन्धी धारणाओं के खोखलेपन को प्रदर्शित किया है। जैसाकि लिखा जा चुका है लेखक ने उपन्यास के अन्त में पीड़ित नारी को अपने-आप में 'अनुत्तरा' ठहरा कर समाधान नहीं दिया—उसकी आत्महत्या इसका प्रमाण है—फिर भी, उपन्यासांत के प्रकृति-चित्र से आशावाद की सांकेतिक अभिव्यक्ति की गई है—बादल छंट चुके हैं—प्रत्यूष वेला की हल्की प्रजनन लालिमा, आकाश के नील चीवरों में फूटी पड़ रही है।...कदाचित् उषा, सूर्य-पुत्र की माता बन रही है। आकाश इस जन्म की प्रतीक्षा कर रहा है। जन्म होकर रहेगा"।[1] यह आशावाद उपन्यास से ध्वनित नहीं होता, लेखक के अपने आग्रह का परिणाम है। स्वामीनाथन के चरित्र में भी ऐसा कोई महत्व-तत्व नहीं मिलता, जो उपर्युक्त चिंतन की ओर प्रेरित कर सके। यह शेष उपन्यास से विछिन्न-विभाज्य है, अतएव प्रभावशून्य भी। उपन्यास का नामकरण, 'डूबते मस्तूल', भी इस अन्तिम आशावादी मत के विपरीत है। रंजना के जहाज़ के मस्तूलों के लिए प्रतीक्षागान गाता हुआ वान मर जाता है[2] और स्वयं रंजना का मस्तूल भी डूब जाता है किन्तु कहा यही गया है कि आशा-सूर्य का उदय अवश्य होगा—स्यात् लेखक की मन-प्राची से, क्योंकि उपन्यास के म्लान क्षितिज से इसका किंचित् आभास नहीं मिलता।

'डूबते-मस्तूल' का सामाजिक उद्देश्य प्रभावपूर्ण नहीं हो सका। इसका एक कारण यह है कि रंजना की जीवन-गाथा का विश्वसनीय विकास नहीं हुआ। यद्यपि लेखक ने स्थान-स्थान पर कथा तथा चरित्र-संगति के लिए स्वयं नायिका द्वारा स्पष्टीकरण का प्रयास किया है, तथापि अनेक स्थलों पर यही लगता है लेखक ही उसके परिवर्तनों का उत्तरदायी है, वह स्वयं नहीं। पहले तो कथा-सुनाने का विचित्र विधान ही संगत नहीं दिखाई देता है (इसका स्पष्टीकरण किया जा चुका है); दूसरे, पठान सैयद के अपने प्रति किए गये अन्याय के प्रतिकार में प्रतिहिंसात्मक शौर्य का चरम प्रदर्शन करने वाली नायिका आगे जिस तरह अनेक लोगों की वशवर्ती होती रहती है और अपने एम० ए० (अंग्रेज़ी) की शिक्षा तक का उपयोग नहीं करती, वह अस्वाभाविक है। लेखक ने रिनी के आधार पर, और स्वतन्त्ररूप में भी, उसकी वात्सल्य-भावना की प्रबलता की अनेक स्थलों पर दुहाई दी है।[3] किंतु वही असित-जैसे लड़के को अन्त तक ठुकराने में समर्थ दिखाई गई है। होना तो यह चाहिए था कि अनेक व्यक्तियों के वासनामय प्रेम तथा प्रतारणाओं से अभिशप्त रंजना वान-जैसे अनन्य प्रेमी और विश्व-प्रसिद्ध कलाकार को पाकर वरदान समझती, किन्तु वही अपने रूप की अहंमन्यता में उसके प्रेम को ही नहीं ठुकराती, अपने पुत्र के वास्तविक स्नेहाधिकारी तथा आधार को भी ठुकरा देती है। यह आचरण सामान्य

---

१. पृ० २११। २. पृ० २०४-५। ३. पृ० ७५, ८७, १०८।

नारी-भावना के विरुद्ध है। वैसे भी, इस प्रकार के असामान्य मनोवैज्ञानिक तत्व का समावेश कर नायिका के चरित्र-परिवर्तन की आवश्यकता ही नहीं थी, क्योंकि इससे पुरुषों द्वारा नारी-पीडन का उद्देश्य शिथिल हो जाता है। बान की तुलना में कुलकर्णी-जैसे व्यक्ति की ओर नायिका को आकर्षित करना और भी असंगत है। जिस तरह नायिका में तटस्थता प्रदर्शित की गई है, वह उसे एक असाधारण नारी बना देता है। इस रूप में रंजना का चरित्र नारी-जीवन का प्रतिनिधि चित्र नहीं बन पाता और न ही नायिका पाठकों की सहानुभूति ही अर्जित कर पाती है। कथा-विकास में अन्य शंकाएँ भी पाठकों को आन्दोलित करती रहती हैं। इसमें नायिका की कथा के माध्यम से सामने लाया जाने वाला उद्देश्य, उसकी विश्वसनीयता की कमी के कारण, अपना प्रभाव भी खो बैठा है।

शृंगारिक तत्व के बाहुल्य ने भी सामाजिक उद्देश्य को क्षति पहुँचायी है। यह तत्व नायिका की मूल कथा में ही नहीं, चलते-चलते सम्बद्ध समाज (जैसे फौजियों) का परिचय देने तथा रंजना-स्वामीनाथन के पारस्परिक व्यवहार में भी है। रंजना को अपनी कथा सुनाने के लिए स्वामीनाथन को अपने हाव-भावों से आकर्षित करना होता है, जो पाठकों को मूल उद्देश्य से विकर्षित करता है।

वस्तुतः 'डूबते मस्तूल' का सर्वप्रमुख लक्ष्य पाठकों का मनोरंजन करना है—कम-से-कम पाठकों को यही तत्व सर्वाधिक प्रभावित करता है। लेखक ने उस कथानक को लिया है जिसमें परिवर्तन सदैव द्वार खटखटाता और सनसनीदार घटनाएँ चौंकाती रहती हैं - कहीं समाज की आँखों से छिपकर लड़का-लड़की भाग निकलते हैं, कहीं कोई किसी का अपहरण करता है, कहीं पर बलात्कार और कहीं किसी को ज़हर से या गोलियों से मार दिया जाता है। ऐसे घटना-प्रधान कथानक में उत्सुकता-कौतूहल के तत्वों का सातत्य स्थिर रहना स्वाभाविक है। 'डूबते मस्तूल' के कथानक में ये तत्व पर्याप्त हैं किन्तु इनमें व्याघात तभी होता है जब लेखक कथेतर तथा कथा-भीतर के छोटे-छोटे प्रसंगों का भी ब्यौरेवार दीर्घ वर्णन करने लगता है। यह यथातथ्यवादी शैली कथावस्तु की तीव्र गति को रुद्ध तथा मूल उद्देश्य से पाठकों को किंचित् विरत भी करती है। वैसे ये लेखक की सूक्ष्म निरीक्षण-शक्ति तथा वर्णन-कुशलता की द्योतक है और कथा को वास्तविक वातावरण देने में कुछ-न-कुछ योग देती है। इस सम्बन्ध में, पाठकों में यह शंका उठनी स्वाभाविक भी थी कि रंजना को अपने बीते जीवन की एक-एक बात तथा मार्गों के सूक्ष्म ब्यौरे कैसे याद रह सके? इसका समाधान करने के लिए लेखक ने रंजना की स्मरण-शक्ति का बार-बार विशेष उल्लेख किया है।[1] कथा-सुनाने की स्वाभाविकता बनाये रखने के लिये ही कहीं-कहीं

१. पृ० १३८, १५३।

कथा-काल-विपर्यय भी होता रहा है। फिर भी, ये सूक्ष्म-ब्यौरे उचित नहीं कहे जा सकते क्योंकि ये उस पात्र की मनःस्थिति के विपरीत हैं, जिसको अपनी व्यथा-कथा कहकर बोझ हल्का ही नहीं करना, आत्महत्या भी करनी है। उत्तर दिया जा सकता है कि रंजना में तटस्थता के विशेष गुण का बार-बार उल्लेख किया गया है और ऐसा तटस्थ पात्र बड़े आराम से, एक-एक ब्यौरे के साथ कथा सुना सकता है। इस पर प्रतिप्रश्न यह उठता है कि ऐसे तटस्थ पात्र के लिये आत्महत्या कहाँ तक उचित थी ?

'डूबते मस्तूल' का वस्तुविन्यास रोचकता-वर्द्धक है। समग्र कथा रंजना-केन्द्रित है और उसी के द्वारा सुनाई गई है। इसके अतिरिक्त रंजना के जीवन को बनाने-बिगाड़ने वाले अनेक पात्रों की अपनी-अपनी कथाएँ भी रोचक हैं, जो यथास्थान, धारा-प्रवाह के साथ, संक्षेप में आ गई हैं। श्रोता स्वामीनाथन के जीवन की झाँकी भी उसके चिंतन के माध्यम से स्थान-स्थान पर मिलती रहती है। अन्तिम पृष्ठों में पत्र-पद्धति से भी सहायता ली गई है, जो परिस्थितियों की बाध्यतावश प्रयुक्त होने के कारण सार्थक है।

कथानक का कौतूहल किंचित् रहस्य-तत्त्व के विनियोग से भी आ सका है। इसके अतिरिक्त रूप-यौवन और शृंगार के रसीले चित्र भी कथा के आकर्षण का कारण हैं। नारी-पीड़ा को लेकर लिखी जाने वाली कथा को मार्मिक होना चाहिये था, किन्तु रंजना की कथा रंजक ही अधिक बन पाई है। श्रोता स्वामीनाथन को बराबर यह आभास होता रहता है कि उसे रंजना जीवन-गाथा नहीं सुना रही है, बल्कि किसी उपन्यास के पन्ने पर पन्ने पढ़ती जा रही है।[१] घटनाओं का उतार-चढ़ाव ऐसा रंजक एवं आश्चर्यजनक है कि truth is stranger than fiction को ध्यान में रखकर स्यात् वह रंजना की गाथा में औपन्यासिकता का आरोप करने लगता है। हमारे विचार में इस औपन्यासिकता से कथा-रंजकता तो सिद्ध होती है, किन्तु उसकी वास्तविकता पर शंका भी होने लगती है। लेखक ने देशकाल के सही-सही ब्यौरों में वास्तविक पृष्ठभूमि देने का प्रयास किया है। उत्तर पश्चिमी भारत के सीमावर्ती प्रदेशों, लाहौर, महु छावनी, बम्बई और लखनऊ ही नहीं, कथा को योरुप के हालैंड देश तक घुमाया गया है। द्वितीय युद्धकालीन गति-विधि—विशेष रूप से सैनिकों की मनोवृत्ति तथा जीवन—के अंकन का प्रयत्न भी मिलता है। देश के वैविध्य-वैचित्र्य से कथा में नया आकर्षण आ गया है जो नायिका के विशृंखलित चक्करदार जीवन के अनुरूप है।

'डूबते मस्तूल' में चरित्र-चित्रण का तत्व गौण है। इसमें हमें अनेक पात्रों की

२. पृ० ८४, ११५, १७०।

झलक मिलती है किन्तु ये सब किसी के लिए है—रंजना ही उपन्यास का मूलाधार है, जिसके विकास में इन्होंने योग दिया है। अपने जीवन में रंजना एक दीर्घ यात्रा करती है। वह परिस्थितिवश हिन्दू, मुसलमान, ईसाई सभी बनती है और विविध व्यवसाय, वर्ग, तथा मजहब के व्यक्तियों से उसका पाला पड़ता है। लेखक की चरित्र-चित्रण-पद्धति की यह विशेषता है कि उसने रंजना के जीवन में आने वाले उल्लेखनीय व्यक्तियों का अन्त में रंजना के द्वारा ही सार-संक्षेप दे दिया है :—"अकलंक अहंवादी था, जिसे रंजना मिलती भी तो तोड़ देता; जांस्टीन एक चरित्रहीन पत्नी का चित्रवान पति था और रंजना को पूरी तरह पाने के लिए पुरुष का पति से अधिक प्रेमी भी होना आवश्यक नहीं, और रहा वान—वह एक स्वप्नशील, जिसके आलिंगन में देवत्व अधिक था। रंजना, देवता का पाथर कैसे ढोती स्वामीनाथन ? टामस, कंचन का मृग और शेष—वे अमहत्वपूर्ण बिन्दु जो समग्र रूप के लिए अनावश्यक होने पर भी अपेक्षित होते हैं।"[1] इस तरह लेखक पाठकों को अपनी धारणा नहीं बनाने देता, वैसे पाठकों को अपनी धारणा बनाना कठिन भी हो सकता है; क्योंकि पात्रों का जितना जीवन सामने आया है, वह अपर्याप्त है। विचित्रता यह है कि रंजना का चरित्र-सार भी लेखक की धारणा लगती है, क्योंकि रंजना के आचरण इसके विपरीत है। यदि अकलंक ऐसा था, जैसाकि ऊपर कहा गया है, तो स्वामीनाथन को जानबूझकर अकलंक कह-कहकर कथा-सुनाना और भी हास्यास्पद लगता है। रंजना का चरित्र-चित्रण लेखक के सामाजिक उद्देश्य के विपरीत है। कहीं वह सामाजिक परिस्थितियों की क्रूरता का शिकार है और कहीं अपनी अहंमन्य प्रकृति का। लेखक ने अन्त में उसे अनुत्तरा बनाने के लिए कहीं उसे एकदम परिस्थितियों की धारा में निर्जीव तिरने दिया है और कहीं उसमें उपेक्षामयी दृढ़ता, अहंमन्यता तथा प्रतिकार की चरम प्रवृत्ति उद्‌बुद्ध कर दी है। इस दृष्टि से उसका चरित्र जटिल है और इस जटिलता की आंतरिक संगति का लेखक चित्रण नहीं कर पाया। ऐसा प्रतीत होता है कि लेखक उसका मनमाना विकास करता रहा है। इससे उसका चरित्र न तो स्पष्ट हो पाया है और न ही प्रभावपूर्ण। सामाजिक उद्देश्य में सहायक होने की बजाय वह अपने रूप-यौवन तथा उससे प्रेरित आचरणों से एक रोमानी प्रभाव डाल कर ही रह गया है। गौण पात्रों में सर्वाधिक उज्ज्वलता वान के चरित्र में प्रदर्शित है। उस-जैसे उच्च एवं प्रसिद्ध कलाकार में जिस चरम प्रेम का चित्रण किया गया है, वह स्वाभाविक नहीं बन पाया। उसकी रूप-लुब्ध के उज्ज्वल विकास तथा करुण अन्त के लिए आलम्बन रंजना में किन्हीं अन्य गुणों का चित्रण आवश्यक था। उसका तथा उसके समान अन्य अनेक गौण पात्रों का चरित्र भी अस्पष्ट एवं एकांगी बनकर रह गया है। अनुकूल एवं

---

१. पृ० २०९-१०।

सार्थक प्रतिक्रियाओं को व्यक्त करने वाला श्रोता चुनने की बजाय लेखक ने स्वामीनाथन के रूप में जिस सीधे व्यक्ति का चुनाव किया है, वह उसकी विचित्र कथन-पद्धति की आवश्यकता की पूर्ति चाहे करता हो, किसी गम्भीर उद्देश्य की व्यंजना में सहायक नहीं हो सकता था, समझ नहीं आता उसे एक बनियान की फैक्टरी में डिज़ाइनर का व्यवसाय देने की क्या आवश्यकता थी ? उसके बार-बार का काव्यमय चिन्तन, वस्तु-चित्रण तथा प्रकृति-चित्रण उसके व्यवसाय के अनुकूल नहीं।

'डूबते मस्तूल' में वर्णन-बहुलता है, वार्तालाप से चरित्र-चित्रण में स्वल्प सहायता ली गई है। कहीं-कहीं पात्रों—जैसे पठान[1] पात्रों—को उनकी वर्ग-जाति की भाषा देकर वास्तविक बनाने का प्रयास किया गया है। अधिकांश वार्तालाप परोक्ष हैं क्योंकि ये रंजना की विगत गाथा के रूप में आए हैं; स्वामीनाथन तथा रंजना के संवाद ही प्रत्यक्ष है। इनमें रंजना की विदग्ध तथा स्वामीनाथन की सरल प्रकृति की व्यंजना हुई है। कलाकार वान की एक आधुनिक शैली में लिखी कविता को बार-बार दुहराया गया है, जिससे उसके अचल भावुक प्रेम की व्यंजना होती रहती हैं। वार्तालापों की कथात्मक उपयोगिता इस बात में है कि रंजना अपनी विदग्ध वार्ता-शैली से ही स्वामीनाथन को अपने आकर्षण-पाश में बाँधे रह सकी है।

कथानक के बाद 'डूबते मस्तूल' का आकर्षण है भाषा-शैली। यह कवि नरेश मेहता का उपन्यास है—इसकी भाषा काव्यमयी है। यह भाषा जितनी मोहक-रंगीन वर्णन करने में समर्थ है, उससे कुछ ही कम व्यंगात्मक वर्णनों में भी। रंजना के अद्भुत रूप एवं शृंगारिक वर्णनों में इसकी सफलता देखी जा सकती है। चित्रांकन में नरेश मेहता सिद्ध-हस्त हैं। काव्य-प्रचुर भाषा में प्राकृतिक वातावरण का कुशल चित्र अंकित कर स्थान-स्थान पर भावनाओं को तीव्र किया गया है और पात्रों के कार्य-व्यापारों को उपयुक्त पृष्ठभूमि दी गई है।[2] चित्र-प्रतीकों में सांकेतिक भाषा का उपयोग हुआ है। नूतन उपमाएँ अनेक स्थलों पर भाषा का शृंगार करती चलती हैं। लेखक ने भाषा में कुछ नूतन प्रयोग भी किए हैं। उपन्यास के प्रारम्भ में उसने अपने दृष्टिकोण का स्पष्टीकरण करते हुए लिखा है—"एक शब्द भाषा के बारे में कह दूँ कि उत्तरार्द्ध में 'सप्तमी' के प्रयोग किये गये हैं। संस्कृत प्रियता के कारण नहीं बल्कि बोलियों में सप्तमी, नामधातु आदि होते हैं और हिन्दी में अनेक प्रभावों के कारण यह प्रक्रिया लुप्त सी हो गई है। अवधी में जैसे—अवधेस के द्वारे सकारे गयी—या मालवी में, 'शनीवारे राते' आदि के रूप मिलते हैं इसलिए हिन्दी बोलियों के अधिक निकट इसी प्रकार के प्रयोगों द्वारा जा सकती है। यह न माना जाये कि चौंका देने

---

१. पृ० ७८। २. पृ० २०२-३।

के लिए ऐसा कुछ किया गया है।" सारांशतः 'डूबते मस्तूल' की भाषा-शैली आकर्षक है।

समग्रालोचन के बाद यह कहा जा सकता है कि 'डूबते मस्तूल' की प्रायोगिक नव्यता विषयस्फूर्त नहीं, इसलिए यह उपन्यास की स्वाभाविकता को बढ़ाने की बजाय घटाती है। यहाँ आंतर अनुभूति की बाध्यतावश नहीं, प्रयोग के लिए प्रयोग किया गया है। यह प्रयोग सार्थक नहीं, किन्तु रंजक है। इसका कथानक भी पर्याप्त रंजक है। इस विपुल रंजन-तत्व का उपन्यास के सामाजिक आशय की गम्भीरता से सामंजस्य नहीं हो सका।

चाँदनी के खंडहर

केवल १२७ प्रष्ठों के 'चादनी के खण्डहर' नामक लघु-उपन्यास से गिरिधर गोपाल ने हिन्दी उपन्यास-साहित्य में प्रवेश कर ख्याति प्राप्त की है। उसका प्रकाशन १९५४ में हुआ। यह एक नूतन शिल्प-प्रयोग है। सभी आलोचकों ने इसकी शैल्पिक नूतनता को स्वीकार किया है। इस उपन्यास के भूमिका-लेखक कथाकार-आलोचक इलाचन्द्र जोशी के शब्दों में चाँदनी के खण्डहर की 'थीम नयी है, पात्र नये है, शैली नयी है और कला-कौशल नया है।' डॉ० शिवनारायण श्रीवास्तव,[1] लक्ष्मीकान्त वर्मा,[2] डॉ० रामरतन भटनागर,[3] ब्रजविलास श्रीवास्तव[4] सभी ने शिल्प के नए प्रयोग की दृष्टि से इसे महत्व दिया है। इस उपन्यास में कथा की कालावधि को मात्र एक ही दिन में सीमित कर समय-सम्बन्धी प्रयोग किया गया है। इसलिए इसे शिल्प-प्रधान उपन्यासों के वर्ग में रखना उचित होगा। आज का उपन्यासकार सीमित समय में जीवन के खण्ड-विशेष को ऐसी अन्तर्भेदिनी या अणुवीक्षणीय दृष्टि से देखकर चित्रित करता है कि उससे सम्पूर्ण वास्तविकता व्यंजित हो जाती है—उसे अभीष्ट-सिद्धि के लिए लम्बी कालावधि में मनुष्य के समग्र कार्य-व्यापारों को प्रस्तुत करने को आवश्यकता नहीं होती। इस बात का वह अवश्य ध्यान रखता है कि अल्पकालिक सीमित जीवन के क्षण-क्षण का अन्तर्बाह्य सूक्ष्म-सार्थक चित्रण कर सके। इस उपन्यास में गिरधिर गोपाल का यही लक्ष्य रहा है।

'चाँदनी के खण्डहर' में लेखक ने वसन्तकुमार-परिवार के मात्र २४ घण्टों के जीवन का चित्रण कर समय-सम्बन्धी नया प्रयोग किया है। विलायत से डाक्टरी पास करके लौटा हुआ वसन्त विगत जीवन की मीठी किन्तु बचकानी स्मृतियाँ,

१. "हिन्दी उपन्यास", पृ० ४१६-१८। २. "आलोचना", सं० १३, पृ० ९७।
३. "आलोचना", सं० २२, पृ० ७०। ४. "आलोचना", सं० १७, पृ०-४२।

वर्तमान की अस्पष्ट उल्लास-भरी अनुभूतियों और भविष्य के अनिश्चित और अनपढ़ सपनों को लिये हुए अपने घर पहुँचता है। स्नेह-प्रेम से भरा, बचपन से लेकर जवानी तक की मीठी और प्यारी स्मृतियों के मधुर संसार से बोझिल निम्न मध्यवर्गीय परिवार का दुलारा लड़का रहा है वह। दुख में भी हँसते रहने वाला, मुसीबतों के अंग को पारस्परिक स्नेह की स्निग्धता से साफ करते रहने वाला वह छोटा-सा संसार उसके कितने रंगीले सपनों और पुलक-भरे अरमानों को बराबर अपने भीतर समाहित किये रहा है, पर पाँच वर्ष के प्रवास के बाद जब वह उसमें फिर प्रवेश करता है तब उसका सारा ढाँचा ही उसे एकदम बदला हुआ दिखाई देता है। लगता है जैसे इस बीच सारे मकान को, समूचे घर को ही टी० बी० हो गया है। न उसमें स्नेह की वह सफलता शेष रह गई है, न वह राग की रंगीनी।"[1] बड़े मित्र का-सा व्यवहार करने एवं कर्मण्यता को सबसे बड़ी पूजा मानने वाले, उसके खुशदिल पिता अब आलसी-से, बच्चों के समान सहमने-रोने वाले बिल्कुल बूढ़े हो गए हैं;[2] गृह-कार्य में सम्पूर्ण संलग्ना, प्रेम-प्रवण माँ के स्नेह का सरोवर सूख गया है और वह घर की उपेक्षा कर दुःख-मोचन भगवान की ओर झुक गई है;[3] स्वस्थ-सुन्दर-सुशील, परी-सी लगने वाली भाभी, अनवरत अतिरिक्त-कार्य से एनीमिया की मरीज हो गई है[4]; पाँच वर्ष से प्रतीक्षा कर रही [illegible] प्रेयसी कुन्ती को 'बुद्धि की टी० बी०' हो गई है;[5] गौरैया की तरह घर में उछलने-कूदने-नाचने वाली चंचला बहिन वीना प्लूरिसी और टी० बी० से खोखली हो गई है;[6] और दृढ़ निश्चयी, शक्तिशाली और कर्तव्यपरायण भैया रूखे, चिड़चिड़े, जर्जर, चूर और एकांत-प्रिय हो गए हैं;[7] राजू, मीना, कुंवर-जैसे बच्चों के चेहरों से भी मुस्कान नहीं, बीमरी टपक रही है, वे फटे कपड़ों, और अतप्त लालसाओं में बिलबिलाते नज़र आते है।[8] सजीव प्राणी ही नहीं. जड़ वस्तुएँ भी क्रूर परिवर्तन का शिकार हो चुकी है। और घर की दुर्दशा पर मुहर लग रही है—घर का "कमरा, दीवारों का उखड़ा प्लास्टर, टूटी मेज़ें, टूटी कुर्सी, टूटी तस्वीरें, गुसलखाने का फटा पर्दा, गन्दा बिस्तर, काली नाली जर्म्स, बीमारी, रसोई से उठता धुआँ, पुराने जूते, क्रीम की खाली शीशी, पाउडर का खाली डिब्बा, सुमन तारा की चौपट तस्वीर, आँगन में कूड़े का ढेर, टूटी सायकिल, आँधियला गलिहारा, अम्मा का कमरा, बाबू के कमरे की खिड़की, सूखे पेड़, फाटक का पेंट" सभी जैसे अपनी मूक व्यथा-कथा कह रहे है।[9]

वसन्तकुमार प्रातःकाल घर पहुँचता है और सारा दिन सबसे मिलते-जुलते

---

१. इलाचन्द्र जोशी : "चाँदनी के खंडहर" की भूमिका, पृ० ५-६।

२. पृ० ११२-१३। ३. पृ० ११३-१५। ४. पृ० १०८-११। ५. पृ० ११८-११९। ६. पृ० १०५-६। ७. पृ० १०६-७। ८. पृ० ११६-१७। ९. पृ० ३६, १२१।

ओर देखते, उसे घर की ध्वंसोन्मुख स्थिति सहज-स्पष्ट होती चली जाती है। बहिन बीना की बिगड़ती बीमारी उसे चाँदनी रात में भी चैन नहीं लेने देती। बेचैनी उसके चिंतन को आलोड़ित कर देती है और वह पाता है कि इस समग्र दुर्दशा का एकमेव कारण वह स्वयं है। उसके पाँच वर्ष की पढ़ाई का खर्चा-जुटाने में ही सारा घर जर्जर हो गया है, मानों स्वयं उसने 'घर को नज़र लगा दी है' वह इस 'भीषण सत्य' का साक्षात्कार करता है कि बेटे की नज़र माँ-बाप को, भाई की नज़र बहिन को, देवर की नज़र भाभी को, भाई की नज़र भाई को, और प्रेमी की नज़र प्रेमिका को लग गई है।[१] परन्तु घर-भर की आँखें अकेले उसी पर लगी है, वही उनका एक मात्र सहारा है। दिन भर में अनुभूत घर की घातक दुर्दशा और पश्चाताप की पीड़ा में सुलगता वह 'टूटी-फूटी' विशृंखल नींद में सोता है पर छटपटाते स्वप्नों में जागता है,[२] और देखता है अपनी कलकल्पनाओं की चाँदनी के खण्डहरों को। चाँदनी किसको नहीं भाती ? पर खण्डहरों—और अपने ही घर के खण्डहरों—के ऊपर की चाँदनी किसको सुहाती है ? वह तो रुलाती है—"इस चाँदनी से तो डर लगता है, बर्फ सी ठंडी, पत्थर सी जड़ यह चाँदनी कितनी भयानक है। यह वीरान, कितनी मनहूस है यह खामोशी। एक आवाज़ तक नहीं सुनाई पड़ती। अरे कोई है ? कोई सुनता है ? कोई नहीं बोलता, कितनी अजीब जगह है यह ? कितनी अजीब।

"और यह खंडहर किस के हैं ? अरे यह तो मेरा मकान है।"[३] निराशा की वीरान भयानक रात वसन्त को आतंकित करती है, मानों उल्लू की 'कर्र कर्र कर्र' ध्वनि के रूप में बोल कर उसे डगमगाती है। पर वसन्त की शक्ति उस निराश बुज़दिल उल्लू से तादात्म्य नहीं कर सकती थी जो दिन की रोशनी में खंडहरों की ओर देखने की हिम्मत नहीं करता और रात के अंधेरे में ही आँखें खोलता है—सबसे अलग, अकेला, निराश्रित, अजनबी की तरह" ![४] स्वप्न में ही वह सारे घर को पहले की ज़िंदगी ला देने का वज्र-निश्चय करता है। अपने को मिटा डालने के अदम्य साहस के बल पर वह उद्घोष कर सकता है—"मेरे रास्ते में रोड़ा बनकर अगर कोई व्यक्ति आएगा तो उसका सिर कुचल दूँगा, समाज आएगा तो उसे चूरचूर कर दूँगा, सरकार आएगी तो उसे उलट दूँगा। मैं ईश्वर से भी लड़ने के लिए तैयार हूँ। तुम्हारे सुख सपने जहाँ भी होंगे मैं तुम्हें ला दूँगा। मुझ पर विश्वास करो।"[५] इस विजयभरी चुनौती के साथ ही उसकी आँखें खुल गयीं और वह गुनगुना उठा—"तो ज़िन्दगी का नया दिन शुरू हो गया।"[६] उपर्युक्त स्वप्न, स्वप्न ही नहीं, वास्तविकता का प्रतिरूप है। ऐसा क्रांतिकारी आक्रोश वह पहले भी प्रकट कर

१. पृ० १०४-२०। २. पृ० १२१।
३. पृ० १२१। ४. पृ० १२० तथा १२५। ५. पृ० १२६। ६. पृ० १२७।

चुका है। वह तारा से कहता है—"किसने तुम लोगों को यह दशा कर दी। बोलो। यदि वह कोई आदमी हो तो मैं उसका गला घोंट दूँ, सरकार हो तो उलट दूँ, ईश्वर हो तो उसके मुख पर थूक दूँ।"[१] "अपने जीते जी अब में घर की इससे खराब दशा न होने दूँगा···जल्द ही पहले की तरह हो जाएंगे।"[२] इस तरह एक दिन-रात के सीमित समय में मध्यवर्गीय परिवार की गिरती शोचनीय दशा का यथार्थ चित्रण कर, संघर्ष के संकल्प और तज्जनित आशा के आलोक के साथ इस उपन्यास का अन्त हुआ है। उपन्यासकार की सारी कुशलता इसी में है कि वह पाठकों को निम्न-मध्यवर्ग की दुरावस्था का यथार्थ तथा तीखा अनुभव कराने, और संवेदनाओं को स्पन्दित करने में सफल हो सका है। उसका सारा शिल्प-कौशल इसी में सहायक हुआ है।

नायक वसन्तकुमार को लंदन-भेजने और पाँच वर्षों के बाद उसकी वापसी में लेखक के ये उद्देश्य हो सकते हैं—१. मध्यवर्ग की वह मनोवृत्ति स्पष्ट होती है, जो अपनी चादर को देखकर पाँव नहीं फैलाती और अपनी बड़ी-बड़ी आकाँक्षाओं की पूर्ति में ही मुसीबत मोल लेती है। साधनों के अभाव में, वसन्त को लंदन-भेजने में यही मनोवृत्ति चरितार्थ हुई है। वसन्तकुमार पछताता है कि वह लंदन क्यों गया, उसे घर की दुर्दशा की खबर क्यों न दी गई।[३] २. मध्य वर्ग की आर्थिक स्थिति में द्रुत गति से आनेवाली विकृति का विश्लेषण विशेष कालावधि के पश्चात् भली-भाँति हो सकता था। पाँच वर्ष के बाद आया वसन्तकुमार घर की परिवर्तित दशा की अनुभूति सहज में कर लेता है और उसकी वेदना, तारा की स्वीकारोक्ति में, मध्यवर्ग की हर घड़ी बदलती दशा का साक्षात्कार कर लेती है—"मुझे भी यही कभी-कभी लगता हैं कि हम सभी बदल से गए हैं। हर घड़ी बदल से रहे हैं।"[४] मध्यवर्ग तेज़ी से बदल रहा है, इसलिए तारा समझ ही नहीं पाती कि यह परिवर्तन कब और कितने दिनों में हुआ है :—"हम बदल गए हैं यह ठीक है और मालूम है, किन्तु हम क्यों बदले ? कब से हमारा बदलना शुरू हुआ ? कितने दिनों में और कितना हम बदले ? यह पता नहीं।"[५] ३. इस परिवर्तन के आन्तरिक और बाह्य प्रभाव की तीव्रता और गहराई दिखाना। परिवार के किसी अन्य व्यक्ति के माध्यम से इस प्रकार की तीव्रता और गहराई नहीं व्यक्त की जा सकती थी, क्योंकि वह स्वयं बदलने की प्रक्रिया का अंग होने के कारण बहुत-कुछ उसका अभ्यस्त हो जाता, उसे वसन्त की तरह एकसाथ ही इतना बड़ा परिवर्तन देखने, झेलने या अनुभव करने को नहीं मिलता। लम्बी अवधि के बाद उम्मीदों की एक नई दुनिया साथ लेकर लौटा हुआ व्यक्ति जितनी तीव्रता और गहराई से इसका अनुभव कर सकता है, उतना उस

१. पृ० ४४। २. पृ० ५१। ३. पृ० ५२। ४. पृ० ४६। ५. पृ० ४६।

परिवर्तन को नित्य देखने या झेलने वाला व्यक्ति नहीं ।[1] प्रमाण-स्वरूप पाँच वर्ष के बाद आने वाले वसन्तकुमार को घर की परिवर्तित दशा सवेग आलोड़ित कर देती है किन्तु परिवर्तन-प्रक्रिया की अंग होने के कारण तारा केवल चिन्तनपरक विश्लेषण ही करती रह जाती है—"मुझे भी यही कभी-कभी लगता है कि हम बदल से रहे हैं"[2]—मानों उसे अपने बदलने पर अब भी सन्देह हो । एक और कारण भी है । पाठकों को प्रभावित करने के लिए ऐसा किया जा सकता था कि लेखक नायक के बहुविध कार्यों, या उसके जीवन की सम्भावित घटनाओं का वर्णन करता पर इसमें उपन्यास की सघनता-तीव्रता को क्षति पहुँचती । इसलिए लेखक ने नायक में तीव्र मानसिक आलोड़न-विलोड़न को चित्रित कर अभीष्ट प्रभविष्णुता लाने में अपने कौशल की सफलता सिद्ध की है । तीव्र मानसिक द्वन्द्व के लिए जैसी मनःस्थिति तथा परिस्थिति अपेक्षित होती है, वह पहले ही दिन सम्भव थी ।

उपन्यासकार के संवेदनोद्बोधन का प्रमुख आधार है पीड़ित वसन्तकुमार-परिवार । परन्तु एक ही मध्यवर्गीय परिवार के चित्रण को मध्यवर्ग का प्रतिनिधि-चित्र शायद न कहा जा सकता, इसलिए लेखक ने वसन्तकुमार के एक दिन के स्वाभाविक दैनिक कार्यक्रम में ऐसे प्रसंगों तथा पात्रों को भी समाविष्ट किया है, जिनसे इस उपन्यास में व्यापकता आ गई है । आठवें परिच्छेद में वसन्तकुमार का बालमित्र जगदीश उसे मिलने आता है । वह १३२ रुपए महीने का क्लर्क दफ्तर को 'नर्क' और घर को 'मछलीबाज़ार' बताता है । घर की दुर्दशा से वह ऊब चुका है और सिगरेट छोड़कर बीड़ी पीने लग गया है । इस मित्र से मिलकर वसन्तकुमार की वेदना और गाढ़ी होती है—उसका 'फटा पाजामा, टूटी चप्पल आधी बाँह की फटे कालर की कमीज़, बिखरे बाल, बढ़ी दाढ़ी, पिचके गाल, फड़कते होंठ, रह रह कर भभक उठने वाली धंसी आँखें, तेज आवाज़, गालियाँ, बीड़ी का धुआँ, सभी मिल जुलकर एक मुर्दा साँप के गीले बदन से उसके (वसन्त के) चारों ओर लिपटने लगते हैं । वसन्त को जगदीश से ही अन्य मध्यवर्गीय मित्रों का समाचार मिलता है । मोहन-जैसा लायक लड़का 'कम्पीटीशन' के 'इम्तहान' वालों की 'बेइमानी' का बार-बार शिकार होता है, परन्तु निराश होकर भी हिम्मत नहीं हारता और अपने शिक्षित तथा नागरिक होने के अभिमान को छोड़कर खेती करने लगता है । एक अन्य मित्र भैरों ने आजीविका के तथाकथित सभ्य साधनों से निराश होकर पान और साइकिल का पंचर लगाने का काम कर लिया है । एक दूसरा मित्र जग्गू मुनीमी करता है पर अपने मिल-मालिक के शोषण, और अपनी बहिन की शादी के लिए विपुल दहेज

---

१. ब्रजविलास श्रीवास्तव : "आलोचना" सं० १७, पृ० ४२ ।

२. पृ० ४६ ।

जुटाने में असमर्थ होकर, निराश हो चुका है। इस व्यापक दुर्दशा के कारण जगदीश पूंजीपतियों पर निर्मम प्रहार करता है; कहता है :—"इन सब तोंदवालों को हाथ पैर बाँध कर चित लिटा दे, फिर इनकी नाभी में छेद कर के उनमें बारूद भरे, और दियासलाई लगाकर उड़ा दे। साले चोर भ्रष्टाचारी ब्लैक मार्केटियर।"[१] सारांश में, इस आठवें अध्याय की सार्थकता निम्न विशेषताओं से है—१. लेखक ने मध्यवर्गीय दुर्दशा का सामान्यीकरण किया है, जो अनिवार्य था। २. उसने सरकारी महकमों में फैले अनाचार, सरकार की दूषित आर्थिक नीति, पूंजीपतियों की शोषक मनोवृत्ति—शास्त्रीय शब्दावली में देश के 'वातावरण'—को व्यंजित कर, मध्यवर्ग के चित्रण को वास्तविक बनाया है। ३. नवयुवकों को मध्यवर्गीय दिखावे की मनोवृत्ति को छोड़कर आजीविका के दूसरे निम्न साधनों की ओर प्रेरित किया है। ४. लेखक ने वसन्तकुमार की विद्रोहिणी प्रवृत्ति का भी सामान्यीकरण किया है और क्रान्ति का आह्वान किया है। इन विभिन्न प्रसंगों से नायक की वेदना को बढ़ा कर द्वन्द्व को तीव्र किया गया है और उपन्यास के समष्टि-प्रभाव को और भी घनीभूत।

उपर्युक्त निष्कर्षों की दृष्टि से कुछ अन्य उदाहरण भी उल्लेखनीय हैं। वसन्तकुमार शाम को अपनी प्रेयसी कन्तो से मिलने के लिए जाता है और अनुभव करता है कि उसका परिवार भी आर्थिक दुर्दशा से छटपटा रहा है। इसीसे कुंती के माँ-बाप का स्वभाव भी विकृत हो गया है।[२] इसी अवसर पर लेखक ने एक फटेहाल शिक्षित युवक को हथकड़ी लगे दिखाया है। इसका भी लक्ष्यानुकूल उपयोग करते हुए वह लिखता है :—"इसके झुके कंधों से मालूम पड़ता है कि उसके ऊपर बहुत सी जिम्मेदारियाँ हैं। उसका पिचका हुआ सीना कह रहा है कि उसने काफी चोटें झेली हैं। मुख-मुद्रा बता रही है कि वह अपनी स्थिति से सन्तुष्ट नहीं है। वह बार-बार मुट्ठियाँ बाँध रहा है। इस युग के सरकारी तथा ग़ैर-सरकारी शोषण और अत्याचारों का मासूम शिकार मालूम पड़ता हैं।"[३] इस प्रसग की वेदना को और बढ़ाने के लिए लेखक शिशु कुंवर से कहलाता है— "लेकिन यह तो बिल्कुल पापा की तरह है। बेचारा भूखा है। सिपाही बड़े खराव हैं।"[४] वापसी पर वसंत जिस टांगे से घर जाता है, उसका भी मार्मिक उपयोग हुआ है। वसन्त टांगे वाले को गाने के लिए कहता है, और जवाब में टांगे वाला दिन-प्रति दिन बढ़ती मंहगाई से अपने घर की मरणासन्न स्थिति का वर्णन करता है[५], बहुत कहने पर जब वह गाता है तो उसकी आवाज़ रात में रोती बिल्ली की तरह विलाप करती प्रतीत होती है।[६]

१. पृ० ६२। २. पृ० ७४-७५। ३. पृ० ६७ ४. पृ० ६८।
५. पृ० ८६। ६. पृ० ८७।

टांगे वाले की तरह, वसन्तकुमार के पिता ने भी बढ़ती महँगाई का तुलनात्मक विश्लेषण किया है —"मेरे लड़कपन में रुपए का चौबीस सेर गेहूं मिलता था। रुपए का दस सेर बढ़िया चावल था। एक रुपए में सोलह सेर दाल मिलती थी। चार पैसे की तरकारी में दोनों बेला सारा घर खाता था। पंद्रह रुपए में घर का सारा खर्च महीने भर चलता था। अब तो दो सौ रुपए में भी पूरा नहीं पड़ता।'''''रुपए का पौने दो सेर गेहूँ, रुपए का दो सेर चना, रुपए की डेढ़ सेर दाल, रुपए का सेर भर चावल ; चार आने सेर कम कोई साग सब्जी नहीं। दूध दही घी फल मेवा मिठाई, कपड़ा, हर चीज़ इतनी महँगी।"[१] वसन्तकुमार के पिता को यह विश्वास नहीं कि इतना पढ़ाने के बाद भी वसन्त को कोई अच्छी नौकरी मिल सकेगी; कारण बताते हुए वे कहते हैं — "सुनते हैं सरकारी नौकरी में तो जब से यह नयी सरकार आई है बड़ी धाँधली हो रही है। .. सिफारिश के बल पर ऐसे ऐसे लड़कों को आज कल नौकरियाँ मिल रही हैं जो बिल्कुल गधे हैं . ।.. जो वास्तव में योग्य हैं सिफारश न होने के कारण आज पचास रुपए की भी नौकरी नहीं पाते। बेकारी दिन प्रति दिन बढ़ रही है। और .. भी तरह-तरह नयी-नयी बुराइयाँ पैदा हो रही हैं। जो हाल आज हमारे देश का है वह किसी भी अन्य देश में किसी भी समय देखा-सुना नहीं गया है। इतिहास गवाह है। कब तक दुख-दर्द अत्याचार सहेंगे ये पढ़े-लिखे, सोचने-समझने की शक्ति रखने वाले देश के करोड़ों जवान लड़के जिन्हें आज उनके अधिकार नहीं दिए जा रहे हैं, खून गर्म है उनका, कहीं किसी दिन कुछ ऐसा न कर बैठें जो देश के लिए अहितकर हो।

"कोई देखनेवाला नहीं है। सब अपने में डूबे हैं। लूट पाट नोच खसोट, जिसको जो मिला लेकर भागा, जिसने मौका देखा दूसरे का गला धर दबाया। बस अपना ! अपना ! अपना ! यही नारा हो गया है आजकल। ' ' नैतिकता की अर्थी उठ चुकी है, यही हाल रहा तो कुछ दिनों में घर-घर पर खून का झंडा फहराएगा ! क्रांति हो जाएगी ! ! क्रांति ! ! ! अच्छा हुआ ऐसा होने से पहले ही तू लौट आया रे वसंता।"[३] इस तरह लेखक ने मध्यवर्ग की दुर्दशा का चित्रण ही नहीं, विश्लेषण भी किया और भावी क्रांति का संकेत भी दिया है। लेखक ने एक-एक पल, तथा प्रत्येक प्रसंग से मध्यवर्ग की दुर्दशा को संकेतित कर, नायक की द्वन्द्व-पीड़ा को इतने सहज-क्रमिक रूप से विकसित तथा घनीभूत किया है कि उपन्यास के अन्त तक पहुँचते-पहुँचते वह विस्फोटक हो उठी है : और वहीं, क्रांतिकारी संकल्प के साथ, उपन्यास का अन्त हो गया है। उद्देश्य की ऐसी एकोन्मुखी सजगता तथा अन्वित विस्तार कम उपन्यासों में मिलता है।

---

१. पृ ५४-५५। २. पृ० ५४। ३. पृ० ५४।

नायक के घर-पहुँचने के आरम्भिक उल्लास को अतिरंजित रूप में चित्रित किया गया है, ताकि वह घर की वेदना को और भी तीव्रता से अनुभव कर सके। इस प्रभाव-तीव्रता के लिए लेखक संगीत की पद्धति पर चला है। एक, उसने विसदृश पात्रों को एक ही मध्यवर्गीय समस्या से उलझाया है। दूसरे, नायक के घर की पूर्वापर स्थिति की बार-बार तुलना की गई है, ताकि विषमता की तीखी अनुभूति हो सके। तीसरे, उपन्यास के अन्त में नायक की दिन-देखी बातों की, रात में स्वप्न के रूप में, पुनरावृत्ति की गई है। चौथे, संघर्ष को तीव्र करने के लिए, निराशा बढ़ाने वाली विरोधी शक्तियों का बार-बार अट्टहास-सूचक ध्वनि—हा हा ही ही हा—से मूर्तन किया गया है। पाँचवें, पुनरुक्ति-शैली का विशेष विस्तार किया गया है—घर के एक-एक व्यक्ति तथा वस्तु की शोचनीय स्थिति की आवृत्ति करते हुए बार-बार सबका योग किया गया है। वेदना-विवृति करने वाले एक ही वाक्य को अनेक बार दुहराया गया है। वस्तुतः एक ही प्रकार की स्थिति तथा शब्दावली-विशेष की पुनरावृत्ति से उपन्यासकार ने 'संगीतात्मक' प्रभावों की सृष्टि की है। संगीत में जैसे स्वरों की पुनरावृत्ति होती है, वैसा ही यहाँ भी है, जिससे वसन्त कुमार की आलोड़ित चेतना का मूल स्वर विशेष प्रभाव के साथ व्यक्त हुआ है।

इस उपन्यास की शिल्प-सफलता का रहस्य चरित्र, कथावस्तु तथा उद्देश्य की अद्भुत एकता में निहित है। लेखक को न किसी निश्चित आरम्भ-अन्त वाली, या बाह्य घटना-चमत्कार-युक्त, या शृंगारिक त्रिकोणात्मक कथावस्तु के निर्माण की आवश्यकता पड़ी है, न बाहर से उद्देश्य-आदर्शों के आरोपण की विकलात्मक ज़रूरत। वसन्तकुमार के एक दिन का परिस्थिति-सापेक्ष वेदना-जन्य तीव्र अन्तस्संघर्ष अपने-आप में इतना मार्मिक है कि वह कहानी बनने तथा मध्यवर्गीय विषमता का कारण-सहित उत्कट अनुभव कराने में सक्षम है। प्रथम परिच्छेद की उल्लासमयी स्थिति के बाद एक-एक व्यक्ति, एक-एक वस्तु तथा उपन्यास के एक-एक प्रसंग ने वसन्तकुमार के भावुक उल्लास को वेदना में परिवर्तित कर तीव्रतर से तीव्रतम किया है—स्वयं चरित्र ने व्यथा-कथा बन कर हमारी संवेदना को गति-दिशा दी है। आद्यंत वही कथा-केन्द्र है—न कोई इतर पात्र है, न कोई निरपेक्ष प्रसंग और न कोई स्वतन्त्र उद्देश्य। चरित्र ही कथा है और वही संवेदनाधार। आद्यंत समन्विति ने अन्त में अचूक प्रभावान्विति ला दी है। यह समझ लेना आवश्यक है कि यहाँ समन्विति है, किन्तु समृद्ध समन्विति की अपेक्षाकृत कमी है, जो बहुविध अनेकता में एकता लाने से होती है। इस दृष्टि से 'सूरज का सातवाँ घोड़ा' से इसकी तुलना हो सकती है। उसका प्रभाव इतना तीव्र चाहे नहीं, किन्तु व्यापक अधिक है।

मध्यवर्गीय वेदना-विवृत्ति के लक्ष्य में एकोन्मुखता का पालन करते हुए भी

लेखक उन सहज मानवीय सम्बन्धों तथा भाव-मनोविकारों को नहीं भूला, जो जीवन-कथा के निर्माण के लिए आवश्यक होते हैं। इनको लेकर ही कथा स्वाभाविक बन पाती है, और हमारा मर्म-स्पर्श करती है। लंदन से वापसी पर वसन्तकुमार का अपार हर्ष, घर पहुँचने की व्यग्राकुल उत्सुकता, घर-पहुँच कर माता-पुत्र का वात्सल्यमय रुदन तथा परिवार के अन्य सदस्यों से भावावेशमय मिलन, अम्मा का सरल उलाहना, देवर-भाभी के मिलन पर बड़े भैया की शृंगारिक नोंक-झोंक, 'घोंघा वसन्त' का मज़ाक और वसन्त की झेंप, बाबू का उन्मादमय मिलन,

'चाचा को चाय, बाबा को पकौड़ी
मम्मी को टेंगा, पापा को कानी कौड़ी'

कह कर मीना का हँसना, वसन्त का यथायोग्य तोहफे लाना, भाभी का घर की वस्तु-स्थिति को बहानों से छिपाना, शिशुओं के भोले-प्रश्न, स्वयं वसन्त की विचित्र स्वगतोक्तियाँ तथा प्रेयसी-सम्बद्ध रोमानी शृंगारिकता के प्रसंगों में अपना-अपना सौन्दर्य है।

वसन्तकुमार का विचित्र-चरित्र स्वयं अपने-आप में रोचकता का विषय है। इलाचन्द्र जोशी लिखते हैं---"अणु-युग के युवक की प्रकृति में जो वैचित्र्य दिखाई देता है, उसके कई रूप हमारे सामने आते हैं। इस कोटि का युवक ऊपरी विचार और व्यवहार में 'जोकर' की तरह लगने पर भी भीतर से गंभीरता कायम रखता है; अपने प्रेम के छिछलेपन का मज़ाक स्वयं उड़ाते हुए भी उसकी तीखी पीड़ा का अनुभव करके रोता है; पुराने नैतिक आदर्शों के अनुसार जो बातें और जो हरकतें अशिष्ट और असभ्य मानी गई है उन्हें बच्चों की सी निश्छलता से पूर्णतया अपनाते हुए भी वह हयादार है--उसे एकांत कमरे के सामने भी अपना हृदय उभाड़ने में 'शरम लगती है'; वह बाहर से निर्द्वन्द्व लगने पर भी भीतर से विविध द्वन्द्वों का शिकार बना रहता हैं। अपनी जिस प्रेयसी से मिलने के लिए उसका अणु-अणु विकल रहता है उससे भेंट होने पर वह अपने भीतर की पीड़ा को गंभीरता से प्रकट करने के बजाय कभी प्रेयसी का मज़ाक उड़ाता है, कभी मीठी चुटकियाँ लेता है, और कभी बच्चों के-से खेलवाड़ करता है। अपनी मार्मिक भावनाओं की अभिव्यक्ति का एकमात्र यही ढंग उसे मालूम है। लफंगा लगने पर भी वह कल्चर्ड है, अनुभूतिहीन जान पड़ने पर भी सहृदय है।

"आज के युग के ऐसे जटिल-प्रकृति नायक की अवतारणा श्री गिरिधर गोपाल ने प्रस्तुत लघु-उपन्यास में की है। गिरिधर जी की प्रतिभा की यह बहुत बड़ी विशेषता है कि ऐसे रहस्यमय चरित्र का चित्रण उन्होंने आश्चर्यजनक कुशलता के

साथ किया है। उन्होंने अन्त तक उसके निर्वाह में पूरी सफलता पाई है।"[1]

उपन्यास का आरम्भ नाटकीय दृश्य का-सा आभास देता है। यहाँ वर्तमान शैली का प्रयोग है। इस शैली का प्रयोग साभिप्राय है—लेखक वसन्तकुमार के उल्लास के साथ पाठकों को भी वहाँ ले जाना चाहता है, इसलिए भुतकालीन शैली के प्रयोग से उसने दूरी की सृष्टि नहीं की। इसमें लेखक सफल रहा है।

इस प्रथम परिच्छेद में नायक की भावावेशमयी स्थिति के अनुकूल चेतना-प्रवाह-पद्धति का-सा[2] उपयोग है। मनोविज्ञान के अनुसार चेतना टुकड़ों में कट कर उपस्थित नहीं होती इसमें कहीं जोड़ नहीं, यह प्रवाहमय होती है। भावावेशमयी स्थिति में प्रवाह का सातत्य और भी अविच्छिन्न होता है। अतएव लेखक ने नायक की विशेष मनःस्थिति के अनुकूल इस पद्धति का ऐसा आभास दिया है कि वसन्त के स्टेशन के सन्निकट आने से लेकर घर-पहुँचने तक का मार्ग अनेक लहरें लेती हुई द्रुतगामी नदी का-सा लगता है। पाठक भी उसके साथ बहता चलता है और शैली भी। लेखक पात्र की उल्लासमयी स्थिति के साथ पाठक की मानस-गति के संतुलन से 'टैम्पो' की सृष्टि में सफल हो सका है।

इसीलिए प्रवेगानुकूल लेखक ने लघु-लघु वाक्यों—जो एक शब्द के भी है—तथा विभक्ति-रहित स्फुट वाक्यों का विशेष प्रयोग किया है। लेखक की शैली मनःस्थिति के वर्णन में विशेष सफल रही हैं। इस दृष्टि से प्रथम तथा अन्तिम परिच्छेद तथा वसन्तकुमार की कमरे आदि से कथित स्वगतोक्तियाँ दर्शनीय हैं। प्रसंगानुकूल संयत कवित्व भी इस शैली की विशेषता है। नई उपमाओं के साथ, प्रायः सभी उपर्युक्त विशेषताओं को चरितार्थ करने वाला, प्रथम परिच्छेद का निम्न उदाहरण द्रष्टव्य है—"और मौसम भी कम रंगीन नहीं है। गुलाबी जाड़ा, ऐसा जो अच्छा लगे। फरवरी का पहला हफ्ता। सवेरे का समय। मन्द मन्द झूमते हुए पेड़ों के सिर स्वर्ण मुकुट। जगमगाते हुए हल्के नीले कोहरे से ढँका शहर, पत्तियों से छनकर थिरकती धूप, जैसे गोरी के गाल की गर्माहट। ओस से भीगी सद्यः स्नाता धरती का सिंगार किरणें। चिड़ियों का आर्केस्ट्रा। सुरभित हवा के अलमस्त झकोरे। उसका (वसन्त का) मन निकल निकल जाता है, जैसे हाथ से पारा।...

"फैल्ट हैट उतारकर उसने जाँघ पर रख ली है।' जाँघ पर। जैसे प्रेयसी का सिर' चुप बदतमीज़। हँसी आ रही है। एक मीठे आनन्द की लहर में डूबा हुआ है वह। बदन में गुदगुदी। आँखों में मस्ती। मन झूले पर। बाल हवा में उड़ते हुए।

१. "भूमिका", पृ० ४-५।

२. पूर्णतया नहीं, क्योंकि लेखक बीच-बीच में आकर, पाठकों को पात्रों के अन्तर से सीधे सम्पर्क का अवकाश कम देता है।

"हवा में आक्सिजन होता है। स्वास्थ्य के लिए खूब लम्बी-लम्बी सांसें लेनी चाहिएँ।" स्कूल में मास्टर साहब बतलाया करते थे। लम्बी सांस ले रहा है वह मुस्कराता हुआ।"[१]

सीमित कालावधि में खण्ड-जीवन का चित्रण तथा विषय का एकोन्मुखी गाढ़ बन्धत्व स्वभावतया आकार की लघुता की ही मांग कर सकता था, और 'चांदनी के खण्डहर' भी तदनुकूल लघु-उपन्यास है। उस उपन्यास की अल्पकायता प्रभाव-घनत्व में निश्चित सहायक सिद्ध हुई है। समग्रतः 'चांदनी के खण्डहर' सीमित समय, सिम्फनी (गीति-बन्ध) तथा मनोविश्लेषणात्मक शैलियों आदि के सामंजस्य पर आधारित एकांत नूतन शिल्प-प्रयोग है। यहाँ तीव्रानुभूति तथा तदनुकूल शिल्प एक दूसरे में ऐसे खो गये हैं कि उनके पृथक्त्व की पहचान नहीं हो सकती --लक्ष्य एवं अनुभूति पूर्णतया शिल्प में खर्च हो गई है, और शिल्प केवल इन्हीं को व्यंजित करता है समन्विति ही इस रचना की सफलता का रहस्य है। दूसरे लेखक ने इस उपन्यास की प्रवेग तीव्रता को बनाए रखने पर दृष्टि रखी है जिस से इस उपन्यास का प्रभाव और भी बढ़ गया है। संक्षेप में यह प्रवेगता इन कारणों से आई है :—

१. एक के बाद एक, अनेक करुण स्थितियों के विनियोग से प्रवेग-तीव्रता आई है।

२. इन सबकी प्रतिक्रिया को एक ही पात्र में सतत संबंधित करते जाने से टैम्पो तीव्र हुई है।

३. इस पात्र के भाव-विकास को चरम पर ले जाकर उपन्यास समाप्त कर दिया गया है ताकि प्रवेग शिथिल न हो। और यह सिद्धि सीमित-समय-शिल्प तथा उपन्यास अल्पकायता की विजय है। जैसे संगीत की समाप्ति पर भी स्वर-लहरियों की अनुगूंज बनी रहती है वैसे ही इस उपन्यास की समाप्ति का प्रभाव आन्दोलित करता रहता है।

४. लेखक की गीतिबन्ध शैली एवं लघु-लघु वाक्यों की भाव-प्रवण शक्ति भी इस टैम्पों के निर्वाह में सहायक रही है।

यह कहने की आवश्यकता नहीं कि प्रवेग-सातत्य के निर्वाह में लेखक की प्रबल अन्तस्थ प्रेरणा का कितना योग हो सकता है; किन्तु यह उल्लेखनीय है कि कार्ल० एच० ग्रेबो ने इसे शैल्पिक सिद्धि[२] कहा है। भाव-प्रवणता तथा इस प्रवेग-तीव्रता से

---

१. पृ० १०-११।

2. "The Technique of the Novel," p. 214. "The basic problem of tempo is a purely mechanical one."

उपन्यास में अमोघ प्रभविष्णुता[1] आ गई है। हिन्दी में उपन्यास के संगीतीकरण का यह अनोखा उदाहरण है। कहीं-कहीं अतिरंजना या भावुकता अवश्य अखरती है।

सोया हुआ जल

'सोया हुआ जल' सर्वेश्वरदयाल सक्सेना का पहला उपन्यास है। सर्वेश्वर जी सन् १९४३ से कहानीकार के नाते आ चुके थे, १९५० में उन्होंने कविता लिखना आरम्भ किया और १९५५ में इस रचना द्वारा उन्होंने उपन्यास-क्षेत्र में प्रवेश किया। उनकी कहानी-कविता की प्रायोगिक प्रवृत्ति इस पहले उपन्यास में और भी बढ़ी-बढ़ी हुई है। आकार की दृष्टि से 'सोया हुआ जल' पचास छोटे पृष्ठों का, हिन्दी का लघुतम उपन्यास है—जैसे लघु-लघु कहानी (short-short story) होती है, वैसे ही, यदि माना जाए, तो यह लघु-लघु उपन्यास है। उपन्यास के शीर्षक के नीचे कोष्ठबद्ध रूप में इसे 'सम्पूर्ण लघु उपन्यास' कहा गया है।[2] यही नहीं, कुछ नाटकों के अभिनय-समय के समान यहाँ पाठ्यकाल—एक घंटा दस मिनट—भी दिया गया है।[3] यद्यपि स्वयं लेखक तथा 'निकष' के सम्पादक-आलोचकों—धर्मवीर भारती तथा लक्ष्मीकांत वर्मा—ने इसे उपन्यास ही कहा है[4], किन्तु अन्य आलोचकों में मतैक्य नहीं—कोई इसे उपन्यास मानता है, कोई इसे उपन्यास कहकर भी, साथ ही 'या' रूप में किसी और विधा का नाम दे देता है और कोई इसे उपन्यास की बजाय किसी अन्य विधा में रखने की सिफारिश करता है। ब्रजविलास श्रीवास्तव 'सोया हुआ जल' को उपन्यासों के अन्तर्गत "बहुत ही मौलिक और महत्वपूर्ण प्रयोग" कहते हैं।[5] डॉ० प्रभाकर माचवे इसे उपन्यास न मानने वालों का निराकरण करते हैं।[6] 'अज्ञेय' इसे "लघु-उपन्यास" या "लम्बी रूप-कथा" मानते है।[7] गिरिजाकुमार माथुर पहले इसे 'फीचर' के निकट कहते हैं और आगे ही "उपन्यास कहने की बजाय वार्तालाप-शैली में लिखित एक प्रतीकात्मक दृष्य-रूपक कहना अधिक उचित" समझते हैं।[8] डॉ० शिवनारायण श्रीवास्तव "नवीन रूप-शिल्प-प्रयोग की आकांक्षा ही

१. "The Technique of the Novel," p. 214. "By the absolute certainty of tempo, the story is made to gather momentum until it rushes to its appalling close."

२. "निकष" संख्या १, पृ० १७१। ३. वही, पृ० १७२।

४. वही, संख्या १, पृ० १७० तथा १७१ के मध्यवर्ती बिना संख्या के दो पृष्ठ।

५. "आलोचना" संख्या १७, पृ० ४३। ६. "साहित्य-संदेश" (आधुनिक उपन्यास अंक) जुलाई-अगस्त १९५६, पृ० ५०। ७. "काठ की घण्टियाँ" की 'भमकिा', पृ० ५। ८. "आलोचना" संख्या १७, पृ० १३४।

इस कृति की मूल प्रेरिक वृत्ति" मानते हैं और सुझाव देते हैं कि यदि कृति को उपन्यास कहा जाय तो उपन्यासों का नया वर्गीकरण करना होगा और सम्भव है कभी नाटकों को भी उसी के अन्तर्गत समेट लिया जाय।"[1] हमारे विचार से 'सोया हुआ जल' रूपकात्मक तो है किन्तु (दृश्य-) रूपक नहीं। लेखक ने उपन्यास के पूर्व 'पाठ्य काल' से सचेत अथवा अचेत रूप से एक महत्वपूर्ण तथ्य की ओर इंगित किया है; क्योंकि इस रचना का वास्तविक आनंद पढ़ कर ही प्राप्त किया जा सकता है, रेडियो रूपक (feature) की तरह सुनकर नहीं, और न ही दृश्य-रूपक की तरह कुछ देख और कुछ सुन कर। वस्तुतः इसकी अंतर्मनोद्घाटन की प्रतीकात्मक स्वप्न-पद्धति, सांकेतिकता आदि विशेषताएँ सारांश में जटिलता - इस उपन्यास के पुनः पठन तक की माँग करती हैं, केवल सुनकर— जिनमें पुनरुक्ति सम्भव नहीं — इसे ग्रहण करना और भी कठिन है। इसके अतिरिक्त नगरकान्तवर्तिन्त्व की कला तथा कुछ गुमनाम पात्रता आदि भी रूपक की प्रकृति के विपरीत है। इसके अतिरिक्त पहरेदार इस उपन्यास के विभिन्न दृश्यों की शृंखला का आधार होते हुए भी फीचर के वर्णनकर्ता या उद्घोषक (Narrator) का स्थानापन्न नहीं हो सकता। उसका तो मूक रहना ही उचित है— वह संवेदना-मापक है। कलेवर की सम्पूर्ण लघुता के होते हुए भी इसमें औपन्यासिक सम्पन्नता है।

संवाद-बहुलता, खण्ड-दृश्य-पद्धति, संकलनत्रय, अल्पकायता इसकी रूपकात्मक विशेषताएँ हैं। अतएव इसे रूपकात्मक उपन्यास कहना उचित होगा।

इस उपन्यास का शीर्षक प्रतिपाद्य-बोधक प्रतीकात्मक है। अपने सीमित अर्थ में यह अचेतन मन का द्योतक है। फ्रायड का मनोविश्लेषण इसी अचेतन की कल्पना पर आधारित है। मनुष्य का व्यक्तिगत-सामाजिक बहिर्जीवन बहुत-कुछ उसके अचेतन मन से चालित और साथ ही नियंत्रित भी होता रहता है। हमारे अन्तर्द्वन्द्वों, बहिराचरणों तथा व्यक्ति-समाज के प्रति क्रिया-प्रतिक्रियाओं की सूत्र-संचालिका अचेतन की कोई न कोई प्रेरणा रहती है। अतएव मनुष्य के व्यक्तिगत जीवन के अभावों तथा सामाजिक समस्याओं के सही हृदयंगम के लिए अचेतन की अज्ञात तथा अर्धज्ञात— मानों सुप्त—प्रेरणाओं को महत्व देना आवश्यक हो जाता है। और 'सोया हुआ जल' का प्रतिपाद्य भी यही है। प्रत्यक्षतः देखने पर चेतन मन जाग्रत रहता है और अचेतन सुप्त —इसी में उपन्यास की अभिधा का संकेत निहित है।

इस अचेतन यथार्थ के साथ 'सोया हुआ जल' में मनुष्य के भीतर से बदलने का आग्रह भी मिलता है। इस सम्बन्ध में 'अज्ञेय' लिखते हैं —"इस भीतर से अभिप्राय केवल अचेतन-यथार्थ से नहीं है, जैसा कि 'सोया हुआ जल' के कुछ अंशों से (और

१. "हिन्दी उपन्यास", पृ० ४३१।

शीर्षक) से भी ध्वनित होता है : 'भीतर' वह है जो बाहर के साथ रागात्मक सम्बन्ध जोड़ता है और उन सम्बन्धों से मूल्यों की अवधारणा करता है। क्योंकि बदलना मूल्यों को बदलता है, इसलिए नये रागात्मक सम्बन्धों की प्रतिष्ठा आवश्यक है और उसके लिए बाहर और भीतर दोनों में क्रांति वांछित है।[1]

अचेतन और भीतरी यथार्थ के उद्‌घाटन एवं महत्व प्रतिपादन के मनोविश्लेषणात्मक लक्ष्य ने ही 'सोया हुआ जल' के समस्त शिल्प-विधान को निर्धारित किया है। इस प्रकार की शिल्पता सर्वथा नूतन है। अचेतन की अभिव्यक्ति उसके अपने अचेतन रूप से नहीं हो सकती, क्योंकि स्पष्टतया वह अचेतन जो है। हम उसका अनुमान केवल व्यक्ति की चेतन अभिव्यक्ति में उमगने वाले प्रतीकों से ही कर सकते हैं; जैसे, संस्मृत स्वप्नों, वाणी-स्खलनों या लेखनी-स्खलनों आदि से।[2] अतएव 'सोया हुआ जल' में स्वप्न-विश्लेषण की पद्धति का प्रचुर उपयोग हुआ है और इसका शीर्षक ही प्रतीक नहीं, कुछ अन्य पात्रों-दृश्यों एवं वर्णनों के आधार पर भी यह प्रतीकात्मक उपन्यास (symbolic novel) बन गया है। सर्वप्रथम इस उपन्यास का ढाँचा ही ऐसा निर्मित किया गया है कि पात्रों के बहिर्जीवन के समानांतर उनके अन्तर्जीवन—उनकी अतृप्तियों, ग्रंथियों, संस्कारों आदि के रूप में उनके अचेतन तत्व—का अनावरण होता गया है और अपनी तुलनात्मक विषमता में उनके जीवन की असंगति-अशाँति उभर कर उजागर हो गई है। और स्पष्ट करें तो इस [illegible] की विशेषता से व्यक्ति के बाह्याचरणों तथा उनकी आंतरिक गति में समकालवर्तित्व (simultaneity)[3] निर्दिष्ट किया जा सका है। और यह लक्ष्य-पूर्ति स्वप्नों, काल्पनिक मनोविश्लेषक या स्वप्न-विश्लेषक पात्र 'स्वप्न-दूत' तथा इस विश्लेषण को समझने तथा संवेदानुभूति करने वाले पात्र (पहरेदार)—सब प्रतीक पात्रों—के माध्यम से हुई है। इन के सहज विन्यास की व्यवस्था देखिए—एक बूढ़ा पहरेदार रात को दस बजे से प्रातः चार बजे तक यात्रिशाला के बीच के गलियारे—जिसके दोनों ओर के कमरों में विभिन्न यात्री पात्र ठहरे हैं—में चक्कर लगाता रहता है। उसके कानों में विभिन्न कमरों से आती हुए अधूरी बातों के टुकड़े, किसी तेज बवंडर में पड़े पीपल के सूखे पत्तों की तरह चक्कर काटते रहते और उसके मस्तिष्क की फटती रगों से, तरह-तरह की आवाज़ें, शोर-गुल कहकहे, समुद्र की तरह टकराते रहते

---

१. "काठ की घंटियाँ" की 'भूमिका', पु० ८-९।

२. Leon Edel: "The Psychological Novel", p. 55.

३. "सोया हुआ जल" के विवेचन में ब्रजविलास शर्मा ने इन शब्दों का प्रयोग किया है; "आलोचना" संख्या १७।

हैं।'[1] यह पहरेदार बीमार है और उसको समय-समय पर झपकियों में स्वप्न आते रहते हैं। यह पहरेदार यात्रिशाला की देखी-सुनी बातों के ही स्वप्न लेता है और उपर्युक्त बातों तथा पात्रों के कार्य-व्यापारों के मूल में निहित अव्यक्त वास्तविकता का साक्षात्कार करता रहता है। इस तरह लेखक विभिन्न दृश्य-स्थितियों को 'कमरा नं० २', 'कमरा नं० ११', 'सीढ़ियों पर,' 'हरी रोशनी', 'बूढ़ा पहरेदार', 'पहली झपकी,' 'दूसरी झपकी', 'स्वप्न दृश्य' आदि शीर्षक दे कर लिखता गया है और ये सभी एक ही व्यक्ति के माध्यम से सम्बन्धित हो गए है।

इस विधान की सार्थकता-सफलता के ज्ञान के लिए प्रतीकार्थों का सविस्तर स्पष्टीकरण अपेक्षित है। 'यात्रिशाला' इस दुनिया का प्रतीक है, जिसमें यात्री-जन निश्चितकाल के लिए आकर अपनी-अपनी 'प्यासी आत्माओं' या अभाव-लालसाओं की तृप्ति-कामना के लिए छटपटाते रहते हैं--इसका यह अर्थ इसलिए लेना पड़ता है क्योंकि यहां सभी पात्र किसी-न-किसी रूप में अतृप्त हैं। स्वप्न-पद्धति के लिए यह अधिक अनुकूल स्थिति है। इन जनों में भी अधिकतर मध्यवर्गीय पात्रों को लिया गया है क्योंकि इन में अभावों का घुमड़न विशेष रूप से अंकित किया जा सकता है। 'पहरेदार' उन सुधारकों का प्रतीक है, जो दुनिया की रक्षा करते-करते या कल्याणार्थ अपना कर्तव्य-निर्वाह करते करते थक गए है, हार गए हैं। वह दुनिया को बाहर से सुधारते-जगाते रहे हैं और ऐसा कर वह दुनिया को विनाश-मरण से बचाते अवश्य रहे हैं— दमित वासनाओं को खुली लूट मचाने का अवसर नहीं दे सके···पर मूल निदान को न समझने के कारण दुनिया को तृप्ति एवं शांति भी नहीं दे सके। मनोविश्लेषणात्मक शब्दावली में यह पहरेदार चेतन मन या उस सुसंस्कृत अहं (super-ego) का प्रतीक है, जो बाह्य संसार तथा सभ्यता की मांगों के अनुसार अचेतन की सहज अन्तःप्रेरणाओं पर नियंत्रण रखता है, उच्छृंखल नहीं होने देता। इन प्रतीकों का अर्थ-संकेत पहरेदार और स्वप्न-दूत के निम्न संवाद में मिल सकता है—

"यह ड्यूटी क्या पेट भरने के ही लिए है ?" पहरेदार ने व्यथित होकर पूछा।

"क्यों ?"

"आखिर मैं क्या कर सका ? किसे जगा सका ? दुनिया की गति में कौन परिवर्तन ला सका ? ज़िन्दगी भर 'जागते रहो', 'जागते रहो' चिल्लाने के बाद भी, क्या वह यात्रिशाला वैसी ही नहीं है ?"

"है, और शायद रहेगी भी। तुमने अपने धर्म का पालन किया। तुम उसे बदल नहीं सके लेकिन यह निश्चय जानो कि तुम उसे लुटने से बचा सके हो। तुम्हें

१. "काठ की घंटियाँ", पृ० ४३४।

'जागते रहो' चिल्लाते देखकर लुटेरे खुले आम घुसने की हिम्मत नहीं कर सके है। तुमने अपना कर्म पूरा किया है।" काले पंखों वाले स्वप्नदूत ने उत्तर दिया।

इस पहरेदार की औपन्यासिक सार्थकता संवेदनामापक पात्र के रूप में भी है। जिस तरह जैनेन्द्र जी 'त्यागपत्र' में मृणाल की धीरे-धीरे बढ़ती हुई वेदना के प्रभाव को उत्तरोत्तर पी० दयाल में दिखाते जाते हैं और अन्त में मृणाल के मरण पर वह अपनी क्षुद्रताओं से ऊपर उठकर जजी से इस्तीफा दे देता है, उसी प्रकार 'सोया हुआ जल' में भी पहरेदार विभिन्न पात्रों के स्वप्नों को बार-बार देखने के क्रम में, उनकी भीतर की खाली-खोखली स्थिति, अतृप्तियों की छटपटाहट और दर्द की ज्यों-ज्यों अधिकाधिक अनुभूति करता जाता है, उसका ताप भी उसी अनुपात में बढ़ता जाता है और अन्त में वह मर जाता है। इसलिए लेखक ने उसकी उत्तरोत्तर बिगड़ती स्थिति का, उसके भीतर ऐंठते हुए जहर और उसकी फटती रगों का, स्थान-स्थान पर मार्मिक परिचय दिया है। प्रभाव-तीव्रता के इस शिल्प-कौशल में उसे सफलता मिली है। उसकी मृत्यु का भी प्रतीकार्थ है—यह मानों दुनिया को बाहर से जगाते रहने की प्रयत्न-व्यर्थता से विश्वस्त होकर सत्य के निकट पहुँचना और उसे भीतर से जगाने का संकल्प करना है। इसीलिए उपन्यासांत में पहरेदार मरा हुआ भी अपनी ही लाश—परम्परागत बाह्य सुधार-प्रयासों की मृत्यु—को देख रहा है और साथ ही भीतर की वास्तविकता के आधार पर, नई ज़िंदगी के प्रतीक, उग रहे नए सवेरे को भी।[1]

उपर्युक्त संकेतार्थ स्वप्नदूत और पहरेदार के इस संवाद से भी स्पष्ट है—

"हाँ। मैं जानता हूँ कि मेरी रग-रग में कौन-सा ज़हर ऐंठ रहा है। मैं क्यों कुछ याद नहीं कर पाता? मैं क्यों सब कुछ भूलता जा रहा हूँ?"

"तुम सत्य के निकट पहुँच रहे हो।"

"क्या तुम्हारे अनुसार सत्य के निकट पहुँचने का अर्थ जीवन से दूर होना है?"

"हाँ, आज की ज़िन्दगी का आधार सत्य पर नहीं है।"

"जो ज़िन्दगी से दूर हटा ले जाय, उस सत्य को लेकर हम क्या करेंगे?"

"नई ज़िन्दगी का निर्माण।"

"तुम भी दर्शन बखानते हो?"

"हाँ, सपनों का भी एक दर्शन होता है जो नए सत्यों को जन्म देता है।"

"तुम कितने छोटे हो?"

"लेकिन मेरे पास पंख है, मुझमें कितनी गति है।"

---

१. पृ० ४८२।

पहरेदार ने देखा, नंगी डालियों वाले तरु (खाली-खोखले इन्सान)[1] अचानक लहलहा उठे है, फूलों से लद गये हैं। सारी प्रकृति बदल गई है।[2]

यह संवादोद्धरण 'स्वप्न-दूत' को लेखक का प्रतिनिधि-पर्याय बना देता है और सपनों को नये युग के निर्माणभूत उच्चादर्शों का अर्थ देकर लेखक के आशावाद को भी व्यंजित करता है। यह उल्लेखनीय है कि उपर्युक्त आशावाद, उपन्यासांत के गुमनाम कथन तथा प्रकृति-चित्र[3] सब मिलकर नये सवेरे के आगमन का उद्घोष चाहे करें— और इस रूप में लेखक के आशावादी विश्वास को व्यंजित करें किन्तु घुटन-पीड़न के चित्रण के आधार पर यह अन्तर्व्यंजित नहीं, आरोपित प्रतीत होता है। लेखक ने इसके लिए ऐसी किसी योजना और ऐसे किसी प्रयत्न का चित्रण नहीं किया, जिनके आधार पर इस परिणाम की सम्भावना हो सके। वस्तुतः उपन्यासांत की उद्देश्य-मुखरता[4]—चाहे वह गुमनाम पात्र या दिनेश के माध्यम से है—विकलात्मक है, क्योंकि रात के पश्चात् प्रभात के आगमन और पहरेदार की मृत्यु से 'नए सवेरे' की सांकेतिक सूचना बिना बोले भी मिल सकती थी, जो लेखक के आशावाद की व्यंजना के लिए पर्याप्त होती।

अब हम 'सपनों' और 'स्वप्नदूत' के मूल्य अर्थ को देखें। स्वप्न का मनोविज्ञान स्वयं उसी के कल्पित मानवीय रूप 'स्वप्नदूत' के माध्यम से इस प्रकार स्पष्ट हुआ है:—"(मैं रोज) प्यासी आत्माओं की शान्ति के लिए (आता हूँ)। जागता हुआ आदमी अपने से छल करता है, अपने को धोखा देता है। अपने को हज़ार बन्धनों में बाँधता है, हज़ारों नियमों से कसता है। लेकिन सो जाने पर नियमों और बन्धनों की दीवारें टूट जाती हैं, छल और धोखे की परतें हट जाती हैं। फिर उसकी वास्तविक इच्छाओं से तृप्ति करता हूँ। मैं स्वप्न हूँ। जागने पर जिसे जो कुछ नहीं मिलता नींद में मैं उसे वह सब देता हूँ।" सारांश में स्वप्न मनुष्य की अचेतनेच्छाओं को का निरापद तृप्तिकर्ता है।[5]

१. यह कोष्ठार्थ हमारा है। सांकेतिक प्रकृति-चित्र

२. पृ० ४५३-५४। ३. पृ० ४८२-८३। ४. पृ० ४८२।

५. Sigmund Freud: "The Interpretations of Dreams", p 559

"Dreams are one of the manifestations of the suppressed material, . The suppressed psychic material, which in the waking state has been prevented from expression and out off from internal perception.. finds ways and means.. of obtruding itself on consciousness during the night.. At any rate, the interpretation of dreams is the viaregia to a knowledge of the unconscious element in our psychic life."

स्वप्नदूत के माध्यम से पहरेदार ने स्वप्नों के प्रतीकार्थ को हृदयंगम किया है अतएव वह स्वप्नविश्लेषण करने वाला लेखक का मनोविश्लेषक प्रतिनिधि है। लेखक का कला-कौशल इसमें है कि उसने अपने वर्णन-विश्लेषण का उपयोग न कर स्वप्न-शरीरी पात्र के संवादों के रूप में लक्ष्य-सिद्धि की है, इसलिए यहाँ वार्तालाप-तत्व का बाहुल्य हो गया है। लेखक चाहता तो विभिन्न पात्रों के स्वप्न अविश्लिष्ट ही रहने देता---जैसाकि 'अज्ञेय' तथा इलाचन्द्र जोशी ने किया है—किन्तु इससे स्पष्टता न आती[1] और लेखक का अचेतनोद्घाटन तथा उसके मह्त्व-प्रतिपादन का उद्देश्य उभर कर सामने न आता।

अब हम स्वप्नों के विश्लिष्ट पक्ष को देखें, जिसका उपन्यास के उद्देश्य से सीधा सम्बन्ध है। लेखक ने मनुष्य के वैयक्तिक, सामाजिक तथा राजनीतिक तीनों संदर्भों में व्यक्ति के भीतर को समझने और उसे बदलने की आवश्यकता की अनुभूति कराने का प्रयास किया है। इससे उसके उद्देश्य में सम्पन्नता आ गई है। इन स्वप्न-प्रसंगों को दो भागों में बाँटा जा सकता है—एक, गुमनाम पात्रों से सम्बन्धित; दूसरे, प्रधान पात्रों से सम्बद्ध। इन दोनों का महत्व भी पृथक-पृथक है। आधी रात तक ताश खेलने वाले बेकारों को स्वप्न में ताश के पत्तों के दूसरी तरफ 'नौकरी के नियुक्तिपत्र' मिलते हैं; एक बड़े होटल का नाम लेते-लेते भूखे सो जाने वालों को खाने के 'विचित्र-विचित्र सामान' से 'तृप्ति और संतोष के ठहाके' लगाने को मिलते हैं; इच्छाओं पर नियन्त्रण लगाने के कारण ऐन्द्रिय-अतृप्ति के शिकारों को स्वप्न में नंगी-अधनंगी स्त्रियों' —'परियों के जमवाड़।'—के रूप मे अपनी 'माँग' पूरी करने का अवसर मिलता है; और एक आदमी के स्वार्थमय नियमों तथा बन्धनों के कारण अभावग्रस्त बने दूसरे आदमियों को स्वप्न में उड़ते हुए नोट, कीमती सुन्दर मोटरें, तड़कीली-भड़कीली औरतें, सिनेमा हाल— मानों 'प्रसन्नता का बाज़ार'—मिलता है।[2]

स्वप्नों की ये इच्छा-तृप्तियाँ गुमनाम पात्रों से सम्बद्ध हैं, अतएव ये उभर कर सामने नहीं आई। किन्तु इनका भी अपना महत्व है— इससे एक समूह या समाज-चरित्र सामने आता है और ये उपन्यास के उद्देश्य एवं वातावरण को भरापूरा बनाते है। राजेश-विभा, किशोर-रत्ना, प्रसन्न, रम्भा-दिनेश' आदि के स्वप्न-प्रसंग उभर कर सामने आए है। जैसे उपर्युक्त चर्चित स्वप्नों में भौतिक जीवन की अनिवार्यता-सफलता की आधारभूत प्रेरणाओं, अर्थ और काम दोनों को महत्व मिला है, वैसे ही

१. Hoffman : "Freudianism and the Literary Mind", p. 132.
"..interpretation and comment are indispensable accompanists of experimental writing."

२. पृ० ४७६-७७।

प्रधान पात्रों से सम्बद्ध स्वप्न-प्रसंगों में भी। विवाहित राजेश-विभा का पार्थिव शरीर कमरे में पास-पास सोता है, किन्तु उनकी त्यागी आत्माएँ 'एक दूसरे से अत्यन्त दूर' किन्हीं अन्य--गोरी लड़की और मोहन--से प्रेमालाप में मग्न होती हैं। पास रहकर भी वे पास नहीं है।[1] फिर भी इन दोनों का "वास्तविक वैवाहिक जीवन स्नेह एवं शांति से पूर्ण है क्योंकि ये जिन्दगी के साथ समझौता कर पाने में समर्थ' हुए हैं।[2] रत्ना-किशोर का अविवाहित जोड़ा कामाभावों तथा अर्थगत वर्गीय संस्कारों दोनों को लिए हुए है। अपने बहिर्जीवन के प्रत्यक्ष संवादों में जहाँ किशोर में रत्ना से ग़रीब होने की हीनता-ग्रंथि है और वह रत्ना को पूंजीपती की लड़की कहकर बार-बार उसे ठेस पहुँचाता रहता है, वहाँ रत्ना—किशोर से प्रेम के आधार पर घर से भागी हुई होकर–भी अपने उच्चवर्गीय संस्कारों से मुक्त नहीं हो पाती। किशोर बेकार भी है। उन दोनों के पास घर से लाई हुई पूंजी समाप्त हो चुका है; अतएव वे जिन प्यारभरी कल-कल्पनाओं को लेकर घर से भागे थे, वे अब अर्थाभावों से टकरा कर बिखर रही हैं और उनमें आपसी संघर्ष प्रारम्भ हो गया है।[3] इसके सामाजिक पक्ष की ओर भी संकेत किया गया है। धनी बाप की लड़की होने के कारण, घर में वापस जाने पर समाज में भी कोई उस पर उंगली उठाने की हिम्मत नहीं करेगा -- क्योंकि पैसा समाज के नियमों पर शासन करता है—किन्तु "ग़रीब किशोर के साथ यही स्थिति न रह सकेगी।"[4] सारांश में, किशोर-रत्ना के घर से भागने में—काम भाव का प्रामुख्य है, बाद में आपसी भेद--भाव के मूल में अर्थाभाव की प्रेरणा की प्रधानता। किन्तु विचित्रता यही है कि स्वप्नों में किशोर की प्रमुख जीवन-ग्रंथि अर्थ की बजाए काम निकलती है--अपने अचेतन में वह अपनी भाभी को पाने के लिए अतृप्त है। "कुछ लोग ऐसे होते हैं जिनमें शिशु भाव प्रबल रहता है, विभा किशोर के शिशुत्व की तृप्ति है। उसे वह नहीं छोड़ सकता। और रत्ना से विवाह का अर्थ है भैया (राजेश) को छोड़ना, भाभी को छोड़ना।"[5] यही कारण है कि रत्ना को लेकर भागने के एक सप्ताह बाद ही वह उससे विरत होने लगता है। किन्तु अपने अनैतिक व्यवहार को अर्थाभाव के तर्कों--मनोविज्ञान की शब्दावली में युक्तिकरण की समाजानुमोदित प्रक्रिया—से छिपाता और अपने आप को तथा रत्ना दोनों को धोखा देता है; क्योंकि किशोर को रत्ना के प्रति अपने व्यवहार-विपर्यय के मूल अचेतन कारणों का ज्ञान नहीं।[6] रत्ना

---

१. पृ० ४६७-७०। २. पृ० ४८१।
३. पृ० ४३८-४०, ४४८-५२। ४. पृ० ४५१-५२। ५. पृ० ४६१।
६. "Foundations of Psychology", P. 518.

"The rationalizer seldom understands the 'real' reason underlying his conduct. To deceive himself with sense of avirtue nd

के मुख से लेखक ने यही संकेत देकर अपना उद्देश्य ध्वनित किया है; वह उससे कहती है कि भागते समय उसे अपनी गरीबी का ध्यान क्यों न आया। और "इस एक सप्ताह में कितनी (बाह्य) परिस्थितियाँ बदल गयीं ? बाहर से कहीं कुछ नहीं बदला, तुम्हारे मन के भीतर कुछ बदल गया। ..."[1] इन्हीं पात्रों से सम्बद्ध एक दूसरे स्वप्न से यह निष्कर्ष निकलता है कि रत्ना के संस्कार नहीं बदले। वह जिस पूंजीपति वर्ग की है, उसकी यह विशेषता है। "उसके ये प्रभुत्व और ऐश्वर्य-लिप्सा के संस्कार देर से बदलेंगे।"[2] इससे यही संकेत मिलता है कि ऊपरी मेल खोखला होगा जब तक संस्कार नहीं बदलते।

यही बात प्रश्न के एक अन्य पक्ष के साथ, राजनीतिक संदर्भ में भी कही गई है। यहाँ सर्वहारा क्रांति से दुनिया को बदलने वाले साम्यवादियों का प्रतिनिधि-प्रतीक प्रकाश है। लेखकीय पक्ष के प्रतिनिधि रूप में दो हैं—प्रकाश के कमरा नं० ११ का गुमनाम साथी (कॉमरेड) तथा शराबी दिनेश। ये दोनों प्रकाश से वाद-विवाद के प्रसंगों में उस पर व्यंग्य करते हुए लेखक का उद्देश्य मुखरित करते रहते हैं—"तुम्हारा साम्यवाद बाह्य परिस्थितियों को बदल सकता है लेकिन जब तक आदमी भीतर से नहीं बदलेगा तब तक जिस स्वर्गिक जीवन की हम कल्पना करते हैं वह नहीं प्राप्त हो सकता।"[3] यही बात वह प्रकाश को पार्टी-ऑफ़िस के जल जाने की सूचना मिलने पर दुहराता है। इसी प्रसंग में पार्टी से अलग प्रकाश की 'व्यक्तिगत हैसियत' पर भी व्यंग्य किया गया है।[4] आगे पार्टी-ऑफ़िस के लिए रुपयों की ज़रूरत को लेकर प्रकाश को उपर्युक्त पूंजीपति की लड़की रत्ना का खून करने के लिए तैयार होते दिखा कर उसकी नीचता—जनक्रांति की बात करने वालों के भीतरी स्वार्थ तथा क्षुद्रता—का भण्डाफोड़ किया गया है।[5] आगे स्वप्न में प्रकाश को रत्ना का खून कर जननायक के रूप में दिखाया गया है। किन्तु रत्ना के शव के होंठ बार-बार छुरी घोंपने पर भी हिलते जाते है—और मानों दिनेश के शब्दों में उद्घोष करते हैं—"याद रक्खो, आवाज़ खत्म कर सकते हो लेकिन ये हिलते हुए होंठ नहीं रोक सकते। और एक दिन यही हिलते होंठ दूसरी क्रांति को जन्म देंगे जिसका आधार करुणा पर, संवेदना पर और मानवता पर होगा।..."[6] उपन्यासांत में इन्हीं शब्दों को फिर दुहराया गया है।[7] प्रकाश की तुलनात्मक विषमता में दिनेश का चरित्रांकन

---

to evade the recognition of his own antisocial tendencies, the rationalizer invents 'good' reasons to explain his conduct. They are his rationalizations."

१. पृ० ४५२। २. पृ० ४७६। ३. पृ० ४४७। ४. पृ० ४७१।
५. पृ० ४७३-७४। ६. पृ० ४८०। ७. पृ० ४८२।

हुआ है। वह ऊपर से शराबी होता हुआ भी भीतर से सच्चा है। यह शराब भी मानों प्रतीक है—"हर सच्चे आदमी के मुँह से बू आती है।" रत्ना किशोर के प्रति उसकी व्यवहार-प्रतिक्रिया में उसकी सचाई को दीपक किया गया है। रत्ना कुछ रुपयों के लिए उसकी कामना-पूर्ति करने को तत्पर है किन्तु उसका उत्तर है—"जो नारीत्व की कीमत लगाने को तैयार है, उससे कीमत बोलना अपने को नीचे गिराना है। मैं अपने को नीचे नहीं गिराना चाहता, देवी जी! मैं आपको महज इतना बताना चाहता हूँ कि प्रतिकार की भावना से भरी हुई औरत शराब से भी ज्यादा गन्दी होती है। मैं शराबी हूँ, यों ही अधम हूँ, आपसे बोलकर, आपके निकट बैठकर, आपको स्पर्श कर और अधिक गन्दा, अधम नहीं होना चाहता।...."[3] इस तरह एक व्यक्ति ऊपर से शराबी होता हुआ भी भीतर से उन्नत है, दूसरा ऊपर से जननायक होता हुआ भी भीतर से पतित। चरित्रांकन की इस तुलनात्मक व्यतिरेक पद्धति से उद्देश्य को उभारने के प्रयास में लेखक का कला-कौशल है। इस प्रसंग में कमी एक है। प्रकाश केवल व्यंग्य-चरित्र (caricature) बनकर रह गया है लेखक ने अपने प्रतिनिधियों से उसके वाद-विवाद के स्तर को ऊँचा नहीं उठाया। इस विरोध पक्ष के दौर्बल्य से उद्देश्य-प्रतिपादन में एकांगिता तथा पक्षधरता आ गई है। यह अवश्य है कि उसने अपने तर्कों में केवल भीतर को बदलने की बात नहीं कही और अपनी एकांगिता का किंचित् परिहार किया है; जैसे —"बाह्य परिस्थितियों के ही बदलने से काम नहीं चलेगा, आदमी को भीतर से भी बदलना पड़ेगा।"[4] यहाँ 'ही' और 'भी' शब्दों से स्पष्ट है कि लेखक को अन्तर के साथ बाह्य परिवर्तन भी अभीष्ट हैं, किन्तु उसका चित्रण उसका समर्थन नहीं करता।

दिनेश की गुनगुनाहट के द्वारा एक उपन्यास के मध्य में और दूसरी अन्त में प्रयोगवादी कविता दी गई है। इनसे जहाँ दिनेश की औपन्यासिक प्रतीक-स्थिति व्यंजित होती है—उद्धरण-पद्धति से उसका चरित्रांकन होता है—वहाँ उद्देश्य को ध्वनित भी किया गया है; उपन्यास की अन्तिम पंक्तियाँ हैं—

फूलों की क्यारियों में
रात. शराब की खाली बोतल दफ़न कर गयी है
ताकि नया सवेरा उसे न देख सके।

यह खाली बोतल भीतर से खाली-खोखले इनसानों का प्रतीक है। नया सवेरा—नया युग—इन्सान को भीतर से बदलने पर बल देगा या उसे परिवर्तित कर लेगा इसलिए उन्हें अपनी अतृप्तियों को भुलावा देने के लिए शराब की आवश्यकता न होगी।

---

३. पृ० ४६२-६३। ४. पृ० ४८२।

सारांश में 'सोया हुआ जल' में प्रतीकात्मक सांकेतिकता तथा कहीं-कहीं अभिधात्मक मुखरता दोनों से मनुष्य के भीतर को परिवर्तित करने की आवश्यकता का पर्याप्त कुशल प्रतिपादन किया गया है।

'सोया हुआ जल' की अन्विति तथा प्रभाव-घनत्व में लेखक ने स्थान-समय-कार्य की एकता के नाटकीय संकलनत्रय के कौशल का अद्भुत उपयोग किया है। उपन्यास का आरम्भ रात के लगभग दस बजे से होता है और अन्त प्रत्यूष वेला के साथ, लगभग चार-पाँच बजे के बीच। काल के बीतने की सूचना गैलरी की एक घड़ी से दी जाती रही है—मानों समय सम्बन्धी प्रयोग करने में लेखक सजग है। इस तरह कुल मिलाकर यहाँ मात्र छै-सात घण्टे की कथा है। समय-संकोचन का इस सीमा तक प्रयोग हिन्दी उपन्यास-साहित्य में दूसरा नहीं हुआ। उपन्यास का सारा कार्य-व्यापार इसी सीमित कालावधि में हुआ है। उपन्यास का स्थान--केवल यात्रिशाला—भी सीमित अथवा निश्चित है।

इस संकलनत्रय के साथ स्वप्न-पद्धति के प्रचुर प्रयोग ने मिलकर 'सोया हुआ जल' के कथानक का स्वरूप--निर्माण किया है। यद्यपि लेखक का उद्देश्य कथा-निर्माण नहीं, और यह कथा रहित उपन्यास है, फिर भी इसमें एक सांकेतिक कथानक अवश्य है, जो पाठकों के मन में बनता है. लेखक द्वारा बना-बनाया नहीं मिलता। इस रूप में पाठक लेखक बन जाता है।[१] इसका स्पष्टीकरण इस उपन्यास के गठन-स्वरूप के विश्लेषण से होगा। यह उपन्यास सम्पूर्णतया खण्डित दृश्य-पद्धति से निर्मित है। ये दृश्य प्रायः परस्पर विच्छिन्न हैं, एकसूत्रित नहीं। फिर भी ये तीन प्रकार से सम्बद्ध हैं—एक, संवेदनाधार पहरेदार के द्वारा। वह इन विभिन्न दृश्यगत पात्रों के कार्य-कथनों को देखता-सुनता ही नहीं, प्रत्युत् संवेदनामापक के रूप में इन सबसे प्रभाव भी ग्रहण करता है। दूसरे, विषयैक्य या उद्देश्यैक्य की दृष्टि से भी ये परस्पर सम्बद्ध हो गए हैं। तीसरे, गुमनाम पात्रों को छोड़कर प्रधान पात्र भी किसी-न-किसी रूप में परस्पर सम्बद्ध हैं। किशोर-रत्ना तथा रजेश-विभा के प्रसंग अधिक हैं और ये परस्पर परिजन हैं। राजेश-विभा भागे हुए किशोर-रत्ना को खोजने ही आए हैं। किशोर-रत्ना की यात्रिशाला से पलायन-व्यवस्था के लिए भाग-दौड़ भी इसी कारण से है। और इस स्थिति में किंचित् औत्सुक्य भी बना रहता है। इनसे दिनेश का सम्बन्ध स्पष्ट नहीं है, फिर भी रत्ना-किशोर

१. Leon Edel : "The Psychological Novel", p. 15. "··· this kind of novel seemed to turn the reader into an author : it was he, ultimately, who put the story together and he had to keep his wits about him to accumulate his data."

दोनों दिनेश से सहयोग प्राप्त करने के लिए जाते हैं। दिनेश प्रकाश से सम्बन्धित है और प्रकाश भी रत्ना को लेकर मन में एक संकल्प करता है।

यहाँ स्वप्न-पद्धति से जहाँ पात्रों के अन्तश्चेतन का उद्‌घाटन हुआ है, वहाँ इनमें से कुछ का स्वरूप ऐसा है मानों ये पात्रों की पूर्वकथाएँ हों। इस दृष्टि से राजेश-विभा से सम्बद्ध स्वप्न दर्शनीय है। इनमें संकेतित है कि ये दोनों अपनी-अपनी कथा लिए हैं। और इन स्वप्नों से उपन्यास की समय-सीमा का परिहार हो जाता है। यहाँ घटनाएँ नहीं हैं किन्तु पूर्व-घटित घटनाओं की पृष्ठभूमि है, या भावी घटनाओं का पूर्वाभास। और ये अधिकतर पात्रों के अन्तश्चेतन के उद्‌घाटन से हुआ है। जीवन-रहस्यों को समझने का औत्सुक्य या पात्रों की अन्तर्बाह्य असंगति का वैचित्र्य ही पाठकों की औत्सुक्य-स्थिरता का प्रमुख उपकरण है। और उसके साथ कुछ भावी घटनाओं के पूर्वाभास से जनित उत्सुकता तथा दिनेश के छकाने वाले आचरण भी मिल गए हैं। रत्ना, किशोर और प्रकाश तीनों को दिनेश जिस प्रकार भरमाता-छकाता है वह सब रोचक है। सारांश यह है कि विज्ञ अथवा प्रबुद्ध पाठक को उपन्यास के पढ़ने में ऊब का अनुभव नहीं होता। यह उपन्यास सामग्री-व्यर्थता से एकांत शून्य है—जो है सब उद्देश्य-व्यंजना में संयोजित। और यह मितव्ययिता लघु-उपन्यास के उपयुक्त है।

पात्रों की औपन्यासिक उपयोगिता, उनकी प्रतीकात्मकता, उनकी आचार-प्रेरणाओं और चरित्रांकन की किन्हीं पद्धतियों का स्पष्टीकरण पहले किया जा चुका है। ये दो प्रकार के पात्र हैं गुमनाम तथा सनाम। गुमनाम पात्र तो एकांत प्रतीक हैं—वे सब मिलकर एक समूह-पात्र की सर्जना करते हैं। दूसरे पात्र प्रतीक होते हुये भी यत्किंचित् व्यक्तित्व रखते हैं। इन सभी पात्रों में सर्वाधिक सजीव पात्र दिनेश है, जो प्रतीक होते हुए भी व्यक्तित्व-सम्पन्न है। उसकी प्रखरता प्रभावित करती है। दिनेश और पहरेदार ही यहाँ कुछ उभर कर आए हैं। ऐसे उपन्यास में नायक-शून्यता ही मानी जाएगी। वस्तुतः यहाँ उपन्यासकार की दृष्टि ही केन्द्र में रहती है—वही नायक है, सबकी संगठनाधार।

इस लघु-कलेवर में उपन्यासकार ने पात्रों के चरित्र-संकेत से उनके शील-विकास की ओर भी इंगित कर दिया है। प्रकाश, किशोर, रत्ना, पहरेदार चारों में विकास की स्थिति संकेतित है।

पात्रों का बहिरंग चित्रण भी कुछ-न-कुछ हुआ है। पहरेदार, विभा, विदेशी गोरी लड़की,[1] 'परियों के जमावड़ा' की स्त्रियाँ[2] सभी की वेशभूषा के कुछ ब्यौरे उनके व्यवसाय, वर्ग, देश तथा औपन्यासिक उपयोगिता के अनुकूल दिए गए हैं। राजेश

१. पृ० ४७६-७७। २. पृ० ४६६।

विभा की पूर्वप्रेम-कथाओं में सौन्दर्य-चित्रण का स्थान भी है। पात्रों के अनुभावों के पर्याप्त चित्रण से उनकी मनोदशाओं की व्यंजना की गई है। इस दृष्टि से पहरेदार के विभिन्न चित्र दर्शनीय हैं।[१] विभिन्न दृश्यों से प्रभाव-ग्रहण कर उसकी बिगड़ती हुई दशा के विकास की व्यंजना इनसे भली-भाँति हो सकी है।

यहाँ लेखक बहुत कम आया है तथा पात्रों के कार्यव्यापार भी स्वल्प हैं, अतएव उनका चरित्रांकन मुख्यतः संवादों द्वारा ही हुआ है।

'सोया हुआ जल' में देशकाल उपेक्षित उपकरण है—अधिक से अधिक पात्रों के कथनों से विशेष वर्ग का आधुनिक जीवन व्यंजित है—किन्तु इससे उपन्यास की यथार्थकता में कमी नहीं आई। मानव की अन्तर्बाह्य भिन्नता के निदर्शन की दृष्टि से चाहे इसमें अधिकतः मध्यवर्गीय पात्रों का चयन हुआ है, वैसे इसकी समस्या मध्यवर्गीय नहीं, चिरन्तन है। अतएव विशिष्ट काल अथवा स्थान के उल्लेख की आवश्यकता नहीं हुई। इससे चरित्रांकन की यथार्थता में कोई अन्तर नहीं आया। स्थान और काल का अंकन चाहे न हो वातावरण-तत्व के विनियोग-कौशल का यहाँ प्राचुर्य है। मध्यगर्ग की दर्द-उदासी को चित्रण की एक दो विरल रेखाओं से सानुकूल पृष्ठभूमि देकर प्रभाव बढ़ा देने में इसकी सार्थकता है; यथा, "अँधेरे और उजाले की सन्धि-रेखा पर खड़ी हुई एक थकी लम्बी ढीली आकृति। दूर दस के घण्टे की आवाज़ कुछ सोयी हुई-सी। समीप लम्बे यूकिलिप्टक के पेड़ पर दर्द-भरे पंखों की फड़-फड़ाहट।"[२]

उपन्यास का सारा कार्यव्यापार रात के कुछ घण्टों के भीतर हुआ है। यहाँ रात की रंगीनी के नहीं, उसकी 'भयावह' 'मुर्दा खामोशी'[१] के चित्र-संकेत दिए गए हैं; देखिये—'उस समय दूर कहीं बारह के घण्टे की आवाज़ आयी। रात नींद में झुक गई। विद्युत-स्तम्भों का प्रकाश हल्का पड़ गया। परछाइयाँ गहराकर लम्बी हो गयीं।

"खामोशी--गहरी खामोशी छा गई। पेड़ों के पत्तों ने हिलना बन्द कर दिया। दिशाओं ने होंठ-सी लिये।"[४] उपन्यास का आरम्भ विषयानुरूप रात के वातावरण-चित्रण से हुआ है—इससे मध्यवर्गीय प्यासी आत्माओं की छटपटाहट को स्वप्न-पूर्तियों के रूप में प्रदर्शित किया जा सकता था और जीवन के खोखलेपन को निदर्शित। किन्तु उपन्यास का अन्त आशावद के आलोकानुकूल नये सबेरे के उगने के साथ हुआ है—"चिड़ियाँ चहकीं। दूर मुर्गा बोला। चार का घण्टा बजा। अंधेरा सिमटने लगा। ताल का सोया हुआ जल जाग उठा। काली अंधेरी परछाई, ताल की

१. पृ० ४३४, ४४४, ४४७, ४७४।
२. पृ० ४३५ ३. पृ० ४७४। ४. पृ० ४५६।

सतह पर रेंगती हुई फिर लौट गई ।" इस तरह वातावरण के विकास के अंकन से उपन्यास की कालावधि भी मूर्त हो उठी है ।

'सोया हुआ जल' कथोपकथन-प्रधान उपन्यास है । इसमें वर्णन का तत्व स्वल्प है । अतएव कथोपकथनों को अनेक कार्य वहन करने पड़े हैं । ये उपन्यास की समस्या के संकेतक, विभिन्न स्थितियों के निर्णायक, चरित्र-व्यंजक तथा विचार-प्रकाशक हैं । उपन्यास के अद्भुत शिल्प के अनुकूल कथोपकथनों के दो रूप मिलते हैं—एक, स्फुट-प्रतीकात्मक; दूसरे, सम्पूर्ण-व्यावहारिक । यह दूसरा भेद वार्तालाप का सामान्य प्रचलित रूप है--जो सभी उपन्यासों में मिलता है-- किन्तु पहला कई दृष्टियों से नूतन है । एक तो इसमें अधूरी बातों के टुकड़े रहते हैं अतएव इन्हें 'स्फुट' कहना उचित है । दूसरे, परस्पर-असम्बद्ध विभिन्न गुमनाम व्यक्तियों से भाषित होते हुए भी, ये सब मिलकर अपने स्थूल अभिप्रायों से भिन्न किसी सूक्ष्म अभिप्राय को संकेतित करते हैं, अतएव प्रतीकात्मक हैं । व्यक्ति-चरित्रों की अपेक्षा, अधिक-से-अधिक एक समूह-चरित्र ही इनसे सामने आता है और वह भी किसी समस्या को व्यंजित करने के लिए । उदाहरणतया, 'सोया हुआ जल' के पहले ही दो पृष्ठों में—यात्रिशाला के बीच की गैलरी में चक्कर लगाते हुए पहरेदार के कानों में विभिन्न कमरों से पड़ने वाले अधूरी बातों के टुकड़ों के माध्यम से-- मध्यवर्गीय अचेतन अथवा अतृप्त लालसाओं—उपन्यास की मूल समस्या—को व्यंजित कर दिया गया है :—

थ्री क्लब्स !' एक भारी आवाज़ ।

'फोर डायमण्ड्स !' एक और भारी आवाज़ ।

'सुन तो लो मेरा अफ़साना···।' गला दबाकर एक भोंड़े खिंचाव के साथ गाना ।

'लेकिन मोटी है ! मोटी लड़कियाँ···।" एक क्षण की खामोशी, फिर दबी हुई खिलखिलाहट ।

"रायल का···रायल का खाना सबसे अच्छा···।" एक तेज़ आवाज़ ।

"वहाँ फ्री-बुकिंग होती है । अभी से सीट···समझे ?' एक चुनौती की तेज़ आवाज़ ।

"बिना पैसे का इश्क···धत तेरे की ।' एक ज़ोर का कहकहा ।

"मैं···मैं कहता हूँ यह ले···ले···लेनिन का कथन है···आखिर सर्वहा···हा···हा···रा···!" एक गुस्से में तमकती हुई तेज़ आवाज़ ।

"क्यों भाई जान ! अभी से सोने लग गये ?" एक मीठी चुटकी ।

---

१. पृ० ४८२ ।

"र र रा, र र रा, त र र र रा; देख बे, नाट ठीक है ?" फिर मुंह से उसी टयून में सीटी बजाने की आवाज़।

"बीयर भी कोई ड्रिंक है ? वाह तीसमार खाँ···" एक नशे में लड़खड़ाती हुई बेहूदा हँसी।[१]

ये स्फुट कथोपकथनों का प्रकार अनेक व्यक्तियों के भाव-विचारों के सूचक कथनों का समकालवर्तित्व दिखाने की आवश्यकता का फल है। स्वर-संक्रम या स्वर-भेद के उल्लेख से पात्रों की मनःस्थिति की व्यंजना भी हो गई है। पहरेदार और स्वप्नदूत के आपसी संवाद तथा स्वप्नों के भीतर आए संवाद भी प्रतीकात्मक-सांकेतिक हैं।

यहाँ रस्मी संवाद नहीं, सभी आवश्यक हैं—अपने अस्तित्व की सार्थकता को सिद्ध करने वाले। लघु-कलेवर और सीमित काल में इनको अनेक कार्य करने हैं, अतएव ये व्यंजक हैं। ये पात्रों के साथ पूर्णतया बँधे हैं; इनमें उनका वर्ग, ग्रंथियाँ, स्वभाव आदि झलकते हैं। सुरापायी दिनेश चाहे बोतलें खाली करता हुआ ऊपर से कुछ और प्रभाव डालता है किन्तु उसकी दृढ़ता, निडरता, सचाई तथा प्रखरता उसके खरे-तीखे व्यंग्य-वचनों और प्रत्युत्पन्नमतित्व में व्यक्त है।[२] किशोर के साथ भागी हुई धनी रत्ना उस गरीब के साथ 'मुहब्बत' की चाहे कितनी दुहाई दे किन्तु उसके वर्गीय संस्कार उसकी वार्ता से स्पस्ट झलकते हैं।[३] कामरेड प्रकाश साम्यवादियों की पेटेंट शब्दावली में बोलता हुआ अपने राजनीतिक लेबल की घोषणा करता रहता है।[४] मोहन-विभा आदि प्रेमी जोड़ों की आपसी नोक-झोंक रोचक है और उनके प्रेम की व्यंजक।[५] सारांश में संवाद चरित्रांकन में सफल रहे हैं।

संवादों की भाषा व्यावहारिक बोलचाल की है। ये प्रायः छोटे, चुटीले, नाटकीय तथा सजीव हैं। एक व्यंग्यगर्भित, रोचक तथा सजीव संवाद उद्धरणीय है:—

"क्यों म्याँ कामरेड ? सो गए, क्यों ? अरे यह तो बताओ तुम्हारी जनक्रांति में कितनी शराब की बोतलें खर्च हुई थीं ?"—दिनेश ने···कहा "तुम यही हिसाब लगा रहे हो क्या ? घबड़ाओ मत। उस अवसर पर तुम्हें खूब पीने को मिलेगी"—(कामरेड)

"सलामत रहो बादशाह। हम तो उसी दिन का इन्तज़ार कर रहे हैं। क्यों म्याँ ! यहां की शराब पिलाओगे या वोडका वगैरह भी ? सुनते है फिर देशी शराब बन्द हो जाएगी। अपनी हौलियाँ नहीं रहेंगी, अपने साकी नहीं रहेंगे। क्या यह सब सच है ?"—दिनेश···

---

१. पृ० ४३३-३४। २. पृ० ४५८, ४६२, ४६३।
३. प्र० ४४८। ४. पृ० ४४७। ५. पृ० ४६८-६९।

"अपने साकी, अपनी ही होलियाँ रखना, सेठ जी; मना कौन करता है ? लेकिन···"

"ठेका उसी मुलुक का रहेगा···जियो बादशाह।" दिनेश ने हँसकर कहा।[१]

'सोया हुआ जल' में विषय तथा अभिव्यंजना में अद्भुत अभेद है। इसकी भाषा उपन्यास की प्रतीकात्मक प्रकृति के अनुकूल लाक्षणिक-ध्वन्यात्मक काव्यमय है। मध्यवर्गीय कलकल्पनाओं के अंकन के लिए यह कहीं-कहीं किंचित् रंगीन हो सकती है किन्तु मध्यवर्गीय तथा आधुनिक मानव के खोखलेपन के निर्मम अनावरण में यह प्रायः चुटीली बन गई है। अतएव इसमें प्रतीकात्मक व्यंजना भी है, व्यंग्य भी; जैसे—(क) "विभा ने मोहन का हाथ पकड़ा—किनारे पर लगी नाव में चढ़ गई। नीला दुपट्टा उसके कंधों से फिसलकर उसके पैर से लिपट गया। वह गिरते-गिरते बची। मोहन ने उसे कसकर बाँहों में बाँध लिया और दुपट्टा नाव से सरककर लहरों के साथ बह गया"।[२] स्वप्नों तथा पहरेदार की स्थितियों के वर्णन में यह और भी सांकेतिक है। (ख) "राजेश ने मेज पर से फौरन उठकर उसका हाथ छाती पर से हटा दिया। गोया नींद में भी हृदय की धड़कनों का स्पर्श वर्जित है"।[३] (ग) "किशोर ने उठकर खिड़की के दरवाज़े बन्द कर दिये, जैसे प्रेम के राज्य में सिसकियों को भी बाहर जाने का आदेश नहीं है"।[४] इस उपन्यास की भाषा के छायामय चित्र-संकेत विषय तथा वातावरण की अनूठी अवगति देते हैं। इनमें लघु-लघु स्फुट वाक्यों का प्राधान्य रहता है—

"रात। अंधेरे में सोया हुआ ताल का जल। नाचती हुई रोशनी के पीले हरे फूल। खट···खट··। एक काली परछाई का ताल के जल पर से रेंग जाना।

"समीप स्थित यात्रिशाला के बरामदे में पसरी हुई रोशनी, थके हुए कहकहे, उभरा हुआ शोर-गुल।[५]

शब्द-चयन की दृष्टि से भाषा पूर्णतया व्यावहारिक है। इसमें अरबी-फारसी के प्रचलित शब्दों का खुला प्रयोग हुआ है। हिन्दी की दृष्टि से यह तद्भव-बहुला है। इसका कारण यह है कि विषयानुकूल लेखक का लक्ष्य कोमल-मधुर नहीं, रूखी-तीखी शैली के निर्माण का रहा है और इसमें उपर्युक्त शब्दावली सहायक रही है। इस शैली की प्रभावी-ओजस्वी अभिव्यंजना-क्षमता के लिए यह उद्धरण पर्याप्त रहेगा—"खाँसी के कारण बुड्ढ़ा पहरेदार फिर उठकर बैठ गया। उसे धरती, आकाश सब तेज़ी से घूमते हुए लगे, और वह जैसे निःस्पन्द, अस्तित्वहीन, टूटी हुई शाखा की तरह मँडरा रहा था। दूर तीन का घण्टा बजा। रात के सिर पर जैसे

१. पृ० ४६४-६५। २. पृ० ४४२। ३. पृ० ४४३। ४. पृ० ४५३।
५. पृ० ४३३।

किसी ने हथौड़े मारे हों। उसकी नस नस झनझना उठी। उसने चाहा कि वह चीखे पर उसके मुख से आवाज़ नहीं निकली। उसने चाहा कि अपनी सम्पूर्ण शक्ति से एक बार, अन्तिम बार, इस मरी हुई भयानक रात के कान में चिल्ला सके—"जागते रहो।" वह चिल्लाया, लेकिन नित्य की भाँति खामोशी की अन्धेरी चट्टानों से टकराकर कोई प्रतिध्वनि नहीं लौटी। शायद उसके मुख से कोई आवाज़ नहीं निकली। क्या उसमें स्पन्दन नहीं है क्या वह मर चुका है? उसने सोचा, उसने मस्तिष्क पर जोर दिया। उसकी रगें तनातना कर खिचीं और टूट गयीं। वह निश्चेष्ट हो गया। उसे लगा जैसे वह किसी बड़ी ऊँची पहाड़ी से ढकेल दिया गया हो और उसकी कराह उसकी हड्डियों को चूर कर बिखर गई हो। उसका सम्पूर्ण शरीर तेजी से हिलने लगा। कानों पर कोई घण्टे बजाने लगा और फिर अचानक सारी गति रुक गयी, आवाज़ें निःस्पन्द हो गयीं। एक भयानक, टूटी हुई, मुर्दा खामोशी कौंध गयी"।[१]

अन्त में, 'सोया हुआ जल' एकांत नूतन शिल्प-प्रयोग है। कथा एवं नायक की क्षीणता, काया की प्रतनुता तथा कालावधि की लघुता की दृष्टि से इसने हिन्दी-उपन्यास साहित्य में नई सीमाओं का निर्माण किया है। कुल मिलाकर यह मनो-विश्लेषणात्मक, प्रतीकात्मक तथा रूपकात्मक लघ-लघु-उपन्यास है। वैचारिक एकांगिता तथा कहीं-कहीं उद्देश्य-मुखरता के कला-दौर्बल्य के बावजूद, यह विषय एवं शिल्प की अद्भुत अनुयोज्यता, संकलनत्रय की नाटकीयता, तथा विषय की एकता से यत्किंचित् प्रभावित करने में सफल हुआ है।

१३ :

उपसंहार

उपन्यास वैयक्तिक दृष्टि से वास्तवाभासी कल्पित कथा-पात्रों को लेकर जीवन के एकांगी या बहुरंगी गतिशील यथार्थ को अंकित करने में नित्य नवल रूप धारण करने में समर्थ, अपेक्षतया बड़े आकार का, रोचक, वर्णनात्मक गद्य-रूप है। उपन्यास का इतिहास—जो स्वयं में वैचित्र्यपूर्ण वास्तविकता का पीछा किए जाने का इतिहास है—कल्पनापूर्ण विजयों का सिलसिला ही तो है, जो नई-नई शिल्प-विधियों के आहरण से सम्भव हो सका है।[1] दूसरे शब्दों में औपन्यासिक क्षेत्र में यथार्थोन्मुखता वह अविरत प्रयत्नशीलता है, जो जीवन की परिवर्तित परिस्थितियों तथा उपन्यास की प्रविधियों में सामंजस्य-स्थापना के कार्य में संलग्न रही है।

विषयवस्तु को कलारूप में ढालने (या उसके ढल जाने) की प्रक्रिया को शिल्पविधि कहते हैं। उपन्यासकार की मूलसंवेदना तथा प्रयोजन शिल्प को नियत करते हैं, और वे शिल्प से ही व्यंजित होते हैं। दोनों निष्क्रिय वस्तुएँ नहीं और एक दूसरे को प्रभावित करती हैं। दोनों की एकता-विषमता में उपन्यास की प्रभावशीलता बढ़ती-घटती है। सुविन्यस्त उपन्यास की पहचान यही है कि सारा शिल्प विषयाभिव्यंजन करे और सारा विषय शिल्पित हो जाए। शिल्प की सार्थकता विषय के अधिक से अधिक अनुकूल होकर उसके प्रभावी सम्प्रेश्रण में निहित है। तदनुकूल नव्यता की समस्या भी अभीप्सित प्रयोजन एवं प्रभाव-सृष्टि को लेकर है।

उपन्यास का इतिहास बताता है कि उसमें प्रारम्भ से आगे तक विषय में ही नहीं, शिल्प में भी सतत परिवर्तन होते रहे हैं। अन्य सभी साहित्यांगों से उपन्यास की सर्वाधिक रूपांतरणीय क्षमता में इन परिवर्तनों की सहज गुंजायश रही है। औपन्यासिक शिल्प-परिवर्तन के अन्य कारण ये हैं—१. रूपाकारों की अपेक्षाकृत परम्परामुक्तता, २. प्रतिभावान कलाकारों की नवनवोन्मेषिणी शक्ति तथा अपना-अपना स्वभाव-वैशिष्ट्य, ३. परिवर्तित विषयों का प्रोद्दीपन, ४. प्रायोगिक नव्यता के आकर्षण या आश्चर्य तत्व से जनित रोचकता, ५. युगधर्मी उपन्यास की निरन्तर यथार्थोन्मुखता की प्रवृत्ति।

---

१. Wright Morris : "The Territory Ahead", 'The Living Novel', P. 123.

प्रेमचन्दोत्तर युग में उपन्यास-साहित्य का विपुल विस्तार हुआ है। पूर्ववर्ती युगों का विशेष आग्रह कथनीय पर रहा और आलोच्य युग में ही उपन्यासकार शिल्प-सहज हुए। यही शिल्प-सजगता आगे अनेक अभिनव प्रयोगों में मूर्तिमंत हुई है। वस्तुतः, उपन्यास की लोचपूर्ण स्वच्छन्दता में अन्य साहित्य-रूपों को स्वयं में संविलय की जो अद्भुत सामर्थ्य है, उसका वास्तविक तथा प्रभूत परिचय इसी युग में मिला है। इसलिए अन्य साहित्य-कला-रूपों की सापेक्षता में निम्नस्थ रूपों में उपन्मास लिखे गए हैं—१. जीवनीमूलक २. रेखाचित्रात्मक ३. आत्मसंस्मरणात्मक ४. डायरीपरक, ५. रूपकात्मक ६. आलोचनात्मक ७. आत्मकथात्मक ८. कथा-आख्यायिकात्मक ९. कहानीमूलक १०. उपाख्यानात्मक ११. लोककथात्मक १२. महाकाव्यात्मक १३. पत्रात्मक १४. यात्रात्मक १५. संगीतात्मक १६. रिपोर्ताजात्मक १७. समालापात्मक १८. उपन्यास-दर-उपन्यास मूलक १९. सहलेखनात्मक।

प्रेमचन्द-पूर्व युग मुख्यतः रोमांस का था। प्रेमचन्द-युग (औपन्यासिक संगठन की दृष्टि से) प्रधानतया नाटक का और आधुनिक युग अपने विस्तार-वैविध्य में सभी साहित्य-विधाओं का हो गया है। शिल्प में ये रूपांतर उपरिलिखित पाँचों कारणों का परिणाम हैं; फिर भी इनमें से पाँचवाँ कारण प्रबल है। मार्क्स कामू, काफ़्का, सार्त्र और फ्रायड—विशेषतया फ्रायड—के प्रभावों के फलस्वरूप यथार्थ के जो नए क्षेत्र उद्‌घाटित हुए उन के—विशेषतया पात्रों के अन्यर्लोक के—अंकन-प्रयत्न में औपन्यासिक शिल्प में अनेक रूपांतर हुए। व्यक्ति की महत्ता स्वीकृत हुई। सामूहिकता की अपेक्षा आत्मपरकता का प्राधान्य हुआ। और आत्म की अभिव्यक्ति में शिल्प में सूक्ष्मता, परिष्कृति तथा परिसज्ज्यता को प्रश्रय मिला। व्यक्ति की अपने अस्तित्व-बोध की सजगता तथा व्यक्तियों की परस्पर-विच्छिन्नता परम्परागत रूपों में भी विद्रोह के रूप में प्रकट हुई। आधुनिक युग की वैयक्तिकता, बौद्धिकता, विश्लिष्टता, तटस्थता, द्रुत परिवर्तनशीलता, संघर्षमयता, तथा विशेषीकरण की प्रवणता ने समवेत रूप से शिल्प को प्रभावित किया है। अन्तर्मुखी उपन्यासों में विशेष शैल्पिक परिवर्तन का अग्रदूत 'शेखर' बना और बहिर्मुखी उपन्यासों में 'मैला आँचल' अग्रणी सिद्ध हुआ।

प्रस्तुत प्रबन्ध में मुख्यतया उपन्यास के सामान्य तत्वों के आधार पर इस प्रकार स्थूल वर्गीकरण किया गया है:—कथानक-प्रधान, अन्तरंग चरित्र-प्रधान, बहिरंग चरित्र-प्रधान, देश-प्रधान (आँचलिक), देशकाल-प्रधान (ऐतिहासिक), उद्देश्य-प्रधान तथा शिल्प-प्रधान। शिल्प-प्रधान वर्ग उपन्यास के किसी तत्व के आधार पर नहीं, अतएव यह ऊपर के अन्य उपन्यासों के भेद के सामान्य आधार से भिन्न है। यह भेद अभिव्यंजनात्मक उपन्यासों, या परम्परा-भिन्न नए प्रयोगों के समाहार के लिए किया गया है।

कथानक-प्रधान वर्ग में उदयशंकर भट्ट का 'सागर लहरें और मनुष्य', यशपाल का 'मनुष्य के रूप' तथा भगवतीप्रसाद वाजपेयी का 'चलते-चलते' लिए गए हैं। ये तीनों उपन्यास सोद्देश्य हैं किन्तु अपने उद्देश्य के अनुकूल संगत विधान न अपनाने के कारण कथानक-प्रधान हो गए हैं। इनमें घटनाएँ चरित्रों और लेखक के प्रधान प्रयोजन से स्वतन्त्र रह गई हैं। तीनों का अन्त संयोग-तत्व पर आश्रित है और वह औपन्यासिक विधान का परिणाम नहीं है। इन तीनों में सर्वाधिक शिल्पगत वैचित्र्य 'चलते-चलते' में है किन्तु वह प्रायः सार्थक नहीं। 'चलते-चलते' मनोवैज्ञानिक शैली-वैचित्र्य के होते हुए भी मनोवैज्ञानिक चरित्रांकन की स्थूलता का उदाहरण प्रस्तुत करता है। 'सागर लहरें और मनुष्य' उद्देश्य की एकता के अभाव में कला-दौर्बल्य को प्रमाणित करता है।

अन्तरंग चरित्र-प्रधान उपन्यासों में जैनेन्द्र का 'सुनीता', अज्ञेय का 'शेखर' तथा इलाचन्द्र जोशी का 'संन्यासी' लिए गए हैं। सभी मनोविश्लेषणात्मक हैं। 'सुनीता' परम्परित इतिहास-शैली में लिखा हुआ है; 'संन्यासी' आत्म विश्लेषणात्मक है तथा 'शेखर' आत्मसंस्मरणात्मक। 'संन्यासी' में ग्रंथिग्रस्त मानव के समाजघाती रूप का अंकन तथा कुछ सामाजिक आलोचना का समावेश है; 'सुनीता' में ग्रंथियुक्त पात्रों की युक्तिकरण प्रक्रिया के दार्शनिक पक्ष तथा प्रश्नता का प्राधान्य है; तथा 'शेखर' में शास्त्रसम्मत मनोवैज्ञानिकता के आलोक में संगतिक पात्र के क्रमिक चरित्र-विकास का निदर्शन अपने-आप में सिद्धि है—यहाँ आत्म-निरीक्षण तथा आत्म-समीक्षण द्वारा आत्मोपलब्धि का प्रयत्न है। 'शेखर' में गत्यात्मक चरित्र के उत्तरोत्तर विरचन का सौन्दर्य है तो 'सुनीता' में अपेक्षतया स्थिर पात्रों के विश्लिष्ट वियोजन का सौन्दर्य। 'सुनीता' में पूर्ववर्ती हिन्दी-उपन्यास-परम्परा की दृष्टि से कथा, चरित्रांकन एवं भाव-विकास की दृष्टि से नव्यता है तो 'शेखर' में अभिनव शिल्प-विधान का सार्थक स्वरूप। 'संन्यासी' के शिल्प में पूर्व-परम्परा के संस्कार सर्वाधिक हैं।

बहिरंग चरित्र-प्रधान वर्ग में जैनेन्द्र का 'त्यागपत्र', अश्क का 'गिरती दीवारें', 'निराला' का 'बिल्लेसुर बकरिहा' तथा अमृतलाल नागर का 'सेठ बाँकेमल' लिए गए हैं। इन सभी उपन्यासों में यद्यपि चारित्रिक रहस्यों की नहीं, सामाजिक प्रवृत्तियों की; वैयक्तिक विडंबनाओं की नहीं, सामाजिक विषमताओं की व्यंजना हुई है, तथापि उनका आधार नायक का चरित्र-वैशिष्ट्य ही रहा है, अतएव उद्देश्य की भी व्यंजना हुई है, मुखर अभिव्यक्ति नहीं। उद्देश्य-प्रधान रचनाओं से इनका यही अन्तर है। 'त्यागपत्र' का धरातल सामाजिक के साथ दार्शनिक भी है और इसमें कुछ मनोवैज्ञानिक तत्व भी हैं। यह लघु-उपन्यास की प्रभावान्विति तथा संवेदनामय धरातल का अच्छा उदाहरण है। इसमें अन्य तीनों की तरह व्यंग्यात्मकता नहीं है। इसके अतिरिक्त यह प्रत्यक्ष सामाजिक तथा दार्शनिक समस्याओं के ध्वनन का उदाहरण प्रस्तुत करता

है। 'गिरती दीवारें' में मध्यवर्गीय विडम्बनापूर्ण जीवन का परिपूर्ण तटस्थ अंकन है। इसमें परिपार्श्व का चित्रण इस वर्ग के चारों उपन्यासों से अधिक सूक्ष्म एवं व्यापक है। यथातथ्यता के कारण इसमें अनावश्यक तथ्यों का संयोजन हो गया है, जिससे उजागरीय पक्ष उभरने नहीं पाए। 'बिल्लेसुर बकरिहा' में कुछ आँचलिक उपकरण हैं और यह रेखाचित्रात्मक विधान से ग्राम-जीवन के यथार्थ को ध्वनित करता है। 'गिरती दीवारें' की तटस्थ व्यंग्यात्मकता यहाँ भी है किन्तु परिहास के साथ। 'सेठ बाँकेमल' हास्य-उपन्यास है और चारों उपन्यासों से अधिक रंजक एवं आकर्षक है। यद्यपि यह पात्रबद्ध कहानियों एवं स्थान-समय-कार्य के नाटकीय संकलन के समन्वित शिल्प पर प्रतिष्ठित अभिनव प्रयोग है, फिर भी इसकी सबसे बड़ी उपलब्धि बाँकेमल का व्यक्तित्व है, जो स्वयं पर व्यंग्य भी है।

देश-प्रधान अथवा आँचलिक उपन्यासों के वर्ग में शिवप्रसाद मिश्र 'रुद्र' का 'बहती गंगा', नागार्जुन के 'बलचनमा' तथा 'बाबा बटेसरनाथ' तथा 'रेणु' के 'मैला आँचल' एवं 'परती : परिकथा' लिए गए हैं। स्थान-ऐक्य सभी में है और यही तत्त्व इनके सम्पूर्ण शिल्प का नियामक एवं संचालक है। 'बहती गंगा' में स्थानबद्ध विभिन्न कहानियों के माध्यम से काशी के दो सौ वर्षों के जीवन की झाँकियाँ प्रस्तुत की गई हैं। इस तरह यह आँचलिक के साथ कालिक भी है। यहाँ पात्र की बजाय स्थान को नायकत्व प्राप्त है। परम्परागत अर्थ में यह कथा-रहित उपन्यास है। 'बलचनमा' वादयुक्त आँचलिक उपन्यास की सीमाओं को स्पष्ट करता है और नायकयुक्त है। 'मैला आँचल' और 'परती : परिकथा' आँचलिक उपन्यासों के परिपूर्ण अभिनव शिल्प को उदाहृत करते हैं। इनमें से पहला कथा-नायक-रहित है, दूसरा लगभग कथा-नायक-रहित। सामूहिक शैली, प्रच्छन्न हास्य-व्यंग्य तथा चलचित्रात्मक दृश्य-पद्धति से अंचल के यथातथ्य उरेहण में इन दोनों उपन्यासों का पृथक् वैशिष्ट्य है। 'बाबा बटेसरनाथ' लोक-विषय के अनुरूप लोक-कथा-शिल्प का अनोखा उदाहरण प्रस्तुत करता है। बाबा बटेसरनाथ के रूप में स्मरणीय पात्र की सर्जना में इस रचना का वैशिष्ट्य है।

देशकाल-प्रधान या ऐतिहासक उपन्यासों में राहुल सांकृत्यायन का 'मधुर स्वप्न' यात्रात्मक प्रचार-प्रधान उपन्यास है। वृन्दावनलाल वर्मा का 'मृगनयनी' एक ओर ऐतिहासिक उपन्यास है, दूसरी ओर उद्देश्य-प्रधान। अन्य अनेक सफल विशेषताओं के होते हुए भी इस उपन्यास के विधान से पाठक वह नहीं ग्रहण कर पाता, जो लेखक का प्रधान प्रतिपाद्य रहा है। यशपाल का 'दिव्या' समस्यामूलक तथा समन्वित शिल्प के सौंदर्य को उदाहृत करता है। 'वैशाली की नगरवधू' चतुरसेन शास्त्री के अनुसार 'इतिहास रस' का उपन्यास है किन्तु यह उससे सिद्ध नहीं हो पाया। इसमें रमणीयता से अधिक

मनोरंजकता है। वर्माजी की 'झांसी की रानी' वर्तमान के निकटवर्ती काल-खण्ड पर आधृत इतिहास-प्रधान जीवनीमूलक उपन्यास है। यह कुछ गुणों के साथ इतिहास-प्रधान उपन्यास के दोषों को प्रस्तुत करता है। रांगेय राघव का प्रागैतिहासिक 'मुर्दों का टीला' कल्पना-प्रधान उपन्यास के कला-साफल्य को प्रमाणित करता है। हजारीप्रसाद द्विवेदी का 'बाणभट्ट की आत्मकथा' ऐतिहासिक उपन्यासों में प्रायोगिक नूतनता की सफलता को उदाहृत करता है।

उद्देश्य-प्रधान उपन्यासों के वर्ग में अमृतलाल नागर का 'बूंद और समुद्र' विचार-प्रधान उपन्यास के दोषों की अपेक्षा गुणों का अधिक निदर्शक है। इसमें बहिर्मुखी तथा अन्तर्मुखी उपन्यासों की कला का अभूतपूर्व समन्वित समोत्कर्ष मिलता है। यह महाकाव्यात्मक गरिमा का प्रतिभास देता है। डॉ० देवराज का 'पथ की खोज' भी विचार-प्रधान उपन्यास है। इसका वैशिष्ट्य विचारों के पूर्वग्रह-रहित संतुलित प्रस्तुतीकरण में है। इसका दौर्बल्य विधान-बाह्य विचारों के अधिकाधिक समावेश के लोभ में है। इलाचन्द्र जोशी का 'जहाज़ का पंछी' उद्देश्य-प्रतिपादन की आधारभूमि की पूर्व-योजना तथा कृत्रिमता के कारण प्रभाव के परिसीमन का उदाहरण प्रस्तुत करने वाला उपाख्यानात्मक रोचक उपन्यास है। भगवतीचरण वर्मा का 'चित्रलेखा' और लक्ष्मीनारायण लाल का 'बया का घोंसला और सांप' एकल समस्या के समाहृत वस्तु-विधान का उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। इसके साथ ही ये दोनों, अपनी-अपनी विधि से, आरोपित अंत के उदाहरण भी हैं। 'चित्रलेखा' की आधारभूमि तात्विक है, 'बया का घोंसला और सांप' की सामाजिक। पहला विचारप्रधान है, दूसरा संवेदनाप्रधान। फिर भी, 'चित्रलेखा' का भावमय धरातल भी पर्याप्त पुष्ट है।

शिल्प-प्रधान वर्ग के अन्तर्गत सात अभिव्यंजनात्मक उपन्यास लिए गए हैं। 'अज्ञेय' का 'नदी के द्वीप' मिश्रित शिल्प-विधियों के सौष्ठव तथा प्रोन्नत भाषा-चमत्कार से सौन्दर्य-बोध विषयक आनन्द देता है। नरेश मेहता का 'डूबते मस्तूल' अपने घटनात्मक एवं सामाजिक विषय के विपरीत सयय-सीमा के भ्रामक शिल्प-प्रयोग से विषय को क्षतिग्रस्त किंतु अपने वैचित्र्य से पाठकों के प्रसादन करने का उदाहरण प्रस्तुत करता है। प्रभाकर माचवे का 'परन्तु' प्रधानतया उद्धरण-पद्धति तथा गौणतया चेतना-प्रवाह पद्धति के संयुक्त चमत्कारी शिल्प से चौंकाता और अगठित शिल्प से उलझाता हुआ विषय से प्रायः विकर्षित करने का उदाहरण प्रस्तुत करता है। 'काठ का उल्लू और कबूतर' लोककथात्मक हास्य-व्यंग्यमय सामान्य प्रयोग है। धर्मवीर भारती का 'सूरज का सातवाँ घोड़ा' और गिरिधर गोपाल का 'चांदनी के खण्डहर' क्रमशः अपने आलोचना-सहित कहानी-शिल्प तथा समय-सीमा के संगीतिकृत प्रयोग से जितना चमत्कृत करते हैं, उतना ही विषयोत्कर्ष करते हैं। 'सूरज का सातवाँ घोड़ा' के प्रच्छन्न हास्य-विधान में अपना पृथक् वैशिष्ट्य है। सर्वेश्वरदयाल सक्सेना का

'सोया हुआ जल' अनेक व्यक्तियों के भाव-विचारों तथा कार्यों, या एक ही व्यक्ति के अन्तर्बाह्य वैषम्य का समकालवर्तित्व दिखाने की कथ्य-नव्यता की वश्यता से अभिनव शिल्प की अनुयोज्यता का उदाहरण प्रस्तुत करता है। यह पूर्णतया दृश्य-पद्धति में लिखा प्रतीकात्मक तथा रूपकात्मक प्रयोग है। वैचारिक एकांगिता एकं उद्देश्य-मुखरता ने इसकी सफलता परिसीमित कर दी है।

सारांश में, प्रत्येक आलोच्य उपन्यास की बहुत-कुछ अपनी-अपनी प्रविधि है। प्रेमचन्दोत्तर युग के श्रेष्ठ उपन्यासों से यह सिद्ध है कि हमें उपन्यास की प्रविधि की नहीं, उपन्यास की प्रविधियों का विवेचन करना चाहिए। इसके अतिरिक्त, जहाँ यह सही है कि विन्यास या विरचन की निपुणता स्पष्ट जीवन-दृष्टि एवं समृद्ध सामग्री की माँग कर सकती है, वहाँ पूरक रूप में यह भी उतना ही सही है कि समृद्ध सामग्री विधानगत निपुणता का स्थानापन्न नहीं हो सकती।[१] हिन्दी के अनेक प्रसिद्ध उपन्यासों का अभीष्ट प्रभावपूर्ण न हो सकने का कारण बहुत-कुछ शिल्पगत दौर्बल्य है। इन दुर्बलताओं में से एक सामान्य दुर्बलता विधेय और विधान की विसंगति में है, जिससे लेखक जिस मूल उद्देश्य को लेकर चलता है उसे पाठक ग्रहण नहीं कर पाता—लेखक कुछ और कहता है और कहलाता रहता है और घटनाएँ और पात्र कुछ और ध्वनित करते रहते हैं।[२] एक और दोष उपन्यासों के आरोपित समापन में है। कहीं किसी लेखक पर निराशावाद का आरोप न लगा दिया जाए इसलिए उपन्यास में चित्रित सामाजिक विषमता से जनित करुण प्रभाव के विपरीत ऊपर से आशावाद लाद दिया जाता है।[३] इस तरह यह औपन्यासिक शिल्प से अध्वनित लेखक की अपनी आस्था होती है। उपन्यास की मूल हार्द के विपरीत नाटकीक या सांयोगिक चमत्कारों से पूर्ण अन्त भी किन्ही उपन्यासों के विकलात्मक समापन के कारण बने हैं।[४] इस वैज्ञानिक युग में भी संयोग तथा भाग्य के करिश्मों, या घटना-चमत्कारों[५] पर आश्रित लोकप्रिय कथानक-निर्माण की परम्परित पद्धति का अवलम्ब भी कुछ उपन्यासों में विशेष रूप से लिया गया है।[६] अनेक उपन्यासों के रजंन-तत्व की प्रकृति तथा उनके सामाजिक आशय की गम्भीरता में मेल नहीं हो सका।[७]

१. "झांसी की रानी", "अहिल्याबाई"।
२. "मृगनयनी", "चित्रलेखा", "सूना आसमान" (बलवंतसिंह)।
३. "डूबते मस्तूल", "सूरज का सातवाँ घोड़ा", "मैला आँचल"।
४. "चलने-चलने", "मनुष्य के रूप", "सागर लहरे और मनुष्य", "प्यासा पानी"।
५. "उखड़े हुए लोग", "अनदेखे अनजान पुल"।
६. भगवती प्रसाद वाजपेयी तथा शिवानी ("चौदह फेरे") के उपन्यास।
७. "सरहदों के पार" (डाक बंगला), "डूबते मस्तूल"।

अथवा आकर्षक-रजंक स्थल स्वयं में उलझा कर उपन्यास के मूल उद्देश्य से विरत-सा कर देते हैं।[1]

उपन्यासकारों की एकल दृष्टि की शिथिलता, या सर्जनात्मक कल्पना की क्षीणता, या प्रकाशन ध्येय के स्खलन से किन्ही उपन्यासों में एके स्वयंपूर्ण प्रसंगों का निरर्थक समावेश हो गया है, या किन्ही पात्रों को केन्द्रीय पात्र से अधिक महत्व मिल गया है जिस से उपन्यासों की समन्विति कुंठित हुई है।[2]

यथातथ्यता के आग्रह से कला के सर्वमान्य चयन सिद्धांत तथा समानुपात बोध की अवहेलना[3] और गाली-गलौज से लेकर जीवन के अशोभन प्रसंगों के ब्यौरे[4] देने की प्रवृत्ति से भी किन्हीं उपन्यास में प्रभाव-शिथिलता आई है। कुछ उपन्यासों में योजनाबद्ध विधान की कृत्रिमता मिलती है।[5] कुछ में प्रयोग के लिए प्रयोग करने की व्यर्थता, या अनेक शिल्पविधियों के जमघट से चमत्कार उत्पन्न करने का व्यामोह भी मिलता है।[6] किन्हीं उपन्यासों में किसी विशेष शैली तथा तकनीक को अपनाया तो गया है किन्तु उसके औचित्य-निर्वाह या स्वरूप-रक्षा की चिंता नहीं की गई।[7] अन्य दोषों में मुख्य हैं— मतवादी एकांगिता,[8] प्रचारण-शिक्षण की भाषण बाजी[9] या निबन्ध-प्रचुरता,[10] विधान-बाह्य विचारों के अधिकाधिक समावेश की लोभ-प्रवणता।[11] कुछ उपन्यासों में पाठकों की ग्रहणशीलता पर आवश्यकता से अधिक बल देने के कारण आवश्यक वक्तव्यों से बचा गया है,[12] तो कुछ में पाठकों की ग्राहक-क्षमता पर

१. "नदी के द्वीप", "बूँद और समुद्र", "अमृत और विष", "उखड़े हुए लोग"।
२. "भूले बिसरे चित्र", "चारुचन्द्रलेख", "मृगनयनी", "शहर में घूमता आईना"। "मैला आँचल", "अमृत और विष", "झूठ सच", "अँधेरे बन्द कमरे"।
३. "गिरती दीवारें", "शहर में घूमता आईना", "मैला आँचल"।
४. यशपाल तथा नागार्जुन के उपन्यास।
५. जैनेन्द्र तथा भगवतीचरण वर्मा के उपन्यास; "सुनीता", "सामर्थ्य और सीमा" "जहाज का पंछी" आदि।
६. प्रभाकर माचवे के उपन्यास, "तन्तुजाल"।
७. 'चारुचन्द्रलेख' की आत्मकथात्मक शैली; 'छोटी सी बात' की पत्र-शैली; डायरी-शैली में लिखे उपन्यास अनेक स्थलों पर निबन्ध बन गए हैं; जैसे, "जयवर्द्धन"।
८. "सोया हुआ जल", नागार्जुन के अनेक उपन्यास, "वे दिन"।
९. इलाचन्द्र जोशी के उपन्यास।
१०. राहुल सांकृत्यायन तथा इलाचन्द्र जोशी के उपन्यास; "जयवर्द्धन"।
११. "पथ की खोज", 'बूँद और समुद्र"।
१२. "अपने अपने अजनबी", "अर्थहीन"।

अविश्वास कर अनावश्यक वक्तव्यों का आश्रय लिया गया है ।[1]

इन दोष-दुर्बलताओं के होते हुए भी, समग्रतः, प्रेमचन्द-परवर्ती उपन्यासकारों ने सभी मूल्यवान नूतन प्रविधियाँ प्रस्तुत की हैं, जिनकी उपेक्षा सहज ही सम्भव नहीं। जीवन-जैसी चपल तथा रूपांतरणीय वस्तु को पकड़ने के लिए भविष्य का मेधावी उपन्यासकार भी इन नई-नई तकनीकों के प्रबल साधनों का कभी भी त्याग नहीं करेगा—चाहे वह अपनी आवश्यकता के अनुसार इन का अनुकूलन, संशोधन तथा परिष्कार क्यों न कर ले। हम यह नहीं समझते कि आधुनिक उपन्यासकार शिल्प-व्यामोह में उलझ गया है, वह तो शिल्प-महत्ता की ओर यत्किंचित् सजग हो गया है, जो वांछनीय है तथा इस दिशा में और प्रगति श्लाध्य होगी; क्योंकि सारी महान कलाएँ प्रभावशाली सम्प्रेषण की सिद्धि के लिए तीव्र संघर्ष करती हैं।

---

१. "बूँद और समुद्र, "बाणभट्ट की आत्मकथा", "झाँसी की रानी"।

संदर्भ-ग्रंथ-सूची

अमृतलाल नागर : अमृत और विष : १९६६ : लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद।
सुहाग के नूपुर : १९६० : राजकमल प्रकाशन, दिल्ली।
अज्ञेय : अपने-अपने अजनबी : १९६१ : भारतीय ज्ञानपीठ, काशी।
,, : एक बूंद सहसा उछली : १९६० : ,,
इलाचन्द्र जोशी : निर्वासित : २००३ वि० : भारती भण्डार, प्रयाग।
उपेन्द्रनाथ अश्क : रेखाएँ और चित्र : नीलाभ प्रकाशन, इलाहाबाद।
एस० पी० खत्री : हास्य की रूपरेखा : हि० प्रकाशन, बनारस।
किशोरीलाल गोस्वामी : प्रणायिनी परिणय : श्री सुदर्शन प्रेस, वृन्दावन।
,, : राजकुमारी (१९१६)।
,, : अँगूठी का नगीना (१९१८)।
कैलाश प्रकाश : प्रेमचन्द्र-पूर्व हिन्दी उपन्यास : १९६२ : हिन्दी सा० संसार, दिल्ली।
गणेशन : हिन्दी उपन्यास साहित्य का अध्ययन : १९६२ : राजपाल, सं० दिल्ली।
गंगाप्रसाद पाण्डेय : हिन्दी कथा साहित्य : २००८ वि० : भारती भण्डार, इलाहाबाद।
गिरिजादत्त शुक्ल गिरीश : साहित्य वार्ता : भारतीय सा० मन्दिर, दिल्ली।
गुलाबराय : सिद्धान्त और अध्ययन : १९५१ : आत्माराम सं०, दिल्ली।
,, : काव्य के रूप :
गोपीनाथ तिवारी : ऐतिहासिक उपन्यास और उपन्यासकार : साहित्य रत्न भँडार, आगरा।
गोविन्द त्रिगुणायत : शास्त्रीय समीक्षा के सिद्धान्त : १९५९ : भारतीय साहित्य मन्दिर, दिल्ली।
चन्द्रगुप्त विद्यालंकार : हिन्दी कथा साहित्य में पंजाब का अनुदान : भाषा विभाग, चण्डीगढ़।
जगन्नाथप्रसाद शर्मा : हिन्दी की गद्य-शैली का विवेचन : नागरी प्र० सभा, काशी।
,, : हिन्दी कहानी का रचना-विधान : हि० प्र०, काशी।
जैनेन्द्र कुमार : परख : १९२९ : हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकार, बम्बई।
दशरथ ओझा : समीक्षा-शास्त्र : द्वि० स० : राजपाल, सं० दिल्ली।
देवराज : साहित्य चिन्ता : १९५० : गौतम बुक डिपो, दिल्ली।
,, : आधुनिक समीक्षा : प्र० सं० राजकमल प्र०, दिल्ली।
,, : साहित्य और संस्कृति : १९५८ : नंदकिशोर एण्ड ब्रादर्स, काशी।
,, : रोड़े और पत्थर।
,, : अजय की डायरी : १९६० राजपाल सं०, दिल्ली।
देवराज उपाध्याय : आधुनिक हिन्दी कथा साहित्य और मनोविज्ञान : १९५६ : : साहित्य भवन, इलाहाबाद।

देवराज उपाध्याय : कथा के तत्व : १९५७ : ग्रंथमाला का०, पटना।
धीरेन्द्र वर्मा आदि : सम्पा : हिन्दी साहित्य कोश : ज्ञानमण्डल, काशी।
नगेन्द्र : काव्य-चिन्तन : नव भारत, मेरठ।
,, : विचार और अनुभूति : नेशनल पब्लिशिंग, दिल्ली।
,, : विचार और विश्लेषण : १९५५ संस्करण ,, ।
नरेश मेहता : दो एकांत : १९६५ : लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद।
निर्मल वर्मा : वे दिन : १९६४ : राजकमल प्रकाशन, दिल्ली।
पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी : हिन्दी कथा साहित्य : हिन्दी ग्रंथ रत्नाकर, बम्बई।
प्रकाशचन्द्र गुप्त : आधुनिक हिन्दी साहित्य : एक दृष्टि : १९५१ : आलोक प्रका० : बीकानेर।
,, : नया हिन्दी साहित्य : एक दृष्टि : १९४६ : सरस्वती प्रेस, बनारस।
प्रभाकर माचवे . संतुलन : १९५४ : आत्माराम स० दिल्ली।
,, : सांचा : १९५५ : नया साहित्य प्र०, नई दिल्ली।
प्रतापनारायण टण्डन : हिन्दी उपन्यास में कथा-शिल्प का विकास : १९५९ हिन्दी साहित्य भण्डार, लखनऊ।
प्रेम भटनागर : इलाचन्द्र जोशी : साहित्य और समीक्षा : मध्यप्रदेश सा० प्र०, बिलासपुर।
प्रेमचन्द्र : कुछ विचार : वर्तमान संस्करण १९६१ : सरस्वती प्रेस, इलाहाबाद।
फणीश्वरनाथ 'रेणु' : दीर्घतपा : १९६३ : बिहार ग्रंथ कुटीर, पटना।
,, : कितने चौराहे : १९६६ : राधाकृष्ण, दिल्ली।
ब० ल० कोतमिरे : हिन्दी गद्य के विविध साहित्य-रूपों का विकास : किताब महल, इलाहाबाद।
ब्रजरत्न दास : हिन्दी उपन्यास साहित्य : २०१३ वि० : हिन्दी साहित्य कुटीर, बनारस।
भगीरथ मिश्र : हिन्दी साहित्य का उद्भव और विकास . हिन्दी भवन, इलाहाबाद।
भगवतशरण उपाध्याय : साहित्य और कला : १९६० आत्माराम स०, दिल्ली।
भैरव प्रसाद गुप्त : अन्तिम अध्याय : १९६६ : धारा प्र०, इलाहाबाद।
महेन्द्र, मक्खनलाल शर्मा : हिन्दी उपन्यास : सिद्धान्त और विवेचन : १९६३ : सा० र० भण्डार, आगरा।
महेन्द्र चतुर्वेदी : हिंदी उपन्यास : एक सर्वेक्षण : १९६२ : नेशनल पब्लिशिंग, दिल्ली।
यशपाल : देशद्रोही : ती० स० : विप्लव प्रकाशन, लखनऊ।
यज्ञदत्त शर्मा : हिन्दी के उपन्यासकार : १९५१ : भारती भवन, दिल्ली।
रघुनाथशरण झालानी : जैनेन्द्र और उनके उपन्यास : १९६२ : नेशनल पब्लिशिंग हॉउस दिल्ली।
रणवीर रांग्रा : हिन्दी उपन्यास में चरित्र-चित्रण का विकास : १९६१ : भारतीय साहित्य मन्दिर दिल्ली।
राजेन्द्र यादव : सारा आकाश : १९६० : राजकमल प्र०, दिल्ली।
रामदहन मिश्र : काव्य-दर्पण : ती० सं० : ग्रन्थमाला का० पटना।
रामविलास शर्मा : भारतेन्दु-युग : १९५६ : विनोद पुस्तक-मन्दिर, आगरा।

रामचन्द्र शुक्ल : हिन्दी साहित्य का इतिहास : काशी नागरी प्रचारिणी सभा, काशी।
रामेश्वर शुक्ल अंचल : चढ़ती धूप।
रामानन्द तिवारी : हिन्दी का गद्य साहित्य : १९५५ : विश्वविद्यालय प्र० गोरखपुर।
राहुल सांकृत्यायन : सिंह सेनापति।
लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय : बीसवीं शताब्दी हिन्दी साहित्य : नए सन्दर्भ : १९६६ : साहित्य भवन लि०, प्रयाग।
वृन्दावनलाल वर्मा : विराटा की पद्मिनी : गंगा ग्रंथमाला का०, लखनऊ।
,, : अहिल्याबाई : १९५५ : मयूर प्रकाशन, झाँसी।
वाचस्पति गैरोला : संस्कृत साहित्य का इतिहास : १९६० चौखम्बा विद्या भवन, वाराणसी।
विश्वम्भर मानव : प्रेमचन्द : १९६१ : किताब महल, इलाहाबाद।
विनयमोहन शर्मा : साहित्य, शोध, समीक्षा : १९६१ : भारती साहित्य मन्दिर, दिल्ली।
सम्पा० : भगवतीप्रसाद वाजपेयी अभिनन्दन ग्रंथ : सरस्वती सेवा सदन, कानपुर।
सत्येन्द्र : मृगनयनी : कला और कृतित्व : १९५३ : साहित्य प्र० मन्दिर, ग्वालियर।
,, : समीक्षा के सिद्धान्त : १९५२ : मनोहरलाल जैन, दिल्ली।
सियाराम शरण प्रसाद : वृन्दावनलाल वर्मा—साहित्य और समीक्षा : १९६० : साहित्य प्र०, दिल्ली।
सीताराम चतुर्वेदी : समीक्षाशास्त्र : २०१० वि० : अ० भा० विक्रम परिषद, काशी।
श्रीकृष्णलाल : आधुनिक हिन्दी साहित्य का विकास : हिन्दी परिषद, प्रयाग।
सुरेश सिनहा : एक और अजनबी : १९६३ : ममता प्रकाशन, इलाहाबाद।
,, : सुबह अँधेरे पथ पर : १९६७ : इकाई प्रकाशन, इलाहाबाद।
सुषमा धवन : हिन्दी उपन्यास : राजकमल प्रकाशन, दिल्ली।
श्यामसुन्दर दास : साहित्यालोचन।
शशिभूषण सिंहल : उपन्यासकार वृन्दावनलाल वर्मा : १९६० : विनोद पुस्तक मन्दिर आगरा।
शांतिप्रिय द्विवेदी : साकल्य : १९५५ : हिन्दी प्रचारक, काशी।
शिवदान सिंह चौहान : हिन्दी साहित्य के अस्सी वर्ष : १९५९ : राजकमल प्रकाशन, बम्बई।
,, : साहित्य की समस्याएँ : १९५९ : आत्माराम सन्ज, दिल्ली।
,, : आलोचना के मान : १९५८ रणजीत प्रिंटर्ज, दिल्ली।
,, : साहित्य अनुशीलन : १९५५ : आत्माराम एण्ड सन्ज, दिल्ली।
शिवनारायण श्रीवास्तव : हिन्दी उपन्यास : नया सं० : सरस्वती मन्दिर वाराणसी।
शिवकुमार मिश्र : वृन्दावनलाल वर्मा : उपन्यास और कला : १९५६ : रवि प्रका०, कानपुर।
हज़ारीप्रसाद द्विवेदी : हिन्दी साहित्य : अतरचन्द कपूर, दिल्ली।
त्रिभुवन सिंह : हिन्दी उपन्यास और यथार्थवाद : २०१२ : हि० प्र० बनारस।
पत्र पत्रिकाएँ : आलोचना, साहित्य-सन्देश, समालोचक, कल्पना आदि।

विशिष्ट उपन्यास :

(शोध-प्रबंध में आलोच्य उपन्यास)

अज्ञेय : शेखर : एक जीवनी : सरस्वती प्रेस, इलाहाब द।
,, : नदी के द्वीप (दूसरा संस्करण) : सरस्वती प्रेस, इलाहाबाद।
अमृतलाल नागर : सेठ बाँकेमल : किताब महल, इलाहाबाद।
,, : बूँद और समुद्र : किताब महल, इलाहाबाद।
इलाचन्द्र जोशी : संन्यासी (दसवाँ संस्करण) : भारती भण्डार इलाहाबाद।
,, : जहाज का पंछी : द्वि० सं० : राजकमल प्रेस, दिल्ली।
उपेन्द्रनाथ अश्क : गिरती दीवारें : तृ० सं० : नीलाभ प्र०, इलाहाबाद।
उदयशंकर भट्ट : सागर लहरें और मनुष्य : प्र० सं० : मसिजीवी प्र०, नई दिल्ली।
केशवचन्द्र वर्मा : काठ का उल्लू और कबूतर : प्र० सं० : साहित्य भवन, इलाहाबाद।
गिरिधर गोपाल : चाँदनी के खंडहर : प्र० सं० : साहित्य भवन, इलाहाबाद।
चतुरसेन शास्त्री : वैशाली की नगरबधु : च० सं० : शारदा प्र०, भागलपुर।
जैनेन्द्र कुमार : त्यागपत्र च० सं० हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर बम्बई।
,, : सुनीता : पां० सं० : हिन्दी-ग्रन्थ-र नाकर बम्बई।
देवराज : पथ की खोज : प्र० सं० : बुद्धिवादी प्र०, लखनऊ।
धर्मवीर भारती : सूरज का सातवां घोड़ा तृ० सं० : साहित्य-भवन, इलाहाबाद।
नरेश मेहता : डूबते मस्तूल : प्र० सं० : आत्माराम सं० दिल्ली।
नागार्जुन बाबा बटेसर नाथ : द्वि सं० : राजकमल प्र० दिल्ली।
,, : बलचनमा : द्वि सं०।
निराला : बिल्लेसुर बकरिहा : द्वि० सं० : किताब महल, इलाहाबाद।
प्रभाकर भाचवे : परन्तु : प्रगति प्रकाशन, नई दिल्ली।
फणीश्वरनाथ 'रेणु' : मैला आँचल : प्र सं० : राजकमल प्र०, दिल्ली।
,, : परती-परिकथा : प्र० सं० : राजकमल प्र०, दिल्ली।
भगवतीप्रसाद वाजपेयी : चलते-चलते : १९५१ : भारती साहित्य मन्दिर, दिल्ली।
भगवतीचरण वर्मा चित्रलेखा : सो० सं० : भारती भण्डार, प्रयाग।
यशपाल : मनुष्य के रूप : प्र० सं० : विप्लव कार्यालय, लखनऊ।
,, : दिव्या : ती० सं० : विप्लव कार्यालय, लखनऊ।
राहुल सांकृत्यायन : मधुर स्वप्न : प्र० सं० : आधुनिक पुस्तक-भवन, कलकत्ता।
रांगेय राघव : मुर्दो का टीला : १९५५ : किताब महल, इलाहाबाद।
लक्ष्मीनारायण लाल : बया का घोंसला और साँप : १९५४ : दिल्ली।
वृन्दावनलाल वर्मा : झाँसी की रानी : ती० सं० : मयूर प्रकाशन, झाँसी।
,, : मृगनयनी : पां० सं० : ,,।
सर्वेश्वरदयाल सक्सेना : सोया हुआ जल : 'काठ की घंटियाँ' में संकलित : प्र० सं० : भारतीय ज्ञानपीठ दिल्ली।
शिवप्रसाद मिश्र : 'रुद्र' : बहती गंगा : प्र० स० : राजकमल प्रकाशन, दिल्ली।
हजारीप्रसाद द्विवेदी : बाणभट्ट की 'आत्मकथा' : हिन्दी ग्र० : रत्नाकर, बम्बई।

अंग्रेज़ी के सन्दर्भ-ग्रन्थ

Adler, Alfred : Understanding Human Nature : George Allen & Unwin, London, 1946.

,, What life should mean to you : Little Brown, Boston, 1931.

Allen, Walter : Reading a Novel : Phoenix House Ltd., London, 1956.

,, The English Novel : Phoenix House Ltd. , London, 1954.

,, The Novel Today : Longmans Green & Co. Ltd., London, 1955.

Allport, Gordon W : Personality : A Psychological Interpretation, Constable & Co Ltd , London, 1956.

Allot, Mirium : Novelists on the Novels, First Edition, Routledge & Kegan Paul, London, 1959.

Ansbacher, Heinz L. ; Ansbacher, Rowena R. : The Individual Psychology of Alfred Adler, Basic Books, Inc. New York, 1956.

Baker, Ernest A : History of the English Novel. Vols. 1, 6: Barnes & Noble, Inc. New York, 1950.

Barret, William E : The Writer's Hand Book : Writer's Inc. Boston, 1952.

Beach, J. W : 20th Century Novel, Appleton-Century-Crafts : New York, 1956.

Boring, Edwin, Garrigues, Longfield. Herbert Sidney Weld, Harry Porter : Foundations of Psychology : Johan Willy & Sons, New York, 1948 Edition.

Bustcher, S. H : Aristotle's Theory of Poetry and Fine art : Fourth edition, Dover Publications, London

Carr, Edward Hallet : What is History : 1961.

Cary, Joyce : Art & Reality : Cambridge University Press, London, 1958.

Caudwell, Christopher : Illusion & Reality : People's Publishing House Ltd., Delhi, 1956.

Church, Richard : The Growth of the English Novel : Methuen & Co. Ltd,, London, 1951.

Clark, A. M : Studies in Literary Modes's : Oliver and Boyd, London, 1958.

Cohen, Morris R : The Meaning of Human History : The Open Court Publishing Co., Lasalle, Illinois, 1947.

Coleridge : Biographia Literaria

Collins, Norman : The facts of Fiction : Second impression, Victor Gollanez Ltd., London.
Cohen, John : Humanistic Psychology : First Edition, George Allen & Unwin, London, 1958.
Comfort, Alex : The Novel & our Time : Phoenix House Ltd., London, 1958.
Cowley, Malcolm (edited by) : Writers at work : Mercury Books, London, 1962.
Daiches, Dawid : The Present Age (After 1920) : The Cresset Press, London, 1958 Edition.
,, : The Novel and the Modern world : Eighth impression, The Cresset Press, London, 1938.
Dalbeize, R : Psycho-analytical Method and the Doctrine of Freud : trans T. F. Lindsay. Longman Green æ Co., London, 1941.
De, Sushil Kumar : History of Sanskrit Literature : University of Calcutta, 1947.
Duffin, Henry Charles : Thomas Hardy ; Third Ed. University of Manchester, 1937.
Edel, Leon : The Psychological Novel : Rupert Hart Davis, London, 1955.
Edel, Leon (editor) : The Selected letters of Henry James : Farrar, Straus & Cudahy, New York.
Eloit, T. S : The Sacred wood : Methuen & Co. Ltd. London, 1957.
Fielding, Henry : The History of Tom Jones' (General editor : G. F. Maine) : Collins, London & Glasgow, 1962.
Fox, Ralph : The Novel & The People : Foreign Languages Publishing House, Moscow, 1954.
Forster, E. M : Aspects of the Novel : Eighth impression, Edward Arnold & Co. London, 1947.
Freud, Sigmund (Trans. by John Riviere) : Introductory Lectures on Psycho Analysis : George Allen & Unwin Ltd., London, 1950.
,, : (trans. by Brill, A.A.) : The Basic writings of Sigmund Freud : Random House, 1930.
,, : (Trans. by Brill, A.A,) : Psychopathology of Everyday Life : Ernest Benn Ltd , London, 1960;
,, : New Introductory Lectures on Psycho-analysis : W. W. Norton, New York, 1933.
Grabo, Carl. H. The Technique of the Novel : Charles Serilner's & sons, New York, 1928.
George, W. L : A Novelist on Novels ; W. Collins Sons & Co. Ltd. London 1918.
Hadfield, J. A : Dreams and Nightmares : First Ed., Penguin Books London, 1954.
Hull Helen (editor) : The Writers Books Barnes & Noble, Inc., New York, 1956.
Huxley, Alduous : Point Counter Point : Chatto & Windus Ltd., London, 1954.

Hoffman, Frederick J : Freudianism and Literary Mind : Lousiana State University Press, Lousiana, 1957.
Harderson, Phillp : The Novel Today : John Lane, The Bodley Head Ltd. London 1936.
Hardy, Thomas : Life and Art : 1919.
Hicks, Gram-Ville : The Living Novel : The Macmillian Co., New York, 1957.
Humphrey, Robert : Stream of Consciousness in the Modern Novel : University of California Press, California, 1958.
J. Middleton Murry : The Problem of Style : Oxford University Press. London, 18th impression, 1952,
Kettle, Arnold : An Introduction to the English Novel : Vol. I, Fourth imp., Hutchinsons University Library, London, 1959
ed. Releigh, Walter : Style : Sixteenth impression; Edward Arnold & Co., London.
Klein, Malanie and Rivere, John : Love, Hate anp Reparation : Leon and Virginia Woolf
Litz, A Walton : The Art of James Joyce : Oxford University Press, London, 1961.
Lubbock Percy : The Craft of Fiction : Jonathan Cape, London, 1932.
Liddell, Robert ; Some Principles of Fiction : Jonathan Cape, London, 1953.
,, : A Treatise on the Novel : Second imp., Jonathan Cape, London, 1949.
Legget, H W: The Idea in Fiction : George Allen & Unwin Ltd., London, 1934
Lawrence, D H : (Edited by Beal, Anthony), Selected Literary Criticism, London, 1950
Leavis, F. R : The Great Tradition : Second imp.,Chatto & Windus,
Macdonell, A. A : History of Sanskrit Literature : Fifth ed., Munshi Ram Manohar Lal, Delhi, 1958.
Marx-Engles : Selected Correspondence : New York, London, 1942.
Marshall, Percy : Masters of the English Novel : Dobson Books Ltd., London, 1962
Mendilow, A. A : Time and the Novel : Peternevill Ltd., London, 1952.
Morgan, Charles : The Writer & his world : Macmillan & Co. Ltd., London, 1960.
Muir, Edwin : The Structure of the Novel : Hogarth Press, London, 1949.
Neil, Diana : A Short History of English Novel.
Newby, P. H : The Novel 1945-1950 : Longmans, Green & Co. London, 1956.
O' Faolain, Sean : The Vanishing Hero : Eyre & Spottis Woode, London, 1959.

O' Connar, William Van (ed.) : Forms of Modern Fiction : The University of Minnesota Press Minneapolis.
Priestly, J. B : The English Novel : Earnest Bern, Ltd, London, 1928.
Pascals, Roy : The German Novel : Manchester Uni. Press, 1956.
Phelps, William : The Advance of the English Novel : John Murry, London.
Rader, Melvin (editor) : A Modern Book of Aesthetics : Henry Holt & Co., New York, 1957.
Routh, H. V : English Literature and Ideas in the Twentieth Century : Lethuen & Co., London, 1948.
Reich, Welhelm (Trans. by Theodore Wolfe) : Character Analysis : Third ed, Vission Press Peter Nevilla, 1948
Scott James, R. A : The Making of Literature ; Secker & Warburg, London, 1956.
Shapire, Morris (ed.) : Henry James : Selected Literary Criticism : Heinemann, London, 1963.
Smith, James Henry & Parks, Edd Winfields : The Great Critics : Third ed., W. W. Norton & Co, New York.
Tate Allen : On the Limits of Poetry : The Swallow Press, NewYork, 1948.
Turnell, Martin : The Novel in France : Hamish Hamilton, London, 1951.
Vance, G. J : A Mirror of Personality : Williams & Norgate, London, 1927
Wain, John : Essays on Literature & Ideas : Macmillan & Co. Ltd., London, 1963.
Wagenknechet Edward : Cavalcade of the English Novel
Walsh, W. H : An Introduction to Philosophy of History : Hutchinson University Library, London.
Warren, Austin & Wellek, Rene. Theory of Literature : Jonathan Cape, London, 1961.
Watt, Ian : The Rise of the Novel : Chatto & Windus, London, 1957.
Woolf, Virginia : The Common Reader I : Eighth imp., English Uni. Press, London, 1951.
,, : The Death of the Moth : Fifth imp., The Hogarth Press, London, 1947.
Joseph T. Shipley's Dictionary of World Literary Terms.
London Magazine.
Sunday Observer, London.

अनुक्रमणिका

अंचल ८१, १०४	'चढ़ती धूप', ७८, १०९ 'सूखा पत्ता', ९५ 'ग्राम-सेविका' ९७ ○
अमरकान्त, ९७	
अमृतराय, ८१, ८२, १०४	'हाथी के दाँत', ८२ 'बीज' ८९ ○
अमृतलाल नागर, २३, २५, ७१, ७२ ७७, ७८, ८१, ९१, १०१, १०३, १०४, ११२, ११५-११७, ४००-४०७, ५००-५५५	'बूँद और समुद्र', २३, २५, ७२, ७८, ८७, ८९, ९१, ९२, ९६, १००, १०२-१०४, १०९, ११०, ५००-५५५, ९१२, ९१४ 'अमृत और विष' : ७१, ७२, ७८, ८६, ९१, ९३, ९६, १००, १०६, ९१८ 'ये कोठेवालियाँ' : ७२ 'सेठ बाँकेमल : ७७, ७८, १११, १२३, ३४३, ४००-४०७, ५०० 'सुहाग के नूपुर' : ७९, ९०, ९३, ९९, 'शतरंज के मोहरे', ७९, ९० 'महाकाल', ४००, ५०० 'चकल्लस', ४०० ○
अल्बेयर कामू, ७१	
अल्बर्टो मोराविया, ५८, ५५९	
अर्नेस्ट हेमिंग्वे, ९६	'बूढ़ा मछेरा और समुद्र', ९६
अर्नेस्ट बेकर, १८, २६, २७, ३१, ३३, ३७, ६२, ६२८	'द हिस्ट्री ऑव इंगलिश नॉविल' : १८, २६, २७, ३१, ३३, ३७, ६२, ६२८ ○
	असंतुलन, ९१३ ○

अज्ञेय, १५, ३७, ४५, ७१, ७३, ७५, ७६, ८०, ८१, ९८, ९९, १०७, १११, ११२, ११७, १४३, २०६, २४८-३०९, ७९८-८४६, ९१०

'शेखर : एक जीवनी' : १५, ३६, ४५, ७१, ७३, ७४, ७५, ७६, ७८, ८०, ८२, ८४, ८७, ८९, ९२, ९५, ९७, ९८, १००-१०२, १०५, ११४, ११७, १२३, १६३, २०३, २०६, २०७, २४८-३०९, ५६१, ७९८, ८१४, ९०९, ९१०

'नदी के द्वीप', १२, ३६, ७१, ७६, ७८, ७९, ८२-८४, ८५, ८७, ८९, ९२, ९७, ९९, १००, १०१, १०३, १०५-१०७, ११४, ११८, ७९८-८४६

'अपने-अपने अजनबी', ८७, ८९, ९९, ११०, १११, ४१४

'एक बूँद सहसा उछली', १११

O

'आग की कलियाँ', ७८

O

आर० एल० स्टीवेन्सन, २, २०३

'ए हम्बुल रेमॉन्सट्रेन्स', २

O

आर० डैलबेज, ८३

'साइकोएनालिटिकल मेथड···', ८३

O

आल्डर्स हक्सले, ५८, ५९, ६०, ४०९

'प्वॉइन्ट कॉउन्टर प्वॉइन्ट', ५८, ५९, ६०, ४०९

आन्द्रे जीद, ५८

आर्नाल्ड कैटिल, ६, २६, २७, ३५,

'एन इन्ट्रोडक्शन टु द इंगलिश नॉवेल', ६, २६, २७, ३५,

आस्टिन वारेन, ७८८

'थ्यूरी ऑव लिट्रेचर', ७८८

O

इलाचन्द्र जोशी, ७१, ७२, ८३, ८५, ८८, १००, १०३, १०४, ११२, ११३, २६३, ३०९-३४१, ४७३-५००. ८८१

'संन्यासी', ७१, ८५, ८८, ९१, ९२, ९५, ९८, २०६, २०७, ३०९-३४१, ४७३.

'जहाज़ का पंछी', ७२, ७८, ८७, ९०, ९९, १०२, ११४-११८, ४०१, ४७३-५००

'पर्दे की रानी', ८५, ४७३

'घृणामयी', ३०९

'निर्वासित', ६४, ४७३
'मुक्तिपथ', ६८, १०८, ४७३
'सुबह के भूले', १०८
'विवेचना', ८३, २६३

ई० एम० फॉस्टर, १, ५, १०, १७, ३८, ४२, ४३, ४६, ५८, ६०, ६७, ६८, १५६, २४६
'टू चीयर्स फॉर डेमोक्रेसी', १, ५
'ऐस्पेक्ट्स ऑव द नॉवेल', १७, ४२, ४३, ४६, ५८, ६०, ६७, ६८, १५६, २४६

इयन वाट, २८

उग्र, ११२

उदयशंकर भट्ट, ७१, ११०, १२५, १७६-२०२
'सागर लहरें और मनुष्य', ११, ६०, ६३, ६६, १२५, १७६-२०२
'वह जो मैंने देखा', ७१, १७६
'शेष-अशेष', ७८
'नए मोड़', १७६

उपेन्द्रनाथ अश्क, ८२, ८६, ६२, १०१, १०६, ११२, ११५, ११६, १२६, ३७५-४००, ४३४, ६१२, ७६८,
'सितारों के खेल', ३७५
'शहर में घूमता आईना', ७८, ८६, ३७५, ६१८
'गिरती दीवारें,' ८२, ८३, ८८, ८६, ६५, ६१०, ६११, ६१८
१०२, १०६, ११५, ३८३, ३७५-४००
'बाँधो न नाव इस ठाँव', ३७५
'पत्थर अलपत्थर', ६०, ६२
'बड़ी-बड़ी आँखें', १०६
'रेखाएँ और चित्र', २६६, ४३४, ६१२, ७००, ७६८

ए० ए० ब्रिल, १६४, २५३, २७३, २६२, ३१७, ४६४, ५३६, ५५०
'साइकोएनालिसिस टु डे', १६४, २७३
'द बेसिक राइटिंग्स ऑव सिगमंड फ्रायड', २५३, २६८, ३१७, ५५०

ए० ए० मैक्डॉनेल, ५५-५७
'ए हिस्ट्री ऑव संस्कृत लिट्रेचर', ५५, ५७

एंगस विल्सन, ४००
'राइटर्स एट वर्क', ४०

एच० बी० रूथ, डॉ०, ३	'इंगलिश लिट्रेचर एण्ड आयडियाज', ३
एच० डब्ल्यू० लैगेट, ६	'द आयडिया इन फिक्शन', ६
एंजिल्स, ८१	
एडलर, ७४, १९७, २५१, ५६८	'अण्डरस्टैण्डिग ह्यूमन नेचर', १९७, २५१
	'व्हाट लाइफ शुड मीन टु यू,' ५६८
	O
एडवर्ड वैगेननेट, १५	'कैवेलकेड ऑव द इंगलिश नॉवेल', १५
एडवर्ड हेलेट कार, ६२	'व्हाट इज़ हिस्ट्री', ६२ ६३
एडविन म्योर, ९८, २०३	'द स्ट्रक्चर ऑव द नॉवेल', ९८, २०३
	O
एण्टन चेखव, १०	
एन्ना बरबाल्ड, १९	'द ब्रिटिश नॉवेलिस्ट्स', १९
	O
एफ० आर० लेविस, ६	'द ग्रेट ट्रेडिशन', ६
	O
एलेक्स कम्फर्ट, ५८	'द नॉवेल ऑव ऑवर टाइम', ५८
एलेन टेट, ७, ३४, ४०, ४२	'ऑन द लिमिट्स ऑव पोयट्री', ७, ३४, ४०, ४२
एस० पी० खत्री, डॉ०, ३६९	'हास्य की रूपरेखा', ३६९
	O
	'ओस की माटी', ७८
	O
	'कथा सरित्सागर', ५४
	O
कमलेश्वर, ९२	'समुद्र में डूबा हुआ आदमी', ७८, ९२
	'एक सड़क सत्तावन गलियाँ', ९२
	'सरहदों के पार' (डाक बंगला), ९१३
	O
	'उसका बचपन', ९५
	O
कॉडवेल, १६, ३२-३४, ५९	'इल्यूज़न एण्ड रियल्टी', १६, ३२-३४-५९
	O
	कादम्बरी, ५४
	O

कार्ल एच० ग्रेबो, ५, ८, ११, ८९०, ८९१	'द टेक्नीक ऑव द नॉवेल', ५, ८, ११, ८९०, ८९१
	O
कॉलरिज, ४, २०,	बायोग्रेफिया लिट्रेरिया', २०
	O
क्राफोर्ड	
क्रिस्टोफर लैफ़ार्ज, २३०	
किशोरीलाल गोस्वामी, १५, ३६, ५४, ७३, ९०	'प्रणयिनी परिणय', १५, ५४
	'राजकुमारी', ३६
	'अँगूठी का नगीना', ९०
केशवचन्द्र वर्मा, ७२, ८६९	'काठ का उल्लू और कबूतर', ५७, ७२, ११८, ७८९, ८६९
	O
क्रोचे, ५, ३७	
कोहेन, ६४	'द मीनिंग ऑव ह्यूमन हिस्ट्री', ६४, ६५
गंगाप्रसाद पाण्डेय, ३०८, ३६३, ७१९	'हिन्दी कथा साहित्य', ३०८, ३६३, ७१९
गणेशन, डॉ०, १८०, ३७६, ४३४, ६७२	हिन्दी उपन्यास साहित्य का अध्ययन', १८०, ३७६, ४३४, ६७२
	O
	'ग्यारह सपनों का देश', ७२, ७९
	O
ग्राम विल हिक्स, ९	'द लिविंग नॉवेल', ९
गिरिजादत्त शुक्ल गिरीश, ७००-७०३ ८१०, ८४५,	'साहित्य वार्ता', ७००-७०३, ८१०, ८४५
	O
गिरिधर गोपाल, ६१, ७२, ७७, १११, ८८०-८९१	'चाँदनी के खण्डहर,' ३७, ६१, ७२, ७७, ९२, ९६, १११, ७८९, ८८०-८९१
गुरुदत्त, ६४, ८१, १०९	'इतिहास में भारतीय परम्परा', ६४
	'स्वाधीनता के पथ पर', ९०, १०९,
	'विकृत छाया', १०९
	स्वराज्य-दान', १०९
	'भावुकता का मूल्य', १०९
	'विश्वासघात', १०९
	O

गुलाब राय, डॉ०, १८०, ३४३, ७२६	'काव्य के रूप', १८०, ३४३ 'सिद्धान्त और अध्ययन', ७२६ O
गोपीनाथ तिवारी, डॉ०, ४१२, ६२६, ६४८, ६५७, ६५८, ६७४, ७१५, ७१९	'ऐतिहासिक उपन्यास और उपन्यासकार', ४१२, ६२६, ६४८, ६५७, ६५८, ६७४, ७१५, ७१९ O
चतुरसेन शास्त्री, ११२, ६४८-६७२	'वैशाली की नगरवधू', ६४८-६७२ 'सोमनाथ', ६४८ O
चन्द्रगुप्त विद्यालंकार, ५१, २४६	'हिन्दी कथा साहित्य में पंजाब का अनुदान', ५१, २४६ O
ज्यॉं पाल सार्त्र, ७१	
ज्यॉयस कैरी, ८, ९, १०, ५८	'आर्ट एण्ड रियैलिटी', ८, ९, ५८ O
जगदीश गुप्त, डॉ०, ४१२, ६२६, ६४८, ६५२, ६५७, ७०९, ७१३, ७१४, ७१९	
जगदीश पाण्डेय, २३९, २४०, २४३	'शील-निरुपण : सिद्धान्त और विनियोग,' २३९, २५९, २४३ O
जगन्नाथ प्रसाद शर्मा, डॉ०, ५१,५३, ११३	'कहानी का रचना-विधान', ५१, ५३ 'हिन्दी गद्य-शैली का विकास', ११३ O
जयशंकर प्रसाद, ६८, ८०, ११२, ११७	'इरावती', ३७, ११७ 'कंकाल', ८० O
जॉन कॉकटी, ६६	
जॉन कोहेन, २५७, २७३, २७४, ४२८	'ह्यूमैनिस्टिक साइकोलॉजी', २५७, २७३ २७४, ४२८ O
जॉर्ज मूर, १४	
जॉन रिवर, २५७	
जॉन वेन, ३ १६	'एसेज़ ऑन लिट्रेचर एण्ड आयडियाज़ ३, १६

जॉन हर्से, ४१०	'द राइटर्स बुक', ४१०
जे० ए० हैडफील्ड, २८३, ४६५	'ड्रीम्स एण्ड नाइटमेयर्स', २८३, ४६५
जे० जी० वान्स,	'ए मिरर ऑव पर्सनैलिटी'
जे० डब्ल्यू० आलपोर्ट, १०२	'पर्सनैलिटी : ए साइकोलॉजिकल इन्टरप्रेटेशन,' १०२
जे० बी० प्रिस्टले, ५०	'द इंगलिश नॉविल', ५०
जैनेन्द्र कुमार, १, ३, ४, ५, ४७, ५१, ७१, ७६, ८०, ८२, ८३, ८७, ९०, ९१, ९६, १०३, ११२-११६, १४३, २०६-२४७, ३४३-३६३	'साहित्य का श्रेय और प्रेय', १, ३, ४, ५, ४७, ५१, ८०, ८२, ८३, २०६, २०८, २२३, ३६२
	'त्यागपत्र', ४८, ७१, ७६, ९०, १०७, ११८, ३४३-३६३
	'सुखदा', ७१
	'जयवर्द्धन', ७१, ८७, ९०, ११४
	'सुनीता', ७४, ७५, ८०, ८२, ८४, ८७, ९२, ९७, ९८, १०२, १०७, १०८, ११२, ११८, २०६-२४७
	'कल्याणी', ८६, ९०, ५६१
	'व्यतीत', ८७
	'परख', ११२, २०७
जोसेफ़ टी० शिप्ले, १४, १८, २३, २४, २६,	'डिक्शनरी ऑव वर्ल्ड लिट्रेरी टर्म्स', १४, १८, २३, २४, २६
जोसेफ़ फ्रैंक, ४२	
तोल्सतोय	'एन्ना केरीनिना', ४५२
	'वार एण्ड पीस', २५, ४५९
टी० एस० इलिइट, ७	'द सेक्रेड वुड', ७
डफ़िन्स, १००, ५५७, ५९०, ६१५	'थॉमस हार्डी', १००, ५५७, ५९८, ६१४
डब्ल्यू० एच० वाल्श, ६२, ६३	'एन इन्ट्रोडक्शन टू द फिलॉसफ़ी ऑव हिस्ट्री', ६३

डार्विन, ७१
डेविड डेशेज, २२, ६४, ९६ — 'द प्रेज़ेन्ट एज', २२, ६४, ९६
त्रिभुवन सिंह, डॉ०, ४१२, ६२९, ६४८, ७०३, ७४० — 'हिन्दी उपन्यास और यथार्थवाद', ४१२, ६२९, ६४८, ७०३, ७४०
थाड्डियस एस० सम्स, २५६
थॉमस हार्डी, ५५७
थॉमस हालक्रापट, २९
थैकरे, २२ — 'वैनिटी फेयर', २२
O
'द जर्मन नॉवेल' २४
O
'दशकुमार चरित्र' ५४
O
दशरथ ओझा, डॉ०, १५, ७३ — 'समीक्षा-शास्त्र', १५, ७३
O
'दाढ़ी और मूंछ', ७२
O
'दिन के तारे', ७८
O
देवराज, डॉ०, ७१, ८०, ९९, १०४, ११०, २९१, ३०८, ३५३, ४५३-४७३, ५९२, ७९८, ८११, ८३८ — 'पथ की खोज', ८०, ८९, ९१, ९५, १०२, ४११, ४५३-४७३
'रोड़े और पत्थर', ८२
'अजय की डायरी', ९९, १०२, १०७, ११०
'साहित्य और संस्कृति', २९१, ३०८, ५९२
'साहित्य-चिन्ता', ३५३
'आधुनिक समीक्षा', ७९८, ८११, ८३८
O
देवराज उपाध्याय, डॉ० ३१, १२६, २३५, २५१, ४१३, ४५३, ४८५, ६४८, ६५०, ७८९, ७९८, ८०९, ८१४-८१५, ८२१ — 'आधुनिक हिन्दी कथा-साहित्य और मनोविज्ञान' २३५, २५१, ७८९, ८०९, ८१४-९१५, ८२१,
'कथा के तत्व', ४१३, ४५३, ७९८
O

देवेन्द्र सत्यार्थी, ११०, ११७

धर्मवीर भारती, डॉ०, ४८, ५३, ७१, ७६, ८२, ९०, ११२, ११५, ८४६, 'सूरज का सातवाँ घोड़ा', ४८, ५३, ५७, 'ग्यारह सपनों का देश' ७१, ७६, ८७, ७८, ८२, ७७, ९१, ९२, ११५, ११८, ७८९, ८४६, ९१२, ९१३
'गुनाहों का देवता', ७८, ८४६
O

नगेन्द्र, डॉ०, २४८, २४९, २५७, २५८, २६४, २९९, ३०८, ३४३, ३६५, ३७३, ३७४, ७११, ७१८ 'विचार और अनुभूति', २४८, २६४, २५७-२५८, २९९, ३०८, ३४३, ३४४
'विचार और विश्लेषण', ३६५, ३७३, ३७४
'काव्य-चिन्तन', ७११, ७१८
O

नन्ददुलारे वाजपेयी, ४८, १८०, ३०८, ३५२, ३५४, ४७३, ५०१, ८४७, ८७० 'आधुनिक साहित्य', ४८, ३५३, ३५४

नरेश मेहता, ८८, १०३, ११०, ११२, ११५, ११९, ८७०-८८० 'दो एकान्त', ८७, ८८
'डूबते मस्तूल', ९०, १११, ११०, ११९, ७८९, ८७०-८८०
'यह पथ बन्धु था', ९१, ९६, ११५
'नदी यशस्वी है', ९१, ९५, १०३
'धूमकेतु : एक श्रुति, ९५, १०३
O
'नवाब लटकन', ७९
O

नागार्जुन, ७२, ७७, ८१, ८२, ८६, ८९, १००, १०४, १०९, ११०, ११२, १८०, ५०१, ५५७, ५६१-५७३, ६१२-६२३ 'बाबा बटेसरनाथ', ७२, ७८, ११७, ४३४, ५६१-५६३, ६१२-६२३
'बलचनमा' ७७, ७८, ८२, ९२, १०२, ५५७, ५६१-५७३ ६१२, ६१२
'रतिनाथ की चाची', ८२, ५६१
'नई पौध', ६१२
O

नॉर्मन कॉलिन, ४६ 'द फैक्ट्स ऑव फिक्शन', ४६

नील, ४२ 'ए शॉर्ट हिस्ट्री ऑव इंगलिश नॉवेल' ४२

निर्मल वर्मा, ७१, १०५, १०७, ११०, ११५
'वे दिन', ७१, ९१, ९७, १०५, १०७, ११०, ११५, ९१४

निराला, ७१, ८२, ११५, ११७, ३६३-३७४, ५५७, ९१०
'बिल्लेसुर बकरिहा', ७१, ७८, ८२, ११५, ३४३, ३६३-३७४, ९१०, ९११
'अप्सरा', ३६३
'निरुपमा', ३६३
'कुल्लीभाट', ३६३
O
'प्यासा पानी', ७८, ९१३
O

पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी, ६६, ७८, १३२, १४४, ३७६, ६२८
'हिन्दी कथा-साहित्य', ६६, १३२, १४४, ३७६, ६२८
'कथा-चक्र', ७१, ७८
O

प्रकाशचन्द्र गुप्त, १२६, १३१, १३४, १३५, ३७३, ४११, ४५३, ४६३, ४७४, ७०८
'आधुनिक हिन्दी साहित्य : एक दृष्टि', १३१, १३४, १३५, ३७३, ४११, ४५३, ४६३, ७०८
'आलोचना के मान', ४७४
O

प्रभाकर माचवे, डॉ०, ८७, ११०, २६३, ३६३, ३७३, ४१३, ५६१, ६०३, ६४८, ७१२, ७८९-७९८, ८९१
'परन्तु', ३६, ७१, ७९, ८७, १०१, १०२, ७८९-७९८
'द्वाभा', १०१
'सांचा', १०१, ११९
'जो', ११०
'संतुलन', २६३, ३७३, ४१३
O

प्रतापनारायण टण्डन, डॉ०, ४१४, ४७३
'हिन्दी उपन्यास में कथा-शिल्प का विकास', ४१४, ४७३
O

पर्सी लब्बक, ६, ११, १२, ६२
'द क्रैफ़्ट ऑव फिक्शन', ६, ११, १२, ६२
O

पॉल स्किलडर, २५४, २५५, २५७, ५०७
'साइकोएनालिसिस [illegible]', २५४, २५५, २५७, ५०७

O

प्रेमचन्द, १५, ४७, ५०, ५१, ६६, ६९, ७३, ८०-८२, १०३, ११२-११६, १४३, २२४, ४३४, ५५७, ६०९
'कुछ विचार', १५, ४६, ५०, ५१
'गोदान', ६६, ८२, १०३, ४१०, ५०१
'रंगभूमि', ८२
'निर्मला', ८२

O

प्रेम भटनागर, डॉ०, ४७३
'इलाचन्द्र जोशी' : साहित्य और समीक्षा' ४७३

O

फणीश्वरनाथ 'रेणु', २३, ७२, ८२, ८९, ९१, ९३, १००, १०१, १०३, १०४, ११०, ११५-११७, १८०, ५०१, ५५७, ५७३-६०१,, ६११
'परती : परिकथा', २३, ७१, ७२, ७८, ८२, ९२, ९६, १००, ४३४, ५६१, ५७३-६०२, ६११
'मैला आँचल', ७१, ७२, ७८, ८२, ८३, ८९, ९२, १००, १०७, ११६, ११८, ४३४, ५५७, ५६१, ५७३-६०२, ६११, ६१३
'दीर्घतपा', ९१, ९३, १०५
'कितने चौराहे', १००

O

फ्रायड, ७१, ८२, २०५, २१३, २८१, २२२, २७९, २८०, २८२, २८४, २९२, ३१४, ३९२, ४९४, ४९५, ५३९, ५५० ८९६, ९०९
'साइकोपैथोलॉजी ऑव एवरीडे लाइफ़', २०५
'इन्ट्रोडक्टरी लेक्चर्स ऑन साइकोएनालिसिस', २०१, २२२, २८२, २८४, ३९२
'द इन्टरप्रेटेशन ऑव ड्रीम्स', २७९, २८०, २८४, ४९४, ५३९, ५५०, ८९६

O

फ्राँसुआ मोरियॉक, २

फील्डिंग, २, १९, २९, ९२
'टॉम जोन्स', २, १९, २९
'जोजेफ़ एन्ड्रूज़', १९, ९८

O

फिलिप टायनबी, ८, १०, ९६

फिलिप हेण्डरसन, २४, ३०९ — 'द नॉवेल टुडे', २४, ३०९

O

फेडरेन, १६३

फ्रैंक श्रा' कोनार, ५२, ५३

फ्रेंज काफ्का, ७१, ६०६

ब्रजमोहन गुप्त, डॉ०, १४३, १६४, १७८

O

'ब्रह्मपुत्र', ७८

O

बरसानेलाल चतुर्वेदी, डॉ०, ३६३, ३७२, ३७३, ४००. ४०३ — 'हिन्दी साहित्य में हास्य रस', ३६३, ३७२, ३७३, ४००, ४०३

O

बलवन्त लक्ष्मण कोतमिरे, ४११ — 'हिन्दी गद्य के विविध…' ४११

O

बलवन्तसिंह, १६६, ९१४ — 'सूना आसमान', ९१४

O

'बारहखम्भा', ७२, ७९

O

बर्नार्ड बोसांके १२

बीच, ३७, ४२, ४५, २८८-२९१ — 'द ट्वेन्टियथ सेन्चुरी नॉवेल' '३७, ४२, ४५, २८८-२९१

O

'बेक़सी का मज़ार', ७८

O

भगवतशरण उपाध्याय डॉ०, १२६, ८१० — 'साहित्य और कला' '१२६

O

भगवतीचरण वर्मा, ७५, १०१, १०३, १०४, १०६, ११०, ११२, ११५, ११७, १२६, ४११-४३३, ९१२, ९१४ —
'चित्रलेखा', ११, ७५, ८०, ९१, ९२, ४११-४३३, ९१२, ९१३
'टेढ़े-मेढ़े रास्ते' ८०, ९२
'भूले बिसरे चित्र', ९२, १००, ११०, ९१४
'अपने खिलौने', १०१
'पतन', ४११
'सामर्थ्य और सीमा', ९१४

O

भगवतीप्रसाद वाजपेयी, १०४, ११६, १२५, १४३, १७६, ९१० —
'टूटा-टी सेट', ९०
'चलते-चलते', ९०, ९३, १०१, १०२, ९१[illegible] १०४, १०७, ११८, ११६, १२५, १४[illegible] १७६, ९१०

O

भगीरथ मिश्र, डॉ०, ३७३
'हिन्दी साहित्य का उद्भव और विकास', ३७३

O

भैरवप्रसाद गुप्त, ८१, ९१, १०९
'मशाल', ७८
'अन्तिम अध्याय', ९१

O

मन्मथनाथ गुप्त, १०९

मनहर चौहान, ११५, ११७
'सीमाएँ', ११५, ११७

महादेवी वर्मा, ३३, ३४

महेन्द्र चतुर्वेदी, १८०, ४३४, ५६१
'हिन्दी उपन्यास: एक सर्वेक्षण', १८०, ४३४, ५६१

O

मार्क शोरर, ५, ८
'फॉर्म्स ऑव मॉडर्न फिक्शन', ५, ८

O

मार्क्स-एंजिल्स, ७१,७३
'सलेक्टेड करसपांडेंस', ७३

O

मालविन रादर, १२
'ए मॉडर्न बुक ऑव ऐस्थेटिक्स', १२

O

मीरांबाई, ३३

मिरियम एलट, १२ ११३, ८२०

मेण्डिलोव, ४, ३६, ४४, ४५, ५६, ८६, १०२, १०७, २६६
'टाइम एण्ड नॉवेल', ४, ३६, ४४, ४५, ५६, ८६, १०५, १०७, २६६

O

मैलकॉम कॉले, १, ४२, ५०

मोहन राकेश, ७२, ११५
'अँधेरे बंद कमरे', ७२, ७८, ११५, ६१४
'कांपता दरिया' ७२, ७८

O

यशपाल, १५, ३१, ७३, ८६, १०४, १०६, ११२, ११५, ११६, १२६-१४३, ६६४-७०६, ६१०, ६११, ६१४
'देशद्रोही', ७३, १०७, १०९
'झूठा-सच', ७८, १२६
'दादा कॉमरेड', ७६, २१, १२६
'पार्टी कॉमरेड', ७६, ८१, १२७
'मनुष्य के रूप', ९०, ९३, १२५, १२६-१४३, ६१०, ६१३
'दिव्या', ९०, ९१, ११७, १२३, १२७, ६६४-७०६, ६११

यशवन्त शर्मा, १००, १०९, ४१३	'भुनिया की शादी', १०० 'हिन्दी के उपन्यासकार', ४१३
यादवेन्द्रचन्द्र जैन, ११०	
यूंग, ७४	
रघुवंश, डॉ०, ८७, ९०, ४३४, ४४४, ६०३, ६०४	'तन्तुजाल', ८७, ९०, ९१४ 'अर्थहीन', ८९, ९१४
रघुनाथशरण झालानी, २०८, ३४३	'जैनेन्द्र और उनके उपन्यास', २०८, ३४३
रणवीर रांग्रा, डॉ० २५, ४२९, ४३२, ७०६, ८१५, ८२९, ८३८	'हिन्दी उपन्यास में चरित्र-चित्रण का विकास', २५, ४२९, ४३२, ७०६, ८१५, ८२९, ८३८
रमेश बक्षी, ११७	'अठारह सूरज के पौधे', १११
रमानाथ त्रिपाठी, डॉ०, १०९	
रवीन्द्रनाथ टैगोर, ३३	
राइट मोरिस, ९, ७८८, ९०८	'द टेरिटरी अहेड', ९, ७८८, ९०८
रांगेय राघव, ७१, ७२, ७७, ८१, १०१, १०४, ११०, ७११, ७६८-७८६, ९१२	'घरौंदे', ७८६, 'लोई का ताना', ७१, १०० 'यशोधरा जीत गई', ७१ 'अन्धा रास्ता', ७१ छोटी-सी बात', ७२, ९१४ 'धरती मेरा घर', ७२. 'हजूर', ७७, १०१ 'सीधे-सादे रास्ते', ८० 'मुर्दों का टीला', ९१, ११७, ७६८-७८६, ९१२ 'विषादमठ', ७८६ 'कब तक पुकारूं', ९२
रामचन्द्र शुक्ल, २०८, ४१२	'हिन्दी साहित्य का इतिहास', २०८, ४१२,
राजेन्द्र अवस्थी, ११०	
राजेन्द्र यादव, ७१, ७८, ७९, [illegible], ११५	'शह और मात', ७१, ७८, ७९, ११५ 'एक इंच मुस्कान' (मन्नू भण्डारी के

साथ), ७२
'प्रेत बोलते हैं', ७८
'अनदेखे अनजान पुल', ७८
'सारा आकाश', ८०, ९३
'उखड़े हुए लोग', ९१४
O

रामदरश मिश्र, डॉ०, ११०
रॉबर्ट पेन वैरेन, १७
रॉबर्ट लिडेल, ८, ३९, ५९, ६१, ९८, १२१, ५६० 'सम प्रिंसिपुल्स ऑव फिक्शन', ८, ४६, ५९
'ए ट्रीटाइज़ ऑन द नॉविल', ३९, ९८, १८१
O

रामविलास शर्मा, डॉ०, ५००
रामानन्द तिवारी, ३७२ 'हिन्दी का गद्य-साहित्य', ३७२
O

रॉय पैस्कल्स, २४
राहुल सांकृत्यायन, ७२, ९०, १०४, ११२, ११७, ६७३, ७०९-७१८, ९११, ९१४ 'मधुर स्वप्न', ७२, ७०९-७१८, ९११
'सिंह सेनापति' ७६, ९०, ६७३ ७०९, ७११, ७१८
'जीने के लिए', ८१
'शैतान की आँख', १२५
'जय यौधेय', ७०९, ७११, ७१८
O

रिचर्डसन, १८, २८, ३७, ६२ 'सर चार्ल्स ग्रैण्डिसन का इतिहास', १९,, ६२
'हिस्ट्री ऑव ए यंग लेडी', ६२
O

रिचर्ड चर्च, १८, २६, ३१ 'द ग्रोथ ऑव द इंगलिश नॉविल', १८, २६, ३१
O

रैल्फ एलिसन, १३, २१ 'द लिविंग नॉविल', १३, ६५।
O

रैल्फ फॉक्स, ११, १८, १९, २०, २१ 'द नॉविल एण्ड द पीपुल', ११, १२, १९,

रैल्फ फ़ाक्स, २३, ३४, ३६, ६०, ७३, १२७, ८१, ५५९	२०, २१-२३, ३४, ३६, ६०, ७३, ८१ १२७, ५५९
	O
लक्ष्मीकान्त वर्मा, ७७, ८८०, ८९१	'खाली कुर्सी की आत्मा', ७७, ७८
	O
लक्ष्मीनारायण लाल, डॉ०, ४८, ८२, ११५, २०८, २४९, ३०९, ३४३, ४३४-४५३, ७९८, ९१२	'बया का घोंसला और साँप', ३६, ३७, ७८, ७९, ८२, ८७, ९२, ९९, ४११, ४३४-४५३, ९१२
	'काले फूल का पौधा', ७६ ७८, ७९, ८५
	रूपाजीवा"९४
	'धरती की आँखे', ३४
	'हिन्दी कहानियों की शिल्पविधि का विकास', ४३४
	O
लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय, डॉ०, ४११	'बीसवीं शताब्दी हिन्दी साहित्य : नए सन्दर्भ', ४११
	O
लाला श्रीनिवास दास, ३९, ५५६	'परीक्षा गुरु' ३९, ५५६
लिऑन इडेल, ३१, ३८, ४२, ४५, ८५, ८७, २०५, २७७, २९३, ३२४, ८३०, ८९३, ९०१	'द साइकोलॉजिकल नॉवेल', ३१, ३८, ४२, ४५, ८५, ८७, २०५, २७७, २९३, ३२४, ८३०, ८९३, ९०१
	O
लियोनेल ट्रिलिंग, ३४, ३६	
वर्जीनिया वुल्फ, १२, १७	'द कॉमन रीडर', १२
	'द डेथ ऑव द मॉथ' १७
	O
वृन्दावनलाल वर्मा, १३, ७१, १०३, ११२, ११८, ५५७, ६२८, ६४८, ७१८-७६७, ९११, ९१३	'मृगनयनी. ११, १३, ९२, ९९, ६१८-७६७, ९११, ९१३, ९१४
	'झाँसी की रानी', ७१, ६२९-६४८, ९१३, ९१५
	'विराटा की पद्मिनी, ४१३, ६२९
	'अहिल्याबाई', ६२८, ६२९, ९१३

	'गढ़कुण्डार', ६२६
	'मुसाहिबजू', ६२६
	O
वाचस्पति गैरोला, ५५, ६७३, ६७४,	'संस्कृत साहित्य का इतिहास', ५५, ६७३, ६७४
	O
वाल्टन लिट्ज, ३	'द आर्ट ऑव जेम्स ज्वायस', ३
	O
वाल्टर एलेन, २, ६, १४, १७, १३६	'रीडिंग ए नॉवेल', २, ६, १४, १७, ३१
	'द नॉवेल टु डे', १३६
	O
वाल्टर पेटर, ५	
वाल्टर स्कॉट, ६१	'वासवदत्ता', ५४
	O
विनयमोहन शर्मा, डॉ०, ११३, २०१, ३६३, ६२६, ७९८, ८४७	'साहित्य शोध और समीक्षा', ११३, २०१, ३७३, ७९८, ८४७
	O
विलियम ई० बैरेट, २४८	'द राइटर्स हैण्डबुक', २४८
	O
विलियम फेल्प्स, २४	'द एडवांस ऑव द इंगलिश नॉवेल', २४
	O
विश्वम्भरनाथ उपाध्याय, डॉ०, १८०, ५०१, ५६१, ६०३	
विश्वम्भर मानव, २४६, २५७, ३७५ ४५३, ४६१, ४६२, ४७४, ५०१, ६१६	'प्रेमचन्द', ३७६, ४७४, ५०१, ७१६
	O
	'वैताल पंचविंशति', ५७
	O
शमशेरबहादुर सिंह, ३७५	
शम्भूनाथ सिंह, डॉ०, १६, २०, २४	
श्यामसुन्दर दास, डॉ०, ५१	'साहित्यालोचन', ५१
	O

शशिभूषण सिंहल, डॉ०, ६२६, ७१८	'उपन्यासकार वृन्दावनलाल वर्मा', ६२६, ७१८
	O
	'शहर था शहर नहीं था', ७८
	O
शांतिप्रिय द्विवेदी, ७१, ७०८	'दिगम्बर', ७१, १०१, १०२ 'साकल्य', ७०८
	O
शिवकुमार मिश्र, डॉ०, ६२६	'वृन्दावनलाल वर्मा : उपन्यास और कला', ६२६
	O
शिवप्रसाद मिश्र 'रुद्र', ४८, ५३, ७१, ७६, ११०, ११२, ११७, ६०२-६१२, ९११	'बहती गंगा', ३६, ३७, ४८, ५३, ५७, ६१ ७६, ७८, ९२, ११०, ११७, ४३४, ५६१, ६०२-६१२, ९११
	O
शिवदानसिंह चौहान, १८०, २६३, ३७३, ३७५, ३८६, ६३७, ६४२, ७६९	'आलोचना के मान', १८० 'साहित्यानुशीलन', २६३, ३७५, ३८६, ६३७, ६४२ 'साहित्य की समस्याएँ', ३७३ 'हिन्दी-उपन्यास के अस्सी वर्ष, ६३७, ७६९
	O
शिवनारायण श्रीवास्तव, डॉ०, १९, २०८, ३०९, ३४३, ३६३, ३९७, ४१३, ४३४, ४७३, ४७४, ४८३, ५०१, ५६१, ६०३, ६१२, ६१९, ७६९, ८१०, ८७०, ८९१	'हिन्दी उपन्यास', १९, २०८, ३०९, ३४३, ३७३, ३९७, ४१३, ४३४, ४७३, ४७४, ४८३, ५०१, ५६१, ६०३, ६१२, ६२६, ७६९, ८१०, ८७०, ८९१
	O
शिवानी, ९०, ९१३	'चौदह फेरे', ९०, ९१३
	O
शेक्सपीयर, ४६	'हैमलेट', ४६
शैलेश मटियानी, ११०, ११७	

स्कॉट जेम्स, २, ५, ६, ११,	'द मेकिंग ग्रॉव लिट्रेचर', २ ५, ६, ११
	O
सत्येन्द्र, डॉ० ३०, ४३, २०८, ३०६, ६३०, ७१६, ७२२ ७२३, ७२५, ७३८, ७४०, ७५७,	'समीक्षा के सिद्धान्त', ३०, ४३, २०८, 'मृगनयनी : कला और कृतित्व', ६३०, ७१६, ७१२, ७२३, ७२५, ७३८, ७४०, ७५७,
	O
सरयू पंडा गौड़, ७२	'मिस्टर तिवारी का टेलीफ़ोन', ७२
	O
सरवेनटीज, २७	'डॉन क्विकजोट', ७२
	O
सर्वेश्वरदयाल सक्सेना, ४७, ४८, ७७, ८६१, ६०७, ६१२	'सोया हुआ जल', ३४, ४६ ४८, ७१, ७७, ७८, ८२, ८७, १०५, १०८, १११, ११८, ११६, ७८६, ८६१, ६०७, ६१३, ६१४
	'काठ की घंटियाँ,' ८६१, ८६३, ८६४
	O
	'साहित्य-दर्पण', ५४
	O
श्रीकृष्ण लाल, डॉ०, ३६	'आधुनिक हिन्दी साहित्य का विकास', ३६
	O
	'श्री हर्ष चरित्र', ५४
	O
सी० पी० ओबर्नडोर्फ, २५२	'साइकोएनालिसिस टुडे', २५२
	O
सीन ओ' फॉओलीन, १७, ६७, ६७	'द वैनिशिंग हीरो', १७, ६७, ६७
	O
सियारामशरण प्रसाद, ४११, ६२६	'वृन्दावनलाल वर्मा : साहित्य और समीक्षा', ४११, ६२६
	O
सुरेशचन्द्र तिवारी, १३५, ६६५, ७०७	'यशपाल और हिन्दी कथा-साहित्य', १३५, ६६५, ७०७
	O
सुरेश सिनहा, डॉ, ०७१, ६१, ६२, १०२,	'एक और अजनबी', ७१, ७६, ६१, १०२, ११६